अनुवादक, व्याख्याकार एवं विशेष सम्पादक

आचार्य श्री दौलतराम सोनी आयुर्वेद रत्न

जबलपुर

वैद्य इन्चार्ज

राजकीय आयुर्वेद चिकित्सालय,

.... (राजस्थान)

सम्पादक

वैद्य देवीशरण गर्ग आयुर्वेदोपाध्याय

ज्वालाप्रसाद अग्रवाल बी०एस-सी०

फरवरी—मार्च

१९५७

वार्षिक मूल्य ४॥)

राजसंस्करण का ६॥)

इस अंक का ८॥)

प्रकाशकीय निवेदन

१—चार-पांच माह के कठिन परिश्रम, दौड़धूप, विपुल धनव्यय के परिणाम स्वरूप इस वर्ष का विशेषाङ्क–सचित्र माधवनिदानांक कृपालु ग्राहकों, आयुर्वेद विद्वानों तथा आयुर्वेद प्रेमियों की सेवा में—उपस्थित करते हुए हमको हार्दिक प्रसन्नता है। आशा है वैद्य-समाज, आयुर्वेद विद्यार्थी समाज एवं विद्वज्जन इस विशेषांक का भी समुचित स्वागत करेगा।

२—इस विशेषांक के विशेष सम्पादक–श्री सोनी जी ने इसके सम्पादन में एक वर्ष कठिन परिश्रम किया है तथा इसके अनुवाद एवं पाश्चात्य मत को गहन अध्ययनोपरान्त अधिक से अधिक प्रमाणित एवं उपयोगी बनाने के लिए अथक परिश्रम किया है।

३—पिछले वर्षों में चित्रों के डिजायन हम अपने डिजाइनरों से तैयार करा लिया करते थे किन्तु इस बार विशेष सम्पादक जी ने स्वयं अपने प्रत्यक्ष में डिजायन तैयार कराये हैं और इसमें हमको बहुत व्यय करना पड़ा है।

४—इस विशेषांक में ६४० पृष्ठ तथा १५५ चित्र दिए गए हैं। इस बार ७०० पृष्ठ तक देने का निश्चित विचार था लेकिन समय की कमी के कारण तथा कागज के भावों में अत्यधिक वृद्धि होने के कारण कुछ पृष्ठों की कमी करने के लिए बाध्य होना पड़ा है। फिर भी माधव-निदान की यह टीका अन्य प्राप्त होने वाली १०-१२ रुपयों की पुस्तकों से अधिक उपयोगी प्रमाणित होगी एसी आशा है।

५—गत वर्ष की भांति इस वर्ष भी हम विशेषांक को मार्च में ही ग्राहकों के हाथ में पहुँचा देना चाहते थे किन्तु कतिपय कारणों से एसा करना असम्भव प्रतीत हुआ और इस [illegible] जनवरी का अंक प्रथम ही प्रकाशित कर ग्राहकों को समय भेज दिया गया। अब यह फरवरी-मार्च का [illegible]ङ्क है। अप्रैल का अङ्क भी शीघ्र भेज दिया जायगा। [illegible]कार यह विशेषांक भी हम समय पर ही पाठकों को [illegible] हैं। आगामी अङ्क गत वर्ष की भांति समय पर ही [illegible]त किए जायगे।

६—इस विशेषांक के प्रकाशन में हमारे प्रेस विभाग ने दिन रात परिश्रम किया है और उसी का यह परिणाम है कि गत वर्ष से पृष्ठ संख्या १४० अधिक होने पर तथा २००० प्रति अधिक छापने पर भी हम विशेषांक को समय पर प्रकाशित कर सके हैं। अतः हम उनको धन्यवाद देते हैं।

७—इस विशेषांक में हमको पहिले सभी विशेषांकों से अधिक व्यय करना पड़ा है। पहिले कागज १०॥) प्रति रिम था और इस समय वही कागज १४) का मिला है, इस प्रकार लगभग ४०००) तो भाववृद्धि के कारण ही अधिक व्यय हुआ है, और फिर पृष्ठ संख्या भी गत वर्ष के विशेषांक से १४० अधिक रही है। चित्र भी गतवर्ष १२६ थे और इस वर्ष १५५ हैं।

८—इतना अधिक व्यय हम अपने कृपालु ग्राहकों के सहयोग के बलभरोसे पर ही करते हैं। आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि हमारे ग्राहक प्रयत्न करके १-१, २-२ नवीन ग्राहक बनाकर हमारा उत्साह बढ़ावेंगे। नवीन ग्राहक बनाने के उपलक्ष में आपको देने के लिए हमारे पास धन्यवाद के अतरिक्त कुछ भी नहीं है, तथापि हमको आशा है कि धन्वन्तरि की उन्नति को आप अपनी और आयुर्वेद की उन्नति समझते हुए धन्वन्तरि के नवीन ग्राहक बनाने के लिए प्रयत्न करेंगे।

९—धन्वन्तरि के विशेषांकों के प्रकाशन में समय अधिक लगता है अतएव आगामी वर्ष का विशेषांक–गुप्तसिद्धप्रयोगांक चतुर्थ भाग की तैयारी बहुत पहिले से प्रारम्भ की जा चुकी है। हम आपको विश्वास दिलाते हैं कि यह विशेषांक आयुर्वेद चिकित्सकों के लिए अत्यधिक उपयोगी होगा। भारत के कोने कोने से अनुभवी चिकित्सकों ने अपने अनुभवपूर्ण चमत्कारिक प्रयोगों को निःसंकोच प्रदान किया है। इसमें १००० से अधिक प्रयोग होंगे और वे सभी चमत्कारिक एवं पूर्ण सफल।

१०—अन्त में पाठकों से पुनः निवेदन है कि वे धन्वन्तरि के २-२ ग्राहक शीघ्र बनाने का प्रयत्न करें।

निवेदक—वैद्य देवीशरण गर्ग।

सचित्र माधव निदानाङ्क

की

विषयानुक्रमणिका

माधव–निदान की

अध्यायानुसार सूची

"जल तत्व"

रोगियों के पथ्य विधान में, जल-प्रयोग का महत्व-पूर्ण स्थान है। आयुर्वेद-सम्मत-जलोत्पत्ति-भेद-प्रयोग, विविध रोगों पर विविध-प्रकारेण, जल-प्रयोग, जलगुण, केवल जल-प्रयोग से रोग शान्ति, यह सब कुछ आप इसमें पाएंगे। आचार्य पं० रघुवीर प्रसाद जी त्रिवेदी की कविता-भूमिका-समलंकृत, सरस, सरल, सुबोध, आधुनिक हिन्दी पद्य में यह रचना वैद्य बन्धुओं को हर समय, हरक्षण उपयोगी है। अंत में जल का एक महान् विधान 'जलकल्प' जिसके द्वारा सार्वदैहिक-आरोग्य प्राप्त होता है अंकित है।

१) रुपया एडवांस भेजकर अपनी प्रति सुरक्षित करालें। १) रुपया एडवांस भेजने पर पुस्तक आप को १) में ही पड़ेगी डाक व्यय हमारा होगा। पुस्तक छपने पर रजिस्ट्री से भेजेंगे। १००० (हजार) से ऊपर जितने ग्राहक होंगे उतनी ही प्रतियां छपा ली जावेंगी। पता—

प्रकाशक—सरयू प्रसाद भट्ट 'मधुमय' विशारद रजि० वैद्य
आयुर्वेदिक-कल्प-कुटीर, पो० मुवागिछिया (मंडला) उ. प्र.

१९५७
का
सुन्दर
कलेंडर
मुफ्त
मंगाइये
बांकेलाल अरोड़ा शीशीवाले
खातीखाना, सासनीदर, हाथरस (उ. प्र.)

कुछ वैद्य यह नहीं जानते !!

गर्भाशय की
बाहिरी दीवार का
सौम्य अर्बुद
(पृ० ५२८)

अश्मरी से पीडित
रोगी के वृक्क का
क्ष-किरण चित्र
(पृ० ५४३)

अश्मरी युक्त पृ० ५४२)

प्रमेह-पिडका
पृ० ५५३)

पैर का श्लीपद
(पृ० ५७१)
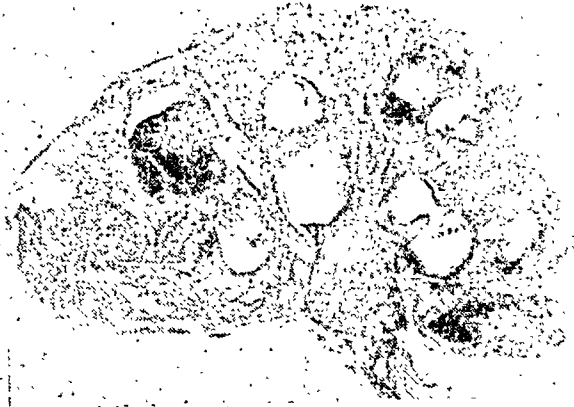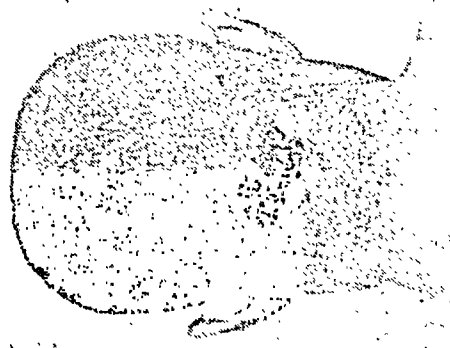
हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम् ।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते ॥ —चरक ०सू० १-४०

भाग ३१ अङ्क २-३ | सचित्र माधव निदानाङ्क | फरवरी-मार्च १६५७

धन्वन्तरि के स्वागत में

विश्व में अज्ञानियों को-
ज्ञान का नव पथ दिखाने,
स्वास्थ्य औ आरोग्य दीपक-
से सकल जग जगमगाने।
अंध गह्वर वत हृदयों में-
नव पुनः ज्योति जगाने,
फिर से आयुर्वेद का
इस देश में डंका बजाने।
आरहे हैं आज धन्वन्तरि-
लखो हंसती दिशायें,
उठ पड़ो स्वागत में वैद्यो!
कूकती हैं कोकिलायें।

—वैद्यबनवारीलाल गुप्त 'विनोद'।

हमारा आयुर्वेद
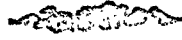
ज्ञान तत्व-विज्ञान समन्वित आयुर्वेद हमारा।
ऋषियों की तपमयी साधना का यह परम प्रतीक।
वेद आयु का है महान यह ब्रह्मा-दक्ष-प्रणीत ॥
जीवन का विज्ञान अरे यह जीवन की है धारा।
ज्ञान तत्व-विज्ञान समन्वित आयुर्वेद हमारा ॥

स्वयंसिद्ध प्रत्येक सूत्र है रूढ़िरहित और तत्व समन्वित।
सूक्ष्म ज्ञान प्रत्येक द्रव का और योग त्रुटिहीन सुनिर्मित ॥
परिवर्तन है यहां असम्भव अमिट सत्य है सारा।
ज्ञान तत्व-विज्ञान समन्वित आयुर्वेद हमारा ॥

इसके पीछे छिपी हुई है उन ऋषियों की दया-भावना।
जिनने हड्डी तक दे डाली लेकर जन-कल्याण-कामना ॥
सत्यं शिवं सुन्दरं जिनका लक्ष्य प्राण से प्यारा।
ज्ञान तत्व-विज्ञान समन्वित आयुर्वेद हमारा ॥

जिनकी वाणी, दया, अहिंसा, सत्य, क्षमा, शुचि के बल पर।
भारत का शिर गर्वोन्नत है इस संघर्षमयी भू पर ॥
उनका ही यह एक और वर जीवन-रक्षक प्यारा।
ज्ञान तत्व-विज्ञान समन्वित आयुर्वेद हमारा ॥

जिनके ज्ञान-पुञ्ज से भू पर बही वेद की धारा।
मानव ने पशुता को त्यागा सभ्य बना जग सारा ॥
उनके अनुभव का निचोड़ यह दुख में एक सहारा।
ज्ञान तत्व-विज्ञान समन्वित आयुर्वेद हमारा ॥

यद्यपि दुनियां इसको भूली हम फिरसे बतलायेंगे।
जीवन-रक्षक एकमेव यह सत्य सिद्ध कर दिखलायेंगे ॥
तब ही लेंगे सांस चैन की जब गूंजे यह नारा।
ज्ञान तत्व-विज्ञान समन्वित आयुर्वेद हमारा ॥

रचियता—पं० सरयूप्रसाद भट्ट 'मधुमय' भुआ—बिछिया (मण्डला)

गत वर्ष इन्हीं दिनों जब मुझसे निदानांक का सम्पादन करने के लिए आग्रह किया गया उस समय मैं बड़ी द्विविधा में पड़ गया था। कारण बहुत से थे किन्तु उनमें से दो अत्यन्त महत्वपूर्ण थे—पहला तो यह कि मैंने उस समय "यौनस्वास्थ्य विज्ञान" नामक ग्रन्थ लिखने का श्रीगणेश ही किया था और दूसरा यह है कि इतना बड़ा एवं जिम्मेदारी पूर्ण कार्य इससे पहले कभी किया नहीं था इसलिये कुछ भय अथवा संकोच होता था। लेख अथवा पुस्तक लिखना अलग बात है और टीका करना तथा विशेषांक का सम्पादन करना एक अलग बात है। समय की कमी मेरे पास सदा से ही रही है और यह कार्य अवधि के भीतर पूरा करना अनिवार्य था इसलिए पैर डगमगा रहे थे। इसके अतिरिक्त मैं अपने भीतर भी कई प्रकार की कमजोरियां पाता था। विषय भी ऐसा दिया गया था जो चिकित्सा संबन्धी विषयों में सबसे कठिन माना जाता है। एक ओर जहां इस कार्य में घोर परिश्रम एवं कठिनाइयों का सामना था वहीं दूसरी ओर देश भर के विद्वानों से परिचित होने का, गुरु-ऋण से मुक्त होने का तथा अपने चिरकाल के स्वप्न को पूर्ण करने का अवसर हाथ से न जाने देने का लालच भी था। चिरकाल से मेरी यह अभिलाषा रही है कि धन्वन्तरि के विशेषांकों की रूपरेखा में कुछ विशिष्ट परिवर्तन किये जावें और यह तभी संभव था जब सम्पादन मेरे ही हाथों से हो, दूसरों को सलाह देना व्यर्थ था। इसलिए अन्त में लालच ही की विजय हुई और स्वीकृति भेज दी गयी।

विषय-सूची बनाते समय इस बात का पूरा पूरा ध्यान रखा गया था कि निदान-संबंधी कोई विषय छूटने न पावे किन्तु फिर भी कुछ लोगों ने शिकायत की कि आयुर्वेद-संबंधी विषय कम ही रहे। यह शिकायत निरर्थक ही थी क्योंकि आयुर्वेद का कोई भी विषय छोड़ा नहीं गया था, ऐलोपैथी के कुछ विषय अवश्य दिये गये थे। वास्तविक बात यह थी कि विषय कठिन थे और उनमें से अधिकांश ऐसे थे जिन पर उभय-पद्धतियों के विद्वान ही लेखनी उठा सकते थे और यह बात स्पष्ट रूप से स्वीकार करने में लोगों को संकोच होना स्वाभाविक ही था।

इस बार लेख लिखने के पूर्व अनुमति लेने की बात एकदम नयी थी। नये सम्पादक के द्वारा चालू की गयी यह नई पद्धति कुछ विद्वानों को अनधिकार-चेष्टा प्रतीत हुई किन्तु अधिकांश ने इसका स्वागत ही किया। दो विद्वानों ने इस आशय के पत्र दिये थे कि विषय स्वयं चुनना उनकी शान के खिलाफ है, सम्पादक ही उनके लिए विषय चुन कर भेजें। किंतु जब उनके लिये २-२ विषय चुनकर भेजे गये तो एक महाशय ने उत्तर ही नहीं दिया और दूसरे समय की कमी का बहाना बनाकर किनारा काट गये। इन अभिमानी महापंडितों ने अपने ही हाथों अपने आपको उपहास का पात्र बनाया। यदि वे देख लेते कि विषय-सूची में आधे से अधिक विषय ऐसे हैं जिन पर एक शब्द भी लिख सकना उनके वस के बाहर की बात है तो ऐसा मौका न आता। हां, तो यह नयी पद्धति चालू करने का कारण यह

था कि विशेषांक को सर्वाङ्ग सुन्दर बनाने का इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं था। अभी तक प्रत्येक विशेषांक सम्पादक की यह शिकायत रही है कि कुछ विषयों पर ढेर के ढेर लेख प्राप्त हो जाते हैं और कुछ विषयों पर एक भी लेख नहीं मिलता। सम्पादक अन्त तक अन्धकार में रहता है और जब उसे परिस्थिति का ज्ञान होता है तब इतना समय शेष नहीं रहता कि अन्य विद्वानों से उन विषयों पर लेख लिखाये जा सकें। पिछले १-२ विशेषांकों की विषय-सूचियों के साथ आग्रह किया गया था कि लेखक जिस विषय पर लिखना आरम्भ करें उसकी सूचना संपादक को दे दें किन्तु यह पद्धति असफल ही रही। प्रसूति विज्ञानांक के संपादन में त्रिवेदी जी को कितनी परेशानी हुई यह बात किसी से छिपी नहीं है। इन्हीं सब बातों को दृष्टि में रखकर इस नवीन पद्धति का प्रयोग किया गया था। इसका उद्देश्य केवल यही था कि विषयों का वितरण सम्यक् रीति से हो जावे तथा प्रत्येक विषय पर उच्च-कोटि का एक एक लेख प्राप्त हो जावे।

इस प्रकार यह योजना इतनी ठोस थी कि कहीं गड़बड़ी होने की संभावना ही न थी। यदि मुझे धोखा न दिया गया होता तो विषय-सूची के सभी विषयों पर एक एक उच्चकोटि का लेख इस विशेषांक में मिलता और यह इस विशेषांक की एक महान् विशेषता होती। किन्तु शायद कुछ लोग इस हठ पर तुले हुए हैं कि कोई कितना भी सतर्क क्यों न रहे वे काम को बिगाड़ कर ही रहेंगे। इन लोगों ने निम्नलिखित तीन प्रकार से धोखा दिया—

(i) जितने लेखकों को अनुमति दी गई थी उनमें से लगभग आधों ने लेख नहीं भेजे। अनुमतियां मांगने पर ही दी गयी थीं और उन्हीं के द्वारा चुने गये विषयों पर ही दी गई थीं। फिर लेख न भेजने का क्या कारण था? बारम्बार पत्र लिखने पर भी इन महानुभावों ने लेख तो क्या पत्रोत्तर भी नहीं दिया।

(ii) विषय-सूची के साथ स्पष्ट रूप से लिख दिया गया था कि किन विषयों पर किस प्रकार के लेख चाहिये और किस प्रकार की योग्यता रखने वाले विद्वान ही आगे आवें किन्तु इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। जिन विषयों का कुछ भी ज्ञान नहीं था उन विषयों पर भी कुछ महानुभावों ने स्वीकृति ले ली और जो लेख भेजे वे कचरे की टोकरी की ही शोभा बढ़ा सकते थे।

(iii) कुछ महानुभावों ने अनुमति लेने की बात को पढ़ा नहीं, पढ़कर भी समझा नहीं अथवा निरर्थक समझा और बिना अनुमति लिये एवं बिना कोई पूर्व सूचना दिये ही लेख भेजे। इससे विशेष अव्यवस्था तो नहीं हुई किन्तु यह अवश्य हुआ कि इस प्रकार प्राप्त हुए लेखों में से कुछ को चाहकर भी स्थान नहीं दिया जासका। इस प्रकार प्राप्त हुए लेखों में से अधिकांश अत्यन्त हीनकोटि के थे किन्तु कुछ अच्छे भी थे।

दूत, स्वर, शकुन, नाड़ी आदि पर लिखने वालों की संख्या सबसे अधिक थी। यदि इतनी सतर्कता न रखी गई होती तो केवल इन्हीं विषयों पर ही लेख मिल पाते। इन विषयों पर अनुभव मांगा गया था किताबी ज्ञान नहीं किन्तु जो लेख मिले उनमें प्रायः किताबी ज्ञान के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। उतना ज्ञान प्रत्येक वैद्य को रहता ही है इस लिये विशेषांक में उन लेखों को स्थान देना व्यर्थ ही था तथापि चूंकि उन विषयों की घोषणा विषय-सूची में की जा चुकी थी इस लिये उन्हें छापना ही पड़ा। इन विषयों के सम्बन्ध में पुराने वैद्यों की निपुणता की अनेक चमत्कारपूर्ण किंवदन्तियां प्रचलित हैं। आशा थी कि इसी प्रकार की योग्यता रखने वाले कोई वृद्ध महानुभाव सामने आवेंगे किन्तु दुर्भाग्यवश ऐसा न हो सका।

लेखकों में से इन्दौर के श्री. एस. एन. बोस, पटना के श्री. पद्मदेव नारायण सिंह जी और चुनार के श्री. दलजीतसिंह जी का सहयोग विशेष महत्व-

पूर्ण रहा। ये तथा अन्य सभी लेखक धन्यवाद के पात्र हैं। भूतपूर्व विशेषांक-सम्पादकों में से श्री. तेज बहादुर चौधरी अस्वस्थ रहे, श्री. रघुवीर प्रसाद जी त्रिवेदी ने ५-६ पत्रों में से एक का भी उत्तर तक देने का कष्ट नहीं किया और एक विशेषांक सम्पादक का लेख अभी तक प्रतीक्षित है।

सम्पादन कार्य के सिलसिले में जो ढेर सा पत्र-व्यवहार हुआ उससे यह पता चला कि लोगों में लेखक बनने का उत्साह बढ़ रहा है। यह एक शुभ लक्षण है किन्तु लेखक कैसे बना जाता है यह बात बहुत थोड़े ही लोगों को मालूम है। अभी तक बहुत से लोगों की यह धारणा है कि कुछ भी लिखकर भेज दिया और यदि सम्पादक ने कृपा करके उसे छाप दिया तो बस फिर चारों तरफ नाम ही नाम हो गया। यह धारणा नितान्त भ्रमपूर्ण है। सम्पादक किसी पर कृपा नहीं करते; वे ऐसे लेख छापते हैं जो पाठकों को पसन्द आवें और पाठक उन्हीं लेखों को पसन्द करते हैं जिनसे उनका ज्ञान बढ़े। यदि आपका लेख पाठकों के लिये ज्ञानवर्धक है तो सम्पादक उसे हजार बार छापने के लिये तैयार रहेंगे और आपसे बारम्बार लेख भेजने की प्रार्थना करेंगे किन्तु इसके विपरीत गुणों वाले लेख को आप हजार बार प्रार्थना करके भी न छपवा पावेंगे। यदि सम्पादक ने दया करके उसे छाप भी दिया तो योग्य लेखकों को जो नाम और यश मिलता है वह आपको कदापि नहीं मिलेगा। इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि लेखों में ऐसी जानकारी अधिक से अधिक हो जो साधारण वैद्यों के पास नहीं पायी जाती और इस प्रकार की जानकारी अधिक से अधिक पुस्तकों का अध्ययन करके तथा यहां वहां से अनुभव प्राप्त करके ही दी जा सकती है। इस प्रकार यह निश्चित है कि लेखक बनने के लिये अतिरिक्त अध्ययन करना पड़ता है। अतएव लेखक बनने के इच्छुक मित्रों से मेरी सहृदयता पूर्ण सलाह यह है कि वे अधिक से अधिक अध्ययन द्वारा ऐसी जानकारी प्राप्त करें जो सामान्य वैद्यों के पास नहीं रहती। इस प्रकार की जानकारी से लबालब भरे हुए लेख जब वे भेजेंगे तब उन्हें प्रकाशित करने के लिये सम्पादक से विनती करने की आवश्यकता न रहेगी, वे हर दशा में प्रकाशित किये जावेंगे और साथ ही लेखक को जो मान और यश मिलना चाहिये वह अवश्य मिलेगा।

टीका के सम्बन्ध में—कुछ बातों का स्पष्टीकरण आवश्यक है। टीकाकार का यह कर्तव्य होता है कि वह पाठकों को ग्रन्थकार के विचारों का ठीक ठीक ज्ञान करावे। यह कार्य अत्यन्त कठिन होता है। एक भाषा में दिये गये विचारों को दूसरी भाषा में ज्यों का त्यों व्यक्त करना एक अत्यन्त दुष्कर कार्य है। इसी सम्बन्ध में चर्चा करते हुए स्वर्गीय कवि-सम्राट रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक बार कहा था कि जिस प्रकार संदेशवाहक के जरिये प्रेमिका को चुम्बन नहीं भेजा जा सकता उसी प्रकार अनुवाद के द्वारा लेखक के विचारों को पूरी तरह नहीं समझा जा सकता। यह नियम सभी टीकाओं पर न्यूनाधिक अंशों में लागू होता है किन्तु टीकाकार के परिश्रम पर भी बहुत सी बातें निर्भर रहती हैं। प्रायः सभी अन्य टीकाकारों ने श्लोकों का ज्यों का त्यों अनुवाद करने की झंझट न उठाते हुए केवल भावार्थ देकर अपना कर्तव्य पूरा कर दिया है किन्तु मैंने अत्यधिक परिश्रम करके ज्यों का त्यों अनुवाद किया है और साथ ही हिन्दी व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध न हो (तथा ग्रन्थकार के विचारों की हत्या न हो) इस रीति से टीका करने में अत्यधिक परिश्रम करना पड़ा है। कई स्थलों पर इस नियम को भंग भी करना पड़ा है तथापि अधिकांश स्थलों पर टीका अत्यन्त सुन्दर बन गई है। आचार्य विजय रचित और श्री कण्ठदत्त के द्वारा की गयी 'मधुकोष' व्याख्या माधव निदान की सर्वोत्तम टीका मानी जाती है। मैंने अधिकतर उसी का अनुसरण किया है किन्तु कुछ स्थलों पर उस टीका से मेरा मतभेद है। इस

प्रकार का मतभेद जहां जहां भी है वहां वहां स्पष्ट रूप से प्रकट किया गया है। संक्षेप में आपने मत की पुष्टि करने वाले तर्क देकर दोनों मतों के अनुसार टीका दी गई है। पाठकों को अधिकार है कि वे इस पर गंभीरतापूर्वक मनन करें और जिसे उचित समझें उसे स्वीकार करें।

भारतवर्ष में प्रारम्भ से ही यह परम्परा अविकतर चली आयी है कि एक विद्वान ने जो लिख दिया यदि वह युक्तिसंगत नहीं है तो भी अन्य विद्वानों ने उसका खण्डन करने के बजाय मण्डन ही किया है। यह परिपाटी आयुर्वेद जैसे वैज्ञानिक विषय के लिये लाभप्रद नहीं हो सकती। हमें वही ग्रहण करना चाहिए जो सही है, हमारे पूर्वज कह गये थे केवल इसी लिये मानना युक्त नहीं कहा जा सकता। हमारे प्राचीन आचार्य अत्यन्त विद्वान थे किन्तु उन्होंने जो कुछ लिखा है वह सब ठीक ही हो ऐसा आवश्यक नहीं है। बड़े से बड़े विद्वानों से भी कहीं न कहीं भूल हो ही जाया करती है क्योंकि भूल करना मनुष्य का स्वभाव ही है। लेकिन यह बात स्मरण रखने की है कि उनकी बातों में से बहुत सोच समझ कर ही भूलें निकाली जा सकती हैं। जहां जहां भी मैंने मतभेद प्रकट किया है वह अत्यन्त सोच समझकर हफ्तों मगजपच्ची करने के बाद ही किया है और इसके बाद भी वह पाठकों के लिये विचाराधीन है। पुरानी पद्धति के कुछ विद्वान मधुकोष की इस प्रकार की आलोचना से रुष्ट हो सकते हैं किन्तु ऐसा करने के पूर्व उन्हें सहृदयता-पूर्वक मेरे विचारों का मनन करना चाहिये। मेरा उद्देश्य माधवकर के विचारों तक पाठकों को पहुँचाना रहा है न कि मधुकोष की आलोचना या मधुकोषकार की निन्दा ! आचार्य श्री विजयरक्षित और श्री कण्ठदत्त के लिये मेरे हृदय में उतना ही सम्मान है जितना किसी अन्य के हृदय में होगा क्योंकि वे हम सब के अग्रज थे और उन्होंने माधवनिदान को समझने में हमारा मार्गदर्शन किया है। किन्तु भक्ति और अंधभक्ति में महान् अन्तर होता है। गुरु की बतलायी हुई बातों को ज्यों की त्यों रटने वाला शिष्य साधारण शिष्य माना जाता है किन्तु उन्हें विचारपूर्वक ग्रहण करने वाला और समझ में न आने पर तर्क करने वाला शिष्य कुशाग्रबुद्धि माना जाता है। शिष्य से हार जाने पर भी गुरु का मान बढ़ता ही है क्योंकि यह गुरु के ही परिश्रम का फल है जो शिष्य इतना कुशाग्रबुद्धि हो सका। दशरथ जी ने तीन विवाह किये थे इसलिये परम्परानुसार रामचन्द्र जी भी कर सकते थे किन्तु उन्होंने आवश्यकता होने पर भी नहीं किये और सोने की मूर्ति से काम चलाया। इससे यदि कोई सोचे कि रामचन्द्र जी ने परम्परा को ठुकराकर दशरथ जी का अपमान किया तो उसका यह सोचना भ्रमपूर्ण है, इससे तो दशरथ जी के मान में वृद्धि ही हुई। इसलिये विद्वज्जनों से मेरी करबद्ध प्रार्थना है कि सहृदयतापूर्वक मेरे विचारों को समझने की कृपा करें।

प्रत्येक रोग के साथ उसके समकक्ष पाश्चात्य रोगों का भी वर्णन देने की नयी योजना इस टीका में कार्यान्वित की जा रही थी किन्तु समय और पृष्ठों के अभाव से यह पद्धति केवल आधे से ग्रन्थ में ही चल पायी। प्रारम्भ में मेरा अनुमान था कि निश्चित पृष्ठ संख्या में यह कार्य पूरा हो जावेगा किन्तु तिहाई के लगभग पहुँचने पर यह बात भ्रमपूर्ण सिद्ध हुई। उस समय मैंने प्रधान सम्पादक जी से यह प्रस्ताव किया कि टीका दो भागों में २ वर्षों के २ विशेषांकों में दी जावे तो अच्छा रहेगा। किन्तु उन्होंने इससे कई प्रकार की असुविधाऐं बतलायीं जिससे मुझे अपना विचार बदलना पड़ा और अन्त के अध्यायों में अत्यन्त थोड़ा पाश्चात्य मत देते हुए ग्रन्थ को येनकेन प्रकारेण निश्चित पृष्ठों में पूर्ण करना पड़ा। किन्तु प्रधान सम्पादक जी ने यह वचन दिया है कि इस विशेषांक का जो दूसरा संस्करण प्रकाशित किया जावेगा उसमें पृष्ठों की चिन्ता न करते हुए सारी कमी पूर्ण कर दी जावेगी।

शुद्ध आयुर्वेद के कट्टर से कट्टर समर्थकों के लिए भी इस युग में पाश्चात्य पद्धति से निदान करना आवश्यक हो गया है। आज न्युमोनिया का निदान कोई भी वैद्य ज्वर, कास या श्वास के नाम से नहीं करता, यही हाल अन्य रोगों का भी है। किन्तु पाश्चात्य पद्धति के कुछ ही रोगों का ज्ञान होने के कारण अनेक अवसरों पर वैद्य उपहास के पात्र बनते देखे जाते हैं। पाश्चात्य पद्धति से एक रोग का निदान करने वाले के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह उसी पद्धति से अन्य सभी रोगों का निदान कर सके। आजकल यह दशा चल रही है कि यदि डाक्टर किसी रोगी को टी. बी. बतला देता है तो वैद्य भी उसे यक्ष्मा बतलाने लगते हैं। कभी कभी मतभेद उपस्थित होने पर भी वैद्यों को डाक्टरों की हां में हां ही मिलानी पड़ती है क्योंकि तर्क करने योग्य ज्ञान का अभाव रहता है। इसलिए वैद्यों को भी पाश्चात्य निदान का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। जो लोग उक्त दोनों कारणों को मान्यता नहीं देते वे यह तो अवश्य मानेंगे कि जिस बलवान शत्रु से हमारा संघर्ष चल रहा है उसके दांव-पेंचों का ज्ञान तो हमें अवश्य ही होना चाहिए ताकि हम उससे युक्ति-पूर्वक लड़कर जीत सकें। पाश्चात्य पद्धति की आलोचना के लिए भी उसका अध्ययन आवश्यक है। यदि बिना जाने आलोचना की जाती है तो अक्सर वह आलोचक के ही अज्ञान का प्रदर्शन करती है। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखते हुये वैद्यों का ज्ञान बढ़ाने के उद्देश्य से ही पाश्चात्य निदान में इतने अधिक पृष्ठ खर्च किये गये हैं और मुझे आशा है कि अधिकांश वैद्य इसे पाकर प्रसन्न होंगे। जो लोग पाश्चात्य पद्धति से अत्यधिक चिढ़ते हैं उनके लिये यह मार्ग है ही कि वे उतना भाग छोड़कर शेष ग्रन्थ पढ़ सकते हैं।

प्राच्य पाश्चात्य के सम्बन्ध में प्रारम्भ से ही भूलें चली आ रही हैं। यथास्थान उन सबका कारण बतलाते हुए निराकरण किया गया है। पाश्चात्य निदान को शुद्ध हिन्दी में देने का यत्न किया गया है और नामों का भी कुछ अनुवाद किया गया है। अधिकतर दूसरे विद्वानों द्वारा दिये गये नामों का ही प्रयोग किया गया है किन्तु बहुत से स्थानों पर नए नामों की भी रचना की गयी है। नये शब्दों के अंग्रेजी पर्याय सर्वत्र दिये गये हैं। सारी टीका एवं पाश्चात्य मत अत्यन्त संक्षिप्त हैं। यदि विस्तार से लिया जाता तो पूरे विशेषांक में केवल ज्वर प्रकरण के भी लिए स्थान कम पड़ता।

चित्रों का निर्माण मैंने अपनी देख-रेख में कराया है। इससे चित्र तो अन्य विशेषांकों की अपेक्षा काफी अच्छे बन गये हैं किन्तु इसमें व्यय अत्यधिक हुआ है। छपाई के संबन्ध में काफी सतर्कता रखने पर भी अनेकों गलतियां हुई हैं। एक स्थान पर 'बड़े विद्वानों' के स्थान पर 'लम्बे विद्वानों' और एक स्थान पर 'ज्वरयुक्त' के स्थान पर 'ज्वरमुक्त' तक छप गया है। इससे अधिक भयंकर गलतियां और क्या होंगी। मैंने प्रधान सम्पादक जी का ध्यान इस ओर अनेक बार आकर्षित किया और उन्होंने काफी ध्यान भी दिया किन्तु कोई विशेष फल नहीं निकला। इसका कारण स्पष्ट है। धन्वन्तरि की आय बहुत कम है इसलिए कम आय वाले कर्मचारी रखे जाते हैं। स्वभावतः उनकी योग्यता कम ही रहा करती है इसलिये इस प्रकार की गलतियां होना अवश्यम्भावी है। यह दोष मूल्य बढ़ाकर ही दूर किया जा सकता है किन्तु यह विषय मेरे विचार करने का नहीं है क्योंकि इसका सीधा सम्बन्ध ग्राहकों और प्रधान संपादक के बीच है।

विशेषांक के संबन्ध में मेरा जो चिरप्रतीक्षित स्वप्न था उसे साकार करने में प्रधान संपादक श्री. देवीशरण जी गर्ग ने अतिरिक्त व्यय सहन करके भी सहयोग प्रदान किया है। मैं भलीभांति जानता हूँ कि इसमें कितना घाटा उठाना पड़ा है और कितना अधिक परिश्रम करना पड़ा है। मेरे और आयुर्वेद के प्रति उनकी इस उदारता के लिये मैं हृदय से आभारी

हूं। ईश्वर ऐसे त्यागी एवं तपस्वी आयुर्वेद सेवक को दीर्घायु प्रदान करे ताकि वह आयुर्वेद की अधिकाधिक सेवा कर सकें।

जिन विद्वानों ने लेख आदि देकर सहयोग दिया है उनके प्रति भी मैं हृदय से आभारी हूं। इस वार वैद्यों के चित्र न छापकर रोगियों के चित्र छापे गये हैं क्योंकि रोगी ही वैद्यों के अन्नदाता हैं। जो धन वैद्यों के चित्र छापने में व्यय होता था उसका कई गुना इस वार व्याधियों से संवन्धित चित्रों के निर्माण में किया गया है। यह ग्राहकों के धन का सदुपयोग है। इसके लिए विद्वान लेखक मुझे क्षमा करेंगे। जिन बन्धुओं के लेखों को स्थान नहीं दे सका उनसे भी क्षमा प्रार्थी हूं।

अभी तक के जीवन में मैंने जिन जिन महानुभावों से व्यक्तिगत रूप से अथवा उनकी पुस्तकें पढ़कर किंचित् भी ज्ञान प्राप्त किया है उसके लिए मैं उन सबको अपना गुरू मानता हूं। टीका एवं पाश्चात्य मत लिखने में भी मैंने बहुत से विद्वानों की पुस्तकों का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से लाभ उठाया है। इतना ही नहीं कई पुस्तकों के कुछ उपयोगी उद्धरण भी ज्यों के त्यों प्रस्तुत किये हैं अथवा अनूदित किये हैं। इन सब विद्वानों को अपना गुरू मानते हुए मैं उनके चरणों में आदर सहित प्रणाम करता हूँ।

मैं पहले ही कह आया हूं कि भूल करना मनुष्य का स्वभाव है। मैं भी एक साधारण मनुष्य हूँ। मैंने दूसरों की भूलों का निदर्शन किया है इसलिए कोई महाशय यह न सोचें कि मुझसे भूलें न हुई होंगी। मैंने अधिक से अधिक परिश्रम करके सब कुछ ठीक ही लिखने का प्रयत्न किया है किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर उसमें कुछ न कुछ भूलें निकल ही आवेंगी। विद्वज्जनों से प्रार्थना है कि उन भूलों के लिए मुझको क्षमा करते हुये तथा उन्हें सुधारते हुऐ इस ग्रन्थ को अपनाकर मेरे परिश्रम को सार्थक करें।

शिवरात्रि
२७।२।५७

आयुर्वेद का एक तुच्छ सेवक—
—दौलतराम सोनी

आयुर्वेद-विद्वानों एवं अनुभवी चिकित्सकों से

से साग्रह निवेदन है कि वे अर्श एवं जलोदर रोगों पर अपने-अपने अनुभव भेजने की कृपा करें। जनवरी के अंक में हमने निवेदन किया था कि प्रति वर्ष दो रोगों पर वैद्य समाज से अनुभव प्राप्त करके पाठकों की सेवा में उपस्थित किया करेंगे। उसी के अनुसार इस वर्ष अर्श और जलोदर दो रोग निश्चित किए गए हैं। अनुभवी चिकित्सकों से साग्रह विनम्र निवेदन है कि वे इन दोनों रोगों के विषय में अपने सफल अनुभव अवश्य भेजें। आपके अनुभव से सैकड़ों-हजारों पीड़ित रोगियों को लाभ पहुँचेगा तथा आयुर्वेद-चिकित्सकों को इन कष्ट-साध्य रोगों की चिकित्सा करने में सफलता मिलेगी और इस प्रकार आयुर्वेद का प्रभाव प्रसारित होगा। आशा है सभी विद्वान् इस ओर अपना ध्यान शीघ्र देंगे।

—देवीशरण गर्ग वैद्य

अतीत के अस्पष्ट अन्तराल में—

श्री माधवकर

वैद्य अम्बालाल जोशी साहित्यायुर्वेदरत्न, जोधपुर।

आयुर्वेद के इतिहास के प्राचीन पृष्ठों में तीन 'माधव' का अस्तित्व मिलता है।

(i) माधवाचार्य—आप 'सर्व दर्शन संग्रह' नामक ग्रन्थ के लेखक थे तथा वेदों के प्रसिद्ध भाष्यकार श्री सायण के भाई थे।

(ii) वृन्द माधव—आप 'सिद्ध योग' ग्रन्थ के लेखक थे।

(iii) रुग्विनिश्चयकार माधवकर।

इतिहासकारों ने तीनों माधवों को एक करने का प्रयत्न किया है जो उनका भ्रम मात्र है। गौंडल के ठाकुर साहिब ने शृंगेरी मठ के शंकराचार्य पदस्थ जो पूर्व माधवाचार्य के नाम से प्रसिद्ध थे उनको माधव निदान का लेखक माना है।[1] परन्तु यह उचित नहीं है, कारण ये विजयनगर के सम्राट बुक्क (१४ वीं शताब्दि ईस्वी) के समकालीन थे।

Jallys Indian medicine[2] के अनुसार वृन्द माधव ७ वीं शताब्दि के बताये गये हैं। परन्तु यह भी ठीक नहीं है। कारण ये अपने ही शब्दों में 'नारायणस्य तनयः' हैं न कि 'इन्दुकरात्मज'। एक अन्य स्थान पर 'वृन्देन संलिख्यते गद विनिश्चय क्रमेण'' लिख कर उन्होंने यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि मैंने माधवकर के रोग विनिश्चय ग्रन्थ के क्रम से अपने ग्रंथ 'सिद्ध योग' को लिखा है। डाक्टर होरनले ने भी दोनों माधवों को एक माना है। परन्तु उन्होंने अपने उक्त कथन की पुष्टि के लिये कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया है।

तीसरे माधव हैं हमारे 'निदाने माधवः श्रेष्ठः' के मान्य लेखक। इन्होंने आर्ष ग्रन्थों के आधार पर 'रोग विनिश्चय' नाम से निदान विषयक इस संग्रह ग्रंथ की रचना की है [*] जो कालान्तर में उन्हीं के नाम पर 'माधव निदान' संज्ञा से विद्वानों द्वारा बोधित की गई। यही इन्दुकर के सुपुत्र माधवकर हमारे विषय के नायक हैं। ये स्वयं अपने विषय में मौन हैं अतः इनका इतिहास प्रस्तुत करने के लिये हमें इतर ग्रन्थों तथा प्रसंगों का अध्ययन करना पड़ेगा।

माधवकर स्वयं एक वैद्य थे तथा वैद्य कुल में उत्पन्न हुए थे ऐसा अनेक इतिहासकारों का मत है। यह भी अनुमान किया जाता है कि वे बंगाल के एक सम्भ्रांत वैद्यकुल के सदस्य थे। कारण बंगाल में 'कर' उपाधि वैद्यों के एक ऐसे ही कुल का बोधक है। अन्य बंगीय लेखकों ने जैसे वृन्द, चक्रपाणि आदि ने अपने ग्रन्थों में 'रुग्विनिश्चय' ग्रन्थ के विषय-क्रम का अनुसरण किया है।

माधवकर इन्दुकर के पुत्र थे। कर उपाधि उन्हें परम्परा से प्राप्त हुई ऐसा अनुमान किया जासकता है। बहुत संभव है माधवकर के विद्वान पिता एक सफल (पीयूषपाणि) चिकित्सक रहे हों। इस लिये 'इन्दु' (चन्द्रमा) जो पीयूष का आगार है तथा 'कर' (हस्त) में रहने के कारण ही उनका नाम 'इन्दुकर' (पीयूषपाणि) रखा गया हो और वही परम्परागत

[1] History of Aryan medical Science ch. 21/34, 35.

[2] F. F. 56 P. P. 7 to 9,

[*] सुभाषितं यत्र यदस्ति किंचित्तत्सर्वमेकीकृतमत्र यत्नात् (मा. नि.)।

पीयूषपाणित्व का चिह्न 'कर' माधवकर तथा उनके आत्मजों के भी लगाया जाता रहा हो।

मान्य कविराज गणनाथसेन सरस्वती का मत है कि माधवकर ईसा की सातवीं शताब्दि में पैदा हुए। अन्य कई इतिहासकारों ने इस मत का समर्थन किया है। हमारा भी ऐसा ही मत है। यद्यपि कुछ इतिहास लेखक अन्यथा मत प्रकट करते हैं परन्तु उनका पक्ष न्यायसंगत तथा तर्क सिद्ध नहीं है। अपने मत के समर्थन में हम निम्न लिखित तर्कों को उपस्थित कर सकते हैं।

(i) चक्रदत्त के रचयिता आचार्य चक्रपाणि ने अपने ग्रन्थ में इस श्लोक से दर्शाया है कि उन्होंने अपनी रचना चक्रदत्त को वृन्द के 'सिद्धयोग' के क्रम से प्रस्तुत किया है तथा उसमें योग भी उद्धृत किये हैं।

"यः सिद्ध योग लिखिताधिक सिद्धयोगानत्रैव निक्षिपति केवलं मुद्धरेद्वा।" (चक्रदत्त)

इसमें यह स्पष्ट है कि वृन्द चक्रपाणि से पूर्व हुए हैं क्योंकि चक्रपाणि का समय ११ वीं शताब्दि ईस्वी सिद्ध है कारण वे स्वयं लिखते हैं।—

"गौड़ाधिनाथ रसवत्यधिकारी पात्र नारायणस्य तनयः सुनयोन्तरंगात्।"

बंग प्रदेश के एक भाग गौड़ प्रदेश * के राजा नयपाल आदि पाल राजा ऐतिहासिक व्यक्ति हुये हैं। उसका राज्य ईसा की दसवीं शताब्दि तथा ग्यारहवीं शताब्दि तक रहा है। नयपाल का राज्य ११ वीं शताब्दि (सं. १०६० ई०) के लगभग रहा है अतः चक्रपाणि का भी करीब यही समय था। वृन्द को यदि हम इससे २०० वर्ष पूर्व का मानलें जो ६ वीं शताब्दि का ठहरता है तो ठीक रहेगा। परन्तु वृन्द ने भी अपने ग्रन्थ में यह स्वीकार किया है कि उसने अपने ग्रन्थ की रचना 'वृन्देन संलिख्यते गदविनिश्चयज क्रमेण' माधवकर के 'गदविनिश्चय' नामक ग्रन्थ के विषय क्रमानुसार ही की है। इससे यह निश्चय होता है कि 'रुग्विनिश्चय-कार' 'सिद्ध योगकार' से पूर्व हुये हैं। ठीक उपरोक्त २०० वर्ष का बीच मान लिया जाय तो माधवकर का काल ७ वीं शताब्दी ईस्वी पड़ता है।

(ii) आठवीं शताब्दि में बगदाद के खलीफा हरून-अल-रसीद ने (ई० स० ७८६ से ८०८ तक) अपनी चिकित्सा के लिये एक भारतीय चिकित्सक माणिक्य ● (मनकाह-अल-हिन्दी) को बगदाद बुलाया और स्वस्थ होने पर उसे पुरुस्कार देकर वहीं रख कर बगदाद के अस्पतालों तथा महा विद्यालयों का संचालक नियुक्त किया। इसी समय में भारतीय आयुर्वेद-ग्रन्थों—सरक (चरक), सरसद (सुश्रुत) बेदान (माधव-निदान), संकर (अष्टांग संग्रह) आदि का अरबी में अनुवाद कराया गया। इससे यह प्रतीत होता है कि माधवकर इस समय से अर्थात् आठवीं शताब्दी से पूर्व हुए हैं।

(iii) माधवकर वाग्भट्ट के बाद हुये क्योंकि उन्होंने अपने निदान ग्रन्थ में 'निदानम् पूर्वरूपाणि आदि, अनेक उद्धरण वाग्भट्ट से लिये हैं। वाग्भट्ट का समय चतुर्थ शताब्दि का है ◈ अतः माधवकर का सातवीं शताब्दी में होना सत्य हो सकता है।

(iv) माधव निदान के तीनों टीकाकार (i) अरुणदत्त (ii) विजयरक्षित तथा श्री कंण्ठदत्त और (iii) वाचस्पति अनुमान से क्रमशः ११०६, ११५६, तथा १२०६ ईस्वी सन् में हुये तथा उन्होंने (i) शब्दार्थ-दीपिका, (ii) मधुकोष, और (iii) आतंक-दर्पिणी टीकायें क्रमानुसार लिखीं।

(i) भारत में शैवमत का प्रचार बौद्धों की वज्रयान शाखा के कुछ पूर्व से ही प्रारम्भ था अतः इस

* गौड़ वंगाला इतिलोके प्रसिद्धः

● मतान्तर से 'यंक'

◈ कविराज गणनाथ सेन वाग्भट्ट को ५ वीं शताब्दि ईस्वी में उत्पन्न मानते हैं।

मत का अधिक प्रचार ईसा की सातवीं तथा आठवीं शताब्दि में रहा था। माधवकर पर भी शैवों का प्रभाव पड़ा है जैसाकि 'निदान' के मंगलाचरण से प्रतीत होता है। $

माधवकर स्वयं विद्वान होते हुए एक विद्वान ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। इसी लिये तो उन्होंने आयुर्वेद के आर्ष ग्रन्थों का अध्ययन तथा मंथन कर अनेक वैद्यों की प्रार्थना को स्वीकार कर 'रुग्वि-निश्चय' नामक संग्रह ग्रंथ अल्प पठित वैद्यों के लिये प्रस्तुत किया। ‡ ये हिन्दू शैवमत के अनुयायी थे।

उन दिनों प्रचार के इतने सीमित साधनों के होते हुये तथा अन्य प्रकाशनीय सामग्रियों के न रहते हुये भी माधवकर के इस रोग-विनिश्चय ग्रन्थ का एक डेढ़ शताब्दि में ही विदेशों तक प्रचार हो जाना ग्रंथ की आवश्यकता तथा उपयोगिता की ओर एक निश्चित संकेत देता है। वस्तुतः इस उपयोगी ग्रन्थ की आज भी उतनी ही प्रतिष्ठा है।

श्री कविराज गोपीमोहन ने अपने 'मुक्तावली' नामक ग्रन्थ के उपक्रम में यह स्वीकार किया है कि माधवकर ने 'रत्नमाला' संज्ञक एक अन्य ग्रन्थ की रचना की है।—"पूर्वलोक हिताय माधवकराभिख्यो-भिषक्केवलं कोषान्वेषणतत्परः प्रविततायुर्वेद रत्ना-करात्। मालां रत्नमयी चकार स यथा लाभं न शोभा-धिका साऽस्माभिः कमनीय भक्ति रचनाऽन्यथा प्रथ्यते॥"

$ प्रणम्य जगदुत्पत्ति स्थिति संहार कारणम्।
स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं त्रैलोक्यशरणं शिवम्॥
(मा० नि०)

‡ नानामुनीनां वचनैरिदानीं समासतः सद्भिषजां नियोगात्।
सोपद्रवारिष्टनिदानलिंगो निबध्यते रोग विनिश्चयोऽयम्॥
नाना तंत्र विहीनानां भिषजामल्प मेधसाम्।
सुखं विज्ञातुमातंकमयमेव भविष्यति॥ (मा० नि०)

वैद्यक-शब्द-सिन्धुकोष के 'विज्ञापनम्' में श्री कविराज उमेशचन्द्र गुप्त कविरत्न ने श्री माधवकर के विषय में निम्न लिखित विचार ज्ञापित किये हैं—

"अपिच माधवः स्वग्रंथस्योपसंहारे यो गोविन्दः वृद्ध भोजस्य पातंजल वृत्तिकारस्य समये (सप्तमशताब्दयां) वर्तमान आसीत् तत् कृति सूक्ति कर्णामृत नाम ग्रंथस्य मुक्तावलीकारं गोविन्दाधस्तनं गुरुमंगीकृत्यात्मानं तत् सम-सामयिकं तदधस्तनं वा प्रतिपादितवान्॥"

उपरोक्त विज्ञापन में माधवकर ने पातञ्जलि वृत्तिकार वृद्ध भोज के सम-सामयिक श्री गोविन्द रचित सूक्तिकर्णामृत ग्रन्थ की मुक्तावली बनाने वाले को अपना गुरु स्वीकार किया है। अवश्य यह मुक्तावली-कार ऊपर लिखे मुक्तावली कार श्री गोपी-मोहन से भिन्न व्यक्ति है। गोविन्द नामक एक विद्वान उत्तर पश्चिम बंगाल में सातवीं शताब्दि के प्रारम्भ में हुए थे। वे गौड़ पादीय कारिका, जिसमें २१५ श्लोक हैं, के लेखक श्री गौडपादक के शिष्य थे। मतान्तर से श्री शंकराचार्य को इन्हीं गोविन्द का शिष्य बताया गया है जो संशयपूर्ण है। इस कथन की प्रमाणिकता को यदि स्वीकार कर लिया जाय तो श्री माधवकर का समय सातवीं शताब्दि के उत्त-रार्थ में रहता है।

माधवकर के पारिवारिक जीवन के विषय में कुछ भी लिखना संभव नहीं है। साधारणतया एक संयुक्त हिन्दू परिवार के सदस्य होने के नाते वे सभी परिस्थितियों तथा समस्यायें जो हिन्दू परिवार में अधिकतर रहा करती हैं, माधवकर उसके अपवाद न रहे होंगे। उनके माता, स्त्री, पुत्र, पुत्रियां, आदि के विषय में कुछ भी अधिक कहना अनधि-कार पूर्ण ही होगा।

चिकित्सा में निदान का महत्व

लेखक—वैद्य मुन्नालाल गुप्त B. I. M., कानपुर।

चिकित्सा में निदान का महत्व स्वयं सिद्ध है। यह लगभग उसी तरह की बात है जैसे तीर या बन्दूक चलाने वाले के लिये निशाने का महत्व अथवा यात्री के लिए मार्ग ज्ञान का महत्व। तीर, बन्दूक आदि अस्त्र कितने ही अच्छे हों, जब तक ठीक ठीक निशाना न लगाया जावे एकदम व्यर्थ हैं। यात्री कितना भी शीघ्रगामी क्यों न हो बिना मार्ग का ज्ञान प्राप्त किए अपने इच्छित स्थान पर कदापि नहीं पहुंचेगा। इसी तरह सही सही निदान किए बिना चिकित्सा में सफलता की आशा व्यर्थ है। आपके पास कितनी भी श्रेष्ठ औषधियां क्यों न हों, यदि आप निदान करने में असमर्थ हैं तो वे औषधियां उसी प्रकार व्यर्थ हैं जैसे प्राण निकल जाने पर सुन्दर से सुन्दर और बलिष्ठ से बलिष्ठ शरीर भी व्यर्थ हो जाता है। निदान पूर्वक प्रयुक्त हरीतकी जैसी सामान्य और सस्ती औषधि अथवा संखिया, वच्छनाग सरीखे प्राणघातक विष अमृत के समान कार्य करते हैं किन्तु सही सही निदान के अभाव में प्रयुक्त पारद भस्म, सहस्रपुटी अभ्रक भस्म और हीरा भस्म जैसी दुर्लभ, बहुमूल्य और अमृत सदृश्य कार्य करने वाली औषधियां भी कुछ लाभ पहुंचा सकेंगी या नहीं अथवा हानि पहुंचावेंगी यह कुछ भी कहा नहीं जा सकता।

किसी भी रोगी की चिकित्सा में प्रवृत्त होने के पूर्व चिकित्सक के लिए यह अनिवार्य होता है कि वह नीचे लिखी बातों का ज्ञान भलीभांति प्राप्त करे—

(१) रोग की उत्पत्ति किन कारणों से हुई...(हेतु)

(२) रोग का प्रारंभ होने के पूर्व स्वास्थ्य में क्या क्या परिवर्तन हुए थे (पूर्व रूप)

(३) रोग के वर्तमान लक्षण एवं रोग के प्रारम्भ से लेकर अभी तक का पूरा इतिहास।

(४) किस प्रकार के औषधि, आहार और विहार से कष्ट बढ़ता या घटता है......(उपशय-अनुपशय)।

इन चारों के आधार पर तथा अनेक प्रकार से रोगी की और मल-मूत्रादि की परीक्षा करके आभ्यन्तर विकृतियों का पता लगाया जाता है—सम्प्राप्ति (*Pathology*)। तथा रोग के नाम और प्रकार का विनिश्चय किया जाता है—रोगविनिश्चय (*Diagnosis*)। फिर इन सब के आधार पर अनुमान किया जाता है कि रोग और रोगी का भविष्य क्या होगा—भविष्य ज्ञान (*Prognosis*)। इतना सब कर चुकने के बाद चिकित्सा की ओर प्रवृत्त हुआ जाता है; उस समय भी रोगी के लिए अनुकूल औषधि आहार विहार का चयन करना पड़ता है।

चिकित्सा-कर्म की यही वास्तविक विधि है। केवल आयुर्वेद ही नहीं संसार की सभी चिकित्सा पद्धतियां इसी विधि को स्वीकार करती हैं। उपकरण-भेद से प्रत्येक में थोड़ा-बहुत अन्तर अवश्य है किन्तु सिद्धान्तों में अन्तर नहीं है।

जनता में तथा अल्पशिक्षित वैद्यों में यह भ्रम फैला हुआ है कि अच्छी औषधियों का ज्ञान ही चिकित्सा की कुंजी है। रोगी हमेशा ही वैद्य से कहा करते हैं—'अच्छी दवा दीजियेगा'। ऐसे रोगी बहुत कम मिलते हैं जो कहते हैं—'मेरे रोग का निदान अच्छी तरह से कीजियेगा'। सामान्य वैद्य भी निदान की अपेक्षा औषधियों की ओर अधिक ध्यान देते पाये जाते हैं। सभी चिकित्सा पद्धतियों में इस प्रकार की औषधियों का अधिकाधिक प्रचार है जो अनेक रोगों पर लाभ पहुंचाती हैं। पेनीसिलीन, ऐरोमाइसीन आदि की बढ़ती हुई लोकप्रियता का कारण यही है कि ये बहुत से रोगों में लाभ पहुंचाती हैं इसलिए जो चिकित्सक निदान करने में निपुण नहीं हैं वे भी इनसे लाभ उठा सकते हैं। किन्तु सही निदान के अभाव में कभी-कभी ये भी बड़े मजेदार तरीके से असफल होती देखी जाती हैं। उदाहरण के

लिये, पेनीसिलीन अनेक ज्वरों में लाभप्रद होते हुए भी मलेरिया (विषम ज्वर) पर कोई प्रभाव नहीं करती और ऐरोमाइसीन अनेक प्रकार के अतिसार के लिये अमृत-सदृष गुणकारी होते हुए भी अजीर्ण जन्य और विषजन्य अतिसारों पर कोई प्रभाव नहीं करती। इसलिये ऐसे अनेक रोगी मिलते हैं जो इन ऊंची औषधियों का सेवन करके निराश हो चुके होते हैं। जब वे किसी योग्य चिकित्सक के पास पहुंचते हैं तब सही-सही निदान करने के बाद प्रयुक्त सामान्य औषधियों से लाभ होते देखकर इन्हें चकित होजाना पड़ता है। वास्तव में चिकित्सा की सफलता निदान पर जितनी निर्भर है उतनी औषधियों पर नहीं। औषधियों का भी महत्व है किन्तु सही-सही निदान के बाद।

चिकित्सा कार्य में सफलता चाहने वाले प्रत्येक चिकित्सक को निदान करने की कला में पारंगत बनना चाहिये। जो चिकित्सक निदान-कला में निपुण हुए बिना चिकित्सा करता है वह वास्तव में यमराज का बड़ा भाई × कहलाने योग्य है। ऐसे लोग आजीवन सिद्ध योगों की खोज में परेशान रहते हैं किन्तु सफलता उनसे कोसों दूर रहती है। सामान्य ज्वर, अतिसार, खांसी आदि की चिकित्सा कर लेना कोई खास बात नहीं है, इतना तो अपढ़ लोग भी कर लेते हैं। वास्तव में कठिन एवं गूढ़ रोगों में ही चिकित्सक की परीक्षा होती है और वहीं पर निदान का चमत्कार देखने को मिलता है। निदान ठीक-ठीक होजाने पर चिकित्सा हस्तामलकवत् होजाती है और कभी-कभी असाध्य रोग तक साध्य होजाते हैं। एक रोगी की जीभ में व्रण था जो हजारों प्रयत्नों के बावजूद भी ठीक नहीं हो सका था। एक चिकित्सक ने केवल एक दांत उखाड़कर उसे अच्छा कर दिया। वास्तविकता यह थी कि उस रोगी का वह दांत फटकर कुछ हिस्सा निकल गया था जिससे वहां धार सी बन गयी थी। उसमें रगड़ लगते रहने से ही व्रण बना था और प्रतिदिन रगड़ लगते रहने से ताजा बना रहता था। इसी प्रकार एक महाशय के आधे सिर में लगभग ३ वर्षों से दर्द रहा करता था जो बहुत इलाज कराने पर भी ठीक नहीं हो सका था। एक चिकित्सक ने केवल चश्मा देकर पांच सौ रुपये ले लिये और दर्द भी अच्छा होगया। चश्मे में कोई विशेषता न थी। वास्तविकता यह थी कि उसकी एक आंख कमजोर थी। उस पर जोर पड़ने से सिरदर्द हो जाता था। सही नम्बर का चश्मा लगवा देने से दर्द की उत्पत्ति बन्द हो गयी। इसी प्रकार एक अतिसार-रोगी मेरे पास चिकित्सा के लिये आया था। वह अनेक स्थानों पर चिकित्सा करा चुका था और कहीं भी लाभ नहीं हुआ। मेरी चिकित्सा से भी लाभ नहीं हुआ। उसके मरने के कई मास बाद पता चला कि उसकी स्त्री उससे छुटकारा पाने के लिये प्रतिदिन उसके भोजनादि में जमालगोटा मिला दिया करती थी। कलकत्ते से निकलने वाले एक पत्र में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण समाचार कुछ वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था। एक लड़की जिसकी आयु ६-७ वर्ष थी उसे योनि से रक्त आने की शिकायत थी। बहुत चिकित्सा करने पर भी लाभ न हुआ। अन्त में एक डाक्टर ने उसके रक्त की परीक्षा करायी तो उसमें प्रवाहिका के कीटाणु (Entamoeba Histolitica) मिले। पूछने पर पता लगा कि रोग प्रारम्भ होने के लगभग ६ माह पूर्व उसे प्रवाहिका हुई थी। अनुमान किया गया कि शौच शुद्धि करते समय मल से दूषित हाथ या जल योनि में लग जाने से संक्रमण हुआ होगा। प्रवाहिका की चिकित्सा की गई और पूर्ण लाभ हुआ। ऊपर के सभी उदाहरणों में निदान के अभाव में रोग असाध्य रहा किन्तु निदान होते ही साध्य हो गया। यही निदान की महत्ता है।

किन्तु सही-सही निदान करना कोई सरल कार्य नहीं है। इसके लिये गंभीर अध्ययन के साथ-साथ अभ्यास भी जरूरी है। क्योंकि बिना अभ्यास + के केवल ज्ञान

× वैद्यराज नमस्तुभ्यं त्वं यमज्येष्ठसहोदरः।
यमो हरति प्राणानि त्वं प्राणानि धनानि च॥

+ पुस्तकस्था तु या विद्या परहस्तगतं धनम्।
कार्यकाले समुत्पन्ने न सा विद्या न तद्धनम्॥
अनभ्यासे विषं शास्त्रमजीर्णे भोजनम् विषम्।
विषं सभा दरिद्रस्य वृद्धस्य तरुणी विषम्॥

काम नहीं देता। गंभीर अध्ययन और दीर्घकालीन अभ्यास के बाद भी निदान में भूलें हो ही जाया करती हैं। संसार का सर्वश्रेष्ठ चिकित्सक भी दावे के साथ नहीं कह सकता कि वह निदान करने में कभी भूल नहीं करता। कारण यह है कि सभी रोगियों के प्रति पूरा-पूरा ध्यान देना व्यस्त चिकित्सक के लिये संभव नहीं होता, दूसरे कुछ मामले अत्यन्त उलझे हुए भी सामान्यवत् प्रतीत होते हैं, तीसरे अनेक रोगों के लक्षणों में परस्पर इतनी अधिक समानता होती है और चौथे कुछ रोग इतने अधिक छिपे हुए होते हैं कि उनका ज्ञान शल्य-कर्म करते समय अथवा मृत्यूत्तर-परीक्षा (Post-mortem Examination) करते समय ही संभव होता है। इस प्रकार यह निश्चित है कि निदान करना एक अत्यन्त कठिन कार्य है। इसके लिये जितना भी परिश्रम किया जावे वह थोड़ा ही है। और जितने अधिक से अधिक उपकरण काम में लाये जावें वे भी थोड़े ही हैं। और अत्यन्त कठिन होते हुए भी यह कार्य प्रत्येक चिकित्सक को करना ही पड़ता है क्योंकि—निदान के बिना चिकित्सा संभव नहीं है। अतएव हर चिकित्सक का कर्तव्य है कि वह अधिक से अधिक परिश्रम करके और अधिक से अधिक उपकरणों की सहायता लेकर इस कार्य में अधिक से अधिक निपुण बने।

चिकित्सायां धीरः प्रतिदिनं निदाने कृतमतिः ।
निमित्ते विज्ञाते सकलगददैन्यं परिभवन् ।।
अनिन्द्यो सद्वैद्यः निखिलजनस्वान्तेसुखकरः ।
प्रकाशं संयाति गगनगत ताराधिप इव ।।

'मनु'

(विशेष सम्पादक द्वारा अनेक स्थलों पर परिवर्धित)

:: स्वप्न और शकुन ::

दो बस बन गया कौवा। एक लोहे की चलनी लो इसमें गेहूँ जौ, मटर आदि सवासेर सप्तधान्य (सतनजा) भर दो। इस सतनजे के ऊपर काक को रख कर भंगी को दे दो और साथ ही लड़के के वस्त्र जो कि पहिने हुआ था (काक चौंच मारने के समय) उनको भी भंगी को देदो। यही सब किया गया।

नोट—(क) काक दान की क्रिया बुध अथवा शनिवार को होनी चाहिए वह भी शीघ्र।

(ख) उपरोक्त चार क्रियायें चार सज्जनों ने एक एक बताई थी किन्तु मैने चारों का ही प्रयोग किया था।

नील पड़ना

१९४१ ई० में एक स्त्री के जानु (घुटने) पर अकस्मात ही एक वृत्ताकार नीलवर्ण का चिह्न होगया। यह चिन्ह चांदी दुअन्नी के बराबर का था। आठ दिन के पश्चात् वह नील वर्ण न रह कर रक्त वर्ण का होगया। ५-७ दिन बाद बिना उपचार के स्वयं ही नष्ट होगया। इसके लगभग २० दिन बाद उस स्त्री का लड़का मर गया। इस प्रकार के चिह्न होना घर में अथवा सम्बन्धियों में मृत्यु कारक अथवा भयंकर अनिष्ट सूचक होते हैं यह मेरा २०-२५ बार का अनुभव है।

जमजूं—जननेन्द्रिय और अण्डकोषों के समीप बाल होते हैं, इनमें जमजूं होजाती हैं ये जमजूं दो प्रकार की होती हैं कुछ में से पानी निकलता है और कुछ में से रक्त। दोनों ही प्रकार की अनिष्टकारी होती हैं। ये जिस मनुष्य के बालों में अपना घर बनाती हैं उसके आत्मीय जनों—माता, पिता, स्त्री और पुत्र आदि की मृत्यु कारक होती हैं अथवा सूचक होती हैं।

इस पर २०-२५ बार का मेरा अनुभव है।

:: पृष्ठ ६८ का शेषांश ::

भारतीय-निदान प्रणाली की अन्य प्रणालियों से तुलना

लेखक—कविराज हरस्वरूप शर्मा बी. ए. (ओनर्स) आयुर्वेदाचार्य धन्वन्तरि,
सम्पादक—आरोग्य दर्पण, अहमदाबाद।

निदान शब्द बहुत ही व्यापी है। निदान, पूर्व-रूप, उपशय और सम्प्राप्ति में उल्लिखित निदान विप्रकृष्ट अथवा सन्निकृष्ट निदानार्थकर अर्थात् रोग जनक कारण या हेतु का बोधक है, वही निदान शब्द सर्व साधारण द्वारा प्रयुक्त होने पर 'प्रयोजन' का पर्याय वाची माना जाता है, जब कि यहां यह 'निदान-प्रणाली' में प्रयुक्त होने के कारण रोग निर्णय पद्धति का सूचक है।

संसार आज अनेक चिकित्सा पद्धतियों से खचित है। गम्भीरता पूर्वक विचार करने वालों को तो सहज ही यह प्रतीत हो जाता है कि ये सब पद्धतियां आयुर्वेद वर्णित विविध चिकित्सा पद्धतियों के विकृत स्वरूप मात्र हैं परन्तु आयुर्वेद के विस्तृत प्रचार के अभाव के कारण आज अनेक बुद्धिशालियों का इस ओर लक्ष्य नहीं जाता, इस लिये मौलिक रूप से सभी पद्धतियां आयुर्वेद के विविधांग होने के कारण भारतीय होने पर भी उन पद्धतियों को देश काल के प्रभाव के कारण, आयुर्वेद से अधिक महत्ता मिलने पर, सर्वाङ्ग सम्पूर्ण न होते हुए भी परिपूर्ण चिकित्सा पद्धतियां मान लिया गया है और विविध प्रदेशों में पुष्ट हुई ये पद्धतियां तत्तद्देशीय कही जाने लगी हैं, और; कोई कोई पद्धति तो विश्व-व्यापी हो चुकी है जब कि विश्व का सर्वश्रेष्ठ और मानवों की आयु के ह्रासकर तथा वृद्धिकर कारणों और उपायों के ज्ञान का अंशाश वर्णन करने वाला आयुर्वेद राज्याश्रय के अभाव के कारण केवल वैद्यों द्वारा मान्य, भारतीय विज्ञान ही रह गया है।

निदान चिकित्सा का अग्रगामी है। प्रत्येक प्रणाली में औषधि प्रयोग से पूर्व रोग ज्ञान को महत्व का स्थान प्रदान किया गया है। रोग शरीर मन की विकृतावस्था कही जाती है। और एक रोग दूसरे से लक्षण और चिन्हों के विविध समूहों के आधार पर भिन्न माना जाता है। प्रत्येक रोग के सामूहिक लक्षणों और चिन्हों को जानने के मार्ग को निदान कहते हैं।

आज संसार में अनेक चिकित्सा प्रणालियां प्रचलित हैं। सभी प्रणालियों की निदान पद्धतियां उनकी चिकित्सा प्रणालियों के अनुरूप, अमुक अंशों में परस्पर भिन्न होती हैं। कोई प्रणाली केवल लाक्षणिक चिकित्सा करती है—उसकी निदान प्रणाली रोग के लक्षणों को जानने तक ही सीमित होती है। कोई प्रणाली रोग के मूल को जानकर उसकी चिकित्सा करती है, उसकी निदान पद्धति गम्भीरता पूर्वक रोग के मूल की शोध करने का आदेश देती है। यन्त्र, मंत्र, तंत्र, योग सिद्धि, देवता सिद्धि, पिशाच सिद्धि आदि अदृश्य तत्व प्रणालियों से लेकर दृश्यादृश्य क्रिया-गुण-धर्ममयी होम्योपैथिक, बायोकैमिक, प्राकृत, यूनानी, ऐलोपैथिक, आधुनिक चिकित्सा विज्ञान और आयुर्वेदिक चिकित्सा निदानप्रणालियां न्यूनाधिक परिमाण में सर्वत्र प्रचलित हैं।

यंत्र--मंत्रादि, योग तथा सिद्धियों के निदान चिकित्सा के विषय में इनके अदृश्य क्रिया-गुणों के कारण कुछ जानना या समझना वैज्ञानिकों की शक्ति के बाहर है, परन्तु इनको सर्वथा अवैज्ञानिक या

ढोंग कहना भी युक्तियुक्त नहीं है।

होम्योपैथिक-चिकित्सा-पद्धति रोग के प्रभाव के अनुकुल औषधायोजन करती है, इसलिए इस पद्धति का रोग-निर्णय-प्रकार रोगी को अनुभव होने वाले लक्षणों के ज्ञान तक ही सीमित है। क्योंकि रोग अपने प्रभाव से रोगी के शरीर में आतंक की उत्पत्ति करता है, इसलिये इस पद्धति में उस आतंक को ही रोग मान लिया जाता है। इस पद्धति की निदान प्रणाली केवल प्रश्न (रोगी से प्रश्न करने) तक ही सीमित है, इसमें अन्य रोग ज्ञानोपायों को काम में नहीं लाया जाता।

बायोकैमिक पद्धति शरीर को अष्ट लवण निर्मित मानती है, इसलिये यह उन लवणों के आवश्यकता से अधिक या हीन होने को रोग मानती है और रोगी की अनुभूति के आधार पर केवल प्रश्न का आश्रय लेकर रोग का निर्णय कर लेती है, अतः इस पद्धति की निदान प्रणाली भी लक्षण ज्ञान तक ही सीमित है और अमुक अमुक लक्षणों के योगों को अमुक रोग निश्चित कर लिया जाता है।

प्राकृत चिकित्सा पद्धति की अपनी कोई रोग निर्णय प्रणालिका अभी तक निश्चित नहीं हुई है। इसमें भी लक्षणों के आधार पर ही रोग का निर्णय किया जाता है और प्रायः इस पद्धति के चिकित्सक रोग निर्णय के लिए आयुर्वेद या आधुनिक विज्ञान प्रणाली का आश्रय लेते हैं।

यूनानी आयुर्वेद प्रणाली का दूसरा स्वरूप है। यह अधिकतर नाड़ी द्वारा रोग निर्णय करना सिखाती है।

आजकल आयुर्वेदज्ञ भी अधिकतर नाड़ी परीक्षा द्वारा ही रोग निर्णय करते हैं, परन्तु वास्तविक आयुर्वेद पद्धति 'पञ्चभि श्रोत्रादिभि प्रश्नेन चेति' इस प्रकार वैद्य को अपनी पांचों ज्ञानेन्द्रियों का उपयोग करके तथा रोगी से अनेक आवश्यक ज्ञेय विषयों पर प्रश्न करके रोग निर्णय पर पहुँचना होता है। नाड़ी का इन्हीं रोग विज्ञानोपायों में समावेश होजाता है, जब कि यूनानी में नाड़ी विज्ञान नितान्त भिन्न और आवश्यक है, वह रोग निर्णय के लिये अन्य ज्ञेय प्रकारों पर विशेष भार नहीं देती।

ऐलोपैथी व्याधि विरुद्ध अर्थात् रोग लक्षण विरुद्ध चिकित्सा का शिक्षण देती है इसलिये इस पद्धति में भी रोगी की अनुभूतियों द्वारा लक्षणों को जानकर रोग निर्णय किया जाता है जब कि आयुर्वेद शरीर के भौतिक तत्वों में होने वाले विकारों की शोध के लिए 'पञ्चभि श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन चेति' का प्रयोग करता हुआ शरीर संचालक, संधारक और संपोषक दोष-धातु-मलों के अन्तर्गत होने वाले विकारों का निर्णय करता है। मौलिक ऐलोपैथी की निदान प्रणाली किसी विशिष्ट प्रकार की नहीं है, आधुनिक चिकित्सा विज्ञान ऐलोपैथिक नहीं है, लोग इसे भूल या अज्ञानता से ऐलोपैथी कहते हैं। आधुनिक विज्ञान ऐलोपैथी के समान केवल व्याधि विरुद्ध चिकित्सा नहीं करता, वह तो अधिकतर प्रत्येक रोग का कारण एक न एक कीटाणु मानता है, इसलिए कीटाणु की शोध के लिये सब प्रकार के भौतिक साधनों का प्रयोग करके रोग निर्णय करता है; लक्षणों की ओर विशेष लक्ष्य नहीं देता, अतः मेरे मतानुसार, आधुनिक चिकित्सा विज्ञान ऐलोपैथी से नितान्त भिन्न है, परन्तु क्योंकि उसकी लिपि वही है जो ऐलोपैथी की और समान लिपि होने से अधिकतर सभी शब्द उसी में से लिये गये हैं इसलिये मनुष्य उसकी भिन्नता को नहीं देख पाता।

आधुनिक विज्ञान निदान पद्धति में आयुर्वेद की निदान प्रणाली की ओर झुकता जारहा है। यह दर्शन, स्पर्शन, श्रवण, अङ्गों को बजाकर उत्पन्न हुई ध्वनि को सुन कर, प्रश्न करके और शरीर के विविध दोष धातु मलों की अनेकशः ऐन्द्रिक और रासायनिक परीक्षाएं करके तथा शरीर संचालक अंग

प्रत्यंगों को यांत्रिक परीक्षा करके रोग निदान करना है। आयुर्वेद को निदान पद्धति सर्वांश में इसी प्रकार की है, वह 'पञ्चभि श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन चेति' का आदेश देते हुए बताया है कि 'तत्र श्रोत्रेन्द्रिय विज्ञेया विशेषा रोगेषु व्रणस्राव विज्ञानीयादिषु वक्ष्यन्ते । सफेन रक्तमीरयन्ननिलः सशब्दो निर्गच्छतीति एवमादयः । स्पर्शेन्द्रिय विज्ञेया शीतोष्ण-श्लक्ष्ण कर्कश मृदु स्पर्श विशेषा ज्वरशोषादिषु । चक्षुरिन्द्रिय विज्ञेया शरीरोपचयापचयायुर्लक्षण बलवर्ण विकारादयः । रसनेन्द्रिय विज्ञेया प्रमेहादिषु रस विशेषाः । घ्राणेन्द्रिय विज्ञेया अरिष्ट लिङ्गादिषु व्रणानामव्रणानाञ्च गंध विशेषा । प्रश्नेन च विजानीयाद्देशं कालं जातिं सात्म्यमातङ्क समुत्पत्ति वेदना समुच्छ्राय बलं दीप्ताग्निता वात मूत्र पुरीषाणां प्रवृत्य प्रवृती काल प्रकर्षादींश्च विशेषान् आत्म सदृशेषु विज्ञानाभ्युपायेषु तत् स्थानीयै जानीयात्" । रोग विज्ञान के लिए अक्षरशः इसी निदान प्रणाली का आदेश आधुनिक विज्ञान भी देता है परन्तु वह इस निदान के ज्ञान से विशेष लाभ नहीं उठा पाता कारण कि वह दोष धातु मलों के स्तरीय ज्ञान तक भी नहीं पहुँच पाया है और नहीं वह दोष धातु मलों के संचय, प्रकोप, प्रसार आदि की ही कल्पना कर सका है।

आधुनिक विज्ञान ने पंचेन्द्रियों की शक्ति का मापदण्ड निकाल कर यह जांच लिया कि उनके प्रयोग से ही रोग की अंशांश शोध नहीं की जा सकती, इस लिये ऐसे यंत्रों की भी शोध की जो इन्द्रियों को अधिक प्राप्ति के सहायभूत होती हैं। पुरातनकाल में भी सम्भवतः ये यन्त्र इस रूप में नहीं तो किसी अन्य रूप में अवश्य होंगे और यदि नहीं भी होंगे तो वैद्यों की इन्द्रियों की शक्ति अवश्य असीम होगी या वे चित्तवृतियों का निरोध कर रोग को जानने का प्रयत्न करते होंगे।

ऐसे नवीन रोग निर्णायक यंत्र कि जिनसे ज्ञानेन्द्रियों की इस शक्ति की परिवृद्धि हो आजकल सम्भवतः प्रत्येक इन्द्रिय के सहायक १-१, २-२ निर्मित हो चुके हैं और नित्य प्रयोग में आ रहे हैं। कान की शक्ति सीमित है अथवा अमुक प्रकार से प्रयोग में लाया जाय तो ही वह शब्द श्रवण कर सकता है, आधुनिकों ने इसकी शक्ति के परिवर्द्धनार्थ श्रवण यंत्र (Stethoscope) का निर्माण किया। आर्य चिकित्सक, सुनते हैं स्वर्ण निर्मिता विशिष्ट प्रकार की ऐसी नलिकाऐं रखते थे जो एक ओर कान में लगाई जाए और दूसरी ओर हृदय आदि अङ्गों पर रक्खी जाय। इससे दोनों कानों को एक ही साथ प्रयोग में लाने की योजना का अभाव था, आधुनिक यंत्र इस विषय में विशिष्ट है और इससे पर्याप्त दूरी से जैसी परिस्थिति में रोगी चाहे वैसे ही और सभी शब्दोत्पादक अङ्गों के शब्दों को सरलतापूर्वक सुना जा सकता है। इसके अतिरिक्त वह इस प्रकार प्रयोग में भी लाया जा सकता है कि वैद्य और रोगी का परस्पर शरीर स्पर्श न हो और शरीर अङ्गों की स्वस्थास्वस्थ ध्वनि भी सुनी जा सके । इसी प्रकार आधुनिक विज्ञान ने तीव्र दृष्टि अणुवीक्षण यन्त्र (Microscopes) और एक्सरे (X-Ray) आदि भी शोध करके चिकित्सक की दर्शन शक्ति की वृद्धि की है। प्रथम यन्त्र की सहायता से दोष-धातु-मलों में क्षोभ होने से उत्पन्न हुए कीटाणु आदि को देखा जासकता है और दूसरे से आन्तरिक अंग प्रत्यङ्गों में दोषों के सतत आघात से अथवा उनकी सतत एक ही स्थान पर की विकृत क्रिया से उत्पन्न हुए व्रण, क्षत, शोथ तथा विविध प्रकार के परिवर्तनों को देखा जा सकता है। आयुर्वेद शास्त्र के पञ्च-ज्ञानेन्द्रिय और प्रश्न द्वारा रोग निदान की प्रवृत्ति को जान कर कोई भी यह नहीं कह सकता कि पूर्वाचार्य इस प्रकार के यन्त्रों का प्रयोग नहीं करते होंगे, जिन्हें इन यन्त्रों की विद्यमानता में शंका होगी वे कम से कम यह तो अवश्य मानते होंगे कि पूर्वाचार्यों की ज्ञानेन्द्रियों की शक्तियां असीम थीं अथवा वे सब

ही योगी थे।

मल-मूत्रादि मलों और रस रक्तादि धातुओं के स्वस्थास्वस्थ रूप-रस-गंध आदि के ज्ञान के लिये आधुनिक विज्ञान ने नवीन नवीन परीक्षण पद्धतियों का आविष्कार किया है, आयुर्वेद में भी इन धातु-मलों और दोषों के विकृताविकृत रूप, रस, गन्ध आदि का वर्णन है और उनके ज्ञान के लिए विविध प्रकार की परीक्षण पद्धतियों का भी वर्णन है। तेल द्वारा मूत्र परीक्षा, जल में डालकर पुरीष परीक्षा, कुत्ते आदि प्राणियों को चटाकर रक्त पित्त में उर्ध्वाधोमार्ग से पड़ने वाले रक्त की परीक्षा आदि का उल्लेख अनेक प्रकार से अनेक ग्रन्थों में मिलता है। परन्तु मेरा अनुमान है कि दोष धातु मलों की परीक्षण विधियां इनसे भी कहीं श्रेष्ठ रही होंगी; कारण कि कुत्ते बिल्ली आदि प्राणियों में रुचि अरुचि के भावाभाव होते हैं; उनकी भी मानवों के समान अमुक समय अमुक द्रव्यों के खाने की इच्छा होती है अमुक समय नहीं, अतः इनके चाटे जाने या खाये या न खाये जाने पर दोष धातु मलों के विकृताविकृत होने पर निर्भर रह कर रोग का सम्यक् निदान नहीं किया जा सकता। आधुनिकों की परीक्षण विधियां इस दिशा में फलवान और सरल प्रतीत होती हैं, परन्तु वे आयुर्वेद वर्णित दोष धातुमलों के विग्रहों के ज्ञान के लिये पर्याप्त नहीं हैं।

नाड़ी की परीक्षा आधुनिक भी करते हैं और आयुर्वेद में यह स्पर्शान्तिर्गत आजाती है, इस लिये इस विषय में भी आधुनिक विज्ञान और आयुर्वेद विशेष भिन्न नहीं हैं।

पञ्चेन्द्रिय और प्रश्न द्वारा रोग विज्ञान में आधुनिक-चिकित्सा-विज्ञान और आयुर्वेद समान होते हुए भी वास्तविक रोग निर्णय में नितान्त भिन्न है। आधुनिक वैज्ञानिक इन्हीं रोग ज्ञानोपायों द्वारा कीटाणुओं की शोध करते हैं तथा शरीर के अमुक निर्णायक तत्वों की क्षीणता तथा वृद्धियों का ज्ञान प्राप्त करते हैं, आयुर्वेदज्ञ इन्हीं ज्ञानोपायों का प्रयोग करके जहां शरीर के अङ्ग प्रत्यङ्गों के विकृताविकृत स्वरूपों का निर्णय तथा उन अङ्गों के आंगिक विकारों का निर्णय करता है वहां साथ साथ शरीर निर्मायक मौलिक तत्वों के विकारों का भी निर्णय कर लेता है तथा दोष-धातुमलों में होने वाले परिवर्तनों को जान कर उनका अंशांश कल्प विकल्प करके रोग के मौलिक कारण तक पहुँच कर वास्तविक निदान कर लेता है और रोग को समूल नष्ट करने की क्रियायें करता है, वहां आधुनिक विज्ञानवादी रोग निदान तक पहुंच सकते हैं, परन्तु दोषों के ज्ञान के अभाव के कारण वे रोगोत्पादक कारणों के मौलिक ज्ञान तक नहीं पहुँच पाते। इसलिये रोग को समूल नष्ट करने की सामर्थ्य से हीन होते हैं।

सारांश में यह कहना अनुचित नहीं होगा कि सभी निदान प्रणालियों में भारतीय निदान प्रणाली विशिष्ट है, भले ही आधुनिक विज्ञान रोग निर्णय में आयुर्वेद की समानता तक आ चुका है परन्तु वह दोष दूष्यों के ज्ञान के अभाव के कारण अपने उस ज्ञान से लाभ नहीं उठा सकता। निदान चिकित्सा के लिए किया जाता है, आयुर्वेद इस निदान पद्धति से पूर्ण लाभ उठाता है जब कि आधुनिक विज्ञान उसके लाभ से वंचित रहता है।

स्वप्न और शकुन

लेखक—श्री. वैद्य पं० रघुवीर शरण आयुर्वेदाचार्य, आयु० बृहस्पति ।

स्वप्न और शकुनों का मनुष्य जीवन के साथ बड़ा ही घनिष्ट संबन्ध है। वेद, आयुर्वेद पुराण और इतिहास में इनका यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है।

अशुभ स्वप्न

कोई भी व्यक्ति आबाल वृद्ध स्त्री अथवा पुरुष स्वप्न में नग्न (नङ्गा), मुण्ड, रक्त अथवा काले वस्त्र धारण किये हुए स्त्री पुरुषों को देखे, किसी का अङ्ग-भंग देखे, कृष्ण वर्ण के स्त्री-पुरुषों को देखे, कोई भी व्यक्ति किसी को बांध रहा हो अथवा मार रहा हो देखे तो स्वस्थ व्यक्ति रोगी होता है। कोई व्यक्ति स्त्री हो या पुरुष स्वप्न में महिषी (भैंस), महिष (भैंसा), उष्ट्र, गधा अथवा गधा और महिष पर सवार को देखे तो वह स्वस्थ व्यक्ति रोगी होता है।

कोई व्यक्ति स्वप्न में वृक्ष से अथवा मकान से नीचे गिरे, कूप में प्रवेश करे अथवा तहखाने में प्रवेश करे तो स्वस्थ व्यक्ति को रोग होता है। कोई व्यक्ति स्वप्न में जल में डूबे, अग्नि से जले, अन्धा होजाय, दीपक बुझना देखे, तो रोगी होता है। कोई व्यक्ति स्वप्न में तैल अथवा सुरा पान करे, पक्वान्न पूड़ी कचौड़ी आदि भोज्य पदार्थों को प्राप्त करे अथवा तिलों को खावे, लोहा प्राप्त करे अथवा लोहे का क्रय-विक्रय करे, अथवा लोहे से बने परशु (फरसा), कुल्हाड़ी आदि का क्रय-विक्रय करे तो स्वस्थ पुरुष रोगी होता है।

कोई भी व्यक्ति स्वप्न में विवाह अपना अथवा अन्य किसी का होना देखे, बरात का आना, बरात का चढ़ना देखे, बरात को भोजन करते देखे तो मनुष्य रोगी होता है।

स्वप्न में रक्त अथवा कृष्ण वस्त्र धारण किये हुए स्त्रियों का नाच और गान देखे, रक्त, कृष्ण वस्त्र पहिने स्त्रियों को सामूहिक रूप में आना जाना देखे, रक्त अथवा कृष्ण वर्ण की साड़ी पहने हुए स्त्री से मैथुन करे तो वह रोगी होता है।

कोई भी व्यक्ति स्वप्न में महिषी (भैंस) को गर्भिणी होते देखे, महिषी प्रसव (भैंस का व्याना) देखे, इसकी पेवसी का भोजन करे तो रोगी होता है।

वक्तव्य—शास्त्र में लिखा है कि स्वप्न को देखने वाला रोगी होता है, किन्तु मेरा अनुभव है कि स्वप्न-द्रष्टा के अतिरिक्त उसके आत्मीयजन माता पिता स्त्री और पुत्रादिक भी रोगी होते हैं।

(ख) ये स्वप्न मेरे बहुत बार के अनुभूत हैं, कभी भी व्यर्थ नहीं होते।

(ग) शास्त्र में लिखा है कि दुःस्वप्न देखने पर रोगी की मृत्यु होती है किन्तु इस पर मेरा अनुभव नहीं के बराबर है।

दुःस्वप्न का प्रायश्चित्त

दुःस्वप्नानेव मार्दोश्च दृष्ट्वा ब्रूयान्न कस्यचित्।
स्नानंकुर्यादुषस्येव दद्याद्धेमतिलानयः॥
पठेत् स्तोत्राणि देवानां रात्रौ देवालये वसेत्।
कृत्वैवं त्रिदिनं मर्त्यो दुःस्वप्नात् परिमुच्यते॥
—शार्ङ्गधर संहिता

अर्थात् दुःस्वप्नों को देखकर किसी से भी इसकी चर्चा न करे, सूर्योदय से पूर्व ही उठकर शौचादिक से निवृत्त होकर स्नान करके सुवर्ण लोह और तिलों का दान करे, देवों के स्तोत्रों का पाठ करे (मेरे विचार से मृत्युञ्जय अथवा महामृत्युञ्जय का जप करे) रात्रि में किसी देवता के मन्दिर में शयन करे। इस प्रकार तीन दिन करने से फिर रोग नहीं होता।

अनुभव—खेद है मुझे इस पर अनुभव करने का अवसर नहीं मिला। किन्तु विश्वास अवश्य करता हूँ।

शुभ स्वप्न

ब्राह्मण, मित्र, श्वेत वर्ण की गौ, श्वेत पुष्प, श्वेत पुष्प की माला, श्वेतवस्त्र, श्वेतवस्त्रधारी पुरुष का स्वप्न में देखना शुभ है।

स्वप्न में विष्ठा का दर्शन, विष्ठा से लिप्त होना, किसी दुखी का रुदन (रोना) देखना, किसी की अथवा अपनी ही मृत्यु का देखना, आम मांस का भोजन करना शुभ है।

स्वप्न में भ्रमर (भौंरा) मधु मक्खी अथवा सर्प काटे तो शुभ है। नदी का तैरना, शत्रु पर विजय प्राप्त करना, चूना से पुती हुई छत पर चढ़ना, हस्ति की सवारी करना और फलों का प्राप्त करना शुभ है।

शुभस्वप्न द्रष्टा यदि स्वस्थ है तो उसको अच्छे लाभ और इच्छित फल की प्राप्ति होती है और यदि वह रोगी है तो रोग से मुक्त हो जाता है, यह हमारा अनुभव है।

शकुन

शुभाशभ शकुन—

वैद्य जब रोगी के घर चिकित्सा के लिये जाने लगे तब सामने जल का भरा हुआ घट (घड़ा) सामने आवे, सौभाग्यवती स्त्री आवे, (स्त्री के गोद में बच्चा हो तो और भी अच्छा), दूध से भरा हुआ बर्तन सामने आवे तो शुभ है। चलते समय पृष्ठ भाग में अथवा वामांग में छींक होवे तो शुभ है अर्थात् रोगी के ठीक होने की संभावना है।

इसके विपरीत वैद्य के चलते समय विधवा स्त्री आवे, जल का घट खाली आवे, सामने अथवा दाहिने तरफ छींक हो तो रोगी के ठीक होने में संदेह है ऐसा जानना।

रोगी की चिकित्सा के निमित्त वैद्य को बुलाने आवे वैद्य किसी कारण वश जाना अस्वीकार करदे, रोगी के लिये औषधि जिसको कि वैद्य ने निश्चय किया है न मिले तो रोगी के स्वस्थ होने में सन्देह है।

अशुभ शकुन

इनके अतिरिक्त कौवा का चौंच मारना, शरीर में नीले अथवा लाल दाग का होना और जननेन्द्रिय के पास जो बाल होते हैं उनमें जम-जूं का होना भी अशुभ शकुन अथवा अपशकुन होते हैं। जिनका हमने अनेक बार अनुभव किया है।

(१) उदाहरण--१९३७ ई० में एक लड़की के कन्धा पर एक काक आकर बैठ गया। इस घटना के ठीक ४-५ वें दिन उस लड़की की माता को रोग हुआ और २४ घंटे में मृत्यु भी हो गई। बहुत इलाज कराया किंतु सब व्यर्थ।

(२) १९४१ ई. के सितम्बर मास में एक लड़का जिसकी आयु ९ वर्ष की थी एक नीम के वृक्ष पर चढ़ा उसी समय एक काक ने लड़के के कन्धे पर और कमर पर तीन बार चौंच मारी। इस घटना के दो मास बाद लड़के के छोटे भाई की मृत्यु होगई।

(३) १९४२ ई. के अगस्त मास में एक लड़के की क़मर पर एक काक आ बैठा। इसका प्रायश्चित्त कर दिया गया कोई दुर्घटना नहीं हुई।

प्रायश्चित्त

(१) शूकर की खड्डी (शूकर का निवास स्थान) को स्पर्श कराया गया। (२) सुवर्ण की अंगूठी को जल में धोया गया फिर उस जल को पिलाया गया। (३) लोहे की चलनी में जल डाल कर स्नान कराया गया (४) और एक काक दान दिया गया।

काक दान की विधि

सर्व प्रथम गेहूँ के आटे का एक कौवा बनाओ। इस की आंख, नाक, चोंच और पूंछ सभी बनाने चाहिये। इसके बाद लकड़ी के कोयले को पानी में घिसकर काला रंग बनालो। इस रंग से काक को रंग

—शेषांश पृष्ठ ६३ पर।

ग्रहों से रोग निदान ज्ञान

आयुर्वेद विशारद पं० सीताराम मिश्र, ज्योतिभूषण,
सरदार शहर (राजस्थान)

आयुर्वेद तो ज्योतिष का चचेरा भाई है। ज्योतिष ज्ञान के बिना निदान व औषधियों का निर्माण यथा सम्भव सम्पन्न नहीं किया जा सकता। कारण स्पष्ट है कि ग्रहों के तत्व और स्वभाव को ज्ञात कर उन्हीं के अनुसार उसी तत्व और स्वभाव वाली दवा का निर्माण करने से वह दवा विशेष गुणकारी होती है जो भिषक् इस शास्त्र के ज्ञान से अपरिचित रहते हैं वे सुंदर और अपूर्व गुणकारी दवाओं का निर्माण नहीं कर सकते।

एक अन्य बात यह है कि इस शास्त्र के ज्ञान द्वारा रोगी की चर्या और चेष्टा को अवगत कर बहुत कुछ अंशों में रोग की मर्यादा जानी जा सकती है। संवेग रंगशाला व सुलभ ज्योतिष ज्ञान नामक ज्योतिष ग्रन्थों में रोगी की रोग मर्यादा जानने के अनेक नियम आये हैं। अतएव जो चिकित्सक आवश्यक ज्योतिष तत्वों को जानकर चिकित्सा कर्म को सम्पन्न करता है वह अपने इस कार्य में अधिक सफल होता है।

सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर ने प्रथम ग्रहों का निर्माण किया और इसके पश्चात् इस सृष्टि की उत्पत्ति की। ग्रहों का प्रभाव इस पृथ्वी पर पड़ता है यह सिद्ध हो चुका है और किन ग्रहों से कौन से रोग उत्पन्न होते हैं इसका वर्णन भी इस शास्त्र के ज्ञाताओं ने किया है। शारीरिक रोगों की उत्पत्ति का मुख्य कारण वैद्यक शास्त्र में वात, पित्त, कफ इन तीन विकारों के कम या अधिक प्रमाण पर होना लिखा है। और प्रवीण वैद्य नाड़ी परीक्षा कर इनके आधार पर निदान निश्चित करते हैं। उसी तरह ज्योतिष शास्त्र में इन त्रिविकारों की उत्पत्ति का मूल कारण ग्रह है यह मालूम हो सकता है। और इन्हीं ग्रहों के आधार पर प्रवीण ज्योतिषी इन विकारों का निर्णय कर बिना नाड़ी परीक्षा निदान निश्चित कर सकते हैं। वैद्यक शास्त्र के अनुसार प्रवीण वैद्य रोगों का निदान जिस तरह जिह्वा, नेत्र, त्वचा, मल-मूत्र और नाड़ी आदि अष्ट विधि से रोग निदान करते हैं उसी तरह ज्योतिष शास्त्र के अनुसार प्रवीण ज्योतिषी भी रोग की परीक्षा और वर्णन जन्म कुण्डली के भाव राशि ग्रह योग राशि और ग्रहों के शारीरिक भाव शुभाशुभ दृष्टि तथा युति आदि अष्ट विधि के बल पर कर सकते हैं। जैसे—

वात—	शा० रा०के०	त्रिदोषात्मक—	बु० मं०
पित्त—	सू० मं०	द्वन्द्वज दोष—	ग्रहान रूप
कफ—	गु० चं०	वात कफात्मक—	शु० चं०

कुण्डली के द्वादश भावों से शरीर के किस भाग में पीड़ा या रोग होना निश्चित है यह नीचे लिखा है—

प्रथम भाव से—मुख, दांत, दाढ़, गला, जीभ, मस्तक में।
द्वितीय भाव से—दाहिने नेत्र में
तृतीय भाव से—कान, गर्दन, हाथ में
चतुर्थ भाव से—पेट, कंधा
पञ्चम भाव से—कमर के नीचे का भाग, जांघ
षष्ठ ,, से—गुह्य स्थान, दाहिना पांव
सप्तम ,, से—पेट का मध्य भाग, नाभि
अष्टम ,, से—गुह्यस्थान, बायां पांव
नवम ,, से—कमर के ऊपर का भाग
दशम ,, से—पेट, कंधा
एकादश ,, से—बायां हाथ, कान, गर्दन

द्वादश ,, से—बाईं आंख, पैर का तलुवा

ऊपर लिखे हुये द्वादश भाव में पापग्रह स्थित हों या ग्रहों की युति प्रतियुति योग और दृष्टि हो तो शरीर के उन्हीं भागों में पीड़ा या रोग का होना निश्चित है। इसी तरह कुण्डली से प्रथम भाव से वैद्य, चतुर्थ भाव से औषधि, षष्ट भाव से रोग और दशम भाव से रोग का साध्यासाध्य ज्ञान भी हो सकता है। जन्म कुण्डली में चन्द्र यदि ४-७-१२ या ४-८-१२ स्थान में हो तो यह योग रोगी और वैद्य दोनों के लिए यशप्रद नहीं ऐसा कहा गया है।

लग्नाधिपति शुभ ग्रह हो तो वैद्य के लिये यशप्रद समझा जाता है। परन्तु उसकी औषधि से लाभ होने के लिये रोगी का चतुर्थ स्थान का स्वामी शुभग्रह या शुभ ग्रह से युत तथा दृष्ट होना आवश्यक है। गोचर में यदि पापग्रह २-६-८-१२ स्थानों पर से भ्रमण करते हों अथवा इन ग्रहों की इन स्थानों पर युति अथवा प्रतियुति हों तथा दृष्टि योग होता हो या इन्हीं ग्रहों की महादशा और अन्तर्दशा हो तो अशुभ फल मिलना निश्चित समझना चाहिये। सारांश प्रवीण वैद्य भी बिना नाड़ी परीक्षा किये रोग का निदान नहीं बता सकता परन्तु प्रवीण ज्योतिषी बिना नाड़ी परीक्षा के शरीरिक रोगों का हाल और स्थान बतला सकता है।

जन्म कुण्डली में जो ग्रह अनिष्ट फलदायी हो और वह जितने अंश का हो उतने अंश में गोचर के पाप ग्रह या अशुभ ग्रह उसी ग्रह से युक्त तथा दृष्ट हो ऐसे समय पर अशुभ फल का मिलना तथा रोग का होना संभव है, किन्तु किस ग्रह से कौन से रोग उत्पन्न होकर उसका शरीर पर क्या परिणाम होगा यह प्रथम जानना आवश्यक है जैसे—

रवि—शरीर के हृदय का भाग, मस्तक या मुख के पास दुःख, खून का अभाव, नेत्र दुःख, दृष्टि दोष, जीवन शक्ति की स्थिति, हृदय रोग, उष्ण-वात, बुखार, पित्त, मूर्च्छा, चक्कर, पीठ या पैरों में दर्द व व्यङ्ग।

चन्द्र—पेट के विकार, छाती का विकार, जलोदर, सर्दी का बुखार, स्त्रियों के रोग, प्रदर की बीमारी, आर्तव दोष, अपस्मार (मृगी), सहन शक्ति।

मंगल—रक्त नाश, माता की बीमारी, खरुज, सूजन, प्लेग, बुखार का रोग, मधुरा, गुह्यरोग, आपरेशन, चीर-फाड़ घाव इत्यादि।

बुध—मेढ्र सम्बन्धी विकार, गर्दन या गले का रोग, गंडमाला, मज्जा तन्तु की दुर्व्यवस्था, वाणी में दोष, शिर का घूमना, मानसिक व्यथादि।

गुरु—लीवर की बिमारी, शरीर में रक्त-संचय, दन्त रोग, प्रतिबन्धक रोग, फोड़े आदि।

शुक्र—गुह्य भाग की बीमारी, गर्मी, बाघी, वीर्य दोष, मूत्राशय रोग, मधुमेहादि।

शनि—अर्द्धाङ्ग वायु, खांसी, सन्धिवात, क्षय रोग, शीत पीड़ा, बद्धकोष्ठ, दमा, दाढ़ का दर्द, अपचन, वात विकार, दीर्घ काल के रोग आदि।

रोग का विचार करते समय निम्नलिखित तरीके से विचार करना सुभीता तथा सफलता तक आपको पहुंचावेगा।

(१) सू० म० श० जिस भाव में बैठे हो उस अङ्ग में रोग उस भाव वाले अङ्ग में या उस भाव में जो राशि हो उस राशि वाले अङ्ग में रोग हो।

(२) इसी तरह सू० म० श० से देखा गया भाव राशि वाला अङ्ग रोगाक्रान्त होता है।

(३) शुक्र पाप युक्त अङ्ग पाप द्रष्ट तथा पाप राशि में स्थित होने से शुक्र सम्बन्धी रोग होते हैं।

(४) मंगल पाप राशि युक्त वा दृष्ट होने से रक्त सम्बन्धी रोग होते हैं।

(५) बुध पाप युक्त, पाप दृष्ट, पापराशि में स्थित होने से कुष्ठ, क्षय, शोथ रोग होते हैं। मङ्गल बुध युक्त द्रष्ट होने से कुष्ठ रोग चित्र, गलत कुष्ठ के रोग होते हैं।

(६) सूर्य पापयुत द्रष्ट होने से चर्म रोग तथा जिन रोगों में कान्ति हीन मनुष्य हो जावे ऐसे रोग होते हैं।

(७) चन्द्र पापयुत द्रष्ट तथा पापराशिगत होने से मानसिक रोग होते हैं।

(८) वृहस्पति पापयुत द्रष्ट तथा पापराशिगत होने से मनुष्य के चिन्ता रोग प्रबल होता है। सूर्य चन्द्र एक साथ बैठे हों या परस्पर देखते हों तो प्रबल चिन्ता रोग बनाता है।

(९) लग्नेश अष्टमेश का सम्बन्ध मनुष्य को रोग से विशेष चिन्तित करता है।

(१०) सूर्य, मं० श० शु० एक जगह बैठे हों तभी मनुष्य रोगी होता है। शनि ग्रह की दृष्टि जिस अङ्ग पर हो वहां बीमारी होती है। आपरेशन होता है, साथ में राहु की दृष्टि भी हो तो बीमारी उठ कर ही रह जाती है आपरेशन की जरूरत नहीं पड़ती। सूर्य की दृष्टि हो तो चार, लेप वगैरह से आराम हो जाता है, मङ्गल की दृष्टि से तीव्र औषधि या रक्त-मोक्षण या शस्त्र चिकित्सा से आराम होता है। रोग करने वाले ग्रह के शत्रु की दशा में आराम होता है, यदि पूर्व मारकेश के समय में जो रोग पैदा हुआ हो वह अरिष्ट-दायक रोग होता है तथा जिस रोग से मरने का योग मनुष्य के हो उसी रोग को अन्तिम रोग समझना चाहिये।

ज्वर रोग, सन्निपात, प्लेग वगैरह, शनि, मङ्गल शुभ दृष्टि रहित होकर जब रोग-कारक बनते हैं तभी होते हैं। मङ्गल, बुध एक साथ क्षेत्र सम्बन्ध या परस्पर देख रहे हों ऐसी स्थिति में कुष्ठ, रक्त-विकार, विसर्प वगैरह रोग होते हैं। वृहस्पति से चिन्ता रूपी महा भयानक रोग होता है और वृहस्पति पाप ग्रह के साथ होकर रोग कारक होता है तब संग्रहणी, अतिसार, शोथ रोग होता है। शुक्र बिगड़ने से तथा शुक्र, शनि, मङ्गल, रवि दृष्ट हो तो यक्ष्मा रोग होते हैं। शुक्र, शनि मङ्गल युत द्रष्ट होने से वीर्य विकृत हो जाता है। शुक्र कर्क राशि तथा अन्य जल राशि में हो तो बहुमूत्र का कष्ट होता है और इस योग के साथ जन्म पत्र में चतुर्थ, दशम भाव पर शनि, मङ्गल की दृष्टि हो तो अदीठ रोग होता है। इस योग के बनने पर वृहस्पति या राहु की दृष्टि चतुर्थ, दशम भाव पर है तो रोग में आराम हो जाता है। पुरुष की कुण्डली में मङ्गल, कर्कराशि का हो तो उसकी स्त्री के प्रदर सोम रोग कहना। शुक्र, बुध एक साथ होने से मनुष्य के अप्राकृतिक मैथुन जनित रोग होते हैं। शनि चन्द्र एक साथ या परस्पर द्रष्ट या शनि द्रष्ट चन्द्र होने से मनुष्य इन रोगों का रोगी होता है। जो कृत्रिम उपायों से विषय-वासना सुख भोग करने वालों के होते हैं। लग्न का स्वामी यदि पाप ग्रह से युक्त हो तो गुह्य विकार रोग का होना सम्भव है। जन्म राशि में शनि, मङ्गल, राहु, केतु स्थित हो तो शरीर में पीड़ा, हृदय रोग, स्त्री को कष्ट, बन्धु सुख में विघ्न, अवश्य होगा। सारांश किसी भी प्रश्न का विचार करते समय भाव, राशि, अंश, ग्रह, दृष्टि व युति के शुभाशुभ विचार करने के पश्चात् ग्रहों के फल का विचार करने से यथार्थ फल का अनुभव मिलना सम्भव है।

उदाहरण—जैसे तृतीय भाव से गला, कान आदि का बोध होता है। इस भाव से नीच राशि का गुरु भ्रमण करता हो तो कफ व कर्णशूल की व्यथा होगी और यदि नीच राशि का शनि भ्रमण करता हो तो दाहिनी तरफ छाती, गला, कान में वात पीड़ा से दुःख मिलना निश्चित है। परन्तु दुःख का परि-णाम कम या अधिक होना अथवा न होना यह जन्मस्थ ग्रह, राशिगोचर ग्रह, व उनके शुभाशुभ युति व दृष्टि पर अवलम्बित है, यह भी अवश्य ध्यान में रखना चाहिए।

निदान प्रति-संस्कार की समस्यायें और उनका प्रतीकार

लेखक—पं. मदनगोपाल वैद्य ए. एम. एस., एम. एल. ए., फैजाबाद।

अत्यन्त प्राचीन काल से ही यह बात सर्वमान्य रही है कि रोग का सही निदान होने पर ही चिकित्सा सफल हो सकती है। दूसरी तरफ आयुर्वेद की यह भी प्रतिज्ञा रही है कि 'विकारनामा कुशलोनजिह्नीयात् कदाचन' यदि रोग का नाम से निदान न हो सके तो भी निदान के सामान्य सिद्धान्त के आधार पर चिकित्सा करनी चाहिये। भगवान् चरक ने उसका सिद्धान्त भी बतलाया है।

तस्माद्विकारप्रकृतीः ह्यधिष्ठान्तराणि च।
समुत्थानविशेषश्च वुद्ध्वा कर्म समाचरेत् ॥

यह सूत्र निदान व चिकित्सा दोनों का ही मौलिक सूत्र है।

जब हम रोग निदान की बात करते हैं। तो यह प्रश्न उठता है कि रोग किसको कहते हैं। इसका उत्तर ऋषि लोग देते हैं 'सुखसंज्ञकमारोग्यम् विकारोदुखमेवहि' 'रोगस्तुदोषवैषम्यंदोषसाम्यमरोग्यता'। दुःखमात्र का अनुभव होने पर रोग समझना चाहिये। परन्तु रोग शब्द का कुछ रूढ़ अर्थ भी समझा जाता है और सुश्रुत ने यह स्पष्ट माना है कि 'स्थान संश्रय' होने पर ही व्याधिदर्शन होता है। अर्थात् पूर्वरूप व सम्प्राप्ति की कतिपय अवस्थाओं की गणना व्यर्थ में नहीं की जाती। संचय, प्रकोप तथा प्रसर ये अवथायें व्याधि दर्शन के पूर्व की हैं। ये सैद्धान्तिक परिभाषा की बातें हुई पर व्यवहार में भी विद्यार्थी को बड़ा भ्रम रहता है। साधारणतया विद्यार्थी एक लक्षण समूह को एक विशिष्ट रोग समझता है।

शास्त्र में लिखा है कि वात के ८०, पित्त के ४० तथा श्लेष्म के २० रोग होते हैं। पर जब माधवनिदान पढ़ता है तो उसमें इसका महत्व नहीं दिखाई देता। रोग के इस वर्गीकरण को वहां अति गौण स्थान प्राप्त है। वह तो ज्वर अतिसार से उसका प्रारम्भ होता है। एक अध्याय वातव्याधि का भी है। माधव निदान में भी कहीं २ अर्श कास श्वास क्षय आदि रोगों का वर्णन है तो एक तरफ अरुचि छर्दि, तृषा आदि को भी रोगमान बैठे हैं। विद्यार्थी इनको रोग न समझ कर लक्षण समझता है। तो अब प्रश्न यह रह जाता है कि रोग व लक्षण में क्या अन्तर है। अरुचि, छर्दि, तृष्णा को रोग कहें या किसी रोग का लक्षण या पूर्वरूप। शास्त्र में आरोग्य की परिभाषा तो बड़ी उत्तम दी है पर रोगकी परिभाषा उनकी सर्वमान्य नहीं है। विकारो दुःख मेवहि रोग की बड़ी व्यापक परिभाषा है जिसमें रोग का प्रत्येक लक्षण भी रोग हो जाता है। संचय प्रकोप प्रसर, पूर्व रूप व सम्प्राप्ति सब रोगके अन्दर आजाते हैं। इस प्रश्न को छोड़कर सबको रोग मान लो तो भी दूसरा प्रश्न रह ही जाता है कि रोग के विभेदन का आधार क्या हो? किस आधार पर रोगों का नामकरण किया जावे तो जैसा कि पूर्व में कह चुके हैं कि स्थान संश्रय से ही व्याधि दर्शन होता है अर्थात् अधिष्ठान रोगविभाजन का आधार हो सकता है। पर एक अधिष्ठान में भी अनेक रोग हो सकते हैं ऐसा देखा जाता है। ऐसी स्थिति में में उनके विभेदक लक्षण ही आधार बन सकते हैं। ये लक्षण भी सामान्य तथा इतरव्यावर्तक ये दो प्रकार के होते हैं और लक्षण प्रकृतिसम समवायज तथा विकृतिविषम समवायज भी होते हैं। अब रोग विभाजन के दो आधार हुये, १ अधिष्ठान २ लक्षण। कभी कभी कारण के आधार पर भी रोगका विभाजन होता है जैसे भङ्ग खाने से जो रोग होता है उसे भंग विष ही कहते हैं। रोग की प्रकृति के आधार पर भी रोग का विभाजन किया जा सकता है। संक्षेप में सिद्धान्त यह निकला कि रोग उत्पन्न होने के जितने भी कारण

या अवस्थाएं हो सकती हैं निदान भी उतने ही प्रकार का हो सकता है।

चिकित्सा के सिद्धान्तों की दृष्टि से भी निदान की पद्धति में अन्तर हो सकता है। जितने प्रकार की चिकित्सा पद्धति हो सकती हैं उतने ही प्रकार का उसी के अनुकूल निदान भी हो सकता है।

कोई त्रिदोष प्रेमी हो तो उसे रोग निदान से क्या मतलब, वह तो दोष की अंशांश कल्पना करके चिकित्सा करेगा। जो कारण विपरीत या कारण सदृश चिकित्सा करता है उसे कारणानुकूल निदान अपेक्षित है। जो लक्षण के सदृश या विपरीत चिकित्सा करता है उसे रोग निदान कण्ठस्थ करने की कोई आवश्यकता नहीं वह तो होमियोपैथी की भांति अपनी चिकित्सा करेगा।

इस प्रकार से निदान का वर्गीकरण अनेक रूप से हो सकता है। ये बहुत से रूप मिलकर यदि उनका पृथक् दृष्टिकोण व्यक्त न किया जावे तो विद्यार्थी को बड़ा भ्रम पैदा हो जाता है और शास्त्र से श्रद्धा जाती रहती है। यदि उसे ज्ञात हो जाय कि वात के ८०, पित्त के ४०, कफ के २० रोगों का चिकित्सा में कब कैसे क्या स्थान है तो उसे श्रद्धा पैदा हो सकती है। पर वह तो इसे निरर्थक समझता है।

'माधव निदान' निदान का श्रेष्ठ ग्रंथ समझा जाता है क्योंकि जिस काल में इस ग्रन्थ की रचना हुई उस काल में यह संग्रह चरक आदि से निदान की दृष्टि से उत्तम प्रतीत हुआ। चरक व सुश्रुत में निदान के थोड़े ही अध्याय थे, माधवकर ने उसको वृहत् रूप दिया। इसके भी पूर्व अंजन निदान हंसराजनिदान आदि छोटे निदान ग्रन्थ पीछे रह गये। इसके बाद माधव के टीकाकारों ने इसकी प्रतिभा को बढ़ाया। अब बीसवीं शताब्दी में भी माधव की श्री सुदर्शन शास्त्री की विद्योतिनी टीका, आचार्य रणजितराय का निदान चिकित्सा हस्तामलक, श्री गणनाथसेन का सिद्धान्त निदान ये प्रगतिशील ग्रन्थ लिखे गये हैं। और 'नामूलं लिख्यते किंचित्' की दुहाई दी गई। नामूलं का अर्थ भी प्राचीन ही माना गया है। नामूलं लिख्यते किंचित् पद बड़ा गौरवशाली है। पर इसका अर्थ भी संकुचित न होकर गौरवशाली होना चाहिये। मूल का अर्थ प्राचीन शास्त्र में जिसका मूल उपलब्ध हो ऐसा अर्थ करने से हम प्रगति नहीं कर सकते। मूल का प्रगतिशील वैज्ञानिक अर्थ करने से ही शास्त्र का विकास हो सकता है। मूल का अर्थ 'प्रमाण' करना होगा। कोई भी बात ऐसी न लिखी जायगी जिसका प्रमाण न दिया जा सके या जो सिद्ध न की जा सके। ऐसा अर्थ करने से ही ऋषि व शास्त्र की मर्यादा बढ़ सकती है और आयुर्वेद भी प्रगतिशील हो सकता है।

आज हमारे सामने नवीन २ रोग आते हैं। निदान करने में प्रचुर यन्त्र हमारे संघर्ष में आते हैं। डा० खन्ना ने 'रोगी-परीक्षा' पुस्तक लिखी है। अन्य अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं मलमूत्र की परीक्षा हम भी अपने ढंग से करते थे और अब नये ढंग से की जाती है। क्या हम प्राचीन मूत्र परीक्षा पद्धति को जीवित करना चाहते हैं? क्या हम निदान प्रतिसंस्कार में उसको स्थान देंगे? क्या नाड़ी परीक्षा को निदान प्रतिसंस्कार में स्थान मिलना चाहिये? क्या रोगों के पूर्वरूप स्वरूप स्वप्नों का कोई स्थान निदान प्रतिसंस्कार में होगा? क्या यूनानी, मिश्रानी किसी पद्धति में ग्रहण योग्य कोई ऐसी बातें हैं जिनको हम निदान प्रतिसंस्कार में स्थान दें? क्या पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति के यांत्रिक निदानों की हम उपेक्षा कर सकते हैं? क्या हम थर्मामीटर, स्टेथस्कोप, एक्सरे, सूक्ष्मदर्शक आदि यन्त्रों का परित्याग करने की सामर्थ्य रखते हैं? क्या हम इनको ग्रहण करने जा रहे हैं, या अपंगु चिकित्सक की भांति ही जीना चाहते हैं?

आज शुद्ध आयुर्वेद की दृष्टि से भी निदान ग्रन्थ के पुनः संगठन, अभिवृद्धिकरण, सम्पूर्ण विच्छिन्न ज्ञान का संकलन व्यवस्थित रूप से पृथक् पृथक

सिद्धांतों के आधार पर रोगों का वर्गीकरण; वर्गीकरण के नवीन आधारों की खोज,व निदान में नाड़ी परीक्षा, मलमूत्रपरीक्षा आदि विषयों का समावेश व उनका प्रत्यक्षीकरण—आदि समस्याओं के समाधान के हेतु निदान प्रतिसंस्कार की विशेष आवश्यकता है। प्राचीन शास्त्रीय विधि से भी बड़े वैज्ञानिक ढंग से निदान का प्रतिसंस्कार किया जा सकता है और यथाशीघ्र करने की आवश्यकता है। निदान प्रतिसंस्कार के और भी अनेकों प्रश्न व समस्यायें हैं जिनको शान्तिपूर्वक बैठकर संग्रहीत किया जा सकता है।

दोषों के अनुसार रोगों का विभाजन, यह भी एक प्रमुख समस्या है। जो लोग व्याधि-प्रत्यनीक चिकित्सा करते हैं वे इसको कोई महत्व नहीं देते उन्हें तो व्याधि-प्रत्यनीक द्रव्य व योग से ही काम लेना रहता है। उन्हें दोषों की फिक्र नहीं रहती। क्वचित् अंशांश कल्पना में झगड़ा या सन्देह भी रहता है क्योंकि उस के निर्णय का कोई भौतिक साधन अभी तक नहीं है जो है भी उसका सही उपयोग नहीं होता।

'कफ पित्तात् त्रिकग्राही, पृष्ठात् वात कफात्मकः' जब विद्यार्थी ऐसे प्रसङ्ग पर आता है तो उसे बड़ी श्रद्धा होती है। पर यदि कोई कहदे कि त्रिक पर वातकफात्मक रोग भी हो सकता है तो उसे बड़ा भ्रम हो जाता है और श्रद्धा जाती रहती है। शास्त्र में श्रद्धा पैदा करने का अर्थ विषय को बुद्धिगम्य बनाना है। अंशांशकल्पना में वैद्य कभी एक मत नहीं होते अतः श्रद्धा नहीं होती। वैद्य अंशांशकल्पना में एक मत हों इसकी पद्धति निश्चित रूप से निकालनी है तभी आयुर्वेद का कल्याण होसकता है। मौखिक सिद्धान्त से काम चलने वाला नहीं है। इत्यादि प्रश्नों के समाधान के हेतु, आयुर्वेद के विकास व प्रसार तथा अपने अनुपम ज्ञान को विश्व के सामने उपस्थित करने के हेतु निदान प्रतिसंस्कार की अत्यन्त आवश्यकता है।

इस प्रश्न को हल करने का काम निदान के अध्यापकों का है या उच्च चिकित्सकों का है जो चिकित्सा की आय पर इनकमटैक्स देते हों। शुष्क शास्त्रार्थ करने वाले लोग बहुत हैं पर व्यावहारिक शास्त्री की आवश्यकता है। जिसके मन में आयुर्वेद निदान के प्रति जितनी ही अधिक शंका हैं वह आयुर्वेद का उतना ही अधिक उद्धार करेगा। जिसके मन में प्रश्न ही नहीं उठता वह उत्तर क्या देगा ? जो प्रश्न करना जानता है वह उत्तर भी खोज सकता है और खोजेगा।

अतः निदान प्रति संस्कार के प्रति पांच अध्यापक व पांच उच्च चिकित्सकों को यह काम अपने हाथ में लेना चाहिये। प्रथम निदान के सम्पूर्ण शास्त्रीय ज्ञान का संकलन करना चाहिये चाहे ये मूल में हो चाहे टीका ग्रन्थों में। सम्पूर्ण ज्ञान का संग्रह करने के बाद शंकाओं तथा समस्याओं की सूची बनानी चाहिये व उसका समाधान निकालना चाहिये। चरक के वातज्वर के लक्षण तथा सुश्रुत के वातज्वर के लक्षण में क्या कोई साम्य है ? क्या कोई अन्तर है ? क्या यह अन्तर विद्यार्थी के मन में भ्रम पैदा करता है ? इस अन्तर का क्या कारण है ? इसी के रहस्य को विद्यार्थी को समझाना है तब उसे श्रद्धा होगी।

ऊपर निदान सूत्र में (१) विकार प्रकृति (२) अधिष्ठान तथा (३) समुत्थान विशेष को रोग के वर्गीकरण का आधार माना है। आजकल पाश्चात्य पद्धति में जीवाणुओं को भी रोग का आधार माना है और उसके आधार पर रोग का नामकरण किया है। क्या हम इस पद्धति को ग्रहण करने जा रहे हैं ? अथवा इसके ग्रहण किये बिना भी हमारा काम सफलतापूर्वक चल सकता है ? जो विद्यार्थी या चिकित्सक अपने शास्त्र में दुर्बल होता है वह दूसरे के शास्त्र की बात को झट से मान लेता है पर जो अपने शास्त्र में बलवान् होता है वह दूसरे की बात को सरलता से नहीं मानता। वह उसकी भी समीक्षा

अपने दृष्टिकोण से करता है और उसका उत्तर भी रखता है। अच्छे वैद्य जीवाणुपरक निदान को न मानकर भी सफल चिकित्सा करते हैं और रोग की साध्यता में अन्तर भी नहीं पड़ता।

आज इस युग में कोई भी चिकित्सा शास्त्री दूसरी पद्धति के ज्ञान व क्षमता से पराङ्मुख नहीं रह सकता। प्रत्येक ऐलोपैथिक चिकित्सक को अनेक स्थलों पर आयुर्वेद की महत्ता माननी पड़ती है। ऐसे ही वैद्यों को भी एलोपैथी की महत्ता माननी पड़ती है। होमियोपैथी वाले अपने को सर्वश्रेष्ठ समझते हुए भी व्यवहार में बायोकेमिक, वैद्यक या शल्यकर्म की मदद लेते ही हैं क्योंकि उनकी चिकित्सा पद्धति ही अपूर्ण है। इस प्रकार से आज वैद्य समाज के सामने प्राचीन निदान ज्ञान के पुनः संगठन का प्रश्न प्रमुख रूप से विद्यमान है। इसके साथ ही आधुनिक यन्त्र व निदान परीक्षा पद्धतियों की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। वैद्यक में भी नवीन निदान पद्धति व नवीन यन्त्रों का निर्माण करना होगा। यदि त्रिदोष को जीवित रखना है तो त्रिदोष मापक यन्त्र बनाना ही पड़ेगा। चाहे इस यन्त्र को जो बनावे बनाना पड़ेगा, इसके बिना आयुर्वेद जीवित नहीं रह सकता। अनेक बातें सत्य होते हुये भी बिना उनके स्पष्टीकरण के असत्य मालूम होती हैं। श्रद्धावान व्यक्ति उनको यों ही ग्रहण कर लेता है परन्तु तर्क बुद्धि का मनुष्य उसे बुद्धिगम्य होने पर ही ग्रहण कर पाता है।

प्रस्तुत निदानाङ्क की विषय सूची से यह प्रतीत होता है कि वैद्य समाज पाश्चात्य निदान पद्धति को ग्रहण करने जारहा है। जिस पर भी कभी कभी शुद्ध आयुर्वेद का शोर मचा करता है। आज इस विज्ञान युग में कोई प्रगति से वञ्चित नहीं रह सकता। प्रगति व बलवान् का प्रभाव निर्बल पर अवश्य पड़ता है। यह एक तथ्य है। हम अपने शास्त्र में जहां कमजोर होंगे वहां दूसरे की छाप पड़ जायगी। जहां हम प्रबल हैं उस पर दूसरे की छाप नहीं पड़ सकती। अब हमें अपने बल को स्थिर रखना है तथा बढ़ाना भी है। इसी हेतु निदान प्रतिसंस्कार की आवश्यकता है। अब देखना यह है कि कौन कर्मठ विद्वान् इस कार्य को पूरा करता है? स्वतंत्र रूप में एक विद्वान् भी इस काम को कर सकता है पर नियोजित रूप में कुछ विद्वान् इस काम को कर डालें तो अच्छा है। इससे काम सरल हो जाता है और थोड़े समय में अधिक काम हो जाता है।

जहां प्रतिसंस्कार में हम संशोधन, परिवर्तन की बात सोचते हैं वहां कभी कभी यह भी प्रश्न आता है कि क्या हमें कुछ प्राचीन ज्ञान का परित्याग भी करना है। आयुर्वेद में बहुतसा ऐसा ज्ञान है जो अव्यवहृत है। केवल शास्त्र में लिखा है व्यवहार में उसका कोई उपयोग नहीं किया जा रहा, क्या ऐसे अङ्गों को त्याज्य माना जायगा या इसका कोई परिष्कार हो सकता है? फिर भी अनेक स्थल ऐसे हो सकते हैं जिनका परिष्कार करने से काम न चले और परित्याग ही करना पड़े तो परित्याग करने में कोई संकोच न होना चाहिए। क्योंकि समय समय पर प्राचीन ऋषियों ने भी प्राचीन ज्ञान का परित्याग करके नवीन ज्ञान को ग्रहण किया है। अस्तु जो निरुपयोगी या जिन्हें हम सत्य प्रमाणित नहीं कर सकते उन अङ्गों को परित्याग के हेतु भी प्रस्तुत रहना चाहिये तभी प्रतिसंस्कार पूर्ण हो सकता है अन्यथा विद्यार्थी का संदेहस्थल बना ही रहेगा। सत्य बात तो यह है कि जिस ज्ञान को हमने स्वयं व्यवहार में लाने से रोक रखा है उसको कौन जीवित रख सकता है। कोई बड़ा ही जागरूक व्यक्ति पैदा हो तभी वह जीवित हो सकता है। आयुर्वेदीय मूत्र परीक्षा पद्धति जितनी शास्त्र में लिखी है उसका व्यावहारिक उपयोग पूर्णतः कभी कोई वैद्य नहीं करता, न किसी शिक्षा संस्था में उसकी व्यवस्था है यद्यपि कालेज २५ वर्ष से चल रहे हैं, तो क्या हमें इस ज्ञान को

पुनर्जीवित करना है या परित्याग करना है यही हमें प्रतिसंस्कार में निश्चय करना है । हमारी निदान पद्धति इतनी पूर्ण व व्यवहारिक होनी चाहिये कि हम उसका पूरा भरोसा कर सकें। आज एक व्यक्ति पाश्चात्य विधि से मूत्र परीक्षा करता है । उसकी रिपोर्ट चिकित्सक के पास आती है और चिकित्सक उसके आधार पर निदान व चिकित्सा करता है । तो क्या हम आयुर्वेदीय विधि से मूत्र परीक्षा कराकर दूसरे की रिपोर्ट पर निदान व चिकित्सा करने में समर्थ हैं ? ऐसे ही अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। कोई रोगी देहात में दूर स्थान पर हो और एक वैद्य उस रोगी को देखकर रिपोर्ट लिख दे तो क्या इस रिपोर्ट के आधार पर हम चिकित्सा करने को तैयार हैं ? क्या इस रिपोर्ट के आधार पर विशेषज्ञ का परामर्श लिया जा सकता है ? वैद्य विशेष तुरन्त कहेगा कि हम स्वयं रोगी की परीक्षा करेंगे तब चिकित्सा करेंगे। कुछ सीमा तक बात सत्य भी है। फिर भी निदान प्रतिसंस्कार की अनेक समस्याओं का हमें समाधान करना है और उसके आधार पर हमें निदान ज्ञान को पुनः संगठित करना है। हम आशा करते हैं कि ५-१० वर्षों में कालेज के विद्वान अध्यापक इस कार्य को करने में सफल होंगे। अब देखना यही है कि दूसरा कौन माधवकर निकलता है। सिद्धांत निदान का नमूना सामने है। आशा है कि तरुण विद्वान् निदान पर वृहद्-ग्रन्थ लिखकर आयुर्वेद का पुनरुद्धार करेंगे।

: पृष्ठ ८१ का शेषांश :

मंन्दाग्नि और क्षीण धातुमें

नाड़ी मन्द गति से चलती है "मन्दाग्ने क्षीणधातोश्च नाड़ी मन्दतरा भवेत् ।"

क्षुधा पीड़ित की नाड़ी चपल हो जाती है और खाये हुए की नाड़ी स्थिर गति से चलती है:—

"चपला क्षुधितस्य स्यात् तृप्तस्य भवति स्थिरा"

सुखी (स्वस्थ) पुरुष की नाड़ी बलवान और स्थिर गति वाली होती है अर्थात् उसकी गति में उपर्युक्त कोई भी दोष नहीं होते—

'सुखिनोऽपि स्थिरा ज्ञेया तथा बलवतीमता"

जीवनी—नाड़ी

मैं अपने दीर्घकालीन अनुभव के आधार पर, जीवनी नाड़ी का उल्लेख कर रहा हूं। मेरे अनुभव में जीवनी नाड़ी के चलते हुए, लक्षणों द्वारा मरणासन्न रोगी भी मरता हुआ नहीं देखा। मैंने इस नाड़ी के बल पर मरणासन्न रोगियों की भी निर्भीकता पूर्वक चिकित्सा की है। प्रथम अंगुली (तर्जनी) के नीचे अबाध गति से जो नाड़ी चलती रहती है उसे जीवनी नाड़ी कहते हैं। तर्जनी के नीचे अबाध गति से नाड़ी चलते रहने पर रोगी कभी नहीं मरता भले ही अन्य अंगुलियों के नीचे नाड़ी का स्पर्श न हो। तर्जनी के नीचे नाड़ी स्पर्श बन्द होते ही ७२ घंटे के अन्दर कभी भी रोगी मर सकता है।

:: नाड़ी परीक्षा :: :: पृष्ठ ८६ का शेषांश ::

meter) से ही नापा जाता है, इसलिये नाड़ी की गति से ज्वर का सही वेग निर्धारण करने की प्रथा बंद सी हो गई है। इतने पर भी प्रसंगानुसार जहां थर्मामीटर का अभाव है, नाड़ी की गति से ही शरीर के ताप का सही ज्ञान सरलता पूर्वक प्राप्त किया जाता है। बच्चों के शरीर का तापमान प्रौढ़ व्यक्ति के शरीर के तापमान से अधिक रहता है तदनुसार उसकी नाड़ी की गति भी प्रौढ़ व्यक्ति की नाड़ी की गति से अधिक रहती है। प्रौढ़ व्यक्ति की नाड़ी गति यदि एक मिनिट में १५० से अधिक हो जाय तो रोगी की तत्काल मृत्यु हो जाती है।

नाड़ी परीक्षा

(प्राचीनतम आयुर्वेद प्रणाली के आधार पर)

लेखक—प्राणाचार्य पं० हर्षुल मिश्र प्रवीण *B. A.* आयुर्वेदरत्न हिन्दीप्रभाकर।
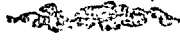
आयुर्वेदीय नाड़ी परीक्षा का वैज्ञानिक विवेचन

जितनी रोग परीक्षा प्रणालियां विश्व में हैं, उन सब में भारतीय नाड़ी परीक्षा प्रणाली प्राचीनतम है; नाड़ी अर्थात् धमनी को आयुर्वेदशास्त्र में जीव की साक्षिणी कहा गया है। आयुर्वेद के इस वैज्ञानिक तथ्य को प्रत्येक चिकित्सा विज्ञान स्वीकार करता है। आधुनिक वैज्ञानिक प्रगति के हजारों वर्ष पूर्व, भारतीय आयुर्वेदज्ञों ने रोग-परीक्षा के इस मूल तथ्य को ढूंढ निकाला था।

"दोष रोषः रुजां हेतुः"—"दोषों का कुपित होना ही रोगों का कारण है"। ये दोष शरीर में बहने वाले रक्त में ही नहीं समस्त धातुओं में और उनसे निर्मित समस्त अङ्ग प्रत्यङ्गों में विद्यमान हैं। जीवित शरीर के रक्त में तीन गुण प्रधान रूप से पाये जाते हैं–गति, ऊष्मा और स्नेहन अथवा तर्पण। गति जिस तत्व से रक्त को मिलती है और जिसके द्वारा सारा स्नायुमण्डल क्रियाशील बना रहता है, उसे आयुर्वेदज्ञों ने 'वात' कहा है; ऊष्मा जिस तत्व से रक्त को मिलती है और जिससे सारा शरीर जीवित अवस्था में उष्ण बना रहता है उसे 'पित्त' कहा है, शरीर में स्नेहन वा तर्पण करने की शक्ति जिस तत्व से रक्त को प्राप्त होती है, उसको 'कफ' कहा है। इन वात पित्त कफ तीनों तत्वों के सूक्ष्म और स्थूल स्वरूपों का और उनकी कार्य-प्रणाली का वर्णन आयुर्वेद के प्रत्येक ग्रंथ में विद्यमान है। मेरे द्वारा भी इस विषय पर विवेचनात्मक लेख लिखे जाचुके हैं, जो धन्वन्तरि तथा अन्य मासिक पत्रों में प्रकाशित होचुके हैं; अतः यहां उनकी विवेचना करना मैं लेख-वर्धन के भय से उचित नहीं समझता। यहां इतना कहना ही पर्याप्त है, कि आयुर्वेद की नाड़ी-परीक्षा की आधार शिला त्रिदोष है और नाड़ी-परीक्षा-प्रणाली का उदय कुपित दोषों को जानने के लिये ही हुआ है।

"दोष रोषः रुजां हेतुः"—दोषों का कुपित होना ही रोगों का कारण है, यह बात मालूम होने पर, भारतीय आयुर्वेदज्ञों ने दोषों के कुपित होने का कारण भी ढूंढ निकाला और वह यह कि जब काल (ऋतु) में प्रकृति द्वारा अर्थ (आहार) कर्म (विहार) में प्राणी द्वारा हीन, मिथ्या और अतियोग होते हैं, तब रक्ताश्रित वात पित्त-कफ तीन महान् तत्व विषमता को प्राप्त होकर दोष बन जाते हैं। इन दोषों की विषमता को ही दोषों का कुपित होना कहते हैं। दोषों की विषमता रक्त में होती है; और रक्त का शोधन और संचालन हृदय द्वारा होता है अतः दोषों की विषमता का प्रभाव हृदय पर पड़ना स्वाभाविक है। इसी प्रकार हर्ष काम क्रोध शोक सुख दुःख आदि रजोगुणी और तमोगुणी भावों का दूषित प्रभाव मन पर पड़ता है; और मन (mind) हृदय के सौत्रिक तन्तुओं से सम्बन्धित होने के कारण हृदय को तुरन्त प्रभावित करता है। यही कारण है जो मन के रजोगुणी और तमोगुणी भावों से हृदय की गति तुरन्त अस्वाभाविक होजाती है। लगातार मानसिक अवस्था बिगड़ती रहने पर, हृदय की गति भी बिगड़ती है, और उससे मानसिक रोगों की सृष्टि होती है। मानसिक रोगों का पता नाड़ी-परीक्षा से बड़ी सरलतापूर्वक लगाया जासकता है।

उपर्युक्त तथ्य के आधार पर, आयुर्वेदज्ञों ने रोग के दो आश्रय माने हैं—काया और मन। काया और मन का ऐसा पारस्परिक सम्बन्ध है, कि काया के रोगी होने

से मन रोगी होजाता है और मन के रोगी होने से काया रोगी होजाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि काया और मन दोनों के रुग्ण होने का प्रभाव हृदय पर अनिवार्य रूप से पड़ता है, जिससे हृदय की गति में अस्वाभाविक परिवर्तन होते हैं। हृदय की गति के इन परिवर्तनों पर रक्त वा मन के दोषों की स्पष्ट छाप रहती है, जो हृदय से धमनियों में स्पंदित रक्त-प्रवाह की गति-विधि से सरलतापूर्वक जानी जासकती है।

कुपित दोषों की गति-विधि का पता लगाने के लिये आयुर्वेद के शरीर रचना के विशेषज्ञों ने यह ढूंढ निकाला कि रक्त में बहने वाले दोषों की गति-विधि का सही पता धमनियों के स्पर्श से चल सकता है। तब प्राचीन आयुर्वेदज्ञों ने, दोषों के आधार पर धमनी (नाड़ी) की गति विधि को निर्धारित करने का सफल प्रयत्न किया। पहिले उन्होंने देखा कि धमनी का स्पंदन स्पर्श द्वारा, हाथ के अंगूठे की जड़ में और हर कहीं जहां धमनियां शरीर की सतह के नजदीक हैं, सरलतापूर्वक मालूम किया जासकता है, परन्तु अनेक परीक्षाओं के बाद अंगूठे की जड़ में ही नाड़ी परीक्षण सुविधाजनक माना गया; और तब से ही "करस्यांगुष्ठ मूले या धमनी जीव साक्षिणी, तच्चेष्टया सुखं दुःखं ज्ञेयं कायस्य पंडितैः" यह नियम निर्धारित किया गया। इस वैज्ञानिक युग में नाड़ी स्पन्दन (Pulse) का ज्ञान, पाश्चात्य चिकित्सा के डाक्टर भी, भारतीय वैद्यों के समान, अंगूठे की जड़ (कलाई wrist) पर अंगुलियां रखकर ही, प्राप्त करते हैं। पाश्चात्य चिकित्सा के डाक्टर यद्यपि वैद्यों के समान नाड़ी की सूक्ष्म गति से कुपित दोषों का पता नहीं लगाते, तथापि नाड़ी स्पन्दन की न्यूनाधिकता और वेग के आधार पर काया की स्वाभाविक (Natural) अस्वाभाविक (unnatural) अवस्था का ज्ञान वे अवश्य प्राप्त कर लेते हैं।

नाड़ी परीक्षा की उपयोगिता

आयुर्वेद चिकित्सा शास्त्र के मतानुसार सर्व प्रथम व्याधि का निश्चय करना चाहिये—

"आदौ निदान विधिना विदध्याद् व्याधि निश्चयम्"।

इसके बाद व्याधि के साध्यत्व पर विचार करना चाहिए, तत्पश्चात् चिकित्सा करना चाहिये।

"ततः साध्यं समीक्षेत पश्चात् भिषग् उपाचरेत्"

शास्त्र की उपर्युक्त दोनों निर्देशनाओं की पूर्ति नाड़ी परीक्षा से एक साथ होजाती है, यद्यपि नाड़ी परीक्षा के साथ रोग के लक्षणों की सम्यक् जानकारी प्रत्येक चिकित्सक के लिये अनिवार्य है। रोग के लक्षणों से वैद्य को कुपित दोषों का संकेत मिलता है; और नाड़ी परीक्षा से उन संकेतों की पुष्टि होती है। नाड़ी की गति से कुपित दोषों की तथा भय, क्रोध, शोक आदि मनोदशाओं की अभिव्यक्ति मात्र होती है उसके आधार पर रोगों का नामकरण नहीं किया जासकता, क्योंकि वात, पित्त, कफ से अनेक प्रकार के रोग होते हैं, जो केवल नाड़ी द्वारा वात पित्त कफ की अभिव्यक्ति मात्र से जाने नहीं जाकते। उनको जानने के लिये उनसे विशेष और प्रधान लक्षण जानने की नितान्त आवश्यकता होती है। इसी प्रकार मन के दोषों से अनेक प्रकार के मानसिक रोग होते हैं, जो केवल नाड़ी की गति से नहीं जाने जा सकते। नाड़ी की गति से मनो-विकृति के फलस्वरूप हृदय की अस्वाभाविक गति का पता चल सकता है। नाड़ी देखने की पद्धति का प्रयोग केवल रक्त में बहने वाले कुपित दोषों की गति विधि को समझने के लिये ही करना चाहिये, क्योंकि नाड़ी की गति दोषानुसार निर्धारित की गई है, रोगानुसार नहीं। ऐसी हालत में जो छद्म वैद्य नाड़ी देखकर रोग का नाम बताने का दंभ करते हैं, वास्तव में उन्हें नाड़ी देखना आता नहीं। रोग विनिश्चय के लिये नाड़ी के अतिरिक्त अन्य परीक्षाएं तथा लक्षणों का ज्ञान आवश्यक है।

नाड़ी परीक्षा की शास्त्रोक्त पद्धति

१—नाड़ी देखने का स्थान—

करस्यांगुष्ठ मूले या धमनी जीव साक्षिणी।
तच्चेष्टया सुखं दुःखं ज्ञेयं कायस्य पंडितैः॥

अर्थ—हाथ के अंगूठे की जड़ में, जो धमनी नाड़ी

जीव की साक्षिणी स्वरूपा विद्यमान है, उसे ही स्पर्श करके वैद्यों द्वारा काया (शरीर) का सुख-दुःख जाना जाता है।

२—स्त्री और पुरुष की नाड़ी देखने का नियम—

पुंसो दक्षिण हस्तस्य स्त्रियो वामकरस्यतु।
अंगुष्ठ मूलगां नाड़ीं परीक्षेत भिषग्वर॥

अर्थ—भिषग्वर को पुरुष की नाड़ी दाहिने हाथ के और स्त्री की नाड़ी बायें हाथ के अंगूठे की जड़ में देखना चाहिये।

विवेचना—पुरुष और स्त्री की नाड़ी देखने में, दाहिने और बायें हाथ का भेद आयुर्वेद ने ही स्वीकार किया है। पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति इस बात को स्वीकार नहीं करती। परन्तु आयुर्वेद के इस कथन में एक वैज्ञानिक तथ्य है, जिसे आधुनिकतम विज्ञान अभी तक समझ नहीं पाया है। आयुर्वेद के शरीर वेत्ताओं ने अपने अनुभव और सूक्ष्म दर्शन से यह तथ्य ढूंढ निकाला है, कि पुरुष का दक्षिणाङ्ग उसके वामाङ्ग से और स्त्री का वामाङ्ग उसके दक्षिणाङ्ग से निश्चयपूर्वक बलवान् होता है। आयुर्वेद का यह कथन आज भी ९९ प्र० श० स्त्री पुरुषों में सत्य सिद्ध होसकता है। अनुभव से भी पुरुष की वाम नाड़ी से दक्षिण नाड़ी और स्त्री की दक्षिण नाड़ी से वाम नाड़ी अधिक बलवान मालूम होती है। इसलिये शास्त्र की निर्देशना के अनुसार स्त्री की वाम नाड़ी और पुरुष की दक्षिण नाड़ी देखना चाहिये।

३—नाड़ी देखने का ढंग—

अंगुलीभिस्तु तिसृभिर्नाडीमवहितः स्पृशेत्।
तच्चेष्टया सुखं दुःखं जानीयात्कुशलोऽखिलम्॥

अर्थ—सावधानी के साथ तर्जणी, मध्यमा और अनामिका अर्थात् अंगूठे के बाद की पहिली तीन अंगुलियों से नाड़ी को स्पर्श करे। उसकी चेष्टा से कुशल वैद्य जीव का समस्त दुःख सुख जान लेता है।

विवेचना—नाड़ी परीक्षा करते समय, हाथ के अंगूठे की जड़ में स्थित धमनी पर, वैद्य के हाथ की प्रथम तीन अंगुलियों का स्पर्श इस तरह हो, कि प्रथम अंगुली रोगी के हाथ के अंगूठे की तरफ हो। रोगी के जिस हाथ की नाड़ी कुशल वैद्य देखे, उस हाथ के अग्रभाग को अपने एक हाथ से पकड़कर दूसरे हाथ की तीन अंगुलियों से नाड़ी को स्पर्श करे। वैद्य को नाड़ी देखते समय यह भी ध्यान रखना चाहिये कि रोगी अपना हाथ कड़ा न रखे। उसका हाथ किसी वस्तु से दबा हुआ अथवा खिंचा हुआ भी न हो। रोगी का हाथ स्वतंत्र तथा स्वाभाविक रूप से ढीला होना चाहिये। हाथ के कड़े करने से अथवा उसके दबने से नाड़ी की गति का सम्यक् ज्ञान नहीं होता।

४—नाड़ी परीक्षा के अयोग्य व्यक्ति—

सद्यः स्नातस्य सुप्तस्य क्षुत्तृष्णातपशीलिनः।
व्यायाम श्रान्तदेहस्य सम्यक् नाड़ी न बुध्यते॥

अर्थ—तुरंत स्नान किए हुए की, सोये हुए की, भूखे प्यासे, धूप से तपे हुए तथा व्यायाम से थके हुए व्यक्ति की नाड़ी ठीक तरह से नहीं जानी जासकती; इसलिये इनकी नाड़ी परीक्षा नहीं करनी चाहिये।

विवेचना—स्नान के बाद, सोते समय, भूख और प्यास में, व्यायाम की थकावट में कुछ समय के लिये नाड़ी की गति अस्वाभाविक होजाती है, क्योंकि स्नान, निद्रा, भूख, प्यास, धूप और व्यायाम का हृदय की गति पर निश्चय रूप से किन्तु क्षणिक प्रभाव पड़ता है। इस क्षणिक प्रभाव के दूर होने पर ही नाड़ी देखना उचित है।

६—नाड़ी देखने का समय—

यों तो नाड़ी हर समय देखी जा सकती है किन्तु प्रातःकाल नाड़ी परीक्षा के लिये उपयुक्त समझा गया है।

अंगुलियों के अनुसार नाड़ी स्पर्श से दोषों का ज्ञान—

१—वातेऽधिके भवेन्नाड़ी प्रव्यक्ता तर्जनीतले।

अर्थ—वाताधिक्य में नाड़ी तर्जनी अंगुली के नीचे मालूम होती है।

२—पित्ते व्यक्ता मध्यमायां।

अर्थ—पित्ताधिक्य में नाड़ी मध्यमा अंगुली के नीचे मालूम होती है।

३—तृतीयांगुलिका कफे।

अर्थ—कफाधिक्य में नाड़ी तृतीया (अनामिका) अंगुली के नीचे मालूम होती है।

विवेचना—तर्जनी मध्यमा और अनामिका अंगुलियों के नीचे वात पित्त और कफ की जो अभिव्यक्ति उपर्युक्त श्लोक में दर्शायी गई है, वह वैज्ञानिक तथ्य पर आधारित है। हम सब यह प्रति दिन देखते हैं, कि बहते हुए तरल पदार्थ का वेग अग्रभाग में मालूम होता है, ऊष्मा का उबाल तरल पदार्थ के मध्य भाग में उठता है, तथा भारी गाढ़े पदार्थों का बहाव तरल पदार्थ के तलहठी में अथवा पृष्ठ भाग में अत्यन्त मंद गति से होता है। वायु वेगवान-तत्व है। उसका वेग रक्त के प्रवाह के अग्रभाग में मालूम होता है। पित्त उष्णता उत्पादक तत्व है उसका वेग उबलते हुए जल के समान रक्त के प्रवाह के मध्य में मालूम होता है। कफ भारी और गाढ़ा पदार्थ है उसका वेग रक्त के प्रवाह के अन्त में मंद-मंद मालूम होता है। नाड़ी पर तीनों अंगुलिओं को एक साथ रखकर आप देखें तो आपको धमनी में रक्त के प्रवाह का स्पर्श तर्जनी के नीचे वेगवान मालूम होगा, मध्यमा के नीचे उछलता हुआ मालूम होगा और अनामिका के नीचे अत्यन्त मंद मालूम होगा।

अंगुलियों के आधार पर द्विदोषज तथा त्रिदोषज नाड़ी का ज्ञान—

१-तर्जनी मध्यमा मध्ये वातपित्ताधिके स्फुटा।

अर्थ—केवल तर्जनी और मध्यमा के नीचे जब नाड़ी का स्पर्श हो, तो नाड़ी में वातपित्ताधिक्य समझना चाहिये।

२—मध्यमाऽनामिका मध्ये स्फुटा पित्त कफेऽधिके।

अर्थ—केवल मध्यमा और अनामिका के नीचे जब नाड़ी का स्पर्श हो, तो नाड़ी में पित्त कफाधिक्य मानना चाहिये।

३—अंगुली त्रितयेऽपि स्यात्प्रव्यक्ता सन्निपाततः।

अर्थ—जब नाड़ी तीनों अंगुलियों में एक साथ सामान्य से अधिक व्यक्त हो तो समझना चाहिये कि नाड़ी त्रिदोषज है।

दोषानुसार नाड़ी की गति के प्रकार—

(१) वात की नाड़ी—नाड़ी वातात्वक्र गतिं धत्ते—वात की नाड़ी टेढ़ी चलती है।

नाड़ी धत्ते मरुत्कोपे जलौका सर्पयोर्गतिम्।

अर्थ—नाड़ी वात के प्रकोप में जलौका और सर्प के समान वक्र अथवा टेढ़ी चलती है।

विवेचन—जलौका जब चलती है, तब वह वक्र होकर आगे का स्थान ग्रहण करती है, पिछला स्थान छोड़ती चलती है। सर्प भी दाहिने बांय अपने शरीर को मोड़ते हुए चलता है। ठीक इसी तरह तर्जनी के नीचे रक्त का प्रवाह मालूम होता है। तर्जनी के दाहिने बांये किनारों पर नाड़ी का स्पर्श बारी बारी से होता है।

(२) पित्त की नाड़ी—पित्तादुत्प्लुत्य गामिनी—पित्त से नाड़ी भरी हुई एवं उछलकर चलने वाली होती है।

कुलिंग काक मण्डूक गतिं (नाड़ी धत्ते) पित्तस्य कोपतः

अर्थ—नाड़ी पित्त के प्रकोप में कुलिंग, काक और मण्डूक की गति धारण करती है।

विवेचन—कुलिंग, काक और मण्डूक, जब पृथ्वी पर चलते हैं तब उछलकर चलते हैं अथवा उत्प्लुत्य गमन करते हैं। नाड़ी भी मध्यमा के नीचे इसी प्रकार उछलकर चलती हुई, जब मालूम होती है, तब उसे पित्ताधिक्य नाड़ी कहते हैं। पित्ताधिक्य में नाड़ी मध्यमा के मध्य भाग को स्पर्श करती हुई उछलकर चलती है।

(३) कफ की नाड़ी—कफान्मंद गतिर्ज्ञेया—कफ की नाड़ी मन्दगामिनी होती है।

हंस पारावत गतिं धत्ते श्लेष्म प्रकोपतः।

अर्थ—कफ के प्रकोप में नाड़ी हंस और पारावत के समान मंद गति को धारण करती है।

(४) सन्निपात की नाड़ी—सन्निपातादति द्रुता—सन्निपात की नाड़ी अस्वाभाविक रूप से शीघ्र चलने वाली होती है।

लाव तित्तिर वर्तीनां गमनं सन्निपाततः।
कदाचिन्मंदगमना कदाचिद्वेगवाहिनी।

अर्थ—सन्निपात में नाड़ी लावा और तित्तिर पक्षी के समान चलती है। कभी मन्द हो जाती है तो कभी वेगवती हो जाती है।

विवेचन—लावा तित्तिर पक्षी अपने पैरों को आगे पीछे फेंकते हुए चलते हैं। इसी प्रकार सन्निपात में नाड़ी का स्पन्दन भी कभी ऊपर की अंगुलियों में तो कभी नीचे की अंगुलियों में मालूम होता है। नाड़ी स्पन्दन अंगुलियों के नीचे स्थिर नहीं रहता, आगे पीछे होते रहता है। अंगुलियों के नीचे जब नाड़ी एक क्षण में मन्द और दूसरे क्षण में तीव्र गति से चलने लगती है, तब निश्चयपूर्वक त्रिदोषज नाड़ी जानना चाहिये।

(५) त्रिदोषज प्राण-नाशिनी नाड़ी—

"हंति च स्थान विच्युता"

विवेचन—त्रिदोष में नाड़ी दब कर के अंगूठे की जड़ में न मालूम हो और ऊपर की ओर मालूम हो और वह नाड़ी क्रमशः स्थान छोड़ती हुई चले और कोहनी की ओर हटते हुये लोप हो जाय तो उसे स्थान विच्युता नाड़ी कहते हैं। ऐसी नाड़ी निश्चयपूर्वक प्राण हर लेती है।

(६) वात-पित्ताधिक नाड़ी—

वक्रमुत्प्लुत्य चलति धमनी वातपित्ततः।

अर्थ—वात पित्ताधिक नाड़ी टेढ़ी और उछलकर चलने वाली होती है।

विवेचन—वातपित्ताधिक नाड़ी की गति सर्पवत् वक्र होती है और पित्ताधिक नाड़ी की गति मण्डकवत् उछलकर चलने वाली होती है। वातपित्ताधिक में दोनों गतियों का समन्वय रहता है। तर्जनी के दाहिने बायें किनारों पर नाड़ी का वक्र स्पर्श और मध्यमा के मध्य काक अथवा मण्डूकवत् उछलता हुआ स्पर्श मालूम होता है।

(७) वात कफ की नाड़ी—

वहेद्वक्रश्च मन्दश्च वातश्लेष्माधिकत्वतः।

अर्थ—वातकफाधिक में नाड़ी वक्र (टेढी) और मन्द (धीमी) गति से चलती है।

विवेचन—तर्जनी के दोनों किनारों पर, नाड़ी का वक्र स्पर्श; और अनामिका में मन्द स्पर्श जब एक साथ होता है, तब रक्त में कुपित वात कफ की संभावना होती है।

प्राणनाशक नाड़ी

१—स्थित्वा स्थित्वा चलति या सा स्मृता प्राणनाशिनी

२—अति क्षीणाच शीता च जीवितं हंत्यसंशयम्

अर्थ—ठहर ठहर कर चलने वाली नाड़ी प्राणनाशिनी है। अतिक्षीण और अति शीतल स्पर्शवाली नाड़ी जीवित व्यक्ति को निःसंशय मार डालती है।

विवेचन—नाड़ी प्रति तीन चार व पांच गति के बाद विश्राम लेकर चले अथवा समान रूप से चलती चलती एक क्षण के लिये बंद होकर पुनः चले और इसी प्रकार चलती रहे तो समझना चाहिये रोगी मरणासन्न है; परन्तु यह ध्यान रहे कि रोगी चलता फिरता और बलवान हो और नाड़ी तीन चार व पांच गति के बाद विश्राम लेकर चले तो समझना चाहिये कि रोगी के हृदय में स्नायु सम्बन्धी व अवयवीय दोष (*Defect*) है।

काम और क्रोध में

नाड़ी वेगवहा शीघ्र गामिनी हो जाती है—

"कामात् क्रोधात्वेगवहा"

चिन्ता और भय में

नाड़ी क्षीण और प्लुत (द्रुतगामिनी) होजाती है—

"क्षीणा चिन्ता भयप्लुता"

विवेचन—कामावेग में तथा क्रोध में हृदय उत्तेजित होजाता है जिससे नाड़ी बलवान होते हुए वेगवती होजाती है। चिन्ता में नाड़ी की निर्बल गति के कारण सूत्रवत् मन्द स्पंदन होता है। भय में नाड़ी द्रुतगामिनी हो जाती है, परन्तु काम व क्रोधावेग की नाड़ी की तरह बलवान नहीं होती, प्रत्युत उत्तरोत्तर निर्बल होती जाती है।

ज्वर के कोप में

नाड़ी गरम और वेगवती रहती है।

"ज्वरकोपेन धमनी सोष्णा वेगवती भवेत्।"

—शेषांश पृष्ठ ७६ पर।

नाड़ी परीक्षा

(आधुनिकतम आयुर्वेद प्रणाली के अधार पर)

लेखक—प्राणाचार्य पं० हर्षुल मिश्र प्रवीण *B. A.* आनर्स आयुर्वेदरत्न हिन्दीप्रभाकर।

इसके पूर्व के लेख में प्राचीनतम आयुर्वेद प्रणाली के आधार पर नाड़ी परीक्षा प्रणाली का वर्णन किया गया है। आयुर्वेद की प्राचीनतम नाड़ी परीक्षा प्रणाली से शारीरिक और मानसिक दोषों की तो सरलतापूर्वक परीक्षा हो जाती है किन्तु उसमें व्यक्ति की आयु के अनुसार, निर्धारित समय के अन्दर नाड़ी के स्वाभाविक तथा अस्वाभाविक स्पन्दन की संख्या निर्धारित नहीं की गई। इसके अतिरिक्त उसमें नाड़ी की गति (Rate) तनाव (Tension) नियमता (Regularity) अनियमता (Irregularity) शक्ति (Strength) की परिभाषा आदि नहीं है, इसलिये आयुर्वेद में समन्वय की दृष्टि से आधुनिकतम नाड़ी विज्ञान के उपर्युक्त तत्वों की विवेचना आवश्यक है। विश्व की समस्त चिकित्सा पद्धति के वैज्ञानिक तत्वों को स्वीकार कर उन्हें आत्मसात करने की शक्ति भारतीय आयुर्वेद में है। इसी दृष्टिकोण से, मैं इस लेख में आधुनिकतम परीक्षा प्रणाली को आधुनिकतम आयुर्वेदीय नाड़ी परीक्षा प्रणाली के रूप में विज्ञ पाठकों के समक्ष उपस्थित कर रहा हूँ।

नाड़ी परीक्षा का वैज्ञानिक तथ्य—

हृदय के वाम क्षेपक कोष्ठ (Left Ventricle) का जब संकोचन होता है तब प्रति बार लगभग ३ औंस रक्त वृहत् धमनी (Aorta) में इतने वेग से पहुँचता है, कि रक्त के प्रवाह में लहरें (Vibration) उत्पन्न होने लगती हैं। ये लहरें प्रति सैकंड में २५ से ३० फुट की रफ्तार से धमनी में आगे बढ़ती हैं, यद्यपि रक्त का प्रवाह १ फुट प्रति सेकण्ड ही रहता है। धमनी के स्पर्श से रक्त की इन लहरों की गति-विधि को सरलता से जाना जा सकता है। आयुर्वेद के मतानुसार लहरों की गति-विधि पर रक्त में रहने वाले वात पित्त कफ इन दोषों की विषमता का प्रभाव पड़ता है, जो नाड़ी स्पर्श से जाना जा सकता है। इस प्रकार दोनों मतों में अपनी अपनी विशेषता होते हुए भी तात्विक दृष्टि से साम्यता है। यह नाड़ी प्रायः हाथ की कलाई में, अंगूठे के नीचे अंगुलियों के स्पर्श द्वारा सरलतापूर्वक जानी जा सकती है। स्वस्थ अवस्था में नाड़ी का स्पन्दन जैसा नियमित ढंग से होता है, रुग्णावस्था में नहीं होता। रुग्णावस्था में नाड़ी की गति विधि और उसके स्पन्दन की संख्या में निश्चयपूर्वक अन्तर आजाता है। इसी तथ्य के आधार पर, नाड़ी देखने की प्रथा सर्व मान्य होगई है।

नाड़ी देखने की विधि—

अंगूठे के नीचे, कलाई की बाहर वाली धमनी पर, दो व तीन अंगुलियों को रखकर नाड़ी देखना चाहिए। अंगुलियों से कभी धमनी को दबाते हुए, स्पर्श करना चाहिए और कभी ढीला स्पर्श करना चाहिये। नाड़ी दिखाते समय शांत और विना हिले हुए बैठना चाहिए। यदि रोगी क्रोध या आवेश में हो अथवा चलकर आया हुआ हो तो थोड़ी देर विश्राम के बाद उसकी नाड़ी देखना चाहिए।

नाड़ी के स्पर्श द्वारा नाड़ी में बहने वाले रक्त की लहरों की गति (Rate), तनाव (Tension), नियमता तथा अनियमता (Regularity and Irregularity), शक्ति (Strength) का पता लगाना चाहिए—

१-गति—नाड़ी के स्पन्दन का नाम गति है। प्रत्येक स्वस्थ पुरुष की नाड़ी की गति प्रति मिनिट में ७२ से ७५ बार होती है। नाड़ी की गति कम आयु में अधिक और अधिक आयु में कम होती है। युवावस्था में, स्त्रियों की नाड़ी पुरुषों की नाड़ी की अपेक्षा द्रुतगामिनी होती है। कुछ व्यक्तियों की नाड़ी अपवाद स्वरूप स्वभावतः तेज वा मन्द चलती है, किन्तु उससे उन्हें कोई व्याधि नहीं होती। किसी किसी व्यक्ति की शरीर की गठन ही ऐसी होती है कि नाड़ी स्वभावतः तीव्र अथवा मंद चलती रहती है। क्रोध, मैथुन, परिश्रम, उत्तेजना की हालत में, नाड़ी की गति तेज हो जाती है। थकान, नींद, उपवास आदि में नाड़ी की गति मन्द हो जाती है। कुछ विषैली दवाईयों के सेवन से नाड़ी की गति तेज हो जाती है जैसे कुचला, मद्यसार आदि। कुछ औषधियों के सेवन से नाड़ी की गति मन्द हो जाती है, जैसे—सर्पगंधा, वत्सनाभ, डिजिटेलिस। कुछ रोगों में मृत्यु से पूर्व हृदय की गति बढ़ जाती है, और कुछ रोगों में मृत्यु से पूर्व हृदय को गति न्यूनतम हो जाती है। हृदय की गति के अनुसार नाड़ी की गति भी न्यूनाधिक होती रहती है। शरीर की उष्णता में एक अंश (डिग्री) की वृद्धि होने पर नाड़ी की गति प्रतिमिनट में १० बार बढ़ जाती है। मोतीझरा में, नाड़ी की गति ज्वर की तेजी के अनुसार नहीं बढ़ती। अधिक रक्तस्राव वा धातुस्राव वा मलस्राव के बाद वा रक्तहीनता में नाड़ी-गति प्रायः मन्द हो जाती है।

आयु के अनुसार नाड़ी की गति—

नवजात शिशु की नाड़ी की गति एक वर्ष तक	प्रति मिनिट में	१४० बार
१ वर्ष से ऊपर तीन वर्ष तक के बालक की नाड़ी की गति	,, ,, ,,	१२० से १०० बार
३ वर्ष से ऊपर ६ वर्ष तक के बालक की नाड़ी की गति	,, ,, ,,	१०० से ९० बार
७ वर्ष से १४ वर्ष के बालक की नाड़ी की गति	,, ,, ,,	९० से ८५ बार
१५ वर्ष से २१ वर्ष के नवजवान की नाड़ी की गति	,, ,, ,,	८५ से ७५ बार
२१ वर्ष से ६५ वर्ष के व्यक्ति की नाड़ी की गति	,, ,, ,,	७५ से ६५ बार
६५ वर्ष से ऊपर बुढ़ापे में नाड़ी की गति	,, ,, ,,	७० से ६० बार

नाड़ी की गति से श्वास की गति का संबन्ध—

नाड़ी की गति न्यूनाधिक होने पर श्वास की गति भी न्यूनाधिक हो जाती है और श्वास गति न्यूनाधिक होने से नाड़ी की गति भी न्यूनाधिक हो जाती है। स्वाभाविक अवस्था में स्वस्थ व्यक्ति की गति प्रति मिनट में १४-१५-१६ बार होती है, तदनुसार नाड़ी की गति भी ५ बार प्रति श्वास के हिसाब से ७४-७५-८० बार हो जाती है। शिशुओं की श्वास की गति युवा व्यक्ति की श्वास की गति से ड्योढ़ी और दूनी रहती है। सामान्यतः दो वर्ष तक के शिशुओं की श्वास की गति २८ से ३५ बार, २ वर्ष से ६ वर्ष के बालक की २३ बार, ६ से १५ वर्ष के बालक की २० से १८ बार, युवक तथा प्रौढ़ पुरुष के श्वास की गति १८ से १६ बार प्रति मिनट होती है। दो वर्ष के बालक की गति सोते समय १८ बार और जागने में २३ बार हो जाती है। ६ से १५ वर्ष तक सोते समय श्वास की गति १८ बार और जागने पर २० बार हो जाती है। श्वास की संख्या परिश्रम मनोविकार क्रोध आदि से बढ़ जाती है। थकावट, विश्राम शोक के समय घट जाती है। श्वसनकज्वर, क्षय, श्वास, शीतज्वर, हृदयरोग, वृक्करोग पाण्डुरोग तथा कुछ विषों के प्रभाव से श्वास की गति बढ़ जाती है, किन्तु

हृदय, वृक्करोग तथा पाण्डुरोग में श्वास के साथ साथ नाड़ी की गति नहीं बढ़ती, न्यूनतम हो जाती है ऐसा होने पर मृत्यु का खतरा उपस्थित हो जाता है । अफीम का सेवन करने से भी श्वास की गति मन्द हो जाती है । मस्तिष्क में चोट लगने से भी श्वास की गति क्षीण और न्यून हो जाती है । मूर्च्छा में भी श्वास की गति क्षीण और न्यून हो जाती है परन्तु मूर्च्छा जागने पर श्वास की गति स्वाभाविक रीति से बढ़ जाती है । इसी प्रकार नाड़ी भी श्वास के साथ घटती बढ़ती रहती है ।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि नाड़ी और श्वास की गति एक दूसरे से संबन्धित है । नाड़ी की गति को ठीक तरह समझने के लिये श्वास की गति को जानना भी आवश्यक है ।

नाड़ी की गति के प्रकार—

१ मंदगति (Slow Pulse):—जब नाड़ी की गति सामान्य (Normal) गति से कम हो जाती है तब उसे मन्दगमना नाड़ी कहते हैं ।

२ द्रुतगामिनी (Squick or Frequent):—जब नाड़ी गति सामान्य (Normal) गति से बढ़ जाती है, तब उसे द्रुत-गामिनी कहते हैं । द्रुत-गामिनी नाड़ी का स्पन्दन प्रतिमिनिट में १०० से १२० तक होता है ।

३—वेगवती (Rapid)-नाड़ी की गति जब एक मिनट में १२० से ऊपर १६० तक पहुँच जाती है, तब उसे वेग-वाहिनी नाड़ी कहते हैं ।

४—नियमित नाड़ी (Regular Pulse)-जब नाड़ी सामान्य अथवा स्वाभाविक गति रहती है, तब नाड़ी नियमित (Regular) कही जाती है ।

५—अनियमित नाड़ी (Irregular)—नाड़ी का स्पन्दन जब असामान्य रूप से होने लगता है, तब उसे अनियमित नाड़ी कहते हैं । अनियमित नाड़ी की गति कई प्रकार की होती है जैसे—

१—ठहर ठहर कर, विराम करते हुये चढ़ना ।

२—कभी सबल और कभी निर्बल स्पंदन होना ।

३—स्पन्दन होते होते बन्द हो जाना और फिर होने लगना ।

४—कभी तीन चार स्पन्दन के बाद एक स्पन्दन लोप होकर फिर तीन चार स्पन्दन होना ।

५—यथा स्थान स्पन्दन न होना ।

६—स्पन्दन का नाड़ी स्थान में सर्वथा लोप हो जाना किन्तु हृद् स्पन्दन होते रहना ।

६—असृक्पूर्णा (Full)-अंगुलियों के नीचे उछलता हुआ स्पर्श होता है । इस नाड़ी को आयुर्वेद की प्राचीन नाड़ी परीक्षा प्रणाली में असृक्पूर्णा और पित्तवहा नाड़ी कहा है ।

७-लघु स्पंदन (Small-beatings)-अंगुलियों के नीचे धमनी के स्पर्श से रक्त की उछाल छोटी मालूम हो । इस नाड़ी को आयुर्वेद की प्राचीन नाड़ी परीक्षा प्रणाली में कफवहा नाड़ी कहा है ।

८—वक्र वा कठोर स्पन्दन (Hard-beatings) अंगुलियों के नीचे धमनी के दबने पर, स्पर्श कठोर व वक्र मालूम होता है । इस नाड़ी को आयुर्वेद की प्राचीन नाड़ी परीक्षा प्रणाली में वातवहा नाड़ी कहा गया है ।

६-मृदुल स्पन्दन (Soft beatings)-अंगुलियों के नीचे धमनी का स्पर्श दबाने पर कोमल मालूम होता है अर्थात् नाड़ी की उछल साधारण दबाव व स्पर्श मात्र से दब जाती है । ऐसा तभी होता है जब नाड़ी गरम और वेगवती होती है । जैसे—ज्वर में आयुर्वेद की प्राचीन प्रणाली में भी इस नाड़ी को ज्वर की नाड़ी कहा है ।

२—तनाव-जब दो स्पन्दनों के बीच धमनी रक्त के वेग से फूली हुई रहती है तब उसे धमनी का तनाव कहते हैं । जब धमनी रक्त से पूर्ण रहती है, तब तनाव अधिक रहता है । जब वह खाली रहती है और सुगमतापूर्वक दबाई जा सकती है, तब तनाव कम रहता है । दुर्बलता, हृदयावसाद, ज्वर के अंत में धमनी तनाव कम हो जाता है ।

इसी प्रकार कुछ औषधियों—वत्सनाभ (*Aconite)* एमिल नाइट्रेट आदि के प्रयोग से भी नाड़ी का तनाव कम हो जाता है। टेकी कार्डिया द्रुत हृदय में नाड़ी का तनाव बढ़ जाता है। इसी प्रकार कुछ औषधियां (डिजिटिलिस, एड्रीनेलिन क्लोराइड इत्यादि) तनाव को बढ़ा देती हैं।

३—नियमता—(*Regulraity*)—नाड़ी के सभी स्पंदन समान रूप से हों तो समझना चाहिये कि नाड़ी का स्पन्दन नियमित है।

४—अनियमता (*Irregularity*)–नाड़ी का स्पन्दन विषम गति से होता हो जैसे—कोई स्पन्दन छोटा, कोई स्पन्दन बड़ा, कोई लम्बा होना, कभी कभी स्पन्दन लोप होजाना, कभी स्पन्दन तेज होजाना कभी मन्द होजाना, स्पन्दन कभी नीचे व कभी ऊपर होना, स्पन्दन यथा स्थान में न रहना, स्थान छोड़ते हुए ऊपर की ओर मालुम होना अथवा लोप हो जाना आदि। नाड़ी की विषमता ही रुग्णावस्था की द्योतक है। विषम गति वाली नाड़ी को अनियमित नाड़ी कहते हैं।

५—बल व शक्ति—नाड़ी के स्पन्दन का सबल और निर्बल होना, यह हृदय की दशा पर निर्भर है। यदि नाड़ी का स्पन्दन सबल है तो हृदय बलवान है, रोगी खतरे से दूर है। नाड़ी का स्पन्दन निर्बल है तो हृदय कमजोर है, और रोगी खतरे में है। जब नाड़ी की गति शरीर की ऊष्मा के अनुसार समान गति से बढ़ती और कम होती है, और अंगुलियों में स्पर्श द्वारा नाड़ी का स्पन्दन शिथिल नहीं मालूम होता, तब समझना चाहिए कि नाड़ी बलवान है। जब नाड़ी की उष्मा ९७° से ९८° अंश तक रहती है, तब नाड़ी की गति एक मिनट में ७० से ७५ वा ८० बार होती है। इसके बाद शरीर की ऊष्मा जितनी बढ़ेगी नाड़ी की गति १० बार प्रति अंश (डिग्री) ऊष्मा के हिसाब से बढ़ती जायगी, शरीर की ऊष्मा जितनी कम होगी नाड़ी की गति १० बार प्रति अंश ऊष्मा के हिसाब से कम होती जायगी। इसमें कभी अन्तर नहीं आवेगा। यदि इस हिसाब से नाड़ी न चले अथवा ज्वर के वेग के साथ १० बार प्रति अंश उष्मा के हिसाब से नाड़ी का वेग न बढ़े तो समझना चाहिये कि नाड़ी निर्बल है। ज्वर न होते हुये नाड़ी का वेग बढ़े तो समझना चाहिये कि रक्तचाप वृद्धि है अथवा द्रुत हृदरोग (टेकी-कार्डिया) है। परिश्रम और व्यायाम से भी बिना ज्वर के नाड़ी की गति बढ़ जाती है। शरीर की ऊष्मा ९७-५° अंश से नीचे गिरते ही नाड़ी की गति भी नीचे गिरने लगती है। ऐसी हालत में नाड़ी निर्बल अथवा क्षीण कही जाती है। इस तरह ऊष्मा की उत्तरोत्तर कमी के साथ नाड़ी का गिरना न्यूनतम जीवनी शक्ति का द्योतक है।

स्वस्थ व्यक्ति की नाड़ी, श्वास तथा उष्मा नीचे लिखे अनुसार होना चाहिये—

नाड़ी—प्रति मिनिट में ७० से ७५ बार
श्वास—" " " १५ से १८ "
ऊष्मा एक मिनिट थर्मामीटर लगाने पर...
९८.४° अथवा ९७.५°

नाड़ी, श्वास और उष्मा का उपर्युक्त मापदंड स्वास्थ्य का प्रतीक है। इस मापदंड से नाड़ी, श्वास, ऊष्मा का न्यूनाधिक होना रुग्णावस्था का द्योतक है। यदि शरीर का तापमान बढ़कर ९४.४° अंश से १००° तक पहुँच जाय तो नाड़ी की गति भी लगभग १० बार प्रति अंश तापमान के हिसाब से ९५ तक पहुँच जायगी और श्वास की गति भी श्वास प्रति अंश (डिग्री) तापमान के हिसाब से १९ से २३ तक पहुँच जायगी। कहने का तात्पर्य यह कि शरीर का तापमान स्वाभाविक तापमान से एक अंश (डिग्री) बढ़ते ही स्वाभाविक अवस्था से श्वास दो बार और नाड़ी १० बार अधिक चलने लगेगी। आजकल शरीर का ताप तापमापक यंत्र (Thermo-

—शेषांश पृष्ठ ७६ पर।

नाड़ी परीक्षा तथा यूनानी वैद्यक

लेखक—वैद्यराज हकीम दलजीतसिंह आयुर्वेदीय विश्वकोषकार, चुनार।

आयुर्वेद की भांति ही यूनानी वैद्यक में भी नाड़ी परीक्षा को बड़ा महत्व प्राप्त है। यूनानी वैद्यों (हकीमों) के मत से नाड़ी द्वारा न केवल हृदय एवं रक्त के रोगों (रक्त परिभ्रमण) की परीक्षा में सहायता मिलती है, अपितु पर्याप्त अभ्यास के पश्चात केवल नाड़ी द्वारा ही अधिकांश रोगों की कैफ़ियत मालूम की जा सकती है। कतिपय प्राचीन यूनानी वैद्यों के कथनानुसार तो नाड़ी, शरीर के समस्त रोग समूह एवं उनकी अप्रकृत दशाओं का ज्ञान कराती है तथा केवल नाड़ी द्वारा ही मानव शरीर की सभी दशाओं एवं परिवर्तनों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इससे भी बढ़कर प्राचीन हकीमों विषयक वे विलक्षण आश्चर्यचकित करने वाले उपाख्यान एवं कथानक हैं जिसके अनुसार केवल नाड़ी परीक्षा द्वारा वे रोगी से किसी बात के पूछे विना उसकी वर्तमान रोग दशा तथा रिष्टारिष्ट वा साध्यासाध्यत्व ही नहीं अपितु उसने क्या भोजन किया है—यह भी बतला दिया करते थे। यही कारण है कि जन साधारण का नाड़ी परीक्षा में इतना विश्वास देखा जाता है। यदि रोग का निदान बिना नाड़ी देखे किया जाय तो मानो उनका उसमें विश्वास नहीं होता। उनका यह विश्वास है कि वैद्य नाड़ी देखकर ही रोग का निदान कर लेता है और इस प्रकार नाड़ी देखकर जो रोग का निदान नहीं कर लेते उनमें उनका विश्वास नहीं होता। इसमें आयुर्वेदीय यूनानी चिकित्सा में वैद्य के लिये नाड़ी ज्ञान की आवश्यकता सुप्रमाणित है।

यूनानी मत से यहां नाड़ी-परीक्षा का संक्षेप में विवरण किया जा रहा है।

नब्ज[1]—यूनानी वैद्यक में नब्ज रक्तवाहिनियों (धमनियों) की उस गति का नाम है जो हृदय के आकुञ्चन प्रसारण से उत्पन्न होती है। उसमें ये दो गतियां और दो विराम होते हैं। एक गति बाहर की ओर होती है जिससे धमनी ऊपर को उठकर हाथ को (आघात) लगाती है। इसको प्रसारणीय गति (हर्कते इम्बेसाती) कहते हैं। इसके बाद अति सूक्ष्म अप्रत्यक्ष सा विराम (जिसको 'सकून मुहीती' कहते हैं) होकर दूसरी गति का प्रारम्भ हो जाता है जिसमें नाड़ी ठोकर लगाने के उपरांत नीचे की ओर चली जाती है। इसको आंकुचनीय गति ('हर्कते इन्कबाजी') कहते हैं। इसके अनन्तर भी एक सूक्ष्म सा विराम होता है जिसको सुकून मर्कजी—केन्द्रीय विराम कहते हैं। ततः पुनः नाड़ी की प्रसारणीय गति (हर्कते इम्बेसाती) प्रारम्भ हो जाती है। परन्तु नाड़ी देखने से साधारणतया उसकी प्रसरणभूत गति (हर्कते इम्बेसाती) और प्रान्तःस्थ विराम (सुकून मुहीती) ही प्रतीत वा अनुभूत होता है। ऐसे तो नाड़ी की गति शरीर की समस्त धमनियों में उत्पन्न होती है परन्तु कतिपय सुविधाओं के हेतु नाड़ी मणिबंध स्थित धमनी पर देखी जाती है। इसी हेतु यह नाड़ीभूत धमनी (शिर्यानुन्नब्ज) अथवा केवल नब्ज (नाड़ी के नाम से अभिधानित की जाती है। यदि किसी कारणवश मणिबन्ध वा कलाई स्थित नाड़ी देखने से विवशता हो तो उस अवस्था में कनपुटी (शङ्खक) या टखने की धमनियों पर नाड़ी परीक्षा की जा सकती है।

नाड़ी की परीक्षा विधि

रोगी को अपने सामने लिटाकर या बैठाकर इस प्रकार नाड़ी देखनी चाहिये कि रोगी का हाथ पट हो, अंगूठा आकाश की ओर और छोटी उंगली

[1] आयुर्वेद में इसे 'नाड़ी' अंग्रेजी में 'पल्स (Pulse)' कहते हैं।

(कनिष्ठा) पृथ्वी की ओर रहे। उसकी कोहनी किसी वस्तु का सहारा लिये न हो। इसके अतिरिक्त नाड़ी को दिखाते समय रोगी के हाथ में कोई वस्तु न हो, रोगी क्लांति, चिंता, क्रोध, अति प्रसन्नता वा भय से अभिभूत न हो तथा उदर पूर्ण भी न हो। चिकित्सक की उंगलियां अधिक उष्ण, शीत वा कर्कश न हों। नाड़ी चार उंगलियों या कमसे कम प्रथम तीन उंगलियों से इस प्रकार देखनी चाहिये कि अन्तिम वा छोटी उंगली (कनिष्ठा) रोगी के हाथ की ओर रहे तथा तीस, पैंतीस वा कम से कम बारह गति तक अवश्य देखनी चाहियें। इसके अतिरिक्त दोनों हाथ की नाड़ी देखनी चाहिये। दायें हाथ की दक्षिण हस्त से और बायें हाथ को वाम हस्त से। नाड़ी-परीक्षा के लिये उंगलियां नाड़ी के ऊपर न तो इतना दबाकर रखें कि उनके नीचे नाड़ी की गति दबकर सर्वथा बन्द हो जाय, न इतनी हल्की रखें कि नाड़ी गति का भलीभांति अनुभव न हो। नाड़ी की तीव्रता एवं मंदता, क्षीणता एवं बलवता तथा आघातों की संख्या ज्ञात करने के लिए नाड़ी को किंचित दबाकर पुनः ढीला छोड़ देना चाहिये।

नाड़ी के भेदोपभेद

प्राचीन यूनानी वैद्यक में नाड़ी के सम्यक् ज्ञान के निम्न दस विषयों (जिन्सों) का विवरण किया जाता है जिनसे नाड़ी की दशा का ठीक ठीक ज्ञान हो जाता है वे विषय (जिन्सें) निम्न हैं—

(१) मिकदार नब्ज (नाड़ी का प्रमाण, आयतन—Volume)—इसमें नाड़ी के दैर्घ्य वा आयाम अर्थात् लंबाई (तूल—Length), विस्तार वा चौड़ाई (अर्ज—Breadth or the Greatest Diametre) और गांभीर्य वा गहराई (अमक—Depth) इन तीनों प्रमाणों—प्रमाणत्रय (अक़तार सलासा) का समावेश होता है। इनमें से प्रत्येक माप को अरबी में 'कुतर' कहते हैं। यूनानी नाड़ी विज्ञान में प्रत्येक कुतर की ये तीन अवस्थायें होती हैं—(१) सम वा प्रकृत (मोतदिल) और (२) विषम वा अप्रकृत। विषम के पुनः ये दो उपभेद होते हैं—(१) सम वा एतदाल से अधिक और (२) सम वा एतदाल से कम। अस्तु उपर्युक्त मापत्रय (अक़तार सलासा) के विचार से इन तीनों अवस्थाओं के अनुसार नब्ज (नाड़ी) के ये नौ भेद होते हैं—

दैर्घ्य वा तूल के विचार से-(१) तवील (दीर्घ) अर्थात् प्रकृत से अधिक लम्बी अर्थात् जितना चाहिये उससे अधिक जिसका कारण गर्मी की अधिकता (२) कसीर (क्षुद्र) अर्थात् प्रकृत से कम लम्बी, जितना चाहिये उससे कम लम्बी जिसका कारण गर्मी की कमी है। (३) मोतदिल (सम वा प्रकृत) अर्थात् उतनी लम्बी जितनी चाहिये (न प्रकृत से अधिक और न कम लम्बी), जिसका कारण उष्णता का प्रकृतिस्थ होना है। अर्ज (विस्तार) के विचार से—(४) अरीज (विस्तीर्ण) अर्थात् जितनी चाहिये उससे अधिक चौड़ी जिसका कारण तरी (स्निग्धता) की अधिकता है; (५) जैयक (संकीर्ण) अर्थात् जितनी चाहिये उससे कम चौड़ी जिसका कारण तरी की कमी है, (६) मोतदिल (अर्थात् उतनी चौड़ी जितनी चाहिये—प्रकृत) जिसका कारण तरी वा स्निग्धता का प्रकृतिस्थ होना है। 'अमक' (गांभीर्य) के विचार से -(७) मुशरिफ अर्थात् जितनी चाहिये उससे अधिक उठी वा उभरी हुई (उन्नत) जिसका कारण उष्णता की अधिकता है; (८) मुनखफ़िज़ अर्थात् जितनी चाहिये उससे अधिक दबी हुई (नत, अवनत) जिसका कारण उष्णता की कमी है, (९) मोतदिल (अर्थात् उतनी उठी वा उभरी हुई जितनी चाहिये (प्रकृतोन्नत) जिसका कारण उष्णता का प्रकृतिस्थ होना है। इस प्रकार प्रत्येक कुतरों (माप) के ये ९ नौ भेद होते हैं। यदि नाड़ी तीनों कुतर (लम्बाई, चौड़ाई और गहराई) में सम वा प्रकृत से अधिक हो तो उसको 'नब्जे

अजीस' (स्थूल नाड़ी) तथा इसके विपरीत यदि तीनों कुतरों में सबसे कम हो तो उसे 'नब्जे लगीर' (सूक्ष्म नाड़ी) कहते हैं। इन नौ भेदों के योग से निम्न सारणी के अनुसार इसके कुल सत्ताईस प्रकार होते हैं। इसके भी दो भेद हैं। (१) दो कुतर के विचार से और (२) तीन कुतर के विचार से। इनमें दो कुतरों के लेने की विधि को 'सनाई' कहते हैं जिसकी रीति यह है कि लम्बाई की तीन प्रकारों को चौडाई की तीन प्रकारों के साथ लेवें तो नौ होंगी, पुनः लम्बाई की तीनों प्रकारों को गहराई की तीनों प्रकार के साथ लेवें, यह भी नौ होंगी, पुनः चौडाई की तीनों प्रकारों को गहराई की तीनों प्रकारों के साथ लेवें यह भी नौ होंगी। इस प्रकार यह सब मिलकर सत्ताईस हुई जो निम्न सारणी द्वारा व्यक्त की गई हैं।

नकशा सनाई

त अ	त ज	त मो	क अ	क ज	क मो.	मो. अ	मो. ज	मो. मो.
त मुश.	त मुन.	त मो	क मुश	क मुन	क मो.	मो मुश	मो मुन.	मो. मो.
अ मुश.	अ. मुन.	अ. मो.	ज. मुश	ज. मुन	ज. मो.	मो. मुश	मो. मुन.	मो मो.

तीन कुतर के लेनी की रीति जिसे सलासी कहते हैं, यह है कि दो प्रकारों को एक ही रखें और तीसरी प्रकार बदलती रहे। सारणी निम्न है।

नक्शा सलासी

त. अ. मुश.	त. अ मुन.	त. अ. मो.	त. ज. मुश.	त. ज. मुन.	त. ज. मो.	त. मो. मुश.	त. मो. मुन.	त. मो. मो.
क. अ. मुश.	क. अ. मुन.	क. अ. मो.	क. ज. मुश.	क. ज. मुन.	क. ज. मो.	क. मो. मुश	क. मो. मुन.	क. मो. मो.
मो अ. मुश.	मो. अ. मुन.	मो. अ. मो.	मो. ज. मुश	मो. ज. मुन.	मो. ज. मो.	मो. मो. मुश.	मो. मो. मुन.	मो. मो. मो.

संकेताक्षर विवरण

त=तवील (दीर्घ), अ=अरीज (विस्तीर्ण), क=कसीर (क्षुद्र), मो=मोतदिल (सम) ज=जैयक (संकीर्ण), मुश=मुशरिफ (उन्नत), मुन=मुनखफिज (अवनत)।

(२) करये नब्ज (नाड्याघात)—इससे नाड़ी की ठोकर अभिप्रेत है। इससे नाड़ी निर्बल है वा बलवती, यह जाना जाता है। यह भी तीन प्रकार की होती है-(१) इसमें नाड़ी बलपूर्वक ठोकर लगाती है और उंगलियों में घुसती हुई सी प्रतीत होती है। इसको 'नब्ज कवी' (बलवती नाड़ी) कहते हैं। यह

हृदय की पुष्टि की द्योतक होती है। (२) इसके विपरीत अत्यन्त निर्बल ठोकर लगाती है और कठिनता पूर्वक अनुभव की जा सकती है। इसको 'नब्ज जईफ' (दुर्बल नाड़ी) कहते हैं। यह हृदय की दुर्बलता की द्योतक होती है। (३) इसमें नाड़ी का आघात न तो अधिक बलवान् होता है और न निर्बल, अपितु मध्यम अवस्था का होता है। इसको 'नब्ज मोतदिल' (प्रकृत नाड़ी) कहते हैं। यह हृदय के प्रकृतिस्थ होने की द्योतक होती है। कभी-कभी प्रमाण के विचार से नाड़ी 'अजीम' (स्थूल) होती है किन्तु बलवती नहीं होती। इसके विपरीत कभी-कभी नाड़ी प्रमाण के विचार से 'सगीर' (सूक्ष्म) होती है। किन्तु इसके आघात में बलानुभूति पाई जाती है।

(३) जमानए हरकते नब्ज (नाड़ी की गति व चाल का समय)—यदि नाड़ी नियत कालावधि में अपनी चाल व गति पूरी करती है तो उसे 'मोतदिल' (प्रकृत, normal) कहते हैं।। यदि नियत कालावधि (स्वाभाविक काल) से पूर्व अथवा उससे जल्दी पूरा कर लेती है तो उसे 'सरीअ' (द्रुत वा द्रुतगागामिनी, Quick) कहते हैं। इसके विपरीत यदि वह देर से पूरा करती है तो उसे बती (मन्द व मन्दगामिनी, विलंबित, Slow) कहते हैं। उदाहरणतः साधारणतया एक मिनट में स्वभावतः एक युवा पुरुष की नाड़ी ७० से ७५ बार गति करती है। यदि इससे कम बार, जैसे चालीस, पचास या साठ बार गति करे तो 'बती' (मन्दगामिनी) कहलायेगी। यदि इससे अधिक बार जैसे नब्बे या सौ बार गति करे तो वह 'सरीअ' कहलायेगी। सरीअ (द्रुतगामिनी) शरीरोष्मा की अधिकता और बती शरीरोष्मा की न्यूनता को परिलक्षित करती है।

(४) किवामे नब्ज (संहति अर्थात् नाड़ी की मृदुता और कठिनता)—यदि नाड़ी उंगलियों के नीचे टटोलने पर कठिन प्रतीत हो और दबाने पर सरलता से न दब सके तो 'सलिब' (कठिन, दृढ़) कहलाती है। इसके विपरीत यदि वह मृदु प्रतीत हो और सरलता से दब जाय तो 'लय्यिन' वा लैयन' (कोमल वा मृदु) कहलाती है। यदि न बहुत कठोर हो और न मृदु हो तो 'मोतदिल' (प्रकृत) व 'मुतवस्सित' (मध्यम) कहलाती है। सलिब शारीरिक रूक्षता और लैय्यिन शारीरिक स्निग्धता को परिलक्षित करती है। मोतदिल में रूक्षता (खुश्की) और स्निग्धता (तरी) मध्यम होती है।

(५) जमानए सकूने नब्ज (नाड़ी के ठहरने का समय)—इसमें नाड़ी का विरामकाल (विलयावस्था, वक्फा) देखा जाता है। यदि नाड़ी उंगलियों पर लगकर तुरन्त अलग हो जावे अर्थात् विरामकाल (वक्फा) स्वाभाविक से कम हो तो नाड़ी "मुतवातिर" कहलाती है। इसके विपरीत यदि विराम प्रकृत से अधिक हो तो नाड़ी 'मुतफावुत' कहलाती है। यदि विराम न प्रकृत अवधि से अधिक हो और न कम तो नाड़ी विरामकाल के विचारानुसार "मुतवस्सित" वा "मोतदिल" कहलाती है। इसमें भी नाड़ी की संख्या प्रति मिनट न्यूनाधिक हो जाती है। परन्तु उक्त अवस्था में संख्याधिक्य का कारण नाड़ी की गति की तीव्रता वा मंदता नहीं होता, अपितु नाड़ी की विलयावस्था (विराम) की न्यूनाधिकता हुआ करता है। इसका पता निरन्तर के अनुभव एवं अभ्यास द्वारा चल सकता है।

(६) मल्मसे नब्ज (नाड़ी का स्पर्श)—इससे नाड़ी की सर्दी और गर्मी देखी जाती है। यदि नाड़ी को स्पर्श करने से उष्ण प्रतीत हो तो वह 'हार' (उष्ण) और यदि शीतल प्रतीत हो तो 'बारिद' (शीतल) और यदि न उष्ण हो और न शीत तो नाड़ी स्पर्श के विचार से "मोतदिल" (प्रकृत) कहलाती है। हार नाड़ी गर्मी की अधिकता, बारिद नाड़ी शीत की अधिकता और मोतदिल इन दोनों की प्रकृतावस्था की सूचक होती हैं।

(७) मिकदार रतूबते नब्ज (नाड़ीगत द्रव का प्रमाण) इसमें नाड़ीगत द्रव अर्थात् शोणित और रूह (ओज) आदि की न्यूनाधिकता देखी जाती है। यदि द्रव

अधिक हो तो नाड़ी "मुम्तली"–(रक्तादि से पूर्ण, रक्त संभृत) यदि कम हो तो 'खाली' (रिक्त) और यदि न अधिक हो न कम अर्थात् प्रकृत हो तो द्रव के विचारानुसार 'मोतदिल' या 'मुतवस्सित' (प्रकृत वा मध्यम) कहलाती है। मुम्तली रक्त और रूह की अधिकता और खाली इनकी न्यूनता वा कमी को परिलक्षित करती है। रक्त संभृत नाड़ी (नब्ज मुम्म-तली) के साथ बहुधा नाड़ी कोमल वा मृदु (लय्यिन) भी हो जाती है, क्योंकि उसके अभ्यन्तरगत द्रव उसकी दीवाल व्याप्त हो जाता है।

(८) इस्तवाड व इख्तिलाफे नब्ज (नाड़ी की दशा) अर्थात् नाड़ी के आघातों (ठोकरों) का सदैव एक समान रहना अथवा एक आघात का दूसरे आघात से भिन्न होना। यदि नाड़ी के समस्त आघात (नब्जा) एक ही प्रकार से समान दर्जे के साथ उंग-लियों को प्रतीत होते रहें तो 'नब्ज मुस्तवी' (सम नाड़ी) और यदि उसके विपरीत एक आघात दूसरे से भिन्न होता रहे तो 'नब्ज मुख्तलिफ' (विषम नाड़ी) कहलाती है।

(९) इन्तेजाम व अदम इन्तेजाने नब्ज (नाड़ी की यति वा यतिभंग—तालभिन्नता)—वस्तुतः यह प्रकार आठवीं प्रकार के अधीन होती है। क्योंकि इसमें यदि नाड़ी मुख्तलिफ(विषम)हो तो इसका इन्तेजाम व अदम इन्तजाम(यति व यतिभंग–तालभिन्नता) देखा जाता है। जैसे—यदि नाड़ी मुख्तलिफ है और इसके विभिन्न आघातों में आदि से लेकर अन्त तक एक विशेष प्रकार, का प्रबन्ध पाया जाता है अर्थात् यदि प्रथम आघात कोमल है द्वितीय आघात कठिन अथवा कतिपय आघात कोमल है और एक वा दो वा अधिक आघातें कठोर होकर पुनः उतने ही आघात कोमल होते हैं तथा समस्त आघातों में एक ही प्रबन्ध स्थिर रहता है तो इस प्रकार की नाड़ी को "नब्ज मुख्त-लिफ मुन्तजम" कहते हैं। इसके विपरीत यदि प्रत्येक आघात प्रथम प्रकार के आघात से भिन्न हो अथवा कुछ किसी प्रकार के पाये जाय और कुछ किसी प्रकार के जिनमें परस्पर किसी प्रकार का प्रबन्ध न पाया जाय तो इस प्रकार की नाड़ी को "नब्ज मुख्त-लिफ़ गैरमुन्तजम" कहते हैं।

(१०) वजने नब्ज (तौलनिक नाड़ी)—इसमें विविध नाड़ियों में परस्पर तुलना करके देखा जाता है। यदि नाड़ी प्रान्तीय और केन्द्रिय विरामकाल तथा आकुञ्चन एवं प्रसारण काल और ऋतु एवं आयु आदिक विचार से प्राकृत अवस्था में हो तो उसे 'हसनुल्वजन' वा 'जैयदुल्वजन' और यदि इसके विपरीत प्रकृत अवस्था में न हो अर्थात् वैकृत हो तो उसे 'सीउल्वजन' वा 'रदीउल्वजन' कहते हैं। वैकृत नाड़ी (सीउल्वजन) के पुनः ये तीन उपभेद होते हैं—(१) यदि बालकों की नाड़ी युवाओं की तरह या युवाओं की बालकों की व वृद्धों की तरह अथवा वृद्धों की युवाओं की तरह चलने लगे तो उसे 'मुजाविज़ुल्वजन' कहते हैं। यदि बालकों की नाड़ी वृद्धों की तरह अथवा वृद्धों की बालकों के समान हो तो उसे 'मुवाइनुल्वजन' कहते हैं। यदि नाड़ी का वजन (तौल) सर्वथा खराब हो जाय और किसी आयु की नाड़ी के समान न रहे तो उसको 'खारि-ज़ुल्वजन' कहते हैं।

स्वस्थ की नाड़ी

स्वस्थ नाड़ी उपर्युक्त समस्त भेदों (अजनास) में समावस्था में (प्रकृतिस्थ, प्रकृत) होती है। अस्तु, मध्यम वर्गीय प्रकृत युवा पुरुष की नाड़ी स्वस्थ अवस्था में प्रमाण के विचार से मापत्रय (अक्तार सलासा—लम्बाई, चौड़ाई और गहराई) में मोतदिल (प्रकृत), नैर्बल्य एवं बलवत्ता के विचार से प्रकृत वा किंचित बलवती, गतिकाल, विरामकाल, सहंति अर्थात् मृदुता एवं कठोरता (किवाम) और स्पर्श (उष्ण-शीत-मलमस) के विचार से भी प्रकृत, नाड़ी गत द्रव के प्रमाण के विचार से प्रकृत व किंचित् स्रोतोपूर्ण (मुम्तली) होती है। इसके समस्त आघात नियमित और शक्ति में एक समान होते हैं वह मुस्तवी होती है। वजन के विचार से भी वह हस-

नुल वजन (जैयदुल वजन) होती है। इसका प्रसारण न सहसा होता है न मन्दगति से, अपितु यह समरूप से प्रसारित होती है। इसका आकुंचन क्रमिक होता है किन्तु शिथिल नहीं होता। यह एक मिनट में ७२ बार गति करती है।

स्वास्थ्य की नाड़ी की स्वाभाविक विभिन्नतायें

विभिन्न व्यक्तियों की प्रकृतिभूत समता व प्रकृति (एतदाल मिजाजी) के भिन्न भिन्न होने के कारण प्रकृत अवस्था में भी उनकी नाड़ी में न्यूनाधिक भिन्नता पाई जाती है। अस्तु, रक्त एवं वात प्रकृति के व्यक्तियों की नाड़ी सौदा एवं कफ प्रकृति के व्यक्तियों की अपेक्षया द्रुतगामिनी होती है। उष्ण प्रकृति के व्यक्तियों की नाड़ी स्थूल एवं शीघ्रगामिनी होती है। शीत प्रकृति वालों की नाड़ी मृदु और रूक्ष प्रकृति वालों की कठिन होती है। बालक, वृद्ध तथा स्त्रियों की नाड़ी एक दूसरे से भिन्न हुआ करती है। अस्तु, आयु के अनुसार नाड़ी की संख्या प्रतिमिनट निम्न लिखित तालिका के अनुसार हुआ करती है।

जन्म के समय	१४० से १५० बार तक
एक वर्ष की आयु तक	१२० से १३० ,, ,,
एक से तीन वर्ष की आयु तक	१०० ,, १२० ,, ,,
तीन से सात ,, ,, ,,	९० ,, १०० ,, ,,
सात से बारह ,, ,, ,,	८० ,, ९० ,, ,,
चौदह से इक्कीस ,, ,, ,,	७५ ,, ८० ,, ,,
इक्कीस से पैंसठ ,, ,, ,,	७० ,, ७५ ,, ,,
बुढ़ापे में	७५ ,, ८० ,, ,,

सात वर्ष की आयु तक बालक एवं बालिका की नाड़ी में कोई अन्तर नहीं होता। किन्तु इसके बाद स्त्रियों की नाड़ी पुरुषों की अपेक्षया क्षीण एवं द्रुतगामिनी (सरीअ) होती जाती है तथा यौवन के आरम्भ तक पुरुषों की नाड़ी की अपेक्षया ६ से १४ बार तक अधिक हो जाती है। अस्तु स्त्रियों में यौवनारम्भ अर्थात् चौदह से इक्कीस वर्ष तक की आयु में नाड़ी की गति प्रति मिनट १०१ बार, युवाकाल में ८५ बार और वृद्धावस्था में ८० बार तक चलती है। इसके अतिरिक्त पुरुषों की नाड़ी की अपेक्षया बालकों की नाड़ी शीघ्रगामिनी (सरीअ) और अल्प विराम कालिक (मुतवातिर), स्त्रियों की नाड़ी द्रुतगामिनी, दुर्बल एवं सूक्ष्म (सगीर) और वृद्धों की नाड़ी अधिक विराम-कालिक (मुतफावुत), दुर्बल एवं सूक्ष्म हुआ करती है। दुर्बलों की नाड़ी स्थूल, मन्दगामिनी तथा कठोर यदि दुर्वलता अत्यधिक हो तो (मुतवातिर), भारी भरकम एवं स्थूल व्यक्तियों की नाड़ी सूक्ष्म एवं दुर्बल हुआ करती है।

स्त्रियों में ऋतुकाल एवं रजोनिवृत्ति काल में नाड़ी द्रुतगामिनी और अनियंत्रित (गैर मुन्तजम) हुआ करती है। इसी प्रकार गर्भवती की नाड़ी प्रथम बलवती तथा गर्भ के अन्तिम काल में दुर्बल एवं मन्दगामिनी हो जाती है।

प्रत्येक प्रकार के व्यायाम एवं आयास-प्रयास और दौड़ने आदि के उपरांत नाड़ी किंचित् शीघ्रगामिनी हो जाती है। किंतु थकान एवं निद्रा के प्रारम्भिक काल में नाड़ी मंदगामिनी एवं सूक्ष्म होती है। गंभीर निद्रा में नाड़ी-अल्पविराम कालिक (मुतवातिर) हो जाती है, किन्तु उस समय जबकि पाचन पूर्ण न हुआ हो। जब पाचन पूर्ण हो जाता है तब नाड़ी स्थूल, शिथिल एवं अधिक विराम कालिक (मुतफावुत) होती है।

खरीफ और रबी की ऋतु में नाड़ी बलवती एवं स्थूल, ग्रीष्मकाल में सूक्ष्म, दुर्बल, शीघ्रगामिनी एवं अल्पविरामकालिक (मुतवातिर) होती है। शरद ऋतु में सूक्ष्म, दुर्बल एवं मंदगामिनी होती है। प्रातःकाल नाड़ी शीघ्रगामी होती है किन्तु जैसे जैसे दिन चढ़ता है मंदगामिनी होती जाती है। इसी प्रकार भोजनोपरांत नाड़ी बलवती एवं रक्तसंभृत (मुमतली) तथा क्षुधाकाल में दुर्बल एवं रिक्त हो जाती है। यदि उष्ण आहार सेवन किये जायँ तो नाड़ी शीघ्रगामी तथा शीत आहार सेवन किये जांय तो मंदगामी हो जाती है। उद्वेग, क्रोध

एवं हर्षोल्लास की अवस्था में नाड़ी शीघ्रगामी एवं स्थूल हो जाती है, किन्तु भय एवं निराश काल में नाड़ी मंदगामी एवं दुर्बल लेटे हुये होने की अपेक्षया बैठे हुये और बैठे हुये होने की अपेक्षया खड़े होने की दशा में नाड़ी शीघ्रगामी हो जाती है। सुतरां नाड़ी की चाल प्रति मिनिट लगभग आठ वार अधिक हो जाती है।

संमिश्र नाड़ी (मुरक्कब नब्ज) भेद (नाड़ी की मिली हुई प्रकारें)—कतिपय विशिष्ट प्रकार की नाड़ियों को विशेष संज्ञाओं द्वारा अभिधानित किया गया है। इनको 'नब्ज मुरक्कब' (संमिश्र नाड़ी) कहते हैं।

संमिश्र नाड़ी (नब्ज मुरक्कब) के विविध भेदों का उल्लेख नीचे किया जाता है—

नब्ज मिन्शारी (आरावत् नाड़ी)—अरबी में मिन्शार का अर्थ आरा है। इस प्रकार की नाड़ी की गतियां आरे के समान होती हैं, अतएव इसको उक्त नाम से अभिधानित किया गया है। यह द्रुतगामी, अल्प विराम कालिक (मुतवातिर), कठिन और मुख्तलिफुल् अजूजाइ होती है अर्थात् इसके कुछ अवयव उन्नत होते हैं, कुछ नत, कुछ प्रथम गति करते हैं, कुछ तदनन्तर, कुछ कठिन होते हैं, कुछ मृदु। इस प्रकार की नाड़ी बहुधा उस समय प्रगट होती है जब रोग जनक दोष का पाक पूर्णतया न हुआ हो अथवा अवयव में विकार उत्पन्न हो गया हो।

नब्ज मौजी (तरंगित नाड़ी)—उस नाड़ी को कहते हैं जिससे मौज या लहर (तरंग) के समान गति होती है। यह वस्तुतः मिन्शारी ही के सदृश होती है परन्तु इस प्रकार में धमनी में मृदुता होती है, अतएव गति पूर्णतया कठोर नहीं होती। अङ्गरेजी में इसको वॉटर हैमर पल्स (Water-hammer pulse) कहते हैं। इस प्रकार की नाड़ी उस समय होती है जब रोगजनक दोष प्रभूत प्रमाण में हों, किंतु रोगी की शक्ति क्षीण हो गई हो।

नब्ज दूदी (कृमिवत् नाड़ी; दूद=कृमि)—इसकी गति कृमि के समान होती है। इस प्रकार की नाड़ी तरङ्गित (मौजी) नाड़ी से सादृश्य रखती है, किन्तु माप में सूक्ष्म, मन्दगामी एवं अल्पविरामकालिक (मुतवातिर) हुआ करती है।

नब्ज नम्ली (नमल-चींटी)—इसकी गति अत्यन्त निर्बल एवं चींटी के समान होती है। यह दूदी (कृमिवत् नाड़ी) के समान होती है, किन्तु उससे अधिक सूक्ष्म, अल्पविराम कालिक (मुतवातिर) एवं दुर्बल होती है।

नब्ज जनबुल्फार (जनब=पुच्छ वा दुम; फार=मूषक वा चूहा—चूहे की दुम की सी नाड़ी, मूषक पुच्छाकार नाड़ी)—इस प्रकार की नाड़ी एक ओर से मोटी और दूसरी ओर से महीन होती है। यदि यह प्रथम मोटी और फिर महीन हो तो उसको 'जनब मुतराजेअ तामुरुजूअ' और उसके विपरीत यदि प्रथम महीन और पीछे मोटी हो तो उसको 'जनब मुतराजेअ नाकिसुरुजूअ' कहते हैं। यदि यह नाड़ी अपने प्रथम प्रमाण (मिकदार) पर आने में अधिक बिलम्ब लगाये तो उसे 'जनब मुतराजेअ जायदुरुजूअ' कहते हैं। यदि नब्ज जनब मुतराजेअ तामुरुजूअ एक ही हालत पर गति करती रहे तो उसको 'फारी साबित' कहते हैं और यदि यह (नब्ज जनबुल्फार) अन्ततोगत्वा अल्पकाल के लिये बिल्कुल ही प्रतीत न हो (लुप्त हो जाय) तो उसको 'जनब मुन्क़ज़ी' कहते हैं। इस प्रकार की नाड़ी रोगजनक दोष के अत्यन्त दुष्ट (रद्दी) होने तथा रोगी की शक्ति क्षीण होने को परिलक्षित करती है।

नब्ज मितरकी (मितरक=हथौड़ा)—इस प्रकार की नाड़ी हथौड़े के समान गति करती है अर्थात् जिस प्रकार हथौड़े को मुक्त हस्त वा ढीले हाथ से निहाई पर मारें तो उसके एक आघात के उपरांत स्वयमेव दूसरा आघात भी निहाई पर जा पड़ता

है, उसी प्रकार इस प्रकार की नाड़ी में भी प्रथम आघात के उपरांत नाड़ी के पूर्ण आकुंचन से पूर्व एक और सूक्ष्म सी ठोकर की प्रतीति होती है। अतएव इसको कभी कभी 'नब्ज जुल् कर्अतैन' भी कहते हैं।

नब्ज गुल्फितरत (फितरा=ठहरना)—इस प्रकार की नाड़ी चलते चलते थोड़ी देर के लिये रुक जाती है। ऐसी नाड़ी हृदय की दुर्बलता या भारी काम वा चिन्ता की सूचक होती है।

नब्ज वाके फिल्वस्त—इस प्रकार की नाड़ी में विलयावस्था अर्थात् विराम (सुकून) के समय भी गति प्रतीति होती है।

विभिन्न रोगों में नाड़ी की गति

विभिन्न रोगों में नाड़ी के भीतर भी विभिन्न प्रकार के परिवर्तन प्रगट हो जाते हैं। नीचे उनका विवरण दिया जाता है—

शोथ (सूजन) गत नाड़ी—उष्ण रक्तज शोथ (फल्गमूवी) में नाड़ी कठिन, सूक्ष्म, स्वल्पस्थायी (मुतवातिर) और शीघ्रगामी होती है तथा उसमें किंचित् आरावत् गति भी पाई जाती है। परन्तु शोथारंभ में नाड़ी स्थूल, बलवती, शीघ्रगामिनी, स्वल्प-काल स्थायी तथा अधिक कठोर होती है तथा उसमें आरावत् गति भी अत्यल्प वा बिलकुल नहीं पाई जाती। शोथ पुराना होने पर नाड़ी आरावत् और दुर्बल हो जाती है। यदि उष्ण शोथ सौदावी कठिन शोथ में परिणत हो जाय तो नाड़ी अधिक कठिन एवं क्षीण हो जाती है। पर यदि शोथ विलीनोन्मुख हो तो नाड़ी क्रमशः अपनी स्वाभाविक दशा पर आ जाती है। यदि उष्ण शोथ किसी मांसल अवयव में हो तो नाड़ी अति सूक्ष्म, कठिन और आरावत् नहीं होती। पर यदि शोथ किसी नाड़ी बहुल (असबी) अवयव में हो तो नाड़ी अधिक आरावत्, सूक्ष्म एवं कठिन होती है तथा उसमें एक प्रकार का कम्पन भी पाया जाता है। यदि शोथ किसी ऐसे अवयव में हो जिसमें सिराओं का बाहुल्य हो तो नाड़ी में कठिनता अल्प और मृदुता अधिक पाई जाती है जिससे नाड़ी किंचित् स्थूल हो जाती है तथा उसकी आरावत् गति भी कम हो जाती है। यदि उष्ण शोथ किसी धमनी-बहुल अवयव में हो तो नाड़ी स्थूल एवं अनियंत्रित विषम (नब्ज मुख्तलिफ गैर मुन्तजम) हो जाती है।

पित्तज उष्ण शोथ (हुमूरः-विसर्प) में नाड़ी अत्यधिक शीघ्रगामिनी या अल्पस्थायी (मुतवातिर) होती है तथा उसमें काठिन्य एवं आरावत् गति भी अधिक पाई जाती है।

कफज शीतल शोथ में नाड़ी मंदगामिनी, सूक्ष्म, अधिक स्थायी (मुतफावुत) होती है किन्तु काठिन्य एवं गतिभिन्नता अधिक नहीं होती।

सौदावी शीतल शोथ में नाड़ी क्षीण, कठिन, स्वभाव से अधिक ठहरने वाली (मुतफावुत) होती है तथा उसमें आरावत् गति का बाहुल्य होता है।

वात एवं शिरो-रोगों (मस्तिष्क एवं वातसंस्थान के रोगों) की नाड़ी—सरसाम (सन्निपात भेद) और बरसाम (महाप्राचीरा पेशीशोथ) में नाड़ी कठिन, प्रकृतकाल से कम ठहरने वाली (मुतवातिर), बलवती और अनियंत्रित होती है। नाड़ी के ऊपर हाथ रखने से ऐसा प्रतीत होता है कि वह अपने स्थान से हटकर दूसरे स्थान में चली जायगी। यदि रोगजनक दोष पित्तभूत हो तो नाड़ी में कम्पन पाया जाता है। यदि कफभूत हो तो नाड़ी में काठिन्य कम होता है। प्रायः शिरःशूल के भेदों में नाड़ी साधारणतः मृदु, शीघ्रगामी और दुर्बल हुआ करती है।

विस्मृति एवं सन्यास (सुबात) रोग पीडितों की नाड़ी स्थूल, दुर्बल, मृदु, मन्दगामी, प्रकृत से अधिक काल ठहरने वाली (मुतफावुत), विषम और तरङ्गवत् (मौजी) होती है। यदा कदा ऐसे रोगियों में हथौड़े के प्रकार की नाड़ी (मितरकी) भी पाई जाती है। स्तम्भ रोग पीड़ित रोगियों की नाड़ी भी

इसी प्रकार की होती है, पर अधिक बलवती एवं कठिन होती है और स्पर्श करने से उष्ण प्रतीत होती है।

अपस्मार एवं संन्यास (सकृता) के आरम्भ में नाड़ी तनी हुई होती है। किन्तु रोग की तीव्रता में सूक्ष्म, दुर्बल, मन्दगामी, प्रकृत से अधिक काल ठहरने वाली (मुतफावुत) और कठिन हो जाती है। तदनन्तर अल्पस्थायी (मुतवातिर) तथा अन्त में रुधिरपूर्ण और फिर अत्यन्त दुर्बल चींटी के समान (नमली) हो जाती है।

जल-मस्तिष्क तथा मस्तिष्क के ऊपर किसी प्रकार का दबाव पड़ने से नाड़ी प्रकृत से अधिक काल ठहरने वाली (मुतफावुत), रुधिर पूर्ण एवं कठिन होती है।

वात विकृति (सूएमिजाज असबी) तथा अपतन्त्रक में नाड़ी द्रुतगामिनी, प्रकृत से अधिक काल ठहरने वाली (मुतफावुत) तथा अनियंत्रित विषय (मुख्तलिफ गैर मुन्तजम) होती है।

आक्षेप में तीव्र आकुंचन के कारण नाड़ी में कम्पन पाया जाता है तथा नाड़ी स्थूल, बलवती और आरावत् नाड़ी के सदृश होती है।

अंगघात एवं पक्षवध में नाड़ी सूक्ष्म, दुर्बल एवं कठिन होती है, किन्तु रोग की तीव्रता में वह मन्दगामी तथा प्रकृत से अधिक समय ठहरने वाली और अन्ततोगत्वा स्वल्पकाल स्थायिनी (मुतवातिर) हो जाती है।

श्वासोच्छ्वाससंस्थानगत रोगनाड़ी

रोहिणी (जुबहा) अथवा उष्ण स्वरयन्त्र शोथ में नाड़ी तनी हुई, कठिन, सूक्ष्म, अल्पकाल स्थायी (मुतवातिर) और आरावत् (मिन्शारी) होती है विशेषकर जब शोथ स्वरयन्त्र के वातावयव (आज़ाए असबी) में हो। यदि शोथ कण्ठ और स्वरयन्त्र के मांसल भाग में हो तो नाड़ी स्थूल और तरङ्गवत् (मौजी) होती है। यदि उक्त रोग में नाड़ी मृदु हो जाय तथा उसकी तरङ्गवत् गति में भी वृद्धि हो जाय तो यह इस बात की सूचक है कि रोगी फुफ्फुस शोथ से आक्रान्त हो जायगा। यदि नाड़ी में काठिन्य, तरङ्गवतगति और तनाव की वृद्धि होजाय तो आक्षेपोत्पत्ति का भय हुआ करता है। यदि नाड़ी सूक्ष्म एवं प्रकृत से अधिक काल स्थायी (मुतफावुत) होकर चींटी के गति के समान (नमली) हो जाय तो रोगी की मृत्यु की आशंका हुआ करती है।

दुःसाध्य तमक श्वास (इन्तेलावुन्नफस–*Orthopnea*) में नाड़ी साधारणतः अनियंत्रित विषम (मुख्तलिफ गैर मुन्तजम) प्रकार की होती है। पर कभी कभी सूक्ष्म एवं दुर्बल अथवा तद्विपरीत स्थूल, बलवती, एवं अल्पकालस्थायी व अधिककालस्थायी (मुतफावुत) भी हुआ करती है।

फुफ्फुसशोथ (जातुर्रिया) में नाड़ी स्थूल, दुर्बल, मृदु, रक्तादिपूर्ण, मन्दगामिनी, अधिक काल स्थायिनी किंचित् विषम एवं तरङ्गवत् (मौजी) हुआ करती है। कभी कभी अल्पकाल स्थायी (मुतवातिर), द्रुतगामी और हथौड़ेवत् (मितरकी) भी होजाती है विशेषकर जब फुफ्फुसशोथ के साथ तीव्र ज्वर भी हो।

पार्श्वशूल में नाड़ी कठिन, अधिक काल स्थायिनी तथा आरावत् (मिन्शारी) होती है। यदि ज्वर तीव्र हो तो नाड़ी द्रुतगामी अल्पकाल स्थायी (मुतवातिर) और स्थूल होती है। यदि नाड़ी अधिक अल्पकाल स्थायिनी (मुतवातिर) हो जाय तो रोगी के फुफ्फुस शोथ, मूर्च्छा व हृत्स्पन्दन (धड़कन) से आक्रान्त हो जाने का भय है। यदि अल्पविरामत्व (तवातुर) कम हो जाय और नाड़ी मन्दगामिनी होने लगे तो इससे रोगी के संन्यास (सुबात) एवं (सकृता) व सन्निपात भेद (सरसाम) से आक्रान्त हो जाने का भय हुआ करता है। यदि नाड़ी की तरङ्गवत्गति अत्यन्त सूक्ष्म (खफीफ) हो तो रोगी को शीघ्र आरोग्य प्राप्ति को परिलक्षित करती है। किन्तु यदि नाड़ी अत्यधिक तरङ्गितगति युक्त हो तो रोग के दैर्घ्य

को प्रगट करती है। यदि तरङ्गित गति की अधिकता के साथ उसमें दौर्बल्य भी अधिक पाया जाय तो रोगी के काल कवलित हो जाने का भय हुआ करता है।

जब फुफ्फुस शोथ व पार्श्वशूल के शोथ में पूय पड़ने लगता है अथवा वह उरःक्षत (सिल रियवी) में परिणत होने लगते हैं तब नाड़ी अनियन्त्रित विषम (मुख्तलिफ गैर मुन्तजम) हो जाती है और जब पूय का निर्माण पूर्ण हो चुकता है तब नाड़ी विस्तीर्ण, दुर्बल एवं दीर्घकालस्थायिनी (मुतफावुत) हो जाती है।

उरःक्षत में प्रारम्भ में नाड़ी सूक्ष्म, शीघ्रगामी, दुर्बल, कठिन और अल्पविरामकालीन (मुतवातिर) हुआ करती है। किन्तु तृतीयक कक्षा में पहुँचकर नाड़ी अल्पविरामकालीन होने के स्थान में दीर्घविरामकालीन (मुतफावुत) हो जाती है। यदाकदा नाड़ी जंबुल्फार (मूषिकालाङ्गूलाकार) प्रकार की होती है।

रक्त संस्थानगत रोगों की नाड़ी—रक्तपरिभ्रमणावरोध, महाधमनी विस्फार तथा कतिपय अन्यान्य हृद्रोगों में नाड़ी अनियन्त्रित विषम हुआ करती है। रक्त-संचय में नाड़ी रक्तपूर्ण एवं स्थूल हुआ करती है। तद्विपरीत रक्ताल्पता की दशा में नाड़ी रिक्त, शीघ्रगामी एवं सूक्ष्म होती है। धमनी काठिन्य की दशा में नाड़ी कठिन, मन्दगामी, सूक्ष्म और तरंगित (मौजी) प्रकार की होती है। महाधमनी के कपाटों के रोग में नाड़ी के भीतर कम्पन पाया जाता है। हृत्कपाट के रोगों में नाड़ी अनियन्त्रित विषम, दुर्बल एवं अल्पविरामयुक्त (मुतवातिर) या कभी कभी दीर्घविरामयुक्त (मुतफावुत) हुआ करती है। हृत्स्फुरण एवं हृत्स्पन्दन की दशा में नाड़ी द्रुतगामी, अनियन्त्रित और कभी कभी अल्पविरामकालीन (मुतवातिर) हुआ करती है। हृदयदौर्बल्य की दशा में विशेषकर जब हृदय की दीवाल ढीली होकर फैल गई हों तब नाड़ी कठिन, पूर्ण और अल्पविरामकालीय हो जाती है। परन्तु हृदय के वाम भाग की कमजोरी की दशा में नाड़ी दीर्घविरामकालीय (मुतफावुत) हुआ करती है। मूर्च्छा एवं हृद्गत्यवरोध की दशा में नाड़ी प्रथम बिल्कुल प्रतीत नहीं होती, किन्तु थोड़ी देर पश्चात् कृमिवत् नाड़ी की प्रतीति होती है।

पचनसंस्थानगत रोगों की नाड़ी—आमाशय शोथ में नाड़ी साधारणतया सूक्ष्म एवं दुर्बल हुआ करती है। पर यदि शोथ उष्ण हो तो नाड़ी अल्पविरामकालीय (मुतवातिर), कठिन, तनी हुई और तरंगवत् (मिन्शारी) हो जाती है। तथा शोथ के अन्त में दुर्बल, मंदगामी और दीर्घविरामकालीय (मुतफावुत) हो जाती है। यदि शीतल आमाशय शोथ हो तो नाड़ी कठिन, दुर्बल और दीर्घविरामकालीय (मुतफावुत) होती है।

आमाशय दौर्बल्य, अपचन और अजीर्ण में नाड़ी सूक्ष्म, दुर्बल, मन्दगामी और दीर्घविरामकालीय (मुतफावुत) होती है। तीक्ष्णाग्नि (जूउल्वकर) में नाड़ी अधिक दीर्घविरामकालीय (मुतफावुत), अति सूक्ष्म, अधिक दुर्बल और अनियन्त्रित होती है।

उदरावरण शोथ में नाड़ी सूक्ष्म, कठिन, स्रोतोपूर्ण (मुमतली) और अनियन्त्रित विषम होती है।

जलोदर में नाड़ी सूक्ष्म, अल्पविरामकालीय (मुतवातिर) और काठिन्याभिमुखी होती है तथा उसमें किसी भांति आकुञ्चन (तमद्दुद) भी पाया जाता है। सर्वांगशोथ में नाड़ी विस्तीर्ण, मृदु एवं तरंगवत् (मौजी) होती है। वातोदर (इस्तिस्काउ तबली) में नाड़ी द्रुतगामी, अल्पविरामकालीय (मुतवातिर), काठान्याभिमुखी और तनावयुक्त (मुतमद्दिद) होती है। कामला में नाड़ी सूक्ष्म, कठिन और अल्पविरामकालीय होती है विशेषकर जब कि उसके साथ ज्वर न हो।

विविध रोग गत नाड़ी—हर प्रकार के ज्वर में नाड़ी स्थूल, मृदु, रक्तसंभृत (मुमतली), शीघ्रगामी

—शेषांश पृष्ठ ६८ पर।

अन्त्र व गुदनलिका-परीक्षा

(Examination of the Intestines & Rectum)

लेखक—कविराज एस. एन. बोस. एल. ए. एम. एस., इन्दौर।

अन्त्रपरीक्षा में सर्वप्रथम दर्शनेन्द्रिय की सहायता लेना आवश्यक है। रोगी का अनावृत उदर स्पष्टतया दृष्टिगोचर हो सके—इस ओर ध्यान रखकर रोगी को चित्त लिटाना चाहिये। अन्त्रपरीक्षा में उदर प्राचीर का आकार प्रथम द्रष्टव्य है। स्वस्थ व्यक्ति का उदर प्राचीर सुडौल तथा आभ्यन्तर यन्त्रों की अवस्थिति के चिन्हों से रहित होता है। केवल श्वास-प्रश्वास से उसके उत्थानपतन के अलावा और कुछ विशेषतः नजर नहीं आता। अतः स्थान विशेष की उच्चनीचता ध्यान देने योग्य है और उक्त स्थान का निर्देश भी आवश्यक है।

स्वस्थ व्यक्ति में अन्त्र में उत्पन्न स्वाभाविक तरंगगति दिखाई नहीं पड़ती परन्तु अति शीर्ण रोगियों में—विशेषतः दीर्घदिन व्यापि आन्त्रिक ज्वर आदि व्याधियों में किसी किसी क्षेत्र में मामूली तरंगें दिखाई पड़ सकती हैं। अन्यान्य क्षेत्र में अन्त्र तरंग दिखाई पड़ने से आन्त्रिक रोग का संदेह होना चाहिए। साधारणतः जीर्ण अन्त्रावरोध के क्षेत्र में इस प्रकार के तरंग दिखाई पड़ते हैं। अवरोध-स्थल के ऊपर के हिस्से में अन्त्रकुण्डली उन्नत दिखाई पड़ती है। अवरोध के अवस्थानुसार उदर में एक विशिष्ट प्रकार की उभरी हुई अवस्था दिखाई पड़ सकती है—जैसे कि उण्डुक व शेषांत्र के संधिस्थल में (संदंशकपाटिका में) अवरोध के कारण प्रसारित क्षुद्रान्त्र कुण्डली उदर के मध्य भाग में, एक के ऊपर दूसरा—इस तरह से सीढ़ी जैसी उन्नतावस्था की सृष्टि करती है। वैसे ही अवरोध वृहदन्त्रकुण्डलिका में होने से उदर की उभरी हुई अवस्था साधारणतः कुक्षियों में प्रतीत होती है। कभी कभी आमाशय विस्फार के कारण तरंगगति नजर आती है—जिसे प्रसारित अनुप्रस्थ वृहदन्त्रोत्पन्न तरङ्ग गति से पृथक् करना आवश्यक है। आमाशयज तरङ्ग गति वाम दिशा से दक्षिण की ओर प्रवाहित होती है परन्तु अनुप्रस्थ-वृहदन्त्रोत्पन्न तरंग गति दक्षिण की ओर से प्रवाहित होती है। कभी कभी इस प्रकार की तरङ्ग गति से रोग निर्णय में विशेष सहायता मिलती है। तरंगगति दिखाई पड़ने से उक्त स्थान की स्पर्श द्वारा परीक्षा करनी चाहिये और हथेली के नीचे तरङ्गायत अंश सख्त हो जाता है या नहीं—इस ओर ध्यान देना चाहिये। दृष्यमान तरंगगति एक विशिष्ट चिन्ह है और इसके अवलोकनार्थ विशेष ध्यान से कुछ देर तक निरीक्षण करना चाहिये। शिशुओं के जन्मगत मुद्रिकाद्वार संकोच में दृष्यमान तरङ्गगति, कभी कभी एकमात्र चिन्ह के रूप में प्रकट होसकती है—जिसके ऊपर रोग निर्णय निर्भर रहता है।

दर्शन के बाद स्पर्श की सहायता से परीक्षा प्रारम्भ करनी चाहिये। रोगी को चित्त लेटाकर उसके दोनों जानु मोड़कर उदर प्राचीर को ढीला कर लेना चाहिये। रोगी का सिर एक मामूली ऊंचे तकिये पर रखना ही अच्छा होगा। रोगी को मुंह खोलकर कुछ लम्बी श्वास लेने के लिये कहना चाहिये और रोगी के पलंग के एक पार्श्व में बैठकर उदर प्राचीर पर धीरे धीरे स्वाभाविक उष्ण हाथ फिराना चाहिये। इससे रोगी का संकोच दूर हो जावेगा और बाद में अच्छी तरह से परीक्षा का सुयोग मिलेगा। उदर प्राचीर के ऊपर प्रथमतः ध्यान देना चाहिये। स्वस्थ उदर प्राचीर में तनाव

बिलकुल नहीं रहता और स्वस्थ उदर प्राचीर में मामूली दबाव सम्पूर्ण वेदना हीन होता है। किसी भी स्थल में काठिन्य अथवा वेदना का अनुभव अस्वाभाविक माना जाता है। अन्त्र में अर्बुद के कारण अथवा स्थूलता के कारण काठिन्य का अनुभव हो सकता है, परन्तु अर्बुद में काठिन्य साधारणतः अधिक होता है। सन्देह के क्षेत्रों में अंगुलियों को कठिन अन्श के पीछे की ओर प्रविष्ट कराकर रोगी को शय्या के ऊपर धीरे धीरे बैठने के लिये कहना चाहिये। इससे पता लग सकता है—कि नीचे का हिस्सा रोगी के उठने के साथ साथ अधिकतर कठिन प्रतीत होता है या नहीं। अर्बुद के क्षेत्र में यह अधिकतर कठिन प्रतीत होगा। वेदना अनुभूत होने से उसका स्थाननिर्देश तथा अधिकतम वेदना स्थल का निर्देश आवश्यक है।

स्वस्थावस्था में उण्डुक व तत्संलग्न बृहदन्त्रांश ही केवल स्पर्श योग्य होते हैं। अति जीर्ण शीर्ण रोगियों में तथा ढीले उदर प्राचीर वाले व्यक्तियों में बृहदन्त्र का सैहिक कोण तथा वस्ति गुहाभ्यन्तरस्थ अंश को छोड़कर बृहदन्त्र के अवशिष्ट सभी अंश स्पर्श किये जा सकते हैं। इन अवस्थाओं के अलावा बृहदन्त्र में आक्षेप, मल संचय तथा अर्बुद के क्षेत्रों में उसका स्पर्श किया जा सकता है।

अन्त्र की सभी व्याधियों में उदर प्राचीर के ऊपर से तथा गुदा मार्ग से परीक्षा करना नितान्त आवश्यक है। ऐसे रोगियों में परीक्षा करने के २४ घण्टे पहिले से किसी प्रकार के जुलाब का प्रयोग अथवा वस्तिकर्म नहीं करना चाहिये। रोगी के खाद्य ग्रहण तथा मल त्याग के समय की विभिन्नता के ऊपर बृहदन्त्र के विभिन्न स्थानों में मल संग्रह निर्भर रहता है। स्वस्थ व्यक्ति में—जिसको प्रातःकाल मल त्याग की आदत है तथा कोष्ठ शुद्धि नियमित रूप से होती है—वहां प्रत्यूषकाल में गुदनलिका सम्पूर्ण रूप से मलशून्य रहती है। उस समय वस्तिगुहाभ्यन्तरस्थ बृहदन्त्र मल ग्रन्थियों से भरा हुआ प्रतीत हो सकता है। शय्यात्याग के पश्चात् प्रतिफलित क्रिया के कारण वहां से कुछ मल गुदनलिका में उतर आता है—जिससे मलत्याग की इच्छा उत्पन्न होती है। इस समय से लेकर मल त्याग काल पर्यन्त स्वस्थ व्यक्तियों में स्वभावतः गुदनलिका मलपूर्ण रहती है। अन्य समय गुदनलिका बिलकुल मल शून्य रहती है और गुदनलिका दर्शक यन्त्र की सहायता से भी वहां मल का नामोनिशान तक नहीं मिलता है। मल त्याग काल में सैहिक कोण से लेकर बृहदन्त्र का सम्पूर्ण निम्नांश मल शून्य हो जाता है। इसके बाद प्रातः भोजन अथवा मध्याह्न भोजन के पश्चात् बृहदान्त्रिक तरङ्गगति के कारण कुछ मल बस्तिगुहाभ्यन्तर स्थित बृहदन्त्र में आसकता है। अतः प्रातकाल में कोष्ठशुद्धि के पश्चात् उण्डुक व आरोहि बृहदन्त्रांश में एक पतले मल के परत के सिवाय स्वस्थ व्यक्ति के बृहदन्त्र में अधिक कुछ नहीं रहता है। अगर २४ घण्टे पहिले Barium युक्त भोजन दिया गया हो तो उण्डुक व आरोहि-बृहदन्त्र का क्ष-किरण-चित्र अपारदर्शक प्रतीत होता है—तथा अनुप्रस्थ बृहदन्त्र के अन्तिमांश में कुछ नरम मल की उपस्थिति प्रतीत हो सकती है। प्रातः भोजन के ३-४ घण्टे पश्चात् और विशेषतः मध्याह्न भोजन के बाद शीघ्र ही उण्डुक आरोहि बृहदन्त्र में नरम मल संग्रह होने लगता है, इस समय प्रातःकाल में अनुभूत दक्षिण पार्श्वस्थ प्रतिध्वनित ताड़नध्वनि स्तब्धध्वनि में परिणत हो जाती है। सायंकाल में भोजन के पश्चात् तरङ्गगति के कारण वह मल वस्तिगुहाभ्यन्तर स्थित बृहदन्त्र कुण्डलिका में आजाता है। इस तरह से भोजन के पश्चात् विभिन्न समय में बृहदन्त्र का विभिन्न अंश मलपूर्ण होता रहता है। अवश्य विभिन्न व्यक्ति में इस प्रक्रिया में विभिन्नता मिलती है—परन्तु साधारणतः यही अवस्था स्वस्थ व्यक्तियों में सर्वत्र दिखाई पड़ती है—अतः अन्त्र परीक्षा के वर्णन प्रसङ्ग में इस अवस्था का वर्णन किया गया है—जिससे रोग निर्णय में भ्रमोत्पत्ति न हो सके। उदाहरणार्थ यहां

कहा जा सकता है कि अपराह्न में उण्डुक व आरोही वृहदन्त्र में मलसंग्रह दिखाई पड़ने से वहां मलावरोध का निर्णय सम्पूर्ण रूपेण भ्रमात्मक कहा जा सकता है।

गुदनलिका मलपूर्ण रहते हुए भी अगर रोगी को मलत्याग की इच्छा न रहे तो गुदनलिका में शैथिल्य ही प्रधान कारण है। वृहदन्त्र कुण्डलिका में अथवा अवरोहि वृहदन्त्र में कोमल मल रहने से वह मल सरलता से गुदनलिका में उतर आना चाहिए—परन्तु कठिन मल में ग्रन्थियों की सृष्टि होने से ऐसा न भी हो सकता है। परीक्षा काल में गुदनलिका मलशून्य मिलने से गुदमार्ग से अंगुलि प्रवेश के द्वारा वृहदतन्त्रकुण्डलिका में मलसंचय का पता लग सकता है। गुदनलिका परीक्षा काल में इस ओर ध्यान देना भी आवश्यक है।

अन्ननली में शिथिलता है या नहीं—तथा रोगी वस्तुतः कोष्ठबद्धता से पीड़ित है या नहीं—इसका पता लगाने के लिये रोगी को मलत्याग के ८ घण्टे बाद भोजन के साथ कुछ लकड़ी के कोयलों का चूर्ण (१ तोला अन्दाज) खिलाकर देखना चाहिए-कितने देर में कोयला मिश्रित मल निकलता है। एतदर्थ रोगी को सुबह ८ बजे अगर उसने मल त्याग किया हो तो शामको ४ बजे कोयला चूर्ण दिया जाना चाहिए। अगर दूसरे दिन सुबह ८ बजे तक कोयला मिश्रित मल नहीं निकलता हो तो रोगी कोष्ठबद्धता से पीड़ित है तथा अन्त्र में शिथिलता विद्यमान है—यह राय दी जा सकती है, परन्तु इस परीक्षा से अन्त्र के कौन से अंश में शिथिलता व मलसंग्रह हो रहा है—इसका पता नहीं लग सकता है।

शिथिलता व उसके स्थाननिर्देश के लिये वेरियम (Barium) संयुक्त भोजन देकर कई वार क्ष-किरण की सहायता से चित्र ग्रहण ही सर्वश्रेष्ठ उपाय है। एतदर्थ रोगी को उसके पहिले दिन शाम को वस्ति प्रयोग के द्वारा मलावरोध दूर कर देना चाहिए और उसके कम से कम २ दिन पहिले से जुलाब की दवा

:: पृष्ठ ६५ शेषांश ::

और कभी कभी अल्पविरामयुक्त होती है विशेषकर रक्त एवं प्रदाहयुक्त ज्वरों में दुर्गन्धित और रक्त संचय जन्य ज्वरों में नाड़ी अधिक रक्तसंभृत होती है।

किलास व श्वित्र में नाड़ी विस्तीर्ण, मृदु एवं मन्दगामिनी और तीव्र आमवात में रक्तसंभृत, अल्प विराम युक्त, मृदु और उन्नत (मुशर्रिफ) होती है।

हृद्द्रव, हृदयावरण शोथ, चिरज हृदयगुहावरण शोथ, हृत्कपाटगतरोग, अनिद्रा, ज्वर, प्रारम्भिक उरःक्षत तथा अन्यान्य संक्रामक एवं प्रकोपजन्य रोग, प्राणदा नाड़ी (असव राजेश्र) पर दबाव डालने वाले अर्बुदों, स्त्रियों में गर्भाशय एवं डिम्वाशय के रोग, अपतन्त्रक रजोरोध और तमाकू, मद्य, लुफाह, चाय और कहवा आदि के अतियोग की दशा में नाड़ी सदैव द्रुतगामिनी हुआ करती है। चिरकारी अजीर्ण और प्रायः संक्रामक रोगों में, कतिपय मस्तिष्क रोगों, जैसे मस्तिष्कार्बुद, मद (मालीखोलिया), चेहरे को छोड़कर शेष सभी अङ्गों के घात (फालिज आम) और अपस्मार आदि में, सुषुम्नाकांड के ऊपरी भाग के रोगों और उसके आघात प्रतिघात में, कतिपय विषमयता कारक रोगों में, जैसे—मधुमेह, कामला और मूत्रविषमयता आदि में तथा डाक्टरी औषधियों, जैसे डिजिटेलिस स्ट्रोफैन्थस आदि तथा यूनानी औषधियां पारद शिंगरफ और हड़ताल आदि के अति सेवन से नाड़ी अवश्यमेव मन्दगामिनी हो जाया करती है।

सिरागत स्पंदन नाड़ी

साधारणतया सिराओं के भीतर किसी प्रकार की नाड़ी (नब्ज) प्रतीत नहीं होती। पर कभी कभी हृदय के अलिन्दों व हृत्कपाटों के रोगों के कारण जब रक्त बलपूर्वक सिराओं में वापस लौट जाता है तब महासिरा (अजौफ) एवं तत्समीपवर्ती सिराओं में एक प्रकार का स्पन्दन प्रतीत होता है जिसको 'वरीदी नब्ज' (शिरांगत नाड़ी) कह सकते हैं।

न लें—इस ओर ध्यान रखना चाहिए, नहीं तो निर्णय में संशयोत्पत्ति स्वाभाविक है। परन्तु रोगी को स्वाभाविक मलत्याग के लिये उत्साहित अवश्य करना चाहिए। स्वस्थावस्था में भुक्त बेरियम को सन्दंशक पाटिका तक पहुँचने में भोजनोपरान्त आधा से ५ घण्टे तक लग सकता है तथा अनुप्रस्थ वृहदन्त्र में प्रवेशारम्भ के पश्चात् ४ से २५ घण्टे तक लग सकता है। कई बार क्ष-किरण की सहायता से चित्र ग्रहण करने से बेरियम की स्थिति के सम्बन्ध में निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

उपरोक्त पद्धति से अनुप्रस्थ वृहदन्त्र तक का पता आसानी से लगता है, परन्तु अवरोही वृहदन्त्र व वृहदन्त्र कुण्डलिका की परीक्षा के लिये बेरियम मिश्रित वस्तिप्रयोग सरल व आशुफलदायी होता है। इससे उन अंशों में शिथिलता अथवा संकोच का पता आसानी से लग सकता है। एतदर्थ रोगी को चित्त लिटाकर २/३ फीट ऊँचाई से बेरियम सल्फेट का घोल गुदनलिका में नली द्वारा प्रवेश कराया जाता है। स्वाभाविक क्षेत्र में यह घोल २ से ५ मिनिट के अन्दर उण्डुक तक पहुँच जाता है। क्ष-किरण की सहायता से उस घोल के प्रवेश का चित्र लिया जा सकता है। अगर कहीं अवरोध या संकोच रहे तो उसका पता घोल की अग्रगति में रुकावट से लग सकता है। ऐसे रुकावट के क्षेत्र में १० मिनिट तक अपेक्षा करने के पश्चात् आंशिक अथवा सम्पूर्ण अवरोध का निर्णय हो सकता है। अर्बुद के क्षेत्र में भी ऐसा अवरोध हो सकता है, परन्तु अर्बुद के लक्षण प्रकट होने के पहिले भी तत्सन्निकट वर्ती स्थानों में आक्षेप उत्पन्न होने के कारण बेरियम वस्ति से अर्बुदोत्पत्ति का संदेह हो सकता है। गुदनलिका के निम्नांश में अर्बुदोत्पत्ति के क्षेत्र में इस प्रकार का अवरोध चित्र में प्रतिफलित नहीं हो सकता।

आन्त्र की अवस्था जानने के लिये मल की परीक्षा विशेष प्रयोजनीय है। कठिन मल के साथ कफ की उत्पत्ति स्वाभाविक भी हो सकती है परन्तु नरम मल के साथ कफ की उपस्थिति अगर जुलाव के बिना दिखाई पड़े अथवा कफ में रक्त अथवा पूय मिश्रित हो तब आन्त्रिक अवयवगत व्याधि का संदेह होना चाहिये। मल में रक्त की उपस्थिति अर्श के कारण अथवा गुदनलिका में क्षुद्रार्बुद (Poypus) के कारण हो सकती है। रक्त का रङ्ग जितना लाल होगा—रक्त का उद्गम स्थल उतना ही अन्त्र-निम्नांश में है—यह समझ लेना चाहिये। मल में पूय की उपस्थिति प्रधानतः वृहदन्त्र कुण्डलिका अथवा गुदनलिका आक्रांत होने का द्योतक है। मल में रक्त गुप्तरूप में भी वर्तमान रह सकता है। इस परिस्थिति में मल का रङ्ग रक्त की मात्रा के स्वल्पाधिक्य के कारण अम्बर के रङ्ग का होता है। विशेषतः रक्तस्राव आमाशय व ग्रहणी वृहदन्त्र आदि में स्थित क्षत में से होने से उसका रङ्ग काला सा ही होता है। अन्त्र में रासायनिक परिवर्तन के कारण ही यह सम्भव होता है। गुप्तरक्त परीक्षा की रासायनिक विधि से इसका पता सरलता से लग सकता है। अर्श अथवा गुदनलिका में क्षुद्रार्बुद की तथा नाक, मुंह अथवा गले से रक्तस्राव की अनुपस्थिति में मल में गुप्तरक्त की प्राप्ति अन्त्र में क्षत अथवा अर्बुद की उपस्थिति का ही द्योतक माना जाता है।

गुदनलिका दर्शक व कुण्डलिका दर्शक यन्त्रों की सहायता से परीक्षा (Proctoscopic & Sigmoidoscopic Examination) ये दोनों यन्त्र क्रमशः गुदनलिका व वृहदन्त्र कुण्डलिका की आभ्यन्तरिक अवस्था के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये उपयोग में आते हैं। वस्तिगुहाभ्यन्तरस्थ वृहदन्त्र अथवा गुदनलिका के अवयव में किसी प्रकार की व्याधि का सन्देह होने से गुदनलिका-दर्शक एवं आवश्यक होने से कुण्डलिका दर्शक यन्त्र की सहायता से परीक्षा की जानी चाहिये।

अवश्य इसके पहिले अंगुलि-प्रवेश के द्वारा साधारण परीक्षा की जानी चाहिये।

अंगुल परीक्षा की विधि (Digital Examination)—रोगी को उत्तम आलोकयुक्त स्थान में बांये करवट में पलंग पर लेटा देना चाहिये। दक्षिण ऊरू व जानु ऊपर की ओर मोड़कर एक तकिये पर रखना चाहिये। परीक्षक बांये हाथ से नितम्ब-पिण्डिका पेशियों को अलगकर प्रथमतः मलद्वार की परीक्षा करें—जिससे वहां अगर कुछ व्रण अथवा वाह्य अर्श हो तो उसका पता लग सके। उसके बाद दक्षिण तर्जनी में रबर का दस्ताना पहिन कर उसे वेसलिन से भलीभांति पोतलें। अगर रबर का दस्ताना उपलब्ध न हो तो नाखुन अच्छी तरह से काटकर उसमें साबुन भरलें। फिर अंगुलि में वेसलिन भलीभांति पोतकर धीरे धीरे तथा आसानी से मलमार्ग में उसे प्रथमतः थोड़ासा सामने की ओर से प्रवेश करादें। मलद्वार से प्रवेश कराते समय गुद संकोचिनी पेशी से प्राप्त बाधा के सम्बन्ध में अनुभव लेना चाहिये जिससे उसकी स्वाभाविकता, आक्षेपयुक्तता अथवा शिथिलता के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त हो सके।

गुदमार्ग में पहुँचने के पश्चात् अंगुलि को थोड़ा सा पीछे और ऊपर की ओर प्रवेश कराना चाहिये और साथ ही साथ रोगी को थोड़ा बहुत कुन्थन के लिये कहना चाहिये। इसी अवसर पर गुदनलिकाभ्यन्तर का सम्पूर्ण अंश अच्छी तरह से टटोल लेना चाहिये। पुरुषों में पौरुषग्रंथि गुदनलिकाभ्यन्तर में प्रविष्ट हुई सरीखी प्रतीत होगी—उसके ऊपर मूत्राशय तथा नीचे कोमल मूत्रमार्ग का अनुभव होगा। स्त्रियों में जरायुग्रीवा एक गोलाकार शोथ के रूप में गुदनलिकाभ्यन्तर से अनुभूत होता है। परीक्षाकाल में गुदनलिकाभ्यन्तर में क्षुद्रार्बुद, व्रण, क्षत अथवा घातकार्बुद की उपस्थिति के लिये ध्यान देना आवश्यक है। अर्शांकुरों की उपस्थिति अंगुलि से जब तक उनमें रक्तस्कन्दन न हो तब तक अनुभूत नहीं होती है। मलग्रन्थि वाह्यवस्तु अथवा विवृद्ध लसीका ग्रन्थि का पता अंगुलि से लग सकता है। स्त्रियों में अगर वस्ति-गर्भाशयान्तरीय स्थालीपुट में व्रणशोथ अथवा घातकार्बुद उत्पन्न हुआ हो तो गुदनलिका प्राचीर के भीतर से एक शोथ की उपस्थिति अनुभूत हो सकती है। परीक्षा समाप्त होने पर अंगुलि बाहर निकाल लेने के पश्चात् अंगुलि में अथवा रबर के दस्ताने में रक्त, कफ अथवा गुप्तरक्तसमन्वित मल के लिये परीक्षा कराना चाहिये।

जहां अंगुलि परीक्षा के द्वारा सफलता नहीं मिलती एवं मलद्वार, मल-मार्ग व गुदनलिका के निम्नांश में ३-४ इंच के अन्दर अस्वाभाविकता का सन्देह होता है—वहां गुदनलिका-दर्शक यन्त्र की सहायता से परीक्षा करनी चाहिये। एतदर्थ रोगी को संकुचित जानु के ऊपर औंधा करके जानु व वक्षःप्रदेश के सहारे शय्या पर रखना चाहिये। मलद्वार के ऊपर अच्छी तरह से रोशनी पड़े इस ओर ध्यान रखकर रोगी को अवस्थित रखना चाहिये—नहीं तो कपाल में से बत्ती की रोशनी प्रतिफलित करने की व्यवस्था (Head lamp) रखनी चाहिये, 'टार्च लाईट' की सहायता भी ली जा सकती है। गुदनलिकाभ्यन्तर भलीभांति दृष्टिगोचर होना चाहिये—यही प्रधान उद्देश्य है। गुदनलिकादर्शक यन्त्र को उबालकर पहिले ही विशोधित कर लेना चाहिये। परीक्षा काल में उस यन्त्र को मामूली उष्ण करके उसमें 'वेसलिन' लगाकर पिच्छिल बना लेना चाहिये। मलद्वार में थोड़ासा वेसलीन लगाकर परीक्षक धीरे धीरे सावरोधक गुदनलिका दर्शक यन्त्र को मलमार्ग में प्रवेश करादें। रोगी को इस समय मुंह खोलकर श्वास लेने के लिये कहना चाहिये। यन्त्र को सम्पूर्णतया प्रवेश कराने के पश्चात् अवरोधक को निकाल लें और धीरे धीरे यन्त्र को बाहर निकाल लेते समय गुदनलिकाभ्यन्तर में श्लैष्मिक कला का निरीक्षण करें। इस तरह से गुदनलिका अथवा मलमार्गाभ्यन्तर में अर्श, व्रण अथवा क्षत, रक्तोद्गम स्थल, रक्ताधिक्य, व्रण शोथ अथवा अर्बुदादि की उपस्थिति का पता लग सकता है। साधारणतः गुद-

नलिका यन्त्र प्रयोग के पहिले जुलाब अथवा वस्ति-प्रयोग की आवश्यकता नहीं पड़ती है, परन्तु अगर गुदनलिका मलपूर्ण दिखाई पड़े तो केवल कुनकुने पानी से वस्तिप्रयोग कर ३-४ घण्टे के बाद फिर से परीक्षा करनी चाहिये। वृहदान्त्रिक क्षतज प्रदाह में गुदनलिका दर्शक यन्त्र की सहायता से विशेष आवश्यक सूचना मिल सकती है, क्योंकि इस व्याधि में गुदनलिका प्रारम्भ में ही आक्रान्त होती है और रोगनिरामय काल में सबके अन्त में ही गुदनलिका स्थित क्षतों का रोपण होता है।

गुदनलिका दर्शक यन्त्र की सहायता से गुद-नलिका के निम्नांश में केवल ४ इंच तक स्थान दिखाई पड़ता है, परन्तु गुदनलिका के उत्तरांश में अथवा वृहदन्त्र कुण्डलिका में व्याधि का सन्देह होने से कुण्डलिकादर्शक यन्त्र की सहायता लेनी चाहिए। गुदनलिका-दर्शक यन्त्र का प्रयोग सरल तथा साधारणतः निरापद होता है, परन्तु कुण्डलिका दर्शकयन्त्र के प्रयोग में कुछ विशेष निपुणता की आव-श्यकता रहती है। कुण्डलिकादर्शक यन्त्र एक १४ इंच लम्बी नलिका है—जिसमें एक अवरोधक सम्मि-लित रहता है। इसकी गोलाई करीब करीब १ ½ इंच व्यास की होती है—और इसमें नापबोधक चिह्न अंकित रहते हैं—ताकि प्रवेशकाल में यह पता लग सके कि कितनी दूर तक इसे प्रवेश कराया गया है। इसके साथ वायु प्रवेश कराने की तथा रोशनी की व्यवस्था भी रहती है। इस यन्त्र के प्रयोग के पहिले रोगी को मामुली जुलाब देकर अथवा वस्तिप्रयोग के द्वारा उक्त अंश को साफ कर लेना चाहिये। इस यन्त्र के प्रयोग के लिये भी रोगी को पूर्वोक्त अव-स्था में रखना ही उत्तम होगा, क्योंकि उक्त प्रकार के कारण उदराभ्यन्तर के यन्त्र महाप्राचीरा के तरफ झुक जाते हैं और यन्त्र प्रयोग काल में मलद्वार से वायु प्रविष्ट होकर गुदनलिका को विस्फारित कर देता है। वृद्ध अथवा अक्षम रोगियों को वाम करवट में पूर्वोक्त अवस्था में शायित रखा जा सकता है—परन्तु उस क्षेत्र में सहायक वायुप्रवेश कराने वाले पम्प की सहायता से गुदनलिकाभ्यन्तर वायु प्रविष्ट कराकर उसे विस्फारित कर लेना चाहिए, जिससे आसानी से यन्त्र अन्दर प्रविष्ट कराया जा सके और गुदनलिका तथा कुण्डलिका में यन्त्र के द्वारा आघात प्राप्ति की सम्भावना कम हो जाय। पूर्वोक्त उपाय में अन्दर आलोकित करने की व्यवस्था भी करनी चाहिये।

अब विशोधित सावरोधक कुण्डलिका दर्शक यन्त्र को मामूली—उष्णावस्था में वेसलिन लिप्त कर मल द्वार से प्रविष्ट करना चाहिए। मलमार्ग में प्रवेश के पश्चात् ही अवरोधक को निकाल लेना चाहिये और धीरे धीरे सावधानी से यन्त्र को अन्दर प्रविष्ट कराते जाना चाहिये। रोगी मुंह खोलकर श्वास लेता रहे और किसी प्रकार के आतंक से ग्रसित न हो इस ओर ध्यान रखना चाहिए। साथ ही साथ वायु प्रवेश कराते रहने से यन्त्र प्रवेश सरलता से सम्पन्न हो सकता है। यन्त्र गुदनलिका व कुण्डलिका के संयोग स्थान में पहुँचने पर मामूली वाधा अनु-भूत हो सकती है—परन्तु निपुणता के साथ मामूली प्रचेष्टा से यह बाधा दूर होसकती है—और धीरे-धीरे सावधानी के साथ यन्त्र को अन्दर प्रवेश कराया जा सकता है। इस समय यन्त्र की मुठिया को दाहिने और पीछे की ओर दबाना चाहिए—जिससे यन्त्र का उत्तर भाग सामने व बायीं ओर त्रिकास्थि के उत्सेध के आस पास से कुण्डलिका के अन्दर प्रविष्ट होता जाय। इस तरह से आवश्यक दूरत्व पर इस यन्त्र को प्रविष्ट कराकर रोशनी की सहायता से अन्दर की परिस्थिति का निरीक्षण किया जा सकता है। आवश्यक क्षेत्र में से इस समय परीक्षा के लिये स्राव अथवा खुर-चन का भी संग्रह किया जा सकता है। परन्तु इस कार्य के लिये यन्त्र में तैलाक्त पदार्थ के बदले गोंद सरीखा लसदार पदार्थ लगा लेना चाहिए।

—शेषांश पृष्ट १०४ पर।

हृदय-गति-चित्रण

लेखक—डा० पद्मदेव नारायणसिंह, M. B., B. S.।

वैद्युतिक-हृद्-लेख-यन्त्र (*Electrocardiograph*) वह यन्त्र है जिसके द्वारा हृद्-संकोच द्वारा उत्पन्न सूक्ष्म वैद्युतिक प्रवाह या धारा का आलेखन होता है। इसके द्वारा किये गये आलेख को हृद्-विद्युत-चित्र या हृदयगति चित्रण (*Electrocardiograph*) या वैद्युतिक हृद्-लेख (*Electrocardiogram*) तथा आलेखन विधि को "वैद्युतिक-हृद्-चित्रण" (*Electrocardiography*) कहते हैं।

इस यन्त्र के द्वारा अलिन्दद्वय तथा निलय द्वय की गतियों का आलेखन, उनकी सांकुचिक काल-सम्बन्ध (*Time Reletion of their Contraction*) का अध्ययन तथा अलिन्द निलयिक तन्तु गुच्छ (*Auriculoventricular Bundle*) इनकी शाखाओं तथा निकटस्थ तन्तुओं के संवाहित्व या प्रवहण शक्ति (*Function of* Conductivity) का मापन सम्भव होता है। इसके अतिरिक्त प्रेरणा या उत्तेजना के उपद्रव स्थल (*The point of origin of impulse formation*) तथा आवेग वहनपथ का भी निर्देश करता है। वैद्युतिक-हृद्-लेख का स्वरूप एवं विस्तार प्रेरणा के उद्भव-स्थल, उत्तेजना-वहनपथ तथा उसकी प्रवहणविधि आदि कारणों पर निर्भर करता है, इनमें किसी एक या अधिक कारक-तत्वों (*Factors*) में परिवर्तन या विकार उत्पन्न होने से वैद्युतिक-हृद्-लेख के स्वरूप में विशद परिवर्तन हो जाता है। इस यन्त्र द्वारा हार्दिक क्रिया की प्रायः सभी विषमताओं का निश्चयरूप से पता लग सकता है।

उत्तेजन तरङ्ग (Excitation wave) के सामान्य वहन पथ में व्यतिकार या अवरोध उत्पन्न करने वाले हृत्पेशी के विभिन्न रोग तथा विकार, जिनके अनुसन्धान निमित्त यह सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित हुआ है, इस आलेख को निलय-अंश (Ventricular complex) को अत्यधिक परिवर्तित कर देते हैं।

हृद्-धमनी के रोग (Coronary disease) हार्दिक अन्तः स्फान (Cardiac infarction), हृदय के कुछ जन्मजात विकार जैसे हार्दिक-विपर्य्यय (Transposition of heart) तथा हृद्-कपाटों के जीर्ण रोग आदि के निदान के निमित्त यह एक अत्युपयोगी प्रसाधन है।

हृदय-गति चित्र के समुचित विवेचन एवं मनन के निमित्त हृदय के संकोच—विकास काल में होने वाली प्रत्येक वैद्युतिक तथा अन्य परिवर्तनों एवं प्राकृत प्रेरणा संवाहक-पथ तथा वहन का सही ज्ञान अत्यावश्यक होता है। हार्दिक-उत्तेजनोत्पत्ति तथा प्रवहण से सम्बन्धित विशिष्ट तन्तु निम्न लिखित हैं:—

(१) कोटरालिन्द पर्व [या ग्रन्थिका (Sino-auricular node) जिसे गतिकारक (Pacemaker) भी कहते हैं, और जो ऊर्ध्व तथा अधोसिरा (Superior and inferior vena cava) के मध्य अवस्थित होता है तथा जिसके साथ वहिस्थ-स्नायु (Extrinsic nerves) अत्यधिक सम्बन्धित होते हैं।

(२) सरित्कालिन्द–पर्व (Sino-auricular node) तथा अलिन्द–नियल पर्व संयोजक अलिन्दान्तरीय वहन पथ की एक शृंखला।

(३) अलिन्द नियल–पर्व—अन्तरअलिन्दीय–पटल के दक्षिण में या हार्दिकीमूल सिरा (Coronary sinus) के मुख पर अवस्थित विशिष्ट तन्तुओं का एक पर्व।

(४) अलिन्द–नियल—पर्व से नीचे की ओर प्रसारित होता हुआ स्नायु-पैशिक तन्तुओं (Neuromuscular

tissue) का एक सूत्र होता है जिसे अलिन्द–निलय तन्तु गुच्छ (A-V bundle of His) कहते हैं। यह त्रिदल कपाट –पटलीय–दल के हृदयान्तरावरण आस्तर के ठीक नीचे होता है (It lies just under the endocardium under the septal cusp of the tricuspid valve)

(५) यह अलिन्द—निलयिक-तन्तु-गुच्छ दो शाखाओं में विभाजित हो जाता है। (क) मुख्य दक्षिण शाखा जो अन्तर हृदयावरण द्वारा आच्छादित होकर प्राचीर के दक्षिणपार्श्व तथा नियामक पट्ट (Moderator band) से होता हुआ पश्चाभिमुख होकर दक्षिण निलय मूल (Base of the right ventricle) तथा मांसांकुर-पेशियों (Papillary muscles) में समाप्त हो जाता है।

(ख) वामशाखा प्राचीर के वामपार्श्व से होता हुआ अन्ततः परकिञ्जी तन्तु–पुञ्ज (Purkinjee tissue) के निकटतम सम्बन्ध में वाम निलयिक भित्ति में जाकर समाप्त होता है।

● हृदय की वैद्युतिक उत्तेजना संवहनपथ का चित्रीय निरूपण ◎
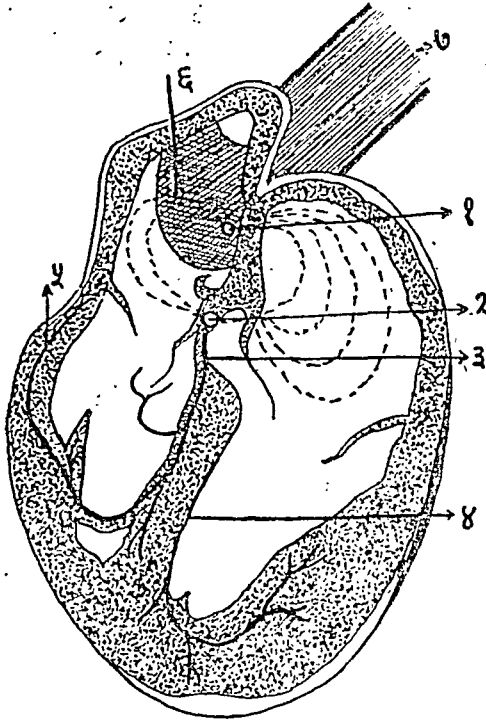
(१) कोटरालिन्दीय पर्विका

(२) अलिन्द निलय पर्विका (हिस्स का)

(३) अलिन्द निलय-तन्तुपूल (मूल-खंड)

(४) "हिस्स" के निलय तन्तुपूल की वामशाखा

(५) "हिस्स" के अलिन्द-निलय-तन्तुपूल की दक्षिण-शाखा

(६) अधोमहासिरा

(७) ऊर्ध्वमहासिरा

कोटरालिन्दीय तथा अलिन्द-निलय-पर्विकाओं को मिलाने वाली विन्दुकित रेखायें उन अलिन्दान्तरीय पथों का निर्देश करती हैं जो उत्तेजना संवहन कर अलिन्द से निलय में पहुंचाती हैं।

प्राकृत अवस्था में उत्तेजना तरङ्ग कोटरालिन्द-पर्व से प्रारम्भ होकर अलिन्दों में व्याप्त हो जाता है जिसके कारण उनका संकोच होता है। तत्पश्चात् अलिन्द–निलय–पर्व से अलिन्द–निलय तन्तुपूल (A–V bundle) शाखाओं तथा अन्ततः अधोन्तःच्छदीय–द्रुमायण—(*Subendothelial arborizations*) आदि में व्याप्त होकर प्राचीन हृत्शिखर और इसके पश्चात् निलय मूल को उत्तेजित करता है। इस प्रकार अलिन्द से प्राप्त होने वाली उत्तेजना के फलस्वरूप निलय संकोच होता है। अलिन्द एवं निलय संकोच के मध्य का अवकाश या काल अति महत्वपूर्ण अवधि होता है क्योंकि यह अलिन्द एवं निलय संकोच के पारस्परिक काल-सम्बन्ध तथा अलिन्द-निलय-पर्व एवं इसके ऊपर के अलिन्द-निलय-तन्तुगुच्छ (शाखित होने के पूर्व) के संवाहित्व या कार्य-क्षमता का द्योतक होता है।

निम्नलिखित व्याधियों के निदान में वह विधि अत्यधिक उपयोगी प्रमाणित होती है:—

I हृत्-पेशी (हृद्भित्ति-पेशी) तथा प्रवहण तन्तुओं के विकार—

(क) हार्दिक-अतिवृद्धि (*Hypertrophy of heart*) ।

(ख) हृत्-कपाटिकाओं के जीर्ण रोग (*Chronic valvular diseases*) ।

(ग) जन्मजात हृद्-रोग (*Congenital heart disease*) ।

(घ) हृत्-शूल (*Angina Pectoris*) ।

(च) हृद्धमनी अवरोध (*Coronary occlusion*) तथा हार्दिक अन्तःस्फान (*Infarction of the heart*) ।

(छ) बेरी बेरी (*Beri-beri*) ।

II हार्दिक क्रियावैषम्यतायें—

(क) हृत्-अनियमितता (*Sinus arrythmia*) ।

(ख) अकालिक-हृत्-संकोच (*Premature Systolis*) ।

(i) अलिन्दीय (*Auricular*) ।
(ii) निलयिक (*Ventricular*) ।
(iii) पर्वीय (पर्वकीय) (*Nodal*)

(ग) हृदावरोध (हृत्-रोध) *heart block* ।

(i) किंचित (अल्प)
(ii) कदाचित-स्पन्द लोप (*occasional dropped beats*) ।
(iii) नितमित-स्पन्द-लोप (*Regular dropped beats*) ।
(iv) पूर्ण-हृत्स्तम्भ (Complete heart block) ।
(v) तन्तुपूल-शाखा-अवरोध (Bundle branch block) तथा निलयान्तरिक अवरोध (Intraventricular block) तथा द्रुमायण-रोध (Arborization block) ।
(vi) कोटरालिन्दीय-हृद्स्तम्भ ।
(vii) अलिन्द-निलयक-स्तम्भ ।

(घ) पर्वकीय-ताल (Nodal rythm) ।

(च) अलिन्दीय-स्फुरण (Auricular fibrillation) ।

(छ) अलिन्द-तन्तुकम्प (Auricular flutter) ।

(ज) निलयिक-स्फुरण (Ventricular fibrillation) ।

(झ) प्रावेगिक त्वरित् हृद्वेग (Paroxysmal Techycardia) ।

(ट) एकान्तर (पर्यायक) नाड़ी (pulsus alternans) ।

(ठ) हृद्-धमनी में घनास्रता (Coronary thrombosis) ।

जब पेशी संकोच होता है तो संकुचित तथा विकसित (असंकुचित) खंडों के बीच सम्भावी स्थैतिक ऊर्जा में विभिन्नता उत्पन्न होजाती है, और यदि इन दोनों खंडों को तार द्वारा मिला दिया जाय तो उत्पन्न विद्युत-प्रवाह प्रदर्शित किया जा सकता है। यह हृत्पेशी के सम्बन्ध में भी लागू होता है।

[पृष्ठ १०१ का शेषांश]

पहिले ही बताया गया है कि कुण्डलिका दर्शक यन्त्र का प्रयोग सम्पूर्ण निरापद नहीं है। एतदर्थ स्थानिक सम्मोहन की आवश्यकता भी हो सकती है। कभी कभी इस यन्त्र प्रयोग के फलस्वरूप आघात के कारण आन्त्र-विदारण तक होता है, कभी कभी उदर्याकला प्रदाह के लक्षणों की उपस्थिति तक इस अवस्था का पता तक नहीं लग सकता है। परन्तु आन्त्र-विदारण का सन्देह होते ही शस्त्र चिकित्सा सहायता लेना परमावश्यक है—नहीं तो इससे अधिकांश क्षेत्र में मृत्यु ही होती है। एतदर्थ कुण्डलिका यन्त्र प्रयोग में प्रत्यक्ष निपुणता लाभ के पश्चात् ही स्वाधीन रूप से इस कार्य में अग्रसर होना चाहिए।

उदाहरणार्थ यदि दक्षिण बाहु तथा वाम पाद वैद्युतिक-हृद्-लेख-यन्त्र के परिपथ (Circuit) द्वारा योजित कर दिये जावें तो हृद्-मूल तथा हृत् शिखर के बीच सम्भावी-वैद्युतिक-विभिन्नता द्वारा विद्युत-प्रवाह की उत्पत्ति प्रदर्शित होगी। मानव हृत्-संकोच द्वारा उत्पन्न विद्युत-प्रवाह का आलेखन कैशिक-विद्युमान (Capillary Electrometer) द्वारा सर्वप्रथम श्री ए. डो. वैलर ने सन् १८८६ में किया। उन्होंने प्रदर्शित किया कि जब पेशी-संकोच होता है तो सर्वाङ्ग की वैद्युतिक-स्थिति में परिवर्तन होता है।

सौत्रिक-विद्युवाहमान (String Galvanometer) का प्रयोग सन् १९०३ में श्री. इन्थोवेन द्वारा किया गया और आधुनिक हृद्-लेख-यन्त्र (Electrocardiograph) इसी का रूपान्तरित तथा परिष्कृत स्वरूप है, जैसे कपाटिका या दर्पण युक्त आधुनिक विद्युमान। आजकल प्रयोग होने वाले प्रमाणित 'लीड' (Leads) निम्नलिखित हैं—

लीड-१—(अनुप्रस्थ)—दाहिना तथा वायां हाथ

लीड-२—(अक्षीय)—दाहिना हाथ और बांया पैर।

लीड-३—(वामपार्शिक)—बायां हाथ और बांया पैर।

लीड-४—(वक्षीय लीड)—समीपस्थ विद्युदग्र (proximal Electrode) शिखर-स्पन्द (Apex beat) की अन्तिम (चरम) बायीं सीमा या पंचम वाम पाशुकान्तराल में हार्दिक-मन्दता की वाम सीमा या वाम मध्याक्षक रेखा (Left midclavicular Line) के समीप रखा जाता है तथा दूरान्त विद्युदग्र (Distal Electrode)—(१) बायें पैर पर रखा जाता है—तब इसे IVF कहते हैं; या (२) दक्षिण बाहु पर रखा जाने पर IVR कहते हैं।

एक ध्रुवीय लीड्स (Unipolar Leads)—ये लीड्स सन् १९३४ में सर्वप्रथम श्री. विल्सन तथा सहयोगियों द्वारा प्रयोग किये गये, जिन्हें अब 'वि-लीड्स' (V-Leads) कहते हैं—

वि १ (V1)—चतुर्थ पाशुकान्तरीय स्थल में उरोस्थि की दक्षिण धारा के निकट।

वि २ (V2)—चतुर्थ पाशुकान्तरीय स्थल में उरोस्थि की वाम धारा के निकट।

वि ४ (V4)—पंचम वाम पशुकान्तरीयस्थल में मध्याक्षक रेखा के समीप।

वि ३ (V3)—संख्या ३ और ४ के बीच का मध्यबिन्दु।

वि-५ (V5)—वाम अग्रकक्ष रेखा Lef anterior axillary) वि ४ के समतल पर ही।

वि ६ (V6)—वाम मध्यकक्ष रेखा (Left Midaxillary Line) पंचम वाम पशुकान्तरीय स्थल पर ही।

वि ७ (V7)—वाम पश्चकक्षीय रेखा (Left posterior Axillary Line) पंचम वाम पशुकान्तरीय स्थल में।

वि ८ (V8)—वाम स्कन्धास्थिकोण के नीचे पंचम वाम पशुकान्तरीय स्थल में।

वि. ई. (V.E.)—इसमें विद्युदग्र को उरोस्थि-अग्रखण्ड (Xiphoid Cartilage) के निचले छोर पर रखते हैं।

वैद्युतिक-हृद्-लेख का अध्ययन तथा व्याख्या—साधारण वैद्युतिक हृद् लेख में प्रत्येक हृदय-कार्य-चक्र (Cardiac Cycle) में कुछ ऊर्ध्वगामी तथा अधोगामी तरङ्ग या वक्रतायें परिलक्षित होती है, जो पी, क्यू, आर, एस तथा टी कहलाती हैं। इनमें पी, आर और टी ऊर्ध्वगामी तथा क्यू और एस अधोगामी होती हैं। 'पी' तरङ्ग अलिन्द-संकोच के कारण उत्पन्न होता है और उत्तेजन-तरङ्ग (Wafe of excitation) के अलिन्द द्वारा संवहन का द्योतक होता है।
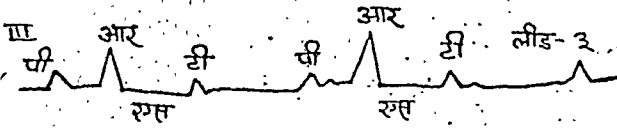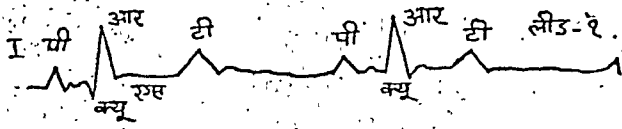
लीड १, २ और तीन का प्राकृत-वैद्युतिक-हृद् लेख

प्राकृत अवस्था में सभी तरङ्गों या विच्युतियों का विस्तार लीड-२ में अधिकतम होता है। प्रथम तरङ्ग "पी" अलिन्दीय-संकोच तथा क्यू-आर-एस-टी-खंड निलयिक-संकोच के कारण होता है।

'पी-क्यू-खंड' को अलिन्दीय जटिलांश (Auricular Complex) कहते हैं।

"क्यू, आर, एस, टी"—निलय संकोच के कारण उत्पन्न होता है और निलयिक जटिलांश (Ventricular Complex) कहलाता है।

"टी-पी-खण्ड" हृद्विकास (diastole) का द्योतक है। क्यू तथा एस लुप्त भी हो जा सकते हैं।

स्मरणीय—कुछ आवश्यक काल-सम्बन्ध ध्यान रखने योग्य हैं—

पी-आर अवकाश—साधारणतः यह ०.१४ सेकंड होता है। इसका दीर्घण अलिन्द-निलय-पर्व (A-V node) या 'हिस्स' के तन्तुगुच्छ (Bundle of His) के ऊपरी भाग में प्रेरणा-संवाहन के विलम्बित होने का द्योतक लक्षण है।

क्यू, आर, एस अवकाश—साधारणतः ०.१० सेकंड से भी कम होता है। इसका दीर्घण विविध क्रम के हृद्-रोध तथा वहिरागत-निलय-स्पन्द (Ectopic Ventricular beats) का द्योतक है।

आर-टी अवकाश—साधारणतः ०.३२ सेकेन्ड होता है। पूर्ण-अलिन्द-निलय-स्तम्भ (Complete auriculo Ventricnlar block) की दशा में यह दीर्घ हो जाता है।

इन तरङ्गों या दिशान्तरों (Deflections) की आकृति या रूपभेद तथा कुछ विशेष परिवर्तनों का महत्व—'पी-तरङ्ग'—सामान्यतः ऊर्ध्वगामी, लम्बरूप वा मंडलित तथा लघुस्वरूप होता है। विस्तार या ऊंचाई (amplitude) २.५ एम-एम तथा स्थिति-काल ०-१० सेकेन्ड होता है। उन अवस्थाओं में जिनमें अलिन्दीय अतिवृद्धि (auricular hypertrophy) पायी जाती है (जैसे द्विदलकपाटीय संकीर्णन mitral stenosis) उनमें इसका विस्तार तथा ऊंचाई अधिक हो जाते हैं। दोनों अलिन्दों के कार्य में क्रियावैषम्य या असंकलन उत्पन्न हो जाने पर यह दन्तुर (Notched) या मोखा भी हो सकता है जैसे द्विदलकपाटीय संकीर्णता में। अलिन्दीय-पेशीकम्प (Auricular Fibrillation) की अवस्था में यह लोप हो जा सकता है या अनियमित रूपेण होने वाली सूक्ष्म सूत्रवत् तरङ्गों (Fine Fibrillary waves) द्वारा प्रतिस्थापित हो सकता है।

इसके प्रत्यावर्तन (Invertion) का अर्थ यह होता है कि उत्तेजना (Impulse) सरित्का-अलिन्दीय-पर्व (Sino-auricular node) में उत्पन्न होने के बदले किसी और नये वहिरागत हृद्-गतिकारक (New Ectopic pacemaker) केन्द्र में उद्भावित होती है, जैसे पर्वीय-बहिर्भूत हृतसंकोच में (Nodal Extrasystoles)। नियमित रूप से इस प्रकार के अस्वाभाविक प्रत्यावर्त्तित 'पी-तरङ्गों' का सामान्य से अत्यधिक अर्थ (१२०-२०० प्रतिमिनट) में होना प्रावेगिक शीघ्रहृदयता (*Paroxysmal* tachyca-rdia) का द्योतक है।

यदि सामान्य 'पी-तरङ्ग' के बदले २००-३५० प्रति मिनट की दर से होने वाली स्थूल तरङ्ग-गति

का क्रम परिलक्षित हो तो अलिन्द-स्फुरण (Auricular flutter) का सन्देह होता है। इस अवस्था में 'क्यू, आर, एस, टी खंड' प्रत्येक दूसरी तीसरी या चौथी अलिन्दीय-तरङ्गगति के पश्चात परिलक्षित होता है और इस प्रकार अलिन्द-निलय-अनुपात २:१, ३:१, या ४:१ होजाता है।

"पी" तथा "क्यू" के प्रारम्भ के बीच का "काल-अन्तर" (*Time-distance*) या "पी-आर विराम" अलिन्दीय तथा निलयिक संकोच के बीच होने वाले अवकाश का सूचक है, तथा अलिन्द-निलय-पर्व और इस पर्व के पूर्व अवस्थित "हिस्स" के अलिन्द-निलय-तन्तु-पूल खण्ड के उत्तेजन-संवहन-क्षमता का माप होता है। इसे "पी-क्यू" या "पी-आर-विराम" कहते हैं। "पी-आर-विराम" उत्तेजना-लहर के वहन का अत्यन्त विश्वसनीय द्योतक है। प्राकृत व्यक्तियों में यह विरामकाल ०.१२-०.१८ सेकेंड तक होता है। यदि यह ०.२० सेकेंड से अधिक हो तो प्रवहण क्रिया का अवसाद समझना चाहिये। यह अलिन्द-निलय-पर्वीय-ताल (*A-V nodal rythm*) तथा "उल्फ-पार्किंसन-ह्वायट-लक्षणपुंज (*Wolff-Parkinson White-syndrome*) नामक रोगों में यह काल न्यून हो जाता है। यदि प्रत्येक "पी" लहर के पश्चात् "क्यू-आर-एस-कम्प्लेक्स" न होकर, दूसरी तीसरी या चौथी "पी" लहर के बाद होता हो, तो यह २:१, ३:१ या ४:१ हृद्-रोग का संकेत करता है।

यदि "क्यू आर-एस" एवं निकटतर "पी तरङ्ग" का मध्यान्तर निरंतर परिवर्तित होता हो तो पूर्ण-हृद्रोध(*Complete heartblock*)की विद्यमानता समझनी चाहिए।
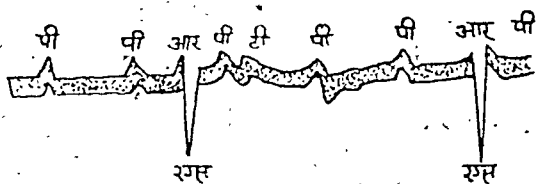
पूर्ण हृद्-रोध

"क्यू-आर-एस-टी-जटिलांश"—यह निलय की कार्य-क्षमता का द्योतक होता है। निलयिक जटिलांश की अवधि प्रायः निलय-संकोच-काल के बराबर ही होती है। क्यू-आर-एस-अवधि अति महत्वपूर्ण होती है और साधारणतः इसे ०.१६ सेकेंड से अधिक नहीं होनी चाहिए।

निलयिक-पेशी या "हिस्स के तन्तुगुच्छ" की एक शाखा या विशेषोपयोजित-वाहक तन्तुओं (*Specialised conducting tissues*) की सूक्ष्म शाखाओं-प्रशाखाओं में संवाहित्व-विलम्बन या अव-रोध होने पर इस अवधि का दीर्घण हो जाता है। तन्तुगुच्छ-शाखा-अवरोध (*Bundle branch Block*) द्रुमायण-रोध (*Arborization Block*), बहिर्भूतीयनिलय संकोच (*Ventricular Extra-systoles*) निलयिक-प्रावेगिक शीघ्र हृदयता (*Ventricular Variety of Paroxysmal Tachycardia*), अलिन्दान्तरीय-अवरोध (*Intra-ventricular Block*) तथा किसी एक ओर की निलय की अतिक्रियाशीलता या प्रबलावस्था में ऐसा पाया जाता है।

"आर-तरङ्ग":—साधारणतः यह लीड २ में उच्च-तम होती है; यदि-१ में सबसे अधिक ऊंची हो तो "वाम-निलय की प्रबलता" (*Left ventricular Preponderance*) व्यक्त होती है। लीड-१ में आर तरङ्ग का उच्चतम होना "वाम-अक्षीय-व्यतिक्रम (*Left axis deviation*) का द्योतक है जो मुख्यतः "वाम-निलयिक-प्रबलता" की दशा में पाया जाता है, यद्यपि यह अन्य अवस्थाओं में भी, जैसे वक्षोदर मध्यस्थ-पेशी (*Diaphragm*) के अधिक ऊंची होने के कारण हृदय के अत्यधिक अनुप्रस्थ होने पर पाया जाता है। दक्षिण-अक्षीय-व्यतिक्रम (*Right axis deviation*) तथा "दक्षिण-निलय-प्रबलता" की अवस्थाओं में आर तरङ्ग की ऊंचाई अधिकतम होती है।

"एस-तरङ्ग"—इसकी गहराई लीड-३ में अधिकतम होती है। यदि अधिकतम विस्तार लीड-१ में हो तो यह "दक्षिण-अक्षीय-व्यतिक्रम" और लीड-२ में हो तो "वाम-अक्षीय-व्यतिक्रम" का द्योतक है। प्राकृतिक "निलयिक जटिलांश (*Ventricular complex*) के बीच अप्राकृतिक रूप या आकार के निलयिक जटिलांश का होना अकालीन-स्पन्दन (*Premature beats*) का द्योतक है।

एस-टी अवकाश—प्रथम तीन लीडों में समविद्युतिक (*Isoelectric*) तथा टी-तरङ्ग सुनिर्मित एवं लम्बरूप होनी चाहिये। ऐसा समझा जाता है कि "टी-२ तरङ्ग" निलय पेशी के दशाज्ञान निमित्त अति महत्वपूर्ण साधन होता है।

टी-२ तरङ्ग निम्नलिखित दशाओं में प्रत्यावर्तित (*Inverted*) पाया जाता है:—

पूर्ण मात्रा में डोजिटलिस सेवन के पश्चात् (*After full digitalisation*), हृत्पेशीय व्याधियों में तीव्र या चिरकारी हृदयावरण प्रदाह (*Acute or chronic pericarditis*) तथा महाधमनीय प्रत्युद्गिरण (*Aortic regurgitation*) के कुछ रोगियों में हृत्पेशी की विषाक्तता (*Toxaemia*) या अपकर्षण (*Degeneration*) की अवस्थाओं में इसका विस्तार न्यून हो जाता है। आकस्मिक टी-तरङ्ग अधोवर्तन (*Inversion of T-wave*) हृद्धमनिक-घनास्रता (*coronary thrombosis*) का द्योतक है और इस रोग में "क्यू-आर-एस-टी तरङ्ग" के स्वरूप में हरएक प्रकार के परिवर्तन परिलक्षित हो सकते हैं।

हृद्-धमनी की व्याधियों में तरङ्ग-रेखा का वह अंश जो 'आर' या 'एस' के आसन्न होता है, टी तरङ्ग के निकट पहुंचने के पहले विश्रामकालीन-आधार रेखा (*Resting baseline*) पर नहीं पहुँच पाता। इसे 'आर-टी' या 'एस-टी' व्यतिक्रम कहते हैं। अग्रहृद्धमनी-अभिशोष में 'आर-टी-व्यतिक्रम' लीड-१ में आधार-रेखा के ऊपर तथा लीड-३ में उसके नीचे होता है। पश्च-हृद्धमनीय-अभिशोष में ठीक इसके विपरीत होता है।

चुल्लिकाग्रन्थिहीनता (*Hypothyroidism*) की दशा में टी-तरङ्ग तीनों लीड में चिपिटित या चौरस (*Flattened*) या अधोवर्तित पाया जा सकता है। लीड ४ ए तथा ४ एफ (*4A and 4 F*) में भी टी-तरङ्ग लम्बरूप एवं सीधा होना चाहिये। हृद्धमनी घनास्रता तथा जीर्ण हृत्पेशीय व्याधियों में इन लीडों में भी टी-तरङ्ग अधोवर्तित हो जाता है।

अब हम कुछ व्याधियों में इस चित्रण में परिलक्षित होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन करेंगे।

हार्दिक-परमपुष्टि या अतिवृद्धि (*cardiac hypertrophy*)—इस अवस्था में साधारणतः कोई एक निलय दूसरे की अपेक्षा अधिक रोगाक्रान्त होता है। यह अतिवृद्धि हृदय गति चित्रण द्वारा प्रत्यक्ष होती है।

वाम-पक्षीय प्रलबता या बाहुल्य (*Leftsided preponderance*)—की दशा में आर-तरङ्ग का प्रसार्य लीड-१ में लीड-३ से अधिक होता है तथा "एस-तरङ्ग" का विस्तार लीड-३ में लीड-१ से अधिक होता है।
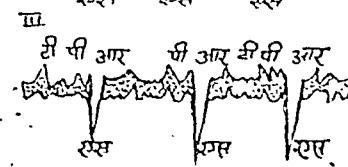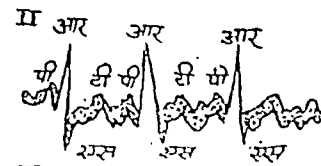
वामनिलयिक अतिवृद्धि तथा प्रबलता दर्शाता हुआ हृदय गति चित्र।

दक्षिण पक्षीय या निलयिक प्रबलता (*right sided preponderance*) की दशा में 'एस-तरङ्ग' का विस्तार लीड-१ में लीड-३से अधिक होता है तथा आर-तरङ्ग का विस्तार लीड ३ में लीड-१ से अधिक होता है।
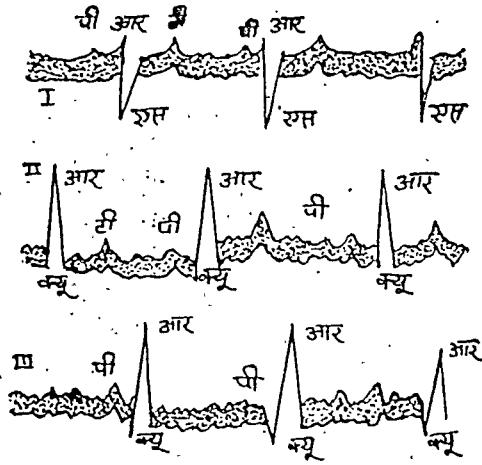
हृदयगति चित्र जो दक्षिण निलय की अति वृद्धि एवं प्रबलता प्रदर्शित करता है।

अतएव इनके अत्यधिक प्रसार का दिशान्तरण (*Deflections*) या विच्युतियां एक दूसरे के अभिमुख होती हैं। अत्यधिक वाम-पक्षीय-प्रबलता की दशा में लीड-१ में टी-तरङ्ग बहुधा अधोवर्तित पाया जाता है, तथा अत्यधिक दक्षिण-पक्षीय प्रबलता में लीड- ३ में ऐसा होता है।

किसी भी निलय की परम प्रबलता की दशा में क्यू-आर-एस-अवधि दीर्घित पाया जा सकता है। चूंकि किसी अङ्ग या अवयव की वैद्युदिक-अक्ष (*electrical axis*) उसकी शारीरिक अक्ष (*Anatomical axis*) द्वारा प्रभाविन होती है अतएव किसी भी निलय की प्रबलता का निदान करने से पूर्व हार्दिक-विस्थापन के निमित्त परीक्षा कर लेनी चाहिये। वाम या दक्षिण निलय की प्रबलता तथा अलिन्द-निलय-तन्तु-गुच्छ (*A–V bundle*) की वाम या दक्षिण मुख्य शाखाओं के विकार से भी विभेदात्मक-निदान करना आवश्यक होता है।

जीर्ण हृद्कपाटीय-रोग (*chronic vulvular disease*) महाधमनी कपाट के रोगों में साधारणतः वामपक्षीय प्रबलता पाई जाती है। द्विदलकपाटीय-संकीर्णन (*Mitral stenosis*) की दशा में दक्षिण-पक्षीय प्रबलता पाई जाती है।

इस प्रकार अलिन्दीय अतिवृद्धि तथा अलिन्दीय-तन्तुकम्प (*auricular flutter*) की दशा में भी विशेष नैदानिक लक्षण या संकेत पाये जाते हैं।

जन्मजात हृद्रोगः—अक्सर दक्षिण-पक्षीय-प्रबलता पायी जाती है विशेषतः फौफ्फुसिक-(कपाटिका) संकीर्णन (*Pulmonary stenosis*) की दशा में।

हृदय-दक्षिणावर्तन (*Dextrocardia*)—या हृदय की दक्षिणपार्श्वीय स्थिति। इस अवस्था में लीड–१ की सभी दिशान्तरित वक्रिमायें (*Diflections of a curve*) अधोवर्तित हो जाती हैं तथा इसका लीड-३ प्राकृत लीड-२, तथा लीड-२ प्राकृत लीड-३ के समतुल्य हो जाता है।

निरुपद्रव विवृत–अलिन्द–द्वयमध्यीय पटल (*Uncomplicated patent interauricular septum*)—की दशा में वैद्युतिक-अक्ष दक्षणायित हो जाता है (*Is deviated to the right*)।

विवृत-निलयद्वय मध्यीय–पटल (*Patent interventricular septum*)—की दशा में यदि अलिन्द निलय-तन्तुपूल प्राकृत हो तो आलेख भी प्राय: प्रमित या सामान्य ही होता है।

जन्मगत फौफ्फुसीय संकोच(*Congenital pulmonary stenosis*)—की दशा में स्पष्ट दक्षिण निलयिक प्रबलता लक्षित होती है।

हार्दिक अन्तःस्फान युत हृद्धमनी समावरोध (*Coronary occlusion with infarction of the heart*)—इस रोग में विशद तथा विशेष परिवर्तन परिलक्षित होते हैं। कुछ घड़ी के अन्दर ही 'आर टी' खंड का व्यक्तिक्रम उत्पन्न होने के फलस्वरूप उच्चसमभूमि-सदृश उत्सेध या सीता (*platen-like elevation or depression*) लीड-१ और लीड-३ में सबसे अधिक परिलक्षित होता है। कुछ दिनों के वाद रेखा-चित्र का आर-टी-खंड क्रमशः सम-विद्युद्-समता (*Isoelectric Level*) पर

फिर आ जाता है, और टी-तरङ्ग जो विस्तृत तथा सुनिर्मित होता है, आर-टी-खंड की विपरीत दिशा में पुनः प्रकट होता है। परिवर्तित टी-तरङ्ग के पूर्ववर्ती आर-टी-विराम में बहुधा उन्नतोदरता या नतोदरता (*convexity or concavity*) पायी जाती है।

दोनों स्थितियों में, अक्सर प्रारम्भिक-निलय-तरङ्ग (क्यू-आर-एस) का विस्तार न्यून होकर स्थिति-काल दीर्घित हो जाता है। ऐसी अवस्था में वक्ररेखा-चित्र अनेक स्वरूप तथा प्रकार का पाया जाता है जिनमें दो अध्यधिक सामान्य निम्नलिखित हैं—

(१) लीड-१ में आर-टी-खंड उन्नत तथा टी-तरङ्ग परावर्तित होता है। लीड-३ में आर-टी-खंड अवनत तथा बाद में टी- तरङ्ग उन्नत या लम्बरूप पाया जाता है।
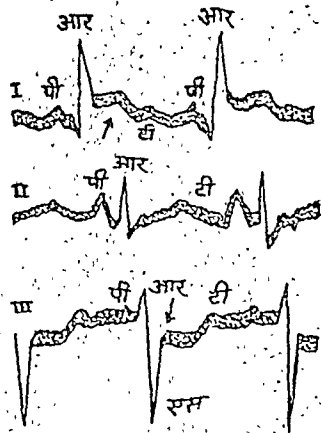
हृद्धमनिक समावरोध (*Coronary thrombosis*) के तीन दिन पश्चात् लिया गया वैद्युतिक हृद लेख, जो असमभूमि सदृश्य रेखाचित्र प्रदर्शित करता है। आर-टी अवकाश या खंड लीड १ में दीर्घित तथा लीड ३ में ह्रसित दिख पड़ता है, जिसे चित्र में तीर द्वारा दिखलाया गया है।

टी-तरङ्ग में कुछ सप्ताह के अन्दर ही प्राकृतावस्था की दिशा में कुछ परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं और कुछ काल पश्चात् यह पूर्ण प्राकृत पाया जासकता है।

"क्यू–आर–एस का परिवर्तन—यह विस्तीर्ण या दन्तुर (*Notched*) हो जा सकता है, तथा लीड-३ में क्यू-तरङ्ग अधिक विस्तृत एवं विशद हो सकता है।
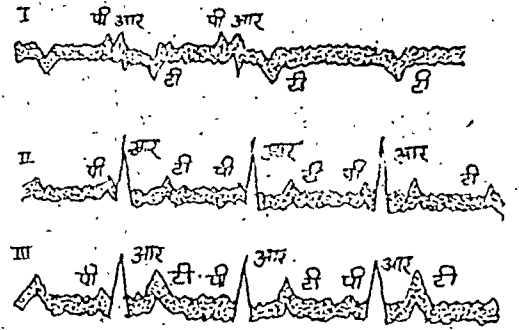
टी-१ प्रकार के हार्दिक अन्तः स्फान के एक रोगी का हृदय-गति-चित्रण लीड-१ में ही विच्युतियां अधोवर्तित तथा स्पष्टरूप दिखती हैं। लीड-३ में टी विच्युतियां लम्बरूप विस्तारित विपुल तथा स्पष्टरूप दिखती हैं।

चुल्लिका–ग्रन्थि–हीनता (*Hypothyroidism*)–टी-तरङ्ग का ह्रास या लोप हो जा सकता है तथा पी-क्यू-आर-एस तरङ्ग के विस्तार में भी कमी पाई जा सकती है।

बेरी–बेरी (*Beri-beri*)—इस रोग में टी-तरङ्ग एक या अनेक लीड में समतल या विपरीत पाया जा सकता है। क्यू-आर-एस जटिलांश के विस्तार में कमी तथा स्थिति काल में वृद्धि पायी जा सकती है।

(सरित्कीय) हृत् अनियमितता (*sinus arrythmia*) टी-पी-विराम का विस्तार परिवर्तित पाया जा सकता है, किन्तु अलिन्दीय या निलयिक जटिलांश (*complex*) में कोई परिवर्तन नहीं होता।

अकालिका हृत्संकोच—

(क) आलिन्दीय (*auricular*)–अकालिक-उत्तेजन कोटर-अलिन्दीय-ग्रन्थिका (S–A node) में, इसके निकट या कुछ दूरी पर उत्पन्न हो सकता है। प्रथम दोनों दशाओं में अकालिक संकोच द्वारा उत्पन्न पी-तरङ्ग प्राकृत दिशा में होता है, किन्तु अन्तिम दशा में यह प्रत्यावर्तित हो जाता है जो अलिन्द में अप्राकृतिक मार्गों द्वारा उत्तेजन-तरङ्ग के संवहन का द्योतक है। निलयिक जटिलांश (*Vent-*

ricular campIex) प्रायः प्राकृत ही होता है 'पी' और 'टी' तरङ्ग संलग्न भी हो जा सकते हैं।

(ख) पर्वीय (Nodal)—इस दशा में अकालिक-उत्तेजना अलिन्द-निलय-सन्धिस्थल (अलिन्द-निलय-पर्विका या विभाजनपूर्व अलिन्द निलयिक तन्तुपूल) में उत्पन्न होता है। निलय संकोच आलिन्दिक संकोच के पूर्व या तुरन्त पश्चात् ही पाया जा सकता है।
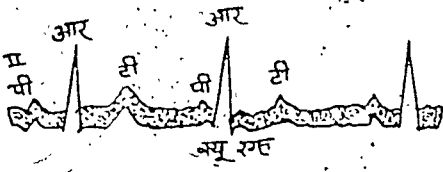
Premature Nodal systole

अकालिक-पर्वीय-संकोच

(ग) निलयक—इस अवस्था में मुख्य अलिन्द-निलय-तन्तुपूल के विभाजन पश्चात्वर्ती निलय अंश में अकालिक-उत्तेजना की उत्पत्ति होती है। यद्यपि इस निलयिक-जटिलांश का भी स्थितिकाल प्राकृत के समान ही होता है, किन्तु इसका स्वरूप परिवर्तित हो जाता है। इस अकालिक स्पन्दन का प्रारम्भिक दिशान्तरण भी सामान्य (प्रमित) से
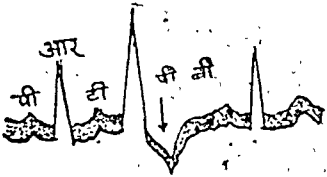
अकालिक निलय संकोच

अधिक विशाल होता है। आलिन्दिक-तरङ्ग नियमित विराम के पश्चात् होता है किन्तु अकालिक निलयिक दिशा■■ के साथ संयुक्त हो जासकता है या तुरन्त पश्चात् भी पाया जा सकता है। अकालीन निलय संकोच के पश्चात् दीर्घित हृद्विकास (Diastole) होता है और इस प्रकार पश्चाद्वर्ती विराम पूर्णरूपेण पूरक होता है।

हृत्-रोध (Heart block)—हृदय-गति-चित्रण द्वारा हृत्पेशीय-संवाहित्वरोध की मात्रा, क्रम एवं विविध प्रकार प्रत्यक्ष होता है।

(i) किञ्चित या अत्यल्प—इसमें पी-आर-अवकाश का ०.२ सेकेन्ड से अधिक दीर्घण हो जाता है।

कदाचित् स्पन्दन-लोप (Occasional Dropped beats)– पी-आर-अवकाश क्रमशः दीर्घित होता जाता है और अन्त में आलिन्द-जटिलांश के पश्चात निलयिक-जटिलांश लोप हो जाता है। पी-तरङ्ग पूर्णरूपेण नियमित होता है किन्तु निलय-जटिलांश भिन्न-भिन्न कालान्तर में घटित होते हैं अतएव कभी कभी 'पी' तथा 'टी' तरंगें मिल जा सकती हैं।

(iii) नियमित-स्पन्दन-लोप (Regularly dropped beats)—प्रत्येक चतुर्थ, तृतीय या द्वितीय निलयक-संकोच लोप होने से ४:३, ३:२ या २:१ हृत्-रोध उत्पन्न हो सकता है। इनके अतिरिक्त ८:७, ७:६, ६:५, ५:४, ३:१, ४:१, ५:१ प्रकार के हृद्रोध भी पाये जा सकते हैं। इनमें पहली संख्या अलिन्द तथा दूसरी निलय के स्पन्दन का द्योतक है।

पूर्ण हृद्रोध (Complete Heart Block)—इस अवस्था में निलय पूर्णस्वतन्त्ररूप से प्रायः ३० स्पन्दन प्रति मिनट की दर से संकोच प्रारम्भ कर देता है। पी-तरङ्ग नियमितरूप या आकार का होता है तथा हृद्-गत्यालेख (Electrocardiogram) में अकेला या 'आर' या 'टी' तरङ्गों के साथ मिला हुआ हो सकता है। निलयिक-जटिलांश प्राकृत स्थितिकाल एवं स्वरूप का होता है, अतएव इसे उत्पन्न करने वाली प्रेरणायें निलयोपरिक (Supra-ventricular) होती हैं किन्तु अलिन्द में नहीं

उत्पन्न होती अपितु सन्धि-स्थल में उत्पादित होती हैं।
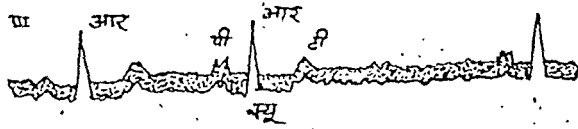
कोटरालिन्दीय-हृद्रोग
(*Sino-auricular block*)

तन्तुगुच्छ-शाखा-अवरोध (Bundle Branch block) तथा अलिन्दान्तरीय-अवरोध (Intraventricular Block) के विषय में पूर्व ही विचार किया जा चुका है।

द्वितीय प्रकार का तन्तुपूल-शाखा-अवरोध
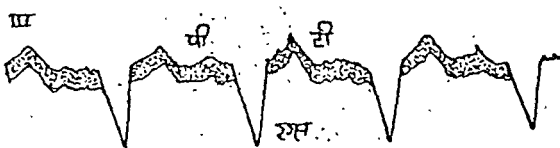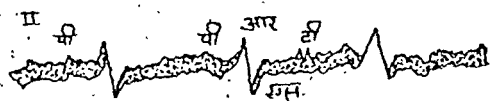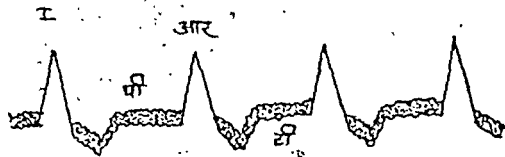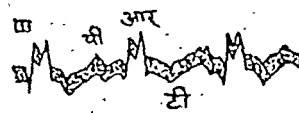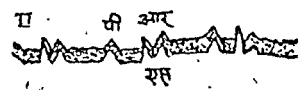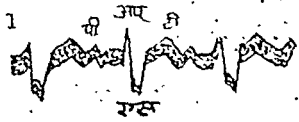
प्रथम प्रकार का तन्तुपूल-शाखा-अवरोध
(*Bundle-branch block Type-I*)

पर्वीय-ताल (*Nodal rythm*)—इस अवस्था में उत्तेजना कोटर-अलिन्दीय (S-A node) से उत्पन्न होने के बदले अलिन्द-निलय-पर्व (S-A node) में सम्भवतः उत्पन्न होता है। अलिन्द तथा निलय दोनों एक साथ ही संकुचित होते हैं। पी-तरङ्ग अधिकतर नहीं मिलता या प्रत्यावर्तित रूप में आर-एस-जटिलांश के पश्चात् भी कभी कभी पाय जाता है।
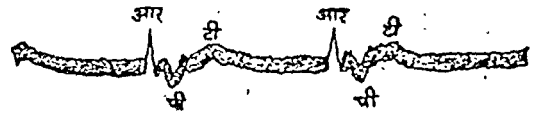
पर्वकीय-ताल (*Nodal rythm*)

अलिन्दीय-स्फुरण (*auricular flutter*)—अलिन्दीय संकोच नियमित दर से होते हैं तथा निलयिक-जटिलांश नियमित या अनियमित कालान्तर से इस आलेख पर उपरिवर्तित (*Superimposed*) होते हैं। न्यूनाधिक मात्रा या क्रम का हृद्रोध प्रायः अवश्य ही वर्तमान रहता है।

पी-तरङ्ग नियमित विराम के पश्चात् होते हैं तथा इनका स्वरूप मेहराब के सदृश्य (*Dome-shaped*) होता है। किसी किसी चित्रण में टी-तरङ्ग भी लक्षित हो सकता है। ग्रीवा में प्राणदा नाड़ी (*Vagus nerve*) के पीड़न द्वारा निलयिक-संकोच की दर कम की जा सकती है किन्तु पी-तरंग द्रुत एवं नियमित रूप से फिर भी पाये जाते हैं। जब स्वाभाविक ताल पुनः स्थापित होता है तो पी-तरङ्ग भी प्राकृत होकर अधिक नुकीला हो जाता है।
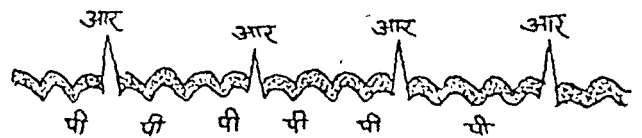
अलिन्दीय स्फुरण

अलिन्दीय पेशीकम्पः—(*auricular fibrillation*) इस दशा में पी-तरङ्ग लोप हो जाता है तथा क्यू-आर-एस-तरङ्ग जिसकी ऊंचाई भी परिवर्तनशील होती है नियमित कालान्तर पर विद्यमान होता है।

निलयिक-जटिलांश स्वाभाविक ही होता है। अनियमित आकार के प्रकम्पन (*Oscillation*) जो सूक्ष्म या असम दोनों प्रकार के हो सकते हैं और अलिन्द के कम्पायमान होने के कारण उत्पन्न होते हैं, हृद्विकासकाल में पाये जा सकते हैं। ये लीड २ और लीड ३ में सबसे अधिक प्रत्यक्ष होते हैं।

क्यू-आर-एस-लहर नियमित काल के पश्चात् पाये जाते हैं। यद्यपि अलिन्द कम्पायमान होता है और पी-तरङ्ग विलोपित हो जाता है तथापि हृद्विकासकाल (*Diastole*) में प्रकम्प के कारण उत्पन्न प्रदोलन (*Oscillation*) परिलक्षित हो सकते हैं। पूर्ण हृद्रोध होने के पश्चात् निलय द्वारा स्वतन्त्ररूप से कार्य प्रारम्भ करने के पश्चात् ऐसा पाया जाता है।
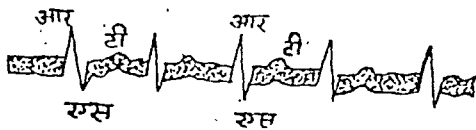
अलिन्दीय पेशीकम्प

(*Auricular fibrillation*)

बहिरागत-स्पन्दन (*Ectopic beats*) भी अलिन्दीयपेशीकम्प की अवस्था में उत्पन्न हो सकते हैं। ये निलय में उत्पन्न होते हैं। निलयोपरि (*Supra-Ventricular*) उत्तेजना के कारण प्रत्येक क्यू-आर-एस-तरङ्ग के पश्चात् ये पाये जा सकते हैं। इसे अनुयोजित घात या स्पन्दनद्वय (*Coupled-beats*) कहते हैं। यह डिजिटेलिस (*Digitalis*) के दुष्प्रयोग के द्वारा प्रायः उत्पन्न होता है और उसका सेवन अविलम्ब स्थगित कर देने का संकेत करता है।

प्रावेगिक त्वरित् हृद्वेग (*Paroxysmal Tachycardia*) :—

(१) सामान्य या अलिन्दीय—इस दशा में अलिन्द के अन्दर एक नये केन्द्र से बहिरागत उत्तरोत्तर अलिन्द-संकोच का क्रम उत्पन्न होता है। हृदयगति चित्र, जिसमें निलयिक-जटिलांश स्वाभाविक होता
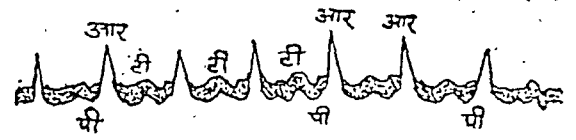
साधारण प्रावेगिक त्वरितहृद्वेग का वैद्युतिक हृद-लेख, जिसमें पी-तरङ्गों का अवोवर्तित होना दिखलायी पड़ता है।

है, प्रायः १५० प्रति मिनट के दर से नियमित द्रुतवेगीयताल द्वारा प्रदर्शित होता है। अतएव इस दशा में उत्तेजना की उत्पत्ति निलयोपरीय (*Supra-ventricular*) होती है। पी-तरङ्ग लीड-२ तथा लीड-३ में प्रत्यावर्तित तथा लीड १ में परिवर्तित पाया जाता है। अतएव अलिन्दीय उत्तेजना की उत्पत्ति अलिन्द बहिरागत होती है, और यदि प्रत्यावर्तित नहीं हो तो स्वाभाविक तरङ्ग से लघु होती है।

(*ii*) पर्वीय (*Nodal*)—इसकी उत्पत्ति अलिन्द-निलय-पत्री में होती है। इसमें प्रथम अलिन्द संकुचित होते हैं और पी-आर-अवकाश न्यून तथा पी-तरंग प्रत्यावर्तित हो जा सकता है, या अलिन्द तथा निलय का समकालीन संकोच हो सकता है और पी तथा आर तरंग संयोजित हो सकते हैं।
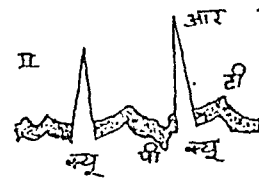
पूर्वकालिक अलिन्दीय-संकोच

(*iii*) निलयिक—यह दशा अत्यन्त विरल है। इसमें उत्तरोत्तर होने वाले बहिरागत निलयिक-संकोच का क्रम पाया जाता है।

एकान्तरित या पर्यायक नाड़ी (*Pulsus alternans*) यह रोग धमनी आलेख (*arterial pulse tracing*) द्वारा अधिक अच्छी प्रकार से प्रत्यक्ष होता है। हृदयगतिचित्रण का फल (चित्र) इस रोग में अत्यधिक परिवर्तनशील होता है अतएव विश्वसनीय नहीं।

विभिन्न अंगों में से द्रव-निष्काशन व उसकी परीक्षा

लेखक—कविराज एस. एन. बोस, एल. ए. एम. एस., भिषग्रत्न ।

रोग निर्णय के लिये पाश्चात्य चिकित्सा-विज्ञान ने नानाविध यन्त्रों तथा उपायों का आविष्कार किया है और इस दिशा में दिनप्रतिदिन प्रगति हो रही है। विभिन्न रोगों में शरीर यन्त्रों में जो विकृतियां उत्पन्न होती हैं उनके फलस्वरूप नानाविध स्राव उत्पन्न होते हैं अथवा स्वाभाविक शरीर-द्रव धातुओं में विभिन्न परिवर्तन दृष्टि में आते हैं। पाश्चात्य-चिकित्सा विज्ञान ने इन विकृतियों के ऊपर काफी अध्ययन किया है और चिकित्सकों के मार्ग दर्शन के लिए उनका वर्णन चिकित्सा ग्रन्थों में समाविष्ट है। रोग निर्णय के क्षेत्र में यह अवश्य ही एक विशिष्ट प्रगति है; इसमें संदेह नहीं है। आयुर्वेद शास्त्र में कुछ रोगों में स्रावोत्पत्ति का वर्णन हमें प्राप्त है—परन्तु उनकी परीक्षा द्वारा रोग निर्णय में सहायता तथा निष्काशन द्वारा रोगी के कष्ट में तात्कालिक लाभ अथवा रोग-निरामयता में सहायता-प्राप्ति का उपाय विशेषरूप से वर्णित नहीं है, जो कुछ मामूली वर्णन जलोदरादि क्षेत्र में सुश्रुतसंहिता आदि ग्रन्थों से हमें प्राप्त भी है उसका उपयोग आज के आयुर्वेद-जगत में विरल ही है। परन्तु इन प्रक्रियाओं की उपयोगिता के सम्बन्ध में मतानैक्य नहीं है। अतः आयुर्वेद जगत में भी इस ज्ञान का प्रचार व प्रसार हमारी प्रगति के लिए अत्यावश्यक कहा जा सकता है। सभी वैद्यों के पास इन क्रियाओं के लिए उपयुक्त साधन होना ही चाहिए एवं वे सब ही इन प्रक्रियाओं में सिद्धहस्त हों यह भी अपेक्षित नहीं है। कुछ वैद्यों को विशेषतः आधुनिक आयुर्वेद कालेजों से निकले स्नातकों को इन क्रियाओं में कुशलता प्राप्त करना चाहिए और सभी वैद्यों को इन क्रियाओं के सम्बन्ध में विषयगत ज्ञान रहना चाहिये, जिससे वे साधन सम्पन्न व सिद्ध हस्त वैद्य या डाक्टर की सहायता से इन क्रियाओं के द्वारा रोगी को आवश्यक सहायता पहुंचा सकें तथा प्रयोगशाला से प्राप्त परीक्षाफल से रोगनिर्णय में सहायता प्राप्त कर सकें। इससे आयुर्वेद में हानि के बदले प्रगति ही होगी, क्योंकि रोगनिर्णय में कुछ सरलता आवेगी तथा दोषदूष्य का निर्धारण भी कुछ अधिक हद तक हो सकेगा। आयुर्वेदीय चिकित्सा क्षेत्र में मार्ग दर्शन भी होगा यह आशा भी की जा सकती है। इसके ऊपर रोगी को तात्कालिक उपशय दिलाकर उसे सन्तोष तथा लाभ पहुँचाया जा सकेगा।

विभिन्न स्रावों की परीक्षा के लिये पूर्ण साधन सम्पन्न प्रयोगशाला तथा उक्त शास्त्र के विद्वान व अभिज्ञ व्यक्तियों की आवश्यकता है। आज के वैद्य जगत में यह असम्भव सा प्रतीत होता है। कुछ आधुनिक स्नातक अगर शारीर विकृति विज्ञान के ऊपर दिलचस्पी लेकर प्रयोगशाला में विशिष्ट कर्माभ्यासमूलक उच्च शिक्षा प्राप्त करें और साधन सम्पन्न प्रयोगशाला की स्थापना कर सकें तो अति उत्तम होगा परन्तु जब तक इस परिस्थिति की सृष्टि नहीं की जा सकती है तब तक डाक्टरों की प्रयोगशालाओं के ऊपर ही हमें निर्भर रहना पड़ेगा। एतदर्थ स्रावों की परीक्षा की विधियों के सम्बन्ध में यहां वर्णन नहीं किया जा रहा है, इन परीक्षाओं का वर्णन पाश्चात्य चिकित्साशास्त्रोक्त विभिन्न ग्रंथों में से प्राप्त किया जा सकता है। अतः विभिन्न परीक्षा-फल का स्वाभाविकत्व व अस्वाभाविकत्व एवं अस्वाभाविकत्व से रोगनिर्णय के संवन्ध में ज्ञान प्राप्ति के लिए इस निबन्ध में यथासम्भव सरलता

के साथ वर्णन की प्रचेष्टा की जावेगी। मेरे ख्याल से इस प्रकार की प्रचेष्टा यही प्रथम है और संभव है इसमें कुछ त्रुटियां रह जांय, परन्तु मुझे विश्वास है कि विद्वान् वैद्यों की सहायता से अदूर भविष्य में इन त्रुटियों का संशोधन हो जावेगा, जिससे आयुर्वेद जगत् अधिकतर लाभ उठाता रहेगा।

फुफ्फुसधरा कलान्तराल से स्राव निष्काशन (Paracentasis Thoracis)—पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति के अनुसार आर्द्र तथा पूयज उरस्तोय में स्राव निष्काशन एक विशिष्ट व प्रधान उपाय है। आज-कल उरस्तोय में स्राव निष्काशन पहिले से अधिक-तर प्राथमिक अवस्था में तथा एकाधिकार किये जाते हैं।

स्राव-निष्काशन कहां उपयुक्त तथा आवश्यक है—इस सम्बन्ध में मतभेद है, परन्तु साधारणतः निम्नलिखित बातों पर ध्यान देकर स्राव-निष्काशन की आवश्यकता मानी जाती है। (१) अगर स्राव का संचय होकर अक्षकास्थि अथवा द्वितीय पशु का तक पहुँच गया हो जिससे श्वासकष्ट तीव्र होरहा हो, निम्ने यकृत या प्लीहा स्थान-भ्रष्ट हो रहा हो या स्वस्थ फुफ्फुस में रक्ताधिक्य होता हो (२) अगर स्राव-संचय के बाद उसका शोषण अत्यन्त धीरे-धीरे से या नहीं होता हो, संचित स्राव की ऊर्ध्व सीमा दो हप्ते या इससे भी अधिक दिन तक एक ही स्थान पर रहती हो (३) अगर स्वस्थ फुफ्फुस में तरुण शोथ उत्पत्ति हो और तज्जन्य श्वेताभ कफ काफी निकल रहा हो (४) अगर दोनों तरफ स्राव संचित हुआ हो-तो जिस तरफ स्राव अधिक संचित हुआ हो उधर से ही स्राव-निष्काशन करना चाहिये।

स्राव निष्काशन की विधि—

काय-चिकित्सकों को इस विधि से सर्वथा परिचित रहना चाहिये। यह विधि सरल भी है—तथा सावधानी से अपनाने में रोगी को तात्कालिक लाभ पहुँचता है। इसमें विपदाशङ्का भी नहीं रहती है।

(क) साईफन विधि—

शस्त्र-क्रिया के पहिले यन्त्र-शस्त्रादि का अच्छी तरह विशोधित व जीवाणुरहित किया जाना चाहिये। उसके बाद ट्रोकर-केनुला फुफ्फुसधरा कालान्तराल में प्रवेश कराकर साईफन विधि से काफी नीचे रखे हुए एक बर्तन में स्राव-निष्काशित किया जाता है। इससे सुविधा यही है कि एक निर्दिष्ट वेग से स्राव का निष्काशन होता रहता है और धीरे धीरे स्राव निकलने के कारण फुफ्फुस में धीरे-धीरे प्रसारण होता जाता है। परन्तु इस विधि से काफी मात्रा में स्राव-निष्काशन दुरूह हो जाता है, विशेषतः सीमा-वद्ध स्राव-संचय में यह पद्धति कार्यकारी नहीं होती है।

(ख) आहरण विधि—

यही विधि आजकल अधिकाधिक उपयोग में ली जाती है। साधारणतः द्विमुख पिचकारी (Martin's syringe) की सहायता से स्राव आहरण किया जाता है। परन्तु इस विधि से सम्पूर्ण रूपेण स्राव आहरण असम्भव होता है—अतः स्राव आहरण के साथ-साथ फ्फुफुसधरा कलान्तराल में वायु प्रवेश कराने की विधि से आजकल विशेष लाभ लिया जाता है—जिससे स्राव आहरण के साथ ही साथ वायु प्रवेश कराने से सम्पूर्ण रूप से स्राव निष्काशन किया जा सकता है। इससे स्राव आहरण के कारण कास तथा पीड़ा का उदय नहीं होता है, बारम्बार स्राव-संचय नहीं होता है, फुफ्फुस प्रसारण में सहायता मिलती है।

अग्र कर्म—

स्राव-आहरण के लिये रोगी को शय्या पर उपविष्ट अथवा आक्रान्त पार्श्व में अर्द्धशायितावस्था में रखना चाहिये। आवश्यक यन्त्र शस्त्रादि का विशोधन तथा औषधियों का संग्रह होना आवश्यक है। आक्रान्त पार्श्व में वेधन के स्थान के चारों ओर टिंचर आयोडीन से विशोधित कर लेना

चाहिये। स्राव-संचय के स्थान के अनुसार वेधन का स्थान कक्ष मध्य रेखा में षष्ठ पर्शुकान्तराल में, कक्ष-पश्चिम रेखा में सप्तम पर्शुकान्तराल में तथा अंसफलकास्थि के निम्न कोण से ठीक नीचे अष्टम पर्शुकान्तराल में निर्दिष्ट किया जाता है।

मध्य कर्म—

वेधन के निर्दिष्ट स्थान को पहले संज्ञाहीन बना लेना चाहिये। एतदर्थ उक्त स्थान पर कोकेन अथवा नोभोकेन का सूचीवेध चर्माभ्यन्तर में तथा मांशपेशी में दिया जाता है। उक्त स्थानसंज्ञाहीन होने के पश्चात् निम्नस्थ पर्शुका से ठीक उर्द्ध सीमा के ऊपर से होकर ट्रोकर-केनुला अथवा द्विमुख पिचकारी की सुई सावधानी के साथ फुफ्फुसधरा कलान्तराल में प्रवेश कराई जाती है। निम्नस्थ पर्शुका के ठीक ऊपर से वेधन कार्य होने से पर्शुकान्तरालस्थित धमनी में आघात की आशङ्का कम हो जाती है। ट्रोकर निकाल लेने से केनुले के जरिये से आसानी से स्राव निकलता जाता है। पिचकारी की सुई प्रवेश कराने से, पिष्टन खींचने से, स्राव पिचकारी के अन्दर भर आता है और बाद में उस मुंह को बन्द कर बाजु में नली लगी हुई दूसरे मुंह से उस स्राव को अन्य वर्तन या बोतल में निष्काशित किया जाता है। इस क्रम को बार बार करना पड़ता है। अगर खांसी आने लगे या तीव्र वेदना का अनुभव होने लगता हो अथवा खांसी के साथ श्वेताभ कफ निकलना शुरु हो जाता हो तो स्राव आहरण बन्द कर देना चाहिये। कभी कभी फुफ्फुसधराकला में सद्मा के कारण अचानक मृत्यु तक हो सकती है, एतदर्थ किसी-किसी ग्रन्थकर्त्ता ने फुफ्फुसधरा कला तक में नोभोकेन का सूचीवेध पहुँचाने की सलाह दी है। इस विधि में विपदाशङ्का प्रयोगकर्त्ता के भूल-त्रुटि पर ही निर्भर है—जिसमें असावधानता और त्रुटिपूर्ण नली संयोग के कारण कलान्तराल में वायु प्रवेश, फुफ्फुस में आघात तथा सम्यक्रूपेण विशोधन के अभाव में फुफ्फुसधरा कला में पूयःज जीवाणुओं के संक्रमणजन्य स्राव में पूयःज परिवर्तन आदि प्रधान है।

वेधन-क्रिया से कभी कभी फुफ्फुस में आघात लग जाता है, इसका पता पिचकारी खींचने से उसके अन्दर वायु अथवा फेनयुक्त उज्वल रक्तवर्ण रक्त आने से लग जाता है, ऐसा होने से तत्क्षण ही सुई निकाल लेना चाहिये और थोड़ी देर बाद पिचकारी से रक्त को निकाल फेंककर दुवारा स्राव-निष्काशन की प्रचेष्टा सावधानी से करनी चाहिये।

पश्चात् कर्म—

स्राव-निष्काशन के पश्चात् वेधस्थान पर वेनजाईन का फाया रख कर मुंह बन्द कर दिया जाता है। ऊपर से विशुद्ध वस्त्र खण्ड (गाज) व कपास रख कर पट्टी बांध देना चाहिए। चिपकने वाली पट्टी (Adhesive plaster) से काम लिया जा सकता है। रोगी को चाय, गरम दुग्ध आदि पिला कर शय्या पर शायित अवस्था में रखना विशेष आवश्यक है। सद्मा अथवा अन्यान्य उपसर्गों के लिए यथोचित चिकित्सा की जानी चाहिए।

उरस्तोय से निष्काशित स्राव परीक्षा—

फुफ्फुसधरा कलान्तराल में जीर्ण वृक्क प्रदाह जनित सर्वाङ्ग शोथ में और कई कारणों से स्राव-संचय होता है। उरस्तोय के प्रदाह जनित स्राव को निर्यास (Exudate) कहा जाता है और सर्वांग शोथ में जो स्राव संचय दवाव के कारण फुफ्फुसधरा कलान्तराल में होता है—उसे पर्यात जल (Transudate) कहा जाता है। इस अवस्था में भी श्वास कष्ट आदि के कारण फुफ्फुधरा-कलान्तराल से स्राव-निष्काशन की आवश्यकता होती है एवं उसकी विधि भी पूर्ववत् है। परन्तु इन दोनों प्रकार के स्रावों में स्वच्छता तथा वर्ण-सामान्य को छोड़कर कुछ विभिन्नतायें रहती हैं। प्रदाह-जनित स्राव में थोड़ी देर रखने के बाद थक्का बन जाता है, उसका आपेक्षिक गुरुत्व १.१८ से ऊपर ही रहता है, उसमें आमिष जातीय पदार्थ (Protein) का परिमाण ४ प्रतिशत

से अधिक तथा कोषों की संख्या साधारणतः अधिकतर रहती है। दबाव जनित स्राव में थक्का बनना नहीं के बराबर होता है, उसका आपेक्षिक गुरुत्व साधारणतः १-१२ से नीचे ही रहता है, उसमें आमिष जातीय पदार्थ (प्रोभूजिनों) का परिमाण २ प्रतिशत से कम तथा कोषों की उपस्थिति बहुत ही कम रहती है। फुफ्फुसधरा कलान्तराल से निष्काशित स्राव में रक्त की उपस्थिति वहां अर्बुदोत्पत्ति का द्योतक है, परन्तु कभी कभी फुफ्फुसधरा-कला में स्राव-संचय क्षयरोगाक्रमण के कारण भी हो सकता है। फुफ्फुसधरा कलान्तराल के स्राव में अवस्थित कोषों की विभिन्नता से रोग निर्णय में काफी सहायता मिलती है—जैसे कि उक्त स्राव में लसीकाणुओं (Lympho-cytes) की संख्या वृद्धि से क्षयज उरस्तोय की प्रतीति होती है तथा बहुकोष्ठीय श्वेतकणिकाओं (Poly morpho nuclear cells) की उपस्थिति से पूयज अथवा अन्य प्रकार के उरस्तोय का निर्णय होता है। फुफ्फुसधरा कलान्तराल से निष्काशित स्राव अगर रोग जीवाणु रहित पाया जाय तो उसे Guinea pig के शरीराभ्यन्तर में सूची वेध के द्वारा प्रविष्ट कराने से क्षय रोग जीवाणुओं की उत्पत्ति प्रत्यक्ष की जा सकती है। साधारणतः ७० प्रतिशत क्षेत्र में इस तरह से सकारात्मक परीक्षाफल प्राप्त हो सकता है। ऐसा रोग-जीवाणु रहित स्राव साधारणतः क्षयज उरस्तोय का ही द्योतक है। आर्द्र उरस्तोय में स्राव का रङ्ग साधारणतः हरित्-पीत वर्ण तथा उसमें उपरोक्त अन्यान्य लक्षणों के अलावा शर्करा तथा यूरिकएसिड की मात्रा स्वल्प रहती है, अल्प संख्या में लाल रक्त कणिका, तथा लसीकाणु उपस्थित रहते हैं। २४ घन्टे के अन्दर इस स्राव में विशेष रूप से थक्का बन जाता है। इसमें कभी कभी कुछ पूयकोष भी रह सकते हैं। कभी कभी यह स्राव रक्त बहुल हो सकता है, जिसमें अत्यधिक संख्या में लाल रक्त कणिकायें उपस्थित रहती हैं। पूयज उरस्तोय में स्राव मामूली अपारदर्शक से लेकर गाढ़ा पूय के समान हो सकता है। उसका आपेक्षिक गुरुत्व १-३० अथवा इससे भी ऊपर रहता है। मेद जनित अपारदर्शक स्राव में (*caustic potash solution*) सम्मिलित करने के बाद *Ether* के साथ मिलाकर हिलाया जाता है—जिससे मेद विगलित होजाता है और स्याही शोख के ऊपर उस *Ether* को छिड़कने से उसका दाग रह जाता है। अणुवीक्षण यन्त्र की सहायता से परीक्षा करने पर पूयज उरस्तोय के स्राव में प्रचुर संख्या में पूयकोषों की उपस्थिति नजर आती है। इस तरह से उरस्तोय की विभिन्नताओं के सम्बन्ध में स्राव परीक्षा के द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

हृदभधराकलान्तराल से श्राव निष्काशन—(Paracentesis Pericardii) हृदयधराकलान्तराल में जलीय, पूयज अथवा रक्त-मिश्रित स्राव संचित हो सकता है, हृदयधराकलान्तराल में स्राव संचय के क्षेत्र में स्रावनिष्काशन के लिये तभी सोचना चाहिये जब कि स्राव का परिणाम अत्यधिक हुआ हो—जिससे अधिक श्वासकष्ट, चेहरे पर श्यावता, अधिमन्या सिराओं में विस्फारण, हृदयगति में अत्यधिक वृद्धि तथा रक्तचाप में काफी ह्रास की प्रतीति होती है। साधारणतः जलीय स्राव के क्षेत्रों में ही स्राव-निष्काशन की आवश्यकता होती है। हृदयधराकलान्तराल से स्राव निष्काशन के लिये वाम पार्श्वस्थ पंचमपर्शुकान्तराल में अक्षक-मध्य रेखा के अन्दर के बाजू में अथवा उरःफलक की पार्श्वसीमारेखा से १ इञ्च बायें तरफ पंचम पर्शुकान्तराल में अथवा उरःफलक के निम्नांश तथा संलग्न पर्शुका द्वारा निर्मित कोण में उरःफलक के निम्न भाग से इसके पीछे की ओर ऊपर तथा भीतर की दिशा में हृदयधराकलान्तराल में सूची प्रवेश कराना चाहिये। ध्यान रहे-इस प्रक्रिया में हृत्पिण्ड में जरासा भी आघात न पहुँचे। एतदर्थ—ट्रोकर और केनूला (Trocar & Canula) अथवा द्विमुख पिचकारी (Martin's Syringe) अथवा (Potain

Aspirator) का उपयोग लिया जाता है। अवस्रावनिष्काशन अति धीरे करना चाहिये। अवस्थानुसार ८ से १२ औंस तक अथवा किसी किसी जीर्ण रोगियों में ४० औंस तक स्राव निकाला जा सकता है। हृदयधराकलान्तराल से स्राव निष्काशन की आवश्यकता कदाचित ही होती है।

स्रावों की परीक्षा—हृदयधराकलान्तराल से निष्काशित स्राव परीक्षा अणुवीक्षण यन्त्र की सहायता से की जाती है। स्रावों का रंग, रूप तथा उसमें अवस्थित कोषों के द्वारा रोग निर्णय में सहायता मिल सकती है—जोकि उरस्तोय से निष्काशित स्राव-परीक्षा के अनुरूप है।

जलोदर में स्रावनिष्काशन (Paracentesis Abdominis)—जलोदर में जब स्राव संचय इतना अधिक हो जिससे रोगी को काफी तकलीफ होती रहे अथवा अन्न-पाचन, रक्ताभिसरण अथवा श्वासप्रश्वास में बाधा उपस्थित हो तब स्राव निष्काशन की आवश्यकता होती है, आयुर्वेद शास्त्र में भी जलोदर में व्रीहिमुख शस्त्र के द्वारा स्रावनिष्काशन का उपदेश हमें प्राप्त है। एक ही बार में सम्पूर्ण स्राव निष्काशन के लिये आयुर्वेद शास्त्र में भी मना किया गया है एवं कुछ दिनों के अन्तर से कई बार स्राव निष्काशन के लिये उपदेश दिया गया है।

जलोदर में स्राव निष्काशन के लिये नाभि तथा भगपीठ के बीच मध्य रेखा में अथवा कुछ दाहिने ओर उत्तरा पुरःकूट व नाभि की मध्यरेखा में सूचीवेध किया जाना चाहिये। स्राव निष्काशन कार्य के पहिले रोगी का मूत्राशय खाली करवा लेना चाहिये तथा यकृत प्लीहा अत्यधिक वर्द्धित होने से जिससे उनमें आघात न लगे इस ओर ध्यान देना चाहिए। सूचीवेध के लिए किसी स्तब्ध (Dull) स्थान को ही चुन लेना चाहिये।

रोगी को कुर्सी पर अथवा पलंग पर पृष्ठाधार व तकियों के सहारे बैठाया जाता है और उसका उदर बहुशाखा विशिष्ट एक चौड़ी बन्धनी के द्वारा पीछे से सामने की ओर बांधा जाता है। ऊपर से गंठानों का प्रारम्भ होना चाहिये। जैसे जैसे स्राव निकलता जावेगा वैसे वैसे ऊपर से गँठान कसते जाना चाहिये, नहीं तो आभ्यन्तर यन्त्रों में धमनी प्रसार तथा रक्त संचयाधिक्य के कारण रोगी संज्ञाशून्य हो सकता है।

रोगी को पूर्वोक्त रूप से बैठाकर उपयुक्त स्थान निर्देश के पश्चात् उक्त स्थान को अच्छी तरह से विशोधित करना चाहिये। इसके पहिले ही उक्तस्थान के केशों को बिलकुल साफ कर कार्बोलिक साबुन तथा स्पिरिट से साफ कराकर रखना चाहिए। रोगी को स्रावनिष्काशनार्थ बैठाकर फिर से उक्त-स्थान को पहिले स्पिरिट और बाद में टि० आयोडीन से विशुद्ध कर लेना चाहिये। बाद में विशोधित पिचकारी के द्वारा उक्त स्थान तथा आसपास की जगह २ प्रतिशत प्रोकेन (Procaine) या नोभीकेन (Novecaine) के घोल से संज्ञाशून्य बना लेना चाहिये। अन्त में विशोधित सूक्ष्माग्र वृद्धिपत्र (Scalpal) से उक्त स्थान पर मामूली चीरा लगाकर उसके अन्दर से विशोधित टोकर-केनुला उदर गह्वर के अन्दर प्रवेश करा देना चाहिये। यथेष्ट प्रवेश के पश्चात टोकर निकाल लेने से अगर स्राव निकलने लग जाता है—तो केनुले के मुंह पर एक विशोधित रबर की नली लगाकर निकलते हुये स्राव को एक गंभीर बर्तन में संग्रह करना चाहिये। परीक्षा के लिये थोड़ा सा स्राव एक विशोधित कांचनलिका (Test-tube) में भरकर डांट लगा लेना चाहिये। केनुले को अपने स्थान पर स्थिर रखने के लिए चिपकने वाली पट्टी (Adhesive plaster) का उपयोग करना अच्छा है। अगर स्राव निकलते निकलते बन्द हो जाय तथा उदर गुहा में काफी स्राव संचय का संदेह रहे तो केनुले को थोड़ा सा अन्दर या आसपास की ओर घुमाना चाहिये अथवा अगर दक्षिण कुक्षि में वेधन किया गया हो तो रोगी

के दक्षिण पार्श्व में थोड़ासा दबाकर बैठालना चाहिए। जब स्राव निकलना बिलकुल बन्द हो जाय तब धीरे धीरे केनुले को निकालकर उक्त स्थान पर पहिले टि० आयोडिन लगाकर फिर बाद में टि०बेन-जाईन से बन्द कर देना चाहिए। बेनजाईन का फाया सूख जाने पर उक्त स्थान पर विशोधित पट्टी से बांधकर रखना चाहिये।

स्राव निष्काशन के पश्चात् रोगी को काफी देर तक सुलाकर रखना चाहिये। स्राव निकलते समय या बाद में रोगी को कुछ दुर्बलता अनुभव हो तो मामूली उत्तेजक औषधि या पथ्य—जैसे मृतसंजी-वनी सुरा, Spt. Amon. Aromat अथवा चाय, काफी इत्यादि दी जा सकती है। आवश्यक होने से उत्तेजक औषधियों का सूचीवेध तक दिया जा सकता है।

जलोदर से निष्काशित श्राव परीक्षा—जलोदर से निष्काशित स्राव की परीक्षा फुफ्फुसधराकलान्तराल से निष्काशित स्राव परीक्षा के अनुरूप है।

यकृत-विद्रधि से स्राव निष्काशन (Aspiration of Liver Abcess)—साधारणतः एमिबिक जातीय प्रवाहिका के आक्रमण के बाद हमारे देश में यकृत व्रण शोथ● की उत्पत्ति होती है। यह व्रणशोथ प्रायशः यकृत के दक्षिणपिण्ड में ही होता है, कदाचित ही वामपिण्ड में हो सकता है। साधारणतः एमिबिक जातीय प्रवाहिका में पीड़ित होने के पश्चात् यकृत प्रदेश में वेदना व स्पर्शासहत्व के साथ ज्वरताप व यकृदाकार में वृद्धि परिलक्षित होने से व्रणशोथ का सन्देह हो सकता है। इसमें यकृत ऊपर या नीचे की ओर अथवा उभयदिशा में विवृद्ध होसकता है। कभी कभी दक्षिणपार्श्व में निम्नस्थपर्शु कान्तराल में सबसे अधिक वेदना व स्पर्शासहत्व का अनुभव हो सकता है। ऐसा होने से उक्त स्थान को चिन्हित कर रखना चाहिए। कभी कभी पूर्वोक्त लक्षण एमिबा-जनित यकृत प्रदाह के कारण भी उत्पन्न हो सकते हैं। अतः औषधि के द्वारा विशेषतः एमिटीन या रेसोचीन (Emetine hydrochlore or Resochin) से चिकित्सा करने के बाद भी अगर उक्त लक्षणों का ह्रास न हो या लक्षणों की वृद्धि ही नजर आवे तो यकृत से सूचीवेध द्वारा रोग निर्णय तथा चिकित्सा में सहा-यता के लिये स्राव निष्काशन की चेष्टा शीघ्र करनी चाहिये।

●यकृत-व्रण शोथ = यकृत-विद्रधि।

स्रावनिष्काशन की पद्धति—स्रावनिष्काशन के लिये स्थान निर्देश के लिए पूर्वोक्त चिन्हित अंश अथवा दक्षिण कक्ष की पुरःसीमा में अष्टम, नवम या दशम पर्शुकान्तराल को चुन लेना चाहिए। उक्त स्थान को पहिले अच्छी तरह से साफ कर स्पिरिट व टिंचर आयोडिन से विशोधित कर लेना चाहिए। बाद में निर्दिष्ट स्थान के चर्माभ्यन्तर व तन्निम्नस्थ तन्तुओं में २ प्रतिशत कोकेन अथवा नोभोकेन के सूचीवेध के द्वारा संज्ञाशून्य बना लेना चाहिए। स्रावनिष्काशन के लिये द्विमुख पिचकारी (Martin's Syrnige) अथवा Potrain's aspiratar विशेष उपयोगी है। जिसमें छेद कुछ मोटा है—ऐसी स्थूल व मजबूत ४।५ इंच लम्बी सूची यकृत से स्राव निष्काशन के लिये सुविधाजनक है—क्योंकि यकृत में संचित पूय काफी गाढ़ा हो सकता है, और बारीक सूई से वह पूय बाहर आता नहीं है। उक्त सूची की नोक से ठीक ३. ३/४ इंच ऊपर तक चिपकने वाली पट्टी लगा लेना चाहिये, इसका उद्देश्य सतर्कता ही है, क्योंकि एक साधारण स्वास्थ्य के पूर्णवयस्क व्यक्ति में उसकी अवरा महासिरा ऊपर से कम से कम ४½ इंच पीछे की ओर रहती है। जिससे वेध्य सूची किसी भी तरह से ३.३/४ इंच से अधिक अन्दर प्रविष्ट न कराया जाय' इस लिये इस सतर्कता का अवलम्बन किया जाता है। ३.३/४ इंच तक सूची प्रवेश कराने से यकृत के दक्षिण पिण्ड की अन्तिम सीमा तक पहुँचा जा सकता है और अवरा महासिरा को आघात पहुँचने की सम्भावना नहीं रहती है।

रोगी को चित अथवा थोड़ासा वाम करवट पर लिटाकर संज्ञाशून्य करके निर्दिष्ट स्थान पर विशोधित सूची को द्विमुख पिचकारी में सुसम्बद्धकर विद्ध करना चाहिये और विपरीत दिशा में मामूली कुछ ऊपर अर्थात् रोगी के सिर की ओर अधिक से अधिक ३३/४ इंच अर्थात सूची को अनावृत अंश तक अन्दर प्रविष्ट करना चाहिये। सभी क्षेत्रों में ३–३/४ इंच तक सूची प्रविष्ट करना ही चाहिये यह बात नहीं है। सूची को अन्दर प्रवेश कराने के साथ साथ पिचकारी के पिष्टन (Piston) को खींचते जाना चाहिये और पिचकारी के अन्दर पूय के आते ही सूची को और अन्दर प्रविष्ट करना बन्द कर देना चाहिये एवं पूय को निकालना शुरू कर देना चाहिये। पूय निकलना बन्द हो जाने से फिरसे थोड़ी दूर तक सूची को प्रविष्ट कर पूय निकालने की केष्टा की जानी चाहिये। एक साधारण यकृत व्रणशोथ से करीब करीब सवा सेर पूय निकलता है, परन्तु कभी कभी तीन से चार सेर तक पूय भी निकलता है—ऐसा देखा गया है। पूय निष्काशन के समय व्रणगुहा में पिचकारी की सहायता से वायु प्रवेश करते जाना चाहिये और जब तक रोगी यकृत प्रदेश अथवा पीठ के ऊपर स्कन्ध देश में वेदना का अनुभव न करे तब तक करते जाना चाहिये। साधारणतः रेसोचीन या एमीटिन आदि औषधियों के प्रयोग साथ ही साथ करने से एक बार से अधिक स्राव निष्काशन की आवश्यकता नहीं पड़ती है, परन्तु अगर फिर से यकृत में पूय संचय हो तो बार-बार इसी तरह पूय निष्काशन किया जा सकता है। स्राव-निष्काशन के पश्चात् विद्धस्थान को टि. आयोडिन से विशोधित वस्त्रखण्ड (Gauze) को रखकर पट्टी बांध देनी चाहिये या चिपकने वाली पट्टी (Adhesive plaster) से उसे स्थान-संश्रित रखना चाहिये।

यकृत व्रण शोथ से निष्काशित स्राव की परीक्षा-यह स्राव हम को जामुन रङ्ग का (Chocholate) होता है, यह इस पूय में रङ्ग की विशिष्टता है जिससे रोग निर्णय में काफी सहायता मिलती है। यह पूय कभी पतला कभी गाढ़ा हो सकता है। रोग जीवाणुओं के अन्दर Strepto Coccus व Staphylococcus ही प्रधान है। कभी कभी सजीव Entamaeba Histolytica भी मिल सकता है। परन्तु मलपरीक्षा में सजीव E. Histolytica अथवा उसके Cyst मिलने से रोग निर्णय में सन्देह नहीं रहता।

यकृत में कृमि–कोष (Hydatid Cyst) नामक एक प्रकार का अर्बुद उत्पन्न हो सकता है, जिसके अन्दर भी स्राव संचित रहता है। परन्तु वह स्राव साधारणतः रोगजीवाणु व पूय-कोष रहित होता है एवं उसमें सराचर‡ Eosinophil की वृद्धि काफी संख्या में—कभी कभी ७५ प्रतिशत तक पाई जाती है। अवश्य Hydatid Cyst में विशेष परिस्थिति में रोगजीवाणु संक्रमण होकर स्राव में पूय संचार हो सकता है, परन्तु यह अवस्था Hydatid Cyst में औपसर्गिक अवस्था कही जा सकती है। अतः यकृत के व्रणशोथ तथा Hydatid Cysts से निष्काशित स्रावों में पार्थक्य निर्णय सरलता से किया जा सकता है।

प्लीहावेधन के द्वारा रक्तनिष्काशन (Spleen Puncture)

प्लीहावेध से रक्तनिष्काशन प्रधानतः कालान्तर में रोगनिर्णय के लिये ही किया जाता है। अन्य उपायों से रोगनिर्णय में असफल होने के पश्चात् ही प्लीहावेधन का आश्रय लेना चाहिए, अन्यथा नहीं। विशेषतः शोणित प्रियता या सहज रक्तपित्त (Haemophilia) तथा प्लीहोदर (Leukaemia) के रोगियों में प्लीहावेध निषिद्ध है।

प्लीहावेध के लिये काफी विवृद्ध प्लीहायुक्त रोगियों को ही उपयुक्त माना जाता है। रोगी को

‡सचराचर=उषसिप्रिय।

शय्या पर चित लिटाकर एक सहकारी उसकी प्लीहा को ऊपर की ओर महाप्राचीरा तथा निम्न पशु कात्रों में दबाकर दृढ़रूपेण पकड़ रखेगा। पहिले से ही निर्दिष्ट वेध्य स्थान को स्पिरिट व टि० आयोडीन की सहायता से शुद्ध कर लेना चाहिए। वेधन के समय रोगी को निश्वास रोकने के लिए कहा जाय और दुबारा वहां एक टि० आयोडीन का फाया लगाकर सूख जाने के पश्चात् एक शुष्क (पूर्णरूप से जल विहीन) पिचकारी में लगी हुई १४ नं० सुई को दृढ़ हाथ से सीधी प्लीहा के अन्दर प्रवेश कराकर उसी समय जोर से पिचकारी खींचकर रक्त निकाल लेना चाहिये और क्षिप्रगति से एक ही झटके से सूई को बाहर निकाल लेना चाहिए। उस स्थान पर टि० बेनजाईन के फाये से मुंह बन्द कर देना चाहिए और रोगी को कम से कम १½। २ घण्टों तक शय्या पर शायित अवस्था में रखना चाहिए। बार-बार रोगी की नाड़ी गति के ऊपर ध्यान देना चाहिए जिससे आभ्यन्तर रक्तस्राव हो रहा है या नहीं इसका पता लग सके। याद रहे कि नाड़ी गति की क्षिप्रता आभ्यन्तर रक्तस्राव का प्रथम लक्षण है।

परीक्षा—इस रक्त को *Leishman-Donovan bodies* की उपस्थिति के लिए उपयुक्त विधि से परीक्षा की जाती है। *Leishman--Donovan bodies* के मिलने पर कालाज्वर का रोगनिर्णय हो जाता है।

कटीवेध के द्वारा मस्तिष्क--सुषुम्ना--द्रव निष्काशन (*Lumbar puncture*):—

मस्तिष्क-सुषुम्ना द्रव निष्काशन–विशेष रूप से (१) रोग निर्णयात्मक परीक्षा के लिये एवं (२) मस्तिष्कीय अथवा सुषुम्नाकाण्डीय दबाव कम करने के लिये किया जाता है। इसके अलावा कटि-वेध द्वारा सुषुम्ना विवर को धुलाया जाता है अथवा उसमें औषधि प्रयोग भी किया जाता है। अन्यान्य वेधन की तुलना में कटिवेध कुछ कठिनतर कार्य है, जिसमें अनुभव तथा सावधानी विशेष रूप से अपेक्षित है। कटिवेध के पश्चात् रोगी को कम से कम १२ से २४ घण्टे तक शय्या पर शायित अवस्था में ही रखना चाहिए, विशेषतः मस्तिष्कीय अर्बुद आदि क्षेत्रों में कटिवेध के पश्चात् रोगी को २४ घण्टे के बाद भी बैठने की अनुमति कई घंटों तक नहीं देनी चाहिये।

कटिवेध के लिये रोगी को एक दृढ़ व समतल पलंग के एक किनारे पर एक करवट पर सुला देना चाहिए, जिससे उसकी पीठ पलंग के बिलकुल किनारे पर रहे। रोगी का मस्तक झुकाकर त्रिकास्थि के समान स्तर पर रखना तथा जानुसंधि को ऊपर चढ़ाकर रोगी को बिलकुल मोड़ लेना परमावश्यक है जिससे उसकी पीठ एक धनुष का आकार बन जाय। एक शक्तिमान सहकारी से इस तरह से रोगी को पकड़वा कर रखना चाहिये जिससे रोगी हिलने न पावे। कटिवेध के लिये तृतीय व चतुर्थ कटिकशेरु-काओं के अन्तरालवर्त्ती स्थान को ही सर्वोत्तम माना जाता है। कभी कभी चतुर्थ व पंचम कटिकशेरुका-न्तराल को भी कटिवेध के लिये निर्दिष्ट किया जाता है। ऊपर से कशेरुकाओं के बीच में से एक रेखा टिन्चर आयोडिन के फाये से नीचे की ओर खींची जाय और उभय श्रोणिफलकों को जघन चूड़ा के सर्वोच्च बिन्दुओं को एक रेखा द्वारा संयोजित किया जाय। ये दोनों रेखा साधारणतः तृतीय अथवा चतुर्थ कशेरुका के ऊपर अथवा दोनों के अन्तराल वर्ती स्थान के ऊपर परस्पर मिलती हैं। उसी स्थान में कशेरुकान्तराल को कटिवेध के लिये निर्दिष्ट करना चाहिये। उक्त स्थान को अच्छी तरह स्पिरिट व टिन्चर आयोडिन से विशोधित कर २ प्रतिशत कोकेन अथवा नोभोकेन के सूचीवेध से क्रमशः ऊपर से नीचे की ओर संज्ञाशून्य बना लेना चाहिये। इसके पश्चात् चिकित्सक विशोधित हस्त से कशेरुकान्तराल को अच्छी तरह से दबा कर कटिवेध के लिये व्यवहृत सूची को संज्ञाशून्य स्थान पर चाहे बिलकुल बीच में से अथवा थोड़ा सा एक बाजु से भीतर की ओर प्रवेश करावें। सूई का मूल-

भाग नीचे की ओर रखकर उसके अग्रभाग को थोड़ा सा ऊपर की तथा सामने की ओर सुषुम्ना विवर में प्रवेश कराते जाना चाहिए। साधारणतः इस क्रिया में सूचीवेध के समय बन्धनी के ऊपर के अलावा विशेष बाधा नहीं मिलती है, सूई मामूली दबाव से अन्दर प्रविष्ट होजाती है। इस तरह की मामूली बाधा के पश्चात् अचानक सूची प्रवेश सरल होजाता है जिससे यह पता लग जाता है कि सूई सुषुम्ना विवर में प्रवेश कर चुकी है। इस समय सूची के अभ्यन्तर से शलाका को निकाल कर देखना चाहिए, सुषुम्ना विवर में सूची प्रविष्ट होने से कुछ सेकेन्ड के अन्दर सूची मूल से सुषुम्ना द्रव टपकने लगता है। साधारणतः सुषुम्ना विवर में पहुँचने के लिये ४ से ६ सेन्टीमिटर (१.३/४ इंच से २.१/४ इंच तक) सूची प्रवेश कराया जाता है। अगर सुषुम्ना द्रव नहीं निकला तो फिर से शलाका को सूची के अन्दर डाल कर और थोड़ी दूर तक सुई को प्रविष्ट कराना चाहिए व शलाका निकाल कर सुषुम्ना द्रव निकलता है या नहीं यह देखना चाहिए। अगर वेधन कार्य के समय सूची किसी अस्थिमय प्रदेश में लग जाय तो थोड़ी दूर तक सूई को निकालकर जरासी परिवर्तित दिशा में फिर से सूची प्रवेश कराना चाहिये। इस तरह से दो-एक बार की प्रचेष्टाओं से सुषुम्ना विवर को पहुँचा जा सकता है। साधारणतः स्वस्थावस्था में सुषुम्ना द्रव धीरे-धीरे अर्थात् प्रति सेकेण्ड एक बूंद के हिसाब से निकलता है, किन्तु मस्तिष्क-तोय अथवा सुषुम्नाधराकला प्रदाह में सुषुम्ना द्रव काफी वेग से निकल सकता है। सुषुम्ना द्रव निर्गम के वेग से उसके चाप का पता स्थूल रूप से लगाया जा सकता है। सूक्ष्म रूप से पता लगाने के लिये Spinal manometer का उपयोग आवश्यक है। स्वाभाविक सुषुम्ना द्रव का चाप ६० से १५० मिलीमिटर तक माना जाता है।

रोग परीक्षा के लिए ५ सी. सी. मस्तिष्क-सुषुम्ना द्रव पर्याप्त होता है। परन्तु रोगचिकित्सा के लिए आवश्यकता तथा रोगावस्था के अनुसार १० से ५० सी. सी. तक मस्तिष्क-सुषुम्ना द्रव निकाला जा सकता है। परीक्षा के लिए मस्तिष्क-सुषुम्ना द्रव सम्पूर्ण रूपेण रक्त से विहीन होना आवश्यक है।

मस्तिष्क-सुषुम्ना द्रव-निष्काशन में निम्न-सावधानियां अपेक्षित हैं। (१) सम्पूर्ण रूपेण रोग जीवाणु-मुक्त विशोधित परिस्थिति, (२) धीरे तथा संयत निष्काशन, किसी भी तरह प्रति सेकंड ४ से ५ बूंद से अधिक स्राव निष्काशन अनुचित है। (३) रोगी को स्राव निष्काशन के पश्चात् दीर्घ समय तक शय्या पर शायितावस्था में रखना। कटिवेध के लिये छोटी से छोटी कटिवेध सूची का उपयोग करना चाहिए क्योंकि इससे सुषुम्ना विवर की दीवारों में आघात लगने की आशंका कम रहती है और दूसरी ओर से अथवा सूई निकालने के बाद में मस्तिष्क-सुषुम्ना द्रव के निकालने की आशंका भी कम हो जाती है। मस्तिष्क में अर्बुदोत्पत्ति के कारण जहां सुषुम्ना-द्रवीय चाप में वृद्धि होती है वहां अधिक मात्रा में अथवा क्षिप्रवेग से मस्तिष्क-सुषुम्ना द्रव को निकालना नहीं चाहिए, इससे अकस्मात् चाप घट जाने के कारण अणुमस्तिष्क का कुछ अंश महाविवर में उतर आ सकता है। ऐसी परिस्थिति में सुषुम्ना-शीर्ष में दबाव के कारण मोहावस्था से लेकर मृत्यु तक हो सकती है, अतः इस विषय में सावधानी आवश्यक है। सुषुम्नाद्रवीय चाप में आकस्मिक ह्रास के कारण कभी कभी कोमलार्बुद में रक्तस्राव अथवा आवद्ध रक्तस्राव की पुनः प्रवृत्ति हो सकती है।

मस्तिष्क-सुषुम्ना द्रव के निष्काशन के समय द्रवीय चाप की परीक्षा कर लेना अच्छा है। एतदर्थ Spinal manometer नामक एक प्रकार का यन्त्र आविष्कृत हुआ है। उसे कटीवेध के लिए त्रिमुख सूची के मूल देश में संयुक्त कर दिया जाता है। रोगी को आराम से रखकर स्वाभाविक रूप से

श्वास-प्रश्वास लेने के लिए कहा जाय। मेनोमीटर के अन्दर मस्तिष्क-सुषुम्ना द्रव प्रविष्ट होकर कुछ ऊँचाई तक पहुँच जाता है। स्वस्थ व्यक्ति में यह उच्चता ६० से १५० मिलीमीटर तक सीमित रहती है। साधारण श्वासग्रहण व निःश्वास परित्याग के समय मस्तिष्क-सुषुम्ना द्रव ५ से १० मिलीमीटर तक क्रमशः चढ़ता उतरता है एवं खांसी व कुन्थन आदि से ३० से ५० मिलीमीटर तक चढ़ सकता है। साधारणतः १५० मिलीमीटर से अधिक चाप मस्तिष्कीय चाप में वृद्धि का द्योतक है, परन्तु ३०० मिलीमीटर से अधिक चाप मस्तिष्काभ्यन्तर में अर्बुद अथवा मस्तिष्क-सुषुम्नाधराकला प्रदाह आदि का परिचायक है। ३०० मिलीमीटर अथवा इससे भी अधिक चाप के क्षेत्र में सुषुम्ना द्रव को केवल परीक्षार्थ ५ सी.सी. से अधिक मात्रा में धीरे-धीरे निकालना चाहिए अन्यथा दबाव का क्षिप्र ह्रास होने के कारण अकस्मात् मृत्यु तक हो सकती है।

Spinal Manometer को स्वस्थान पर स्थिर रख कर अगर दक्षिण अधिमन्या सिरा (Right Ext Jugular vein) को जोर से दबाया जाय तो सुषुम्नाद्रवीय चाप में तात्कालिक वृद्धि Manometer में सूचित होती है। स्वस्थ व्यक्तियों में यह वृद्धि स्वाभाविक चाप ८०-१२० मिलीमीटर से बढ़कर ३०० मिलीमीटर अथवा इससे भी अधिक हो सकती है। अधिमन्या सिरा का दबाव छोड़ देने से शीघ्र ही सुषुम्ना द्रवीय चाप स्वाभाविक स्तर पर आ जाता है। मस्तिष्क, सुषुम्ना द्रवमार्ग में आंशिक अथवा सम्पूर्ण अवरोध के कारण—जो कि मस्तिष्क-सुषुम्ना धरा कला के ऊपर दवाव के कारण अथवा सुषुम्नाकाण्डीय अर्बुद अथवा करोटि में से सुषुम्नाविवर में द्रवाभिसरण वाधा के कारण उत्पन्न हो सकता है—दक्षिण अधिमन्या सिरा पर चाप देने पर भी सुषुम्ना द्रवीय चाप में आंशिक व पूर्ण अवरोध के क्षेत्र में क्रमशः मामूली वृद्धि अथवा वृद्धि का सम्पूर्ण अभाव नजर आता है। आंशिक अवरोध के क्षेत्र में वर्द्धित चाप धीरे धीरे स्वाभाविक स्तर पर आ जाता है। इसी तरह से ४ से ८ सी. सी. मात्रा में मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव निष्काशन के पश्चात् अगर सुषुम्नाद्रवीय चाप में क्रमिक ह्रास होने लगता है तो उसे भी मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव के स्वाभाविक प्रदाह में अवरोध का ज्ञापक माना जाता है। इन दोनों प्रकार की परीक्षाओं के द्वारा सुषुम्नाधरा कलान्तराल में अवरोध का पता सरलता से मिल सकता है।

मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव परीक्षा—

स्वाभाविक मस्तिष्क-सुषुम्ना द्रव एक स्वच्छ, वर्ण व गंधहीन तरल पदार्थ है, जिसे शुद्ध जल से पृथक् करना असम्भव सा प्रतीत होता है। इसके घटक पदार्थों की आनुपातिक समता करीब करीब स्थिर रहती है। कटिवेध से अगर स्वस्थ व्यक्ति का सुषुम्ना द्रव निष्काशित किया जाय तो उसमें निम्न घटक पदार्थों की उपस्थिति प्रतीत होगी :—

प्रोटीन (प्रधानतः एलब्युमेन)	आमिषजातीय पदार्थ	०·०२ से ०·०४ प्रतिशत	अर्थात् २० से ४० मि.ग्रा. प्रति १०० सी.
ग्लुकोज	(शर्करा)	०·०५ से ०.०६ "	" ५० से ६० " " " " "
क्लोराईड	(लवण)	०·७२ से ०·७५ "	" ७२० से ७५० " " " " "

मस्तिष्क-सुषुम्ना द्रव की मात्रा स्वस्थ व्यक्ति में ६० से लेकर १२० सी. सी. तक रहती है। इसका दबाव शायित अवस्था में ६० से १५० मिलीमीटर तक रहता है। पूर्वोक्त स्वस्थावस्था में किसी भी प्रकार का परिवर्तन रोगावस्था का ही द्योतक माना जाता है।

रोगावस्था में मस्तिष्क-सुषुम्ना द्रव में उत्पन्न परिवर्तनों पर विचार:—

रूप—मस्तिष्क-सुषुम्ना द्रव का स्वाभाविक रूप बिलकुल स्वच्छ पानी के समान है, इस रूप में

मामूली परिवर्तन भी रोग का द्योतक है। मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव में रक्त का संमिश्रण मस्तिष्काभ्यंन्तर में रक्तस्राव अथवा आघात के कारण हो सकता है। इन क्षेत्रों में साधारणतः रक्त का परिमाण अधिक ही होता है और वह रक्त मस्तिष्क-सुषुम्ना द्रव के साथ अच्छी तरह से घुला हुआ रहता है। बार-बार निष्काशन में एक ही प्रकार का रक्तमिश्रित मस्तिष्क-सुषुम्ना द्रव मिलता है। परन्तु स्रावनिष्काशन के समय आघात के कारण अगर रक्तस्राव हुआ है तो मस्तिष्क-सुषुम्ना द्रव में रक्त नजर आ सकता है परन्तु उसकी मात्रा कम रहती है और देर देर में निष्काशित स्राव में उसकी मात्रा क्रमशः कम नजर आती रहती है। अगर यह रक्तस्राव निष्काशन के कई घण्टे पहिले हुआ हो तो उसका रङ्ग थोड़ा सा संतरे के रङ्ग के समान होता है, और उसको थोड़ी देर रखने पर अथवा केन्द्राकर्षण के द्वारा उसके ऊपर जो तरल पदार्थ जम जाता है—उसका रङ्ग भी सन्तरे के समान पीला नजर आता है। कभी कभी मस्तिष्कीय अर्बुद के कारण भी इस प्रकार के मस्तिष्क-सुषुम्ना द्रव की उत्पत्ति हो सकती है। मस्तिष्कसुषुम्ना द्रव में इस प्रकार के परिवर्तन के साथ प्रोटीन की मात्रा में काफी वृद्धि और उसके साथ सुषुम्नाविवर में अवरोध के लक्षणों का प्रगट होना—पाश्चात्य चिकित्साशास्त्र में फ्रोइन का संरूप (*Froin's Syndrome or Loculation Syndrome*) नाम से अभिहित है—जिसे सुषुम्नाविवर में तीव्र दबाव का द्योतक माना जाता है।

मस्तिष्क-सुषुम्ना द्रव में स्वच्छता का अभाव याने गंदला भाव उसमें कोषों की अत्यधिकता के कारण ही होता है। साधारणतः मस्तिष्क-सुषुम्ना धराकला प्रदाह में ही ऐसा होता है और इस गंदले भाव की मात्रा मामूली अस्वच्छता से लेकर सम्पूर्ण पूयस्राव तक मिल सकती है।

प्रोटिनाधिक्य—केन्द्रीय नाड़ी-संस्थान की विभिन्न व्याधियों में मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव में प्रोटीन का मात्राधिक्य मिलता है—सुतरां इस सम्बन्ध में विशेष ज्ञान की आवश्यकता प्रतीत होती है। सुषुम्ना विवर में अवरोध के कारण तथा मस्तिष्क-सुषुम्ना धराकला प्रदाह के सभी क्षेत्रों में—चाहे वह क्षयज पूयज अथवा फिरङ्ग रोगज हो, प्रोटीनाधिक्य नजर आता है। मस्तिष्कीय व्रण शोथ में मस्तिष्क-सुषुम्ना द्रव में प्राथमिक परिवर्त्तन के रूप में प्रोटिनाधिक्य दिखाई पड़ता है। बालपक्षाघात में भी प्रोटिनाधिक्य हो सकता है। मस्तिष्कीय अर्बुद में केवल प्रोटीनाधिक्य मिल सकता है। मस्तिष्क के रक्तवाही स्रोतों में चोट के कारण—चाहे उसमें रक्तस्राव न भी हुआ हो—मस्तिष्क--सुषुम्ना द्रव में प्रोटिनाधिक्य मिल सकता है।

कोषाधिक्य—नाड़ी संस्थान के प्रदाह जनित सभी व्याधियों में कोशाधिक्य मिलता है। पूयज मस्तिष्क सुषुम्ना प्रदाह ज्वर में कोषों की संख्या अत्यधिक रहती है और इनमें बहुकोष्ठीय कोषों का अनुपात सर्वाधिक है। कुछ लसीकाणु इन अवस्थाओं में रह सकते हैं और रोगोपशम के साथ साथ इनकी अनुपात-वृद्धि होती है। मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव में लसीकाणुओं की वृद्धि क्षयज अथवा फिरङ्गज प्रदाह का द्योतक है। क्षयज मस्तिक-सुषुम्ना धराकला प्रदाह में प्रथमतः ४० प्रतिशत बहुकोष्ठीय कोष मिल सकते हैं परन्तु रोग वृद्धि के साथ साथ ६० प्रतिशत तक लसीकाणु की वृद्धि मिल सकती है। मस्तिष्कीय अथवा करोटिनिम्नस्थ व्रणशोथ में मिश्रित रूप से कोषवृद्धि मिल सकती है।

शर्करा का ह्रास—मस्तिष्क-सुषुम्नाधरा कला प्रदाह के सभी क्षेत्रों में, विशेषतः पूयोत्पादक रोग जीवाणुओं के आक्रमण के क्षेत्रों में द्रवस्थित शर्करा की मात्रा का ह्रास होता है। शेषोक्त अवस्था में शर्करा ह्रास का परिमाण सर्वाधिक है। नाड़ी संस्थान की फिरङ्गज व्याधियों में भी शर्करा का मात्राह्रास हो सकता है।

लवण-परिमाण की ह्रास-वृद्धिः—साधारणतः मस्तिष्क सुषुम्नाधराकला प्रदाह के पूयज तथा क्षयज रूप में

मस्तिस्क सुषुम्ना द्रव की विभिन्न अवस्था में

परिस्थिति	रूप	शायितावस्था में द्रव का चाप	प्रोटीन प्रतिशत	कोष प्रति क्यू.मिली-मीटर	कोष का प्रकार	रोग—जीवाणु	शर्करा प्रतिशत	लवण प्रतिशत	फिरंगज व्याधि-परीक्षा
स्वाभाविक	स्वच्छ, वर्णहीन रखने से जमता नहीं।	६०-१५० मिली-मि,	०.०२-०.०४	०—५	लसीकाणु	अनुपस्थित	.०५-.०६	०.७२-.७५	नकारात्मक
क्षयज प्रदाह	स्वच्छ, वर्णहीन, रखने से जाली पड़ती है।	विवृद्ध	०.३ तक	१०--४००	लसीकाणु ७५°/० — ९० %	यक्ष्मा जीवाणु (जमाट में)	ह्रास	.६६ से भी कम तक	"
मस्तिष्क-सुषुम्नाधरा-कला प्रदाह।	अस्वच्छ, गंदला रखने से गहरा जमाट बन जाता है।	विवृद्ध	०.३ तक	१०-२००० या और अधिक	बहुकोष्ठीय प्रधानतः	Intra-Cellular Gram-Negative Dipplo-cocci	स्वल्प अथवा अनुपस्थित	.६—.७	"
पूयोत्पादक जीवाणु जन्य मस्तिष्क सुषुम्ना धरा कला प्रदाह	अस्वच्छ, गंदला, सम्पूर्ण पूयस्राव के रूप में भी, रखने से जमाट बनता है।	विवृद्ध	०.३ तक	१०-१००० या और अधिक	बहुकोष्ठीय प्रधानतः	Gram-positive Cocci	स्वल्प अथवा अनुपस्थित	.६—.७	"
मस्तिष्क सुषुम्ना धरा कला व रक्त वाहिनियों में फिरंग रोगाक्रमण।	स्वाभाविक	स्वाभाविक	.०३-.०८	१०—८०	लसीकाणु प्रधानतः	अनुपस्थित	स्वाभाविक	स्वाभाविक	५० प्रतिशत क्षेत्र में सकारात्मक
बालपक्षाघात	स्वाभाविक	स्वाभाविक या मामूली विवृद्ध	प्रथम सप्ताहान्त से मामूली वृद्धि, ०-१० तक	१०—१००० लक्षण प्रकट होने के पूर्व से द्वितीय हप्ते	पहिले बहुकोष्ठीय बाद में लसीकाणु	अनुपस्थित	स्वाभाविक	स्वाभाविक	नकारात्मक

				के अन्त तक					
सुषुम्ना विवर में अवरोध।	स्वच्छ, हलके पीले से लेकर गहरा कत्थई रङ्ग तक, रखने से गहरा जमाट।	ह्रास प्राप्त या अवरोध के नीचे स्वाभाविक	.३ से ४.० तक,	स्वाभाविक अथवा मामूली वृद्धि	लसीकाणु	अनुपस्थित	स्वाभाविक	स्वाभाविक	फिरंगरोगज क्षेत्रों के अलावा नकारात्मक
अवसादक मस्तिष्क-सुषुम्ना-काण्ड प्रदाह	स्वाभाविक	साधारणतः विवृद्ध	स्वाभाविक	स्वाभाविक या मामूली वृद्धि ०–१०	लसीकाणु	अनुपस्थित	स्वाभाविक अथवा मामूली-वृद्धि	स्वाभाविक	नकारात्मक

* अन्तःकोषीय ग्रामरंजनातीत युग्म गोलाणु, ● ग्रामरंजनशील गोलाणु,

लवण का ह्रास होता है, यह अवस्था तरुण ज्वर में रक्त-लसीकास्थित लवण-परिमाण में ह्रास के कारण ही होती है। क्षयज प्रदाह में सुषुम्ना द्रवस्थित लवण परिमाण का ह्रास सर्वाधिक है जो कि ६०० से ६५० मि. ग्रा. तक हो सकता है। सुषुम्ना द्रव में रोगारम्भ में लवण परिमाण का इस प्रकार ह्रास होना क्षयज प्रदाह का निर्णायक माना जाता है। साधारणतः अन्यान्य क्षेत्रों में लवण-परिमाण की करीब करीब स्वाभाविक अवस्था में ही लसीकाणुओं की वृद्धि नजर आती है, परन्तु क्षयज प्रदाह में लवण परिमाण में काफी ह्रास के साथ ही लसीकाणुओं की वृद्धि दिखाई पड़ती है।

रक्त में मूत्रविष संचार के क्षेत्र में तथा अन्यान्य लवण-संग्राही व्याधियों में मस्तिष्क-सुषुम्ना द्रव में लवण-परिमाण की वृद्धि पाई जाती है।

रोग जीवाणुः—मस्तिष्क-सुषुम्ना द्रव में रोग जीवाणुओं की उपस्थिति निम्नलिखित उपायों से ज्ञात हो सकती है। (१) मस्तिष्क-सुषुम्ना द्रव से केन्द्राकर्षण पद्धति के द्वारा ठोस कणों को संग्रह कर अणुवीक्षण यन्त्र की सहायता से परीक्षा के द्वारा (२) मस्तिष्क-सुषुम्ना द्रव में संवर्धन की पद्धति (*culture*) के द्वारा। (३) मस्तिष्क-सुषुम्ना द्रव को प्राणियों में सूचीवेध के द्वारा प्रवेश कराकर। अनति प्राचीन फिरङ्ग रोगज मस्तिष्क-सुषुम्ना धरा कला प्रदाह में फिरङ्ग रोग के लिये विशिष्ट वासरमेन की प्रतिक्रिया (*Wassermann Reaction*) का फल, सकारात्मक मिलता है।

यहां मस्तिष्क-सुषुम्ना-द्रव का रोगानुसार परीक्षाफल सारणी के रूप में प्रदर्शित किया गया है।

सुषुम्नाशीर्ष-कोष के द्वारा स्राव निष्काशन (*Cistsnal puncture*):—

सुषुम्नाशीर्षधराकला कोष वेध निम्नलिखित क्षेत्रों में आवश्यक माना जाता है। (१) जहां सुषुम्ना-काण्ड धराकला कोष में अर्बुद अथवा बन्धनी की उत्पत्ति के कारण द्रव प्रवाह में बाधा उपस्थित हो, (२) सुषुम्नाकाण्ड धराकला कोष में औषधि सेवन के लिए कटिवेध के परिपूरक उपाय की आवश्यकता हो, (३) मस्तिष्क-सुषुम्ना धरा कला में औषधि प्रयोग

की जरूरत हो (यह मार्ग सर्वोत्तम है)। परन्तु ध्यान रहे कि विशेष आवश्यकता न होने पर एवं अनुभवी कार्यकर्त्ता के द्वारा बारबार कटिवेध में असफलता मिलने पर अथवा सुषुम्नाकाण्डधराकला कोष में अवरोध के कारण मस्तिष्काभ्यन्तर में अत्यधिक चापवृद्धि होने से ही सुषुम्नाशीर्ष कोष के वेधकार्य में अग्रसर होना चाहिए। सुषुम्नाकाण्डधराकला कोष में अवरोध स्थान के निर्णय के लिये भी सुषुम्नाशीर्ष कोषवेध किया जाता है। इस कार्य में कोषवेध के पश्चात् उसमें १ सी. सी. *Lipiodol* प्रवेश कराया जाता है और बाद में क्ष-किरण की सहायता से *Lipiodol* ने कहां तक नीचे उतरकर स्थान संश्रय किया जाता है। उसका पता लगाया जाता है—उस स्थान का तल देश अवरोध का शीर्ष भाग मान जाता है।

सुषुम्नाशीर्ष-कोष वेध की पद्धति—

करोटी के पश्चिमार्बुद से नीचे का अंश गर्दन तक अच्छी तरह से केशरहित करने के बाद साबुन व गर्म पानी तथा स्प्रिट आदि से साफ व विशोधित कर लेना चाहिए। वयस्कों में एक बार टिः आयोडीन भी लगाया जा सकता है। रोगी को बाएं करवट पर लिटाकर मस्तक व मेरुदंड को एक सरल रेखा में रख देना चाहिए। एक सख्त तकिये पर मस्तक को सामने की ओर जरासा झुकाया भी जा सकता है। पृष्ठकण्टक के आस पास २ प्रतिशत नोभोकेन से संज्ञा शून्य कर लेना चाहिए और रोगी को किसी भी हालत में सिर हिलाने से रोकना चाहिए। अगर गर्दन जकड़ा हुआ हो अथवा रोगी अस्थिर प्रकृति का हो तो सम्पूर्ण संज्ञाहीन कर लेना ही अच्छा है। वेधकर्त्ता अपनी तर्जनी पश्चिमार्बुद पर रखकर नीचे की ओर खींच लें तो उन्हें सर्वप्रथम अस्थिप्रवर्द्धन के रूप में चूड़ावलय का प्रवर्द्धन-पृष्ठकण्टक का अनुभव होगा। पृष्ठकण्टक से १/५ इञ्च ऊपर कटिवेध में प्रयोज्य सूची को प्रविष्ट करा देना चाहिए। सूची के अग्रभाग को वामभ्रू के वहिः प्रान्त की ओर अथवा उससे जरासा ऊपर की दिशा में महाविवर की ओर अग्रसर कराते हुए पश्चिम कपाल में महाविवर की पश्चिम सीमा में पहुँचाने का प्रयत्न करना चाहिए। इस कार्य में सूची का अग्रभाग नीचे की ओर से ऊपर की ओर प्रेषित करना ही अच्छा है। जहां सूची का अग्रभाग पश्चिमकपाल को स्पर्श किया है ऐसा अनुभव हो वहां रोककर सूची को कुछ पीछे खींच लेनी चाहिए और सूची के अग्रभाग को नीचे की ओर—महाविवर की पश्चिम सीमा के नीचे से प्रविष्ट कराना चाहिए। इस कार्य में सफलता लाभ के लिये कई बार तक सूची प्रवेश व वहिराकर्षण की आवश्यकता पड़ सकती है जब तक कि सूची का अग्रभाग पश्चिम कपालास्थि से मुक्त होकर निम्नस्थ पश्चिमकपाल—चूड़ावलय मध्यस्थ कला में प्रवेश न कर सके। यह कला विशेष स्थूल या दृढ़ नहीं है-जिसमें से सूची विशेष बाधा के विना प्रवेश कर सकती है। इस कला में सूचीवेध के बाद सूच्यभ्यन्तरस्थ शलाका निष्काशित कर लेना चाहिये-और सूची को धीरे-धीरे आगे प्रविष्ट कराते जाना चाहिये। जहां सूची के अग्रभाग ने पश्चिमकपालास्थि को स्पर्श किया था। उस स्थान का दूरत्व सूची के माप से निश्चय कर लेना चाहिये और वहां से ·६ इञ्च से अधिक दूर तक सूची को किसी भी अवस्था में अन्दर प्रवेश नहीं कराना चाहिए। एक स्वस्थ साधारण गठन के मनुष्य में सुषुम्नाशीर्ष-कला कोष में पहुंचने के लिये कुल १·६ इञ्च से लेकर अधिक से अधिक २ इञ्च तक सूची प्रवेश की आवश्यकता पड़ती है। अच्छा ही होगा कि सूची प्रवेश के पहिले यहां तक चिपकने वाली पट्टी सूची में लगा ली जाय। ध्यान रहे—इसमें अधिक प्रवेश कराने से सुषुम्नाशीर्ष में आघात की विशेष संभावना रहती है। ठीक तरह से सूची प्रवेश कराने से पश्चिमकपाल-चूड़ावलय मध्यस्थकला वेध के पश्चात्

—शेषांश पृष्ठ १२८ पर।

क्ष-किरण

श्री. डा० पद्मदेव नारायणसिंह, एम. बी. बी. सी.

किसी भी रोग की समुचित चिकित्सा निमित्त उसका यथार्थ या निश्चित निदान होना परमावश्यक है। नवीनयुग में वैज्ञानिक उन्नति के साथ साथ रोग परीक्षा की भी नई नई विधियां ज्ञात होती गयीं तथा नवीन प्रसाधनों का आविष्कार हुआ जिनके प्रयोग द्वारा रोगों के वास्तविक निदान, रोकथाम एवं सफल चिकित्सा सरल तथा सुलभ होगया।

१८९६ ई० में जर्मन वैज्ञानिक रौञ्जन (Rontgen) ने चमत्कारी क्ष-रश्मि का आविष्कार किया जिससे रोग परीक्षा का एक प्रशस्त नूतन मार्ग खुल गया। इसके द्वारा हम न केवल हृदय, फुफ्फुस आदि अवयवों की प्राकृत तथा विकृत अवस्थाओं का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर सके अपितु रोग की विभिन्न अवस्थाओं का स्थाई आलेख प्राप्त करने में भी समर्थ हो सके।

सौर वर्णावलि (या साधारण प्रकाश रश्मि) सात प्रधानवर्णों (primary colours) द्वारा निर्मित होता है—जिन्हें अङ्गरेजी के इन अक्षरों द्वारा निर्दिष्ट किया जाता है—VIBGYOR (बैंआनीहपीनाला) अर्थात् नीललोहित (बैंगनी), आसमानी, नीला, हरा, पीला, नारङ्गी तथा लाल वर्ण। इनका तरङ्गायाम (wave-length) ४२००-६५०० के बीच होता है। इस वर्णावलि के एक छोर पर परालालरश्मि (Infra red Rays) तथा दूसरी ओर पराकाशिनी रश्मि होती है जो नग्नाक्षि-अदृश्य होती है। इनके परे तरङ्गायाम (wave length) क्रमशः संकुचित या लघु होता जाता है और अन्ततः क्ष-रश्मि उत्पन्न होती है। नैदानिक क्ष-रश्मि का तरङ्गायाम ०.१२-१५ आर्मस्ट्राङ्ग-यूनिट (Armstrong unit) तथा चिकित्स्य क्ष-रश्मि की ००.१—०·१५ यूनिट होता है। इन तरङ्गों की लम्बाई तथा विस्तार अत्यधिक परिवर्तन शील होता है। ये जितने सूक्ष्म या लघु होते हैं उतनी ही इनकी प्रवेश्यता (वेधनशक्ति) बढ़ती जाती है। ये तरंगे उन व्योम तरङ्गों (Etherial waves) के सदृश ही गुण दिखलाती हैं जो किसी धात्वीय-तल (Metalic Surface) के विद्युद्‌गुण-प्रवाह (Stream of Electrons) द्वारा ताड़ित होने पर उत्पन्न होती हैं।

साधारणतः विभिन्न पारान्ध (अपारदर्शक) वस्तुओं में क्ष-रश्मियों की प्रवेशाक्षमता भिन्न-भिन्न क्रम में होती है जो उनके परमाण्विक-भार (Atomic weight) के विपरीत-अनुपात (in inverse proportion of their atomic weight) के अनुसार होती है। अतएव भारी धातु तथा उनके लवण लम्बे तरङ्गायामों का अवशोषण कर लेने के कारण अपेक्षाकृत प्रवेशाक्षम्य होते हैं।

क्ष-रश्मि-उत्पादन तथा उनके गुण—

विशेष प्रकार के विद्युत-यन्त्र द्वारा क्ष-रश्मि उत्पादित की जाती है। इन किरणों की भेदकशक्ति

पृष्ठ १२७ का शेषांश

मस्तिष्कसुषुम्ना द्रव सूचीमूल से प्रवाहित होने लगता है। दो विशोधित काचनलिकाओं (*Test tube*) उक्त द्रव को संग्रह करना चाहिए। वेधन कार्य के पश्चात् उक्त स्थान को टि० वेनजोईन से सीलबन्द कराकर विशुद्ध वस्त्र खण्ड से पट्टी बांध देनी चाहिए। रोगी को कई घंटों तक शायित अवस्था में रखना विशेष आवश्यक है।

सुषुम्नाशीर्षकोष से निष्काशित स्राव की परीक्षा कटिवेध के द्वारा निष्काशित मस्तिष्क-सुषुम्ना द्रव परीक्षा के अनुरूप है।

अत्यन्त तीव्र होती है। यंत्र की शक्ति वृद्धि के साथ विशेष शक्तिशाली क्ष-रश्मि उत्पन्न की जा सकती है जो शरीर के किसी भाग को प्रवेश कर बाहर निकल सकती है।

किसी धात्विक–तल के विद्युदणु-प्रवाह द्वारा ताड़ित होने पर क्ष-रश्मि उत्पन्न होती है। इस धात्विक तल पर यदि किसी निश्चित दर की गति से टकरायें तो निश्चित तरङ्गायाम की रश्मि उत्पन्न होगी। जितनी वेगवान इनकी गति होगी तथा जितनी आकस्मिक टक्कर होगी उतना ही लघु-तरङ्गायाम उत्पन्न होगा और उतनी ही अधिक उसकी प्रवेशक्षमता होगी। इन लघु तरंगायाम वाली रश्मियों को "कठोर-रश्मि (*Hard rays*)" तथा दीर्घ-तरंगायाम वाली रश्मियों को "मृदु या कोमल रश्मि (*Soft rays*)" कहते हैं। साधारणतः ६०-१५० किलोवोल्ट्स शक्ति वाले (१ किलोवोल्ट= १००० वोल्ट्स) यन्त्र की आवश्यकता होती है। कार्य की आवश्यकतानुसार शक्ति में घट-बढ़ की जा सकती है।

विद्युत्-धरा लहरदार तरंगों के क्रम में प्रवाहित होती है जो प्रथम एक दिशा में शून्य से बढ़कर एक चरम सीमा पर पहुँच जाती है और फिर च्युत होकर शून्य पर पहुँच जाती है जिसके पश्चात् फिर विपरीत दिशा में उसी चरम सीमा पर पहुँच जाती है तथा उत्तरार्ध में पुनः शून्य पर आजाती है। दोनों दिशाओं की सम्पूर्ण क्रिया को एक चक्र कहते हैं। जब विद्युत्-धारा ३० किलोवोल्ट से अधिक होने लगती है तो क्ष-रश्मि की उत्पत्ति होती है।

यदि कोई वस्तु, जैसे मानव शरीर, क्ष-रश्मि और सूक्ष्मग्राहीफिल्म के बीच अन्तरस्थापित हो जाय तो यह वस्तु क्ष-रश्मियों के कुछ अंश का अवशोषण कर लेता है। यदि उस वस्तु के विभिन्न अंशों का घनत्व भिन्न-भिन्न हो तो ठोस या स्थूल अंग हल्की रचनाओं की अपेक्षा अधिक रश्मियों का अवशोषण कर लेता है। शारीरिक तन्तुओं को पार करते समय अपेक्षाकृत ठोस रचनाओं में से तो ये कठिनाई से पार करती हैं किन्तु हल्की रचनाओं को ये सुगमता से पार कर जाती हैं। एक्स-रे प्लेट्स (जिन पर क्ष-रश्मि-चित्र उतारा जाता है) इनकी तीव्रता और हल्केपन के अनुसार प्रभावित होती है। जिन रचनाओं में से ये किरणें आसानी से निकल जाती हैं, उनकी छाया निगेटिव प्लेट्स पर अपेक्षाकृत काली पड़ती है, और जिनमें ये कठिनतापूर्वक गुजरती हैं उनकी छाया अपेक्षाकृत कम काली या अधिक सफेद होती है, जैसे हड्डियों की छाया गहरी सफेद तथा मांस-पेशियों की छाया उनकी अपेक्षा काली होती है।

आनुसंगिक विकिरण (*Secondary radiation*) अन्तराङ्गों या अवयवों की क्ष-रश्मि द्वारा परीक्षा करने में एक कठिनाई होती है। क्ष-किरण जब किसी वस्तु में से होकर गुजरती है तो उस वस्तु में एक विशेष प्रकार का आनुसंगिक-विकिरण उत्पन्न हो जाता है। इसलिये यदि अन्तराङ्गों या गम्भीर रचनाओं जैसे वंक्षण-सन्धि (*Hipjoint*) या कटीय-मेरुदण्ड (*Lumber spine*) के चित्रण में दीर्घित-अनावृतकरण (*Prolonged exposure*) की आवश्यकता होती है क्योंकि अधिक तन्तुओं और स्थूल रचनाओं द्वारा अधिक रश्मियां अवशोषित हो जाती हैं। इस प्रकार जितना ही अधिक काल तथा अनावृतकरण होता है उतने ही अधिक काल तक अल्प-प्रवेशी (*Long penetrating*) आनुसंगिक रश्मियों को फिल्म को प्रभावित करने का अवसर मिल जाता है अतएव चित्र अस्पष्ट एवं धुंधला हो जाता है और सूक्ष्म-प्रभेद या संरचना बिल्कुल ही दृश्य नहीं हो पाता। इसका निवारण दो प्रकार से किया जा सकता है।

(१) प्रावेजक (गतिवर्द्धक) पटों (*Acclerating screens*) द्वारा अनावृतकरण काल अत्यल्प कर देने से। ये प्रावेजक पट कार्डवोर्ड के बने होते हैं जिन पर किसी आभासमान-लवण (*Fluorescent*

salt) जैसे कैलशियम टंगस्टेट का लेप चढ़ा होता है जो क्ष-रश्मि-अनावृत होने पर तीव्र-नील-रश्मि स्फुरित करते हैं जिससे फिल्म अत्यन्त सूक्ष्मग्राही हो जाता है और अनावृत-काल लगभग दशगुणा कम हो जाता है।

(२) दूसरी विधि पौटर-बकी-डायफ्राम (Potter-Bucky-diaphragm) नामक यन्त्र का प्रयोग कर प्रायः सभी आनुसङ्गिक-किरणों को रोक देता है। अनेक अन्तरगोल सूक्ष्म सीसे के पत्रों (A Larg number of thin leadfoil fitted in a grid) के टुकड़ों द्वारा जो एक ग्रिड (Grid) या झर्झर में मढ़े होते हैं, यह यन्त्र निर्मित होता है। इसकी अवनतता (Concavity) में रोगी सुला दिया जाता है और यन्त्र वांछित गति से चालित या घूर्मित किया जाता है।

एक्स-रे-ट्यूब या नली—यह दो प्रकार का होता है।

(१) गैसट्यूब—इसमें विद्युद्णु (Electrons) का उद्भव इस नली के भीतर संचित वाति (Gas) होता है। आजकल यह यन्त्र प्रायः प्रयोग नहीं किया जाता है।

(२) ऊष्ण-कैथोड-नली (Hot Cathode tube) टङ्गस्टेन नामक धातु के गर्म किये जाने पर अयन (Ion) उत्पादन करने के गुण के आधार पर यह यन्त्र निर्मित होता है। विशेष विवरण जिज्ञासु पाठक इस विषय की पाठ्य-पुस्तकों में देखें।

क्ष—रश्मि-परीक्षा हम दो प्रकार से कर सकते हैं—

(१) एक्स-रे-प्लेट्स द्वारा या अप्रत्यक्ष विधि द्वारा।

(२) स्फुरित यवनिका (भ्राशमान पट) (Screening) द्वारा प्रत्यक्ष विधि के द्वारा।

(१) एक्स-रे-प्लेट्स—रजत या इसके लवण प्रलम्बत रूप में क्ष—रश्मि द्वारा भी साधारण प्रकाश किरण के समान ही प्रभावित होते हैं। एक्स-रे-प्लेट्स या फिल्म भी साधारण फोटो लेने के प्लेट्स के समान ही होती हैं जिन्हें विशेष प्रकार के चौखटों (Casettes) में रखकर फोटो लेने के लिये बाहर निकालते हैं। ये चौखटे कैसेट्स कहलाते हैं और १५"×१२" १२"×१०" तथा ८"×१०" के आकार के होते हैं। ये लोहे के बने होते हैं पर इनके सामने का भाग एल्यूमीनियम या ऐसी ही किसी अन्य वस्तु का बना होता है, जिसमें से सूर्य या विद्युत् का प्रकाश अन्दर नहीं जा सकता, पर क्ष—रश्मि प्रवेश तथा भेदन कर सकती हैं। उदाहरणार्थ हृदय या फुफ्फुस का चित्रण करते समय जब हम वक्ष को इनके सम्मुख कर क्ष—रश्मि-चित्रण करते हैं तो ये किरणें छाती के बीच में से गुजरती हुई अन्त में फोटो प्लेट पर पड़ती है और उस अङ्ग या अवयव (हृदय, फुफ्फुस आदि) का चित्र उस पर अंकित हो जाता है।

(२) स्फुरित-यवनिका—इस विधि प्रयोग द्वारा हम अन्तराङ्गों तथा अवयवों का प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं। एक विशेष प्रकार के कार्डबोर्ड का गत्ता या पट जिस पर विशेष धातु का घोल या लेप चढ़ा होता है जो क्ष—रश्मि के पड़ते ही भ्राशमान हो उठता है। पहले इस लेप के लिये बैरियम—प्लेटिनो-साइनाइड (Barium platinocyanide) का प्रयोग होता था किन्तु आजकल कैलशियम-टङ्गस्टेट (Calcium tungstate) या यौगिक लवणों का प्रयोग होता है। इस विधि में जिस अङ्ग की परीक्षा करनी होती है उससे होकर क्ष—रश्मि गुजरने के बाद उपरोक्त पट पर एकत्रित किया जाता है जिससे उस अङ्ग की तस्वीर उस पट पर दीखने लगती है। यह क्रिया करते समय कमरा में बिल्कुल अंधेरा कर देना चाहिये जिससे चित्र स्पष्ट दीख सके।

साधारण दशा में क्ष—रश्मि दृष्टिगोचर नहीं होती किन्तु यह विशेष रसायन युत पट उन्हें दृश्य कर देता है क्योंकि उन पर एक्स-रे पड़ने पर

यह हरित या नील वर्ण से देदीप्यमान हो उठता है। इस विधि का विशेष लाभ यह है कि इसके द्वारा हम हृदय, फुफ्फुस आदि अन्तराङ्गों को भी कार्य करते हुये देख सकते हैं जिससे रोग विनिश्चय में बड़ी सहायता मिलती है।

निम्नलिखित कार्यों के लिये साधारणतः इस विधि का प्रयोग किया जाता है।

(१) वक्षगुहा में—फुफ्फुस की विकास क्षमता के अनुमान के लिये तथा फौफ्फुसिक-यक्ष्मा के रोगियों में कृत्रिम-वातोरस (Artificial pneumothorax) या वक्षोभेद के नियन्त्रण के लिये। हृदय के विस्तार, आकार तथा हृत्-कोषों तथा वृहत् वाहिनियों की गतिविधि का अनुमान या निरीक्षण करने के लिये।

(२) आमाशयान्त्रीय परीक्षण की सहाय रूप में, विशेषतः निगल (Oesophagus), आमाशय, पक्वाशय (Duodenum) आदि के परीक्षण के लिये। पारान्ध-वस्ति कर्म (Opaque enema) के लिये भी।

विजातीय-वस्तुजों (Foreign body) की श्वसन-पथ (Respiratory Tract) या अन्नवाही श्रोत में विद्यमानता तथा उनकी अवस्थिति निर्धारण निमित्त।

(४) शरीर के किसी भी अङ्ग या अवयव में विजातीय-पदार्थों के अनुसन्धान या स्थान-निदेश के लिये।

(५) कुछ विकटावस्थाओं में अस्थिभङ्ग तथा विस्थापन (संधिभंग Dislocation) के निराकरण या उपचार के निमित्त।

(६) वीजवाहिनी नली (Fallopian Tubes) के छिद्र की विकृति (potency) का अनुमान करने के लिये।

(७) कभी कभी प्रतिगामी—वृक्कसम्पुट-क्ष रश्मि चित्रण (Retrograde pyelography) में भी इसका प्रयोग होता है।

शरीर के विभिन्न अङ्गों एवं अवयवों की क्ष-रश्मि द्वारा परीक्षा:-

शरीर के विभिन्न अंगों तथा अवयवों की दृश्यता, उनकी तथा निकटस्थ रचनाओं की घनत्व में पारस्परिक विभेद, या किसी ऐसी वस्तुओं का ग्रहण जो समीपस्थ रचनाओं की अपेक्षा उन्हें अधिक अपारदर्शक या अल्पपारदर्शक (*Translucent*) बना देती हैं, निर्भर करता है।

साधारणतः परीक्षित अङ्ग या अवयव का दो या अधिक दृश्यों का चित्र लिया जाता है। चित्र लेते समय यथा सम्भव उन्हें अचल रखा या कर दिया जाता है। सामान्यतः अग्र-पश्च-दृश्य (*Anterior-posterior view*) तथा पार्श्वीर्य दृश्य (*Lateral view*) का चित्र लिया जाता है। परीक्षाकाल में रोगी की स्थिति या आसन ऐसा कभी नहीं होना चाहिए कि वह व्यथा या पीड़ा अनुभव करे या उसको आसन या मुद्रा बनाये रखने के लिए पेशीय क्रियाएं करने की आवश्यकता पड़े, क्योंकि इन अवस्थाओं में पेशी-कम्प के कारण उस अङ्ग में कम्पन उत्पन्न हो जाता है और यद्यपि स्थूल विकृतियां दृष्टिगोचर हो सकती हैं किन्तु सूक्ष्म विकृतियां लक्ष्य नहीं होतीं।

अब हम शरीर के कुछ आवश्यक अंगों की क्ष-रश्मि परीक्षा सम्बन्धी विवेचन करेंगे—

वक्ष-परीक्षा—क्ष-रश्मि-परीक्षण द्वारा वक्षस्थल के ऐसे ऐसे रोग व्यक्त हो सकते हैं जिनका पता अन्य साधनों या उपकरणों द्वारा नहीं चलता। इनके उचित निदान के लिये पहले हमें प्राकृत-चित्र से परिचित होना चाहिये। यदि हम क्ष-रश्मि द्वारा लिये गये प्राकृत-चित्र का निरीक्षण करें तो देखेंगे कि इसके मध्य का प्रायः १/४ अंश सेव फल के आकार का प्रायः सफेद या उज्वल होता है। यह हृदय, रक्तवाहिनियों, श्वासप्रणाली तथा पृष्ठवंश की मिली-जुली छाया होती है। इसके दोनों ओर फीकीसी जालवत् कालेरङ्ग की फुफ्फुसों की छाया होती है,

जिन पर से श्वेत रङ्ग की पर्शुकाओं की छाया आर-पार जाती दिखाई देती है। यह जालवत्-दृश्य शायद सूक्ष्म रक्तवाहिनियों के कारण होता है। फुफ्फुसमूल,जहां से श्वासप्रणाली और रक्तवाहिनियां फुफ्फुस में प्रवेश करती हैं, उसकी छाया हृदय की छाया के ऊपर की ओर फेफड़ों की भीतरी सीमा के बीचोंबीच दिखाई पड़ती हैं। हृदय के तल-प्रदेश के साथ साथ दोनों ओर धनुषाकार महाप्राचीरा पेशी (*Diaphragm*) की छाया होती है जो वक्षगुहा की निचली सीमा बनाती है। चित्र में सबसे ऊपर दोनों ओर अक्षकास्थियों(*Clavicles*) की आरपार जाती हुई छाया, चित्र की ऊपरी सीमा बनाती है। इनके अन्दर के भाग के ऊपर की ओर गोल गोल प्रथम पर्शुकाओं से घिरी फुफ्फुस-शिखर की छाया दृष्टिगोचर होती है।

हृदय की छाया:—प्राकृत अवस्था में यह दोनों फुफ्फुसों की छायाओं के मध्य में अवस्थित होता है। प्रायः १/३ मध्य रेखा की दाईं ओर तथा २/३ बाईं ओर रहता है। हृत्शिखर की छाया मध्याक्षक रेखा के भीतर ही होता है। हृदय की छाया का दाहिना अंश या किनारा ऊपर से नीचे की ओर दो वक्रिमाओं द्वारा निर्मित होता है।

हृदय की प्राकृत बाह्याकृति
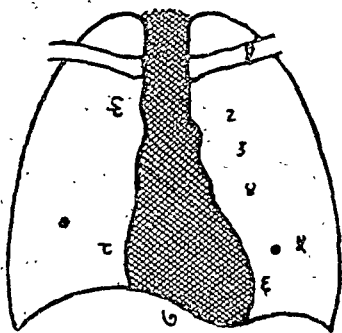
१—अक्षकास्थि
२—महाधमनी-चाप
३—फुफ्फुसाभिगा धमनी
४—दक्षिणनिलयिक कोण की छाया
५—वाम चुचुक
६—वामनिलय की छाया
७—वक्षोदर मध्यस्थ पेशी ८—दक्षिण अलिन्द
९—ऊर्ध्वमहाशिरा तथा महाधमनीय-चाप की मिली-जुली छाया।

(*i*) ऊपर का छोटा वक्रांश जो ऊर्ध्वमहाशिरा के किनारे तथा महाधमनी के आरोही चाप की छाया होती है।

(*ii*) महाप्राचीरा पेशी तक जाता हुआ नीचे का बड़ा वहिर्गोलांश—जो दक्षिण अलिन्द के बाहिरी तट द्वारा निर्मित होता है।

बायीं ओर चार वक्रिमायें होती हैं जिनमें दूसरी और तीसरी की पहचान कठिन होती है—

(१) सबसे ऊपर महाधमनी चाप की छाया।

(२) उसके नीचे फौफ्फुसिक-धमनी की ऋजु-रेखा।

(३) उसके नीचे दक्षिण अलिन्दीय शंकु (Conus of Right auricle) और सबसे नीचे—

(४) दक्षिण निलय का शंकु (Conus of right Ventricle) जो महाप्राचीरा पेशी पर स्थित हृद्-शिखर में समाप्त होता है।

प्रसंगवश यहां विविध व्याधियों द्वारा उत्पन्न हृदय-छाया के परिवर्तनों का विवेचन उपयुक्त होगा—

(क) हृदय की स्थिति में परिवर्तन—उरस्तोय (Plural effusion) वातोरस (Pneumothorax) तथा सौत्रिक-फुफ्फुस (Fibroid lung) आदि अवस्थाओं में हृदय विस्थापित हो जाता है। आमाशय-विस्फार (Dilatation of the Stomach) तथा दैहिक स्थूलता आदि में वक्षोदर मध्यपेशी के साथ साथ हृदय भी ऊपर उठ जाता है।

(ख) हृदय के आकार एवं आकृति में परिवर्तन—हृदय का आकार—

प्राकृत या सामान्य अवस्था में हृदय का अधिकतम अनुप्रस्थ व्यास वक्षगुहा के अधिकतम व्यास के आधे से कुछ कम होना चाहिये; अतएव हृदय

वक्ष-अनुपात (Cardio-thoracic ratio) ०·५ से अधिक होना हार्दिक विवृद्धि (Cardiac enlargement) का चिह्न या साक्ष्य होता है।

(i) वामनिलय की अत्यधिक उदुब्जता तथा उन्नति महाधमनीय-अक्षमता (Aortic incompetance) तथा रक्त भाराधिक्य (High blood pressure) की दशा में देखी जाती है। उत्तरावस्था में यह बूट (जूता) के स्वरूप का हो जाता है।

बिभिन्न विकृतावस्थाओं में हृदय की वाह्याकृति

१—महाधमनीय-अक्षमता (Aortic Incompetence)
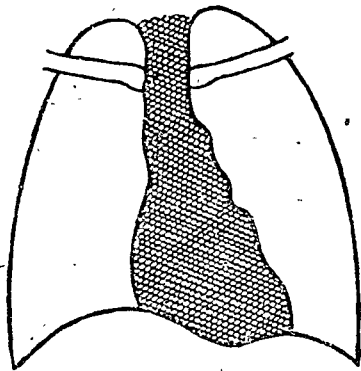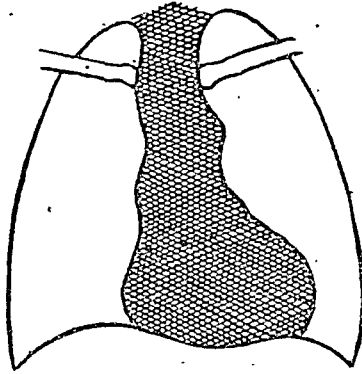
२—द्विदलकपाटीयसंकीर्णता (*Mitral stenosis*)

३—सामान्य हार्दिक विवृद्धि
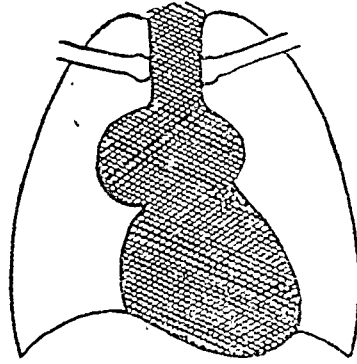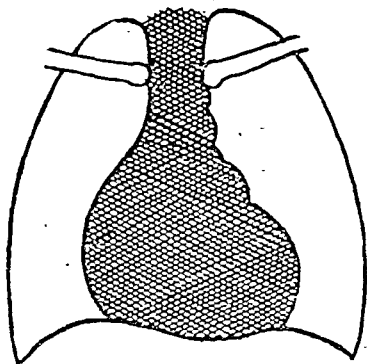
४—महाधमनीय-विस्फार (Aortic aneurysm)

(ii) दक्षिण अलिन्द तथा फुफ्फुसाभिगाधमनी की छाया द्विदल कपाटीय संकीर्णता (Mitral stenosis) तथा जन्मगत हृद्रोग एवं वातोत्फुल्लता (Emphysema, फुफ्फस-विस्फार) आदि दशाओं में उन्नत हो जाता है। इन अवस्थाओं में रक्त-संचय के कारण फुफ्फुसों की छाया भी अधिक काली आती है।

(iii) हृदय के सभी प्रकोष्ठों की समकालीन वर्धित अवस्था में हृदय की वाह्याकृति भी वर्धित एवं बतुलाकार हो जाती है। ऐसा अलिन्द-स्फुरण-युत द्विदलकपाटीय संकीर्णता की वर्धित अवस्था एवं संयुक्त द्विदलकपाटीय तथा महाधमनीय रोगों की दशा में पाया जाता है।

(ग) वृहत् वाहिनियों की छाया में परिवर्त्तन—महाधमनी की छाया में वृद्धि—(i) उपदंशज महाधमनी प्रदाह (syphlitic aortitis) (ii) रक्तभाराधिक्य आदि अवस्थाओं में पायी जाती है। संरम्भीय हृत्स्तम्भ (Congestive heart-failure) की दशा में ऊर्ध्वमहासिरा की छाया दीर्घ हो जाती है। वक्ष तथा फुफ्फुस के छाया-चित्र की परीक्षा करते समय सर्व प्रथम हृदय, श्वासप्रणाली तथा मध्यवक्षगुहा की स्थिति की जांच करते हैं और किसी प्रकार की वैरूप्यता या विस्थापन का अनुसंधान करते हैं। इसके पश्चात पर्शुका-महाप्राचीरीय कोण (Costophrenic angle) तथा हृदय-महाप्राचीरीय कोण (Cardiophrenic angle) की परीक्षा करते हैं। इनमें उरस्तोय, हृत्वृद्धि वातोरस तथा महाप्राचीरा पेशी का पक्षाघात आदि अवस्थाओं में परिवर्त्तन

दृष्टिगोचर होता है। अब हार्दिक छाया के विभिन्न व्यासों कोपते हैं।

फेफड़ों की परीक्षा करते समय कृत्रिम रेखाओं द्वारा इसे तीन भागों में विभक्त करते हैं। ऊर्ध्वखंड द्वितीय पर्शुका के ऊपर का क्षेत्र, मध्यखंड द्वितीय तथा चतुर्थ पर्शुकान्तरीय क्षेत्र तथा इसके नीचे का अंश निम्न-खंड बनाते हैं। वक्ष की क्ष-रश्मि परीक्षा स्फुरित-यवनिका तथा छाया चित्र दोनों विधियों द्वारा करनी चाहिए क्योंकि कुछ महत्वपूर्ण अवस्थायें केवल आशमान-पटीय-परीक्षण द्वारा ही प्रदर्शित होते हैं, यथा—

श्वास-प्रश्वास क्रिया के साथ-साथ फुफ्फुस-शिखर का प्रदीप्त होना, हार्दिक-स्पन्दन या स्फुरण, तथा अन्य अप्राकृतिक स्पन्दन। महाप्राचीरा पेशी की एक पाक्षिक गति, परिमितता आरम्भमान फुफ्फुस शिखरीय-क्षय (Early apical tuberculosis) फुफ्फुसावरण-संलाग (pleural adhesions) तथा अन्य अवस्थाओं में पाया जाता है।

फिल्म या चित्र द्वारा निम्न लिखित दशायें व्यक्त हो सकती हैं—

रोगविस्तार तथा कुछ दशाओं में इसकी क्रियाशीलता इस प्रकार संघनन(Consolidation) पनीराभद्रवीभवन (Caseation) तथा गह्वरीभवन (Cavitation) आदि प्रदर्शित किये जा सकते हैं। फुफ्फुसावरण का स्थूलभवन (Thickening of pleura) उरस्तोय (pleural Effusion) तथा वातोःरस (pneumothorax) आदि अवस्थाओं के विशेष चिह्न या लक्षण परिलक्षित होते हैं। अनेक दशाओं में गुहा के भीतर अवस्थित तरल की सीमा भी प्रदर्शित की जा सकती है। टोमोग्राम (Tomogram) द्वारा अव्यक्त गह्वर भी प्रदर्शित किये जा सकते हैं। यद्यपि आरम्भमान राजयक्ष्मा की विद्यमानता या अनुपस्थिति के बोध के निमित्त क्ष-रश्मि-चित्र अत्युपयोगी होता है फिर भी एक फुफ्फुस-शिखर की पारदर्शता में किंचित न्यूनता पूर्वकालीन पूरित-क्षत के कारण भी हो सकती है। यक्ष्मा में हृदय की छाया अधिकतर संकीर्ण तथा लम्बरूप होती है। फुफ्फुस-सूत्रीभवन (pulmonary fibrosis) या फुफ्फुसात्ररक रोगों द्वारा हृदय विस्थापन भी स्पष्टरूप से प्रत्यक्ष होता है। इस फिल्म द्वारा संक्रमित फुफ्फुस का क्षेत्र सीमा तथा विस्तार एवं औपसर्गिक उरस्तोय, वातोःरस तथा श्वासनलीविस्फार (Bronchiectasis) आदि का पता चलता है।

साधारणतः वक्षान्तरीय रोगों का सामान्य क्ष-रश्मि-चित्र में पता चल जाता है किन्तु कुछ विशेष अवस्थाओं में अन्य विधियों की सहायता लेनी पड़ती है।

श्वासनलिकाद्वय में किसी अपारदर्श तैल, (लिप्यायडल या नीयोहिड्रियौल (*Lipiodol or neohydriol*) जिनमें प्रायः ४० % आयडिन किसी स्नैहिक आधार में प्रनिलम्बित रहता है) का प्रवेशन श्वासनलीपथ का अवलोकन सम्भव बना देता है। तैल भरण पूर्व श्वासनलिकान्तरगत पूति-द्रव्य (*septic material*) को स्थैतिक-विस्रावण (*Postural drainage*) द्वारा निष्कासित कर उसे पूर्णरूप से रिक्त कर देने का प्रयत्न करना चाहिए। प्रत्येक फुफ्फुस के प्रत्येक पाली को अलग अलग पूर्ण करना आवश्यक होता है जो भिन्न भिन्न अवसरों पर किया जा सकता है। क्योंकि अपेक्षाकृत स्वस्थ्य फुफ्फुस द्वारा निष्कासन शीघ्र होता है अतएव सर्व प्रथम इसे भर कर अग्र-पश्च तथा पार्श्वीय चित्र ले लेना चाहिए। प्रायः एक सप्ताह पश्चात् संक्रमित फुफ्फुस को इसी प्रकार भर कर चित्र लेना चाहिए। इस विधि को ब्राङ्कोग्राफी (*Bronchography*) तथा चित्र को ब्राङ्कोग्राम कहते हैं।

ऐसे चित्र द्वारा श्वासनली-विस्फार तथा उसके प्रकार (नल्याकार *Tubular* या स्यूनिकावत *saccular*) फुफ्फुसान्तरीय, गह्वरों तथा कोटरों की निश्चित स्थिति और आकार एवं नववृद्धि (*New growths*) या अर्बुदों द्वारा श्वासनली का अवरोध आदि का पता चलता है। बैरियम-आहार (*Bar-*

ium meal) द्वारा निगल-श्वासनलिकीय नाड़ी व्रण (*Oesophogo-bronchial fistula*) तथा अर्बुदों द्वारा श्वासनलीय अवरोध आदि का निदान होता है। वक्ष के सूक्ष्मचित्र द्वारा सामूहिक परीक्षण(*Mass-miniature radiography of the chest*) फौफ्फुसिक क्षय की प्रारम्भावस्था में एक अत्युपयोगी नैदानिक प्रसाधन होता है।

अन्नवाही स्रोत (*Alimentary tract*) की परीक्षा:—साधारण विधि द्वारा इस प्रणाली की संतोषजनक परीक्षा नहीं की जा सकती क्योंकि रिक्त अवयव क्ष-किरण-अल्पपारदर्श होने के कारण दृष्य नहीं होता। अतएव एक परोक्षविधि का प्रयोग किया जाता है जिसमें पारान्ध-बैरियम सल्फेट (*Barium sulphate*) युत एक घोल रोगी को पिलाकर स्फुरित यवनिका या उत्तम क्ष-रश्मि-चित्र या दोनों विधियों द्वारा अवयवों या अन्तराङ्गों की परीक्षा की जा सकती है।

निगलनली (*Oesophagus*) परीक्षा:—रोगी को क्ष-रश्मि-नली और भ्रासमान-पट के बीच परीक्षक की ओर अभिमुख कर खड़ा कर दिया जाता है। परीक्षक सर्वप्रथम वक्ष की सामान्य दशा की परीक्षा करता है। स्थूल विकृतियों की विद्यमानता या अनुपस्थिति निश्चय करने के पश्चात् रोगी को दक्षिण-तिर्यक-स्थिति (*Right oblique position*) में, मध्यवक्षीयगुहा (*Mediastinal space*) का स्फुरित-यवनिका पर निरीक्षण करते हुए, घुमाते हैं। अब फिर रोगी को "अर्ध-वाम-स्थिति (*Half left position*) में कर देते हैं। तब रोगी को बैरियम का एक गाढ़ा घोल पिलाते हैं और ग्रास (*Bolus*) की गति का निरीक्षण करते हैं।

इस प्रकार विजातीय पदार्थ,अन्धधान (Diverticulum) या स्थाली (pouch) आदि दृष्टिगोचर हो जाते हैं। अर्बुद के कारण उत्पन्न अवरोध, विविध प्रकार या क्रम के परिपूरण विकार (Filling defect) परिलक्षित होते हैं। अवरोध के अन्य कारण जैसे दाहक-द्रव्यों (Caustics) के निगलने के कारण उत्पन्न संकीर्णता या क्षत आदि द्वारा उत्पन्न आक्षेप देखे जा सकते हैं। इसके बाद क्ष—रश्मि-चित्र लिया जा सकता है।

आमाशय—की परीक्षा परिपूरण क्रिया (Act of filling) के समय ही की जाती है जबकि अपारदर्श-आहार (Opeque meal) आगमद्वार (Cardiac Orifice से सुनिर्मित स्रोत के रूप में प्रवाहित होते हुए आमाशयिक-बृहत्-वक्रिमा (greater curvature of the stomach) के प्रलम्बित भाग (dependant part) की ओर अभ्याकृष्ट (gravitating) होता हुआ दिखाई देता है। परिपूरण-क्रिया पूर्ण हो जाने के पश्चात् रोगी को चारों ओर घुमाकर आमाशय के बृहत् एवं लघु वक्रिमा (Greater and lesser curvature) तथा अग्र एवं पार्श्वीयभित्ती की विकृति के अनुसंधान के निमित्त परीक्षा करते हैं और फिर आमाशय दक्षिणांश एवं निर्गमद्वार (pyloric end) से होकर पक्काशय में आहार को जाते हुए देखते हैं। आवश्यकतानुसार कौड़ी-प्रदेश में मृदु-मर्दन भी कर सकते हैं। क्षत, मांसप्रवर्द्ध (Excrescence), खात (Depression), नववृद्धि या अर्बुद आदि परिपूरण-विकार (Filling defects) द्वारा परिलक्षित होते हैं।

पक्काशय—यह तीन खंडों में विभक्त किया जाता है—प्रथम अंश को शिखर या मुकुट (Cap) कहते हैं, द्वितीय तथा तृतीय खंड जो आमाशय गात्र के पीछे अवस्थित पक्वाशय-ऊर्ध्वक्षुद्रान्त्र-वक्रांश (Duodenojejunal Flexure) में मिलकर समाप्त होता है। क्ष—रश्मि-परीक्षण के दृष्टिकोण से शिखरांश या प्रथम भाग ही अत्यधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि व्रणोत्पत्ति (Ulceration) का सर्व सामान्य स्थल यही होता है, जैसाकि प्राकृत बाह्याकृति की विकृति द्वारा लक्षित होता है। तृतीय खंड अर्धचन्द्राकार सीताओं द्वारा पहचाना जाता है।

क्षुद्रान्त्र—इसका अवलोकन कठिन होता है।

आसमान पट पर आन्त्रकुण्डलों (coils of small intestines) में लघु आहार-पिण्डकों की गति का अवलोकन किया जा सकता है किन्तु जब तक अधोक्षुद्रान्त्र (Ileum) के निम्नांश में नहीं पहुँच जाते ये सर्वदा गतिशील होते हैं। ८६-घंटे पश्चात् सम्पूर्ण आहार वृहदन्त्र में तथा २४-३६ घंटे पश्चात् उत्तरगुद (Rectum) में पहुँच जाना चाहिये, यद्यपि उसके कुछ अंश इसके पश्चात् भी सम्पूर्ण पथ में पाये जा सकते हैं।

वृहदन्त्र—की परीक्षा में बैरियम-आहार की अपेक्षा बैरियम की बस्ति अधिक श्रेयकर तथा उपयोगी होती है। अपारदर्श-वस्ति (Opaque enema) जो बैरियम-सल्फेट (Barium sulphate) का निलम्बन (suspension) होती है पूर्णतः तरल होनी चाहिए। इसके द्वारा सम्पूर्ण वृहदन्त्र की आकृति दृश्य हो जाती है और आशमान पट की सहायता से उनकी स्पर्श-परीक्षा भी सम्भव हो जाती है। किन्तु इसके लिये रोगी को विशेष रूप में तैयार करने की आवश्यकता होती है। मृदु विरेचन तथा वस्तिकर्म द्वारा आन्त्र की शुद्धि अत्यावश्यक होती है अन्यथा पारान्ध-वस्ति (opaque enema) का धारण कठिन होता है तथा आन्त्र में मल की उपस्थिति वस्ति तरल का मार्गावरोध कर सकती है एवं चित्र के फल-निर्णय में भ्रान्ति उत्पन्न कर सकती है। आहार ग्रहण भी सीमित मात्रा में करना चाहिए। वस्तिपात्र (Douche-can) जो रोगी के शरीर से प्रायः ३ फीट की ऊंचाई पर लटकता है अथवा हिग्गिन्सन की पिचकारी (Higginson's Syringe) द्वारा तरलद्रव उत्तर गुद में प्रवाहित किया जाता है। वृहदान्त्र का सबसे अधिक सामान्य रोग कैंसर (कर्कटार्बुद) पाया जाता है। इसकी सामान्य स्थिति अवग्रहाम वृहदान्त्र (Sigmoid colon) का निम्न भाग अधोवृहदान्त्र तथा अवग्रहाम-वृहदान्त्र-सन्धिस्थल, उण्डुक तथा याकृतिक एवं प्लैहिक वक्रिमायें हैं। दुष्टार्बुद-संकीर्णन की उन्नतावस्था में इससे नीचे की आंतें अत्यधिक प्रसारित हो जाती हैं तथा पारान्ध-तरल-प्रवाह आंशिक या पूर्णरूप से अवरुद्ध हो जाता है। प्रारम्भिक अवस्था में केवल प्राकृत् वाह्याकृति में परिपूरण-विकृति (Filling defect) ही परिलक्षित हो सकता है आन्त्र के परिपूर्ण हो जाने के पश्चात् क्ष-रश्मि-चित्र ले लिया जाता है। अन्य विकार जो इस विधि द्वारा प्रत्यक्ष हो सकते हैं वे ये हैं:—

जीर्ण वृहदान्त्रप्रदाह (Chronic colitis) अन्धपुटकप्रदाह (Diverticulitis) तथा प्राकृत या विकृत उण्डुकपुच्छ (Appendix)। अधोवृहदान्त्र का अवरोध सांघातिक अर्बुद या उग्र अन्धपुटक प्रदाह के कारण है इसका निर्णय करना कठिन है। जीर्णवृहदान्त्र प्रदाह की दशा में आन्त्र की प्राकृतिक संवेल्ल (Pouching) तथा वक्रिमायें लुप्त हो जाती हैं।

उण्डुक पुच्छ (Appendix)—इसकी परीक्षा अपारदर्शी-आहार या वस्ति दोनों विधियों द्वारा की जा सकती है। प्रथमविधि में ६-२४ घंटों के अन्दर ही इसे समाप्त हो जानी चाहिये। रोगी को उत्तानाशन (supine position) में कर स्फुरित यवनिका द्वारा परीक्षण अत्युत्तम होता है। इस परीक्षा द्वारा निम्नलिखित विकार प्रकट होते हैं।

(१) अप्राकृतिक-पूरण (Abnormal Filling)
(२) मुख का संकोच अथवा विस्फार।
(३) एक निश्चित् स्थिति में स्थिर रहना।
(४) वृहदान्त्र के रिक्त होते हुए भी पारान्ध-तरल का उण्डुक-पुच्छ द्वारा अवधारण।
(५) स्पर्श करने पर स्थानिक पीड़ा का अनुभव।

पित्त-संस्थान—अधिकांश पित्ताश्मरियां संरचनात्मक गुण के कारण स्फुरित-यवनिका द्वारा नहीं देखी जा सकतीं यद्यपि कोई कोई सामान्य क्ष-रश्मि-चित्र में भी परिलक्षित हो सकती हैं। अप्रत्यक्षविधि में एक पूर्ण-पारान्ध-रसायनिक-द्रव्य जो यकृत पर

विशेष चयनात्मक-क्रिया (Selective action) दर्शाता है तथा यकृत द्वारा पित्त में उत्सर्जित होता है, प्रयोग करते हैं। ये औषध सोडियम-टेट्राब्रोम-फेनौल्फथेलीन (Sodium Tetrabromophenolphthalin) तथा सोडियम-आयडो-फेनौल्फथेलीन (Sodium Iodophenolphthalin) हैं। ये मुखमार्ग या सिरान्तरीय सूचिवेध द्वारा प्रयोग किये जा सकते हैं यद्यपि सरलता तथा सुरक्षा की दृष्टि से मौखिक मार्ग श्रेष्ठतर होता है।

मौखिक मार्ग से औषधि देने के २४ घंटे पूर्व से ही रोगी को विशेष प्रकार से तैयार किया जाता है। उसे लघु, वसारहित, प्राङ्गोदेयिक आहार (*Carbohydrate diet*) ग्रहण कराया जाता है। ६-७ बजे प्रातः रोगी अल्पाहार करने के पश्चात् केराटिनाच्छादित (*Keratin-coated*) एक विशेष प्रकार के कैप्स्युलस में भरा ४-५ ग्राम औषध निगल जाता है। दूसरे दिन ६ बजे प्रातः एक चित्र लेने के पश्चात् रोगी को वसायुक्त आहार (*Diet rich in fats*) दिया जाता है और दूसरा चित्र २ बजे दिन में लिया जाता है। पहले चित्र में पित्ताशय की बाह्याकृति भलीभांति दृष्टिगोचर होनी चाहिये। अश्मरी की विद्यमानता होने से "परिपूरण-विकार" भी प्रत्यक्ष होना चाहिए। यकृत द्वारा परिस्रुत होने के पश्चात् रञ्जक औषध (*Dye*) पित्ताशय में जमा होती है। छाया चित्र केवल पित्ताशय का ही दृश्य होता है जिसे प्राकृत अवस्था में दीर्घ वृत्ताकार या शुण्डिकाकार (*Oval or pyriform in shape*) तथा समान घनत्व का होना चाहिये। यदि पित्त-प्रणाली के अवरोध के कारण पित्त पित्ताशय में नहीं पहुँच पाता या पित्ताशय पित्ताश्मरियों से भरा हो तो साधारणतः छाया दृष्टिगोचर नहीं होती। केवल कुछ पित्ताश्मरियों की विद्यमानता में छायाचित्र कर्बुर या बहुवर्णी (*Mottled*) होता है। अर्बुद या संलग्नता (*Adhesions*) के कारण भी छायाचित्र विरूपित या परिवर्तित हो सकता है। यदि पित्ताशय परिपूरित तो होता हो किन्तु साधारण काल के अन्दर ही रिक्त नहीं हो पाता हो तो जीर्ण-पित्ताशय प्रदाह (*Chronic cholecystitis*) का सन्देह किया जाता है।

मूत्र-संस्थान (*Urinary system*)-क्ष-रश्मि परीक्षात्मक दृष्टि से इसे ३ भागों में विभक्त किया जाता है:—

(१) वृक्क तथा गवीनी का उत्तरार्ध (*Upper-half of the ureter*)।

(२) गवीनी का निम्नांश।

(३) शिश्नस्थ-मूत्रनलिका (*Penile urethra*)

स्थूल-संरचना तथा परिवृक्कीय वसापिंड (*Perinephric pad of fat*) के कारण साधारणतः वृक्क का सामान्य क्ष-रश्मि-चित्र भी स्वच्छ आता है क्योंकि निकटस्थ रचनाओं की अपेक्षा इसकी छाया अधिक घनी होती है। सन्तोषजनक चित्र में कटि-लम्बिनी बृहती पेशी की धारायें (*Psoasmajor muscle*) कटि-कशेरुकायें, अन्तिम दोनों पर्शुकायें तथा जघन चूड़ा (*Iliac crist*) की छायायें पूर्ण स्वच्छ तथा प्रत्यक्ष होनी चाहिए। इसके लिये शक्ति-शाली यन्त्र का व्यवहार करना चाहिए ताकि अनावृत-काल (*Time of exposure*) ३ सेकेंड से भी कम हो। वृक्क, जो कि श्वास-प्रश्वास की क्रिया के साथ साथ चलायमान होता है, को स्थिर रखने के लिये रोगी कुछ क्षण तक अपनी श्वास रोक रखता है। पूर्व तीन दिनों से रोगी को परीक्षा के लिये तैयार करते हैं। मृदु विरेचक देकर रोगी की आन्त्रों की पूर्ण सफाई कर मल रहित कर देते हैं। वस्तिप्रयोग नहीं करनी चाहिये क्योंकि इससे बृहदान्त्र में वातसंचय (*Accumulation of gas*) होने के कारण वृक्क की छाया धुंधली एवं अस्पष्ट हो जाती है।

वृक्क-परीक्षा निमित्त निम्नलिखित विधियों का प्रयोग होता है।

(१) सामान्य क्ष-रश्मि-चित्रण द्वारा लिया हुआ पार्श्वीय-चित्र (*Lateral View*) अत्यधिक सहायक होता है क्योंकि इसके द्वारा निश्चित रूप से जाना

जा सकता है कि संदिग्ध छाया कशेरुक-गात्र-अग्रधारा (*Anterior border of the vertebral bodies*) के पूर्व या पश्चिम में अवस्थित है। यदि यह पश्चिम में हो तो अश्मरी का सन्देह होता है, यदि पूर्व में हो तो चुर्णयित अन्त्रच्छदीय-ग्रन्थियों (*Calcified mesenteric glands*) का और यदि दक्षिणपार्श्व में हो तो पित्ताश्मरी का सन्देह होता है।

(२) दूसरी विधि को पाइलोग्राफी (*Pyelography* वृक्कआलोकचित्रण) कहते हैं। इसके २ भेद हैं—

(क) आरोही (*Ascending*) तथा (ख) अवरोही (*Discending*) या उत्सर्जक-मूत्रपथचित्रण (*Excretory Urography*) और सिरांतरीय-पायलोग्राफी (*Intravenous Pyelography*)।

(क) आरोही-चित्रण (*Ascending Pyelography*) विधि में गविनी (*Ureter*) से होकर वृक्क-निवाप (*Renal pelvis*) में एक विशेष प्रकार की लम्बी मूत्रशलाका प्रविष्ट की जाती है। ये शलाकाएं क्ष-रश्मि-अपारदर्श (*Radio-opaque*) होती हैं। जब ये वांछित स्थान पर पहुँच जाती हैं तो चित्र ले लिया जाता है जिससे सन्दिग्ध-अश्मछाया तथा शलाका की नोंक का पारस्परिक संबन्ध प्रत्यक्ष हो जाता। इसके बाद ५-८ सी. सी. अपारदर्श विलयन (*Opaque solution* सोडियम ब्रोमाइड का २०% घोल या सोडियम आयोडाइड का १३%घोल) शलाका द्वारा वृक्कनिवाप में प्रविष्ट किया जाता है जिससे वह किंचित प्रसारित हो जाता है। अब फिर चित्र ले लिया जाता है। इस चित्र द्वारा यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि वह संदिग्ध छाया अपारदर्शतरल की छाया के साथ मिल गयी या नहीं। ऐसे चित्र को पायलोग्राम (*Pyelogram*) कहते हैं।

(ख) अन्तःसिरीय-पायलोग्राफी (*Intravenous Pyelography*) या अवरोही वृक्कचित्रण (*Discending Pyelography*) या उत्सर्जक मूत्र-पथचित्रण (*Excretory Urography*)—

वृक्कीय व्याधियों के अनुसंधान हेतु नैत्यिक परीक्षा के रूप में इसका प्रयोग होने लगा है। आरंभ में यूरो-सेलेक्टन-बी (*Uroselectan B*) या परएब्रोडिल (*Perabrodil*) नामक औषध का प्रयोग होता था किन्तु आजकल आयडिन के नूतन योगों का प्रयोग होता है।

यह विधि वृक्कों की तुलनात्मक उत्सर्जकक्षमता और तत्पश्चात् पुटचक्रों (Calyxes), वृक्क निवाप (*Pelvis*), गविनी (*Ureter*) तथा मूत्राशय में पूर्ण व्याप्त होकर संपूर्ण मूत्रपथ की रूपरेखा प्रदर्शित करती है। औषधि का सिरागत सूचीवेध करने के बाद क्ष-रश्मि-चित्र ५-३० मिनट के पश्चात् लिये जाते हैं। इस विधि द्वारा यद्यपि वृक्कस्थित क्षुद्र अश्मरियां अपारदर्शीमूत्र के कारण अदृश्य हो जा सकती हैं, किन्तु गविनी-स्थित अश्मरियां शायद ऊर्ध्वखण्ड के प्रसारित होने से या अश्मसमीपस्थ गविनी के परिपूर्ण हो जाने के कारण ये पूर्ण प्रत्यक्ष हो जाती हैं।

पुटचक्रों (Calyxes) तथा वृक्कनिवाप (*Pelvis of kidney*) का "परिपूर्त्ति-विकार (*Filling defects*)" वृक्कीय व्याधि या विकृति का द्योतक है।

बहिर्भूत या अश्वनालाकार वृक्क (*Ectopic or Horse-shoe-shaped* Kidney) के प्रदर्शनार्थ भी इस विधि का प्रयोग होता है। कुछ अन्य अवस्थाओं में केवल इसी विधि का प्रयोग सम्भव होता है। मूत्राशय में रक्तक्षरण के कारण गवीनी-छिद्र अदृश्य हो या गविनी के ऐंठ जाने (*Kinking of the urethra*) के कारण शलाका प्रवेश संभव नहीं हो, अथवा मूत्राशय या मूत्रप्रसेक नलिका (*Urethra*) में संक्रमण हो तब भी अन्य विधियों की अपेक्षा यह विधि श्रेष्ठतर होती है।

सावधानी—आयडिन असहिष्णु रोगियों में (*In Patients sensitive to iodine*) इसका

प्रयोग नहीं करना चाहिये क्योंकि इससे वृक्क की और अधिक क्षति हो सकती है या मूत्रविषाक्तता (*Uremia*) उत्पन्न हो जा सकती है।

गविनियां—ये क्ष-रश्मि द्वारा प्रवेश्यक्षम्य होती हैं। यद्यपि गविनी के उत्तरार्ध में उपस्थित होने पर अश्मरी कभी कभी साधारण पार्श्वीय क्ष-रश्मि-चित्र में भी परिलक्षित हो सकता है, किन्तु अपारदर्शी शलाका या गविनी नम्यशलाका (*Ureteric bougie*) प्रविष्ट करने के पश्चात् लिये हुए क्ष-रश्मि-चित्र में यह अत्यधिक प्रत्यक्ष होता है, अतएव इसके अनुसंधान या निदान के लिए यह सर्वोत्तम विधि होती है।

मूत्राशय—इसके अन्दर अपारदर्शी वस्तुएं भी विद्यमान हो सकती हैं जैसे—विजातीय पदार्थ, अश्मरी, क्ष-रश्मि-अपारदर्शी-भास्वीय (*Phosphate*) युत अंकुरप्रसरार्बुद (*Papilloma*) या अन्धस्युनिकायें (*Diverticulum*) इत्यादि। ये मूत्राशय को अपारदर्शीद्रव से भरने के पश्चात् मूत्राशय-आलोक चित्र (*Cystogram*) द्वारा प्रदर्शित किये जा सकते हैं।

पौरुष (अष्ठीला) ग्रन्थि (*Prostate gland*):- यह मूत्राशय मुख के पास होती है। वृद्धावस्था में इसकी ग्रन्थि-गर्त्तों (*Crypts*) में क्षुद्र अश्मरियां पायी जा सकती हैं जो अनेक लघु छायायें प्रदर्शित करती हैं। मूत्राशय के अन्तर्गत अश्मरियां अधिकतर पायी जाती हैं जो एक या अनेक हो सकती हैं तथा मूत्राशयगह्वर या अन्धस्यूनिकाओं में पायी जा सकती हैं।

करोटि अस्थिपंजर तथा मस्तिष्क (*skull and brain*) मस्तिष्क-तन्तु इतना सघन नहीं होता कि क्ष-रश्मि-चित्र में उसकी छाया स्पष्ट हो सके।

करोटि-भंग साधारण क्ष-रश्मि चित्र में भी देखा जा सकता है अतएव इसके निदान में कोई कठिनाई नहीं होती। करोटि-मूल (*Base of skull*) का अस्थि-भंग अधिक होता है किन्तु क्ष-चित्र द्वारा इनका निदान प्रायः सम्भव नहीं होता। करोटि के विभिन्न अर्बुद जैसे-अस्थ्यर्बुद (*Osteoma*) सांघातिक-मांसार्बुद (*sarcoma*), प्रदाहज-अस्थिविकृति (*Osteitis deformans*) आदि विकार साधारण क्ष-चित्र में भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं।

मस्तिष्कतन्तु के अर्बुद दो प्रकार के होते हैं।

(१) दृष्य-प्रकार (जैसे मस्तिष्कीय रेणुकार्बुद *Psammomata or sondtumors*)।

(२) अदृष्य-प्रकार जैसे श्लिष्मार्बुद (*Glioma*) इसके दो महत्वपूर्ण चिह्न क्ष-चित्र में परिलक्षित होते हैं:—

(*i*) दीर्घकालीन रोगियों में करोटि की सीवनी सन्धियों की अप्राकृतिक विस्तारण।

(*ii*) दूसरा एक विशेष विधि द्वारा लिया हुआ चित्र जिसे मस्तिष्क-गुहा-चित्रण (*Ventriculography*) कहते हैं। इस विधि में करोटि वेधन कर एक पार्श्व की मस्तिष्क गुहा में छिद्रित सूची प्रविष्ट करते हैं, फिर कुछ मस्तिष्क-मेरु-द्रव (*cerebrospinal fluid*) या ब्रह्मवारि निकालने के पश्चात् मस्तिष्क गुहा में जीवाणु रहित (*sterilized*) वायु प्रविष्ट करते हैं और सूचि निकाल कर वेधस्थल को बन्द कर देते हैं। इसके पश्चात् क्ष-रश्मि-चित्र लेते हैं जिसमें रोगाक्रान्त मस्तिष्क गुहा की आकृति में विशद परिवर्तन या वैरूप्यतायें परिलक्षित होती हैं। सूचीवेध के चन्द घन्टों के अन्दर ही प्रविष्ट-वायु अवशोषित हो जाती है।

मस्तिष्क-आलोक-चित्रण (*Encephalography*): इस विधि में कटि-वेध-सूचि (*Lumber puncture needle*) द्वारा तृतीय कटि-कशेरुकान्तराल (3rd *lumber interspace*) में वेधन कर कुछ ब्रह्मवारि निकालने के पश्चात् निस्यन्दित (*Filtered*) वायु प्रविष्ट किया जाता है जो मस्तिष्क-योजनिकाओं (*Commissures of the brain*) से होता हुआ मस्तिष्क गुहा में पहुँच जाता है। क्ष-चित्र द्वारा विभिन्न छिद्रों के अवरोध या मस्तिष्क गुहा-

न्तरीय अर्बुदों को वातव्य छाया में परिलक्षित होने वाली विषमताओं द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है।

सुषुम्ना(*spinal cord*)–इसके लिये एक विशेष विधि का प्रयोग किया जाता है जिसमें लिप्वायडल (*Lipoidal*) नामक आयडिन का स्नैहिक-योग (*An oily compound of iodine*) महाविवर (*Foramen magnum*) के समतल से महाकुंड (*Cisterna magna*) में प्रविष्ट करते हैं। एक सी. सी. (१ *c. c.*) मस्तिष्क-मेरुद्रव निकाल कर उतना ही लिप्वायडल का सूचिकाभरण कर देते हैं। यदि रोगी को सूचिकाभरण के पश्चात् बैठा दिया जाय तो मस्तिष्क-मेरु-द्रव से अपेक्षाकृत अधिक गुरुत्व का होने के कारण लिप्वायडल नीचे की ओर प्रवाहित हो जाता है, और क्ष-चित्र में इसकी स्थिति परिलक्षित होती है। यदि सुषुम्ना का संपीडन (*Compression of spinal cord*) विद्यमान हो तो लिप्वायडल की छाया ठीक इस स्थल के ऊपर दिखलाई पड़ेगी। किसी प्रकार का अवरोध नहीं होने पर यह द्वितीय या तृतीय त्रिकास्थि के समतल तक प्रवाहित हो कर एकत्रित होजाता है। यह विधि पूर्ण सुरक्षित तथा निरापद होती है। जीर्णमस्तिष्कावरण प्रदाह (*Chronic Meningitis*) की अवस्था में यह केवल बिन्दुकित रूप में ही नीचे की ओर प्रवाहित होगा, और त्रिकास्थि-समतल पर एकत्रित होने में साधारणतः चन्द मिनटों की अपेक्षा अनेक घंटों का समय लग जाता है।

अस्थियां—अस्थियों की क्ष-रश्मि-परीक्षा करने में केवल चित्रणविधि का ही प्रयोग करना चाहिए क्योंकि भाशमान-पटीय-परीक्षण में सूक्ष्म विकृतियां प्रदर्शित नहीं होतीं।

करोटि–(i) बृह्माण्ड (Vault)–इसके लिये अग्र-पश्च तथा पार्श्वीय दृश्य का चित्र लेना चाहिए जिनमें यह भली भांति देखा जा सकता है।

(ii) करोटि-मूल (base of skull)—इसका चित्रण करते समय शिर पार्श्वीय-स्थिति में होना चाहिए, किन्तु यदि पीयूष निम्निका (Sella tersica) का चित्र लेना हो तो केन्द्रीय रश्मि उसी पर केन्द्रीभूत करनी चाहिए। यदि रोगी को वांछित स्थिति में किया जा सके तो अधो-ऊर्ध्व-दृश्य में (Infra-Superior View), जिसमें केन्द्रीय-रश्मि हनुकोणों के मध्यान्तरीय बिन्दु से गुजरती है, सम्पूर्ण करोटि-मूल प्रदर्शित हो जाता है।

(iii) वायुकोटर—करोट्यान्तरगत वायुकोटरों का चित्रण अत्यधिक महत्वपूर्ण होता है और प्रदाहिकक्षत या विकृतियों तथा सांघातिक अर्बुद की दशा में क्ष-रश्मि-चित्रण अत्यधिक सहायक होता है। इसका आधारभूत सिद्धान्त यह है कि करोटि-आलोकचित्र इस प्रकार से लिये जांय कि वायुकोटर युगल पक्षीय समरूपता (Bilateral Symmetry) की दशा में प्रदर्शित हों और इनकी अपारदर्शता की विभिन्नताओं तथा परिवर्तनों द्वारा विकृत अवस्थाओं का अनुमान या निर्णय किया जा सके।

वायुकोटरों का पूयोद्भव (Empyema of air cells)—एक पार्श्वीय होने पर उस ओर की अत्यधिक अपारदर्शकता के कारण उस ओर की छाया बिल्कुल सफेद आयेगी तथा वाह्याकृति अस्पष्ट या धुंधली हो जायगी। चरम अवस्थाओं में अस्थि-क्षय भी परिलक्षित हो सकता है। नववृद्धि या अर्बुदों के कारण पारभासता (Translusency) में क्षीणता आजाती है जो प्रारम्भावस्था में प्रदाहिकक्षत का भ्रम उत्पन्न करता है।

दन्त—इनके चित्रण के लिये मुख-विवर (Oral Cavity) में हल्के जलरुद्ध (water-proof) आवेष्ठन में आवेष्ठित छोटे छोटे फिल्म इस प्रकार से रखते हैं कि वे तालु की वक्रिमाओं का अनुसरण करते हुए ताल्वस्थि के अनुरूप हो जांय। इसके पश्चात् कुछ जटिल विधियों द्वारा क्ष-रश्मि-चित्र लिया जाता है।

मेरुदंड—(१) ग्रैवीय खंड–अग्रपश्च तथा पार्श्वीय दोनों दृश्यों के चित्र लेने चाहिए। पार्श्वीय दृष्य

रोगी को बैठा कर या खड़ा कर लिया जा सकता है। अग्र-पश्चीय-दृश्य में ऊपर की छः कशेरुकाओं के दो दृश्य लेने चाहिए क्योंकि अधोहनु की छाया द्वारा ऊपरी दोनों कशेरुकाओं की छाया आच्छादित हो जाती है। चौथी पांचवीं तथा छटवीं कशेरुकाओं के लिये साधारण विधि तथा अनावृतकाल द्वारा ही चित्र लिया जाता है। सातवीं ग्रैव-कशेरुका तथा ग्रैवीयशुकाओं का पारस्परिक सम्बन्ध बहुत महत्व-पूर्ण होता है क्योंकि उनके द्वारा ऊर्ध्वशाखा (Upper extremity) की वातनाड़ी का विकार या क्षत उत्पन्न हो सकता है।

२–औरसी-मेरुदण्ड—क्ष–चित्रण के दृष्टिकोण से इसे दो भागों में विभक्त करते हैं—

(क) ऊपर की ४-५ कशेरुकायें (२) अवशेष कशेरुकायें (६-१२)। अनावृत काल इतना पर्याप्त होना चाहिये कि क्ष—रश्मि हृदय एवं वक्ष-मध्य-गुहा (Mediastinum) की छायाओं को पार कर कशेरुकगात्र (Vertebral bodies) की आकृति स्पष्टरूप से व्यक्त या प्रत्यक्ष करें। निम्नीय सात कशेरुक-गात्रों का पार्श्वीय चित्रण सहज होता है किन्तु छठवीं तथा सातवीं का चित्र स्कन्ध-छाया द्वारा आच्छादित हो अस्पष्ट जाता है।

कटीय मेरुदण्ड—इनका चित्रण तथा परीक्षण सहज होता है किन्तु संमुख में उदरान्तरीय अवयवों तथा पार्श्व में मांसल-वृहत पेशी-पिंड द्वारा आच्छादित होने के फलस्वरूप इनके चित्रण निमित्त विशेष विधि का प्रयोग करना पड़ता है। चित्र लेने के पूर्व पाचन-प्रणाली पूर्णतः रिक्त कर देनी चाहिये।

त्रिकास्थि तथा त्रिकजघन सन्धि (sacrum and sacro-iliac joints) इनके चित्रण के पूर्व भी आंतों की पूर्ण सफाई अत्यावश्यक होती है। अनावृतकाल दीर्घ होना चाहिये क्योंकि यहां वृहत् एवं स्थूल पेशियां होती हैं। अग्रपश्च दृश्य में केन्द्रिय रश्मि दोनों अग्रोर्ध्व-श्रोणिकण्टक (Anterior Superior Iliac spine) के मध्यस्थ विन्दु पर केन्द्रित की जाती है। पार्श्वीय चित्र नितम्बों से होकर लिया जाता है।

श्रोणिगह्वर (Pelvis)—सम्पूर्ण श्रोणिगह्वर की परीक्षा "पोटर-बक्की-डायफ्राम (Potter Bucky diaphragm) का प्रयोग करते हुये एक बड़े फिल्म पर की जाती है। केन्द्रिय रश्मि दोनों वंक्षण सन्धि (Hip joint) को मिलाने वाली रेखा के मध्य-बिन्दु से गुजरती है। श्रोणिगह्वर के अलग अलग चित्र लेकर परीक्षा की जा सकती है।

पशुकायें तथा उरोस्थि—सामान्यतः सम्पर्ण आस्थ्य-वक्ष (bony thorax) का चित्र एक ही फिल्म पर लिया जाता है। पशुकाभङ्ग का निदान क्षति-स्थान की स्थिति के अनुसार अग्र-पश्च या पश्च-अग्र-दृश्य का चित्र लेकर किया जाता है। कक्ष-रेखा के समीप होने पर एक या अधिक तिर्यक्-दृश्य (oblique view) लेने की भी आवश्यक हो सकती है। अस्थि-विसंधान या विस्थापन होने पर स्टेरेस्कोपिक-चित्र (stereoscopic picture) की आवश्यकता हो सकती है। उरोस्थि परीक्षण के लिये तिर्यक्-दृश्य सबसे अधिक सन्तोषप्रद होता है। रोगी को वाम-तिर्यक्-स्थिति में कर के भी चित्र लेना चाहिए।

ऊर्ध्व शाखा (Upper extremity)—

(१) स्कन्ध-सन्धि (shoulder joint) की परीक्षा सामने से पीछे की ओर की जाती है। पार्श्वीय दृश्य का चित्र भी लेना चाहिये। स्टेरोस्कोपिक चित्र की भी आवश्यकता हो सकती है। सन्धि का क्षत साधारणतः अधिक पाया जाता है जिसमें सबसे अधिक सामान्य प्रगण्डास्थि के शल्यकीय ग्रीवा का भञ्जन (Fracture of the surgical neck of humerus) होता है।

कूर्पर-सन्धि (Elbow joint)—इसके लिये अग्र-पश्च तथा पार्श्वीय दृश्य का चित्र लेना चाहिये। अग्र-पश्च-दृश्य में दोनों अधिकूटों (Epicondyles)

के मध्यबिन्दु पर केन्द्रीय रश्मि केन्द्रित की जाती है, तथा प्रबाहु (Forearm) पूर्णतः प्रसारित तथा पृष्ठाधोवर्त्तित (supinated) होनी चाहिये।

मणिबन्ध (Wrist Joint)—हाथ को ताला-धोवर्त्तित (पट) कर पीछे से इसका चित्र लिया जाता है। केन्द्रीय-रश्मि बहिः तथा अन्तः प्रकोष्ठास्थियों के कंटकों को मिलाने वाली रेखा के मध्य बिन्दु से होकर गुजरती है। इस दृश्य में सम्पूर्ण मणिबन्ध तथा कूर्चास्थियों (Wrist Joint and carpal bones) का चित्र आ जाता है। पार्श्वीय दृश्य का चित्र लेते समय हाथ की अरत्नीय-धारा (Ulner border) फिल्म के समकोण होनी चाहिये तथा मध्यबिन्दु अवरत्निकंटक की नोक पर केन्द्रीभूत होनी चाहिये।

प्रगण्ड तथा अंगुलियों की दीर्घास्थियों (Long bones of the arm and digits) की परीक्षा साधारण रीति से की जाती है।

निम्न शाखा (Lower extremity)—

(१) वंक्षण-सन्धि—स्थूल तथा मांसल पेशियों द्वारा यह आच्छादित रहती है। केन्द्रीय रश्मि ऊर्वस्थिशिर (head of femur) जो विटप सन्धि (Pubic symphysis) तथा अग्रोर्ध्व-श्रोणिकण्टक (Anterior superior iliac spine) को मिलाने वाली रेखा के मध्यबिन्दु से प्रायः एक इञ्च नीचे होता है, से होकर गुजरती है। सामान्यतः एक ही दृश्य पर्याप्त होता है क्योंकि इसमें सभी आस्थ्य रचनाओं का स्वरूप एवं सरंचना लक्षित हो जाती है किन्तु सन्धि-कोषान्तरीय अस्थिभङ्ग (Interacapsular fracture) या ऊर्वस्थि के उत्तरार्ध खण्ड का भञ्जन होने पर (जिसमें गात्र का ऊर्ध्व तृतीयांश भी सम्मिलित है) स्टेरेस्कोपिक-चित्र की आवश्यकता हो सकती है। ऊर्वस्थि-ग्रीवा-भञ्जन प्रदर्शित होने पर पार्श्वीय दृश्य का भी चित्र लेना चाहिये।

जानु-सन्धि (*Knee joint*):—इसमें किसी तरह की कठिनाई नहीं होती किन्तु पैर की स्थिति पर ध्यान देना आवश्यक होता है। जन्वस्थि (*Patella*) ठीक दोनों और्वास्थीय-महाबुर्दों (*Femoral condyles*) के बीचों-बीच स्थित होनी चाहिए। फिल्म को पीछे रखकर नली (*Tube*) सामने में जान्वस्थि के निम्नांश पर केन्द्रीभूत की जाती है। पार्श्वीय-दृश्य में भी चित्रण अत्यावश्यक होता है। पैर को थोड़ा मोड़ कर चित्र लेना चाहिये। क्ष-रश्मि-चित्र में जान्वस्थि उर्वस्थि से केवल लेशमात्र विलग दिखनी चाहिये। केवल ऐसी अवस्था को छोड़कर जिसमें जंघास्थि-कंटक (*Tibial spine*) औवीं अबुर्दान्तरिक खात (*Intercondylar notch of femur*) तक प्रसारित होता है, अन्य अवस्थाओं में सन्ध्यान्तरीय-अवकाश स्पष्टतः दृष्टिगोचर होना चाहिये।

गुल्फ-सन्धि (*Ankle joint*) के परीक्षण में भी दोनों दृश्यों के चित्र लेने चाहिये। अग्र-पश्च दृश्य में केन्द्रीय रश्मि पादतलाकुंचित (*Planterflexed*) पाद के दोनों गुल्फप्रसर को मिलाने वाली रेखा की मध्यबिन्दु से गुजरती है। पार्श्वीय दृश्य में पाद बहिर्घूर्णित (*Externally rotated*) होता है और पैर की वाह्यधारा कैसेट (*casette*) पर स्थित होती है तथा पैर और फिल्म का स्तर समानान्तर होता है।

पादकूर्च सन्धि (*Tarsal joints*)—की परीक्षा में पैर चिपिटरूप से फिल्म पर रखा जाता है और केन्द्रीय रश्मि नौकास्थि-वप्र (*Tubercle of the scaphoid*) तथा पंचम पादशलाकामूल के शिखर को (*Tip of the base of the fifth metatarsal*) मिलाने वाली रेखा के मध्यबिन्दु से गुजरती है।

केवल स्थूल विकृतियों, जैसे आस्थयन पेशी प्रदाह (*Myositis ossificans*), शल्यकीय-वातो-

—शेषांश पृष्ठ १४४ पर।

मूत्र के वर्ण से रोग निदान

श्री० कविराज पं० धर्मदत्त शर्मा चौधरी वैद्य-शास्त्री आयुर्वेदाचार्य।

शरीर का एक मल मूत्र भी है। वृक्क इसे रक्त में से पृथक् कर मूत्र-प्रणालियों द्वारा मूत्राशय में भेजते हैं, जहां वह इकत्र होकर मूत्र-मार्ग द्वारा बाहर निकलता है।

मूत्र की परीक्षा (*Urinalysis*) निम्न प्रकार से होती है। भौतिक परीक्षा (*Physical Examination*) जिसमें नेत्रों द्वारा अथवा अन्य ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अनुभव करना होता है। रासायनिक परीक्षा (*Chemical Examination*) जिसमें अन्य पदार्थ डालकर उत्पन्न हुई रासायनिक क्रिया का अनुभव कर रोग निदान करना होता है। अणुवीक्ष्य परीक्षा (*Microscopic Examination*) जिसमें मूत्र को कांच-पट्टिका पर धारण कर अणुवीक्षण-यन्त्र द्वारा वास्तविक स्वरूप में अनुभव करना होता है। कीटाणविक (*Bacteriological*) परीक्षा, जिसके द्वारा क्षयकीट, ऊष्णवात कीट आदि कई रोगों का परीक्षण कर अनुभव करना होता है। ऐसी कुछ विधियों द्वारा मूत्रपरीक्षा होती है। आयुर्वेद में तैलबिन्दु डालकर भी मूत्र परीक्षा होती है। तैलबिन्दु मूत्र पर फैल जाय तो रोग साध्य है, यदि मूत्र में डूब जाये तो असाध्य व्याधि का सूचक है, आदि। हम उसका अधिक विस्तार कर लेख बढ़ाना नहीं चाहते।

साधारणतया एक मनुष्य को एक दिन में (२४ घंटे में) १००० से १४०० सी. सी. तक (लगभग १ सेर से १॥। सेर तक) मूत्र निकलता है जिसका घनत्व *1.015* से *1.076* है। कुछ अनुभवी लोग कमाधिक भी लिखते हैं। यह मात्रा देश कालानुसार कम अधिक भी हो जाती है परन्तु साधारणतया पुरुष से स्त्री कम और बालक कुछ अधिक मूत्र त्याग करते हैं। मूत्र की गंध से भी बहुत कुछ अनुभव किया जा सकता है। जैसे फलों की गंध वाला मूत्र मधुमेह वाले का अथवा अधिक भूखे रहने वाले (भूखहड़ताली) पुरुष का मिलता है। पाण्डु अथवा नील वर्ण मूत्र वाले रोगी को वात प्रकोप जानना चाहिए। पीत अथवा रक्तवर्ण अथवा तैल सदृश मूत्र वाले रोगी को पित्त प्रकुपित होता है। और श्वेत वर्ण, झागदार, परवल के स्वरस के वर्ण युक्त मूत्र वाला रोगी कफ की कुपितावस्था में समझा जाता है।

आज हम मूत्र के वर्ण द्वारा अनुभव किये गये रोग निदान पर ही कुछ निवेदन करेंगे।

रोगी का मूत्र देखने मात्र से रोगनिदान करने वाले कई चिकित्सक यदाकदा मिलते हैं। ऐसी किन्वदन्तियां भी कई सुनते हैं। एक बार एक निदानाचार्य के पास कोई मनुष्य बैल का मूत्र लेकर पहुँच गया। मूत्र का पात्र उनके सम्मुख रखकर कहा—महाराज मूत्र वाले रोगी का निदान बताने पर ही उसे श्रद्धा होगी और चिकित्सा के लिये यहां आ सकेगा। 'आचार्य' महोदय ने उत्तर दिया कि इस रोगी को २ सेर खली तथा १० सेर भूसा प्रतिदिन खिलाया जाये। ऐसा सुनकर पास बैठे अन्य रोगी विस्मित हो गये और कहने लगे महाराज क्या वह रोगी कोई मनुष्य है अथवा बैल? ऐसा सुनकर आचार्य महोदय हंसकर कहने लगे कि भाई यह तो आप लोग भी जान गये, निदान करना तो मेरा काम था। ऐसा सुनकर मूत्र लाने वाला मनुष्य लज्जित हो क्षमा याचना करने लगा।

लाहौर में एक प्रसिद्ध चिकित्सक पंडित राम नारायण जी दुवे शास्त्री आयुर्वेदाचार्य रहा करते थे। वे निदान के प्रसिद्ध पंडित थे और प्राचीन

ढंग के चिकित्सक थे। उन दिनों नगर का बड़ा चिकित्सक १६ रुपये रोगी देखने की फीस लेता और पंडित जी प्रातः २ घंटे मुफ्त देखने के पश्चात् २ घंटे १० रुपये प्रति रोगी लेकर अपने चिकित्सालय में रोगी देखते थे। रोगी के घर जाने के लिये २० रुपये उनकी फीस थी जो सबसे अधिक थी परन्तु वे अधिकतर बाहर न जाते थे। अपने चिकित्सालय में ही लोग रोगियों का मूत्र ले आते और निदान करा औषधादि ले जाते थे। मुझे भी उनके श्री चरणों में बैठने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वे पूरे कर्मकाण्डी और पवित्र आत्मा थे। कभी मूत्रादि को छूते न थे दूर से देखकर रोग निदान करते थे। कई लोगों को तो रात्री में किया भोजन भी बता दिया करते थे। कई बार हम पंडित जी से पूछते थे कि आप कैसे अनुभव कर लेते हैं? उसी समय कई और रोगियों का निदान दर्शन मात्र से कह देते थे जो रोगी को पूछने पर ठीक होता, नाड़ी परीक्षा तथा मूत्र पर तो पीछे दृष्टि डालते। हमें कहा करते थे कि पुस्तकों में सब कुछ भरा पड़ा है केवल अध्ययन की आवश्यकता है। वे पुस्तकों के अनुवाद को घृणा की दृष्टि से देखते थे, सदा मूल पाठ के अध्ययन को ही कहते।

एक बार पंडित दुबे जी के पास एक रोगी अपना मूत्र लेकर आया तो उन्होंने एक दृष्टि डालते हुए कहा रखदो देख लिया है। रोगी ने फीस आगे अर्पण करदी और पूछा की शर्करा अब कितने प्रतिशत है, तो उत्तर मिला २ प्रतिशत। रोगी ने कहा मैं लिबारोटरी से भी परीक्षा करा लाया हूँ जो ४ प्रतिशत है। वह परीक्षा-फल एक सप्ताह पूर्व का था, पंडित जी का औषधोपचार चल ही रहा था। उन्होंने उसी दिन फिर लिबारेटरी में भेजने को कहा जो दूसरे दिन ठीक २ प्रतिशत निकला।

ऐसे कई निदान-निपुण चिकित्सक अब भी कहीं-कहीं सुने जाते हैं। आधुनिक चिकित्सा क्षेत्र में भी इस ओर रुचि बढ़ रही है।

इसी प्रकार रोग निदान करने के लिये शास्त्रों में नख-परीक्षा, नेत्र-परीक्षा, दर्शन, स्पर्शन आदि अथवा कई यन्त्रों द्वारा रोग निदान करने की विधियां हैं। हमें पूर्ण आशा है कि माधव निदान के पूर्णतया अध्ययन करने के साथ-साथ पाठक इन पद्धतियों पर भी विचार कर लाभ उठायेंगे।

(शेषांश पृष्ठ १४२ का शेषांश)

स्फुल्लता (*Surgical enphysema*) तथा वातीय-कोथ (*Gas gangrene*) आदि अवस्थाओं को छोड़ अन्य दशाओं में शरीर की पेशी तथा कंडरीय तन्तुओं की क्ष-रश्मि-परीक्षा फलदायक नहीं होती।

रक्तोत्सेधः—(*Haematoma*) की आलोक छाया अधिक घन होने के कारण स्पष्टरूप से प्रत्यक्ष होती है। स्थानीय अस्थि तथा अन्य संक्रमण द्वारा उत्पन्न विद्रधि क्ष-रश्मि-चित्र के रूप में प्रदर्शित हो सकता है तथा अन्य अवयवों या रचनाओं को विस्थापित कर सकता है किन्तु दीर्घस्थायी होने पर जब तक चूर्णीभवन के लक्षण (*signs ofcalcification*) नहीं उत्पन्न होते तब तक इनके विषय में कोई निश्चित राय व्यक्त करना कठिन होता है।

रोगविनिश्चयापरनामकम्

माधव-निदानम्

१. पंच निदान-लक्षण

मंगलाचरण

प्रणम्य जगदुत्पत्तिस्थितिसंहारकारणम् ।
स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं त्रैलोक्यशरणं शिवम् ॥१॥

संसार की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश (अथवा संसार भर के प्राणियों के जन्म, जीवन और मरण) के कर्ता, स्वर्ग और अपवर्ग (मोक्ष) के दाता और तीनों लोकों के प्राणियों को शरण देने वाले, भगवान् शिवजी को प्रणाम करके...

ग्रन्थ रचना का प्रयोजन

नानामुनीनां वचनैरिदानीं समासतः सद्भिषजां नियोगात् ।
सोपद्रवारिष्टनिदानलिंगो निबध्यते रोग विनिश्चयोऽयम् ॥२

सद्वैद्यों की आज्ञा से अब मेरे द्वारा अनेक मुनियों के वचनों से संक्षेप में निदान (कारण), लिंग (लक्षण) उपद्रव और अरिष्ट (मारक लक्षण) सहित इस 'रोग-विनिश्चय' नामक ग्रन्थ की रचना की जाती है।

वक्तव्य—(१) माधव-निदान में चरक, सुश्रुत आदि संहिताओं में से अधिकांश श्लोक ज्यों के त्यों उधृत किये गये हैं। यह बात लेखक ने 'नाना-मुनीनां वचनैः निबध्यते' कहकर स्वयं स्वीकार की है।

यह ग्रन्थ संक्षेप में लिखा गया है, यह बात भी 'समासतः' क्रिया विशेषण के द्वारा बतलायी गयी है। दुर्भाग्यवश हमारे सभी आर्ष ग्रंथों में अति संक्षिप्त होने का दोष पाया जाता है और यह दोष हम सभी को अखरता है। किन्तु हमें यह न भूलना चाहिये कि ये ग्रन्थ उस युग के हैं जब छापेखाने नहीं थे और कागज भी अप्राप्य नहीं तो, मंहगा अवश्य था। पुस्तकें हाथ से लिखी जाती थीं इसलिये या तो विद्यार्थियों को स्वयं ही पुस्तक की नकल करनी पड़ती थी अथवा अत्यधिक मूल्य देकर खरीदनी पड़ती थी। इसलिये संक्षिप्त पुस्तकें ही लोकप्रिय हो पाती थीं; बृहत् ग्रन्थों का प्रचार असम्भव था।

इस ग्रन्थ का लेखक के द्वारा दिया हुआ नाम 'रोग-विनिश्चय' है और प्रारम्भ में शायद यही नाम प्रचलित रहा होगा किन्तु आज इस ग्रन्थ को हम माधव-निदान (माधव कृत निदान-ग्रंथ) के नाम से जानते हैं।

ग्रन्थ की उपयोगिता

नानातंत्रविहीनानां भिषजामल्पमेधसाम् ।
सुखं विज्ञातुमातंकमयमेव भविष्यति ॥३॥

अनेक ग्रन्थों का अध्ययन करने में असमर्थ, अल्प बुद्धि वैद्यों को रोगों का ज्ञान सरलतापूर्वक कराने में यही (ग्रन्थ) समर्थ होगा।

वक्तव्य—(२) इस श्लोक से स्पष्ट रूप से यह ध्वनि निकलती है कि मेधावी वैद्यों के लिये निदान-विषयक बृहत् ग्रंथ भी रहे होंगे जो आजकल अप्राप्य हो चुके हैं।

निदान पंचक

निदानं पूर्वरूपाणि रूपाण्युपशयस्तथा ।
सम्प्राप्तिश्चेति विज्ञानं रोगाणां पंचधा स्मृतम् ॥४॥

रोगों का विशिष्ट ज्ञान ५ प्रकार से होता है—निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय और सम्प्राप्ति।

वक्तव्य—(३) उक्त पांचों प्रकार से रोग का निश्चय करने पर भूल होने की सम्भावना लेश मात्र भी नहीं रह जाती। पाश्चात्य पद्धति के अनुसार रोगविनिश्चय (Diagnosis) के लिये जितने भी उपाय काम में लाये जाते हैं वे सभी इन पांच शीर्षकों के अन्तर्गत आ जाते हैं। आयुर्वेद के अन्य ग्रंथों में रोगी की आठ परीक्षाएं बतलायी हैं यथा—

रोगाक्रान्त शरीरस्य स्थानान्यष्टौ परीक्षयेत्।
नाड़ीं मूत्रं मलं जिह्वां शब्दं स्पर्शं दृगाकृती ॥

ये आठ परीक्षाएं रोगी की हैं और उपर्युक्त ५ प्रकार रोग विनिश्चय के हैं। इन आठ परीक्षाओं के द्वारा जो जानकारी प्राप्त होती है उससे रोगी के रोग के निदान, पूर्वरूप, रूप आदि का ही ज्ञान होता है और उसी के आधार पर रोगविनिश्चय किया जाता है।

निदान

निमित्तहेत्वायतनप्रत्ययोत्थानकारणैः ।
निदानमाहुः पर्यायैः,

निमित्त, हेतु, आयतन, प्रत्यय, उत्थान और कारण—ये ६ शब्द 'निदान' के समानार्थी शब्द हैं।

वक्तव्य–(४)—निदान का अंग्रेजी पर्याय इटियोलौजी † (Aetiology) है।

संसार का नियम है कि कारण के बिना कोई भी क्रिया नहीं हो सकती। हमारे जीवन में प्रतिदिन होने वाली, प्रत्येक छोटी बड़ी घटना का सम्बन्ध किसी न किसी कारण से अवश्य होता है। संसार की सभी चिकित्सा पद्धतियों के चिकित्सक इस बात को एक स्वर से मानते हैं कि प्रत्येक रोग की उत्पत्ति का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। कारणों पर मतभेद अवश्य है किन्तु कारण के अस्तित्व पर नहीं। आयुर्वेद के मत से प्रत्येक रोग दोषों के प्रकोप से होता है किन्तु एलोपैथी मत से जीवाणु, जीवनीय द्रव्यों का अभाव आदि कारण माने जाते हैं। एलोपैथी मत से बहुत से रोगों के कारण का ज्ञान अभी तक नहीं हो पाया है। ऐसे स्थलों पर लेखकों ने निस्संकोच लिखा है—'Aetiology is unknown अर्थात् कारण नहीं मालूम है।' यदि वे लोग मानते होते कि कारण के बिना भी रोगोत्पत्ति हो सकती है तो लिखते There is no aetiology of this disease अर्थात् 'इस रोग की उत्पत्ति का कोई कारण नहीं है' किन्तु किसी भी स्थल पर ऐसा नहीं लिखा है।

† जब 'निदान' शब्द का प्रयोग रोग विनिश्चय के अर्थ में होता है तब उसका अंग्रेजी पर्याय डायग्नोसिस (Diagnosis) होता है।

प्रथम, निदान ४ प्रकार का होता है—सन्निकृष्ट, विप्रकृष्ट, व्यभिचारी और प्राधानिक।

१–सन्निकृष्ट निदान—रात्रि, दिन और भोजन के परिपाक की तीन-तीन अवस्थायें होती हैं जिनमें क्रम-क्रम से एक-एक दोष का प्रकोप होता है। यह प्रकोप स्वाभाविक है, किन्तु आहार विहार में भूल होने से स्वभावतः कुपित दोष और भी अधिक कुपित होकर रोगोत्पत्ति कर देता है। जैसे मध्याह्न में पित्त का प्रकोप होता है और भोजन के पचने के समय पर भी पित्त का प्रकोप होता है इसलिये यदि कोई व्यक्ति मध्याह्न में भोजन के पचन-काल में पित्तवर्धक आहार-विहार का सेवन करता है तो उसका पित्त और भी अधिक कुपित होकर रोगोत्पत्ति कर सकता है। इस प्रकार के निदान को सन्निकृष्ट निदान कहते हैं।

२–विप्रकृष्ट निदान—जब संचित दोष दीर्घ काल तक निरुपद्रव रहे और फिर (प्रकोपक कारण मिलने पर) कुपित होकर रोग उत्पन्न करे तब उसे विप्रकृष्ट निदान कहते हैं, जैसे ग्रीष्म में संचित पित्त शरद में प्रकोपक कारण मिलने पर पित्त ज्वर उत्पन्न करता

है; शैशवावस्था में प्रविष्ट कुष्ठ-दण्डाणु युवावस्था आने पर कुष्ठ रोग उत्पन्न करते हैं।

३–व्यभिचारी निदान—जो निदान कमजोर होने के कारण रोगोत्पत्ति न कर सके उसे व्यभिचारी निदान कहते हैं। [कुछ दशाओं में व्यभिचारी निदान रोग प्रतिकारक शक्ति (Immunity) भी प्रदान करते हैं। नशे के लिये विष का सेवन करने वालों में उस विष को सहन करने की इतनी क्षमता उत्पन्न हो जाती है कि उस विष की मारक-मात्रा (fatal dose) लेने पर भी उन्हें कोई हानि नहीं होती। दूषित जलवायु में सदा से रहने वालों पर उसका कोई दुष्प्रभाव नहीं पड़ता किन्तु बाहर से आये हुए लोग तत्काल रोग-ग्रस्त हो जाते हैं। इसी नियम की भित्ति पर पाश्चात्य चिकित्सक विभिन्न संक्रामक रोगों के निदान को व्यभिचारी बनाकर रोग-प्रतिषेध (Prophylaxis) के लिये प्रयुक्त करते हैं। (Vaccine-Therapy))

४–प्राधानिक निदान—जो निदान अपनी उग्रता के कारण सभी परिस्थितियों में तत्काल रोगोत्पत्ति करने में समर्थ होता है उसे प्राधानिक निदान कहते हैं जैसे तीव्र-विष, शल्य, शस्त्र, अग्नि आदि।

दूसरे प्रकार से निदान ३ प्रकार का होता है—असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध और परिणाम।

१–असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग—इन्द्रियों के विषयों का विधिपूर्वक सेवन न करना ही असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग है। इसके ३ भेद हैं—हीन योग, अतियोग और मिथ्यायोग।

अ–हीन योग—किसी भी इन्द्रिय के विषय का सेवन न करना या अत्यन्त कम करना हीन-योग कहलाता है।

ब–अति योग—किसी भी इन्द्रिय के विषय का सेवन अत्यधिक करना अतियोग कहलाता है।

स–मिथ्या योग—किसी भी इन्द्रिय के विषय का सेवन अस्वाभाविक रीति से करना मिथ्यायोग कहलाता है।

ब्रह्मचर्य से रहना जननेन्द्रिय के विषय का हीन योग, अति-मैथुन करना अतियोग और हस्तमैथुन, गुदा-मैथुन, पशुमैथुन आदि मिथ्यायोग हैं। ये तीनों जननेन्द्रिय में विकार उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार सभी इन्द्रियों के विषय में समझना चाहिये।

२–प्रज्ञापराध—मूर्खतावश अथवा काम-क्रोधादि के आवेश में धृति, स्मृति और बुद्धि का लोप हो जाने पर मनुष्य जो अनुचित कर्म कर बैठता है उसे प्रज्ञापराध कहते हैं। प्रज्ञापराध से आगंतुज और मानसिक व्याधियां उत्पन्न होती हैं।

३–परिणाम—ऋतुओं के स्वाभाविक गुणों का हीनयोग, अतियोग और मिथ्यायोग परिणाम कहलाता है। उदाहरणार्थ ग्रीष्म ऋतु में पर्याप्त गर्मी न होना ग्रीष्म का हीनयोग अत्यधिक गर्मी पड़ना अतियोग और गरमी के स्थान पर ठण्ड पड़ना या वर्षा होना मिथ्यायोग है। इन तीनों से रोगोत्पत्ति होती है।

तीसरे प्रकार से निदान के ३ भेद हैं—दोष हेतु, व्याधि हेतु और उभय हेतु।

१–दोष हेतु—जो निदान रोग विशेष से कोई सम्बन्ध न रखते हुए केवल दोष या दोषों की वृद्धि या प्रकोप करता है उसे दोष हेतु कहते हैं। जैसे मधुर रस कफ की वृद्धि करता है; फिर वह बढ़ा हुआ कफ किसी भी कफजन्य व्याधि की उत्पत्ति कर सकता है।

२–व्याधि हेतु—जो निदान निश्चित रूप से किसी एक ही व्याधि का उत्पादक हो भले ही उससे कोई भी दोष कुपित होता हो, उसे व्याधि हेतु कहते हैं। जैसे मृत्तिका भक्षण से पाण्डु रोग ही होता है और कोई रोग नहीं यद्यपि मिट्टी अपने रस के अनुरूप दोष को ही कुपित करती है, यथा–

कषाया मारुतं पित्तमूषरा मधुरा कफम्।

३–उभय हेतु—जो निदान विशिष्ट दोष को कुपित करके किसी विशिष्ट व्याधि की उत्पत्ति करता है उसे उभय हेतु कहते हैं। जैसे विदाही अन्न का सेवन करके

हाथी, घोड़ा, ऊंट आदि की सवारी करने से वात, पित्त और रक्त कुपित होकर वातरक्त की उत्पत्ति करते हैं। अन्य किसी रोग की नहीं।

चौथे प्रकार से निदान दो प्रकार का है—उत्पादक और व्यंजक। जो निदान केवल दोष की उत्पत्ति या वृद्धि ही करता है उसे उत्पादक निदान कहते हैं और जो बढ़े हुये दोष को प्रकुपित करके रोगोत्पत्ति कराता है उसे व्यंजक निदान कहते हैं। जैसे हेमन्त में उत्पन्न मधुर रस कफ की उत्पत्ति या वृद्धि करता है और उस बढ़े हुये कफ को वसन्त का सूर्यसन्ताप द्रुत करके कफज रोगों को व्यक्त करता है। यहां मधुर रस उत्पादक निदान और सूर्यसन्ताप व्यंजक निदान है।

पांचवें प्रकार से निदान दो प्रकार का है—वाह्य हेतु और आभ्यन्तर हेतु। दोषों को प्रकुपित करने वाले आहार-विहार को वाह्य हेतु और दोष-दूष्यों को आभ्यन्तर हेतु कहते हैं। जैसे दही खाने से उत्पन्न कफज व्याधि का बाह्य हेतु दही है और आभ्यान्त हेतु कफ है।

पूर्वरूप

प्राग्रूपं येन लक्ष्यते ॥५॥
उत्पित्सुरामयो दोषविशेषेणानधिष्ठितः।
लिंगमव्यक्तमल्पत्वाद्व्याधीनां तद्यथायथम् ॥६॥

अन्वय—येन दोषविशेषेण, अनधिष्ठितः. उत्पित्सुः आमयः लक्ष्यते तद् अल्पत्वात् अव्यक्तम् व्याधीनां यथायथम् लिंगम् प्राग्रूपम्।

जिस दोष (विकार) विशेष से, शरीर में जो व्याधि स्थित नहीं है (अनधिष्ठित) किन्तु उत्पन्न होने वाली है, उसका ज्ञान होता है, वह लक्षण व्याधि के अनुरूप होता है किन्तु अल्प होने के कारण भलीभांति व्यक्त नहीं होता, उसे प्राग्रूप (पूर्वरूप) कहते हैं।

वक्तव्य—(५) अन्य टीकाकारों ने इस श्लोक का निम्न लिखित अन्वय करते हुये अर्थ निकाला है—

अन्वय—दोषविशेषेण, अनधिष्ठतः, उत्पित्सुः, आमयः येन, लक्ष्यते तत् (सामान्यम्) प्राग्रूपं। अल्पत्वात्, व्याधीनां, यथायथम्, अव्यक्तम्, लिंगम्, (यत् लक्ष्यते तत् विशिष्ट प्राग्रूपम्)।

भाषार्थ—किसी दोषविशेष के अधिष्ठान (सम्बन्ध) से रहित उत्पन्न होने वाली व्याधि जिससे जानी जावे उसे सामन्य पूर्वरूप कहते हैं। पूर्वावस्था में अत्यल्प होने से व्याधियों के अपने-अपने अव्यक्त (अल्प व्यक्त) लक्षण लक्षित हों, उन्हें विशिष्ट पूर्वरूप कहा जाता है।

इस प्रकार तोड़-मरोड़ कर अर्थ निकालना कहां तक युक्ति-संगत है। टीकाकार का कर्त्तव्य होता है ग्रन्थकार के आशय को सरल भाषा में रख देना न कि अपने विचारों को ग्रन्थकार पर लादना। यदि टीकाकार ग्रन्थ में प्रतिपादित विषय के अतिरिक्त कुछ और भी पाठकों के लाभार्थ वतलाना चाहता है तो वह वक्तव्य या विमर्श के रूप में वतला सकता है। पूर्वरूप के दो प्रकारों से मेरा कोई विरोध नहीं है; किन्तु श्लोक को देखते हुये ग्रन्थकार का उद्देश्य पूर्वरूप की परिभाषा वतलाना ही प्रतीत होता है, पूर्वरूप के प्रकार वतलाना नहीं। यदि ग्रन्थकार का उद्देश्य सामान्य पूर्वरूप और विशिष्ट पूर्वरूप की परिभाषा अलग-अलग वतलाने का होता तो वह स्वयं ही 'सामान्य' और 'विशिष्ट' शब्द जोड़ कर श्लोक रचना कर सकता था।

अष्टाङ्गहृदय की अरुणदत्तकृत सर्वांगसुन्दरी टीका में इस श्लोक की टीका इस प्रकार की गई है—

'येनालस्यारुच्यादिनोत्पित्सुरुद्बुभूषुरामयो ज्वरादिर्लक्ष्यते ज्ञायते तत्प्राग्रूपम्। दोषविशेषेण वातादिनाऽनधिष्ठितोऽनासादितो.................................

तत्प्राग्रूपंमुत्पित्सूनां ज्वरादीनामल्पत्वादनासादितबलत्वाद्व्यक्तं लिंगमस्पष्टं लक्षणं यथायथं यद्यस्य व्याधेर्ज्वराद्यन्यतमस्यात्मीयमात्मीयम्।'

अर्थात् 'वातादि दोषविशेषों से सम्बन्ध न रखते हुए आलस्य अरुचि आदि जिन लक्षणों से उत्पन्न होने वाली ज्वरादि व्याधि का ज्ञान होता है वह प्राग्रूप (पूर्वरूप) है। वह (प्राग्रूप) उत्पन्न होने वाले ज्वरादि के अल्पबलत्व के कारण उन्हीं के अनुरूप (ज्वरादि के) अस्पष्ट लक्षण होते हैं।'

यह टीका उपयुक्त होते हुए भी पूर्वरूप के दो प्रकारों को स्वीकृत न कर सकने के कारण अनुपयुक्त ही है।

पूर्वरूप दो प्रकार का होता है—सामान्य और विशिष्ट। सामान्य पूर्वरूप से केवल, होने वाली व्याधि का ज्ञान होता है; दोष-दूष्य का नहीं जैसे, थकावट बेचैनी आदि से बोध होता है कि ज्वर आने वाला है; किन्तु वातज, पित्तज या कफज—इसका अनुमान नहीं होता।

विशिष्ट पूर्वरूप से दोष-दूष्य का भी अनुमान हो जाता है जैसे, अत्यधिक जम्भाई से वातज्वर का, नेत्रों में दाह होने से पित्तज्वर का और अरुचि से कफज्वर का बोध होता है।

निदान में पूर्वरूप का बड़ा भारी महत्व है। लक्षणों के द्वारा रोग-निश्चय में कठिनाई या शङ्का उपस्थित हो तब पूर्वरूप पूछ लेने से तुरन्त शंका निवारण हो जाता है जैसे हल्दी के समान पीले रंग का और रक्तयुक्त मूत्र यदि प्रमेह के पूर्वरूप के विना आवे तो उसे रक्तपित्त मानना चाहिये, प्रमेह नहीं।

चिकित्सा करते समय भी पूर्वरूपों का ध्यान रखने से बड़ा लाभ होता है। कई रोगी पूर्वरूप प्रकट होते ही चिकित्सा के लिए आ जाते हैं। ऐसे अवसरों पर अनाड़ी चिकित्सक उस पूर्वरूप को ही रोग समझकर चिकित्सा में प्रवृत हो जाते हैं। फिर जब रोग का वास्तविक रूप प्रकट होता है तो रोगी चिकित्सक को गालियां देता हुआ दूसरे स्थान पर चिकित्सा कराने के लिए चल देता है; चिकित्सक महोदय सोचते रह जाते हैं कि मैंने दवा तो ठीक दी थी परन्तु न जाने क्यों रोगी को नुकसान हुआ। यह कोई नहीं कहता कि रोग का असली रूप अब प्रकट हुआ है, दोष दवा का नहीं चिकित्सक की बुद्धि का है जिसे पूर्वरूप और रूप का विभेद करना नहीं आता। शायद इसी प्रकार की दुर्घटनाओं को टालने के लिए पुराने वैद्य-हकीमों ने रोगियों को यह शिक्षा दी है कि बीमारी को एक-दो दिन देख चुकने के बाद चिकित्सा कराने आना चाहिये। यह भी अयुक्तिसंगत है—कई बार आशुकारी रोगों में इस उपदेश को मानने वाले या तो चिकित्सा के पूर्व ही परलोक के यात्री बन जाते हैं अथवा इतनी देर से चिकित्सा के लिये आ पाते हैं कि तब उनके लिये परलोक में कमरा रिजर्व हो चुका होता है। इसलिए इस प्रकार का अबुद्धिपूर्ण उपदेश देकर अपने सम्मान की रक्षा करने और अपनी कमजोरी को छिपाने का दुःसाहस सर्वथा निन्दनीय है। पूर्वरूप प्रकट होते ही चिकित्सा के लिये आ जाना रोगी के लिये तो अत्यन्त लाभप्रद है, वैद्य को भी अत्यन्त सुविधाजनक है। प्रारम्भ से ही रोकथाम होने से रोग को विशेष बढ़ने का अवसर नहीं मिल पाता और रोगी भी कम खर्च में और विना अधिक कमजोर हुये रोगमुक्त हो जाता है। ऐसे मौकों पर चिकित्सक के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि वह रोगी को बतला दे कि 'तुम्हारी यह शिकायत अमुक रोग का पूर्वरूप है, आगे अमुक लक्षण प्रकट होंगे और अभी से चिकित्सा करने से रोग अधिक बलवान न होने पावेगा तथा तुम बड़ी आसानी से स्वस्थ हो जाओगे।' इस रीति से कार्य करने पर हर दशा में आपकी विजय होगी। अधिकांश रोगी लगन के साथ चिकित्सा करावेंगे और रोग का वास्तविक रूप प्रकट होने पर घबराकर भागने के बदले और भी अधिक विश्वास के साथ चिकित्सा करावेंगे। कुछ रोगी ऐसे भी मिलेंगे जो आपको ये बातें सुनकर अश्रद्धा पूर्वक भाग जावेंगे, किंतु इसके लिए आपको दुखी होने की आवश्यकता नहीं, रोग का वास्तविक रूप प्रकट होने

पर वे आपकी भविष्यवाणी की सराहना करेंगे और सदा के लिये आपके प्रशंसक बन जावेंगे।

पाश्चात्य चिकित्सक भी पूर्वरूप को बड़ा महत्व देते हैं और रोग विनिश्चय करते समय पूर्वरूप पर अवश्य विचार करते हैं। अंगरेजी में पूर्वरूप को प्रोड्रोम (Prodrome) कहते हैं, प्रोड्रोमेटा (Prodromata) प्रोड्रोमल सिम्प्टम्स (Prodromal Symptoms) आदि इसके पर्याय हैं। प्रोड्रोम का एक भेद औरा (Aura) है-अपस्मार सदृष आक्षेपयुक्त रोगों में आक्षेप आने के कुछ समय पूर्व रोगी किसी खास लक्षण का अनुभव करता है जिसे औरा (पूर्वग्रह) कहते हैं। पूर्वग्रह के लक्षण प्रत्येक रोगी के मामले में भिन्न-भिन्न रहा करते हैं; उनमें किसी प्रकार का सादृष्य नहीं रहता, किसी को शरीर के किसी एक विशेष भाग में चुनचुनाहट,पीड़ा या जलन का अनुभव होता है, किसी को मुंह में विशेष प्रकार के स्वाद का अनुभव होता है तो किसी की दृष्टि या श्रवण-शक्ति में अंतर आजाता है। रोगी इन लक्षणों का अनुभव होते ही जान जाता है कि उसे दौरा आने वाला है और वह अपनी सुरक्षा का प्रबन्ध कर लेता है।

आशुकारी व्याधियों का पूर्वरूप थोड़े समय तक और चिरकारी रोगों का पूर्वरूप लम्बे समय तक रहता है। अधिकांश मामलों में पूर्वरूपावस्था में रोग का निदान करके चिकित्सा करना संभव रहता है और इस अवस्था में रोग अत्यन्त सुखसाध्य रहता है।

रूप

तदेव व्यक्ततां यातं रूपमित्यभिधीयते ।
संस्थानं व्यञ्जनं लिंगं लक्षणं चिह्नमाकृतिः ॥७

वही (पूर्वरूप) व्यक्त होने पर रूप कहलाताहै। संस्थान, व्यञ्जन, लिंग, लक्षण चिह्नऔर आकृति रूप के समानार्थी शब्द हैं।

वक्तव्य-(६) पूर्वरूप की अवस्था में रोग के लक्षण अल्प होने के कारण भलीभांति व्यक्त नहीं होते; कालान्तर में जब वही लक्षण बढ़ कर भलीभांति व्यक्त होजाते हैं तब उन्हें उस रोग का 'रूप' कहा जाता है। अधिकतर, पूर्वरूप के कुछ थोड़े से लक्षण ही व्यक्त हो पाते हैं। अधिक लक्षण 'व्यक्त' होने से रोग की कष्टसाध्यता और सम्पूर्ण लक्षण व्यक्त होने से असाध्यता प्रकट होती है।

रूप का अंग्रेजी पर्याय क्लिनिकल पिक्चर (Clinical Picture) है। पाश्चात्य चिकित्सक इसके दो विभेद करते हैं—

(१) लक्षण—रोगी जिन कष्टों की शिकायत करता है उन्हें लक्षण (Symptoms) या रुग्णानुभूत लक्षण (Subjective Symptoms) कहते हैं।

(२) चिन्ह—रोगी के शरीर की विभिन्न परीक्षाओं के द्वारा चिकित्सक जिन रोगज्ञापक चिन्हों को खोज निकालता है उन्हें चिन्ह (Signs) या वैद्यज्ञात चिन्ह (Objective Signs) कहते हैं। त्वचा, मुख, नेत्र आदि में रोग की उपस्थिति के कारण जो परिवर्तन उपस्थित होते हैं वे इस कोटि में आते हैं।

उपशय

हेतुव्याधिविपर्यस्तविपर्यस्तार्थकारिणाम् ।
औषधान्नविहाराणामुपयोगं सुखावहम् ॥८॥
विद्यादुपशयं व्याधेः स हि सात्म्यमितिस्मृतः ।

हेतु-विपरीत, व्याधि-विपरीत, हेतु-व्याधि विपरीत तथा हेतु-विपरीतार्थकारी (हेतु के समान गुण धर्म रखते हुए भी विपरीत कार्य करने वाला), व्याधि-विपरीतार्थकारी और हेतु-व्याधि-विपरीतार्थकारी जिस औषधि आहार-विहार के उपयोग से रोगी को आराम मिलता है उसे उस व्याधि का उपशय कहते हैं। उपशय को सात्म्य भी कहते हैं।

वक्तव्य-(७) रोग विनिश्चय के साधनों में उपशय का भी बड़ा महत्व है। रोगी को किस औषधि आहार-विहार से आराम मिलता है-यह जान लेने पर अन्य साधनों से निदान करने से जो फल निकलता है उसकी पुष्टि हो जाती है। जहां पर रोगी

के लक्षण इस प्रकार हों कि दो में से एक कौनसा रोग है-यह निश्चित न किया जा सके वहां जिसकी सम्भावना अधिक हो उसकी ही चिकित्सा करना चाहिये। यदि उस चिकित्सा से लाभ हो तो वही रोग मानें और यदि लाभ न हो तो दूसरे रोग की उपस्थिति मान कर उसकी चिकित्सा करें। पाश्चात्य पद्धति के विद्वान् उपशय के महत्व को भलीभांति मानते तो हैं ही, उसका उपयोग भी विभेदक निदान के लिए करते हैं—

'Response to any particular specific treatment may be indicating to diagnosis. A fever yielding to quinine, a dysentary to emetine and a localised growth to antisyphilitic treatment may reasonably be taken to be malaria, amoebic dysentery and syphilitic gummata respectively.

So it is very important to obtain all informations regarding the response shown to any particular treatment.

(Bed-side Medicine-Majumdar)

अर्थात्, किसी विशेष चिकित्सा से लाभ होने का ज्ञान रोग विनिश्चयकारक हो सकता है। किनीन से शान्त होने वाला ज्वर, इमैटीन से शान्त होने वाली प्रवाहिका और उपदंश की चिकित्सा से शान्त होने वाली स्थानिक वृद्धि को क्रमशः मलेरिया, अमीबिक प्रवाहिका और उपदंशज वृद्धि मानना तर्क संगत है। इसलिये रोगी को किसी विशेष चिकित्सा से लाभ हुआ हो तो उसके सम्बन्ध की सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त कर लेना आवश्यक होता है।

पूर्वोक्त ६ प्रकार के उपशयों के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं:—

	औषधि	आहार	विहार
१—हेतु-विपरीत	शीत लगने से उत्पन्न कफ ज्वर में शुण्ठी आदि उष्ण औधि	थकावट से उत्पन्न वातज्वर में थकावट दूर करने के लिये मांसरस युक्त भात।	दिन में सोने से उत्पन्न हुए कफ रोग में रात्रि को जागना।
२—व्याधि-विपरीत	अतिसार में दस्त रोकने के लिये पाठा या कुटज सदृष स्तंभक औषधियां; कुष्ठ में रक्तशोधनार्थ खदिर; प्रमेह में प्रमेहनाशक हरिद्रा।	अतिसार में दस्त रोकने के लिये स्तम्भक अन्न मसूर।	उदावर्त रोग में प्रवाहण कर के रुके हुए मलादि को निकालना।
३—हेतु-व्याधि-विपरीत	वातज शोथ में वातशामक और शोथनाशक दशमूल क्वाथ।	वात-कफजन्य ग्रहणी रोग में वात-कफशामक और ग्रहणी रोग नाशक तक्र, पित्तज ग्रहणी में पित्तशामक और ग्रहणी रोग नाशक दुग्ध, शीत लगने से उत्पन्न वातज्वर में पेया।	स्निग्ध पदार्थों के सेवन और दिवास्वाप से उत्पन्न तन्द्रा रोग में रूक्ष गुण युक्त रात्रि जागरण।

४–हेतु-विपरीतार्थकारी	पित्तज विद्रधि पर गरम पुल्टिस का प्रयोग करने से विद्रधि का पाक शीघ्र होकर आराम मिलता है।	पित्तज विद्रधि होने पर विदाही अन्न का सेवन करने से उसका पाक सत्वर होकर आराम मिलता है।	वातज उन्माद रोग में वात प्रकोपक भय उन्माद की शान्ति करता है।
५–व्याधि-विपरीतार्थकारी	वमन रोग में वमनकारक मदनफल के प्रयोग से और भी अधिक वमन होकर दोष निकल जाते हैं और रोग की शान्ति होती है।	दुग्ध विरेचक होते हुए अतिसार रोग में लाभ पहुँचाता है।	वमन रोग में प्रवाहण कराकर वमन कराने से अवशिष्ट दोष निकल कर शान्ति होती है।
६–हेतु-व्याधि विपरीतार्थकारी	अग्नि से जले हुए भाग पर उष्ण प्रयोग हेतु और व्याधि दोनों के समान होता हुआ भी रक्त को स्थानान्तरित करके लाभ पहुंचता है। जंगम विषों की चिकित्सा में स्थावर (मौल) विष और स्थावर विषों की चिकित्सा में जंगम विष समानधर्मी होते हुए भी गति-वैपरीत्य के कारण प्रयुक्त होते हैं।	मदात्यय रोग की चिकित्सा में जिस प्रकार की मद्य के अत्यधिक पान से रोग हुआ है उसके विपरीत गुणों वाली मद्य का प्रयोग लाभप्रद होता है।	व्यायाम के अतियोग से उत्पन्न उरुस्तम्भ व्याधि में तैरना हेतु और व्याधि दोनों के समान गुण युक्त होते हुए भी लाभप्रद है क्योंकि जल की ठण्डक से शरीर की ऊष्मा बाहर न निकल सकने के कारण भीतर ही भीतर कफ और मेद को विलीन करती है, तैरने में हाथ-पैर चलाने से जो व्यायाम होता है वह भी कफ और मेद का क्षय करता है।

उक्त ६ प्रकार के औषधि-आहार-विहार से रोगों की शान्ति हो सकती है—यह सिद्धान्त आयुर्वेद के अतिरिक्त अन्य किसी पद्धति में इतने स्पष्ट रूप में नहीं बतलाया गया; कई चिकित्सा पद्धतियां तो इनमें से एक को ही आधार मानकर विकसित हुई हैं। जो लोग आयुर्वेद को केवल दोष-प्रत्यनीक (हेतु-विपरीत) चिकित्सा मानते हैं वे अपनी आखें खोलकर यहां देखें-दोष प्रत्यनीक चिकित्सा आयुर्वेद का एक अङ्ग मात्र है। आयुर्वेद उक्त ६ प्रकार की चिकित्सा पद्धतियों का संग्रह है, इसीलिये वह संसार की समस्त चिकित्सा पद्धतियों का गुरु है। जहां अन्य चिकित्सकों के पास रोगोन्मूलन के एक या दो ही मार्ग हुआ करते हैं वहां आयुर्वेदीय चिकित्सकों के पास ६ मार्ग हैं जिनमें से वे परिस्थिति के अनुसार किसी को भी अपना सकते हैं।

अनुपशय

विपरीतोऽनुपशयो व्याध्यसात्म्यमिति स्मृतः ॥९॥

उपशय से विपरीत अनुपशय या व्याध्यसात्म्य होता है।

वक्तव्य–(८) जिस औषधि आहार-विहार से रोगी को आराम मिलता है उसे उपशय कहते हैं; इसके विपरीत जिस औषधि आहार-विहार से रोगी के कष्ट में वृद्धि होती है उसे अनुपशय या व्याध्यसात्म्य

कहते हैं। जिस प्रकार उपशय से निदान में सहायता मिलती है उसी प्रकार अनुपशय से भी सहायता मिलती है।

सम्प्राप्ति

यथा दुष्टेन दोषेण यथा चानुविसर्पता।
निर्वृत्तिरामयस्यासौ सम्प्राप्तिर्जातिरागतिः ॥१०॥

जिस प्रकार से दूषित (कुपित) होकर और जिस प्रकार से गति करते हुए दोष से रोग की उत्पत्ति होती है उसे सम्प्राप्ति, जाति या आगति कहते हैं।

वक्तव्य-(७) दोषों के कुपित होने का कारण निदान है। निदान कई प्रकार के होते हैं—यह बतलाया जा चुका है। कुपित होने के बाद दोष शरीर के किस भाग में किस प्रकार की व्याधि उत्पन्न करेंगे-यह उनकी गति पर निर्भर रहता है। ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक् भेद से दोषों की गति ३ प्रकार की है; आगे उसके और भी भेद हो सकते हैं। इसलिये, दोष का प्रकोप किस प्रकार के निदान से हुआ और वह कुपित दोष शरीर में किस प्रकार गति करता हुआ विशिष्ट स्थान में रोगोत्पत्ति करने में समर्थ हुआ—इन सारी बातों के ज्ञान को सम्प्राप्ति कहते हैं।

सम्प्राप्ति को अंग्रेजी में पैथौलौजी (Pathology) कह सकते हैं।

सम्प्राप्ति के भेद

संख्याविकल्पप्राधान्यबलकालविशेषतः।
सा भिद्यते यथाऽत्रैव वक्ष्यन्तेऽष्टौ ज्वरा इति ॥११॥
दोषाणां समवेतानां विकल्पोंऽशांशकल्पना।
स्वातंत्र्यपारतंत्र्याभ्यां व्याधेः प्राधान्यमादिशेत् ॥१२॥
हेत्वादिकात्स्न्र्यावयवैर्बलाबल विशेषणम्।
नक्तं दिनर्तु भुक्तांशैर्व्याधिकालोयथामलम् ॥१३॥

संख्या, विकल्प, प्राधान्य, बल और काल की विशेषताओं के आधार पर सम्प्राप्ति के (५) भेद किये जाते हैं। जैसे यहीं बतलाया जावेगा कि ज्वर ८ प्रकार के होते हैं—(यह संख्या-सम्प्राप्ति है)। परस्पर सम्बद्ध दोषों में कौन कितने अंशों में कुपित है-इसका निर्णय विकल्प-सम्प्राप्ति कहलाता है। कौन सी व्याधि स्वतंत्र (मुख्य) है और कौन सी परतंत्र (लक्षण या उपद्रव)-इसका निर्णय प्राधान्य-सम्प्राप्ति कहलाता है। निदानादि (निदान पूर्वरूप और रूप) की पूर्णता से रोग के बलवान होने का और अपूर्णता या अल्पता से रोग के अबल (कमजोर) होने का ज्ञान होता है-इस निर्णय को बल-सम्प्राप्ति कहते हैं। दोष के अनुसार रात्रि, दिन, ऋतु एवं खाये हुए पदार्थ के अंश [आदि, मध्य अथवा अन्त] के द्वारा रोग काल का ज्ञान काल-सम्प्राप्ति कहलाता है।

वक्तव्य—(८) संख्या-सम्प्राप्ति रोग के प्रकारों की गणना को संख्या-सम्प्राप्ति कहते हैं, जैसे ज्वर ८ प्रकार का होता है। प्रत्येक रोग का अध्ययन करते समय उसके प्रकारों का अध्ययन करना भी आवश्यक होता है और चिकित्सा करते समय भी शास्त्रोक्त प्रकारों के अनुसार रोग का वर्गीकरण आवश्यक होता है अन्यथा चिकित्सा सफल नहीं हो सकती। ज्वर का अध्ययन विना उसके ८ प्रकारों का अध्ययन किये अधूरा है और इसी प्रकार, किसी रोगी को ज्वर है—इतना जान लेने मात्र से चिकित्सा नहीं हो सकती, चिकित्सा करने के लिये यह जानना जरूरी है कि उक्त रोगी को ८ प्रकार के ज्वरों में से कौन सा विशिष्ट ज्वर है।

विकल्प-सम्प्राप्ति—समवेत दोषों की अंशांश कल्पना को 'विकल्प सम्प्राप्ति' कहते हैं। इसके अन्तर्गत रोगी के शरीर में स्थित वात-पित्त-कफ की दशा का अनुमान किया जाता है अर्थात् कौनसा दोष बढ़ा हुआ है, कौनसा क्षीण है, कौनसा सम स्थिति में है, कौनसा अपने स्थान में है, कौनसा अपना स्थान छोड़कर अन्य स्थल पर जाकर उपद्रव कर रहा है, इत्यादि। प्रत्येक दोष के जो निज लक्षण होते हैं उन्हें अंश कहते हैं। रोगी के शरीर में जिस दोष के सूचक जितने (कम या सम्पूर्ण) लक्षण मिलें उसके अनुसार उस दोष का बलाबल जाना जाता है। इसी रीति से तीनों दोषों के बल का पृथक्-पृथक् अनुमान करके फिर उनकी परस्पर तुलना की जाती है। चूंकि बढ़े हुये दोषों को घटाना

और क्षीण हुये दोषों को बढ़ाना ही त्रिदोष-चिकित्सा का मूल-मंत्र है इसलिये आयुर्वेदीय चिकित्सा-प्रणाली में इस रीति से बलाबल का ज्ञान (विकल्प-सम्प्राप्ति) एक अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

प्राधान्य-सम्प्राप्ति—बहुत से रोग ऐसे हैं जो कभी स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न होते हैं और कभी-कभी अन्य व्याधियों के लक्षण या उपद्रव के रूप में (परतन्त्र) उत्पन्न होते हैं जैसे, ज्वर और कास स्वतन्त्र रोग होते हुये भी राजयक्ष्मा के लक्षण मात्र हैं। ऐसे अवसर पर यदि राजयक्ष्मा की चिकित्सा न करते हुए केवल ज्वर और कास की चिकित्सा की जावे तो सफलता कदापि नहीं मिल सकती। इसी प्रकार पित्तज्वर में अतिसार, अनिद्रा, वमन आदि प्रायः सभी ऐसे लक्षण पाये जाते हैं जिनको दूसरे स्थलों पर स्वतंत्र रोग माना जाता है किंतु यहां केवल ज्वर ही स्वतंत्र रोग है, अन्य सभी लक्षण उसके आश्रित (परतन्त्र) हैं। इस प्रकार स्वतन्त्र और परतन्त्र व्याधियों के विभेद को प्राधान्य-सम्प्राप्ति कहते हैं। रोग विनिश्चय और चिकित्सा—इन दोनों के प्राण प्राधान्य-सम्प्राप्ति में हैं। जो वैद्य प्राधान्य-सम्प्राप्ति का ज्ञान नहीं रखता वह ज्वर-रोगी के ज्वर की नहीं बल्कि सर्वाङ्ग-गत पीड़ा, अनिद्रा, अरुचि आदि की ही चिकित्सा करता रह जावेगा और इस प्रकार की चिकित्सा कहां तक सफल होगी, यह आप स्वयं अनुमान कर लें।

यशोभिलाषी चिकित्सकों का कर्त्तव्य है कि रोगी को जितने प्रकार के कष्ट हैं उनके आधार पर मुख्य रोग का पता लगाने का प्रयत्न करें। जिस प्रकार जड़ काट देने से सम्पूर्ण वृक्ष नष्ट हो जाता है उसी प्रकार प्रधान रोग की चिकित्सा करने से अन्य सभी परतन्त्र लक्षण स्वयमेव नष्ट हो जाते हैं। राजयक्ष्मा की चिकित्सा करते समय ज्वर और कास के लिये औषधियां देना व्यर्थ है, केवल राजयक्ष्मा की चिकित्सा करने से ज्वर-कासादि समस्त लक्षण स्वयमेव नष्ट हो जाते हैं।

एक रोगी को एक ही प्रधान रोग हो यह आवश्यक नहीं है। कई रोगी ऐसे भी मिलते हैं जिनके शरीर में ३-४ तक रोग मिलते हैं और वे सभी स्वतन्त्र ही होते हैं किन्तु १-२ को छोड़ कर अन्य व्याधियां पुरानी हुआ करती हैं। ऐसी अवस्थाओं में नवीन अथवा सबसे अधिक कष्टप्रद व्याधि की चिकित्सा में प्रवृत्त होना चाहिए। कभी कभी ऐसे भी रोगी मिल जाते हैं जिन्हें ३-४ तक नवीन स्वतन्त्र व्याधियां प्रबल रूप में रहती हैं। मुझे एक रोगिणी ऐसी मिली थी जिसे विषमज्वर फुफ्फुसखण्ड प्रदाह (Pneumonia), मोतीझरा और प्रवाहिका, ये चारों रोग एक ही साथ प्रबल रूप में उत्पन्न हुये थे। चारों रोगों की चिकित्सा एक साथ करके उसकी प्राण रक्षा की गई थी। यदि एक भी रोग की उपेक्षा की गई होती तो उसके प्राण जाने में सन्देह नहीं था।

प्रधान रोग की चिकित्सा की जावे, यह नियम प्रायः सर्वत्र लागू होता है किन्तु कुछ परिस्थितियां ऐसी भी हैं जिनमें प्रथम लक्षण या उपद्रव विशेष की चिकित्सा करके फिर उसके पश्चात् प्रधान रोग की ओर ध्यान दिया जाता है किंतु प्रधान रोग का ज्ञान और उसकी चिकित्सा से विरत नहीं हुआ जा सकता। जैसे ज्वर का रोगी यदि मूर्छित अवस्था में चिकित्सक को सौंपा जाता है तो सर्वप्रथम उसकी मूर्छा दूर करना आवश्यक है, इसके बाद ही ज्वर की चिकित्सा में प्रवृत्त होना श्रेयस्कर होगा।

बल-सम्प्राप्ति—निदान-पूर्वरूप और रूप की पूर्णता अथवा अपूर्णता से रोग के बलवान होने या अबल (कमजोर) होने का पता चलता है—इस प्रकार रोग के बल का जो अनुमान किया जाता है उसे बल-सम्प्राप्ति कहते हैं। यदि शास्त्रोक्त निदानादि सम्पूर्ण मिलते हों तो रोग असाध्य होता है; इसके विपरीत कृच्छ्रसाध्य या सुखसाध्य होता है। इस प्रकार बल-सम्प्राप्ति से रोग के बलाबल और साध्यासाध्यत्व का ज्ञान होता है। रोगी और

उसके सम्बन्धी हमेशा इस सम्बन्ध में प्रश्न किया करते हैं इसलिये प्रत्येक रोग की बल सम्प्राप्ति पर विचार करना आवश्यक होता है। वैसे साध्यासाध्यत्व का निर्णय करने के लिये अन्य बातों पर भी विचार करना आवश्यक होता है किन्तु उन सबों में बल-सम्प्राप्ति का विशेष महत्व है।

काल सम्प्राप्ति—दिन और रात्रि के प्रथम भागों में भोजन करने के तुरन्त बाद ही और वसन्त ऋतु में कफ का प्रकोप स्वभावतः होता है। इसी प्रकार दिन और रात्रि के मध्य भाग में भोजन के पचने के समय पर और शरद तथा ग्रीष्म ऋतुओं में पित्त का एवं दिन और रात्रि के अन्तिम भागों में भोजन पचने पर और प्रावृट् ऋतु में वात का प्रकोप स्वभावतः होता है। अपने स्वाभाविक प्रकोप काल में सामान्य निदान भी उस दोष को विशेष कुपित करके रोगोत्पत्ति कर देता है—इस प्रकार के रोग प्राकृत रोग कहलाते हैं और सुखसाध्य होते हैं। किन्तु इसके विपरीत, स्वाभाविक प्रकोप-काल में सामान्य निदान भी उसको विशेष कुपित करके रोगोत्पत्ति कर देता है—इस प्रकार के रोग प्राकृत रोग कहलाते हैं। किन्तु इसके विपरीत, स्वाभाविक प्रकोप-काल के अतिरिक्त कालों में अत्यन्त बलवान निदान ही उस दोष को कुपित करके रोगोत्पत्ति करा सकता है—इस प्रकार उत्पन्न हुए रोग बलवान निदान से उत्पन्न होने के कारण गम्भीर हुआ करते हैं; ऋतु विपरीत होने के कारण औषधियां भी सात्म्य नहीं होतीं इसलिये ये कष्टसाध्य हुआ करते हैं; इन्हें वैकृत रोग कहते हैं। उदाहरण-ग्रीष्म या शरद में साधारण पित्तवर्धक आहार-विहार के सेवन से पित्तज्वर हो सकता है; पित्ताशामक-शीतल औषधियों के प्रयोग से उसे सरलतापूर्वक जीता जा सकता है। इसके विपरीत हेमन्त में अत्यन्त पित्त वर्धक आहार-विहार के अत्यधिक सेवन से ही पित्त-ज्वर की उत्पत्ति हो सकती है; शीतल गुण युक्त औषधियों का सेवन हेमन्त ऋतु में कराने से पित्त शान्त होकर कफ का प्रकोप हो सकता है अथवा पित्त की शान्ति हुए बगैर ही कफ-प्रकोप हो सकता है—इस प्रकार चिकित्सा में कठिनता उत्पन्न हो जाती है।

अपवाद—प्रावृट् और वर्षा ऋतुओं में उत्पन्न वात रोग प्राकृत होते हुए भी कष्टसाध्य होते हैं।

इस प्रकार से दोषानुसार रोग के काल पर जो विचार किया जाता है उसे काल-सम्प्राप्ति कहते हैं।

उपसंहार

इति प्रोक्तो निदानार्थः स व्यासेनोपदेक्ष्यते।

इस प्रकार निदानादि (निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय और संप्राप्ति) का अर्थ बतलाया गया। अब वह विस्तार पूर्वक समझाया जावेगा।

निदान की व्याख्या

सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः ॥१४॥
तत्प्रकोपस्य तु प्रोक्तं विविधाहितसेवनम्।

कुपित दोष ही सभी रोगों (की उत्पत्ति) के कारण हैं। उनके प्रकोप का कारण विविध अहितकर आहार-विहार का सेवन बतलाया गया है।

वक्तव्य—(६) दोषों का प्रकोप अनेक प्रकार से होता है। नीचे उसकी विवेचना एवं वर्गीकरण दिया जाता है।

अ—काल भेद से दोष प्रकोप दो प्रकार का माना गया है—

१—प्राकृत—अपने स्वाभाविक प्रकोप काल में कुपित होने वाला दोष प्राकृत है जैसे, वसन्त में कफ, शरद् में पित्त और वर्षा ऋतु में वात।

२—वैकृत—अपने स्वाभाविक प्रकोप काल के अतिरिक्त अन्य कालों में कुपित होने वाला दोष वैकृत कहलाता है जैसे, वसन्त में वात या पित्त, शरद् में कफ या वात और वर्षा ऋतु में कफ या पित्त।

ब—कभी-कभी एक दोष कुपित होकर दूसरे को भी कुपित कर लेता है, प्रधानता प्रथम दोष की

ही रहती है अर्थात् प्रथम दोष की शान्ति करने से दूसरा स्वयमेव शान्त हो जाता है। (इस प्रकार के रोगों या अवस्थाओं को द्वंद्वज और त्रिदोषज से भिन्न मानना चाहिये।) प्रथम अर्थात् प्रधान दोष को अनुबंध्य और दूसरे अर्थात् गौण दोष को अनुबन्ध दोष कहते हैं।

स—एक दोषज, द्वंद्वज और त्रिदोषज के भेद से मनुष्यों की प्रकृति सात प्रकार की होती है। रोग प्रकृति-सदृष और प्रकृति-विपरीत—दोनों प्रकार के हो सकते हैं। प्रकृति सदृष दोष के प्रकोप से होने वाले रोग कष्टसाध्य और प्रकृति-विपरीत दोषों के प्रकोप से होने वाले रोग सुखसाध्य माने गये हैं। जैसे वातप्रकृति वाले रोगी का वात रोग कष्टसाध्य है किन्तु कफ या पित्तप्रकृति वाले रोगियों के वात रोग साध्य हैं।

द—कभी-कभी कुपित वायु स्वस्थान में उचित मात्रा में स्थित कफ या पित्त को अपनी शक्ति से ढकेल कर अन्य स्थान में स्थित कर देती है जिससे उस दोष के लक्षण प्रतीत होने लगते हैं किन्तु वास्तव में वह दोष कुपित नहीं रहता, इसीलिये यदि उसके शमन के उपाय किये जावें तो लाभ के बदले हानि की सम्भावना रहती है। वास्तव में ऐसी परिस्थिति में कुपित वात को शान्त करने की आवश्यकता रहती है। इस प्रकार के दोष प्रकोप को 'आशयापकर्ष' कहते हैं।

इ—गति भेद से भी कुपित दोषों का वर्गीकरण किया जाता है। दोषों की ३ अवस्थायें होती हैं—क्षय, स्थान (सम) और वृद्धि। क्षय की अवस्था में दोष अपना स्वाभाविक कार्य भली-भांति नहीं कर पाता जिससे शरीर के कार्य-संचालन में गड़बड़ी होती है अर्थात् रोगोत्पत्ति होती है। सम अवस्था में दोष अपना कार्य भलीभांति करते हुए शरीर को स्वस्थ रखता है। वृद्धि की अवस्था में दोष का कार्य भी बढ़ जाता है और उसके स्वाभाविक गुण अपनी अधिकता और तीव्रता के कारण शरीर के व्यापार में गड़बड़ी उत्पन्न करते हैं जिसे रोग का नाम दिया जाता है।

वृद्धिगत दोष अपने स्थान को छोड़कर जब अन्यत्र जाता है तब ऊर्ध्व, अधः और तिर्यग् इन तीन दिशाओं में से किसी एक या अनेक दिशाओं में जाता है। जिस ओर वह जाता है उसी ओर उसके प्रकोप के लक्षण लक्षित होते हैं।

प्रसंगवश, प्रत्येक दोष के गुण, प्रकोपक कारण, शामक उपाय, क्षय, वृद्धि और प्रकोप (वृद्धि के बाद अपने स्थान को छोड़कर अन्यत्र जाने पर) के लक्षण नीचे दिये जा रहे हैं—

वात के गुण—रूक्ष, शीतल, लघु, सूक्ष्म, चल, विशद और खर।

वात प्रकोप के कारण—कसैले, चरपरे, कड़वे एवं रूक्षादि गुणयुक्त वातवर्धक पदार्थों का अति सेवन, द्विदल धान्य (चना, मटर, अरहर, मूंग, मसूर, सेम, उड़द आदि) का विशेष उपयोग, अनशन, अल्प मात्रा में भोजन करना, अत्यन्त गर्म चाय, काफी, दूध आदि पेय, अपान वायु मल मूत्रादि को रोकना, अति मार्ग गमन (पैदल या वाहनों पर), अति परिश्रम करना, अत्यधिक अध्ययन, अभिघात (चोट, मोच, व्रण, शल्य आदि), अति व्यायाम, रात्रि जागरण, जोर-जोर से चिल्लाना गाना या भाषण देना, चिन्ता, अतिमैथुन, वमन, विरेचनादि शोधन क्रियाओं का अतियोग, जांगल देश में निवास और वर्षा ऋतु से वात का प्रकोप होता है।

वातशामक उपाय—संतर्पण चिकित्सा, स्नेहपान, स्वेदन आदि सौम्य शोधन, स्निग्ध और उष्ण बस्ति, सेक, नस्य, मधुर अम्ल लवण और कटु-रसयुक्त भोजन, पौष्टिक भोजन, मेदयुक्त मांस-रस, दधि, घृत, तैल, मालिश, बन्धन, भय (उन्माद रोग में), पिष्टजन्य और गुड़जन्य मद्य, निद्रा, सूर्य का ताप, स्निग्ध उष्ण और नमकीन औषधियों के द्वारा मृदु विरेचन, दीपन-पाचन आदि औषधियों से सिद्ध घृतादि स्नेह या क्वाथ का सिंचन

और गरम वस्त्र का आच्छादन, आदि से एवं वातनाशक औषधियों के सेवन से वात शान्त होता है।

बात क्षय लक्षण—अङ्गों की शिथिलता, बोलने में कष्ट, शारीरिक चेष्टाओं में कमी, आलस्य, स्मरण-शक्ति का क्षय, कफ वृद्धि के लक्षण और कसैले, चरपरे, कड़वे, रूक्ष, शीतल और हलके जौ, मूंग, कंगुनी आदि पदार्थ खाने की इच्छा।

बात वृद्धि लक्षण—शरीर में श्यामता, शुष्कता, कृशता, कम्प, अफारा, मल-संचय, बल, निद्रा, उत्साह हीनता, स्वप्न में उड़ना, भ्रम, प्रलाप, उष्ण और स्निग्ध पदार्थों के सेवन की इच्छा।

वात प्रकोप लक्षण—सन्धि स्थानों की शिथिलता, कम्प, शूल, गात्र-शून्यता, हाथ-पैरों में आक्षेप, नाड़ियों में खिंचाव, तीक्ष्ण पीड़ा, तोड़ने के समान पीड़ा, रोमांच, रूक्षता, रक्त का वर्ण श्याम हो जाना, शोष, जड़ता, गात्र में कठोरता, अङ्गों में वायु भरा रहना, प्रलाप, भ्रम, मूर्छा, मल-संचय, मूत्रावरोध, शुक्रपातन, शरीर टेढ़ा हो जाना, मुंह में कसैलापन इत्यादि।

पित्त के गुण—स्निग्ध, उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव, अम्ल, सर और कटु।

पित्त प्रकोपक कारण—चरपरे, खट्टे, नमकीन और विदाही पदार्थों का अधिक सेवन, सूर्य संताप और अग्निताप, तैल, बकरे और भेड़ का मांस, मद्यपान, क्रोध, शोक, भय, उपवास, कांजी, शरद् ऋतु में उत्पन्न मका आदि नवीन धान्य के अति सेवन से और उष्ण देशों में रहने से पित्त कुपित होता है।

पित्तनाशक उपाय—घृतपान, कसैली, मधुर और शीतवीर्य औषधियों के द्वारा विरेचन, रक्त-मोक्षण, दूध, शीतल, मधुर कसैले और कड़वे रस युक्त भोजन, शीतल जल का पान, स्नान, परिषेक, अवगाहन आदि, सुन्दर गीत-संगीत का श्रवण, रत्नों या सुगन्धित मनोहर शीतल पुष्पों की माला आदि धारण करना, कपूर चन्दन खस आदि के लेप, शीतल पवन का सेवन, पंखे की वायु, छाया में, बाग में या जलाशय के किनारे रहना, चांदनी रात्रि में खुले स्थानों में बैठना या भ्रमण करना, मधुर भाषा में विनोद, बालकों से मधुर वार्तालाप, स्त्रियों का आलिंगन (विशेष कर सद्यः स्नाता और शीतल पदार्थों का लेप किये हुए तथा शीतल मणि पुष्पादि की मालायें धारण किये हुए), द्वार पर या कमरे में शीतल जल का सिंचन आदि उपायों से एवं पित्तशामक औषधियों से पित्त शान्त होता है।

पित्त क्षय लक्षण—शरीर के ताप में कमी (Sub-normal temperature), कान्ति-हीनता, अग्निमांद्य, उत्साह हीनता आदि लक्षण प्रकट होते हैं तथा तिल, उड़द, कुलथी आदि अन्न, दही की मलाई, सिरका, तक्र, कांजी एवं चरपरे, खट्टे नमकीन, गरम और तीक्ष्ण पदार्थ, क्रोध करना, गर्म स्थान में रहना, सूर्य ताप का सेवन आदि की इच्छा होती है।

पित्त वृद्धि लक्षण—त्वचा, नख, नेत्र, मल, मूत्र आदि पीले होना, दाह, पसीना, क्षुधा, तृषा और उष्णता की वृद्धि, शीतल पदार्थों के सेवन की इच्छा होना, निद्रा कम आना, नाड़ी और हृदय की गति तेज होना आदि लक्षण होते हैं।

पित्त प्रकोप लक्षण—दाह, शरीर का वर्ण लाल पीला हो जाना, उष्णता की वृद्धि, पसीना, शोष, अतृप्ति, खट्टी एवं दुर्गन्धित डकार और वमन, पतले दस्त, बेचैनी, सभी पदार्थ पीले दिखाई पड़ना, त्वचा फटना, फोड़े फुंसियां होकर उनका पाक होना, रक्तस्राव, आंख दांत मल मूत्रादि पीले होना, भ्रम, प्रलाप, मूर्छा, निद्रानाश, वीर्य पतला होना, स्वप्न में अग्नि अथवा लाल रंग के पदार्थ दिखना, शीतल पदार्थों की इच्छा आदि।

कफ के गुण—गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, मधुर, स्थिर और पिच्छिल।

कफ प्रकोपक कारण—मधुर, खट्टे, नमकीन, स्निग्ध, जड़, शीतल, चिकने और अभिष्यन्दी पदार्थों का अत्यधिक सेवन, दिन में सोना, धूम्रपान, शारीरिक श्रम न करना, बराबर भोजन, अजीर्ण में भोजन, तैल, चर्बी, दही, दूध, गेंहू, तिल चावल, ईख के पदार्थ, जल जीवों का मांस, सिंघाडे, मीठे फल आदि का अधिक सेवन, वमन आदि शोधन क्रियाओं का हीनयोग, वसन्त ऋतु और आनूप देश में निवास करना इत्यादि।

कफशामक उपाय—तीक्ष्ण पदार्थों के द्वारा विधिपूर्वक वमन कराना, चरपरी औषधियों से विरेचन, शिरोविरेचन, चरपरे कसैले कड़वे एवं रूक्ष भोजन, क्षार, उष्ण भोजन, अल्पाहार, उपवास, प्यास रोकना, कवल और गंडूष धारण करना, पुरानी मदिरा पीना, मैथुन, जागरण, व्यायाम, मार्गगमन, तैरना, कष्ट सहना, चिन्ता, रूक्ष औषधियों का मर्दन, धूम्रपान, शहद तथा मेदोहर और कफघ्न औषधियों का सेवन।

कफ क्षय लक्षण—भ्रम, गात्रस्तब्धता, संधि स्थानों में शिथिलता, श्लेष्म स्थानों में शून्यता या शिथिलता और दाह आदि लक्षण प्रकट होते हैं एवं मधुर स्निग्ध, शीतल, नमकीन, खट्टे और भारी भोजन तथा दूध दही के सेवन और दिन में सोने की इच्छा होती है।

कफ वृद्धि लक्षण—मंदाग्नि, मुंह मीठा होना, मुंह में पानी आना, अरुचि, शरीर निस्तेज और श्वेताभ हो जाना, जड़ता, शीतलता, कास, श्वास, प्रतिश्याय, शरीर में भारीपन, आलस्य, निद्रा अधिक आना, संधियों में पीड़ा, दस्त चिपचिपा सफेद रंग का होना, मूत्र बार बार उतरना आदि।

कफ प्रकोप लक्षण—शरीर चिपचिपा, श्वेताभ, शीतल और भारी; ठण्ड लगना, बुद्धि और शक्ति का ह्रास, मुंह मीठा और चिपचिपा होना, स्रोतोरोध, मुंह से लार गिरना या थूक अधिक आना, अरुचि मंदाग्नि, सूजन, खुजली, स्वप्न में जल देखना, निद्राधिक्य, तन्द्रा, मधुर और नमकीन पदार्थ खाने की इच्छा आलस्य थकावट आदि।

कोष्ठ, शाखा और मर्मास्थिसन्धि भेद से भी दोषों की गति तीन प्रकार की है। जैसे-कामला बहुपित्तैषा कोष्टशाखाश्रयामता अर्थात् कामला कोष्ठ और शाखाओं में आश्रय भेद से कुपित दोष जिस स्थान पर स्थित होता है उसी के अनुसार सन्तत सतत आदि भेद होते हैं।

(फ)—साम और निराम भेद से भी दोष दो प्रकार के होते हैं—

साम वायु के लक्षण—विबंध, अग्निमांद्य आंतों में गुड़गुड़ाहट, तन्द्रा, पीड़ा, शोथ, तोद (सुई चुभने के समान वेदना) और अंगों में अथवा सारे शरीर में जकड़ाहट या ऐंठन।

निराम वायु के लक्षण—विशद, रूक्ष वेदना कम होना और मल की प्रवृत्ति सामान्य रति से होना।

साम पित्त के लक्षण—दुर्गन्ध युक्त, हरे या नीले वर्ण का, अम्ल, स्थिर, गुरु, अम्लोद्गार तथा कण्ठ और हृदय में दाह पैदा करने वाला।

निराम पित्त के लक्षण—ताम्र के वर्ण का या पीला, अत्यन्त उष्ण, चरपरा, अस्थिर (सर), गन्धहीन, रुचि और पाचन शक्ति को बढ़ाने वाला।

साम कफ के लक्षण—गंदला, तन्तु युक्त, जमा हुआ दुर्गन्ध युक्त, भूख एवं डकार को नष्ट करने वाला।

निराम कफ के लक्षण—फेन युक्त, गांठदार, पाण्डु (किंचित पीलापन लिये हुए सफेद), निस्सार एवं गंध रहित।

सामावस्था में लंघनादि के द्वारा दोष का पाचन किया जाता है। फिर निराम होने पर शमन किया जाता है। साम दोष का शमन नहीं किया जाता, यदि प्रमादवश कोई ऐसा करे तो दोष का प्रकोप और भी अधिक होकर व्याधि बढ़ जाती है।

एक रोग से दूसरे रोग की उत्पत्ति

निदानार्थकरो रोगो रोगस्याप्युपजायते ॥१५॥

तद्यथाज्वर सन्तापाद्रक्तपित्तमुदीर्यते।

रक्तपित्ताज्ज्वरस्ताभ्यां शोषश्चाप्युपजायते ॥१६॥
प्लीहाभिवृद्धया जठरं जठराच्छोथ एव च ।
अर्शोभ्यो जाठरं दुःखं गुल्मश्चाप्युपजायते ॥१७॥
(दिवास्वापादिदोषैश्च प्रतिश्यायश्च जायते।)
प्रतिश्यायादथो कासः कासात् संजायते क्षयः।
क्षयो रोगस्य हेतुत्वे शोषस्याप्युपजायते ॥१८॥

रोग भी निदान के समान कार्य करके (दूसरे) रोग की उत्पत्ति करता है अर्थात् एक रोग की उत्पत्ति का कारण भी होता है। जैसे ज्वर की गर्मी (सन्ताप) से रक्तपित्त रोग उत्पन्न होता है। रक्तपित्त से ज्वर उत्पन्न होता है तथा रक्तपित्त और ज्वर इन दोनों से शोथरोग उत्पन्न होता है। प्लीहावृद्धि से उदर रोग और उदर रोग से शोथ रोग उत्पन्न होता है। अर्श रोग से उदर रोग और गुल्म रोग उत्पन्न होते हैं। दिन में सोना आदि मिथ्या आहार विहार से प्रतिश्याय रोग उत्पन्न होता है; प्रतिश्याय से कास रोग और कास से क्षय रोग उत्पन्न होता है तथा क्षय शोथरोग का कारण बनता है।

ते पूर्वं केवला रोगाः पश्चाद्धेत्वर्थकारिणः ।
कश्चिद्धि रोगो रोगस्य हेतुर्भूत्वा प्रशाम्यति ॥१९॥
न प्रशाम्यति चाप्यन्यो हेतुत्वं कुरुतेऽपि च ।
एवं कृच्छ्रतमा नृणां दृश्यन्ते व्याधिसंकराः ॥२०॥

वे प्रारम्भ में केवल रोग ही रहते हैं किन्तु बाद में (योग्य चिकित्सा न होने और असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग आदि कारणों से) निदानवत् कार्य करने वाले होजाते हैं। कोई रोग अन्य रोग की उत्पत्ति करके शान्त होजाता है किन्तु कोई रोग अन्य रोग की उत्पत्ति करके भी शान्त नहीं होता। इस प्रकार मनुष्यों में रोगों के कष्टसाध्य मिश्रण दृष्टिगोचर होते हैं।

तस्माद्यत्नेन सद्वैद्यैरिच्छद्भिः सिद्धिमुत्तमाम् ।
ज्ञातव्यो वक्ष्यते योऽयं ज्वरादीनां विनिश्चयः ॥२१॥

इस लिए जो वैद्य उच्च कोटि की सफलता चाहते हैं उन्हें आगे जो यह ज्वरादि रोगों का विनिश्चय कहा जावेगा उसका अध्ययन (ज्ञान) यत्नपूर्वक करना चाहिये।

: २ :

ज्वर (FEVER, PYREXIA)

उत्पत्ति और प्रकार

दक्षापमानसंक्रुद्धरुद्रनिःश्वाससंभवः ।
ज्वरोऽष्टधा पृथग्द्वन्द्वसंघातागन्तुजः स्मृतः ॥१॥

दक्ष प्रजापति के द्वारा किये गये अपमान से क्रुद्ध होकर शिवजी ने जो निःश्वास छोड़ा था उससे ज्वर की उत्पत्ति हुई है। वह ज्वर पृथक् पृथक् दोषों से (३ प्रकार का—वातज, पित्तज और कफज) दो दो (द्वन्द्व) दोषों के संयोग से (३ प्रकार का—वातपित्तज, वातकफज और कफपित्तज) तीनों दोषों के समूह या सम्मिश्रण से (सन्निपातज) और आगन्तुज (काम, शोक आदि से, अभिघात अर्थात् चोट लगने से उत्पन्न—इस प्रकार ८ प्रकार का होता है।

वक्तव्य-(१०) ज्वर सबसे अधिक पाया जाने वाला रोग है। यह संसार के सभी देशों में सभी ऋतुओं में उत्पन्न होता है। शायद ही कोई ऐसा मनुष्य हो जिसे एकाध बार भी इस रोग ने न सताया हो। सभी चिकित्सालयों में ज्वर के रोगियों की ही संख्या अधिक रहती है। अन्य बहुत से रोगों में भी ज्वर लक्षण के रूप में विद्यमान रहता है। इसीलिये ज्वर को सब रोगों का अग्रणी मानकर ग्रन्थों में सर्व प्रथम इसी को स्थान दिया गया है। केवल आयुर्वेद में ही ऐसा हो सो बात नहीं है, पाश्चात्य ग्रन्थों में भी ज्वर का वर्णन सर्व प्रथम ही किया गया है।

बहुत से अधकचरे वैद्य पाश्चात्य चिकित्सकों को

देखा देखी यह कहते पाये जाते हैं कि ज्वर स्वतः कोई रोग नहीं है अर्थात् वह अनेक रोगों में पाया जाने वाला एक लक्षण मात्र है। वे लोग यह भूल जाते हैं कि इस दृष्टिकोण से देखने पर आयुर्वेदोक्त अतिसार, वमन, तृष्णा आदि सभी रोग अन्य रोगों के लक्षण ही सिद्ध होंगे और इस प्रकार यह भी सिद्ध किया जा सकेगा कि आयुर्वेदिक चिकित्सा केवल लाक्षणिक चिकित्सा है।

आयुर्वेद ज्वर को रोग भी मानता है और लक्षण भी, जैसे आगे इसी ग्रन्थ में राजयक्ष्मा के लक्षण बतलाते हुए कहा गया है—अंसपार्श्वाभितापश्च संतापः करपादयोः। ज्वरःसर्वांगगश्चेति लक्षणं राजयक्ष्मणः॥ यही बात अन्य सभी रोगों के विषय में भी है; आयुर्वेदोक्त अधिकांश रोग स्वतंत्र रूप से भी होते हैं और लक्षण रूप में भी। इसी के स्पष्टीकरण के लिये प्राधान्य सम्प्राप्ति का निर्देश किया गया है।

शरीर में होने वाले विभिन्न कष्टों का नामकरण करने के पश्चात् विविध कष्ट समूहों का वर्गीकरण करके प्रत्येक को एक-एक रोग माना जाता है। वर्गीकरण करने के तरीके भिन्न-भिन्न होसकते हैं किन्तु उनसे प्रधान लक्ष्य चिकित्सा में कोई अन्तर नहीं आता। आयुर्वेदिक और एलोपैथी के प्रणेताओं ने पृथक्-पृथक् अपनी सुविधा के अनुसार रोगों का वर्गीकरण और नामकरण किया। उसमें अन्तर होना स्वाभाविक है। किन्तु दोनों पद्धतियां प्रमाणित सिद्धान्तों के आधार पर खड़ी हैं। परस्पर सामञ्जस्य न होने के कारण किसी एक को गलत कहना नितान्त मूर्खता है।

ज्वर की उत्पत्ति से सम्बन्धित कथा संक्षेप में इस प्रकार है। शिवजी का प्रथम विवाह दक्ष प्रजापति की पुत्री सती से हुआ था। कुछ कारणों से शिवजी और दक्ष में मनोमालिन्य उत्पन्न हो गया। शिवजी को नीचा दिखलाने के उद्देश्य से दक्ष ने एक यज्ञ किया जिसमें शिवजी के अतिरिक्त अन्य सभी देवताओं को आमंत्रित किया। निमंत्रण न मिलने पर भी सती जी ने शिवजी से यज्ञ में सम्मिलित होने का अनुरोध किया। शिवजी बिना निमंत्रण पाये जाने के लिये तैयार नहीं हुए, किन्तु सती जी की दृढ़ इच्छा देखकर उन्होंने उन्हें वहां जाने की अनुमति दे दी। वहां पहुँचने पर सती जी का कोई स्वागत नहीं किया जिससे उन्हें बड़ा क्षोभ हुआ और वह क्षोभ उस समय तो चरम सीमा पर पहुंच गया जब उनके सामने ही उनके पिता ने शिवजी को अपशब्द कहे। इस भीषण अपमान से सती जी को इतनी ग्लानि हुई कि उन्होंने यज्ञकुण्ड में कूदकर अपने प्राण दे दिये। इस समाचार को पाकर शिवजी अत्यन्त क्रोधित हुए और उस रुद्रावस्था (क्रोधावस्था) में जो श्वास उन्होंने छोड़ा उससे ज्वर की उत्पत्ति हुई।

भारत एक धर्मप्राण देश रहा है; उसके ज्ञान-विज्ञान में धर्म भरा पड़ा है। इसी लिए ज्वर की उत्पत्ति के संबंध में इस पौराणिक कथा को स्थान दिया गया है। निघण्टुओं में भी हरीतकी, रसोन आदि की उत्पत्ति के संबंध में भी इसी प्रकार की पौराणिक कथाओं की चर्चा की गई है; आयुर्वेद की अष्टांग चिकित्सा को भी मनुष्यों द्वारा आविष्कृत न मानकर देवताओं द्वारा प्रचारित बतलाया गया है। आज के युग में पढ़े लिखे लोग इस प्रकार की कथाओं को मानने के लिए तैयार नहीं हैं इस लिये कुछ विद्वान इनके विभिन्न अर्थ निकाल कर इन्हें रूपक सिद्ध करने की चेष्टाएं करते हैं। किन्तु चिकित्सा विज्ञान के पण्डितों को इस झमेले में पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार के अंशों को प्राचीन लोगों की धर्मप्रियता का लक्षण समझकर उदारतापूर्वक छोड़ देना ही उचित है।

सम्प्राप्ति

मिथ्याहारविहाराभ्यां दोषाह्यामाशयाश्रयाः।
बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निं ज्वरदाः स्यू रसानुगाः॥२॥

मिथ्या आहार-विहारों से (कुपित होकर) आमाशय में स्थित हुए दोष रस के पीछे (साथ) चलते हुए कोष्ठाग्नि को बाहर (आमाशय से बाहर त्वचादि में) निकाल कर ज्वर उत्पन्न करते हैं।

वक्तव्य-(११) इसी के अनुरूप सुश्रुत में भी कहा गया है—

दुष्टा स्वहेतुभिर्दोषाः प्राप्यामाशयमूष्मणा ।
सहिता रसमागत्य रसस्वेदप्रवाहिणाम् ॥
स्रोतसां मार्गमावृत्य मन्दीकृत्य हुताशनम् ।
निरस्य वह्निरूष्माणं पक्तिस्थानाच्च केवलम् ॥
शरीरं समभिव्याप्य स्वकालेषु ज्वरागमम् ।
जनयन्त्यथ वृद्धिं च स्ववर्णञ्च त्वगादिषु ॥

अर्थात् अपने प्रकोपक कारणों से दूषित हुए दोष आमाशय में आकर (पाचकाग्नि की) गर्मी के साथ रस में प्रविष्ट होकर रस और स्वेद वाहिनियों तथा स्रोतों के मार्ग को आवृत्त करके, अग्नि को मन्द करके केवल अग्नि की गर्मी को पाचन संस्थान से निकाल कर शरीर में फैलाकर अपने अपने (प्रकोप) काल में ज्वर की उत्पत्ति और वृद्धि करते हैं तथा त्वचा आदि में अपने अपने अनुरूप वर्ण उत्पन्न करते हैं।

आहार-विधि[1] के सम्बन्ध में ८ प्रकार से विचारा जाता है-प्रकृति, करण, संयोग, राशि, देश, काल, उपयोग संस्था और उपयोक्ता ।

१-प्रकृति—पदार्थों के स्वाभाविक गुण को प्रकृति कहते हैं जैसे, उड़द गुरु है और मूंग लघु है।

२-करण—पकाने इत्यादि से खाद्य पदार्थों के गुणों में अन्तर आजाता है जैसे, चावल गुरु है किन्तु भूनकर खील (लाई) बना लेने से लघु हो जाता है, दूध लघु होता है किन्तु खोवा गुरु होता है।

३-संयोग—दो या अधिक पदार्थों के सम्मिश्रण से जब किसी नये गुण की सृष्टि होती है तब उसे संयोग कहा जाता है जैसे; घी और शहद अलग अलग सेवन करने से लाभ होता है, असमान मात्रा में मिलाकर लेने से रसायनवत् कार्य करते हैं किन्तु समान मात्रा में मिलाकर लेने से विषवत् कार्य करते हैं; दूध के साथ मछली विषवत् कार्य करती है ।

(४) राशि—सामान्य भोजन भी यदि अधिक मात्रा में सेवन किया जावे तो रोग का कारण बनता है। यहां दोष भोजन का नहीं उसकी राशि (मात्रा) का है।

(५) देश—जिस प्रकार के देश में पदार्थ पैदा हुआ हो उसी के अनुरूप उसके गुण हुआ करते हैं। फिर विभिन्न देशों की जलवायु के अनुसार वहां के निवासियों को भिन्न-भिन्न पदार्थ सात्म्य हुआ करते हैं, जैसे मद्रास में इमली, पंजाब में दही और यूरोपादि शीतप्रधान देशों में अण्डे, मांस, शराब आदि पदार्थ सात्म्य हैं।

(६) काल—काल के अनुसार भी पदार्थ सात्म्य और असात्म्य हुआ करते हैं जैसे, रात में दही, शरद् ऋतु में करेला असात्म्य हैं।

(७) उपयोगसंस्था—उपयोग के नियमों को उपयोग संस्था कहा जाता है। यदि भोजन सम्बन्धी नियमों के विपरीत आचरण किया जावे तो सामान्य भोजन भी रोगकारी हो सकता है।

(८) उपयोक्ता—भोजन करने वाले व्यक्ति को अपनी प्रकृति के अनुरूप सात्म्य पदार्थों का ही सेवन करना चाहिये। जो भोजन एक व्यक्ति के लिये हितकर है वही विपरीत प्रकृति वाले दूसरे व्यक्ति के लिये हानिकर हो सकता है।

उपर्युक्त ८ प्रकारों से विचार करने पर जो पदार्थ हितकर सिद्ध हो वही सेवनीय हैं। इसके विपरीत पदार्थों का सेवन मिथ्या आहार कहलावेगा।

शक्ति से अधिक या कम कार्य करना मिथ्या विहार कहलाता है। विशेष असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग के वर्णन में देखें।

---

[1] तत्र खल्विमान्यष्टावाहारविधिविशेषायतनानि भवन्ति, तद्यथा—प्रकृतिकरण संयोगराशिदेशकालोपयोगसंस्थोपयोक्ताष्टमानि । चरक ।

आयुर्वेद ने सभी निज व्याधियों का कारण मिथ्या आहार-विहार बतलाया है किन्तु नवीनतम साधनों के द्वारा पाश्चात्य वैद्यों ने सिद्ध कर दिया है कि अधिकांश रोगों की उत्पत्ति तज्जनक जीवाणुओं के प्रवेश से ही होती है। इस सम्बन्ध में काफी विवाद हो चुका है और होता रहता है। यदि इस मामले पर जरा गम्भीरता के साथ विचार किया जाय तो दोनों सिद्धान्त बाह्यतः परस्पर विपरीत दृष्टिगोचर होते हुए भी एक दूसरे के पूरक हैं, विरोधी नहीं। आयुर्वेद के किसी भी ग्रन्थ में किसी भी रोग के सम्बन्ध में यह नहीं लिखा कि इस रोग के जीवाणु नहीं होते बल्कि कुष्ठ रोग के उत्पादक ६ प्रकार के जीवाणुओं का वर्णन इसी ग्रन्थ में 'रक्तज कृमि' के अन्तर्गत किया गया है, इसलिये जीवाणुओं के अस्तित्व और हेतुत्व को स्वीकार करने में वैद्य-समाज को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। फिर जीवाणुओं के अस्तित्व का अनुसंधान करने वाले पाश्चात्य चिकित्सकों का यह भी मत है कि शरीर के भीतर प्रविष्ट हुए रोगोत्पादक जीवाणु सभी अवस्थाओं में रोगोत्पत्ति नहीं कर सकते; उनकी वृद्धि के लिए शरीर में अनुकूल परिस्थितियों का होना आवश्यक है। अनुकूल परिस्थिति को रोगग्राहकता (susceptibility) और प्रतिकूल परिस्थिति को रोगप्रतिकारक क्षमता (Immunity) कहते हैं। रोगग्राहकता और रोग प्रतिकारकक्षमता की उपलब्धि कैसे होती है इस प्रश्न का उत्तर पाश्चात्य चिकित्सक स्पष्टरीत्या देने में असमर्थ हैं किन्तु आयुर्वेद स्पष्ट कहता है कि मिथ्या आहार-विहार से दोष कुपित होते हैं और दोष प्रकोप से रोगोत्पत्ति होती है, जिसका आहार-विहार ठीक है उसके दोष भी सम स्थिति में रहते हैं इसलिये वह रोगाग्राहकता और रोगप्रतिकारक क्षमता की उत्पत्ति आहार-विहार के ही ऊपर निर्भर है। आज के डाक्टर इस सिद्धान्त को न मानने की हठधर्मी भले ही करते रहें किन्तु एक दिन उन्हें मानने के लिये विवश होना ही पड़ेगा क्योंकि सत्य का निरादर अधिक काल तक नहीं किया जा सकता।

जीवाणु बीज स्वरूप हैं। दोष प्रकोप युक्त शरीर उनके लिये उत्तम जलवायु युक्त उर्वरा भूमि है। जिस प्रकार बिना बीज के वृक्षोत्पत्ति असम्भव है उसी प्रकार अनुकूल जलवायु युक्त उर्वरा भूमि के बिना भी केवल बीज से वृक्षोत्पत्ति असंभव है। इसी लिये मैं ऊपर कह चुका हूँ कि दोनों सिद्धान्त एक दूसरे के पूरक हैं। यदि हम सत्य को पाना चाहते हैं तो उसे उक्त दोनों सिद्धान्तों को निम्नलिखित रीति से मिलाकर ग्रहण करना चाहिए—

मिथ्या आहार विहारों से दोष प्रकोप होता है और दोष प्रकोप की अवस्था में कुपित दोष के अनुरूप गुण वाले जीवाणुओं को पनपने का अवसर मिलता है जिससे रोगोत्पत्ति होती है। अकेले कुपित दोष अथवा अकेले जीवाणु सभी दशाओं में रोगोत्पत्ति करने में असमर्थ हैं।

परिभाषा

स्वेदावरोधः सन्तापः सर्वांगग्रहणं तथा।
युगपद्यत्र रोगे च स ज्वरो व्यपदिश्यते ॥३॥

जिस रोग में, पसीना निकलने में रुकावट, सन्ताप और सारे शरीर में पीड़ा—ये सारे लक्षण एक साथ हों उसे ज्वर कहते हैं।

वक्तव्य—(१२) अधिकांश ज्वरों में पसीना नहीं निकलता किन्तु पित्तज्वर में निकलता है। इस अपवाद से रक्षा करने के लिये जेज्जट आदि आचार्यों ने 'स्वेदावरोध' का अर्थ अग्नि का अवरोध (स्विद्यतेऽनेनेति स्वेदः अग्नि तस्यावरोधः) माना है किन्तु यह भी अयुक्त है क्योंकि ज्वर की निरामावस्था में क्षुधा की प्रवृत्ति होती है जो कि अग्नि के प्रदीप्त होने का चिह्न है।

'सन्ताप' शब्द का अर्थ व्यापक है। इससे देह इन्द्रिय और मन तीनों के सन्ताप को ग्रहण करना चाहिये। देह का सन्ताप उत्ताप वृद्धि (Rise in temperature) है, इन्द्रियों में विकलता, पीड़ा अशक्ति आदि इन्द्रियों के सन्ताप के लक्षण हैं और

कुछ भी अच्छा न लगना, कहीं भी चैन न मिलना ये लक्षण मानसिक सन्ताप के हैं।

सारे शरीर में पीड़ा होना—यह ज्वर का खास लक्षण है, रोगी सबसे अधिक इसी की शिकायत करता है।

उक्त तीनों लक्षणों के समुदाय का ही नाम 'ज्वर' है। किसी एक लक्षण को ज्वर नहीं माना जासकता।

संसार में २ प्रकार के प्राणी पाये जाते हैं—(१) ठंडे रक्त वाले जिनके रक्त में स्वतः की उष्णता नहीं होती। वातावरण के तापक्रम के अनुरूप ही इनके शरीरों का तापक्रम होता है। सर्प, छिपकली, मेंढक आदि प्राणी इस वर्ग में आते हैं। (२) उष्ण रक्त वाले जिनके रक्त में स्वतः की उष्णता रहती है। इस प्रकार के प्राणियों के शरीरों का तापक्रम (रुग्णावस्था के अतिरिक्त) सभी दशाओं में एकसा रहता है। वातावरण के तापक्रम का कोई विशेष प्रभाव उस पर नहीं पड़ता। मनुष्य गाय भैंस आदि पशु और पक्षी इसी वर्ग में आते हैं।

उष्ण रक्त वाले प्राणियों के शरीर में ताप की उत्पत्ति और विनाश का क्रम सदा चालू रहता है। स्वस्थ अवस्था में ये दोनों कार्य इतने सन्तुलित ढंग से होते हैं कि वातावरण गर्म हो या ठंडा शरीर का तापक्रम वही रहता है किन्तु ज्वर की अवस्था में शरीर का तापक्रम बढ़ जाता है और अत्यन्त कमजोरी और शिथिलता की दशा में घट भी जाता है।

ताप की उत्पत्ति शरीर में स्थित प्रोटीन कार्बोहाईड्रेट और वसा के ज्वलन (Oxidation) से होती है वैसे यह कार्य सारे शरीर में न्यूनाधिक परिमाण में होता रहता है किन्तु ऐच्छिक मांसपेशियों (Involuntary Muscles) के द्वारा सबसे अधिक होता है। ऐच्छिक मांसपेशियों के प्रत्येक आकुञ्चन के साथ ताप की उत्पत्ति होती है।

ताप का विनाश त्वचा, फुफ्फुस, मल और मूत्र के द्वारा होता है किंतु त्वचा के द्वारा ही यह कार्य सबसे अधिक होता है। त्वचा के द्वारा ताप का विनाश संवहन[1] (Conduction), विकिरण[2] (Radiation) और स्वेद के वाष्पीभवन[3] (Evaporation) द्वारा होता है। वाष्पीभवन के द्वारा सबसे अधिक ताप का विनाश होता है। ताप अधिक बढ़ने पर केशिकायें (Capillaries) प्रसारित हो जाती हैं जिससे स्वेद ग्रन्थियां स्वेद निकालने लगती हैं, और स्वेद के वाष्पीभवन से ताप का नाश होता है। ताप कम होने पर केशिकाएं संकुचित हो जाती हैं जिससे स्वेद ग्रन्थियों का कार्य लगभग बन्द रहता है और इस प्रकार ताप की रक्षा होती है। जाड़ा लगने से उत्पन्न होने वाली कंपकंपी केशिकाओं के अत्यधिक संकोच से उत्पन्न होती है।

उक्त रीति से ताप की उत्पत्ति और विनाश का नियन्त्रण मस्तिष्क के कंधारिक भाग (Hypothalmic Region) में स्थित तापनियामक केन्द्र (Heat-Regulating Centre) के द्वारा होता है। जब किसी कारणवश इस केन्द्र का कार्य अव्यवस्थित हो जाता है तब शरीर के तापक्रम में अन्तर आजाता है।

पाश्चात्य विद्वान केवल तापमान में वृद्धि होने मात्र को ज्वर मानते हैं किन्तु आयुर्वेद तापमान को

---

१ स्पर्श द्वारा ताप के एक वस्तु से दूसरी वस्तु में विलीन होने की क्रिया को संवहन (Conduction) कहते हैं।

२ स्पर्श के विना (किरण रूप में) ताप का एक वस्तु से निकल कर दूसरी में प्रविष्ट होना विकिरण (Radiation) कहलाता है।

३ कोई भी द्रव पदार्थ जब वाष्परूप में परिवर्तित होता है तब यह अपने समीपस्थ पदार्थों से ताप ग्रहण करके ही ऐसा करता है। पसीना निकलने से गर्मी शान्त होने और ज्वर उतरने का यही रहस्य है। इस क्रिया को वाष्पीभवन (Evaporation) कहते हैं।

वृद्धि को ज्वर का एक लक्षण मात्र ही मानता है। ऐसी दशा में पाश्चात्य चिकित्सक उस रोगी को ज्वर-मुक्त मान लेते हैं यद्यपि वस्तुतः ऐसा नहीं होता। आयुर्वेदिक चिकित्सक ऐसी भूल नहीं कर सकता क्योंकि वह ज्वर के ३ लक्षण मानता है, एक लक्षण मिलने पर रोगी स्वस्थ हो गया ऐसा वह कदापि नहीं मान सकता। यह आयुर्वेद की वैज्ञानिकता का एक ज्वलन्त उदाहरण है।

पूर्वरूप

श्रमोऽरतिर्विवर्णत्वं वैरस्यं नयनप्लवः।
इच्छाद्वेषौ मुहुश्चापि शीतवातातपादिषु ॥४॥
जृम्भांऽगमर्दो गुरुता रोमहर्षोऽरुचिस्तमः।
अप्रहर्षश्च शीतं च भवत्युत्पत्स्यति ज्वरे ॥५॥
सामान्यतो विशेषात्तु जृम्भाऽत्यर्थं समीरणात्।
पित्तान्नयनयोर्दाहः कफादन्नारुचिर्भवेत् ॥६॥
रूपैरन्यतराभ्यां तु संसृष्टैर्द्वन्द्वजं विदुः।
सर्वलिंग समावायः सर्वदोषप्रकोपजे ॥७॥

थकावट, बेचैनी, त्वचा का रंग फीका हो जाना, मुंह का स्वाद विगड़ जाना, आखों में पानी भर आना, कभी ठण्डी और कभी सूर्यताप के सेवन की इच्छा होना और कभी इनसे द्वेष होना, जंभाई आना, अंगड़ाई लेना, शरीर में भारीपन, रोम खड़े हो जाना, अरुचि, आंखों के आगे अंधेरा छा जाना, उदासी और ठण्ड लगना--ये ज्वर के पूर्वरूप हैं।

वायु से अत्यधिक जंभाई आना, पित्त से नेत्रों में जलन और कफ से भोजन में अरुचि होती है। ये विशिष्ट पूर्वरूप हैं।

दो दोषों के सम्मलित विशेष पूर्वरूप मिलने पर द्वन्द्वज और सभी दोषों के लक्षण मिलने पर त्रिदोषज ज्वर मानना चाहिये।

वातज्वर के लक्षण

वेपथुर्विषमो वेगः कण्ठौष्ठपरिशोषणम्।
निद्रानाशः क्षवस्तम्भो गात्राणां रौक्ष्यमेव च ॥८॥
शिरोहृद्गात्ररुग्वक्त्रवैरस्यं गाढ़विट्कता।
शूलाध्माने जृम्भणं च भवन्त्यनिलजे ज्वरे ॥९॥

वातज्वर में शरीर में कंपकंपी होती है, ज्वर का वेग एकसा नहीं रहता (विषम), गला और ओंठ सूखते हैं, नींद नहीं आती, छींक रुक जाती है, शरीर में रूखापन रहता है, शिर हृदय और सारे शरीर में पीड़ा, मुंह का स्वाद फीका (किसी विशेष स्वाद का अनुभव नहीं होता फिर भी स्वाद बिगड़ा हुआ प्रतीत होता है, खाने की चीजों का भी स्वाद विकृत मालूम होता है किन्तु विकृति किस प्रकार की है यह बतलाने में रोगी असमर्थ रहता है। इसीलिये यहां 'वैरस्य' शब्द का प्रयोग हुआ है—जिसमें रस नहीं है वह विरस और विरस का गुण वैरस्य) मल कड़ा होता, शूल[1] और आध्मान और जंभाई ये लक्षण होते हैं।

वक्तव्य-(१३) ज्वर का वेग ३ प्रकार का होता है—तीक्ष्ण, मन्द और विषम। तीक्ष्ण वेग का अर्थ तीव्र ज्वर, मन्द वेग का अर्थ हल्का ज्वर और विषमवेग का अर्थ कभी तीव्र और कभी हल्का मानना चाहिये।

'क्षवस्तम्भः' के स्थान पर 'क्षुतः स्तम्भः' पाठ उल्हण ने उपयुक्त माना है जिससे 'क्षुधानाश' अर्थ निकलता है। कुछ टीकाकार क्षवः और स्तंभः अलग-अलग मानकर 'छींक और शरीर में जड़ता' अर्थ निकालते हैं। ये कोई भी अर्थ उपयुक्त प्रतीत नहीं होते।

पित्तज्वर के लक्षण

वेगस्तीक्ष्णोऽतिसारश्च निद्राल्पत्वं तथा वमिः।
कण्ठोष्ठमुखनासानां पाकः स्वेदश्च जायते ॥१०॥
प्रलापो वक्त्रकटुता मूर्च्छा दाहो मदस्तृषा।
पीतविण्मूत्रनेत्रत्वं पैत्तिके भ्रम एव च ॥११॥

पित्तज्वर का वेग तीक्ष्ण होता है, अतिसार, नींद की कमी, वमन, गला ओंठ मुख और नाक का पक जाना, पसीना निकलना, प्रलाप (बकवाद), मुंह में कड़वापन, मूर्छा आजाना, दाह होना, मद (नशे की अवस्था में होने

१–शूल और आध्मान का विवेचन आगे किया जावेगा। इसी प्रकार अन्य रोगवाचक जिन शब्दों का प्रयोग टीका में हो उनका वर्णन उन्हीं के अधिकार में देखें।

वाली बेचैनी के समान लक्षण), प्यास लगना, मल मूत्र नेत्रादि का वर्ण पीला हो जाना, चक्कर आना आदि लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—(१४) पित्तज्वर, पित्तातिसार और ज्वरातिसार इन तीनों के लक्षणों में बहुत अधिक साम्य होते हुए भी तीनों पृथक्-पृथक् व्याधियां हैं। पित्तज्वर का अतिसार केवल पित्तज्वर की चिकित्सा से शान्त हो जाता है और पित्तातिसार का ज्वर केवल पित्तजअतिसार की चिकित्सा से शान्त हो जाता है क्योंकि प्रथम में ज्वर प्रधान व्याधि है, अतिसार उसका एक लक्षण माना है, इसी प्रकार द्वितीय में अतिसार प्रधान व्याधि है, ज्वर उसका एक लक्षण मात्र है। इसके विपरीति ज्वरातिसार में ज्वर और अतिसार दोनों व्याधियां प्रधान हैं इसलिये दोनों की सम्मिलित चिकित्सा करना अनिवार्य होता है।

इसी प्रकार पित्तज्वर और पित्तज पाण्डु-कामला रोगों में अत्यधिक सादृश्य है; 'पीतविण्मूत्रनेत्रत्व' दोनों जगह पाया जाता है। किन्तु पित्तज्वर में ज्वर की प्रधानता रहती है और ज्वर की चिकित्सा से पीलापन दूर हो जाता है जबकि पित्तज पाण्डु और कामला में ऐसा नहीं होता।

चिकित्सा सौकर्य के लिये इस प्रकार का विभेदक निदान अत्यन्त आवश्यक होता है।

पित्तज्वर में होने वाली वमन में दूषित पित्त निकलता है। चरक ने 'पित्तच्छर्दनम्' कहकर इस बात को बिलकुल स्पष्ट कर दिया है।

प्रारम्भ में ज्वर के लक्षणों में 'स्वेदावरोध' भी एक लक्षण बतलाया गया है। कुछ लोगों के मत से यहां 'विरोधाभास' का दोषारोपण किया जाता है किन्तु यह युक्तिसंगत नहीं है। किसी भी रोग के समस्त लक्षण मिलने अनिवार्य नहीं माना गया है अपितु यह कहा गया है कि अल्प लक्षण मिलने से व्याधि सुखसाध्य और सम्पूर्ण लक्षण मिलने से कष्टसाध्य होती है। पित्तज्वर में कभी स्वेदावरोध मिलता है और कभी अत्यधिक स्वेद प्रवृति मिलती है।

कफज्वर के लक्षण

स्तैमित्यं स्तिमितो वेग आलस्यं मधुरास्यता।
शुक्लमूत्रपुरीषत्वं स्तम्भस्तृप्तिरथापि च ॥१२॥
गौरवं शीतमुत्क्लेदो रोमहर्षोऽतिनिद्रिता।
(स्रोतोरोधो रुगल्पत्वं प्रसेको लवणास्यता ॥
नात्युष्णगात्रताच्छर्दिर्लालास्रावोऽविपाकता ।)
प्रतिश्यायोऽरुचिः कासः कफजेऽक्ष्णोश्च शुक्लता ॥१३॥

कफज्वर में शरीर गीले कपड़े से ढका हुआ हो ऐसा अनुभव होता है, ज्वर का वेग मन्द रहता है, आलस्य, मुंह में मीठा स्वाद, मल-मूत्र का रंग सफेद, शरीर में जकड़ाहट, तृप्ति (क्षुधानाश, पेट भरा हुआ सा प्रतीत होना) शरीर में भारीपन, ठंड लगना, वमन की इच्छा होना (जी मचलाना), रोम खड़े हो जाना, अत्यधिक नींद आना (स्रोतों में अवरोध, पीड़ा अन्य ज्वरों की अपेक्षा कम, थूक अधिक आना, मुंह का स्वाद नमकीन, शरीर अधिक गर्म नहीं रहना, वमन, लार गिरना, भोजन हजम न होना) प्रतिश्याय अरुचि, खांसी और नेत्रों का रंग सफेद होजाना—ये लक्षण होते हैं।

वातपित्त ज्वर

तृष्णा मूर्च्छा भ्रमो दाहः स्वप्ननाशः शिरोरुजा।
कण्ठास्यशोषो वमथू रोमहर्षोऽरुचिस्तमः ॥१४॥
पर्वभेदश्च जृम्भा च वातपित्तज्वराकृतिः।

प्यास, मूर्च्छा, चक्कर आना, दाह, अनिद्रा, सिर में दर्द, गले और मुंह का सूखना, वमन, रोम खड़े होना, अरुचि, आंखों के सामने अंधेरा छा जाना, जोड़ों में फटने के समान पीड़ा और जमुहाई—ये वातपित्त ज्वर के लक्षण हैं।

वातश्लेष्म ज्वर

स्तैमित्यं पर्वणां भेदो निद्रा गौरवमेव च ॥१५॥
शिरोग्रहः प्रतिश्यायः कासः स्वेदाप्रवर्तनम्।
सन्तापो मध्यवेगश्च वातश्लेष्मज्वराकृतिः ॥१६॥

शरीर गीले कपड़े से ढका हुआ हो ऐसा अनुभव होता है, जोड़ों से फटने के समान पीड़ा, निद्रा अधिक आना, शरीर में भारीपन, शिर जकड़ा हुआ सा प्रतीत होना, प्रतिश्याय (जुखाम), खांसी, पसीना अधिक आना, सन्ताप होना और ज्वर का वेग मध्यम रहना—ये वातश्लेष्म ज्वर के लक्षण हैं।

कफपित्त ज्वर

लिप्ततिक्तास्यता तन्द्रा मोहः कासोऽरुचिस्तृषा।
मुहुर्दाहो मुहुःशीतं श्लेष्मपित्त ज्वराकृतिः ॥१७॥

मुंह चिपचिपा और कड़वा, तन्द्रा, मूर्च्छा, खांसी, अरुचि, प्यास, बारबार शीत और दाह का थोड़े-थोड़े समय के अन्तर से अनुभव होना—ये कफपित्त ज्वर के लक्षण हैं।

वक्तव्य—(१५) प्रायः इतने ही लक्षण पाये जाते हैं इसलिए माधवकर ने इन्हीं का निर्देश किया है। चरक के द्वारा निर्दिष्ट अन्य लक्षणों (शरीर में जकड़ाहट, पसीना अधिक आना, कफ और पित्त का मुखमार्ग से निकलना आदि) से कोई विरोध नहीं है।

सन्निपात ज्वर

क्षणे दाहः क्षणे शीतमस्थिसंधिशिरोरुजा।
सास्रावे कलुषे रक्ते निर्भुग्ने चापि लोचने ॥१८॥
सस्वनौ सरुजौ कर्णौ कण्ठः शूकैरिवावृतः।
तन्द्रा मोहः प्रलापश्च कासः श्वासोऽरुचिर्भ्रमः ॥१९॥
परिदग्धा खरस्पर्शा जिह्वा स्रस्ताङ्गता परम्।
ष्ठीवनं रक्तपित्तस्य कफेनोन्मिश्रितस्य च ॥२०॥
शिरसो लोठनं तृष्णा निद्रानाशो हृदि व्यथा।
स्वेदमूत्रपुरीषाणां चिराद्दर्शनमल्पशः ॥२१॥
कृशत्वं नातिगात्राणां प्रततं कण्ठकूजनम्।
कोठानां श्यावरक्तानां मण्डलानां च दर्शनम् ॥२२॥
मूकत्वं स्रोतसां पाको गुरुत्वमुदरस्य च।
चिरात् पाकश्च दोषाणां सन्निपातज्वराकृतिः ॥२३॥

थोड़े थोड़े समय के अन्तर से दाह और शीत का अनुभव होना, हड्डियों और शिर में पीड़ा, नेत्र मैले, लाल, स्रावयुक्त और पुतलियां तिरछी या चढ़ी हुई, कानों में आवाज होना (कर्णनाद या कर्णक्ष्वेड़) और पीड़ा, गले में कांटे भरे हुये हों ऐसा प्रतीत होना, तन्द्रा (अर्धनिद्रितावस्था) मूर्च्छा, प्रलाप, खांसी, अरुचि, चक्कर आना, जीभ खुरदरी और जली हुई के समान (काले से रंग की), अंगों में अत्यन्त शिथिलता, रक्तपित्त (पित्त से दूषित रक्त) मुख से ऐसे ही अथवा कफ के साथ मिलकर निकलना, रोगी अपने सिर को दायें बायें घुमाता या लुढ़काता रहता है, प्यास, अनिद्रा, हृदय में पीड़ा, पसीना, मूत्र और मल का बहुत काल के पश्चात और कम मात्रा में निकलना, शरीर अधिक कृश न होना, गले में घरघराहट की आवाज लगातार होना, लाल-काले रंग के ददोड़ों या चकत्तों का निकलना, बोलने की शक्ति नष्ट हो जाना, स्रोतों† का पक जाना, पेट में भारीपन रहना और दोषों का पाचन विलम्ब से होना—ये सन्निपातज्वर के लक्षण हैं।

वक्तव्य—(१६) ज्वर के ये जो ७ प्रकार दर्शाये गये हैं इनके अन्तर्गत सभी प्रकार के ज्वर आते हैं। ८ वां ज्वर आगन्तुज कहा गया है। वह भी इन ७ प्रकारों के अन्तर्गत आ जाता है। अन्तर केवल यही है कि आगन्तुज ज्वर में दोषों का प्रकोप पीछे होता है। आगे जो विषमज्वरादि वर्णित हैं वे सभी उक्त ७ प्रकारों में समाविष्ट हैं, राजयक्ष्मा आदि रोगों में जो ज्वर अनुबन्ध रूप से रहता है वह भी इन्हीं ७ प्रकारों के अन्तर्गत है।

त्रिदोष-विज्ञान आयुर्वेद का मूल मंत्र है। इस लिए आचार्यों ने सर्व प्रथम सभी प्रकार के ज्वरों का त्रिदोषानुसार वर्गीकरण करके दोष-प्रत्यनीय चिकित्सा का मार्ग दर्शन किया है। किन्तु कुछ विशेष लक्षणों को देखते हुए त्रिदोष का विचार

---

† मानव शरीर में बाह्य और आभ्यन्तर दो प्रकार के स्रोत होते हैं। पुरुषों के शरीर में ९ बाह्यस्रोत-मुख, नाक, कान आदि होते हैं, स्त्रियों में दो स्तनों के और एक योनि ये ३ स्रोत अधिक होते हैं। आभ्यन्तर स्रोत १३ बतलाये गये हैं। ये प्राण, धातु, मल, जल और अन्न का वहन करते हैं। इनसे फुपफुस, श्वासनलिका, हृदय, मस्तिष्क, आमाशय, मूत्राशय आदि का ग्रहण करना चाहिये।

बिना किये भी वर्गीकरण हो सकता है—ऐसा अनुभव करते हुए उन्होंने विषमज्वर, प्रलेपक ज्वर औषधिगन्धक ज्वर आदि भेद भी बतलाये हैं। पाश्चात्य चिकित्सक त्रिदोष को नहीं मानते इसलिए उन्होंने केवल द्वितीय प्रकार से ही वर्गीकरण किया है।

(२) यहां सन्निपात ज्वर का जो वर्णन दिया गया है वह त्रिदोषोल्वण सन्निपात का अथवा सभी प्रकार के सन्निपातों का सामान्य वर्णन (General Description) है। अन्य कई आचार्यों ने तर तम के भेद से सन्निपात के १३ प्रकार स्वीकार किये हैं

एकोल्बणास्त्रयस्तेषु द्व्युल्वणाश्च तथेति षट्।
त्र्युल्वणश्च भवेदेको विज्ञेयः स तु सप्तमः॥
प्रवृद्धमध्यहीनैस्तु वातपित्तकफैश्च षट्।
सन्निपातज्वरस्यैवं स्युर्विशेषास्त्रयोदशः॥

एक एक दोष की उल्वणता (विशेष प्रकोप) से ३ भेद, दो-दो की उल्वणता से ३ भेद—इस प्रकार ६ हुए, तीनों की उल्वणता से १ सातवां और वात पित्त कफ में से पारी पारी से एक-एक प्रवृद्ध, मध्य और हीन होने से ६ भेद इस प्रकार सन्निपात ज्वर के १३ भेद होते हैं।

इसका विस्तृत विवरण परिशिष्ट में दिया जावेग।

सन्निपात ज्वर की असाध्यता

दोषे विबद्धे नष्टेऽग्नौ सर्वसम्पूर्ण लक्षणः।
सन्निपातज्वरोऽसाध्यः कृच्छ्रसाध्यस्ततोऽन्यथा॥२४॥

जिस सन्निपात ज्वर में सब लक्षण पूरे पूरे मिलते हों, दोष विबद्ध (अवरुद्ध) हों और अग्नि नष्ट हो गई हो वह असाध्य होता है इसके विपरीत होने पर कष्टसाध्य होता है।

वक्तव्य—(१७) सन्निपात ज्वर कभी सुखसाध्य नहीं होता। जब सन्निपात के थोड़े से ही लक्षण मिलते हों, कुपित दोषों और मलों का निष्कासन सरलतापूर्वक होता हो और रोगी की अग्नि प्रवल हो तभी रोग शान्ति की आशा रहती है, अन्यथा नहीं। कहा भी है—मृत्युना सह योद्धव्यं सन्निपातं चिकित्सिता।

प्रायः सभी सन्निपातों में दोष कुछ न कुछ अंशों में विबद्ध हुआ ही करते हैं—कफ अत्यधिक मात्रा में संचित होते हुए भी वात और पित्त के प्रकोप से रूक्ष होकर जहां का तहां चिपका हुआ रह जाता है जिससे रोगी को श्वास आदि में कष्ट होता है। यदि वह कफ चिकित्सा करके सरलतापूर्वक निकाला जा सके तो रोगी के प्राण वचने की कुछ आशा की जा सकती है, अन्यथा उसकी मृत्यु निश्चित है। इसी प्रकार पित्त भीतर ही भीतर दाह भ्रम पिपासा आदि उत्पन्न करता है, उत्क्लेद होता है किन्तु वमन नहीं होता। यदि वमन हो सके तो पित्त निकल जाने से शान्ति मिल जाती है, किन्तु प्रायः सन्निपात ज्वर में वमन-विरेचन आदि के लिये दी हुई तीव्रतम औषधियां भी व्यर्थ हो जाती हैं। इसी प्रकार वायु, विशेषकर अपान वायु मल-मूत्र को रोककर स्वयं भी उदर में रुका रहता है, जिससे आध्मान होजाता है। भयंकर सन्निपात के आध्मान को दूर करना कोई साधारण काम नहीं हुआ करता। और तो और वायु के अवरोध के कारण छींक डकार आदि भी उत्पन्न करना कभी-कभी असंभव होजाता है। बहुत से पुराने वैद्य सन्निपात ज्वर के रोगी की परीक्षा नस्य देकर करते हैं। यदि छींक आगयी तो चिकित्सा करते हैं, अन्यथा असाध्य कह कर छोड़ देते हैं। वात है भी सोलहों आने ठीक। तीव्र नस्य देने पर भी छींक न आने का मतलब यह होता है कि रोगी की वायु पूर्णतया अवरुद्ध है। पाश्चात्यों की भाषा में यों कह सकते हैं कि वातनाड़ी संस्था (Nervous System) बेकार हो चुकी है अर्थात् मृत्यु होना प्रारम्भ होचुका है। ऐसी दशा में कोई भी औषधि या क्रिया लाभ नहीं पहुंचा सकती, तीव्र से तीव्र वमन और विरेचन औषधियां भी कार्य नहीं करतीं अन्य की तो वात ही क्या है। इसलिये जब दोष विबद्ध हों, किसी भी

प्रकार उन्हें प्रवृत्त न किया जा सके तब सन्निपात रोगी को 'भेषजं जाह्नवी तोयं वैद्यो नारायणो हरिः' के आसरे छोड़ देना चाहिये।

बहुत से लोग 'अग्नि नष्ट हो जाने' का अर्थ 'क्षुधा न लगना' समझते होंगे परन्तु बात ऐसी नहीं है। 'अग्नि' शब्द का अर्थ यहां व्यापक है। सभी ज्वरों में क्षुधा नष्ट हो जाती है क्योंकि पहले ही ज्वर की सम्प्राप्ति में कहा जाचुका है कि 'कुपित दोष कोष्ठस्थ अग्नि को बाहर लाकर (त्वचा में) ज्वर उत्पन्न करते हैं।' तात्पर्य यह कि ज्वरावस्था में कोष्ठस्थ अग्नि त्वचा में आकर ताप (Temperature) या ज्वर उत्पन्न करती है और दोषों का शमन हो चुकने पर लौटकर पुनः कोष्ठ में जाकर क्षुधा उत्पन्न करने लगती है। इसलिये यहां अग्नि से ताप (Temperature) का अर्थ ग्रहण करना चाहिये। ज्वरावस्था में ताप दो प्रकार से कम होता है—(१) दोषों का शमन होकर अग्नि स्वस्थान में लौट जाने से और (२) दोषों के अत्यधिक प्रकोप से त्वचा में ही स्थित अग्नि का नाश होने से। प्रथम प्रकार से ताप कम होने पर रोगी को जीवन मिलता है और द्वितीय प्रकार से ताप कम होने पर मृत्यु। तो जब सन्निपात ज्वर के रोगी के दोषों का शमन होने के पूर्व ही ज्वर उतरा हुआ हो अथवा उतरने लगे तब समझना चाहिये कि रोगी की अग्नि नष्ट हो गयी या हो रही है और उसका जीवन दीप बुझ रहा है। इस दशा को शीतांग (Collapse) कहते हैं। इस प्रकार की दशा में दोषों के शमन की चिंता न करते हुये अग्नि को उत्तेजित करने की अर्थात् ताप बढ़ाने की चिकित्सा की जाती है। सारांश यह कि सन्निपात ज्वर में दोषों का प्रकोप जब तक है तब तक ज्वर का रहना आवश्यक है, दोषों के शमन करने के पूर्व ज्वर का उतरना एक भयङ्कर अरिष्ट लक्षण है।

किसी भी रोग के सब लक्षण पूरे-पूरे (पूर्ण बलशाली) मिलना कष्टसाध्यता अथवा असाध्यता का द्योतक है। फिर सन्निपात ज्वर जो अपूर्ण लक्षण होते हुये भी कष्टसाध्य होता है यदि सम्पूर्ण लक्षण से युक्त हो तो क्यों न असाध्य होगा ?

सन्निपात ज्वर की मर्यादा

सप्तमे दिवसे प्राप्ते दशमे द्वादशेऽपि वा ।
पुनर्घोरतरो भूत्वा प्रशमं यान्ति हन्ति वा ॥
सप्तमी द्विगुणा चैव नवम्येकादशी तथा ।
एषा त्रिदोषमर्यादा मोक्षाय च वधाय च ॥

सातवें, दसवें या बारवें दिन सन्निपात ज्वर अत्यन्त भयङ्कर रूप धारण करके या तो शान्त हो जाता है अथवा रोगी को मार डालता है।

चौदह, अट्ठारह और बाईस दिनों की सन्निपात ज्वरों की (वात पित्त और कफ की उल्वणता के अनुसार क्रमशः) मर्यादा है। इस बीच या तो रोग से मुक्ति मिल जाती है अथवा मृत्यु हो जाती है।

वक्तव्य—(१८) ऊपर के श्लोकों में क्रमशः वात-पित्त और कफ की उल्वणता के अनुसार सन्निपात ज्वर की अवधि बतलायी गई है। वातोल्वण सातवें दिन, पित्तोल्वण दसवें दिन और कफोल्वण बारहें दिन अत्यन्त भयङ्कर रूप धारण करता है। इसके बाद या तो रोगी अच्छा होने लगता है अथवा मर जाता है। कुछ दशाओं में उक्त अवधि बढ़कर चौदह अट्ठारह और बाईस (क्रमशः) दिनों तक की हो सकती है।

रोगी का स्वस्थ होना या मर जाना मलपाक या धातुपाक पर निर्भर रहता है—मलपाक होने से रोगी स्वस्थ हो जाता है और धातुपाक होने से मर जाता है। 'मल' का अर्थ यहां 'दोष' (वात, पित्त, कफ) है और 'पाक' का अर्थ 'पाचन' है, इसलिये मल पाक का अर्थ 'दोष पाचन' हुआ। 'धातु' शब्द शरीर में स्थित रस-रक्तादि सप्त-धातुओं का बोधक है। सप्त धातुओं का पाचन हो जाना 'धातुपाक' कहलाता है। प्रायः सभी रोगों में और विशेष तौर

से ज्वर में धातुओं का पाचन होता है जिससे रोगी अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण हो जाता है–सभी पद्धतियों के चिकित्सक इस बात को एक स्वर से स्वीकार करते हैं। सन्निपात ज्वर में तो विशेष रूप से धातुओं का पाचन अत्यन्त तीव्र गति से होता है, धातुएं नष्ट होजाने पर शरीर का नाश स्वाभाविक ही है। सभी रोगों में धातुओं की रक्षा करते हुए (यथा-संभव), दोषों को पचाने का प्रयत्न किया जाता है। इसमें सफलता मिलने पर ही सन्निपात रोगी की रक्षा हो पाती है अन्यथा नहीं।

सन्निपातज कर्णमूलिक शोथ

सन्निपातज्वरस्यान्ते कर्णमूले सुदारुणः।
शोथः सञ्जायते तेन कश्चिदेव प्रमुच्यते ॥२५॥

सन्निपात ज्वर के अन्तिम दिनों में कान की जड़ के पास अत्यन्त कठोर और भयंकर शोथ हो जाता है जिससे कोई ही रोगी बचता है।

वक्तव्य—(१६) 'कश्चिदेव प्रमुच्यते' के दो अर्थ लिये जा सकते हैं—(१) कोई ही जीवित बचता है और (२) कोई ही कर्णमूल होने से बचता है। प्रथम अर्थ ही उपयुक्त प्रतीत होता है क्योंकि (१) सभी सन्निपात रोगियों को यह शोथ नहीं होता और (२) सभी पुराने वैद्य कर्णमूलिक शोथ को कष्ट-साध्य मानते आये हैं। आज भले ही सल्फा औषधियों और पेनिसिलीन आदि के द्वारा यह साध्य हो गया है किन्तु फिर भी सभी चिकित्सक इसे एक भयंकर उपद्रव मानते हैं।

यह शोथ कर्णमूलिक लालाग्रन्थि (Parotid Gland) में प्रदाह होने के कारण होता है। इसमें और पाषाण-गर्दभ (गलसुआ) में बहुत अधिक सादृश्य है क्योंकि पाषाणगर्दभ भी इसी ग्रन्थि के प्रदाह से उत्पन्न होता है। अंग्रेजी में पाषाणगर्दभ को पैरोटाइटिस (Parotitis)

सन्निपातज कर्णमूलिक शोथ। (Septic Parotitis)

चित्र नं० १

और सन्निपातज कर्णमूलिक शोथ को सैप्टिक पैरोटाइटिस (Septic Parotitis) कहते हैं। दोनों के विभेदक लक्षण नीचे दिये जा रहे हैं।

पाषाणगर्दभ

१—यह बहुत से लोगों को एक साथ होता है—एक ही मुहल्ले या ग्राम में १००-५० रोगी पाये जा सकते हैं।

२—ज्वर नहीं रहता अथवा साधारण ज्वर रहता है; रोगी चलता-फिरता रहता है।

३—ज्वर यदि आता है तो शोथ दिखाई पड़ने के साथ ही या पश्चात् प्रकट होता है।

४—शोथ नरम, त्वचा के वर्ण का और साधारण पीड़ायुक्त होता है।

५—अधिकतर पाक नहीं होता।

६—यह रोग अधिकतर बच्चों को होता है यद्यपि बड़ों में भी पाया जाता है।

७—यह रोग प्रायः घातक नहीं होता।

सन्निपातज कर्णमूलिक शोथ

१—यह एक या दो व्यक्तियों में ही पाया जा सकता है।

२—तीव्र ज्वर रहता है; रोगी का चलना फिरना बन्द हो जाता है।

३—कई दिनों पूर्व से तीव्र ज्वर का इतिहास मिलता है। शोथ प्रकट होने पर ज्वर का वेग और भी बढ़ जाता है। मूर्च्छा प्रलाप आदि लक्षण भी मिलते हैं।

४—शोथ अत्यन्त पीड़ायुक्त, अत्यन्त कठोर और लाल रहता है।

५—यदि उपेक्षा की जावे तो पाक अवश्य होता है। चिकित्सा करने पर भी अधिकतर पाक हो ही जाता है।

६—अवस्था का बन्धन नहीं है।

७—यह रोग घातक होता है। अच्छी से अच्छी चिकित्सा करने पर भी रोगी के मरने का भय रहता है।

पाश्चात्य मत—

सन्निपातज कर्णमूलिक शोथ, दीर्घकालीन ज्वरों में जब रोगी को मुख द्वारा भोजन देना बन्द कर दिया गया हो और मुंह की सफाई का ध्यान न रखा गया हो तब उत्पन्न होता है। शोथ एक तरफ अथवा दोनों तरफ हो सकता है। शोथ लाल, कठोर और तीव्र पीड़ायुक्त रहता है। आस पास की ग्रन्थियां भी सूज सकती हैं। तीव्र प्रकार में ज्वर बहुत बढ़ जाता है और शोथ का पाक हो जाता है। विषमयता बढ़ जाती है और रोगी की मृत्यु हो जाती है।

अभिन्यास ज्वर—एक प्रकार का सन्निपात

(त्रयः प्रकुपिता दोषा उरःस्रोतोऽनुगामिनः।
आमाभिवृद्धया ग्रथिता बुद्धीन्द्रियमनोगता॥
जनयन्ति महाघोरमभिन्यासं ज्वरं दृढम्।
श्रुतौ नेत्रे प्रसुप्तिः स्यान्न चेष्टां काञ्चिदीहते॥
न च दृष्टिर्भवेत्तस्य समर्था रूपदर्शने।
न घ्राणं न च संस्पर्शं शब्दं वा नैव बुध्यते॥
शिरो लोठयतेऽभीक्ष्णमाहारं नाभिनन्दति।
कूजति तुद्यते चैव परिवर्तनमीहते॥
अल्पं प्रभाषते किञ्चिदभिन्यासः स उच्यते।
प्रत्याख्यातः स भूयिष्ठः कश्चिदेवात्र सिध्यति॥)

तीनों कुपित दोष आम की अत्यधिक वृद्धि से ग्रथित (गांठदार) होकर उरःस्रोत (धमनी Artery) के मार्ग से चलकर मस्तिष्क में पहुँचकर अत्यन्त भयंकर अभिन्यास नामक बलवान् ज्वर को उत्पन्न करते हैं। इस ज्वर के रोगी के कान और नेत्र प्रसुप्त (कार्य करने में असमर्थ) रहते हैं, वह किसी प्रकार की चेष्टा करने की इच्छा नहीं करता। उसकी दृष्टि (आंख) देखने में समर्थ नहीं होती; गंध, स्पर्श और आवाज का भी बोध नहीं होता। लगातार सिर को यहां वहां लुड़काता है, भोजन की इच्छा नहीं करता। पीटने या नोंचने के समान पीड़ा का अनुभव

करता है, कांखता है और परिवर्तन (स्थान या आसन में) चाहता है एवं कुछ थोड़ा सा बोलता है। इस ज्वर को अभिन्यास कहते हैं। यह अत्यन्त असाध्य है; इसकी चिकित्सा में शायद ही कोई सफल होता है (अथवा इसका शायद ही कोई रोगी बचता है)।

वक्तव्य—(२०)यह एक प्रकार की तीव्र विषमयता (Severe Toxaemia) है। आंत्रिक ज्वर में कभी कभी इस प्रकार की दशा पायी जाती है। मुझे इस प्रकार का एक ही रोगी देखने को मिला है। उसमें उक्त सभी लक्षण पूरे पूरे विद्यमान थे। केवल एक दिन ज्वर रहने के बाद दूसरे ही दिन अभिन्यास के सम्पूर्ण लक्षण व्यक्त हो गये थे। इसी दिन से मेरी चिकित्सा आरंभ हुई। प्रारम्भ में थोड़ा लाभ हुआ परन्तु तीसरे दिन ठंडा पसीना आना आरंभ हुआ और तमाम यत्न करते हुए भी दशा अत्यन्त खराब होगयी। तीव्र उत्तेजक औषधियां अत्यन्त बड़ी मात्रा में देने से कुछ सुधार हुआ। भीतर दाह होने लगी किन्तु शरीर बाहर से ठण्डा ही रहा, रोगी बोलने लगा और चेष्टा में भी सुधार हो गया। रात भर पोटलियों से सेंक-सेंककर शरीर को गर्म रखा गया। सबेरे रोगी अच्छी हालत में आ गया और मोतीझरा के दाने प्रकट हो गये। इसके तीसरे दिन अत्यधिक भूख लगने के कारण पथ्य देने को विवश होना पड़ा। ज्वर नहीं था, जीभ साफ थी और सब लक्षण अच्छे थे इसलिये मैंने भी लंघन कराना व्यर्थ ही समझा। इसके बाद लगभग एक सप्ताह और साधारण इलाज चला, कोई गड़बड़ी नहीं हुई। आज भी रोगी स्वस्थ है।

आगन्तुज ज्वर

अभिघाताभिचाराभ्यामभिशापाभिषंगतः।
आगन्तुर्जायते दोषैर्यथास्वं तं विभावयेत्॥ २६॥

चोट लगने से (अभिघात), मारण आदि मन्त्रों के प्रयोग से (अभिचार), गुरुजनों पितरों और देवताओं आदि के द्वारा कुपित होकर शाप देने से (अभिशाप) और काम शोक भय आदि तथा भूत-प्रेतादि के द्वारा ग्रसित होने से (अभिषंग) आगन्तुज ज्वर उत्पन्न होता है। इसके कारणों और लक्षणों के अनुसार दोषों की कल्पना करना चाहिए।

वक्तव्य—(२१) चोट लगने से पीड़ा होती और पीड़ा की अधिकता से ज्वर आ जाता है। यह ज्वर अधिकतर वातप्रधान होता है। इसके पश्चात् रोगी जिस प्रकार के आहार-विहार का सेवन करता है अथवा व्रण में जिस प्रकार के जीवाणुओं का उपसर्ग होता है उसी के अनुरूप दोष का प्रकोप होता है।

कुछ ऐसे मन्त्र-तन्त्र हैं जिनका प्रयोग करके तान्त्रिक लोग अपने शत्रुओं को बीमार कर देते अथवा मार डालते हैं। यह विद्या प्राचीनकाल में बहुत अधिक प्रचलित थी किंतु जिस प्रकार इस देश की अन्य बहुत सी विद्याएं लुप्त हो गयी हैं उसी प्रकार यह विद्या भी बहुत अंशों में लुप्त हो चुकी है। फिर भी कभी-कभी इस विद्या के चमत्कार देखने सुनने को मिल ही जाते हैं। आजकल बहुत से लोग इन बातों में विश्वास नहीं करते किन्तु जब कभी दुर्भाग्यवश उन्हीं पर बीतने लगती है तब विवश होकर विश्वास करने लगते हैं। मैंने इस प्रकार के २-३ मामले देखे हैं जिससे मुझे इस विद्या पर पूर्ण विश्वास है।

सिद्ध पुरुषों के शाप में भी बड़ी शक्ति होती है। आजकल के लोग इसमें भी विश्वास नहीं करते किंतु किसी के विश्वास करने या न करने से सत्य में कोई अन्तर नहीं आता। जबलपुर से बम्बई जाने वाली रेलवे लाइन पर नरसिंहपुर नामक एक छोटा शहर है। वहां के एक अत्यन्त उच्च कुल के ब्राह्मण युवक ने एक सन्यासी, जिनको लोग धूनी वाले बाबा के नाम से जानते थे, का अपमान किया था। उन्होंने क्रुद्ध होकर कह दिया था—"जा तूने भंगी का काम किया है। भंगी हो जायगा।" इसके कुछ ही समय पश्चात् एक भंगिन से उसका प्रेम-सम्बन्ध

हुआ और यहां तक बढ़ा कि वह उसी भंगिन के साथ रहने लगा और भंगी का काम करने लगा। कुछ समय पश्चात् वह भंगिन तो मर गयी किन्तु वह ब्राह्मण पुत्र अभी तक जीवित है और भंगी का ही काम करता है। जिन लोगों को इसमें सन्देह हो वे स्वयं नरसिंहपुर जाकर उससे मिल सकते हैं और पूछताछ कर सकते हैं। जब शाप के प्रभाव से इतना घोर परिवर्तन हो सकता है तब ज्वर आदि रोग होना तो साधारण बात है।

जिस प्रकार बहुत से लोग मन्त्र-तन्त्र और शाप में विश्वास नहीं करते उसी प्रकार भूत-प्रेतों में भी विश्वास नहीं करते। इसके सम्बन्ध में भी यही बात है कि जब सिर पर बीत जाती है तब लोग विश्वास करने ही लगते हैं। यह झूठ नहीं है कि भूत-प्रेत की बाधा के समान दिखने वाले उपद्रव अधिकतर केवल भय या हिस्टीरिया के कारण होते हैं। किन्तु ऐसे भी मामले मिलते हैं जो सचमुच प्रेतबाधा के ही हुआ करते हैं—भय अथवा हिस्टीरिया की चिकित्सा से उनको लेशमात्र भी लाभ नहीं होता। विरोधी पक्ष के लोग अधिकतर पाश्चात्य देशों के उदाहरण दिया करते हैं किन्तु उन्हें यह नहीं मालूम रहता कि पाश्चात्य देशों की जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग इनमें विश्वास करता है और इतना ही नहीं उन लोगों ने इस विद्या में काफी आगे तक कदम बढ़ाया है—वहां के तान्त्रिक प्रेतात्माओं से बातचीत करते और उनके फोटो तक उतार लेते हैं। इसलिये कोई कारण नहीं कि इस विषय से सम्बन्धित अपने ग्रन्थों में उपलब्ध साहित्य का हम निरादर करें। कुछ विद्वानों ने भूत-प्रेतों को कीटाणु सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, यह सचमुच ही बड़ी दूर की सूझ है। केवल जरा सी बात से उसका खण्डन हो जाता है, आगे इसी ग्रन्थ में आया है। 'भूताभिषङ्गादुद्वेगो हास्यरोदनकम्पनम्' अर्थात् भूत लग जाने से उत्पन्न ज्वर में उद्वेग, हंसना, रोना और कांपना—ये लक्षण होते हैं।

विषजन्य ज्वर

श्यावास्यता विषकृते तथाऽतीसार एव च।
भक्तारुचिः पिपासा च तोदश्च सह मूर्च्छया ॥२७॥

विषजन्य ज्वर में मुख का वर्ण श्याम (Cyanosed) हो जाना, अतिसार, मूर्छा, अरुचि, प्यास और पीड़ा होती है।

वक्तव्य—(२२) उक्त लक्षणों के साथ जिस विधि का प्रयोग किया गया हो उसके विशेष लक्षण भी मिलते हैं यथा, कुचले के विष में ऐंठन और आक्षेप, वच्छनाग में अत्यधिक पसीना निकलना, संखिया में वमन और दस्त खून जाना इत्यादि।

औषधिगन्धज ज्वर

ओषधिगन्धजे मूर्छा शिरोरुग्वमथुः क्षवः।

औषधि की गन्ध लगने से होने वाले ज्वर में मूर्छा सिर में दर्द, वमन और छींके आना—ये लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—(२३) कई प्रकार की वनस्पतियों और रासायनिक पदार्थों की गन्ध नाक में प्रविष्ट होने से छींके आती हैं सिरदर्द होता है और ज्वर भी आ जाता है। गले में प्रविष्ट होने से खांसी आती है या वमन हो जाता है अथवा दोनों होते हैं। औषधि को खाने से या लगाने से जो लक्षण होते हैं वे (केवल गन्ध लगने से) भी उत्पन्न हो सकते हैं।

इसी प्रकार कुछ लोग ऐसे भी मिलते हैं जिन्हें किसी खास पदार्थ से असहिष्णुता (Allergy) रहती है। ऐसे लोगों को उस पदार्थ की गंध लगने मात्र से उक्त लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं, भले ही वह पदार्थ अन्य लोगों के लिये बिल्कुल हानिरहित क्यों न हो। इस प्रकार के रोगियों में दमे और शीतपित्त का इतिहास मिलता है।

लगभग इसी प्रकार का रोग पाश्चात्य ग्रंथों में वर्णित हे-फीवर या आटम्नल केटार (Hay Fever or Autumnal Catarrh) है जो फसलें कटने की ऋतु में होता है।

कामज्वर

कामजे चित्तविभ्रंशस्तन्द्राऽऽलस्यमभोजनम् ॥२८॥
(हृदये वेदना चास्य गात्रं च परिशुष्यति।)

कामज ज्वर में किसी भी बात में मन नहीं लगता, तन्द्रा, आलस्य, भोजन करने की इच्छा न रहना, हृदय में वेदना मुंह और सारे शरीर का सूखना—ये लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—(२४) सांसारिक व्यवहार-नीति एवं संयम से शून्य स्त्री पुरुष इस ज्वर के शिकार होते हैं। अभिलषित जोड़ी न मिल सकने पर अथवा लम्बे समय तक विषय भोग की उपलब्धि न होने पर इस प्रकार के लोग इतने व्याकुल हो जाते हैं कि उन्हें उपर्युक्त लक्षणों के साथ ज्वर आ जाता है। नीति को जानने वाले एवं दृढ़ विचारों वाले संयमी पुरुषों एवं स्त्रियों को यह ज्वर नहीं हो सकता।

भय शोक और कोपजन्य ज्वर

भयात्प्रलापः शोकाच्च भवेत् कोपाच्च वेपथुः।

भय और शोकजन्य ज्वर में प्रलाप होता है। कोपजन्य ज्वर में कम्पन होता है।

वक्तव्य—(२५) जिन लोगों का मन इतना निर्बल होता है कि वे जरासी बात पर उत्तेजित हो जाते हैं अथवा घबरा जाते हैं उन्हें उक्त कारणों से ज्वर आ जाता है।

अभिचार, अभिशाप और भूताभिषंगजन्य ज्वर

अभिचाराभिशापाभ्यां मोहस्तृष्णा च जायते ॥२९॥
भूताभिषङ्गादुद्वेगो हास्यरोदनकम्पनम्।

अभिचार (मारणादि मन्त्र-तन्त्रों का प्रयोग) और अभिशाप से उत्पन्न ज्वरों में मूर्च्छा और प्यास तथा भूत-प्रेत लगने से उत्पन्न ज्वर में घबराहट, हंसना, रोना, कांपना—ये लक्षण होते हैं।

आगन्तुज ज्वरों में दोष प्रकोप

कामशोकभयाद्वायुः क्रोधात्पित्तं त्रयो मलाः ॥३०॥
भूताभिषङ्गात्कुप्यन्ति भूतसामान्य लक्षणाः।

काम शोक और भय से वायु, क्रोध से पित्त एवं भूत-प्रेत लगने से तीनों दोष कुपित होते हैं तथा भूत के अनुरूप लक्षण होते हैं।—

वक्तव्य—(२६) भूताभिषङ्ग से तीनों दोष कुपित होते हैं—इसके दो अर्थ हो सकते हैं। एक तो यह कि तीनों दोष कुपित होकर सन्निपात ज्वर के समान दशा हो जाती है और दूसरा यह कि जिस प्रकार के भूत का प्रभाव हो उसी के अनुरूप तीनों में से कोई भी एक या दो अथवा तीनों दोष कुपित होते हैं। दूसरा अर्थ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है क्योंकि यदि ग्रन्थकार का आशय प्रथम (सन्निपात) से होता तो 'भूतसामान्यलक्षणाः' का कोई प्रयोजन नहीं था।

विषम ज्वर—

सम्प्राप्ति

दोषोऽल्पोऽहितसम्भूतो ज्वरोत्सृष्टस्य वा पुनः ॥३१॥
धातुमन्यतमं प्राप्य करोति विषमज्वरम्।

अहित आहार-विहार से उत्पन्न अथवा ज्वर-मुक्ति के पश्चात् बचा हुआ थोड़ा सा दोष रसादि सप्तधातुओं में से किसी एक में प्रविष्ट होकर विषमज्वर उत्पन्न करता है।

भेद

सन्ततं रसरक्तस्थः सोऽन्येद्युः पिशिताश्रितः ॥३२॥
मेदोगतस्तृतीयेऽह्नि त्वस्थिमज्जागतः पुनः।
कुर्याच्चतुर्थकं घोरमन्तकं रोगसंकरम् ॥३३॥

(उक्त दोष) रस में स्थित होकर सन्ततज्वर को, रक्त में स्थित होकर सततज्वर को, मांस में आश्रित होकर अन्येद्युष्क ज्वर को, मेद में स्थित होकर तीसरे दिन आने वाले (तृतीयक) ज्वर को और अस्थिमज्जा में स्थित होकर यम के समान भयंकर और अनेक कष्टों के समूह चतुर्थक ज्वर को उत्पन्न करता है।

वक्तव्य—(२७) मूलोक्त संतत शब्द से सन्तत और सतत दोनों का बोध होता है—ऐसा सभी टीकाकारों को मानना पड़ा है। इस प्रकार 'सन्ततं रसरक्तस्थः' का अन्वय इस प्रकार होता है—'सन्ततः रसस्थः, सततः रक्तस्थः' इति।

लक्षण

सप्ताहं वा दशाहं वा द्वादशाहमथापि वा।
सन्तत्या योऽविसर्गी स्यात् सन्ततः स निगद्यते ॥३४॥

अहोरात्रे सततको द्वौ कालानुवर्तते ।
अन्येद्युष्कस्त्वहोरात्र एककालं प्रवर्तते ॥३५॥
तृतीयकस्तृतीयेऽह्नि चतुर्थेऽह्नि चातुर्थकः ।

सात, दस अथवा बारह दिनों तक बिना उतरे बना रहने वाला 'सन्तत ज्वर' कहलाता है । 'संतत ज्वर' दिन रात में दो बार आता है । 'अन्येद्युष्क ज्वर' दिन रात में एक बार आता है, 'तृतीयक' तीसरे दिन और 'चतुर्थक' चौथे दिन ।

वक्तव्य—(२८) सन्तत ज्वर की सात, दस और बारह दिनों की मर्यादा क्रमशः वात पित्त और कफ की प्रधानता के अनुसार बतलाई गयी है ।

केचिद्भूताभिषङ्गोत्थं ब्रुवते विषमज्वरम् ॥२६॥

कुछ लोग विषमज्वर को भूत-बाधा जन्य मानते हैं ।

वक्तव्य—(२६) यत्र-तंत्र और मंत्रों से भी विषम-ज्वर की निवृत्ति होती है । इस प्रकार के प्रयोग प्रायः सभी प्राचीन ग्रंथों में पाए जाते हैं । शायद इसी बात को लेकर उक्त धारणा का जन्म हुआ हो ।

तृतीयक और चतुर्थक ज्वरों के भेद

कफपित्तात्त्रिकग्राही पृष्ठाद्वातकफात्मकः ।
वातपित्ताच्छिरोग्राही त्रिविधः स्यात्तृतीयकः ॥३७॥
चतुर्थको दर्शयति प्रभावं द्विविधं ज्वरः ।
जङ्घाभ्यां श्लैष्मिकः पूर्वं शिरस्तोऽनिलसंभवः ॥३८॥

तृतीयक ज्वर तीन प्रकार का होता है—कफपित्तज कमर पकड़ता (में पीड़ा करता) है, वातकफज पीठ और वातपित्तज शिर पकड़ता है । चतुर्थक ज्वर दो प्रकार का प्रभाव दिखलाता है—श्लैष्मिक पिण्डलियों से और वातज सिर से प्रारम्भ होता है ।

चतुर्थक विपर्यय

विषमज्वरें एवान्यश्चतुर्थकविपर्ययः ।
स मध्ये ज्वरयत्यह्नी आदावन्ते च मुञ्चति ॥३९॥

चतुर्थक विपर्यय नामक एक और विषम-ज्वर का ही भेद है । वह आदि और अन्त के दिनों को छोड़कर मध्य के दिनों में चढ़ता है ।

वक्तव्य—(३०) विषम ज्वर और मलेरिया में बहुत अधिक सादृष्य है । कुछ इने-गिने विद्वानों को छोड़कर शेष सभी विषम ज्वर को मलेरिया ही मानने के पक्षपाती हैं । पाश्चात्य ग्रन्थों में मलेरिया के संबन्ध में जितना साहित्य उपलब्ध है उसका सारांश नीचे दिया जाता है ।

मलेरिया—

यह रोग गर्म और तर जलवायु में अधिक प्रसार पाता है । भारतवर्ष में वर्षा ऋतु के अन्तिम भाग में और शरद ऋतु में यह विशेष रूप से फैलता है । इसके कायाणुओं (Parasites) का मानव शरीर में प्रवेश मच्छरों के द्वारा होता है, एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य को यह रोग नहीं लग सकता । मच्छर कई प्रकार के होते हैं—उनमें से एक विशेष जाति एनोफिलीस (Anopheles) की मादा के द्वारा इसका प्रसार होता । उक्त मच्छर जब किसी रोगी व्यक्ति का रक्त चूसता है तब रक्त के साथ मलेरिया कायाणु भी उसके पेट में पहुँच जाते हैं और पलते रहते हैं । इसके पश्चात् वह जिन जिन मनुष्यों को काटती है उनके रक्त में वे कायाणु प्रविष्ट हो जाते हैं । वर्षा ऋतु में और तर स्थानों में मच्छर बहुत अधिक उत्पन्न होते हैं इसलिए उन्हीं दिनों यह रोग सबसे अधिक फैलता है । मच्छरों का नाश करके इस रोग पर बहुत हद तक विजय पाई जा सकती है ।

मलेरिया कायाणु की ४ उपजातियां होती हैं—

(१) सौम्य तृतीयक—प्लाज्मोडियम वाइवेक्स (Benign Tertian, Plasmodium Vivax)-यह सबसे अधिक पाया जाने वाला प्रकार है । यह प्रति ४८ घंटों के बाद ज्वर उत्पन्न करता है ।

(२) गंभीर तृतीयक—प्लाज्मोडियम फैल्सीपैरम (Sub-tertian or Malignant tertian-Plasmodium falciparum)-यह अत्यन्त तीव्र प्रकार का सन्तत, सतत या तृतीयक ज्वर उत्पन्न करता है । वाइवैक्स के बाद सबसे अधिक पाया जाने वाला प्रकार यह है । यह २४ से ४८ घण्टों के बाद ज्वर उत्पन्न करता है ।

(३) चतुर्थक—प्लाज्मोडियम मलेरिया (Quar-

tan plasmodium malaria)—यह कम पाया जाता है। यह ७२ घण्टों के बाद ज्वर उत्पन्न करता है।

(४) अति सौम्य तृतीयक—प्लाज्मोडियम ओवेल (Ovale Tertian plasmodium ovale)—यह बहुत कम पाया जाने वाला प्रकार है। इसके द्वारा प्रति ४८ घंटों के बाद अत्यन्त सौम्य प्रकार का ज्वर उत्पन्न होता है।

इनके अतिरिक्त २ उपजातियां और हैं जिन्हें कोई महत्व नहीं दिया जाता।

(५) प्लाज्मोडियम टेन्युई (Plasmodium Tenue)—यह शायद फैल्सीपैरम का ही एक प्रकार है।

(६) प्लाज्मोडियम नोलैसी (Plasmodium knowlesi)—यह कायाणु बन्दरों में विषम ज्वर उत्पन्न करता है। इसका सूचीवेध करके मनुष्यों में भी अत्यन्त सौम्य प्रकार का ज्वर उत्पन्न किया जा सकता है। पक्षाघात के कई सौम्य प्रकारों में जहां ज्वर उत्पन्न होने से लाभ होने की संभावना रहती है वहां इन कायाणुओं का सूचीवेध करके ज्वर उत्पन्न किया जाता है।

उपर्युक्त कायाणुओं के जीवन की कई अवस्थायें होती हैं। विस्तारभय से उनका वर्णन न करते हुये हमें केवल यही बतलाना है कि ये कायाणु मच्छर के दंश के द्वारा शरीर में पहुँचकर रक्ताणुओं में प्रविष्ट होजाते हैं। फिर ऊपर बतलाये अनुसार निश्चित समय के बाद ये उन रक्ताणुओं में से निकलते हैं। इससे रक्ताणुओं (R. B. C.) का नाश होता है और कायाणु रक्तरस (plasma) में पहुँचकर एक प्रकार का विष छोड़ते हैं जिससे ज्वरोत्पत्ति होती है। रक्ताणुओं का नाश होने से रक्तक्षय (Anaemia) होता है और प्लीहा को अधिक कार्य करना पड़ता है जिससे उसकी शोथमय वृद्धि होती है।

यदि एक ही जाति के कायाणु एक ही समय पर शरीर में प्रविष्ट हुए हों तो ऊपर जो अवधि बतलायी गयी है उसी के अनुसार ज्वरोत्पत्ति होती है। किन्तु अनेक जातियों के कायाणु भिन्न-भिन्न समयों पर प्रविष्ट होने पर ज्वर के समय में विभिन्नता हो जाती है जिससे सन्तत, सतत आदि भेद होते हैं। उदाहरणार्थ, मान लीजिये तृतीयक ज्वर के कुछ कायाणु एक दिन प्रविष्ट हुए और कुछ उसके दूसरे दिन। अब वे प्रविष्ट होने के क्रम से ४८-४८ घण्टों के बाद ज्वर उत्पन्न करेंगे तो प्रतिदिन एक बार ज्वर का आक्रमण होगा। इसी प्रकार यदि दिन में कई बार कायाणुओं का प्रवेश हुआ हो तो दिन में कई बार ज्वर का आक्रमण होगा जिससे सन्तत या सतत प्रकार का ज्वर हो सकता है।

शरीर में प्रविष्ट कायाणु कुछ काल तक गुप्त रूप से निवास करते हैं। इसके बाद वे रक्त में आकर अत्यन्त शीघ्रता से अपनी वंशवृद्धि करते हैं किन्तु उनमें से कुछ रोग प्रतिकारक शक्तियों (Phagocytic Cells) के द्वारा नष्ट कर दिये जाते हैं। यदि कायाणु उतनी संख्या में न बढ़ सकें जितनी कि ज्वर उत्पन्न करने के लिये आवश्यक है तो शरीर में कायाणुओं की उपस्थिति के बावजूद भी ज्वर की उत्पत्ति नहीं होती। इस प्रकार की रोग प्रतिकारक शक्ति उन स्थानों के निवासियों में पायी जाती है जहां मलेरिया का प्राबल्य रहता है। किन्तु कई प्रकार के कमजोरी पैदा करने वाले कारणों जैसे थकावट, शीत लग जाना, अधिक भोजन करना आदि से कमजोरी आने पर कायाणुओं को अपनी वृद्धि करके ज्वर उत्पन्न करने का मौका मिल जाता है।

सामान्यतः सौम्य तृतीयक का संचय काल (Incubation Period) २ सप्ताह, चतुर्थक का ३ सप्ताह और गंभीर तृतीयक का ७ से १० दिन तक का है। रोगप्रतिकारक शक्तियों की उपस्थिति में यह काल बहुत लम्बा हो सकता है।

यदि मलेरिया की उचित चिकित्सा न की जावे तो इसकी ४ अवस्थाएं होती हैं—(१) प्राथमिक आक्रमण (Primary Infection), (२) स्वतः रोगोपशम और गुप्तावस्था (Spontaneous cure and latency) (३) पुनराक्रमण (Relapse) और (४) जीर्णज्वरावस्था (Malarial cachexia)

मलेरिया-क्षेत्र में नये आये हुए व्यक्ति पर जब मलेरिया का आक्रमण होता है तब अधिकतर सन्तत ज्वर का रूप दृष्टिगोचर होता है। ज्वर चौबीस घण्टे रहता है, दिन में किसी समय पर बढ़ता है परन्तु प्रायः २° डिग्री से अधिक नहीं बढ़ता (Remittent type of temperature) और जाड़ा अधिक नहीं लगा करता। यदि चिकित्सा न की जावे लगभग १ सप्ताह या अधिक दिनों में ज्वर रोज उतरने और चढ़ने लग जाता है (Intermittent type of temperature) यह थोड़ी सी रोग-प्रतिकारक क्षमता की उत्पत्ति का लक्षण है। इसके कुछ दिनों बाद ज्वर सौम्य, तृतीयक या चतुर्थक के रूप में परिवर्तित हो जाता है और इसी प्रकार धीरे धीरे अदृश्य हो जाता है। यहां से गुप्तावस्था प्रारम्भ होती है। इस अवस्था में रोगी स्वस्थ प्रतीत होता है और रक्त में भी कायाणु नहीं मिलते किन्तु यदि उसका रक्त सूचीवेध द्वारा किसी स्वस्थ व्यक्ति के शरीर में प्रविष्ट कर दिया जावे तो उस व्यक्ति पर रोगाक्रमण हो जाता है। यह गुप्तावस्था हफ्तों और कभी कभी महीनों तक चलती रहती है जब तक कि रोगी को कमजोर करने वाले कोई कारण उपस्थित न हों। किसी भी कारण से कमजोरी या थकावट आने पर ज्वर का पुनराक्रमण हो जाता है। इसी प्रकार गुप्तावस्था और पुनराक्रमण का क्रम चलता रहता है और कुछ काल में अत्यधिक धातुक्षय (Wasting) होकर रोगी जीर्णज्वरावस्था में पहुँच जाता है।

मलेरिया क्षेत्र के निवासियों को जिन्हें इसके पूर्व मलेरिया हो चुका हो उन्हें सिरदर्द, सर्वांग में पीड़ा, अरुचि आदि पूर्वरूप प्रतीत होने के पश्चात् अथवा अचानक ही दोपहर के समय जोरों से ठण्ड और कंपकंपी लग कर ज्वर का आक्रमण होता है। चेहरा पीला और कान्तिहीन हो जाता है और ज्वर शीघ्र ही बढ़कर १०३° या १०४° डिग्री तक या या इससे भी अधिक हो जाता है। यह दशा शीतावस्था (Cold Stage) कहलाती है और सामान्यतः इसका काल कुछ मिनटों से एक घण्टे तक होता है। इसके पश्चात् रोगी गर्मी का अनुभव करता है, सर्वांग में दाह होती है, चेहरा लाल हो जाता है और शीतावस्था में उसने जितने वस्त्र पहिने या ओढ़ रखे थे उन्हें उतार फेंकता है। इस दशा में ज्वर थोड़ा बहुत और बढ़ता है। यह दशा दाहावस्था (Hot Stage) कहलाती है और इसका काल लगभग ३ घंटों का होता है। इसके बाद सर्वप्रथम ललाट पर और फिर सारे शरीर से पसीना निकलता है और तेजी के साथ ज्वर उतर जाता है। इस अवस्था को प्रस्वेदावस्था (Sweating Stage) कहते हैं। इस अवस्था के बाद ऊपरी तौर से रोग का उपशम हो जाता है, रोगी को आराम मिलता है, ज्वर बढ़ने के साथ जो कष्ट उत्पन्न हुए थे वे सभी लगभग दूर हो जाते हैं और अधिकतर रोगी सो जाता है। ज्वरावस्था का कुल समय सामान्यतः ६ से १० घण्टों का रहता है। ये लक्षण सौम्य तृतीयक और चतुर्थक ज्वरों में पाये जाते हैं।

ज्वरावस्था में तीव्र शिरःशूल, हाथ-पैरों में खिंचने के समान पीड़ा, रीढ़ में पीड़ा, किसी-किसी को उत्क्लेद और पित्त-वमन भी होता है। नाड़ी की गति तीव्र रहती है, शीतावस्था में मृदु और दाहावस्था में भरी हुई। श्वास की गति भी तीव्र रहती है। जीभ पर मैल की तह जम जाती है और मलावरोध रहता है। ओठों पर पिडिकाओं की उत्पत्ति अक्सर हो जाती है (Herpes Labialis)। शीतावस्था में मूत्र की मात्रा पर्याप्त होती

है—यूरिया, क्लोराइड और सल्फेट अधिक मात्रा में और फास्फेट न्यून मात्रा में पाये जाते हैं। दाहावस्था और प्रस्वेदावस्था में मूत्र की मात्रा घट जाती है—पित्त और कभी-कभी शुल्कि (Albumin) भी पायी जाती है। मल में पित्तरंजक पदार्थ की मात्रा बढ़ जाती है।

ज्वर की उत्पत्ति उसी समय पर होती है जिस समय पर कायाणु रक्तकणों में से निकलकर बाहर

अन्येद्युष्क ज्वर का चार्ट चित्र नं० २
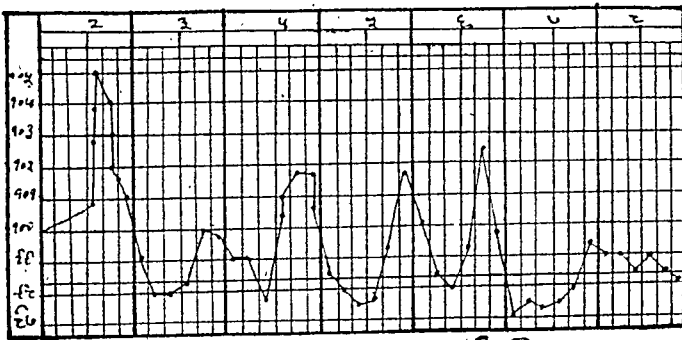
रक्तरस में प्रवेश करते हैं, ज्वरकारी विष (Pyrogenetic Substance) का उत्सर्ग करते हैं। ज्वर की तीव्रता कायाणुओं की संख्या और रोगी की क्षमता के अनुसार होती है। तृतीयक कायाणु प्रति

तृतीयक ज्वर का चार्ट चित्र नं० ३

४८ घंटों के बाद और चतुर्थक कायाणु प्रति ७२ घंटों के पश्चात् रक्तकणों में से निकलते हैं इसलिए ज्वर तीसरे और चौथे दिन आता है। किन्तु बहुधा एक ही प्रकार के कायाणुओं का संक्रमण अनेक भिन्न भिन्न समयों पर होता है अथवा कई प्रकार के
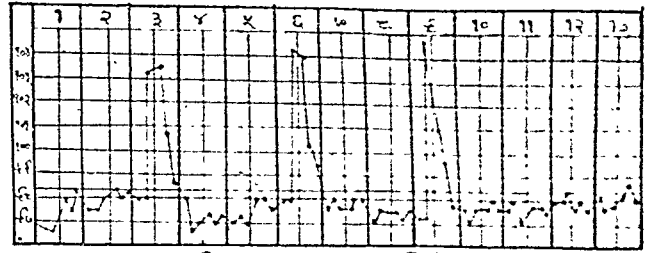
चतुर्थक ज्वर का चार्ट चित्र नं० ४

कायाणुओं का संक्रमण एक या अनेक बार होता है। ऐसी दशा में ज्वर अपेक्षाकृत कम समय के अन्तर से आता है—प्रतिदिन एक बार (अन्येद्युष्क) दिन में दो बार (सतत), दो दिन ज्वर रहना और उसके बाद एक दिन न रहना (चतुर्थक विपर्यय) इत्यादि। गम्भीर तृतीयक कायाणुओं का रक्तकणों में से निकलना अनियमित रहता है—कुछ कायाणु समय के पूर्व ही निकल आते हैं जिससे ज्वर की जल्दी चढ़ने (Anticipation) और देर से उतरने (Retardation) की प्रवृत्ति रहती है और कभी कभी कई दिनों तक ज्वर नहीं उतरता। कभी-कभी इस प्रकार का ज्वर घातक रूप(Pernicious Malaria) धारण करता है। यदि बड़ी संख्या में गम्भीर तृतीयक कायाणुओं का प्रवेश कई बार हुआ हो तो सन्तत ज्वर रहता है जिसमें दिन में एक या कई बार ज्वर चढ़ता और उतरता है किन्तु पूरी तरह से नहीं उतरता, कुछ न कुछ ज्वर अवश्य बना रहता है परन्तु ऐसा बहुत कम पाया जाता है। अति सौम्य तृतीयक कायाणुओं से शाम को साधारण कोटि का ज्वर आता है।

बार बार के आक्रमण से रोग प्रतिकारक क्षमता (Immunity) उत्पन्न होती है। यही कारण है कि प्रारंभिक आक्रमण क्रमशः कमजोर होते जाते हैं। बहुत से लोगों के शरीर में कीटाणु अत्यधिक संख्या में उपस्थित होते हुए भी ज्वर के लक्षण उक्त क्षमता के कारण नहीं उत्पन्न होने पाते। इस प्रकार के लोग या तो धीरे धीरे जीर्ण ज्वरावस्था में पहुँच जाते हैं अथवा धीरे-धीरे कायाणुओं का नाश होने

से ज्वर का आक्रमण हुए बिना ही कायाणु-मुक्त हो जाते हैं।

ज्वर के साथ यकृत और प्लीहा की तेजी से वृद्धि होती है, उनको दबाने से पीड़ा भी होती है। ज्वर उतरने के साथ ये सिकुड़कर सामान्य स्थिति में आ जाते हैं किन्तु बारम्बार आक्रमण होते रहने से इनकी स्थायी वृद्धि हो जाती है—प्लीहा की अधिक और यकृत की बहुत थोड़ी। आक्रमण के समय पर और उसके कुछ काल बाद तक पाण्डु रोग (Jaundice) के अल्प लक्षण नेत्रों में पीलापन, मूत्र में पीलापन आदि पाये जाते हैं। रक्तक्षय[1] (Anaemia) तीव्र गति से होता हैं।

सौम्य तृतीयक कायाणु लगभग ३½ वर्ष, चतुर्थक कायाणु ६-७ वर्ष, गंभीर तृतीयक कायाणु ६ से १८ मास तक और अति सौम्य तृतीयक कायाणु इससे भी कम समय तक शरीर में जीवित रह सकते हैं। पुनराक्रमण किसी भी कारण से कमजोरी आने पर होता है। सौम्य तृतीयक का पुनराक्रमण सबसे अधिक होता है।

सौम्य तृतीयक का प्राथमिक आक्रमण या पुनराक्रमण घातक नहीं होता। बार बार के आक्रमण से जीर्णज्वरावस्था की प्राप्ति होती है। जीर्णज्वरावस्था के लक्षण—बढ़ी हुई कड़ी प्लीहा, किंचित् बढ़ा हुआ यकृत, अत्यधिक रक्तक्षय जो अधिकतर उपवर्णिक (Hypochromic) होता है, अरुचि अग्निमान्द्य,कुछ मांसक्षय (Muscular wasting) विवर्णता, बाढ़ में रुकावट, मानसिक और शारीरिक परिश्रम कर सकने की शक्ति का अभाव और बाद की अवस्था में पैरों में शोथ। गम्भीर तृतीयक अधिकतर घातक होता है और यदि इसका कोई रोगी बिना उचित चिकित्सा के बच भी जाता है तो जीर्णज्वरावस्था की प्राप्ति बहुत शीघ्र होती है। वृक्क-प्रदाह(Nephritis) या वृक्कोत्कर्ष(Nephrosis) कभी कभी पाया जाता है विशेष तौर से चतुर्थक में। सभी प्रकारों में अन्य रोगों का प्रतिकार कर सकने की शक्ति का ह्रास होता है।

ऊपर चारों प्रकार के मलेरिया के सामान्य लक्षण (विशेष रूप से गंभीर तृतीयक को छोड़कर शेष ३ के ही) दिये जा चुके हैं। गंभीर तृतीयक की अपनी कुछ विशेषतायें हैं जिनका वर्णन नीचे किया जा रहा है—

गंभीर तृतीयक मलेरिया उन स्थानों में पाया जाता है जहां मलेरिया बहुत अधिक होता हो (Hyper-endemic Areas) और खास तौर से जब वह बहुत जोरों से फैला हो। इसके रूप इतने व्यापक और अन्य भयंकर रोगों से इतने अधिक मिलते जुलते होते हैं कि निदान करना अत्यन्त कठिन होता है। फिर इसकी तीव्रावस्था (Acute Stage) में मृत्युसंख्या बहुत अधिक होती है।

बहुत से रोगियों को ठण्ड और कंपकंपी नहीं लगती और ज्वर भी अधिक नहीं बढ़ता किन्तु ज्वरावस्था लम्बे समय तक रहती है। साधारण मामले में रोज सबेरे ज्वर उतरा हुआ मिल सकता है परन्तु तृतीयक रूप अर्थात् एक दिन ज्वर आना और एक दिन न आना, बहुत कम देखने में आता है। बहुधा प्रतिदिन कायाणुओं के एक से अधिक दल रक्ताणुओं से बाहर निकलते हैं जिससे यदि प्रति २ घंटों पर तापक्रम लिया जावे तो कई उतार चढ़ाव पाये जाते हैं, कभी-कभी दिन में दो बार ज्वर का चढ़ना और उतरना पाया जा सकता है किन्तु उतना नियमित नहीं जितना कि कालाजार(Kalaazar) में पाया जाता है। अधिकांश मामलों में ज्वर लगातार (सन्तत) बना रहता है, उतार-चढ़ाव होते रहते हैं किन्तु ज्वर पूरी तौर से नहीं उतरता। ऐसी दशा में आन्त्रिक ज्वर, मस्तिष्क-सुषुम्ना ज्वर एवं अन्य किसी

---

[1] Anaemia का हिन्दी पर्याय कुछ लोग 'पाण्डु' और कुछ लोग 'रक्ताल्पता' मानते हैं किन्तु मेरी राय में 'रक्तक्षय' अधिक उपयुक्त है। कारण आगे बतलाया जावेगा।
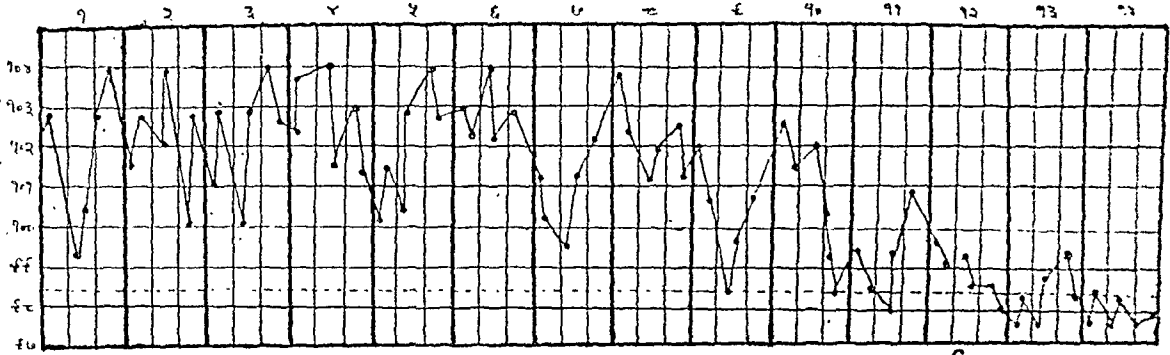
चित्र नं० ५ गंभीर तृतीयक विषमज्वर (Sub-tertian Malaria) का चार्ट

भी ज्वर का भ्रम हो सकता है।

ज्वरावस्था में बेचैनी बहुत अधिक रहती है, भयङ्कर सिरदर्द, हाथ पैरों और सारे शरीर में अत्यधिक पीड़ा, बारम्बार पित्त-वमन और शक्तिक्षय होता है। नाड़ी तेज चलती है, पेशाब गहरे पीले रंग का होता है, नेत्र किंचित् पीले (Icteriod), एवं यकृत और प्लीहा थोड़े बढ़े हुये रहते हैं और छूने से पीड़ा करते हैं। थोड़ा प्रतिश्याय भी रहता है।

दूसरे प्रकार के मामलों में शरीर में कायाणुओं का रक्तकणों में से निकलना चालू रहते हुए भी ज्वर नहीं रहता। इस प्रकार को गुप्त मलेरिया (Latent malaria) कहते हैं। रोगी में अनियमित लक्षण मिलते हैं जैसे कमजोरी बढ़ते जाना, थोड़ा पाण्डु, रक्तक्षय, पैरों में शोथ, अतिसार या अग्निमान्द्य। ऐसे रोगियों को शीत लग जाने से अथवा अधिक परिश्रम करने से अत्यन्त तीव्रता के साथ ज्वर आजाता है।

गंभीर तृतीयक ज्वर में कई प्रकार के घातक उपद्रव होते हैं जिनसे रोगी के प्राणों को बहुत बड़ा खतरा उत्पन्न हो जाता है। इन उपद्रवों से ज्वर को घातक गंभीर तृतीयक ज्वर (Pernicious or Malignant Types of sub-tertian malaria) कहते हैं। इन उपद्रवों की उत्पत्ति के कई कारण हैं।

(१) इसके कायाणु बड़ी शीघ्रता से अपनी वंश-वृद्धि करते हैं जिससे बहुत बड़ी संख्या में रक्तकणों का नाश होता है।

(२) इसके कायाणु आभ्यन्तर अंगों की, विशेषकर मस्तिष्क की केशिकाओं को अवरुद्ध कर देते हैं।

(३) इसके कायाणु अधिक बड़ी मात्रा में विषैले पदार्थ का उत्सर्ग करते हैं। ये उपद्रव अधिकतर मस्तिष्कगत (cerebral) अथवा उदरगत (Abdominal) होते हैं।

मस्तिष्कगत उपद्रव—

(१) अति तीव्र ज्वर (Hyper-pyrexia)- इसका रूप अंशुघात (Heat-apoplexy, Heat stroke) के सदृष होता है। ज्वर शीघ्र ही बढ़कर ११०° डिग्री तक भी जा सकता है। नाड़ी मृदु और प्लीहा बढ़ी हुई तथा पीड़ायुक्त रहती है। यदि ज्वर की वृद्धि पर शीघ्र ही काबू न किया जावे तो प्रलाप और संन्यास होकर मृत्यु होजाती है।

(२) आक्षेप और संन्यास—इनकी उपस्थिति में आन्त्रिक ज्वर (Typhoid) और मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर (cerebro-spinal fever) से विभेद करना आवश्यक होता है। तीव्र नाड़ी, पित्त-वमन, घटने-बढ़ने वाला ज्वर, बढ़ी हुई तथा मृदु प्लीहा और यकृत, तीव्र रक्तक्षय, रक्त में गंभीर तृतीयक मलेरिया के कायाणुओं की उपस्थिति और आन्त्रिक ज्वर सम्बन्धी परीक्षणों का नकारात्मक फल मलेरिया का निश्चय कराने वाले चिह्न हैं। सुषुम्नाद्रव देखने में साधारण रहता है किन्तु अक्सर उसका दबाव कम

रहता है। कभी-कभी जब गर्भिणी स्त्री को इस प्रकार के लक्षणों से युक्त ज्वर आता है तब गर्भाक्षेपक (Eclampsia) का भ्रम हो सकता है।

इस प्रकार के कुछ मामले मस्तिष्क में रक्तस्राव होने के कारण और कुछ केशिकाओं के अवरुद्ध होने के कारण होते हैं।

(३) दृष्टिनाश—यह अधिकतर अस्थायी होता है किन्तु कुछ मामलों में स्थायी भी होसकता है। आंखों की रक्तवाहिनियों में अवरोध होजाने से ऐसा होता है। पुतली का रंग गुलाबी या गहरा लाल हो जाना विशिष्ट लक्षण हैं।

(४) उन्माद—कभी-कभी यह पाया जाता है। प्रायः इसके रोगी स्वस्थ हो जाते हैं।

नाड़ी प्रदाह (Neuritis गृध्रसी), पक्षाघात (Monoplegia and Hemi-plegia) और मूकत्व (Aphasia) भी होते हैं किन्तु बहुत कम।

निदान करते समय अंशुघात, मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर, हिस्टीरिया, मृगी, मस्तिष्क प्रदाह (Encephalitis), मस्तिष्कगत अर्बुद आदि (Intracranial New Growths), मदात्यय, विषमयता (Septicaemia) और तीव्र संक्रामक ज्वरों (जैसे प्लेग) से विभेद करना आवश्यक रहता है।

उदरगत उपद्रव—

विसूचिका (Choleraic Type)—इसमें समस्त लक्षण विसूचिका के समान होते हैं। पानी के समान पतले दस्त बहुत अधिक होते हैं, नाड़ी धागे के समान पतली और कमजोर चलती है अत्यधिक शक्तिपात होता है, शरीर शीतल होजाता है किन्तु गुदा के अन्दर का तापमान बढ़ा हुआ रहता है। शरीरस्थ जल का क्षय (Dehydration) इतना अधिक हो सकता है कि हाथ पैरों में ऐंठन (Cramps), आवाज दब जाना, चेहरा और अंगुलियां शुष्कवत् प्रतीत होना और मूत्रावरोध आदि लक्षण उत्पन्न होकर मृत्यु हो सकती है।

इस प्रकार के कुछ मामलों में शरीरस्थ जल का अधिक क्षय होने के पूर्व ही अत्यधिक शक्तिपात हो जाता है। शरीर अधिक शीतल नहीं होता किन्तु मणिबन्ध की नाड़ी लुप्त हो जाती है तथापि चेतना अन्त तक बनी रहती है।

वास्तविक विसूचिका से विभेद निम्न लक्षणों से किया जाता है—

(अ) गुदा का तापमान अन्य स्थानों से अधिक रहना।

(ब) रक्त में से अपेक्षाकृत कम जल का नाश।

(स) मलेरिया के आक्रमण या लक्षणों का पूर्व इतिहास।

(द) रक्त में मलेरिया कायाणुओं की उपस्थिति।

(इ) दस्त चावलों के धोवन के समान नहीं रहता, रंग पीला होता है। पित्त और कफ एवं कभी-कभी रक्त भी मिश्रित रहता है।

(२) प्रवाहिका (Dysenteric form)—इसके लक्षण बैसिलरी प्रवाहिका के समान होते हैं। किन्तु दस्त अपेक्षाकृत कम एवं कम मरोड़ के साथ होते हैं। ज्वर रहता है और पित्त-वमन होता है। कभी-कभी वमन के साथ रक्त भी जाता है अथवा मल के साथ काला रक्त (Malaena) जाता है।

(३) आमाशय प्रदाह (Gastric form) इसका रूप तीव्र आमाशय प्रदाह के समान होता है। पेट में दर्द होता है और वमन होते हैं। प्रत्येक दशा में आंखों में पीलापन और प्लीहावृद्धि अवश्य मिलती है।

(४) पित्तज (Bilious)—यह प्रकार सबसे अधिक पाया जाता है। ज्वर चौबीसों घन्टे बना रहता है किन्तु घटता बढ़ता रहता है, बारम्बार पित्त वमन होता है और कब्ज रहता है किन्तु कभी-कभी पैत्तिक अतिसार होता है। उदर कठोर फूला हुआ, नेत्र किंचित पीले, यकृत और प्लीहा वृद्धियुक्त और

छूने पर पीड़ायुक्त, तीव्र शिरःशूल और कुछ मामलों में शौक्तोत्कर्ष (Ketosis Acetonaemia) रहता है।

(५) आन्त्रिक (Typhoid type or Typho-malaria) इसमें रोगी धीरे-धीरे बड़-बड़ाकर प्रलाप (Low muttering delirium) करता है, जीभ रूखी और मैली, अतिसार, आध्मान और अत्यधिक शक्तिक्षय होता है। बेहोशी की अवस्था में रोगी अपनी शय्या के पास कुछ पकड़ने का प्रयत्न (शय्यालुञ्चन, Subsultus Tendinum) करता है।

इन प्रकारों में विशूचिका, प्रवाहिका, उपान्त्र प्रदाह (Appendicitis), आन्त्रिक ज्वर, तीव्र आमाशय प्रदाह (Acute gastritis), पित्ताशय प्रदाह (Cholecystitis) यकृत-विद्रधि और रक्तस्रावी क्लोम-प्रदाह (Haemorrhagic Pancreatitis) से विभेद करना आवश्यक होता है।

अन्य विरल उपद्रव—

(१) वाक्षिक (Pulmonary type)-इसमें श्वास नलिका प्रदाह (Bronchitis) अथवा फुफ्फुस-प्रणालिका प्रदाह (Broncho-pneumonia) के लक्षण मिलते हैं।

(२) हार्दिक (Cardiac type) इसमें अचानक मूर्च्छा का आक्रमण होता है और हृदय के दक्षिण कोष्ठ का विस्फार (Dilatation) होता है।

(३) रक्तस्रावी (Haemorrhagic type)—इसमें अनेक मार्गों से रक्तस्राव होता है और लाल-काले चकत्ते निकलते हैं। कभी-कभी मस्तिष्क अथवा मस्तिष्कावरण में भी रक्तस्राव होता है।

(४) स्वेदल (Sudoral type)-इसमें अत्यधिक पसीना आकर शीतांग होजाता है।

(५) कोथ (Gangrene)-कभी-कभी शाखाओं में कोथ हो जाता है।

(६) शोणाशिक रक्तक्षय (Haemolytic anaemia) यह बड़ा भयंकर उपद्रव है। इसमें भयंकर रक्तक्षय होता है। अस्थिमज्जा में विकृति आ जाती है।

(७) वृक्क प्रदाह—मलेरिया कायाणुओं से वृक्क प्रदाह होकर सर्वांग शोथ अथवा रक्तभाराधिक्य (Hypertension) अथवा दोनों होते हैं।

(८) अण्ड प्रदाह—अण्ड में प्रदाह होने से अण्ड कोष सूज जाता है और तीव्र पीड़ा होती है।

ऊपर मलेरिया का जो वर्णन पाश्चात्य ग्रन्थों के आधार पर किया गया है उसे देखते हुए विषम ज्वर और मलेरिया को एक दूसरे के पर्याय मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। विषम ज्वर के सन्ततादि छहों भेद मलेरिया में मिलते हैं और प्रायः सभी बातों में समानता है। विरोध केवल वहीं पैदा होता है जहां ज्वर के धातुओं में आश्रित होने की बात कही गई है। किन्तु चूंकि यह प्रश्न आभ्यन्तर विकृति का है इसलिये इस विषय में मतभेद सहन किया जा सकता है। गम्भीर तृतीयक के जो उपद्रव बतलाये गये हैं वे सन्निपातज उपद्रवों की श्रेणी में आते हैं। रक्तस्रावी प्रकार तो निश्चित रूप से रक्तष्ठीवी सन्निपात ही है।

वातबलासक ज्वर

नित्यं मन्दज्वरो रूक्षः शूनकस्तेन सीदति।
स्तब्धांगः श्लेष्मभूयिष्ठो भवेद्वातबलासकी ॥४०॥

वातबलासक ज्वर के रोगी को हल्का ज्वर नित्य बना रहता है, त्वचा रूखी रहती है; वह शोथ से दुखी रहता है: उसके अङ्ग (स्तब्ध, क्रियाहीन) रहते हैं और कफ की बहुलता रहती है।

वक्तव्य—(३१) वातबलासक ज्वर का यह वर्णन अत्यन्त संक्षिप्त है। दुर्भाग्य से अन्य ग्रन्थों में भी इसके विषय में इससे अधिक कुछ भी उपलब्ध नहीं है। इतने थोड़े से लक्षणों के आधार पर रोगविनिश्चय कर पाना अत्यन्त कठिन तो है ही, यदि असम्भव भी कह दिया जावे तो अत्युक्ति न होगी। अधिकतर विद्वानों का मत है कि यह पाश्चात्य ग्रंथों में वर्णित 'बेरी-बेरी' (Beri-Beri) नामक रोग है;

आचार्य श्री सुदर्शन शास्त्री ने इसे 'जानपदिक शोथ' (Epidemic Dropsy) माना है और श्री स्वामी कृष्णानन्द जी ने अपने 'चिकित्सा तत्व प्रदीप' नामक ग्रन्थ में इसे तीव्र ब्राइट का रोग या वृक्क-प्रदाहज ज्वर (Acute Bright's Disease or Nephritic fever) सिद्ध किया है। किन्तु अत्यन्त दुख की बात यह है कि उक्त तीनों रोगों में से किसी को भी निश्चयपूर्वक वातबलासक ज्वर नहीं कहा जा सकता। उक्त तीनों व्याधियों का वर्णन पाश्चात्य ग्रन्थों के आधार पर नीचे किया जा रहा है—

बैरी-बैरी (Beri-Beri)—

यह रोग जीवतिक्ति बी$_1$ की कमी से उत्पन्न होता है। इसके २ प्रकार हैं—(१) शोथयुक्त और (२) शुष्क। शोथयुक्त प्रकार को ही कुछ लोग वातबलासक ज्वर मानते हैं।

शोथयुक्त बैरी-बैरी (Wet type of Beri-Beri)—

पूर्वरूप—पेट में मीठा-मीठा दर्द और भारीपन (Discomfort) भूख न लगना, शरीर के कुछ भागों में संज्ञापरिवर्तन[1] (Paraesthesia) और कुछ भागों में परमस्पर्शज्ञता[2] (Hyperaesthesia), पिंडली में पीड़ा, कमजोरी, धड़कन(Palpitation) और क्षुद्रश्वास (Shortness of breath)।

रूप—पैरों से शोथ प्रारम्भ होता है जो बढ़ते बढ़ते सारे शरीर में फैल जाता है, त्वचा में कुछ कड़ापन रहता है। मूत्र कम होता है किन्तु उसमें शुक्लि (Albumin) अथवा निर्मोक (Cast) नहीं रहते। क्षुद्रश्वास के लक्षण अधिक स्पष्ट हो जाते हैं और मुख पर श्यावता (Cyanosis) प्रकट हो जाती है। नाड़ी की गति तीव्र रहती है जो परिश्रम करने पर और भी तीव्र हो जाती है। कभी-कभी नाड़ी की गति अनियमित भी हो जाती है। रक्त-भार कम रहता है। फुफ्फुसतल, फुफ्फुसावरण और हृदयावरण में जल भर जाता है। पैरों में घात (Paralysis, Paraplegia) के लक्षण प्रकट होते हैं।

शुष्क बैरी-बैरी (Dry type of Beri-beri)—

इसमें शाखाओं की वातनाड़ियों का प्रदाह (Peripheral Neuritis) होता है जिससे उनमें गृध्रसी के समान पीड़ा होती है। शाखाओं में मांस-क्षय होता है जिससे वे सूख जाती हैं। पाचन क्रिया ठीक रहती है; किसी किसी को मामूली अग्निमांद्य हो सकता है।

(२)—जानपदिक शोथ; शोथ की महामारी (Epidemic Dropsy)—यह रोग वर्षा ऋतु के अन्तिम भाग में और शरद ऋतु में महामारी के रूप में फैलता है। सन् १८७८-७९ में कलकत्ते में सर्वप्रथम यह रोग फैला था। फिर सन् १९०१ में इसका एक साधारण सा आक्रमण हुआ। सन् १९२१ में इस महामारी का आक्रमण बड़े जोरों से बंगाल, बिहार, उत्तरप्रदेश और रंगून(ब्रह्मदेश)में हुआ जिससे जनता में काफी

१—संज्ञापरिवर्तन (Paraesthesia) के लक्षण—किसी अङ्गविशेष में शून्यता या भारीपन का अनुभव होना, वह अङ्ग कहां है इसका सम्यक् ज्ञान न होना। जब पैरों में यह प्रकार होता है तब चलते समय रोगी को ऐसा प्रतीत होता है जैसे वह रुई के गद्दे पर चल रहा हो।

२—परमस्पर्शज्ञता (Hyperaesthesia) के लक्षण—इस विकार में कई प्रकार की पीड़ा का अनुभव होता है, पीड़ा एक ही स्थान पर रहती है अथवा एक स्थान से दूसरे स्थान को दौड़ती है (Shooting pain), त्वचा के पास हो सकती है अथवा गहरे मांस में। चींटी काटने के समान, चींटियों के चलने के समान, चमक, जलन, गर्म या ठण्डा पदार्थ स्पर्श करने के समान अनुभव, सुई गोंचने के समान पीड़ा—इत्यादि कई प्रकार की पीड़ाओं का अनुभव होता है।

भय व्याप्त हुआ। अभी पिछले ४-५ वर्षों से यह रोग उत्तरप्रदेश में पुनः फैला हुआ है। बहुत दिनों तक इसे शोथयुक्त बैरी बैरी या उसी की जाति का रोग माना जाता रहा किन्तु परीक्षणों ने इस धारणा को गलत सिद्ध कर दिया है।

इसके कारण का पता निश्चित रूप से नहीं लग पाया है। विश्वास किया जाता है कि गर्म और तर जलवायु वाले स्थानों में भुंजिया चावल अधिक दिनों तक रखा जाने से उसमें हिस्टामीन (Histamine) सदृष विष की उत्पत्ति होजाती है। इस प्रकार का विषैला चावल खाने से इस रोग की उत्पत्ति होती है। बहुत से लोगों का मत है कि अनेक व्यापारी सरसों में सत्यानाशी (स्वर्णक्षीरी, भरभण्डा) के बीजों की मिलावट कर देते हैं; इस प्रकार के मिलावट युक्त सरसों से निकले हुए तेल का खाद्यरूप में सेवन करने से इस रोग की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकरण को लेकर उत्तरप्रदेश सरकार ने तेल में मिलावट करने वालों पर कड़ी कार्यवाही की थी।

दूध पीते बच्चों को छोड़कर शेष सभी आयु के लोगों को और विशेषकर जवान व्यक्तियों को यह रोग होता है। एक ही कुटुम्ब के कई व्यक्तियों पर एक ही साथ इस रोग का आक्रमण होता है। प्रायः एक ही दुकान से सामान लेने वाले सभी घरों में यह रोग एक साथ फैलता है। अभी तक ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिला जिससे यह कहा जा सके कि यह रोग एक व्यक्ति से दूसरे को लग सकता है।

लक्षण—एकाध दिन सुस्ती रहने के बाद एकाएक उदर-पीड़ा के साथ वमन और अति-

चित्र नं० ७ जानपदिक शोथ (Epidemic Dropsy) का ज्वर-चार्ट

सार का आक्रमण होता है। दस्त में कफ और कभी-कभी खून भी मिला हुआ होता है। उदर में शूल और मरोड़ काफी रहता है। प्रतिदिन बहुत से दस्त होते हैं। कुछ लोगों को वमन और अतिसार नहीं होते, केवल जी मचलता है। कुछ लोगों को रक्तार्श की शिकायत होजाती है।

शोथ लगभग १ सप्ताह बाद सर्वप्रथम पैरों में प्रकट होकर क्रमशः ऊपर की ओर बढ़ता है। शोथ कड़ा रहता है और ज़ोर से दबाने पर गड्ढा पड़ता है। शोथयुक्त अंगों में हल्के लाल रंग के धब्बे दृष्टिगोचर होते हैं जो दबाने पर अदृष्य होजाते हैं। कुछ लोगों का शोथ जल्दी शान्त होजाता है किन्तु अधिकांश का बहुत दिनों तक रहता है, एक बार शान्त होकर पुनः लौट आने की प्रवृत्ति भी रहती है। फुफ्फुसावरण, हृदयावरण-उदरावरण आदि में जल भर जाने की भी संभावना रहती।

ज्वर लगभग सभी रोगियों को रहता है–९८.६° से ९९.४° तक। प्रायः शाम को आता है और इतने थोड़े समय तक रहता है कि उसकी ओर ध्यान कम जाता है। कुछ रोगियों को अनियमित ज्वर लगातार कई दिनों तक रहता है। फुफ्फुसावरण आदि में जल भर जाने पर ज्वर काफी तीव्र होजाता है।

हृदय में धड़कन और क्षुद्रश्वास के लक्षण होते हैं। किसी-किसी को थोड़ी खांसी की शिकायत हो सकती है। वात नाड़ी प्रदाह के कोई लक्षण इसमें नहीं मिलते।

रोग प्रारम्भ होने के ४-५ माह बाद नेत्रों में भारीपन मालूम होता है, दृष्टि में धुंधलापन आजाता है और प्रकाश के चारों ओर गोल घेरा दिखलायी पड़ता है, किसी-किसी को अनन्त-वात (Glaucoma) हो जाता है।

कुछ रोगियों को मुख (फेफड़ों अथवा आमाशय से), नाक, आन्त्र और अर्शों से रक्तस्राव होता है। आंख में रक्त उतरकर सुर्खी आ जाना और त्वचा में रक्तस्रावी चकत्ते निकलना भी सामान्य है। रक्तप्रदर और गर्भस्राव भी होने के उदाहरण मिलते हैं।

मृत्यु अत्यधिक क्षीणता से, हृदयावरोध से अथवा किसी अन्य व्याधि के उत्पन्न होजाने से होती है।

(३) ब्राइट का रोग या वृक्क प्रदाह (Bright's Disease or Nephritis)–आज से काफी समय पूर्व सन् १८२५ में वृक्कों की विकृति से होने वाले रोग को यह नाम दिया गया था क्योंकि डा० ब्राइट ने इस रोग पर अनुसंधान किया था। किन्तु आगे चलकर यह रोग कई रोगों का समुदाय सिद्ध हुआ। उन पृथक्-पृथक् रोगों का पृथक्-पृथक् नामकरण किया गया और अब ब्राइट का रोग केवल एक ऐतिहासिक तथ्य रह गया है। स्वामी कृष्णानन्द जी ने तीव्र ब्राइट के रोग (Acute Bright's Disease) को वात–श्लासक ज्वर का पर्याय माना है। उसका वर्णन पाश्चात्य-चिकित्सा की पुरानी पुस्तकों के आधार पर नीचे किया जा रहा है।

शीतल वायु के अतिसेवन से, शीत ऋतु में भीगने से, मद्यपान करने के पश्चात् ठण्ड लग जाने से, कई प्रकार के ज्वरादि (आंत्रिक ज्वर, रोमान्तिका रोहिणी, मसूरिका, विषम ज्वर, विसूचिका, पीतज्वर, मस्तिष्कावरण प्रदाह, उपदंश, राजयक्ष्मा, विषमयता आदि) के विषों का दुष्प्रभाव वृक्कों पर पड़ने से, क्षोभकारक (Irritant) विषों के प्रयोग से सगर्भावस्था में वृक्कों से संबंधित रक्तवाहिनियों पर दबाव पड़ने से, अत्यन्त विस्तृत त्वचारोगों के प्रभाव से, बहुत अधिक जल जाने, चोट लगने से अथवा शल्य-कर्मों के दुष्प्रभाव से वृक्कों में प्रदाह होकर इस रोग की उत्पत्ति होती है।

जब शीत लगने से रोग की उत्पत्ति होती है तब आक्रमण तुरन्त होता है, शोथ २४ घंटों में दृष्टिगोचर होजाता है। ज्वरों के बाद रोगोत्पति होने की दशा में लक्षण धीरे-धीरे प्रकट होते हैं। रोगी

क्रमशः पीला पड़ता जाता है और शोथ सर्वप्रथम चेहरे पर अथवा पैरों पर प्रकट होकर धीरे-धीरे प्रसार पाता है। बच्चों को यह रोग आरम्भ होते समय आक्षेप आ सकते हैं। बहुत से लोगों को जाड़ा और कंपकंपी के साथ रोग का आक्रमण होता है। पीठ और कमर में पीड़ा, उत्क्लेद, वमन आदि भी हो सकते हैं। ज्वर के संबंध में कोई नियम नहीं है-बहुत से वयस्कों को ज्वर नहीं रहता जब कि बच्चों को शीत लगने या लोहित ज्वर (Scarlet fever) के कारण आक्रमण होने पर कुछ दिनों तक १०१° से १०३° तक ज्वर रह सकता है। मूत्र की मात्रा कम हो जाती है (४-५ औंस), आपेक्षिक घनत्व (Specific gravity) बढ़ जाता है (१.०२५ या और भी अधिक) रंग हल्के पीले से लेकर साधारण लाल रंग (Porter Colour) तक हो सकता है गहरा चमकदार लाल रंग शायद ही कभी पाया जाता है। रखे रहने पर उसमें बहुत सा तलछट जम जाता है। वृहद्दर्शक यंत्र (Microscope) से देखने पर रक्त कण, उपत्वचा (Epithelium), निर्मोक (Casts) आदि मिलते हैं। शुक्लि (Albumin) बहुत बड़ी मात्रा में मिलती है। शरीर से मिह (Urea) की जितनी मात्रा का निष्क्रमण होना चाहिए उतना नहीं होता किन्तु मूत्र में उसकी मात्रा अपेक्षाकृत अधिक रहती है। रक्तक्षय (Anaemia) के लक्षण प्रारम्भ से ही स्पष्ट भासते हैं। सारे शरीर में शोथ और आन्तरिक अवयवों के आवरणों जैसे फुफ्फुसावरण, हृदयावरण उदरावरण आदि में जलसंचय होसकता है। फुफ्फुसों में भी शोथ हो सकता है नासा रक्तस्राव (Epistaxis) अथवा त्वचा के भीतर रक्तस्राव (लाल-काले चकत्तों की उत्पत्ति) हो सकता है।

नाड़ी कठोर और भरी हुई प्रतीत होती है। हृदय का विस्फार (Dilatation) होता है, अधिक विस्फार होने से अचानक मृत्यु हो सकती है। त्वचा शुष्क रहती है। मूत्रमयता के लक्षण कुछ मामलों में प्रकट होते हैं—कुछ में प्रारम्भ और कुछ में बाद की अवस्थाओं में। नेत्रों में प्रदाह हो सकता है।

इस रोग के रूप में परिस्थितियों के अनुसार काफी विभिन्नता पायी जाती है। ऊपर जो वर्णन किया गया है वह विशेष रूप से शीत लगने और लोहित ज्वर से उत्पन्न रोग का ही है। कुछ रोगियों को केवल ज्वर रहता है, शोथ नहीं होता। ऐसी दशा में मूत्र-परीक्षा के द्वारा ही निदान संभव है। कभी कभी इस रोग का अत्यन्त सौम्य रूप देखने में आता है जो स्वयं अच्छा हो जाता है। आन्त्रिक ज्वर जन्य वृक्कप्रदाह में मूत्रमार्ग से रक्तस्राव (Haematuria) हो सकता है और मूत्रसंस्थान की गड़बड़ी के जोरदार लक्षण प्रकट हो सकते हैं। अत्यन्त जोरदार वृक्क प्रदाह बिना शोथ का भी हो सकता है।

ऊपर दिये गये तीनों रोगों के वर्णन को देख कर कोई भी निस्संकोच कह सकता है कि इनमें से कोई भी वातबलासक ज्वर नहीं कहा जा सकता। बेरी-बेरी में ज्वर नहीं होता और ब्राइट के रोग में भी ज्वर एक निश्चित लक्षण नहीं है यदि रहता भी है तो प्रारम्भ के कुछ ही दिनों में। वातबलासक ज्वर में ज्वर का रहना नितान्त आवश्यक है क्योंकि यह ज्वराधिकार में वर्णित है और इसके वर्णन का आरम्भ ही 'नित्यं मन्दज्वरो' कह कर किया गया है; जिस रोग में नित्यं ही मन्द ज्वर न रहता हो उसे किसी भी दशा में वातबलासक ज्वर की संज्ञा नहीं दी जा सकती। जानपदिक शोथ में अवश्य ही 'नित्यं मन्दज्वरो' सिद्ध होता है किन्तु उसके प्रधान प्रारम्भिक लक्षणों वमन और अतिसार एवं उदरशूल का वातबलासक ज्वर में कहीं उल्लेख नहीं है। ऐसी दशा में हम जानपदिक शोथ को भी वातबलासक ज्वर मानने में असमर्थ हैं। फिर अन्तिम लक्षण कफ-बहुल (श्लेष्म-भूयिष्ठो) बतलाया गया है। वह उक्त तीनों में से किसी एक में भी स्पष्ट लक्षित नहीं होता। फिर 'शूनकः' में 'क' प्रत्यय तुच्छता का बोध कराता है जिससे यह तात्पर्य

निकलता है कि वातबलासक ज्वर में थोड़ा शोथ रहता है। किन्तु उक्त तीनों रोगों में शोथ काफी ज्यादा रहता है।

'शूनकः' का विश्लेषण शूनकः कः करते हुए और का अर्थ सिर लेते हुए शूनकः का अर्थ 'सूजा हुआ सिर' भी लागाया जा सकता है। उस दशा में सभी कुछ एक दम बदल जावेगा।

फिलहाल, जब तक कोई ऐसा प्राचीन ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता जिसमें वातबलासक ज्वर का विस्तृत वर्णन हो तब तक यह विषय अनिर्णीत ही रहेगा—ऐसा प्रतीत होता है।

प्रलेपक ज्वर

प्रलिम्पन्निव गात्राणि घर्मण गौरवेण च।
मन्दज्वरविलेपी च सशीतः स्यात् प्रलेपकः ॥४१॥

भारीपन और पसीने से अङ्गों को लिप्त करने वाला शीतयुक्त मन्द ज्वर 'प्रलेपक ज्वर' है।

वक्तव्य—(३२) यह कफ पित्त प्रधान ज्वर है। यह राजयक्ष्मा, विसर्प और विद्रधि रोगों में अनुबन्ध रूप से रहता है। यह दोपहर के लगभग जाड़ा लगकर या ऐसे ही चढ़ता है और रात्रि के अन्तिम प्रहर में अत्यधिक पसीना देकर उतरता है। राजयक्ष्मा में जब फुफ्फुसों में विवर बनते हैं तब इस ज्वर की उत्पत्ति होती है। तापक्रम अधिक नहीं बढ़ता किन्तु यदि किसी अन्य जाति के कीटाणुओं का संक्रमण और भी हो, जावे तो ज्वर अधिक बढ़ सकता है। ज्वर उतरने के बाद कुछ घंटों तक शरीर का तापक्रम सामान्य से भी कम रहता है। पाश्चात्य चिकित्सक इस ज्वर को हैक्टिक फीवर (Hectic fever) कहते हैं।

आधा शरीर शीतल और आधा उष्ण रहने का कारण

विदग्धेऽन्नरसे देहे श्लेष्मपित्ते व्यवस्थिते।
तेनार्धं शीतलं देहे चार्धं चोष्णं प्रजायते ॥४२॥

जब अन्नरस के विदग्ध होने पर दूषित कफ और पित्त अलग अलग स्थानों पर स्थित होते हैं तब उससे शरीर का आधा भाग शीतल और आधा उष्ण हो जाता है।

हाथ पैर शीतल और शेष शरीर गर्म होने का कारण

काये दुष्टं यदा पित्तं श्लेष्मा चान्ते व्यवस्थितः।
तेनोष्णत्वं शरीरस्य शीतत्वं हस्तपादयोः ॥४३॥

जब शरीर (के मध्य भाग) में दुष्ट पित्त और अन्तिम भाग (हाथ-पैरों) में दुष्ट कफ स्थित होता है तब उससे हाथ-पैर शीतल और (शेष) शरीर उष्ण रहता है।

हाथ-पैर गर्म और शेष शरीर शीतल होने का कारण

काये श्लेष्मा यदा दुष्टः पित्तं चान्ते व्यवस्थितम्।
शीतत्वं तेन गात्राणामुष्णत्वं हस्तपादयोः ॥४४॥

जब शरीर (के मध्य भाग) में दुष्ट कफ और अन्तिम भाग (हाथ-पैरों) मे दुष्ट पित्त स्थित रहता है तब हाथ-पैर शीतल और (शेष) शरीर गर्म रहता है।

वक्तव्य—(३३) ज्वरों में इस प्रकार की दशाऐं कभी कभी मिलती हैं। हाथ पैर शीतल और शेष शरीर गर्म—यह दशा सबसे अधिक मिलती है। इसके विरुद्ध, हाथ-पैर गर्म और शेप शरीर शीतल यह दशा कम मिलती है। ये दोनों दशाएं हृदय के कार्य में विकृति होने के फलस्वरूप रक्तवहन में अनियमितता होने के कारण उत्पन्न होती हैं। यदि इनका शीघ्र उपचार न किया जावे तो हृदयावरोध होकर मृत्यु हो सकती है।

इन्हीं के समान एक दूसरी दशा होती है जिसमें शरीर का दाहिना या बांया आधा भाग गर्म रहता है और दूसरा ठण्डा। आयुर्वेदिक मत से यह दशा एक ओर कफ और दूसरी ओर पित्त के स्थित होने से होती है और एलोपैथी के मत से एक ओर के रक्तप्रवाह में अवरोध उत्पन्न करके उक्त स्थिति को जन्म देता है।

उपर्युक्त सभी स्थितियों में शीतल भाग में गर्मी उत्पन्न करने के उपाय किये जाते हैं। इसके लिये शीतल भाग में कट्फल सदृष क्षोभक (Irritant) पदार्थों द्वारा अवधूलन किया जाता है जिससे कफ शांत होकर अथवा अवरोध दूर होकर रक्तप्रवाह की प्रवृत्ति होती है। साथ ही हृदय

को बल देने वाली औषधि का आभ्यन्तर प्रयोग कराया जाता है जिससे हृदय की रक्षा होती है और परोक्ष रूप से रक्तप्रवाह की प्रवृत्ति होती है।

जाड़ा लगकर और दाह होकर ज्वर चढ़ने उतरने का कारण

त्वक्स्थौ श्लेष्मानिलौ शीतमादौ जनयतो ज्वरे।
तयोः प्रशान्तयोः पित्तमन्ते दाहं करोति च ॥४५॥

ज्वर के प्रारम्भ में त्वचा में स्थित कफ और वात शीत की उत्पत्ति करते हैं और अन्त में उनके शान्त हो जाने पर पित्त दाह की उत्पत्ति करता है।

वक्तव्य—(३४) जब ज्वर तेजी के साथ काफी ऊंचाई तक (१०४° या १०५° तक) बढ़ने लगता है तब ताप की उत्पत्ति करने के लिए त्वचा में स्थित रक्तवाहिनियां संकुचित होती हैं जिससे ठण्ड लगने का अनुभव होता है। इसी के साथ ही पेशियों का संकोच भी होता है जिससे कंपकंपी उत्पन्न होती है, दांत कटकटाते हैं और कभी-कभी मांसपेशियों में ऐंठन भी होती है।

इसी प्रकार जब तेजी के साथ ज्वर उतरता है तथा त्वचा में स्थित रक्तवाहिनियां विस्फारित होती हैं जिससे गर्मी लगने का अनुभव होता है और पसीना निकलता है।

दाह होकर ज्वर चढ़ने और शीत लगकर उतरने का कारण

करोत्यादौ तथा पित्तं त्वक्स्थं दाहमतीव च।
तस्मिन् प्रशान्ते त्वितरौ कुरुतः शीतमंततः ॥४६॥

इसी प्रकार ज्वर के आरम्भ में त्वचा या रस में स्थित पित्त अत्यधिक दाह उत्पन्न करता है और उसके शान्त होने पर अन्य दो (वात और कफ) अन्त में शीत उत्पन्न करते हैं।

उक्त दोनों प्रकारों की साध्यासाध्यता

द्वावेतौ दाहशीतादि ज्वरौ संसर्गजौ स्मृतौ।
दाहपूर्वस्तयोः कष्टः कृच्छ्रसाध्यतमश्च सः ॥४७॥

ये दोनों दाह होकर और शीत लगकर चढ़ने वाले ज्वर संसर्गज (द्वन्द्वज) माने गये हैं (और सभी द्वन्द्वज रोग कृच्छ्रसाध्य माने गए हैं) इन दोनों में दाह होकर चढ़ने वाला ज्वर कष्टदायक और अत्यन्त कृच्छ्रसाध्य होता है।

धातुओं में आश्रय-भेद से ज्वर के लक्षण,

रसस्थ ज्वर

गुरुता हृदयोत्क्लेशः सदनं छर्द्यरोचकौ।
रसस्थे तु ज्वरे लिंगं दैन्यं चास्योपजायते ॥४८॥

भारीपन, जी मचलाना, अवसाद, वमन, अरुचि और दीनता—ये लक्षण रस धातु में स्थित ज्वर के हैं।

रक्तस्थ ज्वर

रक्तनिष्ठीवनं दाहो मोहश्छर्दनविभ्रमौ।
प्रलापः पिडका तृष्णा रक्तप्राप्ते ज्वरे नृणाम् ॥४९॥

थूक में रक्त आना, दाह, मूर्च्छा, वमन, व्याकुलता, प्रलाप, त्वचा में पिडिकाओं की उत्पत्ति और प्यास—ये लक्षण रक्त में स्थित ज्वर के हैं।

मांसस्थ ज्वर

पिण्डिकोद्वेष्टनं तृष्णा सृष्टमूत्रपुरीषता।
ऊष्माऽन्तर्दाहविक्षेपौ ग्लानिः स्यान्मांसगे ज्वरे ॥५०॥

पिण्डलियों में ऐंठन, प्यास, मल-मूत्र की प्रवृत्ति, सन्ताप, अन्तर्दाह, आक्षेप अथवा हाथ पैरों को यहां वहां फैंकना और ग्लानि—ये लक्षण मांसगत ज्वर के हैं।

मेदस्थ ज्वर

भृशं स्वेदस्तृषा मूर्च्छा प्रलापश्छर्दिरेव च।
दौर्गन्ध्यारोचकौ ग्लानिर्मेदःस्थे चासहिष्णुता ॥५१॥

अत्यधिक पसीना, प्यास, मूर्च्छा, प्रलाप, वमन, शरीर में दुर्गन्ध, अरुचि, ग्लानि और चिड़चिड़ापन—ये लक्षण मेद धातु में स्थित ज्वर के हैं।

अस्थिगत ज्वर

भेदोऽस्थ्नां कूजनं श्वासो विरेकश्छर्दिरेव च।
विक्षेपणं च गात्राणामेतदस्थिगते ज्वरे ॥५२॥

हड्डियों में फटने के समान पीड़ा, कांखना, जोर-जोर से श्वास खींचना, अतिसार, वमन और अङ्गों को यहां वहां फैंकना—ये लक्षण अस्तिगत ज्वर के हैं।

मज्जागत ज्वर

तमःप्रवेशनं हिक्का कासः शैत्यं वमिस्तथा ।
अन्तर्दाहो महाश्वासो मर्मच्छेदश्च मज्जगे ॥५३॥

अन्धकार में प्रवेश करने के समान प्रतीत होना, हिचकी, खांसी, शीत लगना, वमन, अन्तर्दाह, महाश्वास एवं मर्म स्थानों में काटने के समान पीड़ा—ये लक्षण मज्जा में स्थित ज्वर में होते हैं।

शुक्रगत ज्वर

मरणं प्राप्नुयात्तत्र शुक्रस्थानगते ज्वरे ।
शेफसः स्तब्धता मोक्षः शुक्रस्य तु विशेषतः ॥५४॥

शुक्रस्थान में ज्वर के स्थित होजाने से मृत्यु होजाती है। इसमें वीर्य नीचे निकलता है और लिंग जड़ होजाता है।

साध्यासाध्यत्व

(रसरक्ताश्रितः साध्यो मांसमेदोगतश्च यः ।
अस्थिमज्जागतः कृच्छ्रः शुक्रस्थस्तु न सिध्यति ॥)

रस, रक्त, मांस और मेद में स्थित ज्वर साध्य, अस्थि और मज्जा में स्थित ज्वर कृच्छ्रसाध्य और शुक्र में स्थित ज्वर असाध्य है।

वक्तव्य--(३५) उक्त वर्गीकरण ज्वर का तीसरे प्रकार का वर्गीकरण है। जिस प्रकार वातादि दोषों के अनुसार ज्वर के ७ प्रकार गिनाये गये हैं, उसी प्रकार रसादि धातुओं में स्थिति के अनुसार भी ज्वर के ७ भेद किये हैं। इन ज्वरों को वातादि ज्वरों से पृथक् नहीं मानना चाहिये। ज्वर वही है, केवल उसके भेद अनेक प्रकार से किये गये हैं जिससे चिकित्सा में सुगमता हो।

प्रारम्भ में 'ज्वरदाः स्यू रसानुगाः' कहकर सभी ज्वरों की स्थिति रस धातु में बतलाई जा चुकी है। अब यहां भिन्न भिन्न धातुओं में ज्वर की स्थिति देखकर परेशान नहीं होना चाहिए। जिस धातु-विशेष पर ज्वर का सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है यहां उसी धातुविशेष में ज्वर की स्थिति मानी गई है।

प्राकृत और वैकृत ज्वर

वर्षाशरद्वसन्तेषु वाताद्यैः प्राकृतः क्रमात् ।
वैकृतोऽन्यः स दुःसाध्यः प्राकृतश्चानिलोद्भवः ॥५५॥

वर्षा, शरद् और वसन्त ऋतुओं में क्रमशः वातज, पित्तज और कफज ज्वर प्राकृत माने गये हैं। इस क्रम से विपरीत वैकृत ज्वर कहलाता है वह कृच्छ्रसाध्य है और प्राकृत वातज्वर भी कृच्छ्रसाध्य है।

प्राकृत ज्वरों का उत्पत्तिक्रम

वर्षासु मारुतो दुष्टः पित्तश्लेष्मान्वितो परम् ।
कुर्यात् पित्तं च शरदि तस्य चानुबलः कफः ॥५६॥
तत्प्रकृत्या विसर्गाच्च तत्र नानशनाद्भयम् ।
कफो वसन्ते तमपि वातपित्तं भवेदनु ॥५७॥

वर्षा ऋतु में पित्त और कफ से युक्त, कुपित वात ज्वर उत्पन्न करता है। पित्त भी कफ से युक्त होकर शरद ऋतु में ज्वर उत्पन्न करता है। पित्त और कफ की प्रकृति ऐसी है कि उसमें अनशन (लंघन) कराने में भय नहीं है। विसर्ग काल[1] होने के कारण भी लंघन से भय नहीं है। कफ वसन्त ऋतु में ज्वर उत्पन्न करता है। उसके साथ भी वात और पित्त का अनुबन्ध रहता है।

वक्तव्य—(३६) प्राकृत ज्वरों में दोष विरुद्ध और ऋतु विरुद्ध उपचार समान होते हैं इसलिये चिकित्सा सरलतापूर्वक हो जाती है। किन्तु वैकृत ज्वरों में दोष-विपरीत चिकित्सा ऋतुचर्या के विपरीत पड़ती है जिससे एक दोष का शमन करने से दूसरे दोष के प्रकोप का भय रहता है इसीलिये इन्हें कष्ट-साध्य कहा है। उदाहरणार्थ, यदि शिशिर ऋतु में पित्तज ज्वर की चिकित्सा करनी पड़े तो पित्त को शान्त करना उतना सरल नहीं होता जितना कि शरद् ऋतु में क्योंकि पित्तनाशक उपचारों से कफ के कुपित होने की संभावना रहती है।

१—वर्ष को २ भागों में बांटा गया है—आदान काल और विसर्गकाल। आदान काल—शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म ऋतुओं को आदान काल कहते हैं। इस काल में सूर्य के बलवान होने से प्राणियों का बल घटता है। विसर्गकाल-वर्षा, शरद् और हेमन्त ऋतुओं को विसर्गकाल कहते हैं। इस काल में चन्द्र के बलवान होने से प्राणियों का बल बढ़ता है।

वर्षा ऋतु में उत्पन्न प्राकृत वातज्वर भी कष्ट-साध्य है क्योंकि—

(१) वातज्वर में लंघन कराने से और भी अधिक वातप्रकोप होता है इसलिये लंघन नहीं कराये जा सकते । कहा भी है—

निरामे वातजे चैव पुराणे क्षयजे ज्वरे ।
लङ्घनं न हितं विद्याच्छमनैस्तानुपाचरेत् ॥
(चरक चिकित्सा)

(२) वर्षा ऋतु में अग्नि मंद रहती है। यद्यपि यह ऋतु विसर्ग काल के अन्तर्गत है किन्तु आदान काल के ठीक पश्चात् पड़ने के कारण उस काल में जो शक्तिक्षय हो चुकता है वह बहुत कुछ अंशों में रहता ही है । कहा भी गया है—आदान दुर्बले देहे पक्त्वा भवति दुर्बलः । स वर्षास्वनिलादीनां दूषणैर्बाध्यते पुनः ॥

(३) वर्षा ऋतु में मौसम की दशा नित्यप्रति बदलती रहती है जिससे चिकित्सा में कठिनाई उत्पन्न होती है।

(४) वात के साथ पित्त और कफ भी कुपित रहते हैं। यह भी एक महान् कठिनाई है।

शरद् ऋतु में उत्पन्न पित्तज्वर में लंघन प्रशस्त है क्योंकि यह ऋतु विसर्ग काल के मध्य में पड़ती है इसलिये इस समय तक आदान काल का दुष्प्रभाव दूर हो चुकता है जिससे रोगी काफी बलवान रहता है और पित्त तथा कफ भी लंघन के द्वारा सरलता पूर्वक शान्त होते हैं । कहा भी है—

कफपित्ते द्रवे धातू सहेते लंघनं महत् ।
आमक्षयादूर्ध्वमतो वायुर्न सहते क्षणम् ॥

वसन्त में उत्पन्न कफज्वर में भी लंघन कराया जा सकता है किन्तु आदान काल होने के कारण निर्भयतापूर्वक नहीं कराया जा सकता ।

इसीलिये उक्त श्लोकों में 'तत्र नानशनाद्भयम्' केवल पित्तज्वर के साथ कहा गया है। इस पद को वात ज्वर और कफ ज्वर के साथ जोड़ना उचित नहीं है।

ज्वरों की प्रवृति और वृद्धि

काले यथास्वं सर्वेषां प्रवृत्तिर्वृद्धि रेव वा ।

अपने अपने अनुरूप काल में सभी (ज्वरों) की प्रवृत्ति (उत्पत्ति) अथवा वृद्धि होती है ।

वक्तव्य-(३७) दोषों का प्रकोपकाल पहले कहा जा चुका है। जिस काल में जिस दोष का प्रकोप होता है उसी काल में उससे उत्पन्न ज्वर की उत्पत्ति या वृद्धि होती है ।

ज्वरों के उपशय और अनुपशय

निदानोक्तानुपशया विपरीतोपशायिता ॥५८॥

ज्वर के जो निदान (उत्पादक और व्यंजक कारण) बतलाये जाचुके हैं वे सभी अनुपशय है। उनके विपरीत (औषध आहार और विहार) उपशमन करने वाले हैं।

ज्वर के अन्तर्वेग और बहिर्वेग के लक्षण

अन्तर्दाहोऽधिकस्तृष्णा प्रलापः श्वसनं भ्रमः ।
सन्ध्यस्थिशूलमस्वेदो दोषवर्चोविनिग्रहः ॥५९॥
अन्तर्वेगस्य लिंगानि ज्वरस्यैतानि लक्षयेत् ।
सन्तापो ह्यधिको बाह्यस्तृष्णादीनां च मार्दवम् ॥६०॥
बहिर्वेगस्य लिंगानि सुखसाध्यत्वमेव च ।

शरीर के भीतरी अवयवों में दाह, अधिक प्यास, प्रलाप, श्वास फूलना, चक्कर आना, सन्धियों और अस्थियों में शूल, पसीना न आना तथा दोषों और मल के निकलने में रुकावट होना ये अन्तर्वेग ज्वर के लक्षण समझना चाहिये।

बाहिरी सन्ताप कम होना और तृष्णा कम होना और तृष्णा आदि लक्षणों का सौम्य होना बहिर्वेग ज्वर के लक्षण हैं। ये ही लक्षण सुखसाध्यता के सूचक हैं।

आम ज्वर के लक्षण

लालाप्रसेको हृल्लासहृदयाशुद्ध्यरोचकाः ॥६१॥
तन्द्रालस्याविपाकास्य वैरस्यं गुरुगात्रता ।
क्षुन्नाशो बहुमूत्रत्वं स्तब्धता बलवाञ्ज्वरः ॥६२॥
आमज्वरस्य लिङ्गानि न दद्यात्तत्र भेषजम् ।
भेषजं ह्यामदोषस्य भूयो ज्वलयति ज्वरम् ॥६३॥

मुख में लालास्राव की अधिक प्रवृत्ति, जी मचलाना, हृदय में भारीपन, अरुचि, तन्द्रा, आलस्य, खाये हुए अन्न या दोषों का परिपाक न होना, मुंह का स्वाद ठीक न

रहना, अंगों में भारीपन, क्षुधानाश, बारम्बार मूत्रत्याग होना, शरीर में जड़ता या जकड़ाहट और ज्वर—ये आम ज्वर के लक्षण हैं। ऐसी दशा में औषध नहीं देना चाहिये। दोष की आमावस्था में औषधि स्वयं ज्वर को प्रज्वलित करती है।

पाच्यमान ज्वर के लक्षण

ज्वरवेगोऽधिकस्तृष्णा प्रलापः श्वसनं भ्रमः।
मलप्रवृत्तिरुत्क्लेशः पच्यमानस्य लक्षणम् ॥६४॥

ज्वर का वेग तीव्र होना, अधिक प्यास लगना, प्रलाप, श्वास फूलना, चक्कर आना, मल (मूत्र, स्वेद, कफ, नासामल आदि) की प्रवृत्ति (रुकावट दूर होना), और जी मचलाना—ये पच्यमान ज्वर के लक्षण हैं।

निराम ज्वर के लक्षण

क्षुत्क्षामता लघुत्वं च गात्राणां ज्वरमार्दवम्।
दोषप्रवृत्तिरष्टाहो निरामज्वर लक्षणम् ॥६५॥

क्षुधा लगना, कृशता (अथवा भूख से व्याकुल होना), अंगों में हल्कापन, ज्वर का सौम्य होना, दोषों की प्रवृत्ति (रुकावट दूर होना) और आठवां दिन—ये निराम ज्वर के लक्षण हैं।

वक्तव्य—(३८) 'आठवां दिन' कहने का तात्पर्य यह है कि इतने दिनों में सामता के लक्षण दूर होकर निरामता के लक्षण प्रकट हो जाते हैं। यदि किसी कारणवश निरामता के लक्षण प्रकट न भी हों तो इससे अधिक समय तक प्रतीक्षा न करके औषधि देना प्रारम्भ करें। आम ज्वर में औषधि देने का निषेध किया गया है और अधिक दिनों तक रोगी को औषधि बिना दिये रखना उचित नहीं है इस लिये यह कह दिया गया है कि यदि आठवें दिन तक भी निरामता के लक्षण प्रकट न हों तो भी ज्वर को निराम मान कर चिकित्सा में प्रवृत्त होना चाहिये।

अपक्व रसधातु को आम कहते हैं। लगभग सभी रोगों को ३ अवस्थाएँ होती हैं—साम, पच्यमान और निराम। साम अवस्था को कहीं कहीं आम भी कहा गया है। ये तीनों अवस्थाएं एक के बाद एक होती हैं। प्रारम्भ में सामावस्था रहती है। इस अवस्था में दोष अपक्व रस धातु में मिलकर सारे शरीर में भ्रमण करते हैं जिससे स्रोतों में अवरोध, स्वेद मल आदि का विनिग्रह, अंगों में जड़ता, पीड़ा आदि एवं मुख में लाला वृद्धि, अरुचि, उत्क्लेद आदि लक्षण होते हैं। इस अवस्था में रोग की वृद्धि होती रहती है जिससे सामान्य औषधियों का कोई प्रभाव नहीं होता और तीव्र औषधियों से हानि की संभावना रहती है। यही कारण है जो इस अवस्था में औषधि देने का निषेध किया गया है। इस अवस्था में लंघन द्वारा रोग की वृद्धि को काबू में रखना ही प्रशस्त माना गया है।

जब रोग अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकता है तब उसका घटना प्रारम्भ होता है। इसी दशा को पच्यमान अवस्था कहा गया है। इस अवस्था में अपक्व रस धातु का दोषों से पृथक्करण प्रारम्भ होता है जिससे स्रोतों का अवरोध दूर होता है एवं मल-मूत्र स्वेदादि की प्रवृत्ति होना प्रारम्भ होता है।

जब अपक्व रस धातु दोषों से पृथक् होकर पच चुकता है तब निरामावस्था प्रारम्भ होती है। इस दशा में समस्त अवरोध दूर हो जाते हैं, दोष भी स्वतंत्र होकर निकलने लगते हैं जिससे शरीर में हल्कापन प्रतीत होता है और रोग का बल कम हो जाता है। स्थानभ्रष्ट अग्नि अपने स्थान की ओर लौटती है जिससे क्षुधा की उत्पत्ति होती है। इस अवस्था में दी गई औषधि सम्यक् रीति से लाभ पहुँचाती है।

ज्वर की साध्यता के लक्षण

बलवत्स्वल्पदोषेषु ज्वरः साध्योऽनुपद्रवः।

बलवान् और अल्प दोष युक्त रोगियों का ज्वर यदि उपद्रव रहित हो तो साध्य होता है।

ज्वर की असाध्यता के लक्षण

हेतुभिर्बहुभिर्जातो बलिभिर्बहुलक्षणः ॥६६॥
ज्वरः प्राणान्तकृद्यश्च शीघ्रमिन्द्रियनाशनः।
ज्वरः क्षीणस्य शूनस्य गम्भीरो दैर्घरात्रिकः ॥६७॥

असाध्यो बलवान् यश्च केशसीमन्तकृज्ज्वरः ।
गम्भीरस्तु ज्वरो ज्ञेयो ह्यन्तर्दाहेन तृष्णया ॥६८॥
आनद्धत्वेन चात्यर्थं श्वासकासोद्गमेन च ।
आरम्भाद्विषमो यस्तु यश्च वा दैर्घरात्रिकः ॥६९॥
क्षीणस्य चातिरूक्षस्य गम्भीरो यस्य हन्ति तम् ।
विसंज्ञस्ताम्यते यस्तु शेते निपतितोऽपि वा ॥७०॥
शीतार्दितोऽन्तरुष्णश्च ज्वरेण म्रियते नरः ।
यो हृष्टरोमा रक्ताक्षो हृदि संघातशूलवान् ॥७१॥
वक्त्रेण चैवोच्छ्वसिति तं ज्वरो हन्ति मानवम् ।
हिक्काश्वासतृषायुक्तं मूढं विभ्रान्तलोचनम् ॥७२॥
सन्ततोच्छ्वासिनं क्षीणं नरं क्षपयति ज्वरः ।
हतप्रभेन्द्रियं क्षीणमरोचकनिपीडितम् ॥७३॥
गम्भीर तीक्ष्णवेगार्तं ज्वरितं परिवर्जयेत् ।

बहुत से बलवान कारणों से उत्पन्न, बहुत से लक्षणों वाला और इन्द्रियों (के व्यापार) को नष्ट करने वाला ज्वर मृत्युकारक होता है । क्षीण एवं शोथी व्यक्ति का, बहुत दिनों का गंभीर एवं बलवान ज्वर जिसमें रोगी के सिर के बालों में अपने आप ही मांग सी बन गयी हो, असाध्य होता है । अन्तर्दाह, प्यास, अत्यधिक श्वास-कास से युक्त एवं जकड़ाहट (अथवा दोषों और मलों का अवरोध) से युक्त ज्वर को गंभीर मानना चाहिए । जो आरम्भ से ही विषम हो अथवा जो बहुत दिनों का हो ऐसा गंभीर ज्वर तथा अत्यन्त रूक्ष और क्षीण मनुष्य का गंभीर ज्वर रोगी को मार डालता है । जो संज्ञाहीन हो, जो क्षीण अथवा थकित (Exhausted) हो, जो पड़ा ही रहता हो अथवा गिर पड़ता हो जो शीत से अत्यधिक दुखी हो किन्तु भीतर उष्णता(दाह) ऐसा रोगी ज्वर से मर जाता है । जिसके रोम खड़े हों, नेत्र लाल हों, जिसके हृदय में कफ के कारण अथवा काटने के समान अथवा कई प्रकार की पीड़ा हो और मुंह से श्वास छोड़ता हो उस रोगी को ज्वर मार डालता है । हिचकी, श्वासकष्ट और प्यास से युक्त, मूर्छित, जिसकी आंखें यहां वहां गति करती हों और जो लगातार श्वास को बाहर की ओर ही छोड़ता हो ऐसे क्षीण रोगी को ज्वर नष्ट कर देता है । जिसकी प्रभा (कान्ति) नष्ट हो चुकी हो, जो अत्यन्त क्षीण हो और अरुचि से पीड़ित हो एवं जिसे तीक्ष्ण वेगयुक्त गंभीर ज्वर हो ऐसे रोगी को छोड़ देना चाहिए ।

वक्तव्य—(३६)-यहां ज्वर की असाध्यता के जो लक्षण बतलाये गये हैं, उन्हें जो वैद्य सदा स्मरण रखेगा वह कभी धोखा नहीं खा सकता । यहां भी और अनेक स्थलों पर असाध्य रोगियों को छोड़ देने का जो निर्देश किया गया है वह केवल असाध्यता का पर्याय ही समझना चाहिये । आखिरी सांस तक रोगी के प्राणों को बचाने का प्रयत्न करना हर चिकित्सक का कर्तव्य है । असाध्यता के भय से चिकित्सा कार्य से विमुख होना जहां कायरता एवं अयोग्यता का सूचक है वहां अपने यश की रक्षा न करना भी भयंकर मूर्खता है, इसलिये चिकित्सक का कर्तव्य है कि रोगी के अभिभावकों को असाध्यता की सूचना देकर पुनः यह कहकर कि चिकित्सा से शायद कुछ लाभ हो पुनः उनकी अनुमति लेकर चिकित्सा करे । ऐसे मामलों में रोगी के संबन्धियों को रोगी के अच्छे हो जाने का आश्वासन कभी न देना चाहिये और यदि उन लोगों की आर्थिक दशा खराब हो तो अत्यन्त क़ीमती औषधियों का प्रयोग न करना चाहिए । असाध्यता संबंधी सभी बातचीत एकान्त में ही करें, रोगी के पास हरगिज नहीं । रोगी को तो अच्छे हो जाने का ही आश्वासन देना चाहिये । भयंकर असाध्य लक्षणों से युक्त रोगी भी कभी-कभी अच्छे होजाते हैं । स्वयं मेरे हाथों इस प्रकार के कई रोगी अच्छे हुए हैं । इसलिये हिम्मत न हारते हुए धैर्य के साथ रोग और मृत्यु से लड़ना चाहिए । मृत्यु से लड़ने का अर्थ रोगी के हृदय, मस्तिष्क, फेफड़ों आदि की क्रिया को चालू रखने से है । असाध्य अवस्थाओं में केवल रोग की चिकित्सा मर्यादा नहीं होती, रोगी के प्राणों को रोककर रखना सबसे अधिक महत्व का कार्य होता है । इसमें सफलता मिलने पर ही रोग-शान्ति का अवसर मिल पाता है ।

कुछ चिकित्सक स्पष्ट कह दिया करते हैं कि यह रोगी इतने घण्टों या इतने दिनों में मर जावेगा । इतनी स्पष्ट बात कहने वाले बड़े योग्य और अनुभवी एवं आत्मविश्वासी हुआ करते हैं और उनकी

वाणी प्रायः हमेशा ही ध्रुव सत्य सिद्ध हुआ करती है। लोग ऐसे चिकित्सकों के अनुभव और ज्ञान की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा किया करते हैं। किन्तु ईश्वरीय चक्र बड़ा विचित्र होता है, हर नियम के अपवाद हुआ करते हैं। ऐसे कई मामले सुनने को मिले हैं कि किसी बड़े चिकित्सक ने किसी रोगी की मृत्यु की भविष्यवाणी कर दी और भाग्यवश किसी प्रकार वह रोगी बच गया। अच्छे हो चुकने के बाद रोगी ने खचाखच भीड़ से भरे हुए चिकित्सालय में पहुंच कर चिकित्सक महोदय को उनकी भविष्यवाणी की याद दिलाते हुए कहा कि आपने तो ऐसा कह ही दिया था किन्तु मैं अमुक चिकित्सक से इलाज करा कर बच गया। अब आप ही सोचिये कि उस समय उन चिकित्सक महोदय की क्या दशा हुई होगी। इसी प्रकार साध्यता की दशाओं में रोगी के चंगे होने के सम्बन्ध में भी भविष्यवाणी करते समय अत्यन्त सावधान रहना चाहिये। साध्य प्रतीत होने वाले सभी रोगी साध्य नहीं होते और असाध्य दीखने वाले सभी रोगी असाध्य नहीं हुआ करते। इसलिये जब भी रोगी या उसके संबंधी प्रश्न करें कि यह रोग अच्छा होगा या नहीं अथवा कितने दिनों में ठीक होगा तब यश चाहने वाले चिकित्सक को बड़ी सावधानी के साथ उत्तर देना चाहिये, अधिक स्पष्टता से बचना चाहिये। असाध्यता की दशा में कहना चाहिये कि रोग अत्यन्त भयंकर है अथवा रोगी खतरे में है। स्पष्ट रूप से कभी न कहे कि रोगी मर जावेगा।

ज्वर मोक्ष के लक्षण

दाहः स्वेदो भ्रमस्तृष्णा कम्पविड्भिद संज्ञता।
कूजनं चास्यवैगन्ध्यमाकृतिर्ज्वरमोक्षणे ॥७४॥

दाह होना, पसीना आना, चक्कर आना, प्यास लगना शरीर कांपना, दस्त होना, संज्ञाहीनता, कांखना और मुंह की दुर्गन्ध का नष्ट होजाना—ये लक्षण ज्वर उतरते समय होते हैं।

वक्तव्य—(४०) कुछ आचार्यों ने 'आस्यवैगन्ध्यम्' का अर्थ मुख से दुर्गन्ध आना किया है जो युक्त नहीं है। 'आस्यवैगन्ध्यम्' का एक ही स्पष्ट और सीधा-सादा अर्थ निकलता है—'मुंह में गन्ध न रहना' कई प्रकार के ज्वरों में रोगी के मुख और शरीर से अप्रिय गंध निकला करती है। ज्वर मोक्ष के समय पर वह गंध नहीं रहती।

ज्वर का मोक्ष २ प्रकार होता है-(१) दारुण (Fall by Crysis) और (२) सौम्य (Fall by Lysis)।

दारुण मोक्ष विषम ज्वरों और कई प्रकार के सन्निपातों में होता है। इसमें उक्त सभी लक्षण मिलते हैं। दाह होकर पसीना निकलना आरम्भ होता है और ताप तेजी से घटकर सामान्य अथवा सामान्य से भी कम होजाता है, किसी किसी को अतिसार भी होता है। इस प्रकार का ज्वरमोक्ष कभी कभी प्राण मोक्ष भी करा देता है क्योंकि इसके साथ ही भयङ्कर रूप से शक्तिपात होता है। इसलिए ऐसे अवसरों पर चिकित्सक को सावधानी के साथ रोगी की रक्षा करनी चाहिये। दारुण मोक्ष में लगभग एक घण्टा अथवा इससे भी कम समय लगता है। इससे कुछ ही देर बाद रोगी शरीर में हल्कापन और स्फूर्ति का अनुभव करता है।

सौम्य मोक्ष अत्यन्त धीरे-धीरे होता है—कई दिनों में ताप क्रमशः घटता हुआ सामान्य स्थिति पर आजाता है। इसमें उक्त लक्षण अस्पष्ट या अनुपस्थित रहते हैं। इस प्रकार मोक्ष आंत्रिक ज्वर में सबसे अधिक स्पष्ट रूप में मिलता है।

ज्वर मुक्त के लक्षण

स्वेदो लघुत्वं शिरसः कण्डू पाको मुखस्य च।
क्षवथुश्चान्नलिप्सा च ज्वरमुक्तस्य लक्षणम् ॥७५॥

पसीना निकलना, सिर में हल्कापन, खुजलाहट, मुख पाक (मुख के आस पास फुन्सियां होना), छींक आना और भोजन की इच्छा होना—ये लक्षण ज्वर छूट जाने पर होते हैं।

वक्तव्य—(४१) मुख के आस-पास ओठों पर फुंसियां (Herpes Labialis) विशेष रूप से विषम ज्वर, फुफ्फुसखण्डप्रदाह, मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर और आमाशय प्रदाह में दृष्टिगोचर होती हैं। अधिक

तर इनकी उत्पत्ति रोग शान्ति के समय पर ही होती है किन्तु कुछ मामलों में ये रोग के प्रारम्भ में भी मिल सकती हैं। इसलिये इन्हें ज्वरमुक्ति का लक्षण तभी मानना चाहिये जब उक्त अन्य लक्षण भी उपस्थित हों, अन्यथा नहीं। इन फुन्सियों का रंग सफेद रहता है, जड़-किंचित लाल रहती है, आकार में सरसों के बराबर से मसूर के बराबर तक रहती है। सामान्य भाषा में इन्हें 'बुखार का मूत जाना' कहते हैं।

ज्वर उतरते समय अत्यन्त जोरों से पसीना आ सकता है किन्तु ज्वर छूट जाने पर सामान्य स्वस्थ मनुष्यों को जिस प्रकार स्वेद की प्रवृत्ति होती है उसी प्रकार साधारण पसीना आता है।

पाश्चात्य तंत्र में ज्वरों का वर्गीकरण उनके विशेष लक्षणों, उत्पादक जीवाणुओं और प्रभावित अङ्गों के आधार पर किया गया है। उनके संक्षिप्त लक्षण नीचे दिये जाते हैं—

(१) विषम ज्वर, मलेरिया (Malaria)–इसका वर्णन विषम ज्वर के प्रकरण में हो चुका।

(२) कालमेही ज्वर, विषमज्वरीय कालमेह—(Blackwater Fever, Malarial Haemoglo-

चित्र नं. ८ कालमेही ज्वर (Black-water Fever) के दो चार्ट
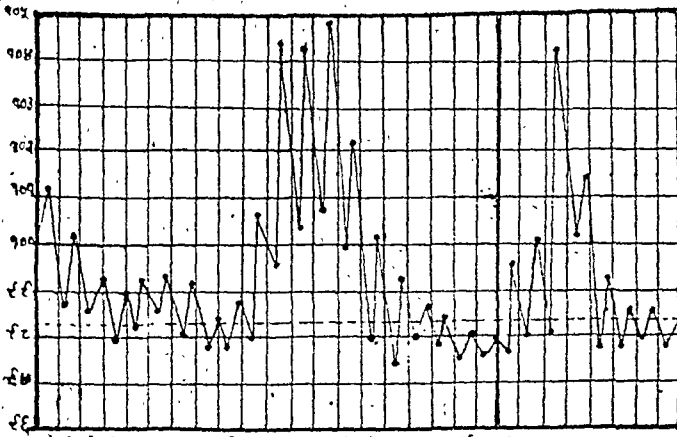
binuria)—यह ज्वर उन स्थानों में पाया जाता है जहां गंभीर तृतीय विषम ज्वर पाया जाता है। इसलिए अधिकांश रोगियों में विषम-ज्वर का पूर्व इतिहास मिलता है। इसलिये विषमज्वर अथवा किनीन का दुरुपयोग इसकी उत्पत्ति के कारण माने जाते हैं परन्तु निश्चित कारण का ज्ञान अभी तक नहीं हुआ।

लक्षण—प्रारम्भ में विषम ज्वर के समान ज्वर के आक्रमण होते हैं जिनके साथ पीड़ायुक्त यकृत-वृद्धि, हल्का पाण्डु(Slight Jaundice)गहरे रंग का थोड़ा मूत्र आना, सारे शरीर में पीड़ा, लगातार रहने वाला सिरदर्द, जीभ पर मैल की तह और मलावरोध आदि लक्षण होते। (पूर्वरूप Pre-blackwater state)।

रोग का आक्रमण अधिकतर किनीन की मात्रा लेने के बाद तीव्र ज्वर (१०४°–१०५°) के साथ होता है, शीत बहुत अधिक लगती है,अवसाद होता है और यकृत प्लीहा तथा वृक्कों में पीड़ा होती है। इसके बाद जब रोगी पेशाब करता है तब मूत्र थोड़ा और कालापन लिये हुये लाल रङ्ग का रहता है ज्वर अनिश्चित काल तक रहता है, बीच-बीच में घटना बढ़ना चालू रहता है और कभी-कभी बहुत अधिक पसीना देकर उतर भी जाता है परन्तु दूसरे दिन पुनः चढ़ आता है।

ज्वर उतरने के बाद मूत्र का रंग बहुत कुछ साफ हो जाता है और मात्रा भी बढ़ जाती है किन्तु पुनः ज्वर आने पर फिर वही हाल हो जाता है। कभी कभी मूत्र का रंग एकदम काला होजाता है। यकृत और प्लीहा ज्वरावस्था में बढ़ जाती हैं और ज्वर उतरने पर घट जाती हैं। ज्वर की अवस्था में पाण्डुता भी बढ़ जाती है, पित्त-वमन और पित्तातिसार होते हैं। किसी किसी को मलावरोध रहता है। ज्वरावस्था में हिक्का, उदर में पीड़ा, यकृत, प्लीहा और वृक्कों में पीड़ा आदि लक्षण भी होते हैं। रक्तक्षय जोरों के साथ होता है।

सौम्य प्रकार में मूत्र गहरे पीले वर्ण का कुछ लालिमायुक्त रहता है, ज्वर २-३ दिन रहता है और पुनः आक्रमण नहीं होता। सामान्य प्रकार में

४-५ दिनों तक ज्वर रहता है, नित्य घटता बढ़ता है किन्तु इस काल में पूर्णतया उतरता नहीं, थोड़ा-बहुत ज्वर अवश्य बना रहता है। तीव्र प्रकार अधिकतर मारक होता है। इसमें ज्वर तीव्र रहता है जो बार-बार चढ़ता उतरता है परन्तु पूर्णतया नहीं उतरता। मूत्र थोड़ा होता है या नहीं भी होता। अवसाद अत्यधिक होता है, उदर पीड़ा, हिक्का और पाण्डु तथा मूर्च्छा-प्रलाप आदि उपद्रव होते हैं।

मृत्यु अत्यधिक रक्तक्षय से, अवसाद से, मूर्च्छा से, आंतों या आमाशय से अचानक रक्तस्राव होने से, मूत्रावरोध से और कभी-कभी अति तीव्र ज्वर (Hyper pyrexia) से होती है। बारम्बार हिक्का आना एक अरिष्ट लक्षण है।

(३) काल-ज्वर (Kala-azar, leishmaniasis)—

भारतवर्ष में यह ज्वर आसाम, बंगाल, बिहार, उड़ीसा, मद्रास और उत्तर प्रदेश में पाया जाता है। विदेशों में चीन, उत्तरी अफ्रीका, दक्षिणी यूरोप और दक्षिणी अमेरिका में पाया जाता है। इसकी उत्पत्ति लीशमैन डोनोवन के कायरूपीय जीवाणु (Leishmania-donovani Protozoa) के द्वारा होती है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि मरु-मक्षिका (Sand-fly) इसके जीवाणुओं का वहन करती है और उसके दंश से ये जीवाणु मानव शरीर में प्रविष्ट होकर ज्वरोत्पत्ति करते हैं। चयकाल अनिश्चित है—१० दिन से १८ मास तक।
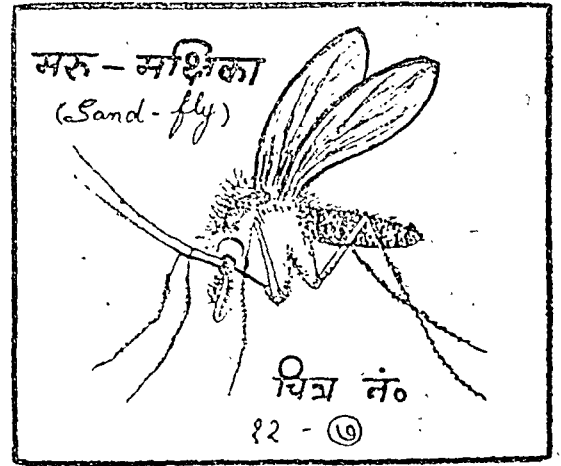
लक्षण—रोग का प्रारम्भ नीचे लिखे प्रकारों में से किसी भी एक प्रकार से होता है—

(१) तीव्र अथवा साधारण सन्तत ज्वर बहुत हद तक आन्त्रिक ज्वर के समान।
(२) तीव्र अन्येद्युष्क ज्वर
(३) सामान्य अन्येद्युष्क ज्वर
(४) ज्वर प्रायः नहीं रहता किन्तु यकृत और प्लीहा की वृद्धि होती है।
(५) अतिसार और प्रवाहिका, कभी-कभी हल्का ज्वर, बाद की दशा में पैरों में शोथ।

अधिकांश मामलों में आन्त्रिक ज्वर के समान तीव्र ज्वर के साथ आक्रमण होता है। कुछ मामलों
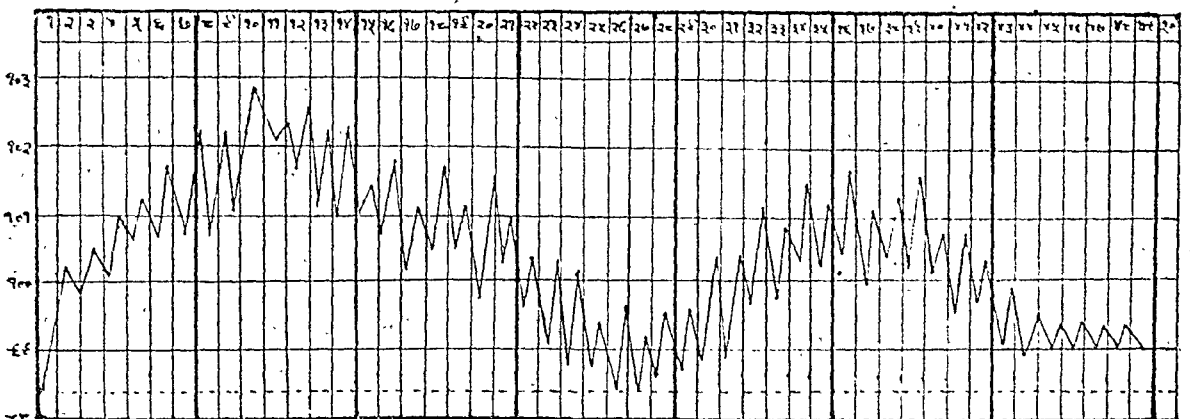
चित्र नं० ८ कालज्वर (Kala-azar) का चार्ट तीव्र प्रकार ज्वर का रूप आन्त्रिक (Typhoid) ज्वर के समान

में प्रारम्भ में वास्तव में आन्त्रिक ज्वर अथवा गौण आन्त्रिक ज्वर (Para-typhoid fever) हो सकता है जिसके ३-४ सप्ताह बाद ज्वरमोक्ष होकर लगभग १ सप्ताह तक ज्वरमुक्तावस्था रहती है परन्तु
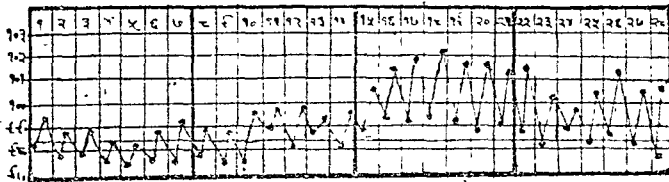
चित्र नं. १० काल-ज्वर (Kala-azar) का चार्ट सौम्य प्रकार

फिर पुनराक्रमण के समान ज्वर का आक्रमण हो जाता है। फिर अनियमित सन्तत या अन्येद्युष्क ज्वर रहने लगता है। अन्येद्युष्क प्रकार में ज्वर का समय निश्चित नहीं रहता। कभी कभी सतत ज्वर भी रह सकता है।

बीच में ज्वर कुछ दिनों के लिए शान्त हो जाता है अथवा इतना कम हो जाता है कि रोगी उसका अनुभव नहीं कर पाता। परन्तु कुछ दिनों बाद पुनः ज्वर का आक्रमण हो जाता है। यही क्रम चलता रहता है और रोगी कमजोर होता जाता है। प्रायः ज्यों-ज्यों ज्वर पुराना होता जाता है त्यों-त्यों सौम्य होता जाता है किन्तु कभी भी तीव्र ज्वर का आक्रमण हो सकता है जिससे मृत्यु तक हो सकती है।

यकृत और प्लीहा की निरन्तर वृद्धि होती है। कुछ मामलों में ज्वर के साथ यकृत और प्लीहा घट जाती है किंतु अधिकांश में ऐसा नहीं होता। रोगी दुबला होता जाता है किन्तु कार्यक्षमता रहती है। ज्वर होते हुए भी रोगी अपना धन्धा चालू रख सकता है। क्षुधा अच्छी रहती है (विषम ज्वर से विभेदक चिह्न), जीभ साफ रहती है किन्तु पाचन-शक्ति ठीक नहीं रहती, अतिसार और प्रवाहिका के आक्रमण होते रहते हैं। स्त्रियों का मासिक धर्म बन्द हो जाता है किन्तु रुग्णावस्था में गर्भ रह जाना और स्वस्थ बालक का जन्म होना भी सम्भव है।

यदि ६ महीने या साल भर चिकित्सा न हो तो यकृत और प्लीहा बढ़ जाने से उदर बढ़ जाता है। जलोदर भी हो जाता है जिससे पेट और भी अधिक बढ़ जाता है। उदर पर शिरायें उभरी हुई दिखाई देती हैं। रोगी अत्यन्त क्षीण और रूक्ष हो जाता है, अंगों में वली (झुर्रियां) उत्पन्न हो जाती हैं किंतु पैरों में शोथ रहता है। प्लीहा कठोर और नाभि तक बढ़ी हुई मिलती है, उसमें पीड़ा प्रायः नहीं होती किन्तु कभी-कभी अचानक शूल हो सकता है। त्वचा में कालापन आ जाता है जो चेहरे, पेट और हाथ-पैरों पर अधिक दिखाई देता है। सिर के बाल झड़ जाते हैं, जो थोड़े से बचते हैं वे रूखे, खुरदरे और भंगुर (टूटने वाले) होते हैं। त्वचा में कई प्रकार के फोड़े फुंसी निकलते हैं और खुजलाहट होती है। बहुत रोगियों को खांसी भी आती है।
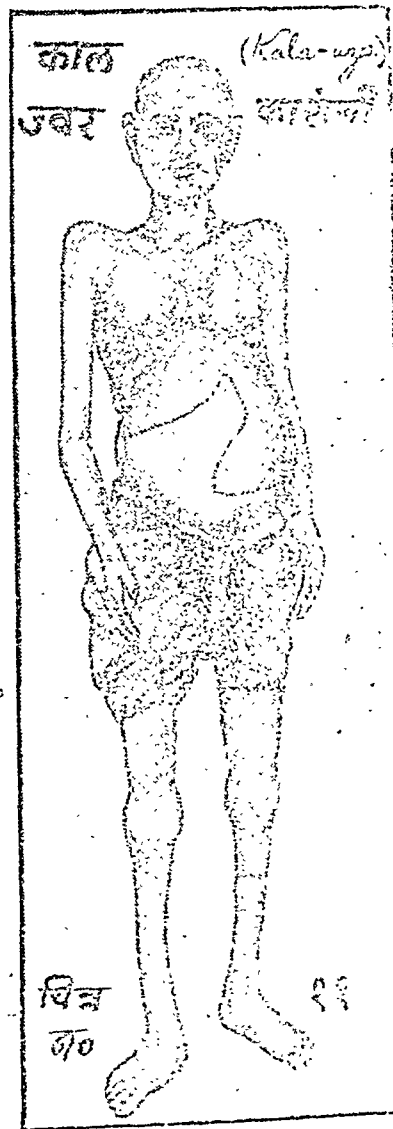
काल ज्वर (Kala-azar)
चित्र नं. ११

जीर्ण दशा में हृदय का विस्फार हो जाता है, रक्तभार कम हो जाता है और नाड़ी तीव्र गति से

चलती। शरीर के किसी भी भाग से रक्तस्राव होने की प्रवृत्ति रहती है (रक्तपित्त)। कुछ मामलों में और विशेष रूप से चीनदेशीय काल-ज्वर में गले की लसिका-ग्रंथियों की वृद्धि हो जाती है।

शिशुओं पर इस रोग का आक्रमण अधिक तीव्र होता है। लगभग १ से २ माह तक अनियमित ज्वर, फिर कुछ दिनों तक अन्येद्युष्क ज्वर और अन्त में सन्तत ज्वर आता है। अत्यधिक शोष, रक्तक्षय, वमन, अतिसार और शोथ होते हैं। प्लीहा बढ़ती है किन्तु यकृत अधिकतर नहीं बढ़ता। तीव्र प्रकार से १-२ माह में मृत्यु हो सकती है किन्तु चिरकारी प्रकार लम्बे समय तक चलता है और चिकित्सा से रोगोपशम होने की सम्भावना रहती है। कुत्तों को भी यह रोग होता है।

यदि चिकित्सा शीघ्र ही प्रारम्भ करदी जावे तो अधिकांश रोगी बच जाते हैं। देर से चिकित्सा होने पर स्वास्थ्य लाभ होने की सम्भावना कम रहती है। श्वेतकायाणूत्कर्ष के बिना पूयोत्पत्ति, फुफ्फुस-खण्ड प्रदाह, तीव्रप्रवाहिका, जलोदर और त्वचान्तर्गत रक्तस्राव (petechial Haemorrhage) अरिष्ट लक्षण हैं।

(४) तन्द्रिक ज्वर (Sleeping Sickness, Trypanosomiasis)—

तर्कटितनु ज्वर—यह व्याधि अफ्रिका के कुछ भागों में पायी जाती है; भारतवर्ष में नहीं होती इसकी उत्पत्ति ट्रिपनोसोमा गैम्बीन्ज़ अथवा रोडेसीन्ज़ (Trypanosoma Gambiense or Rhodesiense नामक कीटाणु (protozoa) के द्वारा होती है। उक्त कायाणु 'टसी-टसी' (Tse-tse) नामक मक्खी के दंश द्वारा मानव शरीर में प्रविष्ट होते हैं और लसिका ग्रंथियों एवं सुषुम्ना द्रव में पाये जाते हैं।
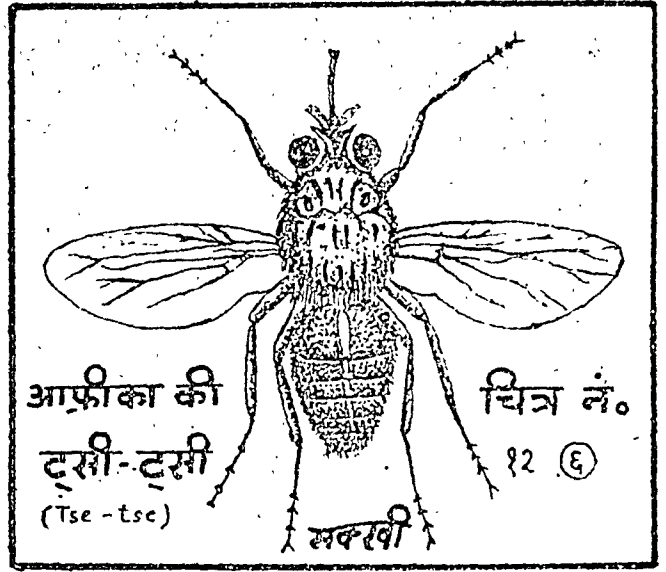
रोग प्रारंभ होते ही अचानक अनियमित सन्तत या अन्येद्युष्क ज्वर आता है जो बीच बीच में कुछ दिनों के लिये शान्त होकर पुनः बार-बार आक्रमण करता है। लसिका ग्रंथियां और प्लीहा में शोथ हो जाता है किन्तु पीड़ा नहीं होती और पाक भी नहीं होता। सिर दर्द बढ़ता चला जाता है तथा जीभ और कभी कभी हाथों में भी ऐंठन (Tremores) होती है। ज्वर प्रारम्भ होने के कई मास बाद तन्द्रा की अवस्था प्रारम्भ होती है जो कि क्रमशः बढ़ती जाती है। इस अवस्था में नाड़ी कमजोर रहती है और रोगी तन्द्रा अथवा निद्रा की अवस्था में पड़ा रहता है। इस समय तक वह अत्यन्त क्षीण हो चुकता है।

मृत्यु अत्यन्त क्षीणता से अथवा अन्य किसी रोग की उत्पत्ति हो जाने से होती है। यदि प्रारंभिक लक्षण प्रकट होते ही चिकित्सा[1] प्रारम्भ कर दी जावे तो रोग सुखसाध्य है।

[1] इस रोग की चिकित्सा मल्ल-घटित औषधियों से की जाती है। ऐलोपैथी में मल्ल के ही एक योग ट्रिपार्समाइड (Tryparsamide) का प्रयोग सूचीवेध द्वारा किया जाता है।

(५) दोषमयता; रक्तनाशक विषजन्य ज्वर (Septicaemia)-

तृणाणु (Bacteria) बहुत बड़ी संख्या में रक्त में प्रवेश करते इस भयंकर सान्निपातिक व्याधि की उत्पत्ति करते हैं। इसके प्रमुख उत्पादक तृणाणु, मालागोलाणु (Streptococcus) और स्तबक गोलाणु (Staphylococcus) हैं; फुफ्फुस गोलाणु (Pneumococcus), श्लेष्मक दण्डाणु (Influenza Bacillus) आन्त्र दण्डाणु (Bacillus Coli) आदि भी यदा कदा इस रोग की उत्पत्ति करते हैं।

मालागोलाणुजन्य दोषमयता—इनका प्रवेश त्वचा अथवा श्लैष्मिक कला में स्थित किसी व्रण के द्वारा होता है। रोग का प्रारम्भ ठण्ड लगकर अथवा बिना ठण्ड लगे, तीव्र सन्तत अथवा अन्येद्युष्क ज्वर के साथ होता है। बहुत शीघ्र ज्वर १०४° या १०५° तक पहुंच जाता है, नाड़ी और श्वास की गति तीव्र हो जाती है, रक्तभार घट जाता है और त्रिदोष के लगभग सभी लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। रक्त में लाल कणों का क्षय और श्वेतकायाणूत्कर्ष (Leucocytosis) होता है। श्वेतकायाणूत्कर्ष

का न होना अरिष्ट लक्षण है। त्वचा में कोठ और मण्डल में (petechiae) उत्पन्न होते हैं। सौम्य प्रकार में १-२ सप्ताह में ज्वर उतर जाता है; तीव्र प्रकार में अधिक काल तक रहता है और प्रायः रोगी की मृत्यु हो जाती है।

चित्र नं० १३ अ
फुफ्फुस गोलाणुजन्य दोषमयता का ज्वर चार्ट

चित्र नं० १३ ब
शोणांशी मालागोलाणु (Streptococcus Haemolyticus) - जन्य दोषमयता का ज्वर-चार्ट

उक्त सार्वांगिक लक्षणों के अतिरिक्त कभी कभी तृणाणुओं के द्वारा किसी विशेष अवयव पर विशेष रूप से आक्रमण करने पर उस अवयव के प्रदाह के लक्षण प्रकट होते हैं जैसे फुफ्फुसों पर आक्रमण करने से फुफ्फुस-प्रदाह या फुफ्फुस नलिका प्रदाह; हृदय पर आक्रमण करने से अन्तर्हृत्प्रदाह (Endocarditis); मस्तिष्कावरण पर आक्रमण करने से मस्तिष्कावरण प्रदाह (Meningitis); अधस्त्वक्तन्तुओं (Subcutaneous tissue) पर आक्रमण करने से विद्रधि, कोठ, मण्डल आदि एवं अधस्त्वग्प्रदाह (Cellulitis) इसी प्रकार प्लीहा, वृक्क, यकृत, अस्थि और सन्धि आदि के भी सम्बन्ध में समझना चाहिये।

स्तबक गोलाणुजन्य दोषमयता—यह मारक रोग है, रोगी के बचने की आशा कम रहती है। अधिकांश रोगियों में त्वचा अथवा श्लैष्मिक कला में व्रण मिलता है। तीव्र प्रकार में किसी विशेष अवयव पर विशेष आक्रमण के लक्षण नहीं मिलते, तीव्र सार्वांगिक लक्षण प्रकट होकर शीघ्र मृत्यु हो जाती है। दूसरे प्रकार में किसी अंगविशेष पर विशेष आक्रमण के चिह्न पूर्वोक्त के अनुसार मिलते हैं। यह प्रकार कुछ अधिक समय लेता है।

फुफ्फुस गोलाणुजन्य दोषमयता—इसके लक्षण

आन्त्रिक ज्वर के समान होते हैं, फुफ्फुस प्रदाह नहीं होता। नाड़ी की गति तीव्र रहती है। रोग-काल आन्त्रिक ज्वर की अपेक्षा कम होता है और सौम्य प्रकार में ज्वर एकाएक उतरकर शान्त होजाता है, तीव्र प्रकार में मृत्यु हो जाती है।

आन्त्र-दण्डाणुजन्य दोषमयता—यह व्याधि अधिकतर प्रवाहिका रोग के पश्चात् होती है। ज्वर आन्त्रिक ज्वर के समान होता है; कभी कभी मलेरिया के समान लक्षण भी मिलते हैं।

निदान (Diagnosis)–सभी प्रकार की दोषमयता का निदान रक्तसंवर्ध (Blood culture), सान्निपातिक लक्षण, तीव्र रक्तक्षय, श्वेतकायाणूत्कर्ष आदि के द्वारा होता है।

(६) पूयमयता;पूयज ज्वर (Pyaemia)—यह दोषमयता का ही एक प्रकार है जिसमें स्थान-स्थान पर रुककर स्थानिक लक्षण (विद्रधि आदि) उत्पन्न करते हैं। पूय का केन्द्र किसी न किसी स्थान में अवश्य होता है—व्रण, विद्रधि, अस्थिमज्जा प्रदाह (Osteomylitis), उपान्त्र-प्रदाह (Appendicitis) अथवा मूत्र-संस्थान या श्वास-संस्थान का पाक या विद्रधि आदि। वहां से पूय सारे शरीर में फैलकर रक्तवाहिनयों का अवरोध (Embolism) करके विद्रधि उत्पन्न करता है। शेष लक्षण दोषमयता के समान होते हैं।

(७) विद्रधिजन्य ज्वर (Fever caused by localised pyogenic Infections)–शरीर के किसी भी भाग में प्रदाह, विद्रधि या पूयोत्पत्ति होने से ज्वर की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार का ज्वर सन्तत, सतत या अन्येद्युष्क होता है; जाड़ा लगकर तेजी के साथ १०२° १०४° तक बढ़ता है, और पसीना देकर उतरता है; लक्षण प्रलेपक ज्वर (Hectic fever) के समान होते हैं। कभी-कभी विषम ज्वर का भ्रम हो सकता है।
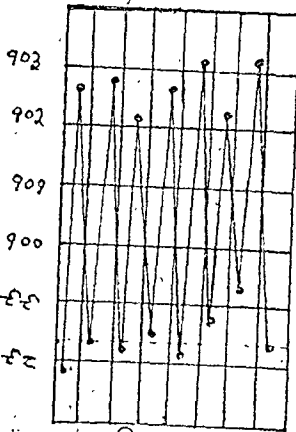
चित्र नं० १४
विद्रधिजन्य प्रलेपक ज्वर का चार्ट

(८) लोहित ज्वर (scarlet fever)—यह व्याधि समशीतोष्ण (Temperate) देशों में पायी जाती है; उष्ण देशों में बहुत कम कभी-कभी शीत ऋतु में पायी जा सकती है। इसकी उत्पत्ति का कारण शोणांशी मालागोलाणु (Haemolytic streptococcus) है जो रोगी व्यक्ति के मुंह से खांसने, छींकने या बोलने के समय उड़े हुए थूक के छींटों के साथ अन्य व्यक्तियों के मुंह में प्रविष्ट होता है (Droplet infection)। रोगी व्यक्ति के नासास्राव, कफ, थूक आदि के द्वारा संक्रामित, भोजन, जल, धूल, वस्त्र आदि से भी इसका संक्रमण हो सकता है। अधिकतर इसका आक्रमण बच्चों और नवयुवकों पर होता है। चयकाल १ से ४ दिनों का है।

रोग का आक्रमण अचानक तीव्र ज्वर के साथ होता है जो १०३° या इससे कुछ अधिक बढ़ता है। तीव्र नाड़ी, तेजस्वी नेत्र, चेहरा लाल किन्तु मुंह के आस पास निस्तेज, सिरदर्द, अत्यधिक वमन, जिह्वा मलयुक्त, गले में पीड़ा, तुण्डिका और गलतोरणिका (Tonsils and Fances) में रक्ताधिक्य जो शीघ्र ही प्रदाहयुक्त हो जाता है, त्वचा पर लाल रंग के छोटे छोटे बिन्दु, लसिका ग्रन्थियों का प्रदाह और कभी कभी पाक, इत्यादि लक्षण होते हैं।

त्वचागत लक्षण (Rash) दूसरे दिन या उसके बाद प्रकट होते हैं। छोटे छोटे चमकदार लाल रंग के बिन्दु उत्पन्न होते हैं जिनके आसपास की त्वचा रक्ताधिक्य के कारण हल्के लाल रंग की होती है। ये बिन्दु दबाने से अदृश्य होजाते हैं। इनका दर्शन सर्व प्रथम गले और वक्ष के ऊपरी भाग में होता है और फिर शीघ्र ही ये सारे शरीर में फैल जाते हैं। संधिस्थानों पर ये अधिक घने होते हैं और कभी कभी मण्डल का रूप धारण कर लेते हैं। कोहनी पर बन्धन बांधकर कृत्रिम मण्डल

भी उत्पन्न किये जा सकते हैं। लगभग ४ दिनों से १ सप्ताह तक में ये शान्त हो जाते हैं किन्तु दाग रह जाते हैं। कभी कभी घुटनों और कोहनी पर त्रिदोषजमण्डल (Septic Rashes) दृष्टिगोचर होते हैं।

बिन्दुओं का उपशम होने के साथ ही त्वचा का उधड़ना प्रारम्भ हो जाता है। सर्व प्रथम गाल, ओंठ, कर्णपाली, गले और पेडू की त्वचा उधड़ती है; दूसरे सप्ताह में धड़ और भुजाओं की एवं तीसरे सप्ताह में हाथ, गदेलियों और पैरों के तलुओं की। बिन्दुओं के स्थान पर छोटे छोटे छिद्र बन जाते हैं।

जिह्वा दूसरे दिन अत्यधिक मलयुक्त रहती है और उसके बीचों-बीच लाल रंग की पिडिकायें रहती हैं। चौथे दिन मल अदृष्य होजाता है, श्लैष्मिक कला उधड़कर निकल जाती है और पूरी जीभ गहरे लाल रंग की एवं स्पष्ट पिडिकाओं से युक्त दृष्टिगोचर होती है।

प्रारम्भ में कर्णमूल की ग्रंथियों की वृद्धि होती है और फिर त्वचागत लक्षण दृष्टिगोचर होने पर कक्षा, वंक्षण और कभी-कभी पृष्ठ (Posterior cervical) ग्रन्थियों की वृद्धि होती है। वृद्धि के साथ पीड़ा होती है और कभी-कभी पाक भी होता है।

ज्वर तीसरे या चौथे दिन जब कि त्वचागत लक्षण (Rash) पूर्णतया प्रगट हो चुकते हैं, सबसे अधिक रहता है। उसके बाद धीरे-धीरे उतरकर ५-६ दिनों पूर्णतया शान्त होजाता है। तीव्र प्रकार में उपद्रवों के कारण अधिक दिनों तक ज्वर रह सकता है।

रक्त में श्वेतकायाण्वुत्कर्ष (Leucocytosis) स्पष्ट मिलता है, रोग शांति के समय उषसिप्रियता (Eosinophilia) मिलती है।

पुनराक्रमण अधिक से अधिक ७% प्रतिशत रोगियों में पाया जाता है।

(९) विसर्प (Erysipelas)–इसका वर्णन आगे अध्याय ५२ में देखें।

(१०) अग्निरोहिणी, ग्रन्थिक ज्वर, प्लेग (Plague)–इसका वर्णन अध्याय ५५ में 'अग्निरोहिणी' शीर्षक के अन्तर्गत किया जावेगा।

(११) विद्रामक्षत (Anthrax)–इस रोग की उत्पत्ति विद्रामक्षत दण्डाणु (Bacillus Anthracis) के उपसर्ग से होती है। यह दण्डाणु पशुओं और भेड़ों में दोषमयता की महामारी उत्पन्न करता है। उनसे मनुष्य में उपसृष्ट होने पर त्वचा, फुफ्फुस अथवा आन्त्र में स्थित होकर रोगोत्पत्ति करता है। रोगी पशु के सम्पर्क में रहने से एवं उसके चमड़े अथवा बालों से उक्त दण्डाणु मनुष्य के शरीर में प्रविष्ट होते हैं।

(i) त्वचागत विद्रामक्षत (*Skin Anthrax*)–त्वचा में उपसर्ग के लिये व्रण की उपस्थिति आवश्यक है, अधिकतर अपूतीकृत (*unsterilized*) ब्रुश से दाढ़ी बनाने से उपसर्ग होता पाया गया है। चयकाल कुछ ही घण्टों का है। रोगारम्भ तीव्र ज्वर के साथ होता है और साथ ही एक लाल रङ्ग की पिडिका की उत्पत्ति होती है जो छाले में परिवर्तित होजाती है और फिर उससे पूय की भी उत्पत्ति होजाती है जिससे छाला और विद्रधि दोनों लक्षण उत्पन्न होजाते हैं। आस-पास के भाग में अधिक लाली और तनाव रहता है। कुछ काल पश्चात् बीच के भाग में एक काली पपड़ी पड़ जाती है और उसके चारों ओर नये छालों की उत्पत्ति होजाती है। स्थानिक पीड़ा साधारण रहती है और आस-पास की लसिका ग्रन्थियों में शोथ होजाता है। बुखार और भी तीव्र होजाता है। कभी-कभी छाला साधारण रहता है किन्तु आस-पास का शोथ अधिक रहता है। इस प्रकार में अधिकतर मृत्यु होजाती है।

भविष्य संक्रमण की शक्ति के अनुसार होता है, अधिकांश रोगी एक सप्ताह के भीतर मर जाते हैं।

(ii) फौफ्फुसीय विद्रामक्षत (*Pulmonary Anthrax*), ऊन साफ करने वालों का रोग (Wool sorter's Disease)–श्वास मार्ग में विद्रामक्षत दण्डाणुओं का प्रवेश होने पर यह रोग उत्पन्न होता है। इसमें तीव्र ज्वर ठण्ड लगकर आता है, शीघ्र

विषमयता के समस्त लक्षण और मस्तिष्कगत लक्षण (प्रलाप, संन्यास, आक्षेप आदि) उत्पन्न होते हैं, श्वासनलिका प्रदाह (*Bronchitis*) होता है और कफ में विक्षामक्षत दण्डाणु मिलते हैं। अधिकांश रोगी मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

(iii) आन्त्रिक विक्षामक्षत (*Intestinal Anthrax*)–भोजन या पीने के पानी के साथ विक्षामक्षत दण्डाणुओं का प्रवेश आमाशय और आंतों में होने से यह रोग होता है। आरम्भ ज्वर और आमाशयान्त्र (*Gastro-enteritis*) के लक्षणों (वमन, अतिसार, उदरशूल) के साथ होता है, अवसाद बहुत जोरों से होता है और अधिकतर मृत्यु हो जाती है। यह प्रकार बहुत कम पाया जाता है।

रोगविनिश्चय पिडिका के पूय में, कफ में(फौपफुसीय प्रकार में) अथवा वमन और मल में (आन्त्रिक प्रकार में)विक्षामक्षत दण्डाणुओं की उपस्थिति पर से होता है।

(१२)मस्तिष्कसुषुम्नाज्वर (Cerebro–spinal Fever)

सर्व साधारण इस रोग से 'गर्दन-तोड़ बुखार' के नाम से परिचित है। यह व्याधि समशीतोष्ण देशों में और शीत एवं वसन्त ऋतुओं में महामारी के रूप में फैलती है वैसे, इसके फुटकर रोगी संसार के सभी देशों में सभी ऋतुओं में मिलते हैं। मस्तिष्कावरण(Meninges) पर मस्तिष्क गोलाणुओं (Meningococcus) का आक्रमण होकर प्रदाह होने से इसकी उत्पत्ति होती है। संक्रमण अधिकतर बिन्दूत्क्षेप(Droplet Infection रोगी व्यक्ति के खांसने छींकने आदि से उड़े हुए छींटों के मुख-नाक आदि में प्रविष्ट होकर संक्रमण होने को बिन्दूत्क्षेप संक्रमण कहते हैं।)द्वारा होता है किन्तु यह कोई निश्चित नियम नहीं है। आक्रमण अधिकतर नवयुवक पुरुषों पर अथवा बालकों पर होता है। छोटे से स्थान में बहुत से मनुष्यों का निवास, अति परिश्रम करना और प्रतिश्याय की उपस्थिति—ये दशाएँ रोग के प्रसार में सहायक होती हैं। चयकाल अनिश्चित है — प्रायः ३ से ८ दिनों का, परन्तु जब महामारी फैली हो तब इससे बहुत कम हो सकता है।
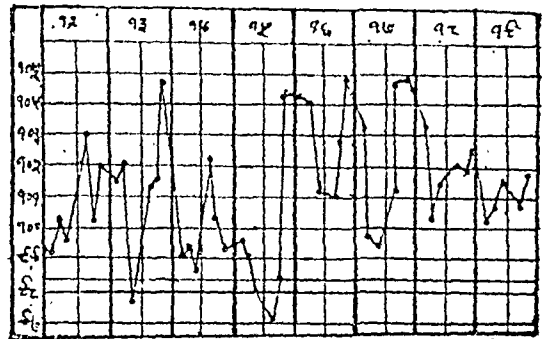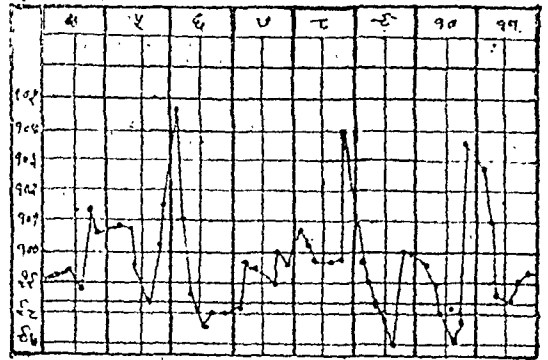
मस्तिष्क-सुषुम्ना ज्वर का चार्ट
चित्र नं० १२

रोग का आरम्भ तीव्र ज्वर के साथ होता है। एकाएक ठंड लगकर ज्वर आता है जो १०३° या १०४° तक बढ़ता है और कई दिनों तक सन्तत ज्वर के रूप में रहता है; बीच बीच में १° या २° कम हो जाता है। सिर के पिछले भाग में भयंकर सिरदर्द होता है, हाथ-पैरों में पीड़ा, बेचैनी और वमन हृल्लास आदि होते हैं। नाड़ी की गति धीमी रहती है। ज्वर चढ़ते समय यदि तीव्र विषमयता (Toxaemia) अथवा मस्तिष्कावरण प्रदाह के उग्रतम लक्षण न हों तो लगभग सभी रोगियों को ठण्ड अवश्य लगती है। छोटे बच्चों को अधिकतर आक्षेप आकर ज्वर चढ़ता है। कुछ मामलों में मस्तिस्कावरण प्रदाह के लक्षण ३-४ दिनों के बाद ही स्पष्ट लक्षित होते हैं; इसके पूर्व प्रतिश्याय, गले में पीड़ा, हड़फूटन, अतिसार आदि लक्षण होते हैं जिससे वातश्लेष्म ज्वर (Influenza) अथवा उदर-

विकार का भ्रम होना संभव रहता है। कुछ मामलों में त्वचा पर गुलाबी रंग के दाने या धब्बे और कुछ में लाल काले रंग के रक्तस्रावी दाने पाये जाते हैं। कुछ मामलों में मुंह के आस पास पिड़िकाए (Herpes Labialis) निकलती हैं।

सिरदर्द चाहे वह सिर के किसी भी भाग में हो अत्यन्त महत्वपूर्ण और सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाला चिह्न है। कुछ रोगियों में सिरदर्द आरम्भ में सामने की ओर होता है किन्तु रोग की वृद्धि के साथ पीछे की ओर हटता जाता है। प्रतिदिन सिरदर्द में वृद्धि होती है, रात में विशेष कष्ट रहता है और अन्त में प्रलाप या संन्यास की अवस्था आ जाती है। दर्द की दौड़ गले पीठ और कभी कभी उदर तक हुआ करती है। रोगी हल्ला-गुल्ला, प्रकाश आदि कोई भी गड़बड़ी सहन करने में असमर्थ हो जाता है; वह एकान्त चाहता है।

गले की मांसपेशियों में कड़ापन आजाना एक विशेष लक्षण है। कुछ हद तक पीठ, उदर और घुटनों की पेशियों में भी कड़ापन आजाता है। पीठ केवल (चित्त) लेटे हुए रोगी की गर्दन को झुकाने से घुटने और जांघें भी उसी ओर को स्वतः झुक जाते हैं। यदि एक पैर को मोड़ा या फैलाया जावे तो दूसरा स्वतः ही उसके साथ मुड़ या फैल जाता है—ब्रडजिन्स्की का चिह्न (Brudzinski's Sign), और जांघ को उदर से समकोण बनाते हुए रखने पर घुटनों की पेशियों की अकड़न के कारण पैर सीधा नहीं किया जा सकता—कर्निग का चिह्न (Kernig's Sign)। इसी प्रकार कोहनी पर हाथ सीधा कर लेने के बाद कन्धे पर सीधा करने में पीड़ा होती है—बिकेली का चिह्न (Bikele's Sign)। उदर की पेशियों के संकोच के कारण रोगी करवट लेकर हाथ-पैर सिकोड़ कर लेटता है। यदि रोग अधिक काल तक रहा आता है तो मांसपेशियों का बहुत अधिक क्षय होता है और कभी कभी घात (paralysis) भी होजाता है। पेशियों के क्षेप-प्रतिक्षेप (Reflex) प्रभावित हो जाते हैं—उत्तान क्षेप प्रतिक्षेप × (superficial reflexes) शिथिल होजाते हैं; औदरिक (Abdominal) क्षेप-प्रतिक्षेप नष्ट हो जाते हैं, पादतल-क्षेप (plantar reflex) भीतर की ओर न होकर बाहर की ओर होता है और गम्भीर क्षेप-प्रतिक्षेप (Deep reflexes) प्रथम थोड़ी वृद्धि को प्राप्त होकर बाद में नष्ट हो जाते हैं।

ज्वर अधिक होते हुए भी नाड़ी की गति मन्द रहती है और अनियमित भी हो सकती है किन्तु अन्तिम दशा में तीव्र हो जाती है। तीव्र प्रकार में नाड़ी की गति प्रारम्भ से ही तीव्र होती है। श्वासोच्छ्वास प्रारम्भ में प्रभावित नहीं होता किन्तु बाद की अवस्थाओं में अनियमित और अन्त में श्वास की गति में क्रम क्रम से उतार-चढ़ाव होने लगते हैं—श्वास की गति तीव्र होते-होते अत्यधिक तीव्र हो जाती है फिर क्रमशः मन्द होते-होते अत्यधिक मन्द होजाती है, यहां तक कि कुछ काल के लिए रुक भी जाती है और फिर क्रमशः तीव्र होने लगती है (Cheyne stokes breathing)।

चेहरे पर रक्ताधिक्य के कारण लाली रहती है। यदि अंगुली के नाखून से त्वचा पर लकीर खींची जावे तो १ मिनट बाद उस स्थान पर सफेद किनारों से युक्त लाल रंग की लकीर दृष्टिगोचर होती है जो ३-४ मिनट तक रहती है (Taches cerebrales)—यह मस्तिष्कावरण प्रदाह का खास चिह्न है। आंखों की पुतलियां प्रसारित, संकुचित अथवा असमान रहती हैं; प्रकाश आदि का प्रभाव कम होता है। दृष्टि नाड़ी प्रदाह (Optic neuritis) सामान्यतः हो ही जाता है। प्रारम्भ में कोई महत्वपूर्ण मानसिक लक्षण नहीं होते किन्तु बाद की दशाओं में बेचैनी, प्रलाप और अनिद्रा होकर अन्त में या तो तन्द्रा और उसके बाद संन्यास की उत्पत्ति होती है अथवा उन्माद हो जाता है।

× "पक्षाघात का निदान करने की आधुनिक विधियां" शीर्षक लेख देखें।

दूसरे सप्ताह में ज्वर अनियमित हो जाता है अथवा कम हो जाता है। (यदि अधिक दिनों तक बना रहे तो अन्येद्युष्क और कभी कभी तृतीयक अथवा चतुर्थक का रूप धारण कर लेता है।) इस समय कपाल में आन्तरिक दबाव की वृद्धि होती है और अवसाद के लक्षण प्रकट होते हैं। शिशुओं के तालु में कड़ापन और उभार लक्षित होता है, जोड़ खुल जाते हैं और कभी कभी उदकशीर्ष (Hydrocephalus) होजाता है। बड़ों के सिर को कनपटी पर ठोकने से अधिकतर उच्च ध्वनि उत्पन्न होती है। मानसिक क्षोभ के स्थान पर तन्द्रा की उत्पत्ति हो जाती है—यद्यपि रोगी को जगाया जा सकता है किन्तु वह करवट लेकर सिकुड़ कर शांतिपूर्वक पड़े रहना पसन्द करता है। पीड़ा की शिकायत कम करता है किन्तु रात में सिरदर्द बढ़ जाता है पेशियों का कड़ापन बढ़ जाता है जिससे बच्चों को बाह्यायाम होसकता है। मूत्रा-

वरोध होता है और कभी कभी रोगी निगलने में भी असमर्थ होजाता है। विभ्रान्त-लोचनत्व (Spasmodic squint and Nystagmus आंखों की पुतलियों का यहां वहां नाचना) भी कभी-कभी पाया जाता है। संन्यासवत् दशा में मल-मूत्र का विसर्जन अनजाने ही हो जाता है। कभी-कभी वात (Paralysis) भी हो जाता है।
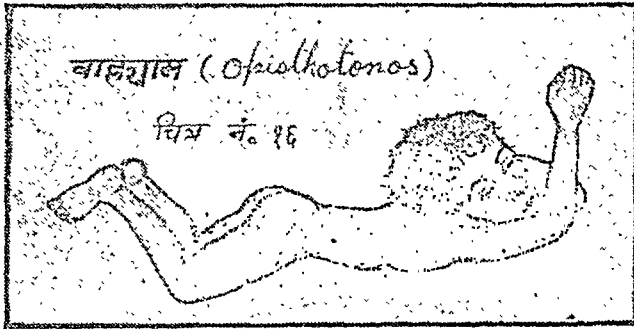
सौम्य प्रकार में लगभग २ सप्ताह में ज्वर क्रमशः उतर जाता है और सम्पूर्ण लक्षण दूर होकर स्वास्थ्य प्राप्ति हो जाती है। कुछ मामलों में बार-बार पुनराक्रमण होता है किन्तु, लक्षण सौम्य रहते हैं और रोग शान्ति काफी देर से होती है। इसलिए ज्वर उतरने के बाद जब एक सप्ताह तक पुनराक्रमण न हो तभी रोग दूर हुआ समझना चाहिए।

तीव्र प्रकार में संन्यास गम्भीर होता चला जाता है, नाड़ी और श्वास-प्रश्वास की गति बढ़ती जाती है और १-२ सप्ताहों में मृत्यु हो जाती है। इनमें से कुछ रोगी मरते नहीं किन्तु जीर्ण अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं।

अन्य प्रकार—

(i) अति सौम्य प्रकार—हल्का ज्वर, प्रतिश्याय, सिरदर्द, सारे शरीर में दर्द, बेचैनी, गले में कड़ापन—ये लक्षण होते हैं। अधिकतर वातश्लेष्म ज्वर का भ्रम हो जाता है, सही रोग का निदान तब तक नहीं हो सकता जब तक सुषुम्नाद्रव अथवा नाक और गले के स्राव की परीक्षा न की जावे। इस प्रकार के उदाहरण महामारी के अन्तिम भाग में पाये जाते हैं।

(ii) अतितीव्र प्रकार—एकाएक भयङ्कर लक्षणों के साथ उत्पन्न होता है और शीघ्र ही (२४ घंटों के भीतर मृत्यु होजाती है। इस प्रकार के मामले तब पाये जाते हैं जब महामारी अपने पूर्ण वेग पर हो। अधिकतर यह होता है कि दिन भर काम कर चुकने के बाद घर लौटता हुआ आदमी राह में ही मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है अथवा घर पहुंच कर बीमार होता है और दूसरे दिन सवेरे संन्यास की अवस्था में पहुँच जाता है। त्वचा में कुछ थोड़े से रक्तस्रावी कोठ या मण्डल ही रोग परिज्ञान में सहायक होते हैं, रक्त-संवर्ध (Blood Culture) में मस्तिष्क गोलाणु प्राप्त होते हैं किन्तु मृत्यूत्तर (Post-Mortem) परीक्षा में मस्तिष्कावरण में रोग के कोई लक्षण प्रायः लक्षित नहीं होते।

इससे कुछ कम तीव्र प्रकार में मृत्यु देर से (३-४ दिनों में) होती है किन्तु लक्षण भयङ्कर होते हैं। ज्वर, श्वेताणूत्कर्ष, सिरदर्द, अनिद्रा और विषमयता की तीव्रता के कारण घोर प्रलाप होता है और ३-४ दिनों में संन्यास होकर मृत्यु हो जाती है। इसमें

मस्तिष्कावरण प्रदाह के लक्षण अस्पष्ट रहते हैं—गले की अकड़न बहुत मामूली रहती और कर्निंग का चिह्न बहुत थोड़े अंशों में प्रकट हो सकता है। सुषुम्ना-द्रव का दबाव बढ़ा हुआ रहता है किन्तु गंदलापन प्रायः नहीं रहता है।

इसी तरह के कुछ मामलों में सारे शरीर की त्वचा और श्लैष्मिक कलाओं में रक्तस्राव होने से लाल-काले कोठ और मण्डलों की अत्यधिक उत्पत्ति होती है। तापक्रम १००° के लगभग अथवा सामान्य (९८.४°) से भी कम रहता है। शीघ्र ही हृदयावसाद होकर मृत्यु हो जाती है।

(iii) चिरकारी प्रकार—यह दशा तीव्र प्रकार के बाद आती है। ज्वर उतरने के लक्षण प्रतीत होते हैं किन्तु अचानक फिर जोरों से ज्वर आजाता है। ऐसा कई बार होता है अन्त में सचमुच ही ज्वरमोक्ष हो जाता है। कुछ मामलों में ज्वर का इस प्रकार चढ़ना और उतरना काफी दिनों तक चलता रहता है जिसमें अत्यधिक मांसक्षय होता है, कपाल में जलसंचय थोड़ा बहुत (Slight Hydrocephalus) होजाता है, नेत्रों की तारिकाओं में शोथ हो जाता है और गले एवं रीढ़ की कठोरता में वृद्धि होती है। मल-मूत्र की प्रवृत्ति अनियन्त्रित हो जाती है, शय्याव्रण होजाते हैं और अत्यन्त क्षीणता से २-३ माह में मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार के कुछ रोगी यदा कदा स्वस्थ भी हो जाते हैं किन्तु अधिकतर मानसिक दुर्बलता, बधिरता, अंधत्व और कई प्रकार के घात (Paralysis) हो ही जाते हैं।

चिरकारी मस्तिष्क गोलाणुजन्य दोषमयता भी यदाकदा लक्षित होती है। बार-बार ज्वर का आक्रमण, सन्धिशूल, त्वचा में कोठ-मण्डलों आदि की उत्पत्ति अथवा तन्तुमय ग्रन्थियों की उत्पत्ति आदि लक्षण लक्षित होते हैं—मस्तिष्कावरण प्रदाह के लक्षण नहीं मिलते। रक्त संवर्ध द्वारा ही निदान हो पाता है।

(iv) पृष्ठमौलिक प्रकार (Posterior Basic) यह प्रकार अधिकतर १ से २½ वर्ष तक के बच्चों में और कभी-कभी ४-५ वर्ष तक के बच्चों में पाया जाता है। ज्वर सौम्य रहता है और लगभग १ सप्ताह तक रहता है किन्तु मस्तिष्कावरण के निचले और ऊपरी भागों का एवं आस पास के स्थानों का प्रदाह अत्यधिक होता है। मस्तक के भीतर द्रवों के निष्क्रमण में रुकावट होने से भीतरी दबाव अत्यधिक बढ़ जाता है जिससे अत्यधिक वमन, सिर का पीछे की ओर बहुत अधिक झुक जाना और अत्यधिक मांसक्षय होता है। रोग चिरकारी व्याधि के समान धीरे-धीरे बढ़ता है। बच्चा संन्यासवत् दशा को पहुँच जाता है। इस अवस्था के बाद यदि किसी प्रकार रोगोपशम हो भी जाय तो बधिरता, अन्धत्व, मूढ़ता, उदकशीर्ष आदि कोई न कोई स्थाई विकृति रह ही जाती है। अधिकांश मामलों में २ सप्ताह से ४ सप्ताह तक में मृत्यु हो जाती है।

दो वर्ष तक के बच्चों में एक अत्यन्त सौम्य प्रकार पाया जाता है जिसमें लक्षण इतने सौम्य होते हैं कि मां उसे मामूली प्रतिश्याय, उदरविकार या दंतोद्भेदजन्य विकार मान लेती है। इसमें ज्वर, बेचैनी, कम्प एवं तालु (ब्रह्मरन्ध्र) पर उभार होना आदि लक्षण मिलते हैं। कटिवन्ध (Lumbar puncture) करके निदान किया जाता है।

उपद्रव—

(i) मस्तिष्कगत—बच्चों में उदकशीर्ष की सम्भावना अत्यधिक रहती है जिसके साथ ये लक्षण मिलते हैं--संन्यास की क्रमिक उत्पत्ति, तीव्र एवं अनियमित वैवर्ण्य एवं श्यावता (pallor & cyanosis) और मेक्वैन का चिह्न (सिर को कनपटी के ऊपर ठोकने पर गम्भीर आवाज की उत्पत्ति)। कुछ मामलों में बधिरता या अन्धत्व अथवा अनेक प्रकार के नेत्र रोगों की उत्पत्ति हो सकती है। कई प्रकार के घात जैसे नेत्र नाड़ी का घात, अर्दित, एकांग घात, अर्धांग घात, अधोशाखा-घात आदि अस्थायी या स्थायी रूप से हो सकते हैं। मानसिक कमजोरी कुछ काल तक अवश्य रहती है किन्तु कुछ रोगियों में उन्माद भी होते देखा गया है।

(ii) संधिगत–संधियों का प्रदाह (Arthritis) कभी कभी हो जाता है किन्तु पाक नहीं होता।

(iii) त्वचागत– कोठ, मण्डल, पिडिका आदि कभी कभी बहुत अधिक हो सकते हैं।

(iv) वक्षोगत–यदाकदा फुफ्फुस नलिका प्रदाह हृत्पेशी प्रदाह (Myocarditis), अन्तर्हृदय प्रदाह (Endocarditis) और हृदयावरण प्रदाह (pericarditis) पाये जाते हैं।

(v) मूत्रसंस्थानगत—कभी–कभी बहुमूत्र (polyuria) और रक्तमेह (Haematuria) भी मिल सकते हैं।

परीक्षाएं—मस्तिष्क-सुषुम्ना द्रव (Cerebro-sprinal fluid) रोग की तीव्रावस्था में अधिक दबावयुक्त और अधिकतर गंदला रहता है। गंदलापन बहुकारी कोषों (polymorphonuclear cells) की वृद्धि के कारण होता है; इनमें से अधिकांश में मस्तिष्क गोलाणु रहते हैं। प्रोभूजिनों proteins-albumin and globulin) की मात्रा बढ़ जाती है, शर्करा अनुपस्थित रहती है और नीरेय (Chlorides) की मात्रा कम हो जाती है। लेङ्गी की मस्तिष्कावरण प्रदाह सम्बन्धी स्वर्णरज प्रतिक्रिया(Lange's Colloidal gold reaction-Meningitic curve) अस्त्यात्मक (positive) होती है। कभी कभी प्रारम्भिक अवस्था में मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव का दबाव सामान्य रहता है और गंदलापन भी नहीं होता तथा मस्तिष्क गोलाणु भी नहीं मिलते। भयंकर प्रकार में मस्तिष्कगोलाणु कोषों के बाहर मिलते हैं। जीर्ण अवस्था में लसकायाणुओं (Lymphocytes) की प्रधानता रहती है। कुछ विरल रोगियों में कटिबंध करने पर मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव की उपलब्धि नहीं होती।

रक्त में बहुकारी श्वेतकायाणूत्कर्ष (polymorphonuclear Leucocytosis) स्पष्ट मिलता है—प्रति घन मिलीमीटर में लगभग २०,०००, परन्तु उसकी अनुपस्थिति रोगविनिश्चय में बाधक नहीं मानी जाती। तीव्र रोग में रक्त-संवर्ध (Blood culture) में और कभी-कभी साधारण रक्त में ही मस्तिष्क गोलाणु दिखाई पड़ जाते हैं।

(१३) मस्तिष्कावरण प्रदाह (Meningitis)—

मस्तिष्क गोलाणुओं के अतिरिक्त यक्ष्मादण्डाणु (Bacillus Tuberculosis), फुफ्फुस गोलाणु (Pneumococcus), स्तवक गोलाणु (staphylococcus), माला–गोलाणु (Streptococcus), गुह्य गोलाणु (Gonococcus) श्लैष्मिक दण्डाणु (B. Typhosus) और फिरंग चक्राणु (spirochaeta pallida) भी मस्तिष्कावरण में प्रदाह उत्पन्न करते हैं। परिसरीय सुषुम्नाप्रदाह (Poliomyelitis), निद्रालसी मस्तिष्कप्रदाह (Eucephalitis Lethargica), कक्षा परिसर्प (Herpes Zoster) और तीव्र उद्भेदक ज्वरों (Acute eruptive fevers) के मस्तिष्क सुषुम्नाप्रदाह (Eucephalo-myelitis) में भी मस्तिष्कावरण प्रदाह मिलता है। जीवाणुरहित मस्तिष्कावरण प्रदाह (Aseptic Meningitis) भी होता है और कई प्रकार के तीव्र ज्वरों एवं विषमयताओं में उपद्रव रूप से लसिकीय मस्तिष्कावरण प्रदाह (Serous Meningitis) अथवा मस्तिष्कावरण प्रक्षोभ (Meningism) होता है। इन सबसे विभेद करने के लिये मस्तिष्क गोलाणुजन्य मस्तिष्कावरण प्रदाह का नामकरण मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर किया गया है; कोई-कोई इसे मस्तिष्क गोलाणुजन्य मस्तिष्कावरण प्रदाह (Meningcoccal Meningitis) भी कहते हैं किन्तु यह नाम अधिक प्रचलित नहीं है। इसका वर्णन प्रथम ही हो चुका है। शेष प्रकारों को तद् तद् जीवाणुजन्य मस्तिष्कावरण प्रदाह कहते हैं। उनका वर्णन यह अत्यन्त संक्षेप में किया जाता है–

यक्ष्मादण्डाणुजन्य मस्तिष्कावरणप्रदाह (Tubercular Meningitis)—राजयक्ष्मा प्रकरण में देखें।

फुफ्फुस गोलाणु जन्य मस्तिष्कावरण प्रदाह
(Pneumococcal Meningitis)—

कभी कभी यह रोग स्वतंत्र होता है किन्तु अधिकतर फुफ्फुस गोलाणुजन्य फुफ्फुस खण्ड प्रदाह (Labar Pneumonia), पूयोरस (Empyema) मध्य कर्ण प्रदाह (Otitis Media), उदरावरण प्रदाह(Peritonitis) अथवा संधिप्रदाह(Arthritis) से फुफ्फुस गोलाणुओं का प्रवेश मस्तिष्कावरण में हो जाने से होता है। रोगी किसी भी आयु का हो सकता है।

तीव्र ज्वर, वमन, सिरदर्द, गले रीढ़ और शाखाओं में कड़ापन आदि लक्षण सामान्य हैं। मृत्यु शीघ्र होती है।

मस्तिष्क-सुषुम्ना द्रव्य गाढ़ा और पूयमय होता है; प्रोभूजिनों की मात्रा बढ़ जाती है किन्तु शर्करा कम परिवर्तित होती है और बहुत से बह्वाकारी कोष पाये जाते हैं जिनमें फुफ्फुस गोलाणु मिलते हैं।

स्तबक गोलाणुजन्य, मालागोलाणुजन्य और
युग्मगोलाणुजन्य मस्तिष्कावरण प्रदाह

लगभग फुफ्फुस गोलाणुजन्य के समान। संक्रमण या तो स्वतंत्र रूप से होता है अथवा किसी आक्रान्त भाग से।

श्लेष्मक दण्डाणुजन्य, मस्तिष्कावरणप्रदाह (Influenza Bacillary meningitis)—

यह प्रकार ५ वर्ष से कम उम्र के बच्चों में कभी कभी पाया जाता है। आक्रमण तीव्रता के साथ होता है। मस्तिष्कावरण प्रदाह के सामान्य लक्षण और श्वेतकायाणूत्कर्ष उपस्थित रहते हैं। अधिकतर मृत्यु होने की संभावना रहती है।

आन्त्रिक ज्वर दण्डाणुजन्य मस्तिष्कावरण प्रदाह (Typhoid Meningitis) यह प्रकार कभी कभी आंत्रिक ज्वर में उपद्रव के रूप में पाया जाता है। मस्तिष्क-सुषुम्ना द्रव स्वच्छ अथवा गंदला हो सकता है। मृत्यु अधिकतर हो जाती है, कुछ रोगी विशेषतया बच्चे बच सकते हैं।

फिरङ्ग चक्राणुजन्य अथवा फिरङ्गीय मस्तिष्कावरण प्रदाह—*Syphilitic Meningitis or Spinal Meningo-vascular* Syphilis) उपदंश प्रकरण में देखें।

जीवाणुरहित मस्तिष्कावरण प्रदाह (*Aseptic meningitis*)-सौम्य मस्तिष्कावरण प्रदाह के लक्षण (बुखार लगभग १०१°, वमन सिरदर्द, गले रीढ़ आदि में कड़ापन, नेत्रनाड़ी का घात अथवा अक्षितारिका शोथ, अर्दित आदि) मिलते हैं। मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव दबावयुक्त किन्तु स्वच्छ या किंचित गंदला रहता है। प्रोभूजिनों की अत्यल्प वृद्धि होती है किन्तु शर्करा और नीरेय (*Chlorides*) स्वाभाविक मात्रा में रहते हैं। कोषों की थोड़ी वृद्धि होती है, लसकायाणूत्कर्ष (*Lymphocytosis*) होसकता है। संवर्धन (*Culture*) करने पर कोई जीवाणु नहीं मिलते।

रोगकाल थोड़े दिनों का है और मृत्यु प्रायः नहीं होती।

लसिकीय मस्तिष्कावरण प्रदाह अथवा मस्तिष्कावरण प्रक्षोभ (*serous Meningitis or meningism*)- कई तीव्र ज्वर में मस्तिष्क-सुषुम्ना द्रव यद्यपि जीवाणु रहित और स्वच्छ रहता है तथापि उसका दबाव (निपीड़, *Pressure* बढ़ा हुआ रहता है। लसकायाणुओं की किंचित वृद्धि हो सकती है किन्तु शर्करा और नीरेय सामान्य रहते हैं। मस्तिष्कावरण में कोई वैकृतिक परिवर्तन (*Pathological Changes*) नहीं होते। यह दशा आन्त्रिक बुखार, फुफ्फुस प्रदाह और मस्तिष्क लक्षणों से युक्त गंभीर तृतीयक विषम ज्वर में पाई जाती है, स्वतंत्र मामलों में कारण का पता नहीं लगाया जा सका है। ऐसा माना जाता है कि रोगजन्य विषों (*Toxins*) का प्रवेश मस्तिष्क-सुषुम्ना द्रव में होने से इसकी उत्पत्ति होती है।

कभी-कभी यह दशा मध्यकर्ण प्रदाह, निद्रालसी मस्तिष्कप्रदाह और चिरकारी मदात्यय रोग में भी पायी जाती है।

(१४) आन्त्रिक ज्वर, मोतीझिरा, मधुरा (*Typhoid Fever*)—इस बुखार की उत्पत्ति आंत्रिक बुखार दण्डाणु (*Bacillus Typhosus*) के द्वारा होती

है। संक्रमण रोगी व्यक्ति के मल-मूत्र, थूक आदि में स्थित दण्डाणुओं के अन्य व्यक्तियों के भोजन जल आदि पहुँच जाने से होता है। प्रायः मक्खियां इस रोग के प्रसार में सहायक होती हैं। कभी कभी यह रोग महामारी के रूप में फैलता है।

सम्प्राप्ति—आंत्रिक-ज्वर दण्डाणु आक्रान्त व्यक्ति की आंतों में स्थित रसवाहिनियों में से प्रविष्ट होकर रक्त में पहुँचते हैं जिससे रोग के प्रारम्भिक काल में रक्त में तृणाणुमयता (*Becteriemia*) रहती है किन्तु चूंकि ये दण्डाणु रक्त में वृद्धि नहीं करते इस लिए दोषमयता नहीं होती। इसकी वृद्धि विशेष रूप से यकृत, प्लीहा और आन्त्र समीपस्थ मैसेन्ट्रिक (*mesenteric*) ग्रन्थियों में होती है। ये दण्डाणु एक प्रकार के विष की उत्पत्ति करते हैं जिससे सार्वांगिक और स्थानिक लक्षण उत्पन्न होते हैं। स्थानिक लक्षण विशेष रूप से क्षुद्रान्त्र, प्लीहा, यकृत और अस्थिमज्जा में होते हैं।

क्षुद्रान्त्र के निचले भाग में और विशेषतः क्षुद्रान्त्र (Ileum) और उण्डुक (Caecum) की सन्धि के समीपस्थ लसिकीय तन्तुओं (Lymphoid Tissue) के अन्तर्गत पेयर के चकत्तों (Peyer's patches) और गुच्छों (solitary follicles) में

चित्र नं० १७ आन्त्रिक ज्वर में आंतों का प्रदाह
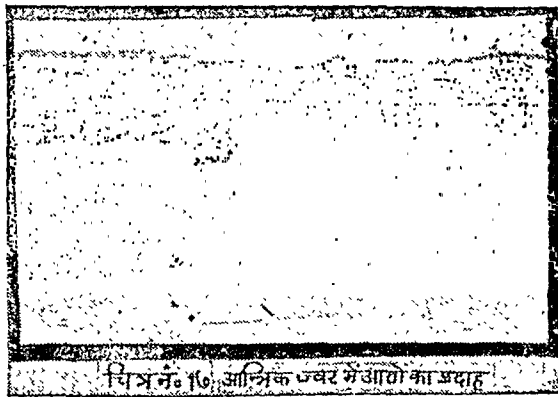
प्रदाह उत्पन्न करते हैं जो लगभग दसवें दिन शांत होता है और उसके बाद वहां के तन्तुओं का नाश होकर पपड़ी निकलने लगती है तथा व्रण बन जाते हैं। पेयर के चकत्तों में लम्बे और एकाकी गुच्छों में वृत्ताकर व्रण बनते हैं। रक्तस्राव प्रायः नहीं होता क्योंकि व्रण बनने के पूर्व ही वहां की रक्तवाहिनियों में रक्तस्कन्दल हो चुकता है। किन्तु कुछ रोगियों में गहरे व्रण बनने के कारण बड़ी रक्तवाहिनियों के खुल जाने से अथवा अन्य जीवाणुओं जैसे

चित्र नं० १८ आन्त्रिक ज्वर में आंतों के व्रण
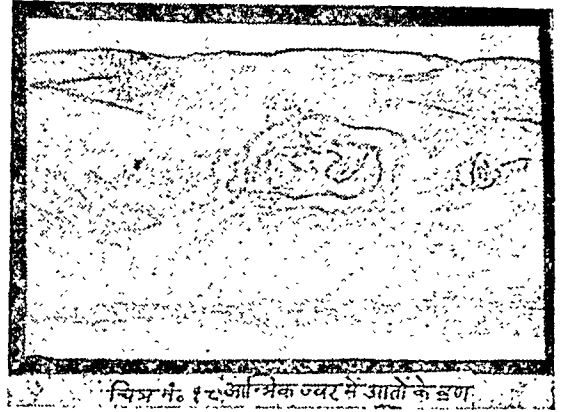
मालागोलाणुओं का संक्रमण हो जाने से रक्तस्राव होने लगता है जो कि एक घातक उपद्रव है। बहुत ही विरल मामलों में आन्त्र में छिद्र हो जाता है जो कि एक और भी अधिक घातक उपद्रव है। ये उपद्रव द्वितीय सप्ताह के अन्तिम भाग और तृतीय सप्ताह में कभी भी हो सकते हैं। चौथे सप्ताह में ये व्रण भर जाते हैं।

यकृत और प्लीहा में तनाव होता है और कोथ के छोटे-छोटे क्षेत्र एवं कभी एक बड़ा क्षेत्र (Infarction) उत्पन्न होते हैं। पित्ताशय का प्रदाह होता है और उसके भीतर स्थित पदार्थों में आन्त्रिक ज्वर दण्डाणु पाए जाते हैं जो आगे चलकर पित्ताश्मरी की उत्पत्ति कर सकते हैं। वृक्कों में घनशोथ (Cloudy swelling) होता है। कभी-कभी वृक्क-प्रदाह भी हो सकता है। मूत्र के साथ दण्डाणु निकलते हैं। कुछ मामलों में रोगशान्ति हो चुकने के काफी समय बाद तक पित्ताशय और वृक्कों में आन्त्रिक ज्वर के दण्डाणु पाए जाते हैं। इस प्रकार का व्यक्ति स्वस्थ जीवाणु-वाहक (Convalescent Carrier) कहलाता है, वह ऊपर से स्वस्थ

दिखते हुए भी अन्य लोगों को व्याधि के जीवाणु बांटता फिरता है।

लक्षण—ज्वर आने के पूर्व बेचैनी, सिरदर्द, सर्वांग में पीड़ा और शूल, अरुचि और कुछ रोगियों में नासा मार्ग से रक्तपित्त—ये पूर्वरूप होते हैं। ज्वर क्रमशः चढ़ता है, प्रतिदिन ज्वर में कुछ न कुछ वृद्धि होती है जब तक कि ज्वर अपने शिखर (fastigium) १०२° से १०४° तक नहीं पहुँच जाता। प्रतिदिन सुबह ज्वर में कुछ कमी रहती है किन्तु शाम की अपेक्षा कुछ न कुछ अधिक ही हो जाता है। अधिकांश मामलों में ज्वर की वृद्धि इसी प्रकार होती है किन्तु कई मामले इस नियम के अपवाद भी हुआ करते हैं।

छटवें या सातवें दिन तक रोगी की आकृति में बहुत कुछ परिवर्तन होजाता है। चेहरा रक्ताधिक्य से लाल किन्तु सुस्त दिखाई देता है। मुख और जिह्वा में शुष्कता आ जाती है। जिह्वा सफेद चिकने मैल से लिप्त रहती है किन्तु किनारे साफ, लाल और किंचित प्रदाहयुक्त भासते हैं। अरुचि आध्मान और उदर में गुड़गुड़ाहट होती है। अधिकांश रोगियों को मलावरोध रहता है किन्तु कुछ को अतिसार होता है। कुछ रोगियों विशेषतया यूरोपियनों को नासामार्ग से रक्तपित्त की प्रवृत्ति होती है। सिर दर्द प्रारम्भ से ही थोड़ा-बहुत अवश्य रहता है किन्तु इस समय वह तन्द्रा या प्रलाप का रूप ग्रहण कर लेता है। नाड़ी ज्वर के अनरूप तीव्र नहीं रहती, दबाव कम रहता है और दोहरे झटके एक बड़ा और एक छोटा देकर चलती है (*Dicrotic pulse*)। थोड़ा बहुत प्रतिश्याय अवश्य रहता है। सातवें दिन से लेकर दसवें दिन तक यूरोपियन रोगियों में राई के दानों के बराबर गुलाबी रङ्ग के कोठ धड़ पर दृष्टिगोचर होते हैं। ये कोठ दबाने से अदृष्य होजाते हैं। भारतीयों में इनके स्थान पर स्वेदज पिडिकाऐं (*sudaminal vesicles*) पायी जाती हैं। भारतीय वैद्य इन पिडिकाओं को मोतीझरा के दानों के नाम से जानते हैं और इन्हें मोतीझरा का खास चिह्न मानते हैं। यह धारणा भ्रामक है। इसके प्रकार के दानों से रहित आन्त्रिक ज्वर हो सकता है और अन्य ज्वरों में भी इस प्रकार के दानों की उत्पत्ति देखी गयी है।

दूसरे सप्ताह में ज्वर अपने शिखर पर ही रहा आता है। लगभग एकसा रहता है, सवेरे कुछ कम रहता है, इस समय रोगी लगभग आन्त्रिक ज्वर की दशा (*Typhoid state*) में रहता है। तन्द्रा रहती है अथवा संन्यास के समान अवस्था (किन्तु संन्यास नहीं, *Semicomatose*) रहती है और सिरदर्द की शिकायत प्रायः नहीं करता। मुख और जीभ की शुष्कता बढ़ जाती है, ओंठ फट जाते हैं और दांतों पर मैल की तह जम जाती है। श्रवण-शक्ति का ह्रास होजाता है। कुछ रोगियों को अतिसार होता है। दस्त पीले रंग के और साधारण बदबू से युक्त होते हैं। कमजोरी बहुत बढ़ जाती है और रोगी प्रलाप की अवस्था में धीरे-धीरे बड़बड़ाना हुआ पड़ा
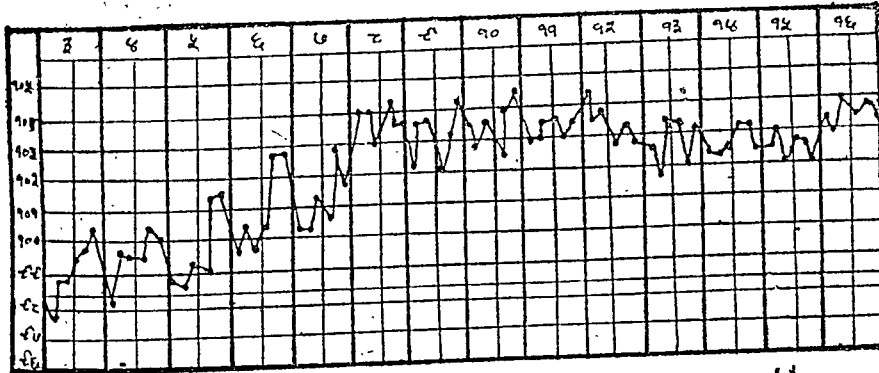
आन्त्रिक ज्वर का चार्ट
चित्र नं० ५

रहता है। श्वास नलिका एवं फुफ्फुस नलिका प्रदाह हो जाता है जिससे खांसी और श्वास की शिकायत हो जाती है। नाड़ी की गति में कुछ तीव्रता आजाती है किन्तु दबाव कम ही रहता है। प्लीहा और यकृत की किंचित् वृद्धि होजाती है जो टटोलकर मालूम की जा सकती है। मूत्र में श्विति (*Albumin*) और निनीलेन्य (*Indican*) एवं थोड़े से नलिका निर्मोक (*Tulu casts*) मिलते हैं। इस सप्ताह के अन्तिम दिनों में आन्त्र से रक्तस्राव अथवा आन्त्रभेद (आंत्र में छिद्र हो जाना (*Perforation*) होने की संभावना रहती है।

तृतीय सप्ताह में बुखार में उतार-चढ़ाव होने लगते हैं, कभी-कभी प्रातःकाल बुखार नहीं रहता। रोगी अत्यन्त कमजोर हो चुकता है किन्तु उसकी दशा दूसरे सप्ताह की अपेक्षा अच्छी रहती है। बुखार क्रमशः कम होता जाता है, आध्मान कम होता है, जीभ साफ होजाती है और भूख लगने लगती है। इस प्रकार वह क्रमशः स्वास्थ्य की ओर प्रगति करता है।

विपरीत अवस्थाओं में इस सप्ताह में द्वितीय सप्ताह के लक्षण और भी तीव्र रूप में पाये जाते हैं। रोगी धीरे-धीरे बड़बड़ाकर प्रलाप करता है, विस्तर पर कुछ पकड़ने के समान चेष्टा करता है (*Carphology*), अंगुलियां अकड़ती या कांपती हैं अथवा मुट्ठी बंधती और खुलती है (*subsultus Tendinum*) अथवा रोगी संन्यास की अवस्था में पड़ा रहता है किंतु नेत्र आधे खुले हुए *Coma Vigil*) रहते हैं। इसके साथ ही अवसाद के समस्त लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं—नाड़ी कमजोर और तीव्र गामिनी होती है एवं श्वास पूर्ण गहराई तक नहीं लिया जाता है। इस दशा को आन्त्रिकावस्था × (*Typhoid state*) कहते हैं।

× आन्त्रिकावस्था अन्य बहुत से रोगों में मिलती है वहां आन्त्रिक ज्वर से इसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। यह नामकरण उक्त लक्षणों के समूह मात्र का है।

चौथे सप्ताह में बुखार दूर होजाता है और उसके सभी लक्षण अदृष्य हो जाते हैं। स्वास्थ्य में धीरे धीरे उन्नति होती है।

सौम्य प्रकार—बुखार साधारण रहता है, लक्षण कम और उपद्रव प्रायः नहीं होते तथा दूसरे सप्ताह में ही ज्वर-मोक्ष हो जाता है। इस प्रकार के रोगी रोग के प्रसार में सहायक होते हैं। साथ ही उनकी उचित देख-रेख एवं चिकित्सा न होने के कारण रक्तस्राव, आन्त्रभेद, हृदयावरोध, अचानक संन्यास आदि उपद्रव होने की सम्भावना रहती है।

अति तीव्र प्रकार—कुछ रोगियों में आन्त्रिक बुखार का आक्रमण अस्वाभाविक तीव्रता और भयंकर लक्षणों के साथ होता है। प्रायः शीघ्र ही रोगी का अन्त हो जाता है अथवा भोगकाल अत्यधिक लम्बा होता है (५-६ सप्ताह या अधिक)।

कुछ मामलों में एकाएक जाड़ा लगकर तीव्र बुखार आता है जो शीघ्र ही अपने शिखर पर पहुँच जाता है।

कुछ मामलों में रोग का आरम्भ फुफ्फुसखण्ड-प्रदाह अथवा फुफ्फुसावरण प्रदाह (*Pleurisy*) के साथ होता है—(फौफ्फुसीय प्रकार *Pneumonic Type*)।

अन्य मामलों में त्रासदायक वमन और अतीसार अथवा आन्त्र-पुच्छ-प्रदाह (*Appendicitis*) के लक्षण होते हैं।

अन्य मामलों में मस्तिष्कावरण प्रदाह के समान मस्तिष्कगत लक्षण होते हैं—भयंकर सिरदर्द और अत्यधिक प्रलाप जिससे उन्माद का भ्रम हो। सुषुम्ना द्रव स्वच्छ पारदर्शक और जीवाणुरहित होता है; कभी कभी आन्त्रिक ज्वर दण्डाणु मिल सकते हैं; दबाव हमेशा अधिक रहता है—मस्तिष्क आन्त्रिक ज्वर(*Meningo-Typhoid*)बहुत ही विरल मामलों में तीव्र रक्तस्रावी वृक्क-प्रदाह (*Acute haemorrhagic nephritis*) के समान लक्षण हो ते हैं।

कुछ मामलों में रक्तस्राव की प्रवृत्ति पायी जाती है। रक्त के साथ काला रक्त जाता है (*Malaena*) मूत्र के साथ रक्त जाता है और त्वचा में रक्तस्राव होने के कारण लाल-काले चकत्तों की उत्पत्ति होती है। कुछ मामलों में मसूढ़ों और तुण्डिकाओं (*tonsils*) से रक्तस्राव अथवा आभ्यन्तर कोष्ठों में रक्तस्राव हो सकता है।

दूसरे मामलों में स्थानिक लक्षणों की उत्पत्ति न होकर घोर विषमयता होकर तीव्र बुखार आता है, मल-मूत्र की प्रवृत्ति अनजाने में ही हो जाती है नाड़ी कमजोर रहती है, प्रलाप होता है और आक्षेप आते हैं। लगभग एक सप्ताह में मृत्यु हो जाती है।

शैशवीय प्रकार—यह सौम्य होता है। रक्तस्राव और आन्त्रभेद प्रायः नहीं होते। कुछ मामलों में फुफ्फुस नलिका प्रदाह एवं मस्तिष्क सम्बन्धी लक्षण हो सकते हैं। नाड़ी की गति मन्द नहीं रहती। वमन, अतिसार, आध्मान आदि लक्षण अधिकतर उपस्थित रहते हैं।

आन्त्र भेद(*Perforation*)—यह घातक उपद्रव तृतीय सप्ताह में उन रोगियों में उपस्थित होता है जिन्हें अतिसार और आध्मान अत्यधिक रहे हों। छिद्र होने का सबसे अधिक सम्भावित स्थान क्षुद्रान्त्र का निचला भाग है। आन्त्रभेद होते समय एकाएक उस स्थान पर शूल उठता है और उदर कड़ा हो जाता है। पीड़ित स्थान को छूने से भी पीड़ा होती है। रोगी का चेहरा उतरा हुआ दिखता है। नाड़ी एवं श्वास की गति तीव्र हो जाती है किन्तु तापमान घट जाता है। बाद में उदरावरण प्रदाह शुरू होते ही बुखार पुनः बढ़ जाता है। रक्त में बहुकारी श्वेतकायाणूत्कर्ष मिलता है। यह उपद्रव केवल शल्य-चिकित्सा के द्वारा साध्य है।

परीक्षाएँ—प्रथम सप्ताह—(१) रक्त संवर्ध सबसे अधिक निश्चयात्मक होता है। (२) प्रारम्भ में थोड़ा श्वेतकायाणूत्कर्ष (१०,००० से १२००० प्रति घन मिलीमीटर तक) और बाद में श्वेतकायाणुक्षय (५००० तक) होता है। (३) मूत्र में डायजो प्रति-

प्रौढ़ों और वृद्धों पर आन्त्रिक बुखार का आक्रमण बहुत कम हुआ करता है किन्तु यदि होता है तो लक्षण भयंकर होते हैं और मृत्यु होने की संभावना अधिक रहती है। फुफ्फुस खण्ड प्रदाह और हृदयावरोध हो जाना साधारण बात है। स्वास्थ्य अत्यन्त धीरे लौटता है। यदि पहले से राजयक्ष्मा अथवा मदात्ययरोग की उपस्थिति हो तो भविष्य और भी बुरा होता है।

सगर्भावस्था में आन्त्रिक ज्वर होने से गर्भपात या गर्भस्राव होने की सम्भावना रहती है।

चित्र नं० १९-अ
आन्त्रिक ज्वर के पुनरावर्तन (Relapse) का चार्ट
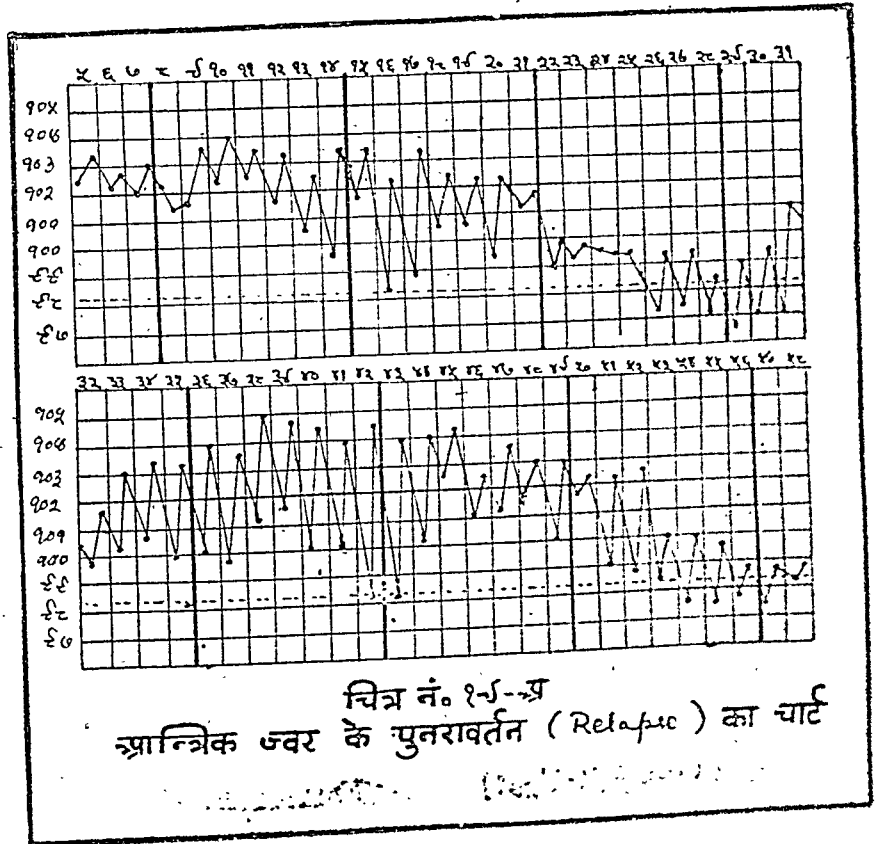
क्रिया (Diazo-reaction) मिलती है।

द्वितीय सप्ताह—विडाल परीक्षा (Widal reaction) एवं रक्त और मल के संवर्ध अस्त्यात्मक रहते हैं।

तृतीय सप्ताह—विडाल परीक्षा एवं मल और मूत्र के संवर्ध अस्त्यात्मक रहते हैं।

पुनराक्रमण (Relapse)—लगभग १०% मामलों में ज्वर मोक्ष होने के कुछ समय बाद (अधिक से अधिक २ सप्ताह के भीतर) पुनः बुखार आजाता है। इस बार भी रोग के लक्षण और क्रम प्रथम आक्रमण के समान होते हैं किन्तु भोगकाल अपेक्षाकृत कम रहता है।

कुछ रोगियों में पूर्णतया ज्वर मोक्ष हुए बिना ही पुनराक्रमण होजाता है। कुछ मामलों में कई बार पुनराक्रमण हो सकता है। पुनराक्रमण के कुछ मामले आन्त्रिक बुखार के न होकर कालज्वर के भी हो सकते हैं।

(१५) उपान्त्रिक ज्वर अथवा गौण आन्त्रिक ज्वर—(Paratyphoid fever)—इसकी उत्पत्ति करने वाले दण्डाणु ३ प्रकार के होते हैं—१. उपान्त्रिक अ दण्डाणु (B. Paratyphosus A.) २. उपान्त्रिक ब दण्डाणु (B. paratyphosus B.) और (३) उपान्त्रिक स दण्डाणु (B. paratyphosus C.) उन्हीं के अनुसार इस बुखार के ३ प्रकार होते हैं।
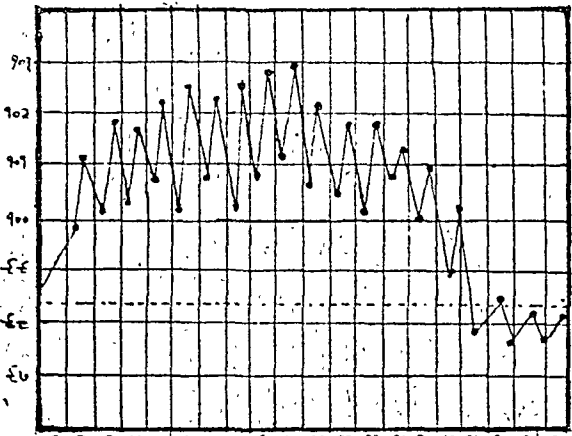
चित्र नं. २० उपान्त्रिक ज्वर का चार्ट (Paratyphoid-A)

प्रथम और द्वितीय प्रकार—ज्वर का आक्रमण तेजी के साथ, कभी कभी कम्प और वमन के साथ होता है। भोगकाल आन्त्रिक ज्वर से कम होता है और ज्वर शीघ्र ही घटने बढ़ने लगता है। लक्षण भी आन्त्रिक ज्वर की अपेक्षा सौम्य होते हैं। नाड़ी की गति मन्द रहती है। यकृत की वृद्धि पायी जाती है और उसके साथ कामला के भी लक्षण होसकते हैं किन्तु प्लीहावृद्धि नहीं पायी जाती।

कुछ रोगियों के बुखार का आरम्भ वमन, अतिसार आदि के साथ होता है जिससे भोजन विषाक्तता (*Food Poisoning*) की भ्रान्ति हो सकती है। आन्त्रिक ज्वर में जितने भी उपद्रव होते हैं वे सभी इसमें भी हो सकते हैं किन्तु अपेक्षाकृत सौम्य रहते हैं, कभी कभी आंत्रिक बुखार के समान उग्र भी हो सकते हैं।

द्वितीय प्रकार में क्षुद्रान्त्र की अपेक्षा बृहदन्त्र का प्रदाह अधिक होता है जिससे प्रवाहिका के लक्षण प्रकट हो सकते हैं।

कुछ रोगियों को पसीना काफी मात्रा में निकलता है। कुछ देशों में खास कर यूरोप आदि शीतप्रधान देशों में इस बुखार में त्वचा पर लाल रङ्ग के कोठ निकलते हैं, कुछ रोगियों में ये अत्यधिक हो सकते हैं। यदि रोगी को श्वासनलिका प्रदाह या फुफ्फुस खण्ड प्रदाह भी हो तो कफ में उपान्त्रिक दण्डाणु मिलते हैं।

परीक्षायें—प्रथम सप्ताह में रक्त संवर्ध और उसके बाद मल और मूत्र संवर्ध निश्चयात्मक होते हैं।

तृतीय प्रकार–*Paratyphoid C or salmonella Suipestifer Infection*)—इसके २ प्रकार होते हैं—(१) जनपदव्यापी और (२) वैयक्तिक।

१ जनपदव्यापी प्रकार—इसे भोजन-विषाक्तता की महामारी (*Epidemic of Food poisoning*) भी कहते हैं। संक्रमित भोजन का सेवन करने के बाद ६ से ४८ घंटों के भीतर तीव्र बुखार आता है जिसके साथ सिरदर्द, हृल्लास, वमन, अतिसार, उदरशूल आदि लक्षण होते हैं। ३ से ५ दिनों

में रोग या रोगी का अन्त होजाता है। मल में रोगोत्पादक दण्डाणु मिलते हैं।

वैयक्तिक प्रकार—आन्त्रिक बुखार के ही समान बुखार अपेक्षाकृत कम दिनों तक रहता है, प्लीहा की किंचित वृद्धि होती है, श्वेतकायाणुक्षय (*Leucopenia*) होता है और हृदय एवं नाड़ी की गति तीव्र रहती है। कुछ मामलों में प्रतिश्याय, कास, वमन, अतिसार अथवा मलावरोध, सिरदर्द, प्रलाप, तन्द्रा आदि लक्षण पाये जाते हैं किन्तु आंतों से रक्तस्राव या आन्त्र भेद नहीं होता। बहुत ही विरल मामलों में फुफ्फुसनलिका प्रदाह, सन्धिप्रदाह, पूयमय मस्तिष्कावरण प्रदाह, वृक्कपाक (*Pyonephrosis*) विद्रधि तृणाणुजन्य अन्तर्हृच्छोथ आदि उपद्रव हो सकते हैं।

शवपरीक्षा में प्लीहा की तीव्र (*Acute*) वृद्धि, यकृत में स्थान स्थान पर कोथ (*Food Necrosis*) वृक्कों में घनशोथ, और त्वचा में रक्तस्रावजन्य कोठ और मण्डल मिलते हैं किन्तु आंतों में व्रण नहीं मिलते।

(१६) आन्त्र-दण्डाणु-जन्य बुखार (Bacillus Coli Infection)—ये दण्डाणु आंतों में निर्विकार भाव से रहते हैं किन्तु कुछ विशेष कारणों से शरीर के अन्य भागों में पहुँच कर स्थानिक और सार्वदैहिक लक्षण उत्पन्न करते हैं।

सामान्य लक्षण—साधारणतः बुखार ठण्ड देकर आता है और अनियमित रीति से घटता बढ़ता रहता है। कभी कभी बुखार हर बार पूरी तरह से उतर कर पुनः चढ़ता है। दिन भर में दो या तीन बार तक बुखार का आक्रमण हो सकता है। कुछ मामलों में बुखार सौम्य प्रकार का होता है और थोड़े काल तक रहता है। अधिकतर उपसर्ग चिरकारी प्रकार का होता है जिसमें बुखार या तो बिलकुल नहीं रहता अथवा अनियमित रूप में बहुत दिनों तक बना रहता है। कुछ मामलों में ज्वर लौट-लौट कर आता है।

विशेष लक्षण—इनका वर्णन आश्रय भेद से किया जा रहा है:—

(१) मूत्रमार्गीय उपसर्ग (*Urinary infection*) यह प्रकार सबसे अधिक पाया जाता है। वृक्कों में जीवाणु स्थिति होने से गवीनी-मुख-प्रदाह (*Pyelitis*), मूत्राशय में होने से मूत्राशय प्रदाह (*cystitis*) और दोनों स्थानों में होने से दोनों का प्रदाह होता है।

तीव्र प्रकार का आक्रमण शीतपूर्वक तीव्र ज्वर (१०४°-१०५°) के साथ होता है। तापक्रम अनियमित रहता है और २४ घण्टों में ज्वर के कई वेग आ सकते हैं। बालकों में बुखार की तीव्रता अधिक रहती है और प्रलाप, तन्द्रा आदि मस्तिष्कगत उपद्रव भी होते हैं। गवीनी-मुख-प्रदाह में वृक्क के स्थान पर कुक्षि में पीड़ा होती है। कुछ मामलों में पीड़ा नहीं भी होती। किन्तु मूत्राशय प्रदाह के लक्षण अधिक स्पष्ट रहते हैं—मूत्राशय को दबाने से पीड़ा होती है और बार-बार मूत्र त्याग की इच्छा होती है किन्तु कुछ कष्ट के साथ मूत्रोत्सर्ग होता है। मूत्र की प्रतिक्रिया अम्ल (*Reaction acid*) होती है पूय-कोष अधिकतर काफी संख्या में विद्यमान रहते
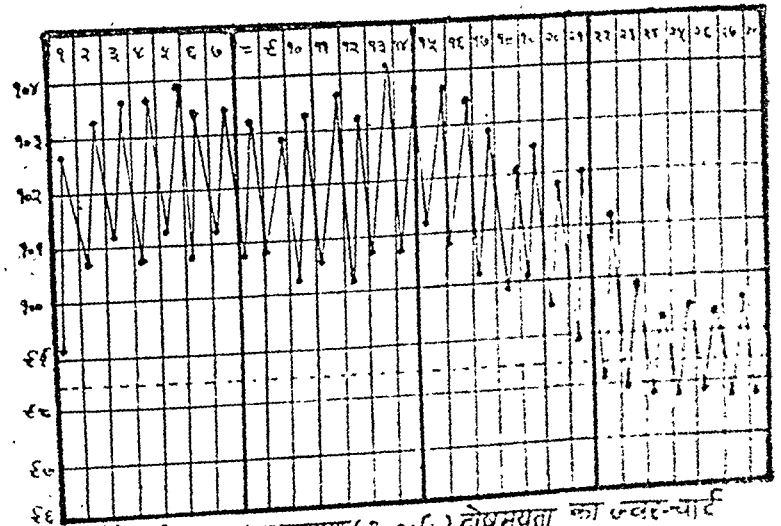
चित्र नं. २१ आन्त्र दण्डाणु (B. coli) दोषमयता का ज्वर-चार्ट

हैं और कभी-कभी श्लैष्मिक कला की उधड़नें भी पायी जाती हैं, देखने पर गंदलापन स्पष्ट भासता है। कुछ मामलों में मूत्र के साथ रक्त आता है। रोगी को मलावरोध रहता है और जिह्वा मलयुक्त रहती है। भोगकाल अनिश्चित है कुछ रोगी १-२ सप्ताह में अच्छे हो जाते हैं और शेष बहुत दिनों ... ड़ित रहते हैं पुनराक्रमण अक्सर होता है।

चिरकारी प्रकार तीव्र प्रकार के पश्चात् उत्पन्न होता है अथवा स्वतंत्र रूप से अथवा उत्तरवस्ति-नलिका प्रयोग (*Catheterisation*) के पश्चात् अथवा अष्ठीला (*prostate*) वृद्धि अथवा मूत्र-मार्ग-संकोच (*stricture* या अश्मरी के कारण उत्पन्न होता है। इसमें अग्निमांद्य, रक्तक्षय, शक्तिहीनता तथा मूत्रोत्सर्ग में कष्ट आदि लक्षण होते हैं। मूत्र गंदला, मछली के समान दुर्गन्धित, प्रतिक्रिया में अम्ल और पूय-कोषों से युक्त रहता है।

उपद्रव–पुरुषों में मूत्र-नलिका प्रदाह, अष्ठीला प्रदाह और उपाण्ड प्रदाह (*Epididymitis*) और स्त्रियों में डिम्ब नलिका प्रदाह (*salpingitis*) आदि उपद्रव होते हैं।

(२) आन्त्रीय उपसर्ग—सामान्यतः आन्त्र-दण्डाणु आंतों में किसी प्रकार का उपद्रव किये विना निवास करते हैं। किन्तु जब किसी कारणवश इनकी शक्ति और संख्या अत्यधिक बढ़ जाती है अथवा आंतों की प्रतिकारक शक्ति घट जाती है तब प्रदाह (*Gastro-enteritis*) और चिरकारी प्रकार में वृहदन्त्र प्रदाह तथा बालकों में अनुतीव्र (*sub-acute*) प्रवाहिका के समान लक्षण उत्पन्न होते हैं।

कभी-कभी आन्त्रदण्डाणु आन्त्रपुच्छ प्रदाह (*Appendicitis*), परिवृहदन्त्रप्रदाह (*Pericolic inflammation*) और उदरावरण प्रदाह की भी उत्पत्ति करते हैं। यदि इन दशाओं में अन्य पूयोत्पादक तृणाणुओं का भी उपसर्ग होजावे, तो स्थिति अत्यन्त भयंकर हो जाती है।

(३) याकृत उपसर्ग—(*Hepatic Infection*)–कुछ मामलों में पित्ताशय प्रदाह (*Cholecystitis*) होता है जिसके फलस्वरूप पित्ताश्मरी (*Gall-stone Biliary Calculas*) की उत्पत्ति होती है।

(४) दोषमयता (*B. Coli Septicaemia*)—यह अधिकतर जीर्ण-शीर्ण रोगियों में अन्तिम उपद्रव हुआ करती है, स्वतन्त्र भी हो सकती है। यह प्रायः घातक ही हुआ करती है किन्तु कुछ रोगियों में आन्त्र दण्डाणु वृक्कों में पहुँचकर स्थानिक लक्षण उत्पन्न कर देते हैं एवं सार्वदैहिक लक्षणों की शान्ति हो जाती है।
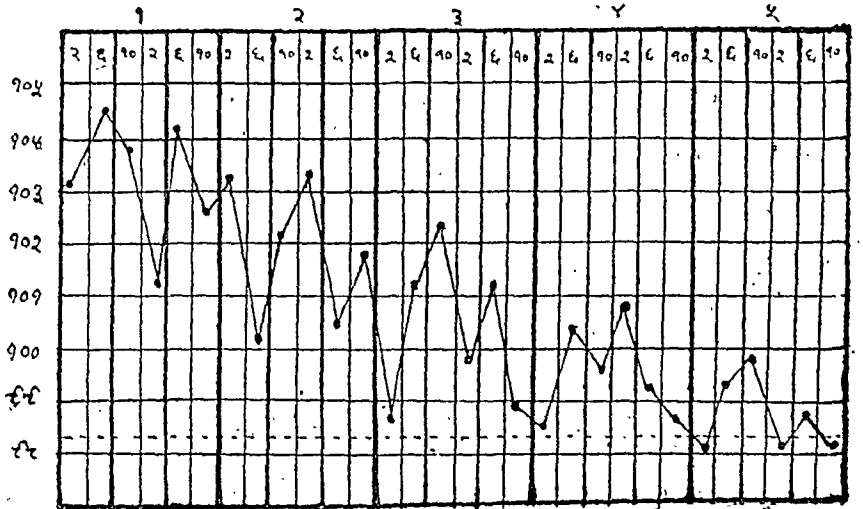
चित्र नं० २२ आन्त्रदण्डाणु जन्य पूयमयता का ज्वर चार्ट

(१७) क्षारीय-मल दण्डाणुजन्य-ज्वर (*Bacillus Faecalis Alkaligenes Infection*)—यह आन्त्रवासी दण्डाणु भी दोषमयता उत्पन्न करके आन्त्रिक ज्वर के समान ज्वर उत्पन्न करता है। लक्षण सौम्य होते हैं और भोगकाल कम रहता है (३ से ६ दिन तक)। नाड़ी में साधारण मन्दता रहती है और आंत्र-प्रदाह के लक्षण कुछ न कुछ

अवश्य मिलते हैं। ज्वर में उतार-चढ़ाव अधिक होता है। कभी-कभी ज्वर अधिक दिनों तक रहता है, विषमयता होती है और मूत्र में दण्डाणु मिलते हैं।

चित्र नं० 23 क्षारीय मल दण्डाणु जन्य ज्वर का चार्ट
(B. Faecalis Alkalgenes Infection)

(१८) अन्नगर-दण्डाणुजन्य-ज्वर (*B. Enteritidis and Aertrycke Bacteriaemia*)—ये जीवाणु रक्त में प्रवेश करके एकाएक शीतपूर्वक सन्तत-ज्वर की उत्पत्ति कर देते हैं। लक्षण आन्त्रिक ज्वर के समान होते हैं और ज्वर लगभग २ सप्ताह में शांत होता है। अन्नगर प्रकोप (*Ptomaine Poisoning*) के लक्षण प्रायः नहीं होते।

(१९) मक्षिकादंश-ज्वर (*Tularaemia*)—यह ज्वर अमेरिका, जापान, सैबीरिया आदि देशों में पाया जाता है। इसकी उत्पत्ति का कारणभूत तृणाणु टुलारेंसिन्स (*P. Tularensis*) है जो प्रथम गिलहरी, खरगोश, भेड़ आदि प्राणियों पर आक्रमण करता है और उनसे खून चूसने वाली मक्खियों के द्वारा मानवशरीर में प्रविष्ट होता है।

चयकाल २ से ५ दिनों तक का है। दंश स्थान पर एक पिडिका उत्पन्न होती है। सम्बन्धित लस-ग्रन्थियां सूज जाती हैं, उनमें पीड़ा होती है और पाक भी हो सकता है। लगभग २-३ सप्ताह तक सन्तत ज्वर रहता है जो अनियमित रीति से घटता-बढ़ता रहता है। अनियमित अर्धविसर्गी ज्वर (*Irregular Remittent fever*)। आरोग्य-लाभ धीरे-धीरे होता है।

(२०) लहरी ज्वर, माल्टा ज्वर (*Undulant Fever, Abortus Fever, Malta Fever, Brucellosis*) इस ज्वर की उत्पत्ति ब्रुसेल्ला (*Brucella*) नामक तृणाणु से होती है जो पीड़ित गायों और बकरियों के दूध के साथ मानव-शरीर में प्रविष्ट होता है। यह रोग दक्षिणी यूरोप, आफ्रिका और अमेरिका में पाया जाता है; पंजाब में भी पाया गया है।

चयकाल ६ से १४ दिनों तक का है। और रोग के आरम्भ में बेचैनी, हाथ-पैरों विशेषतया आंखों में पीड़ा, सिर में पीड़ा, मलयुक्त जिह्वा, मलावरोध आदि लक्षण होते हैं। ज्वर क्रमशः बढ़कर अर्धविसर्गी (*Remittent*) रूप धारण कर लेता है। लगभग ३ सप्ताह बाद अत्यधिक पसीना निकलकर ज्वर-शान्ति हो जाती है किन्तु दो ही चार दिनों के बाद पुनः बुखार आ जाता है और लगभग उतने ही दिनों तक उसी प्रकार रहता है। इस प्रकार बुखार के चढ़ने उतरने का क्रम कई महीनों तक चल सकता है। संधियों में आमवातिक बुखार के समान पीड़ा हो सकती है। यकृत और विशेषतया प्लीहा की वृद्धि होती है। रक्त के लाल कणों और श्वेतकणों का क्षय होता है और लसकायाणूत्कर्ष (*Lympocytosis*) होता है। श्वासनलिका प्रदाह, फुफ्फुसनलिका प्रदाह, नाड़ीप्रदाह, (*Neuritis*) वृषणग्रन्थिप्रदाह, पापाणगर्दभ एवं स्त्रियों में स्तन-प्रदाह, अत्यार्तव और गर्भपात आदि उपद्रव हो सकते हैं।

(२१) आमवातिक ज्वर, आमवात (Rheumatic Fever)—इसका वर्णन अध्याय २५ में मिलेगा।

(२२) प्रलापक ज्वर, तन्द्रिक ज्वर (Typhus Fever) इस ज्वर के लिए श्री घाणेकर जी ने और श्री शिवनाथ जी खन्ना ने 'तन्द्रिक बुखार' नाम दिया है किन्तु स्वामी कृष्णानन्द जी ने स्वलिखित 'चिकित्सा तत्व प्रदीप' में इसे 'प्रलापक बुखार' नाम दिया। 'प्रलापक' ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है क्योंकि इस बुखार में तन्द्रा की अपेक्षा 'प्रलाप' का ही प्राधान्य पाया जाता है।

इस बुखार की उत्पत्ति रिकेट्सिया (Rickettsia) वर्ग के जीवाणुओं से होती है जो इतने सूक्ष्म होते हैं कि सूक्ष्मदर्शक यंत्र से भी स्पष्टरीत्या नहीं देखे जासके हैं। सन् १९०९ में डा० रिकेट्स (Ricketts) ने इनके संबन्ध में थोड़ा सा प्रकाश डाला था। उनका कथन है कि ये जीवाणु यमल गोलाणु के सदृष (Diplococcoid) होते हैं और ग्राम-रंजन से अप्रभावित (Gram negative) रहते हैं। मनुष्यों में इनका संक्रमण जूं, पिस्सू, किल्ली, कुटकी, (Mite) आदि कीड़ों के काटने से होता है। प्रत्येक से भिन्न भिन्न जाति के जीवाणुओं की प्राप्ति होती है और बुखार के लक्षणों में विभिन्नता भी रहती है। इनका वर्णन पृथक्-पृथक् किया जाता है—

(i) यूका (जूं) जन्यप्रलापक ज्वर–(True Typhus Fever, Typhus Exanthemations)—यह बुखार महामारी के रूप में फैलता है। सन् १८७५ में केवल लन्दन में १४९९ व्यक्ति इस रोग से मरे थे। इसका प्रकार जुओं (Head Lice) और चीलरों (Body Lice) से होता है। यह महामारी

चित्र नं० १२-(११)
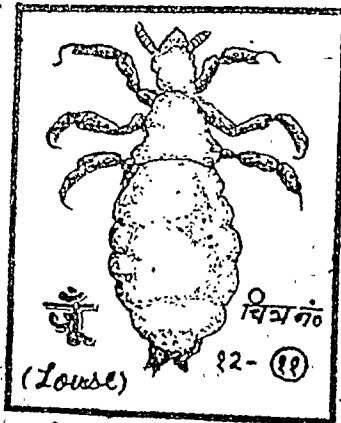
विशेषतया शीत प्रधान और समशीतोष्ण देशों में फैलती है, वैसे संसार के किसी भी भाग में हो सकती है। किसी भी आयु या लिंग के व्यक्ति को यह नहीं छोड़ती किन्तु प्रौढ़ों में यह विशेषतया घातक सिद्ध होती है। चिकित्सकों पर भी इसका प्रभाव बहुत अधिक होता है। अन्य किसी भी संक्रामक रोग का चिकित्सकों पर इतना प्रभाव नहीं होता। महामारी काल में रोगियों से सम्पर्क रखने वाले सभी चिकित्सक आक्रान्त हो सकते हैं। (आयर्लैण्ड में २५ वर्षों में १२३० में से ५५० चिकित्सक इस रोग से मरे थे। गंदगी, गरीबी, भुखमरी और बहुत से आदमियों का संकीर्ण स्थान में रहना—इस रोग की उत्पत्ति में सहायक होते हैं।

यह बुखार भारत में पंजाब, सीमाप्रान्त और हिमालय प्रदेश में पाया जाता है। पूना, बंगलोर, बम्बई, मद्रास, लखनऊ और कलकत्ते में भी फुटकर रोगी पाये गये हैं।

चयकाल ५ से २० दिनों का है। लगभग दो दिनों तक अरति, सिरदर्द, वमन आदि पूर्वरूप लक्षित होते

प्रलापक ज्वर का चार्ट चित्र नं० २४
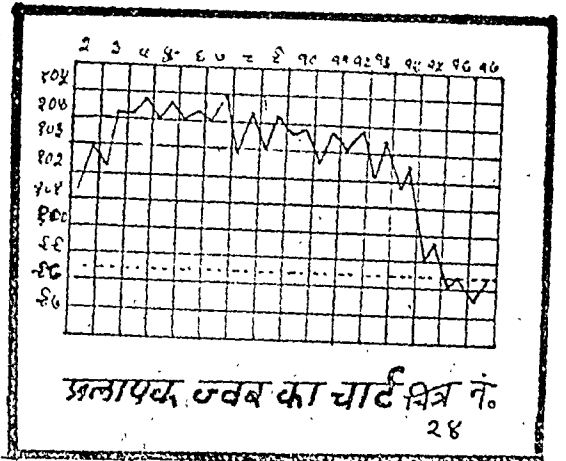
हैं और फिर एकाएक ठण्ड लगकर या विना ठण्ड लगे तेजी के साथ बुखार आता है जो १०३° या १०४° तक बढ़ता है चेहरा और आंखें रक्ताधिक्य से लाल प्रतीत होते हैं। तीव्रप्रकार में अत्यन्त कमजोरी एवं प्रलाप या संन्यास होता है। श्वास से बदबू आती है, जीभ मैली और अन्न के प्रति अरुचि रहती है।

कुछ रोगियों में अत्यधिक वमन, नासागत रक्तपित्त और अनिद्रा आदि लक्षण भी उपस्थित रहते हैं।

चौथे या पांचवें दिन कक्षा (बगल, कांख) वक्ष, उदर और हाथों के भीतरी भागों पर लाल रंग के सूक्ष्म दाने निकलते हैं जो चेहरे को छोड़कर सारे शरीर में फैल जाते हैं। ये दाने दबाने से अदृष्य हो जाते हैं। कुछ रोगियों में ये पिडिकाओं और मण्डलों का रूप भी धारण कर लेते हैं। इस समय रोगी की मानसिक शक्ति शिथिल हो जाती है और पड़ा रहता है। मांसपेशियों में अकड़न भी होती है। नेत्रतारिकाऐं संकुचित रहती हैं। इस प्रकार वह 'आन्त्रिकावस्था' (*Typhoid state*) में रहता है। कुछ रोगियों के शरीर से एक विशेष प्रकार की बदबू आती है। चौदहवें दिन बुखार एकाएक तेजी के साथ उतर जाता है—दारुण मोक्ष (*Crysis*)।

रक्त में प्रारम्भिक दिनों में श्वेत कायाणु क्षय (*Leucopenia*) और बाद के दिनों श्वेतकायाणूत्कर्ष (*Leucocytosis*) लक्षित होता है। वेल फेलिक्स परीक्षा (*Veil felix reaction*) से रोग निर्णय होता है।

उपद्रव—कर्णमूलिक-ग्रन्थि-प्रदाह और कोथमय-मुखपाक (*Noma*) की संभावना अधिक रहती है। कभी कभी श्वासनलिका प्रदाह, फुफ्फुस कोथ, वृक्क प्रदाह, विद्रधि, कोथ, पक्षवध, अस्थायी उन्माद आदि उपद्रव भी देखे जाते हैं। सगर्भा स्त्रियों को गर्भपात हो जाता है।

(*ii*) पिस्सूजन्य प्रलापक ज्वर (*flae typhus, Brill's disease*)—इस बुखार का संक्रमण चूहों के पिस्सुओं के काटने से होता है। सर्व प्रथम चूहे बीमार होते हैं और फिर उनके पिस्सू इस व्याधि को मनुष्यों में प्रसारित करते हैं। इस रोग से चूहों की मृत्यु नहीं होती।
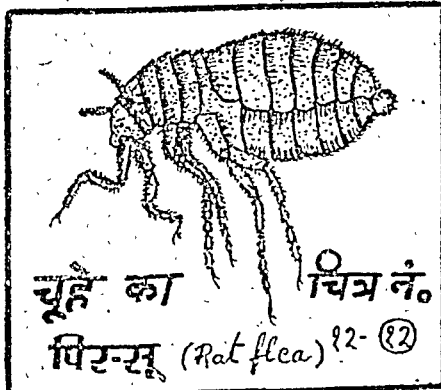
चूहे का पिस्सू (Rat flea) चित्र नं० १२- (१२)

इसके लक्षण यूकाजन्य प्रलापक बुखार के समान किन्तु सौम्य होते हैं। मृत्यु संख्या भी कम होती है। यह महामारी के रूप में नहीं फैलता।

(*iii*) किल्लीजन्य प्रलापक ज्वर (*Tick-bite fever*)—कुत्तों के शरीर पर चिपका रहने वाला एक कीड़ा जिसे किल्ली, किलनी या चिचड़ी कहते हैं यह रोग कुत्तों से मनुष्यों में फैलता है। यह बुखार भारत में गिलगिट, नैनीताल, भीमताल आदि स्थानों में पाया जाता है।

नर-किल्ली (Male tick) चित्र नं० १२ (c)

मादा-किल्ली (Female tick) चित्र नं० १२ (d)
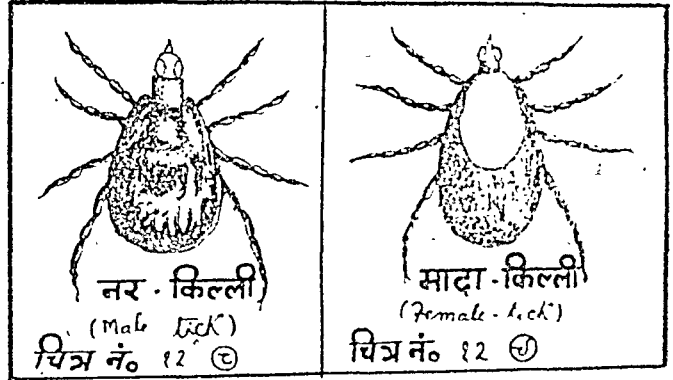
बुखार का आक्रमण अचानक होता है। सिर, कमर एवं हाथ-पैरों में पीड़ा होती है। चेहरा और नेत्र लाल रहते हैं। लाल रंग के सूक्ष्म दाने सर्व-प्रथम हाथ-पैरों और फिर सारे शरीर पर निकलते हैं। त्वचा का रंग ज्वर मोक्ष के बाद भी कई दिनों तक लाल सा (*Brown*) रहा आता है। ज्वर मोक्ष १० वें या १६ वें दिन अचानक तेजी से (दारुण मोक्ष) होता है। वेल फिलिक्स की परीक्षा प्रायः नकारात्मक (*Negative*) होती है। एक वार आक्रमण हो चुकने पर प्रतिकारक क्षमता (*Immunity*) उत्पन्न हो जाती है।

(*iv*) कुटकीजन्य प्रलापक ज्वर (*Mite-borne typhus, Japanese river-fever*)—यह बुखार रोगी जन्तुओं के शरीर पर रहने वाले कुटकी नामक कीट विशेष के काटने से फैलता है। यह जापान

देश में नदी किनारे के ग्रामों में विशेष रूप से पाया जाता है । भारत में भी पाया गया है।

इसमें जाड़ा लगकर तीव्र ज्वर (१०२° से १०५° तक) अकस्मात् आजाता है। मोक्ष १२ से २१ दिनों के भीतर होता है। कुटकी के दंश के स्थान पर व्रण हो जाता है और आसपास की लसिका ग्रंथियों में शोथ हो जाता है । श्वेत कणों का क्षय निरन्तर होता है। शेष लक्षण सामान्य हैं।

अन्य प्रकार—

(v) राकी पर्वत का ज्वर (Rockey mountain Fever)—प्रलापक ज्वर का यह प्रकार अमेरिका के राकी पर्वत के आसपास पाया जाता है। चूहे गिलहरी आदि प्राणियों के शरीर पर रहने वाली किल्ली इस रोग का प्रसार करती है।

चयकाल लगभग १ सप्ताह का है। ज्वर जाड़ा लगकर आता है। आंत्रिक ज्वर के समान तापक्रम में प्रतिदिन वृद्धि होती है। सिर, पीठ और संधियों में पीड़ा होती है। दाने १ से ५ दिनों के भीतर निकल आते हैं और अत्यधिक घने होते हैं। इनके निकलने के समय पर बेचैनी, अनिद्रा, मलयुक्त शिह्वा मलावरोध, पीलिया (Jaundice), प्लीहावृद्धि और थोड़ा प्रतिश्याय होता है। १० से १४ दिनों में धीरे धीरे (सौम्य मोक्ष Lysis) ज्वर उतर जाता है।

(vi) परिखा ज्वर (Trench Fever)—

यह ज्वर सन् १९१४-१९१८ के महायुद्ध में पश्चिमी मोर्चे के सैनिकों में फैला था। सम्भवतः इसके कारणभूत जीवाणु रिकेट्सिया वर्ग के ही हैं और जुओं के द्वारा उनका प्रचार होता है।

चयकाल १ से २ सप्ताह का है। ज्वर अचानक आता है। पुनराक्रमण की संभावना रहती है । सारे शरीर में पीड़ा, हृल्लास, वमन, अतिसार अथवा मलावरोध आदि लक्षण ज्वर के साथ उपस्थित रहते हैं।

(२३) श्लैपदिक ज्वर (Filariasis)—अध्याय ३९ में 'श्लीपद' शीर्षक के अन्तर्गत देखें।

(२४) गण्डूपद कृमिजन्य ज्वर (Ascariasis, Round-Worm Infection)—अध्याय ७ 'कृमि-रोग' शीर्षक के अन्तर्गत देखें।

(२५) शिस्टोसोमा कृमिजन्य ज्वर (Schistosomiasis, Bilharziasis)—शिस्टोसोमा कृमि का दूसरा नाम बिलहार्जिया भी है। यह यकृत, प्लीहा, वृहदन्त्र अथवा मूत्र संस्थान में रहकर ज्वरादि सार्वांगिक लक्षण एवं उस स्थान के क्षोभ से उत्पन्न स्थानिक लक्षणों की उत्पत्ति करता है। इसके द्वारा अधिकतर अर्धविसर्गी (Remittent) अथवा पुनरावर्तक (Relapsing) ज्वर की उत्पत्ति होती है ।

विशेष वर्णन कृमि रोगों के अन्तर्गत अध्याय ७ में किया जावेगा।

(२६) लूता विषजन्य ज्वर—विषरोग निदान अध्याय ६९ में देखें।

(२७) वृश्चिक-विषजन्य ज्वर—विषरोग निदान अध्याय ६९ में देखें।

(२८) फिरंगजन्य ज्वर (Fever due to Syphilis)—अध्याय ४७ उपदंश निदान में देखें।

(२९) परंगीजन्य ज्वर (Fever due to yaws)—अध्याय ४९ कुष्ठ-निदान में देखें ।

(३०) पुनरावर्तक ज्वर—(*Relapsing fever spirilum fever spirochaetosis*)—यह ज्वर भारतवर्ष में मध्यप्रान्त, पंजाब और सीमाप्रान्त में पाया जाता है। ईरान, चीन, यूरोप, अफ्रीका और अमेरिका के उष्ण भागों में भी पाया जाता है। युद्ध और अकाल के दिनों में यह महामारी के समान फैलता है।

इसकी उत्पत्ति कई प्रकार के चक्राणुओं *spiroceaeta*) से होती है। भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न जातियों के उत्पादक चक्राणु पाये जाते हैं, और लक्षणों में भी विभिन्नता होती है। इनका प्रसार अधिकतर जुओं (*Pediculus*), खटमलों (*Bed bugs*) और कभी-कभी किल्लयों (*Ticks*) के द्वारा होता है और २४ दिनों तक संक्रामक रहता

है। इस दशा में जब वह किसी स्वस्थ व्यक्ति को काटता है तब खुजलाने से जूँ कुचल जाता है और चक्राणु स्वतंत्र होकर खुजलाने से बने हुये खरोंचों में से प्रविष्ट होजाता है।
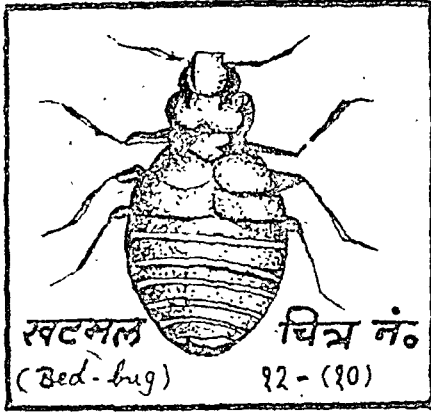
चयकाल २ से १२ दिनों तक का है। इसके बाद जाड़ा लगकर तीव्र बुखार(१०४°या अधिक) आता है सारे शरीर में, विशेषतया हाथ-पैरों और सिर में भीषण पीड़ा होती है और प्रलाप होता है। यकृत और प्लीहा की साधारण वृद्धि होती है। मलावरोध-मलयुक्त जिह्वा, हृल्लास, वमन (कभी-कभी पित्त-वमन), कभी-कभी उदर शूल और कामला होते हैं। कभी-कभी गले के आसपास-गुलाबी रंग के दाने या चकत्ते उत्पन्न होते हैं जो बाद में सारे शरीर में फैल जाते हैं। प्रतिश्याय अधिकतर उपस्थित रहता है। नाड़ी अधिकतर तीव्र रहती है। ज्वर काल में हृदय का किंचित् विस्फार और वह्वाकारी श्वेतकायाणूत्कर्ष उपस्थित रहते हैं।

बुखार अर्धविसर्गी प्रकार का रहता है और अक्सर ५-६ वें दिन उतरने लगता है और फिर एक सप्ताह बाद पुनः चढ़ आता है और फिर ३ या ४ दिन उतर जाता है (अधिकतर दारुण मोक्ष *Crysis*)। इसके पश्चात् ५-७ दिनों तक बुखार का आक्रमण पूर्ववत् होता है। प्रत्येक सज्वरावस्था और विज्वरावस्था का चक्र लगभग १२-१६ दिनों का होता है। कभी-कभी एक ही चक्र उपस्थित होता है परन्तु अधिकतर दो चक्र और कभी-कभी दो से भी अधिक चक्र उपस्थित होते हैं। बाद के चक्रों में बुखार सौम्य प्रकार का रहता है और बुखार का समय भी अपेक्षाकृत कम रहता है। आरोग्यलाभ बहुत दिनों में अत्यन्त धीरे-धीरे होता है।
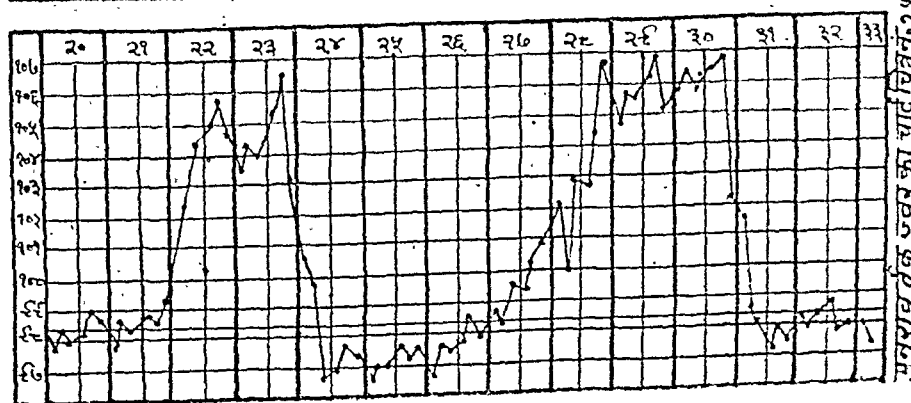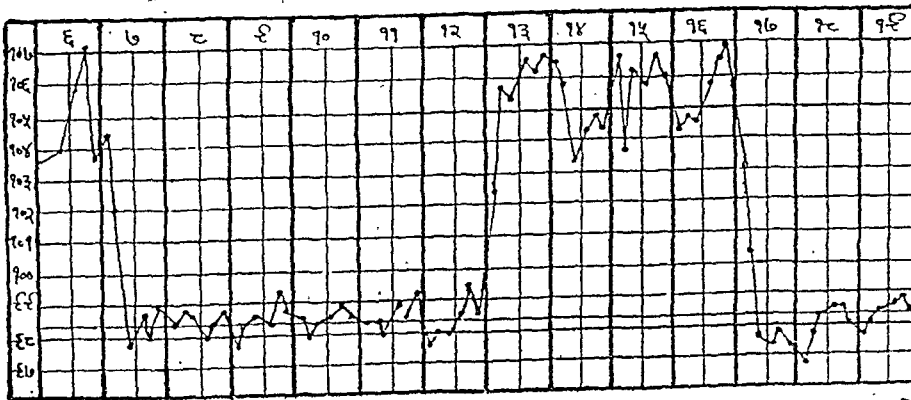
प्रत्यावर्तक ज्वर का चार्ट चित्र नं० २५

उपद्रवरूप कर्णमूलिक ग्रंथि शोथ, कर्णपाक, अनेक संधियों का प्रदाह, वृक्कप्रदाह, नेत्राभिष्यन्द, तारामण्डल प्रदाह, फुफ्फुसखण्ड महामारी के रूप में फैलती है तब मृत्युसंख्या बहुत अधिक (५० प्रतिशत तक) होती है वैसे साधारणतया ५ से १० प्रतिशत तक ही रोगी मरते हैं।

भारतीय प्रकार—बुखार प्रायः थोड़े ही दिनों तक रहता है किन्तु कुछ मामलों में अधिक दिनों तक रहता है एवं विषमयता भी अधिक होती है। यकृत की वृद्धि अधिक होती

है और कामला स्पष्ट भासता है एवं मूत्र में पित्त (*Bilirubin and Urobilin*) मिलता है। लसिका की वान-डेनवर्ग प्रतिक्रिया (*VanDen Bergh Reaction*) अस्त्यात्मक रहती है। मृत्यु संख्या अधिक रहती है।

किल्लीजन्य पुनरावर्तक ज्वर (*Tick relapsing fever*)—यह ईरान, अमेरिका के उष्ण प्रदेशों में पाया जाता है। लक्षण पूर्वोक्त के समान ही होते हैं किन्तु चक्रों की अवधि छोटी और संख्या अधिक रहती है। नेत्र और मलाशय संबन्धी उपद्रव अधिक होते हैं।

(३१) मूषक-दंश ज्वर (*Rat-bite fever*)–विष रोग निदान अध्याय ६६ में देखें।

(३२) संक्रामक कामला ज्वर (*Infectious Jaundice*)–अध्याय ८ कामला निदान में देखें।

(३३) जापानी मूषक-दंश ज्वर,जापान का सप्त दिवसीय ज्वर (*Seven day fever of Japan,Nanukayami*)—विषरोग निदान अध्याय ६६ में देखें।

(३४) वातश्लेष्म ज्वर (*Influenza, La-Grippe, Flu*)—इस बुखार की उत्पत्ति एक विषाणु(*Virus*) से होती है। संक्रमण अधिकतर बिन्दूत्क्षेप (*Droplet*) से होता है तथा यह व्याधि अत्यधिक संक्रामक है। इसके फुटकर रोगी यत्र-तत्र-सर्वत्र पाये जाते हैं किन्तु कभी-कभी यह भयंकर महामारी के रूप में भी फैलती है। इसका आक्रमण किसी भी देश के किसी भी आयु के स्त्री-पुरुष या बालक पर हो सकता है। एक बार आक्रान्त हो जाने पर प्रतिकारक-क्षमता (*immunity*) उत्पन्न नहीं होती वरन् पुनः आक्रमण होने की संभावना उत्पन्न हो जाती है। चयकाल एक या दो दिनों का है।

बुखार का आक्रमण अचानक होता है। अत्यन्त तेजी से जाड़ा और कंपकंपी के साथ तीव्र बुखार आता है जो अधिकतर कुछ ही घन्टों में अथवा अधिक से अधिक ३ दिनों में अपने सर्वोच्च शिखर पर पहुँच जाता है। सारे शरीर में और विशेषतया सिर में भयंकर पीड़ा होती है। प्रतिश्याय के लक्षण प्रकट होते हैं, गलतोरणिका लाल और रूक्ष रहती है, सूखी खांसी आती है एवं नेत्र लाल और पीड़ायुक्त रहते हैं। बुखार बहुत थोड़ा थोड़ा घटता-बढ़ता हुआ सन्तत रूप में ४-८ दिनों तक रहता है और अन्त में तेजी के साथ उतरता (लगभग दारुणमोक्ष) है। उपद्रवों के उत्पन्न होने पर बुखार अधिक दिनों तक रह सकता है। साधारणतया इस रोग का सामान्य आक्रमण कफज्वर अथवा प्रतिश्याय के समान होता है किन्तु अधिक त्रासदायक और शक्तिनाशक होता है। रक्त में थोड़ा श्वेतकायाणुक्षय पाया जाता है।

इस रोग के ४ भयंकर प्रकार हैं जिनका वर्णन नीचे किया जाता है।

(अ) श्वासमार्गीय प्रकार (*Respiratory*)—महामारी काल में यह प्रकार अत्यधिक पाया जाता है और इससे बहुत से लोग मरते हैं। इसमें वातश्लेष्म विषाणु के अतिरिक्त अन्य जीवाणुओं का भी उपसर्ग पाया जाता है और संभवतः वे ही रोग को अधिक भयंकर रूप देते हैं। फुफ्फुसगत उपद्रव अधिकतर तीसरे या चौथे दिन उत्पन्न होते हैं। उपद्रव प्रारम्भ होने के पूर्व कुछ रोगियों का बुखार कम हो जाया करता है। गलतोरणिका का प्रदाह नीचे की ओर फैलता हुआ फुफ्फुस तक पहुंच जाता है जिससे श्वासनलिका या फुफ्फुसनलिका प्रदाह के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

खांसी अत्यन्त कष्टदायक होती है। थोड़ा-थोड़ा कड़ा कफ मुश्किल से निकलता है। कुछ मामलों में कफ अधिक, रक्तयुक्त अथवा फेनयुक्त होसकता है। बुखार १०२° या अधिक रहता है एवं अर्धविसर्गी (*Remittent*) प्रकार का होता है। नाड़ी की गति मन्द अथवा किंचित् तीव्र रहती है किन्तु श्वास की गति तीव्र (४० या ५० या और भी अधिक प्रतिमिनिट) रहती है। रक्त में श्वेतकायाणुक्षय अथवा श्वेतकायाणूत्कर्ष होता है। कुछ मामलों में मुख पर

श्यावता (*Cyanosis*) लक्षित होती है जो कष्ट-साध्यता अथवा असाध्यता की सूचना देती है।

मस्तिष्क शिराप्रदाह, मध्यकर्णप्रदाह, तमक श्वास, राजयक्ष्मा आदि रोग इस रोग के फलस्वरूप उत्पन्न होते पाये गये हैं। कुछ रोगियों को थोड़ा श्वसनिका प्रदाह (*Bronchiolitis*) लम्बे समय तक रहा आता है जिससे भविष्य में श्वसनिकाभिस्तीर्णता (*Bronchiectasis*) होने की संभावना रहती है।

(ब) आमाशयांत्रीय प्रकार (*Gastro-intestinal*)-सामान्यप्रकार में अरुचि और अग्निसाद उपस्थित रहते ही हैं किन्तु इस प्रकार में वमन, उदरशूल, अतिसार और आमातिसार का तीव्र आक्रमण होता है एवं अत्यधिक शक्तिपात होता है। इस प्रकार के मामले छोटी सी महामारी के रूप में भी फैल सकते हैं। कुछ मामलों में आध्मान, अतिसार, रक्तयुक्त काला मल (*Melaena*) आदि लक्षणों के साथ सन्तत ज्वर रहता है। इस प्रकार के रोगियों की नाड़ी यदि मन्द हो और रक्त में श्वेतकायाणुक्षय हो तो आन्त्रिक ज्वर की भ्रांति हो सकती है। वैसे अधिकतर इसमें आन्त्रिक ज्वर के समान तीव्र सन्तत ज्वर नहीं रहता। कुछ मामलों में कामला भी पाया जाता है।

(स) वातोल्वण प्रकार (*Nervous*)-सज्वरावस्था में तीव्र शिरःशूल, प्रलाप और संन्यास उत्पन्न होते हैं जिनसे मस्तिष्कावरण प्रदाह का भ्रम होसकता है किन्तु कुछ मामलों में सचमुच ही मस्तिष्कावरण-प्रदाह होता है और मस्तिष्क-सुषुम्ना-द्रव में वात-श्लेष्म-दण्डाणु (*H. Influenza, Pfeiffer's Bacillus*) मिलते हैं। यदाकदा मस्तिष्कप्रदाह, सुषुम्नाप्रदाह (*Myelitis*) और वातनाड़ी प्रदाह (*Neuritis*) भी हो सकते हैं।

(ड) घातक प्रकार (*Malignant*)-भयंकर महामारी के काल में कुछ रोगी ऐसे मिलते हैं जिनमें घातक लक्षण प्रारम्भ से ही अथवा २-३ दिन बाद उत्पन्न होते हैं। बुखार अधिक तीव्र होता है विषमयता भी अधिक होती है और हृदय के कार्य घण्टों में या १-२ दिनों में हृदयावरोध होकर मृत्यु हो जाती है।

उपद्रव—श्वासमार्गीय आमाशयान्त्रिय और वातज उपद्रवों के अतिरिक्त हृदय-दौर्बल्य एक सामान्य उपद्रव है। रोगकाल में यह हृदयस्पंदनवृद्धि (*Palpitation*) और तीव्र नाड़ी से लक्षित होता है। संभवतः हृत्पेशीप्रदाह (*Myocarditis*) होने के कारण ऐसा होता हो। इन लक्षणों के साथ वाहिनी-गत नाड़ियों (*Vasomotor Nerves*) का निपात होने के कारण बहुत से रोगियों की मृत्यु हो जाती है। कुछ रोगियों के हृदय का थोड़ा विस्फार होजाता है जिससे श्वासकष्ट और हृत्प्रदेश में पीड़ा होती है। ये लक्षण रोगशांति के बाद लम्बे समय तक भी रह सकते हैं जिससे रोगी काम-काज करने में असमर्थ हो सकता है।

(३५) रोमान्तिका—(Measles)

(३६) जर्मन रोमान्तिका—(*German-measles, Rubeilla*)

(३७) लघु-मसूरिका, त्वङ् मसूरिका-(*Chicken-Pox*)

(३८) मसूरिका (*Small Pox, Variola*)

(३९) गौ-मसूरिका—(*Cow Pox*)

—इन पांचों (३५ से ३९ तक) का वर्णन अध्याय ५४ मसूरिका निदान में देखें।

(४०) दण्डक ज्वर, हड्डीतोड़ बुखार (*Dengue, Breakbone Fever*)-यह ज्वर कलकत्ता के आसपास एवं अन्य उष्ण प्रदेशों में वर्षा ऋतु के बाद कभी-कभी महामारी के रूप में फैलता है। इसका प्रसार एक विशेष जाति के मच्छड़ ऐडीज़ इजिप्टी (*Aedes Aegypti*) और संभवतः अन्य मच्छड़ों के द्वारा भी होता है। उत्पत्ति का कारण एक प्रकार का विषाणु है। आक्रमण किसी भी आयु के स्त्री पुरुष या बालक पर हो सकता है किन्तु मृत्यु प्रायः नहीं होती।
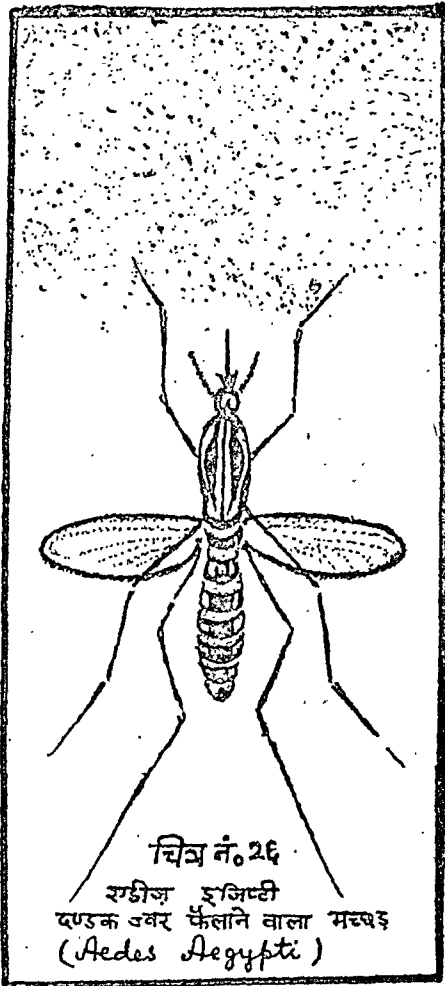
चित्र नं० २६
एडीज इजिप्टी
दण्डक ज्वर फैलाने वाला मच्छड़
(Aedes Aegypti)

रोग के प्रथम दो दिनों में रोगी को काटने वाले मच्छर संक्रमित हो जाते हैं और लगभग ६ दिनों में उनमें दूसरे मनुष्यों में रोग फैलाने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। मच्छर द्वारा विषाणु प्रवेश होने के बाद ५ से ६ दिनों के भीतर ज्वर का आक्रमण होता है।

रोग का आरम्भ वेपनसह तीव्र ज्वर से होता है जो शीघ्र ही बढ़कर १०२° से १०५° तक जाता है। चेहरा और नेत्र एवं कभी कभी सारा शरीर लाल हो जाते हैं। मुख और गले की श्लैष्मिक कला में भी रक्ताधिक्य के कारण लाली उत्पन्न हो जाती है। आंखों, सिर और कमर में एवं सारे शरीर में भयंकर पीड़ा होती है। गंभीर प्रकार में मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव का दबाव बढ़ जाता है तथा रीढ़ और शाखाओं में कठोरता आ जाती है जिससे रोगी पूर्णतया अचल हो जाता है। जिह्वा शुष्क और मलयुक्त रहती है, भूख नहीं लगती और उत्क्लेद, वमन, मलावरोध आदि लक्षण भी उपस्थित रहते हैं। सारे शरीर की त्वचा उष्ण, शुष्क (स्वेद रहित) और पीड़ायुक्त रहती है। कुछ रोगियों में उपद्रव स्वरूप नाक, आमाशय, आन्त्र, गर्भाशय आदि मार्गों से रक्तपित्त की प्रवृत्ति हुआ करती है।

ज्वर ३-४ दिन रहकर कम हो जाता है अथवा पूर्णतया उतर जाता है। इसके साथ ही पीड़ा और बेचैनी में भी कमी हो जाती है। किन्तु ७ वें या ८ वें दिन पुनः ज्वर का आक्रमण होता है जो लगभग उतना ही जोरदार होता है; पूर्वोक्त सभी लक्षण पुनः स्पष्ट हो जाते हैं तथा इस बार त्वचा में उद्भेद निकलते हैं। उद्भेद छोटे छोटे गुलाबी धब्बों के रूप में होते हैं जो बाद में मिलकर बड़े धब्बों में बदल जाते हैं। सर्वप्रथम इनका दर्शन हाथों और हथेलियों के पीछे और फिर क्रमशः अन्य भागों में होता है। कुछ रोगियों में रक्तस्रावी चकत्तों की भी उत्पत्ति होती है। उद्भेद पूर्णतया निकल आने पर ज्वर उतर जाता है एवं उद्भेद २-३ दिन रहकर शान्त हो जाते हैं तथा चमड़े का एक हल्का सा पर्त निकल कर त्वचा स्वस्थ हो जाती है।

प्रारम्भ में नाड़ी तीव्र रहती है किन्तु कुछ ही काल बाद सौम्य हो जाती है (ज्वर के अनुरूप तीव्रता नहीं रहती)। रक्त में श्वेतकायाणुक्षय, लसकायाणु वृद्धि एवं बह्वाकारी कायाणुओं का क्षय लक्षित होता है। कुछ रोगियों में रोगोपशम के पश्चात् उषसिप्रियता लक्षित होती है।

उपद्रव—सन्धिप्रदाह, लसिकाग्रन्थिप्रदाह, मस्तिष्क अथवा मस्तिष्कावरण प्रदाह, फुफ्फुसावरण प्रदाह, फुफ्फुसनलिकाप्रदाह, फुफ्फुसखण्ड प्रदाह, हृत्पेशी-प्रदाह आदि।

(४१) मरुमक्षिकादंश बुखार—(*Sand-fly fever, Phlebotomus fever, Three-day fever*)—अध्याय ६६ विषरोग निदान में देखें।

(४२) शुक-ज्वर (*Psittacosis*)—यह ज्वर तोते से प्राप्त होने वाले एक विषाणु के कारण उत्पन्न होता है। तोतों के सम्पर्क में रहने वाले एवं रोगी के सम्पर्क में रहने वाले व्यक्ति इससे पीड़ित होते हैं। चयकाल लगभग १० दिनों का है।

रोग का आक्रमण अचानक तीव्र ज्वर के साथ होता है। सिर दर्द, नासागत रक्तपित्त, हृल्लास, अतिसार आदि लक्षण उपस्थित होते हैं। क्रम लगभग आन्त्रिक ज्वर के समान होता है किन्तु गुलाबी चकत्ते प्रायः नहीं निकलते।

फौफ्फुसीय उपद्रव फुफ्फुसनलिका प्रदाह अथवा फुफ्फुसखण्ड प्रदाह अधिकतर पाये जाते हैं और रोग के प्रारम्भ में ही अथवा २-३ दिनों के भीतर उत्पन्न हो जाते हैं।

ज्वरमोक्ष लगभग ३ सप्ताहों में होता है। लगभग १५% प्रतिशत रोगी मरते हैं। कुछ मामलों में पुनराक्रमण होता है।

यह व्याधि अमेरिका (ब्राजिल देश), आस्ट्रेलिया, अफ्रीका और चीन में पायी जाती है।

(४३) पीतज्वर (*Yellow fever*)—इसका वर्णन अध्याय ८ पाण्डुरोग कामलादि निदान में देखें।

(४४) अंशुघात (*Sun-stroke, Heat-stroke, Thermic fever, Siriasis*)—जिन लोगों को तीव्र ताप सहन करने की आदत नहीं है उन्हें गर्मी के दिनों में प्रखर सूर्य-ताप में फिरने या काम करने से अथवा गर्म स्थान (भट्टी या एंजिन के पास) रहने या काम करने से यह रोग होता है। अत्यधिक परिश्रम से थकावट, प्यास रोकना, गीली आवहवा, वायुसंचार का अभाव और मद्यपान का व्यसन सहायक कारण हैं। यह रोग उष्ण देशों में ही अधिक पाया जाता है और शीतप्रधान देशों से उष्ण देशों में आये हुए लोग इससे अधिक पीड़ित होते हैं।

बाह्य ताप अधिक होने की दशा में मस्तिष्क में स्थित उत्तापनियन्त्रक केन्द्र (*Heat Regulating centre*) अधिकाधिक पसीना निकलकर शरीर के ताप को स्वाभाविक अवस्था में रखता है। किंतु यह कार्य निश्चित् सीमा तक ही सम्भव है जिसका उल्लंघन होने से उत्तापनियन्त्रक केन्द्र विकृत हो जाता है जिससे तीव्र ज्वर की उत्पत्ति होती है।

बाह्य ताप अधिक होने की दशा में पसीना निकलने से ही शरीर का ताप स्वाभाविक रह सकता है और पसीना निकलने के लिये अतिरिक्त जल की आवश्यकता होती है। यदि आवश्यकतानुसार जल का सेवन न किया जावे तो पसीना कम निकलने या न निकलने से शरीर के ताप की वृद्धि (ज्वर) और काफी पसीना निकलने से जलाभाव (*Dehydration*) होकर अवसाद होता है।

पसीना निकलने मात्र से शरीर के ताप में कमी नहीं होती; उसके लिये पसीने का वाष्पीभवन (*Evaporation*) आवश्यक है और वाष्पीभवन के लिये हवा में शुष्कता और गति होना आवश्यक है। इसलिये गीली जलवायु में एवं वायुसंचार के अभाव में पसीना निकलने पर भी ठण्डक नहीं आ सकती जिससे शरीर का ताप बढ़कर ज्वर की उत्पत्ति होती है।

पसीना अधिक निकल जाने से उसके साथ शरीर का बहुत सा लवण (*salt*) निकल जाता है जिससे मांसपेशियों में आक्षेप (*cramp*) आते हैं। पसीना अधिक निकलने से मूत्र कम बनता है अथवा नहीं बनता जिससे मूत्रमयता (*uraemia*) के लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं।

अंशुघात के तीन मुख्य भेद होते हैं जिनका वर्णन नीचे किया जा रहा है—

(i) सौम्य अन्शुघात (*Heat exhaustion*)—अचानक १०२°-१०३° तक बुखार चढ़ता है जो २-३ दिनों तक रहता है। मोह, अरति, अवसाद तथा पैरों की पेशियों में आक्षेप आदि लक्षण होते हैं।

(ii) तीव्र अन्शुघात (*Heat stroke*)-बेचैनी सिरदर्द आदि पूर्वरूप कुछ काल तक रहने के बाद अथवा अचानक ही बुखार आता है जो कुछ ही घन्टों में अथवा १-२ दिनों में लगभग ११०° या इससे भी अधिक हो जाता है। तीव्र सिरदर्द, प्रलाप, संन्यास, मूत्राघात, वैवर्ण्य (*cyanosis*) आदि लक्षण होते हैं। नाड़ी तीव्र गति से चलती है। श्वास की गति तीव्र और विकृत रहती है।

मृत्यु परम ज्वर (*Hyperpyreria* १०५° से अधिक बुखार) और उसके कारण उत्पन्न सन्यास एवं श्वासावरोध से होती है।

कुछ रोगियों का बुखार घटकर १०२°-१०३° तक आजाता है और कुछ दिनों तक बना रहता है, हाथ पैर कष्ट के साथ झुकाए या मोड़े जा सकते हैं। कुछ मामलों में नेत्रों की पुतलियों का यहां वहां गति करना (नेत्र प्रचलन *Nystagmus*), शाखाओं की वातनाड़ियों का प्रदाह (*Peripheral Neuritis*), द्वयदृष्टि (*Diplopia*) आदि लक्षण भी उपस्थित होते हैं। रोगोपशम के पश्चात् लम्बे समय तक हृदयदौर्बल्य और गर्मी के प्रति असहिष्णुता रहती है।

(*iii*) आमाशयान्त्रीय अन्शुघात-(*Heat gastro-enteritis*)-इसके एक प्रकार में परम ज्वर(*Hyperpyexia*) के साथ हृल्लास, वमन, मूर्च्छा, तन्द्रा, प्रलाप, संन्यास आदि लक्षण उपस्थित होते हैं। दूसरे प्रकार में तीव्र अतिसार होता है जिससे जलाभाव (*Dehydration*) होकर शीतांग (*callapse*) होता है शरीर ठण्डा और चिपचिपा रहता है आंखें भीतर की ओर धंस जाती हैं एवं मूत्राघात होता है। शरीर बाहर से शीतल किन्तु भीतर गर्म रहता है—भीतरी तापमान १००°-१०२° रहता है।

(४५) कलकत्ते का सप्तदिवसीय बुखार (*Seven day fever of Calcutta*)—इस बुखार का कारण अज्ञात है। कुछ लोगों का मत है कि यह दण्डक ज्वर का एक सौम्य प्रकार है।

रोग का आरम्भ होते ही सिर, हाथ-पैरों में, रीढ़ में तीव्र पीड़ा होती है और बुखार तेजी के साथ १०३-१०४° तक बढ़ता है। चौथे या पांचवे दिन बुखार कुछ उतर कर पुनः चढ़ जाता है और ७ वें या ८ वें दिन उतर जाता है। बुखार का रूप सन्तत ज्वर के समान होता है। बुखार का उतार साधारण तेजी (*slow crysis*) के साथ होता है। नाड़ी बुखार के अनुरूप तीव्र नहीं रहती। जिह्वा मैली रहती है और मलावरोध रहता है।

(४६) ग्रन्थिक ज्वर-(*Glandular fever, Infections Mononucleosis, Monocytic Angina*) कुछ लोगों ने 'प्लेग' का नामकरण 'ग्रंथिक सन्निपात' किया है। जिस बुखार का वर्णन यहां किया जारहा है वह प्लेग से भिन्न है और उसके लिये 'ग्रंथिक-ज्वर' नाम अधिक सार्थक प्रतीत होता है।

यह ज्वर शीत और वसन्त ऋतुओं में लगभग सभी देशों में क्षुद्र महामारी के रूप में फैलता है, बच्चे और नवयुवक अधिकतर आक्रान्त होते हैं। कारण का ज्ञान अभी तक नहीं हुआ। कुछ लोगों के मत से यह एक विषाणुजन्य उपसर्ग है। चयकाल ५ से १२ दिनों का माना जाता है।

बेचैनी, गले में कड़ापन, गले के भीतर पीड़ा, सिर दर्द और किंचित ज्वर इत्यादि पूर्वरूप कुछ दिनों तक रहने के बाद एकाएक तीव्र ज्वर (१०३° या अधिक) आता है। गलतोरणिका का प्रदाह होता है एवं गले, कांख और रान (वंक्षण) की लसिका-ग्रंथियों की वृद्धि होती है। प्रथम एक ही ओर की ग्रन्थियों की वृद्धि होती है किन्तु शीघ्र ही दूसरी ओर की ग्रन्थियों की भी वृद्धि होने लगती है। २-३ दिनों में काफी वृद्धि होजाती है किन्तु पाक नहीं होता, पीड़ा साधारण होती है और आसपास की त्वचा प्रभावित होती है। कुछ मामलों में भीतरी भागों में स्थित ग्रंथियों की वृद्धि होती है जिससे तद्-तद् स्थान पर दबाव पड़ने के लक्षण उत्पन्न

होते हैं, प्लीहा और यकृत (कामलासह) की भी वृद्धि होजाती है। कभी-कभी मस्तिष्कावरण में क्षोभ होने के लक्षण भी प्रतीत होते हैं। ग्रन्थियों की वृद्धि हो चुकने पर ज्वर कम होजाता है और हल्का अनियमित ज्वर (लगभग १०१°) लगभग २ सप्ताहों तक चलता रहता है नयी ग्रंथियों के आक्रान्त होने के समय पर ज्वर लौट आता है। बुखार शान्त हो जाने के बाद भी काफी दिनों तक ग्रन्थियां उसी दशा में रहती हैं।

कुछ मामलों में विशेषकर अधेड़ रोगियों में गलतोरणिका प्रदाह काफी जोरदार (रोहिणी Diphtheria के समान) होता है। कुछ में त्वचा में कोठ और मण्डलों की उत्पत्ति होती है और यदा-कदा मस्तिष्कावरण प्रदाह, मस्तिष्क प्रदाह, आक्षेप, संन्यास, घात (paralysis) आदि उपद्रव भी देखे गये हैं। इस प्रकार के मामलों में ग्रंथियों की वृद्धि काफी समय बाद (२-३ सप्ताह) लक्षित होपाती है।

(४७) महाप्राचीरापेशी-शूल (EpidemicMyalgia, Bornholm Disease, Epidemic Diaphragmatic Spasm, Epidemic pleurodynia.)–यह रोग अधिकतर ग्रीष्म और शरद ऋतुओं में क्षुद्र महामारी के रूप में फैलता है। कारण अज्ञात है, शायद एक प्रकार का विषाणु जो नाक और गले के स्रावों के साथ प्रसार पाता हो। आक्रमण अधिकतर बड़े बच्चों (किशोरों) पर होता है। संक्रमण अधिकतर रोगी व्यक्ति के घनिष्ट सम्पर्क में रहने से होता है।

महाप्राचीरापेशी के एक ओर अचानक तीव्र पीड़ा उठती है जो गम्भीर श्वास लेने, छींकने, खांसने आदि से और भी अधिक कष्ट देती है। पीड़ा थोड़ी-थोड़ी देर बाद उत्पन्न और शान्त होती रहती है, कुछ मामलों में लगातार काफी समय तक रह सकती है। ज्वर लगभग १०४° तक बढ़ जाता है और प्रायः दूसरे दिन उतर जाता है एवं पीड़ा शान्त हो जाती है। किन्तु ज्वर का पुनराक्रमण अक्सर होता है और पीड़ा इस बार और भी अधिक तीव्र होती है। पसीना अधिक आता है और शीतांग होने की सम्भावना रहती है।

निदान केवल लक्षणों के आधार पर किया जाता है। कोई भी परीक्षा निदानात्मक नहीं है। प्रारंभिक अवस्था में पीड़ित स्थान पर फुफ्फुसावरण प्रदाह के समान घर्षण ध्वनि सुनाई पड़ती है।

(४८-अ)-तीव्र संक्रामक तृणाण्वीय अन्तर्हृत्प्रदाह (Acute Infective Bacterial Endocarditis)—इस रोग की उत्पत्ति फुफ्फुसगोलाणु, रक्तविनाशक मालागोलाणु (Haemolytic streptococcus), स्तवक गोलाणु, गुह्यगोलाणु अथवा वातश्लेष्म दण्डाणु से होती है। हृदय के महाधमनी कपाट (Aortic valve) या द्विपत्रक कपाट (Mitral valve) में अथवा दोनों में एवं कभी कभी त्रिपत्रक कपाट (Tricuspid valve) में अंकुरों की उत्पत्ति होती है। ये अंकुर कई तरह के आकार-प्रकार के होते हैं किन्तु अधिकतर ये चिकने, बड़े और आसानी से टूटने वाले होते हैं। टूटने से कपाटों को भारी क्षति पहुँचती है। साथ ही ये टूटने के बाद रक्त के साथ भ्रमण करते हुए कहीं भी अटककर अन्तःशल्यता × (Embolism) के लक्षण उत्पन्न करते हैं। अंकुरित स्थलों के अतिरिक्त हृदय का शेष भाग अविकृत रहता है।

इस रोग का रूप दोषमयता (Septicaemia) के समान होता है। ज्वर १०२° या १०५° अथवा और भी अधिक रहता है एवं तापमान में उतार-चढ़ाव अधिक होते हैं। चढ़ते समय कम्प और उतरते समय प्रस्वेद आना सामान्य है। त्वचा और आभ्यन्तर आशयों (Viscera) में अन्तःशल्यता के लक्षण उपस्थित रहते हैं। कभी कभी हृदय-सम्बन्धी लक्षण प्रकट नहीं होते। संकोचिक मर्मर ध्वनि (Systolic murmur) यदि उपस्थित हो तो

× अन्तःशल्यता के लक्षण आगे 'प्रनुतीव्र तृणाण्वीय अन्तर्हृत्प्रदाह' शीर्षक के अन्तर्गत बतलाये गये हैं।

वह प्रतिदिन अधिक खरखरी (Rough) होती जाती है और बाद की अवस्थाओं में विस्फारिक मर्मर ध्वनि (Diastolic murmur) भी उत्पन्न हो जाती है। शीघ्रहृदयता (Tachycardia) स्पष्ट रहती है और प्लीहा बढ़ी हुई एवं पीड़ा-युक्त रहती है। एक से चार सप्ताहों के भीतर मृत्यु हो जाने की संभावना रहती है।

रक्तक्षय (Anaemia) उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है एवं अत्यधिक श्वेतकायाणूत्कर्ष (Leucocytosis) लगभग ३०,००० प्रति घन मिलीमीटर पाया जाता है। रक्तसंवर्ध में कारणभूत जीवाणु उपलब्ध होते हैं।

(४८-ब)-अनुतीव्र तृणाण्वीय अन्तर्हृत्प्रदाह(Subacute Bacterial Endocarditis)—इसकी उत्पत्ति अधिकतर मलागोलाणुओं से और कभी कभी वातश्लेष्मक दण्डाणुओं से भी होती है। संक्रमण अधिकतर मुख या गले में प्रदाह या व्रण का पूय भीतर जाने से होता है। रोगी अधिकतर २० से ४० वर्ष तक की आयु के ऊपर से स्वस्थ प्रतीत होने वाले व्यक्ति हुआ करते हैं।

इसमें भी महाधमनीय और द्विपत्रक कपाटों के पत्रों पर अंकुर उत्पन्न होते हैं जो टूट-टूटकर अन्तःशल्यता के लक्षण उत्पन्न करते हैं। पूर्ववर्णित तीव्र प्रकार से इसमें यह महत्वपूर्ण अन्तर है कि हृदय के रुग्ण भागों में तन्तूत्कर्ष (Fibrosis) एवं चूर्णीभवन (Calcification) द्वारा व्रणरोपण की सम्भावना रहती है जिससे यदि रोगी में पर्याप्त क्षमता हो तो उसके जीवन की रक्षा हो सकती है।

पूर्ववर्णित तीव्र प्रकार की अपेक्षा यह अधिक पाया जाता है। इसका आक्रमण अचानक होता है। ज्वर ६६° से या १०१° तक बढ़ता है एवं अर्धविसर्गी अथवा अन्येद्युष्क प्रकार का होता है। कई मामलों में हल्का ज्वर कुछ दिनों तक रहता है, फिर कुछ दिनों तक नहीं रहता और फिर पुनराक्रमण होता है—ऐसे मामले अधिक समय लेते हैं। रोगी दिन प्रति दिन बढ़ती हुई कमजोरी, बेचैनी, अरुचि एवं जोड़ों और पेशियों में दर्द की शिकायत करता है।

चित्र नं० २७ अनुतीव्र तृणाण्वीय अन्तर्हृत्प्रदाह (Subacute Bacterial Endocarditis) का ज्वर चार्ट
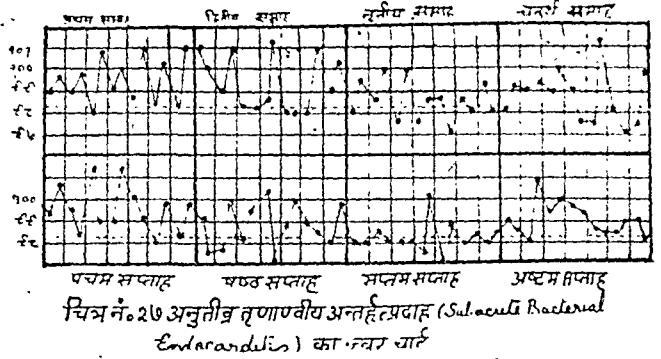
रक्त में सामान्य श्वेतकायाणूत्कर्ष १२००० से १५००० प्रतिघन मिलीमीटर और बह्वाकारी कायाणु १०००० से १२००० प्रति घन मिलीमीटर तक पाये जाते हैं, रक्त कणों का (Red cells) का क्षय होता और रंग देशना (Colour Index) के क्षय से रोगी का वर्ण एक विशेष प्रकार का कीचड़ के समान पीलापन लिए हुए (Cafe au lait) हो जाता है। रक्तसंवर्ध में रोगोत्पादक जीवाणु मिलते हैं।

हृदय में पुरानी सहज या आप्त विकृतियों के लक्षण विद्यमान रहते हैं। मर्मर ध्वनियां प्रारम्भ में अस्पष्ट रहती हैं किन्तु बाद में स्पष्ट और कर्कश (Coarse) हो जाती हैं, परिवर्तित हो सकती हैं और नई मर्मरध्वनियां उत्पन्न हो सकती हैं। प्रारंभ में महाधमनीय अथवा द्विपत्रक कपाट में विकृति होती है और जैसे जैसे रोग बढ़ता है हृत्पेशी उत्तरोत्तर कमजोर होती जाती है और हृदय का विस्फार होता जाता है। इतने पर भी हृदय-विकृति के लक्षण बहुत कम दृष्टिगोचर होते हैं।

प्लीहावृद्धि अवश्य होती है। कुछ काल तक रोग विद्यमान रहने पर अंगुलियों का अग्रभाग मोटा हो जाता है—इस प्रकार की अंगुली को मुद्गरवत् अंगुली (Club Finger) कहते हैं। श्यावता (Cyanosis) थोड़ी रहती है। मूत्र में श्विति और कभी कभी लाल रक्तकण पाये जाते हैं।
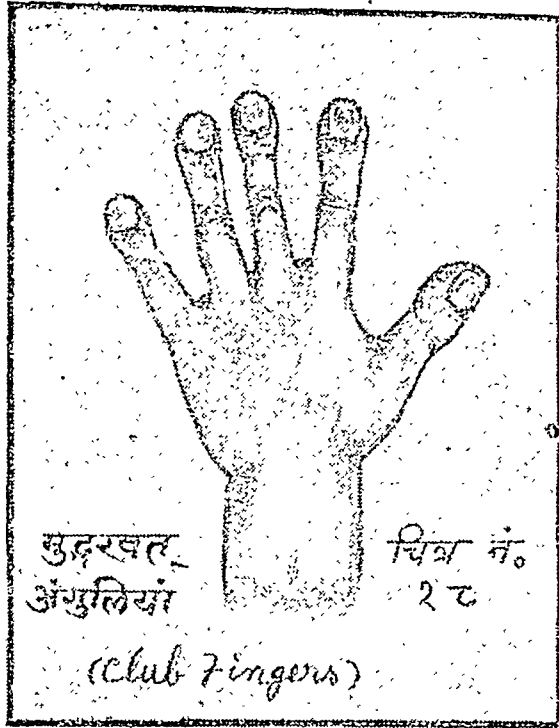
इस रोग का सबसे अधिक महत्वपूर्ण एवं रोग विनिश्चय में सहायक लक्षण अन्तःशल्यता है। अन्तःशल्य जितना बड़ा या छोटा हो और उसके अड़ जाने से जितने स्थान के रक्तसंवहन में बाधा पहुँचे उसके अनुरूप अन्तःशल्यता के लक्षण उग्र अथवा सौम्य होते हैं। यदि अवरुद्ध बाहिनी के संवहन क्षेत्र में अन्य कोई वाहिनी ऐसी हो जो उसका कार्य कुछ अंशों में सम्हाल सके तो भी लक्षण सौम्य होते हैं। अन्तःशल्य के साथ जीवाणु भी होने के कारण उस स्थान पर प्रदाह और पीड़ा होती है, दूसरे मामलों में परिधमनीय प्रदाह (Periarteritis) और धमन्यभिस्तीर्णता (Aneurysm) की उत्पत्ति होती है।

त्वचा में पिस्सुओं के काटने से उत्पन्न होने वाले ददोड़ों के समान कोठ निकलते हैं। ये वक्ष, उदर, कक्षा, कंधे और भुजा के ऊपरी भाग में अधिक पाये जाते हैं। इनका केन्द्र सफेद होता है—यह इस रोग में निकलने वाले कोठों का विशेष लक्षण है जो अन्यत्र नहीं पाया जाता। कभी कभी श्याम वर्ण के चकत्ते भी बहुतायत से पाये जाते हैं। हाथों और परों की अंगुलियों के अग्रभाग की त्वचा में विकृत वर्ण के छोटे छोटे पीड़ायुक्त धब्बे बार-बार निकलते और थोड़े दिनों बाद शान्त होते रहते हैं। इन धब्बों को ओस्लर के धब्बे (Osler's Spot) कहते हैं। अधिकतर ये रोग के आरम्भ से ही लक्षित होते हैं।

तृणाणुजन्य अन्तः स्फानता ⁂ (Infarction) के कारण नेत्रकला, नेत्रकनीनिका, मुख की श्लैष्मिक कला और मस्तिष्क में रक्तस्राव होता है। मस्तिष्क में रक्तस्राव होने से कई प्रकार के पक्षाघात होते हैं।

वृक्क में अन्तः स्फान होने से स्थानिक पीड़ा होती है और मूत्र में रक्त जाता है। यदि रक्त के बड़े-बड़े थक्के बन जाते हैं तो वृक्क शूल (Renal Colic) के समान लक्षण होते हैं। छोटे अन्तःस्फान की उपस्थिति में अवरोधज वृक्क प्रदाह (Embolic Nephritis) होता है।

हृद्-धमनी (Coronary Artery) की मुख्य शाखा का अवरोध होने से तुरन्त मृत्यु हो सकती है, क्षुद्र शाखाओं के अवरोध से हृदय में अन्तःस्फान

⁂ अन्तःस्फानता (Infarction)—शरीर के किसी भी अवयव के कुछ हिस्से में रक्तसंचार में अवरोध होने की दशा को अन्तःस्फानता (Infarction) और उस हिस्से को अन्तःस्फान (Infarct) कहते हैं। प्लीहा और वृक्क के अन्तःस्फान प्रायः रक्ताभाव से सफेद होकर मृत हो जाते हैं—इस प्रकार को श्वेत अन्तःस्फान (white Infarct) कहते हैं। फुफ्फुस के अन्तःस्फान में रक्त भरकर रुका रहता है जिससे उसका वर्ण लाल रहता है-इस प्रकार को रक्त अन्तःस्फान Red Infarct कहते हैं। यदि अन्तःस्फान में भरा हुआ रक्त आसपास के अवयवों में फैले या बाहर निकले जैसा कि फुफ्फुस वृक्क आदि के अन्तःस्फान में होता है तो उसे रक्तस्रावी अन्तः स्फान (Haemorrhagic Infarct) कहते हैं। जिस अन्तःशल्य के द्वारा वाहिनी का अवरोध होने से अन्तःस्फान हुआ है यदि उसके साथ पूयोत्पादक जीवाणु भी हों तो विद्रधि बन जाता है।

होता है। जीवाणुजन्य धमनीप्रदाह होने से धमन्य-भिस्तीर्णता होती है जिसके फटने से घातक रक्तस्राव हो सकता है।

आंतों का कुछ न कुछ विस्फार अवश्य होता है। जिससे आध्मान के लक्षण मिलते हैं, कुछ मामलों में रक्तस्राव भी होता है।

शाखाओं के रक्त-संवहन में अवरोध होने से प्रभावित भाव का कोथ (Gangrene) हो सकता है।

फुफ्फुसगत उपद्रव शायद ही कभी पाये जाते हैं किन्तु श्वासनलिकाप्रदाह और फुफ्फुसनलिका प्रदाह कभी कभी पाये जाते हैं ।

यह रोग काफी लम्बे समय (१ से ३ वर्ष) तक चलता है। बहुत से रोगी आरोग्य लाभ करते हैं किन्तु हृत्कपाटों में विकृति रही ही आती है। मृत्यु हृदयावरोध से, मस्तिष्क की किसी धमनी में अन्तः शल्य के रुकने से, अत्यधिक क्षीणता और क्लान्ति से, मूत्रमयता से अथवा किसी अभिस्तीर्ण धमनी (*Aneurysm*) के फटने से होती है ।

(४६) तीव्र बहुधमनी प्रदाह (*Acute Polyarteritis or Periarteritis Nodosa*)—

यह रोग बहुत कम पाया जाता है । कारण अज्ञात है। नवयुवक अधिकतर आक्रान्त होते हैं।

लगभग सारे शरीर की छोटी और मध्यम आकार की धमनियों में छोटी-छोटी पिड़िकाओं की उत्पत्ति के साथ शोथ होता है और थोड़ी थोड़ी धमन्यभिस्तीर्णता होती है। धमनीगत छिद्र सकरा हो जाने के कारण रक्त प्रवाह में बाधा पहुंचती है जिससे संबंधित स्थानों में अन्तः स्फानता अथवा कोथ (*Necrosis*) होता है । रक्त में लाल कणों का क्षय, श्वेतकणों की सामान्य वृद्धि और उषसि-प्रियता पायी जाती है।

लक्षण अनिश्चित रहते हैं। अनियमित ज्वर, शीघ्र हृद्यता और प्रतिश्याय सभी मामलों में पाये जाते हैं । इनके अतिरिक्त हृदय, श्वाससंस्थान, पचनेन्द्रिय अथवा मस्तिष्क से सम्बंधित लक्षण प्रकट हो सकते हैं । रोग विनिश्चय अत्यन्त कठिन होता है। रोगी का भविष्य बुरा रहता है; अधिकतर लगभग चार महीनों में मृत्यु हो जाती है। कुछ रोगी अधिक समय तक जीवित रह सकते हैं और रोगमुक्त भी हो सकते हैं।

(५०) शंख प्रादेशिक धमनीप्रदाह (*Temporal Arteritis*)—इस रोग को तीव्र बहुधमनी प्रदाह का ही एक भेद कह सकते हैं। यह भी बहुत कम पाया जाता है और इसका भी कारण अज्ञात है। इसका आक्रमण अधिकतर स्त्रियों पर ५० वर्ष की आयु के लगभग होता है।

शंखप्रदेश की धमनी का प्रदाह होता है और उसके छिद्र (*Lumen)* में वृहत् कोषों (*Giant cells*) से युक्त दानेदार धातु भर जाती है।

मामूली ज्वर रहता है और आक्रान्त शंख प्रदेश तथा उसी ओर के कान में पीड़ा होती है। अरुचि सिरदर्द, भ्रम, प्रकाश सहन न होना आदि लक्षण होते हैं। कुछ मामलों में मानसिक विकार अथवा संन्यास हो सकता है। कुछ सप्ताहों के बाद शंख प्रदेश की धमनी फूल जाती है और उसमें पिड़िकाओं की उत्पत्ति हो जाती है; छूने से बहुत पीड़ा होती है। कुछ ही समय में उसमें रक्त जम जाता है और फड़कना बन्द हो जाता है । कभी कभी नेत्र, मस्तिष्क और शाखाओं की धमनियों में भी इसी प्रकार का विकार उत्पन्न होता है।

साधारण रक्तक्षय, श्वेतकायाणूत्कर्ष और लाल रक्तकणों की अवसादन गति उच्च रहती है।

अधिकांश रोगी धीरे-धीरे कई महीनों में आरोग्य लाभ करते हैं।

(५१) सामान्य प्रतिश्याय (Common cold, coryza, Acute Catarrhal Rhinitis)

(५२) वायु-विवर प्रदाह अथवा नासाविवर प्रदाह (Sinusitis)—इन दोनों (नं० ५१-५२) का वर्णन अध्याय ५८ में प्रतिश्याय-निदान के साथ देखें ।

(५३) तीव्र ग्रसनिका प्रदाह (Acute Pharyngitis)

(५४) लड्विग का श्वासावरोध, कण्ठ-प्रदाह (Ludwig's Angina)

(५५) तीव्र गलतुण्डिका प्रदाह (Acute Tonsillitis)

(५६) कण्ठः शालूक (Adenoids)

—इन चारों (नं०५३ से ५६ तक) का वर्णन अध्याय ५६ मुख रोग निदान में देखें।

(५७) तीव्र स्वरयन्त्रप्रदाह (Acute Laryngitis)

—इसका वर्णन स्वरभेद प्रकरण में देखें।

(५८) रोहिणी (Diphtheria)

(५९) कण्ठनलिका प्रदाह (Tracheitis)

—इन दोनों (नं० ५८-५९) का वर्णन अध्याय ५६ मुखरोग निदान में देखें ।

(६०) कुकास, कुकर खांसी, काली खांसी (Whooping Cough) अध्याय ११ कास-निदान में देखें ।

(६१) श्वास नलिका प्रदाह (Bronchitis; Tracheo-Bronchitis)—इसके ४ भेद हैं जिनका वर्णन अलग-अलग किया जा रहा है ।

(i) तीव्र प्रतिश्यायज श्वासनलिका प्रदाह (Acute Catarrhal Bronchitis)–यह रोग शीत और वर्षा ऋतुओं में अधिक होता है। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष अधिकतर आक्रान्त होते हैं। बालकों और वृद्धों में यह रोग अधिक भयङ्कर होता है।

यह रोग स्वतन्त्र भी होता है और अन्य बहुत से रोगों के उपद्रवस्वरूप भी होता है। फुफ्फुसगोलाणु, फुफ्फुस दण्डाणु (Pneumo--bacilli), मालागोलाणु, स्तबक गोलाणु, आन्त्रदण्डाणु आदि कई प्रकार के जीवाणु श्वासनलिकाओं में प्रविष्ट होकर इस रोग की उत्पत्ति करते हैं। श्वास के साथ धूल; क्षोभक गैस, धुआं आदि प्रविष्ट होने एवं श्वासनलिकाओं पर दबाव पड़ने के कारण भी इसकी उत्पत्ति होती है। वक्ष के चिरकारी रोगों की उपस्थिति थकावट, वायुपरिवर्तन, शीत लग जाना आदि कारण इसकी उत्पत्ति में सहायक होते हैं ।

रोग का आरम्भ होते ही एकाएक ज्वर आता है जो १००° या अधिक रहता है। साथ ही बेचैनी, हाथ-पैरों एवं सिर में पीड़ा, छाती में भारीपन और कड़ापन उरःफलक (Sternum) के नीचे पीड़ा होती है । प्रारम्भ में सूखी खांसी आती है किंतु जल्द ही कफ आने लगता है। यह दशा ४ से १० दिनों तक रहकर रोग शांत हो जाता है किन्तु कुछ रोगियों को थोड़ी खांसी और कफस्राव की शिकायत हफ्तों और महीनों तक बनी रहती है और चिरकारी अवस्था में पहुँच जाता है।

बड़ी और मध्यम श्वासनलिकाओं की श्लैष्मिक कला में रक्ताधिक्य और स्थान-स्थान पर उधड़न होती है। शोथ के कारण नलिकाओं के छिद्र संकीर्ण होजाते हैं। कफ-ग्रन्थियों के शोथ के कारण स्राव कम होता है। शमन की अवस्था में थोड़ा, गाढ़ा, श्लेष्म और पूययुक्त स्राव होता है। बाद की अवस्था में स्राव अधिक होता है और आसानी से निकलता है।

(ii) तीव्र पूयकारी श्वासनलिका प्रदाह (Acute Suppurative Bronchitis)–यह रोग बहुत कम पाया जाता है। उत्पादक जीवाणु फुफ्फुसगोलाणु और श्लेष्म दण्डाणु ((H. Influenza) हैं। अत्यन्त परिश्रम और क्षीणता सहायक कारण हैं। इस रोग में मध्यम और सूक्ष्म श्वास नलिकाओं एवं कहीं-कहीं वायुकोषों का प्रदाह होता है।

रोग का आक्रमण अचानक तीव्र ज्वर (१०३°-१०४°) के साथ होता है। अत्यन्त शक्तिपात, श्वासकष्ट और श्यावता आदि लक्षण होते हैं। थूक के साथ बहुत अधिक पूय आता है। श्रवण यंत्र से परीक्षा करने पर सारे वक्ष प्रदेश में बुद्-बुद् ध्वनियां सुनाई पड़ती हैं। बहुत से रोगी २-३ दिनों में मर जाते हैं। शेष अत्यन्त धीरे-धीरे स्वास्थ्यलाभ करते हैं।

(iii) तीव्र तान्विक श्वासनलिका प्रदाह (Acute fibrinous Bronchitis)—यह रोग भी बहुत कम पाया जाता है। कभी-कभी स्वतंत्र रूप से और कभी-कभी राजयक्ष्मा, आन्त्रिक ज्वर और रोमान्तिका के उपद्रव स्वरूप होता है। श्वासनलिकाओं

की श्लैष्मिक कला का प्रदाह होकर उनमें तंतुनी (Fibrin) या श्लेष्म तन्तुनी (Muco-fibrin) के निर्मोक (Cast) निर्मित होते हैं जिसके फलस्वरूप सामान्य ज्वर की दशा में भी श्वासकष्ट और श्यावता के लक्षण अत्यधिक होते हैं।

रोग का आरम्भ होते ही जाड़ा लगकर बुखार आता है। बेचैनी, कास, श्वासकष्ट आदि लक्षण होते हैं। कभी-कभी वक्ष के एक ओर के भाग में पीड़ा होती है। खांसी तीव्र रूप धारण करती है और निर्मोक के निकल जाने पर शान्ति मिलती है।

कफ के साथ जो निर्मोक निकलता है वह एक लम्बा और कड़ा टुकड़ा रहता है जिसमें नलिकाओं की शाखाओं की रचना दृष्टिगोचर होती है। कभी-कभी कफ के साथ थोड़ा रक्त भी मिश्रित रहता है और चारकोट-लेडन के रवे (Charcot-Leyden crystals, कुर्शमैन के चक्र (Curschmann's Spirals) और उषसिप्रिय (Eosinophites) पाये जाते हैं। कफ-संवर्ध में मालागोलाणु और फुफ्फुस गोलाणु पाये जा सकते हैं।

अधिकांश रोगी कुछ दिनों या सप्ताहों में आरोग्य-लाभ कर लेते हैं, कुछ चिरकारी अवस्था को प्राप्त होते हैं और कुछ श्वासावरोध से मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

(iv) चिरकारी प्रतिश्यायज श्वासनलिका प्रदाह (Chronic Catarrhal Bronchitis)—यह अधिकतर प्रथम प्रकार के फलस्वरूप उत्पन्न होता है किन्तु कभी-कभी स्वतंत्र रूप से भी होता है। प्रति वर्ष ग्रीष्म ऋतु में यह रोग बहुत कुछ शान्त होजाता है किन्तु शीत ऋतु में पुनः जोर पकड़ता है इसलिये इसे शीतकालीन-कास (winter Cough) भी कहते हैं। रोगी किसी भी आयु का होसकता है किन्तु प्रौढ़ अधिकतर आक्रान्त होते हैं।

शीतकाल में अथवा प्रतिश्याय होने पर सबेरे शुष्क कास आना इसका प्रधान प्राथमिक लक्षण है। क्रम कई वर्षों तक चलता रहता है। खांसी बढ़ जाती है और पूययुक्त कफ निकलने लगता है। कभी-कभी कफ बदबूदार और कभी-कभी रक्तमिश्रित भी रहता है। पुराने रोगियों में श्वासकष्ट (Dypnoea) और श्यावता के लक्षण पाये जाते हैं; हृदय विस्फारित रहता है और अंगुलियां मुद्गरवत् (Club finger) रहती हैं। कुछ रोगियों में श्वास-नलिका सांकर्य के कारण श्वास छोड़ते समय आवाज होती है और कुछ में श्वासनलिका विस्फार के कारण सवेरे अत्यधिक कफ निकलता है।

(६२) फुफ्फुस खण्डप्रदाह अथवा खण्डीय फुफ्फुस पाक अथवा श्वसनक सन्निपात—(Lobar-pneumonia)—इस रोग की उत्पत्ति फुफ्फुस गोलाणु का आक्रमण फुफ्फुसों पर होने से होती है। संक्रमण बिन्दूत्क्षेप द्वारा होता है। यद्यपि इसका आक्रमण किसी भी आयु के स्त्री-पुरुषों पर होना असंभव नहीं है तथापि नवयुवक अधिक आक्रान्त होते हैं और स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों पर अधिकतर आक्रमण होता है। अधिकांश रोगी ठण्ड की ऋतु

चित्र नं. २९
फुफ्फुस खण्ड प्रदाह में ज्वर का चार्ट

जाते हैं यद्यपि ऋतु का कोई बन्धन नहीं है। संकीर्ण स्थान में बहुत से मनुष्यों का निवास, शराब का व्यसन, गन्दगी, शीत लग जाना, कमजोरी और प्रतिश्याय की उपस्थिति इस रोग की उत्पत्ति में सहायक होते हैं। चयकाल १-२ दिनों का है।

इस रोग में फुफ्फुसों की ४ अवस्थायें क्रमशः होती हैं—(१) रक्तसंचय (Engorgement), (२) लोहित घनीभवन (Red Hepatisation) (३) भूरा घनीभवन (Grey Hepatisation) और (४) मोक्ष (Resolution)। फुफ्फुसों के भाग जिस क्रम से आक्रान्त होते हैं उसी क्रम से ये अवस्थायें भी आती हैं इस लिये परीक्षा करने पर भिन्न-भिन्न
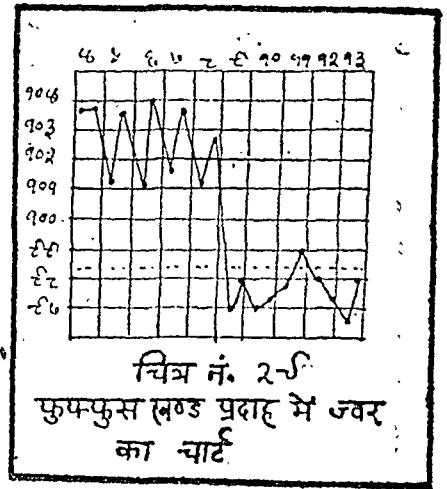
भागों में भिन्न भिन्न अवस्थायें एक साथ मिलती हैं।

रोग का आक्रमण होते ही फुफ्फुस के आक्रान्त भाग की केशिकाओं में रक्त भर जाता है, फुफ्फुस लाल रंग का और फुफ्फुसावरण भी लाल रंग का एवं कान्तिहीन दिखता है—रक्तसंचय की अवस्था। इसके बाद ही फुफ्फुस का ठोस (घन) होना प्रारंभ होता है। आक्रान्त भाग लाली लिये हुए बादामी (Brown) रंग का, आसानी से टूटने वाला (सामान्य फुफ्फुस काफी लचीला होता है), और वायुहीन होता है एवं जल में डालने से डूब जाता है; सूक्ष्मदर्शक यंत्र से परीक्षा करने पर वायुकोषों में (Alveoli) में जमा हुआ लालकणों से युक्त तान्विन, वह्वाकारी श्वेतकायाणु और वायुकोषों के आवरण भरे हुए मिलते हैं; क्षुद्र श्वासनलिकायें चिपक जाती हैं—लोहित घनीभवन की अवस्था। इसके बाद ही आक्रान्त भाग का रंग भूरासा हो जाता है, वह कुछ नरम हो जाता है किन्तु अभी भी आसानी से टूटता है, लालकण और तान्विन अदृश्य हो जाते हैं तथा श्वेत रक्तकण काफी संख्या में मिलते हैं और वायुकोषों का भराव कम हो जाता है—भूरे घनीभवन की अवस्था। इसके बाद की अवस्था में भराव और भी कम होते होते फुफ्फुस सामान्य दशा में आने लगते हैं, वायुकोषों में भरे हुए पदार्थ द्रवीभूत होकर कुछ तो सोख लिये जाते हैं और कुछ थूक के साथ बाहर फेंक दिये जाते हैं, बड़ी संख्या में भक्षक कोषाओं की उत्पत्ति होती है जो फुफ्फुस गोलाणुओं को ग्रहण कर लेती हैं—मोक्ष की अवस्था। एक दो दिन बेचैनी प्रतिश्याय आदि पूर्वरूप रहने के बाद क्रमशः अथवा अचानक ही जाड़ा और कंपकंपी लगकर तीव्र ज्वर (लगभग १०४°) आता है जो लगातार कई दिनों तक एकसा (सन्तत) बना रहता है। कुछ रोगियों को उदरशूल और वमन होकर तथा बालकों को आक्षेप ज्वर की उपलब्धि होती है। रोगी का चेहरा लाल एवं उतरा हुआ तथा त्वचा स्वेदहीन और उष्ण होती है। शुष्क कास थोड़ी थोड़ी आती है और फुफ्फुस के आक्रान्त भाग में शूल चलता है। श्वासोच्छ्वास कष्ट के साथ किन्तु जल्दी जल्दी होता है और पूरी गहराई तक श्वास नहीं लिया जाता। श्वास के साथ नाक की पेशियां (Alae Nasi) कार्य करती हैं। श्वास की गति ३० से ५० तक प्रति मिनट रहती है। नाड़ी भरी हुई एवं उछलती हुई रहती है किन्तु गति ज्वर की अपेक्षा कम होती है। जिह्वा मैली और शुष्क भासती है। कुछ रोगियों के ओठों पर पिड़िकायें (ओष्ठपरिसर्प Herpes labialis) निकलती हैं। कुछ में प्रलाप, मस्तिष्कावरण प्रक्षोभ, आक्षेप आदि वातज उपद्रव भी होते हैं।

दूसरे या तीसरे दिन से थोड़ा थोड़ा लाल से रंग का (Rusty) कफ कठिनाई के साथ निकलने लगता है। परीक्षा करने पर उसमें लाला रक्तकण, उपत्वचा कोष और बहुत से फुफ्फुस गोलाणु मामलों में कफ के साथ काफी खून मिला हुआ निकल सकता है। बाद की अवस्था में कफ अधिक निकलने लगता है एवं उसका रंग साफ हो जाता है। किसी किसी मामलों में कफ लाल-से बादामी रंग का (Prune-juice character) अथवा हरे से रंग का (पित्त के कारण) अथवा पूययुक्त (Muco-Purulant) होता है और आसानी से निकलता है। मोक्ष तेजी के साथ बुखार उतर कर (दारुण मोक्ष) होता है। कुछ रोगियों का ज्वर उतर कर पुनः चढ़ आता है और फिर दूसरे दिन पूर्णतया उतरता है। (मिथ्या दारुण मोक्ष Psendocrysis)। ज्वर उतरते ही रोगी को आराम मिलता है, खांसने में कष्ट नहीं होता है और कफ आसानी से निकलता है तथा खुलकर पेशाब होता है एवं नींद आजाती है। सामान्यतः स्वास्थ्यप्राप्ति तीव्रता के साथ होती है।

रोग की तीव्रावस्था में अनिद्रा से घोर कष्ट होता है, कुछ मामलों में अत्यधिक प्रलाप होता है। यकृत और प्लीहा की किंचित वृद्धि होती है।

मूत्र थोड़ा और गहरे रंग का होता है, नमक की मात्रा घट जाती है और श्विति तथा थोड़े बहुत दानेदार निर्मोक उपस्थित रहते हैं। ज्वर उतरने पर मूत्र की मात्रा बढ़ जाती है तथा लवण और मूत्र अधिक परिमाण में निकलते हैं।

रक्त में बह्वाकारी श्वेतकायाणूकर्ण १५००० से ३०००० प्रति घन मिलीमीटर तक मिलता है एवं उपसिप्रिय कणों की कमी होती है। लाल रक्तकणों का क्षय होता है। लगभग एक तिहाई रोगियों में रक्त-संवर्ध में फुफ्फुस गोलाणु पाये जाते हैं। प्रारम्भिक अवस्था में रक्त में थोड़े से फुफ्फुस गोलाणु मिलना कोई महत्व नहीं रखता किन्तु बाद की अवस्थाओं में इनका बड़ी संख्या में मिलना एक गंभीर लक्षण है।

वक्ष-परीक्षा यंत्र से परीक्षा करने पर, रोगारम्भ में आक्रान्त पार्श्व पर रक्ताधिक्य के चिन्ह मिलते हैं श्वासध्वनि क्षीण होजाती है, प्रतिश्वनन (Resonance) में भी कमी हो जाती है और सूक्ष्म आर्द्र करकराहट की (Fine Crepitations) ध्वनि मिलती है। घनीभवन की अवस्था में आक्रान्त पार्श्व की गति मन्द हो जाती है, ठेपण ध्वनि भी मन्द हो जाती है और वाचिक लहरियों (Vocal fremitus) तथा वाचिक प्रतिस्वनन (Vocal Resonance) की वृद्धि होती है। नलिका जन्य (Tubular) श्वसन होता है। ज्वर शमन हो जाने के बाद भी कुछ दिनों तक स्थूल आर्द्र करकराहट (Coarse Crepitations) की ध्वनि मिलती है।

हृदय के दक्षिण प्रकोष्ठों में रक्त का भराव सामान्य से कुछ अधिक रहता है। संकोचिक मर्मर (Systolic murmur) के साथ हृदय की ध्वनियां कुछ मन्द रहती हैं और गंभीर मामलों में टिक्-टाक ध्वनि अथवा वाल्गिक ताल (Gallop Rhythm) प्रकट होती हैं। फौफ्फुसीय द्वितीय ध्वनि तीव्रतम हो जाती है। रक्तनिपीड़ (Blood Pressure) अधिकतर निम्न (कम) रहता है।

विशेष प्रकार—

(i) केन्द्रिय प्रकार (Central)—

इसमें फुफ्फुस के केन्द्रीय भाग का प्रदाह होता है। लक्षणों से रोग का अनुमान होता है किन्तु निश्चयात्मक चिह्न अस्पष्ट रहते हैं। ज्वर का दारुण मोक्ष होता है।

(ii) शैर्ष प्रकार (Apical)—

इसमें फुफ्फुस के ऊपरी खण्ड का प्रदाह होता है। आक्रमण बच्चों, वृद्धों और शराबियों पर विशेष रूप से होता है। मानसिक लक्षण प्रबल रहते हैं जिससे मस्तिष्कावरण प्रदाह का भ्रम हो सकता है

(iii) चल प्रकार (Spreading or Creeping)—

इसमें फुफ्फुस के एक भाग का प्रदाह शान्त होते होते दूसरे भाग का प्रदाह प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार यह रोग बहुत दिनों तक चलता रहता है। एक भाग का प्रदाह होने से पुनः ज्वर आ जाता है। इस प्रकार कई बार ज्वर का आक्रमण और उपशम होता है।

(iv) विस्तृत प्रकार (Massive)—

इस प्रकार में फुफ्फुस का बहुत बड़ा भाग आक्रान्त होता है; श्वासनलिकाएं निर्यास (Exudate) से भर जाती हैं और चिह्न सद्रव फुफ्फुसावरण के समान प्रतीत होते हैं।

(v) अभिघातज (Following an injury)—

वक्ष पर लाठी, पत्थर, मुक्के आदि का आघात लगने से यदि चोट का असर फुफ्फुस तक पहुंच जाता है तो कीटाणुओं का उपसर्ग बिना हुए भी फुफ्फुसखण्ड प्रदाह के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

(vi) सौम्य (Abortive)—

थोड़े से जीवाणुओं के प्रवेश से अथवा आक्रान्त व्यक्ति में प्रतिकारक क्षमता काफी हद तक मौजूद रहने से रोग का आक्रमण अत्यन्त सौम्य प्रकार का होता है। ज्वर साधारण रहता है और २-३ दिनों में उतर जाता है। लक्षण अल्प रहते हैं और उपद्रव नहीं होते।

उपद्रव और परिणाम—

(i) फौफ्फुसीय–देर से मौच होना, विद्रधि, कर्दम (Gangrene), फुफ्फुसावरण प्रदाह, सद्रव अथवा सपूय फुफ्फुसावरण और फुफ्फुस खण्ड निपात (Atelactasis)।

परिणाम—फुफ्फुसावरण चिपक जाना (Pleural Adhesions), श्वास नलिका विस्फार (Bronchiectasis) और फुफ्फुसों में तन्तूत्कर्ष Fibrosis)।

(ii) हार्दिक—हृदय के दक्षिण भाग के अतिपात (Failure) के साथ हृत्पेशीप्रदाह (Myocarditis) हृदयावरण प्रदाह (pericarditis), अन्तर्हृदय-प्रदाह (Endocarditis) और वाहिनीनियन्त्रण दौर्बल्य (Vasomotor paresis)।

(iii) औदरीय—अतिसार, आध्मान, बृहदन्त्र-प्रदाह (Colitis), कामला, उदरावरणप्रदाह और तीव्र आमाशय विस्फार।

(iv) अन्य—कर्णमूलिक शोथ, मध्यकर्णप्रदाह, मस्तिकावरण-प्रदाह, मस्तिष्क-मस्तिष्कावरण प्रदाह, शाखाओं की वातनाड़ियों का प्रदाह, वृक्कप्रदाह, संधिप्रदाह (Arthritis) और उपशय काल में पैर की शिराओं में रक्तस्कन्दन (Thrombosis)।

अरिष्ट—(अ) फुफ्फुस गोलाणुओं का बड़ी संख्या में रक्त में प्रवेश विशेषतया रोग के अन्तिम दिनों में होना घातक लक्षण है।

(ब) शराबी, मधुमेही, शोथी, हृद्रोगी, मेदस्वी, क्षीण, वृद्ध, सगर्भा एवं बालक रोगियों की चिकित्सा कष्टसाध्य होती है।

(स) ज्वर १०४° से अधिक, नाड़ी गति १३० से अधिक, संकोचिक निपीड़ (Systolic pressure) १०० से कम, श्वासोच्छ्वास ५० से अधिक, श्यावता (Cyanosis), अत्यधिक प्रलाप, दक्षिण-हृदय-शैथिल्य और श्वेतकायाणूत्कर्ष कम होना घातक लक्षण हैं।

(द) फुफ्फुस विद्रधि, कर्दम, मस्तिष्कावरण प्रदाह, व्रणकारी अन्तर्हृत्प्रदाह और पूयकारी हृदयावरण प्रदाह घातक उपद्रव हैं।

आनुषंगिक फुफ्फुसखण्ड प्रदाह—Secondary Lobar-pneumonia)–चिरकारी हृदय और वृक्कों के रोगों में, मधुमेह में और वैनाशिक रक्तक्षय (Pernicious anaemia) में उपद्रव स्वरूप फुफ्फुसखण्ड प्रदाह की उत्पत्ति हो सकती है। शल्य-कर्मोत्तर दशा में भी संज्ञाहर द्रव्यों के दुष्प्रभाव से अथवा दूषित पदार्थों के निकलने के फलस्वरूप फुफ्फुसखण्ड प्रदाह हो सकता है।

आन्त्रिक ज्वर दण्डाणु, उपान्त्रिक दण्डाणु, राजयक्ष्मा दण्डाणु, अग्निरोहिणी (प्लेग) दण्डाणु, कुकास दण्डाणु (Bacillus Pertussis), फुफ्फुस-दण्डाणु (Pneumo-bacillus), मालागोलाणु स्तबक गोलाणु, गुह्यगोलाणु और विषाणु (Virus) भी स्वतन्त्र या परतन्त्र (उपद्रव स्वरूप) फुफ्फुस-खण्ड प्रदाह उत्पन्न कर सकते हैं। राजयक्ष्मा दण्डाणु और अग्निरोहिणी दण्डाणु से उत्पन्न फु. ख. प्रदाह का वर्णन इन्हीं रोगों के साथ किया जावेगा। विषाणुजन्य का वर्णन यहीं नीचे किया जारहा है। शेष जीवाणुओं से लगभग फुफ्फुस गोलाणुजन्य के समान लक्षण होते हैं। विभेद कफ-संवर्ध से होता है।

विषाणुजन्य फुफ्फुसखण्डप्रदाह (Pneumonitis, Virus-pneumonia)—इस रोग के कारण का ज्ञान काफी परिश्रम करने पर भी नहीं लगाया जा सका है इसलिये इसे विषाणुजन्य माना जाता है। यह क्षुद्र महामारी के रूप में कभी कभी फैलता है एवं कुछ स्थानों में स्थान व्यापि (Endemic) भी हो सकता है। आक्रमण अधिकतर जवान स्त्री-पुरुषों पर होता है। चयकाल १ से ३ सप्ताहों का है।

रोग का आरम्भ अचानक शीतपूर्वक ज्वर से होता है। ज्वर बढ़ने पर शुष्क तथा स्फुटित कांस्य पात्र के समान आवाज करने वाली खांसी बारबार

आती है और उरः फलक के पीछे पीड़ा होती है। नाड़ी ज्वर की अपेक्षा मन्द रहती है और श्वासोच्छ्वास फुफ्फुस गोलाणु जन्य फुफ्फुस खण्डप्रदाह की अपेक्षा कम तीव्र होती है। श्यावता प्रायः नहीं के बराबर रहती है। ज्वर फुफ्फुस गोलाणुजन्य फु० ख० प्रदाह की अपेक्षा अधिक दिनों तक रहता है और क्रमशः कम होकर उतरता है (सौम्य मोक्ष)। अधिकांश रोगी बच जाते हैं। किसी किसी महामारी में मृत्युसंख्या अधिक होती है।

रक्त में थोड़ा श्वेतकायाणूत्कर्ष मिलता है, संवर्ध में जीवाणु नहीं मिलते। कफ में पूय या रक्त मिश्रित रहता है किन्तु रंग लालिमायुक्त (Rusty) नहीं रहता। वक्षपरीक्षायंत्र से कोई खास चिन्ह नहीं प्राप्त होते—श्वास ध्वनि अल्प हो सकती है परन्तु बाद की अवस्था में आर्द्र ध्वनियां मिलती हैं।

चित्र नं० ३०
फुफ्फुस नलिका प्रदाह में ज्वर का चार्ट
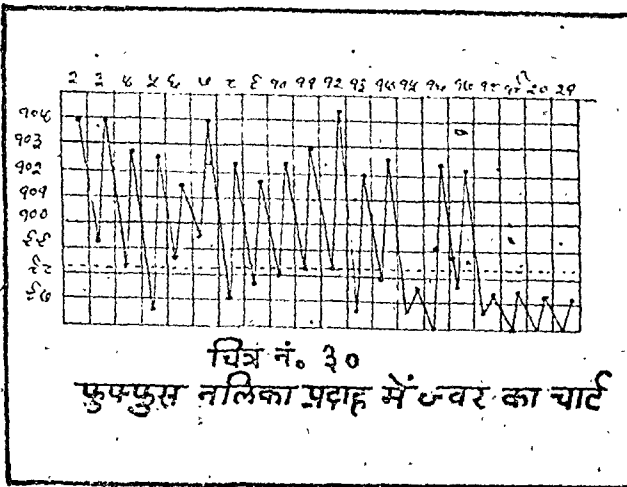
(६३) फुफ्फुसनलिका प्रदाह, श्वसनी फुफ्फुस पाक (Broncho-pneumonia. Catarrhal-pneumonia, Capillary Bronchitis))—इसके २ प्रकार हैं—(अ) प्राथमिक और (ब) द्वितीयक।

(अ) प्राथमिक फुफ्फुस नलिका प्रदाह (Primary Broncho-pneumonia)—इस रोग की उत्पत्ति फुफ्फुसगोलाणुओं की उन विशेष उपजातियों से होती है जो श्वास संस्थान के ऊपरी भागों में ही रहना पसन्द करती हैं (Higher Types)। कभी कभी मालागोलाणु, स्तबक गोलाणु, प्रतिश्यायाणु (M. Catarrhalis), अथवा फुफ्फुस दण्डाणु भी इनका साथ देते हैं।

कभी कभी राजयक्ष्मा अथवा अग्निरोहिणी (रोग) के दण्डाणु स्वतंत्र रूप से १-२ वर्ष के बालकों को होता है। अधिकांश मामलों में प्रतिश्याय, वातश्लेष्म ज्वर अथवा रोमान्तिका के बाद इसकी उत्पत्ति होती है। आक्रमण एकाएक ज्वर बढ़कर (लगभग १०३° तक) होता है। ज्वर बढ़ने के समय पर शीतकम्प, वमन और आक्षेप हो सकते हैं। चहरे पर रक्ताधिक्य अथवा श्यावता रहती है, श्वास तेजी के साथ चलती है एवं अधिकांश मामलों में प्रत्येक श्वास के साथ नासापाली प्रसारित और संकुचित होती है तथा पसलियों के बीच की जगह और उदर का ऊपरी भाग उठता है और दबता है (पसली चलना)। ज्वर ५-७ दिनों तक अर्धविसर्गी (Remittent) रूप में रहता है और फिर धीरे धीरे कम होकर उतर जाता है (सौम्य मोक्ष)।

दोनों फुफ्फुसों में घनीभवन के चिह्न कुछ भागों में और श्वासनलिका प्रदाह के चिह्न अन्य स्थानों में फैले हुए मिलते हैं।

इस रोग को साधारण भाषा में डब्बा रोग या पसली चलना कहते हैं।

(ब) आनुषंगिक फुफ्फुस नलिकाप्रदाह (Secondary BronchoPneumonia)-यह रोग प्रायः वातश्लेष्म ज्वर, आन्त्रिक ज्वर, रोमान्तिका, कुकास, मसूरिका, लोहित ज्वर, रोहिणी, अग्निरोहिणी आदि रोगों के एवं शरीर में किसी पूयकारी (Septic) रोग जैसे कर्णपाक, अन्त्र-पुच्छ प्रदाह आदि की उपस्थिति के फलस्वरूप एवं उपद्रवस्वरूप उत्पन्न होता है। कभी कभी तीव्र आमाशयान्त्र प्रदाह (Gastro-enteritis) के बाद भी यह होता पाया गया है। आस-पास के किसी स्थान से पूयकारी पदार्थ निकलकर क्षुद्र श्वास-नलिकाओं में प्रविष्ट होने से भी यह रोग उत्पन्न होता है। कई प्रकार की जीर्ण अवस्थाओं

में (जैसे बच्चों में चिरकारी अतिसार, बालशोष रोग आदि और बड़ों में हृदय अथवा वृक्क के चिरकारी रोग) यह रोग उत्पन्न होकर मृत्यु का कारण बनता है।

रोगी अधिकतर बालक या वृद्ध होते हैं किन्तु किसी भी आयु के व्यक्ति पर आक्रमण हो सकता है। उत्पादक जीवाणु अधिकतर मालागोलाणु, स्तवक गोलाणु अथवा वातश्लेष्मनेदण्डाणु हुआ करते हैं। ये सीधे श्वासनलिका में प्रवेश करते हैं, कभी कभी लसिका अथवा रक्त के द्वारा भी प्रवेश करते हैं। सर्वप्रथम श्वासनलिका प्रदाह होता है जो आगे चलकर श्वासकेशिकाओं और वायुकोषों में फैल जाता है। श्वासकेशिकाओं में निर्यास भर जाता है और उनसे सम्बन्धित वायुकोषों का निपात (Collapse) हो जाता है। इन निपातित भागों में भी प्रदाह फैलता है और छोटे-छोटे घनीभवन क्षेत्र तैयार होते हैं। अधिकतर फुफ्फुसों का तल भाग और पृष्ठभाग अधिक प्रभावित होता है। कभी-कभी फुफ्फुसावरण में भी प्रदाह हो जाता है जिससे उसमें लसिकीय अथवा पूयमय द्रव भर जाता है। रोगोपशम के समय पर प्रदाहजन्य पदार्थों का चूषण और ष्ठीवन होकर फुफ्फुस स्वाभाविक दशा में लौटते हैं परन्तु कभी कभी यह कार्य अधूरा ही हो पाता है और फुफ्फुसों में तन्तूत्कर्ष होता है। वातश्लेष्म, दण्डाणुजन्य प्रकार में रक्तस्राव होता है।

रोगारम्भ अधिकतर श्वासनलिका प्रदाह होकर होता है जिसके साथ १००°-१०१° ज्वर रहता है। शीघ्र ही रोग बढ़कर फुफ्फुसनलिका प्रदाह के रूप में आ जाता है। ज्वर बढ़कर १०२°-१०४° हो जाता है और खांसी, बेचैनी, एवं नाड़ी की गति और श्वास की गति में वृद्धि हो जाती है। कुछ मामलों में श्वासोच्छ्वास के साथ नासापाली दबती और उभरती है एवं श्यावता, श्वितमेह आदि उपद्रव भी हो सकते हैं। गम्भीर दशाओं में मस्तिष्कावरण क्षोभ के लक्षण प्रलाप, तन्द्रा, संन्यास, वाह्यायाम आदि भी हो सकते हैं।

फुफ्फुसों की परीक्षा करने पर कुछ स्थानों में प्रदाह और कुछ में घनीभवन के चिह्न मिलते हैं। हृदय की ध्वनियां मन्द रहती हैं किंतु फौफ्फुसीय ध्वनियां तीव्र रहती हैं। ष्ठीवन में पूय मिश्रित और कभी-कभी रक्तमिश्रित कफ निकलता है।

रोगोपशम २-३ सप्ताह या इससे भी अधिक समय में होता है। ज्वर क्रमशः धीरे धीरे उतरता है। ज्वर उतर जाने के बाद फुफ्फुसों को स्वाभाविक दशा में आने में काफी अधिक समय लगता है।

फुफ्फुसावरण प्रदाह, पूयोरस् (Empyema) हृदयावरण प्रदाह आदि उपद्रव हो सकते हैं। रोग के परिणामस्वरूप फुफ्फुसान्तर्गत तन्तूत्कर्ष, श्वास-नलिका विस्फार, राजयक्ष्मा आदि रोग उत्पन्न हो सकते हैं। यदि तीन सप्ताहों के भीतर उपशम न हो तो राजयक्ष्मा का सन्देह करना चाहिये।

प्रलाप, तन्द्रा, संन्यास, श्यावता एवं नाड़ी की तीव्र गति होना अरिष्ट लक्षण हैं।

(६४) फुफ्फुस विद्रधि (Abscess of the Lung)–

फुफ्फुस में अथवा फुफ्फुसों के समीप के भागों में पूयजनक जीवाणुओं की स्थिति से फुफ्फुसों में आघात लगकर व्रण होने से अथवा किसी वाह्य पदार्थ के प्रवेश से, अन्तःशल्य (Emboli) का प्रवेश होने से एवं राजयक्ष्मा, मधुमेह, कालज्वर, मदात्यय आदि रोगों की जीर्ण अवस्था में फुफ्फुसों में एक या अनेक विद्रधियों की उत्पत्ति होती है। कारणभूत जीवाणु प्रायः मालागोलाणु, स्तवक गोलाणु, फुफ्फुस गोलाणु, विन्सेण्ट के चक्राणु (Vincent's Spirochaetes), यवाकार दण्डाणु (Fusiform Bacilli), धातुनाशी अन्तःकीटाणु (Entamoeba Histolytica) आदि होते हैं।

विकृति लगभग फुफ्फुसखण्ड प्रदाह के समान होती है किन्तु एक स्थान पर दोष केन्द्रीभूत होकर पाक करते हैं। विद्रधि के आस पास के स्थानों में प्रदाह होता है। पूय अधिकतर श्वास-

नलिका में से निकलता है। इसके साथ फुफ्फुसावरण हृदयावरण अथवा अन्तराल (Mediastinum) में भी प्रदाह हो सकता है।

रोग का आरम्भ होते ही कम्पसह ज्वर आता है और खांसी, वक्ष में पीड़ा, श्वासकृच्छ्रता, थूक में रक्त आना आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। यदि ये लक्षण पहले से रहे हों तो इस समय बढ़ जाते हैं। नाड़ी की गति तीव्र रहती है और श्वेतकायाणूत्कर्ष (२०,००० प्रति घन मिलीमीटर से भी अधिक) होता है। ज्वर अधिकतर प्रलेपक होता है—कंपकंपी देकर चढ़ता और पसीना देकर उतरता है।

यदि विद्रधि श्वासनलिका में फूटता है तो बहुत बड़ी मात्रा में बदबूदार मवाद थूक में निकलता है। यदि किसी अन्य दिशा में फूटता है तो उस स्थान में ही पूय भरा रहने से वहां भी पाक होकर दशा और भी भयंकर हो जाती है। पूय निकल जाने पर ज्वर में कमी आ जाती है किन्तु दुबारा और पूय संचित होने पर पुनः ज्वर बढ़ जाता है।

यदि पूय भलीभांति निकल जाता है तो व्रण का रोपण होकर रोगी स्वस्थ हो जाता है अन्यथा क्रमशः दशा बिगड़ती जाती है और अन्त में मृत्यु हो जाती है। पूयमयता (Pyaemia) से उत्पन्न विद्रधि सदैव घातक होते हैं।

चिह्न विद्रधि की स्थिति और आकार के अनुसार होते हैं। यदि विद्रधि ऊपरी भाग में हो और काफी बड़ा हो तो घनीभवन अथवा विवर (Cavity) के चिह्न मिलते हैं। यदि कई विद्रधि हों तो अलग-अलग कई स्थानों पर उक्त चिह्न मिलते हैं। यदि विद्रधि गहराई में हो तो केवल फुफ्फुसखण्ड प्रदाह के लक्षण मिलते हैं। क्ष-किरण चित्र में विद्रधि बहुत कुछ स्पष्ट दिखाई देता है। यदि लिपियोडोल (Lipiodol) देकर फिर चित्र लिया जावे तो चित्र और भी स्पष्ट रहता है। विद्रधि फूट चुकने पर चित्र लेने से अवशिष्ट मवाद की सतह दिखाई पड़ सकती है जो सबसे प्रमुख विनिश्चयात्मक चिह्न है।

फुफ्फुस विद्रधि के परिणाम स्वरूप पूयोरस (Empyema) पूय-वातोरस (Pyo-pneumothorax), फुफ्फुस नलिका प्रसार (Bronchiactasis), फुफ्फुस में तन्तूत्कर्ष (fibrosis) अथवा संलग्नता (Adhesions) आदि हो सकते हैं। कभी कभी विद्रधि का पूय सारे शरीर में फैलकर पूयमता होसकती है।

(६५) फुफ्फुस-कर्दम (Gangrene of the Lung)—इस रोग के कारण लगभग वही हैं जो फुफ्फुस-विद्रधि के हैं किन्तु रक्त-संचार में कमी तथा फौफ्फुसीय धातु की अत्यधिक दुर्बलता से विद्रधि के बदले कर्दम होसकता है। अधिकतर एक फुफ्फुस के किसी एक भाग का कर्दम होता है किन्तु कभी-कभी दोनों फुफ्फुसों के एक-एक भाग में अथवा एक ही फुफ्फुस के कई अलग-अलग भागों में कर्दम हो सकता है। आक्रान्त भाग प्रारम्भ में हरित-कृष्ण वर्ण का होजाता है और फिर थोड़े ही समय बाद गलकर गाढ़े बदबूदार तरल पदार्थ में परिवर्तित हो जाता है। स्वस्थ भाग और रुग्ण भाग को पृथक्-पृथक् करती हुई एक रेखा उपस्थित रहती है।

लक्षण फुफ्फुस विद्रधि के समान ही होते हैं किन्तु उससे बहुत अधिक तीव्र प्रकार के हुआ करते हैं। प्रारम्भ में थूक के साथ रक्त बहुत अधिक आता है। फिर यदि कर्दम का सम्बन्ध श्वासनलिका से हो तो अत्यधिक दुर्गन्धित पदार्थ थूक के साथ निकलता है। इस पदार्थ की दुर्गन्ध फुफ्फुस विद्रधि के पूय की अपेक्षा अधिक तीव्र रहती है और विष्ठा की दुर्गन्ध के समान होती है। यदि कर्दम का संबंध श्वास-नलिका से न हो तो थूक में कोई दुर्गन्ध आदि नहीं रहती, केवल ज्वरादि लक्षण रहे आते हैं और मरने के बाद शवच्छेद होने पर ही निदान हो पाता है। यह रोग असाध्य है।

क्ष-किरण चित्र में फुफ्फुस-विद्रधि के समान चिह्न मिलते हैं। वक्ष-परीक्षा यंत्र से परीक्षा करने पर

घनीभवन, विवर, श्वासनलिका प्रदाह अथवा सद्रव फुफ्फुसावरण के चिह्न प्रतीत होते हैं। यदि कर्दम-पदार्थ थूक में आरहा हो तो उस थूक को कांच-नलिका में रखने से वह तीन परतों में जमता है, गली हुई फौफ्फुसीय धातु सबसे नीचे जमती है।

(६६) राजयक्ष्मा (Tuberculosis)–राजयक्ष्मा के लगभग सभी प्रकारों में थोड़ा बहुत ज्वर अवश्य रहता है। राजयक्ष्मा के सभी प्रकारों पर अध्याय १० में प्रकाश डाला जावेगा।

फौफ्फुसीय अन्तःस्फान (Pulmonary Infarct)—

फौफ्फुसीय धमनी (pulmonary Artery) की एक या अनेक शाखाओं में अन्तःशल्यता (Embolism) अथवा रक्तस्कन्दन (घनास्रता, रक्त जम जाना, Thrombosis) के कारण फुफ्फुस के किसी भाग में बाधा पहुँचने से वह भाग अन्तःस्फान (Infarct) में परिवर्तित हो जाता है। कभी कभी फौफ्फुसीय धमनी की किसी शाखा के फट जाने से वायुकोषों में रक्त भर जाता है और रक्तस्रावी अन्तःस्फान(Haemorrhagic Infarct) की उत्पत्ति होती है—इसे फौफ्फुसीय श्वासावरोधक (Pulmonary Apoplexy) भी कहते हैं।

प्रकृति ने फुफ्फुसों में रक्ताभिसरण क्रिया का प्रबन्ध काफी उदारतापूर्वक किया है इसीलिये साधारणतया धमनी का अवरोध कोई खास उपद्रव पैदा नहीं कर पाता, किन्तु जब फुफ्फुसों में रक्ताधिक्य हो अथवा रक्ताभिसरण क्रिया मन्द हो जैसा कि शल्यकर्म के बाद अथवा चिरकारी रोगों में शय्या पर पड़े रहने से होता है, तब अन्तःस्फान की संभावना रहती है। धमनी के मुख्य भाग में अवरोध होने से फुफ्फुस में शोथ होकर शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है। मध्यम आकार की शाखा में अवरोध होने से रक्तस्रावी अन्तःस्फान बनता है जो प्रायः दाहिने फुफ्फुस में होता है। आकार त्रिभुज के समान और रंग लाल का एवं कठोर होता है। वायु कोषों में लाल कण भरे रहते हैं। यदि अन्तःशल्य के साथ पूयोत्पादक जीवाणु भी हों तो पाक होकर विद्रधि बन जाता है। फुफ्फुसावरण प्रदाह भी हो सकता है।

रोग आरम्भ होते ही उस स्थान पर भयंकर पीड़ा होती है। फुफ्फुस में स्थानिक घनीभवन के चिह्न उत्पन्न होते हैं और बार बार रक्तष्ठीवन होता है। अधिकांश रोगियों को ज्वर आ जाता है और थोड़ा श्वेतकायाणूत्कर्ष होता है। बड़ी धमनी में अवरोध होने से रक्ताभिसरण क्रिया का गंभीर निपात (Severe Circulatory collaspe) होने से वैवर्ण्य (Pallor), श्यावता (Cyanosis), प्रस्वेद, मूर्च्छा, तीव्र नाड़ी आदि लक्षण उपस्थित होकर शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है। छोटी धमनी में अवरोध होने से तुरन्त मृत्यु नहीं होती। हृदय के दक्षिण भाग की वृद्धि हो जाती है और शिराओं में अत्यधिक रक्त भर जाता है और श्वासकृच्छ्रता होती है। अत्यन्त छोटी धमनी में अवरोध होने से लक्षण प्रायः अस्पष्ट होते हैं। अधिकांश मामलों में फुफ्फुसावरण प्रदाह हो जाता है। यदि शीघ्र ही मृत्यु नहीं होती और विद्रधि या कर्दम की भी उत्पत्ति नहीं होती तो अन्तःस्फान के कुछ भाग का चूपण और कुछ भाग में तन्तूत्कर्ष हो जाता है और स्वास्थ्य लाभ हो जाता है।

(६८) फौफ्फुसीय निपात (PulmonaryCollapse Atelactasis)—वक्ष, उदर और कटि प्रदेशों में आघात या शल्यकर्म, रोहिणीजन्य घात (Post-diphtheretic Paralysis), शैशवीय पक्षाघात (poliomyelitis, Infantile paralysis) और कभी कभी श्वास-नलिका में लिपियोडोल (Lipiodol) का प्रवेश कराने के फलस्वरूप एक फुफ्फुस के एक खण्ड अथवा एक पूरे फुफ्फुस अथवा दोनों फुफ्फुसों के तल भाग का निपात (Collapse) हो जाता है। निपातित भाग ठोस एवं नीलिमायुक्त लाल रंग का हो जाता है तथा मध्य की ओर झुक जाता है। हृदयाग्र और

अन्तराल निपातित भाग की ओर खिंच जाते हैं। रुग्ण भाग में नूतन वायु का प्रवेश होना रुक जाता है।

निपात होते ही एकाएक श्वासकृच्छ्ता, श्यावता, वक्ष के निचले भाग में पीड़ा, पतले या गाढ़े कफ-युक्त खांसी आदि लक्षणों के साथ तीव्र ज्वर आता है। नाड़ी और श्वास की गति में वृद्धि हो जाती है। थोड़ा श्वेतकायाणूत्कर्ष होता है।

रुग्ण पार्श्व चपटा और जड़वत् हो जाता है और दूसरी ओर की गतियां बढ़ जाती हैं। बाद की अवस्थाओं में घनीभवन के चिह्न उत्पन्न होते हैं। दूसरे पार्श्व में फुफ्फुस प्रसार होजाता है। क्ष-किरण चित्र मेंनिपातित फुफ्फुस उभरी हुई महाप्राचीरा पेशी और एक ओर को हटा हुआ अन्तराल दृष्टिगोचर होते हैं।

रोगी का भविष्य निपात के क्षेत्र पर निर्भर रहता है। फुफ्फुस के काफी बड़े भाग का निपात होने से शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है। दूसरे मामलों में २ से ६ दिनों के भीतर फुफ्फुस का निपातित भाग पुनः प्रसारित हो जाता है और इसके साथ ही ज्वर उतर कर रोगी स्वस्थ हो जाता है। फुफ्फुसावरण; श्वास नलिका प्रदाह और फुफ्सखण्ड प्रदाह उपद्रवस्वरूप उत्पन्न हो सकते हैं और इनसे रोग का स्वरूप अधिक गंभीर हो सकता है।

परतंत्र फौफ्फुसीय निपात (passive or Secondary pulmonary Collapse) श्वास नलिका में किसी बाह्य पदार्थ, प्रदाहजन्य निर्यास, अर्बुद आदि के कारण अवरोध होने से फुफ्फुस में घनीभवन या तन्तूत्कर्ष होने से अथवा सद्रव फुफ्फुसावरण, वातोरस, जलोदर आदि का दबाव पड़ने से भी फौफ्फुसीय निपात के चिह्न उत्पन्न होते हैं।

इसके लक्षण अप्रकट रहते हैं, मूल व्याधि के ही लक्षण प्रधान रहते हैं। मूल व्याधि के दूर होने पर फुफ्फुस पुनः अपनी स्वाभाविक दशा में लौटकर कार्य प्रारम्भ कर देता है किन्तु कुछ दशाओं में ऐसा नहीं होता और आक्रमण भाग में तन्तूत्कर्ष हो जाता है।

इस प्रकार से विभेद करने के लिए मूल प्रकार (पूर्वोक्त) को स्वतन्त्र अथवा प्राथमिक फौफ्फुसीय निपात (Active or Primary Pulmonary Collapse) कहते हैं।

(६९) छत्राणुजन्य फौफ्फुसीय ज्वर (Aspergillosis)--यह ज्वर अनाज में लगने वाले एक प्रकार के छत्राणु (Aspergillus Fumigatus) के उपसर्ग से होता है। इसका आक्रमण अधिकतर किसानों, चक्की चलाने वालों और कबूतर पालने वालों पर होता है। तीव्र प्रकार में श्वासनलिका प्रदाह अथवा फुफ्फुसनलिका प्रदाह के समान लक्षण होते हैं। चिरकारी प्रकार के लक्षण राजयक्ष्मा के समान होते हैं—अनियमित ज्वर, क्षय, रक्तष्ठीवन आदि। कफ में कारणभूत छत्राणु मिलते हैं (विभेदक चिह्न)।

(७०) फुफ्फुसावरण प्रदाह (Pleurisy)–फुफ्फुसावरण प्रदाह के २ भेद हैं–(१) शुष्क और (२) सद्रव। इन दोनों प्रकारों के कई उपभेद होते हैं। एक ही रोगी का यह रोग कालान्तर में एक प्रकार से दूसरे और तीसरे में बदल सकता है। वास्तव में ये भेद परस्पर इतने अधिक सम्बद्ध हैं कि किसी भी प्रकार से किया गया वर्गीकरण उचित नहीं माना जासकता। फिर भी विवेचन में सुविधा के लिये निम्न वर्गीकरण स्वीकार किया गया है—

(१) शुष्क फुफ्फुसावरण प्रदाह (Dry pleurisy) –इसके ३ भेद हैं—

(अ) तीव्र शुष्क फुफ्फुसावरण प्रदाह (Acute Dry or Fibrinous Pleurisy)–यह रोग अधिकतर युवा स्त्री-पुरुषों को राजयक्ष्मा-दण्डाणु के कारण होता है। कभी-कभी शीत लगने से या अभिघात से भी होता है। फुफ्फुसाखण्ड प्रदाह, राजयक्ष्मा, आमवातिक ज्वर, एवं अन्य कई प्रकार के ज्वरों में, फुफ्फुस-विद्रधि, फुफ्फुस-कर्दम, फौफ्फुसीय अन्तः स्फान,नव-वृद्धि (New growth)

फुफ्फुस-निपात, श्वास-नलिका विस्फार, फौफ्फुसीय विस्तृत तन्तूत्कर्ष, समीपस्थ अंगों के प्रदाह, दोषमयता, पूयमयता, अभिघातज व्रण, चिरकारी वृक्कप्रदाह आदि रोगों की उपस्थिति में उपद्रवस्वरूप भी इस रोग की उत्पत्ति होती है।

प्रदाह बहुधा एक स्थान पर होता है और दोनों फुफ्फुसावरण तथा कभी-कभी फुफ्फुसखंडीय भित्ति भी प्रभावित होते हैं। प्रदाहयुक्त स्थान में रक्ताधिक्य एवं निर्यास की उत्पत्ति होती है। शीघ्र ही वहां तान्विन (fibrin) का जमाव होजाता है जिससे खुरदरापन उत्पन्न होजाता है। कुछ काल में फुफ्फुसावरण में मोटापन आजाता है अथवा संलाग (Adhesions) उत्पन्न होजाते हैं। अन्त में फौफ्फुसीय राजयक्ष्मा या तन्तूत्कर्ष होजाता है।

रोग का आरम्भ साधारण ज्वर (९९° से १०२° तक) से होता है। आक्रान्त भाग में शूल होता है जो खांसने और दीर्घश्वास लेने से बढ़ता है। खांसीश्वासकष्ट और पार्श्वशूल प्रधान लक्षण हैं। श्वास क्षुद्रश्वास (Shallow Breathing) के प्रकार का होता है और वक्ष की गति मन्द होजाती है। कुछ रोगी पीड़ित पार्श्व की ओर किन्तु अधिकांश रोगी स्वस्थ पार्श्व की ओर करवट लेकर लेटना पसन्द करते हैं। शीतजन्य मामलों में ३-४ दिनों के बाद ज्वर उतर जाता है और लगभग १ सप्ताह में पीड़ा दूर होजाती है। किन्तु राजयक्ष्मा दण्डाणु से उत्पन्न रोग) दीर्घकालिक होता है तथा क्रमशः चिरकारी प्रकार और फौफ्फुसीय राजयक्ष्मा में परिवर्तित होता है। अन्य रोगों के उपद्रवस्वरूप उत्पन्न रोग की शांति उन रोगों की शान्ति पर निर्भर रहती है पर कभी-कभी मूल रोग के शान्त हो जाने पर भी यह रोग बना रहता है और चिरकारी रूप धारण कर लेता है।

क्षुद्रश्वास, सीमित वक्ष-गति, दबाने से पीड़ा, ठेपन-प्रति-स्वनन में कमी और वक्षपरीक्षा यंत्र के द्वारा विशेष प्रकार की घर्षण-ध्वनि सुनाई देना निदानात्मक चिह्न हैं।

(ब) तीव्र महाप्राचीरीय फुफ्फुसावरण प्रदाह (Acute Diaphragmatic Pleurisy)—इस प्रकार में प्रदाह का स्थान महाप्राचीरा पेशी में रहता है। जिन कारणों से तीव्र शुष्क फुफ्फुसावरण प्रदाह की उत्पत्ति होती है। उन्ही कारणों से इसकी उन्नतिहोती है। उदर गुहा में प्रदाह अथवा पूयोत्पादक क्रिया के कारण भी इसकी उत्पत्ति होती है।

इसके लक्षण बहुत कुछ पूर्वोक्त प्रकार के ही समान होते हैं किन्तु कास के स्थान पर अधिकतर हिक्का उत्पन्न होती है। महाप्राचीरा की गति कम हो जाती है जिससे वक्ष की गति कम होजाती है और क्षुद्रश्वास होता है। महाप्राचीरा के आक्रान्त भाग में शूल होता है जो कंधे तक और नीचे उदर तक फैलता है, उदर की पेशियां कड़ी रहती हैं। वक्षपरीक्षा यंत्र से परीक्षा करने पर घर्षण ध्वनि अधिकतर मिलती है। बाद की अवस्थाओं में अधिकतर फुफ्फुसावरण में द्रव या पूय की उत्पत्ति हो जाती है।

(स) चिरकारी शुष्क फुफ्फुसावरण प्रदाह (Chronic dry pleurisy)—यह अधिकतर तीव्र प्रकार के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होता है किन्तु कभी कभी राजयक्ष्मा दण्डाणुओं के कारण स्वतन्त्र रूप से भी उत्पन्न होता है। लक्षण सौम्य रहते हैं और थोड़े थोड़े दिनों में प्रकोप और शान्ति होती रहती है। फलस्वरूप फुफ्फुसावरण में संलाग उत्पन्न होते हैं।

पीड़ित भाग चपटा रहता है और उसकी तथा महाप्राचीरा पेशी की गति में कमी आजाती है। श्वासगति और वाचिक ध्वनि (बोलने की आवाज) में कमी आजाती है।

(२) सद्रव फुफ्फुसावरण प्रदाह (pleurisy with Effusion)—फुफ्फुसावरण प्रदाह में भरने वाला द्रव ४ प्रकार का होता है—(१) लसिका-तान्विनीय द्रव (Serofibrinous Effusion) (२) पूय, (३) रक्त और (४) पायस (Chyle)। इन्हीं के अनुसार सद्रव फुफ्फुसावरण प्रदाह के ४ भेद किये गये हैं।

(i) लसिका-तान्त्विनीय फुफ्फुसावरण प्रदाह (Sero-fibrinous pleurisy)—बहुधा इसकी उत्पत्ति नवयुवकों में तीव्र शुष्क फुफ्फुसावरण प्रदाह के फलस्वरूप होती है और कारणभूत जीवाणु अधिकतर राजयक्ष्मा दण्डाणु हुआ करते हैं। फुफ्फुसखण्ड प्रदाह, फौफ्फुसीय अन्तःस्फान, हृदयावरण प्रदाह, उदरावरण-प्रदाह, वृक्कप्रदाह, दोषमयता, आन्त्रिक ज्वर, आमवातिक ज्वर, किरणकवक रोग (Actinomycosis), नववृद्धि (अर्बुद आदि), रक्तक्षय, श्वेतमयता (Leukaemia), अभिघात आदि के फलस्वरूप भी इस रोग की उत्पत्ति होती है। कभी कभी कृत्रिम वातोरस (Artificial pneumothorax) के दुष्परिणाम स्वरूप भी यह रोग उत्पन्न हो जाता है। बह्वावरण प्रदाह रोग (polyserositis) की उपस्थिति में यह रोग उसका एक खण्ड या लक्षण मात्र होता है।

रोग का आरम्भ ज्वर और कास के साथ होता है, यदि पहले से रहे हों तो बढ़ जाते हैं। प्रारम्भ में पार्श्वशूल हो सकता है किन्तु ज्यों ज्यों द्रव की उत्पत्ति होती है त्यों त्यों शूल कम होता जाता है किन्तु श्वासकष्ट बढ़ जाता है और अधिकतर उर्ध्वश्वास (Orthopnoea) चलता है। यदि द्रव संग्रह तेजी के साथ हो तो उर्ध्वश्वास अधिक स्पष्ट रहता है। यदि द्रव संग्रह क्रमशः अत्यन्त धीरे धीरे हो तो लक्षण अल्प या अनुपस्थित हो सकते हैं। रोगी पीड़ित भाग की ओर करवट लेकर लेटना और टिककर बैठना (अधलेटे रहना) पसन्द करता है। सामान्य ज्वर (१०१°-१०२°) कई सप्ताहों तक बना रहता है और क्रमशः धीरे धीरे उतरता है।

ज्यों-ज्यों द्रवसंचय होता है त्यों-त्यों फुफ्फुस ऊपर और भीतर की ओर खिंचता जाता है एवं उसके जिस भाग पर द्रव का दबाव पड़ता है उसका निपात हो जाता है। यदि दबाव अधिक हो तो दूसरे फुफ्फुस में रक्ताधिक्य और शोथ उत्पन्न होते हैं। अन्तराल, हृदय, यकृत और प्लीहा अपने स्थान से हट जाते हैं। अधिकांश मामलों में संचित द्रव स्वच्छ, पारदर्शक एवं पीत-लोहित (Straw or ambar colour सूखी घास या अम्बर के समान) वर्ण का होता है; आपेक्षिक घनत्व १.१८ या अधिक रहता है और श्विति, वृत्ति (Globulin वर्तुलि) तथा तन्तुजिन (Fibrinogen) के रूप में ४% प्रोभूजिन पायी जाती हैं। राजयक्ष्मीय प्रकार में श्वेतकायाणूत्कर्ष और पूयोत्पादक जीवाणुओं के संक्रमण में बह्वाकारी श्वेतकायाणूत्कर्ष मिलता है। उपसिप्रिय कोप अक्सर पाये जाते हैं।

पर्याप्त मात्रा में द्रव संचय हो चुकने पर श्वास क्रिया श्वास-ध्वनि, वाचिक-ध्वनि, ठेपण-प्रतिस्वनन और स्पर्शलभ्य लहरें मन्द हो जाना आदि चिह्न मिलते हैं। द्रव-संचय कम होने पर ये चिह्न प्रतीत नहीं होते और अत्यधिक द्रवसंचय होने पर बढ़े हुए प्रतीत होते हैं तथा अन्य अवयव स्थानच्युत मिलते हैं। रोगविनिश्चय के लिए तथा द्रव संचय का स्थान जानने के लिए क्ष-किरण चित्र आवश्यक है और संक्रमण का प्रकार जानने के लिए सूची द्वारा द्रव निकालकर परीक्षा करना आवश्यक है।

सामान्य मात्रा में संचित द्रव (लगभग ५०० सी. सी.) का चूषण होने में २-३ सप्ताह लगते हैं और चूषण होने के साथ ही साथ निपातित फुफ्फुस प्रसारित होजाता है। किन्तु यदि द्रव संचय दीर्घकाल तक रहा हो तो फुफ्फुस के तलभाग का प्रसार नहीं होता, वहां तन्तूत्कर्ष और फुफ्फुसावरण से संलाग (Adhesion) हो जाता है। कभी-कभी संचित द्रव में पूयोत्पत्ति होजाती है। राजयक्ष्मा-दण्डाणु-जन्य प्रकार में उपसर्ग फुफ्फुसों तक फैलकर फौफ्फुसीय राजयक्ष्मा उत्पन्न कर सकता है।

(ii) पूयमय फुफ्फुसावरण प्रदाह अथवा पूयोरस (Pleurisy with purulent Effusion; Empyema)—वैसे यह रोग किसी भी आयु में हो सकता है किन्तु अधिकांश रोगी ४० वर्ष के भीतर के पाये जाते हैं और उनमें भी बच्चों की संख्या अधिक रहती है। कारणभूत जीवाणु अधिकतर फुफ्फुस गोलाणु अथवा माला गोलाणु होते हैं।

किन्तु कभी-कभी फुफ्फुस दण्डाणु (Pneumo-bacillus), राजयक्ष्मा दण्डाणु, आन्त्रिक ज्वर दण्डाणु, स्तवक दण्डाणु, वातश्लेष्म दण्डाणु, आन्त्रिक ज्वर दण्डाणु आदि भी इस रोग की उत्पत्ति करते पाये गये हैं। यह रोग अधिकतर किसी समीपस्थ अवयव में पूयोत्पादक क्रिया के प्रसार से उत्पन्न होता है।

लक्षण—लसिका-तान्त्विनीय फुफ्फुसावरण प्रदाह के समान किन्तु उससे बहुत अधिक त्रासदायक होते हैं। ज्वर तीव्र प्रकार का रहता है। जाड़ा लगकर चढ़ता और पसीना देकर उतरता है (प्रलेपक-ज्वर, Hectic fever)। खांसी और उर्ध्वश्वास अत्यधिक कष्ट देते हैं। विषमयता होती है जिससे तेजी के साथ धातुक्षय होता है। रोगी अत्यन्त दुर्बल और विवर्ण (Lustureless, pale) दिखता है। आक्रान्त भाग पसलियों के बीच के स्थानों में उभरा हुआ दिखाई देता है, त्वचा में शोथ भी पाया जा सकता है। पुराने रोगी की हाथों और पैरों की अंगुलियां मुद्गरवत् होजाती हैं। रक्त में श्वेत-कायाणूत्कर्ष (२०००० या अधिक) होता है। बालकों में अधिक प्रबल लक्षण उत्पन्न होते हैं।

संचित द्रव का गाढ़ा या पतला होना तथा गंधहीन अथवा दुर्गन्धित होना संक्रमण के प्रकार पर निर्भर रहता है। फुफ्फुसावरण एक चिकने निर्यास से लिप्त रहते हैं, मोटे पड़ जाते हैं और उनमें संलाग भी उत्पन्न हो सकते हैं। फुफ्फुस का निपात होजाता है, प्रारम्भ में रोगोपशम होजाने से उसके पुनः प्रसारित होने की संभावना रहती है किन्तु समय अधिक बीतने पर उसमें तन्तूत्कर्ष होजाता है। यदि समय के भीतर उचित चिकित्सा न की जावे तो पूय किसी भी दिशा में भेदन करके गमन कर सकता है—श्वास-नलिकाओं के मार्ग से थूक के साथ निकल सकता है अथवा अन्न नलिका को भेदकर अन्नवह स्रोत में प्रविष्ट होसकता है अथवा हृदयावरण में या महाप्राचीरा को भेदकर उदरगह्वर में प्रविष्ट होसकता है अथवा त्वचा को भेदकर बाहर निकल सकता है। पूय बाहर निकल जाने से रोगशान्ति की संभावना रहती है किन्तु भीतर ही भीतर फैलने पर मृत्यु निश्चित रहती है। अन्य मामलों में फुफ्फुस का स्थायी निपात होजाता है जिससे वक्ष चपटा और मेरुदण्ड टेढ़ा होजाता है फुफ्फुस का विद्रधि या कर्दम, नाड़ीव्रण, पूयमयता, श्वासनलिका विस्फार, स्थायी फुफ्फुसावरण स्थौल्य, और अस्थि-संधि क्षय (Osteo-arthropathy) परिणामस्वरूप हो सकते हैं।

(iii) रक्तमय फुफ्फुसावरण प्रदाह, रक्तोरस (Haemorrhagic Pleurisy; Haemothorax)—यह दशा वक्ष पर अभिघात लगने अथवा तीव्र संक्रामक ज्वरों, वक्ष के अवयवों के घातक रोगों और कभी कभी रक्तस्रावी रोगों के फलस्वरूप उपस्थित होती है। जब तक संक्रमण नहीं होता तब तक लसिका तान्त्विनीय प्रकार के समान और संक्रमण होने के पश्चात् पूयमय प्रकार के समान लक्षण उपस्थित होते हैं। यदि जीवाणुओं का संक्रमण न हो तो कुछ काल में रक्त का चूषण होकर रोगोपशम हो सकता है।

(iv) पायसी फुफ्फुसावरण (Chylothorax)—औरस लस-वाहिनी ((Thoracic Duct) में सूक्ष्मश्लीपदी (श्लीपद रोग उत्पन्न करने वाला कृमि Micro-filaria) के द्वारा अथवा अर्बुद या वृद्धिगत अंतरालीय ग्रंथियों के दबाव से अवरोध होने से फुफ्फुस आवरण में पायस (Chyle) भर जाता है। फुफ्फुसों पर दबाव पड़ने के लक्षण उत्पन्न होते हैं। यदि यह रोग श्लीपद के कारण हो तो श्लीपद लक्षण भी उपस्थित रहते हैं।

जलोरस (Hydrothorax)—शोथरोग (General Anasarca) के अन्तर्गत जिस प्रकार उदरावरण में जल भरकर जलोदर की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार फुफ्फुसावरण में भी जल भरकर जलोरस हो जाता है। यह कोई स्वतंत्र रोग नहीं है। इसमें शोथ रोग के साथ फुफ्फुसों पर दबाव पड़ने के लक्षण भी उत्पन्न होते हैं।

(७१) सन्निपातज मुखपाक, कोथमय मुखपाक अथवा कर्दमास्य Noma, cancrum oris, Gangrenous stomatitis)—मुखपाक के इस प्रकार में तीव्र ज्वर रहता है। विवरण अध्याय ५६ मुखरोग निदान में देखें।

(७२) पाषाणगर्दभ (Mumps, Epidemic parotitis)—अध्याय ५५ क्षुद्ररोग निदान में देखें।

(७३) प्रवाहिकाजन्य ज्वर (Fever caused by dysentery)—दण्डाणवीय प्रवाहिका के साथ थोड़ा बहुत ज्वर अवश्य रहता है किन्तु शिगा (Shiga) प्रकार की अतितीव्र (Fulminant) दण्डाणवीय प्रवाहिका में तीव्र ज्वर रहता है। कीटाणवीय (Amoebic) प्रवाहिका में प्रायः ज्वर नहीं रहता किन्तु इसके अतितीव्र अथवा कर्दमीय प्रकार में तीव्र ज्वर रहता है। इसका वर्णन अध्याय २ में प्रवाहिका निदान के साथ देखें।

(७४) कीटाणवीय यकृत प्रदाह (AmoebicHepatitis)—इस रोग की उत्पत्ति धातुनाशी अन्तः कीटाणु (Entamoeba Histyoltica) का प्रतिहारिणी शिरा (portal vein) के रक्तप्रवाह के साथ यकृत में प्रवेश करने से होती है। आक्रमण अधिकतर ३०-४० वर्षीय व्यक्तियों पर होता है जिनमें अधिकांश यूरोप निवासी एवं मद्य-व्यसनी हुआ करते हैं। कीटाणवीय प्रवाहिका का इतिहास मिलता है किन्तु मल में कीटाणुओं की उपलब्धि नहीं होती तथापि मल में अदृष्य रक्त (Occult blood) और चारकौट लेडन के रवे (Charcot Leyden crystals) मिलने से रोग-विनिश्चय हो जाता है।

तीव्र प्रकार का आरम्भ ज्वर के साथ होता है जो १०२°-१०४° तक जाता है और अर्धविसर्गी प्रकार का रहता है। यकृत की साधारण वृद्धि होती है और छूने से काफी पीड़ा होती है। उदर में काफी कड़ापन रहता है। यदि ऊपरी भाग विशेषतया आक्रान्त हो तो दाहिने कंधे और हाथ तक भी पीड़ा की लहर दौड़ सकती है। यदि उचित चिकित्सा समय के भीतर न की जावे तो १-२ सप्ताह में मृत्यु हो जाती है। अनुतीव्र (Subacute) प्रकार में उक्त लक्षण कुछ सौम्य रहते हैं, अधिक दिनों तक चलता है और चिकित्सा में सफलता की आशा अधिक रहती है।

चिरकारी प्रकार के लक्षण अनिश्चित रहते हैं। यकृत किंचित बढ़ा हुआ एवं पीड़ायुक्त रहता है और उण्डुक (Caecum) भी फूला हुआ एवं पीड़ायुक्त रहता है। त्वचा में वैवर्ण्य और कभी कभी किंचित् पाण्डुता भी रहती है। श्वेतकायाणूत्कर्ष रोग के बल के अनुरूप रहता है। रोगी अरुचि, अग्निमान्द्य, दौर्बल्य आदि की शिकायत करता है।

(७५) यकृत-विद्रधि (Liver Abscess)–इस रोग की उत्पत्ति के कारण कीटाणवीय यकृत प्रदाह के समान ही हैं, अन्तर यही है कि धातुनाशी अन्तःकीटाणु प्रतिहारिणी शिरा की किसी शाखा में अवरोध उत्पन्न करके तीव्रता के साथ बढ़कर यकृत की धातु का नाश करते हैं।

अधिकतर यकृत के दाहिने खण्ड के ऊपरी भाग में एक विद्रधि की उत्पत्ति होती है। किन्तु कभी कभी रोग की अत्यन्त तीव्रता के कारण कई विद्रधि उत्पन्न होते हैं और शीघ्र ही रोगी के प्राण ले लेते हैं।

रोग का आरम्भ यकृत प्रदेश में साधारण या शूलवत् तीव्र पीड़ा सह ज्वर से होता है। ज्वर हल्का या तीव्र, अर्धविसर्गी सन्तत या अन्येद्युष्क प्रकार का हो सकता है; अधिकतर कम्प देकर चढ़ता और पसीना देकर उतरता (प्रलेपक Hectic) है। पीड़ा गम्भीर श्वास लेने पर बढ़ती है और दाहिने कन्धे तक पीड़ा की लहर जाती है किन्तु यदि यकृत के वाम खण्ड में विद्रधि उत्पन्न हुआ हो तो वायें कन्धे तक जाती है। रोगी दाहिनी करवट से लेटना पसन्द करता है। यकृत की वृद्धि ऊपर नीचे—दोनों ओर होती है। महाप्राचीरा में जड़ता, फुफ्फुस के तलभाग में घनीभवन और फुफ्फुसावरण में प्रदाह उत्पन्न होते हैं। यदि उपेक्षा की जावे तो कुछ दिनों में यकृत प्रदेश में काफी बड़ा शोथ उत्पन्न होता है।

रोगी को थोड़ी बहुत खांसी अवश्य आती है और खांसने से पीड़ा बढ़ती है। शायद खांसी की उत्पत्ति फुफ्फुस और फुफ्फुसावरण में क्षोभ होने से होती है। जिह्वा मैली, अरुचि, मलावरोध (कुछ मामलों में अतिसार), त्वचा वैवर्ण्य (मटमैला रंग) रक्तक्षय, मांस-क्षय आदि लक्षण उपस्थित रहते हैं। मूत्र पीला होता है तथा उसमें मूत्र-पित्त (Urobilin) और भूयाति (Nitrogen) की मात्रा बढ़ी हुई रहती है। रक्त में बह्वाकारी श्वेतकायाणूत्कर्ष होता है, लाल कणों और रक्तरंजन की मात्रा घट जाती है। कुछ रोगियों में पीत वर्ण की हल्की आभा (Icteroid tinge) उपस्थित हो सकती है किन्तु कामला के स्पष्ट लक्षण कभी नहीं मिलते।

यदि पूय निकाला न जावे तो या तो विद्रधि सुकड़ कर कोष्ठार्बुद (cyst) बनकर रह जाता है अथवा रोगी क्षीणता और विषमतया होने से मर जाता है अथवा विद्रधि किसी भी दिशा में फूट जाता है। अधिकतर विद्रधि फुफ्फुस में फूटता है और पूय फुफ्फुसनलिकाओं में से होता हुआ खांसी उत्पन्न करके ष्ठीवन के रूप में बाहर निकल जाता है। इस अवस्था में फुफ्फुस विद्रधि के लक्षण मिलते हैं जिससे भ्रम हो सकता है; कभी कभी वास्तविक फुफ्फुस-विद्रधि भी उत्पन्न हो सकता है। विद्रधि के फूटने का दूसरा मार्ग आमाशय और आन्त्र है। इस दशा में पूय वमन या मल के साथ निकलता है। तीसरा मार्ग फुफ्फुसावरण है। उसमें फूटने से पूयोरस हो जाता है। उदरावरण अथवा हृदयावरण में भी विद्रधि फूट सकता है और ऐसा होने से तुरन्त मृत्यु होसकती है। कभी-कभी विद्रधि बाहर की ओर त्वचा में से फूटता है।

कई विद्रधियों की उत्पत्ति अथवा प्रवाहिका और फुफ्फुसखण्ड-प्रदाह सरीखे रोगों का सह-अस्तित्व असाध्यता का लक्षण है। सामान्य रोग साध्य है। उपेक्षित रोगियों की मृत्यु यदि होती है तो अत्यधिक शक्तिक्षय से अथवा विद्रधि के किसी गलत स्थान में फूटने से होती है।

पूयमयताजन्य यकृत विद्रधि (*Pyaemic liver abscess*)—इस रोग का यह नाम उचित न होते हुए भी प्रचलित है। इसकी उत्पत्ति आन्त्र दण्डाणु अथवा मालागोलाणु से होती है। ये जीवाणु प्रतिहारिणी शिरा, यकृदीय धमनी अथवा पित्तनलिका में से यकृत में प्रवेश करते हैं। शरीर में कहीं न कहीं पूयजनक रोग का इतिहास अवश्य मिलता है।

एक या अधिक विद्रधि उत्पन्न होते हैं। यकृत विद्रधि के उपर्युक्त लक्षणों के साथ पहले से उपस्थित रोग के भी लक्षण मिलते हैं। ज्वर दोषमयता अथवा आन्त्रिक ज्वर के प्रकार का होता है। अधिकांश रोगी मर जाते हैं।

(७६) तीव्र संक्रामक यकृत प्रदाह अथवा कामला की महामारी (Acute Infective Hepatitis or Epidemic jaundice)

(७७) प्रतिहारिणी शिरापाक (Suppurative Pylephlebitis).

(७८) यकृत-कोथ अथवा यकृत का पीतशोष अथवा गंभीर कामला (Necrosis of the Liver or Yellow Atrophy of the Liver or Icterus Gravis).

(७९) अवरोधजन्य पैत्तिक यकृद्दाल्युत्कर्ष अथवा चारकौट का यकृद्दाल्युत्कर्ष (Obstructive Biliary Cirrhosis or Charcot's cirrhosis).

(८०) भारतीय शैशवीय यकृद्दाल्युत्कर्ष (Infantile Liver-cirrhosis of India).

(८१) यकृत की अर्बुदादि नववृद्धियां (Hepatic New Growths).

(८२) पित्ताशय प्रदाह (Cholecystitis)

(८३) पित्ताश्मरी (Cholelithiasis, Gall-stones)

—नं० ७६ से ८३ तक के रोगों में ज्वर और कामला प्रधान लक्षण रहते हैं। इनका वर्णन अध्याय ८ में मिलेगा।

(८४) उदरावरण प्रदाह (peritonitis)–इसका वर्णन अध्याय ३५ 'उदररोग निदान' में किया जावेगा।

(८५) गवीनी-मुख-प्रदाह (pyelitis)–इस रोग में वृक्क के गवीनी-मुख (Renal-pelvis) का और कभी-कभी पूरे वृक्क का पूयमय (Septic) प्रदाह होता है। कारणभूत जीवाणु अधिकतर आन्त्र-दण्डाणु ही हुआ करते हैं किन्तु कभी-कभी आन्त्रिक ज्वर दण्डाणु, गुच्छगोलाणु, स्तबक गोलाणु, माला-गोलाणु, प्रोटस दण्डाणु (B.protens) आदि भी इस रोग की उत्पत्ति करते हुए पाये जाते हैं। प्रारम्भ में गवीनी मुख की श्लैष्मिक कला का घन-शोथ और प्रसार होता है। कुछ काल पश्चात् वह पूयमय प्रदाह में परिवर्तित होकर पूय का स्राव करने लगता है जो मूत्र के साथ मिलकर निकलती है। कभी-कभी प्रदाह सारे वृक्क में फैल जाता है और कई विद्रधि उत्पन्न हो जाते हैं—आरोही गवीनी-मुख-प्रदाह (pyelonephritis) कभी-कभी इन विद्रधियों से गवीनी मुख बन्द होजाता है और पूय का संग्रह वृक्क में ही होता रहता है जिससे पूरा वृक्क एक बड़े विद्रधि का रूप धारण कर लेता है—पूयमय वृक्कोत्कर्ष (pyo-nephrosis)। कभी-कभी प्रदाह वृक्क के आस-पास की धातुओं में फैलकर पीड़ायुक्त शोथ उत्पन्न करता है और यद्यपि धातुओं का नाश काफी तादाद में होता है तथापि बहुत हद तक रोपण होजाता है। किन्तु यदि व्रण वस्तु अधिक हो तो वृक्क सिकुड़कर छोटा, खुरदरा और दानेदार होजाता है—गवीनी मुख प्रदाहजन्य संकुचित वृक्क (Pyelonephrotic contracted Kidney)।

तीव्र प्रकार के लक्षण सन्निपात या विषमयता (Septicaemia) के समान होते हैं। ज्वर अधिक-तर तीव्र प्रकार का होता है और सन्तत (continuous) अथवा अर्धविसर्गी सन्तत (Ramittent) प्रकार का होता है। कुछ मामलों में जाड़ा लगकर चढ़ता और पसीना देकर उतरता है जिससे विषम-ज्वर का भ्रम होसकता है। कुक्षि में पीड़ा रहती है जो दबाने या छूने से बढ़ती है। कभी-कभी शूलवत् पीड़ा के वेग भी आते हैं। तन्द्रा, प्रलाप आदि मस्तिष्कगत लक्षण प्रायः उपस्थित ही रहते हैं किन्तु कुछ मामलों में विशेषकर बालकों में मस्तिष्कावरण प्रदाह के समान लक्षण मिल सकते हैं। नाड़ी कम-जोर रहती है और तेजी के साथ चलती है। ज्यों-ज्यों विषमयता बढ़ती है त्यों-त्यों लक्षणों की उग्रता भी बढ़ती जाती है। थोड़ा-थोड़ा गंदला पूययुक्त मूत्र पीड़ा के साथ बार-बार उतरता है।

अनुतीव्र प्रकार में ज्वर अपेक्षाकृत कम रहता है और अर्धविसर्गी सन्तत या अन्येद्युष्क प्रकार का रहता है। अन्य लक्षण भी बहुत कुछ सौम्य रहते हैं।

पुनरावर्तक प्रकार में थोड़े-थोड़े काल के बाद आक्रमण होता है। मूत्र में पूय बराबर उपस्थित रहता है किन्तु अन्य लक्षण आक्रमण काल में ही उत्पन्न होते हैं।

चिरकारी प्रकार में ज्वर और स्थानिक पीड़ा अत्यन्त सौम्य होते हैं। अरति, अजीर्ण, शक्तिहीनता कभी-कभी ज्वर का बढ़ जाना, बार-बार मूत्रत्याग की इच्छा होना और कभी-कभी अनजाने में ही नींद में पेशाब होजाना (नक्तमूत्रता Enuresis) आदि लक्षण पाये जाते हैं।

मूत्र गंदला होता है तथा उसमें पूय-कण, उपत्वचा कण तथा रोगोत्पादक जीवाणु मिलते हैं। आन्त्र-दण्डाणु के उपसर्ग में मूत्र की गंध मछली के समान और प्रतिक्रिया अम्ल रहती है तथा प्रोटस दण्डाणु के उपसर्ग में गंध अमोनिया(चूने और नौसा-दर को मिलाने से निकलने वाली गैस) के समान और प्रतिक्रिया क्षारीय रहती है। रक्त में बहुकारी श्वेतकायाणूत्कर्ष उपस्थित रहता है और अतितीव्र रोग में जीवाणु मिल सकते हैं। थोड़ा-बहुत रक्तक्षय अधिकतर उपस्थित रहता है।

(८६) परिवृक्क-विद्रधि (Perinephric absc-

ess)—इसकी उत्पत्ति पूयोत्पादक स्तवक गोलाणु (Staphylococcus pyogenes) के द्वारा होती है। यह जीवाणु शरीर के किसी अन्य भाग में स्थित प्रदाह, विद्रधि या प्रमेह पिडिका से रक्तवाहनियों या लसवाहिनियों के द्वारा वृक्कावरण में पहुँचकर विद्रधि की उत्पत्ति करता है। कभी कभी अन्तः कीटाणु (Entamoeba) जन्य आन्त्र-विद्रधि का विष वृक्कावरण में पहुँच कर अन्तःकीटाणुजन्य विद्रधि की उत्पत्ति करता है।

विद्रधि अधिकतर एक ही होता है किन्तु कभी कभी अनेक विद्रधि भी होते हैं। प्रमेह पिडिका के विष का संक्रमण होने से वृक्कावरण में भी प्रमेह पिडिका (carbuncle) ही उत्पन्न होती है। यह काफी बड़े क्षेत्र को प्रभावित करती है और इसमें कई पूयस्रावी मुख हुआ करते हैं।

प्रारम्भ में अरति और कुक्षि में पीड़ा आदि पूर्वरूप होते हैं। फिर ज्वर की उत्पत्ति होती है जो अर्धविसर्गी सन्तत (Remittent) प्रकार का हुआ करता है। इसके साथ ही सारे उदर प्रदेश में पीड़ा रहा करती है। लगभग एक सप्ताह बाद कुक्षि में लाल रंग का पीड़ायुक्त शोथ उत्पन्न होता है जिससे विद्रधि का निदान होता है।

मूत्र में पूयकण नहीं मिलते किन्तु यदि वृक्क के भीतर भी प्रदाह हो गया हो तो मिल सकते हैं। रक्त में २०,००० प्रतिघन मिलीमिटर तक या अधिक बहुकारी श्वेतकायाणूत्कर्ष मिलता है।

(८७) तीव्र मूत्राशय प्रदाह (Acute cystitis)–समीपस्थ भागों से अथवा रक्त से जीवाणुओं का उपसर्ग होने से, क्षोभक पदार्थों के सेवन से अथवा मूत्रोत्सर्ग की क्रिया में किसी कारणवश अवरोध उपस्थित होने से मूत्राशय की श्लैष्मिक कला का प्रदाह होता है। कारणभूत जीवाणु, आन्त्रदण्डाणु राजयक्ष्मा दण्डाणु, आन्त्रिक ज्वर दण्डाणु, गुह्य गोलाणु मालागोलाणु या स्तवक गोलाणु हुआ करते हैं। धातुनाशी अतःकीटाणु और शिस्टोसोमा (Schistosoma, Bilharzia) भी कभी कभी इस रोग की उत्पत्ति करते हैं। यह रोग शायद ही कभी स्वतंत्र रूप से होता हो; अधिकतर इसकी उत्पत्ति किसी रोग के उपद्रव स्वरूप या परिणाम स्वरूप होती है।

अनियमित ज्वर, बेचैनी, उदर में विशेषतया नाभि के नीचे के प्रदेश में पीड़ा जो कभी कभी बढ़कर शूलवत् हो जाती है और मूत्र में पूय एवं कभी कभी रक्त आना तथा मूत्रकृच्छ्रता प्रधान लक्षण हैं। गुह्यगोलाणु, आन्त्रदण्डाणु और राजयक्ष्मा-दण्डाणु के उपसर्ग में मूत्र अम्ल रहता है और अन्य उपसर्गों में क्षारीय रहता है। सापेक्ष निदान के लिये मूत्राशयदर्शक यंत्र (cystoscope) द्वारा परीक्षा करना आवश्यक रहता है।

चिरकारी प्रकार में उक्त लक्षण सौम्य रूप में रहते हैं।

(८८) हौज़किन का रोग (*Hodgkin's disease, Lymphadenoma Lymphogranuloma, Lymphoblastoma,or* Malignant *lymphoma*)कारण अज्ञात है। रोग का आरम्भ साधारण अर्धविसर्गी अथवा सन्तत ज्वर के साथ होता है। कुछ मामलों में ज्वर १०-१५ रहता है फिर १०-१५ दिन नहीं रहता और फिर आक्रमण करता है (पुनरावर्तक)। कुछ अत्यन्त तीव्र प्रकार के मामलों में तीव्र सन्तत ज्वर रहता है। अरति, शक्तिहीनता, वैवर्ण्य आदि लक्षण रहते हैं। एक साथ कई लस-ग्रन्थियों की वृद्धि धीरे धीरे होने लगती है किन्तु पीड़ा या पाक नहीं होता। अधिकतर सर्वप्रथम गले की ग्रन्थियों की वृद्धि होती है किन्तु बाद में शरीर की किसी भी लस-ग्रन्थि की वृद्धि हो सकती है चाहे वह ऊपरी भाग में हो अथवा गहराई में। रोग बढ़ने पर कई ग्रंथियों का शोथ मिलकर एकाकार हो जाता है। बढ़ी हुई ग्रन्थियों का जिन जिन अवयवों पर दबाव पड़ता है उनके कार्य में बाधा पहुँचती है और उन पर दबाव के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। रक्त में रक्तक्षय और
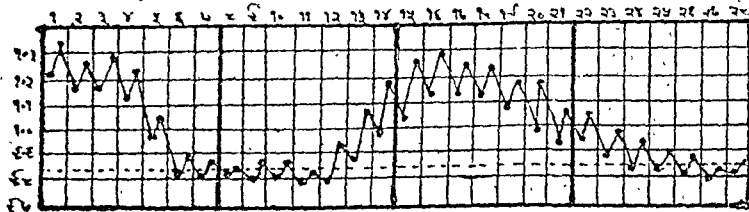
चित्र नं० ३१ हाजकिन के रोग का ज्वर चार्ट

श्वेतकायाणूत्कर्ष के चिह्न मिलते हैं। रोगी के बल-मांस का अधिक क्षय होने से तीव्र प्रकार में ३-४ मास में और सामान्य प्रकार में २-३ वर्ष में मृत्यु हो जाती है। यह रोग असाध्य है।

चित्र नं० ३२
हाजकिन के रोग (Hodgkin's Disease) में लस-ग्रन्थियों की वृद्धि

(८६) ऐडिसन का रोग (*Addison's disease*)— उपवृक्कों के आवरण से (*Adrenal cortex*) एक प्रकार का मद (*Hormone*) निकलता है जो शरीर में जल, लवण आदि की मात्रा का नियन्त्रण करता है। राजयक्ष्मा, उपदंश आदि रोगों के प्रभाव से अथवा स्थानीय रक्तस्राव के दुष्परिणामस्वरूप अथवा किसी अज्ञात कारण से उपवृक्कावरण उक्त मद का निर्माण करने में असमर्थ हो जाता है और इस मद के अभाव से इस रोग की उत्पत्ति होती है।

रोग का आरम्भ होते ही शक्तिहीनता, थकावट, मांस-क्षय आदि लक्षणों की उत्पत्ति एवं उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। अधिकांश मामलों में साधारण अन्येद्युष्क ज्वर और कुछ में तीव्र ज्वर उपस्थित रहता है। धीरे धीरे अरुचि, अग्निमांद्य, हृल्लास, वमन, मलावरोध अथवा अतिसार, हिक्का आदि लक्षण भी उत्पन्न होते हैं। कुछ मामलों में कंधे, उदरप्रदेश, कुक्षि आदि में पीड़ा भी उपस्थित रहती है। त्वचा में श्याम या कृष्ण वर्ण के चकत्ते उत्पन्न होते हैं। ये सर्वप्रथम मुख पर उत्पन्न होकर क्रमशः गले, हाथ, कक्षा, जननेन्द्रिय, स्तन, नाभि और अस्थियों के उभार वाले स्थानों पर भी उत्पन्न हो जाते हैं और उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं। मुख और योनि की श्लैष्मिक कला में भी ये उत्पन्न होते हैं। इनकी उत्पत्ति विकृत रक्त के रंग (*Melanin*) के जमाव से होती है। त्वचा के कुछ भागों में श्वित्र (सफेद कोढ़, *Leucoderma*) भी उत्पन्न हो सकता है। स्त्रियों का आर्तव बन्द हो जाता है और पुरुषों में षण्ढत्व उत्पन्न हो जाता है।

रोग समय समय पर घटता-बढ़ता रहता है और कभी कभी दारुण रूप धारण कर लेता है। दारुण अवस्था में मन्द नाड़ी, रक्तनिपीड़ कम, अरति, वमन, अतिसार, तीव्र ज्वर, संन्यास आदि लक्षण होते हैं तथा मूत्र कम होता है और उसमें श्विति (*Albumin*) और निर्मोक (*Casts*) पाये जाते हैं। इस अवस्था में मृत्यु हो जाने की संभावना रहती है।

रक्तनिपीड़ अधिकतर कम पाया जाता है, कुछ मामलों में १०० मि० मी० पारद से भी कम होसकता है। रक्त में लालकण, शर्करा और लवण (Sodium Chloride) की कमी तथा पोटाशियम और यूरिया (मूत्रा) की वृद्धि, श्वेतकायाणूत्कर्ष और

सामान्य उपसिप्रियता पाये जाते हैं। रक्तलसिका (Plasma) के आयतन (Volume) में कमी हो जाती है जिससे हृदय छोटा हो जाता है और रक्तनिपीड़ कम हो जाता है।

(६०) वैनाशिक रक्तक्षय (Pernicious, Anaemia, Addisonian Anaemia)—

(६१) अर्धचन्द्रकणीय रक्तक्षय (Sickle-Celled, Anaemia)—

(६२) तीव्र ज्वरकारी रक्तक्षय (Acute Ferbrile Anaemia, Acute Lederer's Anaemia)—

रक्तक्षय के इन तीनों प्रकारों से ज्वर रहता है। वैनाशिक रक्तक्षय में यदा-कदा हल्का ज्वर पाया जाता है किन्तु अर्धचन्द्रकणीय और तीव्रज्वरकारी रक्तक्षय का आरम्भ ही तीव्र ज्वर आकर होता है। इन तीनों का वर्णन क्षय रोग निदान के साथ देखें।

(६३) श्वेतमयता (Leukaemia)—इस रोग में रक्त के श्वेतकणों की अत्यधिक वृद्धि होती है। कारण अज्ञात है। वैसे इसके अनेक प्रकार हैं किन्तु निम्नलिखित ३ प्रकार ही अधिकतर पाये जाते हैं—

(i) चिरकारी मज्जाभ श्वेतमयता, अथवा प्लीहा और सुषुम्नाशीर्ष की श्वेतमयता (Chronic Myelogenous or Myeloid Leukaemia or Splenomedullary Leukaemia)—इस रोग में लम्बी अस्थियों में लालकण बनाने वाली मज्जा का क्षय और मज्जाकणों की वृद्धि होती है। यकृत और प्लीहा में भी मज्जाकणों की अधिकता होती है किन्तु यकृत की अपेक्षा प्लीहा अधिक प्रभावित होती है। प्लीहावरण मोटा पड़ जाता है। कभी कभी वृक्क भी प्रभावित होते हैं। विरल मामलों में प्लीहा में अन्तःस्फान या रक्तस्राव हो सकता है।

रोग का आरंभ अरुचि, अग्निमान्द्य, शक्तिहीनता आदि के साथ होता है। कुछ रोगियों को १०१°-१०२° ज्वर रहता है। यकृत की सामान्य वृद्धि और प्लीहा की अत्यधिक वृद्धि होती है। रक्त के श्वेतकणों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि होती है (१००००० से ५००००० तक)।

(ii) चिरकारी लसाभ श्वेतमयता (Chronic Lymphatic Leukaemia)—इस रोग में लसकणों (Lymphocytes) की वृद्धि होती है और शरीर की समस्त लस-ग्रन्थियों तथा यकृत, प्लीहा, गलतुण्डिका आदि की वृद्धि होती है। वृद्धि क्रमशः अविरत रूप से होती रहती है, ग्रन्थियां कठोर रहती हैं और पाक नहीं होता। त्वचा में भी लसीय ग्रन्थियां (Nodules) की उत्पत्ति होती है। आन्त्र, वृक्क, मसनिका, अस्थिमज्जा आदि में भी लसकण बड़ी संख्या में उपस्थित रहते हैं।

रोग क्रमशः अज्ञात रूप से उत्पन्न होता है। कमजोरी बढ़ती जाती है और लसग्रंथियों की वृद्धि होती है किन्तु उनमें पीड़ा नहीं होती। सर्वप्रथम अधिकतर गले, कक्षा या वंक्षण की ग्रन्थियां बढ़ती हैं; उसके बाद शरीर की लगभग सभी ग्रंथियां बढ़ने लगती हैं। ऊपरी ग्रन्थियां कुरूपता और भीतरी ग्रंथियां दबाव के लक्षण उत्पन्न करके शरीर के व्यापार में बाधा उत्पन्न करती हैं। हल्का अनियमित ज्वर और श्वासकष्ट, हृदय में फड़कन, अधिक उष्णता का अनुभव होना और अधिक प्रस्वेद निकलना आदि लक्षण होते हैं। रक्त के लाल कणों का क्षय अत्यधिक होता है। श्वेतकणों की वृद्धि ६०००० से २००००० तक होती है जिसमें लसकण ६०% से ६५% प्रतिशत तक होते हैं। कुछ रोगियों में रक्तपित्त के लक्षण (श्लैष्मिक कलाओं में से रक्तस्राव अथवा चोट लगने पर रक्तस्राव अधिक होना) उत्पन्न होते हैं।

यह रोग कष्टसाध्य या लगभग असाध्य है। अधिकांश रोगी ३-३½ वर्षों में अत्यन्त क्षीण होकर मर जाते हैं। कुछ रोगी इससे अधिक काल तक जीवित रहते हैं और कुछ अधिक रक्तस्राव के कारण अत्यन्त शीघ्र मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं।

(iii) तीव्र श्वेतमयता (Acute Leukaemia)—

भिन्न भिन्न जातियों के श्वेतकणों की वृद्धि के अनुसार इसके कई भेद किये जाते हैं किन्तु विस्तार-भय से यहां सबका वर्णन एक साथ किया जा रहा है। इसमें न्यष्ठीलीय श्वेतकणों की वृद्धि अधिक पायी जाती है (६०% तक) कुल श्वेतकणों की संख्या २५००० से १००००० प्रति मिलीमीटर तक हो सकती है किन्तु कुछ मामलों में श्वेतकणों की संख्या सामान्य से भी कम हो सकती है तथापि न्यष्ठीलीय कण उपस्थित रहते हैं। यह प्रकार पूर्वोक्त की अपेक्षा अधिक पाया जाता है और बच्चे तथा नवयुवक अधिकतर आक्रान्त होते हैं।

रोग का आक्रमण तीव्र ज्वर के साथ होता है। कुछ रोगियों में प्रतिश्याय और गलतोरणिका प्रदाह, कुछ में मुखपाक और कुछ में रक्तपित्त के लक्षण उपस्थित रहते हैं। कभी कभी ये तीनों लक्षण एक ही रोगी में मिलते हैं और कभी कभी रक्तष्ठीवी सन्निपात के लक्षण (स्रोतों के साथ ही साथ त्वचा में भी रक्तस्राव होना) उत्पन्न होते हैं। रक्त के लालकणों का नाश अत्यन्त तेजी के साथ होता है। लसग्रन्थियों की (विशेषतया ग्रैवेयक ग्रंथियों की) एवं प्लीहा और यकृत की वृद्धि होती है। रोग असाध्य है—२ सप्ताह से ३ मास तक में मृत्यु हो जाती है। बार बार रक्तप्रदान करके रोगी को कुछ अधिक काल तक जीवित रखा जा सकता है। कुछ रोगियों में फुफ्फुसनलिकाप्रदाह, हृत्पेशी प्रदाह, हृदयावरण प्रदाह आदि उपद्रव उत्पन्न होकर शीघ्र ही मृत्यु करा देते हैं। कुछ रोगियों का रोग चिरकारी प्रकार में परिवर्तित हो जाता है—ऐसे रोगी अधिक दिनों तक (१–२ वर्ष) जीवित रह सकते हैं।

अन्य विरल प्रकार—

(४) हरित श्वेतमयता (Chloroma)—यह रोग अनुतीव्र प्रकार का है। इसमें लसग्रन्थियों, अस्थि-मज्जा, वृक्क, प्लीहा, त्वचा आदि में हरिताभ वर्ण के अर्बुद उत्पन्न होते हैं। रक्त के लालकणों का क्षय और श्वेतकणों की वृद्धि होती है। आंखें बाहर को निकली हुई सी प्रतीत होती हैं, कमर एवं हाथ-पैरों में पीड़ा रहती है और कमजोरी दिन प्रतिदिन बढ़ती जाती है। रोग असाध्य है। ४-६ मास में मृत्यु हो जाती है।

(५) एकाकीकणीय श्वेतमयता (Monocytic Leukaemia)—इस प्रकार में एकाकी श्वेतकणों (Monocytes) की वृद्धि होती है। लक्षण तीव्र, अनुतीव्र अथवा चिरकारी श्वेतमयता के समान होते हैं। कभी-कभी श्वेतमयता के लक्षण अप्रकट रहते हैं। मसूढ़ों का पाक और रक्तपित्त अथवा रक्तष्ठीवी सन्निपात के लक्षण अधिकतर उपस्थित रहते हैं। यकृत और प्लीहा की वृद्धि अधिक नहीं होती। अधिकांश रोगी कुछ ही महीनों में मृत्यु को प्राप्त होते हैं। (मुख रोगनिदान में वर्णित 'परिदर' रोग सम्भवतः यही हो)।

(६४) कणिक श्वेत कायाणु-क्षय (Agranulocytosis, Malignant Neutropenia)—इस रोग में रक्त के श्वेतकणों का और विशेषतः कणिक श्वेत-कणों (Granulocytes) का क्षय होता है। कुछ लोगों ने इस रोग का हिन्दी नाम 'अकणिक-श्वेत-कायाणूत्कर्ष' रखा है जो असंगत है।

इस रोग की उत्पत्ति किसी श्वेतकायाणु-नाशक विष से होती है। आत्महत्या के लिये प्रयुक्त संखिया आदि विष, चिकित्सा में प्रयुक्त संखिया, स्वर्ण, बिस्मथ आदि के योग तथा सल्फा श्रेणी की औषधियां एवं अमाइडोपायरीन, बारबिच्युरेट, थौरेसिल, सिंकोफेन आदि विषैली औषधियां, वायु में मिश्रित अणुबम आदि के विषैले कण और तृणाणुओं से उत्पन्न विष श्वेतकायाणुओं का नाश करके इस रोग की उत्पत्ति कर सकते हैं। कुछ रोगियों में किसी विष का इतिहास नहीं मिलता।

कुछ काल तक बेचैनी, कमजोरी, अङ्गमर्द आदि पूर्वरूप रहने के बाद अथवा अचानक ही प्रतिश्याय होकर तीव्र ज्वर (१०३° या अधिक) का आक्रमण होता है। (मुख या गले के शल्यकर्मों के बाद भी

इस रोग का आकस्मिक आक्रमण होते पाया गया है।) मसूढ़ों और ग्रसनिका में व्रणों की उत्पत्ति होती है जो चारों ओर फैलती है। कुछ मामलों में बहुत से बड़े-बड़े और गहरे व्रण उत्पन्न होकर मृत्यु का कारण बनते हैं। गले की लस-ग्रन्थियों की वृद्धि होती है। यकृत और प्लीहा की भी थोड़ी वृद्धि होती है। रक्त के लालकणों में कोई विशेष अन्तर नहीं आता किन्तु श्वेतकायाणुओं की संख्या घटकर १००० तक या इससे भी कम रह जाती है जिनमें कणीय श्वेतकायाणु ५% या इससे भी कम रह जाते हैं। विषमयत्ता के लक्षण विद्यमान रहते हैं और उनके बढ़ने से मृत्यु होजाती है। कुछ रोगियों के गुदा और (स्त्रियों में) योनि में भी व्रण उत्पन्न होते हैं।

यह रोग कष्टसाध्य है। लगभग ७५% रोगी विषमयता से मर जाते हैं। जहां कारण का पता न लग सके वहां रोगी की मृत्यु प्रायः निश्चित ही रहती है।

(९५) नीलोहा (purpura)—अध्याय ६ रक्तपित्त निदान में देखें।

(९६) कक्षा-परिसर्प (Herpes Zoster, Shingles)—इस रोग की उत्पत्ति एक प्रकार के विषाणु (Virus) से होती है। रोग का प्रारम्भ ज्वर आकर होता है। होठ के बीचोंबीच एक आड़ी रेखा में शूल उठता है जो कभी-कभी इतना तीव्र हो सकता है कि आन्त्र-पुच्छ प्रदाह, फुफ्फुसावरणप्रदाह, पित्ताशयप्रदाह आदि का भ्रम हो सकता है। वास्तव में यह शूल पर्शुकान्तरीय वातनाड़ी (Inter-costal Nerve) से सम्बन्ध रखता है। एक-दो दिनों के बाद शूल के स्थान पर लाल धब्बे उत्पन्न होते हैं जो कुछ काल बाद छोटे-छोटे छालों के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। इनमें स्वच्छ द्रव भरा रहता है। ये न पकते और न फूटते हैं। कुछ लोगों को विशेषतः बच्चों को अधिक पीड़ा नहीं होती, किन्तु बड़ी आयु वालों को और विशेषतः कोमल या कमजोर प्रकृति वाले व्यक्तियों को भयङ्कर शूल और दाहयुक्त पीड़ा होती है। (कभी-कभी रोगोपशम के बाद भी महीनों तक पीड़ा रही आती है।) आसपास की लस ग्रन्थियां शोथयुक्त रहती हैं। रोगोपशम ५ से १० दिनों के भीतर प्रारम्भ होता है। छाले सिकुड़ कर सूख जाते हैं और छिलका निकल जाता है। दाग काफी समय तक रहे आते हैं।
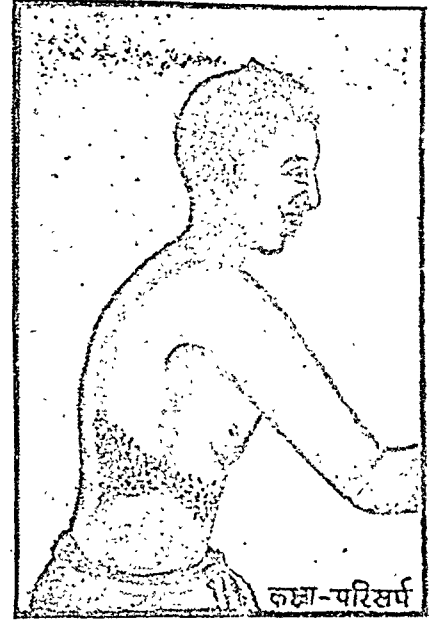
कक्षा-परिसर्प

कुछ रोगियों में वक्त्रीय (Facial), त्रिधारा (Trigminal) और सौषुम्न (Spinal) वातनाड़ियों के क्षेत्र भी इसी प्रकार प्रभावित होते हैं। कुछ रोगियों की नेत्र-कनीनिका (स्वच्छमण्डल, cornea) में भी छाले उत्पन्न होकर व्रणोत्पत्ति कर देते हैं। कभी-कभी चेष्टावह नाड़ियों का घात होकर अर्दित, नेत्रघात (Ophthalmoplegia) आदि परिणाम होते हैं।

(९७) कुष्ठ (Leprosy)—कुष्ठ रोग की पूर्वरूपावस्था में अनियमित ज्वर रहता है। इसका वर्णन अध्याय ४९ में देखें।

(९८) तीव्र अस्थिमज्जा प्रदाह (Acute Osteomyelitis)—यह रोग बालकों और किशोरों को स्तवक गोलाणु, फुफ्फुसगोलाणु, मालागोलाणु, आन्त्रिक ज्वर दण्डाणु, आन्त्र-दण्डाणु आदि से उत्पन्न रोगों के परिणाम या उपद्रव स्वरूप अन्तःशल्य के अटकने से होता है। प्रदाह का स्थल उर्वस्थि

(Femur) अथवा अन्तःजंघास्थि (Tibia) में होता है; कभी-कभी ऊर्ध्वबाह्वस्थि में भी हो सकता है। प्रदाह होकर विद्रधि की उत्पत्तिहोती है जिससे अस्थि का प्रभावित भाग टूटकर पृथक् हो जाता है।

तीव्र अस्थिमज्जा प्रदाह (उर्वस्थि का) अस्थि को चीर कर भीतर का दृश्य दिखलाया गया है।
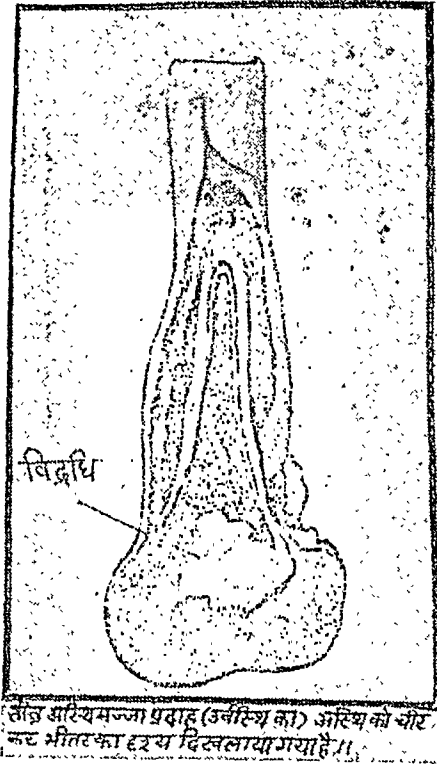
बाह्य लक्षण दोषमयता के समान होते हैं। ज्वर जाड़ा लगकर चढ़ता है और १०३°-१०४° तक जाता है। नाड़ी तीव्र चलती है और श्वेतकायाणूत्कर्ष होता है। मूर्च्छा, आक्षेप, भ्रम, प्रलाप, अरुचि, तृष्णा, अनिद्रा आदि लक्षण उपस्थित रहते हैं। आक्रान्त भाग शोथ और पीड़ायुक्त रहता है। आमवातिक सन्धिप्रदाह से इसका विभेद सरलतापूर्वक हो जाता है क्योंकि इसका शोथ संधि से कुछ हटकर रहता है। उपेक्षा करने से अस्थि नष्ट हो सकती है अथवा विषमयता बढ़ने से मृत्यु हो सकती है।

वयस्कों को यह रोग वैसे नहीं होता किन्तु अस्थि में अभिघात लगने से हो सकता है। निदान लक्षणों से और क्ष-किरण से होता है।

(९९) वातरक्त (Gout)—इस रोग का आक्रमण होते समय जाड़ा लगकर ज्वर आता है। वर्णन अध्याय २३ में देखें।

(१००) सन्धि प्रदाह (Arthritis)

(१०१) परिसंधिक प्रदाह (*Peri-arthritis, Fibromyositis*) संधि-प्रदाह और परिसंधिक प्रदाह कई प्रकार के जीवाणुओं से उत्पन्न होते हैं। इनके कुछ प्रकारों का आरम्भ ज्वर के साथ होता है। इन दोनों का वर्णन अध्याय २५ में किया जावेगा।

(१०२) हिस्टीरिया (*Hysteria*)-इस रोग में कभी कभी तीव्र ज्वर और विरलतः अति तीव्र ज्वर (*Hyper-pyrexia*) पाया जाता है। इसका वर्णन अध्याय २२ में 'अपतंत्रक' निदान के साथ देखें।

(१०३) मस्तिष्क-शिरा घनास्रता (*Sinus Thrombosis*)-मस्तिष्क शिराओं में घनास्रता किसी किसी समीपस्थ अवयव के पाक अथवा पूयमयता के परिणामस्वरूप होती है। कारणभूत जीवाणु मालागोलाणु, फुफ्फुसगोलाणु अथवा आंत्रदण्डाणु हुआ करते हैं। मस्तिष्क में अभिघात लगने से भी इसकी उत्पत्ति होती है। कभी-कभी तीव्र संक्रामक ज्वरों में अथवा राजयक्ष्मा सरीखे चिरकारी रोगों में भी इसकी उत्पत्ति हुआ करती है।

घनास्रता (रक्त जम जाना) के फलस्वरूप शिरा अवरुद्ध हो जाती है जिससे आसपास के रक्ताधिक्य हो जाता है। कुछ काल बाद जमे हुए रक्त के थक्के टूट टूट कर रक्त के साथ यात्रा करते हैं और जहां पर ये रुक जाते हैं वहीं विद्रधि की उत्पत्ति करते हैं।

सामान्य लक्षण—रोग का आक्रमण तीव्र ज्वर के साथ होता है जो दिन रात में कई बार जाड़ा लगकर चढ़ता और पसीना देकर किंचित कम होता है। सौम्य प्रकार में ज्वर का चढ़ाव उतार दिन-रात में

एक ही बार होता है किन्तु थोड़ा बहुत ज्वर हर समय उपस्थित रहता है। नाड़ी तीव्रगामिनी किन्तु निर्बल रहती है और थोड़े से दबाव से लुप्त होजाती है। अधिकांश रोगियों को बारम्बार वमन होते हैं, कुछ को अतिसार भी होते हैं। सिर में थोड़ी-बहुत सूजन अवश्य आजाती है और लगातार एक सी असह्य पीड़ा होती है जिसका केन्द्र शिरा का अवरुद्ध भाग हुआ करता है।

विशेष लक्षण—गुहीय मस्तिष्क शिरा (*Cavernous Sinus*) में घनास्रता होने पर पूरा चेहरा और माथा सूज जाता है। चक्षु-गोलक बाहर को निकल आते हैं जिससे पलकें पूर्णतया बन्द नहीं होतीं। सिर के सामने वाले भाग में पीड़ा विशेष रूप से होती है और तन्द्रा रहती है। दृष्टिनाड़ी का घात हो जाने से मनुष्य अंधा हो जाता है।

पार्श्वीय मस्तिक शिरा (*Lateral Sinus*) में घनास्रता की उत्पति अधिकतर मध्यकर्णपाक या कर्णमूलिक रोग (*Mastoid Infection*) का प्रसार होने से होती है। इसमें सिर के सामने और बाजू के भाग में विशेष पीड़ा होती है। रोगी तन्द्रा की अवस्था में रहता है। चेहरे पर बहुत थोड़ा शोथ रहता है। कुछ रोगियों को दृष्टिनाड़ी प्रदाह (*Optic Neuritis*) हो जाता है, इसका प्रारम्भिक लक्षण प्रकाश-असह्यता (*Photophobia*) हुआ करता है। यदि घनास्रता कण्ठ तक फैलती है तो कण्ठ में मातृका शिरा (*Jugular Vein*) के क्षेत्र में लम्बा शोथ उत्पन्न होता है। गले की लस-ग्रन्थियां सूज जाती हैं और गले के पीछे की मांस-पेशियों में कठोरता आ जाती है। कुछ मामलों में स्थानिक विद्रधि की उत्पत्ति होती है।

उच्च लम्बरूपीय मस्तिष्क-शिरा (*Superior Longitudinal Sinus*) में घनास्रता बच्चों में मध्य कर्णपाक के कारण होती है, ऐसी दशा में उदक-शीर्ष भी पाया जाता है। स्त्रियों में सूतिका रोग के अन्तर्गत श्रोणि की शिराओं में घनास्रता होने के फलस्वरूप भी उच्च लम्बरूपीय मस्तिष्क-शिरा में घनास्रता हो सकती है क्योंकि श्रोणि की शिराओं का सम्बन्ध कशेरुक शिराओं के जरिये मस्तिष्क से रहता है। पिछले महायुद्धों में गोली अथवा बम के टुकड़ों के अभिघात से (सैनिकों में) इस शिरा में घनास्रता की उत्पत्ति देखी गयी थी। इसमें आक्षेप (*Convulsions*) आते हैं और प्रलाप होता है। कुछ रोगियों में तन्द्रा और संन्यास भी पाये जाते हैं। सिर पर की ऊपरी शिरायें ऊभर आती हैं। बच्चों में ब्रह्मरंध्र उभर आता है (उदकशीर्ष के कारण)। मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव का दबाव बढ़ा हुआ रहता है। कुछ रोगियों की नासिका से रक्तस्राव होता है। अधिकतर दोनों पैरों की पेशियों का आंशिक घात हो जाता है।

पार्श्वीय मस्तिष्क-शिरा की घनास्रता शल्य-चिकित्सा के द्वारा साध्य है, शेष दोनों असाध्य हैं। गुहीय मस्तिष्क-शिरा की घनास्रता अपेक्षाकृत शीघ्र मृत्युकारक होती है।

(१०४) मस्तिष्क विद्रधि, पूयमय मस्तिष्क प्रदाह (*Cerebral Abscess, Brain Abscess Suppurative Eucephalitis*)—आघात लगने से (अधिकतर गहरा व्रण होने से और कभी कभी मामूली चोट से भी), आसपास के अंगों में होने वाली पूयोत्पादक क्रिया का विस्तार होने से अथवा शरीर के किसी भी भाग में स्थित पूय का विष या अन्तःशल्य पहुँचने से मस्तिष्क में प्रदाह होकर विद्रधि की उत्पत्ति होती है। कारणभूत जीवाणु प्रायः मालागोलाणु, स्तवकगोलाणु, फुफ्फुस गोलाणु अथवा आन्त्र-दण्डाणु हुआ करते हैं। अधिकतर एक ही विद्रधि उत्पन्न होता है किन्तु कभी कभी कई विद्रधि भी पाये जाते हैं।

प्रारम्भ में ठण्ड लगकर ज्वर (१०१° या अधिक) आता है। नाड़ी की गति मन्द रहती है और बेचैनी, सारे शरीर में पीड़ा आदि लक्षण होते हैं। कई दिनों तक ज्वर रहने के बाद मस्तिष्कगत लक्षण उत्पन्न

होते हैं। इस समय सिरदर्द भयंकर रूप धारण करता है। विद्रधि के स्थान पर कपाल को छूने से पीड़ा होती है। वमन, तन्द्रा और अन्त में संन्यास होता है। नाड़ी मंद ही रहती है किंतु अब श्वास-क्रिया भी अनियमित हो जाती है। कुछ रोगियों के दृष्टिविम्ब में शोथ पाया जाता है। मस्तिष्क के जिस भाग में विद्रधि स्थित हो उससे सम्बन्धित अङ्गों का घात हो जाता है। मस्तिष्कावरण प्रभावित हो जाने पर मस्तिष्कावरण प्रदाह के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

तीव्र प्रकार का विद्रधि शीघ्र ही मारक होता है। चिरकारी प्रकार महीनों और कभी कभी वर्षों तक रह सकता है। अंध-विद्रधि (Eucapsulated abscess) की उपस्थिति में लक्षण बार-बार उत्पन्न और शांत होते रहते हैं। मृत्यु विद्रधि के फूटने से अथवा कपालान्तर्गत दबाव की वृद्धि होने से होती है। तीव्र ज्वर, अत्यधिक विषमयता, आक्षेप, प्रलाप संन्यास आदि लक्षण घातक होते हैं।

रक्त में बह्वाकारी श्वेतकायाणूत्कर्ष २०००० प्रति घन मिलीमीटर के लगभग रहता है। मस्तिष्क-सुषुम्ना द्रव दबावयुक्त रहता है, अंधविद्रधि की उपस्थिति में प्रोभूजिन और लसकणों की थोड़ी वृद्धि पायी जाती है। विद्रधि का प्रसार मस्तिष्कावरण तक हो जाने पर मस्तिष्क-सुषुम्ना-द्रव में मस्तिष्कावरण प्रदाह के लक्षण मिलने लगते हैं। मस्तिष्क-सुषुम्ना द्रव को निकालते समय विद्रधि के फूट जाने से अथवा सुषुम्नाशीर्ष पर दबाव पड़ने से तत्काल मृत्यु हो सकती है।

(१०५) तन्द्रिक-मस्तिष्क-प्रदाह, निद्रालसी मस्तिष्क-प्रदाह (Eucephalitis Lethargica)—यह एक संक्रामक रोग है जो कभी कभी शीत ऋतु में छोटी महामारी के रूप में फैलता है। इसकी उत्पत्ति एक विषाणु से होती है। सभी आयु और लिंग के व्यक्ति इससे आक्रान्त हो सकते हैं। संक्रमण बिन्दुत्क्षेप से होता है। चयकाल ८-१० दिनों का रहता है।

मध्य-मस्तिष्क (Midbrain), सुषुम्नाशीर्ष और उष्णीषक (pons) प्रभावित होते हैं। तीव्रावस्था में रक्ताधिक्य, शोथ और रक्तस्रावी कोठ पाये जाते हैं। चिरकारी अवस्था में श्यामपत्रिका (Substantia Nigra) के रंगीन कोष नष्ट होकर अदृश्य हो जाते हैं। आस-पास की रक्तवाहिनियों में रक्ताधिक्य रहता है। रक्त में लसकायाणुओं की प्रधानता रहती है। मस्तिष्क का श्वेत पदार्थ प्रभावित नहीं होता। सुषुम्ना द्रव में साधारण लसकायाणूत्कर्ष पाया जाता है। कभी कभी रक्त पाया जाता है। दबाव बढ़ा हुआ रहता है। शर्करा की मात्रा कुछ बढ़ी हुई रहती है किंतु प्रोभूजिन और लवण अप्रभावित रहते हैं।

(i) तीव्र प्रकार—रोग का आरम्भ सिरदर्द, बेचैनी, मलावरोध, मलयुक्त जिह्वा, सारे शरीर में पीड़ा, प्रतिश्याय, कम्प आदि लक्षणों सहित ज्वर से होता है। फिर क्रमशः तन्द्रा की उत्पत्ति और वृद्धि होती है। रोगी दिन भर तन्द्रा की अवस्था में पड़ा रहता है और रात को अनिद्रा की शिकायत करता है। यदि उसे जगाया जावे तो वह कुछ समय तक भलीभांति बातचीत कर सकता है किंतु शीघ्र ही तन्द्रा या निद्रा की अवस्था में पहुंच जाता है। निद्रा इतनी प्रबल होती है कि हाथ की वस्तु हाथ ही में और मुंह का ग्रास मुंह में ही रह जाता है। कुछ रोगियों में तन्द्रा के स्थान पर चित्त-विभ्रम उपस्थित होता है। रोगी पागलों के समान हंसता, गाता, रोता, चिल्लाता, बकवाद करता और उठ-उठकर भागता है।

दृष्टि-नाड़ी के प्रभावित होने से नेत्रों में विचित्र परिवर्तन लक्षित होते हैं—नेत्रों की पलकों का घात हो जाता है जिससे रोगी अपनी आंखें पूर्णतया खोल नहीं पाता (वर्त्मघात, ptosis), दृष्टि तिरछी रहती है (तिर्यग्दृष्टि Squint), पुतलियां छोटी बड़ी हो जाती हैं और एक साथ गति नहीं करतीं, पुतलियों को ऊपर-नीचे करने

की शक्ति अक्सर नष्ट हो जाती है, दृष्टि में धुंधलापन आ जाता है और कभी कभी एक पदार्थ के स्थान पर दो दिखलाई पड़ते हैं (द्वयदृष्टि, Diplopia), प्रकाश और अनुकूलन (Accomodation) के प्रतिक्षेप (Reflex) विकृत या नष्ट हो जाते हैं इत्यादि। रोग पुराना हो चुकने पर कभी कभी नेत्र की पुतलियों की गति तेजी के साथ आजू-बाजू या ऊपर नीचे रोगी की इच्छा के विपरीत होने लगती है (नेत्र-प्रचलन Nystagmus) यह दशा आक्षेप (Convulsion) के समान होती है और कुछ समय तक रहकर स्वयं शान्त हो जाती है एवं बार बार उपस्थित होती है। कभी कभी इसके साथ ही साथ सारे शरीर में कम्प होते हैं।

कुछ मामलों में हिक्का उपस्थित रहती है। कुछ रोगियों में विभिन्न अंगों के घात पाये जाते हैं जो क्रमशः स्वयमेव शान्त हो जाते हैं। कुछ मामलों में मस्तिष्क-विकृति के लक्षण उन्माद (Mania, Melancholia); स्मरण-शक्ति, बुद्धि, अनुमान शक्ति आदि की कमी या विकृति उत्पन्न हो जाती हैं जो अधिकतर स्थायी रहती हैं। कुछ रोगियों का मलमूत्र विसर्जन सम्बन्धी नियन्त्रण नष्ट हो जाता है जिससे अनजाने में अथवा अनचाहे ही मलमूत्र विसर्जन होने लगता है।

रोग-काल लगभग ३ सप्ताह का है। लगभग एक तिहाई रोगी इस समय तक मर चुकते हैं। शेष धीरे धीरे आरोग्य लाभ करते हैं किन्तु उनमें से लगभग आधे स्वस्थ हो पाते हैं शेष को पार्किन्सन का रोग (Parkinsonian Syndrome) हो जाता है। मानसिक विकृतियों में सुधार नहीं होता। जिन रोगियों में चित्तविभ्रम के उपर्युक्त लक्षण उपस्थित रहते हैं वे शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

(ii) चिरकारी प्रकार—इस प्रकार के रोग की वृद्धि क्रमशः अज्ञात रुप से होती है। बीच-बीच में थोड़े थोड़े समय के लिये बेचैनी, हृद्‌फूटन, द्वयदृष्टि आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं किन्तु दैनिक कार्यों में बाधा नहीं होती। धीरे धीरे पार्किन्सन के रोग के लक्षण उत्पन्न होते जाते हैं।

अन्य विरल प्रकार—

(iii) प्रबल प्रकार (Hyperkinetic Type)—इसका आरम्भ सिर, कमर और उदर में तीव्र पीड़ा सहित ज्वर के साथ होता है। ओष्ठ परिसर्प (Herpes Labialis ज्वर में ओठों पर होने वाली पिड़िकाएं) बहुत अधिक हो सकती हैं। सारे शरीर की अथवा कुछ भागों की पेशियों में आक्षेप, कम्प ऐंठन होती है। अनिद्रा, हिक्का, चित्तविभ्रम और नेत्र विकार (तीव्र प्रकार में कथित) आदि लक्षण होते हैं। अधिकांश रोगी शीघ्र ही मर जाते हैं; शेष पार्किन्सन की अवस्था को प्राप्त होते हैं।

(*iv*) पेश्याक्षेपरहित प्रबल प्रकार—इस प्रकार में पार्किन्सन की अवस्था प्रारम्भ से ही उत्पन्न होती और तीव्रता के साथ बढ़ती है। रोग चिरकारी होता है।

(*v*) निद्रालु नेत्रघाती प्रकार (*Somnolent Ophthalmoplegic Type*)—आक्रमण अचानक होता है। चलता-फिरता या काम-काज करता हुआ व्यक्ति एकाएक निद्रा के वशीभूत हो जाता है अथवा प्रलाप करने लगता है। ज्वर रहता है और त्वचा पर छोटे-छोटे धब्बे या पिडिकाएं निकलती हैं। नेत्रचेष्टिनी (*Oculomotor*), कटाक्षिणी (*Trochlear*) और नेत्रपार्श्वगा (*Abducent*) नाड़ियों का घात हो जाता है। रक्त में श्वेतकाया-णूत्कर्ष मिलता है और सुषुम्नाद्रव सामान्य अथवा किंचित् दबावयुक्त रहता है।

(*vi*) एक लक्षणी प्रकार (*Monosymplomatic type*)—इसमें रोग का केवल एक लक्षण सामान्य ज्वर के साथ अथवा ज्वर के बिना ही उपस्थित रहता है। अधिकतर हिक्का लगातार आती है अथवा बार-बार हनुस्तम्भ के आक्षेप आते हैं।

इन प्रकारों के अतिरिक्त धम्मिल्लकीय (*Cerebellar*), कन्दीय (*Bulbar*) और वातज (*Neuritic*) प्रकार भी होते हैं। इसमें क्रमशः धमिल्लक, मस्तिष्क-कन्द और वातनाड़ियों के प्रदाह के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

पार्किंसन का रोग अथवा पार्किसन की अवस्था (*Parkinson's Disease, Parkinsonian syndrome, Parkinsonism, Paralysis Agitans*)—यह एक प्रकार का कम्पवात है जिसमें हाथ पैर कांपने के अतिरिक्त अन्य लक्षण भी होते हैं। इसका वर्णन अध्याय २० में 'कम्पवात' निदान के साथ किया जावेगा।

(१०६) तीव्र विकीर्ण मस्तिष्क-सुषुम्ना प्रदाह (*Acute Disseminated Eucephalomyelitis*)—यह रोग स्वतन्त्र होता है और मसूरीकरण (चेचक का टीका, *Vaccination*) तथा तीव्र संक्रामक ज्वरों के उपद्रव स्वरूप भी उत्पन्न होता है। उत्पादक कारण संभवतः कोई विषाणु है।

(*i*) स्वतंत्र प्रकार—कुछ काल तक अरति, अरुचि आदि पूर्वरूप रहने के पश्चात् ज्वर आता है जो १०२° के लगभग रहता है। वयस्कों में सुषुम्ना विशेषतया प्रभावित होती है। जिसके फलस्वरूप पैरों में अशक्तता, पीड़ा, संज्ञापरिवर्तन (झुनझुनी, चींटियां चलने या काटने के समान अनुभव होना, अङ्ग फूला हुआ सा ज्ञात होना आदि *Paraesthesia*) और अस्थायी घात होता है, गम्भीर प्रतिक्षेप (*Deep reflexes*) नष्ट हो जाते हैं। बच्चों में मस्तिष्क और मस्तिष्कावरण विशेषतया प्रभावित होते हैं जिसके फलस्वरूप तीव्र सिरदर्द, अनिद्रा, गले की पेशियों में कठोरता, आक्षेप, अर्धांगघात, नेत्रप्रचलन आदि लक्षण होते हैं।

(*ii*) मसूरीकरणजन्य प्रकार—यह कभी-कभी चेचक का टीका लगाने के १०-१२ दिन बाद प्रकट होता है। अर्धांगघात या अधरांगघात होता है। कुछ मामलों में अनैच्छिक मल-मूत्र त्याग होता है।

(*iii*) ज्वरज प्रकार—यह मसूरिका, रोमान्तिका, स्वङ् मसूरिका, पापाणगर्दभ, कुकास (काली खांसी) आदि के उपद्रवस्वरूप उत्पन्न होता है। इसमें सुषुम्ना विशेषतया प्रभावित होती है जिससे पैरों में पीड़ा, संज्ञापरिवर्तन और प्रारम्भ में शिथिल (*flaccid*) और बाद में स्तंभिक (*spastic*) घात होता है। मल-मूत्र का त्याग अधिकांश मामलों में अनैच्छिक रूप से हुआ करता है।

यह रोग प्रायः घातक नहीं होता। तीनों प्रकार के अधिकांश रोगी पूर्ण स्वस्थ हो जाते हैं। कुछ रोगियों में घात स्थायी हो सकता है। मसूरीकरण जन्य प्रकार में कुछ मृत्युएं होती हैं।

(१०७) अलर्क विषमयता, जलातंक (*Rabies, Hydrophobia*)—इस रोग का प्रारम्भ ज्वर के साथ होता है। वर्णन अध्याय ६६ में देखें।

(१०८) शैशवीय अङ्गघात, तीव्र परिसरीय (अथवा पलित) अग्र सुषुम्ना प्रदाह (Infantile Paralsis, Acute Anterior Poliomyelitis)—यह रोग ठण्डे देशों में ग्रीष्म ऋतु में और गर्म देशों में शीत ऋतु में महामारी के रूप में फैलता है। फुटकर मामले भी पाये जाते हैं। विशेषतः बालक और कभी-कभी किशोर प्रभावित होते हैं। कारण एक विषाणु है जो अधिकतर बिन्दूत्क्षेप के द्वारा अथवा संक्रमित खाद्य और पेय पदार्थों के द्वारा शरीर में प्रवेश करता है। चयकाल ३ से १० या अधिक दिनों का है।

विषाणु वातनाड़ी कोषों (Nerve cells) में पहुँचकर वृद्धि करते हैं और फिर सुषुम्नाशीर्ष के मार्ग से मस्तिष्क में (उष्णीषक और मध्य मस्तिष्क में) प्रवेश करते हैं अथवा सुषुम्ना के कटीय अथवा ग्रैवेयक भाग में पहुंचते हैं। अधिकतर चेष्टावह वातनाड़ियों के लघु नाड़ी कन्दाणु (short Neurones) प्रभावित होते हैं किन्तु कभी कभी लम्बे नाड़ी कन्दाणु भी प्रभावित होते हैं। शाखागत वातनाड़ियां भी कभी कभी प्रभावित होती हैं।

मस्तिष्क-सुषुम्ना-द्रव उच्च-निपीड़युक्त, वर्णहीन, और पारदर्शक रहता है। प्रोभूजिन, लसकण और बह्वाकारी कण बढ़े हुये रहते हैं किंतु शर्करा और लवण सामान्य रहते हैं। प्लीहा-वृद्धि होती है और लगभग सभी लस-ग्रंथियां बढ़ी हुई रहती हैं। यकृत और वृक्कों की धातु का अपजनन होता है। रक्त में बह्वाकारी श्वेतकायाणूत्कर्ष मिलता है।

रोग का आरम्भ तीव्रज्वर (१०२° या अधिक) आकर होता है। ज्वर का आक्रमण कंपकंपी या आक्षेपों के साथ होता है। इसके साथ ही भयङ्कर सिरदर्द, सारे शरीर में पीड़ा, हृल्लास, वमन, अतिसार, मन्यास्तम्भ, प्रलाप, पेशियों में अकड़न आक्षेप आदि लक्षण भी होते हैं। यह दशा १ से ५ दिनों तक रहती है। इसके बाद अंगों का घात (Paralysis) होता है जो मस्तिष्क और सुषुम्ना के आक्रान्त भाग पर आधारित रहता है।

सुषुम्नीय प्रकार—(*spinal type*) पूर्ण सुषुम्ना आक्रान्त होने पर लगभग सारे धड़ की पेशियों का घात होता है—कभी एक साथ और कभी कभी एक के बाद एक क्रमशः। कुछ मामलों में मस्तिष्क-स्कन्द की नाड़ियों का भी घात हो जाता है जिससे मृत्यु हो जाती है। कुछ मामलों में सुषुम्ना का कुछ भाग व्यापक रूप से प्रभावित होता है जिसके फलस्वरूप उस स्थान से नीचे के सम्पूर्ण भाग का घात हो जाता है—प्रारम्भ में शिथिल और बाद में स्तम्भिक। कभी कभी सुषुम्ना का आधा भाग प्रभावित होता है जिससे एक ओर की पेशियों का घात और दूसरी ओर स्पर्शज्ञान का अभाव होता है। सुषुम्ना का ग्रैवेयक भाग प्रभावित होने पर नेत्र-कनीनिका का संकोच (*myosis*) और वर्त्मघात (*Ptosis*) होता है। सुषुम्ना का कटीय भाग (*Lumbosacral region*) प्रभावित होने से गुदा और मूत्र-मार्ग की संकोचिनी पेशियों (*sphincters*) का घात होता है जिससे मलमूत्र त्याग अनियन्त्रित हो जाता है। सुषुम्ना में साधारण प्रदाह होने से पक्षाघात नहीं होता किन्तु वातनाड़ियों का प्रदाह होता है जिससे वातनाड़ीशूल के समान पीड़ा होती है (वातनाड़ी प्रादाहिक प्रकार *Neuritic type*)। अत्यन्त सौम्य प्रकार (*Abortive Type*) में न पक्षाघात होता है और न वातनाड़ी-प्रदाह, केवल किंचित् मन्यास्तम्भ होता है जिससे रोगविनिश्चय नहीं हो पाता।

मस्तिष्क-स्कन्धीय प्रकार (*Brainstem type*)—कभी कभी मध्यमस्तिष्क, उष्णीषक और सुषुम्ना-शीर्ष प्रभावित होते हैं जिससे नेत्रीय-घात, अर्दित और कन्दीय घात (३ री, ४ थी, ६ वीं, ७ वीं, ९ वीं, १० वीं और १२ वीं नाड़ियों का घात) होते हैं। धमिल्लकीय (*Cerebellar*) तन्तुओं के प्रभावित होने से नेत्रप्रचलन और असमन्वयता × (*Ataxy*) होते हैं।

कुछ मामलों में मस्तिष्कावरण प्रदाह के भी लक्षण मिलते हैं। मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव दबावयुक्त और पारदर्शक होता है। प्रोभूजिन और लसकणों की वृद्धि होती है और लवण तथा शर्करा सामान्य रहते हैं।

यह रोग प्रायः घातक नहीं होता किन्तु कन्दीय घात अथवा फुफ्फुसनलिका प्रदाह होने पर मृत्यु हो जाती है। अधिकांश रोगी पूर्ण आरोग्य लाभ करते हैं। सुषुम्नीय प्रकार में आरोग्य लाभ धीरे होता है और कुछ मामलों में थोड़ा बहुत घात अवशिष्ट रह जाता है जो जीवन भर रह सकता है। किसी भी पेशी का घात स्थायीरूप से हो जाने पर उसकी बाढ़ मारी जाती है और उसकी रचना में कई प्रकार की विकृतियां उत्पन्न होती हैं।

(१०९) ज्वरयुक्त तीव्र बहुनाड़ी प्रदाह (*Acute febrile polyneuritis*)—यह रोग संभवतः

× असमन्वयता (*Ataxy*) इस विकार में मांस-पेशियों में कोई स्पष्ट विकृति न होते हुए भी उनका कार्य स्वाभाविक रीति से नहीं होता। दोनों ओर की पेशियां साथ साथ कार्य नहीं करतीं, रोगी लंगड़ाता हुआ सा एक ओर झटके देता हुआ चलता है, इत्यादि।

लैण्ड्री के अंगघात (*Landry's paralysis*) रोग का एक प्रकार है। कारण अज्ञात है। रोग का आरम्भ साधारण ज्वर (१००°-१०१°) से होता है। ३-४ दिनों के बाद हाथ-पैरों में घात के सौम्य लक्षण प्रतीत होते हैं। कुछ मामलों में चेहरे और धड़ में भी ये लक्षण प्रतीत होते हैं। प्रभावित अंग शिथिल हो जाते हैं, उनकी वृद्धि रुक जाती है और कण्डरा-प्रतिक्षेप (*Tendon jerk*) नष्ट हो जाते हैं। प्रभावित पेशियों में पीड़ा रहती है किन्तु चेतनता नहीं होती। सुषुम्ना-द्रव में प्रोभूजिन की वृद्धि पाई जाती है।

अधिकांश रोगी कुछ काल में पूर्ण स्वास्थ्य लाभ करते हैं। श्वासमार्गीय पेशियों के घात के कारण कुछ रोगी मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

(११०) सूतिका रोग, प्रसूति ज्वर (*Puerperal Fever*)—अध्याय ६५ में देखें।

(१११) जानपदिक शोथ, शोथ की महामारी (*Epidemic Dropsy*)

(११२) बैरी-बैरी (*Beri-Beri*)

—इनका वर्णन इसी अध्याय में वातबलासक ज्वर के साथ हो चुका है।

ऊपर जितने प्रकार के ज्वर कहे गये हैं उनके अतिरिक्त अन्य बहुत से रोगों में ज्वर आनुषंगिक रूप से उपस्थित रहता है। उनका वर्णन इसी ग्रन्थ में विकीर्ण रूप से मिलेगा। यहां तो केवल उन्हीं रोगों को लिया गया है जिनमें ज्वर अधिकतर एक प्रधान या प्रारम्भिक लक्षण के रूप में उपस्थित रहता है अथवा जिन रोगों की चिकित्सा बहुत से वैद्य सामान्य ज्वर मानकर करते हुए पाये जाते हैं।

यह प्रथम ही कहा जा चुका है कि पाश्चात्य वर्गीकरण पद्धति आयुर्वेद की वर्गीकरण पद्धति से सर्वथा भिन्न है। उपर्युक्त ज्वर के भेदों को पढ़ते समय पाठकों ने यह भी देखा होगा कि पाश्चात्य पद्धति से वर्णित ज्वरों में किसी एक दोष के लक्षण नहीं मिलते। इसलिये इन ज्वरों की समता आयुर्वेदोक्त ज्वरों के साथ करना एक दुष्प्रयत्न मात्र है। यही कारण है कि जो भी नाम दिये गये हैं वे अधिकतर पाश्चात्य नामों के अनुवाद मात्र हैं। जहां भी आयुर्वेदिक नाम दिये गये हैं वे अत्यन्त विचारपूर्वक अत्यधिक साम्य देखकर ही दिये हैं और भ्रमोत्पादक नामों का यथासम्भव त्याग किया गया है।

: ३ :

अतिसार-प्रवाहिका

(*DIARRHOEA-DYSENTERY*)

अतिसार निदान

गुर्वतिस्निग्धरूक्षोष्णद्रवस्थूलातिशीतलैः।
विरुद्धाध्यशनाजीर्णैर्विषमैश्चापि भोजनैः ॥१॥
स्नेहाद्यैरतियुक्तैश्च मिथ्यायुक्तैर्विषैर्भयैः।
शोकाद्दुष्टाम्बुमद्यातिपानैः सात्म्यर्तुविपर्ययैः ॥२॥
जलाभिरमणैर्वेगविघातैः क्रिमिदोषतः।
नृणां भवत्यतीसारो लक्षणं तस्य वक्ष्यते ॥३॥

गुरु, अत्यन्त स्निग्ध, अत्यन्त पतले, अत्यन्त स्थूल, अत्यन्त शीतल पदार्थों के सेवन से, विरुद्ध पदार्थों के भोजन से, एक बार किए हुए भोजन का पाचन होने के पूर्व ही पुनः भोजन करने से, अजीर्ण रोग से (अथवा कच्चे या अधपक्के भोजन से), विषम भोजन से, स्नेहन आदि पंचकर्मों के अतियोग या मिथ्यायोग से, विष, भय और शोक से, दूषित जल पीने से, अत्यधिक मदिरापान से, असात्म्य

पदार्थों के सेवन से, ऋतुपरिवर्तन होने से (अथवा ऋतु-विरुद्ध चर्या से), जलक्रीड़ा करने से, मल-मूत्रादि के वेगों को रोकने से और क्रिमिरोग से मनुष्यों को अतिसार होता है। उसके लक्षण कहे जाते हैं—

वक्तव्य—(४२) गुरु—मात्रा, स्वभाव और संस्कार से गुरु। अधिक मात्रा में सेवन किया हुआ हल्का भोजन भी दुष्पाच्य होता है। कुछ पदार्थ स्वभाव से ही गुरु (भारी) होते हैं जैसे उड़द, विशेष विधियों से संस्कारित (पकाये हुए) लघु पदार्थ भी गुरु होजाते हैं जैसे खोवा (मावा), माल-पुआ आदि।

स्निग्ध—इस शब्द के २ अर्थ होते हैं—(१) चिकना जैसे घुइयां (अरवी), भिण्डी आदि और (२) तैलयुक्त (संस्कृत में 'स्नेह' शब्द तैल का पर्याय है) जैसे तिल, मूंगफली, बादाम, अखरोट, पिश्ता, काजू, मछली, हरियल, शूकर, भेड़ आदि जीवों के मांस। अत्यधिक घृत तैल आदि मिलाकर पकाये हुए पदार्थ भी स्निग्ध हो जाते हैं। स्निग्ध पदार्थ गुरु (भारी) होते हैं।

रूक्ष—कोदों (कोद्रव), सांवां (श्यामाक) आदि। रूक्ष पदार्थ अन्न प्रणाली में क्षोभ पैदा करके अति-सार उत्पन्न कर सकते हैं।

द्रव—यदि जलीय पदार्थों का इतना अधिक सेवन कर लिया जावे कि आंतों में उन सबका शोषण न हो सके तो अतिसार होजाता है।

स्थूल—लड्डू आदि ठोस पदार्थ दुष्पाच्य होते हैं। सत्तू, लप्सी आदि पदार्थ भी अत्यन्त गाढ़े रूप में यदि खाये जावें तो पचाना कठिन होता है।

विरुद्ध (Incompatible)—जैसे शहद और घी, दूध और मछली।

विषम—भोजन नियमित समय पर और उचित मात्रा में करना चाहिए। इसके विरुद्ध विषम भोजन कहलाता है।

विष—अधिकांश क्षोभक विष अतिसार उत्पन्न करते हैं।

भय—अत्यधिक भय से तुरन्त मलत्याग होजाता है, यह एक सर्वविदित बात है।

शोक—अत्यधिक शोक से वात-नाड़ियों का प्रयोग होकर पाचन क्रिया बिगड़ जाती है। शोक में भोजन के प्रति लापरवाही की जाती है यह भी अतिसार होने का एक कारण है।

दुष्टाम्बु—दूषित जल में कई प्रकार के जीवाणु रहते हैं जो अतिसार, आमातिसार या प्रवाहिका उत्पन्न करते हैं।

मदिरापान—अत्यधिक मदिरा पीने से अथवा तीव्र मदिरा बिना जल मिलाये पीने से अन्नप्रणाली में क्षोभ होकर अतिसार होता है।

असात्म्य पदार्थ—कुछ लोगों को कुछ विशेष पदार्थ असात्म्य रहते हैं भले ही वे पदार्थ वैद्यकीय दृष्टिकोण से सुपाच्य हों। इस प्रकार के लोगों को उन पदार्थों के सेवन से अतिसार हो सकता है यद्यपि अन्य सभी लोगों को वे पदार्थ आसानी से हजम होते हों। बहुत से लोग ऐसे मिलते हैं जिन्हें दूध पीने से अतिसार हो जाता है यद्यपि वे रबड़ी और खोवा पचा सकते हैं। मुझे एक रोगी ऐसा मिला था जिसे मूंग की दाल खाने से अतिसार हो जाता था।

ऋतु विपर्यय—ऋतुएं बदलने के समय पर अति-सार की उत्पत्ति बहुत अधिक देखी जाती है विशेष-तया ग्रीष्म के अन्त और वर्षा के आरम्भ काल में। ऋतु-विरुद्ध चर्या से अतिसार होना स्वाभाविक ही है।

जल क्रीड़ा—जल में डूबे रहने से त्वचा के रोम-रंध्रों द्वारा जल का शोषण होता रहता है। अधिक काल तक जल क्रीड़ा करने से इतना अधिक जल शरीर में प्रविष्ट हो सकता है कि अतिसार हो जावे।

अतिशीतल पदार्थ—जैसे बर्फ। अत्यन्त शीतल पदार्थ आंतों में प्रक्षोभ और कभी-कभी प्रदाह तक

उत्पन्न करके अतिसार अथवा प्रवाहिका की उत्पत्ति कर सकते हैं।

वेगों को रोकने से और कृमिरोग से अतिसार होता है। इसका विवेचन उदावर्त रोग और कृमि-रोग के साथ किया जावेगा।

अतिसार की सम्प्राप्ति

संशम्यांपां धातुरग्निं प्रवृद्ध—
शकृन्मिश्रो वायुनाऽधः प्रणुन्नः।
सरत्यतोवातिसारं तमाहुर्व्याधिं
घोरं षड्विधं तं वदन्ति॥
एकैकशः सर्वशश्चापि दोषैः
शोकेनान्यः षष्ठ आमेन चोक्त ॥४॥

अत्यन्त बढ़ी (अथवा अत्यन्त कुपित) हुई जलीय धातुएं (रस, जल, मूत्र, स्वेद, मेद, कफ, पित्त, रक्त आदि-मधुकोष) अग्नि को शान्त करके मल के साथ मिलकर, वायु के द्वारा नीचे की ओर ढकेली जाकर, अत्यधिक मात्रा में बाहर निकलती हैं—इस भयंकर रोग को अतिसार कहते हैं। यह ६ प्रकार का कहा गया है—एक एक दोष से (वातज पित्तज और कफज), सभी दोषों से (त्रिदोषज), 'शोक' से पांचवां और छटवां 'आम' से कहा गया है।

वक्तव्य-(४३) ग्रहणी रोग भी अतिसार का एक भेद ही है किन्तु उसमें ग्रहणी विशेष रूप से दूषित होने के कारण उसे एक प्रथक रोग माना है।

अतिसार के पूर्वरूप

हृन्नाभिपायूदरकुक्षितोद गात्रावसादानिलसन्निरोधाः।
विट्संगआध्मानमथाविपाकोभविष्यतस्त स्यपुरःसराणि॥५॥

हृदय, नाभि, गुदा, उदर और कुक्षि में सुई चुभने के समान पीड़ा, शरीर में शिथिलता, वायु निकलने में रुकावट होना (अपान वायु न निकलना, डकार न आना, पेट फूलना), मलावरोध, आध्मान (पेट फूलना) और अजीर्ण—ये लक्षण अतिसार होने के पहिले होते हैं।

वक्तव्य-(४४) अतिसार होने के पहले कुछ मामलों में पूर्ण मलावरोध भी होता है किन्तु अधिकतर अपूर्ण मलावरोध होता है, अर्थात् किंचित् ढीला मल चिपकता हुआ सा थोड़ा थोड़ा निकलता है; कई बार पाखाने जाने और देर तक बैठे रहने पर भी उदर में हल्कापन नहीं आता। यदि इस अवस्था में विरेचन ले लिया जावे (विशेषतया एरण्ड तैल) तो अधिकांश मामलों में अतिसार उत्पन्न नहीं होने पाता। अपूर्ण मलावरोध की यह अवस्था मल क्रमशः पतला होकर अतिसार का रूप धारण कर लेती है। पूर्ण मलावरोध के मामलों में उदर में भारीपन बढ़ते बढ़ते आध्मान के समान लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं और फिर एकाएक अतिसार आरंभ हो जाता है।

वातज अतिसार के लक्षण

अरुणं[1] फेनिलं रूक्षमल्पमल्पं मुहुर्मुहुः।
शकृदामं सरुक्शब्दं मारुतेनातिसार्यते ॥६॥

वात के प्रकोप से अरुण वर्ण का, फेनयुक्त, रूखा, कचा मल पीड़ा और आवाज के साथ थोड़ा थोड़ा बार बार निकलता है।

पित्तज अतिसार के लक्षण

पित्तात्पीतं नीलमालोहितं वा तृष्णामूर्च्छादाहपाकोपपन्नम्।

पित्त के प्रकोप से पीला, नीला अथवा लाल से वर्ण का मल निकलता है और तृष्णा, मूर्च्छा, दाह एवं पाक भी होते हैं।

वक्तव्य-(४५) दाह सर्वांग में अथवा उदर और गुदा में होती है। पाक अधिकतर गुदा में होता है किन्तु उदर में स्थित अवयवों (आन्त्र यकृत आदि) का भी हो सकता है।

कफज अतिसार के लक्षण

शुक्लंसान्द्रंश्लेष्मणाश्लेष्मयुक्तं विस्रं शीतंहृष्टरोमामनुष्यः॥७॥

कफ के प्रकोप से सफेद, गाढ़ा (बंधा हुआ नहीं और एक दम पतला भी नहीं), कफ मिश्रित, दुर्गन्ध-युक्त और शीतल मल निकलता है और मनुष्य के रोम खड़े हो जाते हैं।

---

[1] मल की विविध आकृतियों का विवेचन 'मल परीक्षा' नामक लेख में देखें।

त्रिदोषज अतिसार के लक्षण

वराहस्नेहमांसाम्बुसदृशं सर्वरूपिणम् ।
कृच्छ्रसाध्यमतीसारं विद्याद्दोषत्रयोद्भवम् ॥८॥

जंगली सूअर की चर्बी अथवा मांसरस के समान (या मास के धोवन के समान) त्रिदोष के लक्षणों से युक्त अतिसार को त्रिदोषज एवं कृच्छ्रसाध्य मानना चाहिये।

शोकज अतिसार के लक्षण

तैस्तैर्भावैः शोचतोऽल्पाशनस्य
वाष्पोष्मा वै वह्निमाविश्य जन्तोः ।
कोष्ठं गत्वा क्षोभयेत्तस्य रक्तं
तच्चाधस्तात् काकणन्तीप्रकाशम् ॥ ९॥
निर्गच्छेद्वै विड्विमिश्रं ह्यविड्वा
निर्गन्धं वा गंधवद्वाऽतिसारः ।
शोकोत्पन्नो दुश्चिकित्स्योऽतिमात्रं,
रोगो वैद्यैः कष्ट एष प्रदिष्टः ॥ १० ॥

उन्हीं उन्हीं बातों (शोक के कारणों) को याद कर कर के शोक करते रहने और उसके फलस्वरूप कम भोजन करने वाले व्यक्ति की वाष्पोष्मा कोष्ठ में जाकर अग्नि को कुपित करने के बाद रक्त में भी क्षोभ उत्पन्न करती है और वह गुंजा के समान लाल रङ्ग का रक्त मल के साथ मिलकर अथवा अकेला ही दुर्गंधित होकर अथवा निर्गंध ही नीचे (गुदामार्ग) से निकलता है। शोक से उत्पन्न यह अतिसार अत्यन्त दुश्चिकित्स्य रोग है। वैद्यों ने इसे कष्टसाध्य कहा है।

आमातिसार, आमज अतिसार के लक्षण

अन्नाजीर्णात् प्रद्रुताः क्षोभयन्तः
कोष्ठं दोषाधातु संघान्मलांश्च ।
नानावर्णं नैकशः सारयन्ति
शूलोपेतं षष्ठमेनं वदन्ति ॥११॥

अन्न के न पचने के कारण कुपित हुए दोष कोष्ठ को, धातुओं को और मलों को क्षुब्ध करके भिन्न भिन्न समयों पर भिन्न भिन्न वर्णों का (नानावर्णं नैकशः) मल शूल के साथ निकालते हैं। इसको छठवां अतिसार (आमज अतिसार अथवा आमातिसार) कहते हैं।

वक्तव्य—(४६) ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है कि अजीर्ण रोग होने से इस अतिसार की उत्पत्ति होती है। वैसे अन्य सभी अतिसारों में भी अजीर्ण रहता ही है किन्तु लक्षण के रूप में। परन्तु इस छठवें अतिसार की उत्पत्ति ही अजीर्ण से होती है अर्थात् यह अजीर्ण रोग का एक उपद्रव या परिणाम है। अन्य अतिसारों की चिकित्सा करने से लक्षण रूप से उत्पन्न हुआ अजीर्ण स्वयमेव शान्त हो जाता है किन्तु इस अतिसार में अजीर्ण की चिकित्सा किये बिना इच्छित फल नहीं मिलता।

इस रोग के सम्बन्ध में बड़ा भ्रम फैला हुआ है। बहुत से वैद्य इसे पेचिश (Dysentery) मानते हैं। केवल 'आम' शब्द को लेकर पेचिश मान लेना भूल है। 'पेचिश' के लिये सही पर्याय 'प्रवाहिका' है। यदि आमातिसार को पेचिश मान लेते हैं तो प्रवाहिका किसे मानेंगे? फिर आमातिसार के लक्षण पेचिश से एक दम भिन्न हैं-आमतिसार में भिन्न भिन्न समयों पर भिन्न भिन्न वर्णों का मल निकलता है जब कि पेचिश में हर बार लगभग एक सा ही मल निकलता है। इसी प्रकार आमातिसार में शूल होता है जब कि पेचिश में मरोड़ होती है।

'आम' शब्द 'अपक्व' और 'अजीर्ण' का पर्याय है, किसी भी कच्चे पदार्थ के लिए 'आम' शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। वैसे 'आम' शब्द आयुर्वेद में सामान्यतः 'अपक्व रस' के लिए प्रयुक्त होता है किन्तु चूंकि यहां प्रारम्भ में ही 'अन्नाजीर्णात्' कहकर वस्तुस्थिति स्पष्ट समझा दी गई है इसलिये 'अजीर्ण अन्न' के स्थान पर 'अजीर्ण रस' मानना कहां तक युक्ति संगत है।

आम और पक्व मलों के लक्षण

संसृष्टमेभिर्दोषैस्तु न्यस्तमप्स्ववसीदति ।
पुरीषं भृशदुर्गन्धि पिच्छिलं चामसंज्ञितम् ॥१२॥
एतान्येव तु लिंगानि विपरीतानि यस्य वै ।
लाघवं च विशेषेण तस्य पक्वं विनिर्दिशेत् ॥१३॥

इन (ऊपर बतलाये हुए वातादिजन्य अतिसारों के) दोषों से युक्त, जल में डालने से डूबने वाला, अत्यन्त दु-

बूदार और पिच्छिल (लसदार) मल आम (कच्चा) कहलाता है। इन लक्षणों से विपरीत लक्षण जिसके हों और जिससे लघुता (हल्कापन, जल में डालने पर तैरने का गुण) विशेष रूप से हो उसे पक्का हुआ कहना चाहिये।

वक्तव्य—(४७) 'आम' शब्द के संबन्ध में बची खुची शंका यहां बारहवें श्लोक में समाप्त होजाती है।

'लाघवं च विशेषेण' वाक्यांश ध्यान देने योग्य है। यदि मल में अन्य लक्षण निर्दोष होते हुए भी जल में डूबने का गुण हो तो भी उसे आम ही कहा जावेगा, पक्व नहीं। वातादिजन्य अतिसारों के लक्षण दूर हो जाने पर भी जब तक मल में लघुता उत्पन्न नहीं होती तब तक चिकित्सा करना आवश्यक है अन्यथा चिरकारी अतिसार अथवा ग्रहणी आदि रोग होने की संभावना रहती है।

अतिसार के असाध्य लक्षण

पक्वजाम्बवसंकाशं यकृत्खण्डनिभं तनु।
घृततैलवसामज्जवेशवारपयोदधि- ॥१४॥
मांसधावनतोयाभं कृष्णं नीलारुणप्रभम्।
मेचकं स्निग्धं कर्बुरं चन्द्रकोपगतंघनम् ॥१५॥
कुणपं मस्तुलुंगाभं सुगन्धि कुथितं बहु।
तृष्णादाहतमःश्वासहिक्कापार्श्वास्थिशूलिनम् ॥१६॥
सम्मूर्च्छारतिसंमोहयुक्तं पक्ववलीगुदम्।
प्रलापयुक्तं च भिषग्वर्जयेदतिसारिणम् ॥१७॥
असंवृतगदं क्षीणं दूराध्मातमुपद्रुतम्।
पक्वे गुदे गतोष्माणमतिसारकिणं त्यजेत् ॥१८॥
श्वासशूलपिपासार्तं क्षीणं ज्वरनिपीडितं।
विशेषेण नरं वृद्धमतिसारो विनाशयेत् ॥१९॥
(शोथं शूलं ज्वरं तृष्णां कासं श्वासमरोचकम्।
छर्दि मूर्च्छां च हिक्कां च दृष्ट्वाऽतीसारिणं त्यजेत् ॥)

तृष्णा, दाह, तम (आंखों के सामने अंधेरा छा जाना), श्वास (अथवा 'तमः श्वास' का अर्थ 'तमक श्वास' भी लिया जा सकता है), हिक्का, पार्श्वशूल, अस्थिशूल, घोर मूर्च्छा, अरति (बेचैनी), संमोह (धी, धृति, स्मृति आदि का नाश) और प्रलाप से युक्त और जिसकी गुदा की बलियां पक गयीं हों तथा जिसका मल पकी हुई जामुन के समान अथवा यकृत (कलेजी) के टुकड़े के समान वर्ण का और पतला हो, अथवा घी, तैल, चर्बी, मज्जा, वेशवार (गुड़, घी और कालीमिरच डालकर पकाया हुआ पिसा हुआ अस्थिरहित मांस), दूध, दही अथवा मांस के धोवन के समान हो, अथवा नीला और अरुण वर्ण का, अंजन के वर्ण का, चिकना भूरा (या चितकबरा) अथवा चन्द्रिकाओं से युक्त और गाढ़ा हो, अथवा मुर्दे के समान गंधवाला, मस्तुलुंग (मस्तिष्क-मज्जा, *Brain Substance*) के समान, सुगंधित अथवा सड़ा हुआ और बहुतसा हो ऐसे अतिसार रोगी को वैद्य छोड़ दे।

जिसकी गुदा खुली ही रहती हो, क्षीण हो चुका हो, जिसको बहुत अधिक आध्मान या शोथ हो, जिसको उपद्रव स्वरूप अन्य रोग हो गये हों और गुदा पकने पर भी जिसके शरीर में ऊष्मा न हो (शरीर शीतल हो) ऐसे अतिसार रोगी को त्याग देना चाहिये।

श्वास, शूल (अथवा यदि 'श्वासशूल' एक साथ लें तो श्वास लेने में शूल या कष्ट), पिपासा और ज्वर से पीड़ित क्षीण रोगी को और विशेषतया वृद्ध मनुष्य को अतिसार रोग मृत्युकारक होता है।

(शोथ, शूल, ज्वर, तृष्णा, खांसी, श्वास, अरुचि, वमन, मूर्च्छा और हिक्का को देखकर अतिसार रोगी को छोड़ देना चाहिए।)

रक्तातिसार

पित्तकृन्ति यदाऽत्यर्थं द्रव्याण्यश्नाति पैत्तिके।
तदोपजायतेऽभीक्ष्णं रक्तातीसार उल्बणः ॥२०॥

पैत्तिक अतिसार में जब रोगी पित्तकारक पदार्थ अत्यधिक खाता है तब बारबार बहुत से रक्त का अतिसार होता है।

वक्तव्य—(४८) यह पित्तातिसार का ही उग्र रूप है इस लिये प्रकार बतलाते समय इसकी गणना नहीं की गई है।

प्रवाहिका (Dysentery) की सम्प्राप्ति

वायुः प्रवृद्धो निचितं बलासं
नदत्यधस्तादहिताशनस्य।

प्रवाहतोऽल्पं बहुशो मलाक्तं
प्रवाहिकां तां प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥२१॥

अहितकारी भोजन करने वाले के संचित कफ को (उसकी) अत्यन्त बढ़ी हुई वायु, मल के साथ मिलाकर, बहुत प्रवाहण (मरोड़) के साथ, थोड़ा थोड़ा, बार बार नीचे के मार्ग (गुदा) से निकालती है—इस (रोग) को वैद्य प्रवाहिका कहते हैं।

वक्तव्य—(४६)वास्तव में पेचिश(Dysentery) यही है। पाश्चात्य विद्वान भी पेचिश में मल के साथ निकलने वाले पिच्छिल पदार्थ को कफ मानते हैं, आम नहीं।

उपर्युक्त सम्प्राप्ति से स्पष्ट है कि यह रोग वात-कफ प्रधान है, कफ का संचय और वात की वृद्धि होने पर ही यह रोग हो सकता है, अन्यथा नहीं। यद्यपि अन्य दोषों के संसर्ग से लक्षणों में अन्तर आ जाता है तथापि 'प्रवाहण-पूर्वक मल के साथ कफ का निकलना' इस रोग का प्रधान लक्षण है और यह लक्षण इस रोग के सभी प्रकारों में अनिवार्यतः उपस्थित रहता है।

प्रवाहिका के भेद

प्रवाहिका वातकृता सशूला
पित्तात्सदाहा सकफा कफाच्च।
सशोणिता शोणितसंभवा च
ताः स्नेहरूक्षप्रभवा मतास्तु।
तासामतीसारवदादिशेच्च
लिंगं क्रमं चामविपक्वतां च ॥२२॥

वातजा प्रवाहिका शूलयुक्त, पित्तजा दाहयुक्त, कफजा कफ (के लक्षणों से) युक्त और रक्तजा रक्तयुक्त होती है परन्तु ये सभी स्नेह (कफकारक) और रूक्ष (वातकारक) पदार्थों से उत्पन्न मानी ही गयी हैं। इन सबके लक्षण, क्रम, आमता और पक्वता अतिसार के समान ही बतलाना चाहिये।

वक्तव्य—(५०) 'ताः स्नेहरूक्षप्रभवा मतास्तु' इस वाक्यांश की टीका मधुकोशकार ने इस प्रकार की है—

"स्नेहप्रभवा कफजा, रूक्षप्रभवा वातजा, तुशब्दाच्च तीक्ष्णोष्णप्रभवा पित्तजा रक्तजा च" अर्थात् "स्नेह से उत्पन्न कफजा, रूक्ष से उत्पन्न वातजा और 'तु' शब्द से तीक्ष्ण एवं उष्ण से पित्तजा तथा रक्तजा"।

किन्तु इस प्रकार जबरदस्ती अर्थ निकालने की कोई आवश्यकता नहीं जब कि प्रारम्भ में ही प्रवाहिका की सम्प्राप्ति बतलाते हुए कहा गया है—'वायुः प्रवृद्धो निचितं बलासं' अर्थात् सभी प्रकार की प्रवाहिकाओं में वायु प्रवृद्ध और कफ संचित रहा करता है। तात्पर्य यह है कि वायु द्वारा संचित कफ को अधोमार्ग से निकालने की क्रिया का ही नाम प्रवाहिका है। पित्त और रक्त के संसर्ग से और वात या कफ की विशेष उल्वणता से इसके ४ भेद अवश्य हो जाते हैं किन्तु वास्तव में यह व्याधि मूलतः वात कफज ही है। एक बार इसे वातकफज कहने के बाद जब माधवाचार्य ने इसके ४ भेद वातजा, पित्तजा, कफजा और रक्तजा बतलाये तब शंका होना स्वाभाविक है। उसी शंका को दूर करने के लिये उन्हें कहना पड़ा—'ताः स्नेहरूक्षप्रभवा मतास्तु' अर्थात् 'परन्तु वे सभी स्नेह और रूक्ष पदार्थों से उत्पन्न मानी ही गयी हैं'। स्नेह से कफ और रूक्ष पदार्थों से वात की वृद्धि होती है यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है।

अतिसार-मोक्ष के लक्षण

यस्योच्चारं विना मूत्रं सम्यग्वायुश्च गच्छति।
दीप्ताग्नेर्लघुकोष्ठस्य स्थितस्तस्योदरामयः ॥२३॥

जिसके मूत्र और वायु (अपानवायु) मल के बिना अकेले ही भलीभांति निकलते हों और जिसकी अग्नि प्रदीप्त हो एवं कोष्ठ में हल्कापन हो उसका उदर रोग (यहां प्रसंगवश अतिसार और प्रवाहिका रोग समझना चाहिये) चला गया।

वक्तव्य—(५१)जब तक अतिसार या प्रवाहिका रोग न्यूनातिन्यून मात्रा में भी उपस्थित रहते हैं तब तक मूत्र और अधोवायु की प्रवृत्ति मलोत्सर्ग के समय

पर ही होती है अथवा यदि मलोत्सर्ग की इच्छा हुए बिना भी इसकी प्रवृत्ति होती है तो इन्हें त्याग करते समय मल भी निकल आता है अथवा निकल आने की संभावना बनी रहती है।

ज्वरातिसार

(ज्वरातीसारयोरुक्तं निदानं यत् पृथक् पृथक्।
तत्स्याज्ज्वरातिसारस्य तेन नात्रोदितं पुनः॥)

ज्वर और अतिसार दोनों का पृथक्-पृथक् जो निदान कहा गया है वह (मिलाकर) ज्वरातिसार का निदान होता है इस लिये वह यहां फिर से नहीं कहा गया।

वक्तव्य—(५२)अतिसार, प्रवाहिका और ग्रहणी रोग पर पाश्चात्य मत अगले अध्याय के अन्त में दिया जावेगा।

: ४ :

ग्रहणी रोग

(*Chronic Diarrhoea, Dysentery etc.*)

निदान, रूप और सम्प्राप्ति

अतिसारे निवृत्तेऽपि मन्दाग्नेरहिताशनः।
भूयः संदूषितो वह्निर्ग्रहणीमभिदूषयेत् ॥१॥
एकैकशः सर्वशश्चापि दोषैरत्यर्थमूर्छितैः।
सा दुष्टा बहुशो भुक्तमाममेव विमुञ्चति ॥२॥
पक्वं वा सरुजं पूति मुहुर्बद्धं मुहुर्द्रवम्।
ग्रहणीरोगमाहुस्तमायुर्वेदविदोजनाः ॥३॥

अतिसार रोग की निवृत्ति होने पर मन्दाग्नि की दशा में (अथवा प्रारंभ से ही अथवा किसी अन्य कारणवश होने वाली मन्दाग्नि की दशा में) अहितकारी भोजन करने वाले व्यक्ति की अग्नि और भी अधिक दूषित होकर ग्रहणी को भी दूषित कर देती है। अत्यन्त मूर्च्छित (कुपित) एक अथवा सभी तीनों दोषों से दूषित होकर वह (ग्रहणी) अधिकतर खाये हुए पदार्थ को अपाचित ही अथवा पाचित अथवा पीड़ा के साथ अथवा सड़ा हुआ; कभी बंधा हुआ

पाचन-संस्थान

१–अन्न नलिका २–आमाशय ३–पित्ताशय ४–यकृत ५–बेटर की गुहा ६–अग्न्याशय ७–ग्रहणी (चीर कर दिखाई गयी है) ८–क्षुद्रान्त्र ९—उण्डुक -पुच्छ, उपान्त्र १०-उण्डुक ११-वृहदन्त्र १२–मलाशय।
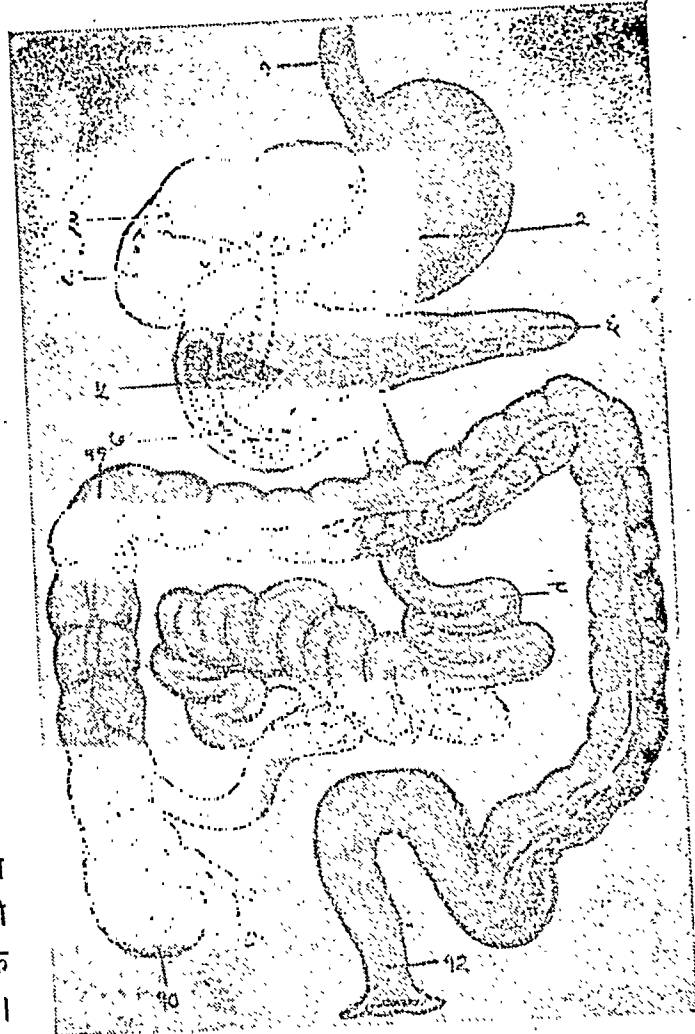
और कभी पतला त्यागती है। इस रोग को आयुर्वेदज्ञ जन ग्रहणी रोग कहते हैं।

वक्तव्य—(५३) ग्रहणी का वर्णन करते हुए आचार्य सुश्रुत ने लिखा है—

षष्ठी पित्तधरा नाम या कला परिकीर्तिता।
पक्वामाशयमध्यस्था ग्रहणी परिकीर्तिता॥

(सु. उ. ४०)

इसके आधार पर पूरे क्षुद्रान्त्र अथवा उसके प्रारम्भिक भाग ड्यूडिनम (Duodenum) को ग्रहणी माना जाता है। ग्रहणी के दूषित होने से उत्पन्न रोग को ग्रहणी रोग कहते हैं।

पूर्वरूप

पूर्वरूपं तु तस्येदं तृष्णाऽऽलस्यं बलक्षयः।
विदाहोऽन्नस्य पाकश्च चिरात् कायस्य गौरवम्॥४॥

प्यास, आलस्य, शक्तिक्षय, विदग्धाजीर्ण, अन्न का पाचन देर से होना और शरीर में भारीपन ये उस (ग्रहणी) के पूर्वरूप हैं।

वातज ग्रहणी

कटुतिक्तकषायातिरूक्षसंदुष्टभोजनैः।
प्रमितानशनात्यध्ववेगनिग्रहमैथुनैः॥५॥
मारुतः कुपितो वह्निं संछाद्य कुरुते गदान्।
तस्यान्नं पच्यते दुःखं शुक्तपाकं खराङ्गता॥६॥
कण्ठास्यशोषोःक्षुतृष्णा तिमिरं कर्णयोः स्वनः।
पार्श्वोरुवङ्क्षणग्रीवारुगभीक्ष्णं विसूचिका॥७॥
हृत्पीडाकार्श्यदौर्बल्यं वैरस्यं परिकर्तिका।
गृद्धिः सर्वरसानां च मनसः सदनं तथा॥८॥
जीर्णे जीर्यति चाध्मानं भुक्ते स्वास्थ्यमुपैति च।
स वातगुल्महृद्रोगप्लीहाशंकी च मानवः॥९॥
चिराद्दुःखं द्रवं शुष्कं तन्वामं शब्दफेनवत्।
पुनः पुनः सृजेद्वर्चः कासश्वासार्दितोऽनिलात्॥१०॥

कटु, तिक्त, कषाय रस प्रधान, अत्यन्त रूक्ष, दूषित, एवं थोड़ा भोजन करने से अथवा उपवास करने से, अत्यधिक चलने से, वेग रोकने से एवं अतिमैथुन से वायु कुपित होकर अग्नि को आवृत करके विकारों की उत्पत्ति करता है जिससे उस रोगी का अन्न कष्ट से पचता है अथवा अम्लपाक होता है, शरीर में रूक्षता, मुख और गला सूखना, भूख-प्यास (अधिक) लगना, तिमिर रोग, कर्णनाद पसली, जांघ, वंक्षण (रान) और गले में लगातार पीड़ा, विसूचिका रोग, हृदय में पीड़ा, दुबलापन, कमजोरी, मुंह का स्वाद विकृत रहना, गुदा में काटने के समान पीड़ा, मधुर आदि सभी रसों के सेवन की आकांक्षा, मन अवसन्न रहना, भोजन के पचने के समय पर और पचने के बाद आध्मान रहना, भोजन करने पर शांति मिलना आदि लक्षण होते हैं। वह मनुष्य वातगुल्म हृद्रोग, प्लीहा रोग आदि की शंका करता है; देर से कष्ट के साथ सूखा या पतला, कच्चा, फेनयुक्त मल आवाज के साथ बार-बार त्यागता है और श्वास-खांसी से पीड़ित रहता है। ये लक्षण वातज ग्रहणी के हैं।

पित्तज ग्रहणी

कट्वजीर्णविदाह्यम्लक्षाराद्यैः पित्तमुल्बणम्।
आप्लावयद्धन्त्यनलं जलं तप्तमिवानलम्॥११॥
सोऽजीर्णं नीलपीताभं पीताभः सार्यते द्रवम्।
पूत्यम्लोद्गारहृत्कण्ठदाहारुचितृडर्दितः॥१२॥

चरपरे, कच्चे, विदाही, खट्टे एवं क्षार आदि पदार्थों के सेवन से कुपित हुआ पित्त ग्रहणी को आप्लावित करके अग्नि को उसी प्रकार बुझा देता है जैसे गरम जल अग्नि को बुझा देता है। वह रोगी सड़ांधयुक्त खट्टी डकार, हृदय और कण्ठ में दाह, अरुचि तृष्णा से पीड़ित रहता है और पीले अथवा नीले-पीले वर्ण का कच्चा मल त्यागता है।

कफज ग्रहणी

गुर्वतिस्निग्धशीतादिभोजनादतिभोजनात्।
भुक्तमात्रस्य च स्वप्नाद्धन्त्यग्निं कुपितः कफः॥१३॥
तस्यान्नं पच्यते दुःखं हृल्लासच्छर्द्यरोचकाः।
आस्योपदेहमाधुर्य कासष्ठीवनपीनसाः॥१४॥
हृदयं मन्यते स्त्यानमुदरं स्तिमितं गुरु।
दुष्टो मधुर उद्गारः सदनं स्त्रीष्वहर्षणम्॥१५॥
भिन्नामश्लेष्मसंसृष्टगुरुवर्चःप्रवर्तनम्।
अकृशस्यापि दौर्बल्यमालस्यं च कफात्मके॥१६॥

अत्यन्त भारी, अत्यन्त चिकने, अत्यन्त शीतल आदि पदार्थों के भोजन से, अति भोजन से अथवा युक्त मात्रा में भोजन करके तुरन्त सो जाने से कफ कुपित होकर अग्नि को नष्ट कर देता है। उस रोगी का अन्न कष्ट के साथ पचता है। हृल्लास (जी मचलना), वमन, अरुचि मुंह मीठा और लिपा हुआ सा रहना, खांसी, बारम्बार थूकना, पीनस, हृदय में भारीपन अथवा शोथ का आभास होना, उदर में जड़ता और भारीपन, दूषित मीठी डकारें आना, अवसाद, कामेच्छा का अभाव; फटा हुआ, कच्चा, कफ-मिश्रित, भारी मल निकलना, कृशता न होते हुए भी दुर्बलता और आलस्य रहना—ये लक्षण कफज ग्रहणी में होते हैं।

त्रिदोषज ग्रहणी

पृथग्वातादिनिर्दिष्टहेतुलिंगसमागमे ।
त्रिदोषं निर्दिशेदेवं, तेषां वक्ष्यामि भेषजम् ॥१७॥

पृथक् पृथक् वातादि जन्य ग्रहणियों के जो हेतु और बतलाये गये हैं उनके सम्मिलित रूप में मिलने पर त्रिदोषज ग्रहणी मानना चाहिये।

वक्तव्य—(५४)'तेषां वक्ष्यामि भेषजम्' पद यहां निरर्थक है और केवल श्लोक पूरा करने की दृष्टि से रहने दिया गया है।

संग्रहग्रहणी अथवा संग्रहणी

(अन्त्रकूजनमालस्यं दौर्बल्यं सदनं तथा ।
द्रवं शीतं घनं स्निग्धं सकटीवेदनं शकृत् ॥१॥
आमं बहु सपैच्छिल्यं सशब्दं मन्दवेदनम् ।
पक्षान्मासाद्दशाहाद्वा नित्यं वाऽप्यथ मुञ्चति ॥२॥
दिवा प्रकोपो भवति रात्रौ शान्ति व्रजेच्च या ।
दुर्विज्ञेया दुश्चिकित्स्या चिरकालानुबंधिनी ॥३॥
सा भवेदामवातेन संग्रहग्रहणी मता ।)

(आंतों में गुड़गुड़ाहट, आलस्य, दुर्बलता तथा अवसाद होना; पतला और शीतल अथवा गाढ़ा और चिकना, कच्चा बड़ी मात्रा में पिच्छिल मल आवाज और कमर में मन्द पीड़ा के साथ पक्ष में, मास में, दस दिनों में अथवा नित्य निकलना; दिन में प्रकोप होना और रात में शान्ति रहना आदि लक्षण संग्रहग्रहणी में होते हैं। इसके निदान और चिकित्सा कठिनाई से हो पाते हैं और यह दीर्घकाल तक रहती है। इसकी उत्पत्ति आमवात से मानी गयी है।

वक्तव्य—(५५)आमवात के दो अर्थ हो सकते हैं—

(१) आम अन्न से उत्पन्न वात। पाचक रसों की न्यूनता के कारण आन्त्र में स्थित अन्न सड़ता है जिससे वायु की उत्पत्ति होकर उदर में शब्द आध्मान आदि होते हैं।

(२) आमवात रोग–आम रस और वात। आमवात रोग (Rheumatism) से इस रोग की उत्पत्ति होने की बात समझ में नहीं आती। यह अवश्य सच है कि प्रवाहिका अथवा ग्रहणी रोग से आमवात की उत्पत्ति होती है।

घटी-यन्त्र ग्रहणी रोग

(स्वपतः पार्श्वयोः शूलं गलज्जलघटीध्वनिः ।
तं वदन्ति घटीयंत्रमसाध्यं ग्रहणीगदम् ॥४॥)

लेटने पर दोनों पार्श्वों में शूल और डूबती हुई मोट के समान ध्वनि (उदर या पार्श्व में जिस ग्रहणी रोग में) होती हो उसे घटीयन्त्र कहते हैं, यह असाध्य है।

ग्रहणी की सामता और निरामता

दोषं सामं निरामं च विद्यादत्रातिसारवत् ॥१८॥

यहां (इस ग्रहणी रोग में) दोषों की सामता और निरामता अतिसार के समान समझना चाहिये।

ग्रहणी की असाध्यता

लिंगैरसाध्यो ग्रहणीविकारो
यैस्तैरतीसारगदो न सिध्येत् ।
वृद्धस्य नूनं ग्रहणीविकारो
हत्वा तनुं नैव निवर्तते च ॥१९॥

जिन लक्षणों से युक्ति अतिसार रोग असाध्य होता है उन्हीं लक्षणों से युक्त ग्रहणी भी असाध्य होता है। वृद्ध मनुष्य का ग्रहणी रोग शरीर को नष्ट किये बिना निवृत्त नहीं होता।

(बालके ग्रहणी साध्या यूनि कृच्छ्रा समीरिता ।
वृद्धे त्वसाध्या विज्ञेया मतं धन्वन्तरेरिदम् ॥५॥)

बालक की ग्रहणी साध्य, युवा की कष्टसाध्य और वृद्ध की असाध्य जानना चाहिये—यह धन्वन्तरि का मत है।

वक्तव्य—(५६) पाश्चात्य मत--

(*i*) तीव्र अतिसार (*Acute Diarrhoea*) की उत्पत्ति तीव्र अजीर्ण, अन्नगर प्रकोप, शैशवीय ग्रीष्मातिसार और विसूचिका रोग में होती है। गम्भीर तृतीयक विषम ज्वर (*Sub-tertian Malaria*) और वातश्लेष्मज्वर (*Influenza*) के औद-रिक (*Abdominal*) प्रकारों में भी अतिसार होता है। तीव्र दण्डाणवीय प्रवाहिका (*Acute Bacillary Dysentery*), आंत्रिक प्रकार के ज्वरों (*Enteric Group of fevers*), तीव्र उपान्त्र प्रदाह (Acute *Appendicitis*) आन्त्रान्तर प्रवेश (*Intussusception*) में भी यदा-कदा अतिसार होकर रोग का अरम्भ होता है।

(१) तीव्र अजीर्ण (Acute Indigestion, Acute *Diarrhoea*) भोजन अतियोग अथवा मिथ्यायोग से इस रोग की उत्पत्ति होती है। रोग का आरम्भ होते ही एकाएक उदर में शूल होकर अतिसार प्रारम्भ हो जाता है, वमन भी हो सकते हैं। प्रारम्भ में दस्त कुछ गाढ़े रहते हैं किन्तु बाद में पतले हो जाते हैं, अपाचित अन्न के कण और कभी कभी रक्त भी मिश्रित हो सकता है। कुछ रोगियों को ज्वर भी आजाता है। गंभीर प्रकार में जलाल्पता (*Dehydration*) हो सकती है।

(२) अन्नगर प्रकोप (*Food Poisoning, Ptomaine Poisoning*)—बहुत काल तक रखे हुए पक्वान्न, मांस, मछली आदि में सालमोनेला वर्ग (*Salmonella group*) के दण्डाणु (*B. Aertrycke*, B. *Gaertner*, *B. Suipestifer*, *B. Paratyphosus* C *etc.*) वृद्धि करके एक (*Toxin*) की उत्पत्ति करते हैं जो पकाने पर भी नष्ट नहीं होता। इनके विना भी सड़ांध उत्पन्न होकर एक प्रकार के गर की उत्पत्ति होती है जिसे टोमेन (*Ptomaine*) कहते हैं। ये गर विसूचिका के समान किन्तु प्रायः सौम्य और अघातक रोग की उत्पत्ति करते हैं। भोजन देखने में दोषहीन होते हुए भी इन दण्डाणुओं या गरों से युक्त हो सकता है इस लिए स्वास्थ्यकामी व्यक्ति कभी दीर्घकाल तक रखे हुए पदार्थों का सेवन न करे।

रोग का प्रारम्भ दूषित भोजन करने के बाद कुछ ही घंटों में हो जाता है, कभी ३-४ दिन बाद भी होते देखा गया है। प्रारम्भिक लक्षण उदरशूल है जिसके साथ कंपकंपी लगकर ज्वर भी आ सकता है। फिर शीघ्र ही वमन और अतिसार होने लगते हैं। मल प्रारंभ में गाढ़ा रहता है किन्तु बाद की अवस्था में अत्यन्त पतला या जलीय हो जाता है। मल के साथ कफ और रक्त भी आ सकता है। अत्यधिक वमन विरेचन होने से जलाल्पता (D*ehydration*) होकर निपात (*Collapse*, शीतांग) हो सकता है। कुछ रोगियों की त्वचा में रक्तमयताजन्य अथवा शीतपित्तवत्, अथवा रक्तस्रावी उद्भेद प्रकट होते हैं।

अत्यन्त गंभीर प्रकार में मृत्यु हो सकती है, वैसे अधिकांश रोगी बच जाते हैं। यदि पहले से अन्न-प्रणाली का अन्य कोई रोग उपस्थित हो अथवा अत्यन्त भूख लगने पर दूषित भोजन खाया गया हो तो लक्षण घातक हो सकते हैं।

मांस-गर प्रकोप (*sausage Poisoning, Botulism*)–कभी-कभी मांस में बोटुलिन दण्डाणु, (*B. Botulinus*) पाया जाता है। यह दण्डाणु और इसका गर पकाने की क्रिया में नष्ट होजाता है किन्तु यदि मांस कम पकाया जावे तो उसके खाने से सिर दर्द, दृष्टिमांद्य, द्वयदृष्टि, निगलने में कष्ट, मूकत्व और मलावरोध आदि लक्षण होते हैं। संज्ञा-नाश नहीं होता। इस रोग को कष्ट-साध्य माना गया है।

(३) शैशवीय ग्रीष्मातिसार (*Summer Diarr-*

hoea of Infants)—यह रोग अधिकतर विकीर्ण रूप में मिलता है किन्तु कभी-कभी महामारी के रूप में भी फैलता है। प्रकोप अधिकतर ग्रीष्म ऋतु में भी ५ वर्ष से कम आयु के शिशुओं पर होता है। कई प्रकार के तृणाणु इसकी उत्पत्ति करते पाये गये हैं।

रोग का आरम्भ ज्वर या वमन अथवा दोनों से हो सकता है किन्तु अधिकांश मामलों में अतिसार से ही होता है। कुछ मामलों में दस्त सफेद और फटा हुआ या चिकना (अपाचित दुग्ध के कारण) कुछ में हरा फेनदार दस्त मरोड़ के साथ, कुछ में चावलों का धोवन के समान और कुछ में कफ और रक्त मिश्रित रहता है। शक्तिपात अत्यन्त शीघ्रता से होता है, मूत्र की मात्रा अत्यन्त कम हो जाती है और गम्भीर मामलों में जलाल्पता होजाती है। कुछ मामलों में अन्तिम अवस्था में अतितीव्र ज्वर (*Hyper pyrexia*) की उत्पत्ति होकर, कुछ में तन्द्रा और संन्यास होकर और कुछ में जलाल्पता के कारण हृदयावरोध होकर मृत्यु होजाती है। रोग चिकित्सा करने पर साध्य है।

मल परीक्षा करने पर उसमें लाल रक्तकण, पूयकण, आन्त्रीय उपत्वचा और भक्षक कोषाएं (*Macrophages*) कफ और मल के साथ मिश्रित मिलते हैं।

(४) विसूचिका (*Cholera*)—इसका वर्णन अध्याय ६ में देखें।

(ii) चिरकारी अतिसार (*Chronic Diarrhoea*)—संग्रहणी, आन्त्रीय राजयक्ष्मा, रसक्षय या तुन्दिक रोग (*Coeliac Disease*), पार्वत्य अतिसार (*Hill Diarrhoea*), चिरकारी अग्न्याशय (क्लोम) प्रदाह, अन्तिम खण्डीय क्षुद्रान्त्र प्रदाह, चिरकारी कीटाण्वीय और दण्डाण्वीय प्रवाहिका, अजीर्ण रोग, सूतिका रोग, जानपदिक शोथ, त्वग्दाह (*Pellagra*), दूषीविष, आभ्यन्तर गर प्रकोप, कृमिरोग, पूयदन्त, औदरीय कर्कटार्बुद, वातनाड़ी-प्रक्षोभ, मलावरोध आदि रोगों में और वृद्धावस्था तथा जीर्णावस्था (*Cachexia*) में अरिष्ट लक्षण स्वरूप, चिरकारी अतिसार पाया जाता है। आयुर्वेदिक पद्धति के अनुसार निदान करने से इनमें से बहुतों का समावेश ग्रहणी रोग में होजाता है।

(१) संग्रहणी (*Sprue, Psilosis, Aphtha Tropica*)—यह रोग उष्ण देशों का रोग है और इससे वे लोग अधिक आक्रान्त होते हैं जो समशीतोष्ण देशों से आकर उष्ण देश में बसे हों। इसके कारण का ज्ञान अभी तक निश्चितरूपेण नहीं हो पाया। कुछ लोगों के मतानुसार जीवतिक्ति बी-१ और चूर्णातु (*Calcium*) की कमी से, कुछ के अनुसार मांसादि नत्रजनयुक्त (*Nitrogenous*) पदार्थों के अधिक सेवन से और कुछ के मतानुसार ग्रहणी के द्वारा की जाने वाले शोषण क्रिया में विकृति होने से इसकी उत्पत्ति होती है। इसके रोगी अधिकतर प्रौढ़ हुआ करते हैं और उनमें भी स्त्रियों की संख्या अधिक रहती है।

रोग का प्रारंभ अत्यन्त धीरे-धीरे गुप्त रूप से होता है। कभी-कभी उदर में गड़बड़ी हुआ करती है मुख में छाले उत्पन्न होते हैं और कमजोरी बढ़ती है। कुछ माह बाद अतिसार प्रारम्भ होता है जो चिरकारी या पुनरावर्तक प्रकार का होता है। सबेरे के समय ४-६ पतले, चिपकीले, किंचित् पीले से रंग के अत्यन्त दुर्गन्धित दस्त होजाया करते हैं। मलत्याग करते समय काफी मात्रा में अपानवायु निकलती है। अन्य समयों पर आध्मान और हृल्लास होते हैं। धीरे-धीरे दस्तों की संख्या बढ़ती जाती है। इस समय मल का रंग भूरा होजाता है और उसमें काफी बड़ी मात्रा में वसा पायी जाती है। मुंह के छाले इतने कष्टदायक होजाते हैं कि कुछ भी खाना कठिन होजाता है। ये छाले निकोटीनिक ऐसिड के अभाव से उत्पन्न छालों के सदृष होते हैं। दशा में बीच-बीच में कुछ सुधार के लक्षण प्रकट होते रहते हैं। धीरे-धीरे सभी धातुओं का क्षय होकर रोगी

अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण होजाता है। रोगकाल कई वर्षों का होता है। नया रोग कष्टसाध्य और पुराना असाध्य होता है।

पैरों और हाथों में शोथ, मांसपेशियों में ऐंठन, अपतानिका, बहुनाड़ी प्रदाह, त्वग्रोग एवं त्वचा में रक्तस्रावी चकत्ते आदि उपद्रवस्वरूप पाये जाते हैं।

कुछ रोगियों में अतिसार के अतिरिक्त शेष सभी लक्षण पाये जाते हैं और कुछ में केवल अतिसार पाया जाता है।

इस रोग में मुख से लेकर गुदा तक पूरी अन्न-प्रणाली की श्लैष्मिक कला में रक्ताधिक्य और व्रण पाये जाते हैं। मांसपेशियों में स्थित वसा का अत्यधिक क्षय होता है तथा यकृत, प्लीहा, अग्न्याशय, उपवृक्क आदि आभ्यन्तर अवयवों का शोष होता है। लाल अस्थिमज्जा में आरम्भ में वृहद्रक्तकणीय प्रतिक्रिया (Megaloblastic) होती है और फिर उसका भी शोष (Atrophy) होता है। आन्त्र-निबन्धिनी (Mesenteric) ग्रंथियों की वृद्धि होती है। वसा और शर्करा का चूषण नहीं होता। शर्करा में संधान (Fermentation) होने से वायु की उत्पत्ति होकर आध्मान हुआ करता है। आमाशय में होने वाले अम्ल रस का स्राव कम या बंद होजाता है।

रक्त परिक्षा से प्रारंभिक अवस्था में सूक्ष्मकायाणिवक और वाद की अवस्थाओं में वैनासिक रक्तक्षय के लक्षण मिलते हैं। लाल रक्तकणों का आकार बड़ा हो जाता है किन्तु संख्या घट जाती है चूर्णातु (Calcium) की कमी पाई जाती है। मूत्र में मूत्रपित्ति (Urobilinogen) पायी जाती है।

(२) आन्त्रीय राजयक्ष्मा (Tubercular Entero-colitis)—अध्याय १० में देखें।

(३)—मेदक्षय, रसक्षय[1], तुन्दिक रोग, सूखा रोग या बाल शोष–(Coeliac Disease, Gee-Herter's Disease)—वास्तव में यही रोग 'बच्चों का सूखा रोग' है। अधिकांश वैद्य भ्रमवश सूखारोग को शैशवीय अस्थिक्षय या अस्थिमार्दव (Rickets का पर्याय मानते हैं। यह धारणा एकदम गलत है। शैशवीय अस्थिक्षय या अस्थिमार्दव रोग में अतिसार और शोष प्रधान लक्षण नहीं हैं, आनुषंगिक लक्षण अवश्य हो सकते हैं; प्रधान लक्षण अस्थियों का कमजोर होकर झुकना है और यह रोग मोटे ताजे बालकों में भी पाया जा सकता है। इसका विस्तृत वर्णन अध्याय १० में मिलेगा॥ नीचे रसक्षय रोग (coeliac Disease) का वर्णन किया जा रहा है। विज्ञजन दोनों रोगों के लक्षणों का मिलान करके स्वयं निर्णय करें कि मेरा कथन सत्य है अथवा असत्य।

रसक्षय रोग ६ माह से २ वर्ष तक के बच्चों पर (अधिकतर लड़कियों पर) आक्रमण करता है। कारण अज्ञात है। रोग धीरे धीरे गुप्त रूप से उत्पन्न होता है। शिशु की बाढ़ रुक जाती है और वसाक्षय होता है। फिर क्षुधा-नाश, हृल्लास, अतिसार और मांसक्षय आदि लक्षण प्रकट होते हैं। मांसक्षय चेहरे को छोड़कर सारे शरीर में और विशेषतया स्फिग्देश (चूतड़) में होता है। दस्त में पीला, फेनयुक्त और दुर्गन्धित मल अत्यधिक मात्रा में निकलता है और उसमें अर्धपाचित (*Split*) वसा पायी जाती है। बालक चिड़चिड़ा हो जाता है, उदर कुछ बढ़ जाता है और वातनाड़ी-उत्कर्ष (*Neurosis*) के भी लक्षण मिलते हैं। रोगकाल लम्बा होता है, दशा में कुछ काल तक सुधार के लक्षण रहने के बाद पुनः पुनः आक्रमण होता है। मृत्यु अत्यन्त कमजोरी के कारण अथवा किसी अन्य रोग के आक्रमण से होती है। कुछ बालकों की बाढ़ सदा के लिये मारी जाती है–आन्त्रिक वामन रोग (*Intestinal Infantilism*)।

लगभग सभी प्रकार की जीवतिक्तियों के अभाव के लक्षण प्रकट होते हैं—जीवतिक्ति ए और डी के

[1] कई आधुनिक आचार्यों ने इसे 'रसक्षय रोग' नाम दिया है इसलिये उपयुक्त न होते हुए भी इसे उद्धृत किया है वस्तुतः मैं इस नाम से सहमत नहीं हूं। मेरे मत से 'मेद-क्षय' या 'वसा-क्षय' अधिक उपयुक्त नाम है।

अभाव से अस्थियों और रक्त में चूने की कमी होकर अस्थिक्षय (*Rickets*) के लक्षण प्रकट होते हैं, जीवितिक्ति बी-१ की कमी से गंभीर प्रतिक्षेप (*Deep reflexes*) नष्ट होजाते हैं और जीवतिक्ति सी की कमी से मसूढ़े फूले हुए रहते हैं। रक्त में उपवर्णिक रक्तक्षय (*Hypochronic anaemia*) के लक्षण मिलते हैं।

अकारण वसातिसार (*Idiopathic steatorrhoea*)—उपर्युक्त रसक्षय रोग किशोरों और नवयुवकों में भी यदा कदा पाया जाता है। उस दशा में इसका नामकरण 'अकारण वसातिसार' होता है। संभवतः इसकी उत्पत्ति क्षुद्रान्त्र की कार्य-अक्षमता से अथवा शैशवावस्था में हुए रसक्षय रोग के पुनराक्रमण के फलस्वरूप होती है। लक्षण एकदम शैशवीय रसक्षय के समान बल्कि कुछ अधिक ही होते हैं—हृल्लास, चिरकारी अतिसार (पीले, वसायुक्त बड़े दस्त), शाखाओं, पसली और श्रोणि की अस्थियों के आकार में विकृति (जीवतिक्ति डी की कमी से); शुष्काक्षिपाक (*Xerophthalmia*) और त्वचा में मोटापन (जीवतिक्ति 'ए' की कमी से); फूली हुई जीभ, ओष्ठ-संधियों में व्रण (*cheilosis*) और शुष्क खुरदरी त्वचा (जीवतिक्ति-बी समूह की कमी से) रक्तस्रावी प्रवृत्ति (जीवतिक्ति सी और के की कमी से); और रक्तक्षय (लोह और यकृतस्राव की कमी से)।

(४) पार्वत्य अतिसार (*Hill–diarrhoea*)–यह रोग मैदानी प्रदेशों के लोगों को ६००० फीट से अधिक ऊंचे पार्वत्य नगरों में रहने से वर्षा ऋतु में होता है। यूरोप के निवासी विशेषतया अधिक आक्रान्त होते हैं। गर्मियों से बचने के लिये अथवा बदरिकाश्रम इत्यादि की यात्रा के लिये हिमालय पर्वत पर जाने वाले भारतीय भी इससे आक्रान्त होते हैं। कारण अज्ञात है—संभवतः घटा हुआ वायुभार (*Low atmospheric pressure*), वायु में अत्यधिक नमी, पीने के पानी में खनिजों की उपस्थिति, जीवाणु संक्रमण आदि में से कोई भी कारण हो।

रोगी दिन भर लगभग स्वस्थ रहता है किन्तु रात में पेट भारी हो जाता है और प्रातःकाल कई बड़े बड़े मटमैले रंग के फेनयुक्त दस्त होते हैं। इसके बाद पेट हल्का हो जाता है और रोगी दिन भर कोई कष्ट अनुभव नहीं करता। स्थान परिवर्तन से यह रोग स्वयमेव शांत हो जाता है किन्तु कुछ मामलों में शान्ति न होकर संग्रहणी (*sprue*) रोग की उत्पत्ति हो जाती है।

(५) चिरकारी अग्न्याशय (क्लोम) प्रदाह (*chronic pancreatitis*)–इस रोग की उत्पत्ति अग्न्याशयिक रस (*Pancreatic secretion*) के प्रदाह में पित्ताश्मरी अथवा अग्न्याशयिक अश्मरी अथवा अर्बुदादि के कारण रुकावट होने तथा जीवाणुओं का संक्रमण होने से होती है। इसमें अग्न्याशय के शीर्षभाग का और कभी कभी पूरे अग्न्याशय का तन्तूत्कर्ष होता है।

चिरकारी वसायुक्त अतिसार, हल्का कामला, कभी कभी अग्न्याशय से कंधे तक शूलवत् पीड़ा, अपचन और मधुमेह आदि लक्षण होते हैं। मांस और वसा का क्षय होता है। रोग दीर्घकाल तक चलता है। मृत्यु अत्यधिक कमजोरी से अथवा किसी अन्य रोग की उत्पत्ति से होती है।

सहज अग्न्याशय तन्तूत्कर्ष (*Congenital fibrosis of the pancreas*)—यह जन्मजात रोग बहुत कम पाया जाता है। लक्षण जन्म होते ही प्रकट हो जाते हैं। उदर फूला हुआ रहता है और पीले वसायुक्त बड़े बड़े दस्त बारम्बार होते हैं। प्रतिश्याय भी रहता है और मांसक्षय अत्यधिक होता है। वर्ष के भीतर ही मृत्यु हो जाती है अन्यथा शोष रोग (*Coeliac disease*) हो जाता है।

(६) अन्तिम खण्डीय क्षुद्रान्त्र प्रदाह (*Terminal or regional ilitis, Crohn's disease*)–इस

रोग का वर्णन डा. क्रोन ने सन् १६३२ में किया था। इस रोग में क्षुद्रान्त्र के निचले १२ से १८ इञ्च तक लम्बे भाग में प्रदाह होता है। श्लैष्मिक कला मोटी और शोथयुक्त हो जाती है तथा लसकणों की वृद्धि होती है। आन्त्र नलिका संकीर्ण हो जाती है और बाहिरी दीवार अन्य अंगों से संलागों के द्वारा जुड़ जाती है। फिर व्रणों की उत्पत्ति होती है जो आगे नाड़ीव्रण बन जाते हैं। टटोलने से उदर के दाहिने आन्त्रीय भाग (*Right iliac region*) में एक पिण्ड की उपस्थिति ज्ञात होती है। अंगुलियां मुदगरवत हो जाती हैं।

अत्यन्त पतले जलीय अतिसार, हृल्लास (कभी कभी वमन भी), उदर के दाहिने भाग में तीव्र शूल, हल्का ज्वर आदि लक्षण होते हैं। बीच बीच में कुछ काल के लिये रोग शान्त होजाता है; उस समय मलावरोध रहता है। रक्त में श्वेत कणों की वृद्धि और लाल कणों का क्षय होता है। रोगी अत्यन्त कमजोर होता जाता है। मांसक्षय अत्यधिक होता है।

रोग विनिश्चय क्ष-किरण से होता है। शीघ्र ही शस्त्र-चिकित्सा का प्रयोग आवश्यक है।

(७) चिरकारी कीटाणवीय और दण्डाणवीय प्रवाहिका— इसी अध्याय में आगे देखिये।

(८) अजीर्णजन्य अतिसार—चिरकारी अजीर्ण रोग में अन्नप्रणाली की जीवाणु-विरोधी क्षमता नष्टप्राय हो जाती है जिससे जीवाणु संक्रमण होकर अतिसार होता है। विना जीवाणु संक्रमण के भी अजीर्ण अन्न आंतों में सड़कर क्षोभ उत्पन्न करता है जिससे भी अतिसार होता है। अकाल के दिनों में अखाद्य पदार्थों के खाने से भी आंतों में क्षोभ होकर अतिसार होता है। विशेष वर्णन अजीर्ण रोग में देखें।

(९) सूतिकाजन्य अतिसार—(*sutika, Puerperal Diarrhoea*)—कभी कभी निर्धन बहु-प्रसवाओं में यह रोग प्रसव के बाद पाया जाता है। कारण अनिश्चित है। अतिसार जिन जिन कारणों से हो सकता है उनमें से एक या अनेक हो सकते हैं।

थोड़े थोड़े दिनों पर प्रातःकालिक अतिसार के आक्रमण होते हैं। मल पीला, फेनयुक्त और दुर्गन्धित रहता है। बीच बीच में कुछ समय तक मलावरोध रहता है। मुंह में छाले रहते हैं, रक्तक्षय होता है और क्रमशः कमजोरी बढ़ती जाती है। कभी कभी साधारण अन्येद्युष्क ज्वर भी उपस्थित रहता है। रोग दीर्घकाल तक पुनरावर्तन पूर्वक रहा आता है, यदि इस बीच गर्भाधान हुआ तो दशा भयंकर हो जाती है।

(१०) जानपदिक शोथ—(*Epidemic Dropsy*) इस रोग का आरम्भ अतिसार होकर ही होता है और बाद की अवस्थाओं में अतिसार के आक्रमण होते रहते हैं। इसका वर्णन ज्वर प्रकरण में हो चुका है।

(११) त्वग्राह—(Pellagra) वैसे यह रोग विशेषतः मुख और त्वचा को प्रभावित करता है किन्तु इसकी अत्यन्त बढ़ी हुई अवस्था में उदर-पीड़ा और शूलसह अतिसार हुआ करता है। लक्षण बहुत कुछ संग्रहणी के समान होते हैं।

त्वग्राह रोग का वर्णन अध्याय ४६ में देखें।

(१२) दूषीविष (Chronic Irritant Poisoning) पारद, मल्ल, अंजन आदि के दुष्प्रभाव से अथवा इनके लगातार शरीर में प्रविष्ट होते रहने से चिरकारी अतिसार की उत्पत्ति हो सकती है। विष के लक्षण और विषप्रकोप का इतिहास निदान में सहायक होते हैं।

(१३) आभ्यन्तर गर प्रकोप–(Auto-intoxication) मूत्र-मयता (Uraemia), मधुमेह, वातरक्त (Gout), ऐडीसन के रोग (Addison's Disease) विषाक्त गलगण्ड (Toxic Goitre) आदि रोगों में शरीर से स्वस्थावस्था में निकलते रहने वाले मलों का निकलना बंद हो जाता है जिससे अन्नप्रणाली में क्षोभ होकर अतिसार उत्पन्न होता है।

(१४) कृमिरोग (*Helminthiasis*)—कई प्रकार के कृमि आंतों में क्षोभ उत्पन्न करते हैं। रोगविनिश्चय मल में कृमि या उनके अण्डे पाये जाने से होता है। विस्तृत वर्णन अध्याय ७ कृमिरोग में देखें।

(१५) पूयदन्त (*Pyorrhoea Alveolaris*)—इस रोग में मसूढ़ों का चिरकारी पाक होता है जिसका पूय भोजन के साथ आमाशय और आंतों में पहुँच कर वहां भी प्रदाह उत्पन्न करता है जिसके फलस्वरूप चिरकारी अतिसार होता है। चिरकारी अतिसार के प्रत्येक रोगी के मसूढ़ों की परीक्षा प्रारम्भ में ही करनी चाहिये। यदि मसूढ़ों से पूय निकलता हो तो पूयदन्त की चिकित्सा नितान्त आवश्यक है, उसके बिना अतिसार की चिकित्सा कदापि सफल नहीं होसकती।

(१६) औदरीय कर्कटार्बुद (*Abdominal carcinoma*)—आमाशय, अग्न्याशय अथवा बृहदन्त्र में कर्कटार्बुद की उपस्थिति में आन्त्र का व्यास (*Lumen*) अत्यन्त संकीर्ण होने के पूर्व चिरकारी अतिसार या रक्तातिसार होसकता है। इस रोग में मल में रक्त जाता है जो सामान्य चिकित्सा और दुग्धाहार करते हुए भी बन्द नहीं होता। रोगविनिश्चय क्ष-किरण से होता है।

विशेष वर्णन अध्याय १८ में देखें।

(१७) वातनाड़ी प्रक्षोभ (*Hyper-excitable Nervous Reflex*)—कुछ लोगों की वात नाड़ियां अत्यन्त संवेदनशील होती हैं जिसके फलस्वरूप भोजन अत्यन्त तीव्र गति से अन्नप्रणाली को पार करता हुआ मलद्वार से अतिसार के रूप में निकल जाता है। भोजन करने के बाद लगभग तुरन्त ही अतिसार होजाता है, अधिकतर यह रोग सहज (जन्मजात) ही होता है अथवा अत्यन्त गम्भीर प्रकार के भय शोक आदि से भी यह दशा होजाती है। इस प्रकार अतिसार होते रहने से सभी धातुओं का क्षय होता है। रोगविनिश्चय क्ष-किरण द्वारा बेरियम आहार की गति देखने से होता है।

(१८) वृद्धावस्था और जीर्णावस्था का मारक अतिसार—अत्यन्त वृद्धावस्था, में और राजयक्ष्मा, कालज्वर, कर्कटार्बुद वृक्क प्रदाह, यकृत-रोग, कृमि रोग आदि रोगों से दीर्घकाल तक पीड़ित रहने के बाद उत्पन्न होने वाली अत्यन्त दुर्बलता की दशा में आंतों की धारक शक्ति नष्ट होजाने से अथवा जीवाणु संक्रमण होने से अथवा पाचन क्रिया विकृत होजाने से चिरकारी अतिसार की उत्पत्ति होती है। लक्षण कारण के अनुरूप, उक्त प्रकारों में से किसी एक के समान होते हैं। अत्यन्त दुर्बलता के कारण इस प्रकार का अतिसार प्रायः घातक हुआ करता है।

(१९) मलावरोधजन्य अतिसार—कुछ लोगों को मलावरोध की शिकायत रहा करती है; मल जब बड़ी आंत में बुरी तरह भर चुकता है तब उससे आंतों में क्षोभ होकर अतिसार उत्पन्न होजाता है। मल निकल चुकने पर रोग स्वयमेव शांत होजाता है। इस प्रकार अतिसार और मलावरोध का क्रम चक्रवत् चलता रहता है। इस रोग में संग्रहणी का भ्रम हो सकता है किन्तु उदर टटोलकर अथवा गुदा-परीक्षा करके सरलतापूर्वक विभेद किया जासकता है। इस रोग में आंतों में मल के गोटे अवश्य मिलते हैं और पतले मल के साथ भी गुठली के समान गोटे निकलते हैं, यह बात संग्रहणी में नहीं होती।

(*iii*) प्रवाहिका (*Dysentery*)—इसके ३ मुख्य प्रकार हैं—(१) दण्डाण्वीय, (२) कीटाण्वीय और (३) कृमिज। विषमज्वर, कालज्वर, राजयक्ष्मा, कर्कटार्बुद आदि के उपद्रव स्वरूप भी प्रवाहिका की उत्पत्ति होती है।

(१) दण्डाण्वीय प्रवाहिका (*Bacillary Dysentery*)—यह रोग अधिकतर वर्षा ऋतु के प्रथम चरण में महामारी के रूप में फैलता है, वैसे इसके फुटकर रोगी सभी ऋतुओं में पाये जाते हैं। किसी भी आयु या जाति के व्यक्ति पर इसका आक्रमण हो सकता है। वैसे यह संसार के लगभग सभी देशों

में पाया जाता है किन्तु उष्ण देशों में अधिक पाया जाता है। उत्पादक कारण शिगा (*Shiga*) फ्लैक्स्नर (*flexner*), सोने (*Sonne*) स्पिट्ज (*Schmitz*) आदि दण्डाणु हैं। ये अधिकतर संक्रमित खाद्य पेयों के साथ उदर में पहुंच कर रोगोत्पत्ति करते हैं। खाद्यों में इनका संक्रमण मक्खियों के द्वारा और जल में रोगी व्यक्ति के द्वारा मलोत्सर्ग के बाद गुदा शुद्धि करने से होता है। चयकाल लगभग १ सप्ताह है। थकावट, कमजोरी, अजीर्ण, बाल्यावस्था, शीत लग जाना आदि परिस्थितियां रोगाक्रमण में सहायक होती हैं। रोग अधिकतर तीव्र प्रकार का होता है किन्तु चिरकारी प्रकार भी यदा कदा पाया जाता है।

सौम्य प्रकार में वृहदन्त्र के निचले भाग में और उग्र प्रकार में पूरे वृहदन्त्र तथा कभी कभी क्षुद्रान्त्र में भी रक्ताधिक्य और शोथ होकर, श्लैष्मिक कला में कोथ और व्रणोत्पत्ति होती है। यदि रोग घातक न हुआ तो व्रणों में दानों और तन्तुओं की उत्पत्ति होकर उनका पूरण हो जाता है। कभी कभी कुछ कोषार्बुद (C*yst*) के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं जिनमें तृणाणु दीर्घकाल तक निवास करते रहते हैं। कुछ व्रणों में अर्श के समान अंकुर(*Polypoid growths*) उत्पन्न होते हैं। रोग की तीव्रावस्था में प्लीहा और वृक्कों में रक्ताधिक्य और शोथ होता है।

सामान्य प्रकार का आक्रमण अधिकतर ज्वर के साथ होता है। ज्वर १०२°-१०३° तक रह सकता है। और कुछ मामलों में शीत कम्प के साथ बढ़ता है। प्रारम्भ में बार बार मरोड़ के साथ पतला या गाढ़ा मल निकलता है किन्तु शीघ्र ही मल की मात्रा कम हो जाती है और केवल कफ अथवा रक्तयुक्त कफ अत्यधिक मरोड़ के साथ निकलने लगता है। दस्तों की संख्या बहुत अधिक (५० या १०० तक) हो सकती है। कमजोरी अत्यधिक आती है। जीभ मलयुक्त तथा नाड़ी चंचल रहती है। मूत्र अधिकतर कष्ट के साथ उतरता है। कुछ को गुदभ्रंश होजाता है। अत्यधिक कष्ट और कमजोरी के कारण कुछ रोगियों की मृत्यु हो जाती है किन्तु अधिकांश रोगी एक सप्ताह या अधिक काल में या तो स्वस्थ हो जाते हैं अथवा रोग की तीव्रता कम होकर चिरकारी अवस्था प्रारम्भ हो जाती है। बच्चों पर इसका आक्रमण कभी आक्षेप आकर होता है और कुछ मामलों में लक्षण प्रकट होने के पूर्व ही मृत्यु हो सकती है।

सौम्य प्रकार में ज्वर या तो अनुपस्थित रहता है अथवा अत्यन्त हल्का रहता है। प्रारम्भ अधिकतर अतिसार होकर होता है जिसमें कफ की मात्रा क्रमशः बढ़ती जाती है। मरोड़ साधारण होती है और दिन भर में ८-१० से अधिक दस्त नहीं होते। लगभग १ सप्ताह में रोग शांत हो जाता है अथवा चिरकारी अवस्था को प्राप्त हो जाता है। कुछ मामलों में रोग थोड़े थोड़े दिनों के बाद बार बार प्रकट होता है—पुनरावर्तक प्रकार।

घातक प्रकार (Fulminant Type) में रोग प्रारम्भ तीव्र ज्वर (१३°-१०४° या अधिक) के साथ होता है। मांस के धोवन के समान रंग के अत्यन्त पतले कफ मिश्रित या कफरहित बदबूदार दस्त बार-बार होते हैं। विषमयता के लक्षण उपस्थित रहते हैं। शीघ्र ही अथवा १-२ दिनों में निपात होकर मृत्यु हो जाती है। कभी कभी वमन भी अत्यधिक होते हैं और मरोड़ अधिकतर नहीं रहती जिससे विसूचिका के समान लक्षण हो जाते हैं—विसूचिकीय प्रकार (Choleraic Type) इसमें और भी शीघ्र मृत्यु होती है। इन दोनों प्रकारों में जलाल्पता (Dehydration) होती है।

दस्तों की संख्या रोग के बल पर निर्भर रहती है। मल सामान्य प्रकार में पहले पतला या गाढ़ा रहता है फिर उसके साथ कफ भी जाने लगता है। कफ की मात्रा बढ़ती जाती है और मल की मात्रा कम होती जाती है। फिर कफ के साथ रक्त भी आने लगता है। यदि रोग का बल अधिक हुआ तो अत्यधिक रक्त निकलता है। अधिक तीव्र प्रकार

में केवल रक्त (मल और कफ विहीन) निकलता है जब कि सौम्य प्रकार में अधिकतर रक्त नहीं निकलता अथवा अत्यन्त कम मात्रा में निकलता है। ३-४ दिनों के बाद रक्त पूय में परिवर्तित होने लगता है जिससे रंग कुछ फीका पीताभ हो जाता है। अन्त में पित्तारंजक पदार्थ निकलना आरंभ होता है जिससे दस्त का रंग क्रमशः भूरा और फिर पीला होता जाता है; कफ और रक्त क्रमशः अदृष्य हो जाते हैं। घातक प्रकार में गहरे रंग का परिवर्तित रक्त पतला या गाढ़ा अत्यधिक मात्रा में निकलता है अथवा हरे रंग का (पित्तरंजित) कफ थोड़े थोड़े रक्त के साथ निकलता है। विशूचिकीय प्रकार में आंतों की श्लैष्मिक कला का कोथ होता है जिससे मल रक्त-लसिका (Serum) के समान होता है और उसके साथ श्लैष्मिक कला के छिलके रहते हैं।

मलपरीक्षा में कारणभूत दण्डाणु, वह्वाकारी कायाणु, भक्षक कोष, राक्षक कोष, आंतों की उपत्वचा (Epithelium) और अन्तःत्वचा (Endothelium) के कोष और लाल रक्तकण मिलते हैं।

उपद्रव—वारम्बार प्रवाहण करने से बहुत से मामलों में गुदभ्रंश हो जाता है। कुछ में विशेषतः बच्चों में आन्त्रान्तर प्रवेश (Intussusception) हो सकता है। दण्डाणु या उनका विष रक्त प्रवाह में मिलकर हृत्पेशी प्रदाह, हृदयावरण प्रदाह, उदरावरण प्रदाह, जलोदर, संधिप्रदाह (अधिकतर घुटने का), नेत्रप्रदाह, शाखाओं की वातनाड़ियों का प्रदाह, पाषाणगर्दभ आदि रोग उत्पन्न कर सकता है। आन्त्र के व्रणों में से मालागोलाणु अथवा आन्त्र-दण्डाणु रक्त में प्रविष्ट होकर दोषमयता (Septicaemia) उत्पन्न कर सकते हैं। हृदय अथवा वृक्कों का अतिपात (Failure) फुफ्फुसखण्ड प्रदाह, मूत्र-नलिकाप्रदाह, रक्तस्रावी उद्भेद आदि भी पाये गये हैं।

चिरकारी अवस्था—यह अधिकतर तीव्र अवस्था के बाद ही प्राप्त होती है किन्तु कुछ मामलों में रोगप्रतिरोधी क्षमता के कारण अथवा अत्यन्त अल्प संख्यक या अल्प बलयुक्त दण्डाणुओं के प्रवेश के कारण प्रारम्भ से भी हो सकती है। इस अवस्था में पाचन क्रिया में गड़बड़ी रहा करती है। भोजन में अव्यवस्था होने से अतिसार या प्रवाहिका के आक्रमण समय पर होते रहते हैं। उदरशूल या आशयभ्रंश (उदर के अवयव अपने स्थान से हट जाना, Visceroptosis) अक्सर हो जाया करता है। रोग पुराना होने के साथ-साथ पाचन क्रिया और भी बिगड़ती जाती है। २-४ या अधिक पतले या कुछ गाढ़े दस्त प्रतिदिन होने लगते हैं। रोगी की शारीरिक और मानसिक शक्ति का क्षय होता जाता है। रङ्ग फीका मटमैला सा हो जाता है, त्वचा शुष्क और खुरदरी हो जाती है और केश झड़ जाते हैं। यदि चिकित्सा न हुई तो अत्यन्त कमजोरी से अथवा किसी अन्य रोग से मृत्यु हो जाती है।

(२) कीटाणवीय (कामरूपी) प्रवाहिका (Amoebic Dysentery)—मनुष्यों की आंतों में ५ प्रकार के अमीबा कीटाणु (Amoeba) पाये जाते हैं जिनमें से केवल धातुनाशी अन्तःकीटाणु (Entamoeba Histolytica) प्रवाहिका रोग की उत्पत्ति करता है। रोगी के मल से संक्रमित जल या भोजन (मक्खियों के द्वारा) के साथ यह स्वस्थ मनुष्य के शरीर में प्रविष्ट होकर उण्डुक (Caecum) की उपश्लैष्मिक धातु (Submucous Tissue) में निवास करता है। वहां रहकर यह एक प्रकार का किण्व (Ferment) निकालता है जिसके प्रभाव से आन्त्र की कला का कोथ होकर झिल्लियां निकलती हैं और अन्तःकीटाणुओं को अपनी वंशवृद्धि के लिये स्थान मिलता है। आन्त्र की कला में पीले से रङ्ग की छोटी छोटी फुंसियों की उत्पत्ति होती है। इन फुंसियों का भीतरी आकार सुराही के समान होता है—मुख अत्यन्त छोटा किन्तु गुहा बड़ी और

गोल। कुछ काल बाद ये फुंसियां फूटकर व्रण बन जाती हैं। कुछ अन्तःकीटाणु आन्त्र-नलिका में घूमते-फिरते हैं और मल के साथ निकलते हैं। यदि रोगी में थोड़ी बहुत रोगप्रतिकारक क्षमता हुई अथवा चिकित्सा का आश्रय लिया गया तो कुछ काल बाद व्रण भरने लगते हैं अन्यथा उनकी वृद्धि होती जाती है यहां तक कि आन्त्र में छिद्र तक हो सकता है। इस दशा में आन्त्र-तृणाणुओं का भी संक्रमण हो सकता है। ऐसी अवस्था में दशा घोरतर हो सकती है।

आक्रान्त भाग की रक्तवाहिनियां रक्त जम जाने से अवरुद्ध रहती हैं इसलिये अधिकांश मामलों में अधिक रक्तस्राव नहीं होता। किंतु कभी कभी गहरा व्रण बनने से रक्तवाहिनी का मुख खुलकर गम्भीर रक्तस्राव हो सकता है। कुछ मामलों में धातुनाशी अन्तःकीटाणु रक्तवाहिनियों में प्रविष्ट होकर यात्रा करते हुये यकृत, फुफ्फुस, मस्तिष्क आदि में पहुँच कर विद्रधि उत्पन्न करते हैं।

यह रोग विशेषतः वयस्कों पर आक्रमण करता है। बच्चों पर शायद ही कभी आक्रमण होता है। चयकाल २० दिन से ३ माह तक का हो सकता है। यह रोग ५ प्रकार का होता है—तीव्र, अतितीव्र, चिरकारी, गुप्त और पुनरावर्तक।

तीव्र प्रकार का आक्रमण अचानक होता है। उदर में नाभि के आसपास पीड़ा होती है और प्रतिदिन १०-१५ कफ और रक्त मिले हुये दस्त होते हैं। मरोड़ बहुत कम होती है किन्तु यदि अवग्रहान्त्र (Sigmoid) भी आक्रान्त हो तो मरोड़ अधिक हो सकती है। ज्वर प्रायः नहीं रहा करता किंतु अन्य जीवाणुओं का संक्रमण होने पर रह सकता है। कुछ समय बाद ये लक्षण बिना चिकित्सा किये भी शांत हो जाते हैं और रोग चिरकारी प्रकार में परिवर्तित हो जाता है। कुछ मामलों में थोड़े थोड़े समय पर रोग का आक्रमण बारम्बार होता है-पुनरावर्तक प्रकार।

अतितीव्र (Fulminating or Gangrenous) प्रकार में तीव्र ज्वर, भयंकर उदरशूल, अवसाद और उदरावरण प्रदाह के लक्षण होते हैं, दस्त के साथ काले रंग के मकड़ी के जाले के समान आंत की श्लैष्मिक कला के छिलके निकलते हैं। यह प्रकार कभी कभी मारक होता है।

चिरकारी प्रकार में रोगी लगभग स्वस्थ व्यक्तियों के समान अपना काम धन्धा करता रहता है। पाचन क्रिया में थोड़ी सी गड़बड़ी रहा करती है। खाने-पीने में अव्यवस्था होने से अतिसार या प्रवाहिका का आक्रमण हो जाया करता है। यह दशा वर्षों चलती रहती है और स्वास्थ्य धीरे धीरे गिरता जाता है। कुछ मामलों में चिरकारी अतिसार उत्पन्न हो जाता है। कुछ रोगियों को मलावरोध रहता है। हृल्लास, आन्त्रशूल आदि लक्षण समय समय पर प्रकट होते रहते हैं। अतिसार या प्रवाहिका नहीं होती। जिह्वा मलयुक्त रहती है, पाचन क्रिया में गड़बड़ी (विशेषतः भूख न लगना और भोजन देर से पचना) रहती है और कमजोरी बढ़ती जाती है।

गुप्त प्रकार में कोई लक्षण नहीं मिलते और न रोगी को कोई विशेष कमजोरी ही आती है। मल में धातुनाशी अन्तःकीटाणु के कोष मिलते हैं जो दूसरों के शरीरों में पहुँचकर रोग फैलाते हैं।

मल की आकृति और दस्तों की संख्या रोग की तीव्रता के अनुसार होती है। सामान्यतः तीव्र प्रकार में ८ से १२ तक दस्त प्रतिदिन होते हैं जिनमें कफ और रक्त से सना हुआ मल काफी मात्रा में निकलता है तथा उसमें $\frac{1}{3}$ इञ्च से $\frac{1}{2}$ फुट तक या अधिक से अधिक १ फुट लम्बे श्लैष्मिक कला के छिलके पाये जाते हैं, प्रतिक्रिया अम्ल रहती है। दूसरे मामलों में मल हरे या पीताभ वर्ण का हो सकता है और उसमें रक्त भले ही न हो किन्तु कफ अवश्य रहता है। चिरकारी प्रकार में मल में थोड़ा बहुत कफ सदैव उपस्थित रहता है। मल में दुर्गन्ध अवश्य रहती है

किन्तु अतितीव्र प्रकार में सड़े हुए मांस के समान असह्य दुर्गन्ध रहती है। सूक्ष्मदर्शक यंत्र से परीक्षा करने पर सभी प्रकारों में धातुनाशी अन्तःकीटाणु या उनके कोष मिलते हैं।

रोग की तीव्रावस्था में रक्त में श्वेतकायाणूत्कर्ष १०००० या इससे भी अधिक मिलता है। चिरकारी प्रकार में रोग के लक्षण अप्रकट रहने की दशा में श्वेतकायाणुओं की कुल संख्या सामान्यवत् रहती है किन्तु बहुकारी कायाणुओं का क्षय तथा लसकायाणुओं और उषसिप्रिय कायाणुओं की वृद्धि पाई जाती है। लाल रक्तकणों का क्षय होता है जो कि चिरकारी प्रकार में अधिक स्पष्ट देखा जा सकता है।

उपद्रव—पादशोथ और रक्तक्षय सहित चिरकारी अतिसार, अम्लपित्त, शीतपित्त, श्वित्र (Leucodermia), त्वचा पर काले धब्बे (नीलिका), आन्त्र-पुच्छ प्रदाह (Appendicitis), उदरावरण प्रदाह, आन्त्रभेद (perforation), बृहदन्त्र में प्रदाह या विद्रधि, गम्भीर रक्तातिसार, कीटाण्वीय कणार्बुद (Amoebic granuloma, Amobioma), संधि-प्रदाह (Arthritis), वातनाड़ी प्रदाह, मांसपेशी प्रदाह (Myositis), यकृत प्रदाह, यकृत विद्रधि, यकृदाल्युत्कर्ष, पित्ताशय प्रदाह, प्लीहाविद्रधि, फुफ्फुस विद्रधि, मस्तिष्क विद्रधि, त्वचा-कर्दम, अन्य कई प्रकार के त्वचागत रोग, वृक्कप्रदाह, ज्वर आदि। इन सबके समाहार को अमीबीयता (Amoebiasis) कहते हैं।

यह प्रवाहिका घातक नहीं होती किन्तु अत्यधिक कमजोरी से अथवा उपद्रवों से मृत्यु हुआ करती है।

अन्य कीटाण्वीय प्रवाहिकाएं—गार्डिया या लम्बिया नामक आन्त्रवासी कीटाणु (Giardia or Lamblia Intestinalis) जन्य प्रवाहिका अक्सर पायी जाती है। कभी कभी बैलेन्टाइडम नामक बृहदन्त्र-वासी कीटाणु (Balantidum Coli) जन्य प्रवाहिका भी पायी जाती है। ये प्रवाहिकाएं चिरकारी और पुनरावर्तक प्रकार की होती हैं और इनके रोगियों में बालकों की संख्या अधिक रहती है। मटमैले रंग का कफयुक्त मल कभी पतला और कभी गाढ़ा दिन में ५-१० बार निकलता है। हृल्लास अधिक होता है। अधिकांश मामलों में उदरशूल उपस्थित रहता है। जिह्वा मल-युक्त रहती है और क्षुधा नष्ट हो जाती है। बैलेन्टाइडम कीटाणु बृहदन्त्र में गम्भीर व्रण उत्पन्न करता है।

(३) कृमिज प्रवाहिका—वर्णन अध्याय ७ में देखें।

(iv) बृहदन्त्र प्रदाह (Colitis)—

(अ) तीव्र बृहदन्त्र प्रदाह (Acute Colitis)—यह या तो आमाशय और क्षुद्रान्त्र के प्रदाह के फल-स्वरूप होता है अथवा राजयक्ष्मा, आन्त्रिक ज्वर, वातश्लेष्मक ज्वर, रोमान्तिका आदि के उपद्रव स्वरुप होता है अथवा आंत्र में किसी अर्बुदादि की उत्पत्ति के फलस्वरूप अथवा मूत्रमयता के कारण होता है। इसमें ज्वर, अतिसार, उदरपीड़ा, अवसाद आदि लक्षण होते हैं। मल पतला और कफयुक्त रहता है; कभी कभी रक्त भी मिला होता है। दिन भर में कई दस्त होते है।

(ब) चिरकारी बृहदन्त्र प्रदाह (Chronic Colitis) इसके ३ प्रकार हैं—

(१) चिरकारी प्रसेकी (प्रतिश्याय जन्य) बृहदन्त्र प्रदाह (Chronic catarrhal colitis)—इसकी उत्पत्ति प्रतिश्याय का कफ निगलने से, आन्त्र-पुच्छ प्रदाह के प्रभाव से, खाद्य पेयादि के द्वारा जीवाणु उपसर्ग होने से तथा क्षोभक पदार्थों (रेचक पदार्थ-सनाय, जयपाल आदि; कटु पदार्थ यथा मरिच आदि) के सेवन से होती है। अतिसार इसका प्रधान लक्षण है। मल पतला रहता है और उसमें कफ तथा कभी कभी रक्त भी मिला रहता है। कभी कभी रक्तातिसार भी हो सकता है।

(२) चिरकारी व्रणीय बृहदन्त्र प्रदाह—(chronic Ulcerative colitis) इसमें बृहदन्त्र (विशेषतः श्रोणीय भाग) की श्लैष्मिक कला का दारण होकर व्रणों की उत्पत्ति होती है। कारण अनिश्चित है।

कुछ मामलों में आन्त्र गोलाणु (Enterococcus) और कुछ मामलों में कोई जीवाणु नहीं पाये गये। रोग का आक्रमण ३०-४० वर्ष की आयु में या इसके लगभग ही होता है। इसमें सौम्य प्रकार का अन्येद्युक ज्वर रहता है और १०-२० पतले दस्त प्रतिदिन होते हैं जिनमें कफ, पूय और रक्त मिला रहता है। बीच बीच में कुछ काल के लिये दस्तों की संख्या और पतलेपन में कमी आ जाती है किन्तु कफ, पूय और रक्त अवश्य उपस्थित रहते हैं। मांसादि का क्षय तेजी के साथ होता है। उदर में पीड़ा, मरोड़ आदि लक्षण प्रायः नहीं मिलते।

(३) वृहदन्त्र श्लेष्म-कला प्रदाह (Muco-membraneous Colitis)–यह रोग स्त्रियों में अधिक और पुरुषों में बहुत कम पाया जाता है। मलावरोध और नाड़ी मण्डल की अत्यधिक संवेदन-शीलता इसकी उत्पत्ति में सहायक होते हैं। मूल कारण अज्ञात है। वृहदन्त्र में कोई खास विकृति देखने में नहीं आई।

वृहदन्त्र में आक्षेप होते हैं और कफस्राव होता है। यह कफ दीर्घकाल तक रुका रहने पर जमकर कला-निर्मोकों (Membraneous Casts) का रूप धारण कर लेता है। ये निर्मोक मल के साथ निकलते रहते हैं। उदर में नाभि के बायीं ओर तथा नीचे की ओर पीड़ा रहती है। आक्षेपों के समय पर शूलवत् वेदना होती है। रोग पुराना होने पर नाड्यवसन्नता (Neurasthenia) और कुछ मामलों में रोगकल्पनोन्माद (Hypochondriasis) तक हो जाता है।

(V) मलाशय-प्रदाह (proctitis, Inflammation of the Rectum)—प्रवाहिका और वृहदन्त्रप्रदाह का प्रसार होने के फलस्वरूप, अथवा गुह्यगोलाणुओं या फिरंग चक्राणुओं का प्रवेश गुदा-मार्ग से होने से (गुदा-मैथुन के द्वारा अथवा स्त्रियों में योनि का स्राव गुदा तक पहुँचने से), अथवा सूखे हुए मल-पिण्डों, बाह्य पदार्थों, कृमियों या तीव्र वस्ति-विरेचनों के द्वारा क्षोभ उत्पन्न होने से मलाशय की श्लैष्मिक कला का प्रदाह होता है।

रोगी मलाशय में भारीपन का अनुभव करता है। उसे ऐसा प्रतीत होता है जैसे मलाशय में बहुत सा मल भरा हो अथवा कोई बाह्य पदार्थ फंसा हुआ हो। मलाशय में पीड़ा होती है जिसकी लहर ऊपर कुक्षि तक और नीचे पैरों तक जाती है। अत्यधिक मरोड़ के साथ एक दम पतले जलीय दुर्गन्धित दस्त होते हैं जिनमें बहुतसा कफ और कभी-कभी थोड़ा-थोड़ा रक्त भी मिला रहता है। गुदा के आस-पास की त्वचा भी गलने और उधड़ने लगती है। कुछ रोगियों के मूत्राशय में प्रक्षोभ की लहर पहुँचने से बार-बार मूत्र-प्रवृत्ति भी होती है।

मलाशय की परीक्षा करने पर श्लैष्मिक कला में शोथ और रक्ताधिक्य पाया जाता है। प्रभावित भाग छूने से गरम प्रतीत होता है।

(VI) मलाशय व्रण (Ulceration of the Rectum)–जिन कारणों से मलाशय-प्रदाह होता है लगभग उन सभी कारणों से मलाशय में व्रणों की उत्पत्ति भी होसकती है। व्रण एक या अनेक एवं
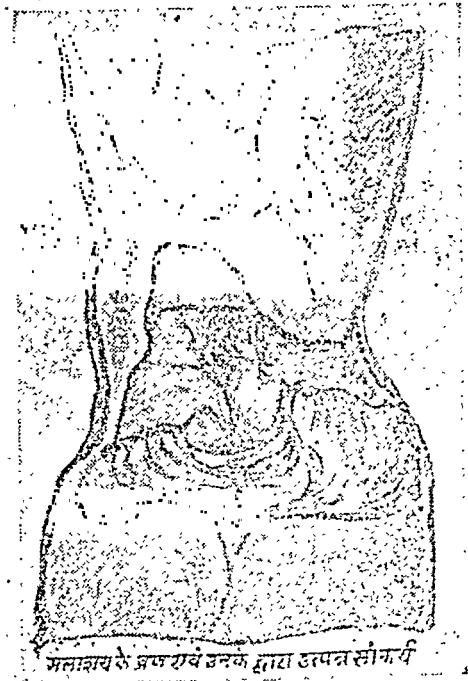
मलाशय के व्रण एवं उनके द्वारा उत्पन्न संकीर्णता

छोटे या बड़े होसकते हैं। व्रणों के आस-पास की कला में रक्ताधिक्य होता है। कुछ मामलों में अर्श, अर्बुद आदि की भी उपस्थिति पायी जा सकती है।

प्रथम और प्रधान लक्षण प्रातःकालीन अतिसार (प्रवाहिका) है। प्रातःकाल सोकर उठने के बाद तुरन्त ही रोगी को शौच के लिये जाना पड़ता है किन्तु मल के स्थान पर पतला पूय एवं कफ युक्त अतिसार होता है अथवा पिसी हुई काँफी के रंग का (परिवर्तित रक्त) अतिसार होता है। मरोड़ बहुत अधिक होती है और उदर एवं गुदा में भारीपन रहा आता है जिससे रोगी बार-बार शौच के लिये जाता है। अन्त में बंधे हुए मल का एक पाखाना होता है जिसके बाद उदर और गुदा में हल्कापन आ जाता है और रोगी दिन भर के लिये स्वस्थ-प्राय होजाता है, दूसरे दिन पुनः यही लक्षण होते हैं। व्रणों के बढ़ने पर गुदा और उदर में मन्द पीड़ा लगातार रहने लगती है और मलत्याग की प्रवृत्ति बढ़ जाती है। कुछ रोगियों को आध्मान हुआ करता है और कुछ को मलावरोध और अतिसार पारी-पारी से हुआ करते हैं।

अंगुलि या यंत्र से मलाशय की परीक्षा करने पर मलाशय में व्रण मिलते हैं; रोगविनिश्चय कठिन नहीं होता। कुछ रोगियों में गुदा के बाहर विशेष प्रकार के मस्से पाये जाते हैं।

अनिश्चित काल में व्रणों का पूरण होजाता है अथवा लक्षण उग्रतर होजाते हैं।

(VII) मलाशय सांकर्य (Rectal Stricture)– लगभग सभी प्रकार के व्रणों के भरने के बाद मलाशय में सांकर्य (संकीर्णता) उत्पन्न हो सकता है। यह मध्यम आयु का रोग है और स्त्रियों में अधिक पाया जाता है। व्रण के लक्षणों का पूर्व इतिहास सदैव मिलता है।

इसका प्रारम्भिक लक्षण मलावरोध है। यदि वस्ति या विरेचन के द्वारा मल शुद्धि न की जावे तो कई दिनों तक अथवा हफ्तों मल त्याग नहीं होता। फिर मलाशय में संग्रहीत मल से क्षोभ उत्पन्न होकर अतिसार होता है जिसमें कफ, रक्त और पूय मिश्रित पतला मल बारम्बार निकलता है किन्तु सम्यग् उदर शुद्धि नहीं होती। गुद-संकोचिनी पेशी शिथिल हो जाती है जिससे पतले रक्त, कफ और पूय मिश्रित द्रव का स्राव लगभग हमेशा ही होता रहता है। कुछ मामलों में अतिसार न होकर मलावरोध ही गंभीरतर होता जाता है जिससे उदर बढ़ जाता है और क्षुधा नष्ट होजाती है तथा रोगी अत्यन्त क्षीण हो जाता है।

लगभग सभी मामलों में उपद्रव स्वरूप परिमलाशय प्रदाह होकर विद्रधि एवं भगंदर की उत्पत्ति होने की संभावना रहती है।

रोगविनिश्चय यंत्र द्वारा देखने से अथवा क्ष-किरण चित्र द्वारा होता है।

उपर्युक्त रोगों के अतिरिक्त और भी कई रोगों में अतिसार; प्रवाहिका, ग्रहणी आदि के लक्षण मिलते हैं। उन सबका वर्णन इसी ग्रंथ के अन्य अध्यायों में विकीर्ण रूप से मिलेगा।

: ५ :

अर्श रोग

(RECTAL AND ANAL NEW-GROWTHS)

भेद

पृथग्दोषैः समस्तैश्च शोणितात्सहजानि च।
अर्शांसि षट्प्रकाराणि विद्याद्गुदवलित्रये ॥१॥

गुदा की तीन वलियों में होने वाले अर्शों (बवासीर, गुदज, दुर्नाम) को छः प्रकार के जानो—पृथक् वातादि दोषों से (वातज, पित्तज और कफज), सभी दोषों से

(त्रिदोषज), रक्त से (रक्तज) और सहज (जन्म से)।

वक्तव्य—(५६) द्वन्द्वज अर्श भी होते हैं। इसी अध्याय में आगे उनका वर्णन है।

(२) बृहदन्त्र के अन्तिम भाग को गुद कहते हैं। इसमें शंख के आवर्तों के समान ३ बलियां होती हैं—सबसे ऊपर की 'प्रवाहिणी' मध्य की 'विसर्जनी' और सबसे नीचे की 'संवरणी'। संवरणी के बाद गुदौष्ठ प्रारम्भ होता है।

सम्प्राप्ति

दोषास्त्वङ्मासमेदांसि संदूष्य विविधाकृतीन्।
मांसांकुरानपानादौ कुर्वन्त्यर्शांसि तान्जगुः ॥२॥

वातादि दोष त्वचा, मांस और मेद को दूषित करके गुदा आदि अंगों में अनेक प्रकार की आकृति वाले मांस के अंकुरों को उत्पन्न करते हैं, उनको अर्श कहते हैं।

वक्तव्य—(५५) त्वचा और मांस कहने से उनके बीच में स्थित रक्त का भी समावेश हो जाता है। इस प्रकार इस रोग में त्वचा, मांस और मेद दूषित होते हैं।

'गुदा आदि (अपानादौ)' कहने से नासिका, लिंग आदि का भी समावेश हो जाता है। आगे के अध्यायों में नासार्श लिंगार्श आदि रोगों का वर्णन है। चरक ने गुदा के अतिरिक्त स्थानों में होने वाले अर्शों को 'अधिमांस' कहा है किन्तु सुश्रुत और वाग्भट्ट ने अर्श ही कहा है।

वातार्श के निदान

कषायकटुतिक्तानि रूक्षशीतलघूनि च।
प्रमिताल्पाशनं तीक्ष्णं मद्यं मैथुनसेवनम् ॥३॥
लंघनं देशकालौ च शीतौ व्यायामकर्म च।
शोको वातातपस्पर्शो हेतुर्वातार्शसां मतः ॥४॥

कषैले, चरपरे, कड़वे (तिक्त, निम्बवत्), रूखे, शीतल तथा लघु आहार, सीमित एवं थोड़ा भोजन, तीक्ष्ण मद्य, मैथुन, लंघन, शीतल देश, शीत ऋतु, व्यायाम, शोक एवं वायु और धूप का सेवन (स्पर्श)—ये वातार्श के हेतु माने गए हैं।

पित्तार्श के निदान

कट्वम्ललवणोष्णानि व्यायामाग्न्यातपप्रभाः।
देशकालावशिशिरौ क्रोधो मद्यमसूयनम् ॥५॥
विदाहि तीक्ष्णमुष्णं च सर्वं पानान्नभेषजम्।
पित्तोल्वणानां विज्ञेयः प्रकोपे हेतुरर्शसाम् ॥६॥

चरपरे, खट्टे, नमकीन तथा उष्ण पदार्थ, व्यायाम, अग्नि, धूप, उष्ण देश, ग्रीष्म ऋतु, शरद ऋतु, क्रोध, मद्यपान, ईर्ष्या एवं सभी तीक्ष्ण, उष्ण और विदाही अन्न, पेय पदार्थ और औषधियां पित्तार्श के प्रकोप के हेतु हैं।

कफार्श के निदान

मधुरस्निग्धशीतानि लवणाम्लगुरूणि च।
अव्यायामो दिवास्वप्नः शय्यासनसुखे रतिः ॥७॥
प्राग्वातसेवा शीतौ च देशकालावचिन्तनम्।
श्लैष्मिकाणां समुद्दिष्टमेतत् कारणमर्शसाम् ॥८॥

मधुर, स्निग्ध, शीतल, नमकीन, खट्टे एवं भारी पदार्थ, व्यायाम न करना, दिन में सोना, बिस्तर पर पड़े रहने या आसन पर बैठे रहने की आदत, प्रातःकाल की वायु का सेवन, शीतल देश, शीतकाल और निश्चिन्तता—ये कफार्श के हेतु बतलाये गये हैं।

द्वन्द्वज अर्श के निदान

हेतुलक्षणसंसर्गाद्विद्याद् द्वन्द्वोल्वणानि च।

दो दोषों के प्रकोपक हेतु और लक्षण सम्मिलित रूप से मिलने पर द्वन्द्वज अर्श समझना चाहिये।

त्रिदोषज और सहज अर्शों के निदान

सर्वो हेतुस्त्रिदोषाणां, सहजैर्लक्षणं समम् ॥९॥

त्रिदोषज अर्शों के सभी (उपर्युक्त वातार्श, पित्तार्श और कफार्श के) हेतु होते हैं। सहज अर्शों के लक्षण साथ ही (जन्म के समय से ही) उत्पन्न होते हैं।

वक्तव्य—(५७) सहज अर्शों की उत्पत्ति गर्भावस्था में ही हो चुकती है इसलिये इनका हेतु रोगी में मिलना असम्भव है। हां, उसके माता-पिता में मिल सकता है, यदि वे भी सहजार्श से ही पीड़ित न हों।

व्यायाम करने से वातार्श और न करने से कफार्श की उत्पत्ति बतलायी है। इसी प्रकार अन्य आहार-विहार के संबंध में भी यहां और अन्यत्र भी कहा

गया है। कुछ लोग कह सकते हैं कि व्यायाम करने से और न करने से–दोनों प्रकार से रोगोत्पत्ति होती है तो मनुष्य किस प्रकार रहे। इस संबंध में प्रथम अध्याय में ही कहा जा चुका है कि आहार-विहार के अतियोग, हीन योग और मिथ्या योग से रोगों की उत्पत्ति होती हैं सहयोग से नहीं। उचित मात्रा में व्यायाम करना स्वास्थ्यप्रद है किन्तु अधिक व्यायाम करना या व्यायाम का सर्वथा परित्याग –दोनों ही रोगोत्पादक हैं। जहां 'व्यायाम' कहा गया है वहां हीनयोग समझना चाहिये। इसी तरह अन्य आहार-विहार के विषम में समझना चाहिए।

वातार्श के लक्षण

गुदाङ्कुरा बहुनिलाः शुष्काश्चिमचिमान्विताः।
म्लानाः श्यावारुणाः स्तब्धा विशदाः परुषाः खरा। ॥१०॥
मिथो विसदृशा वक्रास्तीक्ष्णा विस्फुटिताननाः।
विम्बीखर्जूरकर्कन्धुकार्पासीफलसन्निभाः ॥११॥
केचित्कदम्बपुष्पाभाः केचित्सिद्धार्थकोपमाः।
शिरःपार्श्वांसकट्यूरुवंक्षणाद्यधिकव्यथाः ॥१२॥
क्षवथूद्गारविष्टम्भहृद्ग्रहारोचकप्रदाः।
कासश्वासाग्निवैषम्यकर्णनादभ्रमावहाः ॥१३॥
तैरार्तो ग्रथितं स्तोकं सशब्दं सप्रवाहिकम्।
रुक्फेनपिच्छानुगतं विबद्धमुपवेश्यते ॥१४॥
कृष्णत्वङ्नखविण्मूत्रनेत्रवक्त्रश्च जायते।
गुल्मप्लीहोदराष्ठीलासंभवस्तत एव च ॥१५॥

वातार्श के मस्से सूखे (स्रावरहित), चुनचुनाहटयुक्त, मुरझाए हुए, लाल-काले रंग के कठोर स्वच्छ (पिच्छिलता रहित), कड़े-खुरदरे, असमान (छोटे बड़े), टेढ़े, सूक्ष्माग्र (अथवा गड़ने या चुभने के समान पीड़ा उत्पन्न करने वाले), फटे मुंह वाले तथा कन्दूरी फल, खजूर, बेर या कपास के फल के समान; कोई कदम्ब पुष्प के समान (बड़े और कंटकित) और कोई सरसों के समान (छोटे और चिकने) होते हैं। ये सिर, पार्श्व, कमर, जांघ, वंक्षण (रान) आदि भागों में अत्यन्त पीड़ा; छींक, डकार, मलावरोध, हृद्रोग, अरुचि, कास, श्वास, विषमाग्नि, कर्णनाद और भ्रम रोग उत्पन्न करते हैं। इनसे पीड़ित व्यक्ति गांठदार, थोड़ा एवं बंधा हुआ मल प्रवाहणपूर्वक त्यागता है। मल त्याग करते समय आवाज होती है और मल निकलने के बाद पीड़ा के साथ फेन और लसदार पदार्थ निकलता है। उसके त्वचा, नख, मल, मूत्र, नेत्र और मुख काले पड़ जाते तथा गुल्म, प्लीहोदर और अष्ठीला रोग हो जाते हैं।

पित्तार्श के लक्षण

पित्तोत्तरा नीलमुखा रक्तपीतासितप्रभाः।
तन्वस्रस्राविणो विस्रास्तनवो मृदवः श्लथाः ॥१६॥
शुकजिह्वा यकृत्खण्डजलौकोवक्त्रसंनिभाः।
दाहपाकज्वरस्वेदतृण्मूर्च्छाऽरुचिमोहदाः ॥१७॥
सोष्माणो द्रवनीलोष्णपीतरक्तामवर्चसः।
यवमध्या हरित्पीतहारिद्रत्वङ्नखादयः ॥१८॥

पित्तार्श के मस्से लाल, पीले या काले वर्ण के एवं नीले मुख (अग्रभाग, नोंक) वाले, पतले रक्त का स्राव करने वाले, दुर्गन्धित, पतले, नरम और शिथिल, तोते की जीभ (लाल, पतली, नरम एवं शिथिल), यकृत (कलेजी *Liver*) का टुकड़ा (नीला या काला, नरम, पतले रक्त का स्राव करने वाला, दुर्गन्धित) या जोंक के मुख (पतला, चपटा, काला, मटमैला) के समान होते हैं। ये दाह (स्थानिक और सार्वांगिक), पाक (गुदपाक), ज्वर, स्वेद, तृष्णा, मूर्च्छा, अरुचि और मोह उत्पन्न करते हैं। जलन के साथ पतला, नीला, पीला या लाल, कच्चा और गर्म मल निकलता है। ये मस्से (या इनमें से कुछ मस्से) यव के समान मध्य में मोटे और छोरों पर पतले होते हैं। इनके कारण त्वचा, नख आदि हरे-पीले या हरिद्रावरण के होजाते हैं।

कफार्श के लक्षण

श्लेष्मोल्वणा महामूला घना मन्दरुजः सिताः।
उत्सन्नोपचितस्निग्धस्तब्ध वृत्तगुरुस्थिराः ॥१९॥
पिच्छिलाः स्तिमिताः श्लक्ष्णाः कण्ड्वाढ्याः स्पर्शनप्रियाः।
करीरपनसास्थ्याभास्तथा गोस्तनसन्निभाः ॥२०॥
वङ्क्षणानाहिनः पायुबस्तिनाभिविकर्षिणः।
सश्वासकासहृल्लासप्रसेकारुचिपीनसाः ॥२१॥
मेहकृच्छ्रशिरोजाड्यशिशिरज्वरकारिणः।
क्लैब्याग्निमार्दवच्छर्दिरामप्रायविकारदाः ॥२२॥

वसाभसकफप्रायपुरीषाः सप्रवाहिकाः ।
न स्रवन्ति न भिद्यन्ते पाण्डुस्निग्धत्वगादयः ॥२३॥

कफार्श के मस्से, मोटी जड़ वाले घने (अथवा ठोस) मन्द पीड़ा करने वाले, सफेद, उठे हुए, पुष्ट, चिकने, कठोर, गोल, भारी, स्थिर, पिच्छिल, आर्द्र, चिकने, अत्यधिक खुजली उत्पन्न करने वाले, स्पर्शनप्रिय (जिनको स्पर्श करने से सुख हो), तथा करीर या कटहल की गुठलियों के समान अथवा गोस्तन के समान होते हैं। ये वंक्षण (रान) में भारीपन या शोथ; गुदा, मूत्राशय और नाभि प्रदेशों में खिंचाव, श्वास, खांसी, मतली, लालास्राव, अरुचि, पीनस, मूत्रकृच्छ्र, सिर में जकड़ाहट, कफज्वर, नपुंसकता, मन्दाग्नि, वमन और आम के कारण होने वाले विकारों के समान लक्षण उत्पन्न करते हैं। ये मस्से न स्राव करते हैं और न फूटते हैं। रोगी के त्वचा आदि अवयव पाण्डुवर्ण (पीताभ) और स्निग्ध (चिकना तैल लगाये हुए के समान) रहते हैं और वह चर्बी के समान एवं कफ-मिश्रित के समान मल का त्याग प्रवाहण (मरोड़) के साथ करता है।

त्रिदोषज और सहज अर्शों के लक्षण

सर्वैः सर्वात्मकान्याहुर्लक्षणैः सहजानि च ।

सभी (दोषों के प्रकोप के) लक्षणों से युक्त अर्श रोग को त्रिदोषज कहना चाहिये और सहज भी (यदि जन्म से ही हो)।

रक्तार्श के लक्षण

रक्तोल्वणा गुदे कीलाः पित्ताकृतिसमन्विताः ॥२४॥
वटप्ररोहसदृशा गुंजाविद्रुमसन्निभाः ।
तेऽत्यर्थं दुष्टमुष्णं च गाढविट्कप्रपीड़िताः ॥२५॥
स्रवन्ति सहसा रक्तं तस्य चाति प्रवृत्तितः ।
भेकाभः पीड्यते दुःखैः शोणितक्षयसंभवैः ॥२६॥
हीनवर्णबलोत्साहो हतौजाः कलुषेन्द्रियः ।

रक्तार्श के मस्सों की आकृति बरगद की जटा के समान तथा वर्ण गुंजा या मूंगा के समान होता है और पित्त के लक्षण भी मिले हुए रहते हैं। ये मस्से कड़े मल से पीड़ित होने (दबने) पर एकाएक गरम गरम दूषित रक्त का बहुत अधिक स्राव करते हैं और उस (रक्त) के अत्यधिक निकलने से रोगी मेंढक के समान (पीला) हो जाता है तथा रक्त-क्षय से उत्पन्न रोगों से पीड़ित होता है। उसके वर्ण, बल, उत्साह और ओज में न्यूनता आजाती है तथा इन्द्रियां भलीभांति कार्य नहीं करतीं।

रक्तार्श में वातादि दोषों के अनुबन्ध के लक्षण

(तत्रानुबन्धो द्विविधः श्लेष्मणो मारुतस्य च ।)
विट्श्यावं कठिनं रूक्षमधोवायुर्न वर्तते ॥२७॥
तनु चारुणवर्णं च फेनिलं चासृगर्शसाम् ।
कट्यूरुगुदशूलं च दौर्बल्यं यदि चाधिकम् ॥२८॥
तत्रानुबन्धो वातस्य हेतुर्यदि च रूक्षणम् ।
शिथिलं श्वेतपीतं च विट्स्निग्धं गुरु शीतलम् ॥२९॥
यद्यर्शसां घनं चासृक् तन्तुमत् पाण्डु पिच्छिलम् ।
गुदं सपिच्छं स्तिमितं गुरुस्निग्धं च कारणम् ॥
श्लेष्मानुबन्धो विज्ञेयस्तत्र रक्तार्शसां बुधैः ॥३०॥

(रक्तार्श में दो प्रकार का अनुबन्ध होता है—वात का और कफ का।)

यदि मल श्याम वर्ण का, कठिन (कड़ा) और रूखा हो; अपानवायु की प्रवृत्ति न हो; अर्शों से गिरने वाला रक्त अरुणवर्ण का, पतला और फेनयुक्त हो; कमर, जांघ और गुदा में शूल होता हो, दुर्बलता अधिक हो और अर्श की उत्पत्ति का कारण रूक्षता हो तो वात का अनुबन्ध समझना चाहिए। यदि मल ढीला, सफेद-पीला वर्ण का, चिकना, भारी एवं शीतल हो, अर्शों से गिरने वाला रक्त गाढ़ा, तन्तुयुक्त, पीलासा और पिच्छिल हो, गुदा पिच्छिल पदार्थ से लिप्त और जड़ हो तथा अर्शों की उत्पत्ति का कारण गुरु और स्निग्ध हो तो बुद्धिमान वहां कफ का अनुबन्ध समझें।

वक्तव्य—(५७) रक्तार्श में हमेशा पित्त का अनुबन्ध रहता है इसलिये उसका वर्णन पृथक् नहीं किया गया।

अर्शों के पूर्वरूप

विष्टम्भोऽन्नस्य दौर्बल्यं कुक्षेराटोप एव च ।
कार्श्यमुद्गारबाहुल्यं सक्थिसादोऽल्पविट्कता ॥३१॥
ग्रहणीदोषपाण्ड्वर्तेराशङ्का चोदरस्य च ।
पूर्वरूपाणि निर्दिष्टान्यर्शसामभिवृद्धये ॥ ३२ ॥

अन्न का विष्टम्भ (देर तक आमाशयादि में पड़े रहना), दुर्बलता, कुक्षि का फूलना या शब्द करना, कृशता, डकारें अधिक आना, जांघों में पीड़ा, थोड़ा मल निकलना, तथा

ग्रहणी, पाण्डु और उदर रोगों के होने की शङ्का होना —अर्शों की वृद्धि के ये पूर्वरूप बतलाये गए हैं।

अर्शों की कृच्छ्रसाध्यता

पञ्चात्मा मारुतः पित्तं कफो गुदवलित्रयम्।
सर्व एव प्रकुप्यन्ति गुदजानां समुद्भवे ॥ ३३ ॥
तस्मादर्शांसि दुःखानि बहुव्याधिकराणि च।
सर्वदेहोपतापीनि प्रायः कृच्छ्रतमानि च ॥ ३४ ॥

अर्शों की उत्पत्ति होने पर पांचों प्रकार के वात, पित्त, कफ तथा गुदा की तीनों बलियां—ये सभी प्रकुपित हो जाते हैं। इसलिये अर्श दुखदायी, बहुत से रोगों के उत्पन्न करने वाले, सारे शरीर को सन्ताप देने वाले और प्रायः अत्यन्त कृच्छ्रसाध्य होते हैं।

वक्तव्य—(५८) प्रसंगवश पांचों प्रकार के वात, पित्त और कफ का वर्णन अष्टांगहृदय के आधार पर नीचे दिया जा रहा है—

वात—

(१) प्राण—सिर में रहता है तथा छाती और कण्ठ में विचरण करता हुआ बुद्धि, हृदय, इन्द्रियों और चित्त को धारण करता तथा थूकना, छींकना, डकार लेना, निश्वास और अन्न प्रवेश आदि कार्यों का संचालन करता है।

(२) उदान—छाती में रहता हुआ नासिका, नाभि और कण्ठ में विचरण करता है तथा बोलना, प्रयत्न करना, ओज, बल, वर्ण और स्मृति को करता है।

(३) व्यान—हृदय में रहता हुआ बड़े वेग से सम्पूर्ण शरीर में विचरण करता है तथा गति, ऊपर ले जाना, नीचे लाना, पलक बन्द करना एवं खोलना आदि प्राणियों की समस्त शारीरिक क्रियाएं इसके अधीन हैं।

(४) समान—पाचकाग्नि के समीप रहकर कोष्ठ में भ्रमण करता है तथा अन्न को ग्रहण करता, पचाता, रस और मल का पृथक्करण करता और रस को ग्रहण करके मल-मूत्रादि का त्याग करता है।

(५) अपान—अपान स्थान में रहता है तथा श्रोणि, वस्ति, लिंग और जांघ (उरु) में विचरण करता हुआ शुक्र, आर्तव, मल, मूत्र और गर्भ को निकालने का कार्य करता है।

पित्त—

(१) पाचक—यह पक्वाशय और आमाशय के बीच में रहता है। पंचभूतात्मक होते हुए भी इसमें आग्नेय गुण की प्रधानता एवं द्रवत्व का अभाव है तथा पाकादि कर्म करने से यह 'अग्नि' के नाम से जाना जाता है। यह अन्न को पचाकर सार और किट्ट को पृथक्-पृथक् करता है तथा स्वस्थान में ही रहता हुआ शेष पित्तों को बल देता है।

(२) रञ्जक—आमाशय में रहकर रस को रंगता है।

(३) साधक—हृदय में रहता हुआ बुद्धि, मेधा, अभिमान आदि का साधन करता है।

(४) आलोचक—नेत्र में रहकर देखने की क्रिया का संचालन करता है।

(५) भ्राजक—त्वचा में रहकर उसको दीप्त करता है।

कफ—

(१) अवलंबक—उरःप्रदेश (छाती) में रहता है, और वहीं रहता हुआ अपनी शक्ति से त्रिक को, अन्न की शक्ति से हृदय को और जल के व्यापारों का संचालन करके अन्य कफ स्थानों को अवलम्बन (सहारा) देता है।

(२) क्लेदक—आमाशय में रहकर अन्न को गीला करता है।

(३) बोधक—रसना (जीभ) में रहकर रसों (मधुरादि) का बोध कराता है।

(४) तर्पक—सिर में रहकर नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियों का तर्पण (पोषण) करता है।

(५) श्लेषक (श्लेष्मक)—संधियों में रहकर उनको भलीभांति जुड़ा हुआ रखता है।

गुदा की नलियों के कार्य—

(१) प्रवाहणी—मल को निकालने के लिये प्रवा-

हरण कराती है। यह प्रवाहरण स्वस्थावस्था में कष्टप्रद नहीं होता किन्तु प्रवाहिका आदि रोगों में कष्टप्रद होजाता है।

(२) विसर्जनी—प्रवाहरण होने पर यह मल को नीचे की ओर ढकेलकर निकालती है।

(३) संवरणी—गुदा को आवृत करके रखती है। मलत्याग के समय पर प्रसारित होती और उसके बाद संकुचित हो जाती है। गुदौष्ठ इसके साथ ही साथ संकुचित और प्रसारित होते हैं।

अर्शों की साध्यासाध्यता

बाह्यायां तु वलौ जातान्येकदोषोल्वणानि च।
अर्शांसि सुखसाध्यानि न चिरोत्पन्नानि च ॥३६॥
द्वन्द्वजानि द्वितीयायां वलौ यान्याश्रितानि च।
कृच्छ्रसाध्यानि तान्याहुः परिसंवत्सराणि च ॥३६॥
सहजानि त्रिदोषाणि यानि चाभ्यन्तरां वलिम्।
जायन्तेऽर्शांसि संश्रित्य तान्यसाध्यानि निर्दिशेत् ॥३७॥
शेषत्वादायुषस्तानि चतुष्पादसमन्विते।
याप्यन्ते दीप्तकायाग्नेः प्रत्याख्येयान्यतोऽन्यथा ॥३८॥

बाहिरी (संवरणी नामक) वलि में उत्पन्न और एक दोष प्रधान अर्श सुखसाध्य होते हैं, यदि उत्पन्न हुए अधिक काल न हुआ हो।

द्वन्द्वज, द्वितीय (विसर्जनी नामक) वलि में उत्पन्न और एक वर्ष पुराने अर्श कृच्छ्र साध्य कहे गये हैं।

सहज, त्रिदोषज और आभ्यन्तर (प्रवाहिणी नामक) वलि में होने वाले अर्शों को असाध्य कहना चाहिये। आयु शेष रहने पर, चतुष्पाद एकत्र होने पर, दीप्ताग्नि वाले पुरुष के ये अर्श याप्य होजाते हैं किन्तु इसके विपरीत होने पर प्रत्याख्येय (अचिकित्स्य, असाध्यतम) होते हैं।

वक्तव्य—(५६) भावार्थ यह है कि—बाह्यवलि में उत्पन्न एक दोषज अर्श साध्य, द्वन्द्वज कष्टसाध्य, त्रिदोषज और सहज याप्य, नवोत्पन्न साध्य, एक वर्ष पुराने कष्टसाध्य एवं अत्यन्त पुराने असाध्य। द्वितीय वलि में उत्पन्न एक दोषज साध्य, द्वन्द्वज कष्टसाध्य त्रिदोषज और सहज असाध्य, नया साध्य, एक वर्षीय कष्ट-साध्य और पुराना असाध्य। आभ्यन्तर वलि में उत्पन्न एकदोषज याप्य, द्वन्द्वज, त्रिदोषज और सहज असाध्य।

अथवा प्रत्येक बात पर अलग-अलग विचार करें जैसे, बाह्य वलि का अर्श साध्य, द्वितीय का कष्टसाध्य, आभ्यन्तर का असाध्य; एक दोषज साध्य द्वन्द्वज कष्टसाध्य, त्रिदोषज और सहज असाध्य; तथा नया साध्य, एक वर्षीय कष्टसाध्य और पुराना असाध्य। इस तरह, तीन प्रकार से साध्यासाध्यता का विचार करके फिर सबका सार उसी प्रकार ग्रहण करें जैसे ज्योतिषी लोग ग्रहों के फल पर विचार करते हैं। इसके लिए नीचे दिया गया चक्र अत्यन्त सुविधा-जनक होगा—

	एक दोषज	द्वन्द्वज	त्रिदोषज	सहज
संवरणी वलि	३	२	१	१
विसर्जनी वलि	२	१	०	०
प्रहारणी वलि	१	०	०	०
नया	३	२	१	१
एकवर्षीय	२	१	०	१
अनेक वर्षीय	१	०	०	१

इस चक्र में देखकर जितने गुण मिले उन्हें जोड़ लें। जोड़ का फल इस प्रकार है—६ सुखसाध्य ५ सामान्य कष्ट साध्य, ४ कष्ट-साध्य, ३ अतिकष्ट-साध्य, २ याप्य, १ याप्य अथवा प्रत्याख्येय, ० प्रत्याख्येय।

असाध्य के २ भेद होते हैं—याप्य और प्रत्याख्येय। जहां रोग का समूल नाश असम्भव होते हुए भी चिकित्सा द्वारा रोगी को आंशिक लाभ पहुँचाकर आयु रक्षा की जा सके, उस दशा में रोग याप्य कहलाता है। इसके विपरीत होने पर प्रत्या-

ख्येय कहलाता है।

चतुष्पाद—वैद्य, औषधि, परिचारक और रोगी इन चारों के समाहार को चतुष्पाद कहते हैं। यदि ये अच्छे हों तो चिकित्सा सरल और सफल रहती है अन्यथा नहीं। इनके लिये आवश्यक गुण निम्नलिखित हैं—

वैद्य—विद्वान, अनुभवी, दक्ष और स्वच्छ।

औषधि—बहुगुणयुक्त, पर्याप्त मात्रा में सुलभ और जो अनेक प्रकार से प्रयुक्त की जा सके।

परिचारक—उपचारों का ज्ञाता, चतुर, रोगी के प्रति अनुराग रखने वाला और स्वच्छ।

रोगी—जिसकी स्मरण शक्ति ठीक हो और जो अपने रोग का वर्णन कर सके एवं भलीभांति समझा सके तथा निडर हो।

अर्श रोग के अरिष्ट

हस्ते पादे मुखे नाभ्यां गुदे वृषणयोस्तथा।
शोथो हृत्पार्श्वशूलं च यस्यासाध्योऽर्शसो हि सः ॥३९॥
हृत्पार्श्वशूलं सम्मोहश्छर्दिरङ्गस्य रुग्ज्वरः।
तृष्णा गुदस्य पाकश्च निहन्युर्गुदजातुरम् ॥४०॥
तृष्णारोचकशूलार्तमतिप्रस्रुतशोणितम्।
शोथातिसारसंयुक्तमर्शांसि क्षपयन्ति हि ॥४१॥

जिस अर्श रोगी के हाथ, पैर, मुख, नाभि, गुदा तथा अण्डकोषों में शोथ और हृदय और पार्श्वों में शूल होता हो वह असाध्य है।

हृदय और पार्श्व के शूल, सम्मोह, वमन, अंगों की पीड़ा, ज्वर, तृष्णा और गुदपाक अर्श रोगी को मार डालते हैं।

तृष्णा, अरुचि और शूल से दुखी, शोथ एवं अतिसार-युक्त रोगी जिसका बहुत सा रक्त गिर चुका हो उसे अर्श रोग मार डालता है।

लिंगादि में होने वाले अर्शों का स्वरूप

मेढ्रादिष्वपि वक्ष्यन्ते यथास्वं, नाभिजानि च।
गण्डूपदास्यरूपाणि पिच्छिलानि मृदूनि च ॥४२॥

लिंग आदि (आदि से नासा-कर्ण आदि का ग्रहण होता है) में होने वाले अर्शों का वर्णन भी उन उन स्थानों में होने वाले रोगों के साथ किया जावेगा। नाभि में उत्पन्न अर्श केंचुए (गिण्डोए) के मुख के समान आकार वाले पिच्छिल और कोमल होते हैं।

चर्मकील की सम्प्राप्ति और स्वरूप

व्यानो गृहीत्वा श्लेष्माणं करोत्यर्शस्त्वचो बहिः।
कीलोपमं स्थिरखरं चर्मकीलं च तद्विदुः ॥४३॥

व्यान वायु कफ को लेकर त्वचा के बाहर कील के समान, स्थिर एवं खुरदरे अर्श की उत्पत्ति करता है, उसे चर्मकील कहते हैं।

वक्तव्य—(६०) चरक ने केवल गुदा में उत्पन्न मस्सों को ही अर्श माना है; अन्य स्थानों में होने वाले मस्सों को अधिमांस कहा है।

दोषों के प्राधान्य से चर्मकील के लक्षण

वातेन तोदपारुष्यं पित्तादसितवक्त्रता।
श्लेष्मणा स्निग्धता चास्य ग्रन्थितत्वं सवर्णता ॥४४॥

वात की प्रधानता से सूचीवेधनवत् पीड़ा और रूखा-पन, पित्त से (चर्मकील के) मुख (अग्रभाग) में कालापन और कफ से चिकनापन, गठीलापन और त्वचा के समान रंग होता है।

पाश्चात्य मत—

माधवाचार्य की 'अर्श' की परिभाषा अत्यन्त विस्तृत है; उसमें गुदा के अतिरिक्त अन्य स्थानों नासा, लिंग, त्वचा आदि में होने वाले अंकुरों का भी समावेश हो जाता है। चरकादि अन्य आचार्यों ने केवल गुदा में होने वाले अंकुरों को ही 'अर्श' स्वीकार किया है। किन्तु पाश्चात्य विद्वान् गुदा की शिराओं की विकृति और विस्फार (वृद्धि) मात्र को ही अर्श (Piles, Haemorrhoids) स्वीकार करते हैं शेष को विभिन्न जातियों के अर्बुद आदि माना है। इस प्रकार अर्श की आयुर्वेदिक और पाश्चात्य परिभा-षाओं में महान् अन्तर है। अत्यधिक प्रचलित होने के कारण मैंने भी अर्श का पाश्चात्य पर्याय पाइल्स (Piles) अथवा हैमोराइड्स (Haemorrhoids) माना है किन्तु वास्तव में यह त्रुटिपूर्ण है। अर्श का ठीक ठीक अंग्रेजी पर्याय रैक्टल एण्ड ऐनल न्यू ग्रोथ्स (Rectal and anal new growths)

ही हो सकता है, पाइल्स या हैमोराइड्स नहीं। यह बात आगे के प्रकरण का अध्ययन करने से स्पष्ट हो हो जावेगी। कदम्ब पुष्प आदि के आकार के जिन अर्शों का वर्णन किया जा चुका है उन्हें पाश्चात्य विद्वान् अर्श नहीं, अर्बुद मानते हैं।

(१) अर्श (Haemorhoids or piles)–गुदौष्ठ (Anus) और मलाशय × (Rectum) के १-२ इञ्च लम्बे निम्न भाग की शिराओं की कुटिलता की दशा (Varicose condition) को अर्श कहते हैं। मलाशय की शिरायें लम्बरूप (खड़ी) रहती हैं तथा उनसे दोनों ओर आड़ी (Transverse) शाखायें निकलती हैं जो गुदौष्ठ के ऊपर और चारों ओर एक मण्डल (Plexus) बनाती हैं। ढीली उपश्लैष्मिक धातु (Loose submucous tissue) में होने के कारण तथा कोई खास सहारा न होने के कारण मलत्याग के समय पर दबाव में होने वाले परिवर्तनों से इनका प्रभावित होना स्वाभाविक ही है। फिर ये शिराऐं प्रतिहारिणी शिरा क्षेत्र (Portal area) के सबसे निम्न भाग में स्थित हैं तथा इनमें कपाट (Valve) नहीं है और चूंकि ये प्रतिहारिणी शिरा के अतिरिक्त अन्य शिराओं से भी संबंधित हैं इस लिये प्रतिहारिणी शिरा से इनका संबंध विच्छेद होना सरल होता है। इनके अतिरिक्त इन शिराओं में कुटिलता की उत्पत्ति होने के अनेक व्यक्तिगत कारण होते हैं जिनमें से प्रधान ये हैं—

चिरकारी मलावरोध, मद्यपान का व्यसन, शारीरिक श्रम और व्यायाम न करना, अष्ठीला ग्रन्थि की वृद्धि, गुदभ्रन्श, प्रवाहिका, गुदौष्ठ का तीव्र संकोच (Stricture), गुदा के घातक अर्बुद एवं स्त्रियों में मासिक धर्म भली भांति न होना, रजोनिवृत्ति (Menopause), गर्भधारण, गर्भाशयच्युति आदि।

× आयुर्वेदोक्त 'गुदा' में गुदौष्ठ (Anus) और मलाशय (Rectum)—इन दोनों का समावेश हो जाता है।

इन कारणों से गुदा की शिराओं में कुटिलता उत्पन्न होने के बाद भी रोगी तब तक किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव नहीं करता जब तक कि किसी अन्य व्यञ्जक कारण से रोग के लक्षण प्रकट नहीं होते। मुख्य व्यञ्जक कारण ये हैं—अत्यन्त शीतल और आर्द्र स्थान में देर तक रहना, गीली जमीन पर बैठना अथवा किसी कारणवश गुदा के पास का वस्त्र देर तक गीला रहना, तीव्र वायु-प्रवाह का सेवन, अत्यधिक मद्यपान, अत्यन्त चरपरे भोजन का सेवन, तेज जुलाब (खास तौर से एलुवा) इत्यादि।

अर्श रोग की उत्पत्ति अधिकतर २० वर्ष की आयु के बाद ही पाई जाती है, वैसे इसकी उत्पत्ति का समय ३०-४० वर्ष की आयु के आस-पास रहता है। किन्तु बालकों में भी यह रोग कभी कभी पाया जाता है। सहज अर्श के भी एक दो उदाहरण हैं। यह रोग मुख्यतः दो प्रकार का माना गया है (वैसे बहुत से भेद स्वीकार किये गये हैं)—(१) बाह्य, अर्श और (२) आभ्यन्तर अर्श।

(अ) बाह्य अर्श (External piles)–ये गुदौष्ठ के किनारे पर पाये जाते हैं। इनके भीतर एक शिरा कुटिल अवस्था में रहती है जिसके ऊपर बहुत सी वृद्धिंगत अधस्त्वचीय तन्तु कोषीय धातु (Subcutaneous fibro cellular tissue) का आवरण रहता है और सबसे ऊपर त्वचा का आवरण रहता है। ये अर्श त्वचा की वलियों के समान प्रतीत होते हैं। इनका आरम्भ गुदौष्ठ में से होता है
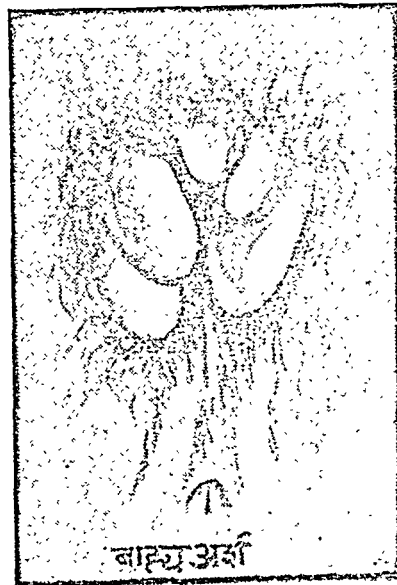
बाह्य अर्श

क्रमशः बड़ा रूप लेते हुये ये गुदा के बाहर निकले रहते हैं, रंग कत्थे के समान (Dark brown) रहता है। इनमें थोड़ी खुजली उठा करती है और मलत्याग के समय थोड़ी पीड़ा होती है। किन्तु जब कभी शिरा में रक्त जम जाने से इनमें प्रदाह हो जाता है तब इनमें बड़ी पीड़ा उत्पन्न हो जाती है। मस्से फूल जाते हैं और उनका रंग नीला हो जाता है तथा इतना कष्ट होता है कि रोगी चलने और बैठने में असमर्थ हो जाता है। कभी कभी मस्से के भीतर स्थित शिरा फट जाती है जिससे मस्से के भीतर रक्तस्राव होने से तनाव और पीड़ा होती है। मस्से को आराम देने (रगड़ और दबाव से बचाने) से ये दोनों प्रकार की पीड़ायें कुछ काल में स्वयं शान्त हो जाती हैं अन्यथा पीड़ा बढ़ती ही जाती है और अन्त में मस्सा पक जाता है।

एक दम प्रारम्भिक दशा में बाह्य अर्श का रूप गुदौष्ठ के एक भाग में सूजन के समान रहता है। यह सूजन बार बार उत्पन्न और शांत होती रहती है। प्रत्येक बार सूजन शांत होने पर थोड़ा सा उभार शेष रह जाता है। यह उभार क्रमशः इसी प्रकार बढ़कर बाह्य अर्श का रूप धारण कर लेता है।

(ब) आभ्यन्तर अर्श (Internal piles)—इस रोग की तीन अवस्थायें होती हैं—

आभ्यन्तर अर्श (नये)
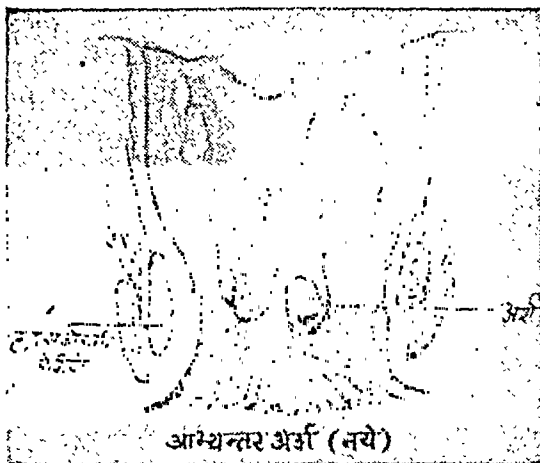
प्रथम अवस्था में शिराओं में कुटिलता रहती है किन्तु मस्से स्पष्ट नहीं दिखते। मलत्याग करते समय अधिक जोर लगाने पर अथवा कड़ा मल निकलने पर थोड़ा थोड़ा रक्तस्राव होता है। यदि मल-शुद्धि उचित रूप से होती रहे तो कोई लक्षण उत्पन्न नहीं होते।

दूसरी अवस्था में कुटिल शिराओं का विस्फार होकर मस्सों की रचना स्पष्ट होजाती है तथा वे मलत्याग के समय बाहर निकलने लगते हैं। मलत्याग के बाद वे स्वयं भीतर चले जाते हैं अथवा
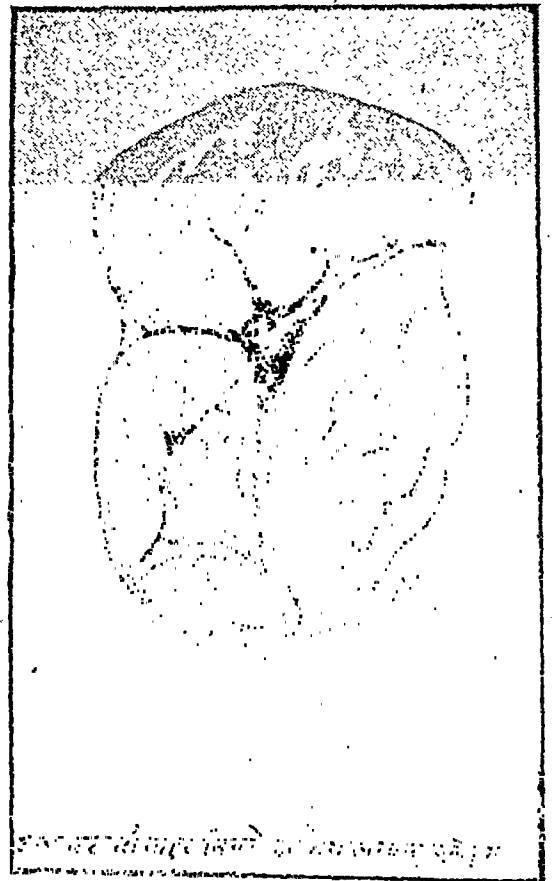
सरलतापूर्वक प्रविष्ट किये जासकते हैं। इस अवस्था में रक्तस्राव एक प्रधान एवं गम्भीर लक्षण रहता है। मलत्याग के समय बाहर निकले हुए मस्सों में से लगातार थोड़ा-थोड़ा रक्त झिरता रहता है और

मस्सों को भीतर, प्रविष्ट कर देने पर बन्द हो जाता है। यह रक्त बाहर निकले हुए मस्सों में स्थित शिराओं पर गुदौष्ठ का दबाव पड़ने से निकलता है और इसमें शिरागत रक्त के समस्त लक्षण पाये जाते हैं। कभी-कभी बाहर निकले हुए भाग में स्थित एकाध व्रण से संबंधित धमनी फट जाने से उसमें से अत्यधिक रक्त निकलता है। यह रक्त धमनी (नाड़ी) में होने वाले प्रत्येक झटके के साथ उछलता हुआ निकलता है और इसकी मात्रा तोलों से लेकर छटांकों तक होसकती है। मस्सों को भीतर प्रविष्ट कर देने पर भी गुदा के भीतर रक्तस्राव होता रहता है जो अन्य समयों पर भी गुदा में से झिरता रह सकता है। प्रत्येक बार मलत्याग के समय पर अत्यधिक रक्तस्राव होता है जिससे रोगी अत्यन्त कमजोर, रक्तहीन, चिड़चिड़ा और अवसादयुक्त हो जाता है।

तीसरी अवस्था में मस्सों का आवरण त्वचा के समान मोटा और मजबूत होजाता है जिससे रक्तस्राव शायद ही कभी होता है, किन्तु गुदा की बाह्य संकोचनी पेशी में शिथिलता आजाती है जिससे मस्से मलत्याग के समय और अन्य मौकों पर भी बाहर निकल आया करते हैं तथा उन्हें भीतर प्रविष्ट करना कठिन हुआ करता है। बाहर निकले हुए मस्सों में बाह्य पदार्थों की रगड़ या आघात लगने एवं संक्रमण होकर पाक होने की संभावना अत्यधिक रहती है। बाहर निकले हुए मस्सों में पीड़ा होना स्वाभाविक ही है किन्तु मस्सों को प्रविष्ट करते ही पीड़ा तुरन्त शान्त हो जाती है, यदि शान्त न होती हो तो समझना चाहिए कि गुदौष्ठ किसी स्थान पर फट गया है। अर्श की इस तीसरी अवस्था में गुदा में अत्यधिक कफ की उत्पत्ति होती है जो मल के साथ निकलकर प्रवाहिका रोग की भ्रान्ति कराता है। कुछ मामलों में यह कफ गुदा में और उसके आस-पास की त्वचा में अत्यधिक खुजली उत्पन्न करता है, कालान्तर में वहां की त्वचा का वर्ण गहरा होजाता है।

अर्श के सभी प्रकारों एवं अवस्थाओं में कमर में (Lumber and Sacral Regions) पीड़ा रहती है।

दूसरी और तीसरी अवस्थाओं में मस्से देर तक बाहर निकले रहने से उस भाग में अत्यधिक शोथ हो जाता है तथा आभ्यन्तर रक्तस्राव भी होता है जिससे अर्शों का कर्दम (Gangrene) होसकता है और संक्रमण होने से प्रदाह या पाक होसकता है। यह दशा अत्यन्त भयंकर कष्टदायक होती है। गुदा में तीव्र पीड़ा होती है और उसके साथ ही ज्वरादि सार्वदैहिक लक्षण भी हो सकते हैं। शोथ कुछ दिनों में स्वयमेव अथवा सेंक आदि सामान्य उपचारों से शांत होजाता है किन्तु प्रदाह, पाक और कर्दम उत्तरोत्तर भयंकर उपद्रव हैं, उचित चिकित्सा न होने पर उनसे मृत्यु तक हो सकती है।

(कुछ विद्वानों ने उपर्युक्त तीनों अवस्थाओं को आयुर्वेदोक्त वातज, पित्तज और कफज अर्श स्वीकार किया है। यह धारणा बहुत कुछ सही प्रतीत होते हुए भी युक्तिसंगत नहीं है। हमारे पूर्ववर्ती आचार्य एक ही रोग की विभिन्न अवस्थाओं को उस रोग के प्रकार कदापि नहीं मान सकते थे। उन पर इस प्रकार की भूल का आरोप लगाना उनके प्रति भयंकर अन्याय एवं कृतघ्नता है।)

(२) गुद-विदार (Anal fissure)–गुदौष्ठ के भीतरी भाग में दरार पड़कर व्रण होने की दशा को गुद-विदार कहते हैं। सूखे हुए मल के बड़े-बड़े पिण्ड निकलने से अथवा गुदा में स्थित अर्श या अर्बुद के कारण संकीर्णता होने से अथवा स्त्रियों में प्रसव काल में गुदा पर अत्यधिक दबाव पड़ने से दरार पड़कर व्रण की उत्पत्ति होती है। प्रत्येक बार मलत्याग करते समय इस पर दबाव पड़ता है जिससे प्रत्येक बार व्रण नया हो जाता है और मल के साथ रक्त की एवं यदि पाक हुआ हो तो पूय की भी लकीरें आती हैं। व्रण के नीचे का भाग शोथयुक्त होकर लटक जाता है जिससे अर्श का भ्रम होता

गुद-विदार और रक्षक अर्श

समान पीड़ा होती है जो दो-चार मिनट तक रहती है। कुछ संकोचनी पेशी के स्तंभिक आक्षेप (Spasms) भी होने लगते हैं। इनके साथ प्रसववेदना के समान पीड़ा (Bearing-down sensations) और स्थानिक दाह होती है जो मलत्याग के बाद भी एक-दो घण्टों तक रहा करती है। इस समय रोगी अत्यन्त व्याकुल रहता है और मलत्याग करने से डरता है। देर तक मल रोके रहने से सूख जाता है और फिर उसका त्याग करते समय और भी भयंकर कष्ट होता है। स्थानिक पीड़ा के अतिरिक्त पीठ, श्रोणिगत अंगों और पैरों तक में पीड़ा की लहर उठा करती है। कुछ रोगियों को मूत्रत्याग करने में भी कष्ट (मूत्र-कृच्छ्र) होता है। रोग पुराना पड़ने पर जब व्रण संकोचनी पेशी के तन्तु निकल आते हैं तब पीड़ा मन्द हो जाती है और लगभग हमेशा बनी रहती है।

है। इस शोथ को 'रक्षक अर्श' (Santinal Piles) कहते हैं। वास्तव में यह अर्श नहीं हैं क्योंकि इसके भीतर कुटिल शिरा नहीं रहती। गुद-विदार प्रायः एक ही होता है और वह भी पुच्छास्थि (Coccyx) के पास वाले भाग में पीठ की ओर बीचों-बीच रहता है। स्त्रियों में प्रसव के कारण उत्पन्न विदार सामने की तरफ योनि की सीध में हो तो फिरङ्गज व्रण का सन्देह करना चाहिए।

रोगी अधिकतर मध्यम आयु के होते हैं। जिनमें स्त्रियों की संख्या अधिक हुआ करती है। बालकों में यह नहीं पाया जाता, किन्तु सहज फिरङ्ग के कारण इसके समान लक्षण हो सकते हैं।

मलत्याग के समय पर गुदा की पेशियों के स्तंभिक संकोच के साथ होने वाला भीषण दर्द इस रोग का प्रधान लक्षण है। प्रारम्भ में जब व्रण अधिक गहरा नहीं होता तब काटने या फाड़ने के

अंगुलि द्वारा गुदा की परीक्षा करने से निदान हो जाता है। ज्यों ही गुदा को फैलाने का प्रयत्न किया जाता है त्यों ही वह अत्यन्त संकुचित हो जाती है, अंगुलि प्रवेश कठिनाई से होपाता है। गुदौष्ठ की भीतरी दीवार में बटन के लिये कपड़ों में बनाये गये काज (Button-hole) के समान व्रण मिलता है; ठीक उसकी सीध में बाहरी दीवार पर रक्षक अर्श या अर्बुद का सहअस्तित्व अक्सर पाया जाता है।

गुदा में आघात लगने से अथवा गुद-मैथुन कराने से भी गुद-विदार हो सकता है। इस प्रकार के विदार का आरम्भ बाहर की ओर से होता है। लक्षण लगभग उपर्युक्त के समान ही होते हैं।

(३)-अर्बुद (Tumours)—गुदा में कई प्रकार के अर्बुद उत्पन्न होते हैं जिनसे अर्श के समान लक्षण उत्पन्न होते हैं। इनका विस्तृत वर्णन अध्याय ३८ में किया जावेगा। यहां केवल गुदा और मलाशय में होने

वाले अर्बुदों का वर्णन एवं उनसे उत्पन्न होने वाले लक्षणों का वर्णन अत्यन्त संक्षेप में किया जा रहा है।

(i) ग्रन्थ्यर्बुद (Adenoma)—यह अधिकतर बाल्यावस्था में पाया जाता है। आकार जंगली

मलाशय का ग्रन्थ्यर्बुद

बेर से लेकर बड़े आंवले के बराबर तक होता है; प्रायः गोल या कुछ लम्बा रहता है। प्रारम्भ में श्लैष्मिक धातु में चिपका हुआ रहता है किन्तु शीघ्र ही वृन्त गोल या चपटा रहता है। बच्चों के ग्रन्थ्यर्बुद में वृन्त काफी बड़ा पाया जाता है किन्तु वयस्कों के ग्रन्थ्यर्बुद का वृन्त छोटा रहता है या अनुपस्थित रहता है। यह सामान्य प्रकार का वर्णन है। अन्य कई प्रकार भी होते है जिनमें अंकुरित ग्रन्थ्यर्बुद (Pappilomatus Adenoma, Adeno-papp-

अंकुरित ग्रन्थ्यर्बुद

iloma) महत्वपूर्ण है। यह छोटे बड़े अंकुरों से युक्त गेंद के समान एक स्थान पर होता है अथवा अंकुरों के छोटे बड़े गुच्छे बहुत से स्थानों में फैले हुए होते हैं। यह प्रकार वयस्कों में अधिकतर पाया जाता है।

सामान्य प्रकार का प्रधान लक्षण बिना किसी कष्ट के होने वाला रक्तस्राव है जिसके साथ कभी कभी कफ भी पाया जा सकता है। यदि यह काफी निचले भाग में स्थित हो और वृन्त पर्याप्त लम्बा

अंकुरित ग्रन्थ्यर्बुद (विकीर्ण)

हो तो यह गुदा के बाहर निकल आ सकता है। कभी कभी यह स्वयं ही टूटकर गिर जा सकता है। कुछ मामलों में मलत्याग के समय पर काफी मरोड़ होती है यहां तक कि गुदभ्रंश हो जाता है। गुदा में भारीपन का अनुभव और बारंबार मलत्याग की इच्छा वयस्क रोगियों में पायी जाती है। कुछ रोगियों में मरोड़ के साथ पतला बदबूदार कफ निकलता है जो गुदौष्ठ और समीपस्थ भागों में क्षोभ उत्पन्न करता है।

(ii) अंकुरार्बुद (Pappiloma, Villous Tumour)—इसकी रचना स्पंज के समान और

अंकुरार्बुद (अंगूर सदृश)

आकार अंगूर के गुच्छे या वट प्ररोह के समान होता

अंकुरार्बुद (वट-प्ररोह सदृश)
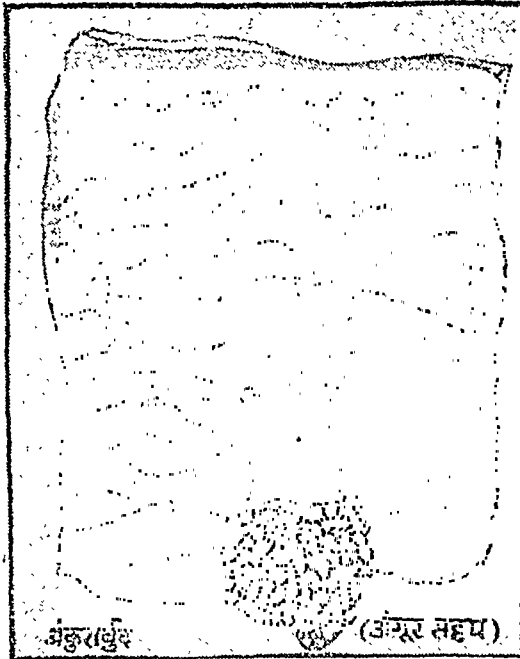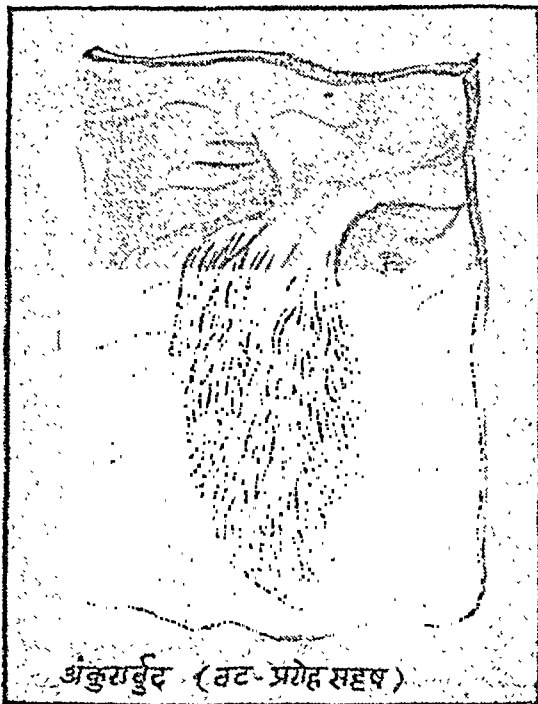
है। कभी कभी अलग अलग मस्सों के रूप में फैला हुआ भी होता है। यह अधिकतर मध्य आयु के रोगियों में पाया जाता है और घातक नहीं होता किन्तु कभी कभी घातक अर्बुद में परिवर्तित हो जाता है। कुछ विद्वानों के मत से इसका सम्बन्ध गुह्य-गोलाणुओं के विष से है।

इससे लगभग अर्श के समान ही लक्षण उत्पन्न होते हैं। अण्डे की सफेदी के समान एक विशेष प्रकार के दुर्गन्धित पदार्थ का स्राव होता है। कभी कभी रक्तस्राव भी होता है।

(iii) सौत्रार्बुद(Fibroma)—यह अर्बुद सौत्रिक (तान्त्विक) धातु का बना रहता है। कुछ लोगों के

सौत्रार्बुद
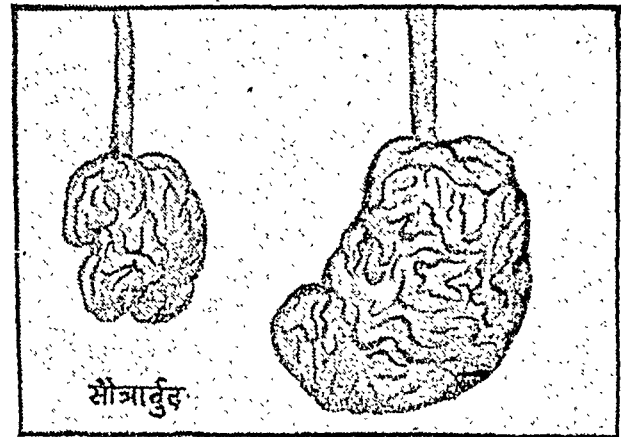
मत से यह अर्श का परिवर्तित रूप है। इसके लक्षण ग्रन्थ्यर्बुद के समान होते हैं।

(iv) वसार्बुद (Lipoma)—यह गोल होता है; भीतर वसा भरी रहती है। अधिकतर दीवार में स्थित रहता है किन्तु कभी कभी वृन्तयुक्त भी पाया जाता है। यदि यह बड़ा हो तो अवरोध उत्पन्न करता है; यदि लम्बे वृन्त से जुड़ा हुआ हो तो गुदा के बाहर निकल आता है अन्यथा कोई विशेष लक्षण उत्पन्न नहीं करता। कालान्तर में स्वयं नष्ट हो सकता है।

(v) घातक मांसार्बुद (Sarcoma)—यह मध्यम आयु के स्त्री-पुरुषों में पाया जाता है तथा अत्यन्त

घातक होता है। लक्षण कर्कटार्बुद के समान किन्तु कुछ सौम्य होते हैं।

(vi) उपकलार्बुद (Epithelioma)—यह छोटे छोटे मस्सों के रूप में गुदौष्ठ में उत्पन्न होकर धीरे धीरे गुदा के बाहर की तरफ फैलता है, भीतर की
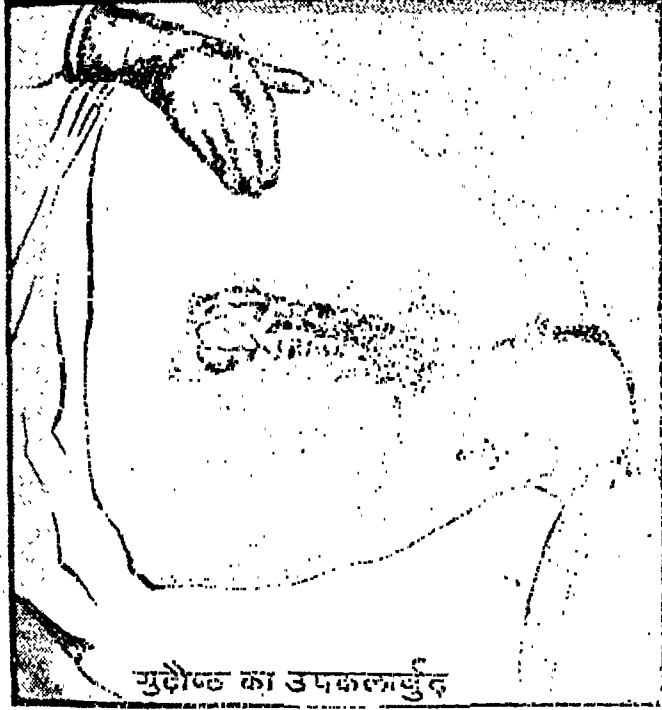
गुदौष्ठ का उपकलार्बुद

ओर प्रायः नहीं फैलता अथवा कम फैलता है। यह अत्यन्त पीड़ा उत्पन्न करता है किन्तु रक्तस्राव बहुत कम होता है।

(vii) कर्कटार्बुद (Carcinoma Cancer)—पाचन-संस्थान के अन्य अवयवों की अपेक्षा मलाशय में कर्कटार्बुद की उत्पत्ति ४-५ गुनी अधिक पाई जाती है। यदा-कदा गुदौष्ठ में भी कर्कटार्बुद पाया जाता है। इसकी उत्पत्ति ४० से ६० वर्ष की आयु में अधिक संभव रहती है वैसे आयु का कोई बंधन नहीं है। कम उम्र के व्यक्तियों का कर्कटार्बुद अधिक और शीघ्र ही घातक होता है। अधिकतर एक ही कर्कटार्बुद श्लैष्मिक धातु की ग्रन्थियों में उत्पन्न होकर आसपास की धातुओं में फैलता है अथवा लसवाहिनियों या रक्तवाहिनियों के द्वारा

मलाशय का कर्कटार्बुद (निचले भाग में)

दूर दूर की धातुओं में फैलता है, कभी कभी एक साथ दो स्वतन्त्र कर्कटार्बुद भी उत्पन्न होते पाये गये हैं। आकार बहुत कुछ गोभी के फूल से मिलता
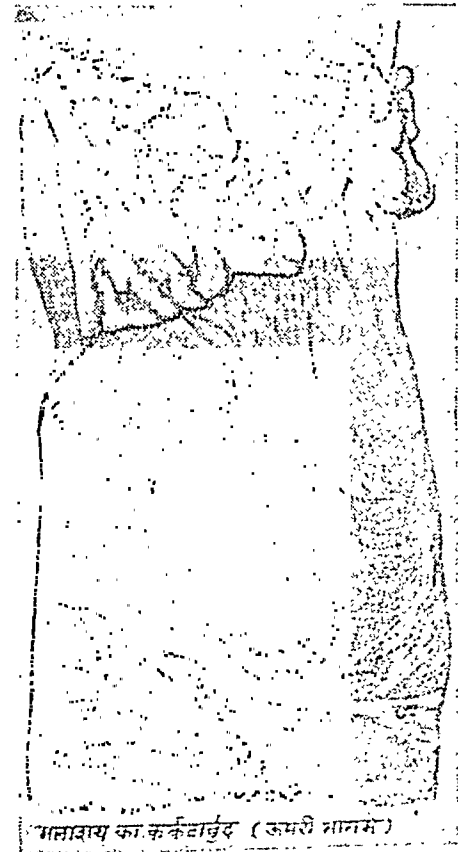
मलाशय का कर्कटार्बुद (ऊपरी भाग में)

जुलता हुआ रहता है। मलाशय का कर्कटार्बुद अधिकतर परीक्षक की अंगुली की पहुंच के भीतर ही हुआ करता है, वैसे इस प्रकार का कोई नियम नहीं है; मलाशय और श्रोणीय बृहदन्त्र (Pelvic Colon) की संधि भी कर्कटार्बुद का प्रिय स्थल है।

प्रारम्भ में उदर और मलाशय में भारीपन का अनुभव होता है। रोगी बारम्बार शौच के लिये जाता है, विशेषतया प्रातःकाल। मल के साथ थोड़ा रक्त, कफ और वायु निकलते हैं। थोड़ी पीड़ा या मरोड़ भी होती है। अनेक बार शौच जाने पर भी मलाशय में हल्कापन नहीं आता। रोगी समझता है कि वह अर्श रोग से पीड़ित है और चूंकि वह अपना दैनिक कार्यक्रम पूर्ववत् चालू रखने में समर्थ रहता है इसलिये इस ओर विशेष ध्यान नहीं देता। कभी कभी अतिसार या रक्तातिसार हो जाता है। बीच बीच में कुछ काल तक लक्षण शान्त रहते हैं। धीरे धीरे अर्बुद बढ़ता जाता है और मलाशय सकरा होता जाता है यहां तक कि मलाशय पूर्णतया अवरुद्ध होसकता है। कुछ मामलों में सांकर्य अत्यल्प होता है जिससे अवरोध नहीं हो पाता। स्थानिक कष्ट से तथा अर्बुद का विष सर्वाङ्ग में फैलने से रोगी की दशा हर प्रकार से बिगड़ती चली जाती है। यदि उचित चिकित्सा न हो तो यह अर्बुद १½ या २ वर्ष या इससे भी कम समय में रोगी को मार डालता है। मृत्यु कृशता, अवरोध या उदरावरण प्रदाह होकर होती है।

गुदौष्ठ में कर्कटार्बुद की उत्पत्ति भीतरी दीवार की कला से अथवा बाह्य त्वचा से होती है। व्रण या विदार से भी कर्कटार्बुद की उत्पत्ति पायी गयी है। इसकी वृद्धि अधिकतर गुदा के बाहर की ओर होती है; कभी कभी भीतर की ओर भी। वंक्षण की लसग्रन्थियां अधिकतर प्रभावित हो जाती हैं। प्रारंभ में केवल शौच के समय पीड़ा हुआ करती

है किन्तु कुछ काल बाद हमेशा रहने लगती है। लगातार थोड़ा थोड़ा रक्तरञ्जित स्राव होता रहता है, गुदा में भयङ्कर खुजलाहट उठती है और मलत्याग अनैच्छिक रूप से होने लगता है। यदि अर्बुद की वृद्धि ऊपर की ओर अधिक हुई हो तो अवरोध उत्पन्न होता है अन्यथा नहीं। गुदा के बाहर से ही अर्बुद स्पष्ट दिखता है।

मलाशय के कर्कटार्बुद का निदान मलाशय में अंगुली डाल परीक्षा करने से अत्यन्त सरलतापूर्वक हो जाता है। यदि अर्बुद अंगुली की पहुँच के बाहर हो तो गुदादर्शकयन्त्र (Sigmoidoscope) से देखने पर दिख जाता है। गुदौष्ठ का अर्बुद बाहर से ही स्पष्ट दिखाई देता है। इसका आकार टेढ़ा मेढ़ा, किनारे उभरे हुए और मोटे, बनावट गोभी के फूल के समान, स्पर्श में कठोर एवं कहीं ऊंचा और कहीं नीचा होता है। यदि रोगविनिश्चय में कुछ सन्देह हो तो अर्बुद का थोड़ा सा भाग काटकर सूक्ष्मदर्शकयन्त्र से परीक्षा कर लेने पर संदेह नहीं रह जाता।

: ६ :

अजीर्ण रोग

(*DYSPEPSIA*)

जठराग्नि के प्रकार

मन्दस्तीक्ष्णोऽथ विषमः समश्चेति चतुर्विधः ।
कफपित्तानिलाधिक्यात्तत्साम्याज्जाठरोऽनलः ॥१॥

जठराग्नि चार प्रकार की होती है—(१) कफ की अधिकता से मन्दाग्नि, (२) पित्त की अधिकता से तीक्ष्णाग्नि (३) वात की अधिककता से विषाग्नि और (४) इन (तीनों दोषों) की समता से समाग्नि ।

वक्तव्य—(६१) पाचन क्रिया वात, पित्त और कफ तीनों के सम्यक् सहयोग से ही उचित रीति से संचालित होती है । इनकी समता रहने पर अग्नि भी सम रहती है जिससे भोजन का परिपाक भली-भांति होकर धातुओं का पोषण होता है । किन्तु इनकी समता नष्ट हो जाने पर अग्नि मन्द, तीक्ष्ण या विषम हो जाती है । जिस प्रकार चूल्हे की अग्नि मन्द, तीक्ष्ण या विषम होने से खाद्य पदार्थ ठीक ठीक नहीं पकते(या तो कच्चे रह जाते हैं अथवा जल जाते हैं) ठीक उसी प्रकार जठराग्नि के मन्द, तीक्ष्ण या विषम हो जाने से खादित पदार्थों का पाचन भली भांति नहीं होता । तीक्ष्णाग्नि से भोजन का पाचन होता है किन्तु सम्यक् पाचन नहीं होता अर्थात् उससे रसादि धातुओं की वृद्धि नहीं होती ।

कुछ आचार्यों ने मन्द, तीक्ष्ण एवं विषम अग्नि की दशा को 'अग्निमान्द्य' रोग कहा है । यह असंगत है । 'अग्निमान्द्य' केवल 'मन्दाग्नि' का पर्याय हो सकता है; तीक्ष्णाग्नि, और विषमाग्नि का नहीं । वास्तव में यह विषय अजीर्ण रोग की भूमिका मात्र है ।

दूषित जठराग्नि का रोगकारित्व

विषमो वातजान् रोगांस्तीक्ष्णः पित्तनिमित्तजान् ।
करोत्यग्निस्तथा मन्दो विकारान् कफसंभवान् ॥२॥

विषमाग्नि वातज रोग, तीक्ष्णाग्नि पित्तज रोग और मन्दाग्नि कफज रोग उत्पन्न करती है ।

वक्तव्य—(६२) कहने का तात्पर्य यह है कि अग्नि जिस दोष से दूषित होती है उसी दोष के लक्षण उत्पन्न होते हैं जैसे विषमाग्नि वात के लक्षण शूल, आध्मान आदि, तीक्ष्णाग्नि पित्त के लक्षण दाह, तृषा आदि एवं मन्दाग्नि कफ के लक्षण गुरुता, उत्क्लेद आदि उत्पन्न करती है ।

चारों प्रकार की अग्नि के लक्षण

समा समाग्नेरशिता मात्रा सम्यग्विपच्यते ।
स्वल्पाऽपि नैव मन्दाग्नेर्विषमाग्नेस्तु देहिनः ॥३॥
कदाचित् पच्यते सम्यक्कदाचिन्न विपच्यते ।
मात्राऽतिमात्राऽप्यशिता सुखं यस्य विपच्यते ॥
तीक्ष्णाग्निरिति तं विद्यात्, समाग्निः श्रेष्ठ उच्यते ॥४॥

समाग्नि वाले व्यक्ति की सम मात्रा (भोजन की) भली-भांति पच जाती है । मन्दाग्नि वाले व्यक्ति की अल्प मात्रा भी नहीं पचती । विषमाग्नि वाले की कभी भलीभांति पच जाती है और कभी नहीं पचती । जिसकी (सम) मात्रा और अधिक मात्रा भी सुखपूर्वक पचती है उसे तीक्ष्णाग्नि वाला समझना चाहिये । समाग्नि श्रेष्ठ कही गई है ।

वक्तव्य—(६३) समाग्नि भोजन की सम मात्रा को ही भलीभांति पचा सकती है, अधिक मात्रा को नहीं ।

मन्दाग्नि कफाधिक्य से होती है। कफ की वृद्धि से पाचक रसों का स्राव भलीभांति नहीं होता अथवा यदि होता भी है तो भुक्त पदार्थ कफ से आच्छादित रहने के कारण उस पर पाचक रसों की क्रिया नहीं होने पाती जिससे अल्प मात्रा भी नहीं पचती।

विषमाग्नि वात की अधिकता से होती है। वात चंचल स्वभाव की है और पित्त तथा कफ पंगु होने के कारण उसके आधीन हैं। जब वात शांत रहती है तब पाचन भलीभांति हो जाता है किन्तु जब वह पित्त, कफ या भुक्त पदार्थ को क्षुब्ध करने लगती है तब पाचन नहीं होता। विषमाग्नि की दशा में कभी मन्दाग्नि एवं कभी समाग्नि के लक्षण मिलते हैं।

तीक्ष्णाग्नि पित्त की अधिकता से होती है। अग्नि, पित्त का एक ही स्वरूप पाचक पित्त है। पित्त की अधिकता से सम अथवा अधिक मात्रा सुखपूर्वक (सरलता के साथ) अवश्य पच जाती है किन्तु भली-भांति नहीं पचती। देखिये—'सम्यक्' क्रिया विशेषण का उपयोग केवल समाग्नि और विषमाग्नि के साथ किया गया है। तीक्ष्णाग्नि के साथ 'सुखं' के स्थान पर 'सम्यक्' लिखने से पद्यरचना में कोई दोष नहीं आता फिर भी 'सम्यक्' न लिखकर 'सुखं' लिखने का प्रयोजन यही है। फिर तीक्ष्णाग्नि की अधिक मात्रा पचाने की शक्ति से प्रभावित होकर लोग तीक्ष्णाग्नि को ही श्रेष्ठ न मान बैठें इस लिये उसके बाद ही 'समाग्निः श्रेष्ठ उच्यते' पद जोड़ दिया गया है; इस पद को समाग्नि के साथ न रखकर तीक्ष्णाग्नि के वर्णन के साथ रखने का यही प्रयोजन है। अग्नि की तीक्ष्णता से भोजन पच अवश्य जाता है किन्तु वात और कफ को अपना कार्य भलीभांति कर सकने का मौका नहीं मिलता जिससे रस नहीं बन पाता। रस का निर्माण ही पाचन का प्रधान उद्देश्य है, उसकी पूर्ति न होने के कारण पाचन होना और न होना बराबर ही रहता है, इसीलिए तीक्ष्णाग्नि को श्रेष्ठ नहीं कहा गया।

चरक के मत से भोजन की सम मात्रा वह है जिससे आमाशय का एक तिहाई भाग भर जावे। दूसरा तिहाई भाग जल के लिये और तीसरा वात, पित्त, कफ के संचार के लिये छोड़ना चाहिये।

तीक्ष्णाग्नि का अत्युग्र स्वरूप भस्मक रोग है। भस्मक रोग की उत्पत्ति पित्त के कुपित होकर वायु के साथ चलकर अग्नि को प्रदीप्त करने से होती है जब कि तीक्ष्णाग्नि की उत्पत्ति केवल पित्त वृद्धि से होती है। रोग का वर्णन चरक ने निम्न प्रकार से किया है—

नरे क्षीणकफे पित्तं कुपितं मारुतानुगम्।
स्वोष्मणा पावकस्थाने बलमग्नेः प्रयच्छति॥
तथा लब्धबलो देहं विरूक्षं सानिलोऽनलः।
अभिभूय पचत्यन्नं तैक्ष्ण्यादाशु मुहुर्मुहुः॥
पक्त्वाऽन्नं स ततो धातून् शोणितादीन् पचत्यपि।
ततो दौर्बल्यमातङ्कान् मृत्युं चोपनयेन्नरम्॥
भुक्तेऽन्ने लभते शान्तिं जीर्णमात्रे प्रताम्यति।
तृट्कासदाहमूर्च्छाद्या व्याधयोऽत्यग्निसंभवाः॥
(च. चि. अ. १५)

अर्थात् मनुष्य का कफ क्षीण होने पर, कुपित पित्त वायु के पीछे-पीछे (साथ) चलता हुआ अग्नि के स्थान (जठर) में जाकर अपनी गर्मी से अग्नि को बल देता है। इस प्रकार बल पाकर अग्नि वायु के साथ मिलकर शरीर को रोगी बना देती है (पीड़ित करती है) अत्यन्त बलवान् होने से वह अपनी तीक्ष्णता से अन्न को बार-बार शीघ्र ही पचा देती है। अन्न को पचाकर फिर रक्त आदि धातुओं को भी पचाती है। इस प्रकार दुर्बलता, अवसाद और मनुष्य की मृत्यु तक करती है। अन्न खाने पर रोगी को शान्ति मिलती है और पचने पर बेचैन हो जाता है। तृषा, कास, दाह आदि अग्नि की अधिकता से उत्पन्न व्याधियां होती हैं।

अजीर्ण के भेद

आमं विदग्धं विष्टब्धं कफपित्तानिलैस्त्रिभिः।
अजीर्णं केचिदिच्छन्ति चतुर्थं रसशेषतः॥५॥

अजीर्णं पञ्चमं केचिन्निर्दोषं दिनपाकि च।
वदन्ति षष्ठं चाजीर्णं प्राकृतं प्रतिवासरम्॥६॥

कफ, पित्त और वात—इन तीनों से क्रमशः आमाजीर्ण, विदग्धाजीर्ण और विष्टब्धाजीर्ण होते हैं। कुछ आचार्य रसशेषाजीर्ण नामक चौथा अजीर्ण भी मानते हैं।

कुछ आचार्य दिनपाकी नामक निर्दोष अजीर्ण को पांचवां अजीर्ण और प्रतिदिन होने वाले प्राकृत अजीर्ण को छठवां अजीर्ण मानते हैं।

वक्तव्य—(६४) माधवाचार्य ने अजीर्ण के प्रथम तीन ही भेद स्वीकार किये हैं। रसशेषाजीर्ण को उन्होंने अमान्य नहीं किया है किन्तु शेष दो को अस्वीकार कर दिया है। आगे भेदशः लक्षण बतलाते समय उन्होंने प्रथम चार प्रकारों का ही वर्णन किया है जिसमें रसशेषाजीर्ण का वर्णन अत्यन्त संक्षिप्त है।

अजीर्ण के हेतु

अत्यम्बुपानाद्विषमाशनाच्च
संधारणात्स्वप्नविपर्ययाच्च।
कालेऽपि सात्म्यं लघु चापि भुक्त-
मन्नं न पाकं भजते नरस्य॥७॥
ईर्ष्याभयक्रोधपरिप्लुतेन
लुब्धेन रुग्दैन्यनिपीडितेन।
प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्नं
न सम्यक्परिपाकमेति॥८॥

मात्रयाऽप्यभ्यवहृतं पथ्यं चान्नं न जीर्यति।
चिन्ताशोकभयक्रोधदुःखशय्याप्रजागरैः॥९॥

अधिक जल पीने से, नियम विरुद्ध भोजन करने से, वेगों को रोकने से, और दिन में सोने तथा रात्रि में जागने से समय पर खाया हुआ हल्का और हितकारी अन्न भी नहीं पचता।

ईर्ष्या, भय एवं क्रोध से परिपूर्ण, लोभी, रोगी एवं दीनता से पीड़ित तथा द्वेष-युक्त मनुष्य के द्वारा खाया हुआ अन्न भलीभांति नहीं पचता। चिन्ता, शोक, भय, क्रोध, दुःख एवं शय्या पर पड़े जागते रहने से मात्रानुसार खाया हुआ हितकारक अन्न भी नहीं पचता।

वक्तव्य—(६५) यहां सभी प्रकार के अजीर्ण के हेतु एकत्र बतलाये गये हैं। इनमें से जो हेतु जिस दोष का प्रकोपक है उससे उसी दोष की प्रधानता लिये हुए अजीर्ण की उत्पत्ति होती है।

चिन्ता, भय, शोक आदि मानस विकारों से मस्तिष्क एवं वात नाड़ीमण्डल में क्षोभ उत्पन्न होता है जिससे शरीर की स्वाभाविक क्रियाओं में विकृति होकर रोगोत्पत्ति होती है। आयुर्वेद में मानस विकारों से लगभग सभी प्रकार के रोगों की उत्पत्ति की संभावना बतलाई गयी है। प्राचीन आयुर्वेदाचार्यों ने मानस विकारों का गंभीर अध्ययन करके जो अनुभव प्रस्तुत किये हैं वे आज के वैज्ञानिक कहे जाने वाले चिकित्सकों को चकित कर देने के लिये पर्याप्त हैं।

नियम-विरुद्ध भोजन से अजीर्ण एवं अन्य बहुत से रोग उत्पन्न होते हैं। आजकल जो यह रोगों की भरमार देखने में आती है उसका प्रधान कारण विषमाशन ही है। लोगों के भोजन का कोई नियम नहीं रह गया है। चाहे जिस समय पर चाहे जैसी अवस्था में, स्वच्छ-अस्वच्छ, बासा-ताजा भोजन करने वाले ही अधिकतर रोगाक्रान्त होते पाये जाते हैं। महर्षि चरक ने स्वस्थवृत्त बतलाते हुए लिखा है—

मात्राशी स्यात् हिताशी स्यात्कालभोजी जितेन्द्रियः।
पश्यन् रोगान् बहून् कष्टान्बुद्धिमान् विषमाशनात्॥

—च. नि. ६।

अर्थात् बुद्धिमान मनुष्य विषमाशन (नियम-विरुद्ध भोजन) से होने वाले बहुत से कष्टप्रद रोगों को देखता हुआ, इन्द्रियों को वश में रखता हुआ उचित मात्रा में, हितकारी भोजन समय पर करे।

फिर उचित मात्रा के विषय में कहा है—यावद्ध्यशितमशनमनुपहत्य प्रकृतिं यथाकालं जरं गांच्छति

तावदस्य मात्राप्रमाणं वेदितव्यं भवति। अर्थात् 'भोजन की जितनी मात्रा बिना कष्ट के यथासमय जीर्ण हो जावे उस व्यक्ति के लिए उतनी ही मात्रा उचित समझना चाहिये। शरीर की रचना के अनुसार भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की मात्रा भिन्न-भिन्न होती है इसलिये निश्चित समय के भीतर पचने वाली मात्रा का ग्रहण करना ही उचित है। पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा बतलायी हुई नाप-तौल वाली मात्रा एक व्यक्ति के लिये कम और दूसरे के लिये अधिक हो सकती है इसलिये सदोष है।

अजीर्ण के लक्षण

तत्रामे गुरुतोत्क्लेदः शोथो गण्डाक्षिकूटगः ।
उद्गारश्च यथाभुक्तमविदग्धः प्रवर्तते ॥ १० ॥
विदग्धे भ्रमतृण्मूर्च्छाः पित्ताच्च विविधा रुजः ।
उद्गारश्च सधूमाम्लः स्वेदो दाहश्च जायते ॥ ११ ॥
विष्टब्धे शूलमाध्मानं विविधा वातवेदनाः ।
मलवाताप्रवृत्तिश्च स्तम्भो मोहोऽङ्गपीडनम् ॥ १२ ॥
रसशेषेऽन्नविद्वेषो हृदयाशुद्धिगौरवे ।

आमाजीर्ण में भारीपन, जी मचलाना, नेत्रों के गढ़ों और गालों में शोथ, और जैसा अन्न खाया है वैसी कची (अविदग्ध, विदग्धाजीर्ण के विपरीत) डकारों की प्रवृत्ति होती है।

विदग्धाजीर्ण में चक्कर आना, प्यास, मूर्च्छा, पित्त से होने वाले अनेक प्रकार के रोग, स्वेद प्रवृत्ति, दाह तथा धुवांइंध-युक्त खट्टी डकारें उत्पन्न होती हैं।

विष्टब्धाजीर्ण में शूल, आध्मान, अनेक प्रकार की वातज पीड़ाएं, मल और वायु का अवरोध, स्तब्धता, मूर्च्छा तथा अङ्गों में पीड़ा होती है।

रसशेषाजीर्ण में हृदय में भारीपन तथा अशुद्धि का अनुभव एवं भोजन के प्रति विद्वेष (Repulsion) होता है।

वक्तव्य—(६६) आमाजीर्ण कफप्रकोप से होता है। कफ से क्लेदित होने के कारण पाचक पित्त भलीभांति कार्य करने में असमर्थ रहता है। पाचक रसों का मार्ग कफ से अवरुद्ध होने के कारण उनका स्राव भलीभांति नहीं होता और यदि होता भी है तो कफ से आच्छादित भुक्त पदार्थ अपाचित अवस्था में ही उदर में देर तक भरा रहता है जिससे भारीपन और उत्क्लेद होता है। कभी कभी वमन भी होता है जिसमें अपाचित अन्न ज्यों का त्यों कफ के साथ निकलता है। शौच जाने पर अपक्व मल निकलता है जो कभी कभी कफमिश्रित भी हो सकता है। आन्त्र में आहार की गति अत्यन्त मन्द रहती है; शौच समय पर नहीं आता। वमन कराने एवं कटु, क्षार आदि कफनाशक पदार्थों का सेवन कराने से इसकी शांति होती है।

विदग्धाजीर्ण पित्त-प्रकोप से उत्पन्न होता है। इसमें आमाशयिक अम्लरस का स्राव बढ़ जाता है जिससे भुक्त पदार्थ अत्यन्त खट्टा होकर अपाच्य हो जाता है एवं दाह, तृषा आदि उत्पन्न करता हुआ ऊपर की ओर गमन करता है जिससे दन्तहर्ष, मुखपाक आदि भी होते हैं। कभी कभी वमन भी होता है। जिससे अत्यन्त खट्टा गरम गरम अन्नमिश्रित पतला पदार्थ निकलता है। कभी मलावरोध और कभी अतिसार होता है, मलावरोध अधिकतर पाया जाता है। कुछ रोगियों के उदर में पित्त के अत्यन्त प्रकोप से व्रणों की उत्पत्ति हो जाती है जिनके कारण वमन में रक्त आसकता है। सौम्य विरेचन कराकर दुग्धाहार पर रखते हुए पित्ताशामक चिकित्सा करने से इसकी शांति होती है।

विष्टब्धाजीर्ण वात प्रकोप से होता है। कुपित वायु पाचक रसों और अन्न की गति में बाधक होता हुआ अपाचित अन्न को दीर्घकाल तक आन्त्र में ही रोक रखता है जिससे अन्न वहीं सड़ता रहता है। उसके सड़ने से वायु की वृद्धि (गैसों CO_2 इत्यादि की उत्पत्ति) होती है। ऊपर और नीचे के दोनों मार्ग वायु के प्रकोप के कारण अवरुद्ध रहते हैं। इस दशा में अन्न के सड़ने से उत्पन्न वायु किसी भी मार्ग से (नीचे से अपान वायु के रूप में और

ऊपर से डकार के रूप में) निकलने में असमर्थ रहती है तथा वहीं रुककर उदर को फुला देती है जिससे आध्मान और शूल होते हैं। वायु के अत्यधिक प्रकोप से अन्य वातज लक्षण भी होते हैं। मल और वायु का अवरोध सदैव रहता है। रोगी ऐसी दवा मांगता है जिससे डकार, अपान वायु और मल की प्रवृत्ति हो। साधारण भाषा में इस रोग को मलावरोध या कब्ज कहते हैं किन्तु मलावरोध के अन्तर्गत और भी कई प्रकार की दशायें सम्मिलित रहती हैं।

रसशेषाजीर्ण में दोष-प्रकोप अत्यल्प रहता है। इस अजीर्ण में अन्न का पाचन तो हो जाता है किन्तु आहार-रस की चूषण-क्रिया विलम्ब से होती है अथवा नहीं होती, या रस का चूषण होने के बाद वह यथा समय रक्त के रूप में परिवर्तित नहीं होता। इस रोग में लालास्राव, अरुचि, ग्लानि एवं हृदय में भारीपन आदि लक्षण होते हैं। डकारें शुद्ध आती हैं किन्तु भोजन की इच्छा नहीं होती।

दिनपाकी अजीर्ण में पाचन क्रिया विलम्ब से होती है; रोगी को चौबीस घण्टे में केवल एक बार भूख लगती है; अन्य कोई लक्षण नहीं होते। यह आमाजीर्ण का ही एक सौम्य रूप प्रतीत होता है। संभवतः अत्यन्त सौम्य प्रकोप होने के कारण इसे निर्दोष माना गया है अथवा कोई विकार (दोष) उत्पन्न न होने के कारण निर्दोष कहा है।

प्राकृत अजीर्ण प्रत्येक मनुष्य को प्रति दिन भोजन के पश्चात् जब तक उसका पाचन नहीं हो जाता तब तक रहता है। यह एक अवस्था मात्र है, रोग नहीं।

विदग्धाजीर्ण और अम्लपित्त के लक्षणों में बहुत कुछ साम्य होते हुए भी दोनों रोग अलग अलग हैं। अम्लपित्त का वर्णन अध्याय ५१ में देखें।

अजीर्ण के उपद्रव

मूर्च्छा प्रलापो वमथुः प्रसेकः सदनं भ्रमः।
उपद्रवा भवन्त्येते मरणं चाप्यजीर्णतः ॥१३॥

मूर्च्छा, प्रलाप, वमन, लालास्राव, अवसाद और भ्रम अजीर्ण रोग के उपद्रव हैं और अजीर्ण से मृत्यु भी होती है।

अजीर्ण का विशिष्ट हेतु

अनात्मवन्तः पशुवद्भुञ्जते येऽप्रमाणतः।
रोगानीकस्य ते मूलमजीर्णं प्राप्नुवन्ति हि ॥१४॥

जो असंयमी व्यक्ति पशुओं के समान बेहिसाब खाते हैं वे रोग समूह के मूल (उत्पादक) अजीर्ण रोग को प्राप्त करते हैं।

अजीर्ण से रोगोत्पत्ति

अजीर्णमामं विष्टब्धं विदग्धं च यदीरितम्।
विसूच्यलसकौ तस्माद्भवेच्चापि विलम्बिका ॥१५॥

आम, विष्टब्ध और विदग्ध भेदों से जिस अजीर्ण रोग का वर्णन किया गया है उससे विसूची, अलसक और विलम्बिका रोग उत्पन्न होते हैं।

विसूची (विसूचिका) की निरुक्ति

सूचीभिरिव गात्राणि तुदन् संतिष्ठतेऽनिलः।
यत्राजीर्णेन सा वैद्यैर्विसूचिति निगद्यते ॥१६॥
न तां परिमिताहारा लभन्ते विदितागमाः।
मढास्तामजितात्मानो लभन्तेऽशनलोलुपाः ॥१७॥

जिस रोग में अजीर्ण से कुपित वात अंगों में सुइयां चुभने के समान पीड़ा करता हुआ स्थित रहता है उसे विसूची कहते हैं। इस रोग की उपलब्धि भोजन के लालची एवं असंयमी मूर्खों को होती है सीमित आहार करने वाले शास्त्रज्ञों को नहीं।

विसूची के लक्षण

मूर्च्छाऽतिसारो वमथुः पिपासा
शूलो भ्रमोद्वेष्टनजृम्भदाहाः।
वैवर्ण्यकम्पौ हृदये रुजश्च
भवन्तितस्यां शिरसश्चभेदः ॥१८॥

मूर्च्छा, अतिसार, वमन, तृषा, शूल, भ्रम, ऐंटन (*cramps*), जंभाई, दाह, वैवर्ण्य, कम्प, हृदय में पीड़ा और शिर में भेदनवत् पीड़ा—ये लक्षण इस रोग में होते हैं।

अलसक के रोग के लक्षण

कुक्षिरानह्यतेऽत्यर्थं प्रताम्येत् परिकूजति।
निरुद्धो मारुतश्चैव कुक्षावुपरि धावति ॥१९॥
वातवर्चोनिरोधश्च यस्यात्यर्थं भवेदपि।
तस्यालसकमाचष्टे तृष्णोद्गारौ च यस्य तु ॥२०॥

जिस रोग में कुक्षि अत्यन्त फूल जाती है एवं रुका हुआ वायु कुक्षि में ऊपर की ओर तेजी से गति करता है, रोगी अत्यन्त बेचैन होता और कांखता है, वायु और मल का अत्यधिक अवरोध होता है, प्यास लगती है और डकारें आती हैं—उस रोग को अलसक कहते हैं।

वक्तव्य—(६७)यह रोग विष्टब्धाजीर्ण के रोगियों को अक्सर होता है। मल और वायु बुरी तरह रुक जाते हैं जिससे पेट अत्यधिक फूल जाता है। श्वास-कष्ट और उदरपीड़ा अत्यन्त त्रासदायक होते हैं। तृषा अधिकतर उपस्थित रहती है। उद्गार कुछ रोगियों में पायी जाती है। कभी कभी इस रोग से मृत्यु तक होजाती है। वमन विरेचन अथवा अपान वायु निकलने से आराम मिलता है।

विलम्बिका रोग के लक्षण

दुष्टं तु भुक्तं कफमारुताभ्यां
प्रवर्तते नोर्ध्वमधश्च यस्य।
विलम्बिकां तां भृशदुश्चिकित्स्या-
माचक्षते शास्त्रविदः पुराणाः ॥२१॥

जिस रोग में खाया हुआ पदार्थ कफ और वायु से दूषित होकर न ऊपर जाता है और न नीचे, उस रोग को विलम्बिका कहते हैं। प्राचीन वैद्यों ने इसे अत्यन्त कष्टसाध्य (प्रत्याख्येय) कहा है।

वक्तव्य—(६८) अलसक रोग में वायु भरने से उदर फूलता है किन्तु विलम्बिका में नहीं अथवा मल भरने से फूलता है—यही भेद है। दोनों में ही मल अथवा खाया हुआ पदार्थ न ऊपर जाता है और न नीचे अर्थात् वमन विरेचन नहीं होते अन्य लक्षण दोनों ही में लगभग एक से ही होते हैं।

अजीर्ण से होने वाली तीन विभिन्न दशाओं का यह वर्णन बड़ा सुन्दर एवं क्रमबद्ध है—एक में वमन अतिसार होते हैं, दूसरी में वमन अतिसार नहीं होते वायु भरकर पेट फूलता है; और तीसरी में भी वमन अतिसार नहीं होते किन्तु पेट नहीं फूलता अथवा मल भरने से फूलता है। तीनों ही दशाएं भयंकर कष्टप्रद हैं और प्राणनाशक भी हो सकती हैं।

आम के कार्य

यत्रस्थमामं विरुजेत्तमेव देशं विशेषेण विकारजातैः।
दोषेण येनावततं शरीरं तल्लक्षणैरामसमुद्भवैश्च ॥२२॥

आम (अपाचित अन्न अथवा अपक्व रस, जहां स्थित होता है विशेष रूप से उसी स्थान में आम के लक्षणों और जिस दोष ने शरीर को व्याप्त कर रखा है उसके लक्षणों से युक्त विकार समूह से पीड़ा (रोग) उत्पन्न करता है।

वक्तव्य—(६९) शरीर में जिस दोष की प्रधानता रहती है उसी के द्वारा अजीर्ण की उत्पत्ति होती है तथा वही दोष अपाचित पदार्थ में मिश्रित रहा करता है। इसलिए आम में उस दोष के लक्षण होना आवश्यक है; आम के प्राकृत लक्षण तो रहेंगे ही। इस प्रसङ्ग में यह बात बतलाने का तात्पर्य यह है कि अलसक, विलम्बिका आदि में उदर के जिस भाग में अपाचित पदार्थ उपस्थित रहता है उस भाग में आम एवं आमोत्पादक दोष के सम्मिलित लक्षण विशेष रूप से उपस्थित रहते हैं।

'विशेषेण (विशेष रूप से)' कहने का तात्पर्य यह है कि लक्षण वैसे तो सारे शरीर में मिलते हैं किन्तु जहां आम रहता है वहां अधिक स्पष्ट लक्षित होते हैं।

विसूची के असाध्य लक्षण

यः श्यावदन्तौष्ठनखोऽल्पसंज्ञो
वम्यार्दितोऽभ्यन्तर यातनेत्रः।
क्षामस्वरः सर्वविमुक्तसंधि-
र्यायान्नरः सोऽपुनरागमाय ॥२६॥

जिस विसूचिका रोगी के दांत, ओठ, नख काले पड़ चुके हों, जो वमन से बुरी तरह पीड़ित हो, पूरी तरह से

होश में न हो, जिसके नेत्र भीतर की ओर धंस चुके हों, स्वर क्षीण हो चुका हो और संधियां ढीली पड़ चुकी हों वह मर जाता है।

वक्तव्य—(७०) मधुकोशकार ने इन लक्षणों को अलसक के भी अध्याय लक्षण माना है। किन्तु अलसक में वमन नहीं होता इसलिए ऐसा मानना असंगत प्रतीत होता है। हां, वमन के अतिरिक्त उक्त सभी लक्षण अलसक की असाध्यता के सूचक हो सकते हैं।

आहार पचने के लक्षण

उद्गारशुद्धिरुत्साहो वेगोत्सर्गो यथोचितः।
लघुता क्षुत्पिपासा च जीर्णाहारस्य लक्षणम् ॥२४॥

शुद्ध डकार आना, उत्साह, मल-मूत्र-अपानवायु आदि के वेगों की प्रवृत्ति भलीभांति होना, हल्कापन और भूख प्यास का लगना—ये आहार पच चुकने के लक्षण हैं।

वक्तव्य—(७१) 'उद्गारशुद्धि' का अर्थ मधुकोशकार ने 'शुद्ध' अर्थात् धुवांइध एवं अम्लतारहित डकारों का आना' माना है जो कि उचित ही है। किन्तु 'उद्गार' और 'शुद्धि' को अलग अलग पढ़कर 'उद्गार (डकार) आना और शुद्धि (ग्लानि के विपरीत) का अनुभव होना' यह अर्थ भी लगाया जा सकता है क्योंकि आगे अजीर्ण के लक्षणों में 'ग्लानि' को सर्व प्रथम स्थान दिया गया है। आगे २७ वां श्लोक देखिये।

विसूची के उपद्रव

निद्रानाशोऽरतिः कम्पो मूत्राघातो विसंज्ञता।
अमी ह्युपद्रवा घोरा विसूच्यां पञ्च दारुणाः ॥२५॥

नींद न आना, बेचैनी, शरीर कांपना, मूत्राघात और देहोशी—ये पांच भयंकर कष्टदायक उपद्रव विसूचिका रोग में होते हैं।

वक्तव्य—(७२) यहां कथित 'मूत्राघात' और २३ वें श्लोक में कथित 'नेत्र भीतर की ओर धंसना (आभ्यन्तरयात नेत्रः)' जलाल्पता (Dehydration) के लक्षण हैं। सुश्रुत ने 'जलाल्पता' का वर्णन "विसूचिका शोष' नाम से किया है।

अजीर्ण का प्रधान कारण

प्रायेणाहारवैषम्यादजीर्णं जायते नृणाम्।
तन्मूलो रोगसंघातस्तद्विनाशाद्विनश्यति—॥२६॥

प्रायः आहार में विषमता होने से मनुष्यों को अजीर्ण होता है। यही (अजीर्ण अथवा आहार विषमता) जड़ (रोगों की) है। इसके विनाश से रोग समूह विनष्ट हो जाता है।

अजीर्ण के सामान्य लक्षण

ग्लानिगौरवविष्टम्भभ्रममारुतमूढ़ताः।
विबन्धो वा प्रवृत्तिर्वा सामान्याजीर्ण लक्षणम् ॥२७॥

ग्लानि, भारीपन विष्टम्भ (देर से पाचन एवं वायु की उत्पत्ति), भ्रम, वायु की मूढ़ता (अवरोध, यहां वहां भटकना) विबन्ध रहना अथवा मल-प्रवृत्ति (अतिसार)—ये अजीर्ण के सामान्य लक्षण हैं।

पाश्चात्य मत

अजीर्ण रोग (Dyspepsia Indigestion)—भोजन के पश्चात् तुरन्त ही अथवा २-४ घण्टों के भीतर उदर में भारीपन, तनाव, पीड़ा आदि तथा वमन, झूठी क्षुधा, उद्गार, मलोद्गार, आध्मान, अरुचि आदि लक्षण समूह को अजीर्ण कहते हैं। यह स्वतंत्र रोग न होकर निम्नलिखित रोगों का लक्षण है।

(क) आमाशयगत रोग–प्रदाह, वातनाड्युत्कर्ष, व्रण, कर्कटार्बुद, भ्रन्श, आदि।

(ख) अन्नप्रणालीगत रोग—अप्रवाह, प्रदाह, व्रण, कर्कटार्बुद, उपाशय आदि।

(ग) आन्त्रगत रोग—ग्रहणी व्रण, चिरकारी उपान्त्र प्रदाह, चिरकारी प्रवाहिका और, बृहदन्त्र प्रदाह, प्रांगोदीय संधान, कर्कटार्बुद, आशय भ्रन्श, कृमिरोग आदि।

(घ) अग्न्याशय (क्लोम) गत रोग—चिरकारी प्रदाह, अश्मरी आदि।

(ङ) यकृत रोग—यकृत प्रदाह, पित्तवाहिनी प्रदाह, चिरकारी पित्ताशय प्रदाह आदि।

(च) मुखरोग—पूयदन्त, चिरकारी गलतुण्डिका प्रदाह आदि।

(छ) वातिक रोग—हिस्टीरिया, नाड्यवसन्नता, फिरंगी खंजता, सूर्यावर्त आदि।

(ज) अन्य—राजयक्ष्मा, फिरंग, विषरोग, हृद्रोग, मूत्रमयता, सगर्भावस्था, गर्भाशय-रोग आदि।

इनमें से जिनका वर्णन अन्यत्र नहीं किया गया है उनका वर्णन नीचे किया जा रहा है।

(क) आमाशयगत रोग—

(१) आमाशय प्रदाह (Gastritis)—इसके २ भेद हैं (i) तीव्र और (ii) चिरकारी।

(i) तीव्र आमाशय प्रदाह (Acute gastritis) इसके ४ भेद होते हैं—(अ) सामान्य, (ब) प्रसेक, (स) विषज और (द) पाक।

(अ) सामान्य आमाशय (Simple gastrtis) इसकी उत्पत्ति भोजन की विषमता से होती है। मात्रा से अधिक या गरिष्ठ भोजन, अत्यन्त चटपटे पदार्थ, सड़े-गले बासे पदार्थ एवं अत्यधिक मद्यपान करने से एवं ऋतु अथवा जलवायु की प्रतिकूलता (विशेषतः गर्म और तर जलवायु) से यह रोग उत्पन्न होता है। बेचैनी, उदर में भारीपन एवं पीड़ा विशेषतः आमाशयिक प्रदेश में, क्वचित् आध्मान, उद्गार, हृल्लास-वमन, शिरदर्द, मल-लिप्त जिह्वा लालाप्रसेक, अतिसार आदि प्रधान लक्षण हैं। कुछ रोगियों को शीत-कम्प सह ज्वर आता है जो १०१° से १०३° तक बढ़ सकता है। वमन अत्यधिक हो सकते हैं किन्तु सामान्यतः २-४ से अधिक नहीं होते। वमन में कफ एवं थोड़ा पित्त अन्न-मिश्रित निकलता है; लवणाम्ल नहीं रहता किन्तु कभी-कभी दुग्धाम्ल (Lactic acid) और वसाम्ल (Fatty acids) रहते हैं। बालकों में अतिसार और शूल की प्रधानता रहती है।

यह रोग १-२ दिनों में शांत हो जाता है किन्तु कुछ मामलों में अधिक काल तक रह सकता है।

(ब) तीव्र आमाशय प्रसेक (Acute gastric catarrh or catarrhal Gastritis)—इसकी उत्पत्ति आन्त्रिक ज्वर, लोहित ज्वर, वातश्लेष्म ज्वर, फुफ्फुसखण्ड एवं फुफ्फुस नलिका प्रदाह सरीखे तीव्र संक्रामक ज्वरों के विष से रोग के आरम्भ में होती है और रोग के लक्षण प्रकट होते ही स्वयमेव शान्ति हो जाती है। मूत्रमयता (uraemia)में मूत्र-विष का प्रसार होने से भी इसकी उत्पत्ति होती है। इस दशा में मूत्रमयता दूर होने पर ही इसको शांति होती है। प्रतिश्याय आदि में कफ निगल जाने से भी इसकी उत्पत्ति होती है—यह प्रकार अपेक्षाकृत अधिक काल तक रहता है।

लक्षण सामान्य आमाशय प्रदाह के ही समान होते हैं किन्तु कफ की उत्पत्ति अधिक होती है।

(स) तीव्र विषज आमाशव प्रदाह (Acute Toxic Gastritis)—संखिया, रसकपूर, दालचिकना, फास्फरस, अमोनिया, थूहर, आक, कनेर, तेजाब आदि सरीखे तीव्र क्षोभक एवं दाहक विषों के सेवन से इसकी उत्पत्ति होती है। मल्ल, अंजन आदि के सूचीवेध से भी कभी कभी इसकी उत्पत्ति होते पायी गयी है।

लक्षणों की गंभीरता विष की मात्रा एवं तीव्रता के अनुसार होती है। आमाशय में भयंकर पीड़ा एवं दाह तथा रक्तमिश्रित वमन प्रधान लक्षण हैं। सामान्य आमाशय प्रदाह के ही लक्षण अत्यन्त गंभीर रूप में विष प्रकोप के लक्षणों के साथ मिलते हैं।

(द) तीव्र आमाशय पाक (Acute Suppurative Gastritis)—इसकी उत्पत्ति अधिकतर मालागोलाणु एवं कभी कभी स्तबकगोलाणु, फुफ्फुगोलाणु अथवा आन्त्र-दण्डाणु के आक्रमण से होती है। सामान्यतः विकीर्ण रूप से पाक होता है किन्तु कभी कभी विद्रधि की रचना भी होती है। सामान्य आमाशय प्रदाह के लक्षण अत्यन्त गम्भीररूप में पूयोत्पादक

क्रिया के लक्षणों के साथ उपस्थित रहते हैं। तीव्र ज्वर, प्रलाप, मूर्च्छा, आमाशय में गंभीर पीड़ा, वमन में रक्त और पूय की उपस्थिति विभेदक लक्षण हैं; रक्त में श्वेतकायाणुओं की वृद्धि पायी जाती है। कुछ मामलों में विद्रधि बाहर से टटोलकर मालूम किया जा सकता है और अत्यन्त विरल मामलों में उसका उभार प्रत्यक्ष दिखाई दे सकता है। विद्रधि फूटने पर बहुत सा पूय वमन में निकलता है। इस रोग के बहुत कम रोगी बच पाते हैं; कुछ में चिरकारी पूयमय प्रदाह की उपलब्धि हो जाती है।

(ii) चिरकारी आमाशय प्रदाह (Chronic Gastritis)—गरिष्ठ अथवा अत्यन्त चटपटा भोजन, मद्य, तम्बाकू, चाय, काफी, बरफ आदि के दीर्घकाल तक अधिक मात्रा में सेवन से; अधिक मात्रा में साधारण पदार्थ खाने की आदत से; भूख न लगने पर भी भोजन करने से; आमाशय में चिरकारी व्रण कर्कटार्बुद आदि की उत्पत्ति से; प्रतिहारिणी शिरा के प्रवाह में विकृति होने से तथा रक्तक्षय, राजयक्ष्मा, मधुमेह, शोथ रोग वातरक्त आदि के दुष्प्रभाव से इस रोग की उत्पत्ति होती है। मुख, दांत, कण्ठ, नासिका आदि में भी यदि कोई चिरकारी पूय-क्रिया उपस्थित हो जिसका पूय आमाशय में पहुंचता हो तो भी इसकी उत्पत्ति होती है। यह रोग अधिकतर ३०–४० वर्ष की आयु में होता है।

आमाशय का विस्फार अधिकतर होता है; कुछ मामलों में संकोच पाया जाता है। श्लैष्मिक कला एवं उसमें स्थित कफ और अम्ल का स्राव कराने वाले कोषों में तन्तूत्कर्ष एवं अपजनन होजाता है। लवणाम्ल का स्राव अत्यन्त कम अथवा पूर्णतया बन्द हो जाता है। कुछ मामलों में, विशेषतः अधिक संवेदनशील रोगियों में लवणाम्ल की मात्रा पूर्ववत् अथवा किंचित् कम हो सकती है।

रोग अनिश्चित् काल तक रहता है और समय समय पर लक्षणों का शमन और प्रकोप होता रहता है। प्रधान लक्षण भूख समय पर न लगना, मुख का स्वाद विकृत रहना, जिह्वा का अग्रभाग एवं किनारे लाल रहना, लालास्राव अधिक होना, प्रातःकाल जी मचलाना एवं कभी कभी वमन, भोजन के बाद उदर में विशेषतः आमाशयिक प्रदेश में पीड़ा एवं दाह (Heart-burn), आध्मान, उद्गार, उद्गार के साथ कड़वे से द्रव पदार्थ का ऊपर की ओर चढ़ना, सिरदर्द, मलावरोध एवं कभी कभी अतिसार होना हैं। रोग पुराना होने पर काफी क्षीणता आ जाती है तथा हृदय में धड़कन होना, चक्कर आना तथा उन्माद तक हो जाता है। वमन में अधिकतर अन्न निकलता है जो पाचन की विभिन्न अवस्थाओं में होता है। भोजन बहुत अधिक देर तक आमाशय एवं आन्त्र में रुकता और सड़ता है। आमाशय में ७ घंटे बाद भी खाया हुआ पदार्थ थोड़ा बहुत मिल सकता है।

अधिकांश मामलों में आमाशय में लवणाम्ल अत्यन्त कम मात्रा में पाया जाता है, किन्तु कुछ मामलों में एक दम अनुपस्थित रहता है (अम्लरहित आमाशय प्रदाह Gastritis Anacida) और कुछ मामलों में लगभग सामान्य मात्रा में उपस्थित रहता है (अम्लयुक्त आमाशय प्रदाह, Gastritis Acida)। कुछ मामलों में लवणाम्ल के स्थान पर दध्यम्ल आदि पाये जाते हैं। अन्य मामलों में आमाशय में कफ की उत्पत्ति अत्यधिक होती है (श्लैष्मिक आमाशय प्रदाह Gastritis Mucipara)। रोग अत्यन्त पुराना हो चुकने पर श्लैष्मिक धातु का अपजनन हो जाता है जिससे अम्ल एवं कफ की उत्पत्ति सर्वथा बन्द हो जाती है (Gastritis Atrophicans) अपजनन युक्त आमाशय प्रदाह)।

(२) आमाशयिक वातनाड्युत्कर्ष (Neurosis of the Stomach)—इस रोग में आमाशय में कोई स्पष्ट विकृति न होते हुए भी उसका कार्य विकृत रहता है। यह दशा कुछ रोगियों में सहज (Congenital), कुछ में वंशानुगत (Inherited) और कुछ में असंयमी जीवन व्यतीत करने के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। अधिकांश रोगियों की आकृति एवं

चाल-ढाल से उनकी वातिक प्रकृति (Neuropathic Character) का अनुमान लग जाता है किन्तु कुछ में इस प्रकार के कोई लक्षण नहीं मिलते। कभी कभी जब अजीर्ण उत्पन्न करने वाले अन्य कारण भी उपस्थित रहते हैं तब निदान करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। इस प्रकार के अन्तर्गत बहुत से विकार सम्मिलित हैं जिन्हें हम तीन जातियों में बांट सकते हैं—अ. चेष्टावह, ब. परिस्रावी और स. अनुभूति। नीचे इन तीनों श्रेणियों में आने वाले विकारों का पृथक् पृथक् वर्णन किया जा रहा है। ये विकार अकेले शायद ही कभी दृष्टिगोचर होते हैं, अधिकतर अनेक विकार एक साथ पाये जाते हैं।

अ—चेष्टावह वातनाड्युत्कर्ष

(Motor Neuroses)—

(१) गत्याधिक्य (Hyperkinesis of Supermotility)—इस विकार में आहार बहुत जल्द आमाशय से आन्त्र में चला जाता है। यह विकार परतंत्र भेद से दो प्रकार का होता है। परतंत्र गत्याधिक्य अम्ल रस की अधिकता से होता है। स्वतंत्र गत्याधिक्य का कोई स्पष्ट कारण लक्षित नहीं होता, चेष्टावह नाड़ियों का उत्कर्ष ही एकमात्र कारण हो सकता है।

(२) पुरस्सरणाधिक्य (Peristaltic unrest)—यह नाड्यवसन्नता (Neurasthenia) में अधिकतर पाया जाता है। भोजन के तुरन्त बाद ही आमाशय की पुरस्सरण क्रिया इतने जोरों से होने लगती है कि उसका शब्द कुछ दूर तक सुनाई पड़ता है। किसी प्रकार का उद्वेग होने पर पुरस्सरण और भी बढ़ जाता है। कभी कभी यह विकार ग्रहणी तक और कुछ मामलों में बृहदन्त्र तक प्रसारित हो जाता है। रोगी लगभग हृदय की धड़कन के समान ही बेचैनी का अनुभव करता है।

कभी कभी विपरीत पुरस्सरण होता है। जिससे आमाशय और आंतों का पदार्थ ऊपर की ओर चढ़ता है। इससे अधिकतर वमन होता है जिसमें मल के लेंड़े तक निकल सकते हैं।

(३) वातिक उद्गार (Nervous Eructations)—इस विकार में भोजन के बाद सैकड़ों डकारें एक के बाद एक आती हैं जिनसे महान कष्ट होता है। कभी कभी मानसिक उद्वेग के समय पर भी ऐसा होता है। यह विकार अधिकतर हिस्टीरिया अथवा नाड्यवसन्नता के रोगियों में पाया जाता है एवं इस प्रकार के रोगियों के कुटुम्ब के बालकों में भी (सहज प्रवृति के कारण) पाया जा सकता है।

साधारणतः उद्गार से निकलने वाली वायु में आहार से उत्पन्न कई प्रकार की गैसें रहती हैं परन्तु इस रोग में शुद्ध वायु निकला करती है। रोगी जानबूझकर आदतवश अथवा अनजाने ही वायु निगलता है और फिर यह वायु डकार के रूप में निकलती है। इस दशा को वायुभक्षण (Aerophagy) भी कहते हैं।

(४) वातिक वमन (Nervous Vomiting)—यह रोग भी हिस्टीरिया से सम्बन्धित है। अधिकतर काले रङ्ग की स्त्रियां इससे आक्रान्त होती हैं। आमाशय में एवं भोजन में कोई विकृति नहीं पायी जाती है। संभवतः वमन उत्पन्न कराने वाली वातनाड़ियों के विकार से ऐसा होता है। इस प्रकार के वमन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वमन होते समय न तो उबकाई आती हैं और न जोर ही लगाना पड़ता है; बिना किसी प्रकार की तकलीफ के भोजन ऊपर चढ़कर मुंह में आजाता है और रोगिणी उसे थूक देती है। यह वमन अधिकतर भोजन के पश्चात् ही होता है किन्तु अन्य समयों पर भी होसकता है। स्वास्थ्य पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता।

वातिक वमन का एक दूसरा प्रकार भी है जो वात रोगों में आमाशयिक उपद्रव (Gastric Crisis) होने से होता है। इस वमन के लक्षण तीव्र या चिरकारी अजीर्ण से उत्पन्न वमन के समान होते हैं।

(५) जुगाली (Rumination. Merycismus) यह हास्यास्पद विकार नाड्यवसन्नता, हिस्टीरिया, अपस्मार तथा अर्धविकसित मस्तिष्क वाले रोगियों (Idiots) में पाया जाता है, कुछ व्यक्तियों में वंशानुगत भी हो सकता है। इससे पीड़ित व्यक्ति पशुओं के समान जुगाली करता है अर्थात् खाया हुआ पदार्थ मुंह में लौट आता है जिसे वह पुनः चबाकर निगलता है। यह विकार कई वर्षों तक अथवा जीवन भर रह सकता है। स्वास्थ्य पर दुष्प्रभाव नहीं पड़ता।

(६) हार्दिक द्वार का उद्वेष्ठन (Spasm of the Cardia)—बहुत जल्दी में भोजन करने से, अत्यन्त शीतल अथवा अत्यन्त गर्म भोजन करने से, आमाशय में नलिका आदि का प्रवेश कराने से एवं धनुर्वात (Tetanus), नाड्यवसन्नता, हिस्टीरिया आदि रोगों में और विशेषतः वायुभक्षण से आमाशय के हृदय-समीपस्थ द्वार (प्रवेश-द्वार) का उद्वेष्ठनयुक्त संकोच होता है जिससे पीड़ा होती है। यह उपद्रव क्षणिक रहता है इसलिए महत्वहीन है।

यदि इसके साथ आमाशय के पश्चिम द्वार का भी संकोच हो (Pyloric spasm) तथा इसका कारण वायुभक्षण हो तो आमाशय में तनाव उत्पन्न होकर पीड़ा होती है—इसे आमाशयिक वायुशूल (Gastric pneumatosis) कहते हैं। यह दशा काफी देर तक रह सकती है और कुछ मामलों में अत्यन्त कष्टप्रद होती है।

(७) पश्चिम मुद्रिकाद्वार का उद्वेष्ठन (Pyloric spasm) आमाशय में क्षोभक पदार्थों के प्रवेश से, अम्लता की वृद्धि से और आमाशय में व्रणादि की उपस्थिति में आमाशय के पश्चिम मुद्रिका द्वार का उद्वेष्ठनयुक्त संकोच होता है। संकोच से पीड़ा होती है और पुरस्सरण क्रिया (Peristalsis) दृष्टिगोचर होने लगती है। अम्लतावृद्धि की दशा में संकोच होने से आमाशय विस्फारित होकर दुर्बल होजाता है।

(८) आमाशय दौर्बल्य (Atony of the stomach)—विषम भोजन करने से, आमाशय के स्थानिक रोगों से और सार्वांगिक रोगों से उत्पन्न दौर्बल्य के फलस्वरूप आमाशय भी दुर्बल होजाता है। कुछ स्वस्थ प्रतीत होने वाले वात-प्रकृति व्यक्तियों में आमाशय दौर्बल्य सहज या वंशानुगत भी हो सकता है। आमाशय में भारीपन, तनाव, उद्गार आदि तथा आमाशय-विस्फार के लक्षणों के समान लक्षण होते हैं।

(९) हार्दिक द्वार शैथिल्य (Insufficiency of the Cardia)—इस विकृति के कारण अनाज ऊपर की ओर चढ़ता है।

(१०) पश्चिम मुद्रिकाद्वार शैथिल्य (Insufficiency or Incontinence of the Pylorus)—इस विकृति के कारण खाया हुआ पदार्थ अत्यन्त शीघ्र ही आमाशय से आन्त्र में चला जाता है और आंत्र में पाये जाने वाले पित्त आदि पदार्थ आमाशय में आजाते हैं। परीक्षा करने के लिए वायु भरकर आमाशय को कठोर बनाते समय इस विकृति का निदान होता है; भरी गयी वायु आमाशय में न ठहरकर अतिशीघ्र आंत्र में चली जाती है।

ब परिस्रावीवातनाड्यूत्कर्ष

(Secretory Neuroses)—

(१) लवणाम्लवृद्धि, अम्लता वृद्धि (Hyperchlorhydria, Hyperacidity, Superacidity)—इस रोग में पाचक पित्त (आमाशयिक रस, Gastric Juice) की अम्लता में वृद्धि हो जाती है। स्राव नियमित समय पर होता है और उसकी मात्रा साधारण ही रहती है किन्तु वह सामान्य अवस्था में होने वाले स्राव की अपेक्षा अत्यधिक खट्टा रहता है। वातिक प्रकृति के युवक-युवतियों में अजीर्ण का यही प्रकार सबसे अधिक पाया जाता है। लक्षण भोजन के २-३ घंटे बाद, पाचनक्रिया के मध्य काल में प्रकट होते हैं। आमाशयिक प्रदेश में भारीपन

और दाहयुक्त पीड़ा, अम्लोद्गार, वमन होने से शांति मिलना, क्षुधा बहुत कुछ अच्छी लगना, शरीर की धातुओं का विशेष क्षय न होना एवं मलावरोध रहना—प्रधान लक्षण हैं। इस प्रकार के अधिकांश रोगियों में आमाशय व्रण मिलता है।

(२) स्रावबृद्धि (Supersecretion)—इस रोग में पाचकपित्त का स्राव अधिक मात्रा में होता है। अधिकांश मामलों में अम्लता बढ़ी हुई रहती है और कुछ में साधारण। कुछ रोगियों में स्राव समय समय पर होता है (सामयिक, Periodical or Intermittent) और कुछ में लगातार (सतत, Continuous)।

सामयिक प्रकार बहुत कम पाया जाता है और प्रायः गम्भीर नाड्यवसन्नता अथवा फिरङ्गी खंजता के साथ पाया जाता है। आक्रमण किसी भी समय पर हो सकता है; भोजन से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। आक्रमणकाल में थोड़े ही समय में बहुत बड़ी मात्रा में अत्यन्त अम्ल रस का स्राव हो जाता है। इसके साथ ही आमाशय में काटने के समान पीड़ा और तीव्र सिरदर्द होता है। थोड़ी ही देर बाद वमन हो जाता है। वान्त पदार्थ अधिकतर स्वच्छ जलीय पदार्थ हुआ करता है किन्तु यदि आमाशय में भोजन रहा हो तो वह भी निकलता है। वान्त पदार्थ इतना खट्टा होता है कि गले में अत्यधिक क्षोभ होता है, छिल सा जाता है और देर तक पीड़ा रही आती है।

सतत प्रकार अधिक पाया जाता है। अम्ल रस का स्राव लगातार होते रहने से पश्चिम मुद्रिका द्वार में उद्वेष्ठनयुक्त संकोच होता है जिसके फलस्वरूप आमाशय विस्फारित हो जाता है। मण्ड (स्टार्च Starch) का पाचन देर से होता है। आमाशयिक प्रदेश में, भारीपन एवं पीड़ा तथा अम्लोद्गार आते हैं। कभी कभी आमाशय रिक्त होने पर भी स्राव चालू रह सकता है जिससे उस दशा में भी अम्लोद्गार- अम्लवमन आदि लक्षण पाये जा सकते हैं।

(३) अम्लाल्पता, अम्लहीनता और स्रावहीनता (Subacidity or Hypochlorhydria, Inacidity or achlorhydria, and Achylia Gastrica)—चिरकारी आमाशय प्रदाह और आमाशय कर्कटार्बुद की उपस्थिति में आमाशय में अम्ल की कमी रहती है; वातिक अजीर्ण की गंभीर दशाओं में भी अम्लरस की कमी रहती है किन्तु नियमित समय के भीतर आमाशय खाली होता रहता है—अम्लाल्पता।

अम्लरस की पूर्ण अनुपस्थिति, फिरंगी खंजता, कर्कटार्बुद, हिस्टीरिया एवं श्लैष्मिक कला की अत्यन्त जड़ता की दशाओं में होसकती है—अम्लहीनता।

अम्लरस की पूर्ण अनुपस्थिति के अधिकांश मामलों में अन्य पाचक रसों पैप्सिन आदि की उपस्थिति रहती है किन्तु कुछ मामलों में ये भी अनुपस्थित रहते हैं—स्रावहीनता।

लक्षण अन्य दशाओं पर निर्भर रहते हैं। जब तक चेष्टावह नाड़ियां अपना कार्य भली भांति करती हैं तब तक लक्षणों की प्रतीति नहीं होती। श्लैष्मिक धातु का अत्यधिक अपजनन हो जाने पर भी लक्षण प्रतीत नहीं होते। किन्तु आमाशय दौर्बल्य यदि उपस्थित हो तो भयंकर आमाशयिक एवं आन्त्रिक लक्षण उत्पन्न होते हैं। नाड्यवसन्नता और हिस्टीरिया की उपस्थिति में अनुभूति वातनाड्युत्कर्ष के गंभीर लक्षण उत्पन्न होते हैं।

स—अनुभूत वातनाड्युत्कर्ष—

(Sensory Neuroses)—

(१) परमस्पर्शज्ञता (Hyperaesthesia)—यह दशा वातिक स्वभाव के रोगियों में अधिकतर नाड्यवसन्नता अथवा हिस्टीरिया के साथ पायी जाती है। आमाशय में कोई स्पष्ट विकृति न होते हुए भी भोजन के बाद अथवा अन्य समयों पर रोगी उदर में भारीपन, दाह आदि लक्षणों का अनुभव करता है। परीक्षा करने पर पाचन-क्रिया बिलकुल निर्दोष

मिलती है। कोई कोई रोगी इन लक्षणों से इतने परेशान होते हैं कि सूखकर कंकालवत् हो जाते हैं।

(२) आमाशयशूल (Gastralgia, Gastrodynia)—समय समय पर आमाशय में उठने वाला शूल ३ प्रकार का होसकता है (i) आमाशय के रोग, व्रण अर्बुद आदि से उत्पन्न, (ii) चिरकारी वात रोगों में समय समय पर उपद्रव के रूप में होने वाला, और (iii) स्वतन्त्र वातिक शूल। यहां स्वतन्त्र वातिक शूल का ही वर्णन किया जारहा है—

स्वतन्त्र वातिकशूल का आमाशयादि की किसी विकृति से कोई संबन्ध नहीं होता वैसे दोनों का सह-अस्तित्व हो सकता है। यह रोग अधिकतर परेशान और चिन्तित रहने वाले व्यक्तियों को होता है जिसमें से अधिकांश नाड्यवसन्नता, हिस्टीरिया या आर्तव विकार के भी रोगी होते हैं। शूल के आक्रमण का कोई निश्चित समय नहीं होता और न भोजन से ही कोई सम्बन्ध रहता है। कभी कभी मलेरिया के समान निश्चित समय पर इसका आक्रमण हुआ करता है। लक्षण अन्य प्रकार के शूलों से भिन्न रहते हैं। रोगी एकाएक उदर में भयंकर शूलवत् वेदना का अनुभव करता है। शूल का प्रसार पीठ तक और निचली पसलियों के घेरे में होता है। वमन प्रायः नहीं होता और अधिकतर कुछ खालेने से शान्ति मिलती है। दबाने से शान्ति मिलती है किन्तु जोर से दबाने से पीड़ा बढ़ती है।

पित्ताश्मरी, आमाशयव्रण, आमाशयार्बुद आदि से उत्पन्न शूलों से इसका विभेद करना आवश्यक होता है।

(३) क्षुधाधिक्य, भस्मक रोग (Bulimia)—इस रोग में समय-समय पर अस्वाभाविक रूप से अत्यधिक भूख के आक्षेपवत् आक्रमण हुआ करते हैं जिनमें रोगी की भोजन करने की शक्ति आश्चर्यजनक रूप से बढ़ जाती है। यह विकार आमाशयिक स्रावाधिक्य, मधुमेह, कालज्वर, कृमिरोग, उद्दृप्ति गलगण्ड (Exophthalmic Goitre), हिस्टीरिया, अपस्मार, मस्तिष्क विद्रधि, उन्माद आदि रोगों में पाया जाता है। आक्रमण अधिकतर रात्रि के समय होता है। रोगी की नींद खुलती है और उसे भूख के कारण पीड़ा का अनुभव होता है तथा ऐसा लगता है यदि वह भोजन नहीं करेगा तो बेहोश हो जावेगा। कभी-कभी अधिक मात्रा में भोजन करने के बाद तुरन्त ही इस प्रकार का आक्रमण होसकता है। आक्रमण की शान्ति भोजन की थोड़ी या बेहद बड़ी मात्रा से होती है। इस प्रकार की दशा अधिक दिनों तक रहने से आमाशय प्रदाह, आमाशय विस्फार या आमाशय दौर्बल्य की उत्पत्ति होती है।

(४) अतृप्ति रोग (Akoria)—इस रोग में भोजन कितना भी किया जावे तृप्ति कभी नहीं होती। रोगी सदैव पेट में खालीपन का अनुभव करता रहता है। यह विकार हिस्टीरिया एवं नाड्यवसन्नता से सम्बन्धित है।

(५) वातिक अरुचि, वातिक क्षुधानाश (Anorexia Nervosa)—यह विकार हिस्टीरिया के अन्तर्गत माना जाता है। अधिकतर वातिक प्रकृति की लड़कियां ही इससे आक्रान्त होती हैं जिनकी आयु १५–२० वर्ष के लगभग हो, किन्तु ११-१२ वर्ष की आयु में भी देखा गया है। इस रोग में भोजन के प्रति अत्यन्त घृणा हो जाती है और यदि बलपूर्वक खिलाने का प्रयत्न किया जावे तो आक्षेप आजाता है। स्थिति बड़ी दयनीय होती है और ऐसा प्रतीत होता है कि रोगिणी अब कभी भी खा न सकेगी। कभी-कभी इस प्रकार हफ्तों गुजर जाते हैं। बल मांस का क्षय अत्यधिक होता है और अत्यन्त क्षीणता से मृत्यु तक हो सकती है।

(६) आमाशय व्रण (Gastric Ulcer)—इसकी उत्पत्ति अम्लताधिक्य और स्रावाधिक्य के कारण होती है। कफस्राव की कमी, श्लैष्मिक कला की निर्बलता मद्य, चाय, तम्बाकू एवं मिर्च मसालों का अत्यधिक उपयोग, वातिक प्रकृति, अत्यधिक परिश्रम, मुख, कण्ठ, नासिका, उपान्त्र

अथवा पित्तमार्ग में पूयोत्पादक क्रिया की उपस्थिति एवं पश्चिममुद्रिकाद्वार का संकोच सहायक कारण हैं। अधिक मात्रा में निकला हुआ अत्यन्त अम्ल रस आमाशय की कला में क्षोभ उत्पन्न करके प्रदाह और तत्पश्चात् प्रदाहयुक्त कला का क्षरण करके व्रण की उत्पत्ति करता है। (राजयक्ष्मा अथवा फिरंग के विषों से भी व्रण उत्पन्न होते हैं।) यह रोग स्त्रियों में २० वर्ष और पुरुषों में ४० वर्ष की आयु के आस-पास पाया जाता है, पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियां अधिकतर आक्रान्त होती हैं।

व्रण आमाशय में किसी भी स्थान पर हो सकता है किन्तु अधिकतर पश्चिम मुद्रिका द्वार (Pylorus) के समीप ह्रस्व वक्रता (Lesser curvature) वाले भाग में पाया जाता है। अधिकतर एक ही व्रण होता है किन्तु कभी-कभी कई व्रण होसकते हैं। व्रण सीमा अनियमित एवं उभरी हुई तथा रक्त पूर्ण होती है। व्रण का व्यास ५ से २५ मिलीमीटर तक पाया जाता है। गहराई कभी कम, कभी अधिक पायी जाती है। गहराई अधिक होने पर छिद्र हो जाने की संभावना रहती है। चिरकारी और तीव्र के भेद से आमाशय व्रण २ प्रकार का होता है।

तीव्र आमाशय व्रण अधिकतर युवतियों में पाया जाता है। अधिकांश मामलों में कोई लक्षण उत्पन्न नहीं होते, कुछ में आमाशय प्रदाह के समान लक्षण उत्पन्न होते हैं, गंभीर व्रण होने पर रक्तवमन (Hemetemesis) और कभी-कभी छिद्रकी उत्पत्ति तक सम्भव है। ये व्रण अधिकतर स्वयमेव भर जाते हैं किन्तु कभी-कभी चिरकारी बन जाते हैं।

चिरकारी आमाशय व्रण की उपस्थिति में आमाशयिक प्रदेश में पीड़ा रहती है जो भोजन करने पर और भी बढ़ जाती है। पीड़ा का रूप दाहयुक्त शूल के समान रहता है। वेग बढ़ने पर वमन हो जाता है और शांति मिल जाती है। क्षारों के सेवन से भी शांति मिलती है। वमन में खाया हुआ पदार्थ अत्यन्त अम्ल रस के साथ मिला हुआ निकलता

आमाशय-व्रण

है। कभी कभी वमन के साथ रक्त मिला हुआ निकलता है और कभी कभी वमन में केवल रक्त निकलता है। मल के साथ भी रक्त स्वाभाविक रूप में या परिवर्तित रूप में काला होकर (श्याममल Melaena) निकल सकता है किन्तु यह प्रवृत्ति आमाशय व्रण की अपेक्षा ग्रहणी व्रण में अधिक पाई जाती है।

आमाशयिक प्रदेश टटोलने पर कुछ कठोर प्रतीत होता है और दबाने से पीड़ा होती है। जीभ स्वच्छ रहती है और भूख अच्छी लगती है किन्तु रोगी पीड़ा के भय से भोजन कम करता है जिससे मलावरोध रहता है। रक्ताल्पता और क्षीणता में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है। रूक्ष एवं कटु पदार्थों के सेवन से पीड़ा बढ़ती है और स्निग्ध, मृदु तथा सुपाच्य आहार विशेषतः दुग्धाहार से शमन होता है।

रोगकाल अनिश्चित है। बीच बीच में कुछ काल के लिये शांत होकर पुनः उभार करता है। कुछ मामलों में अपने आप व्रण का पूरण हो जाता है। कुछ मामलों में भयंकर रक्त वमन होता है जिससे मृत्यु तक हो सकती है। गहरे व्रण छिद्र बन सकते हैं (Perforation) जिसके फलस्वरूप विद्रधि, नाड़ीव्रण या उदरावरण प्रदाह हो सकता है। रोग अत्यन्त पुराना होने पर पश्चिम मुद्रिका द्वार का संकोच या

विभक्त आमाशय (Hour-Glass Stomach)
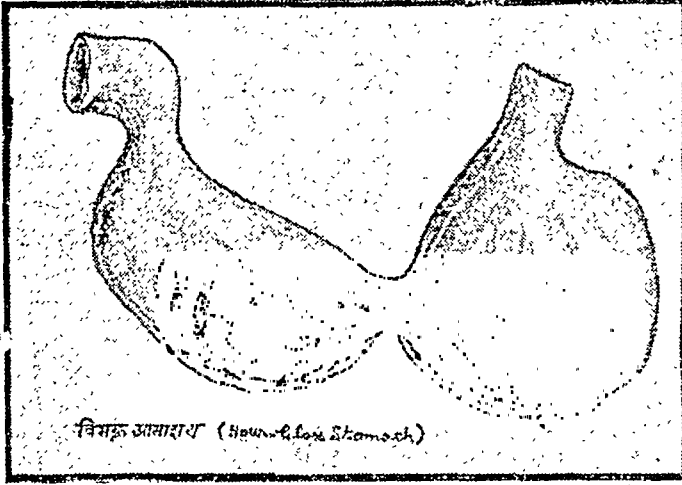
अवरोध, आमाशय के आकार में विकृति (विभक्त आमाशय (Hour glass contraction of the stomach), संलग्नता (Perigastric Adhesions) अथवा कर्कटाबुर्द की उत्पत्ति हो सकती है।

रोगविनिश्चय लवणाम्ल वृद्धि, रक्तवमन, दाह और शूलयुक्त पीड़ा, दुग्धाहार से शमन, क्ष-किरण चित्र (बेरियम आहार के पश्चात्) और आमाशय दर्शक-यंत्र (Gastroscope) से होता है।

(४) आमाशयाबुर्द-(Gastric Tumours)—आमाशय में अघातक (सौम्य) और घातक दोनों प्रकार के अर्बुद उत्पन्न होते हैं।

(अ) अघातक अथवा सौम्य अर्बुद-(Benign Tumours) आमाशय में सौम्य अर्बुद बहुत कम पाये जाते हैं इसलिये इनकी उपस्थिति अधिकतर चिकित्सकों को घातक अर्बुद का भ्रम करा देती है। विभेदक निदान के लिये इनका ज्ञान आवश्यक है। सौत्रार्बुद (Fibroma), मांसार्बुद (Myoma) सौत्र-मांसार्बुद (Fibro-myoma), रक्तार्बुद (Angioma), वसार्बुद (Lipoma), ग्रन्थ्यर्बुद (Adenoma) और कोष्ठार्बुद (Cyst) कुछ मामलों में पाये गये हैं। ग्रन्थ्यर्बुद अन्य प्रकारों की अपेक्षा अधिक पाया गया है।

सामान्यतः ये किसी प्रकार का कष्ट नहीं देते। किन्तु यदि ये बहुत बड़े हों तो आमाशय में साधारण पीड़ा उत्पन्न करते हैं और यदि इनका वृन्त काफी लम्बा हो तो किसी द्वार में फंसकर अवरोध के लक्षण उत्पन्न करते हैं। यदि किसी तरह इनकी श्लैष्मिक कला में व्रण बन जावे तो रक्तवमन हो सकता है।

(ब) घातक अर्बुद-(Malignant Tumours) आमाशय में अधिकतर कर्कटार्बुद और कभी कभी घातक मांसार्बुद पाया जाता है।

(i) कर्कटार्बुद (Carcinoma, Cancer)—

कर्कटार्बुद के लिये आमाशय एक अत्यन्त प्रिय स्थल है। कर्कटार्बुद के मामलों में पुरुषों में ३ में से १ में और स्त्रियों में ५ में से १ में कर्कटार्बुद की उत्पत्ति आमाशय में पाई जाती है। वैसे यह रोग किसी भी आयु में हो सकता है किन्तु ४० और ६० वर्ष की आयु के लगभग अधिकतर उत्पन्न होता पाया गया है। काली जातियों की अपेक्षा गोरी जातियों में यह रोग अधिक व्याप्त है।

आमाशय का कर्कटार्बुद स्वतंत्र (मूलभूत) अथवा आनुषंगिक दोनों प्रकार का हो सकता है। स्वतंत्र प्रकार की उत्पत्ति आमाशय व्रण अथवा आमाशय प्रदाह की पुरातन अवस्था में होती है। आनुषंगिक प्रकार की उत्पत्ति पित्ताशय अथवा अग्न्याशय अथवा बृहदन्त्र में स्थित कर्कटार्बुद का प्रत्यक्षरूप से प्रसार होने से होती है। ६० % प्रतिशत आमाशय कर्कटार्बुद पश्चिम मुद्रिका द्वार के समीप होते हैं जिनमें से ७५ % प्रतिशत ह्रस्व वक्रता के क्षेत्र में पाये जाते हैं। इनकी रचना ४ प्रकार की होती है—

(१) कठोर (Scirrhous)—यह प्रकार सबसे अधिक पाया जाता है। इस प्रकार का कर्क-

(Leather-bottle Stomach) हो गया है।
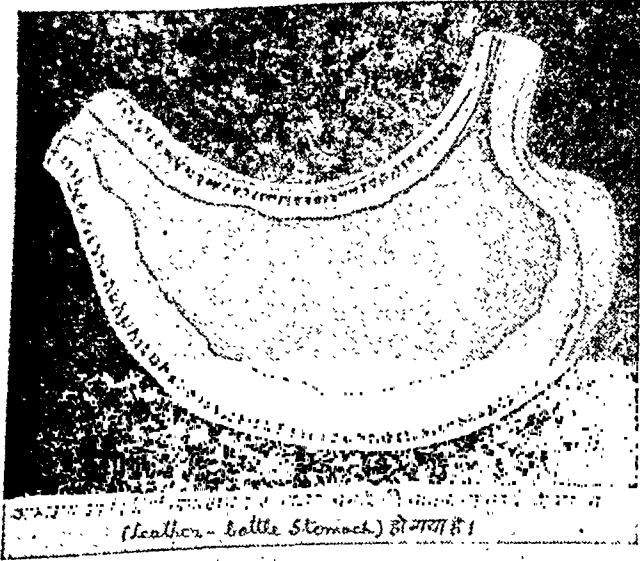
टार्बुद ऊपरी धातु तक ही सीमित रहता है, व्रण काफी चौड़ा रहता है और तन्तूत्कर्ष अत्यधिक होता है। आमाशय सुकड़ कर छोटा एवं बेडौल हो जाता है।

(२) विकीर्ण (Infiltrative)—यह समूचे आमाशय में फैला रहता है। आमाशय पेशी मोटी हो जाती है।

(३) मृदु (Medullary or Eucephaloid) यह अत्यन्त कोमल, लाल रंग का और गोभी के फूल के समान बनावट वाला होता है। साधारण सी रगड़ या आघात से टूट-फूट कर रक्तस्राव करना इसका स्वभाव है।

(४) मांसांकुरवत् (Polypoid)—इसका आकार बहुत कुछ कुकरमुत्ते के ऊपरी भाग के समान होता है। अन्य प्रकारों की अपेक्षा यह कुछ सौम्य होता है।

रोग का आरम्भ होते ही भूख की कमी और साधारण अजीर्ण के लक्षण रहने लगते हैं। फिर उदर में पीड़ा रहने लगती है जो भोजन करने के २-३ घण्टे बाद काफी कष्टदायक हो जाती है। व्रण की अपेक्षा यह पीड़ा कुछ सौम्य होती है किन्तु उसकी अपेक्षा अधिक स्थायी होती है तथा वमन से शांत नहीं होती। वमन अक्सर होता है जिसमें पिसी हुई काफी के रंग का परिवर्तित रक्त मिश्रित भुक्त पदार्थ बड़ी मात्रा में निकलता है। मल में भी रक्त अदृश्य रूप से विद्यमान रहता है। रक्तवमन अथवा रक्त-मिश्रित श्याममल प्रायः नहीं पाया जाता। अर्बुद यदि हार्दिक द्वार के पास हो तो भोजन के बाद शीघ्र ही वमन होता है अन्यथा देर से होता है। आमाशय में अम्लता की कमी अथवा पूर्ण अनुपस्थिति रहती है इसलिए वान्त पदार्थ खट्टा नही रहता। अरुचि प्रारम्भ से ही रहती है जो आगे चलकर अत्यन्त बढ़ जाती है। विशेषतः मांस के प्रति घोर अरुचि हो जाती है। हृल्लास और आध्मान प्रायः हुआ ही करते हैं। सभी धातुओं का क्षय होता है। थोड़ा ज्वर यदा कदा हो जाया करता है। रक्त-परीक्षा में प्रारम्भ में उपवर्णिक (Hypochronic) और बाद की अवस्थाओं में परमवर्णिक रक्तक्षय के लक्षण एवं श्वेतकायाणूत्कर्ष मिलता है।

अर्बुद का प्रसार लसवाहिनियों, रक्तवाहिनियों और उदरावरण के द्वारा होता है। उदरगुहा में स्थित लसग्रन्थियां प्रारम्भ में ही आक्रांत हो जाती हैं। गले और वंक्षण की बांयी ओर की लसग्रन्थियों की वृद्धि होती है। यकृत, वपावाहन (Omentum) और आंतें भी प्रभावित हो जाती हैं जिसके फल स्वरूप जलोदर हो जाता है। गुदा में भी अर्बुद की आनुषंगिक उत्पत्ति पायी जा सकती है। यदि अर्बुद पश्चिम मुद्रिका द्वार के समीप हो तो उसका अवरोध हो जाता है। बाद की दशाओं में आमाशय में छिद्र होकर नाड़ीव्रण की उत्पत्ति होती है। यदि नाड़ीव्रण का सम्बन्ध वृहदन्त्र से हुआ तो वमन में मल आता है तथा अतिसार होता है। उरु की शिराओं में रक्त जम जाता है जिससे पैरों में शोथ और कर्दम तक हो जाता है। पूयमय फुफ्फुसावरण प्रदाह (Empyema) अथवा फुफ्फुसपाक (Septi-

Pneumonia) अथवा अन्य भागों में पूयोत्पत्ति होना अन्तिम उपद्रव है। अधिकांश रोगी वर्ष के भीतर मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं।

रोगविनिश्चय लक्षणों से, क्ष-किरण से और आमाशयदर्शक यन्त्र से होता है।

(ii) घातक मांसार्बुद (Sarcoma)—यह बहुत कम पाया जाता है। लक्षण कर्कटार्बुद के समान होते हैं। विभेद शल्यकर्म करते समय आमाशय चीरने पर होता है।

(५) आमाशय-भ्रंश (Gastroptosis)—उदर की पेशियों की और स्नायुओं की कमजोरी एवं शिथिलता से, वसा की कमी से, आमाशय विस्फारित एवं निर्बल होने से अथवा उदर पर आघात या दबाव पड़ने से आमाशय अपने स्थान से हट जाता है। कुछ मामलों में यह दशा जन्मजात भी हो सकती है। स्त्रियों में वारंवार जल्दी जल्दी गर्भ धारण होने और प्रसवकाल में उचित आराम न मिलने से यह विकार उत्पन्न होता है। रोगी अधिकतर दुबला पतला कमजोर व्यक्ति हुआ करता है। नाड्यवसन्नता अधिकांश में पायी जाती है। स्त्रियों में यह विकार अधिक पाया जाता है। कभी कभी हृष्ट पुष्ट और स्वस्थ दिखने वाले व्यक्तियों में भी यह विकार बिना किसी प्रकार के लक्षणों की उत्पत्ति के पाया जाता है।

आमाशय भ्रंश का सबसे अधिक पाया जाने वाला प्रकार वह है जिसमें आमाशय लटककर नाभि के पास अथवा उसके भी नीचे पहुँच जाता है और उसका आकार अंग्रेजी के 'J' अक्षर के समान हो जाता है (Atonic J shaped Stomach)। इस दशा में आमाशय में अम्लाल्पता या अम्लहीनता रहती है, भूख कम लगती है और आमाशय में मन्द पीड़ा रहती है। आमाशय में कफ की उत्पत्ति अधिक होती है। आमाशय देर से खाली होता है और खाली होने पर भी भरे हुऐ के समान प्रतीत होता है।

दूसरे प्रकार में आमाशय का पश्चिम भाग (Pyloric End) ऊपर की ओर उठ जाता है। इस दशा को गोशृङ्ग आमाशय (Cowhorn Stomach) कहते हैं। इस विकार की उपस्थिति में भूख अच्छी लगती है किन्तु थोड़े से भोजन से तृप्ति हो जाती है और २-३ घण्टे बाद पुनः भूख लग आती है। आमाशय में अम्ल की अधिकता, और कफ की कमी रहती है। आमाशय अपेक्षाकृत शीघ्र खाली होता है। स्वास्थ्य अधिकतर अच्छा रहता है।

आमाशय वेष्ठन (Gastric Volvulus)—कभी कभी आमाशय ऐंठ जाता है जिसके फलस्वरूप उसके दोनों द्वार अवरुद्ध हो जाते हैं। यह दशा प्रारम्भ होते ही आमाशयिक प्रदेश में तीव्र शूल होता है जिसके फलस्वरूप स्वेद, मूर्च्छा, अवसाद, ज्वर आदि लक्षण होते हैं। वमन नहीं होता किन्तु भोजन ऊपर की ओर चला जाता है। आमाशयिक प्रदेश में एक कड़ा उभार उत्पन्न होता है। आमाशय में नलिका प्रवेश कठिन या असम्भव होता है (विनिश्चयात्मक चिह्न)। यदि शीघ्र शस्त्रोपचार न किया जावे तो रोग घातक हो सकता है। यह रोग बहुत कम पाया जाता है।

(ख) अन्नप्रणाली-गतरोग—

(६) अन्नप्रणाली-अप्रवाह (Oesophageal Achalasia)—यह दो प्रकार का होता है—(१) ग्रसनिकीय और (२) हार्दिक द्वारीय।

(i) ग्रसनिकीय अन्नप्रणाली-अप्रवाह (Pharyngo-Oesophageal Achalasia)—यह रोग लौह की कमी से उत्पन्न होता है। इसमें ग्रसनिका सम्बन्धित पेशियों का कार्य विकृत हो जाता है जिससे भोजन निगलना कठिन हो जाता है। रोग धीरे धीरे बढ़ता है और बार बार आक्रमण करता है। अधिकतर प्रौढ़ स्त्रियां इससे आक्रांत होती हैं।

रोग का आरम्भ चिरकारी मुखपाक से होता है जो ग्रसनिका तक फैल जाता है तथा श्लैष्मिक कला

को दुर्बल कर देता है। धीरे धीरे निगलने में कष्ट होने लगता है जो क्रमशः बढ़ता ही जाता है। बीच बीच में कुछ काल के लिये आराम हो जाता है किन्तु थोड़े ही समय बाद पुनराक्रमण होता है। परीक्षा करने पर आमाशय में अम्लहीनता, प्लीहा-वृद्धि और उपवर्णिक रक्तक्षय और इनके द्वारा उत्पन्न लक्षण मिलते हैं। नाखूनों का आकार चम्मच के समान हो जाता है और आसानी से टूटते हैं। क्ष-किरण चित्र में ग्रसनिका के पास श्लैष्मिक कला में एक वलय पाया जाता है। रोग पुराना होने पर ग्रसनिका के क्षेत्र में उपकलार्बुद की उत्पत्ति होती है।

(ii) हार्दिक-द्वारीय अन्नप्रणाली-अप्रवाह (Cardiospasm cardio-oesopharyngeal achalasia or Non-relaxation)—इस रोग में आमाशय का हार्दिक द्वार नियमानुसार नहीं खुलता जिससे खाए हुए पदार्थ का बहुत सा भाग आमाशय में न जाकर अन्ननलिका में ही पड़ा रह जाता है। संभवतः अन्न नलिका प्रदाह के फलस्वरूप अथवा विषमयता या जीवतिक्ति की कमी के कारण हार्दिक द्वार की नाड़ियों और पेशियों में विकृति आ जाने से ऐसा होता है।

प्रारम्भ में इस रोग के लक्षण कभी कभी प्रकट होते हैं किन्तु बाद की अवस्थाओं में लगातार रहने लगते हैं। रोगी को स्पष्ट अनुभव होता है कि खाया हुआ पदार्थ उरःफलक के पीछे ही रह जाता है, नीचे नहीं उतरता। अन्न नलिका में बहुत सा पदार्थ भर जाने पर उसके दबाव से कुछ अन्न धीरे धीरे आमाशय में चला जाता है किन्तु अधिकांश वहीं पड़ा रह जाता है। उरः फलक के नीचे भारीपन और पीड़ा प्रधान लक्षण हैं; कुछ काल बाद अन्न-नलिका में भरा हुआ पदार्थ वमन होकर निकल जाता है। इस पदार्थ की परीक्षा करने पर उसमें आमाशय में पाये जाने वाले पदार्थ कदापि नहीं पाये जाते। रोगी के बल-मांस का क्षय अनशन के समान होता है। क्ष-किरण चित्र में हार्दिक द्वार बन्द एवं अन्न नलिका विस्फारित अवस्था में मिलते हैं। रोग पुराना होने पर अन्न-नलिका की श्लैष्मिक धातु की वृद्धि हो जाती है। कुछ मामलों में उपाशय (Diverticulum) अथवा कर्कटार्बुद की उत्पत्ति होती है।

(७) अन्नप्रणाली प्रदाह (Oesophagitis)—

(i) तीव्र अन्नप्रणाली प्रदाह (Acute oesophagitis)—अन्न प्रणाली में किसी पदार्थ के अटक जाने से; तेजाब, रसकपूर सदृष क्षोभक एवं दाहक विषों अथवा अत्यन्त गरम जल, दूध, चाय, आदि के पीने से; स्थानिक कर्कटार्बुद के प्रभाव से एवं रोहिणी, मसूरिका, लोहित-ज्वर, ग्रसनिका प्रदाह इत्यादि के फलस्वरूप या उपद्रवस्वरूप तीव्र अन्नप्रणाली प्रदाह की उत्पत्ति होती है। इस रोग में उरःफलक के नीचे पीड़ा रहती है तथा अन्न निगलने में अत्यन्त कष्ट होता है। वमन हो सकती है जिसमें रक्त एवं कभी कभी पूय भी मिला हुआ रहता है। कारण के अनुसार लक्षण सौम्य या गंभीर हुआ करते हैं। गंभीर मामलों में श्लैष्मिक कला का अत्यधिक विनाश एवं विद्रधि अथवा छिद्र की उत्पत्ति होती है जिसके फलस्वरूप मृत्यु तक हो सकती है। बहुत से मामलों में रोगोपशम होने के साथ ही अन्न प्रणाली संकीर्ण हो जाती है।

(ii) चिरकारी अन्नप्रणाली प्रदाह (Chronic Oesophagitis)—यह रोग अधिकतर आमाशय-प्रदाह अथवा ग्रसनिका-प्रदाह के साथ हुआ करता है। उरः फलक के नीचे पीड़ा और दाह, निगलने में कष्ट एवं रक्त-मिश्रित वमन इसके लक्षण हैं।

(iii) प्रपाचीय अन्नप्रणाली प्रदाह (Peptic oesophagitis)—यह अन्नप्रणाली के प्रपाचीय× व्रण (Peptic Ulcer) की पूर्वावस्था है। लक्षण उसी के अनुसार होते हैं।

× लवणाम्ल वृद्धि के कारण अन्ननलिका, आमाशय एवं ग्रहणी में होने वाले व्रण प्रपाचीय व्रण कहलाते हैं।

(८) अन्नप्रणाली व्रण (Oesphageal Ulcer)–अन्न प्रणाली का व्रण अधिकतर आमाशय व्रण और ग्रहणी व्रण की जाति का होता है। अम्लता-वृद्धि की दशा में अत्यन्त अम्ल रस के ऊपर की ओर गमन करने से इसकी उत्पत्ति होती है। स्थिति हार्दिक द्वार के समीप होती है। इसकी उपस्थिति में भोजन के बाद तुरन्त अथवा एक घंटे के भीतर अन्नप्रणाली के निचले भाग में पीड़ा होती है जो पीठ, बायें कंधे अथवा कण्ठ तक फैलती है। प्रारम्भ में पीड़ा अल्प-काल तक किन्तु बाद की दशाओं में काफी देर तक रहती है। खट्टी डकार भी आती हैं एवं रक्त-वमन तथा श्याममल भी हो सकता है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे अन्न प्रणाली के निचले भाग में कुछ अटका हो। पीड़ा ठोस पदार्थ खाने के बाद ही विशेष रूप से सताती है और तरल पदार्थ खाते रहने से शांत रहती है। क्षार पदार्थों के सेवन से आराम मिलता है। कुछ रोगियों में वायुभक्षण की आदत उत्पन्न होजाती है जो अत्यन्त कष्टप्रद होती है। व्रणित भाग में तन्तूत्कर्ष होकर संकीर्णता उत्पन्न हो सकती है अथवा छिद्र होसकता है।

(९) अन्न-प्रणाली के अर्बुद (Tumours of the Oesophagus)—अन्नप्रणाली में कर्कटार्बुद, घातक मांसार्बुद, उपकलार्बुद, सौत्रार्बुद, सौत्र-मांसार्बुद (Fibro-myoma), मांसार्बुद, वसा-र्बुद, ग्रन्थ्यर्बुद, कोष्ठार्बुद, आदि पाये जाते हैं। इन सब में कर्कटार्बुद महत्वपूर्ण है क्योंकि यही सबसे अधिक पाया जाता है, शेष अत्यन्त विरलतः पाये जाते हैं। यहां केवल कर्कटार्बुद का वर्णन किया जा रहा है, अन्य अर्बुदों से भी लगभग इसी के समान लक्षणों की उत्पत्ति होती है। किन्तु ये अधिकतर मारक नहीं होते। विभेदक निदान अन्न-प्रणाली-दर्शकयंत्र (Oesophagoscope) से होता है।

कर्कटार्बुद (Carcinoma, Cancer)–कर्कटार्बुद के मामलों में लगभग ५% प्रतिशत की स्थिति अन्न-प्रणाली में होती है। रोगी अधिकतर मध्यम आयु के होते हैं जिसमें शराबियों की संख्या अधिक रहती है। अर्बुद का जन्म श्लैष्मिक कला में होता है और अधिकतर वह मांसपेशी के बहुत थोड़े से भाग को प्रभावित करता है किन्तु कभी-कभी पेशी की दीवार को पार करके नलिका के बाहिरी भाग में फैलता हुआ पाया गया है। इसकी वृद्धि अधिकतर आड़ी रेखा से होती है जिससे वह नलिका की पूरी परिधि को घेरकर छल्ला सा बन जाता है, कभी-कभी खड़ी रेखा में भी वृद्धि होती है जिससे नलिका का बहुतसा भाग प्रभावित होता है।

निगलने में कष्ट होना इसका प्रधान लक्षण है जो प्रारम्भ से अन्त तक रहता है। प्रारम्भ में रोगी को ऐसा प्रतीत होता है कि निगलते समय भोजन एक स्थान पर अटकता है। कुछ दिनों में रुका-वट अधिक होने लगती है और अर्बुद के स्थान पर पीड़ा का अनुभव भी होने लगता है। ८ से १८ महीनों के भीतर अन्ननलिका पूर्णतया अवरुद्ध हो जाती है। यदि अर्बुद हार्दिक द्वार के समीप हो तो अन्ननलिका अत्यधिक विस्फारित हो जाती है जिससे निगलने में कष्ट और पीड़ा का अनुभव अत्यधिक होता है अथवा नहीं होता। लाला-प्रसेक, अन्न ऊपर की ओर चढ़ना एवं वमन, अत्यधिक प्यास, मल में रक्त मिला हुआ होने से श्याममल का त्याग आदि अन्य प्रधान लक्षण हैं। धातुओं का क्षय अत्यन्त तीव्रता से होता है। यदि अर्बुद नलिका के ऊपरी भाग में हो तो खांसी आकर भोजन बाहर निक-लता है और यदि निचले भाग में हो तो वह रक्त और पूय के साथ मिलकर धीरे धीरे ऊपर चढ़ता है, प्रतिक्रिया क्षारीय होती है तथा दुर्गन्ध रहती है।

एक कर्कटार्बुद से दूसरे कर्कटार्बुद की उत्पत्ति प्रायः नहीं पायी जाती किन्तु लस-ग्रन्थियां प्रभावित होती हैं—विशेषतः अधोहनु के नीचे की, अक्षकास्थि के भीतरी छोर के पास की तथा आंत्र-निबंधिनी ग्रंथियों की वृद्धि होती है। अर्बुद का दबाव कण्ठ-

नलिका पर पड़ने से श्वास लेते समय आवाज एवं कष्ट होता है तथा खांसी आती है, स्वरयंत्र की वातनाड़ी प्रभावित होने से स्वरभेद अथवा मूकत्व, श्वासनलिका एवं फुफ्फुस में प्रसार होने से खांसी तथा क्षुद्रश्वास, और फुफ्फुसावरण से संबन्धित नाड़ीव्रण की रचना होने से फुफ्फुसावरण में पूयसंचय होता है। ऊपर चढ़ा हुआ भोजन श्वास-नलिका में उतर जाने से श्वास-नलिका प्रदाह होता है जो अधिकतर मृत्यु का कारण बनता है। अन्य मामलों में अनशन में तथा अर्बुद के विष प्रभाव से अत्यन्त क्षीणता आकर मृत्यु होती है। अधिकांश रोगी १-२ वर्ष में मृत्यु को प्राप्त होते हैं। रोग लगभग असाध्य है।

(१०) अन्नप्रणाली के उपाशय (Diverticula of the Oesophagus)—अप्रवाह, प्रदाह, अथवा बाहिरी दीवार के किसी अन्य अंग से चिपक जाने के कारण खिंचाव पड़ने से या बड़े बड़े ग्रास निगलने या कोई बाह्य पदार्थ निगल जाने से दीवार पर दबाव पड़ने से अन्नप्रणाली की दीवार में गर्त, गुहा अथवा थैली के समान उपाशयों की उत्पत्ति होती है। कुछ मामलों में ये सहज भी हो सकते हैं। यदि इनका आकार बड़ा हो तो भोजन भर जाने पर फूलकर ये निगलने में कष्ट या पूर्ण अव-रोध उत्पन्न करते हैं। इनमें भरा हुआ भोजन समय समय पर ऊपर चढ़कर मुंह में आता है। इस प्रकार निकले हुए पदार्थ में आमाशय में पाये जाने वाले पदार्थों का पूर्ण अभाव रहता है। जब तक भोजन भरा रहता है तब तक तनाव होने से पीड़ा और भारीपन तथा कुछ गले में अटका हुआ हो ऐसा अनुभव होता है। कण्ठनलिका पर दबाव पड़ने से कास श्वास उत्पन्न होते हैं। भोजन भलीभांति न कर सकने के कारण धातुओं का नाश होता है।

(ग) आन्त्रगत रोग–

(११) ग्रहणी व्रण (Duodenal Ulcer)—यह रोग पुरुषों में अधिक पाया जाता है। कारण लग-भग वही हैं जिनसे आमाशय व्रण उत्पन्न होता है। व्रण की उत्पत्ति ग्रहणी में आमाशय के पश्चिम मुद्रिका द्वार के समीप अधिकतर होती है। आमाशयिक प्रदेश में भारीपन और दाहयुक्त पीड़ा का अनुभव भोजन करने के ३-४ घण्टे बाद होता है। कुछ मामलों में पीड़ास्थल नाभि के पास या किंचित् दाहिनी ओर रहता है। ऊपर से दबाने से भी पीड़ा का अनुभव होता है। कुछ मामलों में पीड़ा कण्ठ, पसली या दाहिने कंधे तक लहर मारती है। भोजन करने या क्षार पदार्थों का सेवन करने से एवं कुछ मामलों में वमन या आमाशय प्रक्षालन से शांति मिलती है। अधिक भोजन, मद्यपान, धूम्रपान और शीतऋतु से पीड़ा में वृद्धि होती है, गरम ऋतु में पीड़ा प्रायः कम रहती है। कुछ रोगियों को लगातार एकसी मन्द पीड़ा का अनुभव हुआ करता है। कुछ रोगियों में पीड़ा आदि कोई भी सामान्य लक्षण उत्पन्न नहीं होते, छिद्र या रक्तस्राव होने पर ही निदान हो पाता है। वैसे इस रोग में वमन अथवा रक्तवमन नहीं होते किन्तु बाद की दशाओं में आमा-शय प्रदाह, पश्चिम मुद्रिका द्वार संकोच आदि उपद्रव होने पर हो सकते हैं। मलावरोध रहता है और परिवर्तित रक्त मिला हुआ रहने से मल श्यामवर्ण का रहता है।

इस रोग के उपद्रव-स्वरूप पश्चिम मुद्रिका द्वार का संकोच होकर आमाशय विस्फार आदि रोग होते हैं। व्रण का सम्बन्ध किसी धमनी से होने पर भयङ्कर रक्तस्राव होता है जिससे मृत्यु तक हो सकती है। साधारण रक्तस्राव तो प्रायः सभी मामलों में निर-न्तर होता रहता है जिसके कारण मल में श्यामता की उत्पत्ति होती है। पित्त-नलिका में संक्रमण होने से अग्न्याशय प्रदाह की उत्पत्ति होती है। कभी कभी व्रण गहरा होते होते छिद्र का रूप धारण कर लेता है जिससे नाड़ीव्रण, विद्रधि अथवा उदरावरण प्रदाह की उत्पत्ति होती है। ये सभी उपद्रव रोग की जीर्णा-वस्था में होते हैं।

यह रोग अत्यन्त चिरकारी प्रकार का है; ४८

वर्ष तक पुराने व्रण पाये जा चुके हैं। सामान्यतः घातक नहीं होता किन्तु उपद्रवों से मृत्यु होती है।

इसका तीव्र प्रकार कभी कभी शिशुओं में पाया जाता है किन्तु उसकी तीव्रता के विषय में मतभेद है। इसके कुछ मामलों में श्याममल पाया जाता है किन्तु कुछ मामलों में शोष ही एकमात्र लक्षण रहता है।

(१२) चिरकारी उपान्त्र प्रदाह (Chronic Appendicitis)—इस रोग में दाहिनी कुक्षि में अथवा सारे उदर में थोड़ी बहुत पीड़ा रहा करती है जो थकावट तथा मलावरोध होने से बढ़ती है और कभी कभी शूल (उपान्त्र-शूल, Appendicular Colic) का रूप धारण कर लेती है। अजीर्ण रहता है जिसमें भोजन के १ से ३ घण्टे पश्चात् उदर में भारीपन, हृल्लास, वमन, रक्तवमन, शूल, अतिसार, मलावरोध, प्रवाहिका, बृहदन्त्र प्रदाह, असमय पर क्षुधा लगना आदि लक्षण होते हैं। भोजन अथवा क्षार सेवन से पीड़ा में कुछ कमी होती है किन्तु पूरा आराम नहीं मिलता। रक्तक्षय के लक्षण उपस्थित रहते हैं।

तीव्र उपान्त्र प्रदाह का वर्णन अध्याय २६ में शूल रोग के अन्तर्गत किया गया है वहां तीव्र उपान्त्र प्रदाह के जो निदानादि बतलाये गये हैं वही चिरकारी प्रकार के भी हैं।

(१३) प्रवाहिका और बृहदन्त्र प्रदाह (Colitis)—इन रोगों का वर्णन अध्याय ४ में हो चुका है।

(१४) प्राङ्गोदीय संधान-(Carbohydrate Fermentation)—इस रोग की उत्पत्ति डिस्टेस नमक (Diastase) पाचनरस की न्यूनता से होती है। डिस्टेस की न्यूनता क्षुद्रान्त्र के किसी पूर्ववर्ती रोग के दुष्परिणाम स्वरूप उत्पन्न होती है अथवा कुछ वातिक रोगियों में पुरस्सरण क्रिया इतनी वेगवती रहती है कि भोजन शीघ्र ही क्षुद्रान्त्र में से निकल जाता है और उसमें डिस्टेस का मिश्रण पर्याप्त मात्रा में नहीं हो पाता। इसके फलस्वरूप प्राङ्गोदीय पदार्थों का पाचन उचित रीति से नहीं हो पाता और उनसे उत्पन्न शर्करा का संधान (किण्वीकरण Fermentatin) होता है जिससे प्राङ्गार द्विजारेय (Carbon-di oxide) वायु की उत्पत्ति होती है। वायु की उत्पत्ति से आध्मान तथा कभी कभी शूल उत्पन्न होता है। संचित वायु अधिकतर प्रातःकाल निकलती है; जो प्रायः गंधहीन होती है। मल में कुछ ढीलापन और खट्टेपन की गंध रहती है किन्तु सड़ांध की गंध नहीं रहती। मल-परीक्षा करने पर मण्डकण (Starch-granules) बड़ी संख्या में पाये जाते हैं। किन्तु वसा कण और मांस-तन्तु (मांसभक्षियों में) नहीं पाये जाते। मल-संवर्ध में आंत्र गोलाणु (Enterococci) बहुत बड़ी संख्या में पाये जाते हैं किन्तु ये रोगोत्पादक जीवाणु नहीं हैं।

(१५) क्षुद्रान्त्र के अर्बुद (Tumours of the small-intestine)—क्षुद्रान्त्र में अर्बुदों की उपस्थिति बहुत कम पायी जाती है। सौम्य अर्बुदों में ग्रन्थ्यर्बुद, वसार्बुद और मांसार्बुद पाये जाते हैं। ये अधिकतर वृन्त-युक्त होते हैं और लटककर कभी कभी बृहदन्त्र तक पहुंच जाते हैं। आकार प्रायः छोटा होता है तथा किसी प्रकार के लक्षण उत्पन्न नहीं होते। किन्तु यदि इनका आकार बड़ा हो तो अवरोध के लक्षण प्रकट होते हैं। निदान शल्य-कर्म करते समय ही होता है। कभी कभी इनके भार से आन्त्र का कुछ भाग अन्य भाग में प्रविष्ट हो जाता है (आन्त्रान्तर प्रवेश) जिससे एकाएक शूल, वमन, प्रवाहिका, अवसाद आदि लक्षण प्रारम्भ होते हैं—इसका वर्णन शूल रोग के अन्तर्गत किया गया है।

घातक अर्बुद और भी कम पाये जाते हैं—

कर्कटार्बुद—यह अधिकतर स्तंभाकार कोपीय प्रकार का होता है और आन्त्रनलिका की परिधि में वलय के समान बढ़कर अवरोध उत्पन्न करता है।

चूंकि क्षुद्रान्त्र में रहने वाले पदार्थ तरल रहते हैं इसलिये अवरोध के लक्षण पर्याप्त वृद्धि होने पर ही प्रकट होते हैं। प्रधान लक्षण भोजन के बाद स्थानिक पीड़ा और वमन है। समय समय पर आंतों की पुरःसरण क्रिया दृष्टिगोचर होती है। अर्बुद की उपस्थिति का ज्ञान टटोलने से शायद ही कभी हो पाता है; अधिकतर शल्यकर्म करते समय ही निदान होता है।

घातक मांसार्बुद-यह श्लैष्मिक कला में उत्पन्न होता है और या तो वृन्तयुक्त होकर लटकता है अथवा केवल दीवार में मोटापन उत्पन्न करता है। आन्त्र-नलिका में संकीर्णता न होकर विस्तार होता है किन्तु बाद की दशाओं में संकोच हो सकता है। कभी कभी अनेक अर्बुद भी पाये जाते हैं। लसग्रन्थियां शीघ्र प्रभावित होती हैं और अन्य स्थानों में भी आनुषंगिक अर्बुद उत्पन्न होते हैं। यह रोग शिशुओं में अधिक पाया जाता है। लक्षण अनिश्चित होते हैं। सार्वांगिक लक्षण—अरुचि, बलहानि, धातुक्षय आदि अवश्य उपस्थित रहते हैं एवं उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होते हैं। स्थानिक लक्षण—कभी अतिसार, कभी मलावरोध, अजीर्ण, उदर पीड़ा आदि कभी कम और कभी अधिक पाये जाते हैं तथा कुछ मामलों में नहीं भी पाये जाते। अर्बुद की वृद्धि तेजी से होती है और काफी बढ़ा हुआ अर्बुद ऊपर से टटोला जा सकता है।

(१६) बृहदन्त्र के अर्बुद (Tumours of the colon)—क्षुद्रान्त्र में जितने प्रकार के सौम्य अर्बुद उत्पन्न होते हैं वे सभी बृहदन्त्र में भी पाये जाते हैं। इनमें केवल "अनेक ग्रन्थ्यर्बुदों" की उपस्थिति महत्वपूर्ण है। इसमें उदर में लगातार पीड़ा रहती है जो दबाने पर बढ़ती है और रक्त एवं कफमिश्रित अतिसार होता है। रोगी अत्यन्त दुर्बल हो जाता है। कभी कभी ये घातक अर्बुद का रूप धारण कर लेते हैं। निदान अवग्रहांत्र-वीक्षण यन्त्र (Sigmoidoscope) के द्वारा परीक्षा करने पर होता है। इनके साथ मलाशय में भी ग्रन्थ्यर्बुद पाये जाते हैं।

घातक अर्बुदों में कर्कटार्बुद बहुत अधिक पाया जाता है; घातक मांसार्बुद अत्यन्त विरल है।

कर्कटार्बुद—यह या तो गोभी के फूल के समान आकार का होता है अथवा कठोर प्रकार का होता है। प्रथम प्रकार में व्रण बनते हैं और दूसरे प्रकार में पेशी संकुचित होती है। बृहदन्त्र का कर्कटार्बुद अन्य स्थानों के कर्कटार्बुद की अपेक्षा कम घातक होता है क्योंकि यह धीरे बढ़ता है, लसग्रन्थियां देर से प्रभावित होती हैं और आनुषंगिक अर्बुद अन्तिम अवस्था में ही उत्पन्न होते हैं।

इसका प्रथम लक्षण अजीर्ण है। उदर में अनिश्चित प्रकार की गड़बड़ी रहती है। कभी मलावरोध, कभी अतिसार और कभी उदर में पीड़ा होती है। मल में बहुतसा कफ और थोड़ा रक्त मिला हुआ रहता है, थोड़ी बहुत वायु भी निकलती है। मलावरोध क्रमशः बढ़ता जाता है। रोग कुछ बढ़ने पर शूल के आक्रमण बार बार होने लगते हैं। शूल के समय पर उदर तना हुआ रहता है, आंतों की पुरस्सरण क्रिया दृष्टिगोचर होती है और वायु की गुड़गुड़ाहट सुनाई पड़ती है। मलावरोध धीरे धीरे इतना बढ़ जाता है कि विरेचक औषधियां एवं वस्तियां असफल रहती हैं। पूर्ण अवरोध होजाने पर भी अवरोध के तीव्र लक्षण प्रायः उत्पन्न नहीं होते क्योंकि आन्त्र विस्फारित होती जाती है। इस समय उदर फूला हुआ एवं पीड़ायुक्त रहता है। बाद की दशाओं में वमन और हिक्का भयंकर रूप से सताते हैं। यकृत-प्लीहा आदि तथा लसग्रन्थियां इस समय तक प्रभावित हो चुकती हैं और उनके विकार के लक्षण भी उत्पन्न होते हैं जिनमें जलोदर मुख्य है। मृत्यु विषमयता अथवा क्षीणता से होती है।

यदि कर्कटार्बुद उण्डुक (Caecum) में उपस्थित हो तो भोजन करने के निश्चित समय बाद ही

पीड़ा का आरम्भ या वृद्धि होती है, आध्मान होता है और क्षुद्रान्त्र के निचले भाग की पुरस्सरण क्रिया दृष्टिगोचर होती है। अनुप्रस्थ वृहदन्त्र (Transverse colon) में होने पर कर्कटार्बुद वड़ा एवं चल होता है, आमाशय भी प्रभावित हो सकता है और आध्मान दाहिनी ओर अधिक होता है। प्लैहिक आवर्त (Splenic flexure) में होने पर स्पर्शलभ्य नहीं होता, अनुप्रस्थ और उण्डुक भागों में तनाव होता है, पुरस्सरण क्रिया प्रायः लक्षित नहीं होती और शौच के समय पीड़ा अत्यन्त बढ़ जाती है। अवरोही और श्रोणीय भागों (Descending and pelvic colon) में होने पर स्पर्शलभ्य होता है, पूरे वृहदन्त्र में तनाव रहता है, मलाशय फूलकर गुब्बारे के समान हो जाता है, उण्डुक ऊपर की ओर हट जाता है और मलावरोध अत्यधिक रहता है अथवा मरोड़ के साथ गुदा से कफ निकलता है।

आंत्रावरोध के अतिरिक्त नाड़ी व्रण (आभ्यन्तर अथवा बाह्य), आन्त्रान्तर प्रवेश (*Intussusception*) और आन्त्र-वेष्ठ (*Volvulus*) प्रधान उपद्रव हैं। रोगविनिश्चय अधिकांश मामलों में कठिनाई से हो पाता है।

(१७) आन्त्रभ्रंश (*Enteroptosis*)—जिन कारणों से आमाशय-भ्रंश होता है उन्हीं कारणों से आन्त्र-भ्रंश भी होता है। इस रोग में आंतों का कुछ भाग अपने स्थान से हट जाता है जिसके फलस्वरूप उदर के किसी भाग में भारीपन और पीड़ा तथा अरुचि, आध्मान, मलावरोध आदि अजीर्ण के लक्षण होते हैं। कुछ मामलों में लक्षण इतने सौम्य होते हैं कि उस ओर ध्यान ही नहीं जाता किन्तु अन्य मामलों में विशेषतः वातिक प्रकृति के स्त्री-पुरुषों में काफी उग्र लक्षण उत्पन्न होते हैं। अधिकांश रोगियों को मलावरोध रहता है किन्तु कुछ को अतिसार एवं विरलतः वमन और अतिसार दोनों होते हैं। उदर का कुछ भाग दबा हुआ और कुछ भाग उभरा हुआ दृष्टिगोचर होता है। सामान्य निदान टटोलकर और विशेष निदान क्ष-किरण चित्र द्वारा किया जाता है।

इसी प्रकार यकृत, प्लीहा और वृक्कों का भी भ्रंश होता है।

(१८) कृमिरोग—आंतों के लगभग सभी प्रकार के कृमियों की उपस्थिति में किन्तु विशेषतः अंकुश कृमि की उपस्थिति में अजीर्ण होता है। इसका विवेचन अध्याय ७ में देखें।

(घ) अग्न्याशयगत रोग—

(१९) चिरकारी अग्न्याशय प्रदाह—इसका वर्णन अध्याय ४ में हो चुका है।

(२) अग्न्याशयाश्मरी (*Pancreatic Calculi or Pancreatic Lithiasis*)—यह रोग अत्यन्त विरल है। अश्मरी होते हुए भी लक्षणों की उत्पत्ति अनिवार्य नहीं है। कुछ मामलों में शवच्छेद करने पर, कुछ में मल में अश्मरी निकलने पर और कुछ में लक्षणों की उत्पत्ति होने पर निदान होता है।

अग्न्याशय की अश्मरी की रचना खटिक (खड़िया, चूर्णातु प्रांगारीय, *Calcium Carbonate*), चूर्णातु भास्वीय (*Calcium phosphate*) और पैत्तव (*Cholesterol*) के मिश्रण से होती है। आकार रेत के कण से लेकर छोटे बेर के बराबर तक हो सकता है, अधिकतर लम्बी या अण्डाकार होती है किन्तु कुछ मामलों में प्रवाल के समान शाखाओं से युक्त भी पायी गयी है। इसकी उपस्थिति में कभी-कभी अग्न्याशय में शूल के समान पीड़ा उठती है जो बायें कंधे तक लहर मारती है। पित्ताश्मरी का शूल दाहिनी ओर होता है किन्तु इसका बायीं ओर होता है। अग्न्याशय के स्राव के प्रवाह में बाधा पहुँचती है जिससे चिरकारी अग्न्याशय प्रदाह होता है तथा वसा प्रांगोदीय और प्रोभूजिन का पाचन नहीं होता। उदर में भारीपन, आध्मान, अतिसार, मलावरोध आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। मल में अपाचित वसा, प्रांगोदीय और प्रोभूजिन मिलते हैं। यदि रोगी

मांसभक्षी हो तो अतिसार होने पर मल में मांस-तंतु मिलते हैं किन्तु मलावरोध रहने पर नहीं मिलते।

रोगविनिश्चय लक्षणों के आधार पर क्ष-किरण चित्र लेने से होता है।

शेष रोगों का वर्णन उनसे सम्बन्धित अध्यायों में देखें।

विसूची (*Vomiting and Diarrhaea*)–वैसे 'विसूची' या 'विसूचिका' से पाश्चात्य 'कालरा' (*Cholera*) नामक रोग का ग्रहण किया जाता है। किन्तु आयुर्वेदिक मतानुसार 'विसूची' रोग के अन्तर्गत वमन और अतिसार जिनमें प्रधान हों ऐसे सभी रोग समाविष्ट होजाते हैं। इस प्रकार के अनेक रोगों का वर्णन इसी अध्याय में और अध्याय ४ में हो चुका है। पाश्चात्य विद्वान केवल उसी वमन-अतिसार प्रधान रोग को कालरा मानते हैं जिसमें रोगी के मल में विसूचिका वक्राणु (*Comma Vibrios*) उपस्थित हों, अन्य को नहीं। इसलिये समन्वय पद्धति के अनेक आचार्यों ने कालरा को 'कालातिसार' संज्ञा प्रदान की है और बहुत से आचार्य 'विसूचिका' से ही सहमत हैं। मेरी राय यह है कि आयुर्वेदोक्त विसूची को 'विसूची' तक ही सीमित रखकर 'विसूचिका' (विसूची की एक प्रकार-विशेष) संज्ञा पाश्चात्य कालरा को प्रदान की जावे; एक नया नाम 'कालातिसार' और बढ़ा देना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।

विसूचिका हैजा (Cholera)—कुछ आचार्यों के मत से यह रोग प्राचीन नहीं है किन्तु कई कारणों से यह धारणा उचित प्रतीत नहीं होती। जहां तक मैं समझता हूँ इस रोग को नवोत्पन्न मानने वाले निम्नलिखित तर्क उपस्थित करते हैं—

(१) विसूची की उत्पत्ति अजीर्ण से बतलायी है किन्तु विसूचिका (Cholera) संक्रामक रोग है।

(२) सुई चुभाने के समान पीड़ा विसूचिका (Cholera) में होती है ऐसा कहीं उल्लेख नहीं है।

(३) 'विसूची' महामारी के रूप में फैलता है ऐसा उल्लेख नहीं मिलता।

इन तर्कों के उत्तर नीचे दिए जाते हैं—

(१) पाश्चात्य विद्वान मानते हैं कि आमाशय में लवणाम्ल की मात्रा कम होने की स्थिति में ही विसूचिका वक्राणु अधिक प्रभावकारी होते हैं। लवणाम्ल की कमी को अजीर्ण कहेंगे या कुछ और?

(२) सुई चुभाने के समान पीड़ा (Tinghing) मूत्रावरोध होने पर मूत्रमयता होने से होती है। पाश्चात्य ग्रंथों में इस प्रकरण को केवल मूत्रमयता (Uraemia) कहकर समाप्त कर दिया है। उन्हीं ग्रन्थों में मूत्रमयता के लक्षण देखने से भ्रम दूर हो जावेगा।

(३) महामारी के रूप में फैलने का प्रमाण स्पष्ट रूप से नहीं मिलता। किन्तु केवल इसीलिये इसे नया रोग नहीं माना जा सकता क्योंकि ऐसे अनेक रोग हैं जो संक्रामक होते हुए भी प्राचीन ग्रन्थों में संक्रामक नहीं कहे गये हैं।

श्री. गणनाथ सेन जी ने लिखा है—

> सूचीभिरिव गात्राणि तोदनी या विसूचिका।
> प्राचां सा स्यादजीर्णोत्था प्रायः प्राणहरी न सा॥

आश्चर्य की बात है कि माधव-निदान के इस अध्याय के श्लोक २३ और २५ पर श्री सेन जी ने गौर नहीं किया, अन्यथा वे 'प्रायः प्राणहरी न सा' कदापि न लिखते।

(© यह रोग भारत में प्राचीन काल से पाया जाता रहा है किन्तु विगत शताब्दी में ही इसका प्रवेश यूरोप और अमेरिका में हुआ है। अमेरिका में सन् १८३२, १८३५-३६, १८४६, १८५४, १८६६, १८६७, और १८७३ में तथा यूरोप में १८८४, १८९२, और १८९३ में भयंकर महामारी के आक्रमण हुये

©William Osler--A Text-book on the Practice of Medicine.

थे ।) सन् १८८४ में डा० कौक (Koch) ने इस रोग के उत्पादक दण्डाणु का पता लगाया था इसलिए उसे कौक का दण्डाणु (Koch's Bacillus) कहते हैं। इसका आकार अर्धविराम चिह्न (, Comma) के समान वक्र होता है तथा यह अत्यन्त चंचल होता है इसलिये इसे चपल वक्राणु (कोमा विब्रियो, Comma Vibrio) अथवा विसूचिका वक्राणु भी कहते हैं। विसूचिका रोगी के मल में ये वक्राणु बहुत बड़ी संख्या में पाये जाते हैं। रोग मुक्त होने पर भी लगभग एक पक्ष तक और कुछ मामलों में दो माह से भी अधिक काल तक ये मल में उपस्थित रहते हैं। वहां से या तो जल के साथ अथवा मक्खियों की सहायता से भोजन में पहुंचकर उसके साथ दूसरे व्यक्तियों के उदर में प्रविष्ट होते हैं। आमाशय का अम्लरस इनके लिए घातक होता है, यदि वह कम या अनुपस्थित हो तो ये आगे बढ़कर छोटी आंत के ऊपरी भाग में रहकर अपनी वंशवृद्धि करते हैं और साथ ही एक प्रकार के विष (Toxin) की उत्पत्ति करते हैं। छोटी आंत में वक्राणुओं की उपस्थिति से क्षोभ और रक्ताधिक्य होता है जिससे वमन और अतिसार होते हैं तथा वक्राणुओं के विष का संचार रक्त में होने से सार्वाङ्गिक लक्षण उत्पन्न होते हैं। विष अत्यन्त घातक होता है; मृत वक्राणुओं का घोल भी रोग उत्पन्न करने में समर्थ होता है। प्रायोगिक जन्तुओं पर मुखमार्ग से प्रविष्ट किये गये विसूचिका वक्राणुओं का प्रभाव नहीं होता किन्तु यदि आमाशय की अम्लता को नष्ट करके तथा आंतों की पुरस्सरण क्रिया को अहिफेन के द्वारा मन्द करके प्रयोग किया जावे तो विसूचिका के समान लक्षण उत्पन्न होकर जन्तु की मृत्यु हो जाती है

चयकाल १ से ५ दिनों का है। गर्म और तर जलवायु में यह रोग शीघ्र प्रसार पाता है । भारतवर्ष में इसका अड्डा दक्षिणी बंगाल है । वहां से आने जाने वाले मनुष्यों के द्वारा यह अन्य भागों में भी फैलता है। भारत के बाहर चीन, श्याम, फिलिपाइन द्वीप, जापान और दक्षिणी अफ्रिका में भी इसके अड्डे हैं। मेलों इत्यादि में जहां पीने का जल दूषित होना स्वाभाविक ही रहता है वहां यह भयंकर रूप से फैलता है। नदियों के द्वारा भी दूर दूर तक इस रोग का प्रसार होता है।

इस रोग की ४ अवस्थाएं होती हैं—

(*i*) पूर्वरूप—रोग का आक्रमण होने के पूर्व १-२ दिन सिरदर्द, अवसाद, बेचैनी, दस्त में साधारण पतलापन, उदर में हल्की शूलवत् वेदना आदि लक्षण होते हैं; किसी-किसी एकाध को वमन भी होता है। भोजन में गड़बड़ी का इतिहास अधिकांश मामलों में पाया जाता है।

(*ii*) प्रारम्भिक अवस्था—यह अवस्था अधिकतर पूर्वरूप के बाद ही प्रकट हुआ करती है किन्तु कुछ मामलों में अचानक प्रारम्भ होती है। इस अवस्था में अतिसार होता है किन्तु दस्त में पतला मल जाता है रोगी अजीर्ण-जन्य अतिसार के धोखे में रहता है। इसका काल १-३ घण्टों का है।

(*iii*) शीतांग या निपात की अवस्था—यह अवस्था अधिकतर प्रारम्भिक अवस्था के बाद प्रारम्भ होती है किन्तु कुछ मामलों में विशेषतः महामारी के गंभीर प्रकोप में रोग का प्रारम्भ इसी अवस्था से होता है। इस अवस्था में चावल के धोवन के समान सफेद रङ्ग के अत्यन्त पतले बड़े-बड़े दस्त बार-बार बहुत जल्दी-जल्दी आते हैं और इनके साथ ही अथवा कुछ समय बाद वमन भी प्रारम्भ हो जाता है। कुछ मामलों में शूल और मरोड़ भी होते हैं जिससे दण्डाणवीय प्रवाहिका आदि का भ्रम हो सकता है। जीभ श्वेत हो जाती है, प्यास अत्यधिक लगती है और हाथ-पैरों में उद्वेष्टन (*Cramps*) होते हैं जो अत्यन्त कष्टदायक होते हैं। रोगी बहुत जल्द शीताङ्ग की दशा में आजाता है, त्वचा का वर्ण धूसर होजाता है, आंखें धंस जाती है, गाल भी पिचक जाते हैं, आवाज बैठ जाती है, श्यावता उत्पन्न होजाती है, चिपचिपा पसीना थोड़ा

थोड़ा आता है, मूत्र और थूक की उत्पत्ति बन्द हो जाती है तथा मूत्रमयता × के लक्षण उत्पन्न होते हैं, त्वचा में झुर्रियां उत्पन्न होजाती हैं, नाड़ी अत्यन्त क्षीण हो जाती है, शरीर का ताप सामान्य से ४°-५° अंश तक कम हो जाता है किन्तु गुदा का ताप सामान्य से ४°-५° अंश अधिक रहता है और क्रमशः संन्यास होकर मत्यु होजाती है (किन्तु कुछ रोगी अन्त तक होश में रहते हैं)। ये सब लक्षण वमन और अतिसार के द्वारा रक्त-लसिका का बहुत सा भाग (सौम्य मामलों में लगभग ३५% प्रतिशत और गम्भीर मामलों में लगभग ६४% प्रतिशत) निकल जाने से रक्त में गाढ़ापन उत्पन्न हो जाने से होते हैं-जलाल्पता (*Dehydration*)। इस दशा में स्वेद के अतिरिक्त सभी प्रकार के स्राव विशेषतः मूत्र और लालास्राव पूर्ण रूप से बन्द होजाते हैं किन्तु दूध पिलाने वाली स्त्रियों में दुग्धस्राव चालू पाया जाता है। अवस्था कम से कम २ घण्टे और अधिक से अधिक २४ घण्टे की होती है।

(iv) प्रतिक्रिया की अवस्था—जो रोगी शीतांग की अवस्था में मरने से बच जाते हैं उनमें प्रतिक्रिया की अवस्था प्रारम्भ होती है। इस अवस्था में वमन और अतिसार क्रमशः कम होते होते बन्द होजाते हैं, मूत्र उतरने लगता है, नाड़ी पुनः बलवती होजाती है ताप भी क्रमशः सामान्य होजाता है। किन्तु कुछ मामलों में अन्य सब सुधार के लक्षण होते हुए भी मूत्र रुका ही रहता है और मूत्रमयता के गम्भीर लक्षण उत्पन्न होकर मृत्यु हो जाती है। कुछ मामलों में अतितीव्र ज्वर (*HyperPyrexia*) होकर ताप ११०° या और भी अधिक होजाता है तथा प्रलाप संन्यास आदि होकर मृत्यु हो जाती है।

दस्तों में प्रारम्भ में मल निकलता है फिर कुछ पित्तमिश्रित पीले रङ्ग का तथा अन्ततः सफेद रङ्ग का अत्यन्त पतला (चावल के धोवन के समान) अथवा कुछ गाढ़ा (माड़ के समान) तरल पदार्थ बड़ी मात्रा में निकलता है। इसमें श्विति (*Albumin*) और लवण (*Sodium Chloride*) की प्रधानता रहती है, कफ तथा उपकलीय कोष (*Epithelial Cells*) भी रहते हैं और कुछ मामलों में रक्त भी पाया जाता है। विसूचिका वक्राणु बहुत बड़ी संख्या में उपस्थित रहते हैं। प्रतिक्रिया क्षारीय रहती है।

वमन में भी प्रारम्भ में खाये गये पदार्थ निकलते हैं। इसके बाद चावल के धोवन के समान तरल पदार्थ बड़ी मात्रा में निकलने लगता है। इस रोग में होने वाले वमन की प्रधान विशेषता यह है कि रोगी को प्रयत्न नहीं करना पड़ता, हृल्लास होते ही अत्यन्त वेग से तरल पदार्थ निकल पड़ता है। वमन में भी लगभग वही सब पदार्थ पाये जाते हैं जो दस्त में पाये जाते हैं किन्तु विसूचिका वक्राणु नहीं पाये जाते।

महामारी के समय पर कई प्रकार के रोगी देखने में आते हैं। उक्त चारों अवस्थायें बहुत कम रोगियों में पायी जाती हैं। कुछ मामलों में रोग अत्यन्त सौम्य प्रकार का एवं अघातक होता है-क्षुद्र विसूचिका (*Cholerine*); इसमें चारों अथवा अन्तिम तीन अवस्थायें मिलती हैं और शीतांग की अवस्था के थोड़े से ही लक्षण प्रगट होते हैं। कुछ मामलों में थोड़े से ही वमन-अतिसार होकर बिना अधिक जल निकले ही हृदयावसाद होकर मृत्यु हो जाती है और कुछ मामलों में विषमयता इतनी अधिक होती है कि बिना वमन-अतिसार हुए ही एकाएक निपात होकर मृत्यु होजाती है—शुष्क विसूचिका (*Cholera Sicca*)।

भिन्न भिन्न महामारियों में मृत्यु संख्या १५% से ८०% प्रतिशत तक देखी गयी है। असंयमी, दुर्बल, वृद्ध तथा गर्भिणी का यह रोग अधिकतर मारक होता है। अत्यधिक श्यावता और निपातावस्था में अत्यन्त कम ताप मारक लक्षण है।

× मूत्रमयता के लक्षण अध्याय ३१ मूत्राघात-निदान में देखिये।

रोग विनिश्चय लक्षणों और मल-परीक्षा पर से किया जाता है। महामारी के दिनों में प्रत्येक अजीर्ण तथा अतिसार रोगी पर विसूचिका का सन्देह करना चाहिये। विभेद निम्नलिखित रोगों से करना पड़ता है।

अन्नगर प्रकोप—वमन प्रारम्भ से ही होता है और काफी जोर लगाने पर अत्यन्त कष्ट के साथ होता है। मल-त्याग के समय पर पीड़ा होती है और मल उतना रंगहीन नहीं होता। उद्वेष्टन नहीं होते और ज्वर प्रायः उपस्थित रहता है।

गम्भीर तृतीयक विषमज्वर का विसूचिकीय प्रकार—मल जलीय रहता है किन्तु सफेद न होकर पीले-से वर्ण का होता है। ज्वर अवश्य उपस्थित रहता है। मल में विषमज्वर कायाणु मिलते हैं।

तीव्र दण्डाणवीय प्रवाहिका—ज्वर रहता है और दस्त मरोड़ के साथ आता है तथा उसमें पूय-कण उपस्थित रहते हैं। उदर को टटोलने पर अवग्रहान्त्र (Sigmoid) फूला हुआ मिलता है।

मल्ल-विष—प्रारम्भ से ही आमाशयिक प्रदेश में पीड़ा और वमन होते हैं। अतिसार बाद की अवस्था में होता है।

अलसक और विलम्बिका—

ये दोनों मलावरोध एवं आन्त्रावरोध की दशाएँ हैं। गम्भीर अध्ययन के लिये मलावरोध एवं आन्त्रावरोध का विस्तृत विवेचन किया जा रहा है।

मलावरोध (Constipation, costiveness)—नियमित समय पर शौच शुद्ध न होना तथा अल्प मात्रा में मल निकलना मलावरोध कहलाता है। इसके बहुत से कारण होते हैं जिनका वर्णन नीचे किया जाता है।

(१) वेग धारण—स्वास्थ्य के नियमों का ज्ञान न होने से अथवा संकोचवश बहुत से लोग मल के वेग को रोक रखते हैं जिससे रुका हुआ मल सूखकर कड़ा हो जाता है और दुबारा समय पर मल का वेग नहीं आता। दीर्घकाल तक ऐसा होते रहने से मलाशय और बृहदन्त्र की पुरस्सरण क्रिया का संचालन करने वाली वातनाड़ियां निष्क्रिय सी हो जाती हैं जिससे मलाशय में मल भरा रहने पर भी शौच का वेग उत्पन्न नहीं होता तथा मल के अत्यधिक भराव से मलाशय और बृहदन्त्र प्रसारित हो जाते हैं। ऐसी दशा में रोगी विरेचक औषधियों या बस्ति का प्रयोग करता है जिसका फल यह होता है कि आंतें और भी शिथिल हो जाती हैं और बिना विरेचक औषधि या वस्ति के कोष्ठ शुद्धि होना असम्भव सा हो जाता है।

(२) दुर्व्यसन—भांग, अफीम, चाय आदि का प्रयोग बहुत से लोग नशे के लिए करते हैं। ये चीजें अपने स्तम्भक गुण से मलावरोध उत्पन्न करती हैं। विरेचन और बस्ति भी इसी श्रेणी में आते हैं क्योंकि इनकी आदत पड़ जाती है।

(३) भोजन सम्बन्धी त्रुटियां—बहुत से लोगों का विश्वास है कि कम खाने से स्वास्थ्य अच्छा रहता है। बहुधा इस बात का प्रचार अशिक्षित या अल्प शिक्षित चिकित्सकों के द्वारा भी किया जाता है। वास्तव में अधिक खाना जितना हानिकारक है उससे कहीं अधिक हानिकारक कम खाना है। स्वास्थ्य-रक्षा के लिये उचित मात्रा में भोजन करना आवश्यक है। कम खाने से कम मल बनता है और आंतों में आवश्यक भराव भी उत्पन्न नहीं होता जिससे मल-प्रवृत्ति देर से होती है और मल सूख जाता है। जो आगे चलकर अवरोध उत्पन्न करता है। जब किसी रोग विशेष के कारण कम खाया जाता है अथवा लंघन की जाती है तब भी इसी प्रकार मलावरोध होता है।

गेहूँ की चोकर, दालों के छिलके, शाकों के रेशे, फलों के लचीले भाग आदि पदार्थ मलवर्धक हैं। भोजन में इनका पूर्ण अभाव होने से मल कम बनता है और जो बनता है वह आंतों में चिपकता है जिससे पुरस्सरण क्रिया उस पर योग्य प्रभाव नहीं

डाल पाती। फलतः मलावरोध होता है। इस प्रकार का मलावरोध उन धनी परिवारों में पाया जाता है जहां भोजन को अत्यन्त सुरुचिपूर्ण बनाने के लिये उक्त पदार्थों को एक दम अलग कर दिया जाता है और फलों, भाजियों आदि का भी प्रयोग नहीं होता।

भोजन में स्नेह (घी, तैल आदि) का पर्याप्त मात्रा में होना नितांत आवश्यक है। इसके अभाव में आंतों और मल में रूक्षता रहती है जिससे मल भली भांति गति नहीं करता। अत्यन्त रूक्ष प्रकार के अन्न जैसे चना, कोदों, सवां आदि खाने से भी इसी प्रकार का मलावरोध होता है।

बहुत से लोग कम जल पीते हैं। अधिक परिश्रम करने से, गर्म ऋतु में एवं धूप या अग्नि का अधिक सेवन करने से भी पसीना आकर शरीर का बहुत सा जल निकल जाता है। उदकमेह और मधुमेह में अधिक मूत्र निकलने से भी जल निकल जाता है। इन दशाओं में जल की कमी से मल सूख कर मलाशय में देर तक रुका रहता है।

(४) दौर्बल्य—दुर्बलता किसी भी कारण से हो मलोत्सर्ग क्रिया पर उसका प्रभाव अवश्य पड़ता है। तीव्र ज्वर, रक्तक्षय, राजयक्ष्मा, मेदोरोग आदि से उत्पन्न दुर्बलता की दशा में आंतें भी दुर्बल हो जाती हैं जिससे शौचशुद्धि भली भांति नहीं होती। बार-बार गर्भधारण करने से उदर की पेशियां ढीली एवं कमजोर हो जाती हैं जिससे प्रवाहण क्रिया भली-भांति सम्पादित नहीं हो पाती, फलतः मलावरोध रहता है। जलोदर की उपस्थिति में अथवा जलोदर रोग दूर हो जाने के बाद भी इसी प्रकार की दशा होती है। फुफ्फुसों के कई रोगों में विशेषतः फुफ्फुस प्रसार (Emphysema) की उपस्थिति में श्वास को भली भांति रोककर प्रवाहण करना संभव नहीं होता इसलिये मलावरोध रहता है।

जो लोग ऐसे धंधे करते हैं जिनमें दिनभर बैठे रहना पड़ता है और जो लोग अत्यधिक आराम करते हैं (परिश्रम या व्यायाम नहीं करते) उनकी आंतों की पुरस्सरण क्रिया मन्द हो जाती है जिससे मलावरोध होता है।

(३) वातिक रोग—नाड्यवसन्नता, हिस्टीरिया, गम्भीर मानसिक आघात, उन्माद, फिरङ्गी खंजता, अनुप्रस्थ सुषुम्ना प्रदाह(Transverse Myelitis), अवटुका ग्रन्थि के स्राव से उत्पन्न रोगों और गुद-संकोचिनी पेशी की जड़ता की अवस्थाओं में भी मलावरोध होता है।

गुद-संकोचिनी पेशियों की जड़ता के दो प्रकार हैं—(१) शैशवीय और (२) प्रागल्भ। प्रथम को 'हर्षप्रङ्ग का रोग' और द्वितीय को 'महाऽन्त्र' रोग कहते हैं।
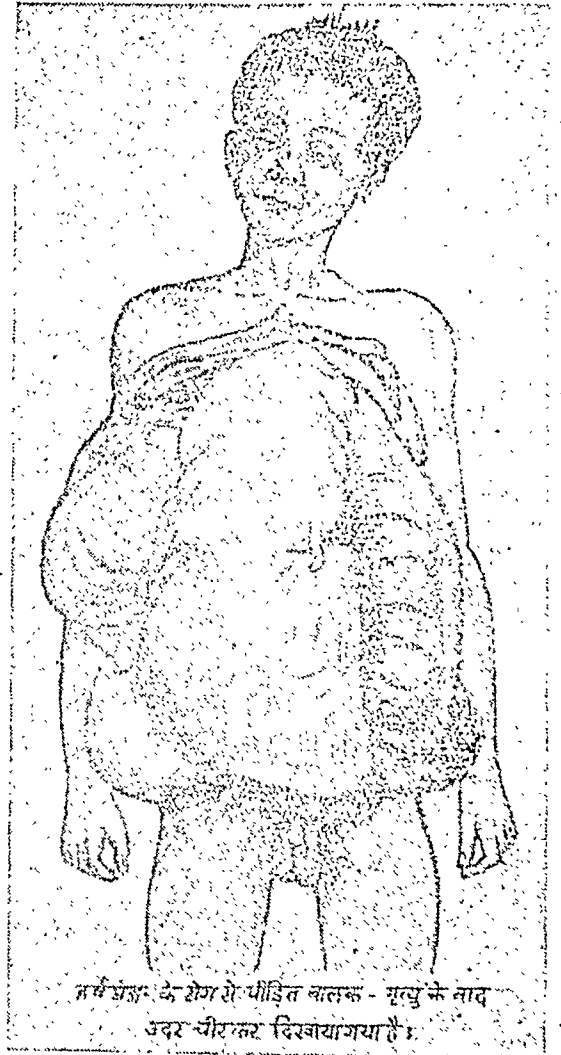
हर्षप्रेङ्ग के रोग से पीड़ित बालक - मृत्यु के बाद उदर चीरकर दिखाया गया है।

(i) हर्षप्रङ्ग का रोग (Hirschprung's Disease)—यह रोग बाल्यावस्था में पाया जाने वाला सहज रोग है। लड़कियों की अपेक्षा लड़कों में अधिक पाया जाता है। कारण अज्ञात है, संभवतः वातनाड़ियों की जन्मजात विकृति इसके लिये उत्तरदायी है। इसमें गुद-संकोचिनी पेशी प्रसारित नहीं होती जिससे गम्भीर मलावरोध होता है। मलाशय और वृहदन्त्र मल के भराव से क्रमशः फूलकर अत्यन्त बड़े हो जाते हैं जिससे उदर की अत्यधिक वृद्धि होती है और उसके बावजूद भी स्थान की कमी से यकृत, प्लीहा, आमाशय, महाप्राचीरा की ओर जाते है। धड़ में स्थित अन्य सभी अवयवों पर अत्यधिक दबाव पड़ता है और लगभग सभी स्थानभ्रष्ट हो जाते हैं। कभी कभी थोड़ा बहुत मल येन केन प्रकारेण निकल भी जाता है किन्तु सम्यक् शौचशुद्धि (वस्ति के बिना) प्रायः नहीं होती और आंतों की वृद्धि होती रहती है।

प्रारम्भ में साधारण मलावरोध के लक्षण होते हैं किन्तु ज्यों ज्यों आंतों की वृद्धि होती है त्यों त्यों उदर और वक्ष के अवयवों पर दबाव पड़ने के लक्षण प्रकट होते हैं। उदर वृद्धि अत्यधिक होती है और बीच बीच में उदरशूल के आक्रमण हुआ करते हैं। विरेचक औषधियां प्रायः असफल रहती हैं किंतु वस्ति से निश्चित लाभ होता है। बाद की दशाओं में वमन अत्यधिक होते हैं और रोगी अत्यन्त क्षीण हो जाता है। यदि प्रारम्भ में ही उचित चिकित्सा न की जावे तो कालान्तर में क्षीणता, आन्त्रावरोध, आन्त्रभेद, उदरावरण प्रदाह, फुफ्फुस-निपात आदि रोगों से मृत्यु हो जाती है। जिन रोगियों का थोड़ा बहुत मल निकलता रहता है वे अपेक्षाकृत अधिक दिनों तक जीते हैं।

(ii) महाऽन्त्र रोग (Megacolon)—यह रोग या तो बचपन से ही अत्यन्त सौम्य रूप से रहता हुआ युवावस्था में किसी अन्य कारण से उत्पन्न होता है। इसमें मलाशय की वृद्धि नहीं होती, अधिकतर अवग्रहान्त्र और कभी कभी पूरे वृहदन्त्र की वृद्धि होती है।

इन दोनों रोगों का निदान क्ष-किरण चित्र और अवग्रहान्त्र-दर्शक यन्त्र से किया जाता है।

(६) अप्रवाह (stasis)—आन्त्र के अथवा आन्त्र के समीपस्थ अवयवों के प्रदाह आदि रोगों के फलस्वरूप कभी आन्त्र का कुछ भाग निर्बल हो जाता है जिससे उस भाग में पुरस्सरण क्रिया नहीं होती है। इसके फलस्वरूप उस स्थान में मल संचित होता रहता है और उसके भराव से आन्त्र का वह भाग विस्फारित भी होजाता है। इस दशा को अप्रवाह (stasis) कहते हैं। आंत्र के जिस भाग में अप्रवाह होता है उसी के नाम के साथ 'अप्रवाह' शब्द जोड़ कर नामकरण किया जाता है। जैसे 'अवग्रहान्त्र अप्रवाह (Sigmoid stasis) इत्यादि।

अप्रवाह अधिकतर वृहदन्त्र में ही होता है; क्षुद्रान्त्र में भी हो सकता है किन्तु वह वृहदन्त्र के अप्रवाह के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। वृहदन्त्र में अवग्रहान्त्र का अप्रवाह सबसे अधिक पाया जाता है। इस दशा में अवग्रहान्त्र और मलाशय‡ प्रसारित एवं मल की गांठों से भरे हुए मिलते हैं। विरेचन की अपेक्षा वस्ति अधिक लाभप्रद होती है। वृहदन्त्र में अप्रवाह का दूसरा स्थल उण्डुक (Caecum) है। अधिकतर इसके लटक जाने से अथवा उपान्त्र प्रदाह (Appendicitis) के फलस्वरूप इसमें अप्रवाह होता है। यह भी विस्फारित होकर बड़ा होजाता है। इस दशा में मन्द पीड़ा रहती है जो कभी पीठ की ओर और कभी नीचे की ओर लहर मारती है। कुछ मामलों में वृहदन्त्र के आवर्तों (Flexors) में और कभी-कभी पूरे वृहदन्त्र में अप्रवाह पाया जाता है।

अधिकांश मामलों में अप्रवाह रोग के साथ अम्लतावृद्धि भी पायी जाती है जिससे ग्रहणीव्रण के समान लक्षण उत्पन्न होते हैं।

‡ मलाशय में मल के भराव को मलाशय विस्फार या कष्ट-शौच (Dyschezia) कहते हैं।

आगे आन्त्रावरोध के जो कारण बतलाये जावेंगे उनमें से बहुतों से कभी-कभी अपूर्ण अवरोध होकर मलावरोध के समान लक्षण उत्पन्न होते हैं।

लक्षण—मलावरोध से लक्षणों की उत्पत्ति रोगी की प्रकृति के अनुसार होती है। कुछ रोगी ऐसे मिलते हैं जो सप्ताह में एक भी बार मलत्याग न करने पर भी किसी विशेष असुविधा का अनुभव नहीं करते, जबकि इसके विपरीत बहुत से रोगी एक ही दिन मल न उतरने पर काफी बीमार होजाते हैं। उदर में भारीपन और तनाव स्थानिक लक्षण हैं। इसके अतिरिक्त रुके हुए पदार्थ के सड़ने से विषों की उत्पत्ति होती है जिससे क्षुधानाश, सुस्ती, सिर-दर्द, शारीरिक और मानसिक कमजोरी, मलावृत्त जिह्वा आदि सार्वाङ्गिक लक्षण होते हैं तथा यकृत और वृक्कों का कार्य भली-भांति संचालित नहीं होता। सार्वाङ्गिक लक्षण उन दशाओं में अधिक स्पष्ट होते हैं जब मल तरल अवस्था में ही रुका रहकर सड़ता हो। ऐसा तब होता है जब आन्त्र के ऊपरी भागों में अवरोध हो अथवा मलावरोध और अतिसार पारी पारी से होते हों अथवा रोगी विरेचक औषधियां नित्य प्रति खाता हो।

अधिक दिनों तक मलावरोध रहने से अर्श, आन्त्र एवं मलाशय में व्रणों, उपाशयों अथवा छिद्र की उत्पत्ति, गुद-विदार, आन्त्र-प्रदाह आदि रोगों की उत्पत्ति होती है। स्त्रियों में कष्टार्तव हो सकता है। मल के दबाव से त्रिकस्थित वातनाड़ियां पीड़ित होकर त्रिकशूल या गृधसी होता है। वृहदन्त्र के किसी उपाशय में मल अधिक दिनों तक रुका रहकर अश्मरी (आन्त्राश्मरी, Enterolith) बन जाता है जो आगे चलकर आन्त्रावरोध उत्पन्न कर सकती है।

अधिक दिनों के रुके हुए मल में एक नाली सी बन जाती है जिसमें से समय-समय पर पतला मल निकलता है। इस प्रकार अतिसार और मलावरोध पारी-पारी से एवं साथ ही साथ उपस्थित रहते हैं। अतिसार होने पर भी गुदा मल से परपूर्ण रहती है। अतिसार के साथ हृल्लास और वमन भी अधिकतर उपस्थित रहते हैं। यह रोग अधिकतर मध्यम आयु की मोटी स्त्रियों में पाया जाता है।

सभी प्रकार के मलावरोध का निदान लक्षणों पर से, उदर को टटोलकर, गुदा की परीक्षा अंगुली अथवा यंत्र द्वारा करके तथा क्ष-किरणों द्वारा अपारदर्शी आहार की गति देखने से होता है।

तीव्र मलावरोध (Acute constipation)–वैसे मलावरोध की गणना चिरकारी व्याधियों में ही होती है किन्तु निम्नलिखित अवस्थाओं में तीव्र प्रकार का मलावरोध भी पाया जाता है—

(१) आन्त्रावरोध की कई अवस्थाओं में।

(२) उदर के कई रोगों में जैसे तीव्र उदरावरण प्रदाह, तीव्र उपान्त्र प्रदाह, आंत्रज उपाशय प्रदाह (Diverticulitis) आदि।

(३) वक्ष के कई रोगों में जैसे फुफ्फुसखण्ड प्रदाह, फुफ्फुस नलिका प्रदाह आदि।

(४) गुदा के कई रोग गुद-पाक, अर्श-पीड़ा आदि में।

(५) कई प्रकार के ज्वरों और अन्य कई रोगों में भी तीव्र मलावरोध पाया जाता है।

(६) अफीम आदि विषों के अधिक मात्रा में प्रयुक्त होने पर।

इसमें सामान्य मलावरोध के लक्षणों से लेकर पूर्ण आन्त्रावरोध तक के लक्षण पाये जाते हैं। कभी कभी मारक भी हो सकता है। अचानक उत्पन्न होकर तेजी से बढ़ने और चिकित्सा होने पर शीघ्र आरोग्य लाभ होने के कारण इसे तीव्र कहा गया है।

आन्त्रावरोध (*Intestinal obstruction*)—अचानक अथवा क्रमशः आंतों की नलिका (*Lumen*) में संकीर्णता उत्पन्न होने से अथवा किसी पदार्थ के अड़ जाने से अवरोध होने की दशा को आन्त्रावरोध कहते हैं। मलावरोध और आन्त्रावरोध में बहुत अधिक सादृश्य है और दोनों रोग एक दूसरे

के उत्पादक भी हैं इसलिये कभी कभी सापेक्ष निदान करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। आन्त्रावरोध निम्नलिखित कारणों से होता है—

(१) मलावरोध—कभी कभी संचित मल आन्त्र का पूर्ण अवरोध कर देता है। वैसे गम्भीर मलावरोध के रोगियों की वृहती संख्या की तुलना में मलावरोधजन्य आन्त्रावरोध के रोगियों की संख्या अत्यन्त कम होती है। इसलिये अनेक विद्वानों का मत है कि आन्त्रावरोध के लिये अन्य कारणों का सह-अस्तित्व आवश्यक है जैसे आन्त्र-भ्रंश, आन्त्र-वेष्ठ, तीव्र विरेचन आदि।

आन्त्रावरोध करने वाले मलपिण्ड एक या अनेक हो सकते हैं। उनमें से अधिकांश पत्थर के समान कठोर होते हैं; किन्तु लेई के समान मृदु पिण्ड भी अवरोध उत्पन्न कर सकता है। ये अधिकतर श्रोणीय वृहदन्त्र (*Pelvic colon*) में पाये जाते हैं किन्तु कभी-कभी मलाशय एवं आरोही और अनुप्रस्थ (*Ascending and transverse*) वृहदन्त्र में भी पाये जाते हैं। मलपिण्ड के भार से श्रोणीय वृहदन्त्र श्रोणि में काफी नीचे तक लटक जाता है जिससे मलाशय पर दबाव पड़ने के कारण मलत्याग होना कठिन हो जाता है तथा ऊपरी भाग में खिंचाव पड़ता है जिससे आन्त्र-वेष्ठ हो सकता है। यदि मलपिण्ड अनुप्रस्थ वृहदन्त्र (*Transevrse colon*) में हो तो वह भार से लटककर अर्धचन्द्राकार अथवा *U* या *V* के आकार की हो जाती है, लटका हुआ भाग भगास्थि (*Pubis*) तक पहुँच सकता है। कड़े मलपिण्ड के खिसकने पर रगड़ लगने से श्लैष्मिक कला छिल जाती है और व्रणों की उत्पत्ति होती है—(*Stercoral ulcers*)।

कई वर्षों से मलावरोध रहने का इतिहास सभी रोगियों में मिलता है। मल का भराव होने से उदर में पीड़ा एवं तनाव, पाचन-क्रिया में विकृति, मुंह का स्वाद बिगड़ा रहना, श्वास में दुर्गन्ध आना, उदर में वायु की उत्पत्ति, मल त्यागते समय अत्यन्त पीड़ा के साथ कुंथन होना, त्वचा में विवर्णता और कभी कभी मटमैले धब्बे, आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। मल के विषाक्त पदार्थों का चूषण होने से ज्वर, क्षीणता, अवसाद, तन्द्रा, आलस्य, उदासीनता आदि लक्षण होते हैं। व्रणोत्पत्ति होने पर समय समय पर पूर्वोक्त झूठे अतिसार के आक्रमण होते हैं जिनमें कफ और पूय युक्त पतला मल निकलता है। उदर को टटोलने पर वृहदन्त्र फूली एवं मल से भरी हुई मिलती है तथा दबाने से पीड़ा होती है।

तीव्र पूर्ण अवरोध होने पर शूलसह भयंकर आध्मान होता है। आंतें इतनी अधिक फूल जाती हैं कि अन्य अवयवों को स्थान भ्रष्ट कर दे सकती हैं और हृदय एवं फुफ्फुसों के कार्य में वाधा पहुँचाती हैं। वमन, स्वेद, श्वास-कष्ट आदि उपद्रव होकर रोगी शीतांग की अवस्था में आ जाता है। शीघ्र चिकित्सा न होने पर मृत्यु हो सकती है।

(२) पित्ताश्मरी—(Biliary Calculus, Gall-stone)-पित्ताश्मरी के द्वारा आन्त्रावरोध वहुत कम मामलों में पाया जाता है क्योंकि बड़ी पित्ताश्मरी बहुत कम पायी जाती हैं। जब पित्ताश्मरी इतनी बड़ी होजाती है कि वह पित्त-नलिकाओं में से न निकल सके तव क्षोभ उत्पन्न करती है जिससे पित्ताशय और ग्रहणी के समीपस्थ उदरावरण में प्रदाह होकर संलग्नता की उत्पत्ति होती है और अश्मरी के दबाव से नाड़ी व्रण उत्पन्न होता है जिसमें से अश्मरी ग्रहणी में चली जाती है। अधिकतर यही तरीका पाया जाता है किन्तु कुछ मामलों में पित्त नलिका अत्यधिक प्रसारित होकर मार्ग दे देती है और नाड़ीव्रण की उत्पत्ति नहीं होती। ऐसे भी मामले पाये गये हैं जिनमें नाड़ीव्रण का सम्बन्ध वृहदन्त्र से हुआ और अश्मरी आन्त्रावरोध किये बिना ही मल के साथ निकल गयी।

क्षुद्रान्त्र में वही पित्ताश्मरी अवरोध उत्पन्न कर सकती है जिसका व्यास १ इञ्च से अधिक हो। व्यास जितना अधिक होगा उतने ही ऊपर के भाग में अवरोध होगा। अश्मरी के द्वारा होने वाले क्षोभ

से आन्त्र में उत्पन्न स्तंभिक संकोच (Spasm) भी अवरोध का एक प्रधान कारण होता है जिसके फलस्वरुप अपेक्षाकृत छोटे आकार की अश्मरी भी अवरोध उत्पन्न कर सकती है। यदि आंत में अर्बुद या सांकर्य हो तो काफी छोटी अश्मरी से अवरोध हो सकता है। अधिकांश मामलों में अवरोध का स्थान क्षुद्रान्त्र का निचला भाग हुआ करता है।

यह रोग अधिकतर ५५-६६ वर्षीय स्थूल स्त्रियों में पाया जाता है। वर्षों पूर्व से आमाशयिक प्रदेश में लगभग सदा बनी रहने वाली एवं कभी कभी बढ़ने वाली मंद वेदना का इतिहास मिलता है। अधिकतर यह वेदना अजीर्ण से उत्पन्न समझी जाती है। पित्ताशय-शूल[1] और कामला का इतिहास बहुत कम मामलों में पाया जाता है। वर्तमान रोग का आरम्भ स्थानिक उदरावरण प्रदाह और नाड़ी व्रण की उत्पत्ति से उत्पन्न पीड़ा से होता है। यह पीड़ा अत्यन्त कष्टप्रद एवं विस्तृत रहती है। ज्यों ही अश्मरी का प्रवेश ग्रहणी में होता है त्यों ही क्षोभ होता है जिससे दाहिने अनुपार्श्विक प्रदेश (Right Hypochondrium) में पीड़ा और बारम्बार वमन होती है। जब अश्मरी क्षुद्रान्त्र में होकर चलने लगती है तब नाभी-प्रदेश तक पीड़ा की लहर जाती है।

जब अश्मरी किसी स्थान में फंसकर पूर्ण अवरोध करती है तब बार-बार जल्दी जल्दी वमन होते हैं जिनमें सर्वप्रथम रक्त, फिर पित्त और बाद की अवस्थाओं में मल के समान गंध उपस्थित रहती है। स्तब्धता और शीतांग के लक्षण कम पाये जाते हैं और यदि पाये जाते हैं तो काफी देर के बाद उत्पन्न होते हैं। पूर्ण मल और वायु का अवरोध नहीं होता किन्तु पूर्ण आन्त्रावरोध हो चुकने पर पूर्ण मलावरोध हो जाता है। उदर में आध्मान, कठोरता, दबाने से पीड़ा आदि लक्षण अल्प एवं अस्पष्ट रहते हैं। कुछ मामलों में रोगी संज्ञाहीन करके उदर पर से या गुदा में से टटोलकर अश्मरी की उपस्थिति का ज्ञान किया जा सकता है। अधिकांश मामलों में रोग विनिश्चय कठिनाई से हो पाता है अथवा नहीं हो पाता।

(३) आन्त्राश्मरी (Enterolith, Intestinal Calculus)—इनकी रचना आंत्र में पहुँच कर रुके हुए किसी बाह्य पदार्थ (फलों की गुठली, बाल, कंकड़ आदि) या पित्ताश्मरी पर शरीर में पाये जाने वाले अघुलनशील लवण, औषधि रूप में सेवित खड़िया मिट्टी, मेग्नीशिया आदि पदार्थ, अन्य कारणों से या आदतवश खायी हुई मिट्टी, छुई आदि एवं विष्ठा चिपकते रहने से दीर्घकाल में होती है। आन्त्र में प्रदाह की उपस्थिति इनकी रचना के लिये अनुकूल रहती है।
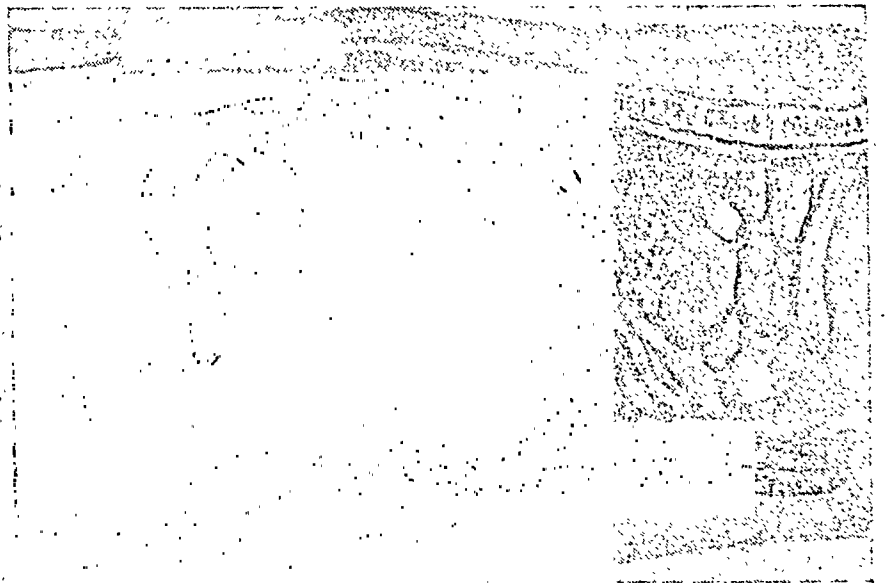
[1] पित्ताशय-शूल अध्याय ८ में देखें।

यदि अश्मरी क्षुद्रान्त्र में उपस्थित हो तो क्षुद्रान्त्र प्रदाह के लक्षण-शूल, वमन, अतिसार आदि भोजन के २-३ घण्टे बाद प्रकट हुआ करते हैं। व्रण बनने पर मल में रक्त जाता है। अश्मरी का आकार बढ़ने पर साधारण आन्त्रावरोध के लक्षण—मलावरोध, आध्मान, वमन आदि समय समय पर प्रकट होते हैं। पूर्ण अवरोध होने पर पित्ताश्मरी जन्य अवरोध के समान लक्षण प्रकट होते हैं।
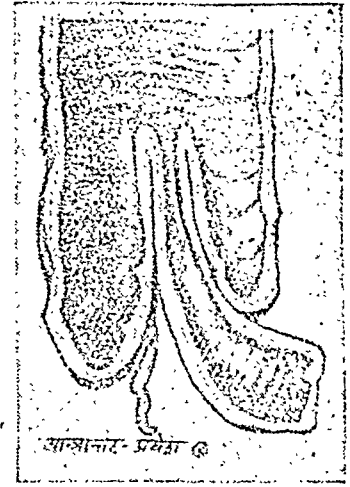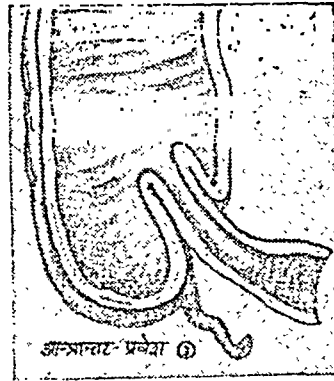
यदि अश्मरी बृहदन्त्र में उपस्थित हो तो तीव्र आन्त्रशूल एवं कुंथन और मरोड़ के साथ पूय, कफ रक्तमिश्रित जलीय अतिसार होते हैं। टटोलने पर उण्डुक में अश्मरी की उपस्थिति के चिह्न मिलते हैं। बृहदन्त्र की अश्मरी का आकार काफी बड़ा रहता है किन्तु इससे पूर्ण अवरोध प्रायः नहीं होता।

(४) बाह्य पदार्थ—बच्चे और मानसिक विकृति, विशेषतः उन्माद के रोगी कई प्रकार की वस्तुयें धोखे से या जानबूझकर निगल जाते हैं। आन्त्र में पहुँचने पर इनके द्वारा इनके आकार के अनुरूप अवरोध, छिद्रण (Perforation) या व्रणीभवन (Ulceration) होता है। जिस स्थान पर एवं जिस प्रकार की विकृति हो वैसे लक्षण उत्पन्न होते हैं।

(५) आन्त्रान्तर प्रवेश (Intussusception)—

इस रोग में आन्त्र का एक भाग दूसरे भाग में प्रविष्ट होजाता है। इसके फलस्वरूप आंत की तीन दीवारें एक के ऊपर एक चढ़ जाती हैं-(१) वह भाग जिसमें अन्य भाग प्रविष्ट है; (२) लौटने वाला भाग और (३) प्रविष्ट भाग। इसका परिणाम यह होता है कि (१) आन्त्रनलिका अत्यन्त संकीर्ण अथवा अवरुद्ध हो जाती है (२) रक्त प्रवाह में बाधा पहुँचती है, और (३) रक्ताधिक्य रहने के कारण जीवाणु संक्रमण होकर पाक, कोप, कर्दम आदि की संभावना रहती है। सम्बद्ध भाग थोड़े ही काल में चिपक कर जुड़ जाते हैं जिससे यह रोग अधिकतर केवल शस्त्र-साध्य होता है। इस रोग की उत्पत्ति के प्रधान कारण पाचन-विकार, प्रदाह, अर्बुद आदि माने जाते जाते हैं। इसके २ मुख्य प्रकार हैं—

१—तीव्र और २—चिरकारी।

आन्त्रान्तर प्रवेश की ५ अवस्थाएं।

(१) तीव्र प्रकार—यह रोग बालकों में ही अधिकतर पाया जाता है और अधिकतर सुन्दर एवं स्वस्थ प्रतीत होने वाले बच्चों पर आक्रमण करता है। अजीर्ण का इतिहास अतिसार या मलावरोध के रूप में अधिकांश मामलों में मिलता है। ७५% प्रतिशत रोगी १ वर्ष से कम आयु के होते हैं और ७०% प्रतिशत लड़के हुआ करते हैं। रोग का आर
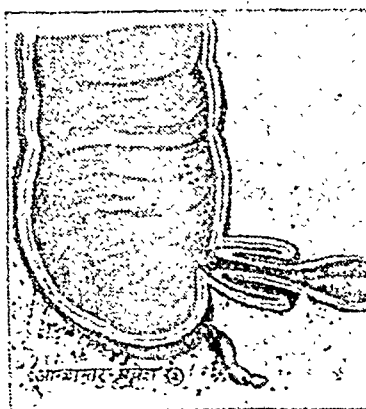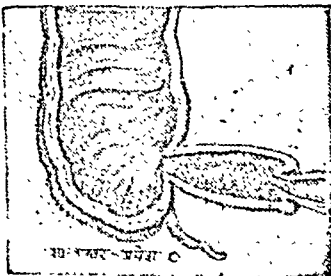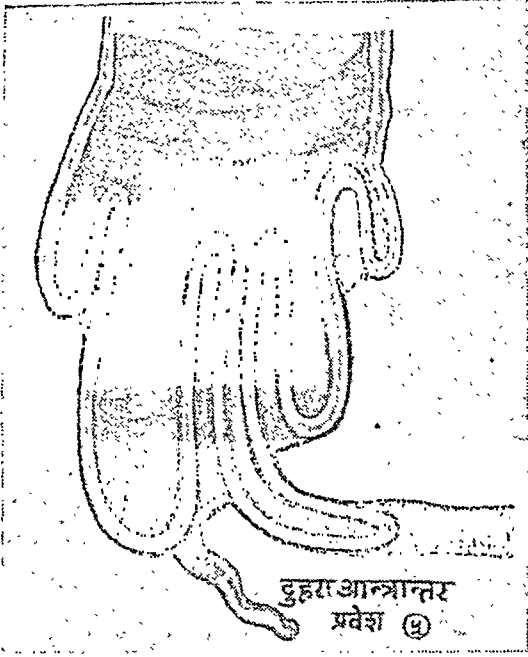
तीव्र आन्त्रशूल होकर होता है। बच्चा एक दम रोता है और घुटनों को उठाकर उदर से लगाता है। चेहरा कष्ट से पीला सा पड़ जाता है और आंखें विस्फारित एवं चमकदार रहती हैं। वमन होते हैं किन्तु अधिक नहीं। एक दो साधारण शौच होते हैं फिर अत्यन्त मरोड़ और कुंथन के साथ काफी मात्रा में रक्त रंजित कफ निकलने लगता है। कुछ काल बाद आवेग शांत हो जाता है और बच्चा शांत एवं निश्चल पड़ा रहता है। थोड़े ही समय बाद पुनः आक्रमण होता है। उदर को टटोलने पर अनुप्रस्थ या अवरोही बृहदन्त्र की सीध में एक लम्बा, कुछ कुछ नाभि की ओर अर्धचन्द्राकार झुका हुआ, कड़ा अर्बुद सा मिलता है जिसे छूने से बालक तीव्र पीड़ा का अनुभव करता है। उदर के शेष भाग में दबाने से पीड़ा नहीं होती तथा दक्षिण जघन कापालिक खात (Right Iliac fossa) खाली सा प्रतीत होता है। उदर की पेशियों में कठोरता नहीं रहती। आध्मान प्रारम्भ में नहीं रहता, २-३ दिन बाद प्रकट होता है। यदि आन्त्रान्तर प्रवेश श्रोणीय बृहदन्त्र (Pelvic Colon) में हो तो गुदा में अंगुली डालकर परीक्षा करने पर आन्त्र का मुड़ा हुआ भाग गर्भाशय-मुख के समान प्रतीत होता है। गुद-संकोचिनी पेशियां अधिकतर ढीली या खुली हुई मिलती हैं किंतु कुछ मामलों में संकुचित (स्तम्भ की अवस्था में) मिलती हैं। आक्रांत भाग प्रायः गुदा के बाहर नहीं निकलता ज्यों-ज्यों समय बीतता है त्यों-त्यों शूल के आवेगों के बीच का समय कम होता जाता है; पीड़ा, मरोड़ और कुंथन लगातार होते हैं और समय समय पर पीड़ाओं में विशेष वृद्धि होती है। बालक अत्यन्त क्षीण और थकित हो जाता है; आंखों के नीचे काले गढ़े बन जाते हैं और उदर फूला रहता है। अक्सर संक्रमण होकर उदरावरण प्रदाह हो जाता है; छूने से पीड़ा होती है और ज्वरादि लक्षण उपस्थित होते हैं।

मृत्यु अत्यन्त क्षीणता, निपात अथवा उदरावरण प्रदाह से होती है। यदि समय के भीतर शस्त्र चिकित्सा न हो तो मृत्यु लगभग निश्चित रहती है किन्तु कुछ अत्यन्त विरल मामलों में भीतर प्रविष्ट आन्त्रखण्ड कोथ को प्राप्त होकर निकल जाता है और रोगोपशम हो जाता है।

१० वर्ष से अधिक आयु के व्यक्तियों में तीव्र आन्त्रान्तर प्रवेश अत्यन्त विरलतः पाया जाता है। अधिकांश मामलों में अर्बुद या चिरकारी प्रदाह के कारण इसकी उत्पत्ति होती है। उदर विकारों का लम्बा इतिहास मिलता है। लक्षण उपर्युक्त की अपेक्षा कुछ कम होते हैं।

(ii) चिरकारी प्रकार—यह अधिकतर वयस्कों में पाया जाता है और स्वतंत्र परतंत्र भेद से दो प्रकार का होता है। परतंत्र प्रकार आन्त्र के अर्बुद या राजयक्ष्मा के कारण होता है। इसमें कारणभूत रोग के लक्षणों के साथ इस रोग के स्वतन्त्र प्रकार के भी लक्षण सम्मिलित रहते हैं। नीचे स्वतन्त्र प्रकार वर्णन किया जाता है—

स्वतन्त्र प्रकार का चिरकारी आन्त्रान्तर प्रवेश २०-४० वर्षीय व्यक्तियों में पाया जाता है। स्त्रियों

की अपेक्षा पुरुष रोगियों की संख्या लगभग दूनी रहती है। इस प्रकार में प्रविष्ट भाग बुरी तरह चिपक जाता है और आन्त्र-नलिका अत्यन्त संकीर्ण हो जाती है। पीड़ित भाग में व्रणीभवन होकर छिद्र हो जाते हैं। रोग का आरम्भ पाचन विकार के लक्षणों से होता है। बीच बीच में गंभीर शूल के आक्रमण होते हैं जो आन्त्रान्तर प्रवेश के स्पष्ट सूचक होते हैं किन्तु चूंकि शूल कुछ ही मिनटों या घण्टों में शांत हो जाता है इस लिये इस ओर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता। प्रारंभ में शूल की यह विशेषता रहती है कि काफी कष्ट देते देते वह एकाएक शांत हो जाता है और रोगी इस प्रकार उठ बैठता है जैसे कुछ हुआ ही न हो। बाद की दशाओं में कुछ देर से आराम मिलता है। प्रारम्भ में शूल के आक्रमण २-३ दिनों पर होते हैं किन्तु बाद की दशाओं में जल्दी जल्दी होने लगते हैं और थोड़ी बहुत पीड़ा सदैव बनी रहती है जो असात्म्य आहार, विरेचन लेने अथवा थकावट होने पर बढ़ती है। अधिकतर शूल के समय पर वमन होते हैं किन्तु अधिक नहीं। कुछ मामलों में मलावरोध रह सकता है किन्तु अधिकतर प्रतिदिन ४-५ दिन ४-५ कफ (कभी कभी रक्त भी) मिश्रित अत्यन्त पतले बदबूदार दस्त होते हैं। मरोड़ एवं कुन्थन उपस्थित रहते हैं। रोगी अत्यन्त दुर्बल एवं क्षीण हो जाता है। उदर टटोलकर परीक्षा करने पर आंत्र का एक भाग फूल हुआ एवं कठोर प्रतीत होता है। शूल के समय पर यह अधिक स्पष्ट पाया जाता है। अधिकांश मामले अन्त में तीव्र प्रकार में परिवर्तित हो जाते हैं अथवा छिद्र होकर उदरावरण में प्रदाह हो जाता है। अत्यन्त विरल मामलों में अन्दर प्रविष्ट आन्त्र-खण्ड नष्ट होकर निकल जाता है किन्तु शेष भाग में सांकर्य उत्पन्न हो जाता है।

बालकों में भी यदा-कदा चिरकारी प्रकार पाया जाता है। इसमें समय पर शूल और रक्तयुक्त अतिसार होते हैं। भोजन के बाद आंतों की पुरस्सरण क्रिया ऊपर से ही दिखाई पड़ती है। टटोलने पर अर्बुदाकार भाग मिलता है जो समय समय पर स्थान बदलता रहता है एवं कभी कभी गुदा के बाहर आ जाता है जिससे गुदभ्रंश का भ्रम हो जाता है।

(६) आन्त्र-वेष्ठन (Intestinal Volvulus)—

इस दशा में आन्त्र का कोई भाग दोहरा होकर रस्सी के समान ऐंठ जाता है। इससे अत्यन्त भयंकर प्रकार का आन्त्रावरोध होता है। चिरकारी मलावरोध के कारण आंत्र की लम्बाई बढ़ जाने से अथवा प्रदाह के फलस्वरूप बंधनों में विकृति हो जाने से यह

आन्त्र वेष्ठन
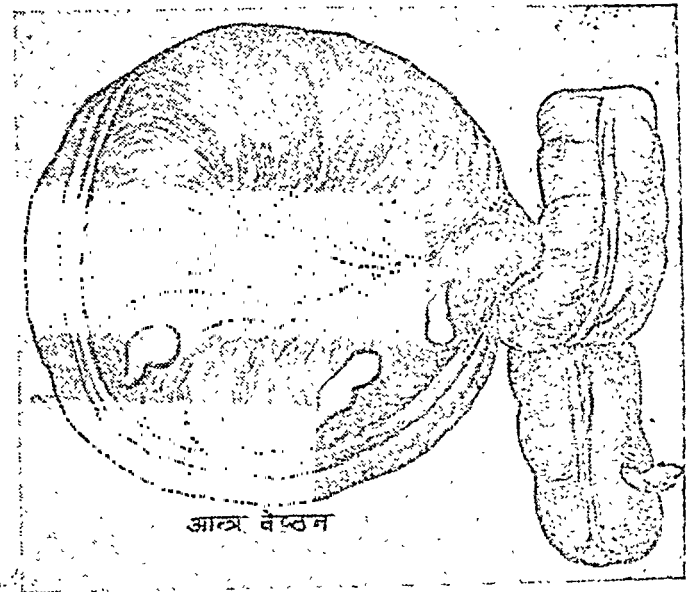
दशा उत्पन्न होने के योग्य परिस्थिति निर्मित हो जाती है और फिर अधिक भोजन, अत्यधिक मलावरोध, आध्मान, अधिक शक्ति लगाकर कोई कठिन कार्य करना जिससे उदर पर दबाव पड़े आदि में से किसी भी कारण के उपस्थित होने से आंत ऐंठ जाती हैं। ऐंठन में आधा फेर से लेकर ३-४ फेर तक लग सकते हैं। ऐंठन से आन्त्र-नलिका एवं आंत्र की रक्तवाहिनियां जिस हद तक संकुचित या बन्द होंगी उसी के अनुसार आंत्रावरोध के सौम्य या गम्भीर लक्षण उत्पन्न होते हैं। पूर्ण अवरोध की दशा में शिरायें अवरुद्ध हो जाने से ऐंठे हुए भाग में रक्ताधिक्य और शोथ होता है तथा पतला रक्त (बहुत सी नलिका

थोड़े से रक्त के साथ) भीतर और बाहर दोनों ओर झिरता है। इसके साथ ही ऐंठे हुए भाग में वायु की इतनी अधिक उत्पत्ति होती है कि वह भाग फूलकर अत्यन्त बड़ा हो जाता है तथा हृदय फुफ्फुस आदि अन्य अवयवों पर दबाव डालता है। इस दशा में ऐंठे हुए भाग में कर्दम और उदरावरण प्रदाह होने की संभावना रहती है।

श्रोणीय वृहदन्त्र (Pelvic colon) का वेष्ठन[1] सबसे अधिक (७५% प्रतिशत) पाया जाता है। रोगी अधिकतर मध्यम आयु का पुरुष (८०% प्रतिशत मामलों में) होता है। मलावरोध का इतिहास हमेशा पाया जाता है। रोग के लक्षणों का आरम्भ अचानक होता है और शीघ्र ही तीव्र एवं पूर्ण आन्त्रावरोध के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। उदर में तीक्ष्ण शूलयुक्त पीड़ा होती है जो बायें जघन कापालिक खात (Left iliac fossa), कमर और पीठ को भी प्रभावित करती है। बार-बार अत्यन्त कष्ट के साथ प्रवाहण होता है किन्तु कुछ भी नहीं निकलता। हिक्का और उद्गार अत्यधिक आते हैं किन्तु वमन प्रायः नहीं होता या बाद की अवस्थाओं में होता है। शीघ्र ही उदर बहुत अधिक फूल जाता है। कुछ घण्टों बाद उदर का बायां भाग दाहिने भाग की अपेक्षा अधिक फूला दिखाई देने लगता है और ठेपण करने पर ढोल बजाने के समान आवाज देता है। वृहदन्त्र इतनी अधिक फूल जाती है कि अन्य अवयवों को ढकेलकर सारे उदर पर अधिकार किये रहती है। महाप्राचीरा अपने स्थान से हटकर तीसरी पसली तक पहुँच सकती है जिसका फल यह होता है कि श्वास और रक्तसंवहन क्रिया में महान रुकावट होती है। स्तब्धता के लक्षण आन्त्रावरोध के अन्य प्रकारों की अपेक्षा कम होते हैं; कष्ट अधिक होता है। यदि शीघ्र ही शस्त्र-चिकित्सा का आश्रय न लिया जावे तो २-३ दिनों में मृत्यु हो जाती है। अधिकांश मामलों में मृत्यु का कारण आन्त्र-भेद (Perforation) या उदरावरण-प्रदाह होता है।

अत्यन्त विरल मामलों में आन्त्रावरोध पूर्णतया नहीं होता। ऐसी दशा में सौम्य लक्षण प्रकट होते हैं। मल और वायु थोड़े बहुत निकलते ही रहते हैं, कुछ मामलों में अतिसार तक होता है। कभी-कभी वेष्ठन खुल कर लक्षणों का उपशम हो जाता है किन्तु मलावरोध होने पर पुनराक्रमण हो जाता है।

आन्त्र-सन्धि (Ileo-caecal Junction) का वेष्ठन भी कभी-कभी पाया जाता है। यह उण्डुक तक ही सीमित होता है अथवा आरोही वृहदन्त्र और क्षुद्रान्त्र के अन्तिम भाग को भी प्रभावित करता है। इसके लक्षण उपर्युक्त की अपेक्षा कम तीव्र होते हैं और वमन उपस्थित रहता है। आध्मान कम होता है और फूला हुआ उण्डुक दक्षिण जघन कापालिक खात अथवा वाम अनुपार्श्विक प्रदेश (Hypochondrium) में मिलता है।

क्षुद्रान्त्र का वेष्ठन अत्यन्त विरल है परन्तु असम्भव नहीं है। इसके लक्षणों की गम्भीरता प्रभावित भाग के कम या अधिक होने पर निर्भर रहती है। फूला हुआ वेष्ठित भाग उदर के बीचों-बीच मिलता है। वमन प्रारम्भ से ही अत्यधिक होते हैं।

आन्त्र-निबद्धता (Strangulation of the Intestines)—उदर-गुहा की दीवारों में कई प्राकृतिक छिद्र होते हैं और कुछ रोगियों में अभिघात, शस्त्रकर्म आदि के फलस्वरूप उत्पन्न अतिरिक्त छिद्र भी पाये जाते हैं। कभी-कभी आन्त्र का कुछ भाग इन छिद्रों में से होकर उदर-गुहा के बाहर निकल आता है, और एक उभार के रूप में लक्षित होता है—इस प्रकार की वृद्धि (उभार) को आन्त्रज-वृद्धि[1] (Hernia) कहते हैं। इसकी

[1] अलसक से इसका अत्यधिक सादृश्य है।

[1] आन्त्रज-वृद्धि का विस्तृत वर्णन अध्याय ३७ में देखिये।

आन्त्र-निबद्धता
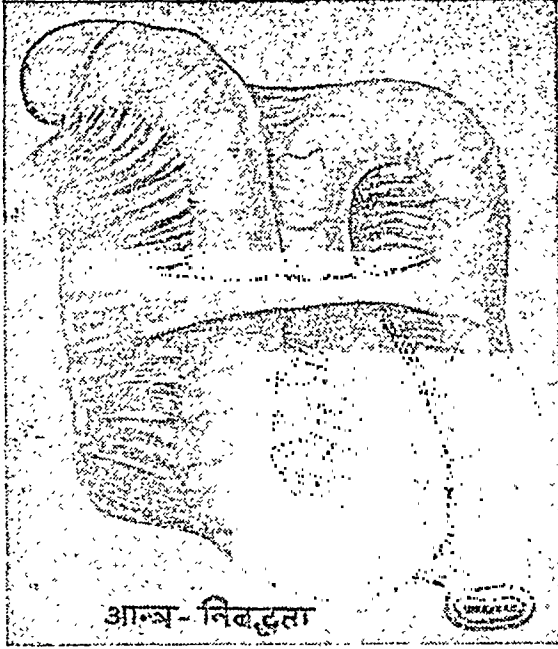
चिकित्सा न होने से कुछ काल में आन्त्र का बाहर निकला हुआ भाग आंत्रगत पदार्थों से क्रमशः भर-कर फूल जाता है और उस छिद्र में बुरी तरह से जकड़ जाता है जिससे उस भाग की रक्तवाहि-नियों और वातनाड़ियों का भी अवरोध हो जाता है—इस दशा को निवद्धता (Strangulation) कहते हैं। आन्त्रज-वृद्धि के बिना भी, उदर-गुहा में प्रदाह इत्यादि के कारण उत्पन्न संलागों (Adhe-sions) एवं पट्टों (Bands) का आन्त्र के किसी भाग पर दबाव पड़ने से भी निबद्धता होती है।

आन्त्र-निबद्धता होने पर आन्त्रावरोध के लक्षण वमन, मलावरोध,आध्मान, शक्तिपात इत्यादि उत्पन्न होते हैं। वमन प्रारम्भ की अवस्थाओं में बिना जोर लगाये होता है और आमाशयस्थ पदार्थ निकलते हैं। कुछ घण्टों बाद वमन का रूप अत्यन्त उग्र हो जाता है; इस समय पित्त-मिश्रित हरे-पीले रङ्ग का कड़ुवा (तिक्त) पदार्थ निकलता है। ज्यों-ज्यों समय वीतता है त्यों-त्यों वमन की उग्रता बढ़ती जाती है और वान्त पदार्थ में विष्ठा की गन्ध आने लगती है। कुछ मामलों में विष्ठा मिश्रित वमन भी होता है किंतु यह अत्यन्त विरल है। प्रारम्भ में कुछ मल निकलता है किन्तु बाद की अवस्थाओं में मल और वायु का पूर्ण अवरोध होता है। [रिचर की आंत्रज वृद्धि (Richter's Hernia) जिसमें आंत्र की दीवार का थोड़ा सा भाग ही बाहर निक-लता है, उसकी निबद्धता की दशा में मल और वायु की थोड़ी प्रवृत्ति होती है और वमन कम होते हैं।] प्रवाहण अत्यन्त कष्ट के साथ होता है।

आन्त्र-वेष्ठन और निबद्धता
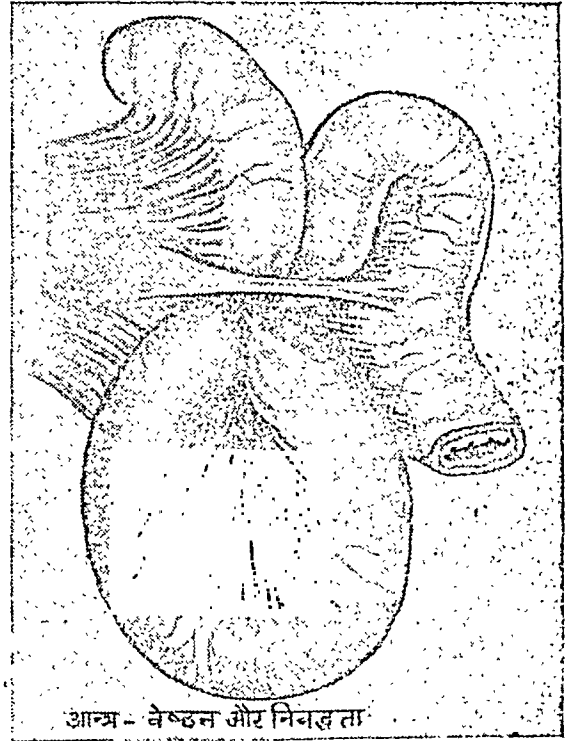
उदर में वायु की उत्पत्ति होकर आध्मान होता है। आन्त्रज-वृद्धि के भीतर भी वायु की उत्पत्ति होती है जिससे वह भी अत्यधिक फूलती है, छूने से और बिना छुए भी पीड़ा करती है और पीड़ा की लहर नाभि तक जाती है।

रोगी अत्यन्त कष्ट से तड़पता है। चेहरा अत्यन्त मुरझाया हुआ एवं चिन्तित सदृश रहता है। स्वर बैठ जाता है, नाड़ी तेज और तापक्रम स्वाभाविक से कम रहता है। जिह्वा मलयुक्त और श्वास अत्यन्त

दुर्गंधित रहती है। क्रमशः शक्तिपात होकर मृत्यु हो जाती है। कुछ मामलों में निबद्ध आंत्र में कर्दम होने से सपूय उदरावरण प्रदाह (Septic peritonitis) और कुछ में वमन का कुछ अंश श्वास-नलिका में प्रविष्ट होने से सपूय फुफ्फुसखण्ड प्रदाह (Septic-pneumonia) अथवा फुफ्फुस-कर्दम (Gangrene of the lungs) होकर मृत्यु होती है।

(८) आन्त्र-स्तम्भ (Enterospasm)—इस रोग में श्रोणीय वृहदन्त्र अथवा आंत्र के किसी अन्य भाग का स्तम्भिक संकोच होता है। जिससे आंत्रावरोध के लक्षण उत्पन्न होते हैं। संकुचित भाग अत्यन्त कड़ा होकर रक्तहीनता के कारण पीला पड़ जाता है, ऊपर का भाग मल और वायु से भरा होने के कारण फूला हुआ रहता है और नीचे का भाग खाली रहता है। इसकी उत्पत्ति चिरकारी अतिसार प्रवाहिका, वृहदन्त्र प्रदाह अथवा उदर या श्रोणि के शल्य-कर्म के फलस्वरूप होती है। अधिकतर २० से ५० वर्ष आयु की स्त्रियों में यह रोग पाया जाता है। आक्रमण अचानक होता है। बिना किसी स्पष्ट कारण के एकाएक उदर में अत्यन्त कष्टदायक पीड़ा, मल और वायु का पूर्ण अवरोध, उदर फूलना और वमन आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। कुछ घंटों या कुछ दिनों तक यह दशा रहती है; फिर अपने आप पूर्ण आराम हो जाता है। स्तम्भ-निवारक (Anti-spasmodic) औषधियां बैलाडोना, खुरासानी अजवायन आदि तत्काल लाभ पहुँचाती हैं—यह अत्यन्त महत्वपूर्ण विभेदक लक्षण है। पुनराक्रमण चाहे जब हो जाता है।

पित्त-शूल, वृक्क-शूल और पुनरावर्तक उपान्त्र-प्रदाह से इसका विभेद करना आवश्यक है। इनमें थोड़े थोड़े समय पर एक के बाद एक तीक्ष्ण शूल के आक्रमण होते हैं और उदर अधिक नहीं फूलता, यह दशा १-२ घंटे रहकर शांत हो जाती है।

आन्त्र-घात (Paralysis of the Intestines)—इसके २ भेद हैं—

(i) आन्त्र निबन्धिनी रक्तवाहिनियों में घनास्रता और अन्तः शल्यता के कारण आंतों की रक्त-संवहन क्रिया में बाधा होती है जिससे आंत के थोड़े से या बहुत बड़े भाग का घात होकर आन्त्रावरोध के लक्षण उत्पन्न होते हैं। यह विकार अधिकतर पुरुषों को ३० से ६० वर्ष की आयु में होता है। तृणाण्वीय अन्तर्हृत्प्रदाह, हृदय का द्विपत्रक-कपाट-संकोच (Mitral Stenosis) अथवा यकृद्दाल्युत्कर्ष रोग के उपद्रव स्वरूप इसकी उत्पत्ति होती है। आन्त्रावरोध के सामान्य लक्षण उत्पन्न होते हैं किन्तु पूर्ण मलावरोध न होकर अतिसार होता है जिसमें रक्त मिला रहता है। वमन में भी रक्त मिला रहता है। अतिसार होने पर भी उदर में भारीपन और पीड़ा रहती ही है। यह रोग असाध्य है।

(ii) कुछ रोगियों में उदर के किसी विकार के लिए शल्यकर्म करते समय अथवा उसके बाद आंत्र के कुछ भाग का घात होकर आन्त्रावरोध के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। लक्षणों की उत्पत्ति धीरे धीरे होती है। सबसे पहले उदर का फूलना और नाड़ी की गति में तेजी दृष्टिगोचर होते हैं। कुछ काल बाद बिना जोर लगाये बादामी रंग का बदबूदार तरल पदार्थ वमन से निकलने लगता है। कुछ मामलों में इस द्रव का संचय आमाशय में होता है और फिर वमन होकर वह सबका सब एक ही बार में निकल जाता है और कुछ देर के लिये शांति मिलती है। कुछ मामलों में प्रारम्भ में वमन नहीं होते, मृत्यु के ठीक पहले एक बहुत बड़ा अत्यन्त दुर्गन्धित, रक्तमिश्रित, बादामी रंग का वमन होता है। रोगी का तापक्रम सामान्य तापक्रम से कम रहता है, धड़ गर्म रहता है किन्तु शाखायें ठंडी, चिपकीले पसीने से युक्त एवं श्याव वर्ण की होजाती हैं। चेहरा पीड़ा से विकृत हुए के समान रहता है किन्तु रोगी किसी खास कष्ट का अनुभव नहीं करता तथा नेत्र स्वच्छ एवं तेजस्वी रहते हैं। उदर में पीड़ा, शूल और कड़ापन प्रायः नहीं पाये जाते।

(१०) आंत्र-सांकर्य (Stricture of the Intestine) तथा—

(११) आन्त्रगत-अर्बुद (Tumours of the Intestine) चिरकारी प्रदाह आदि व्रण आदि के कारण उत्पन्न संकीर्णता तथा अर्बुद की उपस्थिति से आंतों में चिरकारी अवरोध होता है। लक्षण चिरकारी आंत्रावरोध के अन्तर्गत आगे वर्णित हैं।

ऊपर आंत्रावरोध के कारणों पर प्रकाश डालते हुए संक्षेप में लक्षण भी बतलाये गए हैं। अब सभी प्रकार के आंत्रावरोध का सामान्य वर्णन किया जाता है। आंत्रावरोध के २ प्रकार होते हैं—(१) तीव्र और (२) चिरकारी।

(१) तीव्र आन्त्रावरोध (Acute Intestinal Obstruction)—यह एक अचानक उत्पन्न होने वाली भयङ्कर दशा है जिसमें उदर में पीड़ा, लगातार वमन, आध्मान, मल और वायु का अवरोध और स्तब्धता प्रधान लक्षण होते हैं। प्रारम्भिक लक्षणपीड़ा, वमन और स्तब्धता (Shock) उदर के अन्य तीव्र रोगों में भी पाये जाते हैं और संभवत: इनकी उत्पत्ति संज्ञावह वात-नाड़ियों के प्रभावित होने से होती है। अवरोध काफी समय तक रहने पर निपात (Collapse) के लक्षण उत्पन्न होते हैं–हृदय की गति तीव्र एवं अनियमित हो जाती है तथा रक्तसंवहन क्रिया विकृत हो जाती है। रुके हुए आंत्रिक पदार्थों में से विषैले पदार्थों का चूषण करने के बाद भी चूषित विषों के प्रभाव से मृत्यु हो जाती है।

प्रारम्भिक लक्षण 'उदर-पीड़ा' है जो इतनी कष्टदायक होती है कि रोगी दुहरा हो जाता है या बार-बार ऐंठता है। छोटी आंत में अवरोध हो तो पीड़ा लगातार होती है और नाभि के आस-पास मालूम होती है और नाभि के नीचे के भाग में लहर मारती है। अवरोध जितने ऊपरी भाग में होता है और आंत का जितना अधिक भाग प्रभावित होता है पीड़ा उतनी ही कष्टदायक होती है। कुछ समय बाद आंतों को खाली करने के प्रयत्न में पुरस्सरण क्रिया अत्यन्त वेगवती हो जाती है जिससे मरोड़ के समान पीड़ा होती है। यह क्रम कुछ देर तक चलने के बाद आंतों की पेशियां और वात-नाड़ियां थकित हो जाती हैं और पुरस्सरण क्रिया मन्द या बन्द हो जाती है जिससे पीड़ा कम हो जाती है। कुछ मामलों में यह शिथिलता या थकावट घात की दशा तक पहुँच जाती है, ऐसी दशा में अवरोध दूर होने पर आंतों में गति उत्पन्न नहीं होती। इस समय तक उदर की पेशियां मुलायम रहती है और दबाने से पीड़ा कम होती है। किन्तु इसके बाद ही उदरावरण प्रदाह होकर उदर की पेशियों में कड़ापन, काटने के समान पीड़ा और छूने से पीड़ा में वृद्धि होना आदि लक्षण होते हैं। कुछ मामलों में अत्यधिक विषमयता से रोगी का सारा शरीर और उदर की पेशियां ढीली पड़ जाती हैं और पीड़ा गायब हो जाती है—यह एक अरिष्ट लक्षण है।

वमन का आरम्भ पीड़ा आरम्भ होने के कुछ ही समय बाद हो जाता है। इसके साथ हृल्लास ओ-ओ करके जोर लगाना और उद्‌गार होते हैं तथा इससे रोगी के कष्ट में कोई कमी नहीं होती। वमन लगातार होती हैं और रोकी नहीं जा सकतीं तथा भोजन से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। प्रारम्भ में आमाशय में रहे पदार्थ निकलते हैं, फिर पित्त निकलता है और अन्त में प्रत्युद्‌गिरीय (Regurgitant) वमन होता है जिसमें बिना जोर लगाये, झटके के साथ पीले या गहरे बादामी रंग का अत्यन्त दुर्गन्धित पदार्थ निकलता है। दुर्गन्ध विष्ठा के समान रहती है किंतु विष्ठा के कारण नहीं बल्कि आंतों में रुके हुए पदार्थों के सड़ने के कारण होती है। अवरोध आमाशय के जितने समीप हो प्रत्युद्गिरीय वमन उतनी ही शीघ्र उत्पन्न होता है और उतना ही अधिक कष्टदायक होता है। यदि अवरोध बृहदन्त्र में हो तो प्रत्युद्गिरीय वमन अधिकतर नहीं होता।

तीसरा महत्वपूर्ण लक्षण स्तब्धता (Shock) है। यह पीड़ा शुरु होने के कुछ ही घण्टों बाद प्रकट

हो जाता है। उस समय इसकी उत्पत्ति उदर की वातनाड़ियों पर व्यापक प्रभाव पड़ने से होती है। बाद की अवस्थाओं में वमन और प्रस्वेद के द्वारा जलीयांश कम होने से और आंत्र में रुके हुए पदार्थों की सड़न से उत्पन्न विषों के चूषण से इसमें वृद्धि होती है। चेहरा फीका पीला, आंखें धंसी हुई, शरीर चिपचिपे पसीने से भीगा हुआ और ठंडा, अत्यधिक प्यास, पिण्डलियों में उद्वेष्टन तथा नाड़ी धागे के समान पतली, कमजोर और द्रुतगामिनी रहती है। हाथ, पैर, नाक, कान आदि के नुकीले भाग नीले पड़ जाते हैं और ठण्डे रहते हैं। तापक्रम लगातार सामान्य से कम रहता है। मूर्च्छा, संन्यास आदि प्रायः नहीं होते, रोगी को अन्त तक होश रहता है तथा अपने रोग को प्राणघातक नहीं समझता।

पीड़ा और वमन आरम्भ होने के समय पर अधिकतर एक दस्त आता है जिससे अवरोध से नीचे के भाग में पदार्थ निकल जाते हैं। इसके बाद मल और वायु का पूर्ण अवरोध होता है और मल त्याग करने की इच्छा उत्पन्न नहीं होती किन्तु यदि आंत्र के निचले भाग में निबद्धता हो तो प्रवाहण होता है। वस्ति प्रायः रुक जाती है और यदि निकलती भी है तो वेग के साथ नहीं निकलती तथा मल और वायु नहीं निकलते।

अधिक जलाल्पता होने पर मूत्र कम या बन्द हो जाता है। प्रारम्भ में उदर चपटा और ढीला रहता है तथा दबाने से पीड़ा नहीं होती। बाद की अवस्थाओं में उभर आता है और उदरावरण प्रदाह प्रारम्भ होने पर कठोर हो जाता है एवं छूने से पीड़ा होती है। 'आध्मान' लगभग सभी प्रकार के आंत्रावरोध में थोड़ा बहुत होता ही है किन्तु श्रोणीय बृहदन्त्र के वेष्ठन में अत्यधिक होता है।

आन्त्रान्तर प्रवेश तथा बाह्य पदार्थों अथवा मलपिण्डों के द्वारा आन्त्रावरोध होने पर उदर को टटोलने पर अर्बुद के समान पदार्थ पाया जाता है, अन्य प्रकार के आंत्रावरोध में नहीं।

आंत्र-शूल, पित्तशूल, वृक्क-शूल, तीव्र उपान्त्र-प्रदाह, तीव्र उदरावरण-प्रदाह (अन्य कारणों से उत्पन्न), तीव्र अग्न्याशय प्रदाह, आमाशय और ग्रहणी व्रणों में छिद्रोत्पत्ति, डिम्ब प्रणाली में स्थित गर्भ अथवा विद्रधि का उदर-गुहा में फटना, डिम्ब-ग्रंथि और गर्भाशय के अर्बुदों के वृन्तों का ऐंठ जाना आदि दशाओं से इसका विभेद करना आवश्यक होता है।

(२) चिरकारी अथवा क्रमिक आन्त्रावरोध (Chronic or Gradual Intestinal Obstruction) इसकी उत्पत्ति उन कारणों से होती है जो धीरे धीरे बढ़कर क्रमशः अवरोध उत्पन्न करते हैं जैसे आंत्र के भीतर के अर्बुद आंत्र के चिरकारी व्रणों के भरने से उत्पन्न संकीर्णता और आंत्र के बाहर स्थित ऐसे अर्बुद जिसका दबाव आंत्र पर पड़े। रोग अज्ञात रूप से बढ़ता है और लक्षण काफी विलम्ब से उत्पन्न होते हैं और यदि लक्षणों की अवहेलना की जावे तो पूर्ण अवरोध होकर तीव्र आंत्रावरोध के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

यदि अवरोध क्षुद्रान्त्र के ऊपरी भाग में हो जहां कि मल तरल रूप में रहता है तो लक्षणों की उत्पत्ति बहुत ही विलम्ब से होती है। मल की गति में अवरोध होने पर अवरोध के ऊपर का भाग यदि वह क्षुद्रान्त्र में हो तो उसकी परम पुष्टि होती है (दीवार मोटी एवं कठोर हो जाती है) और यदि वह बृहदन्त्र में हो तो ऊपर का भाग विस्फारित होकर अत्यन्त बड़ा हो जाता है। अवरोध के नीचे का भाग पीताभ और संकुचित हो जाता है तथा खाली रहता है किंतु कुछ मामलों में यह मल और वायु से परिपूर्ण भी पाया जाता है। अवरोध के ऊपरी भाग में मल देर तक रुकने और सड़ने से श्लैष्मिक कला में क्षोभ होकर पहले प्रदाह और तत्पश्चात् व्रणों की उत्पत्ति होती है। ये व्रण उदरावरण तक फैलकर उदरावरण में प्रदाह या पाक उत्पन्न कर सकते हैं।

प्रारम्भिक लक्षण मलावरोध है जो समय समय

पर हो जाता है, अन्य समयों पर शौच-शुद्धि लगभग ठीक ही होती है। फिर कुछ समय बाद भोजन के उपरान्त उदर में मन्द पीड़ा और भारीपन, कभी-कभी वमन और अक्सर आध्मान की शिकायत होने लगती है। वृहदन्त्र के निचले भाग में कर्कटार्बुद होने पर प्रातःकाल सोकर उठते ही १—२ पतले दस्त आना प्रधान लक्षण है। इन सब लक्षणों की या तो अवहेलना की जाती है अथवा सामान्य अजीर्ण समझकर चिकित्सा की जाती है। ज्यों ज्यों समय बीतता है त्यों त्यों मलावरोध बढ़ता ही जाता है। जुलाब से लाभ होता है किन्तु मात्रा बढ़ाते जाना आवश्यक होता है और बहुत जल्दी जल्दी जुलाब की आवश्यकता पड़ती है। कभी-कभी जुलाब से दस्त न आकर अत्यन्त कष्टदायक मरोड़ उत्पन्न होती है जो उदर को दबाने या मलने से शान्त होती है; कभी कभी वमन भी हो सकता है। अधिकांश रोगियों को समय समय पर थोड़े से मल के साथ अत्यधिक कफ मिले हुए दस्त बहुत कुंथन के साथ होते हैं। इनकी उत्पत्ति रुके हुए मल के द्वारा श्लैष्मिक कला में क्षोभ होने से होती है। इस प्रकार के दस्तों और मलावरोध का पारी-पारी से होना एक अत्यन्त महत्वपूर्ण निदानात्मक लक्षण है।

धीरे धीरे अवरोध के ऊपर का आन्त्र का भाग प्रसारित और परम पुष्ट (Hypertrophied) हो जाता है। उदर सामने की ओर बढ़ जाता है और समय समय पर आन्त्र पुरस्सरण क्रिया की लहरें दिखाई देने लगती हैं—यह भी निदानात्मक चिह्न है। जब छोटी आंत प्रसारित होती है तब उदर पर सीढ़ी के पायों के समान लम्बे समानान्तर उभार दिखाई देने लगते हैं। बड़ी आंत के प्रसारित होने पर उसके कुछ भाग उभरे हुए दिखाई दे सकते हैं किन्तु पुरस्सरण-क्रिया की लहरें प्रायः स्पष्ट लक्षित नहीं होतीं। पुरस्सरण-क्रिया होते समय गुड़-गुड़ाहट की आवाज हुआ करती है। गुदा में अंगुली डालकर परीक्षा करने पर मलाशय अत्यन्त प्रसारित मिलता है।

क्रमशः लक्षण अधिक बलवान होते जाते हैं और लगातार बने रहते हैं। पाचन क्रिया अत्यधिक विकृत हो जाती है, मुख और जिह्वा मलयुक्त रहते हैं और श्वास में विष्ठा की गंध आती है। आन्त्र में रुके हुए पदार्थों के सड़ने से उत्पन्न विषों का चूषण होते रहने से स्वास्थ्य गिरता ही जाता है। अत्यधिक विषमयता होने पर निपात (Collapse) होता है। मृत्यु विषमयता और शक्तिपात से अथवा अचानक छिद्रोत्पत्ति होकर उदरावरणप्रदाह से अथवा तीव्र आन्त्रावरोध होकर होती है।

चिरकारी आन्त्रावरोध के कुछ मामले तीव्र आन्त्रावरोध में परिवर्तित होकर मृत्यु को प्राप्त होते हैं। संकीर्ण हो चुकी आन्त्रनलिका में मल पिण्ड, पित्ताश्मरी अथवा निगला हुआ बाह्य पदार्थ फंस जाने से, तेज जुलाब के प्रयोग से, श्लैष्मिक कला में उत्पन्न रक्ताधिक्य से, अथवा आध्मान या एकाएक स्थिति बदलने के कारण आंत्र का रोगी भाग ऐंठ जाने से पूर्ण आन्त्रावरोध होजाता है। ऐसे मामलों में तीव्र और चिरकारी दोनों प्रकार के लक्षण मिलते हैं। यह दशा अधिकतर मारक होती है।

: ७ :

क्रिमि

(PARASITES)

क्रिमियों के भेद

क्रिमयश्च द्विधा प्रोक्ता बाह्याभ्यन्तरभेदतः।
बहिर्मलकफासृग्विड्जन्यभेदाच्चतुर्विधाः ॥१॥
नामतो विंशतिविधाः,

कृमि बाह्य और आभ्यान्तर भेद से २ प्रकार के, बाह्य-मल, कफ, रक्त और विष्ठा में जन्म लेने के भेद से ४ प्रकार के और नाम भेद से २० प्रकार के होते हैं।

बाह्यकृमि

—बाह्यास्तत्र मलोद्भवाः।

तिल प्रमाणसंस्थानवर्णाः केशाम्बराश्रयाः ॥२॥
बहुपादाश्च सूक्ष्माश्च यूका लिक्षाश्च नामतः।
द्विधा ते कोठपिडकाकण्डूगण्डान् प्रकुर्वते ॥३॥

बाह्यकृमि वहीं मल (मैल, स्वेदादि के कारण त्वचा पर रहने वाला मैल) में उत्पन्न होते हैं। ये तिल के समान आकार और वर्ण वाले (श्वेत या काले) होते हैं, बालों और कपड़ों में रहते हैं तथा बहुत से पैरों से युक्त और छोटे होते हैं। नाम भेद से ये दो प्रकार के होते हैं—यूका (जूं) और लिक्षा (लीख)। ये कोठ, पीडिका, कण्डू (खुजलाहट) और गण्ड (ग्रन्थिप्रदाहजन्य शोथ) उत्पन्न करते हैं।

वक्तव्य—(७३) यूका और लिक्षा एक ही कीट की दो जातियां हैं। एक तीसरी जाति भी पायी जाती है जो गुह्यांग के बालों के बीच निवास करती है। ये अण्डज प्राणी हैं और एक मनुष्य से दूसरे के शरीर पर सम्पर्क से फैलते हैं। अधिकतर गंदे मनुष्य ही इनसे आक्रान्त होते हैं और पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियां अधिक, क्योंकि वे बाल रखती हैं। इनके काटने से खुजलाहट होती है और शीतपित्त के समान कोठ तक उत्पन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ रोग विशेषतः प्रलापक ज्वर जीवाणुओं के प्रसार में भी ये सहायक होते हैं। पृष्ठ २१४ पर चित्र नं० १२-(११) देखिये।

यूका को साधारण भाषा में जूँ या जुंआ और अंग्रेजी में पैडीकुलस कैपिटिस (Pediculus Capitis) कहते हैं। यह हल्के काले रंग की होती है। त्वचा के रंग के अनुसार भिन्न भिन्न जाति के शरीर पर पाई जाने वाली यूका के रंग में कुछ विभिन्नता पायी जाती है।

लिक्षा को साधारण भाषा में लीख या चीलर और अंग्रेजी में पैडीकुलस कारपोरिस (Pediculus Corporis) कहते हैं। यह जूं से आकार में बड़ी और सफेद रंग की होती है। अधिकतर मनुष्यों के पहनने के वस्त्रों में निवास करती है। इसके अधिक काटने से त्वचा का वर्ण परिवर्तित होकर स्थान-स्थान पर श्याव-वर्ण के धव्वे उत्पन्न हो जाते हैं—(Vagabond's Disease)।

गुह्यांग के बालों में पायी जाने वाली यूका को साधारण भाषा में किल्ली कहते हैं क्योंकि इसका आकार बहुत कुछ किल्ली के समान होता है, वैसे यह किल्ली (Tick) से भिन्न है। पाश्चात्य विद्वान इसे प्थीरियस प्यूबिस (Phthirius Pubis) कहते हैं, इसी के आधार पर नवीन वैद्य इसे गुह्यांग यूका कहते हैं। यह कक्षा और भ्रू के बालों के बीच भी पायी जाती है। इसका धड़ लगभग चौकोर रहता है और पैर मकड़ी के समान चारों ओर फैले रहते हैं। यह लगभग मकड़ी के ही समान पैरों को त्वचा में जमाकर चिपकी रहती है।

इन तीनों को अंग्रेजी में लाउस या पैडीकुलस (Louse or Pediculus) तथा इनसे उत्पन्न होने वाले कण्डू, कोठ आदि लक्षण समूह को पैडीकुलोसिस (Pediculosis) कहते हैं।

आभ्यन्तर क्रिमियों के निदान

अजीर्णभोजी मधुराम्लनित्यो
द्रवप्रियः पिष्टगुडोपभोक्ता।
व्यायामवर्जी च दिवाशयानो
विरुद्धभुक् संलभते क्रिमींस्तु ॥४॥

अजीर्ण (प्राकृत अजीर्ण) में भोजन करने वाला (अथवा कच्चा अन्न खाने वाला), मधुर और अम्ल पदार्थ नित्य खाने वाला, द्रव पदार्थों के सेवन में अधिक रुचि रखने वाला पिट्ठी (उड़द की) और गुड़ खाने वाला, व्यायाम न करने वाला, दिन में सोने वाला और नियम विरुद्ध भोजन करने वाला क्रिमियों को प्राप्त करता है।

वक्तव्य—(७४) उक्त प्रकार के आचरण करने मात्र से कृमि उत्पन्न होते हैं—ऐसा सोचना गलत

है। वास्तव में इस प्रकार के आचरण करने से कृमियों के संक्रमण की संभावना उत्पन्न हो जाती है। कृमियों की उत्पत्ति अण्डों से होती हैं। जब वे अण्डे मनुष्य के शरीर में प्रविष्ट होते हैं तब यदि शरीर में उनके निर्वाह योग्य परिस्थिति हो तो वे फूटकर और बढ़कर कृमि का रूप धारण करते हैं अन्यथा नष्ट हो जाते हैं। यह हमारे प्राचीन आचार्यों को विदित न रही होगी ऐसा सोचना गलत है। 'संलभते क्रिमींस्तु' कहकर इसी का प्रतिपादन किया है। 'संलभते' का अर्थ है—'प्राप्त करता है'। कहां से प्राप्त करता है—यहां सोचने की बात है। वहीं से प्राप्त करेगा जहां कृमि उपस्थित हैं।

माषपिष्टाम्ललवणगुडशाकैः पुरीषजाः।
मांसमत्स्यगुडक्षीरदधिशुक्तैः कफोद्भवाः ॥५॥
विरुद्धाजीर्णशाकाद्यैः शोणितोत्था भवन्ति हि।

उड़द की पिट्ठी, अम्ल पदार्थ, लवण, गुड़ और शाक (के अधिक सेवन) से पुरीषज कृमि, मांस, मछली, गुड़, दूध, दही और सिरके (के अधिक सेवन) से कफज कृमि, और विरुद्ध भोजन, अजीर्ण में भोजन (या कच्चा भोजन) शाक आदि से रक्तज कृमि उत्पन्न होते हैं।

वक्तव्य—(७५) पुरीषजाः—पुरीषे जाताः इति पुरीषजाः। कफोद्भवा—कफे उद्भूताः इति कफोद्भवाः। शोणितोत्थाः—शोणिते उत्थित इति शोणितोत्थाः। अर्थात् पुरीष (विष्ठा) में उत्पन्न होने वाले पुरीषज, कफ में उत्पन्न होने वाले कफज और रक्त में उत्पन्न होने वाले शोणितज या रक्तज।

आभ्यन्तर क्रिमियों के सामान्य लक्षण

ज्वरो विवर्णता शूलं हृद्रोगः सदनं भ्रमः ॥ ६ ॥
भक्तद्वेषोऽतिसारश्च संजातक्रिमिलक्षणम्।

ज्वर, वैवर्ण्य, शूल, हृदय रोग, अवसाद, भ्रम, अरुचि और अतिसार—ये लक्षण कृमि उत्पन्न हो चुकने पर होते हैं।

कफज क्रिमियों के लक्षण

कफादामाशये जाता वृद्धाः सर्पन्ति सर्वतः ॥ ७ ॥
पृथुब्रध्नानिभाः केचित् केचिद्गण्डूपदोपमाः।
रूढधान्याङ्कुराकारास्तनुदीर्घास्तथाऽणवः ॥ ८ ॥
श्वेतास्ताम्रावभासाश्च नामतः सप्तधा तु ते।
अन्त्रादा उदरावेष्टा हृदयादा महागुदाः ॥ ९ ॥
चुरवो दर्भकुसुमाः सुगन्धास्ते च कुर्वते।
हृल्लासमास्यस्रवणमविपाकमरोचकम् ॥ १० ॥
मूर्च्छाच्छर्दिज्वरानाहकार्श्यक्षवथुपीनसान्।

आमाशय में कफ में से उत्पन्न कृमि बड़े होकर सर्प के समान सरकते हुए सभी ओर जाते हैं। उनमें से कोई कोई तांत के समान लम्बे, कोई केंचुए (गिण्डोये) के समान कोई जमे हुए धान्य के अंकुरों के समान आकार वाले, कोई पतले, कोई बड़े और कोई अणु के समान अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं। इनका वर्ण श्वेत और ताम्राभ (बहुत हल्की लालिमा युक्त) होता है। नामभेद से ७ प्रकार के हैं—अन्त्राद, उदरावेष्ट, हृदयाद, महागुद, चुरु, दर्भकुसुम और सुगन्ध। ये हृल्लास, मुख से लार गिरना, अजीर्ण, अरुचि, मूर्च्छा, वमन, ज्वर, आनाह, कृशता, छींक और पीनस रोग उत्पन्न करते हैं।

वक्तव्य—(७६) कृमियों का यह वर्णन इतना संक्षिप्त है कि इसके आधार पर किसी भी निर्णय पर पहुंचना अत्यन्त कठिन है। यदि प्रत्येक कृमि की आकृति आदि स्पष्ट बतलायी होती तो पहिचानना सम्भव था किंतु यहां तो केवल नाम गिनाये गये हैं। अत्यन्त दुख की बात है कि इस सम्बन्ध में वृद्ध वैद्य भी कोई जानकारी देने में असमर्थ हैं।

रक्तज कृमियों के लक्षण

रक्तवाहिसिरास्थानरक्तजा जन्तवोऽणवः ॥ ११ ॥
अपादा वृत्ताताम्राश्च सौक्ष्म्यात् केचिददर्शनाः।
केशादा रोमविध्वंसा रोमद्वीपा उदुम्बराः।
षट् ते कुष्ठैककर्माणः सहसौरसमातरः ॥ १२ ॥

रक्तज कृमियों का स्थान रक्तवाही सिरायें हैं। ये अत्यन्त फूलकर सूक्ष्म, पैर विहीन, वृत्ताकार और ताम्र वर्ण के होते हैं। इनमें से कोई कोई सूक्ष्मता के कारण अदृष्य होते हैं। ये छः प्रकार के होते हैं—केशाद, रोमविध्वंस, रोमद्वीप, उदुम्बर, सौरस और मातृ। ये कुष्ठ रोग की उत्पत्ति करते हैं।

वक्तव्य—(७७)यहां यह प्रमाणित होता है कि प्राचीन आचार्यों को उन अत्यन्त सूक्ष्म कृमियों का भी ज्ञान था जो (सूक्ष्मदर्शक यंत्र के विना) आंखों से नहीं देखे जा सकते तथा जिन्हें आज के युग में जीवाणु (Micro-organisms) कहते हैं।

पुरीषज कृमियों के लक्षण

पक्वाशये पुरीषोत्था जायन्तेऽधोविसर्पिणः ।
प्रवृद्धाः स्युर्भवेयुश्च ते यदाऽऽमाशयोन्मुखाः ॥ १३ ॥
तदाऽस्योद्गारनिःश्वासा विड्गंधानुविधायिनः ।
पृथुवृत्ततनुस्थूलाः श्यावपीतसितासिताः ॥ १४ ॥
ते पंच नाम्ना क्रिमयः ककेरुकमकेरुकाः ।
सौसुरादाः सशूलाख्या लेलिहा जनयन्ति हि ॥ १५ ॥
विड्भेदशूलविष्टम्भकार्श्यपारुष्यपाण्डुताः ।
रोमहर्षाग्निसदनं गुदकण्डूर्विमार्गगाः ॥ १६ ॥

पक्वाशय में पुरीषज कृमि उत्पन्न होते हैं। ये नीचे की ओर सरकने वाले होते हैं किन्तु जब अत्यधिक बढ़कर आमाशय की ओर गमन करते हैं तब मुख, डकार और निःश्वास में विष्ठा की गंध उत्पन्न करते हैं। ये कृमि चौड़े, वृत्ताकार, पतले, मोटे, श्याम, पीले, सफेद, काले नामभेद से ककेरुक, मकेरुक, सौसुराद, सशूल और लेलिह-५ प्रकार के होते हैं। विमार्गगामी होने पर ये अतिसार, शूल, विष्टम्भ कृशता, रूक्षता, पाण्डु, रोमहर्ष, अजीर्ण और गुदा में खुजली उत्पन्न करते हैं।

पाश्चात्य मत—

मानव शरीर में निम्नलिखित कृमि सामान्यतः पाये जाते हैं—

(१) शूकरज स्फीत कृमि (*Taenia Solium, Pork Tape-worm*) छोटा कद्दूदाना।

(२) पशुज स्फीत कृमि (*Taenia Saginata Beef Tape-worm*) मध्यम कद्दूदाना।

(३) मत्स्यज स्फीत कृमि (*Diphyllobothrium Latum, Bothriocephalus Latus, Fish Tape-worm*) बड़ा कद्दूदाना।

(४) वामन स्फीत कृमि (*Hymenolepsis nana Dwarf Tape worm*) बौना कद्दूदाना।

(५) कोषधारी स्फीतकृमि (*Teania Echinococcus*)

(६) अंकुश कृमि (*Ancylostoma Duodenale, Hook-worm*)

(७) कनिष्ठ अंकुश कृमि (*Nector Americanus*)

(८) गण्डूपद कृमि, केंचुआ, पटार (*Ascaris Lumbricoides, Round-worm*)

(९) प्रतोद कृमि (*Trichuris Trichiura, Whip-worm*)

(१०) रुढ़ धान्यांकुर कृमि (*Trichina Spiralis*)

(११) चुरू कृमि, सूत्र कृमि, चुनुने (*Enterobius Vermicularis, Oxyuris, Thread-worm, Pin-worm*)

(१२) क्षुद्र सूत्रकृमि (*Strongyloides Stercoralis*)

(१३) श्लीपद कृमि (*Falaria*)

(१४) स्नायुक कृमि (*Dracunculus Medinensis, Guiuea-worm*), नहरुआ।

(१५) शिस्टोसोमा (*Schistosoma, Bilharzia*)

इनके अतिरिक्त अन्य कई प्रकार के कृमि अत्यन्त विरलतः पाये जाने के कारण छोड़ दिये गये हैं। ऊपर बतलाये गये चौदह में से प्रथम चार कृमि लम्बे और चपटे होने के कारण "पट्टी सदृष कृमि" (Cestodes) कहलाते हैं; इसी प्रकार नं० ६ से १४ तक के कृमि लम्बे और गोल होने के कारण डोरी सदृष कृमि (Nematodes) और अन्तिम पन्द्रहवां कृमि मध्य में गर्तयुक्त होने के कारण सगर्त कृमि (Trematodes) अथवा आकार में पत्र के समान होने के कारण पत्र सदृष कृमि (Fluke) कहलाते हैं।

(१) शूकरज स्फीत कृमि, छोटा कद्दूदाना (Taenia solium, Pork Tape worm)—यह फीते के समान चपटा होता है। सिर की तरफ सकरा और फिर क्रमशः चौड़ा होते होते अन्त में सबसे अधिक चौड़ा हो जाता है। सारे शरीर की रचना लगभग १००० गुरियों (Segments) से होती है। सिर की ओर के गुरिये बाल्यावस्था में रहते हैं और अन्तिम

तरुणावस्था में। तरुण गुरियों में नर और मादा उत्पादक अवयव पाये जाते हैं। एक ही प्राणी के शरीर में दोनों जातियों के उत्पादक अवयव होना आश्चर्यजनक है, किन्तु सत्य है। इन गुरियों में परस्पर रति होकर गर्भाधान होता है और अण्डे प्रसूत होते हैं। अण्डे अण्डाकार तथा ३/१०० मिलीमीटर लम्बे होते हैं; छिलका मजबूत एवं धारीदार होता है। पूरे कृमि की लम्बाई १०-१२ फीट होती है और तरुण गुरियों की लम्बाई ½ इञ्च तथा चौड़ाई ⅓ इञ्च होती है। सिर अत्यन्त छोटा लगभग आलपीन के मत्थे के बराबर होता है। उसके चारों ओर २६ अंकुशाकार कांटे और ४ चूषक अवयव (Suckers) रहते हैं।

पूरा कृमि रोगी की क्षुद्रान्त्र में रहता है। सिर ऊपरी भाग में श्लैष्मिक कला से चिपटा रहता है और शेष भाग क्षुद्रान्त्र के कुण्डलों में उन्हीं के अनुरूप मुड़ा हुआ पड़ा रहता है। अन्तिम गुरिये पूर्ण परिपक्व होने के बाद टूटकर अलग हो जाते हैं और मल के साथ निकलते हैं। इन गुरियों का आकार लौकी (कद्दू) के बीज के समान होने के कारण ही इस कृमि का नाम कद्दूदाना पड़ा है। निकले हुये गुरियों में से अण्डे निकल कर यत्र-तत्र बिखर जाते हैं।

इन अण्डों के विकास के लिए यह आवश्यक है कि वे किसी प्राणी के पेट में पहुँचें। शूकरज स्फीतकृमि के लिये शूकर का पेट सबसे अधिक उपयुक्त होता है। शूकर विष्ठा अधिकतर खाता है इसलिये इन अण्डों का उसके उदर में पहुँचना कठिन नहीं होता। वहां पहुँचने पर आमाशयिक रस के प्रभाव से अण्डे का छिलका गल जाता है और उसमें से ६ अंकुशाकार कांटों से युक्त एक भ्रूण निकलकर आमाशय अथवा आन्त्र की दीवारों को पार करके शरीर के किसी मांसल भाग में डेरा जमाता है। वहां वह एक प्रकार के कोष (Cyst) के रूप परिवर्तित हो जाता है। संक्रमित शूकर के मांस में इस प्रकार के बहुत से कोष पाये जाते हैं। यदि कोई मनुष्य भी इसी तरह संक्रमित हो जावे तो उसके शरीर में भी ये कोप पाये जा सकते हैं। इस दशा में कृमि का विकास रुक जाता है और कालान्तर में उसकी मृत्यु हो जाती है। किन्तु यदि कोई मनुष्य या मांसाहारी पशु उस शूकर को मारकर उसका मांस खा लेता है तब वह कोष आमाशय में विलीन हो जाता तथा कृमि स्वतन्त्र हो जाता है। फिर वह आन्त्र की श्लैष्मिक कला में चिपटा हुआ रहकर वृद्धि को प्राप्त होता है।

इस कृमि की उपस्थिति में कभी कभी उदर में शूलवत् या खरोंचने के समान पीड़ा होना, भूख कम लगना या अधिक लगना, शौच समय पर न होना एवं कभी बंधा और कभी पतला दस्त होना, नाक और गुदा में खुजली, लालास्राव, हृल्लास, वमन, सिरदर्द, अवसाद, मूर्च्छा, रक्तक्षय आदि लक्षण होते हैं। सुकुमार एवं वातिक प्रकृति के लोगों में लक्षण स्पष्ट होते हैं तथा बलवान एवं दृढ़ प्रकृति के लोगों में कम या अदृष्य होते हैं। इन लक्षणों के आधार पर रोगविनिश्चय नहीं किया जा सकता; केवल संदेह किया जाता है। मल में कृमि के गुरियों का पाया जाना ही एकमेव निदानात्मक लक्षण है।

(१) पशुज स्फीत कृमि, मध्यम कद्दूदाना (Taenia saginata, Beef Tape-worm)—यह शूकरज स्फीत कृमि के ही समान किंतु उससे बड़ा ४ से ८ गज तक होता है। सिर बड़ा होता है और उसमें ४ चूषक होते हैं किंतु कांटे नहीं होते। गुरियों की संख्या १२०० से २००० तक होती है और तरुण गुरियों की लम्बाई लगभग ¾ इंच तथा चौड़ाई लगभग ⅓ इंच तक होती है। ते गुरिये शौच के अतिरिक्त अन्य समयों पर भी गुदा में से निकलते रहते हैं। इसके कोष घरेलू पशुओं गाय आदि के मांस में पाये जाते हैं। शेष सब कुछ शूकरज स्फीत कृमि के समान।

(२) मत्स्यज स्फीत कृमि, बड़ा कद्दूदाना (Bothriocephalus Latus, Diphyllobothrium Latum, Fish-Tape-worm)—यह कृमि बहुत

ही बड़ा, लगभग १० गज लम्बा रहता है। सिर लम्बा सा रहता है और उसमें केवल २ चूषक होते हैं। गुरियों की संख्या लगभग ३००० होती है और ये अपेक्षा-कृत छोटे एवं चौकोर (वर्गाकार) रहते हैं। इस कृमि के बहुत से गुरिये एक साथ टूटते हैं जिससे निकलने वाला भाग अक्सर कई फीट लम्बा होता है। जीवन-क्रम शूकरज स्फीत कृमि के ही समान है किंतु इसका अण्डा स्वच्छ जल में ही विकसित होकर फूटता है तथा भ्रूण को मछली निगल जाती है और उसके शरीर में वह कोष का रूप धारण करने के उपरांत मछली खाने वालों के उदर में पहुँचता है। लक्षण भी लगभग वही होते हैं किंतु रक्तक्षय अधिक होता है—प्रारम्भ में वैनाशिक (Pernicious) और बाद की अवस्थाओं में उपवर्णिक (Hypochromic)।

(४) वामन स्फीत कृमि, बौना कद्दूदाना (Hymenolepsis nana, Dwarf tape-worm)—यह अत्यन्त छोटा, ⅛ इंच से १⅜ इंच तक लम्बा होता है। सिर गोल रहता है तथा उसमें २० से ३० तक कांटे होते हैं। एक दो की उपस्थिति में कोई लक्षण नहीं होते किन्तु अधिक संख्या होने पर शूकरज स्फीत कृमि के समान लक्षण हो सकते हैं। यह इटली देश में कहीं कहीं पाया जाता है।

इन चार के अतिरिक्त चार और जातियां हैं जो अत्यन्त विरल हैं इसलिये उनका वर्णन यहां अभीष्ट नहीं है। उपर्युक्त ४ में से प्रथम दो सबसे अधिक पाये जाते हैं।

(५) कोषकारी स्फीत कृमि (Taenia Echinococcus, Hydatid-worm)—उपर्युक्त ४ प्रकार के स्फीत कृमि मनुष्यों की आंतों में कृमि रूप में निवास करते हैं किंतु यह प्रायः ऐसा नहीं करता। यह कुत्तों की आंतों में निवास करता है और इसके अण्डे मनुष्य के उदर में पहुँचने पर शरीर के किसी भी अवयव में कोष की उत्पत्ति होती है।

यह कृमि अत्यन्त छोटा, ४-५ मिलीमीटर लम्बा होता है। इसके शरीर में ३-४ से अधिक गुरियें नहीं होते जिनमें से केवल अन्तिम ही परिपक्व होता है। सिर छोटा तथा ४ चूषकों और ३०-४० कांटों से युक्त रहता है। परिपक्व गुरिये की लम्बाई २ मिलीमीटर और चौड़ाई ½ मिलीमीटर के लगभग होती है और उसमें लगभग ५००० अण्डे रहते हैं। मल के साथ निकले हुए गुरिये के फटने से अण्डे निकलकर यत्र-तत्र फैल जाते हैं और खाद्य अथवा पेय के साथ मानव शरीर में पहुँचते हैं।

आमाशय के अम्ल रस के प्रभाव से अण्डे का आवरण घुल जाता है और भ्रूण स्वतंत्र हो जाता है। भ्रूण के शरीर में ६ कांटे होते हैं और यह इतना सूक्ष्म एवं लचीला होता है कि शरीर के किसी भी भाग में पहुँचना उसके लिये कठिन नहीं होता। किसी भी स्थान पर रुक कर यह कोष के रूप में परिवर्तित होना आरम्भ कर देता है। इस प्रकार के कोष को कृमि कोष (Hydatid Cyst) और उससे उत्पन्न लक्षणों एवं विकृति को कृमि कोष रोग (Hydatid Disease) कहते हैं।

कृमि कोष में २ आवरण होते हैं—पहला, ऊपरी आवरण शरीर की त्वचा के समान लचीला होता है और दूसरा दानेदार होता है। कोष के ऊपर समीपस्थ धातुओं का एक और आवरण चढ़ जाता है। कोष में स्वच्छ रंगहीन अथवा किंचित् पीताभ लवणोदक भरा रहता है जिसका आपेक्षिक घनत्व १००२ से १००५ तक रहता है। कोष धीरे धीरे बढ़ता रहता है और जब इसका आकार मुर्गी के अण्डे के बराबर हो जाता है तब इसकी भीतरी दीवार में बीज-कोषों (Blood-Capsules) की उत्पत्ति होती है। प्रत्येक बीजकोष का आकार आलपीन के मत्थे के बराबर होता है और इनकी भीतरी दीवार पर अनेक सिर (Scoleces) चिपके रहते हैं। इस दशा में इन सिरों का और अधिक विकास नहीं होता किन्तु यदि इन्हें कुत्ते के आमाशय में पहुँचा दिया जावे तो वहां ये बढ़कर पूरे कृमि बन जाते हैं। बीजकोषों की

उत्पत्ति के लगभग साथ ही दूसरे प्रकार के अंकुर भीतरी (या बाहरी) दीवार में निकलते हैं जो धीरे धीरे बढ़कर कोष का रूप धारण करके मुख्य कोष की दीवार से अलग हो जाते हैं। इन्हें कोष-पुत्र कहते हैं। कोष पुत्रों में भी यही क्रिया होकर कोष-पौत्र (Grand-daughter Cyst) उत्पन्न होते हैं। एक कोष से उत्पन्न कोष पुत्रों और पौत्रों की संख्या दर्जनों तक हो सकती है। ये अंगूरों के समान प्रतीत होते हैं कृमि कोष का एक विशिष्ट प्रकार कभी कभी पाया जाता है। इसमें एक अर्बुद सा बनता है जिस में छोटे छोटे सैकड़ों कोषों की उत्पत्ति होती है जिससे उसका आकार स्पंज के समान हो जाता है—बहुकेन्द्रीय कृमि कोष (Multilocular Hydatid cyst)।

एक मनुष्य के शरीर में एक या अनेक कृमि कोष होते हैं। उनके आकार में भी काफी विभिन्नता पायी जाती है। कई कोष इतने बड़े हो जाते हैं कि चीरने पर उनमें से कई पौण्ड लवणोदक निकलता है। इनका जीवन भी अनिश्चित रहता है, परन्तु यह निश्चित है कि ये कई वर्षों तक जीवित रहते हैं। कृमि के मर जाने पर कोष की वृद्धि रुक जाती है और कुछ काल में पिचक कर सूख जाता है तथा अवशिष्ट पदार्थों में चूर्णीभवन (Calcification) होजाता है। कृमि-कोष का अन्त पक कर और फूटकर भी होता है। ये दोनों दशाऐं अधिकांश मामलों में घातक होती हैं। रोगी की प्राणरक्षा बिना चिकित्सा के उसी दशा में संभव है जब निकला हुआ पदार्थ सीधा बाहर निकल जावे और यह तभी होता है जब कोष ऊपरी भागों में स्थित हो और छिद्र बाहर को ओर हो। पाक होने पर एक बड़ा विद्रधि तैयार होता है और पूयज ज्वर आदि लक्षणों की उत्पत्ति होती है।

कृमि-कोष शरीर के किसी भी भाग में होसकता है। कुछ मामलों में शरीर के विभिन्न भागों में फैले हुए बहुत से कोष मिलते हैं। छोटे कोषों से कोई खास लक्षण उत्पन्न नहीं होते किन्तु बड़े कोषों से उस स्थान में भारीपन, क्षोभ, पीड़ा, अवरोध आदि लक्षण प्रायः होते हैं। स्थान भेद से लक्षणों में काफी विभिन्नता मिलती है, इसलिये मुख्य-मुख्य स्थानों में कोषों से उत्पन्न लक्षणों का वर्णन किया जाता है—

यकृत—आधे से अधिक मामलों में कोष की स्थिति यहीं होती है। कोष बड़ा होने पर यकृत का आकार बहुत बढ़ जाता है। कुछ मामलों में यकृत के स्थान पर स्पष्ट उभार दिखाई पड़ता है। रक्त-परीक्षा में उपसिप्रिय कणों की वृद्धि मिलती है। कोष का दबाव यदि आमाशय पर पड़े तो अजीर्ण, महाप्राचीरा पेशी पर पड़े तो श्वासकष्ट, पित्तनलिकाओं पर पड़े तो कामला और प्रतिहारिणी सिरा पर पड़े तो जलोदर होजाता है। पाक होने पर जाड़ा लगकर ज्वर चढ़ता और पसीना देकर उतरता है, कामला होता है एवं शक्तिक्षय तेजी से होता है। कोष यदि उदरावरण गुहा में फटे तो उदरावरण प्रदाह, पित्तनलिकाओं में फटे तो उग्र प्रकार का कामला, फुफ्फुस में फटे तो फुफ्फुतखण्ड प्रदाह, फुफ्फुसावरण में फटे तो फुफ्फुसावरण प्रदाह, हृदयावरण या अधरामहासिरा (*Inferior vena cava*) में फटे तो तत्काल मृत्यु होती है, किन्तु यदि बाहर की ओर या आमाशय या आंत्र में फटे तो स्राव निरापद रूप से निकल जाता है और रोग शान्ति होजाती है। यदि कोष पकने के बाद फूटता है तो भी इसी प्रकार के किन्तु अधिक गम्भीर लक्षण होते हैं।

बहुकेन्द्रीय कृमि कोष अभी तक केवल यकृत में ही पाया गया है। इसके लक्षण अर्बुद अथवा यकृदाल्युत्कर्ष के समान होते हैं। इसमें कामला कृशता और रक्तस्राव प्रधान लक्षण होते हैं। यकृत के साथ ही प्लीहा की भी वृद्धि होती है।

फुफ्फुस—छोटे कोष से कोई खास लक्षण नहीं होते किन्तु बढ़ने पर फुफ्फुस-नलिका प्रदाह अथवा अर्बुद के लक्षण होते हैं। बाद की अवस्थाओं में कर्दम होकर विवर बन जाते हैं। कफ के साथ छोटे

कोप या कोष की दीवारों के टुकड़े निकल सकते हैं। रक्तष्ठीवन (*Haemoptysis*) अक्सर पाया जाता है। फुफ्फुससावरण से संबन्ध होने पर पूयोरस (*Empyema*) हो सकता है। निदान कठिनाई से होपाता है। अधिकांश रोगी मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

फुफ्फुसावरण—यहां कोषोत्पत्ति होने पर सद्रव फुफ्फुसावरण के समान लक्षण होते हैं। फुफ्फुसों पर दबाव पड़ता है और हृदय अपने स्थान से हट जाता है। फुफ्फुसावरण प्रदाह प्रायः नहीं होता; यदि होता है तो कोष फटने या पाक होने पर।

वृक्क—यहां कोषोत्पत्ति होने पर उदर में गोल उत्सेध प्रकट होता है अथवा टटोलने पर अर्बुद सा मिलता है। कोष फटने पर वृक्क में पीड़ा, गवीनी में शूल, वमन और निपात आदि लक्षण होते हैं। मूत्र क्षारीय एवं गंदला होजाता है तथा उसमें कोष पुत्र, भ्रूण-कृमि के सिर, कांटे आदि मिलते हैं; कभी-कभी वसाकण और रक्त भी पाये जाते हैं। बारम्बार कष्ट के साथ थोड़ा-थोड़ा मूत्र उतरता है या मूत्रावरोध होता है। कुछ मामलों में तीव्र ज्वर, विषमयता, आक्षेप, शीतपित्त आदि भी उत्पन्न होते हैं।

अन्य स्थानों में कृमि-कोष अत्यन्त विरलतः पाये जाते हैं इसलिए उनका वर्णन अभीष्ट नहीं है, उपर्युक्त वर्णन से पाठक स्वयं अनुमान कर सकते हैं।

शूकरज स्फीत कृमिजन्य कोष भी यदा कदा पाये जा सकते हैं किंतु वे अधिक बड़े नहीं होते और प्रायः कोई लक्षण उत्पन्न नहीं करते। विभेद कोष को चीरकर परीक्षा करने पर ही होता है।

(६) अंकुश कृमि (Ancylostoma Duodenale, Hookworm)—यह कृमि गोल, लम्बा सीधा या कुछ झुका हुआ एवं श्वेत वर्ण का होता है। नर ६-१० मिलीमीटर लम्बा और मादा १०-१८ मिलीमीटर लम्बी होती है। मुख में दांतों के समान कांटे होते हैं जिनके द्वारा यह आन्त्र में चिपका रहता है। नर की पूंछ छत्राकार और मादा की नुकीली किंतु मोथली रहती है। ये मध्यान्त्र (Jejunum) या ग्रहणी (Duodenum) में रह कर रक्त चूसते हैं। इनके अण्डे मल के साथ निकलते रहते हैं। अण्डे का आकार ६०×४० माइक्रोन रहता है। इनके फूटने पर इल्ली निकलती है जो गीले तथा शीतल स्थान में ३-४ मास तक जीवित रहती है। यदि कोई मनुष्य उस स्थान में नंगे पैर पहुंच जाता है तो यह इल्ली उसके पैरों की त्वचा में प्रविष्ट हो जाती है और लस-वाहिनियों अथवा शिराओं में से चलती हुई फुफ्फुस में पहुँचती है। वहां से कण्ठनलिका में से अन्ननलिका में उतर ग्रहणी अथवा मध्यांत्र में पहुँचकर डेरा जमाती है। फिर लगभग ४ सप्ताह में ये कृमि वयस्क हो जाते हैं और मैथुन करते हैं। लगभग २ मास बाद मल में अण्डे निकलने लगते हैं। अत्यन्त विरल मामलों में इनका उपसर्ग भोजन के पेय के साथ भी हो सकता है।

इन कृमियों की उपस्थिति[*] में पाचन-क्रिया बिगड़ जाती है—उदर में भारीपन, झूठी भूख, मिट्टी आदि अखाद्य पदार्थ खाने की इच्छा, मलावरोध, आध्मान अतिसार आदि लक्षण होते हैं। इससे और कृमियों के द्वारा रक्त चूसा जाने से रक्तक्षय अत्यधिक होता है जिससे भ्रम, हृत्कम्प (Palpilation), श्वासकष्ट दौर्बल्य आदि लक्षण होते हैं, रक्त की कमी से त्वचा एवं श्लैष्मिक कलाओं का वर्ण पीताभ हो जाता है। आंतों की दशा प्रदाह या प्रसेक के समान रहती है और द्वितीय उपसर्ग की संभावना अत्यधिक रहती है। ये कृमि एक प्रकार का विष छोड़ते हैं, रक्त में मिलकर हल्का ज्वर, शीतपित्त आदि लक्षण उत्पन्न करता है। रोगी अत्यन्त सुस्त और कृश हो जाता है। बालकों को यह रोग होने पर मानसिक और शारीरिक विकास रुक जाता है।

---

[*] इस रोग को अंकुश कृमि रोग कहते हैं। (Ancylostomiasis, Hook-worm Disease)

क्रिमि

[अध्याय ७ पृष्ठ ३२६-४०]

करज स्फीत कृमि का सिर
(Head of Taenia
Solium)
[पृष्ठ ३३२]
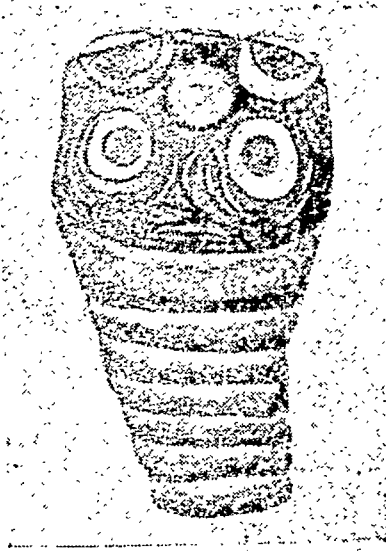
पशुज स्फीत कृमि का सिर
(Head of Taenia
Saginata)
[पृष्ठ ३३३]
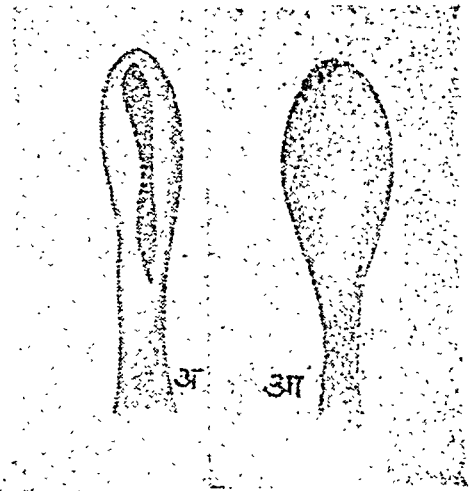
मत्स्यज स्फीत कृमि का सिर
(Diphyllobothrium
Latum)
अ–बाजू से देखने पर
आ–सामने या ऊपर से देखने पर
(पृष्ठ ३३३)
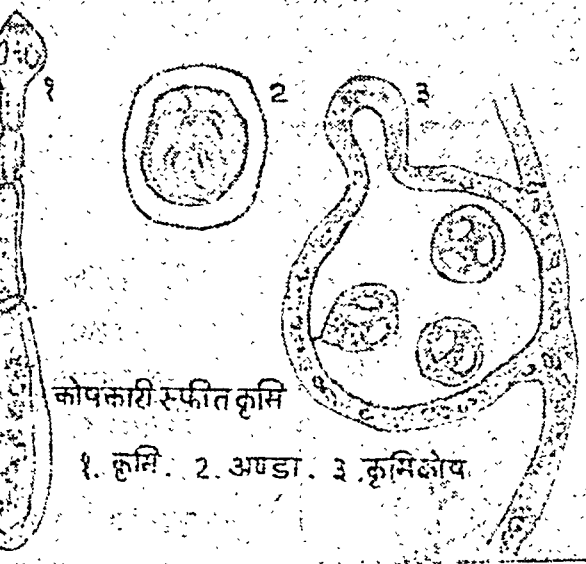
कोषकारी स्फीत कृमि
१. कृमि . 2. अण्डा . ३. कृमिकोष
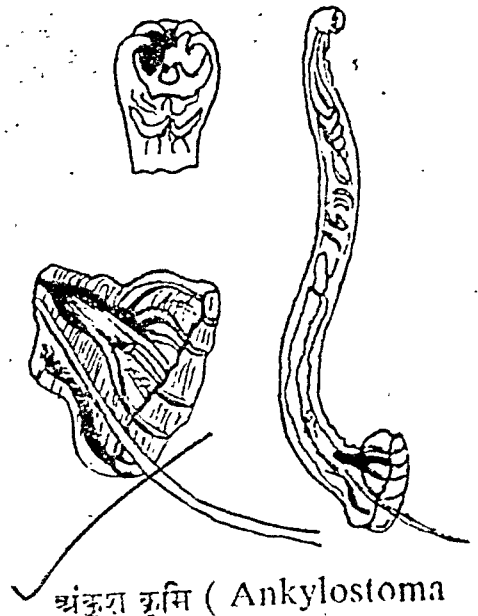
(पृष्ठ ३३४)

अंकुश कृमि (Ankylostoma
Duodenale)
सिर–पूंछ–पूरा कृमि
(पृष्ठ ३३६)

प्रतोद कृमि · आंतों में
चिपके हुए।

(पृष्ठ ३३७)

प्रतोद कृमि का अण्डा
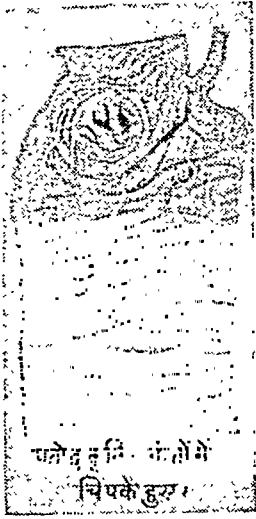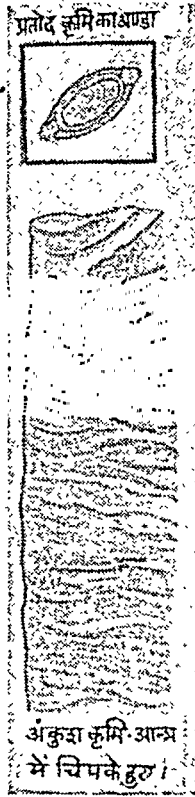
अंकुश कृमि · आन्त्र
में चिपके हुए।
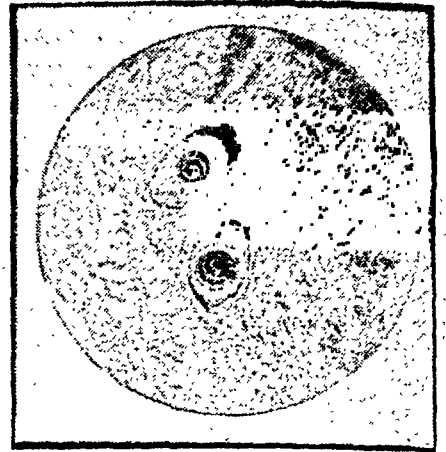
मांस में स्थित
रूढ़ धान्यांकुर कृमि
(पृष्ठ ३३८)
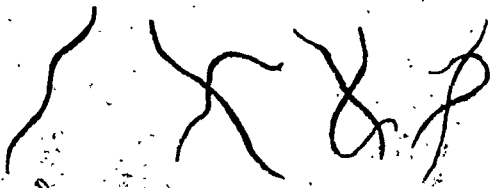
सूत्र कृमि, चूरू कृमि अथवा चुनूने
(Thread worms)
बढ़ा कर दिखाए गए हैं।
(पृष्ठ ३३८)
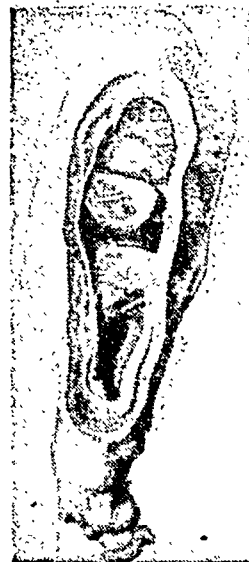
पित्ताश्मरी
के कारण
प्रदाह युक्त
पित्ताशय

(पृष्ठ ३५२)

इल्ली जिस भाग में से प्रवेश करती है वहां खुजली एवं व्रणोत्पत्ति हो सकती है। जब इल्ली फुफ्फुसों में प्रवेश करती है उस समय फुफ्फुसखण्ड प्रदाह, श्वास-नलिका प्रदाह, फुफ्फुसनलिका प्रदाह आदि हो सकते हैं।

मल-परीक्षा में अण्डे मिलने से रोग विनिश्चय होता है।

(७) कनिष्ठ अंकुश कृमि (Nector Americanus)—यह कृमि अधिकतर अमेरिका में पाया जाता है। यह अंकुश कृमि से कुछ छोटा होता है और S के समान झुका हुआ रहता है। यह अंकुश कृमि के ही समान किन्तु कुछ सौम्य लक्षण उत्पन्न करता है।

(८) गण्डूपद कृमि, केंचुआ, पटार (Ascaris Lumbricoides Round worm)—यह कृमि बच्चों में बहुत पाया जाता है, कभी कभी वयस्कों में भी पाया जाता है। इसका रंग पीताभ श्वेत रहता है। नर की लम्बाई १५ से ३० सेन्टीमीटर होती है और पूंछ झुकी हुई रहती है। मादा की लम्बाई २० से ३५ सेन्टीमीटर एवं पूंछ सीधी रहती है। अण्डे पीताभ वर्ण के, गोल या अण्डाकार, ७०×५० माइक्रोन आकार के होते हैं। संक्रमण खाद्य या पेय के साथ अण्डे निगल जाने पर होता है। छोटी आंत में पहुंचने पर इन अण्डों में से छोटी इल्लियां निकलती हैं जो वहां से यकृत में पहुँचती हैं। फिर यकृत-शिरा (Hepatic Vein) के मार्ग से हृदय और फुफ्फुस में जाकर वृद्धि को प्राप्त होती हैं। इसके बाद कण्ठनलिका में से अन्ननलिका में उतर कर पुनः आंत में आजाती हैं। छोटी आंत में ८-१० सप्ताह रहकर ये पूर्ण वृद्धि को प्राप्त होते हैं। इसके बाद या तो वहीं रहते हैं अथवा अन्य स्थानों में फिरते हैं। अधिकतर मल के साथ एवं कभी कभी वमन में निकलते हैं। मल में इनके अण्डे प्रायः उपस्थित रहते हैं।

इनकी उपस्थिति† से अजीर्ण, अतिसार, बृहदन्त्र प्रदाह, आक्षेप, संन्यास, ज्वर (सतत या अन्येद्युष्क) आदि लक्षण प्रायः होते हैं। कभी कभी ये आमाशय में फिरते हैं जिससे क्षोभ होकर वमन होते हैं और अक्सर वमन के साथ कृमि निकलता है। विरलतः इस दशा में कृमि श्वासनलिका का अवरोध करके तुरन्त प्राण ले सकता है अथवा फुफ्फुस में उतरकर श्वासावरोध, रक्तष्ठीवन, कास एवं प्रदाह या विद्रधि की उत्पत्ति कर सकता है। कभी कभी उपान्त्र में स्थित होकर उपान्त्र प्रदाह, यकृत में घुस कर यकृत विद्रधि, पित्तनलिका में जाकर पित्तनलिका-प्रदाह या अवरोध, आन्त्रभेदकर उदरावरण प्रदाह अथवा अग्न्याशय में जाकर अग्न्याशय प्रदाह या विद्रधि आदि उत्पन्न कर सकता है। कभी कभी बहुत से कृमियों का गुच्छा सा बनकर आंत्र का अवरोध कर देता है। कृमि के विष-प्रभाव से शीतपित्त, तमकश्वास आदि की उत्पत्ति हुआ करती है। बच्चों में ज्वर, अजीर्ण, नाक खुजलाना और सोते समय दांत बजाना सामान्य लक्षण हैं।

रोग विनिश्चय मल या वमन के साथ कृमि निकलने पर या मलपरीक्षा में अण्डे मिलने पर होता है। उदर की परीक्षा टटोलकर करने पर कभी कभी आंतों में पिण्ड से मिलते हैं किन्तु यह बात रोगविनिश्चय की दृष्टि से कोई महत्व नहीं रखती।

(९) प्रतोद कृमि (Trichuris Trichiura, Whip-worm, Trichocephalus Dispar)—इस कृमि का अग्रभाग काफी पतला रहता है और पूंछ मोटी रहती है इसलिये देखने में चाबुक के समान प्रतीत होने के कारण प्रतोद कृमि कहलाता है। नर की लम्बाई लगभग १॥ इञ्च और मादा की १॥। या २ इञ्च होती है। मादा सीधी और नर कुछ मुड़ा हुआ रहता है। अण्डे बादामी रंग के होते हैं और उनमें एक ओर एक पीला धब्बा रहता है, आकार ५०×२३ माइक्रोन।

† इसको गण्डूपद कृमि (Ascariasis) कहते हैं।

ये कृमि क्षुद्रान्त्र, उपान्त्र और उण्डुक में निवास करते हैं। प्रायः ये कोई उपद्रव नहीं करते किन्तु कभी कभी उपान्त्र प्रदाह, रक्तक्षय, वातिक विकार और पाचन-विकार उत्पन्न करते हैं।

रोगविनिश्चय मलपरीक्षा करने पर होता है। मल में अण्डे और कभी-कभी कृमि भी मिलते हैं।

(१०) रूढ़ धान्यांकुर कृमि (Trichina spiralis)—ये कृमि क्षुद्रान्त्र में रहते हैं और इसके भ्रूण मांस-पेशियों में प्रविष्ट होकर पीड़ा आदि उत्पन्न करते हैं। मादा कृमि की लम्बाई ३-४ मिलीमीटर और नर की १॥ मिलीमीटर होती है। नर के पूंछ के पास दो छोटे छोटे उत्सेध होते हैं। मांसगत भ्रूण की लम्बाई ½ से १ मिलीमीटर तक होती है।

इस कृमि से उपसृष्ट पशुओं और मनुष्यों के मांस में कोषगत भ्रूण पाये जाते हैं। इस प्रकार के मांस को भली भांति पकाये बिना खाने से मनुष्य भी उपसृष्ट हो जाता है। कोष आमाशय में जाकर घुल जाता है और भ्रूण स्वतन्त्र होकर ३-४ दिनों में पूर्ण वयस्क हो जाता है। फिर एक एक मादा सैकड़ों बच्चों को जन्म देती है और फिर वह आंत की दीवार में घुस जाती है तथा बच्चे रक्त प्रवाह के साथ सारे शरीर की पेशियों में फैल कर मन चाहे स्थान पर जम जाते हैं। मांसपेशी में रहकर ये लगभग २ सप्ताह तक थोड़ी बहुत वृद्धि करते हैं किन्तु इनकी उपस्थिति से मांसपेशी में प्रदाह होने के कारण इनके चारों ओर एक आवरण बन जाता है और ये इसमें कैद होकर ज्यों के त्यों पड़े रह जाते हैं। पहले यह आवरण या कोष पारदर्षक रहता है किन्तु धीरे धीरे चूर्णीभवन होते रहने के कारण अपारदर्शक हो जाता है और अन्त में खड़िया की एक गांठ के रूप में परिवर्तित हो जाता है।

उपसृष्ट मांस खाने के २-३ दिन बाद उदर में पीड़ा, क्षुधानाश, वमन और अतिसार या मलावरोध होते हैं; कुछ रोगियों में ये लक्षण नहीं पाये जाते और कुछ में अत्यन्त उग्ररूप में पाये जाते हैं। ये लक्षण आन्त्र में कृमियों की उपस्थिति से उत्पन्न होते है। सातवें दिन से लेकर पन्द्रहवें दिन के भीतर कृमिभ्रूण मांसपेशियों में पहुंचकर प्रदाह करते हैं जिससे पेशियों में शोथ एवं पीड़ा और ज्वर (१०२°-१०४°) की उत्पत्ति होती है। पेशियों में अनम्यता उत्पन्न होती है, अत्यधिक पसीना निकलता है और त्वचा में खुजलाहट एवं तोद होते हैं। कुछ रोगियों को शीतपित्त हो जाता है। रक्त में श्वेतकायाणूत्कर्ष ३०,००० के लगभग होता है। रोगी अत्यन्त कृश हो जाता है। अनैच्छिक पेशियों का अत्यधिक प्रदाह होने पर मृत्यु हो सकती है। साधारण मामलों में १०-१५ दिनों में कृमि-भ्रूणों के ऊपर आवरण की उत्पत्ति हो जाने से रोग शांत हो जाता है। पेशियों की विकृति कुछ काल में ठीक हो जाती है किंतु कुछ मामलों में स्थायी हो सकती है।

भविष्य, खाये हुये मांस की मात्रा और मांस में कृमि-कोषों की संख्या पर निर्भर रहता है। कभी कभी यह रोग महामारी के रूप में भी फैलता है।

(११) चुरु-कृमि, सूत्र-कृमि, चुनूने (Enterobius Vermicularis, Ocyuris, Thread-worm, Pin-worm)—यह कृमि मलाशय और बृहदन्त्र में रहता है। नर की लम्बाई ४ मि० मी० और मादा की १० मि.मी. होती है। अण्डों का आकार ५०×२० माइक्रोन होता है। ये अण्डे रोगी के मल में पाये जाते हैं। वहां से किसी प्रकार खाद्य-पेयों में पहुँचकर अन्य व्यक्तियों तक पहुँचते हैं। संक्रमण हमेशा अण्डे निगलने से ही होता है। एक और आश्चर्यजनक बात यह है कि इनकी मादा रात्रि में गुदा से बाहर आकर आसपास की त्वचा में अण्डे देती है। अण्डों से खुजली उत्पन्न होती है और खुजलाने से वे अण्डे नाखूनों में भर कर पुनः खाद्य-पेयों के साथ उदर में पहुंच जाते हैं। इस रीति से पीड़ित व्यक्ति में भी बारम्बार संक्रमण होता रहता है।

ये कृमि गुदौष्ठ में काटते और खुजलाहट

उत्पन्न करते हैं। इनके काटने से सुई चुभाने के समान अत्यन्त कष्टदायक पीड़ा बारम्बार होती है। कुछ रोगियों को गुदभ्रंश हो जाता है। स्त्रियों या लड़कियों में ये कृमि अपत्य-पथ में पहुँचकर वहां क्षोभ, खुजलाहट, श्वेतप्रदरवत् कफयुक्त स्राव आदि उत्पन्न करते हैं। वमन-अतिसार आदि नहीं होते किन्तु कुछ रोगियों में शीतपित्त पाया जाता है।

मल में कृमि अक्सर पाये जाते हैं और अण्डे हमेशा पाये जाते हैं—ये दोनों बातें रोग-विनिश्चयात्मक हैं। यह रोग बच्चों को अधिक होता है; बड़ों को अत्यन्त विरलतः। कुछ रोगियों को इनकी खुजलाहट के कारण रात्रि में अनजाने पेशाब या स्वप्नदोष हो जाया करता है।

(१२) क्षुद्र सूत्र–कृमि (Strongyloides stercoralis)—यह कृमि क्षुदान्त्र में रहता है किन्तु कभी कभी वृहदन्त्र में भी पहुंच जाता है। आकार २.५ मिलिमीटर के लगभग होता है। नर और भी छोटा रहता है। इसका उपसर्ग और शरीर के भीतर की अवस्थाओं का विवरण अंकुश कृमि के समान होता है। ये कभी कभी उदर में पीड़ा, अतिसार और शीतपित्त उत्पन्न करते हैं। निदान मलपरीक्षा में अण्डे मिलने से होता है।

(१३) श्लीपद-कृमि (Filaria)–इसका वर्णन अध्याय ३६ में देखें।

(१४) स्नायुक कृमि (Dracunculus medinensis,Guinea-worm)—यह कृमि स्नायुक-रोग या नहरूआ या न्हारु रोग(Dracontiasis) उत्पन्न करता है। यह लगभग ४०-१२० सेन्टीमीटर लम्बा और १-१.७ मिलीमीटर मोटा होता है। इसके भ्रूण गंदले जल में पाये जाते हैं। उस जल को पीने से भ्रूण आमाशय में पहुंचकर वयस्क होते और फिर मैथुन करते हैं। नर शीघ्र मरकर मल के साथ निकल जाता है किन्तु गर्भवती माता सारे शरीर में भ्रमण करती हुई किसी एक स्थान पर विशेषतः पैरों में छाला उत्पन्न करती है। छाला फूटने पर कृमि का गर्भाशय प्रकट होता है और सफेद से द्रव में तैरते हुए भ्रूणों का त्याग करता है। इसके बाद क्रमशः कुछ काल में कृमि बाहर निकल जाती है। जितनी कृमि होती हैं उतने ही छाले उत्पन्न होते हैं। अधिकतर एक व्यक्ति के शरीर में १-२ से अधिक कृमि नहीं पाये जाते।

कृमि प्रविष्ट होने के १०-१४ मास बाद छाला प्रकट होता है। इस काल में वमन, अतिसार, अवसाद, श्वासकष्ट, शीतपित्त आदि लक्षण समय समय पर हुआ करते हैं। जहां कृमि उपस्थित रहती है वहां अनिश्चित प्रकार की पीड़ा रहती है।

छाले में अत्यन्त कष्टदायक पीड़ा होती है और जब तक कृमि निकल नहीं जाती तब तक आराम नहीं मिलता। यदि कृमि का कुछ अंश टूटकर भीतर रह जावे तो अंग में निष्क्रियता अथवा कर्दम तक होने की सम्भावना रहती है। कुछ मामलों में छाले के दुष्परिणामस्वरूप पेशी में विकृति आ जाती है, कुछ में संधि निष्क्रिय हो जाती है और कुछ में द्वितीयक उपसर्ग होकर दूषित व्रण बन जाता है।

(१५) शिस्टोसोमा कृमि (Schistosoma, Bilharzia)—नर १॥ सेंटीमीटर लम्बा होता है, बाजू के किनारे उदर की ओर झुके रहते हैं और शरीर पर कांटे रहते हैं। मुख के अतिरिक्त उदर पर भी चूषक अवयव रहते हैं। मादा २ सेंटीमीटर लम्बी रहती है, इसकी पूंछ की ओर लम्बे कांटे रहते हैं। अण्डे लम्बे सूच्याकार, १५०×५० या ७० मायक्रोन के होते हैं। इस कृमि की तीन जातियां हैं—

(अ) रक्तीय शिस्टोसोमा (Schistosomum Haematobium)—यह प्रकार मिश्र देश में अधिक पाया जाता है। रोगी के मल मूत्र के साथ निकले हुए अण्डे जल में पहुंचकर घोंघे के शरीर में भ्रूण रूप में आते हैं। फिर उस जल में नहाने वालों की त्वचा में से रक्त में प्रविष्ट होकर प्रतिहारिणी सिरा एवं मूत्राशय की सिराओं में निवास करते हैं और अण्डे देकर क्षोभ उत्पन्न करते हैं। इस

जाति के कृमि मूत्रकृच्छ्र (या रक्तमेह) अथवा यकृत-प्लीहा वृद्धि उत्पन्न करते है; कभी कभी इनसे गुदपाक (Proctitis) भी उत्पन्न होता है।

मूत्रमार्गीय उपसर्ग का प्रारम्भिक लक्षण कष्ट के साथ मूत्र उतरना तथा अन्त में एक बूंद रक्त गिरना है। इसके बाद अधिक रक्त आने लगता है और मूत्र त्याग करते समय दर्द होता है। मूत्राशय की दीवारों की परमपुष्टि होती है; अश्मरी की उत्पत्ति होसकती है और उपसर्ग ऊपर की ओर फैलकर पूयमय वृक्कोत्कर्ष, जलीय वृक्कोत्कर्ष या गवीनी मुख प्रदाह उत्पन्न कर सकता है।

यकृत-प्लीहा-वृद्धि का आरम्भ ज्वर, वमन और अतिसार होकर होता है। यकृत और प्लीहा की अत्यधिक वृद्धि होती है एवं उनमें क्रमशः कठोरता उत्पन्न होजाती है- यकृद्दाल्युत्कर्ष। रोग पुराना होने पर जलोदर हो जाता है।

मल-मूत्र में कृमि के अण्डे पाये जाते हैं। रक्त में प्रारम्भ में श्वेतकायाणूत्कर्ष और बाद की अवस्थाओं में रक्तक्षय और श्वेतकायाणुक्षय मिलता है। रोग दीर्घकाल तक चलता है किंतु मृत्यु प्रायः नहीं होती; रोगी अत्यन्त दुर्बल हो जाता है।

(ब) मैन्सनी शिस्टोसोमा (Schistosoma Mansoni)—यह प्रकार अफ्रीका, अमेरिका और वैस्ट इण्डीज में पाया जाता है। कृमि आंत्रनिबंधनी की सिराओं में निवास करता है और मलाशय में अण्डे देता है। ये अण्डे गुदपाक और प्रवाहिका-सदृष लक्षणों की उत्पत्ति करते हैं। मलाशय की श्लैष्मिक कला मोटी पड़ जाती है जिससे अर्श का भ्रम हो सकता है। कभी कभी यकृत और प्लीहा की वृद्धि भी हो सकती है; रोग पुराना होने पर यकृत कठोर हो जाता है।

ज्वर, शीतपित्त, उदरपीड़ा, कृशता आदि लक्षण भी प्रायः उपस्थित रहते हैं। रोग दीर्घकाल तक चलता है। रक्त में श्वतकायाणूत्कर्ष पाया जाता है; उषसिप्रियता स्पष्ट रहती है। मल में अण्डे पाये जाते हैं।

(स) जापानी शिस्टोसोमा (Schistosoma Japonicum)—यह प्रकार जापान और उसके आसपास के देशों में पाया जाता है। इसका संक्रमण होने पर ज्वर, कास शीतपित्त, उदरपीड़ा आदि प्रारंभिक लक्षण होकर अतिसार या प्रवाहिका की उत्पत्ति होती है। इसके साथ ही यकृत और प्लीहा धीरे धीरे बढ़ने लगते हैं और कालान्तर में कठोर (Cirrhotic) हो जाते हैं। जलोदर भी हो जाता है और रोगी अत्यन्त कृश होकर मृत्यु को प्राप्त होता है। रोगी के मल में कृमि के अण्डे पाये जाते हैं।

तीनों प्रकार के शिस्टोसोमा से होने वाले विकार चिरकारी प्रकार के होते हैं। कृशता अत्यधिक आती है किन्तु रोग प्रायः साध्य हुआ करता है।

व्रण-कृमि (Myiasis)—व्रणों को खुला रखने एवं सफाई न रखने से कई जातियों की मक्खियां उनमें अण्डे दे देती हैं। अण्डों के फूटने पर इल्लियां निकलती हैं जो व्रणस्थान के मांस को खाती हैं। इल्लियों के चलने और काटने से घोर कष्ट होता है। नाक और कान में भी कृमियों की उत्पत्ति इसी तरह होती है।

: ८ :

पाण्डु रोग कामला आदि

पाण्डु रोग के भेद

पाण्डुरोगाः स्मृताः पञ्च वातपित्तकफैस्त्रयः।
चतुर्थः सन्निपातेन पञ्चमो भक्षणान्मृदः ॥१॥

पाण्डुरोग पांच प्रकार के माने गये हैं—वातज, पित्तज,

कफज, सन्निपातज और मृद्भक्षणजन्य ।

वक्तव्य (७८)—सुश्रुत ने मृद्भक्षणजन्य पाण्डु को प्रथक् न मानते हुए केवल चार भेद स्वीकार किये हैं, 'पाण्ड्वामयोऽष्टार्धविधः प्रदिष्टः पृथक् समस्तैयुगपच्च दोषैः' । किन्तु हारीत ने कामला और हलीमक को भी सम्मिलित करते हुए आठ प्रकार माने हैं—'वातेन पित्तेन कफेन चैव त्रिदोषमृद्भक्षणसम्भवे च । द्वे कामले चैव हलीमकश्च स्मृतोऽष्टधैवं खलु पाण्डुरोगः ॥' ।

पाण्डु रोग के निदान और सम्प्राप्ति

व्यायाममम्लं लवणानि मद्यं,
मृदं दिवास्वप्नमतीव तीक्ष्णम् ।
निषेवमाणस्य प्रदूष्य रक्तं,
दोषास्त्वचं पाण्डुरतां नयन्ति ॥२॥

व्यायाम, खटाई, नमक, मद्य, मिट्टी, दिवास्वाप तथा तीक्ष्ण पदार्थों का अतीव सेवन करने वाले के दोष रक्त को दूषित करके त्वचा में पीलापन उत्पन्न करते हैं ।

वक्तव्य (७९)—चरक ने यही बात अधिक स्पष्ट कही है—

समुदीर्णं यदा पित्तं हृदये समवस्थितम् ।
वायुना बलिना क्षिप्तं सम्प्राप्य धमनीर्दश ॥
प्रपन्नं केवलं देहं त्वङ्मांसान्तरमाश्रितम् ।
प्रदूष्य कफवातासृक् त्वङ्मांसानि करोति तत् ॥
पाण्डुहारिद्रहरितान् वर्णान् बहुविधांस्त्वचि ।

अर्थात्, ऊपर चढ़ कर हृदय में स्थित हुआ पित्त जब बलवान् वायु के द्वारा फेंका जाता है तब वह दस धमनियों को प्राप्त होकर सारे शरीर में पहुँचकर त्वचा और मांस के बीच स्थित हो जाता है । वह कफ, वात, रक्त, त्वचा और मांस को दूषित करके त्वचा में पाण्डु (हल्का पीला), हारिद्र (गहरा पीला) हरित (हरा) आदि अनेक प्रकार के वर्ण उत्पन्न करता है ।

पाण्डुरोग के पूर्वरूप

त्वक्स्फोटनष्ठीवनगात्रसाद-
मृद्भक्षणप्रेक्षणकूटशोथाः ।
विण्मूत्रपीतत्वमथाविपाको
भविष्यतस्तस्य पुरः सराणि ॥३॥

त्वचा फटना, थूकने की प्रवृत्ति, शरीर की शिथिलता, मिट्टी खाने की प्रवृत्ति, अक्षिकूटों में शोथ, मल-मूत्र में पीलापन और अजीर्ण उसके उत्पन्न होने के पूर्व होते हैं ।

वातज पाण्डु रोग के लक्षण

त्वङ्मूत्रनयनादीनां रूक्षकृष्णारुणाभता ।
वातपाण्ड्वामये तोदकम्पानाहभ्रमादयः ॥४॥

वातज पांडुरोग में त्वचा, मूत्र, नेत्र आदि में रूखी, काली या अरुण (लाल) रंग की आभा (झलक) तथा सुई चुभने के समान पीड़ा, कम्प, आनाह, भ्रम आदि लक्षण होते हैं ।

वक्तव्य—(८०) त्वचा में पांडुता (पीलापन) इस रोग का सामान्य लक्षण है । इसके अतिरिक्त कृष्ण अथवा लाल (अथवा कृष्ण और लाल) झलक उत्पन्न होना वात की उल्बणता का द्योतक है । सुश्रुत ने इस बात को स्पष्ट कहा है—'सर्वेषु चैतेषु हि पांडुभावो यतोऽधिकोऽतः खलु पांडुरोगः' अर्थात् 'क्योंकि इन सब में पांडुता ही अधिक रहती है इसी लिये वास्तव में ये सब पांडुरोग हैं' ।

पित्तज पांडुरोग के लक्षण

पीतमूत्रशकृन्नेत्रो दाहतृष्णाज्वरान्वितः ।
भिन्नविट्कोऽतिपीताभः पित्तपाण्ड्वामयी नरः ॥५॥

पित्तज पांडुरोग का रोगी अत्यन्त पीताभ एवं दाह, तृष्णा और ज्वर से युक्त रहता है, उसके मूत्र, मल और नेत्र पीले रहते हैं तथा मल फटा हुआ रहता है ।

वक्तव्य—(८१) सभी पांडुरोग पित्तज ही होते हैं इस लिए पित्तज पांडु से वात या कफ की दुष्टि से रहित पांडुरोग का ग्रहण करना चाहिए । आगे रक्तपित्त आदि का वर्गीकरण भी इसी प्रकार किया गया है ।

कफज पांडुरोग के लक्षण

कफप्रसेकश्वयथुतन्द्रालस्यातिगौरवैः ।

पाण्डुरोगी कफाच्छ्रवलस्वबहुमूत्रनयनाननैः ॥६॥

कफज पाण्डुरोग का रोगी कफ थूकना, सूजन, तन्द्रा, आलस्य, (शरीर में) अत्यन्त भारीपन एवं शुक्लवर्ण (श्वेताभ) त्वचा, मूत्र, नेत्र और मुख से युक्त रहता है।

त्रिदोषज पांडुरोग के लक्षण

ज्वरारोचकहृल्लासच्छर्दितृष्णाक्लमान्वितः ।
पाण्डुरोगी त्रिभिर्दोषैः,

त्रिदोषज पांडुरोग का रोगी ज्वर, अरुचि, हृल्लास वमन, प्यास और थकावट से युक्त रहता है।

वक्तव्य—(८२) उक्त लक्षणों के अतिरिक्त पृथक्-पृथक् दोषों के सम्मिलित लक्षण भी पाये ही जावेंगे।

त्रिदोषज पांडुरोग का असाध्य रोगी

—त्याज्यः क्षीणो हतेन्द्रियः ॥७॥

त्रिदोषज पांडुरोग का रोगी यदि क्षीण हो चुका हो एवं इन्द्रियों की शक्ति नष्ट हो चुकी हो तो त्याज्य (चिकित्सा न करने योग्य) है।

वक्तव्य—(८३) अन्य टीकाकारों ने उपर्युक्त ज्वरादि लक्षणों को भी असाध्यता के लक्षण माना है किन्तु यह युक्त प्रतीत नहीं होता।

मृद्भक्षणजन्य पाण्डुरोग की सम्प्राप्ति

मृत्तिकादनशीलस्य कुप्यत्यन्यतमो मलः ।
कषाया मारुतं पित्तमूषरा मधुरा कफम् ॥८॥
कोपयेन्मृद्रसादींश्च रौक्ष्याद्भुक्तं च रूक्षयेत् ।
पूरयत्यविपक्वैव स्रोतांसि निरुणद्ध्यपि ॥९॥
इन्द्रियाणां बलं हत्वा तेजो वीर्यौजसी तथा ।
पाण्डुरोगं करोत्याशु बलवर्णाग्निनाशनम् ॥१०॥

जिसे मिट्टी खाने की आदत होती है उसका कोई एक दोष कुपित होजाता है। कसैली मिट्टी वात को, ऊसर (नमकीन) पित्त को और मीठी कफ को कुपित करती है; और (सभी प्रकार की मिट्टी रूक्षता के कारण) रस आदि धातुओं और खाये हुए पदार्थों को रूखा बना देती है; अपाचित ही रहकर स्रोतों को पूरकर अवरुद्ध भी कर देती है तथा इन्द्रियों के बल, तेज, वीर्य और ओज का नाश करके बल, वर्ण, और अग्नि का नाश करने वाले पाण्डुरोग को शीघ्र उत्पन्न करती है।

मृद्भक्षणजन्य पाण्डुरोग के लक्षण

शूनाक्षिकूटगण्डभ्रूः शूनपान्नाभिमेहनः ।
क्रिमिकोष्ठोऽतिसार्येत मलं सासृक्कफान्वितम् ॥११॥

मिट्टी खाने से उत्पन्न पाण्डुरोग के रोगी के अक्षिकूट, गाल, भौंह, पैर, नाभि एवं लिंग सूजे हुए रहते हैं; कोष्ठ में कृमि हो जाते हैं और कफ तथा रक्त मिश्रित मल का अतिसार होता है।

पाण्डुरोग के असाध्य लक्षण

पाण्डुरोगश्चिरोत्पन्नः खरीभूतो न सिध्यति ।
कालप्रकर्षाच्छूनानां यो वा पीतानि पश्यति ॥१२॥
बद्धाल्पविट् सहरितं सकफं योऽतिसार्यते ।
दीनः श्वेतातिदिग्धाङ्गश्छर्दिमूर्च्छातृडर्दितः ॥१३॥

चिरकालीन पाण्डुरोग खर (खुरदरा) हो जाने पर साध्य नहीं होता; शोथयुक्त रोगियों का पाण्डुरोग समय अधिक बीतने पर साध्य नहीं होता या जो रोगी सभी पदार्थों को पीला ही देखता हो; जो बंधा हुआ, थोड़ा, हरीतिमायुक्त और कफ मिश्रित मल बार बार त्यागता हो; जो दीन हो, जिसके अंग सफेदी पुते हुए के समान हों; अथवा जो वमन, मूर्च्छा एवं तृषा से व्याकुल हो उसका भी पाण्डुरोग असाध्य होता है।

वक्तव्य—(८४) खर पाण्डु रोग पुराना होने पर त्वचा आदि में स्थित पित्त के छोटे छोटे दाने बन जाते हैं जिनके कारण खुरदरेपन का आभास होता है। अन्य टीकाकारों ने 'खर' 'धातुओं में रूक्षता' का अर्थ लिया है।

श्वेतातिदिग्धांग—पाण्डुरोग पुराना होने पर पित्त की प्रतिक्रिया से त्वचा उसी प्रकार फटने लगती है जिस प्रकार शीत काल में रूक्षता और शीतल वायु के स्पर्श के कारण फटा करती है। इस प्रकार फटने से त्वचा के सूक्ष्म छिलके उधड़ते हैं जो चिपके रहकर सफेदी का आभास कराते हैं।

विभेद

स नास्त्यसृक्क्षयाद्यश्च पाण्डुः श्वेतत्वमाप्नुयात् ।

और, रक्त का क्षय होने से जिसे श्वेतता की प्राप्ति हुई हो वह पाण्डु रोगी नहीं है।

वक्तव्य–(८५) इस पद का अन्वय इस प्रकार किया गया है। 'स पाण्डुःनास्ति यश्च असृक्क्षयात् श्वेतत्वं आप्नुयात्'। अन्य टीकाकारों ने 'स नास्ति' का अर्थ 'वह मृतक के समान है' लेते हुए यह अर्थ निकाला है—'जो पाण्डुरोगी रक्तक्षय के कारण श्वेतता को प्राप्त हो गया हो वह मृतक के समान है।

पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं कि कौन सा अर्थ सीधा-साधा लगाया गया है और कौनसा तोड़ मरोड़ कर। यहां यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि एक प्रकार की सफेदी की चर्चा करने के बाद ही लेखक ने दूसरे प्रकार की सफेदी से विभेद करना आवश्यक समझा है ताकि भ्रम न हो।

अन्य असाध्य लक्षण

पाण्डुदन्तनखो यस्तु पाण्डुनेत्रश्च यो भवेत् ।
पाण्डुसंघातदर्शी च पाण्डुरोगी विनश्यति ॥१४॥

जिसके दांत, नख और नेत्र पाण्डुवर्ण हो गये हों और जो समस्त पदार्थों को पीला ही देखता हो वह पाण्डु-रोगी मर जाता है।

अन्तेषु शूनं परिहीणमध्यं म्लानं तथाऽन्तेषु च मध्यशूनम् ।
गुदे च शेफस्यथ मुष्कयोश्च शूनं प्रताम्यन्तमसंज्ञकल्पम् ।
विवर्जयेत्पाण्डुकिनं यशोऽर्थी तथाऽतिसारज्वरपीडितं च ॥१५॥

जिसके शरीर के अन्त के भागों (हाथ, पैर एवं सिर) में शोथ हो और मध्य भाग में पतलापन हो; इसी तरह जिसके अन्त के भाग मुर्झाये हुए और मध्यभाग शोथयुक्त हो; जिसके गुदा, लिङ्ग और अण्डकोष शोथयुक्त हों; जो अत्यन्त दुखी एवं मृतप्राय हो; तथा अतिसार और ज्वर से पीड़ित पाण्डु रोग के रोगियों को यश चाहने वाला वैद्य त्याग देवे।

कामला

पाण्डुरोगी तु योऽत्यर्थं पित्तलानि निषेवते ।
तस्य पित्तमसृङ्मांसं दग्ध्वा रोगाय कल्पते ॥१६॥
हारिद्रनेत्रः स भृशं हारिद्रत्वङ्नखाननः ।
रक्तपीतशकृन्मूत्रो भेकवर्णो हतेन्द्रियः ॥१७॥
दाहाविपाकदौर्बल्यसदनारुचिकर्षितः ।
कामला बहुपित्तैषा कोष्ठशाखाश्रया मता ॥१८॥

जो पाण्डुरोगी अत्यधिक पित्तकारक आहार-विहार का सेवन करता है उसका पित्त रक्त और मांस को जलाकर (झुलसाकर) अथवा अत्यन्त दूषित करके कामला रोग की उत्पत्ति करता है। उसके नेत्र, त्वचा, नख एवं मुख हल्दी के समान अत्यन्त पीले होजाते हैं; मल और मूत्र लाल-पीले रंग के होजाते हैं; रोगी का वर्ण मेण्डक के समान होजाता है; उसकी इन्द्रियों की शक्ति मारी जाती है और वह दाह, अजीर्ण, दुर्बलता, अवसाद और अरुचि से पीड़ित होकर कृश होता है। यह कामला पित्ताधिक्य से होता है तथा कोष्ठाश्रय और शाखाश्रय भेद से दो प्रकार का होता है।

वक्तव्य—(८६) उन्मार्गगामी पित्त रक्त के साथ मिलकर तथा त्वचा और मांस के बीच स्थित होकर पाण्डुरोग की उत्पत्ति करता है। यदि इसके पश्चात् भी रोगी पित्तवर्धक पदार्थों का सेवन करता है तो वह पित्त अत्यन्त कुपित होकर रक्त और मांस पर प्रतिक्रिया (Reaction) करता है और उन्हें झुलसे हुए के समान बना देता है। इस दशा को 'कामला' की संज्ञा प्रदान की गयी है।

कामला रोग पाण्डुरोग की उग्रतर दशा है। पूर्वोक्त पांचों प्रकार के पाण्डुरोगों में से कोई भी उपेक्षा करने एवं पित्तवर्धक आहार-विहार का सेवन करने से कामला में परिवर्तित होजाता है। कामला में पित्त की उल्बणता इतनी अधिक होती है कि वात एवं कफ के लक्षण दब जाते हैं, इसीलिये पाण्डु के समान कामला के दोषानुसार भेद नहीं किये जाते। यदि अत्यन्त बलवान् पित्तवर्धक निदान उपस्थित हों तो कामला एकाएक भी होसकता है, जैसाकि वाग्भट्ट ने कहा है—'भवेत् पित्तोल्बणस्यासौ पाण्डुरोगादृतेऽपि च।' यह लगभग उसी प्रकार की

बात है जैसे कि निदान अत्यन्त बलवान होने पर बिना पूर्वरूप प्रकट हुए ही एकाएक रोग उत्पन्न होजाना।

कोष्ठाश्रय और शाखाश्रय भेद से दो प्रकार का कामला बतलाया गया है किन्तु दोनों प्रकारों का पृथक्-पृथक् वर्णन किसी भी ग्रंथ में उपलब्ध नहीं है, टीकाकार भी इस पर कोई अधिकृत जानकारी नहीं दे सके हैं। अनुमान किया जाता है कि कोष्ठाश्रित कामला वह है जिसमें यकृत-वृद्धि तथा जलोदर होता है और शाखाश्रित वह है जिसमें उदर-वृद्धि नहीं होती। आगे 'कुम्भ कामला' के कृच्छ्र और असाध्य लक्षण बतलाये गये हैं। संभवतः कुम्भ-कामला कोष्ठाश्रय कामला का ही पर्याय है।

कालान्तरात् खरीभूता कृच्छ्रा स्यात्कुम्भकामला।

समय अधिक बीतने पर एवं खर होने पर कुम्भ-कामला कष्टसाध्य होता है।

कामला के असाध्य लक्षण

कृष्णपीत शकृन्मूत्रो भृशं शूनश्च मानवः ॥ १९ ॥
सरक्ताक्षिमुखच्छर्दिविण्मूत्रो यश्च ताम्यति।
दाहारुचितृडानाहतन्द्रामोहसमन्वितः ॥ २० ॥
नष्टाग्निसंज्ञः क्षिप्रं हि कामलावान्विपद्यते।

जिसके मल-मूत्र का वर्ण कृष्णाभ पीत हो, जो अत्यन्त शोथयुक्त हो; जिसके नेत्र और मुख रक्ताधिक्य से लाली युक्त हों तथा वमन, मल और मूत्र के साथ रक्त जाता हो; जो अत्यन्त बेचैन हो, दाह, तृष्णा, अरुचि, आनाह, तन्द्रा और मूर्च्छा से पीड़ित हो और जिसकी अग्नि नष्ट हो चुकी हो वह कामला रोगी शीघ्र मरता है।

छर्द्यरोचकहृल्लासज्वरक्लमनिपीडितः ॥ २१ ॥
नश्यति श्वासकासार्तो विड्भेदी कुम्भकामली।

वमन, अरुचि, हृल्लास, ज्वर, थकावट, श्वास, कास एवं अतिसार से पीड़ित कुम्भकामला का रोगी मर जाता है।

हलीमक

यदा तु पाण्डोर्वर्णः स्याद्धरितः श्यावपीतकः ॥ २२ ॥
बलोत्साहक्षयस्तन्द्रा मन्दाग्नित्वं मृदुज्वरः।
स्त्रीष्वहर्षोऽङ्गमर्दश्च दाहस्तृष्णाऽरुचिर्भ्रमः।
हलीमकं तदा तस्य विद्यादनिलपित्ततः ॥ २३ ॥

जब पाण्डुरोगी का वर्ण हरे या श्याम वर्ण की आभा लिए हुए पीला हो, बल और उत्साह में कमी, तन्द्रा, मन्दाग्नि, हल्का ज्वर, स्त्रीप्रसंग की इच्छा का अभाव, अंग-ड़ाई, दाह, प्यास, अरुचि, भ्रम आदि लक्षण उपस्थित हों तब उसे वात-पित्त के प्रकोप से हलीमक रोग हुआ है ऐसा जाना चहिए।

वक्तव्य—(८७) हलीमक रोग में वातज-पाण्डु की अपेक्षा वात-पित्त का प्रकोप अधिक रहता है।

पानकी

(सन्तापो भिन्नवर्चस्त्वं बहिरन्तश्च पीतता।
पाण्डुता नेत्रयोर्यस्य पानकीलक्षणं भवेत् ॥)

संताप, फटे हुए दस्त होना, शरीर के बाहिरी और भीतरी भागों में पीलापन और नेत्रों में हल्कापन—ये पानकी रोग के लक्षण हैं।

वक्तव्य—(८८) लगभग सभी वैद्य पाण्डुरोग को रक्तक्षय या ऐनीमिया (Anaemia) का पर्याय मानते हैं और कामला को जाण्डिस का। यह धारणा अत्यन्त भ्रमपूर्ण है। इसी प्रकार की अनेक भ्रामक धारणायें लम्बे समय से चली आ रही हैं और उभय पद्धतियों के इतने लम्बे विद्वानों में से किसी ने भी इनका खण्डन नहीं किया। विद्वानों का कर्त्तव्य है कि इस प्रकार की मिथ्या धारणाओं को शीघ्रातिशीघ्र दूर करें।

वस्तुतः पाण्डु, कामला, हलीमक आदि एक ही रोग के भिन्न भिन्न रूप हैं और इनका अंग्रेजी पर्याय जाण्डिस (Jaundice) है। यह बात ऊपर के वक्तव्यों में भलीभांति सिद्ध की जा चुकी है। जिन्हें सन्देह हो वे चरक-संहिता में देखें—पाण्डु में भी पीलापन त्वचा और मांस के बीच स्थित पित्त के कारण बतलाया गया है। अन्य दोषों के कारण अन्य वर्णों की उत्पत्ति होती है किन्तु पीलापन सर्वत्र रहता है यह बात सुश्रुत ने स्पष्ट कर दी है।

रक्तक्षय (ऐनीमिया, Anaemia) के कारण त्वचा का वर्ण फीका (विवर्ण) हो जाता है, पीला या पाण्डु नहीं। जब रक्तक्षय के साथ पाण्डु या कामला भी उपस्थित होता है तभी पीले रंग की उत्पत्ति होती है। रक्तक्षय के साथ कभी कभी पाण्डुरोग और पाण्डुरोग व कामलादि के फलस्वरूप हमेशा रक्त-क्षय होता है किंतु इससे भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए।

प्रस्तुत ग्रंथ में पांडुरोग का जो वर्णन है वह किंचित भ्रमोत्पादक है—विशेषतः सम्प्राप्ति तथा वातज और कफज प्रकारों का वर्णन। किन्तु ५ वें और १४ वें श्लोक को देखने से यह भ्रम बहुत कुछ दूर हो जाता है। शेष शंकाओं का समाधान चरक सुश्रुत और वाग्भट्ट के अध्ययन से हो जाता है।

पाश्चात्य मत—

पांडु, कामला, हलीमक आदि (*Jaundice, Icterus*)—इस रोग में पित्त के रङ्ग के संचय के अनुरूप त्वचा और श्लैष्मिक कला का वर्ण गंधक के समान हल्का पीला से लेकर गहरा नारंगी हरिताभ अथवा गहरा जैतूनी तक हो जाता है•। रोग अधिक दिनों तक रहने पर नेत्रों की ऊपरी पलकों की त्वचा में किंचित उभरे हुए पीले दाग उत्पन्न होते हैं, फिर शरीर के अन्य भागों में भी हो सकते हैं। हाथों की गदेलियों, कोहनियों, घुटनों आदि की त्वचा में कड़ी और गोल उभरी हुई ग्रंथियां उत्पन्न होती हैं जिनका व्यास $\frac{1}{8}$ से $\frac{1}{2}$ इञ्च तक होता है। त्वचा में खुजलाहट थोड़ी या बहुत अवश्य होती है। त्वचा से पहले नेत्रों की श्वेत कला में पीलापन दिखाई देता है। रोग का निदान सर्वप्रथम नेत्रों पर से ही होता है। कुछ लोगों के नेत्रों में चर्बी के जमाव के कारण पीलापन रहता है उससे इसका विभेद करना चाहिये। चर्बी के जमाव का पीलापन किंचित् उभरे हुए धब्बों के रूप में होता है, जबकि पाण्डु-कामलादि का पीलापन सर्वत्र एकसा फैला हुआ रहता है। पाण्डुकामलादि का पीलापन पित्त की मात्रा के अनुसार हल्का या गहरा होता है और रंग गहरा होने पर सभी पदार्थ पीले दिखाई देने लगते हैं। मूत्र का रंग भी पित्त की मात्रा के अनुसार केशरिया, हल्दिया, हरिताभ बादामी या कत्थई होता है; कुछ मामलों में लगभग काला हो सकता है। कांचनलिका में मूत्र को रखकर देखने से ऊपरी भाग में हरिताभ वर्ण लक्षित होता है और हिलाने से जो फेन बनता है वह स्पष्ट रूप से पीताभ या हरिताभ वर्ण का होता है। मूत्र में कपड़ा या स्याहीसोख भिंगोने से पीला रंग चढ़ जाता है। रोग प्रारंभ होते ही सर्व प्रथम मूत्र में पित्त-रंजक पदार्थ उपस्थित होते हैं और उसके पश्चात् नेत्र त्वचा आदि में; किंतु रोगोपशम होते समय सर्व-प्रथम मूत्र स्वच्छ होता है फिर नेत्र त्वचा आदि क्रमशः अपने स्वाभाविक वर्ण को प्राप्त होते हैं। कुछ विशेष मामलों में मूत्र में पित्त नहीं पाया जाता। इस प्रकार के रोग को अपित्तमेही कामला (*Acholuric jaundice*) कहते हैं। पित्तनलिकाओं के अवरोध से उत्पन्न कामला में पित्त अनुपस्थित रहता है किंतु अन्य प्रकारों में स्वाभाविक मात्रा में और कभी कभी अधिक मात्रा में पाया जाता है। कुछ मामलों में पसीने और दूध (दूध पिलाने वाली स्त्रियों के दूध) का वर्ण भी पीला होजाता है। उदरा-वरण, फुफ्फुसावरण और हृदयावरण के द्रव सामा-न्यतः एवं मस्तिष्कावरण, सुषुम्ना आदि के द्रव गंभीर मामलों में रंजित पाये जाते हैं।

इस रोग में रक्तस्राव की प्रवृत्ति अधिक होती है जो कभी कभी घातक हो सकती है। साधारण-

• *The colour varies from a light sulphur yellow to a deep orange, greenish, or even dark olive tint according to the concentration of the pigment.*

(French's Index of Differenctial Diognosis)

तथा नाड़ी प्रभावित रहती है किंतु ज्वर अवसाद आदि की दशाओं में प्रभावित हो जाती है कुछ मामलों में हृदय की गति मन्द होजाती है—मन्द-हृदयता (*Bradycardia*)। गंभीर प्रकार में एवं रोग अधिक काल तक बना रहने पर पित्तमयता (*Cholaemia*) होने से प्रलाप, तन्द्रा, आक्षेप, संन्यास आदि होकर मृत्यु हो जाती है। चिरकाल तक रोग बना रहने पर केशिकाबुर्दों (*Telangiectases*) की उत्पत्ति शरीर के विभिन्न भागों में विशेषतया चहरे, जीभ और ओठों में होती है। कुछ मामलों में रात्र्यंधता और शुष्काक्षिपाक *Xerophthalmia* भी पाये जाते हैं, रक्त आदि धातुओं का क्षय होता रहता है।

शोणवतुलि के टूटने से पित्तरक्ती (Bilirubin) स्वतन्त्र होती है जो अस्थिमज्जा, प्लीहा और यकृत के जालकान्तस्तरीय कोषों (Reticulo-endothelial cells) के द्वारा ग्रहण की जाकर यकृत के बहुभुजीय कोषों (Polygonal cells) में पहुंच कर पित्त में मिल जाती है। पित्त पित्ताशय में संचित होकर पित्तनलिकाओं के द्वारा ग्रहणी में पहुंचता है जहां वह पाचन में सहायक होता है। इस स्वाभाविक क्रिया में गड़बड़ी होने से पित्तरक्ती पुनः रक्त में मिलकर पाण्डु-कामलादि रोग उत्पन्न करती है। यकृत में पहुँचने पर पित्तरक्ती के गुणों में अन्तर आ जाता है इसलिये यकृत में पहुंचने के पूर्व इसे अपक्व पित्तरक्ती (Prehepatic Bilirubin) या रक्तीय पित्तरक्ती (Haemo-Bilirubin) कहते हैं और यकृत से निकलने के बाद पक्व पित्त-रक्ती (Post-hepatic Bilirubin) या पित्तीय पित्तरक्ती (Cholebilirubin) कहते हैं। रक्त-लसिका में पित्तरक्ती की उपस्थिति का ज्ञान वान-डेन-बर्ग की प्रतिक्रिया (Van-den-Bergh Reaction) से होता है—अपक्व पित्तरक्ती की उपस्थिति में यह परीक्षा परोक्ष (Indirect) रूप से और पक्व पित्तरक्ती की उपस्थिति में प्रत्यक्ष (Direct) रूप से अस्त्यात्मक (Positive) रहती है।

रक्त में पित्तरक्ती की उपस्थिति २ कारणों से होती है (१) पित्तवाहिनियों का अवरोध और (२) अधिक शोणांशन (रक्तनाश) से अधिक पित्तरक्ती की उत्पत्ति। इन्हीं के आधार पर कामला* के ३ भेद माने जाते हैं—

(१) अवरोधी कामला (Obstrucive Jaundice)—पित्त-वाहिनियों का अवरोध होने से पित्त ग्रहणी में नहीं पहुँच पाता और याकृत-शिरा में प्रवेश करके रक्त में मिल जाता है। इस प्रकार में त्वचा, नेत्र, मूत्रादि का रंग गहरा पीला रहता है। ग्रहणी में पित्त के न पहुँचने से भोजन का विशेषतः उसमें स्थित स्नेहों का पाचन नहीं हो पाता और मल में स्वाभाविक पीलापन (जो पित्त के कारण होता है) नहीं उत्पन्न होता। भोजन आंतों में देर तक रुका रह कर सड़ता है और अत्यन्त दुर्गन्धित सफेद या मटमैले रंग का चिकना एवं ढीला दस्त बड़ी मात्रा में होता है। वान-डेन-बर्ग की प्रतिक्रिया प्रत्यक्ष अस्त्यात्मक रहती है।

अवरोध निम्नलिखित कारणों से होता है—

(अ) पित्तवाहिनियों की सहज (जन्मजात) अनुपस्थिति, प्रसेक, प्रदाह, घनीभूत पित्त, पित्ताश्मरी, अर्बुद, कृमि-कोष, गण्डूपद-कृमि, स्फीत-कृमि, शिस्टोसोमा-कृमि आदि।

(ब) यकृत के अर्बुद, विद्रधि, प्रदाह और यकृद्दाल्युत्कर्ष।

(स) समीपस्थ भागों—प्रतिहारिणी सीता (Portal Fissure), आमाशय, अग्न्याशय, ग्रहणी, दक्षिण वृक्क या उपवृक्क आदि के अर्बुद, कोष, लस-ग्रंथि वृद्धि, कृमि-कोष आदि का दबाव पड़ने से, अग्न्याशय की अश्मरी से, समीपस्थ धमनियों की अभिस्तीर्णता (Aneurysm) के दबाव से अथवा उदरावरण के संलागों के दबाव से, इत्यादि।

---

* सुविधा के लिये पाण्डु, कामला, हलीमक आदि को केवल 'कामला' कहेंगे।

(२) शोणांशिक कामला (Haemolytic Jaundice)—अधिक शोणांशन से अधिक पित्तरक्ती स्वतंत्र होती है और जब यह इतनी अधिक होती है कि यकृत के द्वारा पक्व पित्तरक्ती में परिवर्तित न की जा सके तब अतिरिक्त पित्तरक्ती रक्त में रह कर कामला की उत्पत्ति करती है। इस प्रकार का कामला हल्के वर्ण का (पाण्डु) होता है। मल और मूत्र पीले रहते हैं और रक्तक्षय के लक्षण उपस्थित रहते हैं। वान डेन वर्ग की प्रतिक्रिया परोक्ष अस्त्यात्मक रहती है।

शोणांशिक कामला प्रायः निम्नलिखित दशाओं में होता है—

विषमज्वर (विशेषतः गंभीर तृतीयक), कालमेही ज्वर, काल-ज्वर, शैशवीय कामला (Icterus Neonatorum), शोणांशी मालागोलाणु के उपसर्ग, फुफ्फुस खण्ड प्रदाह, फौफ्फुसीय अन्तःस्फान, विस्तृत नील मण्डल (Bruise), प्रावेगिक शोणवर्तुलिमेह (Paroxysmal Haemoglobinuria), वैनाशिक रक्तक्षय आदि शोणांशी रक्तक्षय, अपित्तमेही कामला (Acholuric Jauncice), असात्म्य रक्त प्रदान (Incompatible Blood-Transfusion) एवं सर्प-विष, सल्फा औषधियां, कार्बनडाइसल्फाइड, ईथर, नैप्थाल, पोटाशिअम क्लोराइड तथा कोलतार से निर्मित औषधियों के विष प्रभाव आदि।

(३) वैषिक, संक्रामक या याकृत कामला (Toxic Infective or Hepatogenous Jaundice) इसकी उत्पत्ति यकृत के प्रदाह, पाक, कोथ या अपजनन के कारण होती है। रोगी यकृत अपना कार्य भलीभांति नहीं कर पाता जिससे पक्व और अपक्व पित्तरक्ती रक्त में मिलकर कामला उत्पन्न करती है। इस प्रकार के कामला में त्वचा में पीलापन अधिक रहता है किन्तु मल-मूत्र में उतना नहीं रहता। वान डेन वर्ग की प्रतिक्रिया दोनों प्रकार से अस्त्यामक रहती है।

इसके निम्नलिखित कारण हैं—

यकृत-प्रदाह, अपौष्टिक यकृदाल्युत्कर्ष, यकृत-कोथ, दुग्धज्वर, फुफ्फुसखण्ड प्रदाह, पीतज्वर, संक्रामक कामला, आन्त्रिक ज्वर, ग्रंथिक ज्वर, विषमज्वर, कालज्वर, पुनरावर्तक ज्वर, लसिका विकार (Serum Sickness), क्षुद्रश्वास (Anoxia), तीव्र वहुधमनी प्रदाह (Acute Polyarteritis) चिरकालीन अवटुका विषमयता (Thyrotoxicosis), दग्ध आदि।

उपर्युक्त रोगों में से अनेकों का वर्णन नीचे किया जा रहा है, शेष का वर्णन यत्र-तत्र विकीर्ण रूप से मिलेगा।

(१) संक्रामक कामला ज्वर (Infectious Jaundice)—इसे वेल का रोग (Weil's disease) या चक्राणवीय रक्तस्रावी कामला (Spirochaetosis Ictero-haemorrhagica) भी कहते हैं। इसकी उत्पत्ति एक प्रकार के चक्राणु (Leptospira Icterohaemorrhagic) से होती है। यह चक्राणु चूहों के मूत्र में पाया जाता है। संक्रमण खाद्य या पेय पदार्थों के द्वारा अथवा व्रण-खरोंच आदि में से होता है। चयकाल ६ से १२ दिनों तक का है। यह रोग शरद् और हेमन्त ऋतुओं में अधिक प्रसार पाता है, वैसे ऋतु का कोई वन्धन नहीं है।

रोग का आरम्भ सिरदर्द, वेचैनी, कंपकपी, हाथ-पैरों एवं उदर में पीड़ा, वमन-अतिसार आदि लक्षणों सहित तीव्र ज्वर (१०८-१०४°) से होता है। नेत्र और तालु में रक्ताधिक्य के कारण लाली रहती है तथा कुछ रोगियों को नेत्र-अभिष्यन्द हो जाता है। ज्वर ४-५ दिनों तक तीव्र रहकर क्रमशः घटने लगता है और १०-१२ दिनों में पूर्णतः उतर जाता है। कुछ रोगियों को इसके वाद क्रमशः पूर्ण आराम हो जाता है किन्तु कुछ को १५-१६ वें दिन सौम्य पुनराक्रमण होता है और फिर २-३ दिन साधारण ज्वर रहकर तत्पश्चात् आराम होता है। कुछ मामलों में तीसरी बार पुनः आक्रमण होते पाया गया है। कामला ३-५ दिनों में प्रकट होकर बढ़ता है। यकृत, प्लीहा और लसग्रन्थियों की वृद्धि होती है। सामान्य

मामलों में आभ्यन्तर भागों में थोड़ा-बहुत रक्तस्राव होता है किन्तु गंभीर मामलों में सभी छिद्रों से, श्लैष्मिक कलाओं और त्वचा में भी रक्तस्राव होता है (रक्तष्ठीवी सन्निपात)। नाड़ी प्रारम्भ में तीव्र रहती है किन्तु कामला के लक्षण बढ़ने पर मन्द हो जाती है। जिह्वा मलयुक्त एवं शुष्क रहती है। अधिकतर मलावरोध रहता है किन्तु कुछ मामलों में अतिसार, रक्तातिसार अथवा कृष्ण मल पाया जाता है। मूत्र का वर्ण पीत अथवा रक्त पीत रहता है।

वान डैन बर्ग की प्रतिक्रिया दोनों प्रकार से अस्त्यात्मक रहती है। मूत्र में पित्त, श्विति, रक्तकण-पूयकण और नलिका निर्मोक पाये जाते हैं। रक्त में बह्वाकारी श्वेतकणों की वृद्धि तथा लाल कणों और रक्तवर्तुलि का क्षय होता है।

अत्यन्त गम्भीर प्रकार में विषमयता अधिक होती है। ज्वर अधिक तीव्र एवं अधिक दिनों तक (१०-१२ दिन) रहता है। आन्त्रिक-ज्वर, मस्तिष्क-सुषुम्ना ज्वर अथवा शोथ रोग (वृक्कप्रदाह, Nephritis) के लक्षण भी कुछ मामलों में पाये जाते हैं। गम्भीर प्रकार के रोगी प्रायः असाध्य हुआ करते हैं।

(२) पीतज्वर (Yellow fever)—यह रोग अमेरिका और अफ्रीका के उष्ण भागों में पाया जाता है। इसकी उत्पत्ति एक विषाणु (Virus) से होती है। संक्रमण रोगी व्यक्ति के सम्पर्क से अथवा मच्छरों के द्वारा होता है। चयकाल २-१० दिनों का है।

रोग का प्रारम्भ बेचैनी, अवसाद, सारे शरीर में पीड़ा, कंपकंपी आदि लक्षणों सहित ज्वर से होता है। नेत्र और चेहरा रक्ताधिक्य के कारण लाल रहता है, त्वचा रूक्ष और नाड़ी तीव्र रहती है ज्वर सामान्यतः १०२° से अधिक नहीं बढ़ता और अनियमित रीति से घटता बढ़ता रहता है तथा ३-४ दिन बाद उतर जाता है और रोगी धीरे धीरे आरोग्य लाभ करता है। कामला २ रे या ३ रे दिन प्रकट होता है और कुछ मामलों में रक्तस्राव भी होता है। यकृत थोड़ा बढ़ा हुआ एवं पीड़ा-युक्त रहता है किन्तु प्लीहा और लस-ग्रन्थियों की वृद्धि नहीं होती। कुछ मामलों में हृल्लास होता है जिसकी अधिकता से वमन भी हो सकता है। वमन में पित्त निकलता है, कभी कभी रक्तमिश्रित भी हो सकता है।

गम्भीर मामलों में ३-४ थे दिन ज्वर उतरने के पश्चात् कुछ काल बाद पुनः आ जाता है और इस बार लक्षण अधिक गम्भीर होते हैं। कामला अधिक गहरा हो जाता है और विषमयता के लक्षण—बेचैनी, हिक्का, सर्वांग में पीड़ा, सभी छिद्रों से एवं त्वचा के नीचे रक्तस्राव आदि उत्पन्न होते हैं। नाड़ी की गति तीव्र ज्वर होते हुए भी मन्द (६०-७० प्रति मिनट) रहती है और रक्तभार घट जाता है। मूत्र का वर्ण रक्त-पीत रहता है और मात्रा कम रहती है कुछ मामलों में मूत्राघात हो जाता है।

मूत्र में पित्त, श्विति, रक्तकण, उपकलीय कोष और निर्मोक पाये जाते हैं। रक्त में श्वेतकणों की थोड़ी वृद्धि पाई जाती है किन्तु कुछ मामलों में इनका क्षय भी पाया जाता है। वान-डैन-बर्ग की प्रतिक्रिया दोनों प्रकार से अस्त्यात्मक रहती है। रक्त में मूत्रा (मिह, Urea) की मात्रा बढ़ी हुई रहती है और जमने का समय बढ़ जाता है।

मृत्यु संख्या लगभग ३० % रहती है। एक बार आक्रमण होकर आरोग्य लाभ होने पर क्षमता उत्पन्न हो जाती है। नये आये हुए व्यक्तियों पर इस रोग का घातक आक्रमण होता है। अत्यधिक रक्तस्राव और मूत्राघात घातक लक्षण हैं।

(३) कामला की महामारी अथवा तीव्र संक्रामक यकृत प्रदाह—(Epidemic Jaundice or Acute Infective Hepatitis)—यह रोग महामारी के रूप में फैलता है। युद्ध, भुखमरी, गंदगी, मक्खियों की अधिकता आदि परिस्थितियां इसके प्रसार में सहायक होती हैं। किशोरों और शराबियों पर इसका आक्रमण अधिक होता है। कारण संभवतः एक

विपाणु है जो बिन्दूत्क्षेप अथवा खाद्य पदार्थों के द्वारा उपसृष्ट होता है। चयकाल १८-४० दिनों का है।

प्रारम्भ में २-४ दिन मुख में बुरे स्वाद का अनुभव होना, भूख न लगना, हृल्लास, यकृत प्रदेश में वेदना, हल्का ज्वर आदि पूर्वरूप रहने के पश्चात् कामला प्रकट होता है जो लगभग २० दिन रहता है। सौम्य प्रकार में कामला देर से प्रकट होता है, रंग हल्का (पाण्डुवर्ण) रहता है और शीघ्र (५-१० दिनों में) शान्त होजाता है। इसके विपरीत गंभीर प्रकार में कामला शीघ्र प्रकट होता है, रङ्ग गहरा रहता है, लक्षण गम्भीर होते हैं और या तो मृत्यु होजाती है अथवा लम्बे समय (४०-६० दिन) तक कामला रहता है। रक्तस्राव प्रायः नहीं होता। नाड़ी आरम्भ में तीव्र किन्तु कामला बढ़ने पर मन्द होजाती है।

यकृत प्रदाह के कारण बढ़ा हुआ कठोर एवं पीड़ायुक्त रहता है। प्लीहा की भी किंचित् वृद्धि होती है। मूत्र पीला होता है और उसमें पित्त पाया जाता है। रक्त में श्वेतकणों का क्षय और लसकणों की वृद्धि होती है। वान-डैन-बर्ग की प्रतिक्रिया प्रत्यक्ष अस्त्यात्मक रहती है।

प्रायः सभी रोगी आरोग्यलाभ करते हैं। किन्तु कमजोरी और यकृत की खराबी लम्बे समय तक बनी रहती है। ऐसी अवस्था में अधिक मद्यपान से पुनराक्रमण अथवा कष्ट में वृद्धि होना संभव रहता है। वैसे आक्रान्त होने के वाद स्वास्थ्यलाभ करने पर क्षमता उत्पन्न हो जाती है किन्तु शराव से वचना चाहिये ।

(४) लसिकाजन्य यकृत-प्रदाह (Homologous Serum Hepatitis)—रक्त-प्रदान अथवा लसिका प्रदान के पश्चात्, अथवा रोग प्रतिषेधार्थ लसिका-प्रयोग के पश्चात्, अथवा सूचीवेध करते समय पूतीकरण में असावधानी हो जाने से लगभग ३-४ मास वाद कामला की महामारी के ही समान लक्षणों से युक्त यकृत-प्रदाह की उत्पत्ति होते पायी गयी है। इसकी उत्पत्ति का कारण एक विपाणु है जो केवल रक्त में मिश्रित होकर ही रोगोत्पत्ति करने की सामर्थ्य रखता है।

इस रोग के लक्षण और क्रम आदि कामला की महामारी के ही समान होते हैं किन्तु प्लीहावृद्धि, संधियों में पीड़ा एवं कठोरता तथा त्वचा में लाल धव्वों की उत्पत्ति आदि लक्षण भी होते हैं।

(५) गंभीर कामला, यकृत कोथ अथवा यकृत का पीत शोथ (Icterus Gravis or, Necrosis or yellow Atrophy of the Liver)—इस रोग में यकृत के किसी भाग के कुछ कोषों में अथवा किसी एक भाग के सभी कोषों में अथवा पूरे यकृत में स्थान स्थान पर अनियमित धव्वों के रूप में कोथ होता है। कोथयुक्त भाग प्रारम्भ में पीला और फिर लाल हो जाता है। यकृत प्रारम्भ में वृद्धि को प्राप्त होता है किन्तु फिर तेजी के साथ सिकुड़ने लगता है। यकृत के साथ ही वृक्कों की नलिकाओं Tubules का भी कोथ होता है—पैत्तिक वृक्कोत्कर्ष (Cholaemic Nephrosis)। थोड़ी प्लीहावृद्धि भी होती है। वैसे यह रोग किसी भी आयु में हो सकता है किन्तु २० से ३० वर्ष तक की आयु में विशेषतः पाया जाता है और पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियां अधिक आक्रांत होती हैं। इसकी उत्पत्ति के कारण निम्नलिखित हैं—

(अ) आन्त्रिक ज्वर, वातश्लैष्म ज्वर, पीतज्वर, कामला की महामारी, गर्भाक्षेपक (Eclampsia) आदि के विष (Toxins)।

(ब) संखिया, फास्फोरस, स्वर्णलवण, मद्य, क्लोरोफार्म आदि वाह्य विष।

(स) भोजन में प्रोभूजिन की कमी।

तीव्र प्रकार—प्रारम्भ में ४-५ दिनों तक बेचैनी, सर्वांग में पीड़ा, हृल्लास-वमन, मलावरोध, ज्वर, आदि लक्षणों के साथ कामला रहता है। फिर एकाएक कामला वढ़ जाता है और वमन, मलावरोध, पीड़ा, वेचैनी आदि लक्षण भी वढ़ जाते हैं। नाड़ी

कमजोर एवं द्रुतगामिनी तथा जिह्वा शुष्क एवं मल-युक्त रहती है। छिन्नश्वास (Cheyne Stokes breathing) चलती है और सभी स्थानों से रक्त-स्राव होने की सम्भावना रहती है। रक्त में श्वेतकणों की वृद्धि होती है। मूत्र में पित्त, श्विति और निर्मोक पाये जाते हैं। विषमयता की वृद्धि होने पर अत्यधिक बेचैनी, कम्प, आक्षेप, प्रलाप, तन्द्रा, वाह्यायाम आदि होकर संन्यास एवं मृत्यु होती है।

अनुतीव्र प्रकार––लक्षण लगभग वही होते हैं किंतु रोग अधिक दिनों तक चलता है और समय समय पर घटता बढ़ता रहता है। कामला कई सप्ताहों या महीनों तक रहा आता है। बल, मांस का क्षय अत्यधिक होता है। रोगोपशम अत्यन्त धीरे धीरे होता है अथवा क्रमशः विषमयता की वृद्धि होकर मृत्यु हो जाती है। बचे हुये रोगियों में से अनेक को विषज यकृद्दाल्युत्कर्ष (Mallory's Toxic Cirrhosis) हो जाता है।

(६) शैशवीय गंभीर कामला (Icterus Gravis Neonatorum or Erythroblastosis Foetalis)––यह रोग माता पिता के रक्त का मेल न बैठने से होता है। प्रथम सन्तान को छोड़कर शेष सभी पीड़ित होती हैं। इसमें यकृत, प्लीहा तथा हृदय की वृद्धि होती है और अस्थिमज्जा के अतिरिक्त यकृत, प्लीहा, वृक्कों तथा उपवृक्कों में लालकणों के निर्माण का कार्य होता है। अपरा में रक्तार्बुद पाया जा सकता है।

इस प्रकार के कुछ बच्चे समय से पहले ही शोथ और रक्तक्षय से युक्त उत्पन्न होते हैं–शोथी भ्रूण (Hydrops Foetalis)। अन्य बच्चे समय पर उत्पन्न होते हैं किंतु रक्तक्षय और कामला से युक्त रहते हैं। शेष में परमवर्णिक रक्तक्षय के लक्षण रहते हैं और कामला के लक्षण प्रायः स्पष्ट नहीं रहते। रक्तस्राव की प्रवृत्ति अधिकतर पायी जाती है। जो जीवित बचते हैं उनकी आधारिक ग्रन्थियां (Basal Ganglia) रुग्ण हो जाती हैं और वे कम्प रोग (लासक, Chorea), सर्प-विमोहन गति (Athetosis), आक्षेप, मस्तिष्क-दौर्बल्य आदि से पीड़ित रहते हैं। कुछ यकृद्दाल्युत्कर्ष और अस्थि-रोग हो जाते हैं।

पित्तमार्ग की सहज अनुपस्थिति (Congenital absence of the Bile-duct)––विश्वास किया जाता है कि माता के रक्त में से कोई अज्ञात विष गर्भाशय शिशु के यकृत में पहुँचकर यकृद्दाल्युत्कर्ष और पित्त-मार्ग में संकीर्णता उत्पन्न करता है। यह रोग भी माता-पिता की प्रथम संतान को छोड़ कर शेष प्रायः सभी को होता है। जन्म के बाद २-४ दिनों के अन्दर ही कामला की उत्पत्ति होती है। यह कामला बढ़ता ही जाता है और किसी भी तरह कम नहीं होता। कुछ सप्ताहों या महीनों में मृत्यु हो जाती है।

शैशवीय प्राकृत कामला (*Icterus Neonatorum*)—जन्म के बाद अतिरिक्त लालकणों का शोणांशन होता है जिससे कामला की उत्पत्ति होती है। यह कामला जन्म के बाद २ रे या ३ रे दिन प्रकट होता है और ४-५ दिन रहकर क्रमशः शान्त होजाता है। पीलापन बहुत साधारण प्रकार का रहता है जो चेहरे पर लगभग स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है किन्तु नेत्रों में प्रायः नहीं के बराबर पाया जाता है।

यह कामला सभी को होता है और इसे रोग नहीं माना जाता।

(७) अपित्तमेही कुल-कामला (*Acholuric family Jaundice*)—यह रोग एक ही कुल के कई व्यक्तियों में और कई पीढ़ियों में पाया जाता है। १० वर्ष से कम आयु के बालक ही अधिकतर आक्रान्त होते हैं। संभवतः इसका कारण कोई परम्परा से प्राप्त विकार है जिसके फलस्वरूप लालकण अधिक भंगुर और गोल होते हैं। रक्त-लसिका में पित्तरक्ती अधिक मात्रा में उपस्थित रहती है। प्लीहा बढ़ी हुई एवं रक्त से परिपूर्ण रहती है। अस्थिमज्जा अतिनम्य (*Hyperplastic*) अथवा ऋजुन्यष्ठीलीय (*Nor-*

moblastic) प्रकार की होती है। साधारण पाण्डुता सदा रही आती है जो अधिक परिश्रम, उत्तेजना या शीत लग जाने से बढ़ जाया करती है तथा ज्वर आ जाता है। पित्ताश्मरी की उत्पत्ति हो जाती है जिससे समय समय पर शूल होता है। रक्तक्षय और श्वेत-कायाणूत्कर्ष उपस्थित रहते हैं तथा कामला की वृद्धि के साथ ये भी बढ़ जाते हैं। मल का वर्ण स्वाभाविक रहता है। मूत्र कृष्णाभ वर्ण का होता है तथा उसमें पित्तरक्ती नहीं पायी जाती किन्तु मूत्रपित्ती (*Urobilin*) पायी जाती है। प्लीहावृद्धि होती है किन्तु यकृत-वृद्धि नहीं होती। लसिका की वान-डैन बर्ग प्रतिक्रिया परोक्ष अस्त्यात्मक रहती है। यह रोग अत्यन्त हठी होता है और चिकित्सा से शान्त नहीं होता तथापि न यह मारक ही है और न आयु को कम ही करता है।

कभी कभी यह रोग वयस्कों (अधिकतर स्त्रियों) को भी होते देखा गया है। ऐसी दशा में कुल से इसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। यह प्रकार चिकित्सा से शान्त हो जाता है।

(८) प्रसेकी कामला (*Catarrhal Jaundice*)–तीव्र अजीर्ण अथवा कई प्रकार के तीव्र संक्रामक ज्वरों के कारण उत्पन्न आमाशय और ग्रहणी के प्रदाह का संक्रमण पित्तमार्ग में हो जाने से पित्तमार्ग का प्रसेक होता है। इससे पित्त का पूर्ण अवरोध होकर कामला की उत्पत्ति होती है।

यह रोग अधिकतर बालकों और नवयुवकों में पाया जाता है। रोग का आरम्भ सिरदर्द, बेचैनी, अरुचि, हृल्लास, वमन, आमाशयिक प्रदेश में पीड़ा आदि लक्षणों सहित सामान्य ज्वर से होता है। अधिकांश रोगियों को मलावरोध रहता है किन्तु कुछ को अतिसार होता है। कामला सर्व प्रथम मूत्र में लक्षित होकर फिर नेत्रों में और उसके बाद श्लैष्मिक कलाओं एवं त्वचा में लक्षित होता है। यकृत की किंचित् वृद्धि होती है किन्तु पित्ताशय तना हुआ, स्पर्शलभ्य एवं पीड़ायुक्त रहता है। ज्वर लगभग १ सप्ताह में और कामला लगभग १॥-२ सप्ताह में शान्त होता है। यह कामला अवरोधी प्रकार का होता है तथा वानडैन बर्ग की प्रतिक्रिया प्रत्यक्ष अस्त्यात्मक रहती है।

(९) पित्ताशय प्रदाह (*Cholecystitis*)—इसकी उत्पत्ति आंत्र दण्डाणु या आन्त्रिक ज्वर दण्डाणु (आन्त्रिक ज्वर के उपद्रव स्वरूप) से होती है। कभी कभी मालागोलाणु, स्तवकगोलाणु, फुफ्फुसगोलाणु आदि भी इसकी उत्पत्ति करते हैं। अधिकांश मामलों में पित्ताश्मरी भी उपस्थित रहती है। प्रदाह की सौम्यता या गम्भीरता अन्य परिस्थितियों तथा निदान के बल पर निर्भर रहती है। सामान्य प्रसेक से लेकर पाक या कोथ तक संभव है। पित्ताश्मरी की उपस्थिति में पाक या कोथ की संभावना अधिक रहती है।

बेचैनी, सर्वांग में पीड़ा, स्थानिक पीड़ा, अजीर्ण एवं ज्वर आदि लक्षणों से रोग का आरम्भ होता है। ये लक्षण रोग के बल के अनुरूप सौम्य या उग्र होते हैं। पित्ताशय के स्थान (दक्षिण अनुपार्श्विक प्रदेश, *Right Hypochondrium*) में पीड़ा होती है जो दाहिने कन्धे तक लहर मारती है और छूने एवं दबाने से बढ़ती है। उदर का दाहिना भाग कठोर रहता है, महाप्राचीरा का दाहिना भाग लगभग निश्चल रहता है और दाहिने फुफ्फुस का तल भाग रक्त-पूर्ण रहता है।

इसके बाद या तो पाक या कोथ होता है अथवा चिरकारी अवस्था प्रारम्भ होजाती है। पाक या कोथ होने पर उपर्युक्त लक्षण गम्भीर हो जाते हैं और हृल्लास, वमन, कामला आदि लक्षण भी उत्पन्न हो जाते हैं। यदि इस समय शल्य-चिकित्सा का आश्रय न लिया जावे तो पूय फैलने से उदरावरण प्रदाह हो जाता है।

चिरकारी अवस्था में पित्ताशय सुकड़ जाता है तथा उसकी दीवारें मोटी एवं तन्तुयुक्त हो जाती

है। इस दशा में पित्ताशय में पीड़ा, आध्मान-युक्त अजीर्ण, शूल, मलावरोध (यदा कदा अतिसार) आदि लक्षण मिलते हैं।

(१०) पित्तनलिका प्रदाह (Cholangitis)—यह अधिकतर पित्ताश्मरी के कारण होता है किन्तु जिन कारणों से पित्ताशय प्रदाह होता है वे भी इसकी उत्पत्ति कर सकते हैं। नलिकाओं की दीवारें मोटी पड़ जाती हैं, नलिकाओं में पित्तमिश्रित पूय भरा रहता है, समीपस्थ लसग्रन्थियों का प्रदाह होता है और समीपस्थ शिराओं में रक्त जम जाता है।

याकृत प्रदेश में कष्ट होता है किन्तु तीव्र पीड़ा नहीं होती। रोगी विषाक्त के समान सुस्त रहता है। बार बार जाड़ा लगता है किन्तु ज्वर अधिक नहीं बढ़ता; कुछ मामलों में सामान्य से भी कम होसकता है। कामला उपस्थित रहता है। यकृत बढ़ा हुआ रहता है और प्लीहा भी किंचित बढ़ी हुई हो सकती है। यह रोग अधिकतर घातक होता है वैसे कुछ रोगी चिकित्सा के बिना भी आरोग्य होते पाये गये हैं।

(११) पित्ताश्मरी (Cholelithiasis, Gall-Stone Disease)—पित्ताश्मरी की उत्पत्ति के लिए ३ बातें आवश्यक हैं—(i) पैत्तव (Cholesterol) की अधिकता, (ii) पित्त का अप्रवाह और (३) पित्ताशय की प्रदाह-युक्त अवस्था। अधिक पैत्तव की उत्पत्ति सगर्भावस्था में, पित्ताशय की प्रदाह-युक्त अवस्थाओं में तथा मक्खन, अण्डे और मांस (विशेषत: यकृत, अग्न्याशय, वृक्क, और मस्तिष्क) खाने से होती है, कुछ लोगों में स्वभावत: भी होती है। पित्त का अप्रवाह प्रदाहयुक्त अवस्थाओं में, मेदोरोग में और व्यायाम के अभाव से होता है। पित्ताश्मरी की रचना पैत्तव, चूर्णातु (Calcium) के लवणों, कफ, श्विति आदि से होती है। इनका आकार खसखस के बराबर से लेकर १ इञ्च व्यास तक का हो सकता है। बड़ी अश्मरियां १-२-४-६ की संख्या में किन्तु छोटी अश्मरियां हजारों की संख्या में पायी जाती हैं। पित्ताश्मरी की उत्पत्ति अधिकतर पित्ताशय में ही होती है किंतु पित्तनलिकाओं में और यकृतान्तर्गत नलिकाओं में भी होते पायी है। यह रोग अधिकतर ३०-३५ वर्ष की अवस्था में उत्पन्न एवं प्रकट होता है पुरुषों की अपेक्षा चौगुनी स्त्रियां आक्रांत होती हैं।

पित्ताश्मरी उत्पन्न होने के बाद अनिश्चित काल तक गुप्त रही आती है; ऐसे व्यक्तियों की शवपरीक्षा करते समय पित्ताश्मरी प्राप्त हुई हैं जिन्हें आजीवन इनसे सम्बन्धित कोई शिकायत नहीं हुई थी। फिर भी अधिकांश रोगियों में उदर के ऊपरी भाग में आध्मान, अत्यधिक डकारें, आमाशय में अम्लता वृद्धि, दाह, अवसाद, वैवर्ण्य, संध्या समय ठण्ड लगना तथा पित्ताशय के स्थान पर दबाने से पीड़ा होना आदि लक्षण होते हैं। अन्य रोगियों को प्रतिदिन अथवा कभी कभी (भोजन में त्रुटि होने अथवा अधिक हिलने डुलने से) वक्ष के दाहिने भाग में जकड़न के समान पीड़ा उत्पन्न होती है जिससे फुफ्फुसावरण प्रदाह का भ्रम हो सकता है। ये सब पित्ताश्मरी के चिरकारी लक्षण अथवा पित्तशूल के पूर्वरूप हैं तथा इनका सम्बन्ध चिरकारी पित्ताशय प्रदाह से जोड़ा जाता है।

तीव्र लक्षणों की उत्पत्ति तब होती है जब पित्ताश्मरी, पित्ताशय ग्रीवा, पित्त नलिका, वेटर की गुहा (अथवा आन्त्र) में फंसकर अवरोध उत्पन्न करती है। इस दशा में नलिका की पेशियों में तनाव और स्तम्भिक आक्षेप होकर शूलवत वेदना की उत्पत्ति होती है इसलिए इस दशा को पित्त-शूल या पित्ताशय शूल" (Biliary Colic) कहते हैं। यह शूल अधिकतर दिन में भोजन के पश्चात् आमाशयिक प्रदेश या दक्षिण अनुपार्श्विक प्रदेश (Right Hypochondriac Region) में उत्पन्न होता है। पीड़ा अत्यन्त कष्टदायक होती है और उसके साथ शीतकम्प, अत्यधिक बेचैनी, वमन, शीतल प्रस्वेद और निपात आदि लक्षण होते हैं। पीड़ा की लहर पीठ या कंधे तक जा सकती है और गहरी सांस लेने में कष्ट

होता है। वमन अत्यन्त जलीय होता है—प्रारम्भ में हरित वर्ण का और फिर एकदम जलीय। रुके हुए पित्त के कारण पित्ताशय फूलकर तन जाता है और उसके स्थान पर दबाने से पीड़ा होती है। यदि पित्ताशय में पूयोत्पादक जीवाणु पहुँच चुके हों तो पूयमयता या दोषमयता के लक्षण भी उत्पन्न हो जाते हैं। जीवाणु-संक्रमण के बिना भी कुछ रोगियों को कम्प होकर ज्वर चढ़ता और पसीना देकर उतरता है, वैसे अधिकांश मामलों में तापक्रम सामान्य अथवा सामान्य से कम पाया जाता है। यदि पित्ताश्मरी मुख्य पित्त नलिका में देर तक फंसी रहे तो कामला उत्पन्न हो जाता है।

कुछ मिनिटों या घंटों के कष्ट के बाद अश्मरी या तो पित्ताशय में लौट जाती है अथवा आगे बढ़कर ग्रहणी में पहुँच जाती है और शूल एकाएक शांत हो जाता है किन्तु इसके बाद भी पित्ताशय में मन्द पीड़ा बनी रहती है जो दबाने एवं गंभीर श्वास लेने पर बढ़ती है।

जब अश्मरी वेटर की गुहा (Ampulla of Vater) में पहुंच जाती है तब वह समय समय पर अवरोध उत्पन्न करती है जिससे समय समय पर शूल, ज्वर, वमन, कामला आदि लक्षण उत्पन्न और शांत होते रहते हैं—चारकौट का विसर्गी याकृत ज्वर (Charcot's Hepatic Intermittent Fever)। जब अश्मरी वेटर की गुहा में स्थिर हो जाती है तब शूल नहीं होता किन्तु कामला दीर्घकाल तक हठपूर्वक रहा आता है तथा हलका ज्वर प्रतिदिन हो आया करता है।

● ग्रहणी में पहुँची हुई पित्ताश्मरी मल के साथ निकल जाती है किन्तु यदि वह बड़ी हो तो आन्त्रावरोध कर सकती है (आन्त्रावरोध प्रकरण देखें)। जब तक सब पित्ताश्मरियां नहीं निकल जातीं तब तक समय समय पर शूल के आक्रमण होते रहते हैं।

● अध्याय ६ भी देखें।

पित्ताश्मरी की उपस्थिति में जीवाणुओं के संक्रमण की अत्यधिक सम्भावना रहती है; इसके फलस्वरुप पित्ताशय-पाक, पित्तनलिका-प्रदाह या अग्न्याशय-प्रदाह हो सकता है। अधिक समय तक अवरोध रहने अथवा बारंबार अवरोध होते रहने से पैत्तिक यकृद्दाल्युत्कर्ष (Biliary Cirrhosis of the Liver) या कर्कटार्बुद (Cancer) होने की संभावना रहती है। कभी कभी फंसी हुई पित्ताश्मरी के दबाव से व्रण की उत्पत्ति होती है; फिर अश्मरी इस व्रण में क्रमशः उतरती हुई नाड़ी व्रण बना देती है जो अनेक प्रकार का हो सकता है और अनेक विचित्र उपद्रवों को जन्म दे सकता है। कामला के कारण अत्यधिक रक्तस्राव होसकता है।

(१२) प्रतिहारिणी-शिरा-पाक (Suppurative Pylephlebitis)—जीवाणुओं का संक्रमण उदर में स्थित किसी पूयकारक केन्द्र (जैसे आन्त्रपुच्छ प्रदाह, पित्ताशय प्रदाह आदि) से अथवा गुदा या श्रोणि के शल्य-कर्मों के व्रणों से होता है। रोगोत्पादक जीवाणु अधिकतर आन्त्र-दण्डाणु, मालागोलाणु स्तवक गोलाणु अथवा कभी-कभी आन्त्रिक ज्वर या प्रवाहिका के दण्डाणु हुआ करते हैं। सामान्यतः प्रतिहारिणी शिरा की यकृत-गत शाखाएं प्रभावित होकर घनास्रता और पाक को प्राप्त होती हैं किन्तु कभी कभी याकृत (Hepatic) शिरा और उसकी शाखाएं भी प्रभावित हो जाती है। आन्त्रनिबंधिनी में अथवा अग्न्याशय के नीचे बड़े बड़े विद्रधि उत्पन्न होते हैं अथवा यकृत में बहुत से छोटे छोटे विद्रधि उत्पन्न होते हैं।

मूलभूत रोग की शान्ति के अवसर पर अथवा उस रोग की उपस्थिति में ही रोग के लक्षण उत्पन्न होते हैं। एकाएक रोगी की हालत बिगड़ जाती है और जाड़ा लगकर तीव्र ज्वर आ जाता है। यह ज्वर अन्येद्युष्क, अर्धविसर्गी अथवा सतत प्रकार का होता है। ज्वर के साथ होने वाले समस्त लक्षण एवं वमन, अतिसार और कामला

भी उत्पन्न हो जाते हैं। यकृत बढ़ा हुआ एवं पीड़ायुक्त रहता है तथा प्लीहा भी किंचित् बढ़ी हुई रहती है। श्वेतकायाण्वुत्कर्ष होता है किन्तु रक्तसंवर्ध नकारात्मक रहता है।

कभी कभी इसके साथ हीं पित्तनलिका प्रदाह भी होता है, ऐसी दशा में कामला शीघ्र उत्पन्न होता है और अधिक गंभीर रहता है। इस रोग के उपद्रव स्वरूप फुफ्फुसखण्ड प्रदाह, फुफ्फुस-विद्रधि, पूयोरस, उदरावरण प्रदाह आदि होने की संभावना रहती है।

(१३) यकृद्दाल्युत्कर्ष (Cirrhosis of the Liver)--इस रोग में यकृत की धातु में क्रमशः तन्तुओं की उत्पत्ति होकर कठोरता आजाती है जिससे यकृत नष्ट प्राय होजाता है तथा प्रतिहारिणी शिरा, यकृत शिरा और पित्तवाहनियों का अवरोध होकर जलोदर, कामला आदि की उत्पत्ति होती है। इसके विभिन्न प्रकारों का वर्णन नीचे किया जाता है–

(i) विषज, अपौष्टिक या बहुखण्डीय यकृद्दाल्युत्कर्ष–(Toxic, Atrophic or Multilobular Cirrhosis of the Liver)—यह रोग अधिकतर प्रौढ़ावस्था में होता है। इसकी उत्पत्ति का प्रधान कारण शराब का व्यसन है। अन्य विषैले पदार्थ भी चाहे वे औषधि या नशे के रूप में या अनजाने ही सेवन किये गये हों अथवा शरीर के भीतर जीवाणु-स्थिति या दूषित समवर्त (Faulty Metabolism) के फलस्वरूप उत्पन्न हुए हों, यकृत पर दुष्प्रभाव डालकर इस रोग की उत्पत्ति करते हैं। यकृत-कोथ, प्लैहिक रक्तक्षय (splenic Anaemia), कांस्याभ मधुमेह (Bronzed Diabetes) और विलसन के रोग (Wilson's Disease or Progressive Lenticular Degeneration) के फलस्वरूप होने वाला यकृद्दाल्युत्कर्ष भी इसी श्रेणी में सम्मिलित है।

विष प्रतिहारिणी शिरा के मार्ग से यकृत में प्रविष्ट होकर स्निग्ध अपजनन (Fatty degeneration) और संयोजक तन्तुओं में रक्ताधिक्य उत्पन्न करता है। प्रारम्भ में यकृत के आकार में कुछ वृद्धि होती है किन्तु ज्यों-ज्यों यकृत की धातु का क्षय और तन्तूत्कर्ष होता है त्यों-त्यों सिकुड़कर छोटा होता जाता है। प्रत्यक्ष देखने पर यकृत सिकुड़ा हुआ, कठोर एवं ग्रंथिमय (Nodular) प्रतीत होता है; वर्ण बादामी होजाता है अथवा स्वाभाविक वर्ण ही यथावत् रहता है अथवा पीला या हरा होजाता है।

प्रारम्भ में अरुचि, हृल्लास, प्रातःकाल पित्त मिश्रित कफ का वमन, अम्लाल्पता; दुर्गन्धित श्वास, मलयुक्त जिह्वा आदि लक्षण होते हैं। यकृत किंचित् बढ़ा हुआ, कठोर एवं पीड़ायुक्त (दबाने पर) रहता है। दुर्बलता दिन प्रति दिन बढ़ती जाती है। इस दशा को यकृदोत्कर्ष या यकृद्विकार (Hepatosis or Liverishness) कहते हैं।

कुछ समय बाद उक्त लक्षण अधिक कष्टप्रद हो जाते हैं और आध्मान, मलावरोध, उदर में भारीपन (विशेपतः दाहिने ऊपरी भाग में), हल्का कामला (पाण्डु) आदि लक्षण भी उत्पन्न होजाते हैं। इस समय भी यकृत बढ़ा हुआ, कठोर एवं पीड़ायुक्त रहता है। प्लीहावृद्धि भी होजाती है। इस दशा को परियकृत-प्रदाह (Perihepatitis) कहते हैं।

कुछ काल बाद यकृत सुकड़कर छोटा होने लगता है और उक्त लक्षण और भी अधिक गम्भीर होजाते हैं। इस समय प्रतिहारिणी शिरा का अवरोध होने लगता हैं जिससे अर्श, रक्तवमन, शिरा-विस्फार, जलोदर, पैरों में शोथ आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। परम-वर्णिक रक्तक्षय उत्पन्न होता और विविध स्थानों से रक्तस्राव की प्रवृत्ति होती है। नाड़ी तेज और कमजोर चलती है। कभी-कभी साधारण ज्वर आ जाता है। बल-मांस का क्षय अत्यधिक होता है। मूत्र थोड़ा, गहरे पीले वर्ण का और अधिक आपेक्षिक घनत्व वाला होता है। वान डैन बर्ग की प्रतिक्रिया अधिकतर परोक्ष और कभी-कभी दोनों प्रकार से अस्त्यात्मक रहती है।

अन्त में यकृत का कार्य बन्द होजाता है जिससे विषमयता होकर अत्यधिक बेचैनी, प्रलाप और अन्त में संन्यास होकर मृत्यु होजाती है।

(ii) पैत्तिक अथवा एकखण्डीय यकृद्दाल्युत्कर्ष (Biliary or Unilobular Cirrhosis of the Liver)—इसके २ भेद हैं—

(अ) परमपौष्टिक पैत्तिक यकृद्दाल्युत्कर्ष अथवा हैनोट का यकृद्दाल्युत्कर्ष (Hypertrophic Biliary Carrhosis of the Liver or Hanot's Cirrhosis)—यह रोग २०–२५ वर्ष की आयु में होता है। याकृत धमनी के द्वारा विष या तृणाणु यकृत में पहुँचकर अवरोही (Descending) प्रकार का पित्तनलिका-प्रदाह उत्पन्न करते हैं जिसके फलस्वरूप कालान्तर में इस रोग की उत्पत्ति होती है।

यकृत आकार में बढ़ जाता है तथा चिकना और गहरे हरे रंग का हो जाता है। छोटी पित्तनलिकाओं और यकृत के खण्डों (Lobules) के बीच के स्थान में तन्तुओं की उत्पत्ति होती है। प्लीहा और शाखाश्रित लस ग्रंथियों की वृद्धि होती है।

इस रोग का प्रधान लक्षण कामला है जो अत्यन्त चिरकारी एवं हठी प्रकार का होता है। कामला के फलस्वरूप रक्तक्षय और रक्तस्राव आदि होते हैं। अंगुलियां मुद्गरवत् हो जाती हैं। रोगकाल ५–१० वर्ष का है। मृत्यु यकृत का कार्य बन्द हो जाने से अथवा किसी अन्य रोग से होती है। यह रोग अत्यन्त विरल है।

(ब) अवरोधी पैत्तिक यकृद्दाल्युत्कर्ष या चारकोट का यकृद्दाल्युत्कर्ष (Obstructive Biliary Cirrhosis or Charcot's Cirrhosis)—यह रोग भी अत्यन्त विरल है। पित्ताश्मरी, अर्बुद या सांकर्य के कारण मुख्य पित्तनलिका में चिरकालीन अवरोध होने से इसकी उत्पत्ति होती है। अवरुद्ध पित्तनलिका और उसकी शाखाएं अत्यन्त विस्फारित होकर जगह जगह पर फट जाती हैं तथा उनमें रुका हुआ गाढ़ा गाढ़ा पित्त यकृत के कोषों में भर जाता है। यकृत में वृद्धि, प्रदाह और तन्तूत्कर्ष होता है।

पित्त-शूल और अवरोधी कामला का इतिहास मिलता है। कामला उपस्थित रहता है किन्तु जलोदर नहीं होता। बल-मांस का क्षय एवं यकृत के कार्याभाव के भी लक्षण मिलते हैं।

(iii) अन्तर्कोषीय यकृद्दाल्युत्कर्ष (Intercellular Cirrhosis)—इसके चार भेद हैं—

(अ) भारतीय शैशवीय यकृद्दाल्युत्कर्ष (Infantile Liver-cirrhosis of India)—यह रोग भारत के निरामिष-भोजी परिवारों के बालकों में पाया जाता है। कारण अज्ञात है किन्तु अनुमान किया जाता कि प्रोभूजिन के अभाव से इसकी उत्पत्ति होती होगी। अनेक कुटुम्बों के सभी बालक अथवा केवल लड़के या केवल लड़कियां* इस रोग के शिकार होते हैं किन्तु माता-पिता के भाई बहिनों को कभी यह रोग हुआ हो ऐसा इतिहास प्रायः नहीं मिलता; इसलिए यह भी अनुमान किया जाता है कि माता पिता के रक्त का मेल ठीक न बैठने के फलस्वरूप इसकी उत्पत्ति होती होगी।

रोग का आरम्भ ३ वर्ष की आयु के भीतर ही हो जाता है और अधिकांश मामलों में दन्तोद्गमकाल में ही रोगारम्भ होता पाया गया है। आरम्भ में अरुचि, अतिसार (मटमैले किंचित् पतले ४-५ दस्त प्रतिदिन), हल्का ज्वर, बेचैनी, चिड़चिड़ापन (अकारण रोना, हठ करना आदि), वैवर्ण्य आदि लक्षण होते हैं। फिर क्रमशः बल-मांस का क्षय होता है और उदर बढ़ता जाता है। अन्त में कामला और जलोदर हो जाते हैं। इस समय उदर पर की शिराएं स्पष्ट दिखाई देने लगती हैं। परीक्षा करने पर यकृत कठोर एवं काफी बढ़ा हुआ मिलता है। किंचित, प्लीहावृद्धि भी होती है। रक्त के लाल कण घट जाते हैं और श्वेत कण बढ़ जाते हैं।

---

* मेरे घर के ठीक सामने रहने वाले एक दम्पति के सात सन्तानें हुई जिनमें से ५ लड़के थे और २ लड़कियां। पांचों लड़के इसी रोग से मरे किन्तु लड़कियों को यह रोग हुआ ही नहीं।

कामला और जलोदर होने के पूर्व रोग साध्य रहता है किन्तु इनके हो जाने पर असाध्य हो जाता है। अधिकांश रोगी १-२ वर्षों में मृत्यु को प्राप्त होते हैं। मृत्यु यकृत का कार्य बन्द हो जाने से पित्तमयता के कारण होती है।

(ब) फिरंगज यकृद्दाल्युत्कर्ष (Syphilitic Cirrhosis of Liver)—इसका वर्णन अध्याय ४७ में देखिये।

(स) काल-ज्वर जन्य यकृद्दाल्युत्कर्ष (Kala-azar Cirrhosis of Liver)-इसकी उत्पत्ति काल-ज्वर की जीर्णावस्था में होती है। इसके फलस्वरूप यकृत काफी बढ़ जाता है और टटोलने पर कड़ा एवं चिकना प्रतीत होता है। यकृत के अधिकांश कोष नष्ट हो जाते हैं और अधिक तन्तूत्कर्ष होने पर प्रतिहारिणी शिरा का अवरोध होकर जलोदर की उत्पत्ति हो जाती है। कोषों में काल-ज्वर के जीवाणु (Leishman Donovani Bodies) पाये जाते हैं। कामला प्रायः नहीं होता। जलोदर हो चुकने पर रोग असाध्य हो जाता है।

(द) विषमज्वर-जन्य यकृद्दाल्युत्कर्ष (*Malarial cirrhosis of liver*)—पुराने आचार्यों ने इसका वर्णन किया है किन्तु नवीन आचार्य इसके अस्तित्व में सन्देह करते हैं उनका कथन है कि विषमज्वर के कारण यकृद्दाल्युत्कर्ष प्रायः नहीं होता; यदि किसी रोगी को हो तो काल-ज्वर या प्लैहिक रक्तक्षय के सह-अतित्व के कारण उत्पन्न हुआ होगा।

(*iv*) आवरण यकृद्दाल्युत्कर्ष (*Capsuler Cirrhosis of liver*) चिरकारी उदरावरण प्रदाह *ChronicPeritonitis orConcato's Disease*) तथा चिरकारी संलागी अन्तराल-हृदयावरण प्रदाह (*Chronic Adhesive Mediastino-pericarditis or Pick's Disease*) के फलस्वरुप यकृत के आवरण में काफी मोटापन, और यकृत के ऊपरी भागों में तन्तूत्कर्ष होता है। कोषों का विनाश अधिक नहीं होता तथा प्रतिहारिणी (*Portal*) और पैतिक (*Biliary*) केश-वाहिनियों का अवरोध नहीं होता।

इस रोग का प्रधान लक्षण जलोदर है। जो अत्यन्त चिरकारी एवं हठी प्रकार का होता है। रोग काल अत्यन्त लम्बा है। क्रमशः अत्यधिक क्षीणता आने से, हृदयातिपात से अथवा किसी अन्य रोग से मृत्यु होती है।

(*v*) चिरकालीन सिरागत रक्ताधिक्यजन्य यकृद्दाल्युत्कर्ष (*Cirrhosis of Liver due to chronic Passive congestion of Venous stasis*) हृदय के द्विपत्रक (*Mitral*) और त्रिपत्रक (*Tricuspid*) कपाटों की अयोग्यता से हृदय के दक्षिण खण्ड के रक्तप्रवाह में अवरोध; फुफ्फुसों में वातोत्फुल्लता (*Emphysema*) तन्तूत्कर्ष (*Fibrosis*) अर्बुद या धमन्यभिस्तीर्णता (*Aneurysm*) आदि कारणों से रक्त प्रवाह में अवरोध अथवा याकृत शिरा में घनास्रता होने से रक्तप्रवाह में अवरोध होकर यकृत में रक्ताधिक्य होता है। इससे यकृत की पीड़ा-युक्त वृद्धि होती है। यकृतगत शिरायें अभिस्तीर्ण होजाती हैं और उनसे दूर स्थित कोषों का स्निग्ध अपजनन (*Fatty degeneration*) होता है। यकृत देखने में जायफल के समान प्रतीत होता है—जातीफल-सदृष यकृत (*Nutmeg liver*)। रोग पूरा न होने पर बाहिरी किनारों के कोषों को छोड़ कर शेष कोष नष्ट हो चुकते हैं और उनके स्थान पर रक्तपूर्ण गुहाएं और तन्तु पाये जाते हैं। आवरण कफी मोटा होजाता है और कुछ मामलों में यकृद्दाल्युत्कर्ष हो जाता है।

यकृत काफी बढ़ा हुआ रहता है और फड़कता है। छूने या दबाने से पीड़ा होती है। अरुचि, आध्मान, श्वासकष्ट, श्यावता, जलोदर, सर्वांगशोथ आदि लक्षण होते हैं। कुछ रोगियों को कामला हो जाता है।

(१४) यकृत की अर्बुदादि नव-वृद्धियां (*New Growths of the liver*)—

कर्कटार्बुद (*carcinoma, cancer*)—यह अधिकतर द्वितीयक होता है; अत्यन्त विरल मामलों में प्राथमिक भी हो सकता है। शरीर के किसी भी भाग में स्थित कर्कटार्बुद के विष का संक्रमण रक्त, लस या प्रत्यक्ष सम्पर्क द्वारा होने से यकृत में द्वितीयक कर्कटार्बुद की उत्पत्ति सम्भव है। उत्पत्ति अधिकतर यकृत के दक्षिण खण्ड में होती है।

यकृत-वृद्धि और यकृदाल्युत्कर्ष होता है। यकृत अत्यन्त कठोर और उसका धरातल अनियमित हो जाता है। पीड़ा और स्पर्शासह्यता होती है। हल्का ज्वर रहता है तथा कामला और जलोदर हो जाते हैं। यकृत की अक्षमता के कारण लगभग १ वर्ष में मृत्यु हो जाती है।

घातक मांसार्बुद (Sarcoma)—यह अत्यन्त विरल है। लक्षण कर्कटार्बुद के समान होते हैं किन्तु यकृत-वृद्धि अत्यधिक होती है और कुछ मामलों में उभार प्रकट होता है।

रक्तार्बुद (Angioma) और ग्रन्थ्यर्बुद (Adenoma) प्रायः पाये जाते हैं किंतु अधिकतर कोई लक्षण उत्पन्न नहीं करते। जब इनके द्वारा अवरोध होता है तब ज्वर, कामला, जलोदर, पीड़ा आदि लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं किन्तु ऐसा अत्यन्त विरल मामलों में देखा जाता है।

कोषार्बुद(Cyst)—यह स्त्रियों में कभी-कभी पाया जाता है। इसकी वृद्धि कभी कभी अत्यन्त तीव्र गति से होती है। अर्बुद स्पष्ट उभरा हुआ दिखाई देता है। जब तक किसी पित्तवाहिनी या रक्तवाहिनी पर दबाव न पड़े तब तक कोई लक्षण उत्पन्न नहीं होते।

कृमिकोष (Hydatid Cyst)—अध्याय ७ में देखें।

(१५) पित्ताशय के अर्बुद—

कर्कटार्बुद—प्राथमिक कर्कटार्बुद पित्ताश्मरी के प्रभाव से उत्पन्न होता है। इसके उत्पन्न होने पर पित्ताश्मरी के द्वारा समय समय पर उत्पन्न होने वाला शूल स्थाई पीड़ा में बदल जाता है। बल-मांस का क्षय अत्यधिक होता है तथा अरुचि, हृल्लास, वमन, आध्मान, हल्का ज्वर आदि लक्षण होते हैं। इस समय परीक्षा करने पर पित्ताशय कड़ा, अनियमित आकार युक्त एवं बढ़ा हुआ मिलता है। यकृत प्रभावित होने पर कामला तथा जलोदर आदि हो जाते हैं। लगभग ६ माह में मृत्यु हो जाती है।

द्वितीयक कर्कटार्बुद में पित्ताश्मरी का इतिहास मिलना आवश्यक नहीं है। लक्षण लगभग इसी प्रकार के होते हैं।

उपकलार्बुद (Epithelioma)—यह कुछ ही काल में कर्कटार्बुद में परिवर्तित हो जाता है।

घातक मांसार्बुद (Sarcoma)—यह अत्यन्त विरल है। लक्षण कर्कटार्बुद के समान किन्तु वृद्धि अत्यधिक होती है।

सौत्रार्बुद (Fibroma), वसार्बुद (Lipoma) और ग्रन्थ्यर्बुद (Abenoma) अत्यन्त विरल एवं निर्दोष हैं। जब इनका आकार अत्यधिक बढ़ जाता है तब अवरोध के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

(१६) पित्तनलिका का कर्कटार्बुद (Cancer of the Bileducts)—यह अपेक्षाकृत अधिक पाया जाता है। अर्बुद की उत्पत्ति किसी भी पित्त-नलिका में हो सकती है किन्तु अधिकतर मुख्य नलिका के किसी भी एक पर होती है। इसके फलस्वरूप पूर्ण अवरोध होता है तथा अवरोध से ऊपर की नलिका फूल जाती है और यकृत बढ़ा हुआ तथा पित्त से भरा हुआ रहता है। कुछ मामलों में यह अर्बुद पित्ताश्मरी का भ्रम करा देता है।

रोगी अधिकतर वृद्ध होता है। रोग का प्रधान लक्षण कामला है जो पीड़ा रहित किंतु हठी प्रकार का होता है। अधिकांश रोगी ६ माह से अधिक नहीं जीवित रह पाते। मृत्यु पित्तमयता, रक्त-स्राव तथा किसी नये रोग की उत्पत्ति से होती है।

: ६ :

रक्तपित्त

निदान और सम्प्राप्ति

घर्मव्यायामशोकाध्वव्यवायैरतिसेवितैः ।
तीक्ष्णोष्णक्षारलवणैरम्लैः कटुभिरेव च ॥१॥
पित्तं विदग्धं स्वगुणैर्विदहत्याशु शोणितम् ।
ततः प्रवर्तते रक्तमूर्ध्वं चाधो द्विधाऽपि वा ॥२॥
ऊर्ध्वं नासाक्षिकर्णास्यैर्मेढ्रयोनिगुदैरधः ।
कुपितं रोमकूपैश्च समस्तैस्तत्प्रवर्तते ॥३॥

ताप, व्यायाम, शोक, मार्गगमन, मैथुन और तीक्ष्ण, उष्ण, क्षार, लवण, अम्ल और कटु पदार्थों के अतिसेवन से कुपित पित्त अपने गुणों से शीघ्र ही रक्त को कुपित कर देती है इसलिये रक्त ऊपर, नीचे अथवा दोनों ही ओर प्रवृत्त होता है। वह कुपित रक्त ऊपर नाक, आंख, कान, मुंह से; नीचे लिंग, योनि, गुदा से; और समस्त रोमकूपों से निकलता है।

वक्तव्य—(८६) रोम कूपों से निकला हुआ रक्त त्वचा के नीचे ही एकत्र होकर लाल, काले धब्बों की उत्पत्ति करता है; शरीर के बाहर नहीं निकलता।

पूर्वरूप

सदनं शीतकामित्वं कण्ठधूमायनं वमिः ।
लोहगन्धिश्च निःश्वासो भवत्यस्मिन् भविष्यति ॥४॥

जब यह रोग (रक्तपित्त) होने वाला होता है तब अवसाद, शीतल पदार्थों के सेवन की आकांक्षा, कण्ठ में से धूवां सा निकलता प्रतीत होना, वमन और निश्वास में लोहे के समान गन्ध आदि लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—(६१) लोहगन्धि–लोहे में कोई गन्ध नहीं होती किन्तु जल अथवा अग्नि के प्रभाव से एक विशेष गन्ध की उत्पत्ति होती है। यहां उसी गन्ध की ओर संकेत है। कुछ आचार्य लोह का संबन्ध लोहित से 'रक्त के समान गन्ध' अर्थ लगाते हैं। चरक और वाग्भट ने 'लोहलोहितमत्स्यामगन्ध' अर्थात् 'लोहा, रक्त, मछली या आम (अजीर्ण) की गन्ध' का निकलना बतलाया है।

कफज रक्तपित्त के लक्षण

सान्द्रं सपाण्डु सस्नेहं पिच्छिलं च कफान्वितम् ।

कफयुक्त रक्तपित्त गाढ़ा, पीताभ, चिकना और लसदार होता है।

वातज रक्तपित्त के लक्षण

श्यावारुणं सफेनं च तनु रूक्षं च वातिकम् ॥५॥

वातज रक्तपित्त श्यामतायुक्त अरुण वर्ण का, फेनयुक्त पतला और रूखा होता है।

पित्तज रक्तपित्त के लक्षण

रक्तपित्तं कषायाभं कृष्णं गोमूत्रसंनिभम् ।
मेचकागारधूमाभमञ्जनाभं च पैत्तिकम् ॥६॥

पित्तज रक्तपित्त गेरुआ, काला, गोमूत्र के समान, मोर-पंख के समान, धुयें के समान या अञ्जन के समान वर्ण का होता है।

द्वन्द्वज और सान्निपातिक रक्तपित्त

संसृष्टलिंगं संसर्गात्त्रिलिंगं सान्निपातिकम् ।

दो दोषों के सम्मिलित लक्षणों से युक्त व्याधि को द्वन्द्वज, और तीनों दोषों के सम्मिलित लक्षणों से युक्त व्याधि को सान्निपातिक मानते हैं।

संसर्ग से मार्गभेद

ऊर्ध्वगं कफसंसृष्टमधोगं पवनानुगम् ।
द्विमार्गं कफवाताभ्यामुभाभ्यामनुवर्तते ॥७॥

कफ के संसर्ग से रक्तपित्त ऊपर के मार्गों से, वात के संसर्ग से नीचे के मार्गों से और कफ-वात के संसर्ग से दोनों मार्गों से निकलता है।

साध्यासाध्य विचार

ऊर्ध्वं साध्यमधो याप्यमसाध्यं युगपद्गतम् ।

ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त साध्य, अधोगामी याप्य और उभय-मार्गी असाध्य होता है।

वक्तव्य—(९१) ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त में कफ और पित्त का प्रकोप रहता है। इनका शमन कषाय और तिक्त रसों के द्वारा किया जा सकता है। पित्त की शान्ति एवं रक्त का वेग शांत करने के लिये विरेचक औषधियों का प्रयोग भी प्रशस्त है। इस प्रकार चिकित्सा में कोई कठिनाई न होने के कारण इसे साध्य कहा है।

अधोगामी रक्तपित्त में वात और पित्त का प्रकोप रहता है। इनका शमन केवल मधुर रस से हो सकता है। विरेचन से पित्तशान्ति हो सकती है किंतु अधोगामी रक्तपित्त का वेग बढ़ जाता है इसलिए प्रशस्त नहीं है। वमन मार्ग-विपरीत होने के कारण रक्तपित्त के वेग में कुछ कमी ला सकता है किन्तु पित्त का निर्हरण न कर सकने के कारण विशेष लाभदायक नहीं है। इस प्रकार चिकित्सा में कठिनाई होने के कारण इसे याप्य कहा है।

उभयमार्गी रक्तपित्त में वात, कफ और पित्त तीनों का प्रकोप रहता है। इसमें वमन या विरेचन कराकर दोष निर्हरण नहीं किया जा सकता क्योंकि ऐसा करने से रक्तस्राव अधिक होकर दशा गंभीर-तर हो जावेगी। फिर दोषों का पाचन अथवा शमन भी अत्यन्त दुष्कर रहता है क्योंकि एक दोष की शांति के लिये प्रयुक्त औषधि प्राय: दूसरे को कुपित करती है और लंघन भी उपयुक्त नहीं रहती क्योंकि पित्त को अधिक कुपित करती है। इन सब कारणों से इसे असाध्य कहा है।

> एकमार्गं बलवतो नातिवेगं नवोत्थितम् ॥८॥
> रक्तपित्तं सुखे काले साध्यं स्यान्निरुपद्रवम्।

बलवान् मनुष्य का एक ही मार्ग से निकलने वाला, अल्पवेग, नया और उपद्रव-रहित रक्तपित्त अनुकूल काल में उत्पन्न होने पर साध्य होता है।

वक्तव्य—(९२) 'एक ही मार्ग' से ऊपरी मार्गों में कोई भी एक समझना चाहिए क्योंकि नीचे के मार्गों से निकलने वाला रक्तपित्त याप्य कहा जा चुका है। शिशिर और हेमन्त ऋतुयें अनुकूल काल हैं। उपद्रव आगे कहे जावेंगे।

> एकदोषानुगं साध्यं द्विदोषं याप्यमुच्यते ॥९॥
> यत्त्रिदोषमसाध्यं स्यान्मन्दाग्नेरतिवेगवत्।
> व्याधिभिः क्षीणदेहस्य वृद्धस्यानश्नतश्च यत् ॥१०॥

एकदोषज रक्तपित्त साध्य, द्वन्द्वज याप्य और त्रिदोषज असाध्य होता है। जिसकी अग्नि मंद है, जिसका शरीर व्याधियों के कारण क्षीण हो चुका हो, जो वृद्ध हो अथवा जो भोजन करता हो ऐसे रोगी का अतिवेग युक्त रक्तपित्त भी असाध्य है।

उपद्रव

> दौर्बल्यश्वासकासज्वरवमथुमदाः पाण्डुतादाहमूर्च्छा।
> भुक्ते घोरो विदाहस्त्वधृतिरपि सदा हृद्यतुल्या च पीड़ा।
> तृष्णा कोष्ठस्य भेदः शिरसि च तपनं पूतिनिष्ठीवनत्वं।
> भक्तद्वेषाविपाकौ विकृतिरपि भवेद्रक्तपित्तोपसर्गाः ॥११॥

दुर्बलता, श्वास, खांसी, ज्वर, वमन, मद, पाण्डुता, दाह, मूर्च्छा, भोजन के बाद अत्यन्त कष्टदायक विदाह (हृदय-प्रदेश में दाह, अम्लोद्‌गार आदि), घबराहट, हृदय-प्रदेश में अनेक प्रकार की पीड़ा, प्यास, अतिसार, सिरदर्द या सिर गरम रहना, दुर्गन्धित थूक निकलना और विकृत रक्त निकलना ये रक्तपित्त के उपद्रव हैं।

असाध्य रक्तपित्त के लक्षण

> मांसप्रक्षालनाभं कुथितमिव च यत्कर्दमाम्भोनिभं वा
> मेदःपूयास्रकल्पं यकृदिव यदि वा पक्वजम्बूफलाभम्।
> यत्कृष्णं यच्च नीलं भृशमतिकुणपं यत्र चोक्ता विकारा-
> स्तद्वर्ज्यं रक्तपित्तं सुरपतिधनुषा यच्च तुल्यं विभाति ॥१२॥

मांस के धोवन के समान, सड़े हुए के समान, गंदले जल के समान, चर्बी या पूय मिश्रित रक्त के समान, यकृत या पके जामुन के समान काला या नीला, मुर्दे जैसी दुर्गन्ध वाला एवं इन्द्र धनुष के समान विविध रंगों वाला रक्तपित्त जहां हो और कहे हुए अन्य विकार भी हों वह रोगी त्याज्य (असाध्य) है।

वक्तव्य—(९३) चरक ने एक और महत्वपूर्ण बात कही है—

'रक्तपित्तमसाध्यं तद्वाससो रञ्जनं च यत्'

अर्थात् 'जिस रक्तपित्त का दाग कपड़े पर लगता हो (और धोने पर न छूटता हो) वह असाध्य है।'

येन चोपहतो रक्तं रक्तपित्तेन मानवः।
पश्येद् दृश्यं वियच्चापि तच्चासाध्यमसंशयम् ॥१३॥

जिस रक्तपित्त से पीड़ित मनुष्य सभी पदार्थों और आकाश को भी लाल ही देखता है वह भी असाध्य है-इसमें संशय नहीं।

वक्तव्य—(६४) नेत्रों की श्लैष्मिक कला के नीचे रक्तस्राव होकार रक्त वहीं रुका रहे तो सभी दृष्य लाल दिखाई देता है।

लोहितं छर्दयेद्यस्तु बहुशो लोहितेक्षणः:
लोहितोद्‌गारदर्शी च म्रियते रक्तपैत्तिकः ॥१४॥

जिसे बार-बार रक्त-वमन होता हो, जिसके नेत्र लाल हों, जिसे रक्त की डकार आती हो तथा जिसे सभी पदार्थ लाल दिखाई देते हों वह रक्तपित्त का रोगी मर जाता है।

वक्तव्य—(६५) आमाशय में रक्तस्राव होने पर रक्तवमन होता है। किन्तु जब तक स्रवित रक्त वमन से नहीं निकल जाता तब तक जो डकारें आती हैं उनके साथ वह रक्त ऊपर को चढ़ता है जिससे डकार में रक्त के स्वाद गंध आदि का अनुभव होता है तथा कभी-कभी रक्त का कुल्ला मुंह में भी आ जाता है।

पाश्चात्य मत—

रक्तस्राव कराने वाले रोगों एवं कारणों को दो भागों में विभाजित किया जासकता है-(क) सार्वदैहिक (General) अथवा रक्तगत, और (ख) स्थानिक (Local)। वस्तुतः सार्वदैहिक अथवा रक्तगत रोग ही रक्तपित्त का प्रतिनिधित्व करते हैं और इस अध्याय में स्थान पाने के अधिकारी केवल ये ही हैं तथापि सादृष्य के कारण स्थानिक रोगों को भी स्थान दिया जावेगा।

(क) सार्वदैहिक अथवा रक्तगत रक्तस्रावी रोग—इन रोगों में शरीर के किसी भी भाग से रक्तस्राव हो सकता है क्योंकि कारण स्थानिक न होकर सार्वदैहिक होता है। नीचे वर्णित रोग इस श्रेणी में आते हैं।

(१) नीलोहा (Purpura)—इस रोग में त्वचा और श्लैष्मिक कलाओं के नीचे रक्तस्राव होकर लाल काले धब्बों की उत्पत्ति होती है (त्वचागत रक्तपित्त)। छोटे धब्बों को कोठ (Petechiae) और बड़ों को मण्डल या नीलमण्डल (Ecchymosis) तथा रेखाकार धब्बों को नीलरेखा (Vibrics) कहते हैं। ये धब्बे दबाने से अदृष्य नहीं होते। रोग की उपस्थिति में यदि किसी शाखा को बांधकर या दबा कर रक्त प्रवाह को २ मिनट तक रोककर रखा जावे तो धब्बों की उत्पत्ति हो जाती है। गम्भीर प्रकार में धब्बों की उत्पत्ति के अतिरिक्त श्लैष्मिक कलाओं के विदीर्ण होजाने से मुख, नाक, कान, नेत्र, गुदा, लिंग, योनि आदि छिद्रों से रक्तस्राव होता है और आभ्यन्तर स्रोतों या गुहाओं, मस्तिष्क, आमाशय, आन्त्र आदि में भी रक्तस्राव हो सकता है—यह दशा अधिकतर घातक होती है (रक्तष्ठीवी सन्निपात)। अनेक मामलों में सन्धियों के आस पास रक्तस्राव होता है जिससे संधिस्थान में शोथ☆ एवं पीड़ा होती है।

इस रोग के मुख्य ४ प्रकार होते हैं—

(अ) आनुषंगिक नीलोहा (Secondary or Symtomatic Purpura)–इसकी उत्पत्ति निम्नलिखित दशाओं में होती है—

(i) तीव्र उपसर्ग—संक्रामक अन्तर्हृत्प्रदाह, दोषमयता, मसूरिका, रोमान्तिका, मस्तिष्क-सुषुम्ना ज्वर, संक्रामक कामला, गंभीर तृतीयक विषमज्वर, प्रलापक ज्वर, लोहित ज्वर आदि।

(ii) जीर्ण अवस्थाएं (Cachexia)—वैनाशिक रक्तक्षय, श्वेतमयता, प्लैहिक रक्तक्षय, हौज-

☆ क्या यही वातरक्त तो नहीं है ?

किन का रोग, कर्कटार्बुद, राजयक्ष्मा, कालज्वर, चिरकारी वृक्क-प्रदाह आदि की।

(iii) विष-प्रभाव—मल्ल, स्वर्णलवण, पारद, सर्पविष, जम्बुकी (Iodine आयोडीन), शुल्वा औषधियां (सल्फा श्रेणी की औषधियां, Sulphonamides), तारपीन का तेल, कोलतार (डामल) से बनी औषधियां आदि के दुष्प्रभाव।

(iv) घनास्रकणक्षय (Thrombocytopenia) यकृद्दाल्युत्कर्ष, कामला, अणुबम आदि के प्रभाव से।

(v) वातनाड़ी विकार—फिरंगी खञ्जता, वातनाड़ी प्रदाह, अनुप्रस्थ सुषुम्ना प्रदाह आदि।

(vi) आवयविक कारण (Mechanical causes)—कुकास (काली या कुकर खांसी, whooping cough), अपस्मार, अत्यधिक वमन आदि।

(vii) जीवतिक्ति सी (c) और पी (p) के अभाव की दशाएं।

इस रोग में रक्तचक्रिकाओं (घनास्रकणों) का क्षय पाया जाता है; इनकी संख्या प्रति घन मिलीमीटर रक्त में ४०,००० से कम होने पर नीलोहा की उत्पत्ति होती है। केशवाहिनियों की दीवारें कमजोर हो जाती हैं तथा थोड़े से दबाव से फट जाती हैं। रक्त के जमने का गुण एवं काल अपरिवर्तित रहता है।

लक्षणों की गम्भीरता कारण की गम्भीरता पर निर्भर रहती है। सामान्य प्रकार में केवल धब्बों की उत्पत्ति होती है किन्तु गम्भीर प्रकार में प्रायः सभी छिद्रों से रक्तस्राव होता है। धब्बों के आस-पास रक्ताधिक्यजन्य लाली नहीं पायी जाती। सामान्य प्रकार ही अधिक पाया जाता है और ५-१० दिनों में स्वयमेव अदृश्य हो जाता है। गम्भीर प्रकार एक भयंकर उपद्रव है जो अक्सर मारक होता है किन्तु अत्यन्त विरल है।

(ब) रक्तस्रावी नीलोहा, स्वतंत्र या मूलभूत नीलोहा, स्वतन्त्र घनास्रकणक्षय, वर्लहौफ का रोग (Purpura Haemorrhagica, Primary or Idiopathic purpura, Essential Thrombocytopenia, Werlhof's disease)- यह रोग चिरकारी तथा पुनरावर्तक प्रकार का है किन्तु तीव्र प्रकार भी यदा कदा पाया जाता है। वैसे किसी भी आयु में हो सकता है किन्तु अधिकतर प्रथम आक्रमण बाल्यावस्था या किशोरावस्था में होता है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियां अधिकतर आक्रान्त हुआ करती हैं। इसकी उत्पत्ति के कारण रक्त में चक्रिकाओं (Blood platelets) की कमी और केशिवाहिनियों की भंगुरता हैं।

त्वचा में लाल-काले कोठों और मण्डलों की उत्पत्ति होती है। इनमें उभार नहीं पाया जाता और आस पास की त्वचा में लालिमा नहीं पाई जाती। साधारण से आघात से रक्तार्बुद की उत्पत्ति और साधारण से व्रण से अत्यधिक रक्तस्राव होता है। सभी छिद्रों से एवं भीतरी आशयों में रक्तस्राव हो सकता है—गम्भीर प्रकार।

रोग अधिकतर लम्बे समय तक चलता है। कुछ मामलों में एक ही आक्रमण होता है किन्तु अधिकांश मामलों में बार बार आक्रमण होते हैं। तीव्र आक्रमण किसी तीव्र उपसर्ग के फलस्वरूप हो सकता है। चिरकारी और सामान्य प्रकार घातक नहीं होते किन्तु तीव्र और गम्भीर प्रकार घातक हो सकते हैं। चिरकारी और पुनरावर्तक प्रकार ज्यों ज्यों अवस्था बढ़ती है त्यों त्यों सौम्य होकर अदृश्य हो जाते हैं।

इसके फलस्वरूप आनुषंगिक रक्तक्षय (Secondary Anaemia) होता है। श्वेत कणों की वृद्धि होती है अथवा थोड़ा क्षय होता है किन्तु लसकणों की वृद्धि ही पाई जाती है। रक्त चक्रिकाओं का क्षय होता है किन्तु आक्रमणों के बीच के काल में उचित संख्या में उपस्थित हो सकती हैं। प्लीहा बढ़ी हुई रहती है। थोड़ा-बहुत ज्वर प्रायः अवश्य ही पाया जाता है किन्तु तीव्र एवं गम्भीर प्रकारों में कभी-कभी तीव्र ज्वर पाया जाता है।

(स) गंभीर नीलोहा (Purpura Fulminans) यह रोग बालकों में कभी-कभी पाया जाता है। इसका आरम्भ तीव्र ज्वर के साथ होता है। त्वचा में बड़े बड़े मण्डल उत्पन्न होते हैं किन्तु श्लैष्मिक कलाएं प्रभावित नहीं होतीं तथा छिद्रों से रक्तस्राव एवं भीतरी आशयों में रक्तस्राव नहीं होता। रक्त चक्रिकाएं उचित संख्या में उपस्थित रहती हैं।

एक सप्ताह के भीतर मृत्यु हो जाती है।

(द) अनवधानाभ नीलोहा (Anaphylactoid Purpura)—इस रोग की उत्पत्ति तृणाणुओं अथवा दूषित समवर्त (Defective Metabolism) के विषों से होती है। इसके धब्बे त्वचा से ऊपर उभरे हुए तथा चारों ओर रक्ताधिक्यजन्य लालिमा से घिरे हुए होते हैं। धब्बों के साथ ही साथ कभी कभी शीतपित्त और वाहिनी नाड़ीजन्य शोथ (Angio-neurotic Oedema) भी पाये जाते हैं। रक्त-चक्रिकाएं स्वाभाविक रहती हैं और रक्तस्राव तथा रक्त-स्कंदन का समय भी अपरिवर्तित रहता है किन्तु केशिकाएं भंगुर रहती हैं।

इसके ३ प्रकार हैं—

(i) सौम्य नीलोहा (Purpura Simplex)—इसमें थोड़े से रक्तस्रावी धब्बे शाखाओं के बाह्य भाग में रोमकूपों के चारों ओर उत्पन्न होते हैं।

(ii) आमवातिक नीलोहा, शोनलेन की नीलोहा (Purpura Rheumatica, Schonlein's Purpura)—रोग का प्रारम्भ बेचैनी, सर्वांग में पीड़ा, अरुचि आदि लक्षणों सहित हल्के ज्वर से होता है। सारे शरीर में रक्तस्रावी धब्बे उत्पन्न होते हैं। संधियों में (विशेषतः घुटने और गुल्फ) में भी रक्त-स्राव होता है जिससे संधियों में शोथ और पीड़ा होती है। पेशियों, अस्थ्यावरण और भीतरी आशयों में भी रक्तस्राव हो सकता है। शीतपित्त भी पाया जाता है।

(iii) आन्त्रीय नीलोहा, हैनोक की नीलोहा (Henoch's purpura)—इसका प्रारम्भ उदर-विकार होकर होता है। त्वचा और श्लैष्मिक कलाओं में रक्तस्रावी धब्बे उत्पन्न होने के साथ ही आंतों में भी रक्तस्राव होता है जिससे शूलवत् पीड़ा, वमन, अतिसार (रक्त मिश्रित), आध्मान आदि लक्षण होता है। उदर जड़ एवं कठोर रहता है। प्लीहा अधिकतर बढ़ जाती है। मूत्र में श्विति, निर्मोक और लाल रक्तकण पाये जाते हैं। कुछ मामलों में मूत्र-मार्ग से काफी रक्तस्राव हो सकता है।

प्रथम दो प्रकार मारक नहीं हैं किन्तु तृतीय प्रकार में यदि लक्षण गंभीर हों तो मृत्यु हो जाती है।

(२) शोणित प्रियता Heamophilia, Bleeding Disease)—यह रोग यूरोप और अमेरिका में कहीं कहीं पाया जाता है; भारत में भी २-४ उदाहरण पाये गये हैं। यह एक कुलज रोग है। इसका सम्बन्ध मातृवंश से रहता है और केवल लड़के ही आक्रान्त होते हैं। प्रभावित कुल की लड़कियां इस रोग से मुक्त रहती हैं किन्तु उनसे उत्पन्न लड़के आक्रान्त हो जाते हैं और यद्यपि लड़के स्वयं इस रोग से पीड़ित होते हैं तथापि उनकी सन्तान को यह रोग नहीं होता।

इस रोग में रक्त-स्कन्दन काल बढ़ जाता है अर्थात् रक्त अपेक्षाकृत देर से जमता है। इसके फल-स्वरूप साधारण सी खरोंच या व्रण से अत्यधिक रक्त बहता है और साधारण उपायों से नहीं रुकता। त्वचागत रक्तस्राव प्रायः नहीं पाया जाता। अत्य-धिक रक्त बहने से रक्तक्षय के लक्षण तो होते ही हैं, कभी कभी मृत्यु तक हो जाती है। सन्धि-स्थान में मामूली सा आघात लगने से ही आभ्यन्तर रक्तस्राव होकर सन्धि में पीड़ा सह शोथ एवं ज्वर उत्पन्न हो जाता है। कुछ काल में यह रक्त चूषित हो जाता है और उस स्थान में तन्तूत्कर्ष होकर आराम मिल जाता है। किन्तु कुछ ही समय के पश्चात् पुनः रक्त-स्राव होकर वही दशा हो जाती है। बारंबार ऐसा होते रहने से सन्धि निष्क्रिय हो जाती है।

रोग के लक्षण बाल्यावस्था में ही प्रकट हो जाते हैं। यदि रोगी युवावस्था आने तक जीवित रहा

आवे तो भविष्य में कुछ सुधार होसकता है। वैसे अधिकांश रोगी बाल्यावस्था में ही अत्यधिक रक्तस्राव अथवा किसी अन्य रोग से मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं।

कुलज रक्तस्रावी प्रकृति(Hereditary Haemorrhagic Diathesis)—इस रोग के लक्षण रक्तस्रावी नीलोहा के समान होते हैं किन्तु (*i*) यह व्याधि कुलज है, (ii) इसमें प्लीह-छेदन ((Splenectomy) से लाभ[1] नहीं होता और (*iii*) इसमें रक्त में चक्रिकाओं की कमी प्राय: नहीं पायी जाती और यदि पायी जाती है तो वह रोग की गंभीरता के अनुरूप नहीं पायी जाती। यह रोग पीड़ित व्यक्तियों की सन्तान को ही होता है। लड़कों की अपेक्षा लड़कियां अधिक प्रभावित होती हैं। भाग्यवश रोगी माता-पिता से जन्म लेने पर भी जो व्यक्ति इस रोग से बच जाते हैं उनकी सन्तान भी इससे मुक्त रहती है।

इसमें रक्तस्रावी नीलोहा के समान रक्तस्रावी धब्बों की उत्पत्ति, छिद्रों से रक्तस्राव आदि लक्षण होते हैं। यह व्याधि अत्यन्त विरल है।

(४) प्रशीताद (Scurvy)—इस रोग की उत्पत्ति जीवतीक्ति सी[2](Vit. c., Ascorbic Acid) के अभाव से होती है। लक्षणों की उत्पत्ति अभाव उत्पन्न होने के ४-८ मास बाद होती है। जीवतिक्ति सी के अभाव से शरीर के भीतर निम्न विकार उत्पन्न होते हैं—

(i) केश-वाहिनियों की दीवारें कमजोर हो जाती हैं जिससे त्वचा, अस्थ्यावरण सन्धि, फुफ्फुसावरण, हृदयावरण आदि में रक्तस्राव होता है।

(ii)) रक्त निर्माण का कार्य भलीभांति नहीं होता जिससे अनेक प्रकार के रक्तक्षय उत्पन्न होते हैं।

(iii)अस्थि पदार्थ का चय बन्द हो जाता है और अपचय चालू रहता है जिससे अस्थियां क्षीण होकर भुरभुरी होजाती हैं एवं शीघ्र घिसती हैं।

(vi) व्रण-पूरक-पदार्थ(Collagen)का निर्माण समयानुसार न होने के कारण व्रण देर से भरते हैं।

प्रशीताद रोग बालकों और वयस्कों में भिन्न भिन्न लक्षण उत्पन्न करता है अतएव दोनों का वर्णन पृथक् पृथक् किया जाता है—

शैशवीय प्रशीताद, बालों का रोग (Infantile Scurvy, Barlow's Disease)—यह रोग ८-१२ माह के उन बच्चों को होता है जिन्हें ऊपर का दूध पिलाया जाता है अथवा जिनकी दुग्धदात्री माता के भोजन में जीवतिक्त-सी का अभाव हो। रोग का आक्रमण गुप्त रूप से होता है। बच्चा क्रमशः क्षीण, सुस्त, बेचैन एवं चिड़चिड़ा होता जाता है। खाने के पदार्थ एवं गोद में लिया जाना पसन्द नहीं करता। पैरों की क्रियाएं लगभग बन्द हो जाती हैं और उनमें पीड़ा रहती है। कुछ ही काल पश्चात् घुटने की संधि में रक्तस्राव होने के कारण पीड़ायुक्त शोथ उत्पन्न होता है। इस समय थोड़ा ज्वर आ सकता है। अस्थियां कमजोर एवं भंगुर हो जाती हैं तथा उनकी बाढ़ मारी जाती है। कुछ मामलों में अक्षिगुहा में तथा अक्षकास्थि (हंसुली) और (पसलियां) के आस पास रक्तस्राव हो सकता है किन्तु कोठ और मण्डल नहीं उत्पन्न होते। बहुत से मामलों में मूत्र में रक्त जाता है। मसूड़ों से रक्त निकलने की प्रवृत्ति नहीं रहती किन्तु दांत निकलते समय रक्तस्राव हो सकता है। कुछ मामलों में जीवतिक्ति डी का भी अभाव उपस्थित रहता है जिससे अस्थिक्षय के लक्षण भी

---

[1]रक्तस्रावी नीलोहा में प्लीह-छेदन से लाभ होता है।

[2]जीवतिक्ति सी नीबू, नारङ्गी,आंवला, अंगूर, प्याज, आलू और पशुओं के यकृत के मांस में पाया जाता है। देर तक खुली हवा में पकाने से यह नष्ट हो जाता है। शरीर में इसकी दैनिक आवश्यकता लगभग ५० मिलीग्राम है।

मिलते हैं—प्रशीतादि-अस्थिक्षय (Scurvy-rickets)।

रक्त परीक्षा करने पर उपवर्णिक रक्तक्षय मिलता है; लसिका में फास्फेट की मात्रा कम रहती है। रक्त-चक्रिकायें, रक्तस्राव-काल और रक्तस्कंदन-काल स्वाभाविक रहते हैं। मूत्र में थोड़ी श्विति मिलती है, रक्तमेह होने पर रक्त भी मिलता है।

वयस्कीय प्रशीताद (Adult Scurvy)—प्रारंभिक लक्षण परमोत्कर्णिकता (Hyperkeratosis) है जो जांघ, पिण्डली और उदर की त्वचा में लक्षित होती है। इस विकार में त्वचा मोटी, भद्दी एवं रूखी पड़ जाती है तथा लोमों के मूल उभर कर छोटी छोटी ग्रन्थियां बन जाती हैं। मुख्य लक्षण दंतवेष्ठों (मसूड़ों) का फूलना, व्रणित होना और उनसे रक्त बहना है। थोड़ा दबाने मात्र से रक्त निकल आता है। मुख और नाक की श्लैष्मिक कलायें फटकर रक्तस्राव होता है। अत्यन्त विरल मामलों में रक्त-ष्ठीवन (फुफ्फुस, श्वास-नलिका या फुफ्फुसनलिका में रक्तस्राव), रक्तवमन अथवा रक्तमेह भी हो सकते हैं। आघात लगने से अथवा अकारण ही त्वचा, पेशियों, संधियों आदि में भी रक्तस्राव हो सकता है। रोग पुराना होने पर उपवर्णिक रक्तक्षय पाया जाता है। उपद्रवस्वरूप श्वासनलिकाप्रदाह, फुफ्फुस-नलिकाप्रदाह, फुफ्फुसकर्दम, फुफ्फुसावरण और हृदयावरण में रक्त अथवा रक्तमिश्रित द्रव का संचय, अन्धता (यदि जीवतिक्ति ए का भी अभाव हो) आदि हो सकते हैं।

(५) पूर्वघनास्रि-अभाव (Hypoprothrombinaemia)—जीवतिक्ति 'के' की उपस्थिति में यकृत में पूर्वघनास्रि (prothrombin) उत्पन्न होती है जो आगे चलकर घनास्रि (Thrombin) और फिर तान्त्विन (fibrin) में परिणत होकर रक्त में जमने का गुण उत्पन्न करती है। इसलिए जब जीवतिक्ति 'के' का अभाव होता है तब पूर्वघनास्रि नहीं बनती जिससे रक्त का जमने का गुण नष्ट हो जाता है और रक्त इतना तरल हो जाता है कि सामान्य चोट या खरोंच लगने से ही अत्यधिक रक्त-स्राव होने लगता है अथवा नीलोहा के समान अकारण ही रक्तस्राव होता है। यदि गर्भिणी के शरीर में यह दशा उपस्थित हो तो प्रसव के समय पर अत्यधिक रक्तस्राव होता है और नवजात शिशु रक्त-स्रावी रोग से पीड़ित होता है।

जीवतिक्ति 'के' गाजर, टमाटर, पालक, सोयाबीन आदि में पाया जाता है। इनका प्रयोग न होने से अथवा कामला, यकृद्दाल्युत्कर्ष, संग्रहणी, रसक्षय (Coeliac Disease) आदि रोगों में (यकृत का कार्य अव्यवस्थित होने के कारण) सेवित जीवतिक्ति 'के' का सात्मीकरण न होने से इस दशा की उपलब्धि होती है। इस रोग में रक्त काफी देर तक रखा रहने पर भी नहीं जमता—निदानात्मक चिह्न।

नवजात शिशुओं का रक्तस्रावी रोग (Haemorrhagic Disease of the Newborn)—यह रोग जीवतिक्ति 'के' की कमी से उत्पन्न होता है। जिन माताओं के शरीर में उक्त जीवतिक्ति का अभाव होता है उन्हीं के शिशु इससे आक्रांत होते हैं। जीवन के प्रथम १० दिनों के भीतर ही रोग के लक्षण प्रकट हो जाते हैं। लड़के और लड़कियां समान रूप से प्रभावित होते हैं। रोग का आक्रमण एकाएक होता है। आमाशय और आन्त्र से रक्तस्राव होता है जो परिवर्तित होकर कृष्ण मल के रूप में निकलता है—शैशवीय कृष्ण मल (Melaona Neonatorum)। नाभि और मूत्रमार्ग से भी रक्तस्राव होता है तथा त्वचा के नीचे रक्तस्राव होने से मण्डल उत्पन्न होते हैं। यह रोग मारक होता है।

(६) उच्च रक्त-निपीड (Hypertension, High Blood pressure)—इसके कारण भी लगभग सभी मार्गों से रक्तस्राव हो सकता है। इसका वर्णन अध्याय २६ में देखें।

(७) रक्तस्रावी कुलज केशवाहिनी-विस्फार (Hereditary Haemorrhagic Telangiectasia)—

यह एक कुलपरम्परा से प्राप्त रोग है। रोगी के चेहरे पर कहीं कहीं उभरी हुई केश वाहिनियां जाल के समान दिखाई देती हैं। नाक से रक्तस्राव अक्सर हुआ करता है। कभी कभी रक्तष्ठीवन, रक्तवमन, रक्तमेह आदि हो सकते हैं। मस्तिष्क-गत रक्तस्राव भी सम्भव है।

(८) बहुलालकायाणुमयता, लालकायाणूत्कर्ष (polycytbaemia)—इस रोग में रक्त में लाल कणों की संख्या अधिक हो जाती है। स्वतंत्र और आनुषंगिक भेद से इसके २ प्रकार हैं—

(अ) आनुषंगिक बहुलालकायाणुमयता (secondary polycythaemia, Erythrocytosis)—यह निम्नलिखित दशाओं में होता है—

(i) जलाल्पता (Dehydration)।

(ii) प्राणवायु (जारक, oxygen) का अभाव—सहज अथवा फौफ्फुसीय कपाटों के रोग (Pulmonary Valvular Disease), वातोत्फुल्लता (Emphysema), तमक श्वास (Asthma), फुफ्फुस में अर्बुद या तन्तूत्कर्ष अथवा फौफ्फुसीय धमनी की दीवार में व्रण आदि विकारों के कारण।

(iii) चिरकारी विषाक्तता—मल्ल, एनीलीन जाति के रंग (Aniline Dyes), स्फुर (फास्फरस, Phosphorus), कार्बन मोनोक्साइड गैस (Carbon Monoxide) आदि के कारण।

(iv) प्रतिहारिणी शिरा का अप्रवाह—यकृद्दाल्युत्कर्ष अथवा प्लीहावृद्धि के कारण।

(v) गंभीर प्रकार के रक्तक्षय से आरोग्यलाभ होते समय एकाएक अधिक संख्या में लाल कणों की उत्पत्ति।

(ब) स्वतंत्र बहुलालकायाणुमयता, ओस्लर का रोग अथवा वेक्वेज का रोग (polycythaemia Rubra, Erythraemia, Osler's or Vapuez's Disease)—यह रोग प्रौढ़ पुरुषों में पाया जाता है। कारण अज्ञात है। संभवतः अस्थिमज्जा में रक्तपरिभ्रमण योग्य रीति से न होने कारण लाल मज्जा की वृद्धि और पीत मज्जा का क्षय होता है। लाल मज्जा का कार्य रक्त के लाल कण बनाना है अतएव उसकी वृद्धि होने से अधिक लालकणों की उत्पत्ति होती है। रक्त में लाल कणों की संख्या ८० लाख से लेकर १ करोड़ ४० लाख प्रति घन मिलीमीटर तक हो सकती है किन्तु उनका आकार अपेक्षाकृत छोटा होता है। रक्त गाढ़ा हो जाता है और उसकी मात्रा भी बढ़ जाती है। श्वेतकायाणु प्रायः सामान्य ही रहते हैं अथवा उनकी भी कुछ वृद्धि होती है। प्लीहा की वृद्धि होती है तथा उसमें रक्ताधिक्य और अन्तःस्फान पाये जाते हैं। यकृत सामान्य रहता है अथवा किंचित् बढ़ जाता है।

रोग गुप्तरूप से बढ़ता है। प्रारम्भ में सिरदर्द, भ्रम आदि लक्षण होते हैं, फिर क्रमशः मानसिक विकृति के लक्षण उत्पन्न होते हैं रक्तनिपीड़ (Blood Pressure) बढ़ जाता है और अनेक स्थानों से विशेषतः आमाशय से रक्तस्राव होता है। वृक्कों में रक्तस्राव या अन्तःस्फान होसकता है। रोगी का वर्ण गर्म जलवायु में पकाई हुई ईंट के समान लाल और शीतल जलवायु में नीलाभ (श्याव) होजाता है। नाखूनों के नीचे, श्लैष्मिककलाओं में और नेत्रों में रक्ताधिक्य दिखाई देता है। मूत्र में थोड़ी श्विति (शुल्कि Albumin) और निर्मोक पाये जा सकते हैं।

रोग समय-समय पर बढ़ता घटता रहता है। घनास्रता, कर्दम आदि उपद्रव होसकते हैं। अधिकांश रोगी ८ वर्षों के भीतर मर जाते हैं।

(ख) स्थानिक रक्तस्रावी रोग—इन रोगों में विकृति एक निश्चित स्थान पर होती है इसलिये रक्तस्राव एक ही मार्ग से होता है। इनका नामकरण स्थानों के नामों के अनुरूप किया गया है—

(१) नासागत रक्तस्राव (Epistaxis, Rhinorrhagia)—सार्वदैहिक रक्तस्रावी रोगों के अतिरिक्त सहज फिरङ्ग, नासागत रोहिणी, उपदंश, यक्ष्मा

कुष्ठ, सौम्य या घातक अर्बुद शल्य, प्रदाह, प्रतिश्याय आदि दशाओं में तथा अधिक ऊँचाई पर जाना, वक्षगत अर्बुद, वातोत्फुल्लता (फुफ्फुस-प्रसार (Emphysema) आदि कारणों से नासागत रक्तस्राव होता है। कतिपय स्त्रियों को मासिक धर्म के काल में गर्भाशय के बदले नाक से रक्तस्राव होता है-अप्राकृतिक आर्तव (Vicarious Menstruation)।

अधिकांश मामलों में रक्तस्राव का स्थान तुम्बिकाधार (Vestibule) के समीप भित्ति के सामने और नीचे वाले भाग में रहता है। कभी-कभी स्रवित रक्त भीतर की ओर बहता है और फिर खांसी उत्पन्न करके थूक के साथ निकलकर रक्तष्ठीवन का भ्रम कराता है।

(२) रक्तष्ठीवन (Haemoptysis)—इस रोग में श्वास मार्ग के भीतर स्वरयंत्र से नीचे के किसी भी स्थान से रक्त निकलता है जो खांसी उत्पन्न करता हुआ कफ के साथ बाहर आता है। निकला हुआ रक्त चमकदार लाल रङ्ग का, फेनदार, क्षारीय एवं कफ मिश्रित होता है। मात्रा अत्यन्त कम या अत्यधिक होसकती है। एक बार रक्तष्ठीवन होने के बाद कई दिनों तक कफ के साथ मिलकर थोड़ा-थोड़ा रक्त आता ही रहता है। कारण निम्न लिखित में से कोई भी हो सकता है—

राजयक्ष्मा, श्वासनलिका प्रदाह, काली खांसी, वातश्लेष्म ज्वर, फुफ्फुसखण्ड प्रदाह, फौफ्फुसीय अग्नि रोहिणी (Pneumonic plague), फुफ्फुस विद्रधि या कर्दस, फौफ्फुसीय अन्तःस्फान, अर्बुद (सौम्य या घातक), फिरङ्ग, धमनी प्रदाह, व्रण, अभिस्तीर्ण धमनी का फट जाना अथवा राजयक्ष्मा के कारण धमनी की दीवार में व्रण होजाना (अत्यधिक रक्तस्राव), कई प्रकार के हृद्रोग, सार्वदैहिक रक्तस्रावी रोग आदि।

(३) रक्तवमन (Haematemesis)—अन्ननलिका आमाशय एवं क्षुद्रान्त्र के ऊपरी भाग में रक्तस्राव होने पर वमन होकर रक्त निकलता है। इस रक्त का वर्ण गहरा बादामी या काफी-चूर्ण के समान होता है, प्रतिक्रिया अधिकतर अम्ल रहती है और अन्नकण मिले हुए रहते हैं। हृल्लास, वमन होने के बाद कई दिनों तक कृष्ण मल उतरता है। रक्तवमन निम्नलिखित में से किसी भी कारण से हो सकता है—

दाहक या क्षोभक विष, तीव्र आमाशय प्रदाह, आमाशय व्रण, ग्रहणी व्रण, कर्कटार्बुद, यकृदाल्युत्कर्ष, पित्ताश्मरी द्वारा ग्रहणी में व्रणोत्पत्ति, हृदय रोग, सार्वदैहिक रक्तस्रावी रोग आदि। कभी-कभी रोगी नाक, मुख, दांत, श्वासमार्ग आदि से निकला हुआ रक्त निगल जाता है। ऐसी दशा में वमन होने पर यह रक्त निकलता है और रोगी एवं चिकित्सक दोनों को भ्रम में डाल देता है।

(४) रक्तातिसार अथवा गुदा से रक्तस्राव-पचनसंस्थान के ऊपरी भागों से निकला हुआ रक्त काला होकर निकलता है—कृष्णमल (Malaena) इसके कारण लगभग वही रहते हैं जो रक्तवमन उत्पन्न करते हैं।

जब रक्त पचन-संस्थान के निचले भागों से आता है तब उसका वर्ण स्वाभाविक ही रहता है। अर्श, सौम्य या घातक अर्बुद, गुद-विदार, गुद व्रण, मलाशय-व्रण, आन्त्रिक ज्वर जन्य व्रण, ग्रहणी व्रण, प्रवाहिका, अभिस्तीर्ण धमनियों का फटना, उच्च रक्त-निपीड़, सार्वदैहिक रक्तस्रावी रोग आदि कारणों से इसकी उत्पत्ति होती है।

कभी कभी मल में इतनी थोड़ी मात्रा में रक्त जाता है कि साधारण आंखों से दिखाई नहीं पड़ता-अदृष्य रक्त (Occult Blood)। इसका निदान मलपरीक्षा से होता है।

(५) रक्तमेह (Heamaturia)—मूत्रमार्ग से निकलने वाला रक्त वृक्कों, मूत्राशय या मूत्र-नलिका (Urethra) से आता है। यदि रक्त मूत्र में भलीभांति मिलकर आता हो तो वृक्कों में, यदि मूत्र के अन्तिम भाग के साथ आता हो तो मूत्राशय में और

दे मूत्र के प्रारम्भ में आता हो तो मूत्र-नलिका रक्तस्राव होता है, ऐसा अनुमान किया जाता है।

वृक्कों में रक्तस्राव–अश्मरी (अधिकतर तिग्मीय अश्मरी xalate Calculus) वृक्क प्रदाह, यक्ष्मा ण्डाणु या आन्त्रदण्डाणु उपसर्ग, बहुकोष्ठीय रोग Polycystic Disease), श्लीपद, अन्तःस्फान, म्य अथवा घातक अबुर्द, शिस्टोसोमा कृमि, दय रोगों अथवा क्षोभक या विषाक्त औषधियों के प्रयोग से होता है।

मूत्राशय में रक्तस्राव—अबुर्द, अश्मरी, यक्ष्मा-ण्डाणु उपसर्ग, शिस्टोसोमा कृमि, प्रदाह, आघात, थवा बढ़ी हुई अष्ठीला ग्रंथि के कारण शिरागत क्तप्रवाह में बाधा पहुँचने से होता है।

मूत्र-नलिका में रक्तस्राव—तीव्र मूत्राशय प्रदाह, बुर्द, अश्मरी अथवा अभिस्तीर्ण धमनी के फटने होता है।

कुछ मामलों में मूत्र-संस्थान के समीपस्थ अंगों के विद्रधि, कर्कटाबुर्द अथवा यक्ष्मीय व्रणों के मूत्र मार्ग में फटने या फैलने से भी मूत्र मार्ग से रक्तस्राव हो सकता है।

(६) योनिगत रक्तस्राव, असृग्दर—मासिक धर्म के समय के अतिरिक्त अन्य समयों पर योनि से बहने वाले रक्त को असृग्दर या रक्त-प्रदर कहते हैं। इसका वर्णन अध्याय ६१ में देखिये।

(७) नेत्रगत रक्तस्राव—यह अत्यन्त विरल है। आघात लगने से अथवा रक्तस्रावी रोगों की गंभीर दशाओं में पाया जाता है।

(८) कर्णगत रक्तस्राव—यह भी विरल है। आघात, कृमि प्रवेश, तीव्र प्रदाह, पाक, व्रण पिडिका, विद्रधि अबुर्द आदि के कारण अथवा रक्तस्रावी रोगों की गंभीर दशाओं में पाया जाता है। कर्ण से पूयस्राव होना अधिक सामान्य है।

: १० :

राजयक्ष्मा और शोष

राजयक्ष्मा के निदान

वेगरोधात् क्षयाच्चैव साहसाद्विषमाशनात्।
त्रिदोषो जायते यक्ष्मा गदो हेतुचतुष्टयात् ॥१॥

वेग-धारण, क्षय, साहस और विषम-भोजन--इन चार कारणों से त्रिदोषज यक्ष्मा रोग उत्पन्न होता है।

वक्तव्य—(६६) 'शोष' और 'क्षय' भी राजयक्ष्मा के पर्याय हैं। सुश्रुत ने इनकी व्युत्पत्ति इस प्रकार बतलायी है—

संशोषणाद्रसादीनां शोष इत्यभिधीयते।
क्रियाक्षयकरत्वाच्च क्षय इत्युच्यते बुधैः॥
राज्ञश्चन्द्रमसो यस्मादभूदेष किलामयः।
तस्मात्तं राजयक्ष्मेति केचिदाहुर्मनीषिणः॥

अर्थात्, रसादि धातुओं का शोषण करने के कारण यह 'शोष' कहलाता है, शरीर की क्रियाओं का क्षय करने के कारण बुद्धिमान् लोग इसे 'क्षय' कहते हैं और चूंकि नक्षत्रराज चन्द्रमा को यह रोग हुआ था इस लिये कुछ मनीषी लोग इसे 'राजयक्ष्मा कहते हैं।

यह रोग त्रिदोषज होता है। आगे इसके लक्षणों का दोषानुसार विभाजन करके तीनों का प्रकोप बतलाया गया है।

राजयक्ष्मा की उत्पत्ति ४ कारणों से बतलायी गई है—

(१) वेगधारण—चरक ने वायु, मूत्र और मल के वेगों को रोकने से राजयक्ष्मा की उत्पत्ति

बतलायी है।

(२) साहस—शक्ति के बाहर कार्य करना साहस कहलाता है। अत्यन्त बलवान व्यक्ति से मल्ल-युद्ध, करना, अत्यधिक भार उठाना, दौड़ते हुए बैल-घोड़े आदि पशुओं को पकड़कर रोकना, अत्यन्त वेग से दौड़ना या साइकिल आदि चलाना, प्रदर्शनार्थ मोटर आदि वाहनों को रोकना अथवा घोड़े हाथी आदि को शरीर पर से निकालना इस प्रकार के कार्य हैं। इस प्रकार के कार्य करने से फुफ्फुसों पर अत्यधिक जोर पड़ता है जिससे वातोत्फुल्लता (फुफ्फुस-प्रसार, Emphysema), उरःक्षत आदि रोग होकर अन्ततः राजयक्ष्मा हो जाता है।

(३) विषम भोजन—इससे अनेक रोगों की उत्पत्ति होती है, क्योंकि भोजन में गड़बड़ी होने से शरीर की प्रायः सभी क्रियायें विकृत हो जाती हैं। इसका विवेचन आरम्भ में हो चुका है।

(४) क्षय—वैसे 'क्षय' शब्द राजयक्ष्मा का भी पर्याय है किन्तु यहां इससे 'धातु क्षय' अभिप्रेत है। अतिमैथुन, अनशन, रक्तस्राव, वमन, विरेचन आदि संशोधन क्रियाओं के अतियोग, चिन्ता, भय, क्रोध, शोक, ईर्ष्या आदि से एवं प्रायः सभी रोगों के फलस्वरूप धातुओं का क्षय होता है। किसी एक धातु के क्षीण होने के फलस्वरूप अन्य धातुओं का भी क्षय होता है। सुश्रुत-संहिता के सूत्रस्थान में सातों धातुओं के क्षय के लक्षण पृथक् पृथक् बतलाये गये हैं। प्रसंगवश वे नीचे उधृत किये जाते हैं।

रसक्षये हृत्पीड़ा कम्पः शून्यता तृष्णा च। शोणितक्षये त्वक्पारुष्यमम्लशीतप्रार्थना सिराशैथिल्यञ्च। मांसक्षये स्फिग्गण्डौष्ठोपस्थोरुवक्षः कक्षापिण्डिकोदरग्रीवा शुष्कतारौक्ष्यतोदौ गात्राणां सदनं धमनीशैथिल्यञ्च। मेदःक्षये प्लीहाभिवृद्धिः सन्धिशून्यता रौक्ष्यं मेदुरमांस प्रार्थना च। अस्थिक्षये अस्थितोदो दन्तनखभंगो रौक्ष्यञ्च। मज्जक्षये अल्पशुक्रता पर्वभेदोऽस्थि निस्तोदोऽस्थिशून्यता च। शुक्रक्षये मेढ्रवृषण वेदना अशक्तिर्मैथुने चिराद्वा प्रसेकः प्रसेके च अल्परक्तशुक्रदर्शनञ्च।

(सुश्रुत सूत्रस्थान १५।९)

अर्थात्, "रसक्षय होने पर हृदय में पीड़ा, कम्प, शून्यता और तृष्णा होती है। रक्तक्षय होने पर त्वचा में रूखापन तथा खट्टे एवं शीतल पदार्थों के सेवन की इच्छा होती है और सिरायें शिथिल हो जाती हैं। मांसक्षय होने पर स्फिग (चूतड़), गाल, ओंठ, जननेन्द्रिय, जांघ, वक्षःस्थल, कांख, पिण्डली, उदर और ग्रीवा में शुष्कता, रूक्षता एवं सुई चुभाने के समान पीड़ा, अंगों में पीड़ा (अथवा शिथिलता) और धमनियों में शिथिलता होती है। मेदक्षय होने पर प्लीहावृद्धि, संधियों में शून्यता, रूक्षता और मेद-युक्त मांस खाने की इच्छा होती है। अस्थिक्षय होने पर हड्डियों में सुई चुभाने के समान पीड़ा, दांतों और नखों का टूटना तथा रूक्षता होती है। मज्जाक्षय होने पर शुक्र क्षय के लक्षण, संधियों (या शाखाओं) में भेदनवत् पीड़ा (अथवा सचमुच में भग्न हो जाना) तथा अस्थियों में पीड़ा और शून्यता होती है। शुक्रक्षय होने पर लिंग और वृषणों में वेदना एवं मैथुन करने में अशक्ति अथवा देर से वीर्यपात होता है और स्खलन होने पर थोड़ा रक्तयुक्त (अथवा लाल रंग का) शुक्र निकलता है।"

पाश्चात्य विद्वानों के रक्तक्षय और अस्थिक्षय का गम्भीर अध्ययन किया है। शेष का वर्णन स्पष्ट नहीं मिलता किन्तु रस-क्षय का जलाल्पता (*Dehydration*) से; मांसक्षय का पेशीक्षय (*Myopathy*) सहज पेशी अपुष्टि (*Amyotonia congenitica*) और गम्भीर पेशी दौर्बल्य (*Myasthenia gravis*) से; एवं मेद क्षय का बच्चों के सूखा रोग (*Coeliac disease*), अकारण वसातिसार (*Idiopathic steatorrhoea*) और श्वेतकायाणु-क्षय (*Leukaemia*) से साहृष्य स्वीकार किया जा सकता है। मज्जाक्षय अस्थिक्षय और रक्तक्षय से सम्बन्धित है। वीर्यक्षय रक्तक्षय, वृषणदौर्बल्य आदि से सम्बन्धित है।

यहां रक्तक्षय और अस्थिक्षय का वर्णन किया जाता है।

रक्तक्षय (Anaenmia) या रक्ताल्पता—रक्त की मात्रा में कमी, रक्त के लालकणों की संख्या में कमी अथवा शोणवर्तुलि की मात्रा में कमी होने की दशा को रक्तक्षय कहते हैं। लगभग सभी प्रकार के रक्तक्षय में रक्त में शोणवर्तुलि (*Haemoglobin*) की मात्रा सामान्य से कम रहती है इसलिये अनेक नव्य विद्वान् शोणवर्तुलि की कमी ही रक्तक्षय मानते हैं। उनके मतानुसार रक्त की मात्रा और लालकणों की संख्या का विशेष महत्व नहीं है।

तीव्र रक्तक्षय—लक्षण रक्तक्षय के वेग और रक्तहानि पर निर्भर रहते हैं। एकाएक अधिक रक्तस्राव हो जाने से अवसाद होकर मूर्च्छा आजाती है, प्यास अधिक लगती है, श्वास तेजी से चलती है तथा नाड़ी कमजोर एवं तीव्र हो जाती है। ५० औंस (लगभग १॥ सेर) से अधिक रक्त एकाएक निकल जाने से धमनीगत दबाव का ह्रास होकर मृत्यु हो सकती है किन्तु कुछ रोगी अत्यधिक रक्तस्राव होने पर भी बच सकते हैं। रक्तस्राव होने पर रक्त के जलीय अंश की पूर्ति लगभग तुरन्त ही हो जाती है किन्तु लालकणों की पूर्ति होने में हफ्तों या महीनों का समय लग जाता है और शोणवर्तुलि की पूर्ति में इससे भी अधिक समय लगता है। लाल कणों और शोणवर्तुलि की क्षतिपूर्ति पूरी तौर से जब तक नहीं हो जाती तब तक रक्तक्षय के लक्षण उपस्थित रहते हैं।

चिरकारी रक्तक्षय—प्रारम्भ में कोई खास लक्षण उत्पन्न नहीं होते; थकावट का अनुभव थोड़े ही परिश्रम से होता है। रोग बढ़ने पर हृदय में धड़कन, श्वासकष्ट, अजीर्ण, अनार्तव, मुख और जिह्वा की श्लैष्मिक कला का प्रदाह, गुल्फों में हल्का शोथ रक्त-निपीड़ (*Blood pressure*) की कमी आदि लक्षण होते हैं। अत्यधिक रक्तक्षय हो चुकने पर भ्रम, मूर्च्छा, अनिद्रा, चिड़चिड़ापन, वातनाड़ीशूल तथा अन्त में बेचैनी, प्रलाप आदि होकर मृत्यु तक हो सकती है।

सभी प्रकार के रक्तक्षय में त्वचा में वैवर्ण्य उत्पन्न होता है। त्वचा का स्वाभाविक वर्ण रक्त और उसमें स्थित शोणवर्तुलि पर निर्भर रहता है। इनके अभाव से त्वचा का वर्ण फीका या पीताभ और श्लैष्मिक कलाओं का वर्ण श्वेत या श्वेताभ हो जाता है। त्वचा का पीताभ वर्ण कभी कभी पाण्डु-कामलादि का भ्रम करा सकता है किन्तु श्लैष्मिक कलाओं की परीक्षा करने पर भ्रम की गुंजाइश नहीं रहती। रक्तक्षय में श्लैष्मिक कलाओं का वर्ण श्वेत रहता है किन्तु पाण्डु-कामलादि में पीताभ या पीत रहता है। सामान्यतः नेत्रों की पलकों, ओठों और मुख की श्लैष्मिक कलायें देखकर निदान किया जाता है। यदि इतने पर भी सन्देह हो तो रक्तपरीक्षा करानी चाहिये, इससे न केवल रोग का ही बल्कि रोग के प्रकार तक का विनिश्चय हो जाता है।

शोणांशन (रक्त-विनाश, Haemolysis) के फलस्वरूप रक्तक्षय होता है और टूटे हुए लालकणों से निकली हुई पित्तरक्ती (Bilirubin) का उपयोग यकृत द्वारा पूरी पूरी मात्रा में न हो सकने के कारण कामला (पांडु) भी हो जाता है। इसलिये ऐसी दशा में रक्तक्षय के साथ ही साथ कामला के भी लक्षण मिलते हैं अर्थात् त्वचा और श्लैष्मिक कलाओं का वर्ण श्वेताभ-पीत मिलता है। यहां विभेदक निदान (रक्तक्षय और कामला में पार्थक्य) की आवश्यकता नहीं रहती; शोणांशिक रक्तक्षय और शोणांशिक कामला एक ही दशा के दो विभिन्न नाम हैं।

रक्तक्षय रोग का वर्गीकरण निम्नतः ४ प्रकार से किया जाता है यद्यपि किसी भी प्रकार को पूर्णतया उचित नहीं कहा जा सकता है—

(i) स्वतंत्र और परतंत्र भेद से २ प्रकार—

(१) स्वतन्त्र, मूलभूत या प्राथमिक रक्तक्षय (Primary Anaemia) जैसे वैनाशिक रक्तक्षय (Pernicious Anaemia)।

(२) परतन्त्र, द्वितीयक या आनुषङ्गिक रक्तक्षय (Secondary Anaemia) जैसे रक्तस्राव, ज्वर, अतिसार, कृमिरोग आदि के फलस्वरूप उत्पन्न रक्तक्षय।

(ii) रक्त के लाल कणों के आकार के अनुसार ३ प्रकार—

(१) प्राकृत कायाण्विक या ऋजुकायाण्विक (Normocytic) रक्तक्षय—इस प्रकार में लालकणों के आकार में परिवर्तन नहीं होता।

(२) बृहद् कायाण्विक (Macrocytic or Megalocytic) रक्तक्षय—इस प्रकार में बड़े आकार वाले लालकण उत्पन्न होते हैं।

(३) लघु या सूक्ष्म कायाण्विक (Microcytic- रक्तक्षय—इस प्रकार में छोटे आकार वाले लालकण उत्पन्न होते हैं।

(iii) लाल-कणों में उपस्थित शोणवर्तुलि की मात्रा (रंग-देशना, Colour Index) के आधार पर ३ प्रकार—

(१) प्राकृत वर्णिक (Orthochromic) रक्तक्षय—इस प्रकार में रक्त के लालकणों में शोणवर्तुलि उचित मात्रा में उपस्थित रहती है।

(२) उपवर्णिक, हीनवर्णिक या अल्पवर्णिक (Hypochromic) रक्तक्षय—इस प्रकार में लालकणों में शोणवर्तुलि की मात्रा सामान्य से कम पायी जाती है।

(३) परमवर्णिक या अतिवर्णिक (Hyperchromic) रक्तक्षय—इस प्रकार में लालकणों में शोणवर्तुलि की मात्रा सामान्य से अधिक पायी जाती है।

पाचन क्रिया होते समय आमाशय और ग्रहणी की दीवारों में से एक प्रकार का मद निकलता है और प्रोभूजिन के पाचन से भी एक दूसरे प्रकार का मद निकलता है। ये दोनों, आंतों के द्वारा चूषित होकर यकृत में और कुछ अंशों में वृक्कों में संचित होते हैं। ये दोनों मद मिलकर रक्त के लालकणों को प्रगल्भ (Mature) बनाते हैं। इसलिए इन्हें रक्तनिर्मायक मद (Haemopoietin) कहते हैं और चूंकि इसके अभाव में वैनाशिक रक्तक्षय होता है इसलिए इसे वैनाशिक रक्तक्षय निरोधी तत्व (Pernicious Anaemia factor, P. A. factor) कहते हैं। इस रक्तनिर्मायक मद के अभाव में जो लालकण बनते हैं वे अप्रगल्भ एवं अल्पजीवी होते हैं। इनमें से बहुत से कण प्राकृत आकार से बड़े होते हैं और उनमें अधिक मात्रा में शोणवर्तुलि विद्यमान रहती है। इस प्रकार का रक्तक्षय 'बृहद् कायाण्विक परमवर्णिक रक्तक्षय' (Macrocytic Hyperchromic Anaemia) कहलाता है। वैनाशिक रक्तक्षय, सगर्भा का रक्तक्षय, उष्णदेशीय बृहद् कायाण्विक रक्तक्षय, आमाशयिक कर्कटार्बुद जन्य रक्तक्षय, चिरकारी आन्त्रविकार (जैसे संग्रहणी) जन्य रक्तक्षय और स्फीत कृमि, अंकुश कृमि आदि से उत्पन्न रक्तक्षय इस श्रेणी के अन्तर्गत सम्मलित हैं।

लालकणों के निर्माण में लोह और ताम्र की आवश्यकता होती है। इनके कम परिमाण में प्राप्त होने पर जो लालकण बनते हैं वे अपेक्षाकृत छोटे होते हैं और उनमें शोणवर्तुलि भी सामान्य से कम मात्रा में उपस्थित रहती हैं। इस प्रकार का रक्तक्षय सूक्ष्मकायाण्विक, उपवर्णिक रक्तक्षय (Microcytic Hypochromic Anaemia) कहलाता है। यह अधिकतर रक्तस्राव, शोणांशन, विष प्रकोप, संक्रमण, दुस्स्वास्थ्य, घातक अर्बुद आदि के फलस्वरूप उत्पन्न होता है; खाद्य पदार्थों में लोह और ताम्र उचित मात्रा में उपस्थित न होने की दशा में स्वतंत्र रूप से भी उत्पन्न होता है और अकारण (किसी अज्ञात कारणवश) भी उत्पन्न होता है। संभवतः हरित रक्तक्षय (Chlorosis) भी इसी वर्ग का है। कई प्रदाहयुक्त अथवा प्रदाह-रहित अवस्थाओं में एक विशेष प्रकार का रक्तक्षय पाया जाता है जिसमें लाल कणों का आकार अपेक्षाकृत छोटा रहता है किन्तु शोणवर्तुलि की मात्रा प्राकृत रहती है। इस प्रकार के रक्तक्षय को 'सामान्य सूक्ष्म-कायाण्विक रक्तक्षय (Simple Microcytic Anae-

mia) कहते हैं।

कुछ मामलों में लालकणों के आकार और शोण-वर्तुलि की मात्रा में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता किन्तु अस्थिमज्जा अपचयित (Aplastic) हो जाती है जिससे नष्ट हो चुके रक्तकणों के स्थान पर नये कणों का निर्माण उचित गति से नहीं होता। इस प्रकार के रक्तक्षय को प्राकृत कायाणिवक रक्तक्षय (Normocytic Aplastic Anaemia) कहते हैं। इसकी उत्पत्ति एकाएक अत्यधिक रक्तस्राव हो जाने से, विषमज्वर, कालमेही ज्वर, श्वेतमयता, घातक अर्बुद, प्रदाहयुक्त अथवा प्रदाहरहित चिरकारी रोगों के फलस्वरुप हो सकती है।

(iv) कारण भेद से ३ प्रकार—

१—रक्तस्रावजन्य या रक्तस्रावोत्तर रक्तक्षय (Post Haemorragic Anaemia)—रक्तस्राव व्रण, रक्तस्रावी रोग (Haemorrhagic Diseases) प्रदाह अर्बुद, आदि किसी भी कारण से हो सकता है। तीव्र रक्त-स्राव से तीव्र रक्तक्षय और चिरकारी (सतत) रक्तस्राव से चिरकारी रक्तक्षय की उत्पत्ति होती है।

२—निर्माण विपर्ययजन्य रक्तक्षय (Dyshaemopoietic anaemia)—इसके निम्न कारण हैं—

अ—रक्तनिर्मायक तत्वों का अभाव—

१—रक्तनिर्मायक आभ्यन्तर (आमाशय और ग्रहणी से निकलने वाले) मद का अभाव—वैनाशिक रक्तक्षय।

२—रक्तनिर्मायक बाह्य (प्रोभूजिन के पाचन से मिलने वाले) मद का अभाव—उष्णदेशीय बृहद् कायाणिवक रक्तक्षय (Tropical Macrocytic anaemia)।

३—रक्तनिर्मायक पदार्थों के चूषण में असमर्थता—आमाशय कर्कटार्बुद, आमाशय और आन्त्र के शल्यकर्म, संग्रहणी आदि।

४—यकृत की असमर्थता—यकृद्दाल्युत्कर्ष।

५—रक्तनिर्मायक पदार्थों का चूषण करने में असमर्थता—असाध्य रक्तक्षय (Achrestic anaemia)।

६—रक्तकणों को प्रगल्भ बनाने वाले पदार्थ—फोलिक अम्ल (Folic acid) का अभाव।

ब—अस्थिमज्जा का अपचय—

१—स्वतन्त्र अथवा अकारणज।

२—विषजन्य।

स—अवटुका ग्रन्थि (Thyroid) के मद का अभाव।

द—जीवतिक्ति 'सी' का अभाव।

इ—रोगों तथा बाह्य विषों के प्रभाव से अस्थि-मज्जा के कार्य में शैथिल्य।

फ—अस्थिमज्जा के कार्य में अवरोध—श्वेतमयता तथा अस्थिगत कर्कटार्बुद के फलस्वरूप।

(३) शोणांशिक रक्तक्षय (*Haemolytic A.*)—

१—सहज-अपित्तमेही कुलज कामला, अर्ध-चन्द्राकार कणीय रक्तक्षय (*Sickle celled Anaemia*)।

२—संक्रामक-विषम ज्वर आदि।

३—विष-सीसा (नाग) आदि।

४—अन्यशोणांशक रोग-प्रावेगित शोणवर्तुलिमेह (*Paroxysmal Haemoglobinuria*), रात्रीय शोणवर्तुलिमेह (*Nocturnal Haemoglobinuria*), शैशवीय गंभीर कामला, लैडरर का तीव्र शोणांशिक रक्तक्षय (*Acute Haemolytic Anaemia of Lederer*)।

नीचे रक्तक्षय के कुछ विशेष प्रकारों का वर्णन किया जाता है। कारणों का विवेचन ऊपर हो ही चुका है—

(अ)-बृहद् कायाणिवक रक्तक्षय—

(१) वैनाशिक रक्तक्षय, ऐडीसन का रक्तक्षय (*Pernicious Anaemia Addisonian Anaemia*)

यह एक विशेष प्रकार का गंभीर वृहद् कायाण्विक रक्तक्षय है। यह उत्तरोत्तर बढ़ता है किन्तु बीच-बीच में कुछ समय के लिये शांत होकर पुनः जोर पकड़ता है। यह अधिकतर प्रौढ़ व्यक्तियों पर आक्रमण करता है। यूरोप-निवासी अधिक आक्रांत होते हैं। अम्लहीनता का वैयक्तिक या कौटुम्बिक इतिहास अधिकतर पाया जाता है।

रोग का आक्रमण गुप्त रूप से होता है—कमजोरी दिन प्रति दिन बढ़ती जाती है और वर्ण फीका या पीताभ होता जाता है। जीभ फूली एवं पीड़ायुक्त, स्वाद का अनुभव न होना, अरुचि, मतली, उदर में पीड़ा, अतिसार आदि विकार समय समय पर प्रकट होते हैं, हल्का अनियमित ज्वर भी पाया जाता है। रक्त की कमी अत्यधिक होती है किन्तु अन्य धातुओं (वसा, मांस आदि) का क्षय न के बराबर होता है इस लिए रोगी का वजन लगभग उतना ही रहता है। रोगी तभी परामर्श के लिए आता है जब रोग काफी बढ़ चुका होता है और उस समय रोग विनिश्चय प्रायः कठिन नहीं होता। रोग बढ़ने पर क्षुद्रश्वास,सिरदर्द,गुल्म-शोथ,हृदय में धड़कन और शूल आदि लक्षण भी उत्पन्न हो जाते हैं। इस समय तक कुछ रोगियो में पांडु (कामला) के हल्के लक्षण भी उत्पन्न हो जाते हैं। यकृत की किंचित वृद्धि और स्निग्ध अपचय होता है। जीभ प्रारम्भ में प्रदाह-युक्त लाल हो सकती है किन्तु बाद की दशाओं चिकनी, पीली और बढ़ी एवं फूली हुई रहती है। कुछ रोगियों की जीभ में व्रण अथवा विदार पाये जाते हैं। अधिकांश रोगियों के आमाशय में स्राव-हीनता (*Achylia Gastrica*) पायी जाती है। प्लीहा भी किञ्चित बढ़ी हुई पायी जाती है।

रोग अधिक बढ़ने पर कुछ रोगियों में सुषुम्ना के अनुतीव्र संयुक्त अपजनन (*Subacute Combined Degeneration of the Spinal Cord*) के लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसका प्रथम लक्षण सुई गोंचने और चींटियों के रेंगने के समान पीड़ा की अनुभूति अथवा हाथ-पैरों में शून्यता का अनुभव होना है। इसके बाद क्षेप-प्रतिक्षेप की क्रियाओं में विकृति तथा शिथिल या स्तम्भिक पक्षाघात या असमन्वयता भी उत्पन्न हो सकती है। नेत्रों में रक्तस्राव तथा पश्चात्-कंदिक वातनाड़ी प्रदाह (*Retro-bulbar Neuritis*) के कारण विकृति उत्पन्न हो सकती है। अन्त की दशाओं में मद, तन्द्रा आदि लक्षण भी पाये जा सकते हैं।

योग्य चिकित्सा न होने पर २-३ वर्षों में रोगी का प्राणांत होजाता है। यकृत सत्व आमाशय-सत्व के प्रयोग से रोग याप्य है, साध्य नहीं।

(२) असाध्य रक्तक्षय (*Achrestic Anaemia*) यह वैनाशिक रक्तक्षय का ही एक भेद है। इसकी विशेषता यह है कि इसके रोगी पर रक्तनिर्मायक पदार्थों का कोई प्रभाव नहीं होता क्योंकि सात्मीकरण की शक्ति नष्ट हो चुकती है। यकृत सत्व और लौह के योगों से कोई लाभ नहीं होता। कुछ रोगियों को फोलिक अम्ल (*Folic Acid*) के प्रयोग से लाभ होता है, जिनको इससे भी लाभ न हो उन्हें या तो ईश्वर के अधीन छोड़ दिया जाता है अथवा बारम्बार रक्तप्रदान करते हुए जीवित रखने का प्रयत्न किया जाता है। यह रोग अत्यन्त विरल है।

(३) सगर्भा का वैनाशिक रक्तक्षय (*Pernicious Anaemia of Pregnancy*) यह रोग २५-३० वर्षीय बहुप्रसवा स्त्रियों में पाया जाता है। कारण अज्ञात है। लक्षण चौथे माह से प्रारम्भ होकर ७ वें ८ वें मास तक गंभीर रूप धारण कर लेते हैं। लक्षण बहुत कुछ वैनाशिक रक्तक्षय के समान ही होते हैं किन्तु आमाशय-स्रावहीनता और सुषुम्ना अपजनन नहीं पाये जाते और नासिका, पाचन-संस्थान, योनि आदि से रक्तस्राव की प्रवृत्ति रहती है। वैनाशिक रक्तक्षय और अन्य वृहद् कायाण्विक रक्तक्षयों से विभेद करना आवश्यक है।

प्रारम्भ में ही निदान हो जाने पर रोग साध्य है किन्तु विलम्ब होने पर लगभग असाध्य रहता है;

अधिकांश स्त्रियां मर जाती हैं । कुछ मामलों में गर्भपात होकर आरोग्यलाभ हो जाता है और कुछ में अपने आप ही रोगोपशम हो जाता है ।

(४) अन्य वृहद्-कायाण्विक रक्तक्षय—भोजन में रक्त-निर्मायक द्रव्यों का अभाव, आमाशय, यकृत, आंत्र आदि के रोग और कभी कभी अत्यधिक रक्तस्राव के फलस्वरूप भी वृहद् कायाण्विक रक्त-क्षय उत्पन्न होता है। प्रथम दो प्रकारों से इसमें यह अन्तर है कि आमाशय स्रावहीनता और सुषुम्ना अपजनन नहीं पाये जाते; उपर्युक्त दोनों स्वतंत्र व्याधियां हैं और यह लाक्षणिक है।

(ब) सूक्ष्मकायाण्विक रक्तक्षय—

(५) लाक्षणिक या आनुषंगिक रक्तक्षय(Symptomatic or Secondary Anaemia)—इसकी उत्पत्ति रोग, रक्तस्राव या विष-सेवन से होती है। लक्षण प्रारम्भ में बतलाये गये सामान्य रक्त-क्षय के लक्षणों के समान होते हैं।

(६) स्वतंत्र उपवर्णिक रक्तक्षय अथवा स्त्रियों का अनाम्लिक रक्तक्षय (Idiopathic Hypochromic Anaemia or Achlorhydric Anaemia of womenr)—यह रोग २०–२५ वर्षीया बहु-प्रसवा स्त्रियों में अधिक पाया जाता है। भोजन में लोह की कमी, अतिसार, अम्लहीनता, रक्तप्रदर, जल्दी जल्दी गर्भधारण, दीर्घ काल तक दुग्ध-प्रदान आदि कारण पाये जा सकते हैं। कुछ मामलों में यह रोग वंशगत भी हो सकता है ।

क्षुधानाश, हृल्लास, वमन, उदर में भारीपन आध्मान, कभी मलावरोध और कभी अतिसार आदि अजीर्ण रोग के लक्षण तथा श्रम, अरति, वैवर्ण्य, श्वासकष्ट, हृदय में धड़कन या शूल, हल्का शोथ, अल्पार्तव, जीभ फूली हुई, पीड़ायुक्त, लाल या पीली; मुख के कोनों (ओष्ठ सन्धि) में विदार (Cheilosis) आदि रक्तक्षय के लक्षण होते हैं। नाखून भंगुर हो जाते हैं और उनका आकार चम्मच के समान हो जाता है। रोग अधिक पुराना होने पर ग्रसनिकीय–अन्नप्रणाली–अप्रवाह (Pharyngo-oesophageal Achalasia, Paterson Syndrome or Plummer–Vinson Syndrome) हो जाता है और कुछ मामलों में वृहद् कायाण्विक रक्तक्षय हो जाता है। यदि जल्दी जल्दी गर्भधारण न हो तो रोग स्वयं शान्त हो सकता है।

(७) शैशवीय पोषण रक्तक्षय (Infantile Nutritional Anaemia)—समय से पूर्व उत्पन्न अथवा रक्तक्षय रोग से पीड़ित माता से उत्पन्न बालक, अथवा वे बालक जिन्हें लम्बे समय तक केवल दूध पर ही रखा गया हो इस रोग से पीड़ित होते हैं । लोह के प्रयोग से लाभ होता है किन्तु कुछ मामलों में नहीं भी होता और रक्तक्षय गंभीर होकर अन्त में किसी रोग से मृत्यु हो जाती है। अन्य प्रकार के रक्तक्षय से इसका विभेद करना आव-श्यक है।

(८) हरित रक्तक्षय (Chlorosis)—यह रोग कारखानों में काम करने वाली यूरोपियन नवयुवतियों में पिछली शताब्दी तक पाया जाता था; आजकल उनके भोजन की ओर विशेष ध्यान दिया जाने के कारण यह रोग लुप्त हो चुका है।

इसके लक्षण सामान्य रक्तक्षय के समान होते हैं किन्तु रोगिणी का वर्ण हरिताभ होजाता है। मेद का क्षय नहीं होता बल्कि कुछ मामलों में वृद्धि पायी जाती है। नेत्रों में एक विशेष प्रकार की चमक पायी जाती है। भूख अधिक लगती है और अखाद्य पदार्थ खाने की इच्छा होती है, लवणाम्ल की अधिकता से भोजन के बाद दाह पीड़ा आदि लक्षण होते हैं और मलावरोध रहता है। अधिकांश मामलों में आमाशय भ्रंश या आन्त्रभ्रंश पाया जाता है। रजोविकार, हिस्टीरिया, पिण्डलियों की शिराओं में घनास्रता आदि हो जाने की संभावना रहती है।

(स) (९) अपचयिक रक्तक्षय (*Aplastic anaemia*)—इस रोग में अस्थिमज्जा में अपचय होकर अनम्यता उत्पन्न हो जाती है जिससे नये लालकणों

की उत्पत्ति सदा के लिये बन्द हो जाती है और उत्तरोत्तर रक्तक्षय होकर मृत्यु हो जाती है। स्वतन्त्र रूप से अथवा अनशन, चिरकारी अतिसार या अजीर्ण; आन्त्रिक ज्वर, रोमान्तिका, रोहिणी लोहित ज्वर आदि का तीव्र उपसर्ग; मल्ल, स्वर्णलवण, सल्फा औषधियां, फिनाइलहाइड्राजीन (*Phenyl-hydrazine*) आदि का विष-प्रभाव; क्ष-किरणों, रेडियम, थोरियम आदि का अतियोग, अणुबम का दुष्प्रभाव, कर्कटार्बुद, बहु-लालकायाणुमयता (*Polycythaemia Vera*) आदि के फलस्वरूप इसकी उत्पत्ति होती है। रक्तक्षय के सामान्य लक्षण पाये जाते हैं तथा त्वचा श्लैष्मिक कलाओं एवं मस्तिष्क तक में रक्तस्राव होने की संभावना रहती है। मुख-कोथ हो सकता है। यकृत प्लीहा वृद्धि नहीं होती और आमाशय में स्रावहीनता भी नहीं पाई जाती। रक्त के लालकण, श्वेत कण और चक्रिकाएं संख्या में घट जाते हैं। लालकणों का आकार किंचित् बढ़ जाता है किन्तु बृहद् कायाण्विक रक्तक्षय के समान नहीं। कुछ महीनों में अत्यधिक रक्तक्षय, रक्तस्राव अथवा किसी अन्य रोग से मृत्यु हो जाती है।

(द) शोणांशिक रक्तक्षय—शोणांशन तीव्रता से होने पर शोणवर्तुलिमेह और कामला भी होते हैं किन्तु रोग चिरकारी होने पर कामला अदृश्य हो जाता है। लालकणों का आकार रक्तक्षय की तीव्रता या सौम्यता के अनुसार बड़ा या छोटा होता है। न्यष्ठीलीय कण भी पाये जा सकते हैं। जालककायाणु (*Reticulocytes*) बड़ी संख्या में उपस्थित रहते हैं। यकृत और प्लीहा की वृद्धि होती है और अस्थिमज्जा अतिनम्य (*Hyperplastic*) रहती है।

(१०) आनुषंगिक शोणांशिक रक्तक्षय—यह विषमज्वर, कालमेही ज्वर, शोणांशी मालागोलाणु के उपसर्ग, प्रावेशिक शोणवर्तुलिमेह, संक्रामक कामला आदि में उपस्थित रहता है और इनके शान्त होते ही स्वयमेव शान्त हो जाता है।

(११) अपित्तमेही कुल-कामला—

(१२) शैशवीय गंभीर कामला—

—इन दोनों को कामला प्रकरण में देखें।

(१३) अर्धचन्द्रकणीय रक्तक्षय (*Sickle-celled anaemia*)—यह उत्तर अमेरिका के हब्शियों में पाया जाने वाला कौटुम्बिक रोग है। हाथ-पैरों में पीड़ा, वमन, अतिसार, हल्का कामला आदि लक्षणों के साथ ज्वर के आक्रमण बारम्बार होते हैं। रक्त के लाल कणों का क्षय और श्वेतकणों की वृद्धि होती है। कुछ कणों का आकार हंसिये के समान अर्धचन्द्राकार हो जाता है। यकृत और प्लीहा की वृद्धि होती है और रोग पुराना होने पर प्लीहा में तन्तूत्कर्ष हो जाता है और वह सुकड़कर छोटी हो जाती है।

(१४) तीव्र ज्वरकारी रक्तक्षय (Acute febrile-Anaemia) या लैडरर का रक्तक्षय (Ledere's Anaemia)—यह अत्यन्त विरल रोग है। रोगी अधिकतर ३० वर्ष से कम आयु के होते हैं। रोग का आरम्भ एकाएक तीव्र ज्वर के साथ होता है और रक्तक्षय बड़ी तेजी के साथ होता है। सामान्य कामला और शोणवर्तुलिमेह पाया जाता है। रक्त में श्वेतकणों और जालक कणों की वृद्धि होती है तथा असामान्य कण भी उत्पन्न होते हैं।

(१५) भूमध्य-सागरीय रक्तक्षय (Mediterranean Anaemia) अथवा कूली का रक्तक्षय (Cooley's Anaemia)—यह रोग भूमध्यसागर के देशों के शिशुओं में पाया जाता है; भारत में भी पाया गया है। अनुमान किया जाता है कि इसकी उत्पत्ति समवर्त (Metabolism) की किसी कौटुम्बिक विकृति के फलस्वरूप होती है; एक ही कुटुम्ब के कई बालक पीड़ित होते हैं।

रोग २ वर्ष की आयु के भीतर प्रकट होता है, धीरे-धीरे बढ़ता है और निश्चित रूप से मारक होता है; अधिकांश रोगी १० वर्ष की आयु होते तक मर जाते हैं। प्लीहा वृद्धि के कारण बढ़ा हुआ उदर, रक्तक्षय और हल्के कामला (पीताभ वर्ण और परोक्ष वानडैन बर्ग प्रतिक्रिया), तथा मंगोलियन

वर्ग (मनुष्यों की विशेष जाति जो चीन आदि देशों में पायी जाती है) के लोगों के समान आकृति इस रोग के प्रधान लक्षण हैं। यकृत और लस-ग्रन्थियों की वृद्धि होती है। बीच-बीच में ज्वर एवं हृदय-दौर्बल्य के लक्षण प्रकट हुआ करते हैं। कमजोरी अत्यधिक आती है और बाढ़ मारी जा सकती है। रक्त के लाला कण पतले एवं अल्प-शोणवर्तुलियुक्त होते हैं और श्वेतकणों की वृद्धि पायी जाती है। क्ष-किरण चित्र निदानात्मक होता है। अस्थियों के शीर्ष बढ़े हुए और शल्क घिसे हुए मिलते हैं; खोपड़ी (करोटि) की हड्डी पर विशेष प्रकार के कांटे पाये जाते हैं जिनसे चित्र में खड़े हुए बालों का भ्रम होता है। लोह, यकृत-सत्व, रक्त-प्रदान, प्लीहा-छेदन (Splenectomy) आदि से कुछ भी लाभ नहीं होता।

(१६) रात्रीय शोणवर्तुलिमेह (Nocturnal Haemoglobinuria) और शोणवर्तुलिमेही रक्तक्षय (Haemoglobinuric Anaemia)—यह रोग अत्यन्त विरलतः पाया जाता है। २० से ५० वर्ष तक के स्त्री-पुरुष इससे आक्रान्त होते हैं। इस रोग में समय-समय पर शोणवर्तुलिमेह के आक्रमण होते हैं। आक्रमण-काल में रात्रि के समय गहरे लाल रंग का मूत्र उतरता है जिसमें काफी मात्रा में शोणवर्तुलि पायी जाती है; यदि रोगी दिन में देर तक सोता रहे तो उठने पर दिन में भी शोणवर्तुलिमेह हो सकता है। आक्रमण काल प्रायः कई सप्ताहों का होता है। इसके बाद कई महीनों तक कोई लक्षण उत्पन्न नहीं होते किन्तु फिर अचानक पुनराक्रमण होता है। इस प्रकार पुनराक्रमण और उपशम का क्रम चलता रहता है। रोग ज्यों-ज्यों पुराना होता है त्यों-त्यों आक्रमण काल लम्बा होता जाता है और उपशम-काल घटता जाता है।

शोणवर्तुलिमेह शोणांशन के कारण ही होता है किन्तु शोणांशन का कारण अभी तक जाना नहीं जा सका है। शोणांशन के कारण शोणांशिक प्रकार का रक्तक्षय और कामला होता है। वान डैन वर्ग की प्रतिक्रिया परोक्ष रूप से अस्त्यात्मक रहती है। शोणांशिक रक्तक्षय के अन्य प्रकारों से इसमें २ महान् विभिन्नताएं हैं—एक तो यह कि इसमें रक्त के श्वेत कणों का क्षय होता है जबकि दूसरों में वृद्धि होती है, और दूसरी यह कि इसमें रक्तप्रदान से शोणांशन कम होने के स्थान पर और बढ़ जाता है। प्लीहा की सामान्य वृद्धि होती है। अधिकांश रोग ३-६ वर्षों में रक्तक्षय से अथवा प्रतिहारिणी शिरा या अन्य संस्थानिक शिराओं में घनास्रता होने से मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

(इ) अन्य—

(१७) प्लैहिक रक्तक्षय (Splenic Anaemia) अथवा बैण्टी का रोग (Banti's Disease) अथवा बैण्टी का संरूप (Banti's Syndrome)—यह एक चिरकारी रोग है जो नवयुवकों में जाता पाया है। कारण अनिश्चित है। अनुमान किया जाता है कि किसी भी कारणवश प्लीहा में रक्ताधिक्य रहने से इसकी उत्पत्ति होती होगी।

रोग का आरम्भ गुप्त रूप से होता है। जब रोगी चिकित्सा के लिये आता है उस समय आलस्य अवसाद, रक्तवमन, नासारक्तस्राव, कृष्णमल, क्रमशः बढ़ता हुआ रक्तक्षय, बढ़ी हुई प्लीहा आदि लक्षण होते हैं। प्लीहा बढ़कर अपने स्वाभाविक आकार से तिगुनी बड़ी तक होजाती है और उसमें तन्तूत्कर्ष होजाता है। लक्षण प्रकट होने के २-३ वर्ष बाद यकृत की थोड़ी वृद्धि होती है और अगले २-३ वर्षों में यकृद्दाल्युत्कर्ष होजाता है और यकृत सुकड़ कर छोटा होजाता है। यकृत में विकार आरम्भ होते ही कामला प्रकट होजाता है जो यकृद्दाल्युत्कर्ष होने पर अत्यन्त गहरा होजाता है। यकृद्दाल्युत्कर्ष होने पर जलोदर भी हो जाता है और रक्तवमन, कृष्णमल आदि लक्षण अधिक जोर पकड़ते हैं। ५-१० वर्षों में क्षीणता, रक्तस्राव या यकृत विकार से मृत्यु हो जाती है।

रक्त में लाल कणों और शोणवर्तुलि का अत्यधिक क्षय होता है। श्वेतकणों का भी थोड़ा क्षय होता है किन्तु उषसिप्रिय कण या तो अप्रभावित रहते हैं अथवा बढ़ जाते हैं (कालज्वर में उषसिप्रिय भी घट जाते हैं)। रक्तचक्रिकायें सामान्य अथवा कम पायी जाती हैं।

(१८) वान जैक्स का रोग या संरूप (*Von Jaksch's Disease or Syndrome*) अथवा श्वेतमयता सदृश्य शैशवीय रक्तक्षय (*Anaemia Infantum Pseudoleukaemica*)—यह रोग ३ वर्ष से कम आयु के बच्चों को होता है। इसमें प्लीहा की अत्यधिक वृद्धि और गम्भीर रक्तक्षय होता है। प्लीहा और लसग्रन्थियों की भी वृद्धि होती है। इस रोग के साथ अस्थिक्षय, राजयक्ष्मा, फिरंग, पाचन-विकार आदि रोग अक्सर पाये जाते हैं इसलिये अनेक चिकित्सक इसे स्वतन्त्र रोग मानने को तैयार नहीं होते।

अस्थिक्षय—

(१) शैशवीय अस्थिक्षय अस्थिमार्दव (*Rickets, Rachitis*)—यह रोग शिशुओं के दन्तोद्गम काल में जीवतिक्ति 'डी' के अभाव से उत्पन्न होता है। जीवतिक्ति 'डी' चूर्णातु (*Calcium*) और स्फुर (*Phosphorus*) के चूषण के लिये आवश्यक है। इनके अभाव से अस्थियां कमजोर और मुलायम हो जाती हैं तथा दबाव पड़ने से झुक जाती हैं। जीवतिक्ति डी मछली के तैल, अण्डे, मक्खन आदि पदार्थों में पाया जाता है तथा सूर्य का प्रकाश †लगाने से त्वचा-स्थित वसा में उत्पन्न होता है। अतएव भोजन में जीवतिक्ति डी का अभाव होने से एवं सूर्य का प्रकाश न मिलने से यह रोग उत्पन्न होता है। इसका आक्रमण शीत-ऋतु में अधिक होता है और उष्ण देशों की अपेक्षा समशीतोष्ण और शीतप्रधान देशों के बालक अधिक आक्रान्त होते हैं।

माथे पर पसीना आना इस रोग का प्रारम्भिक लक्षण है जो ठण्ड के दिनों में विशेषतः रात्रि में लक्षित होता है। इसके साथ ही बेचैनी, चिड़चिड़ापन, आध्मान, अतिसार, प्रतिश्याय, स्तम्भ, आक्षेप आदि लक्षण भी उत्पन्न होते हैं। दांत देर से निकलते हैं और ब्रह्मरंध्र (तालु, *Antertor Fontenelle*) देर से भरता है। मांस-पेशियों का क्षय स्पष्ट रूप से नहीं होता किन्तु वे कमजोर और शिथिल हो जाती हैं। हल्का उपवर्णिक रक्तक्षय होता है। यकृत और प्लीहा की किंचित् वृद्धि होती है जो टटोलने से प्रतीत होती है। उदर भी कुछ बढ़ा हुआ प्रतीत होता है।

लगभग सारे शरीर की अस्थियों में विकृतियां उत्पन्न होती हैं—

(i) करोटि (खोपड़ी, *Cranium*) पतली हो जाती है। यह विकार पश्चिम कपालास्थि (*Occipital*) और पार्श्वास्थि (*Parietal*) की सन्धि पर विशेषतया लक्षित होता है। यदि रोग का आरम्भ ३ माह की आयु के भीतर हुआ हो तो यह विकार अवश्य मिलता है किन्तु यदि ६वें माह के बाद हुआ हो तो प्रायः नहीं मिलता।

ब्रह्मरंध्र प्रायः खुला हुआ मिलता है। दांत काफी विलम्ब से निकलते हैं।

मस्तक चौकोर हो जाता है। पूर्वकपालास्थि और दोनों पार्श्वास्थियों में उभार पाये जाते हैं। शीर्ष चपटा हो जाता है।

(ii) पशुकाओं (पसलियों) के संगम स्थलों पर उपास्थियों की वृद्धि होती है जिससे ग्रन्थिवत् उभार पाये जाते हैं—वक्रास्थि माला (*Rickety Rosary*)।

पशुकायें भीतर की ओर दब जाती हैं तथा उरःफलक (*Sternum*) सामने को उभर आता है—कपोत वक्ष (*Pigeon Breast*)।

†सूर्य के प्रकाश की लोहितातीत (*Ultra Violet*) किरणें त्वचा-स्थित मेद में जीवतिक्ति डी उत्पन्न करती हैं।

शैशवीय अस्थि-क्षय
(मेरुदण्ड का झुकाव)
(पृष्ठ ३७७)

अस्थिक्षय से पीड़ित बालक
(पैरों का धनुषाकार झुकाव)
(पृष्ठ ३७६)

शैशवीय अस्थिक्षय का
अस्थियों पर दुष्प्रभाव
(पृष्ठ ३७६)

बानजैक के रोग से
पीड़ित बालक
(पृष्ठ ३७६)

वयस्कीय अस्थिक्षय का
श्रोणि पर प्रभाव
(पृष्ठ ३७७)

आन्त्र निबंधिनी ग्रन्थियों
का राजयक्ष्मा
(बीच की ग्रन्थि बढ़गई है।
उस पर की यक्ष्मियां भी देखिये)
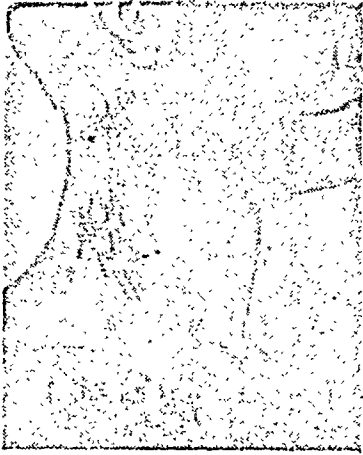
ग्रैवेयक ग्रन्थियों का राजयक्ष्मा के तीन प्रकार
(पृष्ठ ३६२)
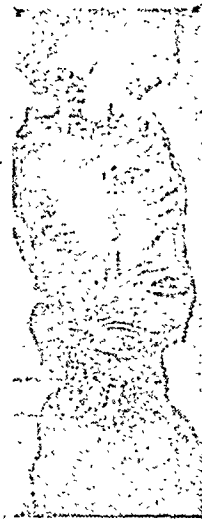
जिह्वा के राजयक्ष्मीय व्रण
(पृष्ठ ३६३)

आन्त्रीय राजयक्ष्मा का
आन्त्र पर दुष्प्रभाव
(पृष्ठ ३६४)

वृक्क का राजयक्ष्मा
(पृष्ठ ३६६)

फूले हुये, उदर एवं महाप्राचीरा पेशी के दबाव से एक अथवा कभी कभी दोनों ओर की प्लवमान पशुकाएं (*Floating Ribs*, निचली पसलियां) ऊपर की ओर चढ़ जाती हैं जिससे एक आड़ा खात उत्पन्न हो जाता है—हैरिसन की सीता (*Hurrison's Sulcus*)।

(*iii*) मेरुदण्ड (*Spine*) झुक जाता है जिससे कुबड़ापन उत्पन्न होता है।

(*vi*) श्रोणि चपटी या त्रिभुजाकार हो जाती है।

(*v*) लम्बी अस्थियां दबाव के अनुरूप किसी भी ओर झुक जाती हैं। पैरों की हड्डियां भीतर या बाहर की ओर झुकती हैं जिससे घुटने नहीं मिलाये जा सकते और पैर धनुषाकार (*Bow-legs*) हो जाते हैं। कुछ मामलों में हाथों की हड्डियां भी बाहर की ओर झुक जाती हैं। कभी कभी ये हड्डियां झुकने में उन्नतोदर पर एक ओर चटक जाती हैं—हरित काष्ठवत् अस्थिभग्न (*Green-stick Fracture*)।

लम्बी अस्थियों की उपास्थियां (*Epiphyses*) की भी वृद्धि होती है। यह वृद्धि बहिःप्रकोष्ठास्थि (*Radius*) के निचले छोर पर सर्व प्रथम लक्षित होती है और उसके पश्चात् अन्तःप्रकोष्ठास्थि (*Ulna*), उर्वस्थि (*Femur*) और अन्तः जंघास्थि के ऊपरी छोर पर।

रोग विनिश्चय लक्षणों और क्ष-किरण चित्र से होता है।

(२) कैशोर अस्थिक्षय (*Adolescent Rickets*) यह अधिकतर शैशवीय अस्थिक्षय का पुनरावर्तन ही होता है किन्तु कुछ मामलों में चिरकारी वृक्क प्रदाह अथवा बाल-शोथ (Coeliac Disease) के फलस्वरूप होता है और अत्यन्त विरल मामलों में स्वतंत्र भी हो सकता है। ९ से १४ वर्ष तक के बालक आक्रान्त होते हैं। लक्षण लगभग शैशवीय प्रकार के समान ही होते हैं किन्तु सिर की हड्डियां प्रभावित नहीं होतीं।

(३) वयस्कीय अस्थिक्षय (*Adult Rickets*) अथवा अस्थि-मृदुता (*Osteomalacia*)—यह रोग अधिकतर २०-३० वर्षीया बहुप्रसवा स्त्रियों में पाया जाता है। इसकी उत्पत्ति भी जीवतिक्ति डी के अभाव में चूर्णातु और स्फुर का चूषण न होने से होती है।

प्रारम्भ में कमजोरी, चिड़चिड़ापन, पाचन विकार, कुक्षि में पीड़ा आदि लक्षण होते हैं। क्रमशः मांस-पेशियों का क्षय होता है और रोगिणी अत्यन्त दुर्बल हो जाती है। श्रोणि की हड्डियां त्रिभुजाकार हो जाती हैं जिससे प्रसव होना कठिन हो जाता है। लम्बी हड्डियां झुक या टूट जाती हैं। अन्य अस्थियों में भी विकृतियां उत्पन्न होने से कुबड़ापन तथा अनेक प्रकार के बेडौलपन उत्पन्न हो सकते हैं।

रोगविनिश्चय क्ष-किरण चित्र से होता है।

(४) सहज अस्थिक्षय अस्थिभंगुरता (*Fragilitus Ossium Congenita, Osteogenesis Imperfecta, Osteoporosis congenita*)—यह एक जन्मजात रोग है। चौथाई रोगियों में यह रोग वंशगत होने का इतिहास मिलता है। कारण अज्ञात है; जीवतिक्ति का अभाव अथवा चूर्णातु और स्फुर के चूषण में विकृति नहीं पायी जाती। वैसे, स्वास्थ्य लगभग ठीक ही रहता है किन्तु अत्यन्त सामान्य दबाव या चोट से ही अस्थिभग्न होजाता है। बार बार अस्थिभग्न होने से शरीर बेडौल हो जाता है। बार बार अस्थि-च्युति (हड्डी अपने स्थान से हट जाना, *Dislocation*) होने की प्रवृत्ति भी पायी जाती है। कुछ रोगियों की पार्श्वास्थियां उभरी हुई पाई जाती हैं, कुछ में बहरापन और अधिकांश में दृष्टिपटल के चारों ओर का घेरा (*Sclerotic*) नीला पाया जाता है; इस रोग से पीड़ित बालकों में से कुछ मरे हुए पैदा होते हैं और कुछ पैदा होने के बाद थोड़े ही

समय में मर जाते हैं। शेष अधिक दिनों तक जीवित रहते हैं किन्तु बारम्बार अस्थिभग्न होने से शरीर अत्यन्त बेडौल हो जाता है। ये भी अधिकतर जवान होने के पूर्व ही मर जाते हैं।

शोषरोग (राजयक्ष्मा) की सम्प्राप्ति

कफप्रधानैर्दोषैस्तु रुद्धेषु रसवर्त्मसु।
अतिव्यवायिनो वाऽपि क्षीणे रेतस्यनन्तराः।
क्षीयन्ते धातवः सर्वे ततः शुष्यति मानवः ॥२॥

कफ-प्रधान दोषों के द्वारा रसवाही स्रोतों का अवरोध होने पर अथवा अत्यधिक मैथुन करने वाले व्यक्ति का वीर्य क्षीण हो जाने पर सभी धातुओं का क्षय होता है इसलिए वह व्यक्ति सूखता है अथवा शोषरोग (राजयक्ष्मा) को प्राप्त होता है।

वक्तव्य—(६७) प्रस्तुत श्लोक में क्षय का वर्णन करते हुए उससे शोषरोग की उत्पत्ति बतलाई गयी है। कफ प्रधान दोषों से रस-वाहिनियों का अवरोध होने पर धातुओं की उत्पत्ति बन्द हो जाती है और उनका क्षय होने लगता है। इस प्रकार के क्षय को 'अनुलोम क्षय' कहते हैं। 'दोष' शब्द यहां बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है। संस्कृत में एक के लिए एक वचन दो के लिये द्विवचन और तीन या तीन से अधिक के लिए बहुवचन का प्रयोग होता है इस लिए दोष (दोषैः) से 'त्रिदोष' का अर्थ ग्रहण किया जावेगा। त्रिदोष-प्रकोप अनेक प्रकार का हो सकता है और हर प्रकार के प्रकोप से रसवाहिनियों का अवरोध करने का गुण कफ में विशेष रूप से विद्यमान है इसलिए 'कफ प्रधानैर्दोषैस्तु' कह कर स्पष्टीकरण किया गया है कि कुपित त्रिदोषों में कफ प्रधान रूप से कुपित होना चाहिए तभी अवरोध होगा। शरीर की सभी धातुओं की पोषक रसधातु ही है। उसका प्रवाह अवरुद्ध होजाने से अन्य धातुओं को पोषण मिलना बन्द हो जाता है। जिससे वे क्रमशः क्षीण होने लगती हैं। फिर यह अवरोध साधारण नहीं त्रिदोषज होता है इसलिये धातुक्षय बड़ी तीव्रता से होता है। त्रिदोष-प्रकोप में अनेक विकार एक साथ उत्पन्न होते हैं।

मैथुन करने से प्रत्यक्ष रूप से वीर्य का क्षय होता है। सामान्यतः स्वास्थ्य की अवहेलना न करते हुए किया गया मैथुन कोई विशेष हानि नहीं पहुँचाता क्योंकि मैथुन शरीर का प्राकृतिक धर्म है और स्वास्थ्य ठीक रहने की दशा में क्षतिपूर्ति होने में अधिक समय नहीं लगता। किन्तु यदि कोई व्यक्ति अपने स्वास्थ्य की अवहेलना करता हुआ मैथुन में अत्यधिक प्रवृत्त होता है तो वीर्य का भण्डार समाप्त होने पर और वीर्य बनाने के लिये अन्य धातुओं के उपयोगी अंश चूषित होते हैं जिससे उन धातुओं का क्षय होने लगता है–इस प्रकार के क्षय को 'प्रतिलोम क्षय' कहते हैं।

मधुकोशकार विजयरक्षित जी ने कहा है कि—"केवल धातुक्षय से ही यक्ष्मा नहीं होती। रसादि-वह स्रोतों का अवरोध आदि भी दर्शाने के लिए ही यह विशिष्ट सम्प्राप्ति (उपर्युक्त श्लोक नं० २) कही गई है। जब इस प्रकार की सम्प्राप्ति न हो तब 'धातुक्षय' ही रोग है, यक्ष्मा नहीं। 'रस' के साथ 'आदि' शब्द लुप्त है; रक्तादि-वह स्रोतों का अवरोध भी इसी के अन्तर्गत समझना चाहिए। अथवा रस का अवरोध होने से रक्तादि का भी अवरोध होता है; रसदुष्टि ही रक्तादि की दुष्टि है ऐसा 'कार्तिक' का मत है। यहां यह भी सूचित किया जाता है कि मार्ग के अवरोध के कारण हृदयस्थ रस वहीं रहकर विकृत होता है और मुख से निकलता है। चरक × ने भी कहा है—स्रोतों के अवरुद्ध होने पर रस अपने स्थान (हृदय) में ही रहकर विदग्ध होता है और वह कास के वेगों के साथ अनेक रूप धारण करके निकलता है।" विजयरक्षित जी की यह व्याख्या अत्यन्त सामयिक है क्योंकि यहां यह बतलाना नितान्त आवश्यक है कि क्षय ही राज-

---

× रसः स्रोतःसु रुद्धेषु स्वस्थानस्थो विदह्यते।
स ऊर्ध्वं कासवेगेन बहुरूपः प्रवर्तते ॥
—चरक चिकित्सा ८।४२

यक्ष्मा नहीं है। क्षय के साथ स्रोतोरोध आदि होने पर ही राजयक्ष्मा की उत्पत्ति होती है।

शोषरोग के पूर्वरूप

श्वासांगमर्दकफसंस्रवतालुशोष-
वम्यग्निसादमदपीनसकासनिद्राः।
शोषे भविष्यति भवन्ति स चापि जन्तुः
शुक्लेक्षणो भवति मांसपरो रिरंसुः ॥३॥
स्वप्नेषु काकशुकशल्लकिनीलकण्ठा
गृध्रास्तथैव कपयः कृकलासकाश्च।
तं वाहयन्ति स नदीर्विजलाश्च पश्येच्छुष्कां-
स्तरूप्पवनधूमदवार्दितांश्च ॥४॥

श्वास फूलना, अंगों में पीड़ा, कफस्राव, तालु-सूखना, वमन, मन्दाग्नि, मद, पीनस, खांसी और निद्रा—ये लक्षण शोष रोग उत्पन्न होने के पूर्व होते हैं और वह प्राणी सफेद नेत्रों वाला, मांस-प्रेमी और कामी हो जाता है। स्वप्नों में वह कौए, तोते, सेही, नीलकण्ठ, गिद्ध, बन्दर और गिरगिट की सवारी करता है और वह जलहीन नदियां तथा वायु, धूम्र और दावानल से पीड़ित शुष्क वृक्षों को देखता है।

वक्तव्य—(६८)चरक ने अन्नपान में मक्षिका, घुन, केश, तृण आदि का गिरना एवं केशों और नखों की वृद्धि; अकारण घृणा आदि लक्षण भी बतलाये हैं। वाग्भट ने पैरों और मुख पर शोथ होना बतलाया है।

राजयक्ष्मा के लक्षण

अंसपार्श्वाभितापश्च सन्तापः करपादयोः।
ज्वरः सर्वागगश्चेति लक्षणं राजयक्ष्मणः ॥५॥

कंधों, पार्श्वों, हाथों और पैरों में दाह एवं पीड़ा और सारे शरीर में ज्वर—ये राजयक्ष्मा के लक्षण हैं।

(भक्तद्वेषो ज्वरः श्वासः कासः शोणितदर्शनम्।
स्वरभेदश्च जायेत षड्रूपं राजयक्ष्मणि ॥)

अरुचि, ज्वर, श्वास, कास, रक्त गिरना और स्वरभेद ये छः लक्षण राजयक्ष्मा में होते हैं।

स्वरभेदोऽनिलाच्छूलं संकोचश्चांसपार्श्वयोः।
ज्वरो दाहोऽतिसारश्च पित्ताद्रक्तस्य चागमः ॥६॥
शिरसः परिपूर्णत्वमभक्तच्छन्द एव च।
कासः कण्ठस्य चोद्ध्वंसो विज्ञेयः कफकोपतः ॥७॥

स्वरभेद, कंधों और पार्श्वों में संकोच और शूल वात के प्रकोप के कारण; ज्वर, दाह, अतिसार और रक्तस्राव पित्त के प्रकोप के कारण और सिर में भारीपन, अरुचि, कास और धसका (अथवा गला फटा हुआ सा प्रतीत होना) कफ के प्रकोप के कारण समझना चाहिये।

राजयक्ष्मा के असाध्य लक्षण

एकादशभिरेभिर्वा षड्भिर्वाऽपि समन्वितम्।
कासातीसारपार्श्वार्तिस्वरभेदारुज्वरैः ॥८॥
त्रिभिर्वा पीडितं लिङ्गैः कासश्वासासृगामयैः।
जह्याच्छोषार्दितं जन्तुमिच्छन् सुविमलं यशः ॥९॥

इन ग्यारह लक्षणों (ऊपर श्लोक ६ और ७ में बतलाये हुए) अथवा कास, अतिसार, पार्श्व-वेदना, स्वरभेद, अरुचि और ज्वर—इन छः लक्षणों से युक्त अथवा कास, श्वास और रक्तस्राव (यहां ज्वरकासासृगामयैः पाठान्तर मिलता है जिसके अनुसार ज्वर, खांसी और रक्तस्राव) इन तीन लक्षणों से पीड़ित शोष रोगी को विमल यश चाहने वाला वैद्य छोड़ देवे।

सवर्वैस्त्रिभिर्वाऽपि लिगैर्मासवलक्षये।
युक्तो वर्ज्यश्चिकित्स्यस्तु सर्वरूपोऽप्यतोऽन्यथा ॥१०॥

बलमांस का क्षय हो चुकने पर सब (११), आधे (५॥ के स्थान पर ६ माने जावेंगे) अथवा तीन ही लक्षणों से युक्त रोगी त्याज्य है किंतु इसके विपरीत होने पर (बल मांस का क्षय विशेष न हुआ हो तो) सभी लक्षणों से युक्त रोगी चिकित्सा के योग्य है।

महाशनं क्षीयमाणमतीसारनिपीडितम्।
शूनमुष्कोदरं चैव यक्ष्मिणं परिवर्जयेत् ॥११॥

जो बहुत भोजन करने पर भी क्षीण होता जाता हो, जो अतिसार से पीड़ित हो और जिसके उदर और अण्ड-कोषों में शोथ हो ऐसे राजयक्ष्मा रोगी को छोड़ देना चाहिए।

शुक्लाक्षमन्नद्वेष्टारमूर्ध्वश्वासनिपीडितम्।
कृच्छ्रेण बहुमेहन्तं यक्ष्मा हन्तीह मानवम् ॥१२॥

जिसके नेत्र सफेद हो गये हों, भोजन से चिढ़ता हो, जो उर्ध्वश्वास से पीड़ित हो तथा जिसे कष्ट के साथ बहुतसा मूत्र उतरता हो, ऐसे रोगी को यक्ष्मा रोग मार डालता है।

वक्तव्य—(६६)राजयक्ष्मा एक अत्यन्त कष्टसाध्य रोग है। नवीन अवस्था में जब तक ज्वर कास आदि सामान्य लक्षण ही रहते हैं तभी तक यह साध्य है। ज्यों ज्यों अधिक लक्षण उत्पन्न होते जाते हैं त्यों त्यों साध्यता कम होती जाती है। उक्त ६ लक्षण उत्पन्न हो जाने पर रोग असाध्य होजाता है और ११ लक्षण उत्पन्न हो जाने पर तो पूर्ण रूप से असाध्य हो जाता है। कास-श्वास और रक्तस्राव (अथवा ज्वर, कास और रक्तस्राव)—ये ३ लक्षण गम्भीर आन्तरिक विकृति के द्योतक हैं; अन्य लक्षणों के अभाव में भी केवल ये ही प्राणघातक हो सकते हैं।

किसी भी रोग की चिकित्सा करते समय रोगी के बल-मांस की ओर सर्वप्रथम ध्यान दिया जाता है क्योंकि क्षीण रोगियों के लगभग सभी रोग असाध्य हुआ करते हैं। विशेषतः राजयक्ष्मा तो क्षय-प्रधान रोग है। जब वह धातुओं का क्षय कर ही चुका तब अवशेष क्या बचा? रोगी तो बहुत हद तक मर ही चुका; केवल श्वास चलती रहने से क्या होता है? चरक ने कहा है—

वातव्याधिरपस्मारी कुष्ठी ब्रध्नी चिरज्वरी।
गुल्मी च मधुमेही च राजयक्ष्मी च यो नरः॥
अचिकित्स्या भवन्त्येते बलमांसपरिक्षयात्।
स्वल्पेष्वपि विकारेषु भिषगेतान् विवर्जयेत्॥

अर्थात्—वातव्याधि, अपस्मार, कुष्ठ, ब्रध्न, जीर्ण-ज्वर, गुल्म, मधुमेह और राजयक्ष्मा से पीड़ित व्यक्ति बल-मांस का क्षय हो चुकने पर अचिकित्स्य हो जाते हैं; विकार थोड़ा होने पर भी वैद्य इन्हें छोड़ देवे।

सभी त्रिदोषज ज्वरों में अतिसार एक घातक उपद्रव माना जाता है क्योंकि इसमें धातुओं का क्षरण होने से अत्यन्त त्वरित वेग से शक्तिक्षय होता है। लगभग सभी चिकित्सकों का मत है कि त्रिदोषज ज्वरों में अतिसार की अपेक्षा मलावरोध कहीं अच्छा है। राजयक्ष्मा भी एक त्रिदोषज ज्वर है। इसमें अधिकतर अतिसार की उत्पत्ति कफ निगल जाने से आंतों में भी उपसर्ग हो जाने के कारण होती है। इस रोग में धातुओं का क्षय होता ही है, अतिसार होने से उनका क्षरण भी होने लगता है। इस तरह दो प्रकार से धातुओं का नाश होने से रोगी शीघ्र ही क्षीण होकर प्राण त्याग देता है।

अत्यन्त अरुचि भी राजयक्ष्मा रोगी के लिये घातक होती है। भोजन न करने से धातुओं का क्षय और भी द्रुत गति से होता है जो घातक होता है। इसी प्रकार बहुत खाने पर भी अधिक क्षीणता उत्पन्न होना पाचन-संस्थान की किसी गंभीर विकृति का द्योतक है इसलिए इसे भी असाध्य कहा जाता है।

शोथ और बहुमूत्र दोनों ही वृक्क-गत उपसर्ग के लक्षण हैं। नेत्र-कला का श्वेत हो जाना रक्तक्षय का लक्षण है। उर्ध्वश्वास फुफ्फुसों में बड़े बड़े विवर बन जाने का सूचक है। ये लक्षण इस रोग के अन्तिम चरण में उत्पन्न होते हैं।

चिकित्स्य राजयक्ष्मी के लक्षण

ज्वरानुबन्धरहितं बलवन्तं क्रियासहम्।
उपक्रमेदात्मवन्तं दीप्ताग्निमकृशं नरम्॥ १३॥

ज्वर के अनुबन्ध (सातत्य) से रहित, बलवान्, चिकित्सा की क्रियाओं को सहने की क्षमता रखने वाले, संयमी, दीप्ताग्नि और अकृश (जो कृश न हुआ हो) मनुष्य की चिकित्सा करनी चाहिए।

राजयक्ष्मा पर पाश्चात्य मत—

राजयक्ष्मा (*Tuberculosis, Phthisis, Consumption*) एक जीवाणुजन्य संक्रामक रोग है। इसकी उत्पत्ति यक्ष्मा-दण्डाणु (*Tubercle Bacilli, Mycobacterium Tuberculosis*) के उपसर्ग से होती है। उपसर्ग अनेक प्रकार से होता है। फौफ्फुसीय राजयक्ष्मा रोगी का थूक सूख जाने पर चूर्ण

होकर धूल में मिल जाता है और धूल के साथ उड़कर उसमें रहे हुए दण्डाणु अन्य व्यक्तियों के श्वासमार्ग में प्रवेश करते हैं। इसी तरह रोगी व्यक्ति का थूक घास पर पड़ने से घास दूषित हो जाती है और उस घास को खाने से गाय रोगाक्रान्त हो जाती है। फिर उस गाय का दूध बिना पकाये पीने वाले व्यक्तियों के पाचन-संस्थान में यक्ष्मा दण्डाणु पहुंच कर रोगोत्पत्ति करते हैं। इसके अतिरिक्त चुम्बन, बिंदू-क्षेप, संक्रमित खाद्य-पेय, संक्रमित वस्त्र (त्वचागत व्रणों के मार्ग से) आदि से भी संक्रमण होता है। गर्भिणी को यह रोग होने पर गर्भस्थ शिशु प्रायः रोगमुक्त ही रहता है किन्तु जन्म के पश्चात् दुग्ध आदि के द्वारा संक्रमण हो जाता है; वैसे अपरा द्वारा संक्रमण असंभव नहीं है।

यक्ष्मा दण्डाणु अत्यन्त सहिष्णु एवं दीर्घजीवी होते हैं। शरीर के बाहर और भीतर अत्यन्त विषम परिस्थितियों में भी ये दीर्घकाल तक जीवित तथा रोगोत्पत्ति करने में समर्थ रहे आते हैं। शरीर में रोग-प्रतिकारक क्षमता पर्याप्त अंशों में विद्यमान होने पर ये लक्षण उत्पन्न नहीं करते अथवा अत्यन्त सौम्य लक्षण उत्पन्न करते और गुप्तरूप से निवास करते हुये क्षमता का नाश होने की प्रतीक्षा करते रहते हैं। कालान्तर में ये या तो स्वयमेव नष्ट हो जाते हैं अथवा कारणवश क्षमता में कमी आने पर अथवा बाहर से बड़ी संख्या में नये क्षय-दण्डाणुओं का प्रवेश होने पर रोगोत्पत्ति करते हैं। इनके थोड़ी संख्या में बारम्बार आक्रमण करने से एवं शरीर में गुप्त रूप से निवास करने से क्षमता की उत्पत्ति भी होती है। इस प्रकार बहुत से लोग यक्ष्मादण्डाणुओं से उपसृष्ट होते हुये भी राजयक्ष्मा से पीड़ित नहीं होते। किन्तु इस प्रकार की क्षमता विश्वसनीय नहीं रहती क्योंकि अनेक कारणों से इसमें कमी आ सकती है और शरीर के भीतर उपस्थित अथवा बाहर से आये हुये यक्ष्मादण्डाणु रोगोत्पत्ति कर सकते हैं। इसलिए यक्ष्मा दण्डाणुओं से बचना तथा उचित आहार-विहार के द्वारा शरीर को बलवान बनाये रखना ही इस रोग से बचने का सर्वोत्तम उपाय है।

निम्नलिखित परिस्थितियां इस रोग की उत्पत्ति में सहायक होती हैं।

(१) वंश *(Heredity)*—कुछ कुटुम्बों में यह रोग विशेषरूप से पाया जाता है। इसका कारण या तो वंशगत रोग ग्राहकता है अथवा रोगी के सम्पर्क में रहने से संक्रमण हो जाता है। रोगी स्त्री-पुरुष प्रायः सन्तान उत्पन्न करने में असमर्थ हो जाते हैं और यदि सन्तान होती भी है तो जन्म के समय पर उसके शरीर में यक्ष्मा-दण्डाणु प्रायः नहीं मिलते तथा यदि उसी समय उसे पृथक् कर लिया जावे तो प्रायः रोगोत्पत्ति नहीं होती।

(२) जाति—कुछ जातियां विशेष रूप से आक्रान्त होते पायी जाती हैं। यदि किसी नयी जाति के लोगों में उस रोग का प्रवेश होता है तो उनमें यह बड़ी तेजी से फैलता है।

(३) लिंग—कुल रोगियों में पुरुषों की संख्या अधिक रहती है किन्तु युवा रोगियों में स्त्रियों की संख्या अधिक रहती है। संभवतः गर्भधारण, दुग्ध प्रदान आदि से क्षमता में कमी आ जाने से ही स्त्रियां आक्रान्त होती हैं।

(४) आयु—वैसे यह रोग किसी भी आयु में हो सकता है किन्तु बच्चे और युवा अधिक आक्रान्त होते हैं।

(५) धंधा—कारखानों और खदानों में काम करने वाले अधिकतर आक्रान्त होते हैं। शक्ति से बाहर परिश्रम और पौष्टिक पदार्थों का अभाव भी एक कारण है।

(६) निवास—सील-युक्त, प्रकाशहीन, संकीर्ण और अत्यन्त जनाकीर्ण गंदे स्थानों के निवासी भी अधिकतर आक्रान्त होते हैं।

(७) गिरा हुआ स्वास्थ्य, धातुक्षय—वातश्लेष्म ज्वर, काली खांसी, रोमान्तिका आदि रोगों के आक्रमण के पश्चात् तथा जीर्ण विषमज्वर, जीर्ण

काल ज्वर, मधुमेह, मदात्यय, फिरंग, हृद्रोग, जीवतिक्ति अभाव, अनशन, अत्यधिक परिश्रम, सगर्भावस्था, दुग्ध-प्रदान आदि के कारण कमजोरी की दशा में इस रोग के आक्रमण की संभावना अधिक रहती है।

(८) प्रविष्ट दण्डाणुओं की संख्या और शक्ति पर भी रोगोत्पत्ति अवलम्बित रहती है।

यक्ष्मा-दण्डाणु शरीर के किसी भी भाग में (आमाशय को छोड़कर) रोगोत्पत्ति कर सकते हैं। रोग का नामकरण प्रभावित अंग का नाम जोड़ कर किया जाता है जैसे फौफ्फुसीय राजयक्ष्मा, आंत्रीय राजयक्ष्मा, त्वचागत राजयक्ष्मा, अस्थिगत राजयक्ष्मा आदि। सभी स्थानों पर लगभग एक ही प्रकार की विकृति उत्पन्न होती है किन्तु स्थान भेद से लक्षणों में अत्यधिक अन्तर होता है। अधिकांश मामलों में विकृति यक्ष्मि-निर्माण होकर होती है। शरीर के किसी भी भाग में यक्ष्मा-दण्डाणु के अवस्थित होने पर वहां की धातुओं में प्रतिक्रिया होकर अनेक प्रकार के कणों की उत्पत्ति होती है जो यक्ष्मा-दण्डाणु को चारों ओर से घेर कर एक ग्रन्थि बना देते हैं। ये ग्रन्थियां इतनी सूक्ष्म होती हैं कि केवल सूक्ष्मदर्शक यंत्र से ही देखी जा सकती हैं; इन्हें यक्ष्मि (Tubercle) कहते हैं। इस प्रकार की अनेक यक्ष्मियों के मिलने से एक 'धूसर यक्ष्मि' (Grey Tubercle) बनती है जिसका आकार सरसों के बराबर होता है। इनके आकार में क्रमशः वृद्धि होती रहती है तथा यक्ष्मा दण्डाणु से उत्पन्न होने वाले विष (Toxin) के प्रभाव से और रक्त संवहन में बाधा पहुँचने से यक्ष्मि के भीतर स्थित पदार्थ एक पीले चिपचिपे पदार्थ (किलाट, Caseous Matter) में परिवर्तित होजाते हैं—किलाटीभवन (Caseation)। इससे यक्ष्मि का वर्ण पीला हो जाता है अतएव उसे पीत-यक्ष्मि (*Yellow tubercle*) कहते हैं। पीत-यक्ष्मि का आकार काफी बड़ा होता है; कभी कभी इसका व्यास १-२ इंच तक हो सकता है। किलाटीभवन के बाद द्रवीभवन (*Liquifaction*) और पाक (*Supperation*) होता है जिससे विवर (*Cavity*) बन जाते हैं अथवा सौत्रिक तन्तुओं की उत्पत्ति और चूर्णातु (चूने, *Calcium*) का अन्तर्भरण होकर रोपण हो जाता है। यक्ष्मि के आस-पास के भागों में रक्ताधिक्य पाया जाता है और प्रदाह भी हो सकता है। आस पास की रक्तवाहिनियों की दीवारें मोटी हो जाती हैं जिसके फलस्वरूप उनकी नलिकायें संकीर्ण हो जाती हैं तथा कुछ मामलों में उनमें रक्त जम जाता है। कभी कभी यक्ष्मा दण्डाणु के उपसर्ग से यक्ष्मि-निर्माण न होकर व्यापक अन्तर्भरण (*General infiltration*) होता है; ऐसा अधिकतर वृषण और धमिल्लक (*Cerebellum*) के उपसर्ग में पाया जाता है।

अब राजयक्ष्मा के विभिन्न प्रकारों का वर्णन किया जाता है—

(१) श्यामाकीय राजयक्ष्मा (*Miliary T.*)—

(अ) तीव्र श्यामाकीय राजयक्ष्मा, आशुकारी पिडिकामय राजयक्ष्मा (*Acute Miliary Tuberculosis*)- यह रोग अधिकतर २-३ वर्ष के बालकों को होता है; कभी कभी किशोरों और युवकों में भी पाया जाता है। शरीर में यक्ष्मा-दण्डाणु काफी समय पूर्व से उपस्थित रहते हैं किन्तु रोग का आक्रमण किसी अन्य रोग के कारण दुर्बलता आने पर होता है। बालकों में अधिकतर लोहित ज्वर के बाद अथवा काली खांसी होने पर इसका आक्रमण होना पाया जाता है। इस रोग में सावां (श्यामाक, *Milium Millet*) के दानों के समान यक्ष्मियां सारे शरीर में एक साथ उत्पन्न होती हैं इसलिये इसका नाम श्यामाकीय पड़ा है। ये यक्ष्मियां फुफ्फुस, यकृत, प्लीहा, वृक्क, वृषण आदि अंगों में और फुफ्फुसावरण, हृदयावरण, उदरावरण, मस्तिष्कावरण कलाओं में अधिक स्पष्ट लक्षित होती हैं।

रोग का आरम्भ होते समय सारे शरीर में पीड़ा बेचैनी, अवसाद, अत्यन्त निर्बलता आदि पूर्वरूप

होते हैं अथवा एकाएक आक्रमण होता है। जाड़ा लगकर तीव्र ज्वर आता है जो संतत रूप से रहता है किन्तु अनियमित रूप से थोड़ा बहुत घटता बढ़ता रहता है। सारे शरीर की पेशियों में और सिर में पीड़ा, अत्यधिक कमजोरी और तन्द्रा आदि लक्षण रहते हैं, अत्यधिक विषमयता होती है और मांस-क्षय तेजी के साथ होता है। सभी लक्षण दिन प्रतिदिन बढ़ते हैं और थोड़े ही काल में मृत्यु हो जाती है।

यह रोग अधिकतर सार्वांगिक होता है किन्तु कभी कभी दण्डाणु श्वास-संस्थान, आन्त्र अथवा मस्तिष्कावरण में विशेष रूप से केन्द्रीभूत होकर स्थानिक रोग के समान लक्षण उत्पन्न करते हैं।

आन्त्रिक प्रकार अथवा आन्त्रिक ज्वर सदृष प्रकार (*Typhoid type*)—रोग का आरम्भ धीरे धीरे एवं वृद्धि क्रमशः होती है। ज्वर सदैव बना रहता है तथा अनियमित समय पर बढ़ता-घटता है। उदर कठोर और प्लीहा बढ़ी हुई रहती है। तन्द्रा रहती है किन्तु नाड़ी की गति तीव्र रहती है। कुछ समय बाद श्यावता की उत्पत्ति होती है। रक्त में श्वेतकणों की वृद्धि होती है किन्तु कभी कभी इनका ह्रास भी पाया जा सकता है। ३ माह या कम समय में अत्यन्त क्षीणता आकर संन्यास होकर मृत्यु हो जाती है।

श्वासमार्गीय प्रकार अथवा फुफ्फुसनलिका प्रादाहिका प्रकार (Respiratory or Broncho-pneumonic Type)—इस प्रकार में दोनों फुफ्फुसों में सरसों के आकार की असंख्य यक्ष्मियां उत्पन्न होती हैं तथा रक्ताधिक्य, शोथ एवं संघनन होता है। प्रारम्भ में साधारण प्रतिश्याय अथवा श्वासनलिका प्रदाह होता है जो आगे चलकर फुफ्फुस-नलिका प्रदाह का रूप धारण कर लेता है। ज्वर १०२° से १०४° तक रहता है। ज्वर की अपेक्षा नाड़ी और श्वास की गतियां अधिक तीव्र होती हैं। श्यावता भी उपस्थित रहती है। लगभग १-६ सप्ताह में मृत्यु हो जाती है।

मस्तिष्कावरणीय प्रकार अथवा राजयक्ष्मा जन्य मस्तिष्कावरण प्रदाह (Meningeal Type or Tubercular Meningitis)—कभी कभी यह श्यामाकीय राजयक्ष्मा का एक भेद हुआ करता है किन्तु अधिकांश मामलों में स्वतंत्र रूप से होता है। स्वतंत्र मामलों में विकृति सार्वदैहिक न होकर केवल स्थानिक होती है—यही विभेद है। इस रोग में मस्तिष्क के तलभाग एवं अन्य समीपस्थ भागों में बहुत सी धूसर यक्ष्मियां उत्पन्न होती हैं।

रोग का आरम्भ गुहा रूप से होता है। प्रारम्भ में सिर दर्द, बेचैनी, अरुचि, वमन, हल्का ज्वर, बल क्षय आदि पूर्वरूप कुछ दिनों तक रहते हैं। फिर भयंकर सिरदर्द, बेचैनी, वमन आदि लक्षणों के साथ तीव्रज्वर(१०२°-१०४°)का आक्रमण होता है। कभी कभी आक्षेप आकर ज्वर चढ़ता है। प्रारम्भ में नाड़ी तीव्र रहती है किन्तु फिर क्रमशः मन्द एवं अनियमित होजाती है। प्रकाश सहन नहीं होता—प्रकाशसंत्रास (photophobia) पुतलियां संकुचित एवं किंचित् तिरछी होसकती हैं। मलावरोध रहता है। यह प्रक्षोभ की अवस्था (Stage of Irritation) कहलाती है।

इसके बाद मस्तिष्कावरण में द्रव की उत्पत्ति होती है जिसके फलस्वरूप मस्तिष्क एवं करोटि में स्थित अन्य अवयवों पर दबाव पड़ता है। इससे रोगी का शरीर अकड़कर पीछे की ओर धनुषाकर मुड़ जाता है—बाह्यायाम। रोगी अधिकतर करवट से लेटता है। हाथ-पैर कोहनी और घुटने पर मुड़े हुए रहते हैं। गर्दन सामने की ओर नहीं झुकाई जासकती। नेत्र की तारिकाएं प्रसारित या असमान, तिरछी या अनैच्छिक रीति से गतिशील (नेत्रप्रचलन Nystagmus) रहती हैं। एक अथवा दोनों पलकों का घात होजाता है (Ptosis) जिससे आंखें बन्द या अधखुली रहती हैं। आंखों पर अब प्रकाश का प्रभाव बहुत कम होता है अथवा बिलकुल नहीं होता। बाद की दशाओं में तारिकाओं में शोथ अथवा यक्ष्मियों की उत्पत्ति होसकती है। इस समय ज्वर

कम होजाता है अथवा पूर्ववत् रहता है किन्तु नाड़ी और श्वास-प्रश्वास मन्द एवं अनियमित होजाते हैं। रोगी प्राय: तन्द्रा की अवस्था में मन्द एवं अनियमित होजाते हैं। रोगी प्रायः तन्द्रा की अवस्था में जा जाता है। छोटे बालकों के ब्रह्मरंध्र पर शोथ हो जाता है और उदक-शीर्ष के लक्षण—सिर का आकार बड़ा होना, कपाल की अस्थियों का पृथक्-पृथक् होना, अधिक देर तक रोने में असमर्थता आदि भी प्रकट होते हैं। कुछ मामलों में त्वचागत रक्ताधिक्य पाया जाता है। यह अवस्था सम्पीड़न की अवस्था (Stage of Compression) कहलाती है।

इसके बाद की अवस्था में क्रमशः तन्द्रा बढ़कर संन्यास होजाता है; अनेक अंगों का घात होजाता है तथा मल मूत्र का विसर्जन अनैच्छिक रीति से होने लगता है। दांत पीसना, पेशी उद्वेष्टन, कम्प, आक्षेप आदि लक्षण भी पाये जा सकते हैं। नाड़ी तीव्र और अनियमित हो जाती है। श्वास भी अनियमित अथवा रुक-रुक कर चलती है। ताप का ह्रास होता है और अन्त में मृत्यु होजाती है। मृत्यु के समय तक रोगी अत्यन्त क्षीण हो चुका होता है यह अवस्था घात की अवस्था (Stage of paralysis) कहलाती है।

इस रोग में रक्त में श्वेत कणों की सामान्य वृद्धि होती है। मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव में प्रोभूजिनों और और कोषीय पदार्थों विशेषतः लसकायाणुओं की वृद्धि होती है तथा शर्करा और नीरेय (Chlorides) घट जाते हैं। गिनी पिग के शरीर में इस द्रव का सूची द्वारा प्रवेश करने से घातक राजयक्ष्मा की उत्पत्ति होती है।

(ब) अनुतीव्र श्यामाकीय राजयक्ष्मा (Subacute Miliary Tuberculosis)—इस प्रकार का रोग कम घातक एवं दैर्घकालिक होता है। शरीर के किसी भाग में किलाटीभूत यक्ष्मियां उपस्थित रहती हैं जिनमें से समय समय पर यक्ष्मा-दण्डाणु रक्त में प्रविष्ट होते रहते हैं। धीरे धीरे फुफ्फुस, प्लीहा, वृक्क, यकृत, फुफ्फुसावरण, हृदयावरण मस्तिष्कावरण, उदरावरण आदि भी आक्रान्त हो जाते हैं। साधारण ज्वर, कास, श्वास, रक्तष्ठीवन, पार्श्व और सर्वाङ्ग में पीड़ा, थकावट, कमजोरी आदि लक्षण उपस्थित रहते हैं। रोग महीनों और कभी-कभी वर्षों चलता है। समय-समय पर दशा बिगड़ती सुधरती रहती है। कुछ रोगी मर जाते हैं और कुछ का रोग गुप्त अवस्था में पहुंच जाता है।

(स) चिरकारी श्यामाकीय राजयक्ष्मा (Chronic Miliary Tuberculosis)—इस प्रकार में रोग अत्यन्त धीरे प्रगति करता है और लक्षण अत्यन्त सौम्य प्रकार के होते हैं। कुछ मामलों में फुफ्फुसों में तन्तूत्कर्ष, वातोत्फुल्लता, चिरकारी उदरावरण प्रदाह लस ग्रन्थि प्रदाह आदि पाये जा सकते हैं।

(२) फौफ्फुसीय राजयक्ष्मा (Pulmonary T. Consumption, Phthisis)—

(अ) तीव्र फुफ्फुस प्रदाही राजयक्ष्मा (Acute Pneumonic Tuberculosis, Pneumonic Ththisis, Acute Ththisis, Galloping Ththisis, Ththisis Florida)—यह रोग अत्यन्त तेजी से बढ़ता है, लक्षण गंभीर होते हैं और अधिकतर मारक होता है। बालक और वयस्क समान रूप से प्रभावित होते हैं। फुफ्फुसों में बड़ी संख्या में यक्ष्मा दंडाणुओं का प्रवेश तथा प्रतिकारक-क्षमता की अत्यन्त कमी के कारण इसकी उत्पत्ति होती।

रोग के लक्षण फुफ्फुसखण्ड प्रदाह अथवा फुफ्फुस नलिका प्रदाह के समान ही होते हैं किन्तु लक्षण अधिक गंभीर होते हैं। अधिक श्वासकष्ट, श्यावता और अधिक धातुक्षय इसकी विशेषताएँ हैं। तापक्रम में अधिक उतार-चढ़ाव होते हैं और पसीना आता है। यदि शीघ्र ही मृत्यु न हो तो रोग काल सामान्य फुफ्फुस प्रदाह की अपेक्षा लम्बा होता है और फुफ्फुसों में विवर बन जाते हैं।

रोगी के जीवन का कोई भरोसा नहीं रहता,

किसी भी समय मृत्यु हो सकती है। बचने वालों को चिरकारी अथवा सौत्रिक फौप्फुसीय राजयक्ष्मा हो जाता है।

थूक में यक्ष्मा-दण्डाणु पाये जाते हैं। रक्त में साधारण श्वेतकायाणूत्कर्ष मिलता है।

(ब) चिरकारी फौप्फुसीय राजयक्ष्मा● (Chronic Pulmonary Tuberculosis, Chronic UlcerativeTuberculosis of the Lungs)–इस रोग में व्रणोत्पत्ति और रोपण दोनों क्रियायें साथ साथ चलती रहती हैं अर्थात् रोग और क्षमता में निरन्तर युद्ध चलता रहता है,कभी एक की विजय होती है और कभी दूसरे की। अतएव लक्षणों का शमन और पुनराक्रमण समय समय पर होता रहता है।

यक्ष्मा-दण्डाणु फुफ्फुसों के किसी भी भाग की सूक्ष्म श्वास-नलिकाओं के छोरों पर अवस्थित हुआ करते हैं किन्तु अधिकतर फुफ्फुसों के ऊपरी पिण्ड और विशेषत: दाहिने फुफ्फुस में यह क्रिया सामान्यत: होते पायी जाती है। फिर धूसर यक्ष्मियों की उत्पत्ति होती है और उनके कारण प्रदाह होता है

फौप्फुसीय राजयक्ष्मा का क्ष-किरण चित्र
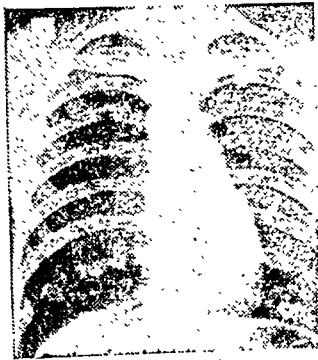
दोनों फुफ्फुसों के ऊपरी भागों में राजयक्ष्मीय अन्तर्भरण और बायीं ओर एक साधारण आकार का विवर

और वायुकोषों का प्रदाह (Broncho-Pneumonia) के सदृश्य होती है। प्रतिकारक क्षमता उचित मात्रा में उपस्थित होने पर तन्तूत्कर्ष और चूर्णीभवन होकर रोपण हो जाता है किन्तु क्षमता के अभाव में प्रदाह बढ़कर किलाटीभवन होता है। पीड़ित भाग गलकर तरल हो जाता है और किसी बड़ी श्वासनलिका की राह से थूक के साथ निकल जाता है तथा उस स्थान पर विवर (Cavity) बन जाता है। फिर क्रमश: अन्य स्थानों पर भी यही क्रिया होती है। रोग का प्रसार प्रत्यक्ष रीति से समीपस्थ भागों में और लस-वाहिनियों, रक्तवाहिनियों तथा श्वास नलिकाओं के द्वारा परोक्ष रीति से दूरस्थ भागों में होता है।

साध्यासाध्य की विवेचना के लिये रोग की तीन अवस्थायें मानी जाती हैं—

प्रथम अवस्था—यदि विकृति एक ही फुफ्फुस में हो तो द्वितीय पर्शुका से ऊपर के भाग में हो और यदि दोनों फुफ्फुसों में हो तो केवल थोड़ा सा ऊर्ध्व भाग ही आक्रांत हो, प्रारम्भिक अन्तर्भरण की क्रिया चल रही हो और रोगी चलता फिरता एवं ज्वरयुक्त हो।

द्वितीय अवस्था—यदि एक ही फुफ्फुस आक्रान्त हो तो विकृति चौथी पर्शुका से नीचे न फैली हो और यदि दोनों फुफ्फुस आक्रान्त हों तो दूसरी पर्शुकाओं से ऊपर के क्षेत्र में ही सीमित हो; घनीभवन हो चुका हो और किलाटीभवन की क्रिया आरम्भ होरही हो तथा रोगी चलने फिरने पर भले ही ज्वराक्रान्त हो जाता हो किन्तु लिटा कर रखने पर ज्वर नहीं रहना चाहिये।

तृतीय अवस्था—रोग और भी अधिक फैला हुआ हो; विवर बन चुके हों और लिटा कर रखने पर भी ज्वर रहता हो।

प्रथम अवस्था साध्य, द्वितीय कष्टसाध्य अथवा याप्य और तृतीय अत्यन्त कष्टसाध्य या असाध्य होती है।

रोग का आरम्भ अनेक प्रकार से होता है–

(*i*) अधिकांश रोगियों में प्रतिश्याय (श्वासनलिका प्रदाह, *Bronchitis*) होकर यह रोग उत्पन्न होता है। रोगी कहता है कि उसका जुखाम बिगड़

● आयुर्वेद-ग्रंथों में वर्णित राजयक्ष्मा यही है।

गया है। संभवतः यक्ष्मा दण्डाणु प्रविष्ट होते समय श्वासनलिका आदि में क्षोभ एवं प्रदाह उत्पन्न करते हैं अथवा फुफ्फुसों में स्थित यक्ष्मा दण्डाणुओं के द्वारा जिन विषों का उत्सर्ग होता है उनके प्रति अनूर्जता (*Allergy*) होने के कारण श्वासनलिका प्रदाह होता है किन्तु बारम्बार प्रतिश्याय होना और जल्द अच्छा न होना एक अत्यन्त महत्वपूर्ण पूर्वरूप है। खांसी अधिक आती है और अत्यन्त कष्टदायक होती है। कुछ रोगियों में तमक श्वास (दमा *Asthma*) के समान लक्षण उत्पन्न होते हैं।

(*ii*) कुछ रोगियों में शुष्क या सद्रव 'फुफ्फुसावरण प्रदाह' होने के बाद रोगोत्पत्ति होती है।

(*iii*) गले और कक्षा की 'लसग्रन्थियों का राजयक्ष्मा' (कण्ठमाला) अधिकतर फौफ्फुसीय राजयक्ष्मा में परिवर्तित हो जाता है। इन ग्रन्थियों को शल्य क्रिया द्वारा निकाल देने के कुछ काल बाद भी रोगोत्पत्ति सम्भव है।

(*iv*) अधिक दिनों तक 'गले और स्वरयंत्र में कष्ट (गले में पीड़ा, बोलने में कष्ट, स्वरभंग) रहना अधिकतर राजयक्ष्मा की उत्पत्ति का परिचायक होता है। श्वासमार्ग द्वारा प्रविष्ट यक्ष्मा दण्डाणु कुछ काल तक इन स्थानों में निवास करने के बाद फुफ्फुसों में उतरते हैं अथवा कुछ जीवाणु फुफ्फुसों में उतर जाते हैं और कुछ गले एवं आस पास के स्थानों में रहे आते हैं। कभी कभी उक्त दशाऐं अत्यन्त बढ़े हुए राजयक्ष्मा की परिचायक भी हो सकती है क्योंकि यक्ष्मा दण्डाणुओं से युक्त कफ इसी मार्ग से निकलता है अतएव यहां भी संक्रमण हो जाना स्वाभाविक ही है।

(*v*) बहुत से मामलों में सर्वप्रथम फुफ्फुसों से अचानक 'रक्तस्राव (रक्तष्ठीवन)' होता है और उसके बाद फुफ्फुसगत लक्षणों की उत्पत्ति अत्यन्त शीघ्रता से होती है। कुछ मामलों में फौफ्फुसीय लक्षणों की उत्पत्ति के महीनों पूर्व अनेक बार रक्तष्ठीवन होता है। किन्तु अधिकांश मामलों में रक्तष्ठीवन के समय पर फौफ्फुसीय लक्षण उपस्थित पाये जाते हैं।

(*vi*) बहुत से मामलों में राजयक्ष्मा का प्रारंभ 'विषमज्वर' के समान ज्वर आकर होता है—नियमित समय पर जाड़ा देकर बुखार आता है और पसीना देकर उतरता है। जिन स्थानों में विषमज्वर बहुतायत से पाया जाता है वहां ऐसे मामलों में रोगविनिश्चय तो क्या सन्देह करना भी कठिन होता है। किसी भी विषम ज्वर के रोगी का ज्वर यदि सामान्य चिकित्सा से निश्चित अवधि में शान्त नहीं होता तो राजयक्ष्मा का सन्देह करना चाहिये।

(vii) कुछ रोगियों में इस रोग का आरम्भ 'अजीर्ण' के लक्षणों (अम्ल-वमन, अम्लोद्गार आदि) और "रक्तक्षय" (उपवर्णिक, सूक्ष्म कायाणिवक प्रकार—कमजोरी की उत्तरोत्तर वृद्धि, हृदय में धड़कन, भोजन के बाद किंचित् ज्वर सा होजाना, स्त्रियों में आर्तव-क्षय या अनार्तव) के साथ होता है। अधिकतर नवयुवतियों और बालकों में ऐसा होता है।

(viii) कभी-कभी रोग की प्रगति अत्यन्त 'गुप्त रूप' से से होती है—प्रारम्भ में कोई लक्षण उत्पन्न नहीं होते और काफी बड़े विवर बन जाने पर ही रोगी को ज्ञान होता है कि मैं बीमार हूँ। दूसरे स्थानों में रोग होने पर फुफ्फुसों में राजयक्ष्मा की उत्पत्ति के लक्षण पूर्ववर्ती रोग के लक्षणों में छिपे हुए रह सकते हैं।

उपर्युक्त के अतिरिक्त अन्य कई प्रकार से इस रोग का आरम्भ होता है किन्तु वे इतने विरल हैं कि उनका वर्णन यहां आवश्यक नहीं है। अब हम इस रोग के मुख्य लक्षणों पर विवेचना करते हैं।

स्थानिक लक्षण—

(i) पीड़ा—वक्ष में पीड़ा प्रारम्भ से ही हो सकती है अथवा अन्त तक अनुपस्थित रह सकती है। यह फुफ्फुसावरण में प्रदाह होने के कारण होती

है और शूल के समान अत्यन्त कष्टदायक होसकती है अथवा इतनी सौम्य होती है कि केवल खांसने के समय ही प्रतीत हो। कुछ मामलों में यह लगातार होती है और कुछ में समय-समय पर आक्रमण होते हैं; कभी-कभी दो आक्रमणों के बीच का समय काफी लम्बा हो सकता है। अधिकतर इसका स्थान वक्ष के निचले भाग में होता है किन्तु कुछ मामलों में कंधे के समीप हो सकता है। राजयक्ष्मा की उपस्थिति में पर्शुकान्तरीय वात-नाड़ीशूल (Intercostal Neuralgia) भी कभी-कभी उत्पन्न हो जाता है।

(ii) कास—अधिकांश रोगियों में यह सबसे पहले प्रकट होती और अन्त तक रहती है। प्रारम्भ में शुष्क रहती है किन्तु बाद में क्रमशः तर होती जाती है और अण्डे की सफेदी के समान आमयुक्त, पूयमिश्रित कफ निकलता है। प्रारम्भ में खांसी श्वास-नलिका से सम्बंधित रहती है किन्तु बाद की दशाओं में यह प्रावेगिक प्रकार (Paroxysmal) की होजाती है और प्रातःकाल अथवा सोकर उठने के बाद अधिक सताती है। जब रोग अपने पूर्ण रूप को प्राप्त कर चुकता है तब रात्रि में अधिक खांसी आती है जिससे नींद आना कठिन होजाता है; कुछ मामलों में खांसी इतने वेग से आती है कि वमन होजाता है और पोषण के अभाव से शीघ्र ही रोगी अत्यन्त कृश हो जाता है। स्वरयंत्र में भी उपसर्ग होजाने पर खांसी धसके के रूप में बदल जाती है और वाचिक तंत्रिकाओं में क्षरण और व्रणीभवन पर्याप्त रूप से हो चुकने पर खांसी लेना अत्यन्त कठिन होजाता है। अपवाद स्वरूप कुछ मामले ऐसे भी मिलते हैं जिनमें एक फुफ्फुस में विवर बन चुकने पर भी खांसी की अनुपस्थिति को राजयक्ष्मा की अनुपस्थिति मान लेना भयंकर भूल साबित हो सकता है।

(iii) ष्ठीवन‡ (थूक, Sputum)—विभिन्न रोगियों में और एक ही रोगी के रोग की विभिन्न अवस्थाओं में इसकी मात्रा एवं प्रकृति में महान् अन्तर होता है। ऐसे भी रोगी मिलते हैं जिन्हें ष्ठीवन बिलकुल नहीं निकलता अथवा अत्यन्त कम मात्रा में निकलता है। सामान्यतः फौफ्फुसीय राजयक्ष्मा की प्रारम्भिक अवस्था में निकलने वाला ष्ठीवन प्रसेकी (Catarrhal) प्रकार का होता है और अपचयित वायुकोषीय कोषों की उपस्थिति के कारण वह पकाये हुए साबूदाने के समान दिखता है। इस प्रकार का ष्ठीवन महीनों तक निकलता रह सकता है। निदान की दृष्टि से इसका कोई विशेष महत्व नहीं है, निदानात्मक ष्ठीवन किलाटीभवन प्रारम्भ होने पर निकलता है, इसमें धूसर या हरिताभ-धूसर वर्ण का पूय मिश्रित रहता है। ज्यों-ज्यों किलाटीभवन होता है त्यों-त्यों ष्ठीवन अधिक मात्रा में और अधिक पूययुक्त निकलता है किन्तु इस समय भी वायुकोषीय कोष पाये जा सकते हैं। अन्ततः विवर बन चुकने पर विशेष प्रकार का थक्केदार कफ निकलता है। प्रत्येक थक्का चपटा, हरिताभ-धूसर वर्ण का, वायु रहित और जल में डूबने वाला होता है। ष्ठीवन की परीक्षा करने पर उसमें यक्ष्मा-दण्डाणु पाये जाते हैं और इनका पाया जाना राजयक्ष्मा की उपस्थिति का ठोस प्रमाण है। अधिकांश मामलों में ये प्रारम्भ से हो पाये जाते हैं किन्तु किलाटीभवन के बाद अवश्य ही मिलते हैं। किसी-किसी समय पर ये अनुपस्थित भी हो सकते हैं, ऐसी दशा में कुछ काल बाद पुनः परीक्षा करना चाहिये।

ष्ठीवन की मात्रा में पर्याप्त विभिन्नता पायी जाती है—तेजी से बढ़ते हुए रोग में यह ५०० घन सेन्टीमीटर प्रतिदिन तक हो सकती है। बड़े-बड़े विवर बनजाने पर अधिकांश ष्ठीवन प्रातःकाल निकला करता है। राजयक्ष्मा रोगी के ष्ठीवन में एक गहरी विशेष प्रकार की मधुर गंध पायी जाती है किन्तु फुफ्फुसों में सड़ने की क्रिया होने पर दुर्गन्ध आती है।

कुछ मामलों में यक्ष्मा दण्डाणुओं के साथ ही साथ अन्य जीवाणुओं का भी उपसर्ग होजाता है,

‡ यहां 'ष्ठीवन' शब्द से मुख में उत्पन्न होने वाली लार से नहीं फुफ्फुसों से आने वाले कफ-पूय से तात्पर्य है।

ऐसी दशा में ष्ठीवन में वे भी पाये जाते हैं। रक्त-ष्ठीवन होने पर ष्ठीवन के साथ रक्त का मिलना स्वाभाविक ही है। अत्यन्त विरल मामलों में ष्ठीवन के साथ अश्मरी भी पायी गयी हैं। ये संख्या में एक या बहुत सी और आकार में मटर से लेकर बेर (जंगली) के बराबर तक होसकती हैं। इनकी उत्पत्ति किलाट का चूर्णीभवन होने से होती है। इनके द्वारा अवरोध होकर मृत्यु तक होसकती है।

(iv) रक्तष्ठीवन—फौफ्फुसीय राजयक्ष्मा के ६०-८०% प्रतिशत रोगियों में रक्तष्ठीवन पाया जाता है और स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक पाया जाता है। राजयक्ष्मा के लक्षण और चिह्न प्रकट होने के पूर्व भी रक्तष्ठीवन हो सकता है और उनके प्रकट होने के बाद तो उसका होना स्वाभाविक है ही। कुछ मामलों में रक्तष्ठीवन का कोई स्पष्ट कारण नहीं मिलता किन्तु अन्य में अत्यधिक परिश्रम, वक्ष पर आघात आदि कारण मिल सकते हैं। उक्त कारण मिलने से राजयक्ष्मा की उपस्थिति के विषय में सन्देह नहीं किया जा सकता। लगभग सभी प्रकार के रक्तष्ठीवन के मामले राजयक्ष्मा से सम्बन्धित हो सकते हैं। रक्तष्ठीवन के सभी मामलों में विशेषतः नई उम्र वालों में राजयक्ष्मा का सन्देह करना चाहिये जब तक इसके विपरीत विश्वास करने योग्य ठोस कारण न हों; इसी प्रकार प्रौढ़ों और वृद्धों पर फौफ्फुसीय कर्कटार्बुद का सन्देह करना चाहिये। डा. फ्रेञ्जस्ट्रिकर (Franz-stricker) ने सन् १८६० से १८६५ तक में सेना के सिपाहियों के ६०० रक्तष्ठीवन के मामलों के अध्ययन के पश्चात् यह फल निकाला कि अकारण रक्तष्ठीवन के ८६.८% प्रतिशत, परिश्रम के पश्चात् होने वाले रक्तष्ठीवन के ७४.४% प्रतिशत और तैरने तथा आघात के पश्चात् होने वाले रक्तष्ठीवन के आधे मामले राजयक्ष्मा से सम्बन्धित थे। राजयक्ष्मा के कुछ मामलों में रक्तष्ठीवन की प्रवृत्ति अत्यधिक पायी जाती है; इस आधार पर कुछ आचार्यों ने इस प्रकार की राजयक्ष्मा को एक भिन्न प्रकार माना है—रक्तष्ठीवी राजयक्ष्मा (Haemoptysical or Haemorrhagsic palmonary tuberculsois)।

राजयक्ष्मा-जन्य रक्तष्ठीवन—इसके दो भेद कर सकते हैं-

(i) प्रारंभ की अवस्थाओं में होने वाला और (ii) बाद की अवस्थाओं में होने वाला। प्रथम प्रकार का रक्तष्ठीवन अधिकतर थोड़े से स्थान में किलाटीभवन होने के कारण अथवा श्वास-नलिकाओं की श्लैष्मिक कला का क्षरण होने के कारण होता है। इसमें थोड़ी मात्रा (१ तोले से कम) में रक्त निकलता है और यदि अधिक भी निकलता है तो इतना नहीं निकलता कि उसके कारण प्राण संकट उपस्थित हो सके। द्वितीय प्रकार का रक्तष्ठीवन अधिकतर किसी विवर की दीवार में स्थित रक्तवाहिनी का क्षरण होने से अथवा फौफ्फुसीय धमनी की अभिस्तीर्णता के फटने से होता है। इस दशा में रक्त अधिक निकलता है, मात्रा १ पाइन्ट से अधिक हो सकती है और अधिक रक्तस्राव के कारण तत्काल मृत्यु भी हो सकती है।

लगभग सभी मामलों में रक्तष्ठीवन सामान्यतः अचानक अर्थात् बिना किसी पूर्व सूचना के ही होता है। एकाएक रोगी को अनुभव होता है कि उसके मुंह में कुछ गर्म गर्म खारा सा पदार्थ आ गया है। थूकने पर पता चलता है कि वह रक्त है। इसके बाद कई दिनों तक ष्ठीवन के साथ थोड़ा थोड़ा रक्त आता रहता है। कुछ मामलों में खांसी आने के बाद निकलने वाले ष्ठीवन के साथ रक्तष्ठीवन प्रारम्भ होता है और कुछ मामलों में विवर के भीतर रक्तस्राव होने पर भी रक्तष्ठीवन नहीं होता।

रक्तष्ठीवन में निकला हुआ रक्त अधिकतर चमकदार लाल वर्ण का, फेनदार और कफमिश्रित रहता है किन्तु जब बड़ी मात्रा में रक्त निकलता है तब उसका रंग गहरा हो सकता है। राजयक्ष्माजन्य रक्तष्ठीवन की परीक्षा करने पर अधिकांश मामलों में यक्ष्मा-दण्डाणु मिल जाते हैं, शेष मामलों में १-२

दिन बाद के ष्ठीवन की परीक्षा करने पर मिलते हैं।

(v) श्वासकष्ट (Dyspnoea)—सामान्यत: फौफ्फुसीय राजयक्ष्मा के सभी मामलों में श्वासकष्ट नहीं पाया जाता। तीव्र ज्वर रहते हुए भी प्राय: श्वास-प्रश्वास की संख्या में वृद्धि नहीं होती। फुफ्फुस नलिका प्रदाह या श्यामाकीय राजयक्ष्मा का तीव्र आक्रमण होने पर श्वासकष्ट होता है। पुराने मामलों में फुफ्फुसों के शिखरों के संकुचित हो जाने तथा फुफ्फुसावरण मोटा पड़ जाने या द्रव भर जाने पर हृदय के दक्षिण भाग की वृद्धि होती है, उसके कारण श्वासकष्ट हो सकता है। परिश्रम करने पर राजयक्ष्मा रोगी का श्वास सामान्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक फूलता है; यह हृदय की कमजोरी अथवा महाप्राचीरा पेशी के स्तम्भ के कारण होता है।

(vi) फुफ्फुसावरण प्रदाह—फुफ्फुसों के आक्रांत होने के साथ ही फुफ्फुसावरण भी आक्रांत होजाते हैं। स्वतन्त्र फुफ्फुसावरण प्रदाह भी अधिकतर अथवा लगभग हमेशा ही राजयक्ष्मा जन्य होता है, यदि उस समय तक फुफ्फुस आक्रांत न हुए हों तो आगे हो जाते हैं।

(vii) वातोरस (Pneumothorax)—यह अधिकतर बाद की दशाओं में होता है किन्तु कुछ मामलों में यही प्रथम लक्षण हो सकता है।

सार्वांगिक लक्षण —

(i) ज्वर—अधिकांश रोगियों को प्रारम्भ से ही ज्वर रहा करता है किन्तु कुछ रोगी ज्वरमुक्त भी रह सकते हैं। प्रति २ घंटों के उपरांत तापमापक से परीक्षा करनी चाहिए। इससे रोग की प्रगति का ज्ञान होता है। रोग की उत्पत्ति एवं प्रगति के समय पर ज्वर की उपस्थिति प्राय: अवश्य ही रहती है। ज्वर-मुक्ति काल में अधिकतर रोगी के स्वास्थ्य में सुधार होता है।

ज्वर कब किस प्रकार का रहता है यह कहना कठिन है। प्रारम्भ में अर्थात् यक्ष्मियों की उत्पत्ति के समय पर संध्या समय हल्का ज्वर रहता है जो परिश्रम करने से बढ़ता है। किन्तु कुछ मामलों में अन्येद्यु एक विषम ज्वर के समान जाड़ा लगकर तीव्र ज्वर चढ़ता और पसीना देकर उतरता है और कुछ मामलों में सन्तत प्रकार का ज्वर रह सकता है। फिर किलाट और विवर बनने तथा रोग का प्रसार होने के समय पर अर्धविसर्गी (Remittent) प्रकार का ज्वर रहता है। पसीना देकर तेजी के साथ ज्वर उतरना किलाटीभवन होकर विवर बनने, रोग का प्रसार होने और द्वितीयक उपसर्ग होने पर पाया जाता है। रोगी की द्वितीय अवस्था में संतत ज्वर अधिकतर तीव्र फुफ्फुस प्रदाह के कारण होता है।

(ii) रात्रिस्वेद (Night sweats)—कुछ रोगियों में यह लक्षण प्रारम्भ से ही रहता है किन्तु शेष में विवर बनने या द्वितीयक उपसर्ग होकर पाक होने पर होता है।

(iii) नाड़ी—विशेषत:, ज्वर होने पर नाड़ी तीव्र भरी हुई और मृदु होती है। कुछ मामलों में केशिकाओं और हाथ के पिछले भाग की शिराओं में स्फुरण होता है।

(iv) आमाशयिक लक्षण—अरुचि, अजीर्ण आदि अक्सर पाये जाते हैं।

(v) दौर्बल्य—कार्यक्षमता और सहनशीलता का अभाव रहता है। आराम करने में लाभ होता है किन्तु पूर्ण लाभ नहीं होता। हृदय में धड़कन की प्रतीति होती है और शरीर का भार घटता जाता है। रोग पुराना होने पर अंगुलियां मुद्गरवत हो जाती हैं।

रोग विनिश्चय वक्ष-परीक्षा, कफ परीक्षा और क्ष-किरण चित्र से होता है। रक्त परीक्षा और यक्ष्मिन कसौटियां (Tuberculim Tests) भी महत्व रखती हैं।

उपद्रव स्वरूप स्वरयंत्रप्रदाह, श्वासनलिका प्रदाह श्वासनलिका अवरोध, फुफ्फुसावरण प्रदाह, वातोरस, वातोत्फुल्लता, श्वासनलिका प्रसार, फुफ्फुस

प्रदाह, फुफ्फुसकर्दम, लसग्रंथि प्रदाह, अतिसार, उदरावरण प्रदाह, अपौष्टिक आमाशय प्रदाह, भगन्दर, हृदय का स्निग्ध अपचय, हृदयावरणप्रदाह; वृक्क, मूत्राशय, अष्ठीला, शुक्रनलिका आदि का राजयक्ष्मा, श्यामाकीय राजयक्ष्मा, कशेरुकीय राजयक्ष्मा यकृत-विकार आदि रोग हो सकते हैं।

तान्विक राजयक्ष्मा;सौत्रिकतन्तूमय राजयक्ष्मा (Fibroid Ththisis, Fibroid Pulmonary Tuberculosis)—यह प्रकार वृद्धावस्था में पाया जाता है। अधिकांश रोगी १५-२० वर्ष पूर्व फौफ्फुसीय राजयक्ष्मा के आक्रमण का इतिहास बतलाते हैं। इस रोग में फुफ्फुसों में स्थानिक (किसी पुराने विवर आदि के आसपास के क्षेत्र में) या विकीर्ण (दोनों फुफ्फुसों में) तन्तूत्कर्ष होता है। फुफ्फुसावरण भी प्रभावित होकर काफी मोटा पड़ जाता है। तन्तूत्कर्ष की क्रिया धीरे धीरे प्रसार करती रहती है। आक्रान्त भाग कठोर होकर सिकुड़ जाता है (Cirrhosis), अन्तराल (Mediastinum) उसी ओर झुक आता है और तल भाग में स्थित श्वास नलिकाएं अभिस्तीर्ण होजाती है (Bronchiectasis)। बीच बीच के स्वस्थ भाग में वातोत्फुल्लता (Emphysema) पायी जाती है। वक्ष की दीवार संकुचित एवं बेडौल हो जाती हैं और हृदय आक्रान्त भाग की ओर झुक जाता है। हृदय के दक्षिण निलय या समूचे हृदय की परमपुष्टि होती है।

रोग अत्यन्त चिरकारी प्रकार का है और १०, २० या अधिक वर्षों तक चल सकता है। प्रधान लक्षण खांसी है जो प्रातःकाल अधिक आती है। ष्ठीवन में पूययुक्त कफ निकलता है; यदि श्वास नलिकाभिस्तीर्णता अधिक हो तो ष्ठीवन में दुर्गन्ध रहा करती है। परिश्रम करने पर श्वास फूलती है किंतु ज्वर प्रायः नहीं रहता। गंभीर मामलों में श्यावता, मुद्गरवत् अंगुलियां और बहु-लालकायाणुमयता पायी जाती हैं। चिरकारी पूयोत्पत्ति के फलस्वरूप यकृत, प्लीहा और आंतों का मण्डाभ अपजनन (Amyloid Degeneration) हो सकता है। हृदय के दक्षिण निलय की असमर्थता के कारण शोथ हो जाता है। कुछ मामलों में रक्तष्ठीवन अत्यधिक होता है जो मारक हो सकता है।

राजयक्ष्मा के अतिरिक्त फुफ्फुस नलिका प्रदाह, चिरकारी शिरागत रक्ताधिक्य (Chr. Venous Congestion), फिरंग, कुष्ठ, फुफ्फुसावरण प्रदाह, फुफ्फुसकणोत्कर्ष (Pneumokoniosis), श्वास नलिका में बाह्य पदार्थ की उपस्थिति आदि कारणों से भी फुफ्फुसों में सौत्रिक तन्तुओं की उत्पत्ति (तन्तूत्कर्ष) होती है—फौफ्फुसीय तन्तूत्कर्ष (Pulmonary Fibrosis) या फौफ्फुसीय दृढ़ता (Pulmonary Cirrhosis)। इसके लक्षण भी पूर्वोक्त के ही समान होते हैं।

(३) लस ग्रन्थि-यक्ष्मा, लसग्रन्थियों का राजयक्ष्मा (Tuberculosis of the Lymphatic Glands) गण्डमाला (Scrofula)—यह रोग स्वतंत्र और आनुषंगिक भेद से दो प्रकार का होता है। यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि शरीर में प्रविष्ट यक्ष्मा दण्डाणु लस वाहिनियों और रक्तवाहिनियों के मार्ग से यात्रा करते हुए जब ये लसग्रंथियों में अवस्थित हो जाते हैं तब वहां यक्ष्मियों की उत्पत्ति होने से ग्रंथियों की वृद्धि होती है—स्वतंत्र प्रकार। फौफ्फुसीय राजयक्ष्मा तथा अन्य प्रकारों में कुछ दण्डाणु लसग्रंथियों पर भी आक्रमण करते हैं—आनुषंगिक या परतंत्र प्रकार। स्वतंत्र प्रकार अधिकतर बाल्यावस्था में पाया जाता है। आनुषंगिक प्रकार किसी आयु में पाया जा सकता है और मूलभूत रोग की शान्ति के बाद भी उपस्थित रह सकता है।

सामान्यतः ग्रैवेयक (Cervical), अन्तरालीय (Mediastinal) या आन्त्रनिबंधिनी की (Mesenteric) लसग्रंथियां प्रभावित होती हैं। कभी कभी सारे शरीर की लस-ग्रथियां एक साथ प्रभावित होती हैं। ऐसा होने पर तीव्र ज्वर आता है और

हौजकिन के रोग के समान लक्षण उत्पन्न होते हैं।

(i) ग्रैवेयक ग्रन्थियों का राजयक्ष्मा—यह बालकों में अत्यधिक पाया जाता है। प्रतिश्याय, चिरकारी कर्णपाक और दारुणक रोग से पीड़ित रहने वाले बालक अधिकतर आक्रान्त होते हैं। सर्व-प्रथम हनु-प्रदेशीय (Sub-maxillary) ग्रन्थियां प्रभावित होती हैं; उसके बाद गले की अन्य ग्रन्थियां प्रभावित होती हैं। प्रारम्भ में अलग अलग ग्रन्थियों की वृद्धि एक के बाद एक क्रम से होती हैं, फिर कई ग्रन्थियां परस्पर संबद्ध हो जाती हैं। आस पास के भागों में बहुत थोड़ा शोथ होता है; पीड़ा भी अत्यन्त साधारण रहती है और लाली नहीं रहती। हल्का ज्वर बना रहता है; ग्रंथि-वृद्धि के समय तीव्रज्वर भी हो सकता है। रक्तक्षय और दौर्बल्य होता है। चिरकाल में ग्रन्थियों में किलाटीभवन होता है और फिर पककर फूटती हैं। जो व्रण बनते हैं वे बहुत दिनों में भरते हैं। कभी कभी बिना पके ही ग्रन्थियों में चूर्णीभवन हो जाता है।

(ii) अन्तरालीय ग्रन्थियों का राजयक्ष्मा—स्वतन्त्र प्रकार में श्वासनलिका की लसग्रन्थियों की और परतन्त्र प्रकार में फुफ्फुसतल के पास की लसग्रन्थियों की वृद्धि होती है। फौफ्फुसीय राजयक्ष्मा से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। कभी कभी इनसे शिराओं धमनियों के प्रवाह में बाधा पहुँचती है किन्तु श्वासावरोध प्रायः नहीं होता। सामान्यतः कास, ज्वर आदि लक्षण होते हैं। कभी कभी ये पककर कण्ठनलिका या श्वासनलिका में फूटती हैं और पूय फुफ्फुसों में जाता है अथवा खांसी के साथ बाहर आता है। कभी कभी अन्ननलिका में छिद्र हो जाता है।

(iii) आन्त्र निबन्धिनी की ग्रन्थियों का राजयक्ष्मा या आन्त्रमूल यक्ष्मा (Tabes Mesentrica)—यह रोग बालकों में अत्यधिक और वयस्कों में यदाकदा पाया जाता है। इसमें आंत्रनिबन्धिनी और उदरावरण के दूसरी ओर की (Retroperitoneal) ग्रन्थियों की वृद्धि और किलाटीभवन होता है; चूर्णीभवन और पाक अत्यन्त विरल है। इनकी वृद्धि से उदर बढ़ जाता है, हल्का ज्वर रहता है। आध्मान अतिसार आदि पाचन सम्बन्धी विकार होते हैं तथा रक्तक्षय और दौर्बल्य अत्यधिक होता है। उदर टटोलने पर बढ़ी हुई ग्रंथियां प्रायः नहीं मिल पातीं क्योंकि उदर में आध्मान रहता है; निदान प्रायः कठिन होता है। बहुत से मामलों में उदरावरण भी आक्रान्त हो जाता है।

राजयक्ष्मा से आक्रान्त ग्रंथियों में निवास करने वाले यक्ष्मा-दण्डाणु किसी भी समय अन्य स्थानों में पहुँचकर रोगोत्पत्ति कर सकते हैं। ग्रैवेयक ग्रंथियों से मस्तिष्कावरण और फुफ्फुस, अन्तरालीय ग्रन्थियों से फुफ्फुस तथा आन्त्र निबन्धिनी की ग्रंथियों से उदरावरण और फुफ्फुस में आक्रमण होने की अत्यधिक संभावना रहती।

(४) लसिकात्मक कलाओं का राजयक्ष्मा (Tuberculosis of the Serous Membranes)—श्यामाकीय राजयक्ष्मा के अन्तर्गत इन कलाओं में भी यक्ष्मियों की उत्पत्ति होती है किन्तु यहां इन कलाओं में व्यापक रूप से यक्ष्मादण्डाणुओं के आक्रमण से तात्पर्य है, भले ही आक्रमण प्राथमिक हो या द्वितीयक।

(i) फुफ्फुसावरणकला का राजयक्ष्मा, राजयक्ष्मीय फुफ्फुसावरण प्रदाह (Tuberculosis of the Pleura, Tuberculous Pleurisy)—लगभग सभी प्रकार के फुफ्फुसावरण प्रदाह के मामले यक्ष्मा-दण्डाणु से उत्पन्न होसकते हैं। इस प्रकार के फुफ्फुसावरण प्रदाह में फुफ्फुसावरणकला में बहुत सी यक्ष्मियां पायी जाती हैं और किलाट, पूय, संलाग आदि की उत्पत्ति होती है। रोग तीव्र, अनुतीव्र या चिरकारी प्रकार का हो सकता है। किसी भी समय फुफ्फुसों में उपसर्ग होकर फौफ्फुसीय राजयक्ष्मा अथवा रक्त में उपसर्ग होकर श्यामाकीय राजयक्ष्मा की उत्पत्ति हो सकती है। फुफ्फुसावरण में छिद्र हो जाने से पूय-वातोरस (*Pyo-pneumothorax*) हो सकता

है। विशेष वर्णन अध्याय २ में देखें।

फौफ्फुसीय राजयक्ष्मा के फलस्वरूप आनुषंगिक रूप से राजयक्ष्मीय फुफ्फुसावरण प्रदाह होता है।

(ii) हृदयावरण कला का राजयक्ष्मा, राजयक्ष्मीय हृदयावरण प्रदाह—(*Tuberculosis of the Pericardium, Tubercular Pericarditis*)—यह रोग या तो स्वतंत्र एवं गुप्त रूप से होता है अथवा श्यामाकीय राजयक्ष्मा के अन्तर्गत होता है अथवा फुफ्फुस, फुफ्फुसावरण या उदर की लसग्रन्थियों के राजयक्ष्मा के प्रसार के कारण होता है। कुछ मामलों में कोई स्पष्ट लक्षण उत्पन्न नहीं होते किंतु दूसरों में क्रमशः स्वास्थ्य बिगड़ते जाना, कृशता, खांसी, ज्वर आदि लक्षण पाये जाते हैं। आनुषंगिक प्रकार में मूलभूत रोग के लक्षण मिलते हैं। निदान अनुमान से होता है, द्रव निकाल कर गिनी-पिग के शरीर में सूची द्वारा प्रविष्ट करने से सार्वाङ्गिक राजयक्ष्मा के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

(*iii*) उदरावरण कला का राजयक्ष्मा, राजयक्ष्मीय उदरावरण प्रदाह (*Tuberculosis of the Peritoneum, Tubercular Peritonitis*)—यह रोग किसी भी आयु में हो सकता है। यक्ष्मा-दण्डाणुओं का उपसर्ग रक्त, लस (आंत्रनिबन्धिनी की लस ग्रंथियों), आंत्र, डिम्बनलिकाओं, वीर्य वाहिनियों या यकृत से होता है। इस रोग के ३ प्रकार पाये जाते हैं—

(१) तीव्र श्यामाकीय प्रकार—इस प्रकार में लसिका-तान्तिवनीय द्रव (*Sero-Fibrinous exudation*) या रक्तमिश्रित द्रव पाया जाता है।

(२) चिरकारी यक्ष्मीय प्रकार—इस प्रकार में श्यामाकीय प्रकार की अपेक्षा बड़ी यक्ष्मियां पायी जाती हैं जो क्रमशः किलाट और व्रण में परिवर्तित होती है। इनके कारण आंतों का निच्छिद्रण हो सकता है। संचित द्रव पूययुक्त अथवा केवल पूय होता है जो बहुत से मामलों में एक विशेष आवरण या थैली में बन्द रहता है।

(३) चिरकारी तान्त्वीय या सौत्रिक प्रकार—यह स्वतंत्र होता है अथवा श्यामाकीय राजयक्ष्मा के बाद उत्पन्न होता है। यक्ष्मियां कठोर एवं गहरे रंग की रहती हैं। द्रव अत्यन्त कम रहता है अथवा बिलकुल नहीं रहता औरदोनों कलायें स्थान थानपर सौत्रिक तन्तुओं के द्वारा चटाई के बुनाव के समान जुड़ जाती हैं।

राजयक्ष्मीय उदरावरण के लक्षणों में सामान्य उदरावरण प्रदाह की अपेक्षा पर्याप्त विभिन्नता पायी जाती है। कुछ मामलों में रोग पूर्णतया गुप्त रहता है; एक भी लक्षण प्रकट नहीं होता। इसके विपरीत कुछ मामलों में आक्रमण इतना भयंकर और तीव्र होता है कि आंत्र प्रदाह (*Enteritis*) या आंत्रज-वृद्धि (*Hernia of the Intestine*) का भ्रम हो जाता है। अन्य मामलों में ज्वर, उदर-पीड़ा और उदरावरण प्रदाह के सामान्य लक्षणों की उत्पत्ति होती है, इस प्रकार के जिन मामलों में लक्षणों की वृद्धि क्रमशः होती है उनमें आंत्रिक ज्वर का भ्रम हो जाता है।

अधिकांश मामलों में जलोदर, रक्तोदर या पूयोदर पाया जाता है किन्तु द्रव अधिकतर थोड़ा ही रहता है। तीव्र मामलों में आध्मान पाया जाता है। तीव्र मामलों में ज्वर १०३°-१०४° हो सकता है किन्तु चिरकारी मामलों में तापमान अधिकतर सामान्य से कम (९६°-९७°) पाया जाता है। कुछ मामलों में त्वचा में ऐडीसन के रोग (Addison's disease) के समान काले धब्बों की उत्पत्ति होती है। इस रोग में उदर में कई प्रकार के कठोर पिण्ड बन जाते हैं जिससे अर्बुद का भ्रम हो जाता है—

(i) कुछ मामलों में वपावहन (Omentum) ऐंठ कर और सिकुड़ कर बेलनाकार हो जाता है तथा नाभि के पास अथवा दक्षिण जघन कापालिक (Iliac) प्रदेश में पाया जाता है। लगभग इसी प्रकार की वृद्धि कर्कटार्बुदीय उदरावरण प्रदाह (Cancerous peritonitis) में भी मिलती है।

(ii) कुछ मामलों में उदरावरण प्रदाह के कारण

उत्पन्न हुआ द्रव एक थली में बन्द रहता है। यह उदर के किसी भी भाग में हो सकता है।

(iii) अत्यन्त विरल मामलों में आंत्र का कुछ भाग सिकुड़ कर मोटा हो जाता है और परीक्षा करने पर एक ठोस पदार्थ के समान प्रतीत होता है।

(iv) आन्त्रनिबन्धिनी की ग्रंथियां भी आक्रान्त होकर बढ़ जाती हैं और अर्बुद का भ्रम कराती हैं।

रोगी के मांस और वसा का क्षय अत्यधिक होता है। यकृत और प्लीहा की साधारण वृद्धि होती है। रक्तपरीक्षा में रक्तक्षय के लक्षण मिलते हैं; श्वेतकण घटे हुए हो सकते हैं किन्तु यदि पूयोत्पत्ति हो रही हो तो बढ़े हुए मिलेंगे। उदावरण से निकाले गये द्रव में लसकायाणु बड़ी संख्या में मिलते हैं; संवर्ध में यक्ष्मा-दण्डाणु पाये जा सकते हैं और गिनी पिग में सूची द्वारा प्रविष्ट करने से राजयक्ष्मा उत्पन्न होती है। निदान किसी अन्य भाग में राजयक्ष्मा की उपस्थिति, क्ष-किरण परीक्षा एवं उदरावरण-द्रव की परीक्षा पर निर्भर रहता है।

(iv) सभी लसिकात्मक कलाओं का राजयक्ष्मा (Poly-orrhomenitis, General Serous Membrane Tuberculosis)—कुछ मामलों में उपयुक्त तीनों लसिकात्मक कलाएं एक ही साथ अथवा क्रमशः आक्रान्त होती हैं। लक्षण उपयुक्त के समान तीव्र, अनुतीव्र या चिरकारी होते हैं।

(५) महास्रोत का राजयक्ष्मा—
(Tuberculoris of the Alimentary Tract)

(i) ओष्ठ का राजयक्ष्मा (Tuberculosis of the Lips)—यह अत्यन्त विरल है। ओंठ में चिरकारी एवं अत्यन्त पीड़ायुक्त व्रण की उत्पत्ति होती है। फिरङ्गज व्रण या उपकलार्बुद (Epithelioma) का भ्रम हो सकता है। निदान क्षय-दण्डाणु मिलने से होता है।

(ii) जिह्वा का राजयक्ष्मा (Tuberculosis of the Tongue)—यह अन्य स्थानों के राजयक्ष्मा के साथ ही मिलता है, स्वतंत्र रूप से शायद ही कभी मिलता है। पहले जीभ के अग्रभाग या किनारे पर एक स्थान पर कुछ दाने से उत्पन्न होते हैं फिर व्रण बनता है। व्रण का आकार अनियमित रहता है, किनारे स्पष्ट रहते हैं किन्तु एक से नहीं रहते तथा मध्यभाग ऊंचा नीचा एवं किलाटयुक्त रहता है। उपदंश व्रण अथवा उपकलार्बुद का भ्रम होता है। क्षय-दण्डाणु मिलने एवं अन्य रोगों की चिकित्सा से लाभ न होने से रोगविनिश्चय होता है।

(iii) लालाग्रन्थियों का राजयक्ष्मा (Tuberculosis of the Salivary glands)—अत्यन्त विरल है। लालाग्रन्थियों में यक्ष्मा-निरोधी-क्षमता रहती है। फिर भी एक-दो मामले पाये गये हैं। लक्षण लस-ग्रन्थियों के राजयक्ष्मा के समान होते हैं।

(iv) तालु का राजयक्ष्मा (Tuberculosis of palate)—कठोर और मृदु तालु में भी राजयक्ष्मा हो सकता है किंतु यह अन्य स्थानों के राजयक्ष्मा के साथ आनुषंगिक रूप से होता है। लक्षण जिह्वा के राजयक्ष्मा के समान होते हैं।

(v) तुण्डिकाओं का राजयक्ष्मा (Tuberculosis of the Tonsils) श्वास मार्ग एवं मुखमार्ग से प्रविष्ट यक्ष्मा-दण्डाणु अधिकतर सर्व प्रथम यहीं ठहरते हैं, फिर फुफ्फुसों या ग्रैवेयक ग्रन्थियों में जाते हैं। तुण्डिकाओं में व्रण या श्यामाकीय यक्ष्मियों की उत्पत्ति होती है। सामान्य तुण्डिका-प्रदाह से विभेद सूक्ष्मदर्शकयंत्र द्वारा कटे हुए खंड की परीक्षा से ही संभव है।

(vi) ग्रसनिका का राजयक्ष्मा (Tubecrulosis of the pharynx)—अधिकतर श्यामाकीय यक्ष्मियों की उत्पत्ति होती है, व्रणोत्पत्ति भी हो सकती है। यह अधिकतर फौफ्फुसीय राजयक्ष्मा से संबंधित रहती है और अत्यन्त कष्टदायक होती है क्योंकि भोजन या थूक निगलने में कष्ट होता है। यहां की राजयक्ष्मा का प्रसार कण्ठशालकों (Ade-

noids) और अन्ननलिका (Oesophagus) में भी हो सकता है।

(vii) आमाशय का राजयक्ष्मा (Tuberculosis of the Stomach)—यह अत्यन्त विरल है। लक्षण बहुत अंशों में आमाशय-व्रण के समान होते हैं, निच्छिद्रण भी होता है।

(viii) आन्त्रीय राजयक्ष्मा (Intestinal (Tuberculosis) अथवा राजयक्ष्मीय आन्त्र-प्रदाह (Tubercular Enterocolitis)–यह रोग स्वतंत्र और परतंत्र दोनों प्रकार का होता है। स्वतंत्र प्रकार अधिकतर बालकों में पाया जाता है। परतंत्र प्रकार किसी भी आयु में होसकता है तथा फौफ्फुसीय राजयक्ष्मा के साथ पाया जाता है। संक्रमण अधिकतर राजयक्ष्मा से पीड़ित गाय का दूध पीने से, यक्ष्मा-दण्डाणुओं से संक्रमित खाद्य-पेयों के द्वारा अथवा फौफ्फुसीय राजयक्ष्मा का कफ निगल जाने से होता है।

यक्ष्मा-दण्डाणु पेयर के चकत्तों (Payer's patches) एकाकी गुच्छों (Solitray follicles) और उण्डुक (Caecum) में ठहरकर आंत्र की श्लैष्मिक कला को प्रभावित करते हैं। फिर क्रमशः उपश्लैष्मिक धातु और उसके बाद आंत्र-निबन्धिनी की ग्रन्थियों में पहुँचते हैं। उपश्लैष्मिक धातु में गहरे व्रण बन जाते हैं जिनके किनारे फटे हुए रहते हैं। प्रारम्भ में ये आन्त्र की लम्बाई के अनुरूप रहते हैं किन्तु कुछ ही काल बाद आन्त्र की गोलाई के अनुरूप फैलने लगते हैं। रोग धीरे धीरे नीचे की ओर प्रसार पाता हुआ बृहदन्त्र, मलाशय और गुदा में फैलता है। क्षुद्रान्त्र के व्रण गहरे उदावरण तक पहुँच सकते हैं किन्तु बृहदन्त्र के व्रण उथले रहते हैं। उदरावरण मोटा पड़ जाता है और उसमें यक्ष्मियां उत्पन्न होसकती हैं। आन्त्र-निबंधिनी की ग्रन्थियों की वृद्धि होजाती है और आंतों के बाहर संलाग उत्पन्न होजाते हैं। इनके कारण आन्त्र-वेष्ठन (Volvulus)होजाता है जो टटोलने से स्पष्ट मालूम होता है और अर्बुद का भ्रम करा सकता है।

चिकित्सा करने से उथले व्रण भर जाते हैं और श्लैष्मिक धातु पुनः उत्पन्न हो जाती है किन्तु गहरे व्रणों के भरने पर आंत में जगह जगह सिकुड़न उत्पन्न हो जाती है। इस सिकुड़न के कारण आंत की नलिका सकरी हो जाती है और आन्त्रावरोध होने की संभावना रहती है। बाहिरी संलागों के कारण भी आन्त्रावरोध की संभावना रहती है। आन्त्रावरोध अधिकतर क्रमिक एवं अपूर्ण होता है; पूर्ण आन्त्रावरोध अत्यन्त विरल है। कभी कभी व्रण अत्यन्त गहरा होते होते छिद्र बन जाता है; ऐसी दशा में विद्रधि उत्पन्न होता है। विद्रधि का योग्य उपचार न होने पर नाड़ी व्रण या भगन्दर (जैसा स्थान हो) उत्पन्न होता है।

कुछ मामलों में किलाटीभवन और व्रणीभवन की क्रियायें न के बराबर होती हैं किन्तु कणों की वृद्धि होती है जिससे आन्त्रनलिका संकीर्ण हो जाती है और अवरोध होता है। यह प्रकार ४० वर्ष से कम आयु के रोगियों में पाया जाता है।

बच्चों में अरुचि, अतिसार (अथवा कभी अतिसार एवं कभी मलावरोध), ज्वर तथा उत्तरोत्तर कृशता और दुर्बलता बढ़ते जाना आदि लक्षण होते हैं। उदर की ग्रन्थियां बढ़ी हुई मिल सकती हैं। वयस्कों में अजीर्ण के लक्षणों से रोग का आरम्भ होता है। अरुचि, आध्मान, उदर में पीड़ा एवं शूल अतिसार आदि प्रधानतः होते हैं। कभी अतिसार और मलावरोध थोड़े थोड़े दिनों पर पारी पारी से होते हैं। मल में कभी-कभी रक्त जाता है। बड़ी आंत प्रभावित होने पर मल के साथ कफ और पूय भी जाता है और मरोड़ होती है। कभी कभी मलाशय और गुदा भी प्रभावित हो जाते हैं। ऐसी दशा में अत्यन्त मरोड़ एवं कुन्थन के साथ रक्त, पूय और कफ मिश्रित पतला या कभी कभी गाढ़ा मल निकलता है तथा अधिकांश रोगियों को भगन्दर हो जाता है।

संलागों की उत्पत्ति और आन्त्र-परिवेष्टन होते हुए भी मल किसी न किसी तरह निकल ही जाता है, आन्त्रावरोध प्रायः नहीं होता किन्तु अधिक संलागों और पट्टों के उत्पन्न होने पर तीव्र आन्त्रावरोध हो सकता है।

वयस्कों में उक्त लक्षणों के साथ फौफ्फुसीय राजयक्ष्मा के लक्षण प्रायः सभी मामलों में पाये जाते हैं।

(६) यकृत का राजयक्ष्मा (*Tuberculosis of the liver*) यह अत्यन्त विरल है। यक्ष्मा दण्डाणुओं का संक्रमण रक्त-प्रवाह से स्वतन्त्र रूप से, फुफ्फुसों से अथवा उदरावरण से होता है। रोग ४ प्रकार का हो सकता है।

(*i*) श्यामाकीय—इसमें सूक्ष्म श्यामाकीय यक्ष्मियों की उत्पत्ति सारे यकृत में होती है। रोग सार्वांगिक श्यामाकीय राजयक्ष्मा के अन्तर्गत अथवा केवल यकृतगत होता है। यकृत में मेद वृद्धि होती है।

(*ii*) किलाटीय—इसमें पित्त-वाहिनियों में बड़ी यक्ष्मियों की उत्पत्ति और किलाटीभवन होता है; यकृत का आकार मधुमक्खियों के छत्ते के समान हो जाता है।

(*iii*) आवरणीय—इस प्रकार में यकृदावरण प्रदाह या उदरावरण प्रदाह के साथ ही साथ यकृत के ऊपरी भाग में बड़ी बड़ी यक्ष्मियों की उत्पत्ति होती है जिनका आकार नारंगी के बराबर तक या अधिक होता है। इनमें किलाटीभवन और कभी कभी पाक भी होता है।

(*iv*) यकृद्दाल्युत्कर्ष—उपर्युक्त कोई भी प्रकार बहुत दिनों तक रहने से सौत्रिक तन्तुओं की वृद्धि होती है। हैनोट का कथन है कि यह दशा स्वतन्त्र भी हो सकती है।

लक्षण प्रभावित क्षेत्र के अनुसार होते हैं। प्रतिहारिणी सिरा में अवरोध होने से जलोदर और पित्तवाहिनियों में अवरोध होने से कामला हो सकता है। यक्ष्मादण्डाणुओं का विष रक्त प्रवाह में पहुँचने से ज्वरादि लक्षण होते हैं।

(७) मस्तिष्क और सुषुम्ना का राजयक्ष्मा (*Tuberculosis of the Brain and cord*)—मस्तिष्कगत राजयक्ष्मा ३ प्रकार का होता है।

(*i*) तीव्र श्यामाकीय प्रकार—इससे मस्तिष्कावरण प्रदाह और उदकशीर्ष (*Hydrocephalus*) होते हैं। इसका वर्णन श्यामाकीय राजयक्ष्मा के अन्तर्गत हो चुका है।

(*ii*) चिरकारी मस्तिष्कावरण-मस्तिष्क प्रदाह (*Chr-Meningo-eucephalitis*)—यह रोग बालकों और युवकों में सामान्यतः पाया जाता है। अन्य स्थानों जैसे फुफ्फुस, लसग्रन्थियों, अस्थि आदि में राजयक्ष्मा की उपस्थिति अधिकतर मिलती है, विरल मामलों में नहीं भी मिलती। यक्ष्मियों की उत्पत्ति अधिकतर धम्मिल्लक (*cerebellum*) में होती है; कुछ मामलों में मस्तिष्क (*cerebrum*) में और विरल मामलों में उष्णीषक (*Pons*) में होती है। इनका आकार मटर से लेकर अखरोट के बराबर तक या इससे भी बड़ा होता है; संख्या १ से लेकर सैकड़ों तक हो सकती है। अन्य स्थानों की यक्ष्मियों के समान इनमें भी किलाटीभवन और चूर्णीभवन होता है; पाक अत्यन्त विरल है। लक्षण चिरकारी मस्तिष्कावरण प्रदाह, मस्तिष्क प्रदाह या मस्तिष्क विद्रधि के समान होते हैं, जिन नाड़ियों के क्षेत्र प्रभावित होते हैं उनका घात हो सकता है। अर्धांगघात और मूकत्व (वाग्घात) अधिकतर पाये जाते हैं।

(*iii*) एकाकी यक्ष्म (*Solitary Tubercle*)—यह पूर्वोक्त चिरकारी प्रकार का ही एक भेद है। इसमें एक ही बड़ी यक्ष्म उत्पन्न होती। लक्षण मस्तिष्क विद्रधि के समान होते हैं।

सुषुम्ना में प्रथम २ प्रकार पाये जाते हैं, तृतीय अत्यन्त विरल है। प्रथम प्रकार मस्तिष्कावरण प्रदाह के साथ ही होता है और लक्षण उसी के समान

होते हैं। द्वितीय प्रकार के लक्षण सुषुम्नाविद्रधि के समान होते हैं।

(८) मूत्रसंस्थान का राजयक्ष्मा (Tuberculosis of the Urinary System, Renal tuberculosis)—अधिकांश मामलों में यह सार्वांगिक श्यामाकोय राजयक्ष्मा के एक भाग अथवा फौफ्फुसीय राजयक्ष्मा की अन्तिम दशा में एक उपद्रव के रूप में रहता है। इन दोनों ही दशाओं में इसे व्याधि न कहकर सार्वाङ्गिक व्याधि का एक लक्षण ही कहा जाता है।

किन्तु प्रधान रूप से वृक्कों में ही आश्रित राजयक्ष्मा भी होती है। यह किलाटीभवन और व्रणीभवन प्रधान चिरकारी प्रकार की राजयक्ष्मा (Ulcero-caseous tuberculosis) होती है। इसके रोगी मध्यम आयु के होते हैं और उनमें स्त्रियों की संख्या अधिक होती है। शरीर में (विशेषतः अस्थि या उदरावरण में) स्थित किसी किलाटीभवन केन्द्र से रक्त के द्वारा यक्ष्मादण्डाणुओं का उपसर्ग होता है। रोग का आरम्भ गुत्सकों (Glomeruli) से सम्बन्धित शल्क (Crotex) से होता है और फिर क्रमशः सारे वृक्क में फैल जाता है। विशेषतः गवीनी-मुख-प्रदाह (pyelonephritis) होता है। वृक्क-धातु किलाट और द्रव में परिवर्तित होकर नष्ट होती है। गवीनी का संकोच हो जाता है जिससे जल या पूय भरकर वृक्क फूल जाता है—जलीय वृक्कोत्कर्ष (Hydro-nephrosis) अथवा पूय-वृक्कोत्कर्ष (Pyo-nephrosis)। दूसरे मामलों में व्रणवस्तु (Scar) अधिक बनती है, पूय गाढ़ा या चूर्णीभूत (Calcified) हो जाता है और वृक्क सुकड़ जाता है (Contracted Kidney)।

कुछ मामलों में रोग का प्रसार गवीनी (Ureter) में भी हो जाता है जिससे व्रणीभवन और कणीय धातु (Granulation Tissue) की उत्पत्ति होकर मोटापन उत्पन्न हो जाता है और नलिका प्रसारित या संकुचित हो जाती है। मूत्राशय भी शीघ्र ही आक्रान्त हो जाता है और फिर प्रजनन संस्थान (अष्ठीला, शुक्रवाहिनी, उपाण्ड आदि) में रोग फैलता है। अन्त में दूसरा वृक्क भी आक्रान्त हो जाता है (अधिकतर पहले एक ही वृक्क आक्रान्त होता है)।

मैथुन एवं संक्रमित मूत्रशलाका (Catheter) आदि के द्वारा भी संक्रमण होने की सम्भावना पर विचार किया गया है किन्तु यक्ष्मा दण्डाणुओं की अधोगामी प्रवृत्ति, मूत्र का नीचे की ओर बहाव और स्पष्ट प्रमाणों के अभाव के कारण अभी तक इस पर विश्वास नहीं किया जा सका है।

आरम्भ में हल्का ज्वर, वारंवार पीड़ा के साथ मूत्र उतरना, कटि प्रदेश में मन्द पीड़ा आदि लक्षण होते हैं। फिर किसी भी समय रक्तमेह अथवा किलाटीय पदार्थ भर जाने से गवीनी का अवरोध होने के कारण वृक्कशूल हो सकता है। बल-मांस का क्षय होता है और कई वर्षों में मृत्यु हो जाती है। रोग अत्यन्त चिरकारी प्रकार का है; अधिकांश रोगी ६-१५ वर्ष जीवित रहते हैं। मृत्यु अत्यन्त क्षीणता, सार्वांगिक राजयक्ष्मा, मूत्रमयता अथवा किसी अन्य रोग के कारण होती है।

मूत्र की प्रतिक्रिया अम्ल रहती है और उसमें पूय कण पाये जाते हैं। मूत्र-संवर्ध (जब तक विशेष माध्मम (Medium) से न किया जावे) में यक्ष्मा-दण्डाणु नहीं मिलते किन्तु केन्द्रापसरित जमाव (Centrifugalised deposits) में मिलते हैं और गिनी पिग में सूची द्वारा प्रवेश कराने से ६ सप्ताहों में राजयक्ष्मा के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। रक्तमेह होने पर रक्तमिश्रित मूत्र अथवा केवल रक्त पाया जा सकता है। क्ष-किरण चित्र भी निदान में सहायक होता है।

(९) प्रजनन संस्थान का राजयक्ष्मा (*Tuberculosis of the Genital System*)—

पुरुष—संक्रमण अधिकतर मूत्र संस्थान अथवा रक्त से होता है। प्रायः सभी मामलों में शरीर के

किसी न किसी अन्न भाग में राजयक्ष्मा की उपस्थिति मिलती है। अधिकतर अष्ठीला (*Prostate*), वीर्य कोष (*Seminal Vesicles*), वीर्यनाल (*Vas Deferens*) और उपाण्ड (*Epididymis*) आक्रांत होते है; वृषण (*Testes*) प्रायः आक्रान्त नहीं होते। प्रभावित अंगों में मोटापन और कड़ापन उत्पन्न होता है तथा टटोलने पर स्थान स्थान पर यक्ष्मियां ग्रंथियों के समान प्रतीत होती हैं। कुछ काल में किलाटीभवन होता है जिससे उपाण्ड आवरण में चिपक जाते हैं।

अन्य स्थानों की राजयक्ष्मा के लक्षणों के साथ ही साथ वृषण आदि में पीड़ा-सह वृद्धि, नपुंसकता आदि लक्षण पाये जाते हैं। यह विकार अत्यन्त छोटे शिशुओं में भी पाया गया है किन्तु वे सभी अन्य स्थानों की राजयक्ष्मा से भी आक्रान्त थे।

स्त्री—संक्रामण अधिकतर उदरावरण से, रक्त से अथवा योनि मार्ग से होता है। डिम्ब-नलिकाएं सर्वप्रथम प्रभावित होती हैं और उसके बाद डिम्ब-ग्रंथियां भी प्रभावित हो सकती हैं। अन्य अङ्ग अत्यन्त विरलतः आक्रान्त होते हैं। अधिकांश मामलों में शरीर के किसी न किसी अन्य भाग में राजयक्ष्मा उपस्थित रहती है। प्रभावित अङ्गों के अनुसार लक्षण नीचे दिये जाते हैं—

(i) डिम्ब नलिकाओं का राजयक्ष्मा अथवा राजयक्ष्मीय डिम्ब नलिका प्रदाह (*Tuberculosis of the fallopian Tubes or Tubercular salpingitis*)—नाभी के नीचे के भाग में मन्द वेदना सदैव बनी रहना, हल्का ज्वर, रजोविकार और बल मांस का क्षय आदि लक्षण होते हैं। द्वितीयक उपसर्ग (अन्य जीवाणुओं का संक्रमण) और पूयोत्पत्ति होने पर ज्वर, पीड़ा आदि लक्षण तीव्र हो जाते हैं। रजोविकार अधिकतर रक्तप्रदर के रूप में रहता है और कुछ मामलों में कष्टार्तव भी होसकता है; कृशता और रक्तक्षय अधिक होने पर अनार्तव (रजोलोप, नष्टार्तव, *Amenorrhoea*) हो जाता है।

(ii) डिम्ब-ग्रंथियों का राजयक्ष्मा अथवा राजयक्ष्मीय डिम्ब-ग्रन्थि प्रदाह (*Tuberculosis of the Ovaries or tuberculous overitis*)—किलाटी-भवन और विद्रधि की उत्पत्ति होती है; कभी कभी चूर्णीभवन होकर अश्मरी की उत्पत्ति होती है। ज्वर, स्थानिक शोथ, पीड़ा, अनार्तव आदि लक्षण प्रधान हैं। रोग पुराना होने पर संलागों की उत्पत्ति हो जाती है और डिम्ब ग्रन्थि का भ्रंश होने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। डिम्ब ग्रन्थि निष्क्रिय हो जाने से वंध्यत्व हो जाता है।

(iii) गर्भाशय का राजयक्ष्मा (*Tuberculosis of the Uterus*)—गर्भाशय-ग्रीवा (*Cervix*) आक्रान्त होने पर श्वेत प्रदर होता है जो कभी कभी रक्त मिश्रित भी हो सकता है। मैथुन, वस्तिकर्म या परीक्षा करते समय अत्यधिक रक्तस्राव हो सकता है।

गर्भाशय की आभ्यन्तर कला (*Endometrium*) आक्रान्त होने पर स्थानिक पीड़ा, श्वेतप्रदर और रजोविकार होते हैं। रजोविकार अधिकतर अत्यार्तव या अनियमित आर्तव (रक्तप्रदर) के रूप में होता है किन्तु क्षीणता अधिक होने पर अनार्तव हो सकता है। गर्भाशय की किंचित् वृद्धि हो जाती है।

यहां यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उक्त तीनों व्याधियों में इन लक्षणों के साथ अन्य स्थानों विशेषतः फुफ्फुस, उदरावरण, मूत्रसंस्थान आदि में से किसी एक या अनेक में भी राजयक्ष्मा उपस्थित रहती है इसलिये उसके लक्षण भी उपस्थित रहते हैं। प्रजननअंगों का उदरावरण से निकट संबंध है अतएव यदि उदरावरण प्रदाह पहले से उपस्थित न हो तो इन स्थानों से उपसर्ग पहुँच कर उसकी भी उत्पत्ति हो जाती है।

(१०) स्तनों का राजयक्ष्मा (*Tuberculosis of the Mammary Glands*)—यह अत्यन्त विरल है। प्रायः ४०-६० वर्ष के स्त्री-पुरुष प्रभावित होते हैं। शोथ, व्रण, नाड़ीव्रण, चूंची भीतर को

ओर धंस जाना, कहीं कड़ा और कहीं नरम रहना आदि लक्षण होते हैं। स्तन में राजयक्ष्मीय शीत विद्रधि (*cold Absces*) भी होता है। अधिकांश मामलों में फौफ्फसीस राजयक्ष्मा भी उपस्थित रहती है।

(११) नासिका का राजयक्ष्मा (*Tuberculosis of the Nose*)—इस रोग में नासिका के अग्रभाग में भीतर की तरफ और नासामूल के आसपास छोटी छोटी पिडिकाएं उत्पन्न होती हैं। इनके फूटने पर किंचित उभरे हुए किनारों वाले व्रण बनते हैं। साधारण चिकित्सा से लाभ नहीं होता और रोग अत्यन्त धीरे धीरे फैलता है; पुराना होने पर नासिका की दीवार में छिद्र बन सकता है।

(१२) स्वरयंत्र का राजयक्ष्मा अथवा राजयक्ष्मीय स्वरयंत्र प्रदाह (*Tuberculosis of the Larynx or Tubercular Laryngitis*)—यह रोग अधिकतर आनुषंगिक होता है और फौफ्फुसीय राजयक्ष्मा की अन्तिम दशाओं में उत्पन्न होता है। उपसर्ग कफ के द्वारा होता है।

स्वरयंत्र एवं आस पास के प्रदेश में चिकने, पीतवर्ण, उथले और अस्पष्ट किनारों वाले व्रण उत्पन्न होते हैं। पीड़ा, स्वरभंग, निगलने में कष्ट आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। पहले से उपस्थित खांसी अधिक त्रासदायक हो जाती है।

(१३) अस्थियों और सन्धियों का राजयक्ष्मा (*Tuberculosis of the Bones and Jonits*)—वैसे यह रोग किसी भी आयु में हो सकता है किन्तु १६ वर्ष से कम और ५० वर्ष से अधिक आयु के लोग अधिक प्रभावित होते हैं। साधारण सी चोट अथवा मोच जिसकी उपेक्षा की गयी हो अधिकतर रोगोत्पत्ति का स्थल होती है। पूयदन्त, गलतुण्डिका प्रदाह, कण्ठशालूक (Adenoids), मलावरोध आदि की उपस्थिति रोगोत्पत्ति में सहायक होती है। संक्रमण अधिकतर रक्तवाहिनियों के मार्ग से होता है। अधिकांश मामलों में लसग्रन्थियों, फुफ्फुसों अथवा शरीर के किसी अन्य भाग का राजयक्ष्मा उपस्थित रहता है।

सम्प्राप्ति लगभग अन्य स्थानों के राजयक्ष्मा के समान ही होती है, अर्थात् यक्ष्मियों की उत्पत्ति, किलाटीभवन और पूयोत्पत्ति होकर फूटना। 'संधि' में संधि-कला, संधिक तरुणास्थि, उपस्थि आदि का नाश होकर विद्रधि बनता है अथवा संधि में पतला लसिकीय द्रव भर जाता है जिसमें लसकायाणुओं का बाहुल्य रहता है और कुछ मामलों में तरबूज के बीजों के समान दाने तैरते हुए पाये जाते हैं, समीपस्थ अस्थियों में भी राजयक्ष्मीय परिवर्तन होता है। अस्थि में रोग सर्व-प्रथम अस्थ्यावरण के गंभीर पर्तों में उत्पन्न होकर ऊपर या नीचे की ओर बढ़कर चारों ओर फैलता है, अस्थि कीड़ों द्वारा खायी हो इस प्रकार होजाता है—(अस्थिनाश, Caries), तथा सामान्य आघात से भग्न हो सकता है। अस्थि के छिलके निकलते हैं और विद्रधि की उत्पत्ति होती है। अधिकतर राजयक्ष्मीय अस्थिविद्रधि भीतर ही भीतर काफी दूर तक व्रण बनता हुआ फूटता है। अन्य अस्थियों की अपेक्षा पर्शुकायें, कशेरुकायें और उर्वस्थि अधिकतर आक्रांत होती हैं।

सामान्यतः प्रारंभ में हल्का ज्वर, दुर्बलता और कृशता, प्रभावित स्थान में शोथ, पीड़ा, निष्क्रियता, स्पर्श में गर्भ प्रतीत होना आदि लक्षण होते हैं। फिर विद्रधि या द्रव (विशेषतः सन्धि में) की उत्पत्ति होती है। इस समय उक्त लक्षण प्रबल हो जाते हैं। विद्रधि बहुत दूर तक नाड़ी-व्रण बनता हुआ फूटता है—कन्धे का विद्रधि कलाई में और कटिकशेरुकाओं का विद्रधि एड़ी में फूट सकता है। पीड़ित अङ्ग निष्क्रिय एवं बेडौल हो जाता है। जब तक द्वितीयक उपसर्ग न हो तब तक समीपस्थ भागों की लसग्रंथियां प्रभावित नहीं होतीं। कुछ मामलों में विद्रधि अचानक उत्पन्न होता और १-२ दिनों में अदृष्य हो जाता है (*Psoas Abscess*)। रोग चिरकारी अनुतीव्र प्रकार का हो सकता है। लक्षणों एवं रोग के व्रण में

काफी विभिन्नता भिन्न भिन्न व्यक्तियों में पायी जाती है। कुछ मामलों में अस्थि की वृद्धि होजाती है और कुछ में विद्रधि न बनकर क्रमशः अस्थि अपुष्ट एवं जड़ हो जाती है तथा कुछ में अस्थि में केवल उभार बनकर रह जाता है।

रोगी का भविष्य अन्य अंगों में रोग की उपस्थिति, द्वितीयक उपसर्ग और बलाबल पर निर्भर रहता है। कुछ रोगी शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं किन्तु दूसरे दीर्घकाल तक जीवित रहे आते हैं।

(१४) राजयक्ष्मीय विद्रधि, शीतविद्रधि (*Tubercular Abscess, Cold Abscess*)—इसकी उत्पत्ति रक्तगत उपसर्ग से होती है। बहुत से मामलों में शरीर के किसी अन्य भाग में राजयक्ष्मा की उपस्थिति पायी जाती है किन्तु सभी में नहीं। यह अत्यन्त चिरकारी प्रकार का विद्रधि है, अत्यन्त देर से एवं विशेषतः अन्य जीवाणुओं के उपसर्ग से इसका पाक होता है। कारणभूत जीवाणु यक्ष्मा-दण्डाणु ही होते हैं और सम्प्राप्ति लगभग वही होती है जो अन्य स्थानों के राजयक्ष्मा की होती है अर्थात् पहले छोटी और फिर बड़ी यक्ष्मियों की उत्पत्ति, किलाटीभवन आदि।

इस विद्रधि के किनारे अन्य विद्रधियों की अपेक्षा अत्यन्त मोटे होते हैं और तीव्र प्रदाह के लक्षण नहीं मिलते। कृशता अत्यधिक आती है किन्तु विद्रधि के सामान्य सार्वदैहिक लक्षण अत्यल्प होते हैं। ताप सामान्य अथवा सामान्य से कम रहता है किंतु द्वितीयक उपसर्ग होने पर प्रलेपक (Hectic) ज्वर आता है। सबसे बड़ा विभेदक लक्षण यह है कि विद्रधि अपने स्थान से हटता है—प्रारम्भ में किसी स्थान पर शोथ उत्पन्न होकर क्रमशः खिसकता है और फिर किसी अन्य स्थान पर विद्रधि प्रकट होता है। निश्चित विभेद पूय (किलाट) में यक्ष्मा-दण्डाणु मिलने पर होता है किंतु कभी कभी ये नहीं भी मिलते; ऐसी दशा में गिनी-पिग में सूची द्वारा प्रविष्ट करके विनिश्चय किया जाता है।

विद्रधि चिरकाल में फूटता है अथवा नहीं भी फूटता। फूटने पर जो व्रण बनता है वह कठिनाई से भरता है। कुछ मामलों में नाड़ी व्रण बन जाता है। इसके साथ अथवा उपद्रव स्वरूप किसी भी अङ्ग में अथवा सार्वदैहिक राजयक्ष्मा हो सकता है।

(१५) त्वचा का राजयक्ष्मा, राजयक्ष्मीय त्वचारोग (*Tuberculosis of the Skin, Dermal Tuberculosis, Tuberculous skin Disease*)—त्वचा के निम्न ३ रोग यक्ष्मा-दण्डाणु के उपसर्ग से उत्पन्न होते हैं—

(*i*) यक्ष्मज-त्वग्पिडिका (*Lupus Vulgaris*) यह रोग २५ वर्ष की आयु तक सामान्यतः पाया जाता है, इसके बाद प्रायः नहीं होता। वैसे यह शरीर के किसी भी भाग में हो सकता है किन्तु विशेषतः चेहरे पर होता है; कपाल पर नहीं होता। इस रोग में त्वचा के द्वितीय स्तर के नीचे एक छोटी पिडिका उत्पन्न होती है। इसका रंग कुछ लाली लिये हुए बादामी होता है। इसके बढ़ने पर वहां की त्वचा में शोथ होता है और आस-पास नयी पिडिकाएं निकलती हैं। इस प्रकार एक मण्डल सा बन जाता है जो क्रमशः फैलता जाता है। आस पास की त्वचा में रक्ताधिक्य रहता है। पीड़ित स्थान की त्वचा मोटी पड़ जाती है और उस में से छिलके निकलते हैं। मध्य भाग में व्रण वस्तु का निर्माण होता है,
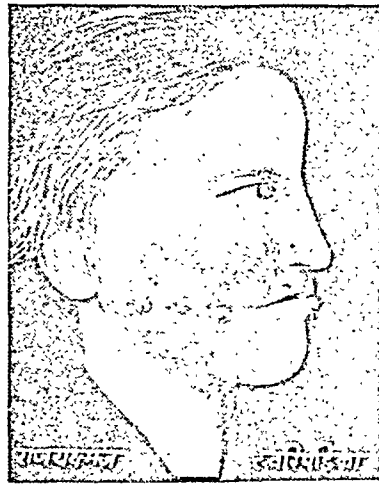
किन्तु उसमें भी १-२ पिडिकाएं मौजूद रहती हैं; आस-पास नयी पिडिकाओं की उत्पत्ति चालू रहती है। एक मण्डल के पास दूसरे मण्डल भी उत्पन्न होते हैं और फिर परस्पर मिल जाते हैं जिससे विचित्र आकारों की सृष्टि होती है। कभी कभी

इनमें व्रण बन जाते हैं और द्वितीय उपसर्ग होने से पूयोत्पत्ति भी होती है। प्रारम्भ में रोग त्वचा तक ही सीमित रहता है किन्तु आगे मांस और अस्थि तक भी पहुँच सकता है। नाक में होने से (नासागत राजयक्ष्मा) नासापाली और नासाभित्ति का विनाश हो जाता है। तालु और मसूढ़ों में रोग का प्रसार होसकता है। कुछ मामलों में लस-ग्रंथियों में उपसर्ग पहुँच जाता है और वृद्धों में उपकलार्बुद की उत्पत्ति हो सकती है। रोग अत्यन्त चिरकारी प्रकार का है और एक बार शमन होजाने पर पुनराक्रमण की संभावना रहती है। मृत्यु नहीं होती किन्तु कुरूपता उत्पन्न होजाती है।

(ii) राजयक्ष्मीय व्रण, त्वचागत अपची (*Tuberculous Ulcers, Scrofulodermia*)—ये व्रण प्राथमिक या द्वितीयक होते हैं। प्राथमिक व्रण प्रत्यक्ष उपसर्ग (*Direct Inoculation*) से होते हैं और द्वितीयक व्रण लसग्रंथियों के राजयक्ष्मा का पाक होने पर उत्पन्न होते हैं। किसी भी प्रकार के हों, ये व्रण संख्या में अनेक होते हैं। इनके किनारे पतले और नीले होते हैं। मध्य भाग पीला एवं दानेदार होता है तथा उसमें से एक प्रकार का जलीय स्राव निकलता है जो सूखकर पपड़ी बन जाता है। ये व्रण अत्यन्त विलम्ब से भरते हैं और अधूरा रोपण होकर फिर व्रणवस्तु का नाश होकर व्रण नया होजाना सामान्य बात है। भरने पर जो व्रणवस्तु बनती है वह टेढ़ी-मेढ़ी, ऊँची-नीची और चुन्नटदार होती है।

(iii) कठिन रक्तमयता, बेज़िन का रोग (*Erythema Induratum. Bazin's Disease*)—यह रोग अधिकतर नवयुवतियों में पाया जाता है और सामान्यतः पिण्डली के निचले भाग में पीछे की ओर होता है। गंभीर अधस्त्वक् धातु में पिडिकाएं उत्पन्न होती हैं और क्रमशः आकार में बढ़ती तथा ऊपर की ओर आती हैं। त्वचा का वर्ण क्रमशः नीलाभ या रक्ताभ होजाता है। कुछ काल में या तो ये बैठ जाती हैं अथवा व्रण बन जाते हैं। व्रण गोल होते हैं और मुश्किल से भरते हैं। रोग अत्यन्त चिरकारी प्रकार का है।

अन्य प्रकार के शोथ

व्यवायशोकवार्धक्यव्यायामाध्वप्रशोषितान्।
व्रणोरःक्षतसंज्ञौ च शोषिणौ लक्षणैः शृणु ॥ १४॥

मैथुन, शोक, बुढ़ापा, व्यायाम एवं मार्गगमन से शोषित और व्रण तथा उरःक्षत से शोषित व्यक्तियों का लक्षणानुसार वर्णन सुनो—

वक्तव्य—(१००) राजयक्ष्मा भी एक प्रकार का शोथ है। उसका वर्णन पीछे हो चुका है। अब राजयक्ष्मा के अतिरिक्त अन्य प्रकार के शोषों का वर्णन किया जा रहा है। मैथुन, व्यायाम आदि से अतिमैथुन, अतिव्यायाम आदि समझें। ग्रन्थ में सर्वत्र इसी रीति से कहा गया है, 'अति' शब्द लगभग सर्वत्र ही विस्तारभय से छोड़ दिया गया है।

व्यवाय शोथ

व्यवायशोषी शुक्रस्य क्षयलिंगैरुपद्रुतः।
पाण्डुदेहो यथापूर्वं क्षीयन्ते चास्य धातवः ॥ १५॥

व्यवाय शोषी शुक्रक्षय के लक्षणों से पीड़ित रहता है। उसका शरीर पीताभ वर्ण का होता है और उसकी धातुयें पूर्वोक्त राजयक्ष्मा के समान (अथवा पूर्व-पूर्ववर्ती क्रम से) क्षीण होती हैं।

वक्तव्य—(१०१) अन्य टीकाकारों ने 'यथापूर्वं' का अर्थ 'पूर्व-पूर्ववर्ती क्रम' लिया है अर्थात् शुक्र के बाद क्रमशः मज्जा, अस्थि, मेद, मांस, रक्त और रस क्रम क्रम से क्षीण होते हैं—प्रतिलोम क्षय। यह अर्थ ठीक ही है किन्तु 'यथापूर्व' का अधिक स्पष्ट एवं सीधा अर्थ 'पूर्व के समान या पूर्वोक्त के समान' होता है और इसके पूर्व शोष के एक विशेष भेद राजयक्ष्मा का वर्णन होचुका है इसलिये यदि इसका अर्थ 'पूर्वोक्त राजयक्ष्मा के समान' ग्रहण करें तो भी ठीक ही है। व्यवाय से राजयक्ष्मा की उत्पत्ति होती है यह कहा ही जा चुका है अतएव जब तक राजयक्ष्मा

उराण्ड का राजयक्ष्मा
(पृष्ठ ३६७)
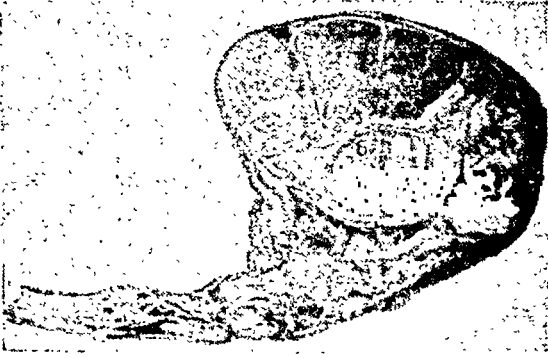
राजयक्ष्मज डिम्बनलिका प्रदाह
(पृष्ठ ३६७)

संधिगत राजयक्ष्मा
(पृष्ठ ३६८)
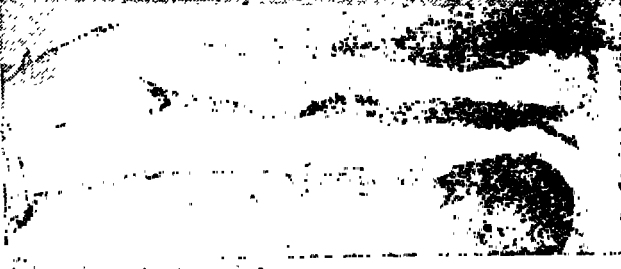
राजयक्ष्मीय व्रण अथवा
त्वचागत अपची
(पृष्ठ ४ ८)

वातोत्फुल्लता के कारण उत्पन्न
वातोरस के रोगी के वक्ष का
क्ष-किरण चित्र
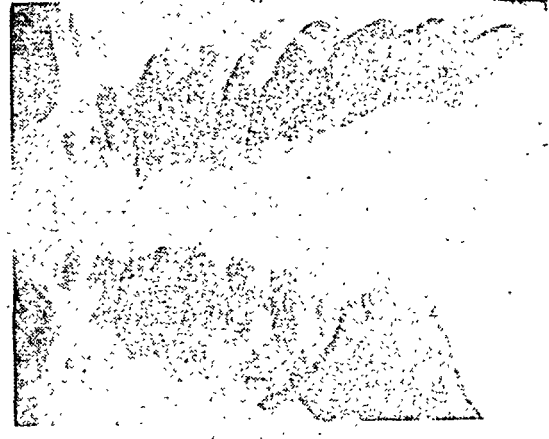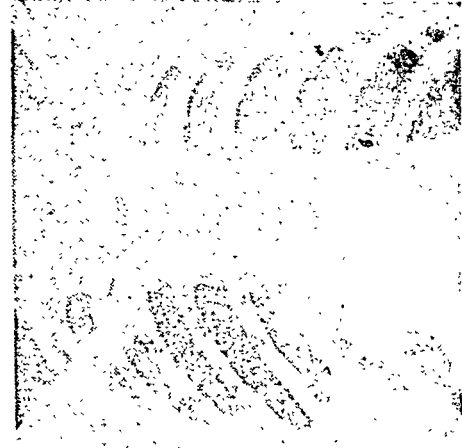
राजयक्ष्माजन्य सद्रव वातोरस
(पृष्ठ ४०१-२)

कज्जलकण संचयज
फुफ्फुस-तन्तूत्कर्ष
(पृष्ठ ४३१)

शैशवीय
अर्धाङ्गघात
(पृष्ठ ४८६)

वाम पार्श्वीय अर्दित
(केवल दाहिनी ओर की
पेशियां क्रिया कर रही हैं,
बांई ओर की जड़ हैं।)
(पृष्ठ ४९४)

स्थाई एक-पार्श्वीय
मन्यास्तम्भ
(पृष्ठ ४९८)

अंसशोष और
अवबाहुक
(पृष्ठ ४९९)
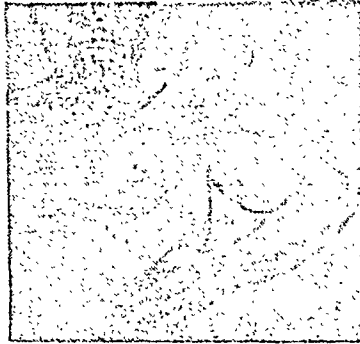
डिम्बकोषार्बुद से पीड़ित
(पृष्ठ ५०८)

के लक्षणों की उत्पत्ति नहीं होती तब तक की अवस्था को व्यवायशोष कहेंगे। व्यवायशोष में राजयक्ष्मा के ही समान धातुक्षय होता है किन्तु कास, ज्वर आदि लक्षण नहीं पाये जाते; जब कास, ज्वर आदि उत्पन्न हो जाते हैं तब रोग व्यवायशोष न रहकर राजयक्ष्मा हो जाता है।

शुक्रक्षय के लक्षण इस अध्याय के प्रारम्भ में ही कहे जा चुके हैं।

शोक शोप

प्रध्यानशीलः स्रस्ताङ्गः शोकशोष्यपि तादृशः।

अधिक चिन्तनशील और शिथिल शरीर वाला शोक शोषी भी उसी (व्यवायशोषी) के समान होता है।

वक्तव्य – (१०२) लक्षणों में वैसा ही होता है और धातुक्षय भी उसी तरह होता है किन्तु शुक्रक्षय नहीं पाया जाता यद्यपि शोक के कारण मैथुन में असमर्थ रहता है।

जराशोष

जराशोषी कृशो मन्दवीर्यबुद्धिबलेन्द्रियः ॥१६॥
कम्पनोऽरुचिमान् भिन्नकांस्यपात्रहतस्वरः।
ष्ठीवति श्लेष्मणा हीनं गौरवारतिपीडितः ॥१७॥
संप्रस्रुतास्यनासाक्षः शुष्करूक्षमलच्छविः।

जराशोषी कृश रहता है; उसकी वीरता (अथवा मैथुन शक्ति), बुद्धि, बल और इन्द्रियों में मन्दता अथवा कमजोरी आ जाती है; कम्प और अरुचि से पीड़ित रहता है; फूटे हुए कांस्यपात्र को पीटने से जैसा स्वर निकलता है वैसी आवाज हो जाती है; कफ न होने पर भी खखार कर थूकता है तथा शरीर में भारीपन और बेचैनी से पीड़ित रहता है; मुख, नासिका और नेत्रों से निरन्तर स्राव होता रहता है और देखने में रुखा, सूखा और मैला रहता है।

अध्वशोष

अध्वशोषी च स्रस्ताङ्गः संभृष्टपरुषच्छविः ॥१८॥
प्रसुप्तगात्रावयवः शुष्कक्लोमगलाननः।

अधिक यात्रा करने के कारण जिसे शोषरोग हुआ हो उसके अङ्ग शिथिल रहते हैं, चेहरा झुलसा हुआ सा एवं रूखा रहता है, अङ्गों में शून्यता (स्पर्शज्ञान का अभाव, *Anaesthesia*) रहती है और क्लोम (तालु), कण्ठ और मुख में शुष्कता रहती है।

वक्तव्य—(१०३) अन्य प्रतियों में 'क्लोम' के स्थान पर 'तालु' पाठान्तर मिलता है।

व्यायाम–शोष

व्यायामशोषी भूयिष्ठमेभिरेव समन्वितः।
लिङ्गैरुरःक्षतकृतैः संयुक्तश्च क्षतं विना ॥१९॥

व्यायाम शोषी बहुधा इन्हीं (अध्वशोष के) लक्षणों से युक्त और उरःक्षत के बिना ही उरःक्षत के लक्षणों से युक्त रहता है।

व्रणशोष

रक्तक्षयाद्वेदनाभिस्तथैवाहारयन्त्रणात्।
व्रणितस्य भवेच्छोथः स चासाध्यतमो मतः ॥२०॥

रक्तक्षय, पीड़ा और सीमित-आहार के कारण व्रण से पीड़ित व्यक्ति को शोष होता है और वह शोष अत्यन्त असाध्य होता है।

वक्तव्य—(१०४) 'स चासाध्यतमो मतः' कहने का तात्पर्य यह है कि जिन लक्षणों से युक्त अन्य प्रकार के शोष असाध्य होते हैं उन्हीं लक्षणों से युक्त व्रण-शोष असाध्यतम (प्रत्याख्येय) है; सौम्य अथवा साध्य लक्षणों से युक्त व्रणशोष कष्टसाध्य है–इत्यादि।

राजयक्ष्मा के जो लक्षण बतलाये जा चुके हैं लगभग वे ही सब लक्षण अन्य प्रकार के शोषों में भी पाये जाते हैं; उनके अतिरिक्त प्रत्येक प्रकार के शोष के विशेष लक्षण यहां पृथक् पृथक् बतलाये गये हैं।

उरःक्षत-शोष

धनुषाऽऽयस्यतोऽत्यर्थं भारमुद्वहतो गुरुम्।
युध्यमानस्य बलिभिः पततो विषमोच्चतः ॥२१॥
वृषं हयं वा धावन्तं दम्यं वाऽन्यं निगृह्णतः।
शिलाकाष्ठाश्मनिर्घातान् क्षिपतो निघ्नतः परान् ॥२२॥
अधीयानस्य वाऽत्युच्चैर्दूरं वा व्रजतो द्रुतम्।
महानदीर्वा तरतो हयैर्वा सह धावतः ॥२३॥

सहसोत्पततो दूरं तूर्णं वाऽपि प्रनृत्यतः।
तथाऽन्यैः कर्मभिः क्रूरैर्भृशमभ्याहतस्य वा ॥२४॥
विक्षते वक्षसि व्याधिर्बलवान् समुदीर्यते।
स्त्रीषु चातिप्रसक्तस्य रूक्षाल्पप्रमिताशिनः ॥२५॥
उरो विभज्यतेऽत्यर्थं भिद्यतेऽथ विरुज्यते।
प्रपीड्यते ततः पार्श्वे शुष्यत्यङ्गं प्रवेपते ॥२६॥
क्रमाद्वीर्यं बलं वर्णो रुचिरग्निश्च हीयते।
ज्वरो व्यथा मनोदैन्यं विड्भेदाग्निवधावपि ॥२७॥
दुष्टः श्यावः सुदुर्गन्धः पीतो विग्रथितो बहुः।
कासमानस्य चाभीक्ष्णं कफः सासृक् प्रवर्तते ॥२८॥
स क्षती क्षीयतेऽत्यर्थं तथा शुक्रौजसोः क्षयात्।
अव्यक्तं लक्षणं तस्य पूर्वरूपमिति स्मृतम् ॥२९॥

धनुष को अत्यधिक खींचते समय; भारी बोझ ढोते समय; बलवानों से लड़ते समय; विषम (ऊंचा नीचा) अथवा ऊंचे स्थान से गिरते समय; दौड़ते हुए बैल, घोड़े तथा अन्य वश में करने योग्य प्राणियों (ऊंट, हाथी, चोर आदि) को पकड़कर रोकते समय; शिला, लकड़ी, पत्थर और निर्घात (सांग) दूसरों को मारने के लिये फेंकते समय; अत्युच्च स्वर में पढ़ते समय; द्रुतगति से दूर की यात्रा करते समय; बड़ी नदी को तैरकर पार करते समय; घोड़ों आदि के साथ (होड़ लगाकर) दौड़ते समय, एकाएक लम्बी छलांग लगाते समय; तेजी के साथ नाचते समय तथा इसी प्रकार के अन्य कर्मों से अथवा क्रूर व्यक्तियों के द्वारा अत्यधिक पीटे जाने से वक्ष में क्षत होकर बलवान् व्याधि उत्पन्न होती है। रूखा, थोड़ा एवं सीमित भोजन करने और अति स्त्रीप्रसंग करने वालों का भी वक्ष विदीर्ण होजाता है। इससे पार्श्व में भेदनवत्, मन्द अथवा तीव्र पीड़ा होती है; शरीर सूखता और कांपता है; क्रम से वीर्य, बल, वर्ण, रुचि और अग्नि का क्षय होता है; ज्वर, व्यथा (सर्वाङ्ग में अस्पष्ट पीड़ा, बेचैनी आदि), मानसिक दौर्बल्य, (अथवा मन में दीनता का अनुभव होना), अतिसार एवं अग्निनाश (आमाशयादि के स्रावों का प्रभाव एवं शारीरिक ताप सामान्य से कम रहना) होता है और खांसते समय दूषित, श्याववर्ण, दुर्गन्धित, पीला, गांठदार, बहुत सा कफ रक्त के साथ बारम्बार निकलता है। वह उरःक्षत रोगी इन कारणों से तथा शुक्र और ओज के क्षय के कारण (मैथुनादि के द्वारा) अत्यधिक क्षीण होता है। उक्त लक्षणों की अव्यक्त अवस्था ही इस रोग का पूर्वरूप है।

वक्तव्य—(१०५)यह दशा अधिकांशतः राजयक्ष्मा से सम्बन्धित रहती है पाश्चात्य ग्रन्थों में इसका वर्णन वातोरस (pneumo-thorax) नाम से किया गया है। नीचे वातोरस का वर्णन किया जा रहा है। इस सम्बन्ध में राजयक्ष्मा और रक्तपित्त (रक्तष्ठीवन) पर पाश्चात्य मत भी देखना अभीष्ट है।

वातोरस (Pneumo--thorax)—फुफ्फुसावरण गुहा में वायु भर जाने की दशा को वातोरस कहते हैं। अक्सर वायु के साथ ही जल, रक्त या पूय का भी संचय रहता है; ऐसी दशा को जल-वातोरस (Hydro--pneumo--thorax), रक्त-वातोरस (Haemo-pneumo-thorax) या पूय-वातोरस (pyo-pneumo-thorax) कहते हैं। यह रोग अधिकतर युवावस्था या प्रौढ़ावस्था में होता है। अधिकांश मामलों में फुफ्फुसों के भीतर या बाहर फुफ्फुसावरण, महाप्राचीरा, अन्तराल, अन्नप्रणाली आदि में क्षरण, विस्फार या व्रणोत्पत्ति करने वाला कोई न कोई रोग उपस्थित रहता है। वक्ष में छुरी, भाला, तलवार आदि नुकीले शस्त्र भोंके जाने से अथवा बन्दूक आदि की गोली लगने से अथवा पर्शुकास्थि का भग्न होने से अथवा अकारण ही पहले से स्वस्थ व्यक्तियों को भी वातोरस हो जाता है। राजयक्ष्मा की चिकित्सा में फुफ्फुसावरण गुहा में कृत्रिम रीति से वायु प्रवेश कराकर वातोरस उत्पन्न किया जाता है—कृत्रिम वातोरस (Artificial pneumo-thorax, A. P.)। फुफ्फुसावरण में वायु का प्रवेश होते ही उस ओर के फुफ्फुस का निपात हो जाता है। अधिकतर यह दशा एक ही ओर होती है किन्तु यदि दोनों ओर वायु प्रविष्ट हो तो दोनों फुफ्फुसों का निपात हो जाता है। कभी कभी फुफ्फुसावरण के किसी भाग में संलाग होता है जिसके फलस्वरूप वायु एक सीमित स्थान में कैद हो जाती है और फुफ्फुस के एक

सीमित भाग का ही निपात (Collaps) होता है। यदि छिद्र बड़ा हो तो वायुप्रवेश तथा लक्षणों की उत्पत्ति एकाएक होती है किन्तु यदि छिद्र काफी छोटा हो तो वायु धीरे धीरे भरती है और लक्षणों की उत्पत्ति भी धीरे धीरे होती है। अधिकतर भरी हुई हवा का निपीड़ (दबाव) वायुमण्डल के दबाव के अनुरूप ही रहता है किन्तु यदि छिद्र कपाटयुक्त (Valvular) हो अर्थात् छिद्र की रचना इस प्रकार की हो कि वायु प्रवेश कर सके किन्तु निकल न सके तो भीतर की हवा का निपीड़ वायुमण्डल के निपीड़ से अधिक या कम हो सकता है। भीतरी वायु का निपीड़ जितना अधिक होता है भीतरी अवयव उतने ही अधिक स्थानभ्रष्ट हो जाते हैं और लक्षण भी उतने ही अधिक गम्भीर होते हैं।

अधिकांश मामलों में खांसी के आवेग के समय अथवा परिश्रम का कोई काम करते समय रोग का आरम्भ होता है। रोगी को ऐसा प्रतीत होता है कि वक्ष के भीतर कोई चीज फट गई है और इसके साथ ही अत्यन्त कष्टदायक पीड़ा का अनुभव होता है तथा सार्वाङ्गिक निपात के लक्षण—पतली, कमजोर एवं द्रुतगामिनी नाड़ी, श्यावता, शारीरिक उत्ताप सामान्य से कम, शीतल चिपचिपा प्रस्वेद थोड़ा थोड़ा निकलना, श्वासकष्ट एवं श्वास-प्रश्वास के साथ नासापाली, वक्ष और उदर की पेशियों का दबना-उभरना आदि उत्पन्न हो जाते हैं। रोगी तकिये पर कोहनियां टेककर टिककर बैठना पसन्द करता है, अन्य आसनों में कष्ट बढ़ता है। वक्ष में स्थित अन्य अंगों पर दबाव पड़ने से उनसे सम्बन्धित लक्षण भी उत्पन्न हो जाते हैं। रक्तष्ठीवन अधिकांश में होता है; कुछ में पहले से ही उपस्थित रहता है और कुछ में अन्त तक नहीं होता। पहले से उपस्थित कारणभूत रोग के लक्षण भी विद्यमान रहते ही हैं। अधिकांश मामलों में कुछ मिनिटों, घंटों, दिनों या सप्ताहों में मृत्यु हो जाती है। पुराने रोगों की जीर्ण अवस्था में होने वाला वातोरस सदैव मारक होता है किन्तु स्वस्थ व्यक्तियों को अचानक होने वाला वातोरस् (यदि जीवाणु-संक्रमण न हो तो) प्रायः घातक नहीं होता, व्रण का रोपण हो जाता है और वायु चूषित हो जाती है। राजयक्ष्मा की प्रथम अवस्था में होने वाला वातोरस् कभी कभी उपचारवत् कार्य करता है अर्थात् उसके फलस्वरूप राजयक्ष्मा रोग का शमन हो जाता है और वह भी स्वयमेव शान्त हो जाता है। कुछ व्यक्ति ऐसे भी मिले हैं जिन्हें वातोरस् होते हुए भी कोई लक्षण उत्पन्न नहीं हुए और रोग का ज्ञान किसी अन्य रोग के लिये अथवा मृत्यूत्तर परीक्षा करते समय हुआ।

इस रोग का निदान करने में प्रायः कठिनाई नहीं होती। आक्रान्त पार्श्व फूला हुआ एवं जड़ प्रतीत होता है, ठेपण करने से आध्मानवत् शब्द होता है और पर्शुकान्तरीय स्थलों में उभार स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। वक्ष-परीक्षा यन्त्र से श्रवण करने पर हृदयाग्र-स्पंदन (Apex-beat) स्वस्थ पार्श्व की ओर स्थानान्तरित मिलता है; वाचिक (Vocal) लहरियां (Fremitus) और प्रतिस्वनन (Resonance) अस्पष्ट प्रतीत होते हैं; श्वासध्वनि (Breath-sound) क्षीण (Diminished), नलिकीय (tubular), कूप्याध्मात (Amphoric) या गह्वरी (Cavernous) प्रकार की होती है और अन्तरित निस्वनन (Rales) धात्वीय (Metallic) या घण्टिकावत् (Bell-sound) मिलते हैं। निदान की पुष्टि क्ष-किरण चित्र से होजाती है; द्रव की उपस्थिति होने पर उसकी ऊपरी सतह आड़ी रेखा में लक्षित होती है।

उरःक्षत और क्षय का विभेद

उरोरुक् शोणितच्छर्दिः कासो वैशेषिकः क्षते।
क्षीणे सरक्तमूत्रत्वं पार्श्वपृष्ठकटीग्रह ॥ ३० ॥

वक्ष में पीड़ा, रक्तवमन (रक्तष्ठीवन) और खांसी उरःक्षत के विशेष लक्षण हैं तथा रक्तयुक्त (अथवा रक्तिम) मूत्र आना, पार्श्व, पीठ और कटि में जकड़ाहट होना क्षय (शोष) के विशेष लक्षण हैं।

उरःक्षत के साध्यासाध्य लक्षण

अल्पलिङ्गस्य दीप्ताग्नेः साध्यो बलवतो नवः ।
परिसंवत्सरो याप्यः सर्वलिङ्गं तु वर्जयेत् ॥३१॥

बलवान एवं प्रदीप्त अग्नि वाले का नया एवं थोड़े लक्षणों से युक्त उरःक्षत रोग साध्य है; वर्ष बीतने पर याप्य हो जाता है और सभी लक्षण जिसमें हों वह प्रत्याख्येय है।

: ११ :

कास

(Cough)

निदान

धूमोपघाताद्रसतस्तथैव व्यायामरूक्षान्ननिषेवणाच्च ।
विमार्गगत्वाच्च हि भोजनस्य वेगावरोधात् क्षवथोस्तथैव ।१।

धुवां लगने से, रस धातु के प्रकोप से (यहां 'रसतः' के स्थान पर 'रजसः' पाठान्तर मिलता है जिसके अनुसार 'धूल उड़कर मुखनासिका में भरने से' अर्थ होता है जो अधिक उपयुक्त भी है), व्यायाम और रूक्ष अन्न के सेवन से, भोजन गलत मार्ग (वायु मार्ग) में जाने से तथा छींक का वेग रोकने से—

सम्प्राप्ति

प्राणो ह्युदानानुगतः प्रदुष्टः
स भिन्नकांस्यस्वनतुल्यघोषः ।
निरेति वक्त्रात्सहसा सदोषो
मनीषिभिः कास इति प्रदिष्टः ॥२॥

—उदानवायु सहित कुपित प्राणवायु एकाएक एक फूटे हुए कांसे के वर्तन के समान ध्वनि उत्पन्न करती हुई दोष को साथ लेकर मुख से निकलती है—इसे मनीषियों ने कास कहा हैं।

भेद

पञ्च कासाः स्मृताः वातपित्तश्लेष्मक्षतक्षयैः ।
क्षयायोपेक्षिताः सर्वे बलिनश्चोत्तरोत्तरम् ॥ ३ ॥

पांच प्रकार की कास कही गई हैं— वातज, पित्तज, कफज, क्षतज और क्षयज । ये सभी उपेक्षा करने पर क्षयकारक हैं और उत्तरोत्तर बलवान होती हैं।

वक्तव्य (१०६)—सम्प्राप्ति से स्पष्ट है कि सभी प्रकार की कास वातज होती हैं; पाश्चात्य मत भी इसके विरुद्ध नहीं है। श्वास मार्ग में किसी भी बाह्य (धूम्र, धूल, अन्नकण, निगले हुए विजातीय पदार्थ आदि) या आभ्यन्तर (प्रदाह, व्रण, धातुओं में रूक्षता आदि) कारण से क्षोभ होने पर कास की उत्पत्ति होती है। वायु के साथ कफ या पित्त निकलने पर कास कफज या पित्तज कहलाती है; उरःक्षत रोग में उत्पन्न होने वाली कास क्षतज कहलाती है और राजयक्ष्मा में उत्पन्न होने वाली कास क्षयज कहलाती है। सामान्य धातुक्षय में उत्पन्न होने वाली कास भी क्षयज ही कही जाती है किन्तु यहां यह ध्यान रखना चाहिये कि कास उत्पन्न हो जाने पर धातुक्षय से राजयक्ष्मा होते देर नहीं लगती इसलिये इस प्रकार की कास को राजयक्ष्मा का पूर्वरूप समझना चाहिये।

क्षयायोपेक्षिताः सर्वे—सभी प्रकार की कास* उपेक्षा करने अर्थात् चिकित्सा न करने से धातुक्षय और अन्ततोगत्वा राजयक्ष्मा उत्पन्न करती हैं; क्षयज कास तो धातुक्षय अथवा राजयक्ष्मा से उत्पन्न होती ही है।

बलिनश्चोत्तरोत्तरम्—कई टीकाकारों ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—"ये उत्तरोत्तर क्रम से अर्थात् वातज से पित्तज, पित्तज से कफज, कफज से क्षतज और क्षतज से क्षयज अधिक बलवान होती हैं।" किन्तु व्यवहार में यह देखा जाता है कि कफज कास की अपेक्षा वातज और पित्तज

*कासात् संजायते क्षयः । अध्याय १/१८ ॥

कास अधिक कष्टदायक और कष्टसाध्य हैं इसलिये यह टीका उपयुक्त नहीं प्रतीत होती । मेरे मत से इसका सम्बन्ध 'क्षयायोपेक्षिताः सर्वे' से जोड़ते हुये यह अर्थ लेना चाहिये—"ये उत्तरोत्तर (ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है त्यों त्यों) अधिक बलवान होती जाती हैं।"

सामान्य पूर्वरूप

पूर्वरूपं भवेत्तेषां शूकपूर्णगलास्यता ।
कण्ठे कण्डूश्च भोज्यानामवरोधश्च जायते ॥ ४ ॥

मुख और गले में शूक (सूक्ष्म कांटे) भरे हुए हों ऐसा प्रतीत होना उक्त सभी प्रकार की कास का पूर्वरूप हैं; गले में खुजलाहट और भोज्य पदार्थों का अवरोध (निगलने में कष्ट, Dysphagia) भी होता है।

वक्तव्य—(१०७) कण्ठ और उसके आस पास के प्रदेशों में प्रक्षोभ और प्रदाह होने से इन लक्षणों की उत्पत्ति कास के पूर्व होती है।

वातज कास

हृच्छंखमूर्धोदरपार्श्वशूली
क्षामाननः क्षीणबलस्वरौजाः ।
प्रसक्तवेगस्तु समीरणेन
भिन्न स्वरः कासति शुष्कमेव ॥५॥

वातज कास का रोगी हृदयप्रदेश, शंखप्रदेश (कर्ण समीपस्थ भाग), सिर, उदर और पार्श्व में शूलवत् पीड़ा का अनुभव करता है, उसका चेहरा मुरझाया हुआ रहता है, बल, स्वर और ओज क्षीण हो जाते हैं और वह फटे हुए स्वर में देर तक सूखा ही (स्रावरहित) खांसता है।

वक्तव्य—(१०८) अन्य दोषों के अनुबन्ध से रहित वायु से उत्पन्न होने वाली कास वातज कहलाती है। प्रारम्भ में प्रायः सभी प्रकार की कास वातज हुआ करती है, फिर अन्य दोषों का भी प्रकोप होकर स्राव होने पर कफज या पित्तज कहलाती है। कुछ मामलों में अन्त तक अन्य दोषों का प्रकोप और स्राव नहीं होता—इसे शुद्ध वातज कास कह सकते हैं। कुछ मामलों में चिकित्सा में त्रुटि होने से अर्थात् कफज प्रकार में केवल कफ की शांति करने से और पित्तज प्रकार में केवल पित्त की शान्ति करने से तथा वायु की उपेक्षा करने से स्राव बन्द हो जाता है किन्तु शुष्क वातज कास चालू रहती है।

किसी भी कारण से उत्पन्न वातज कास अन्य प्रकार की खांसियों से अधिक कष्टदायक होती है। स्राव न निकलने से झटका अधिक जोर से लगता है और खांसी का वेग अपेक्षाकृत अधिक लम्बा होता है। इसके फलस्वरूप वक्ष, उदर, सिर आदि में पीड़ा हो जाती है, स्वर बैठ जाता है और बल ओज, आदि का क्षय सत्वर होता है। रोगी अत्यधिक कष्ट का अनुभव करता है और उसका चेहरा मुरझाया हुआ (वात से और कष्ट की अधिकता से) रहता है।

किसी भी प्रकार की खांसी की चिकित्सा करते समय वायु की शान्ति की ओर विशेष प्रयत्नशील रहना चाहिये।

पित्तज कास

उरोविदाहज्वरवक्त्रशोषैरभ्यर्दितस्तिक्तमुखस्तृषार्तः ।
पित्तेन पीतानि वमेत्कटूनि कासेत्स
पाण्डुः परिदह्यमानः ॥६॥

पित्तज कास का रोगी छाती में जलन, मुख सूखता और ज्वर से पीडित रहता है, मुख का स्वाद कड़वा रहता है और प्यास से व्याकुल रहता है, पीला कड़वा (अथवा चरपरा) वमन होता है, वर्ण पीताभ हो जाता है; सारे शरीर में दाह होती है और खांसी आती है।

वक्तव्य—(१०९) यकृत अथवा आमाशय के रोग की उपस्थिति में किसी अन्य कारणवश कास की उत्पत्ति होने पर ये लक्षण पाये जा सकते हैं। सामान्यतः आजकल वैद्य समुदाय में जिसे पित्तज कास कहा जाता है वह वस्तुतः कफ-पित्तज कास है—इसमें पीला, किंचित् तिक्तरस युक्त कफ निकलता है और गले, नाक आदि में दाह तथा ज्वर आदि लक्षण होते हैं।

कफज कास

प्रलिप्यमानेन मुखेन सीदन् शिरोरुजार्त कफपूर्णदेहः ।
अभक्तरुग्गौरवकण्डुयुक्तः कासेद् भृशं सान्द्रकफः कफेन ॥७॥

कफज कास का रोगी कफलिप्त मुंह वाला, अवसाद-युक्त, सिरदर्द से पीड़ित, सर्वांग में कफ भरा हो ऐसा अनुभव करने वाला एवं अरुचि, पीड़ा, भारीपन और खुजली से युक्त रहता है; वह अत्यधिक खांसता है और खांसने पर गाढ़ा कफ निकलता है।

वक्तव्य—(११०) सामान्यतः कास का यही प्रकार सबसे अधिक पाया जाता है। श्वास संस्थान के किसी भी अङ्ग के प्रदाह से प्रायः कफज कास की ही उत्पत्ति होती है। प्रारम्भ में उसका स्वरूप वातज कास के समान होता है किन्तु थोड़े ही काल में कफस्राव होने लगता है और उक्त लक्षण स्पष्ट हो जाते हैं। कभी कभी इसके साथ वात या पित्त का अनुबंध भी रहता है; पित्त के कारण कफ का वर्ण पीला रहता है और वात के कारण फेनयुक्त कफ कठिनाई से निकलता है।

क्षतज कास

अतिव्यवायभाराध्वयुद्धाश्वगजविग्रहैः ।
रूक्षस्योरःक्षतं वायुर्गृहीत्वा कासमाचरेत् ॥८॥
स पूर्वं कासते शुष्कं ततः ष्ठीवेत्सशोणितम् ।
कण्ठेन रुजताऽत्यर्थं विरुग्णेनेन चोरसा ॥९॥
सूचीभिरिव तीक्ष्णाभिस्तुद्यमानेन शूलिना ।
दुःखस्पर्शेन शूलेन भेदपीडाभितापिना ॥१०॥
पर्वभेदज्वरश्वासतृष्णावैस्वर्यं पीड़ितः ।
पारावत इवाकूजन् कासवेगात् क्षतोद्भवात् ॥११॥

अति मैथुन करने से, शक्ति से अधिक भार उठाने से, अत्यधिक मार्गगमन से, अपने से अधिक बलवान् से युद्ध करने से, भागते हुए हाथी-घोड़ों को रोकने से उत्पन्न रूक्ष मनुष्य के उरःक्षत को ग्रहण करके वायु कास की उत्पत्ति करती है। उसे पहले सूखी खांसी आती है, फिर रक्तमिश्रित थूक निकलने लगता है। कण्ठ और वक्षःस्थल में अत्यन्त पीड़ा होती है; ऐसा मालूम होता है जैसे तीक्ष्ण सुइयां अथवा तीक्ष्ण भाले से छेदा जा रहा हो तथा फटने के समान पीड़ा और बेचैनी होती है। वह रोगी अङ्ग-प्रत्यंग में टूटने के समान पीड़ा, ज्वर, श्वास, तृषा और स्वरभेद से पीड़ित रहता है। क्षयज कास के वेग के समय कबूतर की गुटरगूं के समान आवाज होती है।

वक्तव्य—(१११) सभी प्रकार के क्षत अभिघात आदि से वायु का स्थानिक तथा सार्वदैहिक प्रकोप होता है। फुफ्फुस या फुफ्फुसावरण में क्षत होने से वहां वायु-प्रकोप होकर कास की उत्पत्ति होती है। इसका विशेष वर्णन अध्याय १० में किया जा चुका है।

अश्वगजविग्रहैः—विग्रह से साधारणतः युद्ध का अर्थ लिया जाता है। युद्ध का उद्देश्य होता है 'शत्रु को वश में करने के लिये संघर्ष करना'। इसीलिये 'भागते हुए हाथी-घोड़ों को रोकना' अर्थ लिया गया है। कुछ लोग 'विग्रहैः' के स्थान पर 'निग्रहैः' पाठ स्वीकार करते हैं; उससे भी यही अर्थ निकलता है।

क्षयज कास

विषमासात्म्यभोज्यातिव्यवायाद्वेगनिग्रहात् ।
घृणिनां शोचतां नृणां व्यापन्नेऽग्नौ त्रयो मलाः ।
कुपिताः क्षयजं कासं कुर्युर्देहक्षयप्रदम् ॥१२॥
स गात्रशूलज्वरदाहमोहान् प्राणक्षयं चोपलभेत कासी ।
शुष्यन्विनिष्ठीवति दुर्बलस्तु प्रक्षीणमांसो रुधिरं सपूयम् ।
तं सर्वलिंगं भृशदुश्चिकित्स्यं चिकित्सितज्ञाः क्षयजं वदन्ति ॥१३॥

विषम तथा असात्म्य भोजन से, अति मैथुन से, वेगों को रोकने से एवं घृणा करने वाले तथा शोक करने वाले मनुष्यों की जठराग्नि क्षीण होजाने पर तीनों दोष कुपित होकर देह का क्षय करने वाली क्षयज कास उत्पन्न करते हैं। वह कास-रोगी पूयसहित रक्त थूकता है; उसके बल-मांस का क्षय होता है तथा वह सूखता जाता है; अङ्गों में शूल ज्वर, दाह एवं मोह से पीड़ित होता है और मृत्यु भी हो सकती है। चिकित्सक तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त इस अत्यन्त दुश्चिकित्स्य (असाध्य) कास को क्षयजकास कहते हैं।

वक्तव्य—(११२) मधुकोशकार का कथन है कि यह वर्णन राजयक्ष्मज कास का नहीं, धातुक्षयज कास का है। इसके प्रमाण में उन्होंने राजयक्ष्मा प्रकरण में आये हुए निम्न श्लोकार्ध को प्रस्तुत किया है—'कासः कण्ठस्य चोद्ध्वंसो विज्ञेयः कफकोपतः' अर्थात् 'खांसी और कण्ठोध्वंस (धसका या गला फटा हुआ सा प्रतीत होना) कफ के प्रकोप से होते हैं।' अन्य टीकाकारों ने भी इसी मत की पुष्टि की है। तर्क केवल यह है कि राजयक्ष्मा कास केवल कफज कहा गया है और यह क्षयज कास त्रिदोषज है इसलिये दोनों पृथक्-पृथक् हैं।

मधुकोशकार का यह मत बड़ा ही अविचार-पूर्ण प्रतीत होता है। जिस श्लोक पर से उन्होंने यह धारणा बनायी है उसकी रचना राजयक्ष्मा में तीनों दोषों का प्रकोप सिद्ध करने के उद्देश्य से की गयी है। उक्त श्लोक सुश्रुत-संहिता से लिया हुआ है। उसी ग्रन्थ में निम्नलिखित श्लोक भी है—

एक एव मतः शोषः सन्निपातात्मको ह्यतः।

अन्य सभी ग्रंथों में भी जिनमें माधव निदान भी सम्मिलित है राजयक्ष्मा को त्रिदोषज व्याधि कहा गया है। फिर यदि राजयक्ष्मज कास को त्रिदोषज कह दिया गया तो उससे क्या अन्तर पड़ता है। त्रिदोषज रोगों में होने वाले सभी लक्षण भी त्रिदोषज ही होते हैं। उदाहरण के लिये सन्निपात ज्वर में होने वाले वमन, अतिसार, कर्णमूलिक शोथ, रक्तपित्त आदि को लीजिये—क्या ये भी त्रिदोषज नहीं होते? अवश्य होते हैं। राजयक्ष्मा कास भी त्रिदोषज होती है किन्तु उस श्लोक में राजयक्ष्मा में तीनों दोषों का अस्तित्व समझाने की दृष्टि से 'कफकोपतः कहा गया है।

इतना ही नहीं राजयक्ष्मा की कास को त्रिदोषज प्रमाणित करने के लिये अनेक प्रमाण उपस्थित हैं। इसी अध्याय के प्रारम्भ में कास की उत्पत्ति वायु से बतलायी गयी है इसलिये कोई भी कास केवल कफज नहीं होसकती, वात का प्रकोप अनिवार्य है। फिर कास के साथ राजयक्ष्मा में जो कफ निकलता है वह रक्तमिश्रित होता है अतएव पित्त का प्रकोप भी सिद्ध होजाता है क्योंकि रक्तस्राव कराने की शक्ति कफ में नहीं होती, रक्तस्राव पित्त से ही होता है। इस प्रकार राजयक्ष्मज कास में त्रिदोष प्रकोप सिद्ध होजाता है।

पुनः राजयक्ष्मा के उत्पादक जो ४ कारण बतलाये हैं उनमें से एक क्षय (धातुक्षय) भी है। जब क्षय से राजयक्ष्मा हो जाता है तो क्षयज कास का क्या होता है? क्या कोई बुद्धिमान् यह भी सोच सकता है कि क्षय की दशा में जो कास त्रिदोषज थी वही कास राजयक्ष्मा हो जाने पर केवल कफज रह जावेगी? राजयक्ष्मा क्षय (धातुक्षय) की बढ़ी हुई या विकृत अवस्था अथवा गंभीरतम प्रकार है और राजयक्ष्मा में दोषप्रकोप धातुक्षय की अपेक्षा अधिक होता है तथा धातुक्षय अधिक जोरों से होता है—ये बातें सर्वमान्य हैं। इसलिये कोई भी यह मानने से इन्कार नहीं कर सकता कि राजयक्ष्मा-जन्य कास में क्षयज (धातुक्षयज) कास की अपेक्षा अधिक नहीं तो बराबर दोष प्रकोप रहता ही है।

अब हम इस विवाद को आगे न बढ़ाते हुए यहीं समाप्त कर देते हैं। किन्तु अपने निर्णय को अधिक पक्का करने के पूर्व हमें चाहिये कि राजयक्ष्मा और क्षयज कास के लक्षणों का मिलान करलें ताकि भूल होने की संभावना न रहे—

(i) राजयक्ष्मा के कारण—वेग धारण, क्षय (धातुक्षय), साहस और विषमाशन।

क्षयजकास के कारण—वेगधारण, क्षय (अतिव्यवाय, घृणा, शोक), विषम और असात्म्य भोजन।

असात्म्य भोजन का समावेश विषमाशन में ही हो जाता है। साहस क्षतज कास का कारण होने के कारण यहां नहीं कहा गया।

(ii) राजयक्ष्मा त्रिदोषज है और क्षयज कास भी त्रिदोषज है।

(iii) दोनों ही में धातुक्षय होता है, शरीर सूखता है तथा निर्बलता आती है।

(iv) गात्रशूल, ज्वर, दाह और मृत्यु दोनों में कहे गये हैं। मोह राजयक्ष्मा में नहीं कहा गया किन्तु इससे अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि राजयक्ष्मा में अत्यधिक धातुक्षय हो चुकने पर मोह होना स्वाभाविक ही है। अतएव शंका की गुंजाइश नहीं है।

(v) राजयक्ष्मा में रक्त का ष्ठीवन बतलाया गया है और क्षयज में पूय सहित रक्त का। किंतु राजयक्ष्मा में पूय सहित रक्त आता है—यह सब जानते हैं और पाश्चात्य मत भी यही कहता है।

(vi) दोनों ही कष्टसाध्य अथवा असाध्य हैं।

इस प्रकार मिलान करने पर स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि दोनों व्याधियां एक ही हैं और बची-खुची शंका का भी समाधान हो जाता है।

श्लोक १३ की प्रथम पंक्ति 'स गात्रशूल...... कासी' सुश्रुत संहिता में से ली गयी है। वहां यह क्षतज कास के वर्णन में प्रयुक्त हुई है इसलिये क्षतज कास में इसका समावेश बहुत से विद्वानों को अखरा है। कुछ विद्वानों का मत है कि वहां यह क्षतज और क्षयज कासों के वर्णन के बीचों बीच आई है इसलिये दोनों के लिये है और शंका का प्रश्न नहीं उठता। मेरा मत यह है कि इस पंक्ति में कहे हुए लक्षण क्षयज कास में मिलते हैं इसलिये विरोध या शंका की गुंजाइश नहीं है; पंक्ति कहीं से भी ली गई हो उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता।

साध्यासाध्य विचार

इत्येष क्षयजः कासः क्षीणानां देहनाशनः।
साध्वो बलवतां वा स्याद्याप्यस्त्वेवं क्षतोत्थितः ॥१४॥
नवौ कदाचित्सिध्येतामपि पादगुणान्वितौ।

यह क्षयज कास क्षीण रोगियों की देह तो नष्ट करने वाली (मारक) है। बलवानों की साध्य अथवा याप्य हो सकती है। क्षतज कास भी एसी ही है ये दोनों नयी होने पर और चतुष्पाद (भिषक्, औषधि, परिचारक और रोगी) उचित गुणों से युक्त होने पर कदाचित साध्य हों।

स्थविराणां जराकासः सर्वो याप्यः प्रकीर्तितः।

वृद्ध व्यक्तियों की सभी प्रकार की जरा कास याप्य कही गयी है।

त्रीन् पूर्वान्साधयेत्साध्यान्पथ्यैर्याप्यांस्तु यापयेत् ॥१५॥

पहिली तीन प्रकार की कास (वातज, पित्तज और कफज) साध्य हैं, उनकी चिकित्सा करे और जो याप्य हैं उन्हें पथ्य-पालन पूर्वक याप्य ही रखे (असाध्य न होने दे)।

वक्तव्य—(११३)जराकास से वृद्धावस्था में स्वभावतः होने वाले धातुक्षय से उत्पन्न कास समझनी चाहिये। यह धातुक्षय अनिवार्य होने से इससे उत्पन्न कास भी याप्य है। अन्य कारणों से अर्थात् वातादि के सामान्य प्रकोप से उत्पन्न वृद्धों की कास प्रायः साध्य ही होती है।

पाश्चात्य मत—

कास का उत्पादक केन्द्र सुपुम्ना शीर्ष में रहता है। यह केन्द्र अधिकतर प्राणदा वातनाड़ी (Vagus nerve) और कुछ अंशों में त्रिधारा (Trigeminal) एवं कण्ठरासनी (Glosso pharyngeal) वात नाड़ियों से प्रेरणा पाकर कास की उत्पत्ति करता है। मस्तिष्क की प्रेरणा से भी यह कास की उत्पत्ति कर सकता है और कभी कभी प्राणदा तथा महाप्राचीरा (Phrenic) वातनाड़ियां इस केन्द्र तक प्रेरणा पहुँचाए बिना भी कास की उत्पत्ति करती हैं।

प्रातःकालीन कास प्रायः श्वासनलिकाप्रदाह, श्वास-नलिकाभिस्तीर्णता (Bronchiectasis) या विवरयुक्त फौफ्फुसीय राजयक्ष्मा के कारण होती है। रात में संचित स्राव सबेरे निकलते हैं। बिस्तर पर लेटते ही आने वाली कास गलशुण्डिका (कौआ, Uvulva) बढ़ जाने अथवा स्वरयंत्र-प्रक्षोभ के कारण होती है। विवरयुक्त फौफ्फुसीय राजयक्ष्मा और श्वासनलिकाभिस्तीर्णता में पीड़ित भाग की ओर करवट लेने से तथा फुफ्फुसावरण प्रदाह और फुफ्फुस प्रदाह में स्वस्थ पार्श्व की ओर करवट लेने से खांसी

उत्पन्न होती है। आवेग (दौरा) के रूप में आने वाली खांसी, काली खांसी (कुकास, कुकर खांसी, Whooping cough), स्वरयन्त्र प्रदाह, चिरकारी श्वास-नलिका प्रदाह, श्वासनलिकाभिस्तीर्णता या श्वासनलिकाओं पर बढ़ी हुई ग्रन्थियों के दबाव के कारण होती है। दबी हुई खांसी जिसमें रोगी स्वतंत्रता पूर्वक खुलकर नहीं खांस सकता, वक्ष में पीड़ा (अधिकतर फुफ्फुसावरण प्रदाह के कारण) होती है। खांसी आकर वमन होना कालीखांसी और गलतुण्डिका प्रदाह में पाया जाता है। भोजन के बाद आने वाली खांसी अजीर्ण से सम्बन्धित रहती है और परिश्रम से उत्पन्न होने वाली खांसी रक्ताधिक्य-जन्य हृदयातिपात (Congestive heart-failure) के कारण हुआ करती है।

स्थानभेद से खांसी के लक्षण-

(अ) शुष्क या थोड़े स्रावयुक्त खांसी—

(i) ग्रसनिका (Pharynx)—ग्रसनिका प्रदाह अथवा गलतुण्डिकाओं (tonsils), गलशुण्डिका (कौआ, Uvulva) या कण्ठ-शालूकों (Adenoids) की वृद्धि के कारण आवेग के रूप में अथवा लगभग हमेशा ही गले में क्षोभ रहता है और धसके (Hawking) के समान खांसी आती है। स्राव नहीं निकलता अथवा कम निकलता है और वमन हो जाता है। गलशुण्डिका-वृद्धि होने पर चित्त लेटने में अधिक खांसी आती है।

(ii) स्वरयंत्र (Larynx)—स्वरभेद रहता है और गले में पीड़ा के साथ खांसी आती है। खांसी की आवाज फटी हुई सी अथवा फूटे हुए कांस्य पात्र की आवाज के समान होती है। रोग बढ़ने पर ढोरों के समान (Bovine) अथवा शब्द-रहित (अल्प शब्द युक्त) खांसी आती है।

(iii) कण्ठनलिका (Trachea)—अधिकतर फूटे हुए कांस्य पात्र की आवाज के समान खांसी के दौरे आते हैं। अधिकतर धमन्यभिस्तीर्णता (Aneurysm), अर्बुद या बढ़ी हुई ग्रन्थियों के कारण खांसी आती है।

(iv) फुफ्फुस नलिकायें और फुफ्फुस (Bronchioles and lungs)—वक्ष में पीड़ा के साथ गम्भीर खांसी आती है। यह श्वासनलिका प्रदाह, फुफ्फुस नलिका प्रदाह, फुफ्फुसखण्ड प्रदाह, वात-श्लेष्म ज्वर और फौफ्फुसीय राजयक्ष्मा की प्रारम्भिक अवस्था में तथा काली खांसी में आती है।

(v) आमाशय और आन्त्र—आध्मान युक्त अजीर्ण (Flatulent dyspepsia), अतिसार, मलावरोध और कृमिरोग में तथा यदा कदा आमाशय-ग्रहणी व्रण और आन्त्रपुच्छ प्रदाह में भी सूखी खांसी पायी जाती है। कभी कभी यह गले में अन्न चढ़ने के साथ हो सकती है।

(vi) कर्ण—कान में मैल अधिक भर जाने से, पिडिका या पामा हो जाने से अथवा किसी कारण से झिल्ली में प्रक्षोभ होने से भी शुष्क कास की उत्पत्ति होती है।

(ब) सद्रव या गीली खांसी—

हर प्रकार की गीली खांसी में ष्ठीवन-परीक्षा से निदान में बड़ी सहायता मिलती है।

फुफ्फुसखण्ड प्रदाह—में प्रारम्भ में थोड़ा, चिपकने वाला एवं रक्ताभ स्राव निकलता है किन्तु बाद की दशाओं में काफी मात्रा में हरितपीत अथवा सफेद ष्ठीवन निकलता है।

श्वासनलिका प्रदाह—की तीव्र अवस्था में थोड़ा, पतला एवं फेनयुक्त और चिरकारी अवस्था में बहुतसा कफ-पूय (कुछ मामलों में दुर्गन्धित) निकलता है।

विवरयुक्त फौफ्फुसीय राजयक्ष्मा और श्वासनलिकाभिस्तीर्णता में विशेषतः प्रातःकाल आवेगी-प्रकार की खांसी आती है जिसमें काफी मात्रा में बदबूदार ष्ठीवन निकलता है। करवट या आसन बदलने से खांसी का आवेग उत्पन्न हो सकता है।

फुफ्फुस-विद्रधि अथवा कर्दम की दशा में पूय-युक्त दुर्गन्धित स्राव होता है जिसमें फौफ्फुसीय धातु की उधड़नें पायी जाती हैं।

खांसी उत्पन्न करने वाले रोगों का वर्णन ज्वर, राजयक्ष्मा, श्वास और प्रतिश्याय के अध्यायों में किया गया है। यहां केवल काली खांसी का वर्णन किया जाता है।

काली खांसी, कुकास या कुकर खांसी (Whooping cough, Pertussis)—यह एक अत्यन्त संक्रामक रोग है जो ६ वर्ष तक के बालकों में पाया जाता है; लड़कों की अपेक्षा लड़कियां अधिक आक्रान्त होती हैं। यदा कदा किशोर और युवा भी आक्रान्त होते हैं। यह शीत और वसन्त ऋतुओं में अधिक प्रसार पाता है। कारणभूत जीवाणु, कुकास दण्डाणु (B. Pertussis) है जो बिन्दूत्क्षेप द्वारा फैलता है। चयकाल ७-१५ दिन का है; सम्पर्क में आये हुए बालकों को ३ सप्ताह तक अलग रखना चाहिये। एक बार आक्रमण हो चुकने पर लगभग स्थायी क्षमता उत्पन्न हो जाती है।

रोग का आरम्भ प्रतिश्याय होकर होता है। खांसी प्रारम्भ से ही अधिक कष्टदायक एवं आवेगी-प्रकार की (Paroxysmal) होती है तथा रात्रि में अधिक आती है और अधिकतर खांसने से वमन हो जाता है। प्रारंभ में ज्वर ७-१४ दिनों तक रह कर शान्त हो जाता है। इसके बाद व्याधि के विशिष्ट लक्षण उत्पन्न होते हैं अर्थात् खांसी के लम्बे आवेग (दौरे) आते हैं और आवेग के बाद हूं-हूं शब्द उत्पन्न होता है।

आवेग आने के पूर्व बालक को मालूम हो जाता है। शायद इस लिये वह दौड़कर माता या किसी अन्य के पास सहायता पाने के लिये दौड़ जाता है। आवेग का प्रारम्भ होते समय बालक एक गंभीर अन्तःश्वास लेता है और इसके बाद ही खांसी के छोटे छोटे झटके एक के बाद एक इतनी शीघ्रता से आते हैं कि श्वास लेने का समय नहीं मिलता। फुफ्फुस लगभग वायु-हीन हो जाते हैं और श्वासावरोध के लक्षण—मुंह खुल जाना, जीभ बाहर आ जाना, आंखें बाहर की ओर निकल आना, चेहरे पर श्यावता आदि उत्पन्न हो जाते हैं। अधिकतर खाया-पिया हुआ पदार्थ वमन होकर निकल जाता है। आवेग एकाएक रुकता है, इस समय बालक जोर से श्वास खींचता है जिससे 'हू' शब्द उत्पन्न होता है। इसी समय अत्यन्त चिपकीला थोड़ा सा कफ निकलता है। आवेग की उत्पत्ति अकारण भी हो सकती है किन्तु अधिकतर भोजन करने, रोने, मचलाने, धुंवा या शीतल वायु लगने आदि से होती है। रात्रि में आवेग अधिक आते हैं। प्रारम्भ में आवेगों की संख्या कम रहती है किन्तु कुछ ही काल में बढ़ कर अत्यधिक हो जाती है। कभी कभी कई आवेग एक के बाद एक अत्यन्त जल्दी जल्दी आते हैं जिससे बालक बुरी तरह थक जाता है और पसीने में नहा जाता है। श्वास संस्थान पर अधिक जोर पड़ने से वातोत्फुल्लता, वातोरस, फुफ्फुसनलिकाभिस्तीर्णता, हृदय के दक्षिण खण्ड का विस्फार आदि विकृतियां उत्पन्न हो जाती हैं। कुछ मामलों में श्वासावरोध से मृत्यु हो जाती है। खांसी के कष्ट से और वमन होते रहने से बल मांस का क्षय उत्तरोत्तर होता है। जिह्वा सीवनी में व्रण उत्पन्न हो जाते हैं। कुछ मामलों में गुदभ्रंश अथवा नाभिगत आंत्रज-वृद्धि (Umbilical Hernia) हो जाती है। कुछ मामलों में रक्तस्राव की प्रवृत्ति पायी जाती है—नाक से, श्वास मार्ग के किसी भी भाग से, नेत्र की श्वेतकला के नीचे, अक्षि-तारिका में त्वचा के नीचे और कभी मस्तिष्क या मस्तिष्कावरण तक में रक्तस्राव हो सकता है। मस्तिष्क या मस्तिकावरण में रक्तस्राव होने से आक्षेप एवं कई प्रकार के घात हो सकते हैं।

रोगकाल अनिश्चित है—कुछ सप्ताहों या महीनों में क्रमशः स्वयमेव शांत होजाता है। फुफ्फुसों में कोई स्पष्ट लक्षण नहीं मिलते। रक्त में श्वेतकायाणूत्कर्ष मिलता है और रक्तावसादन गति (Sedimenta-

tion Rate) मन्द हो जाती है। आवेग के समय पर मूत्र में मूत्राम्ल की अधिकता पायी जाती है।

परिमाणस्वरूप फौफ्फुसीय राजयक्ष्मा या फुफ्फुसों में तन्तूत्कर्ष होने की संभावना रहती है। छोटे बच्चों की अपेक्षा बड़े बच्चों के मामले में भय कम रहता है। १ वर्ष के भीतर के बच्चों में मृत्युसंख्या अधिक रहती है।

: १२ :

हिक्का और श्वास

निदान

विदाहिगुरुविष्टम्भिरूक्षाभिष्यन्दिभोजनैः।
शीतपानाशनस्थानरजोधूमातपानिलैः ॥१॥
व्यायामकर्मभाराध्ववेगाघातापतर्पणैः।
हिक्का श्वासश्च कासश्च नृणां समुपजायते ॥२॥

विदाही, गुरु, विष्टम्भि (विष्टम्भी), रूक्ष और अभिष्यन्दी पदार्थों के भोजन से; शीतल पेय, शीतल भोजन, शीतल स्थान, धूल, धुआं, धूप और वायु से; व्यायाम करने, भार उठाने, मार्ग चलने, वेगों को रोकने और अपतर्पण क्रियाओं से मनुष्यों को हिक्का, श्वास और कास उत्पन्न होते हैं।

वक्तव्य—(११४) उक्त सभी निदानों के साथ 'अति' विशेषण परम्परानुसार जोड़कर अर्थ समझना चाहिये।

विदाही—जो पदार्थ देर से पचे और पित्त को कुपित करके दाह उत्पन्न करे उसे विदाही कहते हैं जैसे सरसों, मिर्च आदि।

गुरु—स्वभाव (प्रकृति), संस्कार (करण) या संयोग के कारण देर से पचने वाले पदार्थ गुरु (भारी) कहलाते हैं। जैसे उड़द की दाल, शूकर-मांस, मालपुए आदि।

अभिष्यन्दी—जो पदार्थ पिच्छिल (लसदार) या गुरु होने के कारण रसवाही सिराओं का अवरोध करके शरीर में भारीपन उत्पन्न करते हैं वे अभिष्यन्दी कहलाते हैं—जैसे दही, उड़द, मछली आदि।

पेय (पान)—पीने के पदार्थ जैसे जल, शर्बत, मधु आदि।

वायु—वायु से अत्यन्त शीतल या अत्यन्त गरम वायु अथवा आंधी समझना चाहिये। शरीर के भीतर स्थित वायु का भी ग्रहण हो सकता है।

अपतर्पण—वमन, विरेचन, रक्तमोक्षण, अनशन आदि शरीर को कृश बनाने वाली अपतर्पण क्रियायें कहलाती हैं। अतिमैथुन, रोगकष्ट आदि कृशताकारक निदानों का भी समावेश इसमें हो जाता है।

यहां हिक्का, कास और श्वास इन तीनों के निदान एकत्र बतलाये गये हैं। तीनों व्याधियां लगभग एक ही स्वाभाव की हैं क्योंकि इन तीनों में उदान सहित प्राण वायु की विकृति रहती है अतएव निदान भी एक से ही हैं। अध्याय ११ में कास के जो निदान बतलाये जा चुके हैं उनके अतिरिक्त जो यहां कहे गये हैं उनका भी समावेश कर लेना चाहिये। उपर्युक्त दोनों श्लोक सुश्रुत के हैं। चरक ने अतिसार, ज्वर, वमन, प्रतिश्याय, उरःक्षत, क्षय, रक्त-पित्त, उदावर्त, विसूची, अलसक, पाण्डुरोग और विष को भी निदानों में कहा है—इन रोगों में से अधिकांश के निदान उक्त निदानों में समाविष्ट हैं और शेष रोगों का समावेश अपतर्पण में हो जाता है।

हिक्का का स्वरूप एवं निरुक्ति

मुहुर्मुहुर्वायुरुदेति सस्वनो,
यकृत्प्लिहान्त्राणि मुखादिवाक्षिपन्।

स घोषवानाशु हिनस्त्यसून् ,
यतस्ततस्तु हिक्केत्यभिधियते बुधैः ॥३॥

वायु यकृत, प्लीहा, आंतों आदि को मुख में से फेंकती हुई सी शब्द सहित ऊपर को जाती है। यह शब्दयुक्त ('हिक्' शब्दयुक्त) होने के कारण तथा शीघ्र ही प्राणों का नाश करने के कारण बुद्धिमानों के द्वारा हिक्का कही जाती है।

वक्तव्य—(११५) हिक्का का स्वरूप बतलाने के बाद 'हिक्का' शब्द की उत्पत्ति (निरुक्ति) दो प्रकार से बतलायी गयी है—

(१) होने वाली आवाज के अनुसार—हिगिति कृत्वा कायति शब्दायते इति हिक्का।

(२) गुण एवं स्वभाव के अनुसार—हिनस्त्यसून् इति हिक्का।

हिक्का एक प्राणनाशक व्याधि है। रोगों की गम्भीर अवस्थाओं में उत्पन्न होने वाली हिक्का निश्चितरूपेण मृत्यु की पूर्व सूचना देती है। स्वस्थ व्यक्ति को भी यदि एकाएक हिक्का का गम्भीर आक्रमण हो जावे तो भी मृत्यु हो सकती है। वैसे, स्वस्थ व्यक्तियों को भोजनादि में व्यतिक्रम वशात् आने वाली सामान्य अन्नजा हिक्का प्रायः कोई महत्व नहीं रखती क्योंकि जल आदि पीने से अथवा कुछ काल में स्वयं ही शांत हो जाती है तथापि यह न भूलना चाहिये कि जब तक यह आती रहती है तब तक पूर्ण नहीं तो आंशिक प्राणनाश (Suffocation, दम-घुटना) तो होता ही है । हिक्का के वर्णन में चरक ने कहा है—

कामं प्राणहरा रोगा बहवो न तु ते तथा।
यथा श्वासश्च हिक्का च हरतः प्राणमाशु हि॥

अर्थात् यह सत्य है कि प्राणहर रोग बहुत से हैं परन्तु वे ऐसे नहीं हैं जैसे हिक्का और श्वास तुरंत ही प्राणों को हरते हैं।

हिक्का की भेदसहित सम्प्राप्ति

अन्नजां यमलां क्षुद्रां गम्भीरां महतीं तथा।
वायुः कफेनानुगतः पञ्च हिक्काः करोति हि ॥ ४ ॥

कफ सहित वायु पांच प्रकार की हिक्काओं—अन्नजा, यमला, क्षुद्रा, गम्भीरा तथा महती को उत्पन्न करता है।

वक्तव्य—(११६) सभी हिक्कायें वात-कफज होती हैं अतएव त्रिदोषानुसार वर्गीकरण नहीं किया गया है।

हिक्का के पूर्वरूप

कण्ठोरसोर्गुरुत्वं च वदनस्य कषायता।
हिक्कानां पूर्वरूपाणि कुक्षेराटोप एव च ॥ ५॥

कण्ठ और वक्ष में भारीपन, मुख में कसैलापन और कुक्षि में आध्मान—ये हिक्काओं के पूर्वरूप हैं।

वक्तव्य—(११७) हिक्का की उत्पत्ति 'कफेनानुगतः वायुः' से होती है (श्लोक ४) अर्थात् सर्वप्रथम वायु का प्रकोप होता है और फिर उसके प्रभाव से कफ भी कुपित हो जाता है इसलिये पूर्वरूपावस्था में मुख में वायु के प्रभाव से कसैलेपन का अनुभव होता है; कफ के प्रभाव से मधुरता का अनुभव बाद की अवस्थाओं में हो सकता है। मधुकोशकार ने व्याधि के विशेष प्रभाव को ही इसके लिये जिम्मेवार ठहराया है।

अन्नजा हिक्का

पानान्नैरतिसंयुक्तैः सहसा पीडितोऽनिलः।
हिक्कयत्यूर्ध्वगो भूत्वा तां विद्यादन्नजां भिषक् ॥ ६ ॥

अन्न-पान के अतियोग से वायु एकाएक पीड़ित होकर उर्ध्वगामी होकर हिक्का की उत्पत्ति करता है। हे वैद्य, इसे अन्नजा हिक्का समझो।

यमला हिक्का

चिरेण यमलैर्वेगैर्या हिक्का संप्रवर्तते।
कम्पयन्ती शिरोग्रीवं यमलां तां विनिर्दिशेत् ॥ ७॥

जो हिक्का विलम्ब से सिर और ग्रीवा को कंपाती हुई दोहरे वेग से (दो बार हिच्-हिच् की आवाज के साथ) आती है उसे यमला कहना चाहिए।

वक्तव्य—(११८) चरक ने भी हिक्का के ५ ही भेद स्वीकार किये हैं और चार के नाम भी यही स्वीकार किये हैं किन्तु 'यमला' के स्थान पर 'व्यपेता'

हिक्का का वर्णन किया है। यद्यपि व्यपेता के वर्णन में यमलवेग की चर्चा कहीं भी नहीं की गयी फिर भी अनेक विद्वानों का मत है कि यमला और व्यपेता एक ही जाति की हिक्का के दो नाम हैं; चरक ने भोजन के पचन होने पर उत्पन्न होने के कारण इसे व्यपेता कहा है और सुश्रुत एवं वाग्भट्ट ने यमलवेग के कारण यमला कहा है।

क्षुद्रा हिक्का

प्रकृष्टकालैर्या वेगैर्मन्दैः समभिवर्तते।
क्षुद्रिका नाम सा हिक्का जत्रुमूलात्प्रधाविता ॥ ८ ॥

जो हिक्का विलम्ब से, मन्द वेग से आती है एवं जत्रुमूल (वक्ष और ग्रीवा की संधि) से उत्पन्न होती है वह क्षुद्रिका (क्षुद्रा) हिक्का है।

वक्तव्य—(११९) यमला और क्षुद्रा हिक्काओं के २ आवेगों के मध्य काफी अन्तर रहता है। प्रथम में 'चिरेण' और द्वितीय में 'प्रकृष्टकालैः' कहकर यही बात व्यक्ति की गयी है।

गम्भीरा हिक्का

नाभिप्रवृत्ता या हिक्का घोरा गम्भीरनादिनी।
अनेकोपद्रववती गम्भीरा नाम सा स्मृता ॥ ९ ॥

जो हिक्का नाभि से उत्पन्न हो, गम्भीर शब्द करती हो एवं अनेक उपद्रवों से युक्त हो वह गम्भीरा हिक्का मानी गयी है।

वक्तव्य—(१२०) यह वर्णन सुश्रुत का है किन्तु वहां उक्त दोनों पदों के बीच में कहा गया एक पद छोड़ दिया गया है—'शुष्कौष्ठकण्ठजिह्वास्यश्वासपार्श्वरुजाकरी' अर्थात् 'ओंठ, कण्ठ, जिह्वा और मुख में शुष्कता, श्वास और पार्श्वों में पीड़ा उत्पन्न करने वाली'।

महती हिक्का अथवा महा हिक्का

मर्माण्युत्पीडयन्तीव सततं या प्रवर्तते।
महाहिक्केति सा ज्ञेया सर्वगात्रविकम्पिनी ॥१०॥

मर्मस्थलों में पीड़ा उत्पन्न करती हुई एवं सब अङ्गों को कंपाती हुई जो हिक्का लगातार आती रहती है उसे महाहिक्का समझना चाहिये।

वक्तव्य—(१२१) यह वर्णन भी सुश्रुत का है किन्तु यहां भी दोनों पदों के बीच का एक छोड़ दिया गया है—'देहमायम्य वेगेन घोषयत्यतितृष्यतः' अर्थात् 'वेग से शरीर को फैलाती हुई जोर से शब्द उत्पन्न करती है तथा रोगी अत्यन्त प्यास का अनुभव करता है'।

हिक्का की साध्यासाध्यता

आयम्यते हिक्कतो यस्य देहो
दृष्टिश्चोर्ध्वं नाम्यते यस्य नित्यम्।
क्षीणोऽन्नद्विट् क्षौति यश्चातिमात्रं
तौ द्वौ चान्त्यौ वर्जयेद्धिक्कमानौ ॥११॥

(१) हिचकी लेते समय जिसका शरीर फैल जाता हो और नेत्र ऊपर चढ़े हुए एवं संकुचित रहते हों तथा (२) जो क्षीण हो, अरुचि से पीड़ित हो और जिसे अत्यधिक छींकें आती हों, ऐसे दोनों प्रकार के हिक्कारोगी तथा अन्तिम दो हिक्काओं (गंभीरा और महती) से पीड़ित रोगी त्याज्य हैं।

वक्तव्य—(१२२) यह श्लोक भी सुश्रुत का है किन्तु अत्यधिक परिवर्तित करके प्रस्तुत किया गया है। समझने की सुविधा के लिये सुश्रुतोक्त मूल श्लोक ज्यों का त्यों टीकासहित दिया जाता है—

आयम्यते हिक्कनोऽङ्गानि यस्य
दृष्टिश्चोर्ध्वं ताम्यते यस्य गाढम्।
क्षीणोऽन्नद्विट् कासते यश्च हिक्की
तौ द्वावन्त्यौ वर्जयेद्धिक्कमानौ॥

अर्थात्, हिचकी लेते समय जिसके अङ्ग फैल जाते हों दृष्टि ऊपर की ओर एवं अत्यन्त व्याकुल (या क्षीण) हो, जो क्षीण हो और अरुचि से पीड़ित हो तथा खांसता हो—ऐसे दो अन्तिम हिक्काओं (गंभीरा और महती) से पीड़ित रोगी वर्जित हैं।'

अतिसंचित दोषस्य भक्तच्छेदकृशस्य च।
व्याधिभिः क्षीणदेहस्य वृद्धस्यातिव्यवायिनः ॥१२॥
आसां या सा समुत्पन्ना हिक्का हन्त्याशु जीवितम्।
यमिका च प्रलापार्तिमोहतृष्णासमन्विता ॥१३॥

अक्षीणश्चाप्यदीनश्च स्थिरधात्विन्द्रियश्च यः ।
तस्य साधयितुं शक्या यमिका हन्त्यतोऽन्यथा ॥१४॥

जिसके शरीर में दोषों का संचय अत्यधिक हो, जो भोजन न करने या कम करने से कृश हो गया हो, जिसका शरीर व्याधियों के कारण क्षीण हो गया हो; जो वृद्ध हो या अत्यन्त विषयासक्त हो; ऐसे व्यक्तियों को उत्पन्न हिक्का शीघ्र ही प्राणों का नाश कर देती है। यमिका हिक्का भी प्रलाप, पीड़ा, मूर्छा और प्यास से युक्त होने पर प्राणों का नाश करती है। यदि रोगी क्षीण और दीन न हो तथा धातुओं और इन्द्रियों में स्थिरता (बल) हो तो यमिका हिक्का साध्य है, अन्यथा मारक है।

वक्तव्य—(१२३) उक्त तीनों श्लोक चरक के हैं। चरक ने यमिका नामक हिक्का का वर्णन कहीं नहीं किया है, फिर एकाएक साध्य-असाध्य के विवेचन में यमिका हिक्का पढ़कर विद्वान् चक्कर में पड़ जाते हैं। इस सम्बन्ध में टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न मत दिये हैं किन्तु सबने एक स्वर से यह माना है कि दोहरे वेग से अर्थात् दो बार हिच्-हिच् की आवाज के साथ आने वाली हिक्का ही यमिका कही जा सकती है। कुछ विद्वान् चकार से अन्नजा और क्षुद्रा को भी यमला के साथ ही पढ़ने का निर्देश करते हैं।

पाश्चात्य मत—

हिक्का या हिचकी (Hiccough or Hiccup)—यह महाप्राचीरापेशी का स्तंभ है। उदरगत अवयवों में प्रक्षोभ या प्रदाह होने से, महाप्राचीरीय वातनाड़ी (Phrenic Nerve) में प्रक्षोभ होने से तथा मस्तिष्क, सुषुम्नाशीर्ष या सुषुम्ना में प्रक्षोभ, प्रदाह, अर्बुदोत्पत्ति, रक्तस्राव आदि कारणों से हिक्का की उत्पत्ति होती है।

अधिकतर हिक्का की उत्पत्ति अत्यन्त साधारण कारणों से होती है जैसे अधिक या चटपटा भोजन, थोड़ा अजीर्ण, अधिक हंसना, गुदगुदी, चुरु कृमि आदि। कभी कभी कोई भी स्पष्ट कारण नहीं पाया जाता। सामान्य हिक्का स्वयमेव शांत हो जाती है इसलिये चिकित्सा की दृष्टि से इसका कोई महत्व नहीं है। 'मद्यज हिक्का' विशेष प्रकार की होती है; मुंह से मद्य की गंध आती है तथा मद्यजन्य दूसरे लक्षणों की भी विद्यमानता रहती है इसलिये निदान में कोई कठिनाई नहीं होती। हिक्का के निम्नलिखित विशेष प्रकार माननीय हैं—

(१) उदरवणीय हिक्का (Peritonitic Hiccup)—तीव्र उदरावरण प्रदाह, तीव्र रक्तस्रावी अग्न्याशय प्रदाह, तीव्र आन्त्रावरोध, तीव्र आमाशय विस्फार आदि के कारण उत्पन्न होती है। यदि यह जल्द शान्त न हो तो मारक होती है।

(२) औदरीय हिक्का (Abdominal Hiccup) गंभीर उदरगत रोगों की उपस्थिति में कभी कभी अत्यन्त कष्टदायक हिक्का उत्पन्न होती है। कुछ मामलों में महाप्राचीरीय आन्त्रवृद्धि (Diaphragmatic Hernia), महाप्राचीरा के निचले भाग से संबंधित उदरावरण में प्रदाह या आमाशय में कर्कटार्बुद आदि महाप्राचीरीय वातनाड़ियों में क्षोभ उत्पन्न करने वाले कारण पाये जाते हैं। किन्तु कभी कभी कारण इतनी दूरी पर स्थित रहता है कि उससे हिक्का की उत्पत्ति किस प्रकार होती है यह समझना कठिन हो जाता है जैसे अवग्रहान्त्र का कर्कटार्बुद या गर्भाशय का कर्कटार्बुद।

(३) मूत्रक हिक्का (Uraemic Hiccup)—यह अत्यन्त विरल है। यह हमेशा असाध्य एवं मारक होती है। मूत्र संस्थान के कई रोगों से इसकी उत्पत्ति हो सकती है। वातरक्तीय हिक्का Gouty Hiccup) भी संभवतः इसी का एक प्रकार है।

(४) संक्रामक हिक्का या हिक्का की महामारी (Infective Hiccup or Epidemic Hiccup) यह संभवतः तन्द्रिक (निद्रालसी) मस्तिष्क प्रदाह (Eucephalitis Lethargica) का एक प्रकार है जो महामारी के रूप में फैलता है, कभी कभी फुटकर मामले भी मिलते हैं जिनका निदान कर पाना

कठिन होता है। इस रोग में रोगी को दिन रात हिचकी आती रहती हैं जो चिकित्सा से शान्त नहीं होतीं। यह क्रम लगभग १ सप्ताह या अधिक दिनों तक चलता है फिर या तो रोग स्वयमेव शांत हो जाता है अथवा मृत्यु हो जाती है। नेत्रादि का घात एवं ज्वरादि लक्षण कुछ रोगियों में मिलते हैं और कुछ में नहीं मिलते।

(५) हिस्टीरियाजन्य हिक्का (Hysteric Hiccup)—यह १५-२५ वर्षीय युवतियों में पायी जाती है। रोगिणी जब तक जागती रहती है तभी तक हिचकियों से परेशान रहती है किन्तु सो जाने पर हिचकी नहीं आती। यह क्रम अनिश्चित समय तक चलता रहता है और फिर अपने आप शान्त हो जाता है।

(६) फिरङ्गी-खंजता जन्य हिक्का (Tabetic Hiccough)—फिरंगी खंजता के कारण अत्यन्त कष्टदायक हिक्का की उत्पत्ति होती है जो लम्बे समय तक चलती है और चिकित्सा से शांत नहीं होती। कभी इससे मृत्यु हो जाती है।

(७) महाप्राचीरीय—नाड़ी—प्रक्षोभजन्य हिक्का (Hiccup due to Irritation of Phrenic Nerve)—राजयक्ष्मा, कर्कटार्बुद आदि के कारण वक्ष की लसग्रन्थियों की वृद्धि से, अन्तराल में तन्तूत्कर्ष होने से हृदय की वृद्धि से अथवा हृदयावरण में संलाग उत्पन्न होने से महाप्राचीरीय वातनाड़ी में प्रक्षोभ होकर हिक्का उत्पन्न होती है।

(८) अन्य मस्तिष्कगत कारण—अपस्मार (Epilepsy), मस्तिष्कावरण प्रदाह, उदकशीर्ष (Hydrocephalus), मस्तिष्कार्बुद मस्तिष्कगत उपदंश आदि कारण भी हिक्का उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार के रोग सुषुम्नाशीर्ष या सुषुम्ना में होने पर भी हिक्का की उत्पत्ति होती है।

श्वास रोग के भेद

महोर्ध्वच्छिन्नतमकक्षुद्रभेदैस्तु पञ्चधा।
भिद्यते स महाव्याधिः श्वास एको विशेषतः ॥१५॥

श्वास रोग एक महाव्याधि (बड़ा रोग) है। विशेषताओं के अनुसार इसके ५ भेद माने जाते हैं—महाश्वास, ऊर्ध्वश्वास छिन्न श्वास, तमक श्वास और क्षुद्रश्वास।

(वाताधिको भवेत् क्षुद्रस्तमकस्तु कफोद्भवः।
कफवाताधिकश्चैव संसृष्टश्छिन्नसंज्ञकः।
श्वासो मारुतसंसृष्टो महानूर्ध्वस्ततो मतः ॥१२॥)

(क्षुद्रश्वास वातोल्वण, तमक श्वास कफोल्वण और छिन्न श्वास कफवातोल्वण होता है। महाश्वास और ऊर्ध्वश्वास में वायु की ही उल्वणता मानी गई है।)

वक्तव्य—(१२४)श्वास शरीर की एक नैसर्गिक तथा अत्यन्त आवश्यक क्रिया है। जब तक श्वास चलती है तभी तक प्राणी जीवित रहता है अन्यथा मृत्यु हो जाती है। मृत्यु का विनिश्चय करते समय सर्वप्रथम यही देखा जाता है कि श्वास चल रही है अथवा नहीं। श्वास की गति देखकर रोगी की साध्यता और असाध्यता पर भी विचार किया जाता है। जब तक दोषों की समता रहती है तब तक श्वास सामान्य रूप से चलता है किंतु दोषों में घट-बढ़ होने पर श्वास में विकृति आजाती है। विकृत श्वास को ही श्वास रोग (Dyspnoea) कहते हैं।

श्वास रोग के पूर्वरूप

प्राग्रूपं तस्य हृत्पीडा शूलमाध्मानमेव च।
आनाहो वक्त्रवैरस्यं शंखनिस्तोद एव च ॥१६॥

हृदय-प्रदेश में पीड़ा, शूल, आध्मान, आनाह, मुख में विरसता और शंख प्रदेश (कान के आस पास का भाग) में पीड़ा—ये श्वासरोग के पूर्व रूप हैं।

श्वास रोग की सम्प्राप्ति

यदा स्रोतांसि संरुध्य मारुतः कफपूर्वकः।
विष्वग्व्रजति संरुद्धस्तदा श्वासान् करोति सः ॥१७॥

जब वायु कफ को आगे करके स्रोतों का अवरोध करके रुकती हुई सभी ओर गमन करती है तब वह श्वास रोगों को उत्पन्न करती है।

वक्तव्य—(६२५)अवरोध करने के लिए कफ आवश्यक होता है। जिन श्वास रोगों में कफ का प्रकोप नहीं होता वहां आशयापकर्ष होता है।

स्रोतों से प्राणवाही स्रोत (श्वासनलिका, वायुकोष, कण्ठनलिका आदि) ग्रहण करने का आदेश सभी टीकाकारों ने दिया है। किन्तु ऊपर जो आध्मान, आनाह, शंखनिस्तोद आदि लक्षण कहे गये हैं वे अन्य स्रोतों के भी अवरोध की ओर संकेत करते हैं।

महाश्वास

उद्धूयमानवातो यः शब्दवद्दुःखितो नरः ।
उच्चैः श्वसिति संरुद्धो मत्तर्षभ इवानिशम् ॥ १८ ॥
प्रनष्टज्ञानविज्ञानस्तथा विभ्रान्तलोचनः ।
विवृताक्ष्याननो बद्धमूत्रवर्चा विशीर्णवाक् ॥ १९ ॥
दीनः प्रश्वसितं चास्य दूराद्विज्ञायते भृशम् ।
महाश्वासोपसृष्टस्तु क्षिप्रमेव विपद्यते ॥ २० ॥

जो मनुष्य कष्ट एवं आवाज के साथ ऊपर की ओर फूंकता हुआ सा वायु को छोड़ता हो, अवरोध के कारण निरन्तर मस्त सांड़ के समान दीर्घ श्वास लेता छोड़ता हो, जिसका ज्ञान-विज्ञान नष्ट हो चुका हो. नेत्र यहां वहां अनैच्छिक रीति से गति करते हों,नेत्र और मुख फैले हुए हों, वाणी लड़खड़ाती हुई एवं क्षीण हो अथवा बोलने में असमर्थ हो और चेहरा निस्तेज हो, वह महाश्वास से पीड़ित रोगी शीघ्र ही मर जाता है । ऐसे रोगी के प्रश्वास की आवाज दूर से ही स्पष्ट सुनाई पड़ती है ।

वक्तव्य—(१२६) यह अनेक रोगों की अन्तिम दशाओं में मृत्यु के पूर्व चलने वाले श्वास का वर्णन है। इस दशा में सभी इन्द्रियों की शक्ति नष्ट हो चुकती है। रोगी जोर जोर से श्वास लेता-छोड़ता हुआ लगभग या पूर्णसंज्ञाहीन अवस्था में पड़ा रहता है। यह दशा अनिश्चित समय तक रहती है। फिर श्वास क्रमशः क्षीण होकर मृत्यु हो जाती है।

ऊर्ध्वश्वास

ऊर्ध्वं श्वसिति यो दीर्घं न च प्रत्याहरत्यधः ।
श्लेष्मावृतमुखस्रोताः क्रुद्धगन्धवहार्दितः ॥ २१ ॥
ऊर्ध्वदृष्टिर्विपश्यंस्तु विभ्रान्ताक्ष इतस्ततः ।
प्रमुह्यन् वेदनार्तश्च शुष्कास्योऽरतिपीडितः ॥ २२ ॥
ऊर्ध्वश्वासे प्रकुपिते ह्यधःश्वासो निरुध्यते ।
मुह्यतस्ताम्यतश्चोर्ध्वं श्वासस्तस्यैव हन्त्यसून् ॥२३॥

जो रोगी दीर्घ उर्ध्वश्वास छोड़ता है और उतना ही अधःश्वास वापिस नहीं खींचता, जिसके मुख और स्रोत कफ से आवृत्त रहते हैं, जो कुपित वायु से पीड़ित रहता है, जो ऊपर की ओर विकृत रीति से देखता है, जिसके नेत्र यहां वहां अनैच्छिक रीति से गति करते हैं, जो बार बार मूर्च्छित होता है, जो वेदना से दुखी रहता है; बेचैनी अधिक होने से जिसका मुखमण्डल श्वेताभ हो गया हो वह रोगी बेचैन होकर बारबार मूर्च्छित होता है तथा ऊर्ध्वश्वास उसके प्राणों को नष्ट कर देता है। ऊर्ध्वश्वास कुपित होने पर अधःश्वास का अवरोध होता हैं।

वक्तव्य—(१२७) ऊपर या बाहर की ओर श्वास छोड़ने की क्रिया को ऊर्ध्वश्वास तथा नीचे की ओर श्वास खींचने की क्रिया को अधःश्वास कहते हैं। ऊर्ध्वश्वास कुपित हो जाने पर ऊर्ध्वश्वास रोग उत्पन्न होता है जिसका वर्णन ऊपर किया गया है। महाश्वास के समान यह भी अनेक रोगों की अन्तिम दशा में मृत्यु के पूर्व पाया जाता है और मारक लक्षण है।

छिन्नश्वास

यस्तु श्वसिति विच्छिन्नं सर्वप्राणेन पीडितः ।
न वा श्वसिति दुःखार्तो मर्मच्छेदरुगर्दितः ॥ २४ ॥
आनाहस्वेदमूर्च्छार्तो दह्यमानेन वस्तिना ।
विप्लुताक्षः परिक्षीणः श्वसन् रक्तैकलोचनः ॥ २५ ॥
विचेताः परिशुष्कास्यो विवर्णः प्रलपन्नरः ।
छिन्नश्वासेन विच्छिन्नः स शीघ्रं विजहात्यसून् ॥२६॥

जो रोगी सारी शक्ति लगाकर भी रुक रुक कर श्वास लेता हो अथवा मर्मस्थान कटने की (या तत्सदृष) पीड़ा से दुखी होकर श्वास ही न लेता हो, जो आनाह, स्वेद, मूर्च्छा एवं वस्ति में दाह से पीड़ित हो, जिसके नेत्र आंसुओं से भरे हुए हों, श्वास क्षीण हो एवं एक नेत्र लाल हो, चित्त स्थिर न हो, मुख सूखता हो, चेहरा विवर्ण हो और प्रलाप कर रहा हो ऐसा रोगी छिन्न श्वास से विच्छिन्न होकर शीघ्र ही प्राण त्याग देता है।

वक्तव्य-(१२८) इस रोग में अनियमित ढंग से रुक रुक कर श्वास चलती है। यह दशा अफीम संखिया आदि के विष में तथा हृदय, मूत्र संस्थान, वात-नाड़ी संस्थान आदि के रोगों में पायी जाती है। अधिकतर यह भी मारक ही होती है।

तमक श्वास

प्रतिलोमं यदा वायुः स्रोतांसि प्रतिपद्यते।
ग्रीवां शिरश्च संगृह्य श्लेष्माणं समुदीर्य च ॥२७॥
करोति पीनसं तेन रुद्धो घुर्घुरकं तथा।
अतीव तीव्रवेगं च श्वासं प्राणप्रपीडकम् ॥२८॥
प्रताम्यति स वेगेन तृष्यते सन्निरुध्यते।
प्रमोहं कासमानश्च स गच्छति मुहुर्मुहुः ॥२९॥
श्लेष्मण्यमुच्यमाने तु भृशं भवति दुःखितः।
तस्यैव च विमोक्षान्ते मुहूर्तं लभते सुखम् ॥३०॥
तथाऽस्योद्ध्वंसते कण्ठः कृच्छाच्छक्नोति भाषितुम्।
न चापि लभते निद्रां शयानः श्वासपीडितः ॥३१॥
पार्श्वे तस्यावगृह्णाति शयानस्य समीरणः।
आसीनो लभते सौख्यमुष्णं चैवाभिनन्दति ॥३२॥
उच्छ्रितांक्षो ललाटेन स्विद्यता भृशमार्तिमान।
विशुष्कास्यो मुहुः श्वासो मुहुश्चैवावधम्यते ॥३३॥
मेघाम्बुशीतप्राग्वातैः श्लेष्मलैश्च विवर्धते।
स याप्यस्तमकः श्वासः साध्यो वा स्यान्नवेत्थितः॥३४॥

जब वायु प्रतिलोम होकर स्रोतों में ठहर जाती है तब वह गले और सिर को जकड़कर तथा कफ को कुपित करके पीनस (प्रतिश्याय) उत्पन्न करती है और उससे अवरुद्ध होकर घुर-घुर शब्द तथा प्राणों को कष्ट देने वाला अत्यन्त तीव्र वेगयुक्त श्वास उत्पन्न करती है। वह रोगी श्वास के वेग से अत्यन्त बेचैन होता है, प्यास लगती है और श्वासावरोध होता है। खांसते खसते वह बारम्बार मूर्च्छित हो जाता है। कफ न निकलने पर उसे अत्यन्त कष्ट होता है और उसके निकलने पर कुछ देर आराम मिलता है। इस तरह उसका कण्ठ फट सा जाता है जिससे वह कठिनाई से बोल पाता है। श्वास से पीड़ित होने पर लेटने से वायु पार्श्वों को जकड़ लेती है इसलिये लेटने पर नींद भी नहीं आती। वह रोगी बैठने में आराम का अनुभव करता है और उष्ण आहार विहार पसन्द करता है। वह रोगी अत्यन्त दुखी रहता है; उसके नेत्र उभरे हुए, ललाट स्वेदयुक्त और मुख शुष्क रहता है। बार बार श्वास के वेग आते हैं और बार बार नीचे की ओर धौंकनी (भस्त्रिका, खलांत) सी चलती है। मेघ, जल-वृष्टि, शीत-ऋतु एवं पूर्वी या प्रातःकालीन वायु (अथवा वर्षा एवं शीतल पूर्वी या प्रातःकालीन वायु) और कफवर्धक आहार-विहार से रोग बढ़ता है। यह तमक श्वास याप्य है किन्तु नवोत्पन्न होने पर साध्य हो सकता है।

वक्तव्य-(१२९) साधारण भाषा में इस तमक श्वास को ही श्वासरोग या दमा कहते हैं। यह रोग अधिकतर वृद्धावस्था में होता है। इसकी याप्यता के संबंध में यह कहावत प्रसिद्ध है—'दमा दम के साथ ही जाता है।'

प्रतमक-श्वास

ज्वरमूर्च्छापरीतस्य विद्यात्प्रतमकं तु तम्।
उदरावर्तरजोऽजीर्णक्लिन्नकायनिरोधजः ॥३५॥

यदि तमक-श्वास का रोगी ज्वर और मूर्च्छा से युक्त हो उसके रोग को प्रतमक-श्वास मानना चाहिए। यह उदावर्त, धूल, अजीर्ण, शरीर-भीगा रहने तथा श्वास रोकने (प्राणायाम आदि) से होता है।

वक्तव्य—(१३०) यह तमक श्वास का ही एक रूप-विशेष है।

सन्तमक-श्वास

तमसा वर्धतेऽत्यर्थं शीतैश्चाशु प्रशाम्यति।
मज्जतस्तमसीवास्य विद्यात्संतमकं तु तम् ॥३६॥

जो तमक-श्वास अन्धकार अथवा मानसिक दोषों (क्रोधादि) से अत्यधिक बढ़ता और शीतल आहार-विहार से तुरन्त शान्त होता है तथा जिसमें रोगी अन्धकार में डूबते हुए के समान अनुभव करता है उसे सन्तमक श्वास समझना चाहिए।

वक्तव्य—(१३१) यह भी तमक श्वास का ही एक भेद है। तमक श्वास में शीतल आहार-विहार से कष्ट बढ़ता और उष्ण उपचारों से शान्त होता है किन्तु इसमें शीतल आहार-विहार से तत्काल शान्ति मिलती

है। तमक श्वास में कफ-सहित वायु का प्रकोप रहता है किन्तु सन्तमक में पित्त सहित वायु का प्रकोप रहता है।

क्षुद्र-श्वास

रूक्षायासोद्भवः कोष्ठे क्षुद्रो वात उदीरयन्।
क्षुद्रश्वासो न सोऽत्यर्थं दुःखेनाङ्गप्रबाधकः ॥३७॥
हिंनस्ति न स गात्राणि न च दुःखो यथेतरे।
न च भोजनपानानां निरुणद्ध्युचितां गतिम् ॥३८॥
नेन्द्रियाणां व्यथां नापि कांचिदापादयेद्रुम्।
स साध्य उक्तो बलिनः सर्वे चाव्यक्तलक्षणाः ॥३९॥

रूक्षता और परिश्रम से कोष्ठ में जो थोड़ा वायु ऊपर चढ़ता है उसे क्षुद्रश्वास कहते हैं। यह अधिक कष्ट नहीं देता और अंगों के कार्यों में बाधा नहीं पहुँचाता। दूसरे श्वासों के समान न यह मृत्युकारक ही है और न दुखदायक। न यह अन्न जल की उचित गति को ही रोकता है, न इन्द्रियों में व्यथा उत्पन्न करता है और न कोई अन्य रोग ही उत्पन्न करता है। बलवान् रोगियों का यह क्षुद्रश्वास रोग साध्य कहा गया है और लक्षण अव्यक्त रहने पर सभी श्वासरोग साध्य कहे गये हैं।

वक्तव्य—(१३२) परिश्रम करने से फूलने वाला श्वास क्षुद्रश्वास कहलाता है। सामान्यतः यह रोग नहीं है किन्तु यदि सामान्य परिश्रम से श्वास अधिक फूले तो उस दशा में यह रोग है। यह दशा अधिक तर शरीर में रूक्षता, रक्तक्षय आदि से संबंधित रहती है और उनका उपचार कर देने से ठीक हो जाती है।

श्वासरोग की साध्यासाध्यता

क्षुद्रः साध्यो मतस्तेषां तमकः कृच्छ्र उच्यते।
त्रयः श्वासा न सिध्यन्ति तमको दुर्बलस्य च ॥४०॥

श्वासरोगों में क्षुद्रश्वास साध्य माना गया है, तमकश्वास कृच्छ्रसाध्य कहा गया है, तीन श्वास रोग (महाश्वास, ऊर्ध्व-श्वास और छिन्न श्वास) असाध्य हैं और दुर्बल रोगी का तमक श्वास भी असाध्य है।

हिक्का और श्वास रोग की भयंकरता

कामं प्राणहरा रोगा बहवो न तु ते तथा।
यथा श्वासश्च हिक्का च हरतः प्राणमाशु च ॥४१॥

यह सत्य है कि प्राणहर रोग बहुत से हैं परन्तु वे ऐसे नहीं हैं जैसे हिक्का और श्वास तुरन्त ही प्राणों को हरते हैं।

वक्तव्य (१३३) यह श्लोक असाध्य हिक्का और असाध्य श्वासरोग के लिये विशेष रूप से कहा गया समझना चाहिये। वैसे यह सत्य ही है कि ये दोनों रोग साध्य होने पर भी आंशिक प्राण-नाश अर्थात् प्राणवायु का सम्पीड़न (Suffocation, दम घुटना) तो करते ही हैं और असाध्य होने पर तो प्राण ले ही लेते हैं।

पाश्चात्यमत—

श्वास या श्वसन (Respiration or Breathing)—यह शरीर की सबसे अधिक आवश्यक क्रिया है। इसके समुचित सम्पादन में जीवन स्थिर रहता है अन्यथा मृत्यु होजाती है। श्वासक्रिया अनैच्छिक एवं ऐच्छिक क्रियाओं का सम्मिश्रण है। इसके २ भाग होते हैं—(१) अधोश्वास या अन्तः श्वसन (Inspiration) और (२) ऊर्ध्वश्वास या बहिःश्वसन (Expiration)। अधोश्वास के समय पर फुफ्फुस फूलकर वायु ग्रहण करते हैं और ऊर्ध्वश्वास के समय पर पिचककर वायु का त्याग करते हैं। फुफ्फुसों के द्वारा ग्रहण की गयी वायु में से वहां उपस्थित रक्त में जारक वायु (Oxygen) का शोषण होता है। इसी समय रक्त में उपस्थित प्रांगार द्विजारेय (Carbon-di-oxide) वायु रक्त में से पृथक् होजाती है तथा ऊर्ध्वश्वास के साथ बाहर निकल जाती है। रक्त में शोषित जारक वायु रक्त के साथ समस्त शरीर में भ्रमण करती हुई बेकार पदार्थों को जलाती एवं ताप की उत्पत्ति करती है।

(अ) श्वास संख्या—सामान्यतः स्वस्थ मनुष्य १ मिनिट में १६-१८ बार श्वसन क्रिया करता है। कई प्रकार के श्वासकष्ट (श्वास रोग) में यह संख्या बढ़ जाती है। ज्वर में भी श्वास-संख्या में वृद्धि होती है; ताप में प्रति डिग्री वृद्धि के साथ श्वास-संख्या में २॥-३ प्रतिमिनिट की वृद्धि होती है। फुफ्फुसखण्ड प्रदाह में श्वास-संख्या अत्यधिक बढ़कर ४०-५०

प्रतिमिनिट तक पहुँच जाती है। अहिफेन, मद्य, क्लोरोफार्म, क्लोरल हाइड्रेट, बारविच्युरेट आदि निद्राकर विषों के सेवन से; मस्तिष्कगत रक्तस्राव, मस्तिष्कावरणप्रदाह, मस्तिष्कगत अर्बुद आदि से मस्तिष्क पर दबाव पड़ने से; स्तब्धता (Shock), निपात (Collapse), अपस्मार, हिस्टीरिया आदि के आक्रमण के समय पर तथा कभी-कभी मूत्रमयता और मधुमेह-संन्यास की दशाओं में श्वास-संख्या में कमी होजाती है, श्वाससंख्या घटकर ५-६ प्रतिमिनिट तक रह जा सकती है।

(ब) श्वसनताल (Breathing Rhythm)— संन्यास की दशाओं में अधोश्वास के बाद तुरन्त ही ऊर्ध्वश्वास प्रारम्भ होजाता है। अधोःश्वास की अपेक्षा ऊर्ध्वश्वास अधिक काल तक रहता है; इनके समय का अनुपात ५:६ है। किन्तु वक्ष-परीक्षा-यंत्र से श्रवण करने पर इसके विपरीत ही अनुभव होता है क्योंकि ऊर्ध्वश्वास-ध्वनि कमजोर होने के कारण पूरी-पूरी नहीं सुनी जा सकती। श्वसनताल में निम्न प्रकार के परिवर्तन हुआ करते हैं—

(i) दीर्घ अधोश्वास (Inspiration Prolonged)—श्वास मार्ग में संकीर्णता होने से अधोश्वास अधिक देर तक चलता है। इस प्रकार के श्वसन में अधोश्वास के साथ वक्ष की निचली पेशियों में प्रत्यावर्तन होता है। इस प्रकार का श्वास बाह्य-पदार्थ या रोहिणी (Diphtheria) जन्य झिल्ली से श्वासावरोध होने पर तथा बालकों के फुफ्फुस-नलिका प्रदाह में फुफ्फुस के आक्रान्त भाग का निपात होने पर उत्पन्न होता है।

(ii) दीर्घ ऊर्ध्वश्वास (Expiration prolonged)—फुफ्फुसों का लचीलापन कम होजाने तथा फुफ्फुसनलिकाओं के संकीर्ण होजाने पर वायु के निकलने में अधिक समय लगता है। इस प्रकार का श्वास तमक श्वास (Bronchial Asthma), चिरकारी श्वासनलिका प्रदाह एवं वातोत्फुल्लता (Emphysema) में पाया जाता है। इसके कारण वक्ष वेलनाकार होजाता है।

(iii) छिन्न-श्वास (Cheyne-Stokes Breathing)—इस प्रकार में श्वास का वेग बढ़ते-बढ़ते अत्यन्त बढ़ जाता है और फिर क्रमशः घटते-घटते अत्यन्त घटकर पूर्णतया श्वास बन्द होजाती है। कुछ समय बाद वह पुनः चालू होकर बढ़ती और फिर घटती है। यही क्रम बार बार चलता है। हृदय के रोगों में हार्दिक समन्वय नष्ट होने पर (विशेषतः उच्च रक्तनिपीड़ युक्त हृत्पेशी-तन्तूत्कर्ष में); मूत्रमयता मधुमेह-संन्यास, गम्भीर कामला, अंशुघात एवं तीव्र संक्रामक ज्वरों में; मस्तिष्क और सुषुम्नाशीर्ष-गत फिरंग, रक्तस्राव, घनास्रता, अन्तःशल्यता, अर्बुद क्लोरल हाइड्रेट, मल्ल (Arsenobenzols) के विषप्रकोप से इस श्वास की उत्पत्ति होती है। यह अधिकतर मारक होता है, किन्तु सदैव नहीं। कुछ व्यक्तियों में स्वभावतः इस प्रकार का श्वास पाया जाता है।

(iv) बायट का छिन्नश्वास (Biot's Breathing)-इस प्रकार में २-३ बार थोड़ा थोड़ा अन्तःश्वसन होकर श्वासक्रिया बन्द हो जाती है और रोगी मुर्दे के समान हो जाता है। कुछ देर बाद पुनः श्वास क्रिया चालू रहती है। यह एक घोर मारक लक्षण है। यह श्वास कई हार्दिक, मस्तिष्क और वृक्क-गत रोगों की अन्तिम दशाओं में पाया जाता है।

(स) श्वसन प्रकार (Types of Breathing)— इसके २ प्रकार हैं—

(i) उदर-वक्षीय प्रकार (Abdomino-thoracic Type)—इस प्रकार में उदर की पेशियां और महा-प्राचीरा पेशी अधिक कार्य करती हैं। यह प्रकार पुरुषों और लड़के-लड़कियों में सामान्यतः पाया जाता है किन्तु फुफ्फुसखण्ड प्रदाह, फुफ्फुसावरण प्रदाह, पार्श्व-वेदना (पर्शुकान्तरीय पेशियों का प्रदाह; Pleurodynia), पर्शुकास्थि-भग्न आदि के कारण वक्ष में पीड़ा होने से, पर्शुकान्तरीय पेशियों का स्तंभ या घात होने के कारण वक्ष की गति सीमित हो

जाने से तथा वातोत्फुल्लता होने अथवा तरुणास्थियों (Cartilages) में चूर्णीभवन (Calcification) होने जाने से वक्ष का प्रसार भलीभांति न होसकने के कारण जब इसकी उत्पत्ति या वृद्धि होती है तब यह रोग का लक्षण माना जाता है।

(ii) वक्षोदरीय प्रकार (Thoracico abdominal Type)—इस प्रकार में पर्शुकान्तरीय पेशियां (विशेषत: ऊपरी भाग की) अधिक क्रियाशील रहती हैं। यह प्रकार स्त्रियों में सामान्य है किन्तु जब उदरगत अवयवों के प्रदाह अथवा महाप्राचीरा पेशी के घात के कारण इसकी उत्पत्ति या वृद्धि होती है तब यह रोग का लक्षण माना जाता है।

(द) श्वसन मात्रा—स्वस्थ व्यक्ति का वक्ष पर्याप्त मात्रा में एवं दोनों ओर समान रूप से प्रसारित होता है। उदर में तनाव या पीड़ा होने पर अथवा वक्ष में दोनों ओर पीड़ा होने पर दोनों पार्श्वों का प्रसारण कम हो जाता है। किन्तु एक ही ओर के फुफ्फुस, फुफ्फुसावरण या उदर में विकार होने से एक पार्श्व कम और दूसरा पूर्णरूप से अथवा अधिक प्रसारित होता है। यह मानी हुई बात है कि वक्ष भलीभांति प्रसाति होने पर ही वायु की उचित मात्रा का प्रवेश होता है अन्यथा नहीं। किन्तु यह भी ध्यान रखना चाहिये कि कुछ दशाओं में जैसे वातोत्फुल्लता (Emphysema) में वक्ष की ऊपर नीचे गति भलीभांति होने पर भी वक्ष का प्रसार भलीभांति नहीं होता जिससे वायु पूर्णमात्रा में प्रविष्ट नहीं होती।

वक्ष का प्रसारण जानने के लिये ऊर्ध्वश्वास और अधोश्वास की दशाओं में वक्ष का नाप लेकर प्रथम नाप में से द्वितीय को घटा देते हैं, जो बचता है वह प्रसारण मात्रा कहलता है। यह कार्य फीते से हो सकता है किन्तु विशेष सूक्ष्म नाप के लिये सीसे का फीता आता है जिसे वक्षमापक (सिर्टोमीटर Cyrtometer) यन्त्र कहते हैं। सीसे का फीता अधिक लचकदार एवं इच्छानुसार मुड़ने वाला होने के कारण अधिक सूक्ष्म नाप के लिये प्रशस्त है।

श्वास-वायु की मात्रा नापने के लिये श्वासमापक (स्पिरोमीटर Spirometer) यन्त्र आता है। इसके द्वारा ऊर्ध्वश्वास में निकली हुई वायु की मात्रा नापी जाती है। गंभीर श्वास लेने के बाद छोड़ी हुई वायु की मात्रा स्वस्थ व्यक्ति में ३०००-३५०० घन सेंटीमीटर (सी. सी.) होती है। फुफ्फुस एवं वक्ष-प्राचीर के रोगों में तथा श्वासकष्ट उत्पन्न करने वाले हृदय रोगों में यह मात्रा घट जाती है।

श्वासकष्ट, श्वासकृच्छ्रता (*Dyspnoea*)—श्वसन-क्रिया कठिनाई एवं कष्ट के साथ होने की दशा को श्वासकष्ट या श्वासकृच्छ्रता(*Dyspnoea*) कहते हैं। श्वासकष्ट थोड़ा या अधिक एवं आवेगी या सतत हो सकता है; कुछ मामलों में श्वसन अधिक गंभीर (*Hyperpnoea*) हो जाता है और कुछ मामलों में गंभीरता के साथ ही साथ श्वसन-गति भी बढ़ जाती है (शीघ्रश्वसन *Tachypnoea*) या बहुश्वसन (*Polypnoea*)। श्वासकष्ट के निम्न ५ भेद होते हैं:—

(*i*) अधोश्वासीय श्वासकष्ट या अन्त:श्वसन कृच्छ्रता (*Inspiratory Dyspnoea*)—यह श्वासकष्ट कण्ठ या उसके आसपास के भागों में अवरोध (रोहिणी अथवा बाह्यपदार्थ के द्वारा अथवा अर्बुद के द्वारा होने से होता है। अधोश्वास के समय पर पर्शुकान्तरीय स्थान अन्दर की ओर भिंचते हैं। ऊर्ध्वश्वास छोड़ते समय कष्ट नहीं होता या अत्यल्प होता है।

(*ii*) उर्ध्वश्वासीय श्वासकष्ट या बहि:श्वसन कृच्छ्रता (*Expiratory Dyspnoea*)—इस प्रकार के श्वासकष्ट में श्वास खींचने में कष्ट नहीं होता अथवा अत्यल्प होता है तथा उदर की पेशियों को अधिक कार्य करना पड़ता है। फल यह होता है कि फुफ्फुसों में वायु काफी मात्रा में उपस्थित रही आती है, तथा वे पूर्णरूप से कभी भी संकुचित नहीं हो पाते।

इस प्रकार के श्वासकष्ट का सबसे अच्छा उदाहरण वातोत्फुल्लता है।

(*iii*) अधोश्वासीय एवं ऊर्ध्वश्वासीय श्वासकष्ट; उभय प्रकार श्वासकष्ट—इसमें उक्त दोनों प्रकार के लक्षण पाये जाते हैं। यह तमक श्वास हार्दिक असमन्वयता, मूत्रमयता, जानपदिक शोथ, गंभीर रक्तक्षय एवं मधुमेह-सन्यास में पाया जाता है।

(*iv*) आवेगी श्वासकष्ट—*Paroxysmal Dyspnoea*—इस प्रकार का श्वासकष्ट अचानक उत्पन्न होता है, इसके पूर्व रोगी में कोई लक्षण नहीं पाये जाते। यह तमक श्वास, वातोरस, फौफ्फुसीय अथवा हार्दिक अन्तःस्फान, श्वासमार्ग में बाह्य-पदार्थ का प्रवेश तथा जानपदिक शोथ आदि रोगों में पाया जाता है।

छिन्न-श्वास—(*Cheyne-Stoks Respiration*)—इसका वर्णन पीछे हो चुका है।

श्वासकष्ट के कारण—

(१) केन्द्रीय कारण—रक्ताधिक्यजन्य हृदयातिपात (*Congestive Heart Failure*), मूत्रमयता, मधुमेह संन्यास, उदक्षि (गलगण्ड *Exophthalmic Goitre*), जानपदिक शोथ, गंभीर रक्तक्षय आदि रोगों में तथा ऊंचे स्थानों में जाकर निवास करने से सुषुम्ना स्थित श्वासकेन्द्र प्रभावित होकर श्वासकष्ट उत्पन्न करता है।

(२) श्वासमार्गीय कारण—इनमें से अधिकांश के द्वारा अधोश्वासीय श्वासकष्ट उत्पन्न होता है।

(अ) गलतोरणिका (Fances)—तीव्र गलतुण्डिका प्रदाह, ग्रसनिका प्रदाह, विद्रधि (Retro-pharyngeal Abscess), जिह्वामूल-शोथ।

(ब) स्वरयंत्र (Larynx)—प्रदाह (रोहिणी जन्य, फुफ्फुसगोलाणु जन्य अथवा मालागोलाणु जन्य), शोथ (वृक्क प्रदाह जन्य, वाहिनी नाड़ी जन्य Angio-neurotic अथवा आयोडीन के विषप्रभाव से उत्पन्न), व्रण (उपदंशज, राजयक्ष्मज अथवा घातकार्बुद जन्य), अर्बुद, बाह्य पदार्थ, स्तंभ (घर्घरयुक्त स्वरयंत्र स्तंभ Laryngismus Stridulus, अथवा फिरंगज दारुण्य Tabetic Crisis), बाहिरी दबाव (नववृद्धि, अवटुका-वृद्धि, लह-ग्रंथि वृद्धि, धमन्यभिस्तीर्णता अथवा विद्रधि-जन्य) अथवा घात।

स) कण्ठ श्वास नलिका (Trachea-bronchi)—अवरोध (रोहिणी, श्वासनलिका प्रदाह, व्रण, संकोच अथवा बाह्यपदार्थ के द्वारा), दबाव (नव वृद्धि, लसग्रंथि वृद्धि, बाल-ग्रैवेयक ग्रंथि वृद्धि, अथवा धमन्यभिस्तीर्णता के द्वारा), स्तंभ (जैसे तमक श्वास और काली खांसी में)।

बालग्रैवेयक ग्रंथि (Thymus Gland) की वृद्धि छोटे बालकों में पायी जाती है। इसके द्वारा कण्ठनलिका पर दबाव पड़ने से एकाएक गंभीर श्वास कष्ट होकर मृत्यु तक हो जाती है। इस श्वासकष्ट को 'कौप का तमक श्वास' (Kopp's Asthma) कहते हैं। इसका निदान उर्वस्थि के ऊपरी प्रदेश में ठेपण मन्दता (Percussion Dullness) मिलने से और क्ष-किरण से होता है।

(द) फुफ्फुस (Lungs)—फुफ्फुस खण्ड अथवा फुफ्फुस नलिका प्रदाह, तीव्र श्यामाकीय राजयक्ष्मा, तीव्र शोथ, विवर, तन्तूत्कर्ष, निपात या सम्पीड़न (फुफ्फुसावरण प्रदाह, वातोरस, ग्रंथिवृद्धि या अर्बुद के द्वारा), वातोत्फुल्लता, अन्तःस्फान आदि।

(३) अन्य कारण—

(अ) वक्ष में पीड़ा—फुफ्फुसावरणप्रदाह आदि के कारण।

(ब) उदर में पीड़ा—उदरावरण एवं उदर गह्वर में स्थित किसी भी अवयव में प्रदाह होने के कारण।

(स) उदर में अत्यधिक तनाव—आध्मान, जलोदर, सगर्भता अथवा अर्बुदादि के कारण।

(द) वातनाड्युत्कर्ष—हिस्टीरिया, भय आदि के कारण।

अब श्वासकष्ट प्रधान मुख्य रोगों का वर्णन किया जाता है—

(१) तमक श्वास (Asthma) अथवा श्वास-नलिकीय तमकश्वास (Bronchial Asthma)—यह रोग प्रौढ़ावस्था के आरम्भिक भाग में प्रारम्भ होता है, वैसे बालकों और युवकों में भी पाया जाता है। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष अधिक आक्रान्त होते हैं और अधिकांश मामलों में वंशगत इतिहास पाया जाता है। यह रोग प्रावेगी प्रकार का है अर्थात् समय समय पर इसके आक्रमण हुआ करते हैं। बीच के काल में फुफ्फुसों में कोई विकृति नहीं पायी जाती वैसे कुछ रोगियों में श्वासनलिकाप्रदाह पाया जा सकता है।

इस रोग की उत्पत्ति सुषुम्ना-शीर्ष में स्थित श्वास केन्द्र की विकृति से होती है जिसके कारण सामान्य उत्तेजना से ही प्राणदा नाड़ी की शाखाएं अत्यधिक क्रियाशील होकर श्वासनलिकाओं का स्तंभ कर देती हैं। इस विकार के साथ ही साथ अनूर्जता (Allergy) भी पायी जाती है जिसके कारण श्वास नलिकाओं की श्लैष्मिक कला में रक्ताधिक्यज शोथ होता है; शोथ के कारण श्लैष्मिक स्राव अधिक मात्रा में उत्पन्न होता है। आवेग के समय पर उक्त दोनों विकार श्वास-नलिकाओं का स्तम्भ और शोथ पाये जाते हैं। क्षुद्र श्वास नलिकाएं तथा श्वासकेशिकाएं संकीर्ण हो जाती हैं जिससे अधोश्वास साधारण कठिनाई के साथ किन्तु ऊर्ध्वश्वास अत्यन्त कठिनाई के साथ होता है। वायु कोषों में वायु देर तक भरी रह जाती है जिससे वे प्रसारित हो जाते हैं। कुछ काल बाद श्वासनलिकाओं में से श्लैष्मिक स्राव निकलना आरम्भ हो जाता है और पेशियों का स्तंभ दूर होकर आवेग समाप्त हो जाता है। बार बार आक्रमण होने पर फुफ्फुसों में वातोत्फुल्लता तथा हृदय के दक्षिण निलय एवं सर्वांग में शिरागत रक्त का अप्रवाह होता है।

इस रोग के उत्पादक एवं उत्तेजक कारण निम्नलिखित माने जाते हैं।

(*i*) श्वासमार्गीय—धूल धुआं आदि के द्वारा प्रक्षोभ; नासा, ग्रसनिका, स्वरयंत्र, कण्ठनलिका श्वास नलिका आदि की श्लैष्मिक कला का प्रदाह, अर्बुद, भित्ति में तिरछापन, कण्ठ-शालूक वृद्धि, गल-तुण्डिका वृद्धि, फौफ्फुसीय राजयक्ष्मा आदि।

(*ii*) आमाशयान्त्रीय – अति भोजन, मलावरोध, अजीर्ण, चिरकारी अन्तःकीटाण्वीय प्रवाहिका, कृमि रोग।

(*iii*) प्रजनन संस्थानीय—स्त्रियों में गर्भाशय, डिम्ब-ग्रन्थि आदि के विकार।

(*iv*) मानसिक—चिन्ता, क्रोध, शोक, भय, थकावट आदि।

(*v*) वातावरण—गीली और कोहरा-युक्त वायु।

(*vi*) अनूर्जता—यह एक व्यक्तिगत विशेषता है। कुछ व्यक्तियों को किसी पदार्थ-विशेष के प्रति असहिष्णुता रहती है जिसके फलस्वरूप, शीतपित्त, तमक श्वास, पामा (*Eczema*) आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं; यद्यपि वही पदार्थ दूसरे व्यक्तियों को कोई हानि नहीं पहुँचाता। यह पदार्थ किसी भी प्रकार का हो सकता है जैसे चावल, मसूर आदि खाद्य; पुष्प, फल आदि वानस्पतिक पदार्थ; पंख, रोम, गन्ध आदि प्राणिज पदार्थ; रंग औषधि आदि रासायनिक पदार्थ। इस प्रकार के पदार्थ के खाने, सूंघने या स्पर्श मात्र से रोगोत्पत्ति हो जाती है। शरीर के भीतर पूयोत्पत्ति या कृमियों की उपस्थिति से भी इस प्रकार के पदार्थों का निर्माण होता है जो रक्त में मिलकर अनूर्जता-जन्य रोग उत्पन्न करते हैं।

(*vii*) वातरक्त (गठिया, *Gout*) और उपदंश सरीखे रोग भी अधिकांश रोगियों में पाये जाते हैं। संभवतः ये भी तमक श्वास की उत्पत्ति में येन केन प्रकारेण सहायक होते हैं।

प्रावेग का आक्रमण अधिकतर रात्रि के अन्तिम प्रहर में होता है। बेचैनी, मानसिक उत्तेजना अथवा अवसाद, छींक अथवा प्रतिश्याय आदि पूर्वरूप हो सकते हैं अथवा रोगी को एकाएक दम घुटने का अनुभव होता है और वह घबराकर उठ बैठता है। श्वासकष्ट बढ़ जाता है और रोगी उकड़ू बैठकर घुटनों पर कोहनियां रखकर पूरी शक्ति के साथ श्वास लेने का प्रयत्न करता है। इस समय अत्यन्त कष्टदायक खांसी चलती है, घुर्घराहट होती है और चेहरे पर श्यावता उत्पन्न हो जाती है। यह दशा घण्टे आध घन्टे रहती है किन्तु कभी कभी कई घण्टों अथवा कई दिनों तक रह सकती है। इसके बाद ष्ठीवन निकलने लगता है और प्रावेग क्रमशः शान्त हो जाता है। जब जब उत्तेजक कारण उपस्थित होते हैं तब तब प्रावेग उत्पन्न होता रहता है। शीत ऋतु में विशेषतः अधिक कष्ट रहता है। रोग पुराना होने पर रोगी बल मांस विहीन हो जाता है। वक्ष का आकार बेलनाकार हो जाता है और रोगी सामने की ओर झुककर चलता है। थोड़े से ही परिश्रम से श्वास फूलने लगता है और थोड़ी बहुत खांसी सदैव बनी रहती है। रोगी हमेशा प्रावेग की प्रतीक्षा किया करता है। शिरागत अप्रवाह भी उत्पन्न हो जाता है।

प्रावेग के समय पर परीक्षा करने से वक्ष भरा हुआ मिलता है; अधोश्वास के समय पर वक्ष का प्रसार बहुत थोड़ा होता है और गंभीर श्वासकष्ट की दशा में श्वास के साथ पर्शुकान्तरीय स्थलों का उभरना और दबना दिखाई दे सकता है। अधोश्वास अल्प एवं परिश्रम के साथ होता है किन्तु ऊर्ध्व श्वास दीर्घ एवं ध्वनियुक्त होता है। वक्ष पर ठेपण करने से गंभीर ध्वनि होती है। वक्ष-परीक्षा यन्त्र से श्रवण करने पर श्वास-ध्वनि क्षीण मिलती है, अनेक प्रकार के अन्तरित शुष्करव (Rhonchi) और बाद की दशाओं में बहुत से बुद्बुद्वत् अन्तरित निस्वनन (Bubbling rales) सुनाई देते हैं। नाड़ी अधिकतर तीव्र एवं कमजोर रहती है और सांकोचिक रक्त निपीड़ (Systolic blood pressure) कम हो जाता है। रक्त में उपसिप्रिय कण (Eosinophites) अत्यधिक (५०%तक) पाये जाते हैं और शर्करा तथा नीरेय (Chlorides) कम हो जाते हैं। कफ में भी उपसिप्रिय कण पाये जाते हैं तथा इनके अतिरिक्त लैनेक के मोती (Laennec's pearls साबूदाने के समान छोटे छोटे रवे), कर्शमैन के कुण्डल (Curschmann's sprials-कुण्डलीवत् लिपटे हुए श्लेष्म-तन्तू), और चारकौट लेडन के रवे (Charcot-leyden crystals) पाये जाते हैं।

चिरकारी श्वासनलिका प्रदाह, फौफ्फुसीय राजयक्ष्मा (विशेषतः सौत्रिक प्रकार), हार्दिक तमक श्वास, वृक्कीय तमक श्वास और उष्णकटिबंधीय उपसिप्रियता से इसका विभेद करना आवश्यक होता है।

(२) हार्दिक श्वासकष्ट(Cardiac dyspnoea)–हृदय के रोगों से ५ प्रकार का श्वासकष्ट उत्पन्न होता है–

(i) क्षुद्रश्वास, परिश्रमजन्य श्वासकष्ट (Exertional dyspnoea)-यह रोग द्विपत्रककपाट(Mitral-valve) के रोगों से अथवा वाम निलय के अतिपात (Left Ventricular failure) से संबंधित रहता है। इसकी ३ श्रेणियां होती हैं—

अ-सौम्य—इस श्रेणी में सामान्य परिश्रम से श्वास फूलने लगता है; आराम करने से श्वास नहीं फूलता।

ब-सामान्य—इस श्रेणी में हलका काम करने पर भी श्वास फूलता है। संध्या समय पैरों में टखनों के पास शोथ हो जाया करता है, खांसी आती है, श्यावता प्रकट होती है और यकृत को दबाने पर पीड़ा होती है।

स-गंभीर—इस श्रेणी में आराम करते समय भी श्वास फूलता रहता है। रोगी सदैव हांपता रहता

है। श्यावता, मातृका शिराओं (Jugular Veins) में स्फुरण, सर्वांग शोथ, फुफ्फुस-शोथ, मूत्राल्पता, यकृत-वृद्धि, तीव्र एवं अनियमित नाड़ी आदि लक्षण होते हैं। हृदय का अनुप्रस्थ व्यास (Transverse diameter) अधिक हो जाता है।

(ii) हार्दिक तमक श्वास (Cardiac asthma)–यह प्रावेगी प्रकार का हार्दिक श्वासकष्ट है। इसकी उत्पत्ति वाम निलय अतिपात, महाधमनी के कपाटगत रोग (Aortic Valvular diseases), हृद्धमनी जठरता (Coronary sclerosis), चिरकारी हृत्पेशी रोग अथवा चिरकारी वृक्क प्रदाह के कारण होती है। यह रोग वृद्धावस्था में ५० वर्ष की आयु के बाद प्रकट होता है। इसके साथ उच्च रक्त-निपीड, पर्यायित नाड़ी (Pulsus alternans), वाल्गिक ताल (Gallop rhythm) और छिन्नश्वास अक्सर पाये जाते हैं।

रोगी को दिन में थोड़ी क्षुद्रश्वास की शिकायत रहती है किन्तु सोने के पूर्व कोई कष्ट नहीं रहता। अर्धरात्रि के बाद एकाएक दम घुटने के साथ निद्रा भंग हो जाती है और रोगी उकड़ूं बैठकर घुटनों पर कोहनियां रखकर सारी शक्ति लगाकर श्वास लेने का प्रयत्न करता है तथा उसे अनुभव होता है कि मृत्यु अत्यन्त निकट है। उसका शरीर पीला पड़ जाता है, चेहरे पर श्यावता उत्पन्न हो जाती है और ठण्डा पसीना बहुत अधिक मात्रा में निकलता है। नाड़ी तीव्र गति से चलती है और थोड़ा ज्वर भी हो सकता है। अधिकतर थोड़े ही काल में प्रावेग शांत हो जाता है और रोगी अत्यन्त थकावट का अनुभव करता हुआ सो जाता है। किन्तु यदि प्रावेग अधिक काल तक ठहरता है तो फुफ्फुसों का अत्यधिक प्रसार होकर उनमें शोथ हो जाता है जिसके फलस्वरूप अत्यधिक खांसी आती है और किंचित लालिमायुक्त फेनदार ष्ठीवन निकलता है। इस समय रक्तनिपीड कम हो जा सकता है जोकि एक घातक लक्षण है। इस दशा में मृत्यु हो सकती है।

इस प्रकार के प्रावेग कभी कभी अथवा लगातार कई रातों अथवा नियमित रूप से प्रतिरात्रि आ सकते हैं और कभी-कभी दिन में भी आ सकते हैं।

(iii) छिन्न श्वास (Cheyne Stokes Breathing)—यह वाम-निलय अतिपात का निश्चित् लक्षण है। इसका वर्णन पीछे हो चुका है।

(iv) दीर्घश्वास (Sighing Respiration)—यह विकार स्त्रियों में अन्तःस्रावी ग्रन्थियों (विशेषतः डिम्ब ग्रन्थि अवटुका ग्रन्थि) के विकार अथवा वातरक्तीय अवसाद के कारण उत्पन्न होता है। रोगिणी शिकायत करती है कि उसका अधोश्वास पर्याप्त गहराई तक नहीं जाता और वक्ष के ऊपरी तिहाई भाग में ही रह जाता है। इसकी शांति के लिये वह थोड़े थोड़े समय पर जोर लगाकर गहरा श्वास खींचती है, ऐसा करते समय वह काफी भय एवं उत्तेजना से अभिभूत होती है; यह विकार पुरुषों में नहीं मिलता।

(v) अनियमित श्वास (Irregular Breathing)—चिन्ता, उद्वेग, वातरक्तीय अवसाद, हिस्टीरिया आदि के कारण हृदय की वातनाड़ियां क्षुब्ध होकर श्वास में अनियमिता उत्पन्न करती हैं। कभी श्वास की गति बढ़ जाती है और कभी गति घटकर गहराई बढ़ जाती है। इसके फलस्वरूप कभी फुफ्फुसों में वायु का अभाव रहता है और कभी अधिकता।

(३) वातरक्तीय † अवसाद अथवा आयास संरूप (Neurocirculatory Asthenia or Effort Syndrome)—इस रोग को 'सैनिक का हृदय रोग' (Soldier's Heart) अथवा 'डा कोस्टा का प्रक्षोभ्य हृदय' (Da Costa's Irritable Heart) भी कहते हैं। थोड़े से परिश्रम से क्षुद्रश्वास और हृदय की धड़कन इसके प्रधान लक्षण हैं।

रोगी अधिकतर किशोर या नवयुवक होते हैं और उनमें से अधिकांश दुबले पतले एवं सुकुमार

† 'वातरक्तीय' का आयुर्वेदिक वातरक्त रोग से कोई संबंध नहीं है। इसका तात्पर्य वातज और रक्तज से है।

हुआ करते हैं। 'गरूड़वक्ष' अर्थात् वक्ष पतला और अंशफलक अधिक उभरे हुए, प्रायः सभी में पाया जाता है। इनमें से बहुत से वातिक प्रकृति के होते हैं और बहुतों में वंशगत इतिहास मिलता है। अधिकांश में श्वासमार्ग या अन्नमार्ग का कोई न कोई चिरकारी रोग पाया जाता है अथवा किसी तीव्र रोग से मुक्त होने के बाद भी इस रोग का आक्रमण हो सकता है। चाय, तम्बाखू या मद्य के अतिसेवन से भी इस रोग की उत्पत्ति होती है, तात्पर्य यह कि किसी भी कारण से उत्पन्न दुर्बलता से इस रोग की उत्पत्ति हो सकती है।

इसका रोगी हमेशा थकावट का अनुभव करता है। गंभीर श्वास लेने में असमर्थ रहता है किन्तु किसी प्रकार की पीड़ा नहीं होती, अथवा श्वास की गति बढ़ जाती है और बीच बीच में गंभीर श्वास लेता है। हृदय की जोरदार धड़कन का अनुभव परिश्रम करने पर और कभी कभी आराम करते समय भी होता है किन्तु हृदय की गति प्रायः नियमित ही रहा करती है। वक्ष के वाम भाग में कभी कभी मन्द (अत्यन्त विरल मामलों में तीव्र शूलवत्) पीड़ा उत्पन्न होती है जो घंटों बनी रहती है; परिश्रम आदि से इसका कोई सम्बन्ध नहीं मिलता। स्थानिक त्वचा और पेशियों को छूने अथवा दबाने से भी पीड़ा होती या बढ़ती है। भ्रम, मूर्च्छा, कम्प, अवसाद, प्रस्वेद आदि लक्षण भी होते हैं। रोग की उपस्थिति में ये परिस्थितियां उत्पन्न हों तो लक्षण बढ़ जाते हैं।

अधिकांश मामलों में हृदय की गति बढ़ी हुई (लगभग १२० प्रति मिनिट आराम के समय पर) पाई जाती है और सांकोचिक मर्मर ध्वनि भी पायी जाती है परन्तु हृदय में कोई स्पष्ट विकृति नहीं पायी जाती और न इस रोग के कारण भविष्य में होने की संभावना ही रहती है। हृदयगति चित्रण में लीड २ में 'टी' लहर कुछ काल के लिये चपटी या विपरीत पाई जा सकती है।

(४) वृक्कीय अथवा मूत्रमयताजन्य श्वासकष्ट (Renal of Uraemic Dyspnoea)—यह मूत्रमयता (Uraemia) अथवा वृक्क-अतिपात (Renal failure) का एक लक्षण है। इसके निम्न ४ प्रकार होते हैं—

(i) क्षुद्र श्वास (Contnuous Dyspnoea or Brethlessness)

(ii) तमक श्वास (Paroxysmal Dyspnoea or Renal Arthma)

(iii) क्षुद्र और तमक श्वास (Continuous Dyspnoea with attacks of Paroxysmal Dyspnoea)

(iv) छिन्न श्वास (Cheyne-Stokes Breathing)

इन सबके लक्षण हार्दिक और फौफ्फुसीय प्रकारों के समान ही होते हैं। विभेद मूत्रमयता के लक्षण मिलने से होता है।

(५) उष्णकटिबन्धीय अथवा उष्णदेशीय उपसिप्रियता (Tropical Eosinophilia)—इसको वीनगार्टन का संरूप (Weingarten's Syndrome) भी कहते हैं। यह रोग बालकों और नवयुवकों में अधिक पाया जाया है, स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष अधिकतर आक्रांत होते हैं। इसमें तमक श्वास के समान श्वास कष्ट और खांसी के प्रावेग आते हैं। अवसाद, अरुचि मन्द ज्वर (विशेषतः संध्या समय) आदि लक्षण रहते हैं। कभी कभी रक्तष्ठीवन हो सकता है। कफ अधिक निकलता है और रोगी शनैः शनैः दुर्बल होता जाता है। कभी कभी ग्रीवा की लसग्रन्थियों की साधारण वृद्धि भी पायी जाती है।

फुफ्फुसों में अन्तरित निस्वनन (Rales) मिलते हैं, फुफ्फुसावरण प्रदाह के समान संघर्ष ध्वनि (Friction Sound) भी मिल सकते हैं। बहिःश्वसन (ऊर्ध्वश्वास) दीर्घ और कर्कश होता है। क्ष-किरण चित्र में फुफ्फुसों में छोटे छोटे श्वेत बिन्दु बहुत अधिक मिलते हैं (Diffuse mottling)। रोग विनिश्चय रक्त परीक्षा से होता है—उपसिप्रिय कण

५०-६० % प्रतिशत से ७०-८० % प्रतिशत तक पाये जाते हैं। श्वेतकायाणुओं की संख्या ४०, ००० प्रति घन मिलीमीटर तक हो सकती है।

(६) श्वासनलिकाभिस्तीर्णता, श्वसनिकाभिस्तीर्णता अथवा श्वासनलिका प्रसार *(Bronchiectasis)*— वैसे यह रोग किसी भी आयु में हो सकता है किंतु ३०-४० वर्षीय पुरुषों में अधिक पाया जाता है। अत्यन्त विरल मामलों में यह सहज (जन्मजात) भी हो सकता है किन्तु अधिकतर इसकी उत्पत्ति श्वासनलिकाओं और फुफ्फुसों के रोगों की उपेक्षा करने से होती है। उक्त रोगों का स्राव जब रुका रह जाता है तब उसके सड़ने से श्वासनलिकाओं की दीवारें कमजोर होकर खांसी के समय फैलती उधड़ती तथा टूटती हैं और उनका आकार विवर सदृष हो जाता है। आस पास की फौफ्फुसीय धातु कठोर शोथयुक्त घन अथवा वातोत्फुल्लता युक्त हो जाती है और फुफ्फुस फुफ्फुसावरण से चिपक जाता है। अथवा सड़ाँध से व्रणोत्पत्ति और रक्तष्ठीवन होकर राजयक्ष्मा के समान लक्षण होते हैं। कुछ मामलों में फुफ्फुस विद्रधि, पूयोरस भी हो जाता है। कभी कभी यह रोग सूक्ष्म श्वास नलिकाओं (फुफ्फुसनलिकाओं) तक ही सीमित रहता है उस दशा को फुफ्फुस नलिकाभिस्तीर्णता (*Bronchiolactasis*) कहते हैं।

लगभग सभी मामलों में श्वासनलिका प्रदाह, फुफ्फुनलिका प्रदाह, फुफ्फुसखण्ड प्रदाह अथवा इसी प्रकार के किसी रोग का इतिहास मिलता है। लक्षण क्रमशः उत्पन्न होते हैं और बहुत काल तक यह रोग गुप्त रहा आसकता है। प्रधान लक्षण खांसी है जो सबेरे के समय अधिक कष्ट देती है तथा आवेग के रूप में आती है; करवट बदलने अथवा किसी विशेष करवट से लेटने पर खांसी अधिक आती है। अत्यन्त बदबूदार ष्ठीवन अत्यधिक मात्रा में विशेषतः प्रातःकाल निकलता है। बीच बीच में ज्वर के आक्रमण हुआ करते हैं। पुराने रोगियों में मुद्गरवत अंगुलियां(*Club Fingers*),पीताभता और श्यावता आदि लक्षण पाये जाते हैं और गंभीर प्रकार में श्वासकष्ट भी पाया जाता है। अरुचि, अजीर्ण, निद्रा की कमी आदि लक्षण भी रहते हैं और रोगी क्रमशः अत्यन्त कमजोर होता जाता है तथा किसी एक उपद्रव से पीड़ित होकर मृत्यु का ग्रास बन जाता है। पूयमय फुफ्फुसावरण प्रदाह, पूयोरस, वातपूयोरस, पूयमय हृदयावरण प्रदाह, फुफ्फुस-विद्रधि, फुफ्फुसकर्दम, दोषमयता, पूयमयता आदि प्रधान उपद्रव हैं।

कफ दुर्गन्धित एवं मात्रा में अत्यधिक निकलता है। यदि उसे एक सकरे नुकीले गिलास में रखें तो उसकी ३ तहें बनती हैं। प्रथम ऊपरी तह में फेन युक्त कफ रहता है, दूसरी बीच की तह में हरे से रङ्ग का द्रव रहता है और तीसरी निचली तह में सड़ने की क्रिया से उत्पन्न पदार्थ कफ पूय आदि रहते हैं।

अधिकतर दोनों फुफ्फुस आक्रान्त होते हैं किन्तु कुछ मामलों में एक ही आक्रान्त होता है। और कुछ मामलों में फुफ्फुसों का कुछ सीमित भाग ही आक्रान्त होता है। विकृति अधिकतर फुफ्फुसों के निचले भागों में होती है; शिखर शायद ही कभी प्रभावित होते हैं। बड़े विवर बन जाने पर वह भाग किंचित धंसा हुआ दिखाई देता है और वहां ठेपण करने से मन्द ध्वनि उत्पन्न

श्वासनलिकाभिस्तीर्णता

होती है। श्रवण करने पर श्वास ध्वनि क्षीण प्रतीत होती है और चर्मीय अन्तरित निस्वनन (*Leathery Rales*) मिलते हैं। अन्य चिह्न विवर भरे हुए या खाली होने के अनुसार होते हैं। रोग विनिश्चय (*Lipoiodol*) का अन्तर्भरण करके क्ष-किरण चित्र लेने पर होता है—चित्र में विशेष प्रकार के धब्बे मिलते हैं।

(७) वातोत्फुल्लता, वायुकोष स्फीति, अथवा फुफ्फुस प्रसार (*Emphysema*) इस रोगों में फुफ्फुसों के वायुकोष (*Alveoli*) अत्यधिक प्रसारित या विस्फारित हो जाते हैं। इसके २ प्रकार माने जाते हैं—चिरकारी

● वातोत्फुल्लता ●

और तीव्र। पुनः चिरकारी के ३ और तीव्र के २ भेद हैं—

अ—चिरकारी वातोत्फुल्लता (Chronic-Emphysema)—

(i) परमपौष्टिक या वास्तविक वातोत्फुल्लता (Hypertrophic or True Emphysema)—इस रोग में वायुकोषों की दीवारों का स्वाभाविक लचीलापन नष्ट हो जाता है जिसके कारण वे फूलते हैं किन्तु दबते नहीं और कहीं कहीं फट भी जाते हैं। इसके फलस्वरूप दोनों फुफ्फुसों के आकार में क्रमशः वृद्धि होती जाती है। इसके बहुत से कारण होते हैं जिनमें से मुख्य ये हैं—

(अ) वायुकोषों की जन्मजात या वंशानुगत कमजोरी।

(ब) बलपूर्वक अधोश्वास खींचना जैसा कि श्वासनलिकाओं का किसी बाह्य पदार्थ अथवा स्तंभ (जैसे तमक श्वास में) से अवरोध होने पर होता है अथवा काली खांसी, अन्तराल-विद्रधि, श्वास नलिका-भिस्तीर्णता आदि के कारण होता है। इससे वायु-कोष फूलते हैं।

(स) बलपूर्वक ऊर्ध्वश्वास छोड़ना जैसा कि मुंह से फूंककर बाजे बजाने, कांच ढालने, आग जलाने आदि में करना पड़ता है।

(द) बलपूर्वक श्वास रोकना जैसा कि भार उठाने, प्राणायाम करने आदि में करना पड़ता है।

(इ) वक्ष के आकार और आयतन में अन्तर होना—यह अधिकतर पार्श्वीय तरुणास्थि का समय से पूर्व अस्थीभवन होने अथवा कशेरुकाओं के रोगों अथवा वृद्धावस्था के कारण कुब्जता उत्पन्न होने से होता है।

इन कारणों से कुछ वायुकोष फूलकर फट जाते हैं और इन फटे हुए कई वायुकोषों के मिलने से एक बड़ा वायुकोष बन जाता है। इस प्रकार के बहुत के बड़े वायुकोष दोनों फुफ्फुसों में बनने से उनका आकार बढ़ जाता है। इस क्रिया में फुफ्फुसों की बहुतसी केशवाहिनियां नष्ट हो जाती हैं और जो बचती हैं वे सकरी हो जाती हैं। फुफ्फुसगत रक्त-निपीड़ बढ़ जाता है और उसके फलस्वरुप हृदय के दक्षिण निलय की परमपुष्टि होती है। फुफ्फुसों के फूल जाने से और वायुकोषों का लचीलापन नष्ट हो जाने से फुफ्फुस हमेशा अधोश्वास की स्थिति में रहते हैं, वक्ष बेलनाकार (Barrel shaped) हो जाता है, श्वास-क्रिया के उतार चढ़ाव बहुत कम होते हैं, अधोश्वास बलपूर्वक लेना पड़ता है और ऊर्ध्वश्वास देर तक चलता है। रक्त में वायु का सम्मिश्रण भलीभांति न होने के कारण श्वासकष्ट और श्यावता की उत्पत्ति होती है।

रोग गुप्त रूप से बढ़ता रहता है और लक्षणों की उत्पत्ति स्पष्ट रूप से तभी होती है जब रोग काफी बढ़ चुकता है। थोड़ा श्वास-कष्ट लगभग सदैव उपस्थित रहता है किन्तु परिश्रम करने से अथवा श्वासनलिका प्रदाह, तमक श्वास आदि का आक्रमण होने पर बढ़ जाता है। श्यावता और मुद्गरवत् अंगुलियां अधिकांश मामलों में पायी जाती हैं। रोगी अधिक कष्ट का अनुभव नहीं करता और थोड़ा बहुत काम-काज करता रह सकता है। यकृत और प्लीहा कुछ नीचे की ओर हटे हुए तथा पुराने मामलों में कुछ बढ़े हुए मिलते हैं। इस रोग के साथ तमक श्वास अधिकतर पाया जाता है और श्वास-नलिका प्रदाह, फुफ्फुस खण्ड प्रदाह, दक्षिण हृदय अप्रवाह, फौफ्फुसीय राजयक्ष्मा, वातोरस्, तीव्र वातोत्फुल्लता आदि रोग उपद्रवस्वरूप हो सकते हैं। फुफ्फुस-खण्ड प्रदाह प्रायः मारक होता है।

वक्ष फूला हुआ बेलनाकार रहता है और श्वास-प्रश्वास के उतार-चढ़ाव अल्प होते हैं। अक्षकास्थि के ऊपर के खात कम गहरे रहते हैं और कुछ मामलों में वहां उभार भी पाया जा सकता है। गले की शिरायें फूली हुई रहती हैं। वक्ष-परीक्षा यंत्र से परीक्षा करने पर वाचिक लहर, वाचिक प्रतिस्वनन और श्वास-ध्वनि क्षीण मिलती हैं, ठेपण ध्वनि परम प्रतिस्वनिक रहती है, अधोश्वास लघु किन्तु ऊर्ध्व-श्वास दीर्घ रहता है तथा शुष्क रव और अन्तरित निस्वनन सुनाई पड़ते हैं।

रोग शीघ्र मारक नहीं है किन्तु पूर्णस्वास्थ्य लाभ असम्भव है।

(*ii*) अपौष्टिक अथवा शोषज वातोत्फुल्लता (*Atrophic Emphysema*)—यह वृद्धावस्था में होने वाली एक स्वाभाविक विकृति है। वृद्धावस्था के कारण फुफ्फुसों में होने वाले शोष सम्बन्धी परिवर्तनों के फलस्वरूप छोटे-छोटे विस्फोट उत्पन्न होते हैं। फुफ्फुस सुकड़कर छोटे होजाते हैं। और वक्ष पिचक जाता है। प्रधान लक्षण श्वासकष्ट (क्षुद्र-श्वास) है जो क्रमशः बढ़ता जाता है। अधिकतर चिरकारी श्वास-नलिका प्रदाह भी उपस्थित रहता है जिसके कारण खांसी आती है और कफ-पूय युक्त ष्ठीवन निकलता है।

वक्ष प्रायः भरा हुआ रहता है और अधोश्वास के समय बहुत थोड़ा फूलता है। ऊर्ध्वश्वास अपेक्षाकृत लम्बा होता है। वक्ष-परीक्षा यंत्र से श्रवण करने पर श्वास-ध्वनि और वाचिक लहर मन्द मिलती है तथा ठेपण प्रतिस्वनन बढ़ा हुआ मिलता है।

(*iii*) पूरक वातोत्फुल्लता (*Compensatory Emphysema*)—यह रोग फुफ्फुसखण्ड प्रदाह, फुफ्फुसावरण प्रदाह, फुफ्फुसखण्ड निपात, तन्तूकर्ष राजयक्ष्मा या अर्बुद की उपस्थिति में लाक्षणिक रूप से उत्पन्न होता है। फुफ्फुस का स्वस्थ भाग अधिक वायु ग्रहण करने से फूल जाता है ताकि अस्वस्थ भाग के कार्य न करने से जो क्षति हो रही है उसकी पूर्ति होसके।

लक्षण प्राथमिक व्याधि के ही पाये जाते हैं किन्तु श्वासकष्ट बढ़ जाता है। यदि यह दशा अधिक काल तक रहे तो स्थायी वातोत्फुल्लता होजाती है अन्यथा मूल-रोग की शान्ति के साथ यह भी शान्त होजाती है।

ब—तीव्र वातोत्फुल्लता (*Acute Emphysema*)

(*i*) तीव्र वायुकोषीय वातोत्फुल्लता (*Acute Vesicular Emphysema*)—काली खांसी, तमक श्वास और कभी-कभी फुफ्फुसनलिका प्रदाह में खांसी के बाद एकाएक जोर लगाकर लम्बा अधोश्वास खींचने से वायुकोष अत्यन्त प्रसारित होजाते हैं और फिर संकीर्ण श्वास नलिकाओं में से वह वायु कठिनाई से लौट पाती है। इससे एकाएक गंभीर श्वासावरोध अथवा श्वासकष्ट होता है जो कभी-कभी मृत्युकारक होसकता है। क्ष-किरण चित्र लेने पर उसमें फुफ्फुसों की छाया धुंधली (विरलीभूत *Rarefied*) मिलती है—निदानात्मक चिह्न।

(*ii*) तीव्र आन्तरिक वातोत्फुल्लता (*Acute Interstitial Emphysema*)—अत्यन्त परिश्रम युक्त खेलकूद, व्यायाम, युद्ध, भार उठाना, तीव्र वेगयुक्त खांसी आदि के समय पर कुछ वायुकोष अत्यन्त प्रसारित होकर फट जाते हैं और वायु फुफ्फुसों की संयोजक धातु, अन्तराल, ग्रीवा, वक्ष आदि की पेशियों में प्रविष्ट होजाती है जिससे वहां उभरा हुआ शोथ उत्पन्न होता है। रोगी एकाएक घोर श्वासकष्ट से पीड़ित होता है तथा साथ ही वक्ष, ग्रीवा आदि में पीड़ा या तनाव का अनुभव होता है। यदि शोथ को दवाया जावे तो चरचराहट की आवाज उत्पन्न होती है। कुछ दिनों में वायु चूषित होजाती है और शोथ विलीन होजाता है।

लगभग इसी प्रकार की दशा वक्ष में छुरी गोली आदि लगने से, पर्शुकास्थि का भग्न होने से और कण्ठनलिका के शल्य कर्म (*Trecheotomy*) के उपद्रव स्वरूप होता है।

(८) श्वासनलिका अवरोध ((*Bronchial Obstruction*)—सूक्ष्म श्वासनलिकाओं का अस्थायी अवरोध फुफ्फुसनलिका प्रदाह और तमक श्वास में होता है। इनका वर्णन पीछे होचुका है।

मध्यम और बड़ी श्वासनलिकाओं का अवरोध तीन कारणों से होता है-(*i*) वाह्य पदार्थ अथवा श्वासनलिकाश्मरी (*Broncholith*) $ के द्वारा, (*ii*) व्रणवस्तु, तन्तूत्कर्ष, नववृद्धि अथवा स्तंभ (*Spasm*) के कारण और (*iii*) वाहर से किसी ग्रन्थि, अर्बुद या धमन्यभिस्तीर्णता के दवाव से।

(i) वाह्य पदार्थ और श्वासनलिकाश्मरी—बच्चे और पागल व्यक्ति प्रमादवश अनेक प्रकार की चीजें निगल जाते हैं जो अधिकतर अन्न-प्रणाली में प्रविष्ट होती हैं किन्तु कभी कभी श्वासमार्ग में भी प्रविष्ट हो जाती हैं। भोजन करते समय वातचीत करने, हंसने आदि से भोजन अन्न नलिका के वजाय श्वासमार्ग में प्रविष्ट हो जाता है। इन दोनों प्रकार की घटनाओं का इतिहास मिलता है किन्तु श्वासनलिकाश्मरी अनजाने में ही श्वासनलिका में प्रविष्ट हो जाती है। कोई भी वाह्य पदार्थ हो वह अधिकतर दाहिनी श्वासनलिका में प्रविष्ट होता है क्योंकि यह चौड़ी और सीधी रहती है। प्रविष्ट होते ही खांसी का तीव्र प्रावेग उत्पन्न होता है और अधिकांश मामलों में वह पदार्थ खांसी के वेग के साथ बाहर आ जाता है। किन्तु यदि दुर्भाग्यवश न निकल सका तो नीचे उतरकर किसी छोटी (मध्यम) श्वासनलिका में फंस जाता है। यदि वह पदार्थ छोटा और चिकना हो तथा २४ घण्टों के भीतर निकाल लिया जावे अथवा स्वयं निकल जावे तो कोई उपद्रव नहीं होता किन्तु यदि दुर्भाग्यवश ऐसा न हो सका तो उस नलिका से संवंधित फुफ्फुस के भाग का निपात होकर पूयकारी फुफ्फुसखण्ड प्रदाह और उसके वाद फुफ्फुस-विद्रधि या फुफ्फुस कर्दम होता है। यदि प्रभावित श्वासनलिका का पूर्ण अवरोध न हुआ हो अर्थात् वायु के आवागमन के लिये कुछ मार्ग शेष हो तो पूयकारी श्वासनलिका प्रदाह होता है और पूयमय स्राव भीतर ही रुका रहता है; इसके वाद फुफ्फुस नलिका प्रदाह, श्वासनलिकाभिस्तीर्णता अथवा फुफ्फुस में तन्तूत्कर्ष होता है।

वड़े आकार के वाह्य पदार्थ के द्वारा कण्ठनलिका (Trachea) पूर्णतया अवरुद्ध होने से तत्काल मृत्यु हो जाती है (पूर्ण श्वासावरोध होने से)। मध्यम

$ श्वासनलिकाश्मरी (*Broncholith*)-लसग्रंथियों का प्रदाह होने के वाद यदि स्राव न हो तो कुछ काल में उनके भीतर स्थित पूय आदि का चूर्णीभवन (*calcification*) होकर अश्मरी वन जाती है। श्वासनलिका के आस-पास की ग्रंथियों में जव इस प्रकार की अश्मरी बन जाती है तब कुछ काल में अपने भार से ग्रंथि की दीवारों को फाड़कर वह श्वासनलिका में उतर जाती है। उस समय इसका नाम श्वासनलिकाश्मरी हो जाता है। यह अश्मरी वाह्य पदार्थों के समान ही श्वासनलिकाओं का अवरोध करती है।

आकार के बाह्यपदार्थ के प्रवेश से अत्यन्त गंभीर प्रकार का श्वासकष्ट होता है। जब वह पदार्थ नीचे उतर कर किसी छोटी या मध्यम श्वासनलिका में पहुँच जाता है तब यह श्वासकष्ट दूर हो जाता है। इसके बाद कई दिनों या सप्ताहों तक कोई लक्षण उत्पन्न नहीं होते। फिर वक्ष में पीड़ा और जोरदार प्रावेगी कास की उत्पत्ति होती है। खांसी के साथ बहुत बड़ी मात्रा में कफ या बदबूदार पूय-मिश्रित कफ निकलता है और कभी कभी उसके साथ ही बाह्य पदार्थ भी निकल जाता है। ज्वरोत्पत्ति प्रायः सभी मामलों में होती है। छोटे आकार के बाह्यपदार्थ से प्रारम्भ में कोई विशेष लक्षण नहीं होते किन्तु कुछ काल बाद श्वासकष्ट (हांफी) की उत्पत्ति होती है और उसके बाद विचित्र प्रकार का (Atypical) फुफ्फुसखण्ड प्रदाह होता है थोड़े जो थोड़े समय के अन्तर से घटता बढ़ता रहता है।

निदान श्वासनलिका-वीक्षण यंत्र (Bronchoscope) से परीक्षा करने पर अथवा क्ष-किरण चित्र से होता है।

(ii) व्रणवस्तु, तन्तूत्कर्ष या नव वृद्धि (अधिकतर कर्कटार्बुद) के कारण श्वासनलिका में सकरापन आजाता है। व्रण वस्तु या तन्तूत्कर्ष अभिघातज हो सकता है अथवा फिरंग, सौत्रिक राजयक्ष्मा, सामान्य चिरकारी प्रदाह आदि के कारण उत्पन्न हो सकता है। स्तंभ वातनाड़ियों की विकृति या प्रक्षोभ से होता है इसका वर्णन तमक-श्वास प्रकरण में हो चुका है।

इन सब कारणों से गीली या शुष्क खांसी के साथ श्वासकष्ट उत्पन्न होता है और फौफ्फुसीय निपात के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

(iii) श्वासनलिकाओं के पड़ोस के किसी भी स्थान में लसग्रन्थियों की वृद्धि, अर्बुदोत्पत्ति या धमन्य भिस्तीर्णता होने से श्वासनलिकाओं पर दबाव पड़कर श्वासकष्ट और खांसी की उत्पत्ति होती है तथा मूलभूत रोग के भी लक्षण उपस्थित रहते हैं।

(६) फुफ्फुसगत रक्ताधिक्य (Pulmonary Congestion)—

(i) धमनीगत रक्ताधिक्य (Active Hyperaemia)--क्षोभक धूल, धुएं, गैस आदि का प्रवेश श्वासमार्ग में होने से; श्वास-नलिका, फुफ्फुस या फुफ्फुसावरण के प्रदाह-युक्त रोगों में अथवा फौफ्फुसीय अन्तःस्फान, फुफ्फुसावरण में द्रव या वायु का संचय अथवा फुफ्फुस में घनीभवन होने के फलस्वरूप श्वासनलिका और फुफ्फुस में स्थित क्षुद्र धमनियां रक्त से भरकर तन जाती हैं। इसके कारण कास और ज्वर की उत्पत्ति होती है। कास के साथ अल्पाधिक मात्रा में कफ या रक्तमिश्रित ष्ठीवन निकलता है। मूलभूत रोग के लक्षण भी उपस्थित रहते हैं।

(ii) शिरागत रक्ताधिक्य (Passive Hyperaemia)–चिरकारी श्वास-नलिका-प्रदाह, वातोत्फुल्लता फौफ्फुसीय तन्तूत्कर्ष, धमन्यभिस्तीर्णता या बढ़ी हुई ग्रन्थि का दबाव, फौफ्फुसीय शिराओं में घनास्रता आदि कारणों से फुफ्फुस की शिराओं का अवरोध होकर अथवा द्विपत्रक-संकोच (Mitral Stenosis), अलिन्दीय तन्तु-प्रकम्प (Auricular fibrillion), रक्ताधिक्य हृदयातिपात (Congestive Heart-failure), सहज हृत्कपाटीय रोग आदि के कारण हृदय में रक्त न लौटने के कारण अथवा वृद्ध या दुर्बल रोगियों में शय्या पर पड़े रहने के कारण फुफ्फुसों की शिराओं और केशवाहिनियों में रक्ताधिक्य होकर तनाव उत्पन्न होता है। वायुकोषों में द्रव भर जाता है और फुफ्फुस अधिक ठोस हो जाते हैं। फुफ्फुसों का रंग प्रारंभ में लाल रहता है किन्तु रोग पुराना होने पर शोणवर्तुलि में परिवर्तन होने के कारण बादामी हो जाता है। यद्यपि फुफ्फुस में कुछ न कुछ शोथ अवश्य हो जाता है तथापि वह जल में डालने पर डूबता नहीं। रक्ताधिक्य दोनों फुफ्फुसों के पूरे भाग में रहता है किन्तु तलभाग में अधिक रहता है। रोग पुराना होने पर वायु-

कोषों के बीच की संयोजक धातु मोटी पड़ जाती है।

मूलभूत रोग के लक्षणों के साथ क्षुद्रश्वास, कास, श्यावता आदि की उत्पत्ति होती है। खांसी के साथ फेनयुक्त अथवा पतला ष्ठीवन निकलता है। उपद्रवस्वरूप अक्सर फुफ्फुस-शोथ अथवा फौफ्फुसीय अन्तःस्फान हो जाता है। क्ष-किरण चित्र में फुफ्फुसों की छाया अपेक्षाकृत गहरे वर्ण की मिलती है और शिराओं के चिह्न दिखाई पड़ते हैं।

(१०) फुफ्फुस शोथ (Pulmonary Oedema)—

(i) चिरकारी प्रकार—इसकी उत्पत्ति फुफ्फुसगत शिरागत रक्ताधिक्य अथवा सर्वांगशोथ के फलस्वरूप होती है। इसके कारण श्वासकष्ट, खांसी, श्यावता आदि लक्षण होते हैं। फेनयुक्त पतला अथवा रक्तमिश्रित ष्ठीवन निकलता है। मूलभूत व्याधि के लक्षण भी उपस्थित रहते हैं। फुफ्फुसों के तलभाग में ठेपण से मन्दध्वनि उत्पन्न होती है और बहुत सी बुद्-बुदवत् ध्वनियां सुनाई देती हैं।

(ii) तीव्र प्रकार—यह रोग अत्यन्त गंभीर प्रकार का है किन्तु बहुत कम पाया जाता है। अधिकतर ४० वर्ष से अधिक आयु की स्त्रियां इससे आक्रांत होती हैं। इस रोग में फुफ्फुसों की केशवाहिनियों में से तीव्र गति से द्रव निकलकर वायुकोषों में भरता है। मृत्युत्तर परीक्षा में फुफ्फुस रक्तहीन भारी और भरे हुए मिलते हैं, दबाने पर गड्ढा पड़ता है और काटने पर बड़ी मात्रा में स्वच्छ या रक्तरंजित फेनयुक्त द्रव निकलता है। इस रोग की उत्पत्ति निम्नलिखित कारणों से होती है—

(१) विपाक्तता—वृक्क प्रदाह मधुमेह अथवा सगर्भता के आभ्यन्तर विषों से अथवा जम्बुकी (आयोडीन, *Iodine*), अहिफेन, मद्य, बारविच्युरेट (*Barbiturates*) आदि बाह्य विषों के सेवन के फलस्वरूप।

(२) प्रक्षोभ—क्लोरीन, फौसजीन आदि क्षोभक गैसों के श्वासमार्ग में प्रविष्ट होने से।

(३) हृदयातिपात—अचानक जैसे हार्दिक तमक श्वास में अथवा क्रमशः जैसे रक्ताधिक्यज हृदयातिपात हृद्धमनी घनास्रता अथवा फौफ्फुसीय अन्तःस्फान की दशाओं में।

(४) वाहिनी नाड़ी शोथ (*Angio-neurotic-Oedema*)।

(५) फुफ्फुसावरण में से तेजी से द्रव निकालने के उपद्रव स्वरूप अथवा—

(६) तीव्र संक्रामक रोगों के मारक उपद्रव स्वरूप।

इस रोग का आक्रमण अचानक और बहुधा रात्रि में होता है। अचानक गंभीर श्वासकष्ट, तीव्र वेगयुक्त कास और श्यावता की उत्पत्ति होती है। खांसी के साथ फेनयुक्त रक्तरंजित द्रव बड़ी मात्रा में निकलता है। कुछ मामलों में यह द्रव मुंह और नाक से बहता है। यह दशा कुछ मिनटों या घण्टों तक रहती है। यदि देर तक रहे तो गंभीर निपात और मूर्च्छा होकर मृत्यु हो जाती है।

नाड़ी कमजोर एवं तीव्रगामिनी रहती है और तापक्रम सामान्य से कम रहता है। त्वचा पीताभ और स्वेद युक्त रहती है। चेहरे पर तथा नाखूनों आदि में श्यावता रहती है। फुफ्फुसों की परीक्षा करने पर तल भाग में ठेपण ध्वनि और वाचिक लहर क्षीण मिलती हैं, श्वासध्वनि कर्कश एवं वायुकोषीय प्रकार की रहती है और बुद्-बुद्वत् अन्तरित निस्वनन सुनाई पड़ते हैं।

(११) कणसंचयज फुफ्फुस-तन्तूत्कर्ष, फुफ्फुसकणोत्कर्ष अथवा फुफ्फुसों में कण संचय (*Pneumoconiosis or Dust Disease of the Lungs*)—दीर्घकाल तक श्वास के साथ धूल अथवा किसी भी पदार्थ के कणों या रेशों का फुफ्फुस में प्रवेश होते रहने से प्रक्षोभ होकर सौत्रिक तन्तुओं की उत्पत्ति होती है। पदार्थों की विभिन्नता के अनुसार फुफ्फुसों में होने वाले परिवर्तनों में विशिष्टता रहती है, इस लिए उनके अनुरूप इस रोग के भिन्न नाम हैं—

(i) खदान से कोयला निकालने, कोयला ढोने, बेचने या मशीनों में झोंकने वालों के फुफ्फुसों में कोयले के कण प्रविष्ट होकर फुफ्फुसों का रंग काला कर देते हैं—कज्जलकण-संचयज फुफ्फुसतन्तूत्कर्ष (*Anthra cosis*)।

(ii) लोह, ताम्र, नाग और वंग के कारखानों में या खदानों में काम करने वालों के फुफ्फुसों में इन धातुओं के कण पहुँच कर फुफ्फुसों का रंग लालिमा युक्त बादामी (*Reddish-brown*) कर देते हैं—धातुकण-संचयज फुफ्फुस तन्तूत्कर्ष (*Siderosis*)।

(iii) कांच, अकीक या स्लेट बनाने का काम तथा मिट्टी या रेत सम्बन्धी काम करने वाले तथा धूलयुक्त सड़कों पर अत्यधिक चलने वाले लोगों के फुफ्फुसों में रेत एवं मिट्टी के कण पहुँचकर फुफ्फुसों का रंग भूरा सा (धूसर, Grey) कर देते हैं—सिकता-संचयज फुफ्फुस-तन्तूत्कर्ष (Silicosis)।

(i*v*) खटमग्न (एसबैस्टस Asbestos) के रेशों के संचय से होने वाले रोग को खटमग्न-तन्तु संचयज फफ्फुस तन्तूत्कर्ष (Asbestosis) कहते हैं।

(*v*) रुई धुनने वालों के फुफ्फुसों में रुई के रेशों का संचय हो जाता है। इसे कार्पासतन्तु-संचयज फुफ्फुसतन्तूत्कर्ष (Byssinosis) कहते हैं।

लगातार प्रक्षोभ रहने से श्वास-नलिकाओं की उपकला नष्ट हो जाती है और कण लसवाहिनियों के द्वारा फुफ्फुसों की संयोजक धातु में पहुंचते हैं। इसके फलस्वरूप श्वास नलिकाओं और वायुकोषों के आसपास सौत्रिक तन्तुओं की उत्पत्ति होती है जो ग्रंथियुक्त अथवा विकीर्ण आन्तरिक (Nodular or diffuse interstitial) प्रकार की होती है। श्वासनलिकीय ग्रंथियों में भी सौत्रिक तन्तुओं की उत्पत्ति हो जाती है जिससे वे बड़ी और कठोर हो जाती हैं। श्वास नलिकाओं की अभिस्तीर्णता भी हो जाती है। रेत के सूक्ष्म कणों और खटमग्न के रेशों से लक्षणों की उत्पत्ति अपेक्षाकृत शीघ्र एवं अधिक स्पष्ट होती है। फिर भी रोग के विकास के लिये कई वर्षों तक धूलयुक्त वातावरण में रहना आवश्यक होता है। यदि श्वास-संस्थागत रोग जैसे चिरकारी श्वास नलिका प्रदाह, फुफ्फुसावरण प्रदाह या वातोत्फुल्लता पहले से उपस्थित हों तो रोगोत्पत्ति की संभावना अधिक रहती है।

लक्षण और चिह्न अनिश्चित रहते हैं। अधिकांश मामलों में श्वास-नलिका प्रदाह के लक्षणों—कास और श्वासकष्ट से रोग का आरंभ होता है। ये लक्षण और कमजोरी उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होते हैं। रोग पुराना होने पर वातोत्फुल्लता और तन्तूत्कर्ष के लक्षण और चिह्न भी उत्पन्न हो जाते हैं। कुछ मामलों में श्वास-नलिकाभिस्तीर्णता, हृदयविस्फार, फुफ्फसावरण में संलागों की उत्पत्ति, राजयक्ष्मा आदि रोग भी उत्पन्न होते हैं।

क्ष-किरण चित्र में तन्तूत्कर्ष के चित्र लक्षित होते है। ष्ठीवन में कारणभूत कण या रेशे पाये जाते हैं। रोगविनिश्चय रोगी के धंधे पर से किया जाता है।

(१२) श्वासमार्गीय अर्बुद (Pulmonary Neoplasms)—

सौम्य अर्बुद (Benign Tumours)—ये अधिकतर श्वास-नलिका में उत्पन्न होते हैं किन्तु अत्यन्त विरल हैं। ग्रन्थ्यर्बुद अपेक्षाकृत कम विरल है। इनसे श्वासकष्ट और कास की उत्पत्ति होती है। निदान अपारदर्शक पदार्थ का अन्तर्भरण करके क्ष-किरण चित्र लेने पर होता है।

घातक अर्बुद (Malignant Tumour)—यह अधिकतर कर्कटार्बुद होता है और श्वास-संस्थान के किसी भी भाग में हो सकता है। तम्बाखू आदि विषाक्त पदार्थों के धूम्र तथा इसी प्रकार के अन्य प्रक्षोभक कारणों से प्राथमिक और स्तन, आमाशय, अग्न्याशय, यकृत, वृक्क, जननेन्द्रिय आदि के कर्कटार्बुद के विस्तार के फलस्वरूप द्वितीयक

कर्कटार्बुद की उत्पत्ति होती है। प्रौढ़ और वृद्ध पुरुषों में इसकी संभावना पर हमेशा विचार करना चाहिये। प्राथमिक कर्कटार्बुद प्रायः एक ही ओर (पुरुषों में प्रायः दाहिने फुफ्फुस में) होता है किन्तु द्वितीयक दोनों ओर एवं कई स्थानों पर होता है।

प्रारम्भ में अनिश्चित लक्षण होते हैं; अधिकांश रोगियों में उत्तरोत्तर निर्बलता, कृशता और रक्तक्षय; कास, अनियमित हल्का ज्वर आदि लक्षण पाये जाते हैं। कुछ मामलों में रक्तष्ठीवन पाया जाता है। अर्बुद काफी बढ़ चुकने पर निश्चित लक्षण उत्पन्न होते हैं जो आक्रान्त स्थल के अनुरूप होते हैं। फुफ्फुस प्रभावित होने पर श्वास-कष्ट और कास प्रधान लक्षण होते हैं, ष्ठीवन विशेष प्रकार का चिपकीला या रक्तमिश्रित (गाढ़ा या पतला) होता है। कभी कभी अर्बुद का उभार बाहर प्रकट होता है किन्तु यदि मुख्य श्वासनलिका का अवरोध हो जावे तो संबंधित भाग का निपात होकर वक्ष का वह भाग भीतर की ओर धंस जाता है और श्वासध्वनि क्षीण होकर घर्घरयुक्त अथवा नलिकीय प्रकार की हो जाती है तथा वाचिक लहर की वृद्धि होती है। किसी भी श्वासनलिका का पूर्ण अवरोध होने से संबंधित भाग में निपात, प्रदाह, श्वासनलिकाभिस्तीर्णता एवं विद्रधि की उत्पत्ति होती है, अपूर्ण अवरोध होने से वातोत्फुल्लता होती है, और क्षरण होने से रक्तष्ठीवन होता है। कण्ठनलिका प्रभावित होने से स्वरयंत्र का घात होता है। अन्ननलिका प्रभावित होने से निगलने में कष्ट होता है। फुफ्फुसावरण प्रदाह और रक्तोरस् (Haemothorax) होता है। महाप्राचीरा पेशी प्रभावित होने से फुफ्फुसावरण प्रदाह, रक्तोरस् अथवा पायसोरस् (Chylothorax) होता है, और हिक्का, स्थानिक पीड़ा और शोथ आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। अर्बुद का मृद्वीभवन (Softening) होने से विद्रधि और नाड़ीव्रण की उत्पत्ति होती है।

फुफ्फुस शिखर का अर्बुद पर्शुका का क्षरण और वातनाड़ियों पर दबाव के लक्षण उत्पन्न करता है। सौषुम्न नाड़ियों के सम्पीड़न से कंधे और बाहु में पीड़ा और शोष (मांसक्षय) होता है। ग्रैवेयक स्वतन्त्र नाड़ियों (Cervical sympethetics) पर दबाव पड़ने से वर्त्मघात (पलक मारने की क्रिया का नाश), बहिर्नेत्रता (नेत्रगोलक उभरा हुआ होना), कनीनिका-संकोच (नेत्र की पुतली छोटी होना), चेहरे की पेशियों का प्रदाह और प्रस्वेद आना आदि लक्षण होते हैं--हौर्नर का संरूप (Horner's syndrome)। पर्शुकाओं और कशेरुकाओं का लक्षण होने से गंभीर स्थानिक पीड़ा होती है।

निदान अवस्था, लक्षण और क्ष-किरण चित्र के द्वारा होता है। यदि क्ष-किरण चित्र में अर्बुद लक्षित न हो तो अपारदर्शक पदार्थ का अन्तःक्षेपण करके चित्र लेना चाहिये।

(१३) शैशवीय तमक श्वास अथवा कासवेगी स्वरयंत्र स्तंभ (Croup)—यह रोग २ से ५ वर्ष तक के बालकों में पाया जाता है। स्वरयंत्र तथा श्वासमार्ग की पेशियों के स्तंभ से इसकी उत्पत्ति होती है, कारण अनिश्चित है। अधिकतर कमजोर एवं अस्थिक्षय से पीड़ित बालक इससे आक्रान्त होते हैं।

सोने के पूर्व बालक के स्वास्थ्य में कोई स्पष्ट विकृति नहीं रहती किन्तु रात्रि में लगभग ११ बजे अथवा किसी भी समय वह एकाएक श्वासकष्ट से पीड़ित होकर जाग जाता है। इसके साथ ही अत्यन्त कर्कश प्रकार की खांसी का दौरा आता है जिससे श्वास लेना और भी कठिन हो जाता है। चेहरा लाल हो जाता है और श्यावता की उत्पत्ति हो सकती है। कुछ देर में दौरा शान्त हो जाता है और बालक सो जाता है। प्रायः एक रात्रि में एक ही बार आक्रमण होता है और कई दिनों तक लगातार इस प्रकार के आक्रमण हो सकते हैं किन्तु यह रोग प्रायः घातक नहीं होता।

स्वरयंत्र प्रदाह, रोहिणी आदि के कारण झिल्ली की उत्पत्ति, काली खांसी, गलतुण्डिका वृद्धि, कण्ठशालूक-वृद्धि, अर्बुदोत्पत्ति, बाह्य पदार्थ की उप-

स्थिति आदि कारणों से भी कभी कभी इसी प्रकार के लक्षण उत्पन्न होते हैं। विभेद इतिहास और कण्ठ परीक्षा से हो जाता है।

(१४) घर्घरयुक्त स्वरयंत्र स्तंभ (Leryngismus stridulous) यह रोग ६ माह से २ वर्ष तक के बालकों में पाया जाता है। अस्थिक्षय, गलतुण्डिका वृद्धि, कण्ठशालूक वृद्धि, अपतानिका (Tetany) आदि रोगों से ग्रस्त दुर्बल बालक अधिकतर आक्रान्त होते हैं। यह स्वरयंत्र का स्तंभ या उद्वेष्ठन (Spasm) है और शुद्ध वातिक रोग है। स्वरयंत्र पूर्णतया-अविकृत रहता है।

इसका आक्रमण दिन या रात्रि में कभी भी हो सकता है। अधिक भोजन, उत्तेजना, भय, मार-पीट आदि से प्रावेग की उत्पत्ति में सहायता मिलती है। स्तंभ होते ही अधोश्वास लेने में कठिनाई होती है और निचली पशुकाओं के पास की पेशियां भीतर की ओर खिंचती हैं। फिर कुछ देर के लिये पूर्ण श्वासावरोध होता है। बालक श्वास लेने के लिये बुरी तरह छटपटाता है। इस समय आक्षेप आ सकता है या, हाथ-पैरों में अकड़न हो सकती है। चेहरा रक्तवर्ण या श्याववर्ण हो जाता है। अन्त में एक जोरदार आवाज के साथ वायु श्वासमार्ग में प्रविष्ट होती है और प्रावेग शान्त हो जाता है। इसके बाद बालक पूर्णरूपेण स्वस्थ हो जाता है। इस प्रकार के प्रावेग दिन रात में कई बार आ सकते हैं। यदि प्रावेग देर तक रहे तो फुफ्फुसों का निपात होकर मृत्यु हो सकती है किन्तु प्रायः ऐसा नहीं होता। इस रोग की सबसे बड़ी विशेषता और विभेदक लक्षण यह है कि इसमें खांसी और स्वर-भेद नहीं रहते।

कुछ समय पूर्व इस रोग का सम्बन्ध बालग्रैवे-यक-ग्रन्थि (Thymus gland) की वृद्धि से जोड़-कर ईसे 'बालग्रैवेयक तमक-श्वास' (Thymic asthma) के नाम से पुकारा जाता था।

: १२ :

स्वरभेद

निदान और भेद

अत्युच्चभाषणविषाध्ययनाभिघात-
संदूषणैः प्रकुपिताः पवनादयस्तु।
स्रोतःसु ते स्वरवहेषु गताः प्रतिष्ठां
हन्युः स्वरं भवति चापि हि षड्विधः सः ॥१॥

अत्यन्त ऊंचे स्वर में भाषण करना, पढ़ना, विषसेवन, अभिघात और दोषप्रकोपक कारणों से कुपित वातादि दोष स्वरवह स्रोतों में स्थित होकर स्वर का नाश करते हैं—यह रोग (स्वरभेद रोग) छः प्रकार का होता है।

वक्तव्य—(१२४) विष—सभी वाचिक नाड़ियों पर प्रभाव डालकर स्वरभेद उत्पन्न करते हैं किन्तु दाहक विष सीधे स्वरयन्त्र पर प्रभाव डालकर तुरन्त ही स्वरभेद की उत्पत्ति करते हैं।

अभिघात--हाथ-पैरों को छोड़कर शेष सभी स्थानों पर लगने वाले अभिघातों से स्वरभेद होता है किन्तु गले, वक्ष, मुख, नासिका और मस्तक पर लगने वाले आघात विशेष रूप से स्वरभेद-कारक हैं।

संदूषणैः—दोष प्रकोपक कारण प्रतिश्याय आदि उत्पन्न करके स्वभेद की उत्पत्ति करते हैं।

पवनादयस्तु—स्वरोत्पत्ति यद्यपि अन्य शारीरिक क्रियाओं की भांति तीनों दोषों के अधीन है तथापि उसमें वायु का महत्व सर्वाधिक वातनाड़ियों की आज्ञा से फुफ्फुसादि के द्वारा विशेष रीति से त्यक्त-वायु स्वरयंत्र में से निकलकर शब्द उत्पन्न करती है,

फिर मुख, नासिका आदि की क्रियाओं से उस शब्द में परिवर्तन होकर स्वर की उत्पत्ति होती है। इसलिए यह निश्चित है कि इस रोग में अधिकतर वायु प्रकोप ही विशेष रूप से प्रधान होता है।

स्वरवहेषु स्रोतःसु—सुश्रुत के मतानुसार स्वरवह स्रोत ४ हैं—'द्वाभ्यां भाषते, द्वाभ्यां घोषं करोति' अर्थात् 'मनुष्य दो से बोलता और दो से चिल्लाता है।' इन स्रोतों के वातादि दोषों से दूषित होने पर स्वरभेद की उत्पत्ति होती है।

हन्युःस्वरं—इससे इस रोग में वाचिक विकृतियों के साथ ही मूकत्व का भी समावेश हो जाता है।

(वाताविभिः पृथक् सर्वैर्मेदसा च क्षयेण च।)

वातादि दोषों से पृथक् पृथक् तथा सम्मिलित रूप से मेदरोग से और क्षय रोग से।

वक्तव्य—(१३५) यह रोग ६ प्रकार का होता है—वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, मेदोज और क्षयज।

उपर्युक्त वर्गीकरण सुश्रुत के मतानुसार है। चरक का वर्गीकरण इससे भिन्न है—'वातपित्तात्कफाद्रक्तात्कासवेगात् स पीनसात्' अर्थात् 'वात से, पित्त से, कफ से, रक्त से, खांसी के वेग से और प्रतिश्याय से'—इस प्रकार स्वरभेद ६ प्रकार का है।

वातज स्वरभेद

वातेन कृष्णनयनाननमूत्रवर्चा
भिन्नंशनैर्वदति गर्दभवत् खरं च।

वात से कृष्णाभ नेत्र, मुख, मूत्र और मल वाला रोगी फटी हुई और गधे के समान कर्कश आवाज में रुक रुक कर बोलता है।

वक्तव्य—(१३६)—नेत्र, मुख आदि में कृष्णता का उल्लेख करने का तात्पर्य यह है कि वातप्रकोप के लक्षण सारे शरीर में मिलते हैं। वातप्रकोप के अन्य लक्षणों का समावेश भी इसमें ही हो जाता है।

पित्तज स्वरभेद

पित्तेन पीतनयनाननमूत्रवर्चा
ब्रूयाद्गलेन स च दाहसमन्वितेन ॥२॥

पित्त से पीताभ नेत्र, मुख और मल वाला रोगी गले से बोलता है और गला दाहयुक्त रहता है।

वक्तव्य—(१३७) यहां भी नेत्र, मुख आदि की पीतता पित्त प्रकोप के सार्वांगिक लक्षणों का प्रतिनिधित्व करती है।

पित्तज स्वरभेद का रोगी गले से बोलता है अर्थात् बोलते समय गले की पेशियों से अपेक्षाकृत अधिक काम लेता है। चरक के मत से 'तालुकण्ठ परिप्लोषः पित्ताद्वाक्तुमसूयते' अर्थात् 'पित्त से तालु और कण्ठ में दाह होती है तथा बोलने में कष्ट होता है।

कफज स्वरभेद

ब्रूयात्कफेन सततं कफरुद्धकण्ठः
स्वल्पं शनैर्वदति चापि दिवा विशेषात्।

कफ से हमेशा कण्ठ अवरुद्ध रहने के कारण रोगी कम बोलता है और रुक-रुक कर बोलता है तथापि दिन में विशेष रूप से बोल सकता है।

वक्तव्य—(१३८) दिन के समय स्वभावतः कफ का प्रकोप कुछ कम होजाता है इसलिये बोलने में उतनी कठिनाई नहीं होती।

सन्निपातज स्वरभेद

सर्वात्मके भवति सर्वविकारसम्पत्तं
चाप्यसाध्यमृषयः स्वरभेदमाहुः ॥३॥

सन्निपातज स्वरभेद में सभी दोषों के विकार सम्मिलित रूप से रहते हैं और ऋषियों ने इस स्वरभेद को असाध्य कहा है।

क्षयज स्वरभेद

धूप्येत वाक् क्षयकृते क्षयमाप्नुयाच्च।
वागेष चापि हतवाक् परिवर्जनीयः॥

क्षयज स्वरभेद में बोलते समय दाह होती है और स्वर का (अथवा शरीर का) क्षय भी होता है। इस प्रकार की वाणी और वाणी का सम्पूर्ण नाश (मूकत्व) भी असाध्य है।

वक्तव्य—(१३९) यह राजयक्ष्मज स्वरभेद का वर्णन है। राजयक्ष्मा प्रकरण में कहा जाचुका है

कि फौफ्फुसीय राजयक्ष्मा की जीर्ण अवस्था में स्वरयंत्र भी आक्रान्त होजाता है जिससे स्वरभेद मूकत्व तक होजाता है।

वाणी का सम्पूर्ण नाश किसी से हो वह असाध्य ही कहा गया है।

मेदोज स्वरभेद

अन्तर्गतस्वरमलक्ष्यपदं चिरेण।
मेदोऽन्वयाद्वदति दिग्धगलस्तृषार्तः ॥४॥

स्वरभेद का सम्बन्ध मेद से होने पर रोगी विलम्ब से बोलता है, स्वर भीतर घुसा हुआ सा रहता है और पद स्पष्ट नहीं रहते। वह प्यास से दुखी रहता है और गला लिपा हुआ सा प्रतीत होता है।

स्वरभेद की असाध्यता

क्षीणस्य वृद्धस्य कृशस्य वाऽपि
चिरोत्थितो यश्च सहोपजातः।
मेदस्विनः सर्वसमुद्भवश्च स्वरामयो
यो न स सिद्धिमेति ॥५॥

जो स्वर सम्बन्धी रोग क्षीण, वृद्ध या कृश रोगी को हो, बहुत दिनों से हो या सहज हो, मेदस्वी व्यक्ति का हो या सन्निपातज हो वह सिद्ध नहीं होता।

वक्तव्य—(१४०) सहज स्वरभेद स्वरयंत्र की सहज विकृति के कारण होता है इसलिये असाध्य कहा गया है।

पाश्चात्य मत—

(१) स्वरभेद (Hoarseness or Change in the Voice) और स्वरसाद (Aphonia)—स्वर परिवर्तित हो जाने की दशा को स्वरभेद और स्वर की उत्पत्ति बन्द होजाने की दशा को स्वरसाद कहते हैं जिन कारणों से स्वरभेद होता है उन्हीं कारणों के अधिक बलवान् होने से स्वरसाद होता है अतएव ये दोनों एक ही रोग की सौम्य और गंभीर दशाएं हैं। इनकी उत्पत्ति स्वरयंत्र एवं उसके समीपस्थ स्थलों में तीव्र या चिरकारी प्रदाह, व्रण, अर्बुद, स्तंभ, घात, शोथ, विष, अवरोध, निर्बलता आदि कारणों से होती है। हिस्टीरिया से भी स्वरसाद होता है। नीचे इन कारणों से होने वाले स्वरभेद और स्वरसाद का विवेचन किया जाता है।

(i) तीव्र स्वरयंत्र प्रदाह (Acute Laryngitis) सामान्यतः यह रोग प्रतिश्याय (नासिका, कण्ठ आदि का प्रदाह) से सम्बंधित रहता है। रोमान्तिका मसूरिका, वातश्लेष्म ज्वर, लोहित ज्वर, आंत्रिक ज्वर आदि तीव्र संक्रामक रोग; अमोनिया, क्लोरीन मस्टार्ड, फौसजीन आदि वायव्य विष (poisononus gases); तथा जोर-जोर से चिल्लाना, गाना, पढ़ना, भाषण देना आदि कारणों से भी उसकी उत्पत्ति होती है। शराब या तम्बाखू पीने का व्यसन और वातरक्त रोग की उपस्थिति सहायक कारण हैं।

स्वरयंत्र, वाचिक रज्जुओं (Vocal cords) और समीपस्थ प्रदेशों में रक्ताधिक्य और प्रदाहजन्य शोथ होता है जिससे गले में पीड़ा तथा बोलने और निगलने में कष्ट होता है। कुछ मामलों में स्वर अप्रभावित रह सकता है किन्तु अधिकतर स्वरभेद या स्वरसाद होजाता है। खांसी, श्वासकष्ट, ज्वर आदि लक्षण भी पाये जाते हैं। सामान्यतः यह रोग १-२ सप्ताह में स्वयमेव शांत होजाता है किन्तु छोटे बालकों में गंभीर श्वासकष्ट होकर मृत्यु तक हो सकती है।

(ii) चिरकारी स्वरयंत्र प्रदाह (Chronic Laryngitis)—तीव्र स्वरयंत्र प्रदाह की उपेक्षा से तथा उत्पादक कारणों की सतत उपस्थिति से चिरकारी स्वरयंत्र प्रदाह होता है। लक्षण तीव्र प्रकार के ही समान होते हैं किन्तु ज्वर प्रायः नहीं रहता।

फिरंग, राजयक्ष्मा और अर्बुदजन्य प्रदाह भी चिरकारी प्रदाह के अन्तर्गत माने जा सकते हैं किन्तु इनका पृथक् वर्णन करना ही अधिक श्रेयस्कर है।

(iii) फिरंगज स्वरयंत्रप्रदाह (Syphilitic Laryngitis)—अ—अत्यन्त विरल मामलों में यह सहज

हो सकता है। ऐसी दशा में गोंदार्बुद-सदृष (Gummatous) शोथ और उसके फलस्वरूप संकोच होता है जिससे श्वास में घुर्घुराहट और स्वरभेद होता है।

ब—अधिकतर आम प्रकार ही पाया जाता है। इस प्रकार में रक्ताधिक्य और व्रणोत्पत्ति होती है जिसके फलस्वरूप संकोच भी होता है। पीड़ा अधिक नहीं होती किन्तु स्वरभेद और निगलने में कष्ट होता है।

दोनों प्रकारों में वासरमैन की प्रतिक्रिया अस्त्यात्मक रहती है और फिरङ्ग की चिकित्सा से लाभ होता है।

(iv) राजयक्ष्मज स्वरयंत्रप्रदाह (Tuberculous Laryngitis)—राजयक्ष्मा प्रकरण देखें।

(v) स्वरयंत्र के अर्बुद (Neoplasms of the Larynx)—स्वरयंत्र, वाचिक रज्जुओं एवं तत्समीपस्थ स्थानों में कई प्रकार के अर्बुद उत्पन्न होसकते हैं। सौम्य अर्बुदों में सौत्रार्बुद (Fibroma) और प्ररोहार्बुद (अंकुरार्बुद Pappiloma) अधिकतर पाये जाते हैं; रक्तार्बुद (Angorma) विरल है। इनसे स्वरभेद और घुर्घुराहट होती है। प्ररोहार्बुद अधिकतर घातक प्रकार में परिवर्तित होजाता है।

घातक अर्बुदों में उपकलार्बुद सबसे अधिक पाया जाता है। यह या तो प्ररोहार्बुद के रूप में उत्पन्न होता है अथवा विकीर्ण अन्तर्भरण (Diffuse infiltration) या सामान्य कठोर शोथ के रूप में उत्पन्न होता है। यह वृद्धावस्था में सबसे अधिक पाया जाता है। इसका सर्वप्रथम लक्षण स्वरभेद है फिर खांसी और पीड़ा की उत्पत्ति होती है। इसके बाद ग्रैवेयक ग्रन्थियों की वृद्धि, लालास्राव की वृद्धि, मुख में दुर्गन्ध, निगलने में कष्ट, रक्तष्ठीवन आदि लक्षण भी उत्पन्न होते हैं। बल-मांस का क्षय उत्तरोत्तर होता है और उसके कारण अथवा अवरोध जीवाणु-संक्रमण या किसी अन्य रोग से मृत्यु होजाती है। रोगविनिश्चय स्वरयंत्र-दर्शक यंत्र से देखने पर होता है।

(vi) स्वरयंत्र के व्रण (*Ulceration of the Larynx*)—स्वरयंत्र में फिरङ्ग, राजयक्ष्मा, उपकलार्बुद, कुष्ठ (*Leprosy*), आन्त्रिक ज्वर, अभिघात, दाहक विष पीने, चिरकाल तक शय्या पर लेटे रहने तथा समीपस्थ अवयवों के व्रणों के सम्पर्क से व्रणों की उत्पत्ति होती है। इनसे स्थानिक पीड़ा, स्वरभेद या स्वरसाद, श्वासकष्ट आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। लक्षणों की गंभीरता रोग के प्रकार और स्वरयंत्र की धातु के नाश के अनुरूप होती है।

(vii) स्वरयंत्र का स्तंभ (*Spasm of the Laryngeal Muscles, Laryngismus*)—शैशवीय तमक श्वास, अपतानिका (*Tetany*), धनुर्वात (*Tetanus*), फिरङ्गी खंजता तथा कुचले के विष के प्रभाव से स्वरयंत्र की पेशियों का स्तंभ होने के कारण स्वरभेद या स्वरसाद होता है।

(*viii*) स्वरयंत्र घात (*Laryngeal Paralysis*)—वाचिक तन्त्रिकाओं में (*Vocal Cords*) में बोलते समय आकर्षण (*Adduction*) और अधोश्वास ग्रहण करते समय अपकर्षण (*Abduction*) की कियाएं होती हैं। इनके विचार से स्वरयंत्र घात के ३ भेद किये गये हैं—

(१) अपकर्षण घात (*Paralysis Abductor*)—यदि यह एक ही ओर हो तो श्वास ग्रहण करने में थोड़ा कष्ट होता है किन्तु स्वर विशेष प्रभावित नहीं होता; थोड़ा स्वरभेद हो सकता है। यदि दोनों ओर हो तो श्वासकष्ट अधिक होता है, श्वास लेते समय घर्घर ध्वनि होती है और अन्य गंभीर लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं।

(ब) आकर्षण-घात (*Abductor Paralysis*)—यदि यह एक ही ओर हो तो स्वरभेद होता है और बोलने में थकावट शीघ्र आती है किन्तु यदि दोनों ओर हो तो मूकत्व होजाता है, श्वासकष्ट नहीं होता।

(स) उभय-घात या पूर्ण घात (*Total Paralysis*)—यदि एक ही ओर हो तो स्वरभेद होता है तथा

आवाज अत्यन्त धीमी हो जाती है किन्तु यदि दोनों ओर हो तो मूकत्व हो जाता है। अत्यन्त सामान्य प्रकार का श्वास कष्ट होता है।

रोगविनिश्चय स्वरयंत्रदर्शक यन्त्र *Laryngoscope*) से देखकर किया जाता है।

(*ix*) विष (*Poisons*)—दाहक विष स्वरयन्त्र में शोथ, प्रदाह, व्रण आदि उत्पन्न करके स्वरभेद, स्वरसाद तथा बोलने में कष्ट उत्पन्न करते हैं। अन्य विषों का प्रभाव मस्तिष्क के वाचिक केन्द्र पर पड़ने से स्वर और भाषा में विकृति होती है। विष के अन्य लक्षण भी मिलते हैं।

(*x*) स्वरयंत्र शोथ (*Oedema of the Larynx*)—क्षोमक गैसों, विषों, एस्पिरीन, पोटाश आयोडाइड आदि विषाक्त औषधियों के दुष्प्रभाव से, बरैया (ततैया, *Wasp*) आदि विषैले कीड़ों के काटने से तथा ब्राइट के रोग और वाहिनी नाड़ी जन्य शोथ (*Angioneuratic Oedema*) में स्वरयन्त्र में शोथ होजाता है। लक्षण तीव्र या चिरकारी प्रदाह के समान होते हैं।

(*xi*) बाह्य पदार्थ-(*Foreign Body*) स्वरयन्त्र या उसके आस पास के स्थानों में बाह्य पदार्थ की उपस्थिति से बोलने, श्वास लेने एवं निगलने में कष्ट, स्वास के साथ घुघुर-ध्वनि तथा स्वरभेद या स्वरसाद होता है।

(xii) अवरोध (Obstruction)—स्वरयंत्र एवं उसके समीपस्थ भागों में बाह्य पदार्थ या अर्बुद की उपस्थिति से, स्तंभ से तथा व्रणवस्तु-जन्य संकोच से अवरोध होता है। लक्षण बाह्यपदार्थ तथा अर्बुद के द्वारा उत्पन्न लक्षणों के समान होते हैं।

(xiii) निर्बलता (General Weakness)—किसी भी कारण से उत्पन्न सार्वदैहिक निर्बलता की अवस्था में अन्य अंगों के समान स्वर-तंत्रिकाओं में भी अतिशीघ्र थकावट आती है। इससे भी स्वर भेद हो जाता है।

(xiv) हिस्टीरिया—हिस्टीरिया के कारण स्वर-भेद अक्सर पाया जाता है, कभी कभी मूकत्व भी पाया जाता है। हिस्टीरिया के अन्य लक्षण प्रायः पाये जाते हैं किन्तु कभी कभी नहीं भी पाये जाते। रोगिणी अधिकतर वातिक प्रकृति की नवयुवती होती है।

(२) वाग्लोप (Aphasia) और वाक्कृच्छ्रता (Dysphasia)—मस्तिष्क में स्थित वाणी केन्द्र की विकृति के कारण बोलने तथा लिखने में और सुनकर या पढ़ कर समझने की योग्यता का अभाव होने की दशा को वाग्लोप कहते हैं। अक्सर यह अभाव पूर्ण रूपेण न होकर आंशिक होता है—इस दशा को वाक्कृच्छ्रता कहते हैं। यह अभाव दो प्रकार का होता है—

(i) चेष्टावह वाग्लोप और वाक्कृच्छ्रता (Motor Aphasia and Dysphasia)—यद्यपि रोगी जानता है कि उसे क्या कहना चाहिये तथापि वह बोलने में पूर्णतया असमर्थ रहता है अथवा बहुत थोड़े शब्द बोल सकता है। इसी प्रकार वह लिखने में असमर्थ हो सकता है। रोगी किसी भी सामान्य वस्तु का नाम बतलाने में असमर्थ हो सकता है किन्तु यदि कई नाम लिये जावें तो वह उनमें से उपयुक्त नाम चुन सकता है।

(ii) सांवेदनिक वाग्लोप (Sensory Aphasia and Dysphasis)—रोगी लिख-पढ़ और बोल सकता है (यद्यपि व्याकरण की दृष्टि से गलतियां करता है) किन्तु कही गयी या लिखी हुई बात को समझने में असमर्थ रहता है।

(३) गद्गद् स्वरता (Dysarthria)—स्वरयंत्र, ओंठ, जीभ, तालु, ग्रसनिका आदि के घात-संबन्धी विकारों के कारण बोलने में कई प्रकार की विकृतियां उत्पन्न होती हैं जैसे अटक अटक कर बोलना, एकदम से बोल जाना, एक शब्द या शब्दांश को कई बार बोलना इत्य ।

: १४ :

अरोचक

निदान

**वातादिभिः शोकभयातिलोभक्रोधैर्मनोघ्नाशनरूपगन्धैः ।
अरोचकाः स्युः...**

वातादि दोषों के प्रकोप से, शोक, भय, अति लोभ, क्रोध तथा मन पर बुरा प्रभाव डालने वाले (घृणा उत्पन्न करने वाले) भोजन, रूप एवं गन्ध से आरोचक रोग होता है।

वक्तव्य—(१४१) भूक न लगना अथवा भोजन अच्छा न लगना अरोचक, अरुचि, भक्तद्वेष, भक्तोपघात, अन्नविद्वेष या क्षुधानाश (Anorexia, Loss of Appetite) कहलाता है। यह ज्वर, अतिसार, अजीर्ण आदि बहुत से रोगों में लक्षण-रूप से उपस्थित रहता है—पूर्वरूपावस्था में ही प्रकट होता और अन्त तक रहता है, अरोचक दूर होकर क्षुधा की उत्पत्ति होना रोगोपशम का लक्षण माना जाता है। जब दोषों का प्रकोप इतना थोड़ा हो कि उक्त बड़े रोगों की उत्पत्ति न हो सके तब केवल अरोचक ही स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न होता है। शोक, भय, काम, क्रोध, लोभ आदि मानसिक विकार भी वात-नाड़ीमण्डल को प्रभावित करके अरुचि उत्पन्न करते हैं। इन्हीं विकारों के अधिक बलवान् होने से ज्वरादि रोग भी उत्पन्न हो जाते हैं। घृणा उत्पन्न करने वाले भोजन, रूप, गंध आदि से भी अरोचक की उत्पत्ति होती है – इसका अनुभव सभी को होगा।

अरोचक के मुख्य ५ भेद माने गये हैं—वातज पित्तज, कफज, त्रिदोषज और आगन्तुज। द्वन्द्वज अरोचक भी होते हैं।

वातज अरोचक

......परिहृष्टदन्तः कषायवक्त्रश्च मतोऽनिलेन ॥१॥

वातज अरोचक के रोगी के दांत अधिक सम्वेदनशील और मुख कसैला रहता है।

पित्तज अरोचक

कट्वम्लमुष्णं विरसं च पूति पित्तेन विद्यात्......

पित्तज आरोचक के रोगी का मुख कटु (तिक्त, कड़वा) खट्टा, उष्ण (दाहयुक्त), विरस (बेस्वाद) और दुर्गन्धित रहता है।

वक्तव्य—(१४२) सभी टीकाकारों ने यहां 'कटु' का अर्थ चरपरा न मानते हुए 'तिक्त' माना है।

कफज अरोचक

..............लवणं च वक्त्रम् ।
माधुर्यपैच्छिल्यगुरुत्वशैत्य विवद्ध सम्वद्धयुतं कफेन ॥२॥

कफज अरोचक के रोगी का मुख नमकीन, मीठा, पिच्छिल (लिबलिबा, चिपकीला), भारी, शीतल और जकड़ा हुआ सा रहता है।

वक्तव्य—(१४३) सामान्य कफ-वृद्धि से मधुरता और कफ के विदग्ध हो जाने पर लवण रस की अनुभूति होती है।

अगन्तुज अरोचक

अरोचके शोकभयातिलोभक्रोधाद्यहृद्याशुचिगन्धजे स्यात् ।
स्वाभाविकं चास्यमथारुचिश्च..............

शोक, भय, अतिलोभ, क्रोध आदि तथा अप्रिय और अपवित्र गन्ध से उत्पन्न आगन्तुज अरोचक में मुख स्वाभाविक रहता है, फिर भी अरुचि रहती है।

त्रिदोषज अरोचक

................त्रिदोषजे नैकरसं भवेत्तु ॥३॥

त्रिदोषज अरोचक में किसी एक स्वाद का अनुभव नहीं होता (अर्थात् अनेक प्रकार के स्वाद पाये जाते हैं)।

अन्य लक्षण

हृच्छूलपीडनयुतं पवनेन, पित्तात्तृड्दाह-
चोषबहुलं, सकफप्रसेकम् ।
श्लेष्मात्मकं, बहुरुजं बहुभिश्च विद्याद्वै—
गुण्यमोहजडताभिरथापरं च ॥४॥

वातज अरोचक हृदय प्रदेश में शूल और पीड़ा से युक्त रहता है, पित्तज में तृष्णा, दाह और चोष (चूसने के समान पीड़ा) की अधिकता रहती है, कफज कफष्ठीवन से युक्त, एक से अधिक दोषों से होने वाला (त्रिदोषज या द्वन्द्वज) अनेक प्रकार की पीड़ाओं से युक्त और इनके अतिरिक्तहोने वाला (आगन्तुज) व्याकुलता जड़ता और मोह से युक्त रहता है।

पाश्चात्यमत—अजीर्ण प्रकरण में देखें।

: १५ :

छर्दि

भेद

दुष्टैर्दोषैः पृथक् सर्वैर्बीभत्सालोचनादिभिः ।
छर्दयः पञ्च विज्ञेयास्तासां लक्षणमुच्यते ॥ १ ॥

पृथक् पृथक् दोषों के प्रकोप से (वातज, पित्तज एवं कफज), सभी दोषों के प्रकोप से (सन्निपातज या त्रिदोषज) तथा वीभत्स (गन्दे, घृणा उत्पादक) पदार्थों के देखने आदि से (आगन्तुज)—इस प्रकार छर्दि रोग के ५ भेद माने जाते हैं। उनके लक्षण कहे जाते हैं।

निदान

अतिद्रवैरतिस्निग्धैरहृद्यैर्लवणैरति ।
अकाले चातिमात्रैश्च तथाऽसात्म्यैश्च भोजनैः ॥ २ ॥
श्रमाद्भयात्तथोद्वेगादजीर्णात् क्रिमिदोषतः ।
नार्याश्चापन्नसत्वायास्तथाऽतिद्रुतमश्नतः ॥ ३ ॥
बीभत्सैर्हेतुभिश्चान्यैः……

अत्यन्त तरल, अत्यन्त स्निग्ध, अहृद्य (रुचि के विपरीत), अत्यन्त खारे, तथा असात्म्य (प्रकृति के विपरीत) भोजन से; कुसमय में तथा अधिक मात्रा में भोजन करने से; श्रम, भय, उद्वेग, अजीर्ण तथा क्रिमिदोष से; स्त्री को गर्भ रहने से तथा अत्यन्त जल्दी जल्दी भोजन करने से; बीभत्स पदार्थों से और अन्य कारणों के द्वारा……

निरुक्ति एवं सम्प्राप्ति

……द्रुतमुत्क्लेशितो बलात् ।
छादयन्नाननं वेगैरर्दयन्नङ्गभञ्जनैः ।
निरुच्यते छर्दिरिति दोषो वक्त्रं प्रधावितः ॥ ४ ॥

……बलपूर्वक एवं शीघ्रतापूर्वक उत्पीड़ित होकर, अङ्गों में तोड़ने के समान पीड़ा के वेगों से व्याकुल करता हुआ, तेजी से दौड़कर मुख को आवृत कर देने वाला (भर देने वाला) दोष छर्दि कहलाता है।

वक्तव्य—(१४४) छर्दि की निरुक्ति इस प्रकार है—'छादयति मुखं, अर्दयति चाङ्गानीति छर्दिः'। वमन, वमि, कै, उल्टी, उबकाई (Vomit, Emesis) आदि इसके पर्याय हैं।

पूर्वरूप

हृल्लासोद्गाररोधौ च प्रसेको लवणस्तनुः ।
द्वेषोऽन्नपाने च भृशं वमीनां पूर्वलक्षणम् ॥ ५ ॥

हृल्लास (जी मचलाना), डकार की रुकावट, नमकीन एवं पतला थूक निकलना और खाने-पीने के पदार्थों के प्रति घोर अरुचि होना—ये सभी प्रकार के वमन के पूर्वरूप हैं।

वातज छर्दि

हृत्पार्श्वपीडामुखशोषशीर्ष-
नाभ्यर्तिकासस्वरभेदतोदैः ।
उद्गारशब्दप्रबलं सफेनं
विच्छिन्नकृष्णं तनुकं कषायम् ।
कृच्छ्रेण चाल्पं महता च
वेगेनार्तोऽनिलाच्छर्दयतीह दुःखम् ॥६॥

वातज छर्दि का रोगी हृदय और पार्श्वों में पीड़ा, मुंह सूखना, सिर एवं नाभि में पीड़ा, खांसी स्वरभेद और सारे शरीर में सुइयां चुभाने के समान पीड़ा से व्याकुल

रहता है। वह जोरदार डकार की आवाज के साथ फेनयुक्त, बीच बीच में काले धब्बों से युक्त पतला, कषाय (गेरुए वर्ण का अथवा कसैले स्वाद का) पदार्थ थोड़ी मात्रा में कष्ट के साथ और बड़े वेग से अत्यन्त दुखपूर्वक वमन करता है।

पित्तज छर्दि

मूर्च्छापिपासामुखशोषमूर्धताल्व-
क्षिसन्तापतमोभ्रमार्तः।
पीतं भृशोष्णं हरितं सतिक्तं
धूम्रं च पित्तेन वमेत्सदाहम् ॥७॥

पित्तज छर्दि का रोगी मूर्च्छा, प्यास, मुख सूखना, तालु एवं नेत्रों में दाह, तम (आंखों के आगे अंधेरा छा जाना) और भ्रम (चक्कर आना) से पीड़ित रहता है। वह पीला अत्यन्त गर्म, हरा, कड़वाहट युक्त, धूम्रवर्ण पदार्थ का वमन करता है, और वमन करते समय दाह होती है।

वक्तव्य-(१४५) सुश्रुतोक्त लक्षणों में ज्वरका भी समावेश है। वस्तुतः पित्तज वमन के अधिकांश रोगी ज्वर युक्त रहते हैं—ऐसा मेरा भी अनुभव है। यहां 'सन्ताप' शब्द से भी ज्वर का संकेत मिलता है।

कफज छर्दि

तन्द्राऽऽस्यमाधुर्यकफप्रसेकसन्तोषनिद्राऽरुचिगौरवार्तः।
स्निग्धं घनं स्वादु कफाद्विशुद्धं सरोमहर्षोऽल्परुजं वमेत्तु ॥८॥

कफज छर्दि का रोगी तन्द्रा, मुख में मीठापन, कफ थूकना, सन्तोष (उदर भरा हुआ सा प्रतीत होना तथा भूख न लगना)—निद्रा, अरुचि और शरीर में भारीपन से पीड़ित रहता है। वह चिकना, गाढ़ा, मधुर, शुद्ध (स्वच्छ) पदार्थ का वमन करता है। वमन करते समय रोम खड़े हो जाते हैं और पीड़ा कम (अन्य प्रकारों की अपेक्षा) होती है।

त्रिदोषज छर्दि

शूलाविपाकारुचिदाहतृष्णा-
श्वासप्रमोहप्रबला प्रसक्तम्।
छर्दिस्त्रिदोषाल्लवणाम्लनील-
सान्द्रोष्णरक्तं वमतां नृणां स्यात् ॥९॥

प्रबल प्रकार के शूल, अजीर्ण, अरुचि, दाह, तृष्णा, श्वास एवं मूर्च्छा से युक्त रोगियों को निरन्तर होने वाली नमकीन, खट्टी, नीली, गाढ़ी, लाल (अथवा रक्त युक्त) छर्दि त्रिदोषज होती हैं।

असाध्य छर्दि

विट्स्वेदमूत्राम्बुवहानि वायुः
स्रोतांसि संरुध्य यदोर्ध्वमेति।
उत्सन्नदोषस्य समाचितं तं
दोषं समुद्धूय नरस्य कोष्ठात् ॥१०॥
विण्मूत्रयोस्तत्समगन्धवर्णं-
तृट्श्वासहिक्कार्तियुतं प्रसक्तम्।
प्रच्छर्दयेद् दुष्टमिहातिवेगात्त-
याऽर्दितश्चाशु विनाशमेति ॥११॥

जब बढ़े हुए दोष वाले रोगी के मल, मूत्र, स्वेद और जल का वहन करने वाले स्रोतों का अवरोध करके वायु ऊपर की ओर जाती है तब वह उस संचित दोष को मनुष्य के कोष्ठ से उड़ाकर मल मूत्र की अथवा उनके समान गंध-वर्ण युक्त दूषित वमन तृष्णा, श्वास एवं हिक्का के साथ निरन्तर एवं अत्यन्त वेग से कराती है। इससे पीड़ित रोगी शीघ्र ही मर जाता है।

वक्तव्य—(१४६) कुछ विद्वानों के मत से यह छर्दि त्रिदोषज है और कुछ का मत है कि किसी भी प्रकार की छर्दि अपथ्य सेवन आदि से इस प्रकार का रूप धारण कर सकती है। इस प्रकार की छर्दि अधिकतर बृहदन्त्र का अवरोध होने पर होती है।

गतवर्ष एक रोगिणी को लोह (Iviron) का शिरागत सूचीवेध करते समय प्रतिक्रिया होजाने से इस प्रकार का वमन हुआ था। वमन में मल का एक पिण्ड (लेंडा) निकला था जिसकी लम्बाई लगभग ४।।-५ इञ्च और मोटाई (व्यास) लगभग १ इञ्च थी। सौभाग्यवश वह मरी नहीं। यह दुर्घटना मेरे ही औषधालय में मेरे ही द्वारा सूचीवेध करते समय हुई थी। संभवतः इन्जेक्शन दूषित था क्योंकि इसके पूर्व उसे ३ वार यही इन्जेक्शन दिया जा चुका था और इसके बाद भी २ वार दिया गया किन्तु इस प्रकार की प्रतिक्रिया केवल एक ही बार हुई।

आगन्तुज छर्दि

बीभत्सजा दौर्हृदजाऽऽमजा च
ह्यसात्म्यजा च क्रिमिजा च या हि ।
सा पञ्चमी तां च विभावयेच्च-
दोषोच्छ्रयेणैव यथोक्तमादौ ॥१२॥

जो बीभत्स पदार्थों, सगर्भता, अजीर्ण, असात्म्य पदार्थों और क्रिमिरोग से उत्पन्न हो वह पांचवी (आगन्तुज) वमन है और पूर्ववर्णित दोष-प्रकोप के अनुसार ही इसका भी विचार करना चाहिये ।

वक्तव्य—(१४७) निदान को दूर करते हुए कुपित दोष का शमन ही आगन्तुज छर्दि की चिकित्सा है। यह भी वातज, पित्तज, कफज या त्रिदोषज होती है।

क्रिमिज छर्दि

शूलहृल्लासबहुला क्रिमिजा च विशेषतः ।
क्रिमिहृद्रोगतुल्येन लक्षणेन च लक्षिता ॥१३॥

क्रिमिज छर्दि में विशेषतः शूल और हृल्लास की अधिकता रहती है और क्रिमिज हृद्रोग के समान लक्षणों से पहचानी जाती है ।

साध्यासाध्यता

क्षीणस्य या छर्दिरतिप्रसक्ता,
सोपद्रवा शोणितपूययुक्ता ।
सचन्द्रिकां तां प्रवदेदसाध्यां,
साध्यां चिकित्सेन्निरुपद्रवां च ॥१४॥

क्षीण रोगी की जो छर्दि निरन्तर होती हो, उपद्रवयुक्त हो, रक्त, पूय एवं चन्द्रिकायुक्त हो उसे असाध्य कहना चाहिये । साध्य और उपद्रव रहित की चिकित्सा करनी चाहिये ।

वक्तव्य—(१४८) जिसमें उक्त असाध्य लक्षण न हों वह साध्य है ।

उपद्रव

(कासः श्वासोऽज्वरो हिक्का तृष्णा वैचित्त्यमेव च ।
हृद्रोगस्तमकश्चैव ज्ञेयाश्छर्देरुपद्रवाः ॥१५॥)

कास, श्वास,-ज्वरनाश, हिक्का, तृष्णा, चित्तविभ्रम, हृदोग और तमक-श्वास—ये छर्दि के उपद्रव हैं ।

वक्तव्य—(१४९) 'अज्वर' से ज्वरनाश या शरीर के स्वाभाविक उत्ताप का ह्रास समझना चाहिये । अत्यधिक वमन होने से शरीर शीतल हो जाना सामान्य उपद्रव है । कुछ विद्वान् इस श्लोक में ज्वर के आगे स्थित अर्धअकार (ऽ) छोड़कर पाठ करते हैं—इस प्रकार ज्वरनाश के स्थान पर ज्वरोत्पत्ति की सिद्धि होती है ।

पाश्चात्य मत—

भरे हुए पदार्थों को मुखमार्ग से बाहर निकालने के उद्देश्य से आमाशय तथा आंत्र के ऊपरी भाग में होने वाली विपरीत पुरःसरण क्रिया (Reverse Peristalsis) को 'हृल्लास या उत्क्लेश' (Nausea) कहते हैं । इसके साथ बेचैनी, हृद्स्फूटन, लालाप्रसेक, प्रस्वेद, अवसाद आदि लक्षण भी होते हैं । इसी प्रकार मुख मार्ग से अन्ननलिका, आमाशय एवं आन्त्र में स्थित पदार्थों के निकलने की क्रिया को वमन (Vomiting, Emesis) कहते हैं ।

वमन की उत्पत्ति सुषुम्नाशीर्ष में स्थित वमन केन्द्र से होती है । वहां प्राणदा नाड़ी (Vagus nerve) के द्वारा स्वरयंत्र, आमाशय तथा उदर-स्थित अन्य अवयवों की, कण्ठरासनी नाड़ी (Glosso-pharyngeal nerve) के द्वारा जिह्वा और ग्रसनिका की; त्रिधारा नाड़ी (Trigminal nerve) के द्वारा मस्तिष्क सम्वेदनाएं पहुँचती हैं तथा महाप्राचीरीय नाड़ी (Phrenic Nerve) के द्वारा महाप्राचीरा पेशी (Diaphragm) को, प्राणदा नाड़ी के द्वारा आमाशय को और सौषुम्ना नाड़ियों (Spinal nerve) के द्वारा उदर दीवारों की पेशियों को वमन कराने की आज्ञा दी जाती है । वमन होते समय आमाशय की पेशियों का संकोच होकर विपरीत पुरस्सरण क्रिया होती है और आमाशय का हार्दिक द्वार (Cardia) प्रसारित हो जाता है; महाप्राचीरा पेशी दबाव डालकर और औदरिक पेशियां संकुचित होकर इस कार्य में सहायक होती हैं ।

वमन के कारण—

(i) नासागत—अप्रिय गंध।

(ii) मुखगत—अप्रित स्वाद।

(iii) ग्रसनिकागत—प्रक्षोभ, ग्रसनिका प्रदाह, गलतुण्डिका प्रदाह, गलशुण्डिका (Uvulva) की वृद्धि तथा कालीखांसी के कारण खांसी आकर वमन होता है। अन्य कारणों से उत्पन्न खांसी का लम्बा दौरा भी वमन करा सकता है।

(iv) अन्ननलिका गत—सांकर्य, स्तंभ, उपाशय या बाहरी दबाव के कारण। वान्त पदार्थ क्षारीय अपाचित एवं कफमिश्रित रहता है; आमाशयिक अम्लरस का अभाव रहता है। अधिक उबकाई नहीं आती; खाया हुआ पदार्थ धीरे से चढ़कर मुख में लौट आता है।

(*v*) आमशयगत—वामक औषधियां, क्षोभक विष, असात्म्य भोजन, दुष्पाच्य भोजन, अधिक भोजन, अधिक जल या अन्य पेय, अनूर्जता (*Allergy*), आमाशय प्रदाह, आमाशय व्रण, कर्कटार्बुद, तीव्र आमाशय विस्फार, मुद्रिका द्वार अवरोध (*Pyloric Obstruction*), मुद्रिका द्वार का परम पौष्टिक संकोच आदि।

(*vi*) आन्त्रगत—मलावरोध, आन्त्रावरोध, तीव्र आन्त्र प्रदाह, विसूचिका, आन्त्रपुच्छ-प्रदाह कृमिरोग।

(*vii*) यकृतगत–यकृद्दाल्युत्कर्ष

(*viii*) पित्ताशय गत–पित्ताशय शूल

(*ix*) उदरावरण गत–उदरावरण प्रदाह (तीव्र)

(*x*) अग्न्याशय गत–तीव्र अग्न्याशय प्रदाह

(*xi*) वृक्कगत–वृक्क-शूल, वृक्क-भ्रंश, गवीनी-परिवेष्ठन

(*xii*) स्त्री-जननेन्द्रियगत–सगर्भता, गर्भाशय, डिम्ब ग्रंथियों एवं डिम्ब नलिकाओं का प्रदाह या भ्रंश।

(*xiii*) हृदय गत–रक्ताधिक्यज हृदयातिपात

(*xiv*) केन्द्रीय–निम्नलिखित रोगों के आभ्यन्तर विष सीधे सुषुम्नाशीर्ष में स्थित वमन केन्द्र को प्रभावित करके वमन की उत्पत्ति करते हैं—प्रायः सभी तीव्र संक्रामक ज्वर जिनमें गंभीर तृतीयक विषमज्वर प्रधान है, मूत्रमयता, मधुमेह, चक्रीय वमन (*Cyclic Vomiting*), उदर्दि, गलगण्ड, ऐडीसन का रोग, गंभीर रक्तक्षय, मस्तिष्कावरण प्रदाह, मस्तिष्क-विद्रधि, मस्तिष्कीय स्तब्धता (*Concussion of the Brain*), फिरंगी खंजता का आमाशयिक दारुण्य (*Gastric Crysis of Tabes Dorsalis*), सूर्यावर्त्त, अपस्मार तथा शोक भय आदि की अवस्थायें। इनके अतिरिक्त समुद्री जहाज या हवाई जहाज में यात्रा करने से उत्पन्न अथवा मेनियर के रोग से उत्पन्न भ्रम (चक्कर) से भी वमन की उत्पत्ति होती है। सगर्भावस्था के प्रारम्भिक मासों में प्रतिक्रिया-जन्य वमन होती है। मूर्च्छा (*Syncope*) में मस्तिष्क में रक्त की कमी के कारण वमन होती है और हिस्टीरिया में सम्वेदनशीलता की वृद्धि के कारण वमन होती है।

वमन परीक्षा—वान्त पदार्थ की मात्रा, वर्ण, गन्ध, प्रतिक्रिया तथा उसमें पाये जाने वाले सामान्य (भोजन, आमाशयिक रस, पित्त आदि) और असामान्य (विष, कफ, रक्त, पूय, उपकला के खण्ड, कृमि-आदि) पदार्थों पर विचार किया जाता है।

मात्रा—भोजन करने के बाद तुरन्त ही होने वाली वमन की मात्रा स्वभावतः अधिक होती है तथा उसमें खाये हुए पदार्थ ही अधिक मात्रा में मिलते हैं किन्तु भोजन करने के काफी समय बाद वाली वमन की मात्रा स्वभावतः कम रहती है और उसमें खाये हुए पदार्थ थोड़ी मात्रा में पाये जाते हैं अथवा नहीं पाये जाते। प्रथम वमन में निकले हुए पदार्थ की मात्रा तथा उसमें स्थित खाये हुए पदार्थों की मात्रा अधिक होती है, बाद के वमनों में यह क्रमशः कम होती जाती है। वमनकारक कारण जितना बलवान होगा वमन की मात्रा, वेग और पुनरावृत्ति

उतनी ही अधिक होगी अन्यथा कम होगी।

वर्ण—साधारणतः वमन का वर्ण खाये हुए पदार्थों के अनुरूप ही होता है किन्तु रक्त-मिश्रित होने पर लाल कत्थई या काला, पित्त-मिश्रित होने पर पीला, हरितपीत या हरा और विष-मिश्रित होने पर उसके अनुरूप होता है।

गंध—लगभग सभी प्रकार के वमन में अप्रिय गन्ध होती है किन्तु पूय, विष्ठा एवं विष के कारण तत्सदृष गन्ध की उत्पत्ति होती है।

प्रतिक्रिया—अन्नप्रणाली में अवरोध तथा आमाशय में अम्लहीनता की अवस्था में प्रतिक्रिया क्षारीय होती है, अन्यथा अम्ल रहती है। आमाशय में अम्लतावृद्धि होने पर तथा खट्टे पदार्थों के सेवन के बाद होने वाली वमन की प्रतिक्रिया अधिक अम्ल होती है। (पित्त के कारण वमन का स्वाद कड़वा रहता है।)

भोजन—वमन में निकले हुए भोजन की परीक्षा करके मालूम किया जाता है कि वह किस हद तक पचा है। भोजन जितना अधिक पचा हुआ हो वमन का कारण उतने ही निचले भाग में अवस्थित है—ऐसा माना जाता है।

आमाशयिक रस—यह अधिकतर भोजन के साथ मिला हुआ रहता है किन्तु कभी-कभी जब आमाशय रिक्त हो तब वमन में केवल यही निकल सकता है—ऐसा अधिकतर अम्लतावृद्धि की दशा में होता है।

पित्त—वान्त पदार्थ में अल्प मात्रा में पित्त का होना कोई महत्व नहीं रखता किन्तु पित्त प्रधान वमन तीव्र संक्रामक ज्वरों (विशेषतः गंभीर तृतीयक विषम ज्वर), यकृत प्रदाह या ग्रहणी प्रदाह का निदर्शक है।

विष—विष-सेवन अधिकतर वमन की उत्पत्ति करता है इसलिये वमन का निदान करते समय विष को नहीं भूलना चाहिये। प्रथम वमन में सबसे अधिक विष उपस्थित रहता है, फिर क्रमशः कम होता जाता है।

कफ—वमन में आने वाला कफ अधिकतर आमाशय से आया हुआ होता है और आमाशय प्रदाह का निदर्शक है। श्वासमार्ग से भी थोड़ा बहुत कफ वमन में आजाता है किन्तु वान्त पदार्थ के साथ भलीभांति मिला हुआ नहीं होता।

रक्त—वमन में अनेक कारणों में रक्त आ सकता है। इसका विवेचन रक्तपित्त प्रकरण में रक्तवमन शीर्षक के अन्तर्गत होचुका है।

कृमि—अधिकतर गण्डूपद कृमि (केंचुआ, पटार Round worm) वमन की उत्पत्ति करते हैं और कभी-कभी वमन के साथ निकलते भी हैं। इनकी संख्या १ से लेकर सैकड़ों तक हो सकती है।

: १६ :

तृष्णारोग

निदान और सम्प्राप्ति

भयश्रयाभ्यां बलसंक्षयाद्वा
ह्यूर्ध्वं चितं पित्तविवर्धनैश्च।
पित्तं सवातं कुपितं नराणां
तालुप्रपन्नं जनयेत्पिपासाम्।
स्रोतस्स्वपांवाहिषु दूषितेषु
दोषैश्च तृट् संभवतीह जन्तोः॥१॥
तिस्रः स्मृतास्ताः क्षतजा
चतुर्थी क्षयात्तथा ह्यामसमुद्भवा च।

भक्तोद्भवा सप्तमिकेति तासां
निवोध लिंगान्यनुपूर्वशस्तु ॥२॥

पित्तवर्धक आहार-विहारों से संचित पित्त भय, श्रम अथवा बलक्षय के कारण वातसहित कुपित होकर ऊपर तालु में पहुँचकर मनुष्यों को प्यास उत्पन्न करता है और दोषों के द्वारा जलवाही स्रोतों के दूषित होने से भी प्राणियों को प्यास उत्पन्न होती है। वे (दोषज तृष्णाएं) तीन मानी गयी हैं (वातज, पित्तज और कफज); क्षतज चौथी है, इसी प्रकार क्षयज (पांचवीं), आमज (छटवीं) और भक्तज या अन्नज सातवीं है। क्रम से उनके लक्षण सुनो—

वक्तव्य—(१५०) तृषा, तर्ष, पिपासा, प्यास, (Thirst) आदि तृष्णा के पर्यायवाची शब्द हैं। सामान्यतः शरीर की जल-सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति के लिये उत्पन्न होने वाली प्यास स्वाभाविक है, उसे रोग नहीं माना जाता। किन्तु कुछ विशेष अवस्थाओं में यह अत्यधिक बढ़कर अत्यन्त कष्ट-प्रद बन जाती है, उस समय इसे तृष्णा-रोग (Polydipsia) कहते हैं।

उक्त ७ भेद सुश्रुत के मतानुसार हैं। चरक ने ५ ही भेद माने हैं—वातज, पित्तज, आमज, क्षयज और उपसर्गज (अन्य रोगों के लक्षण या उपद्रव स्वरूप उत्पन्न)। वस्तुतः इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। कफज का समावेश आमज में होजाता है। क्षतज का समावेश वातज (क्योंकि क्षत से वात-प्रकोप होता है) में, क्षयज (क्योंकि क्षत से रक्तादि धातुओं का क्षय होता) में अथवा उपसर्गज (क्योंकि क्षत एक पृथक् रोग माना गया है) में होजाता है। इसी प्रकार भक्तज या अन्नज का समावेश आमज (अजीर्णज) में किया जा सकता है अथवा जिस दोष के प्रकोपक आहार से तृष्णा उत्पन्न हुई हो उसमें किया जा सकता है।

वाग्भट ने ६ भेद माने हैं—वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, रसक्षयज और उपसर्गज। भक्तज का समावेश कफज में किया है और आमज को वात-पित्तज कहा है। सुश्रुत ने आमज तृष्णा में ही त्रिदोष के लक्षण बतलाये हैं।

वातज तृष्णा

क्षामास्यता मारुतसंभवायां
तोदस्तथा शंखशिरःसु चापि।
स्रोतोनिरोधो विरसं च वक्त्रं
शीताभिरद्भिश्च विवृद्धिमेति ॥३॥

वातज तृषा में चेहरा मुरझाया हुआ रहना, शंख प्रदेश (कनपटी) तथा सिर में तोद (सुइयां गोंचने के समान पीड़ा) स्रोतों का अवरोध, और मुख में विरसता (स्वाद-हीनता) रहती है। यह तृषा शीतल जल पीने से बढ़ती है।

वक्तव्य—(१५१) इन लक्षणों के अतिरिक्त चरक ने निद्रानाश तथा वाग्भट ने गंध एवं शब्द का ज्ञान न होना और बलक्षय भी बतलाये हैं।

शीतल जल वातप्रकोपक होने के कारण वातज तृषा को बढ़ाता है किंतु उष्ण जल शान्त करता है।

पित्तज तृष्णा

मूर्च्छान्नविद्वेषविलापदाहा रक्तेक्षणत्वं प्रततश्च शोषः।
शीताभिनन्दा मुखतिक्तता च पित्तात्मिकायां परिदूयनं च॥४॥

पित्तज तृषा में मूर्च्छा, अरुचि, प्रलाप, दाह, नेत्रों में लाली, निरन्तर शोष होना (मुख, तालु आदि का अथवा सारे शरीर का, शीतल पदार्थों के सेवन की इच्छा, मुख कड़वा रहना और सारे शरीर में पीड़ा रहना—ये लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—(१५२) 'परिदूयनम्' के स्थान में 'परि-धूमनम्' पाठान्तर कुछ प्रतियों में मिलता है जिससे 'कण्ठ से धुवां निकलने के समान क्षोभ होना' अर्थ निकलता है।

चरक ने 'पीतादिमूत्रवर्चस्त्वम्' कहकर पाण्डु-रोग के लक्षणों का भी समावेश किया है।

कफज तृष्णा

बाष्पावरोधात्कफसंवृतेऽग्नौ
तृष्णा बलासेन भवेत्तया तु।
निद्रा गुरुत्वं मधुरास्यता च,
तयार्दितः शुष्यति चातिमात्रम् ॥५॥

कफ के द्वारा जठराग्नि आच्छादित होने पर वाष्प का अवरोध होने से कफज तृष्णा उत्पन्न होती है तथा निद्रा, भारीपन और मुख में मधुरता होती है और रोगी अत्यधिक सूखता है।

वक्तव्य—(१५३) वाष्प का अवरोध होने से जठराग्नि की ऊष्मा जलवाही स्रोतों को सुखाती है जिससे तृष्णा की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार कफज तृष्णा कफ से उत्पन्न न होकर कफाच्छादित जठराग्नि से होती है किन्तु, चूंकि कफ ही यह सब कराता है इसलिये 'कफज तृष्णा' ही उपयुक्त नामकरण है।

वाग्भटोक्त सम्प्राप्ति और लक्षणों में पर्याप्त विभिन्नता है यथा,

कफो रुणद्धि कुपितस्तोयवाहिषु मारुतम्।
स्रोतःसु स कफस्तेनपङ्कवच्छोष्यते ततः ॥
शूकैरिवाचितः कण्ठो निद्रा मधुरवक्त्रता।
आध्मानं शिरसो जाड्यं स्तैमित्यच्छर्द्यरोचकाः ॥
आलस्यमविपाकश्च,

अर्थात्, 'कुपित कफ जलवाही स्रोतों में वायु को रोक देता है। फिर वह कफ उस वायु के द्वारा कीचड़ के समान सुखा दिया जाता है जिससे गला शूकों (सूक्ष्म कांटों) से भरा हुआ सा प्रतीत होना, निद्रा, मुख में मीठापन, आध्मान, सिर में जड़ता (जकड़ाहट), शरीर गीले कपड़े से पोंछ दिया गया हो ऐसा प्रतीत होना, वमन, अरुचि, आलस्य और अजीर्ण—ये लक्षण होते हैं।

क्षतज तृष्णा

क्षतस्य रुक्शोणितनिर्गमाभ्यां
तृष्णा चतुर्थी क्षयजा मता तु।

क्षतज नाम की चौथी तृष्णा क्षत की पीड़ा और रक्त निकल जाने के कारण उत्पन्न मानी गयी है।

वक्तव्य—(१५४) एकाएक बहुतसा रक्त निकल जाने पर शरीर में उसकी पूर्ति के लिये प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। अन्य घटकों की पूर्ति में कुछ समय लगता है किन्तु रक्तलसिका की पूर्ति शीघ्राति-शीघ्र अधिक जल ग्रहण करके की जाती है इसके लिये रोगी को अधिक प्यास लगती है और जल पीते ही खोई शक्ति वापिस लौटने लगती है।

क्षयज तृष्णा

रसक्षयाद्या क्षयसंभवा सा,
तयाऽभिभूतश्च निशादिनेषु ॥६॥
पेपीयतेऽम्भः स सुखं न याति
तां सन्निपातादिति केचिदाहुः।
रसक्षयोक्तानि च लक्षणानि
तस्यामशेषेण भिषग्व्यवस्येत् ॥७॥

रसक्षय से जो तृष्णा उत्पन्न होती है वही क्षयज तृष्णा है। इससे पीड़ित रोगी दिन रात जल पीता है फिर भी सन्तुष्ट नहीं होता। कुछ लोग इस तृष्णा को सन्निपात-जन्य कहते हैं। इसमें रसक्षय में बतलाये गये समस्त लक्षणों की योजना वैद्य कर लेवे।

वक्तव्य—(१५५) रसक्षय के लक्षण—हृदय में पीड़ा, कम्प, शोथ, शून्यता और तृष्णा।

आमज तृष्णा

त्रिदोषलिङ्गाऽऽमसमुद्भवा च,
हृच्छूलनिष्ठीवनसाद कर्त्री।

आमज तृष्णा तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त रहती है तथा हृदय प्रदेश में शूल, बारम्बार थूकना और अवसाद उत्पन्न करती है।

वक्तव्य—(१५६) 'आम' से अपाचित या अर्धपाचित अन्न समझें। इस प्रकार यह तृष्णा अजीर्ण से होती है।

'त्रिदोष' से तीनों दोषों का समुदाय सन्निपात समझना उचित नहीं है; असली तात्पर्य यह है कि इस तृष्णा में तीनों दोषों में से किसी के भी लक्षण पाये जा सकते हैं।

भक्तज या अन्नज तृष्णा

स्निग्धं तथाऽम्लं लवणं च भुक्तं
गुर्वन्नमेवाशु तृषां करोति ॥ ८ ॥

स्निग्ध (चिकने अथवा घृत तैलादि स्नेह-युक्त), खट्टे, नमकीन और गरिष्ठ भोजन खाने पर तुरन्त ही प्यास उत्पन्न

करते हैं।

वक्तव्य—(१५७) इस प्रकार के भोजन को पचाने के लिए अपेक्षाकृत अधिक जल की आवश्यकता होती है इसीलिए प्यास अधिक लगती है। आवश्यकतानुसार जल पेट में पहुँच चुकने पर यह तृष्णा शांत हो जाती है।

उपसर्गज तृष्णा

दीनस्वरः प्रताम्यन् दीनः संशुष्कवक्त्रगलतालुः।
भवति खलु योपसर्गात्तृष्णा सा शोषिणी कष्टा ॥९॥
ज्वरमोहक्षयकासश्वासाद्युपसृष्टदेहानाम् ।

ज्वर, मूर्च्छा, क्षय, कास, श्वास आदि रोगों में जिनका शरीर में उपसृष्ट (पीड़ित, उपसर्ग-युक्त) हो ऐसे रोगियों को उपसर्ग (रोग) के कारण जो तृष्णा उत्पन्न होती है वह शरीर को सुखाने वाली एवं कष्टसाध्य (अथवा कष्टदायक) होती है। इसका रोगी दीन (शक्ति, स्वाभिमान आदि से रहित), दीन-स्वर (विनयपूर्वक धीमी आवाज) में बोलने वाला और बार बार मूर्च्छित होने वाला (अथवा बेचैन होने वाला) होता है। उसके मुख, कण्ठ और तालु शुष्क रहते हैं।

वक्तव्य—(१५८) यह वर्णन चरक का है किन्तु वहां इसका प्रथम पद क्षयज तृष्णा के वर्णन में आया है; माधवकर ने उसे उपसर्गज तृष्णा के वर्णन में जोड़ दिया है। 'मोह' के स्थान पर 'मेह' पाठान्तर है जिससे 'प्रमेह' अर्थ होता है।

श्वास के बाद 'आदि' का प्रयोग अतिसार, वमन, विसूचिका आदि रोगों के लिए समझना चाहिये।

मधुकोशकार ने तीसरे पद को प्रथम दो पदों से पृथक् रखकर टीका की है किन्तु उस रीति से न वाक्य ही पूरा होता है और न आशय। इसलिए उसे उचित नहीं माना जा सकता।

असाध्य तृष्णा

सर्वास्त्वतिप्रसक्ता रोगकृशानां वमिप्रयुक्तानां ।
घोरोपद्रवयुक्तास्तृष्णा मरणाय विज्ञेयाः ॥ १० ॥

अत्यन्त बढ़ी हुई होने पर सभी प्रकार की तृष्णाएं, रोग से कृश हुए रोगियों की तृष्णा, वमन-पीड़ित रोगियों की तृष्णा तथा भयङ्कर उपद्रवों से युक्त तृष्णा को मृत्युकारक समझना चाहिए।

पाश्चात्य मत—

तृष्णारोग(*Polydipria*) – तृष्णा की अधिकता निम्नलिखित दशाओं में होती है—

(*i*) अकारण ही अथवा परिस्थितिवशात् प्यास लगने पर भी जल न पीना।

(*ii*) ताप और स्वेद–ज्वर की अवस्था में, अधिक परिश्रम करने पर तथा धूप या अग्नि सेवन से ताप की वृद्धि होती है और स्वेद अधिक निकलता है। इससे शरीर में जल की कमी होकर प्यास अधिक लगती है।

(*iii*) बहुमूत्र (*Polyuria*)—मधुमेह (*Diabetes Mellitus*), उदकमेह (*Diabetes Insipidus*) और हिस्टीरिया में मूत्र अधिक निकलने के कारण प्यास अधिक लगती है।

(*iv*) वमन और अतिसार–इसमें से एक अथवा दोनों साथ साथ होने पर शरीर का बहुत सा जलीयांश निकल जाने से प्यास अधिक लगती है।

(*v*) शोथ, जलोदर, जलोरस आदि–इन रोगों में स्थान विशेष में रक्त में से जलीयांश खिंचकर संचित होता है इसलिये इनकी उत्पत्ति या वृद्धि के अवसर पर अधिक प्यास लगती है।

(*vi*) रक्तस्राव—किसी भी कारण से तीव्र वेग के साथ बाह्य या आभ्यन्तर रक्तस्राव होने पर रक्त के आयतन में जितनी कमी होती है उसकी तात्कालिक पूर्ति जलीयांश के द्वारा होती है। इसके लिये अधिक प्यास लगती है।

(*vii*) लवण-सेवन—प्रायः सभी प्रकार के लवणों (नमकों) का पाचन तभी सम्भव होता है जब ये जल में भलीभांति घुल जायें। इसलिये इनके सेवन से प्यास अधिक लगती है।

(*viii*) विष-सेवन—धतूरा, बैलाडोना आदि

विप लालास्राव को रोक देते हैं जिसके फलस्वरूप मुख और तालु सूखते हैं और प्यास अधिक लगती।

(ix) संकोचक पदार्थ (Astringents)–फिटकिरी, त्रिफला (उसमें स्थित टैनिक अम्ल Tannic Acid), माजूफल (उसमें स्थित गैलिक अम्ल Gallic Acid) तथा लोह-लवण (विशेषत: Per chloride of Iron) मुख की श्लैष्मिक कला को संकुचित करके लालास्राव को रोक देते हैं जिससे प्यास अधिक लगती है।

(x) आमाशय-विस्फार—पश्चिम मुद्रिका द्वार का संकोच होने के कारण आमाशय का विस्फार (Gastriactasis due to Pyloric Stenosis) होने पर आमाशय की जल का चूषण करने की शक्ति मारी जाती है जिससे जल पीने पर भी तृप्ति नहीं होती।

इनके अतिरिक्त और भी बहुत सी दशाओं में तृष्णा-वृद्धि कुछ न कुछ अंशों में होती है किन्तु वे गौण हैं इसलिये विस्तारभय से उनका वर्णन नहीं किया जा रहा है।

: १७ :

मूर्छा, भ्रम, निद्रा, तन्द्रा और सन्यास

मूर्च्छा के हेतु और सम्प्राप्ति

क्षीणस्य बहुदोषस्य विरुद्धाहारसेविनः।
वेगाघातादभिघाताद्धीनसत्त्वस्य वा पुनः ॥१॥
करणायतनेषूग्रा बाह्येष्वाभ्यन्तरेषु च।
निविशन्ते यदा दोषास्तदा मूर्च्छन्ति मानवाः ॥२॥
संज्ञावहासु नाडीषु पिहितास्वनिलादिभिः।
तमोऽभ्युपैति सहसा सुखदुःखव्यपोहकृत् ॥३॥
सुखदुःखव्यपोहाच्च नरः पतति काष्ठवत्।
मोहो मूर्च्छेति तामाहुः—

क्षीण, बढ़े हुए दोष वाले, विरुद्ध पदार्थों का आहार करने वाले अथवा वेगधारण या अभिघात के कारण जो सत्वहीन हो चुका हो ऐसे व्यक्ति के कुपित दोष मन के बाह्य एवं आभ्यन्तर आश्रयों में जब स्थित होते हैं तब मनुष्य को मूर्च्छा आती है। वातादि दोषों के द्वारा संज्ञावह नाड़ियों के आवृत हो जाने पर एकाएक अंधकार छा जाता है जो सुख-दुःख की अनुभूति को नष्टकर देता है और सुख-दुःख का विवेक नष्ट होने पर मनुष्य काष्ठ के समान होकर गिर पड़ता है–इसे मोह या मूर्च्छा कहते हैं।

वक्तव्य—(१५६) 'बहुदोष' में 'बहु' विशेषण मात्रावाचक माना जावेगा, संख्यावाचक नहीं क्योंकि संख्यावाचक मानने से एकदोषज मूर्च्छा की सम्प्राप्ति सिद्ध नहीं होती।

'विरुद्धाहार' से क्षीर-मत्य सदृष परस्पर विरुद्ध (*Incompatible*) पदार्थों का आशय है किन्तु प्रकृति-विरुद्ध, ऋतु-विरुद्ध, देश-विरुद्ध आदि भी इसी में समाविष्ट हो जाते हैं।

'संज्ञावह नाड़ियां' (*Sensory Nerves*) प्राणियों के सारे शरीर में फैली रहती हैं और इन्हीं के द्वारा ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा प्राप्त सुखी–दुःखादि की अनुभूति मस्तिष्क तक पहुँचती है। इनके विकार-ग्रस्त हो जाने पर ज्ञानेन्द्रियों की कार्य-क्षमता नष्ट हो जाती है।

'तम (अन्धकार)'—दृष्टि का अभाव ही अन्धकार है। संज्ञावह नाड़ियों का काम बन्द होते ही आंखों की देखने की शक्ति नष्ट हो जाती है जिससे सामने के पदार्थ अदृष्य होजाते हैं और अन्धकार की प्रतीति होती है। इसके साथ ही अन्य ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति भी नष्ट हो जाती है जिससे वे सुख-दुःखादि का अनुभव करने में असमर्थ हो जाती हैं।

मूर्च्छा के भेद

—षड्विधा सा प्रकीर्तिता ॥४॥

वातादिभिः शोणितेन मद्येन च विषेण च ।
षट्स्वप्येतासु पित्तं तु प्रभुत्वेनावतिष्ठते ॥५॥

वह (मूर्च्छा) ५ प्रकार की कही गयी है—वातादि दोषों से (वातज, पित्तज और कफज), रक्त से (रक्तज), मद्य से (मद्यज) और विष से (विषज)। इन छहों में ही पित्त का प्रभुत्व रहता है।

मूर्च्छा के पूर्वरूप

हृत्पीडा जृम्भणं ग्लानिः संज्ञादौर्बल्यमेव च ।
सर्वासां पूर्वरूपाणि, यथास्वं ता विभावयेत् ॥६॥

हृदय प्रदेश में पीड़ा, जंभाई, ग्लानि और चेतना की कमी—ये सभी प्रकार की मूर्च्छाओं के पूर्वरुप हैं। इनका वर्गीकरण इनके लक्षणों के अनुसार करना चाहिये।

वातज मूर्च्छा

नीलं वा यदि वा कृष्णमाकाशमथवाऽरुणम् ।
पश्यंस्तमः प्रविशति शीघ्रं च प्रतिबुध्यते ॥७॥
वेपथुश्चाङ्गमर्दश्च प्रपीडा हृदयस्य च ।
कार्श्यं श्यावाऽरुणाच्छाया मूर्च्छाये वातसंभवे ॥८॥

वातज मूर्च्छा का रोगी आकाश को नीला, काला अथवा अरुण वर्ण का देखता हुआ अन्धकार में प्रविष्ट होता है और शीघ्र ही होश में आजाता है। शरीर कांपना, अंगों में पीड़ा (हड़फूटन), हृदय में पीड़ा, कृशता तथा श्यावतायुक्त अरुण वर्ण की आभा—ये लक्षण होते हैं।

पित्तज मूर्च्छा

रक्तं हरितवर्णं वा वियत्पीतमथापि वा ।
पश्यंस्तमः प्रविशति सस्वेदश्च प्रबुध्यते ॥९॥
(सपिपासः ससन्तापो रक्तपीताकुलेक्षणः ।)
(जातमात्रे पतति च शीघ्रं च प्रतिबुध्यते ।)
संभिन्नवर्चाः पीताभो मूर्च्छाये पित्तसंभवे ॥१०॥

पित्तज मूर्च्छा का रोगी आकाश को लाल, हरा अथवा पीला देखता हुआ अन्धकार में प्रविष्ट होता है और होश में आते समय प्रस्वेद युक्त रहता है। वह प्यास, सन्ताप तथा लाल-पीले व्याकुल नेत्रों से युक्त रहता है; मूर्च्छा उत्पन्न होते ही गिर पड़ता है और शीघ्र ही मूर्च्छा दूर हो जाती है, उसका मल फटा हुआ और वर्ण पीताभ रहता है।

कफज मूर्च्छा

मेघसंकाशमाकाशमावृतं वा तमोघनैः ।
पश्यंस्तमः प्रविशति चिराच्च प्रतिबुध्यते ॥११॥
गुरुभिः प्रावृतैरङ्गैर्यथैवार्द्रेण चर्मणा ।
सप्रसेकः सहृल्लासो मूर्च्छाये कफसंभवे ॥१२॥

कफज मूर्च्छा का रोगी आकाश को बादलों के समान अथवा अन्धकार उत्पन्न करने वाले बादलों से ढका हुआ देखता हुआ अन्धकार में प्रविष्ट होता है और देर से होश में आता है। उसके अङ्ग भारी तथा गीले चमड़े से ढके हुए के समान रहते हैं तथा वह लालास्राव एवं हृल्लास से युक्त रहता है।

वक्तव्य—(१६०) मूर्च्छा उत्पन्न होते समय सर्व-प्रथम दृष्टि में विकृति उत्पन्न होती है। आकाश का वर्ण कुपित दोष के अनुरूप दिखाई देता है—वात से नीला; काला अथवा अरुण, पित्त से लाल, हरा अथवा पीला और कफ से मेघों के समान। इसके पश्चात् रोगी के नेत्रों के आगे अन्धकार छा जाता है और उसे ऐसा प्रतीत होता है मानों वह अन्ध-कार में प्रविष्ट होरहा है—यह दशा अस्थायी दृष्टि-नाश के कारण होती है। दृष्टि-नाड़ी के साथ ही सारे शरीर की संज्ञावह नाड़ियां अपना अपना कार्य बन्द कर देती हैं और मनुष्य मूर्च्छित हो जाता है।

सन्निपातज मूर्च्छा

सर्वाकृतिः सन्निपातादपस्मार इवागतः ।
स जन्तुं पातयत्याशु विना बीभत्सचेष्टितैः ॥१३॥

सन्निपातज मूर्च्छा सभी दोषों के लक्षणों से युक्त रहती है यह अपस्मार के समान आकर प्राणी को तुरन्त गिरा देती है। इसमें बीभत्स चेष्टाओं का अभाव रहता है।

वक्तव्य—(१६१) अपस्मार में दांत कटकटाना, मुंह से फेन निकलना आदि जो बीभत्स लक्षण होते हैं वे सन्निपातज मूर्च्छा में नहीं होते। किन्तु, जिस प्रकार अपस्मार रोगी को सम्हलने का अवसर दिये

बिना कहीं भी गिरा देता है उसी प्रकार यह सन्निपातज मूर्च्छा एकाएक आती है। अपस्मार के ही समान इस मूर्च्छा का दौरा भी लम्बे समय तक रहता है।

रक्तज मूर्च्छा के कारण

पृथिव्यापस्तमोरूपं रक्तगन्धस्तदन्वयः।
तस्माद्रक्तस्य गन्धेन मूर्च्छन्ति भुवि मानवाः ॥१४॥
द्रव्यस्वभाव इत्येके दृष्ट्वा यदभिमुह्यति।

पृथ्वी और जल में तमोगुण की प्रधानता है और रक्त की गन्ध उन्हीं से उत्पन्न है इसलिए रक्त की गन्ध से मनुष्य मूर्च्छित हो जाते हैं। कुछ लोग देखकर ही मूर्च्छित हो जाते हैं इस लिए कुछ आचार्यों का मत है कि यह द्रव्य-स्वभाव ही है।

वक्तव्य—(१६२) कुछ पदार्थों में ऐसे विशेष गुण हुआ करते हैं जिनके लिये कोई कारण नहीं बतलाया जा सकता—इस प्रकार के गुणों को द्रव्य-स्वभाव (पदार्थ विशेष का स्वाभाविक किन्तु विशिष्ट गुण जो उसके सजातीय अन्य पदार्थों में नहीं मिलता) कहते हैं। रक्त की गन्ध तमोगुण प्रधान होने के कारण मूर्च्छा लाती है किन्तु रक्त का दर्शन क्यों मूर्च्छा लाता है यह अज्ञात है इस लिये द्रव्य-स्वभाव कहा गया है।

अपना रक्त देखकर अधिकांश व्रण-रोगी मूर्च्छित हो जाते हैं किन्तु कुछ दुर्बल स्वभाव के व्यक्ति पराया रक्त देख कर भी मूर्च्छित हो जाते हैं। इसमें भय घृणा आदि कारण जिम्मेवार ठहराये जा सकते हैं किन्तु वस्तुतः यह रक्त के विशेष गुण के ही कारण होती है।

गुण तीन माने गये हैं—सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण। तमोगुण की अधिकता मूर्च्छा की उत्पत्ति के लिए आवश्यक है।

विषज और मद्यज मूर्च्छा के कारण

गुणास्तीव्रतरत्वेन स्थितास्तु विषमद्ययोः ॥१५॥
त एव तस्मात्ताभ्यां तु मोहौ स्यातां यथेरितौ।

विष और मद्य के गुण (अन्य पदार्थों की अपेक्षा) अधिक तीव्रता से स्थित रहते हैं इसलिये इन दोनों से आगे कहे हुए के अनुसार मूर्च्छाएं होती हैं।

रक्तज मूर्च्छा के लक्षण

स्तब्धाङ्गदृष्टिस्त्वसृजा गूढोच्छ्वासश्च मूर्च्छितः ॥१६॥

रक्तज मूर्च्छा में अङ्ग और दृष्टि स्तब्ध (निश्चल) रहते हैं और श्वास अस्पष्ट रूप से चलती है।

मद्यज मूर्च्छा के लक्षण

मद्येन विलपञ्शेते नष्टविभ्रान्तमानसः।
गात्राणि विक्षिपन् भूमौ जरां यावन्न याति तत् ॥१७॥

मद्यज मूर्च्छा में जब तक मद्य का पाचन नहीं होजाता तब तक रोगी बकवाद करता हुआ पड़ा रहता है, सोच विचार करने की शक्ति नष्ट या विभ्रान्त (विकृत) होजाती है और वह अङ्गों को भूमि पर पटकता रहता है।

विषज मूर्च्छा के लक्षण

वेपथुस्वप्नतृष्णाः स्युस्तमश्च विषमूर्च्छिते।
वेदितव्यं तीव्रतरं यथास्वं विषलक्षणैः ॥१८॥

विषज मूर्च्छा में शरीर कांपना, नींद, प्यास, तम (आंखों के आगे अंधेरा छा जाना) आदि लक्षण विष के निज लक्षणों की अपेक्षा तीव्रतर होते हैं।

मूर्च्छा, भ्रम, तन्द्रा और निद्रा में विभेद

मूर्च्छा पित्ततमःप्राया रजःपित्तानिलाद् भ्रमः।
तमोवातकफात्तन्द्रा निद्रा श्लेष्मतमोभवा ॥१९॥

पित्त और तमोगुण से मूर्च्छा; रजोगुण और वात से भ्रमरोग, तमोगुण, वात और कफ से तन्द्रा तथा तमोगुण और कफ से निद्रा की उत्पत्ति होती है।

भ्रम

(चक्रवद् भ्रमतो गात्रं भूमौ पतति सर्वदा।
भ्रमरोग इति ज्ञेयो रजःपित्तानिलात्मकः ॥१॥)

जिस रोग में शरीर चक्र के समान घूमता हुआ जमीन पर गिर पड़ता है उसे रजोगुण, वात और पित्त से उत्पन्न भ्रमरोग समझना चाहिये।

वक्तव्य—(१६३) इस रोग में रोगी को अपना शरीर अथवा आस-पास की वस्तुएं घूमती हुई प्रतीत होती हैं और वह गिर पड़ता है। वह कुछ देर के

लिये हतबुद्धि सा होजाता है किन्तु चेतना बनी रहती है।

तन्द्रा

इन्द्रियार्थेष्वसंवित्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः।
निद्रार्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत् ॥२०॥

इन्द्रियों के अर्थों (शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श) का भली भांति ग्रहण न होना, शरीर में भारीपन, जंभाई, थकावट और निद्रा से व्याकुल के समान जिसकी चेष्टाएं हों उसके रोग को तन्द्रा कहना चाहिये।

मूर्च्छा और संन्यास में विभेद

दोषेषु मदमूर्च्छायाः कृतवेगेषु देहिनाम्।
स्वयमेवोपशाम्यन्ति संन्यासो नौषधैर्विना ॥२१॥

प्राणियों के मद और मूर्च्छा के दोष वेग कर चुकने पर स्वयमेव शान्त होजाते हैं किन्तु संन्यास औषधि के बिना शांत नहीं होता।

संन्यास के लक्षण और सम्प्राप्ति

वाग्देहमनसां चेष्टामाक्षिप्यातिबला मलाः।
संन्यस्यन्त्यबलं जन्तुं प्राणायतनमाश्रिताः ॥२२॥
स न संन्याससंन्यस्तः काष्ठीभूतो मृतोपमः।
प्राणैर्विमुच्यते शीघ्रं मुक्त्वा सद्यःफलां क्रियाम् ॥२३॥

अत्यन्त बलवान् (कुपित) दोष प्राणों के स्थान में आश्रित होकर वाणी, देह और मन की चेष्टाओं को रोककर बलहीन प्राणी को समस्त (संन्यास-पीड़ित) कर देते हैं। इस प्रकार संन्यास से सन्त्रस्त प्राणी लकड़ी अथवा मुर्दे के समान होजाता है और यदि तत्काल फलदायक चिकित्सा न की जावे तो शीघ्र ही मर जाता है।

पाश्चात्य मत—

(१) मूर्च्छा (Syncope)—मस्तिष्क में रक्त की कमी हो जाने से मूर्च्छा होती है। अत्यन्त थोड़े से समय में ही मस्तिष्क में आवश्यकतानुसार रक्त पहुँच जाता है और मूर्च्छा दूर हो जाती है। इसके कारण रक्तवाहिनियों अथवा हृदय से सम्बन्धित रहते हैं। इस लिये उनके अनुसार इसके २ भेद किये जाते हैं—(१) वाहिनीजन्य मूर्च्छा और (२) हार्दिक मूर्च्छा।

(i) वाहिनीजन्य मूर्च्छा (Vascular syncope)—इसके पुनः ३ भेद हैं—

(अ) मन्या-विवर संरूप (Carotid sinus syndrome)—कुछ व्यक्तियों का मन्या-विवर अत्यन्त सम्वेदन-शील रहता है जिससे वहा किंचित् दबाव पड़ते ही मूर्च्छा आ जाती है। त्वचा पीताभ हो जाती है और आक्षेप भी उत्पन्न हो सकते हैं। मूर्च्छा लगभग आधे मिनट में ही दूर हो जाती है किन्तु मानसिक अस्थिरता कुछ अधिक काल तक रहती है।

(ब) आसन परिवर्तनजन्य मूर्च्छा (Postural-syncope)—इस प्रकार की मूर्च्छा अधिकतर वृद्ध व्यक्तियों को भोजन के बाद खड़े होते समय या नीचे झुकते समय प्लैहिक रक्तवाहिनियों में रक्त रुक जाने के कारण आजाती है।

(स) प्राणदा-धमनी आवेग (Vaso-vagal Attack)—यह मूर्च्छा प्राणदा नाड़ी (Vagus nerve) के कार्य में गड़बड़ी होने के फलस्वरूप रक्तप्रवाह में बाधा पहुँचने से उत्पन्न होती है। अत्यन्त गंभीर एवं लम्बी बीमारियों से क्षीण एवं दुर्बल हुए अथवा अत्यन्त थके हुए व्यक्तियों को खड़े होते समय, दुर्बल प्रकृति के व्यक्तियों को पीड़ा, दुख या भय पहुँचने पर तथा हृत्कपाटों के चिरकारी रोगों की अवस्था में प्राणदा धमनी के अतिकार्यशील हो जाने से हृदय-गति एवं रक्तनिपीड़ का ह्रास होकर इसकी उत्पत्ति होती है। मूर्च्छा आने के पूर्व घबराहट अवसाद, हृल्लास (अथवा मलत्याग की इच्छा) और दृष्टिमान्द्य आदि रूप होते हैं। इसके बाद ही मूर्च्छा उत्पन्न हो जाती है। इस समय त्वचा पीताभ एवं अत्यधिक प्रस्वेद युक्त हो जाती है, नाड़ी प्रारंभ में तीव्र रहती है किन्तु बाद में अत्यन्त मन्द हो जाती है तथा रक्तनिपीड़ अत्यन्त घट जाता है। कभी कभी आक्षेप भी उत्पन्न हो सकते हैं। मूर्च्छा

२ से १० मिनटों में दूर हो जाती है किन्तु अवसाद बेचैनी आदि लक्षण कई घण्टों तक रहते हैं।

(*ii*) हार्दिक मूर्च्छा (Cardiac syncope)—हृत्स्तम्भ (Heart-block), शीघ्रहृदयता (Tachycardia), हृदय की पेशियों में सौत्रिक परिवर्तन (Fibroid changes of the Heart muscles) अथवा महाधमनी के रोगों के कारण हार्दिक मूर्च्छा उत्पन्न होती है। यह मूर्च्छा अपेक्षाकृत अधिक काल तक रहती है तथा इसमें नाड़ी अत्यन्त दुर्बल एवं मन्द रहती है और पीताभता अधिक स्पष्ट रहती है। इसके अतिरिक्त, लेटे रहने की दशा में इसका आक्रमण कदापि नहीं होता।

अत्यधिक परिश्रम के कारण उत्पन्न होने वाली मूर्च्छा भी इसी कोटि में आती है। रोगी इसके पूर्व पूर्णतया स्वस्थ हुआ करता है किन्तु अचानक शक्ति के बाहर परिश्रम कर डालने से मूर्च्छा आ जाती है अवसाद, भ्रम, हृल्लास, वमन आदि होकर निपात होता है। त्वचा पीताभ, नाड़ी-गति तीव्र, क्षुद्रश्वास, हृदयाग्र भाग में पीड़ा आदि लक्षण होते हैं तथा हृदय के दक्षिण भाग का अतिपात होता है। रोगी काफी समय तक के लिये काम-काज करने में असमर्थ हो जाता है।

(२) भ्रम (Vertigo, Dizziness or Giddiness) इस रोग में समय समय पर रोगी को ऐसा प्रतीत होता है जैसे वह अथवा उसके आस पास के पदार्थ घूम रहे हों। इसके निम्न कारण हैं—

(i) आभ्यन्तर विष—तीव्र संक्रामक ज्वरों का विष प्रभाव।

(ii) बाह्य विष—अन्न-विष, तम्बाखू, मद्य, अहिफेन, क्लोरोफार्म, क्विनीन, सेलीसिलेट, स्ट्रैप्टोमाइसीन इत्यादि तथा आमाशय में क्षोभ एवं प्रदाह उत्पन्न करने वाले मरिचादि कटु, तीक्ष्ण पदार्थ।

(iii) नेत्रगत कारण—बहुत ऊंचे स्थान से नीचे देखना, द्वय-दृष्टि, तिर्यग्दृष्टि आदि।

(iv) कर्णगत कारण—कान में मैल का अत्यधिक जमाव, बधिरता, श्रुति-नाड़ी में अर्बुदोत्पत्ति, श्रुति-सुरंगिका का प्रसेक आदि।

(v) मस्तिष्क-गत रक्तसंवहन में गड़बड़ी—रक्तक्षय, रक्ताभिसरण क्रिया की दुर्बलता, हृत्स्तंभ (Heart block), उच्च रक्त निपीड़ (Hypertension, High Blood-pressure), ऐडीसन का रोग आदि के कारण।

(vi) मस्तिष्कादिगत विकार—सूर्यावर्त (Migrine), अपस्मार (दौरा आने के पूर्व), चिरकारी वृक्क-प्रदाहजन्य मस्तिष्क-विकार, मस्तिष्कगत दबाव की वृद्धि, मस्तिष्क-प्रदाह, मस्तिष्क-विद्रधि, अर्बुद, धमनी में घनास्रता (विशेषतः पश्चिम धमिल्लकीय धमनी में), मैनियर का रोग (Meriere's Disease) इत्यादि।

(vii) शारीरिक क्रियाएं—नाचना, चकरी या झूले पर झूलना, तैरना, चिकने फिसलनयुक्त स्थल पर चलना, रेल, मोटर, नाव आदि से यात्रा करना आदि।

मैनियर का रोग (Meniere's Disease), तुम्बिकाधारीय भ्रमरोग (Vestibular Vartigo) अथवा कान्तारकीय भ्रम रोग (Labyrinthine Vertigo)—वाहिनी नियंत्रक नाड़ियों के विकार, संक्रमण, विष, धमनी जठरता, लवण के समवर्त (Metabolism) सम्बन्धी विकार, अनूर्जता (असहिष्णुता, Allergy) आदि कारणों से कान्तारकीय नाड़ी में विकार उत्पन्न होकर इस रोग की उत्पत्ति होती है। अधिकतर प्रौढ़ या वृद्ध व्यक्ति आक्रान्त होते हैं।

यह रोग प्रावेगी प्रकार का है। समय समय पर इसके प्रावेग (दौरे) आते हैं जिनमें असह्य कष्टदायक भ्रम और कर्णनाद होते हैं, थोड़ी बधिरता उत्पन्न होती है तथा हृल्लास, वमन, पीताभता आदि उत्पन्न होकर रोगी गिर पड़ता है और कुछ काल तक एकदम शान्त पड़ा रहता है अथवा संज्ञाहीन हो जाता है। इस समय त्वचा पीताभ और ठण्डे पसीने से तर

रहती है। कुछ मामलों में एकाङ्गी नेत्रप्रचलन (एक ओर की नेत्रतारिका का यहां वहां नाचना, Unilateral Nystagmus) अथवा अन्य धमिल्लकीय लक्षण भी पाये जा सकते हैं। प्रावेग कुछ मिनटों से लेकर कई घण्टों तक रह सकता है और उसके दूर होने पर रोगी तब तक के लिये लगभग पूर्ण स्वस्थ हो जाता है जब तक कि दूसरा प्रावेग नहीं आता। कुछ रोगियों में प्रावेग के अतिरिक्त काल में भी किंचित बधिरता, भ्रम, कर्णनाद आदि लक्षण कुछ न कुछ अंशों में मौजूद रहते है। कुछ मामलों में बधिरता क्रमशः बढ़ती जाती है ।

(३) संन्यास (Coma)—यह पूर्ण संज्ञाहीनता की दशा है जिसमें से रोगी को आसानी से जगाया नहीं जा सकता। रोगी इस प्रकार पड़ा रहता है जैसे सो रहा हो और घर्घराहटयुक्त श्वास चलती है। गंभीर प्रकार के संन्यास में संकोचिनी पेशियां ढीली पड़ जाती हैं जिससे मल-मूत्रादि का विसर्जन अनैच्छिक रीति से होने लगता है तथा कई प्रकार के प्रतिक्षेप नष्ट हो जाते हैं । अत्यन्त सौम्य प्रकार के संन्यास को तन्द्रा (Stupor) कहते हैं; यदि तन्द्रा की उपेक्षा की जावे तो अन्त में संन्यास हो जाता है ।

संन्यास की उत्पत्ति निम्न कारणों से होती है-

(*i*) अभिघात—खोपड़ी पर जोरदार अभिघात लगने के कारण अस्थिभग्न अथवा रक्तस्राव होकर मस्तिष्क का सम्पीडन या स्तब्धता होना।

(*ii*) मस्तिष्कगत रक्तसंवहन में गड़बड़ी—मस्तिष्क एवं उसके समीपस्थ भागों की किसी धमनी में घनास्रता, अन्तःशल्यता अथवा उसमें रक्तस्राव, शरीर के अन्य अवयवों के रोगों के कारण रक्ताल्पता अथवा मस्तिष्क तक रक्त पहुँचने में रुकावट।

(*iii*) मस्तिष्कगत रोग—प्रदाह, मृदुता, जठरता अर्बुद, विद्रधि, रक्तार्बुद आदि तथा अपस्मार के उपद्रव।

(*iv*) हिस्टीरिया—इसमें अधिकतर लाक्षणिक अचेतनता के ही प्रावेग आते हैं किन्तु कभी कभी संन्यास भी पाया जाता है।

(*v*) विष—मद्य, अहिफेन, नाग, क्लोरोफार्म, ईथर, इन्सुलीन, क्लोरल हाइड्रेट, बारबिच्युरेट, ब्रोमाइड, कार्बन मोनोक्साइड, कार्बनडायआक्साइड, कार्बोलिक ऐसिड, मांसगर, फास्फोरस आदि ।

(*vi*) तीव्र संक्रामक ज्वर—प्रधानतः तन्द्रिक ज्वर (*Trypanosomiasis*), आन्त्रिक ज्वर, गम्भीर तृतीयक विषमज्वर, पीत ज्वर, अग्निरोहिणी (प्लेग, *Plague*), मस्तिष्कावरण प्रदाह, दोषमयता, आदि ।

(*vii*) अंशुघात

(*viii*) आभ्यन्तर विष—मूत्रमयता, मधुमेह, ऐडीसिन का रोग, अम्लोत्कर्ष (*Acidosis*), अवटुका-विकार जन्य श्लेष्म-शोथ (*Myxoedema*), तीव्र यकृत कोथ (*Acute Hepatic Necrosis*), आदि के आभ्यन्तर विष।

(*ix*) कृमि रोग—गण्डूपद कृमि (केंचुए, पटार)

(*x*) वायुनिपीड़ में सहसा परिवर्तन—डुबकी लगाने अथवा राकेट आदि में ऊंची उड़ान भरने के कारण।

(*xi*) अंतिम दशाएें—कालज्वर (*Kala-azar*) वैनाशिक रक्तक्षय (*Pernicious Anamia*), श्वेतमयता (*Leukaemia*), यकृद्दाल्युत्कर्ष आदि रोगों की।

संन्यास किसी भी कारण से हो, सदैव ही घातक माना जाता है। कुछ प्रकारों को छोड़कर शेष सभी प्रकार का संन्यास असाध्य है। इतिहास तथा लगभग सभी प्रकार की परीक्षाओं के आधार पर कारण तक पहुँचने का प्रयास करना चाहिए। रोगी के हृदयादि की रक्षा करते हुए कारण की चिकित्सा करने पर ही आरोग्य-प्राप्ति की संभावना रहती है।

: १८ :

मदात्यय रोग

(पानात्यय, परमद, पानाजीर्ण, पानविभ्रम)

हेतु

ये विषस्य गुणाः प्रोक्तास्तेऽपि मद्ये प्रतिष्ठिताः।
तेन मिथ्योपयुक्तेन भवत्युग्रो मदात्ययः ॥१॥

विष के जो गुण कहे गये हैं वे मद्य में भी स्थित हैं इस लिए मद्य के मिथ्यायोग से उग्र स्वभाव वाला मदात्यय रोग उत्पन्न होता है।

वक्तव्य—(१६४) चरक के मतानुसार विष और मद्य के गुण—

लघुरूक्षमाशुविशदं व्यवायि तीक्ष्णं विकाशि सूक्ष्मञ्च।
उष्णं अनिर्देश्यरसं दशगुणयुक्तं विषं तज्ज्ञैः॥
(चरक चिकित्सास्थान अ० २३, श्लोक २३)

अर्थात्, विद्वानों के द्वारा विष दस गुणों से युक्त कहा गया है—लघु, रूक्ष, आशु, विशद, व्यवायि, तीक्ष्ण, विकाशी, सूक्ष्म, उष्ण और अनिर्देश्य-रस।

लघूष्णतीक्ष्णसूक्ष्माम्लव्यवाय्याशुगमेव च।
रूक्षं विकाशि विशदं मद्यं दशगुणं स्मृतम्॥
(चरक चिकित्सास्थान अध्याय २४ श्लोक २६)

अर्थात, मद्य दश गुणों से युक्त माना गया है—लघु, उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, अम्ल, व्यवायी, आशुग, रूक्ष, विकाशी और विशद।

उक्त श्लोकों में विष और मद्य के १०-१० गुण बतलाये गये हैं जिनमें ६ समान हैं, अन्तर केवल रस (स्वाद) में है। विष का रस अनिर्देश्य (जो बतलाया न जा सके) है और मद्य का रस अम्ल है।

अन्य संहिताकारों के मत से भी मद्य और विष के गुणों में समानता है। विस्तार भय से यहां उन सब में से उद्धरण नहीं दिये जा सकते।

किस प्रकार किया गया मद्यपान हितकारी है तथा किसे और किन अवस्थाओं में मद्यपान नहीं करना चाहिए आदि विषयों का विषद विवेचन चरक संहिता के चिकित्सास्थान के अध्याय २४ में किया गया है। जिज्ञासू जन वही देखने का कष्ट करें।

मद्य की रसायन प्रतिपादिता

किंतु मद्यं स्वभावेन यथैवान्नं तथा स्मृतम्।
अयुक्तियुक्तं रोगाय युक्तियुक्तं यथाऽमृतम् ॥२॥
प्राणाः प्राणभृतामन्नं तदयुक्त्या हिनस्त्यसून्।
विषं प्राणहरं तच्च युक्तियुक्तं रसायनम् ॥३॥

किन्तु मद्य स्वभावतः अन्न के समान ही माना गया है। अयुक्तिपूर्वक सेवन करने पर वह रोगोत्पादक है किन्तु युक्तिपूर्वक सेवन करने पर अमृत के समान है। अन्न प्राणियों का प्राण है किन्तु वह भी अयुक्तिपूर्वक सेवन करने पर प्राणघातक है। विष प्राणहर है किन्तु वह भी युक्तिपूर्वक सेवन करने पर रसायन है।

वक्तव्य—(१६५) सभी वैद्य भलीभांति जानते हैं कि अयुक्तिपूर्वक (विधि-विरुद्ध) सेवित अन्न विसूचिकादि अनेक रोगों की उत्पत्ति करके मृत्यु तक करा सकता है और यह भी सभी जानते हैं कि विधिपूर्वक सेवित संखिया, बच्छनाग आदि विष भी प्राणरक्षक होते हैं।

विधिपूर्वक सेवित मद्य के गुण

विधिना मात्रया काले हितैरन्नैर्यथाबलम्।
प्रहृष्टो यः पिबेन्मद्यं तस्य स्यादमृतोपमम् ॥४॥
स्निग्धैस्तदन्नैर्मांसैश्च भक्ष्यैश्च सह सेवितम्।
भवेदायुःप्रकर्षाय बलायोपचयाय च ॥५॥

काम्यता मनसस्तुष्टिस्तेजो विक्रम एव च।
विधिवत्सेव्यमाने तु मद्ये संनिहिता गुणाः ॥६॥

विधिपूर्वक, उचित मात्रा में, समय और बल का विचार करके प्रसन्नचित्त होकर जो व्यक्ति हितकारक अन्न के साथ मद्य पीवे वह उसके लिए अमृत के समान होती है। स्निग्ध अन्न, मांस एवं अन्य भक्ष्य पदार्थों के साथ सेवित होने पर वह आयु, बल और धातुओं की वृद्धि करती है। मद्य का सेवन विधिवत् करते रहने से सुन्दरता, सन्तोष, तेज और पराक्रम सदृश गुणों की उपलब्धि होती है।

वक्तव्य—(१६६) मद्य का विधिवत् सेवन उन्हीं के लिये संभव है जो अत्यन्त संयमी हों अन्यथा लत पड़ जाती है और फिर मात्रा, समय आदि का कुछ भी विचार करना असंभव सा हो जाता है जिसके फलस्वरूप शरीर दुर्बल एवं रोगी होजाता है। इसके अतिरिक्त संहिताकारों में मद्यसेवन की जो विधि बतलायी है वह इतनी खर्चीली है कि करोड़पतियों के लिये ही सुलभ होसकती है। फिर आजकल यह देखा जाता है कि धनी लोग प्रायः संयमी नहीं होते इसलिये वे भी मद्य से कोई लाभ उठा सकेंगे इसमें सन्देह है।

प्रथम मद

बुद्धिस्मृतिप्रीतिकरः सुखश्च
पानान्ननिद्रारतिवर्धनश्च।
संपाठगीतस्वरवर्धनश्च
प्रोक्तोऽतिरम्यः प्रथमो मदो हि ॥७॥

प्रथम मद अत्यन्त आनन्ददायक, बुद्धि, स्मरणशक्ति, प्रीति और सुख को उत्पन्न करने वाला, खाने, पीने और सोने की इच्छा को बढ़ाने वाला तथा पाठ करने, गाने आदि में स्वर को बढ़ाने वाला कहा गया है।

वक्तव्य—(१६७) मद्य से होने वाले नशे के ४ प्रकार बतलाये गये हैं—अल्प मात्रा में पीने से जो हल्का नशा आता है उसे प्रथम मद कहते हैं; उससे अधिक पीने पर द्वितीय मद, उससे भी अधिक पीने पर तृतीय मद और अत्यधिक पीने पर चतुर्थ मद होता है। शेष मदों के लक्षण आगे देखिये—

द्वितीय मद
अव्यक्तबुद्धिस्मृतिवाग्विचेष्टः

सोन्मत्तलीलाकृतिरप्रशान्तः ।
आलस्यनिद्राभिहतो मुहुश्च
मध्येन मत्तः पुरुषो मदेन ॥८॥

मध्यम (द्वितीय) मद की अवस्था में मनुष्य की बुद्धि, स्मृति और वाणी अव्यक्त होजाती है, चेष्टाएं विकृत हो जाती हैं और वह अशान्त होकर पागलों के समान आचरण करता है तथा आलस्य और निद्रा के वशीभूत हो जाता है।

तृतीय मद

गच्छेदगम्यान्न गुरूंश्च मन्येत्
खादेदभक्ष्याणि च नष्टसंज्ञः ।
ब्रूयाच्च गुह्यानि हृदि स्थितानि
मदे तृतीये पुरुषोऽस्वतन्त्रः ॥९॥

तृतीय मद में मनुष्य अपने वश में नहीं रह जाता; वह अगम्या स्त्रियों से समागम कर सकता है (अथवा अगम्य स्थानों में जा सकता है); बड़ों (गुरु, माता, पिता आदि) का अपमान कर सकता है; अभक्ष्य पदार्थों को खा सकता है, अपने हृदय की गुप्त बातों को कह सकता है और संज्ञाहीन (अविवेकी) हो जाता है।

चतुर्थ मद

चतुर्थे तु मदे मूढो भग्नदार्विव निष्क्रियः ।
कार्याकार्यविभागज्ञो मृतादप्यपरो मृतः ॥१०॥

चतुर्थ मद में मनुष्य मूर्च्छित एवं टूटी हुई लकड़ी के समान निष्क्रिय हो जाता है; करने योग्य और न करने योग्य का भेद समझने में असमर्थ हो जाता है और मुर्दे से भी गया बीता हो जाता है।

तृतीय और चतुर्थ मदों की निन्दा

को मदं तादृशं गच्छेदुन्मादमिव चापरम् ।
बहुदोष मिवामूढः कान्तारं स्ववशः कृती ॥११॥

जो मूर्ख नहीं है (अथवा होश में है), अपने वश में है और कृतकार्य है ऐसा कौन सा व्यक्ति होगा जो इस प्रकार के उन्माद सदृश और दूसरे (चौथे) सन्निपात सदृश मद रूपी कुमार्ग पर (अथवा वन में) जाना चाहेगा!

टिप्पणी—बहुदोषम्=त्रिदोषम्, सन्निपातम् ।
कान्तारम्=कुमार्गम, वनम् ।

वक्तव्य—(१६८) मधुकोपकार ने 'बहुदोषम्' का अर्थ हिंसादियुक्त करते हुए कान्तारम् से सम्बन्ध स्थापित किया है। इस रीति से अन्वय करने पर निम्न अर्थ होता है।

'जो मूर्ख नहीं है, अपने वश में है और कृतकार्य है ऐसा कौनसा व्यक्ति होगा जो इस उन्माद सदृष मद को प्राप्त करे! ऐसा कौन होगा जो हिंस्र पशुओं आदि से युक्त वन में (व्यर्थ ही) जावे।' पाठकों को जो अर्थ उचित प्रतीत हो ग्रहण करें।

मद्यपान के अयोग्य दशाएं

निर्भक्तमेकान्ततत एव मद्यं
निषेव्यमाणं मनुजेन नित्यम् ।
आपादयेत्कष्टतमान्विकारा-
नापादयेच्चापि शरीरभेदम् ॥१२॥
क्रुद्धेन भीतेन पिपासितेन
शोकाभितप्तेन बुभुक्षितेन ।

व्यायामभाराध्वपरिक्षतेन
वेगावरोधाभिहतेन चापि ॥१३॥
अत्यम्बुभक्षावततोदरेण
साजीर्णभुक्तेन तथाऽबलेन ।
उष्णाभितप्तेन च सेव्यमानं
करोति मद्यं विविधान्विकारान् ॥१४॥

यदि मनुष्य प्रतिदिन खाली पेट अकेली मद्य का सेवन करता रहे तो वह अत्यन्त कष्टदायक (अथवा कष्टसाध्य) विकारों को उत्पन्न करती है तथा मृत्युकारक तक होती है। क्रुद्ध, भयभीत, प्यासे, शोकाकुल, भूखे, व्यायाम, भारवहन या मार्ग गमन से थके हुए, वेग रोके हुए, अत्यधिक जल या / और भोजन से पेट भरे हुए, अजीर्णावस्था में ही जिसने भोजन किया हो (अथवा अपक्व भोजन के साथ), तथा कमजोर और उष्णता से तपे हुए व्यक्तियों के द्वारा सेवित मद्य अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न करती है।

विधिविरुद्ध मद्यपान से उत्पन्न रोग

पानात्ययं परमदं पानाजीर्णमथापि वा ।
पानविभ्रममुग्रं च तेषां वक्ष्यामि लक्षणम् ॥१५॥

(वे विकार) पानात्यय, परमद, पानाजीर्ण और पान-विभ्रम (हैं)। उनके लक्षण कहूँगा—

पानात्यय (मदात्यय) के दोषानुसार लक्षण

हिक्काश्वासशिरःकम्पपार्श्वशूलप्रजागरैः ।
विद्याद्बहुप्रलापस्य वातप्रायं मदात्ययम् ॥१६॥
तृष्णादाहज्वरस्वेदमोहातीसारविभ्रमैः ।
विद्याद्धरितवर्णस्य पित्तप्रायं मदात्ययम् ॥१७॥
छर्द्यरोचकहृल्लासतन्द्रास्तैमित्यगौरवैः ।
विद्याच्छीतपरीतस्य कफप्रायं मदात्ययम् ।
ज्ञेयस्त्रिदोषजश्चापि सर्वलिङ्गैर्मदात्ययः ॥१८॥

हिक्का, श्वास, सिर कांपना, पार्श्वशूल और अनिद्रा से युक्त बहुत प्रलाप करने वाले के रोग को वातज मदात्यय समझना चाहिए।

तृष्णा, दाह, ज्वर, स्वेद, मूर्च्छा, अतिसार और भ्रमरोग से युक्त हरित वर्ण वाले रोगी के रोग को पित्तज मदात्यय समझना चाहिए।

वमन, अरुचि, हृल्लास, तन्द्रा, स्तैमित्य (शरीर गीले वस्त्र से पोंछे हुए के समान प्रतीत होना) और गौरव से युक्त तथा जिससे ठण्ड अधिक लगती हो उसके रोग को कफज मदात्यय समझना चाहिए।

सभी दोषों से युक्त मदात्यय को त्रिदोषज समझना चाहिए।

परमद के लक्षण

श्लेष्मोच्छ्रयोऽङ्गगुरुता विरसास्यता च
विण्मूत्रसक्तिरथ तन्द्रिररोचकश्च ।
लिङ्गं परस्य च मदस्य वदन्ति तज्ज्ञा-
स्तृष्णा रुजा शिरसि सन्धिषु चापि भेदः ॥१९॥

विद्वान् लोग परमद के लक्षण बतलाते हैं—कफ-वृद्धि, अङ्गों में भारीपन, मुंह में विरसता, मल-मूत्र का अवरोध, तन्द्रा, अरुचि, तृष्णा, सिरदर्द और संधियों में वेधनवत् पीड़ा।

पानाजीर्ण के लक्षण

आध्मानमुग्रमथ चोद्गिरणं विदाहः
पानेऽजरां समुपगच्छति लक्षणानि ।

मद्य का पाचन न होने पर (पानाजीर्ण होने पर) उग्र प्रकार का आध्मान, डकार के साथ उदर-गत पदार्थ ऊपर चढ़ना और दाह—ये लक्षण होते हैं।

पानविभ्रम के लक्षण

हृद्गात्रतोदकफसंस्रवकण्ठधूमा
मूर्च्छावमिज्वरशिरोरुजनप्रदाहाः ॥२०॥
द्वेषः सुरान्नविकृतेष्वपि तेषु तेषु
तं पानविभ्रममुशन्त्यखिलेन धीराः ।

हृदय एवं सर्वाङ्ग में तोद (सुई चुभाने के समान पीड़ा) कफस्राव, कण्ठ से धुवां निकलने के समान अनुभव होना, मूर्च्छा, वमन, ज्वर, सिर में दर्द, दाह तथा उन्हीं शराबों और भोजनों (जिनका सेवन पहले किया जाता था) के प्रति अरुचि—ये लक्षण जिसमें हों उसे धीरजन पानविभ्रम कहते हैं।

वक्तव्य—(१६१) उक्त पानात्यय, परमद, पानाजीर्ण और पानविभ्रम का वर्णन सुश्रुत संहिता में से लिया गया है।

चरक ने पानात्यय के अतिरिक्त ध्वंसक और विक्षेपक (पाठान्तर में विट्क्षय और विक्षय) रोगों का वर्णन किया है—

विच्छिन्नमद्यः सहसा योऽतिमद्यं निषेवते ।
ध्वंसो विक्षेपकश्चैव रोगस्तयोपजायते ॥

शराब का व्यसन छोड़ चुकने के बाद (अथवा शराब का वेग उतरने के बाद) अचानक जो व्यक्ति बहुत अधिक मात्रा में शराब पीता है उसे ध्वंसक और विक्षेपक रोग हो जाते हैं।

व्याध्युपक्षीणदेहस्य दुश्चिकित्स्यतमौ हि तौ ।
तयोर्लिगं चिकित्सा च यथावदुपदेक्ष्यते ॥

व्याधियों से क्षीण शरीर वाले के ये दोनों रोग अत्यन्त कष्टसाध्य हैं। उनके लक्षण और चिकित्सा यथावत् कहे जाते हैं।

श्लेष्मप्रसेकः कण्ठास्यशोषः शब्दासहिष्णुता ।
तन्द्रनिन्द्राभियोगश्च ज्ञेयं ध्वंसकलक्षणम् ॥

कफ थूकना, कण्ठ और मुख सूखना, आवाज (शोर-गुल) सहन न होना, तन्द्रा की अधिकता ध्वंसक के लक्षण हैं।

हृत्कण्ठरोधः संमोहश्छर्दिरङ्गरुजा ज्वरः ।
तृष्णा कासः शिरःशूलमेतद्विक्षेपलक्षणम् ॥

हृदय और कण्ठ में अवरोध, मूर्च्छा, वमन, अंगों में पीड़ा, ज्वर, तृष्णा, कास, सिरदर्द—ये विक्षेपक के लक्षण हैं।

तयोः कर्म तदेवेष्टं वातिके यन्मदात्यये ।
तौ हि प्रक्षीणदेहस्य जायेते दुर्बलस्य वै ॥

इन दोनों में वही चिकित्सा प्रशस्त है जो वातज मदात्यय की है। ये दोनों रोग दुर्बल और क्षीण व्यक्तियों को होते हैं।

सुश्रुताचार्य ने इस प्रकरण को इतना ही कहकर समाप्त कर दिया है कि—

विच्छिन्नमद्यः सहसा योऽतिमद्यं निषेवते ।
तस्य पानात्ययोद्दिष्टा विकाराः संभवन्ति हि ॥

जो व्यक्ति शराब का व्यसन छोड़ने (या वेग उतरने) के बाद अचानक बहुत अधिक शराब पीता है उसे पानात्यय में कहे हुए विकार उत्पन्न होते हैं।

(सुश्रुत उत्तर तंत्र अध्याय ४७ श्लोक ४७)

चरक ने परमद, पानाजीर्ण और पानविभ्रम का वर्णन नहीं किया; उनका समावेश मदात्यय में ही कर लिया है।

असाध्य लक्षण

हीनोत्तरौष्ठमतिशीतममन्ददाहं
तैलप्रभास्यमपि पानहतं त्यजेत्तु ॥२१॥
जिह्वौष्ठदन्तमसितं त्वथवाऽपि नीलं
पीते च यस्य नयने रुधिरप्रभे वा ।

जिसका ऊपरी ओंठ क्षीण हो गया हो, जिसका शरीर अत्यन्त शीतल हो, जिसे अत्यन्त तीव्र दाह होता हो, जिसके मुख पर तेल लगाते हुए के समान चमक हो, जीभ, ओंठ और दांत काले या नीले पड़ गये हों और जिसके नेत्र पीले या लाल हो वह मदात्यय रोगी त्याज्य है।

वक्तव्य—(१७०) मधुकोपकार ने 'हीनोत्तरौष्ठं' का अर्थ प्रलम्बमानोपरितनौष्ठम् (बढ़ा हुआ या लटका हुआ ऊपरी ओंठ) किया है। इस प्रकार विपरीत अर्थ किस आधार पर किया गया है यह अपनी समझ के बाहर की बात है।

मदात्यय के उपद्रव

हिक्काज्वरौ वमथुवेपथुपार्श्वशूलाः
कासभ्रमावपि च पानहतं भजन्ते ॥२२॥

मदायत्य रोगियों को हिक्का, ज्वर, वमन, कम्प, पार्श्वशूल, कास और भ्रम भी होते हैं।

पाश्चात्य मत—

मदात्यय रोग (*Alcoholism*)—तीव्र और चिरकारी भेद से मदात्यय रोग दो प्रकार का माना गया है।

(*i*) तीव्र मदात्यय (*Acute Alcoholism*)—अधिक मात्रा में मद्यपान कर लेने पर मांस-पेशियां सम्यग् रीति से काम नहीं करतीं, मानसिक विकृति

होती है और अन्त में निन्द्रा आ जाती है। रोगी का चेहरा रक्ताधिक्य से लाल रहता है किन्तु कुछ मामलों में श्यावता हो सकती है। नेत्र-कनीनिकाएं प्रसारित रहती हैं। नाड़ी भरी हुई, श्वास गंभीर एवं कभी कभी घर्घर युक्त होती है। शरीर का उत्ताप अक्सर सामान्य से कम होता है और यदि रोगी शीतल वातावरण में रहा हो तो अत्यन्त कम हो सकता है। टेलर (*Taylor*) ने अपनी पुस्तक में एक ऐसे रोगी का उल्लेख किया है जिसका उत्ताप अस्पताल में भरती होते समय ७५° था और १० घण्टे बाद ९१° तक पहुंच पाया था। रोगी संज्ञाहीन हो जाता था किन्तु संज्ञाहीन अवस्था शायद ही कभी इतनी प्रबल रहती है कि उसे जगाया न जा सके, पुकारने पर वह धीरे धीरे कुछ बड़बड़ाता है। मांस पेशियों में उद्वेष्ठन हो सकते हैं किन्तु आक्षेप प्रायः नहीं आते। श्वास में शराब की गन्ध आती है।

(*ii*) चिरकारी मदात्यय (*Chronic Alcoholism*)—अल्पमात्रा या अधिक मात्रा में दीर्घकाल तक मद्य का सेवन करने से इसकी उत्पत्ति होती है। मद्य का चिरकालीन प्रयोग शरीर के विभिन्न अंगों में विकार अवश्य पैदा करता है किन्तु सभी मामलों में वे विकार इतने प्रबल नहीं होते कि रोग के स्पष्ट लक्षण उत्पन्न कर सकें; केवल कुछ ही मामलों में स्पष्ट रोगोत्पत्ति होती है।

वातनाड़ी संस्थान के विकार अत्यधिक पाये जाते हैं। काम करते समय हाथ कांपना और बोलते समय जीभ लड़खड़ाना सामान्य लक्षण हैं। मानसिक क्रियाएं क्षीण हो जाती हैं किन्तु मद्य का सेवन कर लेने पर कुछ अंशों में ठीक हो जाती हैं। स्वभाव क्रमशः परिवर्तित होता जाता है—चिड़चिड़ापन उत्पन्न हो जाता है और भूलने की आदत हो जाती है। सोचने की शक्ति भी क्षीण होजाती है और मन स्थिर नहीं रहता। कुछ को उन्माद और बहुतों को अपस्मार होजाता है। वातनाड़ी प्रदाह किसी भी भाग में या सर्वांग में हो जाता है जिससे झुनझुनी, फटने के समान पीड़ा आदि लक्षण होते हैं। कुछ रोगियों को मस्तिष्कावरण प्रदाह या मस्तिष्क–मस्तिष्कावरण प्रदाह हो जाता है।

पचन-संस्थान में आमाशय सबसे अधिक प्रभावित होता है। अधिकांश रोगियों में चिरकारी आमाशय प्रदाह पाया जाता है। भूख ठीक ठीक नहीं होती, अन्न का पाचन भली-भांति नहीं होता, जिह्वा मलावृत्त रहती है और श्वास में दुर्गन्ध आती है। यकृत में मेद वृद्धि होती है और अन्ततोगत्वा यकृद्दाल्युत्कर्ष होता है। आमाशय और यकृत में विकार उत्पन्न होने पर चेहरे में स्पष्ट परिवर्तन लक्षित होते हैं—गालों और नासिका की केशिकाएं विस्फारित होकर लाल हो जाती हैं और अजीर्णज मुख-दूषिका (*Acne Roseaca*) उत्पन्न होती है; नेत्र अश्रुप्लावित एवं लाल या पीले रहते हैं।

रक्तवह संस्थान में रक्तवाहिनियों में भित्ति-व्रण (*Atheroma*) उत्पन्न होते हैं और हृदय में मेद वृद्धि एवं तन्तूत्कर्ष होता है। कुछ रोगियों में धमनी जठरता और हार्दिक-विस्फार की उत्पत्ति होती है।

वृक्कों में भी मेद-वृद्धि होती है और चिरकारी वृक्क प्रदाह होता है।

कुछ रोगियों में बार-बार अभिष्यन्द और प्रतिश्याय की उत्पत्ति, कुछ में सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति का विनाश और कुछ में वातरक्त, आमवात आदि की उत्पत्ति होती है। पहले यह विश्वास किया जाता था कि मद्य-सेवन से राजयक्ष्मा होने की संभावना नहीं रहती किन्तु यह निश्चित रूप से देखा जा चुका है कि शराबी राजयक्ष्मा से अतिशीघ्र आक्रान्त हो जाते हैं।

मद्य के व्यसनियों पर प्रायः सभी रोगों का आक्रमण अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा शीघ्र होता है और उनके रोग अधिक बलवान एवं कष्टसाध्य होते हैं।

मद्यज प्रलाप (*Delirium Tremens*)—यह चिरकारी मदात्यय में होने वाला एक उपद्रव है। हमेशा पीते रहने वालों को किसी समय अधिक पी लेने पर इसका आक्रमण हो जाता है। प्रारम्भ के दिन रोगी बेचैन और अवसादग्रस्त रहता है इस लिये और भी अधिक मद्य पीने के लिये बाध्य होता है, फिर एक या दो दिनों में प्रलाप आरम्भ होता है। रोगी लगातार बे-सिर-पैर की बातें बकता है। उसे ऐसे पदार्थ या जीव जन्तु दिखाई देते हैं जो वहां हैं ही नहीं। उनसे वह डरता या उत्तेजित होता है। इसी प्रकार वह तरह तरह की आवाजें सुनता और भयभीत होता है। इस दशा में वह भाग सकता है और खिड़की, छत आदि से कूद सकता है। मांस-पेशियों में अकड़न होती है। जीभ मल-युक्त रहती है और निकालने पर कांपती है। साधारण ज्वर प्रायः सभी मामलों में रहता है किन्तु गम्भीर मामलों में तीव्र ज्वर हो सकता है। नाड़ी मृदु और तीव्र गामिनी रहती है। नींद नहीं आती।

सामान्य प्रकार में तीसरे या चौथे दिन बेचैनी कम होती है और रोगी सो जाता है। जागने पर काफी सुधार लक्षित होता है किन्तु पेशियों की अकड़न कई दिनों तक रहती है। गम्भीर प्रकार में लक्षण क्रमशः उग्र होते जाते हैं, नाड़ी अधिक तीव्रगामिनी एवं कमजोर हो जाती है और रोगी अत्यन्त कमजोर होकर हृदयातिपात से मर जाता है।

: १९ :

दाह रोग

मद्यज दाह

त्वचं प्राप्तः स पानोष्मा पित्तरक्ताभिमूर्च्छितः।
दाहं प्रकुरुते घोरं पित्तवत्तत्र भेषजम्॥१॥

मद्य की गर्मी पित्त और रक्त के द्वारा बढ़ती जाने पर (अथवा पथभ्रष्ट की जाने पर) त्वचा में पहुंचकर भयङ्कर दाह उत्पन्न करती है। उसकी चिकित्सा पित्तज दाह के समान है।

रक्तज दाह

कृत्स्नदेहानुगं रक्तमुद्रिक्तं दहति ध्रुवम्।
स उष्यते तृष्यते च ताम्राभस्ताम्रलोचनः॥२॥
लोहगन्धाङ्गवदनो वह्निनेवावकीर्यते।

कुपित रक्त सारे शरीर में फैलकर दाह उत्पन्न करता है। इससे वह रोगी दाह तृष्णा से पीड़ित रहता है। उसका शरीर ताम्रवर्ण रहता है और नेत्र भी ताम्रवर्ण (लाल) रहते हैं। शरीर और मुख से लोहे (तपाए हुए) के समान गंध आती है और उसे ऐसा अनुभव होता है उसके सारे शरीर पर आग बिखरी हुई हो।

पित्तज दाह

पित्तज्वरसमः पित्तात्स चाप्यस्य विधिः स्मृतः॥३॥

पित्तज दाह पित्तज ज्वर के समान होती है और चिकित्सा भी उसी के समान है।

तृष्णानिरोधज दाह

तृष्णानिरोधादब्धातौ क्षीणे तेजः समुद्धतम्।
सबाह्याभ्यन्तरं देहं प्रदहेन्मन्दचेतसः॥४॥
संशुष्कगलताल्वोष्ठो जिह्वां निष्कृष्य वेपते।

मन्द-बुद्धि मनुष्य जब प्यास को रोके रहता है तब शरीर की जलीय धातु का क्षय होने से तेज (आग्नेय तत्व, पित्त) कुपित हो जाता है। वह शरीर के बाहर और भीतर तीव्र दाह उत्पन्न करता है। उस रोगी के कण्ठ, तालु और ओष्ठ सूखते हैं और वह जीभ निकालकर कांपता है।

रक्तपूर्णकोष्ठज दाह

असृजः पूर्णकोष्ठस्य दाहोऽन्यः स्यात्सुदुःसहः॥५॥

कोष्ठ में रक्त भर जाने पर (आभ्यन्तर रक्तस्राव के कारण) जो दाह होती है वह अत्यन्त दुःसह है।

वक्तव्य—(१७१) आमाशय, अग्न्याशय, पक्वाशय, उण्डुक, हृदय, फुफ्फुस, प्लीहा और मूत्राशय कोष्ठ कहलाते हैं और सामान्यतः धड़ के आभ्यन्तर भाग को ही कोष्ठ कहते हैं।

धातुक्षयज दाह

धातुक्षयोत्थो यो दाहस्तेन मूर्च्छातृडर्दितः।
क्षामस्वरः क्रियाहीनः स सीदेद् भृशपीडितः॥६॥

धातुक्षयज दाह से पीड़ित रोगी मूर्च्छा और तृष्णा से पीड़ित रहता है। उसकी आवाज क्षीण हो जाती है, काम-काज नहीं कर पाता और अत्यन्त कष्ट से मर सकता है।

क्षतज दाह

(क्षतजोऽनश्नतश्चान्नं शोचतो वाऽप्यनेकधा।
तेनान्तर्दह्यतेत्यर्थं तृष्णा मूर्च्छा प्रलापवान्॥)

क्षत रोगी को भोजन न करने और अनेक प्रकार की चिन्ता करने से अत्यधिक अन्तर्दाह होती है। वह रोगी तृष्णा, मूर्च्छा और प्रलाप से युक्त रहता है।

मर्माभिघातज दाह

मर्माभिघातजोऽप्यस्ति सोऽसाध्यः सप्तमो मतः।

मर्माभिघातज (मर्म स्थानों में अभिघात लगने से उत्पन्न) दाह भी होती है। यह सातवीं है और असाध्य कही गई है।

असाध्य लक्षण

सर्व एव च वर्ज्याः स्युः शीतगात्रस्य देहिनः॥७॥

शीतल शरीर वाले रोगियों की सभी प्रकार की दाह असाध्य हैं।

: २० :

उन्माद रोग

उन्माद की निरुक्ति

मदयन्त्युद्गता दोषा यस्मादुन्मार्गमागताः।
मानसोऽयमतो व्याधिरुन्माद इति कीर्तितः॥१॥

क्योंकि इस व्याधि में उन्मार्गगामी दोष ऊपर जाकर मद उत्पन्न करते हैं तथा यह व्याधि मानसिक है अतः उन्माद कहलाती है।

वक्तव्य—(१७२) साधारण भाषा में उन्माद को पागलपन कहते हैं।

उन्माद के भेद

एकैकशः सर्वशश्च दोषैरत्यर्थमूर्च्छितैः।
मानसेन च दुःखेन स पञ्चविधो मतः॥२॥
विषाद्भवति षष्ठश्च यथास्वं तत्र भेषजम्।
स चाप्रवृद्धस्तरुणो मदसंज्ञां बिभर्ति च॥३॥

अत्यन्त कुपित पृथक् पृथक् दोषों से (वातज, पित्तज और कफज), सभी से (त्रिदोषज) और मानसिक दुःख से— इस प्रकार यह (उन्माद रोग) पांच प्रकार का होता है। छठवां विष से भी होता है उसकी चिकित्सा विष के समान है। जो अधिक बढ़ा हुआ न हो और नया हो वह उन्माद मद कहलाया है।

सामान्य हेतु

विरुद्धदुष्टाशुचिभोजनानि प्रधर्षणं देवगुरुद्विजानाम्।
उन्मादहेतुर्भयहर्षपूर्वो मनोऽभिघातो विषमाश्च चेष्टाः॥४॥

विरुद्ध, दूषित एवं अपवित्र भोजन; देवताओं, गुरुजनों एवं ब्राह्मणों के प्रति धृष्टतापूर्ण आचरण; भय एवं हर्ष के कारण मन को आघात (*Shock*) लगना और विषम चेष्टाएं उन्माद के हेतु हैं।

वक्तव्य—(१७३) एकाएक अत्यधिक भय, हर्ष या शोक आ पड़ने से मन को जो धक्का पहुँचता है उससे अनेक दुर्बल-प्रकृति मनुष्य पागल हो जाते हैं।

'विषम चेष्टा' की व्याख्या अत्यन्त विस्तृत है।

सामान्य जीवन-क्रम के बाहर की सभी क्रियाएं इसके अन्तर्गत आ जाती हैं जैसे शक्ति के बाहर परिश्रम करना या भार उठाना; अधिक बलवान मनुष्य से लड़ना या पशुओं को वश में करना, अत्यधिक अध्ययन, दिन में सोना और रात्रि में जागना; बिना गुरु के तन्त्र-मंत्रादि का साधन करना; बट, पीपल आदि वृक्षों पर चढ़ना, उनके नीचे मल-मूत्र विसर्जन करना अथवा उन्हें काटना; श्मशानादि में रात्रि को अकेले जाना, मादक द्रव्यों का अधिक सेवन इत्यादि।

सम्प्राप्ति

तैरल्पसत्त्वस्य मलाः प्रदुष्टा बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्य।
स्रोतांस्यधिष्ठाय मनोवहानि प्रमोहयन्त्याशु नरस्य चेतः ॥५॥

इन कारणों से अत्यन्त कुपित हुए दोष बुद्धि के निवास स्थान हृदय को दूषित करके तथा मनोवह स्रोतों में स्थित होकर मनुष्य के चित्त को उन्मत्त कर देते हैं।

वक्तव्य—(१७४) आधुनिक मतानुसार बुद्धि का स्थान मस्तिष्क माना जाता है; हृदय नहीं। इस सम्बन्ध में लम्बे समय से वाद-विवाद चल रहा है किन्तु विवाद पूर्णतया सुलझा नहीं है। यहां उस विवाद में पड़ने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि 'बुद्धि का निवास' कहकर स्पष्ट कर दिया गया है इसलिए यह समझ लेना चाहिए कि बुद्धि का निवास जहां है वहीं विकृति होती है; 'हृदय' शब्द उतना महत्व नहीं रखता, यदि मस्तिष्क को बुद्धि का स्थान मानते हैं तो हृदय को मस्तिष्क का भी पर्याय मान लीजिये अन्यथा हृदय तो हृदय है ही।

'मनोवह स्रोतों' से मन की आज्ञा का वहन करने वाले 'वातनाड़ी संस्थान' (*Nervous System*) का अर्थ लेना चाहिए।

सामान्य लक्षण

धीविभ्रमः सत्त्वपरिप्लवश्च
पर्याकुला दृष्टिरधीरता च।
अबद्धवाक्त्वं हृदयं च शून्यं
सामान्यमुन्मादगदस्य लिङ्गम् ॥६॥

बुद्धि विभ्रान्त होना, मन अस्थिर रहना, दृष्टि विस्मित हुए के समान रहना, धैर्य का अभाव, असम्बद्ध बातें बोलना और हृदय खाली सा प्रतीत होना—ये उन्माद के सामान्य लक्षण हैं।

वातज उन्माद

रूक्षाल्पशीतान्नविरेकधातुक्षयो-
पवासैरनिलोऽतिवृद्धः।
चिन्तादिदुष्टं हृदयं प्रदूष्य बुद्धिं
स्मृतिं चाप्युपहन्ति शीघ्रम् ॥७॥
अस्थानहासस्मितनृत्यगीतवागङ्गविक्षेपणरोदनानि।
पारुष्यकार्श्यारुणवर्णताश्च
जीर्णे बलं चानिलजस्य रूपम् ॥८॥

शीतल, रूक्ष एवं थोड़ा भोजन, विरेचन, धातुक्षय और उपवास से वायु अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त होकर चिन्ता आदि से दूषित हृदय को और भी दूषित करके शीघ्र ही बुद्धि और स्मृति का नाश कर देती है।

अकारण हंसना, मुस्कराना, नाचना, गाना, बोलना, हाथ-पैर फटकारना एवं रोना, शरीर में रूक्षता, कृशता और अरुण-वर्णता और अन्न जीर्ण होने पर रोग का बल बढ़ाना—ये वातज उन्माद के लक्षण हैं।

वक्तव्य—(१७५) 'विरेचन' शब्द से उसी वर्ग के अतिसार, विसूचिका, वमन आदि का भी ग्रहण करना चाहिए।

पित्तज उन्माद

अजीर्णकट्वम्लविदाह्यशीतै-
र्भोज्यैश्चितं पित्तमुदीर्णवेगम्।
उन्मादमत्युग्रमनात्मकस्य
हृदि स्थितं पूर्ववदाशु कुर्यात् ॥९॥
अमर्षसंरम्भविनग्नभावाः
सन्तर्जनातिद्रवणौष्ण्यरोषाः।
प्रच्छायशीतान्नजलाभिलाषः
पीता च भाः पित्तकृतस्य लिङ्गम् ॥१०॥

अजीर्ण रोग (अथवा अपक्व अन्न), कटु, अम्ल, विदाही एवं गर्म भोजन से संचित पित्त ऊपर चढ़कर दुर्बल चित्त वाले रोगी के हृदय में स्थित होकर पहले कही जा

चुकी विधि से शीघ्र ही अत्यन्त उग्र प्रकार का उन्माद उत्पन्न करता है।

असहिष्णुता, अविनय (अकड़, हेकड़ी), नंगे होने की प्रवृत्ति (अथवा नंगापन, लुच्चापन), धमकी देना, भागना, क्रोध (अथवा शरीर गर्म रहना) एवं रोष, छाया तथा शीतल अन्न-जल की इच्छा, और शरीर की पीताभता—ये पित्तज उन्माद के लक्षण हैं।

कफज उन्माद

संपूरणैर्मन्दविचेष्टितस्य
सोष्मा कफो मर्मणि संप्रदुष्टः।
बुद्धि स्मृतिं चाप्युपहत्य चित्तं
प्रमोहयन् संजनयेद्विकारम् ॥११॥
वाक्चेष्टितं मन्दमरोचकश्च
नारीविविक्तप्रियताऽतिनिद्रा।
छर्दिश्च लाला च वलं च भुक्ते
नखादिशौक्ल्यं च कफात्मके स्यात् ॥१२॥

अधिक सन्तर्पण भोजन (मधुर, स्निग्ध आदि) करने से काम न करने वाले व्यक्ति का पित्त सहित कफ मर्मस्थानों में प्रकुपित होकर बुद्धि और स्मृति का नाश करके चित्त को उन्मत्त करता हुआ उन्माद रोग उत्पन्न करता है।

मन्द वाक्चेष्टा (अर्थात् धीरे धीरे एवं कम बोलना), अरुचि, स्त्री के साथ अकेले रहने की इच्छा, निद्रा की अधिकता, वमन, लालास्राव, भोजन के बाद रोग का बल बढ़ना और नख आदि (नेत्र, त्वचा, मल-मूत्रादि भी) में सफेदी—ये लक्षण कफज उन्माद में होते हैं।

सन्निपातज (त्रिदोषज) उन्माद

यः सन्निपातप्रभवोऽतिघोरः
सर्वैः समस्तैः स च हेतुभिः स्यात्।
सर्वाणि रूपाणि विभर्ति तादृग्
विरुद्धभैषज्यविधिर्विवर्ज्यः ॥१३॥

जो उन्माद रोग सन्निपात से उत्पन्न होता है वह अत्यन्त भयङ्कर होता है। वह सभी दोषों के प्रकोपक पूरे-पूरे कारणों से उत्पन्न होता है। इसकी चिकित्साविधि परस्पर विरुद्ध होने के कारण यह असाध्य है।

वक्तव्य—(१७६) सभी लक्षण पूरे-पूरे मिलने पर प्रायः सभी त्रिदोषज व्याधियां असाध्य होती हैं क्योंकि (१) दोषानुसार चिकित्सा परस्पर विरुद्ध पड़ती है, (२) त्रिदोष-शामक औषधियां थोड़ी ही हैं और (३) रोगी का बल अत्यन्त तीव्रगति से क्षीण होता है जिससे समय कम मिलता है। किन्तु यदि (१) रोग का बल अत्यधिक न हो, (२) त्रिदोष प्रकोप के थोड़े से ही लक्षण हों, (३) रोग प्रत्यनीक चिकित्सा सरल एवं सुलभ हो और (४) चिकित्सा के चारों पाद यथावत् हों तो त्रिदोपज रोग साध्य हो सकते हैं। किन्तु (१) उन्माद रोग ऐसे ही भयङ्कर एवं कष्टसाध्य है, (२) रोगी वश में नहीं रहता उसे औषधि सेवन कराना एवं पथ्य से रखना कठिन होता है और (३) उन्माद-नाशक औषधियां थोड़ी हैं इस लिए सर्व-सम्पूर्ण हेतु-लक्षणयुक्त त्रिदोपज उन्माद असाध्य कहा गया है।

मनोविघातजन्य उन्माद

चोरैर्नरेन्द्रपुरुषैररिभिस्तथाऽन्यै-
र्वित्रासितस्य धनवान्धवसंक्षयाद्वा।
गाढं क्षते मनसि च प्रियया रिरंसोर्जायेत
चोत्कटतमो मनसो विकारः ॥१४॥
चित्रं ब्रवीति च मनोऽनुगतं विसंज्ञो
गायत्यथो हसति रोदिति चापि मूढः।

चोरों, राजपुरुषों, शत्रुओं तथा अन्य लोगों के द्वारा त्रस्त होने पर अथवा धन और बान्धवों (परिवार के लोग एवं मित्र आदि) का विनाश होने पर अथवा अभिलषित स्त्री से रमण करने की इच्छा बनी रहने (और पूर्ण न होने) पर जब मन को गंभीर आघात लगता है तब अत्यन्त भयंकर उन्माद रोग उत्पन्न होता है। वह पागल विचित्र बातें करता है, गुप्त बातें कह डालता है तथा गाता, हंसता और रोता है।

वक्तव्य—(१७७) इस प्रकार के पागल की बातों का सम्बन्ध उन्हीं घटनाओं से रहता है जिनसे उसे मन को आघात लगकर रोगोत्पत्ति हुई है।

विषज उन्माद

रक्तेक्षणो हतबलेन्द्रियभाः सुदीनः
श्यावाननो विषकृतेऽथ भवेद्विसंज्ञः ॥१५॥

विषज उन्माद का रोगी लाल नेत्रों वाला, बलहीन, दुर्बलेन्द्रिय, आभाहीन, अत्यन्त दीन और चेहरे पर श्यावता से युक्त रहता है।

वक्तव्य—(१७८) दीर्घकाल तक थोड़ा थोड़ा विष चिकित्सार्थ या व्यसनार्थ सेवन करने से अथवा एक ही बार में खाये हुए विष का बहुतसा अंश वमन आदि से निकल जाने या औषधि-प्रयोग से नष्ट हो जाने किन्तु कुछ अंश शेष रहने से यह उन्माद उत्पन्न होता है। वैसे धत्तूर सदृश विष तुरन्त ही उन्माद सदृष लक्षण उत्पन्न करते हैं किन्तु वे स्थायी नहीं रहते।

असाध्य लक्षण

अवाङ्मुखो वाप्युदङ्मुखो वा क्षीणमांसबलो नरः।
जागरूको ह्यसंदेहमुन्मादेन विनश्यति ॥१६॥

सादा नीचे या ऊपर की ओर झुका रहने वाला, जिसका बल मांस क्षीण हो चुका हो और जो जागता ही रहता हो वह उन्माद से मर जाता है इसमें सन्देह नहीं है।

वक्तव्य—(१७९) नीचे झुका रहना अन्तरायाम का और ऊपर की ओर झुका रहना बाह्यायाम का लक्षण है; यह मस्तिष्कावरण और सुषुम्ना के प्रदाह के कारण होता है।

भूतोन्माद के सामान्य लक्षण

अमर्त्यवाग्विक्रमवीर्यचेष्टो
ज्ञानादिविज्ञानबलादिभिर्यः।
उन्मादकालोऽनियतश्च यस्य
भूतोत्थमुन्मादमुदाहरेत्तम् ॥१७॥

जो उन्माद रोगी देवताओं आदि के समान बात-चीत, पराक्रम, शक्ति, चेष्टा, ज्ञान, विज्ञान, बल आदि से युक्त हो और जिसका उन्माद काल (उन्माद का वेग बढ़ने या उत्पन्न होने का समय) अनिश्चित हो उसे भूतोन्माद से पीड़ित कहना चाहिये।

वक्तव्य—(१८०) उन्माद-काल अनिश्चित कहने का तात्पर्य यह है कि इस उन्माद का प्रकोप वातज आदि उन्मादों के समान निश्चित समय पर नहीं होता वरन् निश्चित तिथियों में किसी भी समय पर होता है, कुछ मामलों में तिथि भी निश्चित नहीं रहती।

आजकल के बहुत से लोग भूत-प्रेतादि के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते। उनके अविश्वास का मूल कारण यह है कि इस प्रकार के मामले प्रत्यक्ष देखने का अवसर उन्हें नहीं मिला। यदि वे लोग इस प्रकार के मामलों की खोज में रहें और प्रत्येक प्रेताविष्ट रोगी को निकट से देखने का कष्ट करें तो उन्हें अविश्वास करने का कोई कारण न मिलेगा। मैंने इस प्रकार के अनेक मामले अपनी आंखों से देखे हैं और मेरा दृढ़ विश्वास है कि भूत-प्रेत होते हैं, कमजोर प्रकृति के व्यक्तियों को आविष्ट कर लेते हैं और उनकी शांति से ही पीड़ित व्यक्ति नीरोग होता है अन्य किसी भी चिकित्सा से नहीं। यह अवश्य ही भूतावेश के समान लक्षण हिस्टीरिया में भी होते हैं किन्तु दोनों में महान अन्तर है।

कुछ विद्वान् भूत-प्रेतादि को जीवाणुवाची सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं किन्तु उनका यह प्रयास व्यर्थ है क्योंकि जितने प्रमाण वे इसके पक्ष में बड़ी कठिनाई से जुटा पाये होंगे उसके कई गुने विरोधी प्रमाण अनायास ही दिये जा सकते हैं।

आगे कहे जाने वाले देवजुष्ट आदि सभी उन्माद भूतोन्माद के भेद हैं। 'भूत' शब्द देव दानव गन्धर्व, यक्ष आदि सभी के लिये समानरूप से प्रयुक्त होता है।

देवजुष्टोन्माद

संतुष्टः शुचिरतिदिव्यमाल्यगन्धो
निस्तन्द्रीरवितथसंस्कृतप्रभाषी।
तेजस्वी स्थिरनयनो वरप्रदाता
ब्रह्मण्यो भवति नरः स देवजुष्टः ॥१८॥

देवजुष्ट उन्माद का रोगी सन्तुष्ट, पवित्र (स्वच्छ),

अत्यन्त उच्च कोटि के पुष्पों की गंध से युक्त, तन्द्रा रहित (चैतन्य, उत्साहयुक्त), शुद्ध संस्कृत भाषा में धाराप्रवाह बोलने वाला (अथवा सत्य बोलने वाला और व्याकरण आदि की भूलों से रहित शुद्ध संस्कृत भाषा बोलने वाला), तेजस्वी, स्थिर दृष्टि से देखने वाला, वरदान देने वाला और ब्राह्मणों का मान करने वाला (अथवा ब्राह्मणों जैसे पवित्रतापूर्ण आचरण वाला) होता है।

वक्तव्य—(१८१) दृष्टि की अस्थिरता उन्माद का सामान्य रूप है किन्तु देवजुष्ट उन्माद में यह नहीं पाया जाता।

देवशत्रु (दानव, असुर) जुष्टोन्माद

संस्वेदी द्विजगुरुदेवदोषवक्ता
जिह्माक्षो विगतभयो विमार्गदृष्टिः।
संतुष्टो न भवति चान्नपानजातै-
र्दुष्टात्मा भवति स देवशत्रुजुष्टः॥१९॥

देवशत्रुजुष्ट उन्मादरोगी अधिक प्रस्वेद से युक्त (अथवा क्रोधी); ब्राह्मण, गुरु और देवताओं के दोष बतलाने वाला, वक्र दृष्टि से देखने वाला, भयरहित और कुमार्गगामी (पापी) रहता है। वह दुष्टात्मा बहुत से अन्नपान से भी सन्तुष्ट नहीं होता।

गन्धर्वजुष्टोन्माद

हृष्टात्मा पुलिनवनान्तरोपसेवी
स्वाचारः प्रियपरिगीतगन्धमाल्यः।
नृत्यन्वै प्रहसति चारु चाल्पशब्दं
गन्धर्वग्रहपरिपीडितो मनुष्यः॥२०॥

गंधर्व ग्रहजुष्ट उन्माद रोगी प्रसन्नचित्त, नदी तट या वन में विहार करने वाला, अच्छे आचरण वाला; संगीत सुगन्ध एवं मालायें पसन्द करने वाला और कम बोलने वाला होता है तथा वह नाचता और सुन्दर ढंग से हंसता है।

यक्षजुष्टोन्माद

ताम्राक्षः प्रियतनुरक्तवस्त्रधारी
गम्भीरो द्रुतगतिरल्पवाक् सहिष्णुः।
तेजस्वी वदति च किं ददामि कस्मै
यो यक्षग्रहपरिपीडितो मनुष्यः॥२१॥

जो मनुष्य (उन्माद रोगी) यक्षग्रह से पीड़ित होता है वह ताम्रवर्ण नेत्रों वाला; सुन्दर, पतले, लाल वस्त्र पहनने वाला, गंभीर, तेज चाल वाला, कम बोलने वाला, सहनशील और तेजस्वी होता है तथा वह कहा करता है कि 'किसे क्या दे दूं'।

पितृजुष्टोन्माद

प्रेतानां स दिशति संस्तरेषु पिण्डान्
शान्तात्मा जलमपि चापसव्यवस्त्रः।
मांसेप्सुस्तिलगुडपायसाभिकाम-
स्तद्भक्तो भवति पितृग्रहाभिजुष्टः॥२२॥

पितृग्रहजुष्ट रोगी शान्तचित्त होकर, वस्त्र दाहिने कन्धे पर पर डालकर कुश-पत्रादि के आसनों पर जल और पिण्ड देता है तथा मांस, तिली, गुड़ एवं खीर की मांग करता है और माता-पिता का भक्त हो जाता है।

सर्पग्रहजुष्टोन्माद

यस्तूर्व्यां प्रसरति सर्पवत्कदाचित्
सृक्कण्यौ विलिहति जिह्वया तथैव।
क्रोधालुर्गुडमधुदुग्धपायसेप्सु-
र्ज्ञातव्यो भवति भुजङ्गमेन जुष्टः॥२३॥

सर्पग्रहजुष्ट उन्मादरोगी कभी पेट के बल जमीन पर सरकता है तथा कभी कभी जीभ से ओठों को चाटता है। वह क्रोधी तथा शहद, दूध और खीर का प्रेमी होता है।

राक्षसजुष्टोन्माद

मांसासृग्विविधसुराविकारलिप्सु-
र्निर्लज्जो भृशमतिनिष्ठुरोऽतिशूरः।
क्रोधालुर्विपुलबलो निशाविहारी
शौचद्विड् भवति स राक्षसैर्गृहीतः॥२४॥

राक्षसजुष्ट उन्माद रोगी मांस, रक्त एवं अनेक प्रकार की मद्य का इच्छुक, निर्लज्ज, अत्यन्त निष्ठुर, अत्यन्त शूर क्रोधी, अत्यन्त बलवान, रात्रि में घूमने वाला और सफाई से द्वेष करने वाला होता है।

पिशाचजुष्टोन्माद

उद्धस्तः कृशपरुषोऽचिरप्रलापी
दुर्गन्धो भृशमशुचिस्तथाऽतिलोलः।

वह्वाशी विजनवनान्तरोपसेवी
व्याचेष्टन् भ्रमति रुदन् पिशाचजुष्टः ॥२५॥

पिशाचजुष्ट उन्माद रोगी हाथ ऊपर उठाए रखने वाला, कृश, रूखा (शरीर से रूखा अथवा व्यवहार में रूखा), देर तक बकवाद करने वाला, दुर्गन्धित, अत्यन्त गन्दा, अत्यन्त लालची, अधिक खाने वाला तथा निर्जन बनों में घूमने वाला होता है और वह विचित्र चेष्टायें करता और रोता हुआ घूमता फिरता है।

उन्माद के असाध्य लक्षण

स्थूलाक्षो द्रुतमटनः स फेनलेही
निद्रालुः पतति च कम्पते च यो हि।
यश्चाद्रिद्विरदनगादिविच्युतः स्यात्
सोऽसाध्यो भवति तथा त्रयोदशाब्दे ॥२६॥

बड़ी आंखों वाला, तेजी से चलने वाला, मुख से निकलते हुए फेन को चाटने वाला, निद्रालु, जो गिर पड़ता हो, जो कांपता हो और जो पर्वत, हाथी या वृक्ष से गिरा हो वह तथा तेरह वर्ष पुराना उन्माद रोग असाध्य है।

वक्तव्य—(१८२) विदेह ने अन्य असाध्य लक्षण भी निर्दिष्ट किये हैं यथा—

मेढ्रप्रवृत्तः क्षतजः सास्राक्षः स्रुतनासिकः।
रूक्षजिह्वः पूतिगर्भो हतवागतिदुर्बलः॥

अर्थात्, जिसका लिंग सदैव उत्तेजित रहता हो (अथवा लिंग से सदैव स्राव होता रहता हो), जिसका उन्माद रोग अभिघात लगने से उत्पन्न हुआ हो, जिसके नेत्र रक्तयुक्त (लाल) रहते हों, नाक से स्राव होता रहता ह, जिह्वा रूक्ष हो, दुर्गन्धित हो, बोलने की शक्ति नष्ट हो चुकी हो और अत्यन्त दुर्बल हो—(ऐसे उन्माद रोगी असाध्य हैं)।

देव आदि ग्रहों का आक्रमण-काल

देवग्रहाः पौर्णमास्यामसुराः सन्ध्ययोरपि।
गन्धर्वाः प्रायशोऽष्टम्यां यक्षाश्च प्रतिपद्यथ ॥२७॥
पित्र्याः कृष्णक्षये हिंस्युः पञ्चम्यामपि चोरगाः।
रक्षांसि रात्रौ पैशाचाश्चतुर्दश्यां विशन्ति हि ॥२८॥

देवग्रह पूर्णमासी को, देवशत्रु (असुर) सायंकाल या प्रातःकाल, गंधर्व प्रायः अष्टमी को, यक्ष प्रतिपदा को, पितृग्रह अमावस्या को, सर्प पञ्चमी को, राक्षस रात्रि को और पिशाचग्रह चतुर्दशी को आवेश या हिंसा करते हैं।

वक्तव्य—(१८३) उक्त दिनों में ही भूतोन्माद की उत्पत्ति या वृद्धि होना निदानात्मक है। शान्त्यर्थ बलिप्रदान आदि कर्मों के लिये भी उक्त काल उपयुक्त माना जाता है।

ग्रह किस प्रकार से आवेश करते हैं

दर्पणादीन् यथा छाया शीतोष्णं प्राणिनो यथा।
स्वमणिं भास्करार्चिश्च यथा देहं च देहधृक् ॥२९॥
विशन्ति च न दृश्यन्ते ग्रहास्तद्वच्छरीरिणः।
प्रविश्याशु शरीरं हि पीडां कुर्वन्ति दुःसहाम् ॥३०॥

जिस प्रकार दर्पण आदि में छाया, प्राणियों में शीत एवं उष्णता, सूर्यकान्त मणि में सूर्य की किरणें और देह में प्राण प्रविष्ट होते या रहते हैं और दिखाई नहीं देते उसी प्रकार ग्रह प्राणियों के शरीर में प्रविष्ट होते एवं रहते हैं किन्तु दिखाई नहीं देते। शरीर में प्रवेश करने के बाद वे तरन्त ही दुस्सह पीड़ा उत्पन्न करते हैं।

ग्रहों के आवेश के सम्बन्ध में दूसरा मत

(तपांसि तीव्राणि तथैव दानं
व्रतानि धर्मो नियमश्च सत्यम्।
गुणास्तथाऽष्टावपि तेषु नित्या
व्यस्ताः समस्ताश्च यथाप्रभावम् ॥३१॥
न ते मनुष्यैः यह संविशन्ति
नवा मनुष्यान्क्वचिदाविशन्ति।
ये त्वाविशन्तीति वदन्ति मोहात्ते
भूतविद्याविषयादपोह्याः ॥३२॥
तेषां ग्रहाणां परिचारका ये
कोटीसहस्रायुतपद्मसंख्याः।
असृग्वसामांसभुजः सुभीमा
निशाविहाराश्च तथाऽऽविशन्ति ।३३॥)

इन ग्रहों में तीव्र तप, दान, व्रत, धर्म, नियम और

सत्य तथा आठों गुण ×(सिद्धियां), जिस ग्रह का जैसा प्रभाव उसके अनुसार अल्प या सम्पूर्ण अंशों में सर्वदा स्वभाव से ही विद्यमान रहती हैं। ये ग्रह मनुष्यों से नहीं मिलते और न कभी मनुष्यों में प्रवेश ही करते हैं। जो लोग मूर्खतावश यह कहते हैं कि 'ये मनुष्यों के शरीर में प्रवेश करते हैं' वे भूत-विद्या के विषय से अनभिज्ञ हैं। इन ग्रहों के सेवक जो करोड़ों, हजारों, अयुतों (दस हजार) और पद्मों की संख्या में हैं; रक्त, वसा और मांस के भक्षक विशाल काय और रात्रि में घूमने वाले हैं वे उक्त रीति से प्रविष्ट होते हैं।

पाश्चात्य मत—

(१) मूढ़ता (Idiocy)—गर्भाशय में मस्तिष्क की रचना में किसी प्रकार का व्याघात पड़ने से अथवा शैशवावस्था में अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के विकारों से मस्तिष्क अविकसित रह जाता है। इस दशा में सिर एवं सारे शरीर का आकार बेडौल रहता है। बुद्धि का विकास आयु के अनुरूप न होना प्रारंभिक लक्षण है। युवावस्था आने पर भी बच्चों के समान बुद्धि एवं आदतें रहना निदानात्मक है।

मूढ़ व्यक्तियों के विचार, बातें, कार्य आदि बच्चों के समान और कभी कभी पागल व्यक्तियों के समान हुआ करते हैं। ये जीवन के सामान्य कार्य तो किसी प्रकार कर सकते हैं किन्तु कोई भी ऐसा कार्य जिसे करने के लिये थोड़ी सी भी बुद्धि एवं योग्यता की आवश्यकता हो उसे सीखने या करने में ये असमर्थ हुआ करते हैं। सामान्यतः इन्हें कुछ भी सिखाना अथवा समझाना अत्यन्त असाध्य, कठिन अथवा कभी कभी असम्भव हुआ करता है। सारे जीवन भर इनकी देख रेख करते रहना आवश्यक हुआ करता है। इनमें से अधिकांश रोगी थोड़ी आयु में ही मर जाते हैं।

इनमें से बहुतसों में कम्प, लालक, असमन्वयता, अपस्मार, नपुंसकता (स्त्रियों में आर्तवहीनता तथा वन्ध्यत्व), कुब्जता, अस्थिविकार, नेत्र-विकार आदि रोग भी उपस्थित रहते हैं।

(२) उन्माद, पागलपन (Mania, Insanity)—फिरंग, राजयक्ष्मा, हृदय रोग, वृक्क रोग, मदात्यय, सिर पर अभिघात, अंशुघात, तीव्र उपसर्ग (आन्त्रिक ज्वर, मसूरिका आदि) तथा बाह्य (स्थावर जंगम और रासायनिक) विषों से मस्तिष्क में विकृति होकर इस रोग की उत्पत्ति होती है। इसकी उत्पत्ति के पूर्व बेचैनी, सिरदर्द, अनिद्रा, दुःस्वप्न, चिड़चिड़ापन, विचार अस्थिर एवं अटपटे होना, स्मरण-शक्ति का अभाव, धातुक्षय आदि पूर्वरूप होते हैं। फिर अचानक अकारण ही अत्यन्त प्रसन्न होना, गाना, नाचना, अत्यधिक एवं असम्बद्ध प्रलाप आदि लक्षणों के साथ रोग का आरम्भ होता है। यद्यपि रोगी प्रसन्नता की चेष्टाएं करता है किन्तु यह बीमार व्यक्तियों के समान पीताभ एवं दुर्बल दिखता है। साधारण सी बातों पर ही वह क्षुब्ध होकर शोर करता और गाली बकता है तथा मारने पीटने तक को उद्यत हो जाता है। प्रतिक्षण उसके विचारों और स्वभाव में परिवर्तन होता है। यह कुछ भी ऊल-जलूल बकता रहता है किन्तु यदि कोई भी उसकी बातों पर ध्यान नहीं देता तो वह अत्यन्त दुखी होता है। वह बहुत से काम करने की योजनायें बनाता है किन्तु एक को भी पूरा नहीं कर पाता। अक्सर वह अपने कपड़े फाड़ डालता है तथा अपने आस-पास की तोड़ सकने योग्य वस्तुओं को तोड़-फोड़ डालता है। रोगी को नींद बहुत कम आती है, २-३ घण्टे सो लेना पर्याप्त होता है। इस

× अष्ट सिद्धियां—

अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा।
प्राप्ति प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वञ्चाष्टसिद्धयः॥

अष्टविध ऐश्वर्य—

आवेशश्चेतसो ज्ञानमर्थानां छन्दतः क्रिया।
दृष्टिःश्रोत्रं स्मृतिः कान्तिरिष्टतश्चाप्यदर्शनम्॥
इत्यष्टविधमाख्यातं योगिनां बलमैश्वरम्।
शुद्धसत्त्वसमाधानात्तत्सर्वमुपजायते॥

रोगी अखाद्य पदार्थों को खाते हैं जैसे मिट्टी, विष्ठा, कीलें, मशीनों के कल-पुर्जे, पत्थर, लकड़ी आदि। अन्य गन्दी आदतें भी इन रोगियों में उत्पन्न हो जाती हैं। तरह तरह की विचित्र कल्पनायें जैसे 'घर के लोग मुझे मार डालना चाहते हैं' उसके मस्तिष्क में उठा करती हैं और उन्हीं के अनुसार वह कार्य करता है। इस तरह की कल्पनाओं से अभिभूत होकर वह आत्महत्या या परहत्या भी कर सकता है। (तीव्र अवस्था)

उक्त दशा कुछ काल तक रहने के बाद रोगी काफी शान्त हो जाता है और ऐसा प्रतीत होता है कि मानसिक विकृति बहुत अंशों में दूर हो गयी है। इस दशा में भी उपर्युक्त लक्षण कुछ न कुछ अंशों में अवश्य उपस्थित रहते हैं और यदि रोगी किसी कारणवश उत्तेजित हो जावे तो तीव्र अवस्था के समान लक्षण पुनः उत्पन्न हो जाते हैं। (सौम्य या चिरकारी अवस्था)

रोग अनिश्चित काल तक चलता रहता है और यदि उचित चिकित्सा न की गयी अथवा चिकित्सा करने पर भी लाभ न हुआ तो कुछ काल में मृत्यु हो जाती है।

इसके अतिरिक्त इस रोग के निम्नलिखित सौम्य प्रकार होते हैं। इनमें मानसिक विकृति अल्प रहती है इसलिये लक्षण भी अल्प होते हैं; रोगी अपना दैनिक कार्यक्रम भी लगभग पूर्ववत् ही करता रहता है।

(i) शोकोन्माद (Melancholia)—यह रोग अधिकतर प्रौढ़ावस्था या वृद्धावस्था में होता है। इसका रोगी अत्यन्त शोक, ग्लानि और पश्चाताप का अनुभव करता है जो या तो कल्पित अथवा पहले किये हुए दुष्कर्मों के प्रति रहता है। वह अत्यन्त दुखी, अवसाद-ग्रस्त और धर्मरत (संभवतः क्षमा-प्राप्ति की आकांक्षा से) रहता है। सामान्यतः स्वास्थ्य भी ठीक नहीं रहता। कभी कभी इस प्रकार का रोगी खाना-पीना छोड़ देता है अथवा आत्महत्या कर लेता है। अन्य चेष्टाओं में कोई अन्तर नहीं आता।

(ii) एकोन्माद (Mono-mania)—इस रोग में रोगी की कोई एक धारणा होती है जिसके अनुसार वह अपने समस्त कार्य करता है। यह धारणा प्रायः हमेशा ही भ्रमपूर्ण हुआ करती है। रोगी सोचता है कि उसे विष दिया जाने वाला है अथवा कोई उस पर हमला करेगा अथवा उसके पीछे चोर लगे हुए हैं इत्यादि। परन्तु इस प्रकार की धारणा एक ही हुआ करती है। कभी कभी इस प्रकार के रोगी अपनी धारणा के वशीभूत हो पुलिस में रिपोर्ट करते हैं अथवा बड़े अफसरों, प्रधान मंत्री या राजा आदि को, पत्र लिखकर शिकायत करते हैं। इसके अतिरिक्त उनमें और कोई विकार नहीं रहता, उनकी शेष बात-चीत एवं कार्य-कलाप व्यवस्थित रहते हैं। इस उन्माद को कल्पनाजन्य उन्माद (Delusional Insanity) भी कहते हैं।

(iii) महोन्माद अथवा चारित्रिक उन्माद (Megalo-mania or Moral Mania)—इस उन्माद का रोगी अत्यन्त उच्च प्रकार के विचार एवं आचरण रखता है। वह दूसरों के आचरण देखकर दुखी होता एवं उनके प्रति दयाभाव रखता तथा उन्हें उपदेश देता है। वह अपने आपको ईश्वर-पुत्र, ईश्वरदूत, धर्मगुरु या नेता समझता है। वह सारी दुनियां को अपने विचारों के अनुरूप चलाना चाहता है। अपनी शक्ति को वह अत्यधिक समझता है। इस प्रकार का रोगी अत्यन्त दुर्बल होते हुए भी अपने को संसार का सबसे बड़ा पहलवान घोषित कर सकता है अथवा अत्यन्त गरीब होते हुए भी १०-२० लाख रुपये दान करने की घोषणा कर सकता है।

(iv) चौर्योन्माद (Kleptomania)–इसके रोगी में चोरी करने की प्रवृत्ति रहती है। यह व्यर्थ ही चोरी करता है; अनावश्यक, व्यर्थ की एवं ऐसी चीजें चुराता है जिनका कोई मूल्य नहीं। इस प्रकार की वस्तुएं चुराकर कुछ समय रखने के बाद वह फेंक भी दे सकता है। वास्तव में वह किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये नहीं बल्कि आत्म-सन्तोष के लिए चोरी करता है।

(v) तृषौन्माद अथवा मद्यपानोन्माद (Dipsomania)—यह उन्माद उनमें पाया जाता है जिनके पूर्वज मद्यपी रहे हों किन्तु स्वयं वे नित्यप्रति मद्यपान न करते हों। इन रोगियों को समय समय पर मद्यपान करने की उत्कट इच्छा होती है और ऐसे मौकों पर वे अत्यधिक शराब पीते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कोई विकृति नहीं रहती।

(vi) प्रज्वालनोन्माद (Pyromania) - इसके रोगी में आग लगाने की प्रबल इच्छा रहती है। वह मौका मिलने पर अकारण हीं किसी के भी मकान आदि में आग लगा देता है।

(vii) परवधोन्माद (Homicidal Mania)—इसके रोगी में किसी का भी बध अकारण ही कर देने की अदम्य प्रवृत्ति रहती है।

(viii) आत्मवधोन्माद (Suicidal Mania)—इसके रोगी में अकारण ही आत्महत्या करने की प्रबल इच्छा रहती है।

(ix) कामोन्माद (Eratomania)—इस उन्माद में अत्यधिक मैथुनेच्छा होती है, रोगी समय-असमय पात्र-कुपात्र का विचार नहीं करता। अन्य कोई विकार नहीं रहता।

(३) विस्मृति (Dementia or Confusional Insanity)—इसका रोगी सब कुछ भूल जाता है यहां तक कि वह अपना नाम आदि भी नहीं जानता। उसके मन में अनेक प्रकार की कल्पनाएं उठती रहती हैं जिनसे वह दुखी एवं भयभीत रहता है। उसका चेहरा मटमैला और जिह्वा मलयुक्त रहती है। यह दशा भी एक प्रकार का उन्माद ही है किन्तु इसमें रोगी विकृत चेष्टाएं नहीं करता। निदान उन्माद के ही समान है।

(४) बैल्ल का उन्माद, तीव्र प्रलापक उन्माद अथवा तीव्र प्रलाप (Bell's Mania, Acute Delirious Mania or Acute Delirium)—यह एक अत्यन्त विरल रोग है तथा इसका कारण अनिश्चित है। इसका विस्तृत वर्णन सर्व प्रथम डा० बैल्ल (Dr. Bell) ने किया था इसके पूर्व कई विद्वानों ने मस्तिष्क ज्वर (Brain Fever) या महाप्राचीरा प्रदाह (Phrenitis) नाम से इसका उल्लेख किया था। (आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थोंमें इसका वर्णन प्रलापक सन्निपात, चित्तविभ्रम सन्निपात, भूतहास सन्निपात आदि नामों से किया गया है।) यह रोग अत्यन्त मारक एवं शीघ्रकारी है तथा मृत्यूत्तर-परीक्षा में कोई ऐसी महत्वपूर्ण विकृति शरीर में नहीं पायी जाती जिसे इसका हेतु माना जा सके। यह अवश्य है कि मस्तिष्कावरण और धूसर मस्तिष्क-शल्क की शिराओं में रक्ताधिक्य पाया जाता है।

बेचैनी, क्षोभ, चिड़चिड़ापन, अनिद्रा आदि पूर्व रूप २-४ दिन रहने के बाद अथवा अचानक ही अत्यन्त तीव्रता से उन्माद का आक्रमण होता है। रोगी अत्यन्त विचित्र कल्पनायें करता और उनके अनुसार बकवाद करता, रोता, गाता, हंसता, मारता काटता एवं भागता है। अपने कपड़े फाड़ डालता है और कमरे में की चीजों को तोड़-फोड़ डालता है। आत्महत्या अथवा परहत्या कर सकता है अथवा ऐसे काम कर सकता है जिनसे उसे या दूसरों को सांघातिक चोट पहुँचे। उसकी बातचीत असम्बद्ध एवं अर्थहीन होती है तथा कोई सुने या न सुने वह बकता ही जाता है। उसे नींद विलकुल नहीं आती और ज्वर रहता है जो प्रारंभ में हल्का रहता है किंतु ५-६ दिनों में क्रमशः बढ़कर १०२°, १०४° या इससे भी अधिक हो जाता है। नाड़ी कमजोर एवं तीव्रगामिनी रहती है। जिह्वा शुष्क एवं मलयुक्त रहती है तथा त्वचा पर उद्भेद पाये जा सकते हैं। बीच-बीच में रोगी थककर कुछ देर के लिये शान्त हो जा सकता है। नींद न आने और अत्यधिक चेष्टाओं से अत्यन्त थकावट और क्षीणता आती है। लगभग १ सप्ताह में और अधिक से अधिक ३ सप्ताहों में निपात (Collapse) होकर मृत्यु हो जाती है।

(५) फिरङ्गज सर्वाङ्गघात अथवा सर्वाङ्गवात—सह

उन्माद (General Paralysis of the Insane*)- यह रोग फिरङ्ग रोग के उपसर्ग के ५-२० वर्ष बाद उत्पन्न होता है। उपसर्ग होने पर जिन्हें व्रण नहीं उत्पन्न होते अथवा जो अधूरी चिकित्सा से ही संतुष्ट हो जाते हैं उनके शरीर में फिरङ्ग-चक्राणु गुप्त रूप से निवास करते हुए मस्तिष्क आदि में विकार उत्पन्न करके इस रोग की उत्पत्ति करते हैं। मस्तिष्क को रक्त पहुंचाने वाली वाहिनियों की दीवारें मोटी एवं अवरुद्ध हो जाती हैं जिससे मस्तिष्क में रक्तक्षय होकर अपुष्टि होती है इसके फलस्वरूप तथा वातनाड़ियों पर सीधा प्रभाव पड़ने से उनमें भी विकृति आ जाती है।

प्रारम्भ में मानसिक अस्थिरता, भावुकता, चिड़चिड़ापन आदि लक्षण होते हैं। स्मरणशक्ति क्रमशः कमजोर होती जाती है तथा तर्क, बुद्धि, विवेक, सिद्धान्त, शिष्टता-विचार आदि संबंधी शक्तियों का लोप होता जाता है। चित्त अवसादयुक्त रहता है और गुस्सा जल्द ही आ जाता है। चित्त में तरह-तरह की कल्पनायें उठती हैं जैसे रोगी कमजोर होते हुए भी अपने को अत्यन्त बलवान् समझता है, कम पढ़ा-लिखा होते हुए भी अपने को एक बहुत बड़ा विद्वान् समझता है अथवा निर्धन होते हुए भी अपने को अत्यन्त धनी समझता है। सिरदर्द और नींद की कमी रहती है। कुछ रोगियों में रोग-कल्पनोन्माद (Hypochondriasis) और कुछ में उन्माद के तीव्र लक्षण भी पाये जाते हैं। नेत्रों की अपुष्टि होती है, नेत्रों की तारिकाओं की गति अनियमित और असमान हो जाती और प्रकाश की प्रतिक्रिया अल्प होती है। कुछ मामलों में अक्षितारिका-शोथ (Papilloedema), दृष्टि क्षय आदि भी पाये जाते हैं। हाथों ओठों और गलों के पेशियों से काम लेते समय उनमें सूक्ष्म कम्प होते हैं तथा बोलते समय जीभ बाहर निकलने का प्रयत्न करती है। रोगी झिझकता हुआ एवं हकलाता हुआ बोलता है, विशेषतः दांत और जीभ से बोले जाने वाले अक्षर स्पष्ट नहीं उच्चारित होते। इसी प्रकार काम करते एवं लिखते समय हाथ कांपता है। किसी भी प्रकार के अपस्मार के दौरे समय समय पर आ सकते हैं। कुछ मामलों में कुछ समय के लिये शरीर के किसी भी भाग में रक्तसंवहन क्रिया अवरुद्ध हो जाती है जिससे अर्धाङ्गघात या एकांगघात के समान लक्षण होते हैं।

मांसपेशियां कमजोर हो जाती हैं जिससे थकावट जल्द आती है। फिर कुछ काल बाद सुषुम्नामार्ग प्रभावित हो जाने से स्तंभिक अधरांगघात (Paraplegia) हो जाता है जिससे पैर तथा गुदा और मूत्रमार्ग की संकोचिनी पेशियां बेकार हो जाती हैं। कुछ मामलों में खंजता भी पायी जाती है। धीरे-धीरे कल्पना, उत्तेजना आदि की दशायें समाप्त होकर विस्मृति (Dementia) हो जाती है। रोगी बिस्तर से लग जाता है तथा बोलने एवं सभी प्रकार की मानसिक क्रियाएँ करने में असमर्थ हो जाता है। शय्याव्रण हो जाते हैं। कुछ रोगियों को इस समय बेचैनी और अनिद्रा अधिक सताती हैं। कुछ काल में किसी अन्य रोग की उत्पत्ति होकर मृत्यु हो जाती है। रोगकाल ३-४ वर्षों का है। प्रारम्भिक अवस्था में चिकित्सा करने पर रोग सुखसाध्य है किन्तु बाद की अवस्थाओं में केवल जीवनकाल बढ़ाया जा सकता है, विकृतियां पूर्णतया नहीं सुधारी जा सकतीं।

रोगविनिश्चय मस्तिष्क-सुषुम्ना द्रव की परीक्षा से होता है। बढ़ा हुआ दबाव, लसकायाणु ५० से ५०० तक प्रति घन सेन्टीमीटर और वृत्ति (वर्तुलि, globulin) ४० से १०० मिलीग्राम तक प्रति १०० घनसेन्टीमीटर म. सु. द्रव में मिलना निदानात्मक है। रक्त और म. सु. द्रव में वासरमैन की प्रतिक्रिया अस्त्यात्मक रहती है। म. सु. द्रव की लैंज्जी की स्वर्ण चूर्ण प्रतिक्रिया विशेष प्रकार का फल देती है जो अत्यन्त रोगविनिश्चयात्मक है।

---

*सांकेतिक रूप *G. P. I.*

(६) नाड्यवसन्नता या नाड़ीदौर्बल्य (Neurasthenia)—यह रोग अधिकतर प्रौढ़ व्यक्तियों में पाया जाता है। संभवत: ऐसे व्यक्तियों के वातनाड़ी संस्थान में कुलज दुर्बलता रहती है जो चिन्ता, श्रम, अभिघात, दुःस्वास्थ्य, व्यसन (विशेषत: शराब और कोकीन) आदि कारणों से वृद्धि को प्राप्त होकर रोगोत्पत्ति करती है।

लक्षण किसी भी रोग के समान हो सकते हैं जैसे सिरदर्द, चक्कर आना, अरुचि, अजीर्ण, आध्मान, उद्गार, हृदय में धड़कन, क्षुद्रश्वास, कटि-शूल, नपुंसकता, अनिद्रा, काल्पनिक भय आदि। इनमें से किसी एक या अधिक की शिकायत पायी जाती है। इसके अतिरिक्त रोगी थकावट का अनुभव करता है, किसी काम में मन नहीं लगा पाता और सदैव चिन्तित रहा करता है। कोई भी आनन्द-दायक बात या वस्तु उसे सुखी नहीं कर पाती; वह लगभग विरक्त सा रहता है। नाड़ी कोमल एवं तीव्रगामिनी रहती है, तथा हाथ-पैर अक्सर ठण्डे रहा करते हैं।

यह व्याधि अत्यन्त चिरकारी है; यदि उचित चिकित्सा का आश्रय न लिया जावे तो जीवन भर रही आती है। वास्तविक व्याधियों से इसका विभेद करना चाहिये।

(७) रोग कल्पनौन्माद, गदोद्वेग (Hypochondriasis)—यह एक अत्यन्त दुखदायी मानसिक विकार है जिसमें रोगी अपने शरीर में विभिन्न प्रकार की व्याधियों की कल्पना करता है जबकि वस्तुत: उसे इस प्रकार की कोई शिकायत नहीं रहती। वह व्यर्थ ही अपने घर के लोगों तथा चिकित्सकों को परेशान किया करता है। यदि किसी प्रकार कोई चिकित्सक उसकी एक कल्पना को दूर कर दे तो फिर वह किसी दूसरी व्याधि की कल्पना कर लेता है। वह अक्सर चिकित्सकों की निन्दा करता है और गर्व के साथ कहा करता है कि मैंने अपनी व्याधि पर इतना रुपया खर्च किया किन्तु लाभ कुछ भी न हुआ। वह एक के बाद एक अनेक चिकित्सकों के पास जाता है और उसे कहीं भी सन्तोष नहीं होता। अन्त में वह समझ लेता है कि मेरी व्याधि किसी दुष्कर्म का फल है अतएव चिकित्सा से अच्छी न होगी। इस प्रकार उसका रोग शोकोन्माद (Melancholia) में परिवर्तित हो जाता है।

अक्सर इसके रोगी सामान्य किन्तु गंभीर व्याधियों की कल्पना करते हैं जैसे कर्कटार्बुद, राजयक्ष्मा आदि। कुछ रोगी विचित्र कल्पनायें भी करते हैं जैसे मेरे दिमाग को कीड़े खाये डाल रहे हैं अथवा मेरे पेट में एक सांप बैठा है जो मेरा खाया हुआ भोजन खाजाता है और ऊपर नीचे गति करता है इत्यादि। यदि चिकित्सक उसकी बातों में विश्वास नहीं करता तो रोगी उसे मूर्ख समझता है। इस प्रकार के रोगियों को किसी भी प्रकार यह विश्वास कराना अत्यन्त कठिन होता है कि उनका रोग काल्पनिक है।

यह रोग अधिकतर मध्यम आयु में होता है और इसके होने से आयु पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, रोगी काफी समय जीते हैं।

: २१ :

अपस्मार

सम्प्राप्ति

(चिन्ताशोकादिभिर्दोषाः क्रुद्धा हृत्स्रोतसि स्थिताः।
कृत्वा स्मृतेरपध्वंसमपस्मारं प्रकुर्वते ॥१॥)

चिन्ता, शोक आदि कारणों से कुपित होकर हृदय (मस्तिष्क) स्रोत में स्थित हुए दोष स्मृति को नष्ट करके अपस्मार रोग उत्पन्न करते हैं।

वक्तव्य—(१८४) स्मृति-नाश की प्रधानता के कारण इस रोग का नाम अपस्मार है। साधारण भाषा में इसे मृगी या मिरगी कहते हैं।

सामान्य लक्षण और भेद

तमःप्रवेशः संरम्भो दोषोद्रेकहतस्मृतेः ।
अपस्मार इति ज्ञेयो गदो घोरश्चतुर्विधः ॥१॥

दोष-प्रकोप से स्मृति का नाश होने पर अंधकार में प्रवेश करने के समान अनुभव होना और हाथ-पैर फैंकना तथा आंखें चढ़ाना अपस्मार कहलाता है। यह भयंकर रोग चार प्रकार का होता है।

पूर्वरूप

हृत्कम्पः शून्यता स्वेदो ध्यानं मूर्च्छा प्रमूढता ।
निद्रानाशश्च तस्मिंश्च भविष्यति भवत्यथ ॥२॥

अपस्मार होने के पूर्व हृदय में कम्पन और शून्यता (खालीपन) की अनुभूति, पसीना निकलना, सोचते रहना, मूर्च्छा, बुद्धिनाश और निद्रानाश होते हैं।

वक्तव्य—(१८५) मधुकोषकार ने 'मूर्च्छा और प्रमूढ़ता' का अर्थ 'मन तथा इन्द्रियों का मोह' स्वीकार किया है—'अत्र मूर्च्छा मनोमोहः, प्रमूढ़ता इन्द्रियमोहः'। मूर्च्छा से अपस्मार की उत्पत्ति हो सकती है अर्थात् मूर्च्छा अपस्मार का रूप धारण कर सकती है—यह बात पाश्चात्य विद्वान् भी मानते हैं।

वातज अपस्मार

कम्पते प्रदशेद्दन्तान् फेनोद्वामी श्वसित्यपि ।
परुषारुणकृष्णानि पश्येद्रूपाणि चानिलात् ॥३॥

वातज अपस्मार का रोगी कांपता है, दांत कटकटाता है, फेन का वमन करता है और जोर से श्वास भी लेता है तथा उसे (दौरा आने पर गिरते समय) सभी पदार्थ रूक्ष, अरुण या काले दिखाई देते हैं।

पित्तज अपस्मार

पीतफेनाङ्गवक्त्राक्षः पीतासृग्रूपदर्शनः ।
सतृष्णोष्णानलव्याप्तलोकदर्शी च पैत्तिकः ॥४॥

पित्तज अपस्मार के रोगी के फेन, हाथ-पैर आदि अंग, मुख और नेत्र पीले रहते हैं; उसे पदार्थों का रूप पीला या रक्तवर्ण दिखाई देता है, प्यास एवं उष्णता का अनुभव होता है और सारा संसार अग्नि से व्याप्त दिखाई देता है।

वक्तव्य—(१८६) यह रोग के लक्षणों का वर्णन न होकर रोगी के लक्षणों का वर्णन है। इसके साथ अपस्मार के सामान्य लक्षणों को जोड़ लेना चाहिये क्योंकि उनके बिना रोगी को अपस्मार-पीड़ित नहीं कहा जा सकता। कामला रोग में अत्यधिक पित्तमयता (Cholaemia) से उपद्रव स्वरूप अपस्मार की उत्पत्ति होती है; उस अपस्मार में पित्तज अपस्मार के समस्त लक्षण मिलते हैं। संयोगवशात् अपस्मार की उपस्थिति में कामला हो सकता है अथवा दोनों रोग साथ साथ उत्पन्न हो सकते हैं—ऐसी दशाओं में भी उक्त लक्षण मिलेंगे। किन्तु पित्तमयता-जन्य अपस्मार को ही वास्तविक पित्तज अपस्मार कह सकते हैं क्योंकि इसमें केवल पित्त-शमन (कामला की चिकित्सा) से ही अपस्मार शान्त हो जाता है।

कफज अपस्मार

शुक्लफेनाङ्गवक्त्राक्षः शीतहृष्टाङ्गजो गुरुः ।
पश्येच्छुक्लानि रूपाणि श्लैष्मिको मुच्यते चिरात् ॥५॥

कफज अपस्मार के रोगी के फेन, हाथ पैर आदि अंग, मुख और नेत्र श्वेताभ रहते हैं; शरीर शीतल तथा रोम खड़े हुए (अथवा रोम शीत लगने के कारण खड़े हुए के समान) रहते हैं, शरीर भारी (अथवा स्थूल) रहता है; पदार्थों का रूप श्वेताभ दिखाई देता है और दौरा देर में शान्त होता है।

वक्तव्य—(१८७) इसके साथ भी अपस्मार के सामान्य लक्षणों को जोड़ लेना चाहिये। कफज अपस्मार का दौरा वातज और पित्तज अपस्मारों की अपेक्षा अधिक काल तक रहता है—यह चरक ने भी स्वीकार किया है।

त्रिदोषज अपस्मार

सर्वैरेतैः समस्तैश्च लिङ्गैर्ज्ञेयस्त्रिदोषजः ।

सभी दोषों के समस्त लक्षणों से त्रिदोषज अपस्मार समझना चाहिये ।

अस्राध्य लक्षण

अपस्मारः स चासाध्यो यः क्षीणस्यानवश्च यः ॥६॥
प्रतिस्फुरन्तं बहुशः क्षीणं प्रचलितभ्रुवम् ।
नेत्राभ्यां च विकुर्वाणमपस्मारो विनाशयेत् ॥७॥

वह (त्रिदोषज अपस्मार)तथा क्षीण रोगी का अपस्मार और पुराना अपस्मार असाध्य हैं । जो वारम्बार अत्यधिक फड़फड़ाता हो, अत्यन्त क्षीण हो, जिसकी भौंहें अपने स्थान से हट गयी हों (ऊपर चढ़ती हों अथवा सदा चढ़ी रहें या लटक जावें) और जो नेत्रों से विकृत क्रियाएं (चेष्टाएं) करता हो ऐसे रोगी को अपस्मार रोग मार डालता है ।

प्रकोप-काल

पक्षाद्वा द्वादशाहाद्वा मासाद्वा कुपिता मलाः ।
अपस्माराय कुर्वन्ति वेगं किंचिदथान्तरम् ॥८॥
देवे वर्षत्यपि यथा भूमौ बीजानि कानिचित् ।
शरदि प्रतिरोहन्ति तथा व्याधिसमुच्छ्रयाः ॥९॥

१५ दिन, १२ दिन अथवा १ मास के बाद कुपित दोष अपस्मार का वेग उत्पन्न करते हैं—इसमें कुछ अन्तर भी पड़ सकता है । जिस प्रकार वर्षा काल में भूमि में पड़े रहने पर भी कुछ बीज शरद् ऋतु में ही उगते हैं उसी प्रकार इस व्याधि की उत्पत्ति समझनी चाहिए ।

वक्तव्य—(१८८) **पित्तज अपस्मार का वेग १५ दिनों में बातज का १२ दिनों में और कफज का १ मास में आता है ।**

पाश्चात्य मत—

अपस्मार (Epilepsy)—यह मस्तिष्क के एका-एक कुछ समय के लिए अव्यवस्थित होजाने की दशा है, इसमें मस्तिष्क के ऊपरी केन्द्रों में से थोड़े से या बहुत से निष्क्रिय हो जाते हैं जिससे उनसे संबंधित क्रियाएं अनियन्त्रित हो जाती हैं । इसके फलस्वरूप मानसिक संज्ञावह (सांवदेनिक) और चेष्टावह क्रियाओं में अनेक प्रकार की विकृतियां उत्पन्न होती हैं जो प्रारम्भ में अस्थायी रहती हैं और आवेग शांत होते ही दूर हो जाती हैं किन्तु रोग लम्बे समय तक बना रहने पर कुछ विकृतियां स्थायी हो जाती हैं ।

मूलभूत (अकारणज, स्वतन्त्र, Idiopathic or Cryptogenic) और 'आनुषंगिक' (द्वितीयक, लाक्षणिक, उपसर्गज, Secondary or Symptomatic) भेद से अपस्मार रोग २ प्रकार का होता है:—

(i) मूलभूत प्रकार का कोई स्पष्ट कारण नहीं मिलता किन्तु अनुमान किया जाता है कि एक प्रकार की वंशानुगत मानसिक दुर्बलता से इसकी उत्पत्ति होती है । सामान्यतः 'अपस्मार' कहने से मूलभूत अपस्मार का ही आशय ग्रहण किया जाता है । इसमें अंगविक्षेप आदि चेष्टाएं अल्प होती हैं और अधिकांश मामलों में आक्रमण होने का एक निश्चित समय होता है । इसका आरंभ किसी भी समय हो सकता है किन्तु अधिकतर ५ वर्ष की आयु के भीतर लक्षण प्रकट हो जाते हैं, शेष मामलों में युवावस्था या वृद्धावस्था में आरम्भ होता है ।

(ii) आनुषंगिक प्रकार—इसकी उत्पत्ति निम्नलिखित कारणों से होती है—

(अ) मस्तिष्कगत रोग—मस्तिष्क प्रदाह, मस्तिष्कावरण प्रदाह, अभिघात, कृमि-ग्रन्थि (Cysticercy), अर्बुद, फिरंग, राजयक्ष्मा तथा सहज विकृतियां ।

(ब) रक्तवाहिनीगत रोग—मस्तिष्कगत धमनियों में से रक्तस्राव अथवा उनमें घनास्रता, अन्तः शल्यता, किसी कारण से अवरोध अथवा रक्त कम पहुँचना जैसे मूर्च्छा रोग में ।

(स) आभ्यन्तर रोग-विष—मूत्रमयता, पित्तमयता, गर्भविषमयता (गर्भाक्षेपक, Eclampsia) आदि के विषाक्त पदार्थों के प्रभाव से तथा अस्थिक्षय (Rickets) रोग के उपद्रव-स्वरूप ।

(द) विष-कोकेन, कुचला-सत्व, पिक्रोटौक्सिन (Picrotoxin), कपूर, चाय-सत्व (Coffeine), तम्बाखू-सत्व (Nicotine), मल्ल, सीसक, विस्मथ आदि ।

(इ) तीव्र उपसर्ग—अनेक प्रकार के ज्वरादि रोग।

इस प्रकार का अपस्मार उक्त कारणों से होने के कारण किसी भी आयु में उत्पन्न हो सकता है। स्थायी कारणों से उत्पन्न रोग भी स्थायी होता है। अस्थायी कारणों से उत्पन्न रोग अधिकतर कारण भूत रोग के साथ ही शांत होजाता है, किन्तु यदि वह रोग मस्तिष्क में स्थायी विकृति उत्पन्न कर दे तो अपस्मार स्थायी होजाता है। सभी प्रकार के आनुषंगिक अपस्मार में अङ्गविक्षेप आदि लक्षण अत्यन्त प्रवल होते हैं।

लक्षणों की सौम्यता एवं उग्रता के अनुसार लघु और गुरु भेद से अपस्मार २ प्रकार का होता है—

(i) लघु अपस्मार (Petit Mal)—इस प्रकार में मस्तिष्क के अत्यन्त थोड़े एवं सीमित भाग में अव्यवस्था होती है। इसके दौरा आते ही सुख, दुख या भय की कल्पनायें उठती हैं अथवा दृष्टि में विकृति (विविध रंगों अथवा अंधकार का दर्शन) अथवा श्रवण शक्ति विकृति में(विविध शब्द सुनना) अथवा स्वाद विकृति अथवा स्पर्श-विकृति (किसी भी अंग विशेष में एकाएक झुनझुनी, शून्यता, तोद, पीड़ा आदि) का अनुभव होकर १-२ क्षणों के लिये पूर्ण अथवा अपूर्ण संज्ञानाश होता है। काम या बातचीत करते-करते रोगी अचानक रुक जाता है, आंखें शून्य एवं स्थिर हो जाती हैं, चेहरा पीला पड़ जाता है और हाथ की वस्तु छूटकर नीचे गिर जाती है। फिर एक दो क्षणों के बाद ही रोगी पुनः चैतन्य होकर काम में लग जाता है। दूसरे मामलों में रोगी सिर झुकाकर दौड़ता हुआ सा गिर पड़ता है, यदि सामने कोई पदार्थ हो तो सिर उससे टकरा जाता है; अथवा केवल अपना सिर इस प्रकार झुकाता है मानो अभिवादन कर रहा हो। इसके अतिरिक्त अन्य कई प्रकार की अप्राकृतिक क्रियाएं होसकती हैं परन्तु वे सब अत्यन्त थोड़े समय तक रहती हैं।

(ii) गुरु अपस्मार (Grand Mal)—इस प्रकार में मस्तिष्क के काफी बड़े अंश में अव्यवस्था होती है इसलिये लक्षण अधिक व्यापक होते हैं और दौरा देर तक रहता है। दौरा आने के कुछ घंटों या कुछ दिनों पूर्व बेचैनी, कमजोरी, सिर दर्द, अखाद्य पदार्थ खाने की इच्छा, निद्रा अधिक आना आदि "पूर्वरूप" उत्पन्न होते हैं। यदि इस समय रोगी अपने आप को अत्यधिक व्यस्त रखे तो दौरा रुक सकता है क्योंकि इसका दौरा उसी समय आता है जब रोगी फुरसत में हो। दौरा आते समय सुख-दुख या भय की कल्पनाएं, दृष्टि विकृति, स्वाद-विकृति, स्पर्श विकृति, भ्रम आदि "पूर्वलक्षण" (Aura) प्रकट होकर शीघ्र ही संज्ञानाश होजाता है और रोगी एकाएक जमीन पर गिर पड़ता है।

गिरते-गिरते अथवा गिरने के पश्चात् तुरन्त ही सारा शरीर अकड़ जाता है। सर्वप्रथम चेहरे, गले और नेत्रों की पेशियां अकड़ती हैं और फिर शेष शरीर की। नेत्रों की पुतलियां किसी एक पार्श्व की ओर हटकर स्थिर हो जाती हैं (समपार्श्वीय नेत्रावर्तन, Conjugate Deviation) और सिर भी उसी ओर झुक जाता है। हाथ कोहनी पर मुड़े हुए रहते हैं। सारा शरीर पीछे की ओर धनुषाकार झुक जाता है (बाह्यायास, Opisthotonos) स्वरयंत्र भी अकड़ जाता है और ऐसा होते समय कभी-कभी एक विशेष प्रकार की आवाज उत्पन्न होती है जिसे "अपस्मारीय चीत्कार ((Epileptic Cry) कहते हैं। जबड़े एकाएक बन्द हो जाते हैं (दंतौरी बंधना) जिससे जीभ कट जाने का भय रहता है। मल-मूत्र का त्याग होजाता है। श्वास भी अवरुद्ध होजाती है जिससे श्यावता उत्पन्न होती है। यह दशा कुछ क्षणों तक ही रहती है। इसे "निरन्तरित अवस्था (Tonic Phase) कहते हैं।

इसके बाद "सान्तरित अवस्था (Clonic Phase) आरम्भ होती है और लगभग २ मिनिट रहती है। इस अवस्था में श्वास-प्रश्वास घर्घरध्वनि

के साथ आरम्भ होता है और नेत्र, मुख, हाथ-पैर, आदि की पेशियों में जोरदार आक्षेप होते हैं तथा मुख से फेन निकलता है।

इसके बाद रोगी कुछ देर के लिये चैतन्य होकर, अत्यन्त थकित होने के कारण गंभीर निद्रा में निमग्न होजाता है और कई घण्टों तक सोता रहता है। इस समय सभी प्रतिक्षेप लुप्त होजाते हैं किन्तु पाद-तल प्रतिक्षेप (Plantar Reflex) प्रसारक (Extensor) होजाता है। रक्त-निपीड़ घट जाता है। इस अवस्था को शैथिल्यावस्था (Stage of Relaxation) कहते हैं।

दौरा हो चुकने के बाद कई दिनों तक सिरदर्द वमन, कमजोरी, सुस्ती, प्रभावित पेशियों का अस्थायी घात (Todd's Paralysis) आदि लक्षण पाये जाते हैं। कुछ रोगियों में पेशियों की कुछ क्रियायें अनैच्छिक रूप से अनजाने में ही हुआ करती हैं और कुछ में हिस्टीरिया के लक्षण पाये जाते हैं।

उक्त दोनों प्रकार के अपस्मार के दौरे समय समय पर आते रहते हैं। रोगकाल अनिश्चित है; कभी कभी यह क्रम आजीवन चलता रहता है। दौरों के बीच के काल में रोगी लगभग स्वस्थ रहता है। सामान्य कारणों से उत्पन्न अपस्मार घातक नहीं होता किन्तु गिरते समय संभलने का अवसर न मिलने के कारण खतरे के स्थानों में गिरकर मृत्यु हो सकती है तथा दीर्घकाल तक दौरे आते रहने से मस्तिष्क में स्थायी विकृति हो सकती है। गंभीर कारणों से उत्पन्न अपस्मार प्रायः अत्यन्त भयंकर एवं घातक हुआ करता है।

अन्य प्रकारः—

(१) अपस्मारावस्था (Status Epilepticus)—इसकी उत्पत्ति मस्तिष्कगत गंभीर रोग अथवा विषमयता से होती है। इसमें अपस्मार के दौरे बार बार एवं जल्दी जल्दी आते हैं। तीव्र ज्वर रहता है और नाड़ी कमजोर एवं तीव्र रहती है। अन्त में ज्वर अधिक तीव्र होकर तथा संन्यास होकर मृत्यु हो जाती है।

(२) जैकसन का अपस्मार (Jacksomian Epilepsy) अथवा स्थानिक अपस्मार (Local Convulsion)—इस रोग में शरीर के किसी भी एक या अनेक भागों में अपस्मार के समान अकड़न और आक्षेप या केवल आक्षेप होते हैं। संज्ञा प्रायः स्थिर रहती है।

(३) निद्रापस्मार (Narcolepsy)—इस रोग में एकाएक कुछ मिनिटों या सेकण्डों के लिये रोगी सो जाता है। कुछ मामलों में इसके दौरे के पूर्व अत्यन्त थकावट का अनुभव होता है।

(४) घातापस्मार (Cataplexy)—इसमें कुछ काल के लिये शरीर की कुछ या कई पेशियों का घात हो जाता है। आक्षेप नहीं होते और होश में ही रहता है।

(५) अपस्मार सदृष मनोविकार (Epileptic Psychic Equivalents)—पूर्वकथिक पूर्वलक्षणों (Aura) के समान मन, दृष्टि, श्रुति, स्वाद आदि में एकाएक विकृति होती है और कुछ समय बाद ठीक हो जाती है। अपस्मार के अन्य लक्षण नहीं होते।

इनके अतिरिक्त अन्य कई प्रकार और भी होते हैं किन्तु उनका अधिक महत्व नहीं है।

लघु अपस्मार का विभेद मूर्च्छा, मैनियर के रोग और सूर्यावर्त से करना पड़ता है। इसी प्रकार गुरु अपस्मार का विभेद मूर्च्छा, संन्यास और हिस्टीरिया से करना पड़ता है।
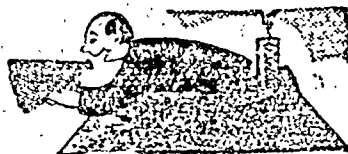
: २२ :

वातव्याधि

वातव्याधियों के सामान्य निदान और सम्प्राप्ति

रूक्षशीताल्पलघ्वन्नव्यवायातिप्रजागरैः ।
विषमादुपचाराच्च दोषासृक्स्रवणादपि ॥१॥
लङ्घनप्लवनात्यध्वव्यायामादिविचेष्टितैः ।
धातूनां संक्षयाच्चिन्ताशोकरोगातिकर्षणात् ॥२॥
वेगसंधारणादामादभिघातादभोजनात् ।
मर्माबाधाद्गजोष्ट्राश्वशीघ्रयानापतंसनात् ॥३॥
देहे स्रोतांसि रिक्तानि पूरयित्वाऽनिलो बली ।
करोति विविधान् व्याधीन् सर्वाङ्गैकाङ्गसंश्रयान् ॥४॥

रूखे, शीतल, थोड़े एवं लघु भोजन से, अतिमैथुन, अति जागरण, विषम-उपचार, दोष-निर्हरण तथा रक्तमोक्षण से, लांघना, तैरना (अथवा नहाना), मार्गगमन, व्यायाम आदि चेष्टाओं की अधिकता से, चिन्ता, शोक, रोग एवं अधिक कर्षण चिकित्सा के कारण धातुओं का क्षय होने से वेगधारण, आम, अभिघात एवं अनशन से, मर्म-स्थानों पर बंधन बांधने (या अभिघात लगने) से और हाथी, ऊंट, घोड़ा एवं शीघ्रगामी यान पर से गिर पड़ने से (अथवा उन पर बैठने से उच्छ्वास रुकने के कारण) वायु अधिक बलवान होकर देह के खाली स्रोतों को पूरकर (भर कर) अनेक प्रकार की ऐकांगिक (स्थानिक) और सार्वाङ्गिक (सार्वदैहिक) व्याधियां उत्पन्न करता है।

वक्तव्य—(१८६) इस अध्याय में उन्हीं व्याधियों का वर्णन है जो मूलतः वात के ही प्रकोप से उत्पन्न होती हैं तथा जिनके पित्तज, कफज आदि भेद नहीं होते।

विषम उपचार—चिकित्सा में प्रयुक्त वमन विरेचन, नस्य, धूम्रपान, अवगाहन, परिषेक, वस्ति, अग्निकर्म, क्षार कर्म आदि का समयोग होने पर दोषों का शमन होता है किन्तु हीन, अति या विषमयोग होने से दोषों का प्रकोप होता है।

वातव्याधियों के सामान्य पूर्वरूप आदि

अव्यक्तं लक्षणं तेषां पूर्वरूपमिति स्मृतम्।
आत्मरूपं तु यद्व्यक्तमपायो लघुता पुनः ॥५॥

वातव्याधियों के लक्षण अव्यक्त (भलीभांति स्पष्ट नहीं) होने पर पूर्व रूप कहलाते हैं। वे ही व्यक्त होने पर आत्म-रूप (रूप) कहलाते हैं और उनमें लघुता उत्पन्न होना रोग शान्ति का बोधक है।

कुपित वात के कार्य

संकोचः पर्वणां स्तम्भो भङ्गोऽस्थ्नां पर्वणामपि।
रोमहर्षः प्रलापश्च पाणिपृष्ठशिरोग्रहः ॥६॥
खाञ्ज्यपांगुल्यकुब्जत्वं शोथोऽङ्गानामनिद्रता।
गर्भशुक्ररजोनाशः स्पन्दनं गात्रसुप्तता ॥७॥
शिरोनासाक्षिजत्रूणां ग्रीवायाश्चापि हुण्डनम्।
भेदस्तोदोऽर्तिराक्षेपो मुहुश्चायास एव च ॥८॥
एवंविधानि रूपाणि करोति कुपितोऽनिलः।
हेतुस्थानविशेषाच्च भवेद्रोगविशेषकृत् ॥९॥

पर्वों (अथवा संधियों) में संकोच (खिंचाव) और स्तम्भ (अकड़न), अस्थियों और पर्वों का टूटने (अथवा टूटना के समान पीड़ा), रोम खड़े होना, प्रलाप, हाथ, पैर, पीठ सिर का जकड़ जाना, खंजता (लंगड़ाकर चलना), पंगुता (चलने में असमर्थता), कुबड़ापन, अङ्गों में शोथ, अनिन्द्रा, गर्भ, शुक्र एवं रज का नाश, अंग फड़कना, अङ्गों में सुप्तता (स्पर्श-ज्ञान का अभाव, सुन बहरी (Anaesthesia), सिर नासिका, नेत्र, जत्रु एवं ग्रीवा का टेढ़ापन (अथवा फटना या क्रियाहानि); भेद (फटने के समान पीड़ा) तोद (सुई गोंचने के समान पीड़ा), अर्ति (सामान्य पीड़ा, दुखना), आक्षेप और शीघ्र ही थकावट आना (अथवा अङ्गों में बारम्बार गति होना)—इस प्रकार के लक्षण कुपित वायु उत्पन्न करती है तथा रोगोत्पादक कारण एवं स्थान के वैशिष्ट्य के

अनुसार रोग-विशेष की उत्पत्ति करती है।

कोष्ठाश्रित कुपित वायु के लक्षण

तत्र कोष्ठाश्रिते दुष्टे निग्रहो मूत्रवर्चसोः।
ब्रध्नहृद्रोगगुल्मार्शः पार्श्वशूलं च मारुते ॥१०॥

कोष्ठ में आश्रित वायु के दूषित होने पर मल-मूत्र का अवरोध, ब्रध्नरोग, हृदयरोग, गुल्मरोग, अर्श एवं पार्श्व-शूल होते हैं।

सर्वाङ्ग में कुपित वायु के लक्षण

सर्वाङ्गकुपिते वाते गात्रस्फुरणभञ्जनम्।
वेदनाभिः परीताश्च स्फुटन्तीवास्य सन्धयः ॥११॥

सारे शरीर में वायु-प्रकोप होने पर अङ्ग फड़कना, अङ्ग टूटना (टूटने के समान पीड़ा) और अनेक विध वेदनाओं से संधियां फटती हुई सी जान पड़ना—ये लक्षण होते हैं।

गुदा में स्थित कुपित वायु के लक्षण

ग्रहो विण्मूत्रवातानां शूलाध्मानाश्मशर्कराः।
जङ्घोरुत्रिकपात्पृष्ठरोगशोषौ गुदे स्थिते ॥१२॥

गुदा में स्थित कुपित वायु से मल, मूत्र और वायु (अपान) का अवरोध, शूल, आध्मान, अश्मरी, शर्करा सूक्ष्म अश्मरी) तथा जंघा (पिण्डली), उरु (जांघ) त्रिक (कटि), पैर और पीठ में पीड़ा एवं शोथ होते हैं।

आमाशय में स्थित कपित वायु के लक्षण

रुक् पार्श्वोदरहृन्नाभेस्तृष्णोद्गारविसूचिकाः।
कासः कण्ठास्यशोषश्च श्वासश्चामाशयस्थिते ॥१३॥

पार्श्व, उदर, हृदय (हृदय-प्रदेश) और नाभि में पीड़ा, तृष्णा, उद्गार (डकार), विसूचीरोग, खांसी, भूख एवं कण्ठ सूखना और श्वास रोग—ये लक्षण आमाशय स्थिति वायु के कारण होते हैं।

पक्वाशय में स्थित कुपित वायु के लक्षण

पक्वाशयस्थोऽन्त्रकूजं शूलाटोपौ करोति च।
कृच्छ्रमूत्रपुरीषत्वमानाहं त्रिकवेदनाम् ॥१४॥

पक्वाशयस्थ कुपित वायु आंतों में शब्द, शूल, आटोप, मल-मूत्र विसर्जन में कठिनाई, आनाह और त्रिक में पीड़ा उत्पन्न करता है।

श्रोत्रादि में स्थित कुपित वायु के लक्षण

श्रोत्रादिष्विन्द्रियवधं कुर्याद्दुष्टः समीरणः।

कान आदि इन्द्रियों में स्थित कुपित वायु उस इन्द्रिय को नष्ट कर देता हैं।

वक्तव्य—(१८६) 'आदि' से नेत्र, नासिका और जिह्वा का भी ग्रहण करना चाहिये। इन्द्रिय को नष्ट करने से इन्द्रिय क्रिया के नाश का तात्पर्य है जैसे, कान से बधिरता, आंखों से अंधता, जिह्वा से स्वाद जानने की शक्ति एवं बोलने की शक्ति का नाश और नाक से सूंघने की शक्ति का नाश।

त्वचा में स्थित कुपित वायु के लक्षण

त्वग्रूक्षा स्फुटिता सुप्ता कृशा कृष्णा च तुद्यते।
आतन्यते सरागा च पर्वरुक् त्वग्गतेऽनिले ॥१५॥

त्वचागत कुपित वायु से त्वचा रूखी, फटी हुई, सुप्त (संज्ञाहीन) पतली, काली एवं लालिमायुक्त हो जाती है; उसमें तोद एवं तनाव होता है और पर्वों (सन्धियों) पर की त्वचा में पीड़ा होती है।

रक्त में स्थित कुपित वायु के लक्षण

रुजस्तीव्राः ससन्तापा वैवर्ण्यं कृशताऽरुचिः।
गात्रे चारूंषि भुक्तस्य स्तम्भश्चासृग्गतेऽनिले ॥१६॥

रक्तगत कुपित वायु से सन्ताप सहित तीव्र पीड़ा, विवर्णता, कृशता, अरुचि और भोजन के बाद शरीर में अकड़न उत्पन्न होती है।

मांस-मेद में स्थित कुपित वायु के लक्षण

गुर्वङ्गं तुद्यतेऽत्यर्थं दण्डमुष्टिहतं यथा।
सरुक् श्रमितमत्यर्थं मांसमेदोगतेऽनिले ॥१७॥

मांस-मेद में स्थित कुपित वायु से अङ्ग भारी रहता है, अत्यधिक तोद होता है, डण्डे या मुक्के मारे गये हों इस प्रकार की पीड़ा रहती है और अत्यन्त थकावट प्रतीत होती है।

अस्थिमज्जा में कुपित वायु के लक्षण

भेदोऽस्थिपर्वणां सन्धिशूलं मांसबलक्षयः।
अस्वप्नः संतता रुक् च मज्जास्थिकुपितेऽनिले ॥१८॥

अस्थिमज्जास्थित कुपित वायु से अस्थियों और पर्वों में

फटने के समान पीड़ा, सन्धियों में शूल चुभाने के समान पीड़ा बल-मांस का क्षय, अनिद्रा और लगातार एक सी पीड़ा होती है।

शुक्र में स्थित कुपित वायु के लक्षण

क्षिप्रं मुञ्चति वध्नाति शुक्रं गर्भमथापि वा।
विकृतिं जनयेच्चापि शुक्रस्थः कुपितोऽनिलः ॥१६॥

शुक्रगत कुपित वायु शुक्र अथवा गर्भ को शीघ्र ही मुक्त कर देता है अथवा बांध (रोक) देता और विकृति भी कर देता है।

वक्तव्य—(१६१) कुपित वायु से प्रभावित होने पर शुक्र विकृत हो जाता है जिससे या तो शीघ्र ही निकल जाता है अथवा देर तक रुका रहता है। इस प्रकार के विकृत शुक्र के संयोग से रहने वाला गर्भ भी विकृत हो जाता है तथा समय से पूर्व (गर्भपात) या समय के बाद प्रसूत (विलम्बित प्रसव) होता है अथवा समय पूरा के होने बाद मरकर गर्भाशय में रुका रहता है। इस प्रकार उत्पन्न होने वाला शिशु भी विकृत शरीर वाला हो सकता है।

सिराओं में स्थित कुपित वायु के लक्षण

कुर्यात्सिरागतः शूलं सिराकुञ्चनपूरणम्।
स बाह्याभ्यन्तरायामं खल्लीं कौब्ज्यमथापि वा ॥२०॥

सिराओं में स्थित कुपित वायु सिराओं को सिकोड़ या फुला देता है तथा बाह्यायाम, अन्तरायाम, खल्ली या कुब्जता उत्पन्न करता है।

स्नायुओं में स्थित कुपित वायु के लक्षण

सर्वाङ्गैकाङ्गरोगांश्च कुर्यात्स्नायुगतोऽनिलः।

स्नायुओं में स्थित कुपित वायु सार्वाङ्गिक या एकाङ्गिक रोग उत्पन्न करता है।

संधियों में स्थित कुपित वायु के लक्षण

हन्ति सन्धिगतः सन्धीन् शूलाटोपौ करोति च ॥२१॥

सन्धियों में कुपित वायु सन्धियों को नष्ट कर देता है तथा उनमें शूल और आटोप (तनाव, शोथ) उत्पन्न करता है।

पित्तकफावृत पंचविध वायु के लक्षण

(प्राणोदानौ समानश्च व्यानश्चापान एव च।
स्थानस्था मारुताः पञ्च यापयन्ति शरीरिणम्॥)
प्राणे पित्तावृते छर्दिर्दाहश्चैवोपजायते।
दौर्बल्यं सदनं तन्द्रा वैरस्यं च कफावृते ॥२२॥
उदाने पित्तयुक्ते तु दाहो मूर्च्छा भ्रमः क्लमः।
अस्वेदहर्षौ मन्दोऽग्निः शीतता च कफावृते ॥२३॥
स्वेददाहौष्ण्यमूर्च्छाः स्युः समाने पित्तसंवृते।
कफेन सक्ते विण्मूत्रे गात्रहर्षश्च जायते ॥२४॥
अपाने पित्तयुक्ते तु दाहौष्ण्यं रक्तमूत्रता।
अधः काये गुरुत्वं च शीतता च कफावृते ॥२५॥
व्याने पित्तावृते दाहो गात्रविक्षेपणं क्लमः।
स्तम्भनो दण्डकश्चापि शूलशोथौ कफावृते ॥२६॥

प्राण, उदान, समान, व्यान और अपान—ये ५ वायु अपने अपने स्थानों में रहकर प्राणियों का निर्वाह करती हैं।

प्राणवायु के पित्त से आवृत होने पर वमन और दाह होती है तथा कफ से आवृत होने पर दुर्बलता, अवसाद, तन्द्रा और मुख में स्वादहीनता होती है।

उदानवायु पित्त से आवृत होने पर दाह, मूर्च्छा, भ्रम और थकावट होती है तथा कफ से आवृत होने पर स्वेद न निकलना, रोमहर्ष, मन्दाग्नि और शीतलता होती है।

समान वायु पित्त से आवृत होने पर स्वेद निकलना, दाह, उष्णता और रक्तमेह होता है तथा कफ से आवृत होने पर शरीर के निचले भाग में भारीपन और शीतलता होती है।

व्यानवायु पित्त से आवृत होने पर दाह, अङ्गों को इधर उधर फेंकना (आक्षेप) और थकावट होने पर स्तंभ (धनुः स्तम्भ, आदि), दण्डक (दण्डापतानक) शूल और शोथ होता है।

वक्तव्य—(१६२) यहां तक वातज रोगों की सम्प्राप्ति का वर्णन प्रतिलोभ विधि से किया गया है अर्थात् समझाया गया है कि वायु किन किन परिस्थितियों में कौन कौन से रोग या लक्षण उत्पन्न करता है। आगे रोगों का वर्णन है।

आक्षेपक

यदा तु धमनीः सर्वाः कुपितोऽभ्येति मारुतः।
तदाऽऽक्षिपत्याशु मुहुर्मुहुर्देहं मुहुश्चरः ॥२७॥
मुहुर्मुहुश्चाक्षेपणादाक्षेपक इति स्मृतः ।

जब कुपित वायु सब धमनियों (वात-नाड़ियों) में प्रविष्ट होता है तब वह बारबार चलकर शरीर को जल्दी जल्दी एवं बार बार फेंकने के समान क्रिया करता है (अथवा आक्षेप उत्पन्न करता है)। बारम्बार आक्षेप होने के कारण इसे आक्षेपक कहते हैं।

अपतन्त्रक

क्रुद्धः स्वैः कोपनैर्वायुः स्थानादूर्ध्वं प्रवर्तते ॥२८॥
पीडयन् हृदयं गत्वा शिरः शङ्खौ च पीडयन्।
धनुर्वन्नमयेद्गात्राण्याक्षिपेन्मोहयेत्तदा ॥२९॥
स कृच्छ्रादुच्छ्वसेच्चापि स्तब्धाक्षोऽथ निमीलकः।
कपोत इव कूजेच्च निःसंज्ञः सोऽपतन्त्रकः ॥३०॥
दृष्टिं संस्तभ्य संज्ञां च हत्वा कण्ठेन कूजति।
हृदि मुक्ते नरः स्वास्थ्यं याति मोहं वृते पुनः ॥३१॥
वायुना दारुणं प्राहुरेके तदपतानकम्।

अनेक प्रकोपक कारणों से कुपित वायु अपने स्थान को छोड़कर हृदय को पीड़ित करता हुआ ऊपर की ओर जाता है और सिर एवं शंखप्रदेश में जाकर उन्हें पीड़ित करता हुआ शरीर को धनुष के समान झुका देता है, अङ्गों में आक्षेप उत्पन्न करता है और मूर्च्छा उत्पन्न कर देता है। तब वह संज्ञाहीन रोगी कष्ट के साथ श्वास छोड़ता है, उसके नेत्र और पलक स्तब्ध हो जाते हैं और वह कबूतर के समान घुर-घुर करता है। यह रोग अपतन्त्रक है। दृष्टि को स्तब्ध करके और संज्ञानाश करके कण्ठ में घुर-घुर करती हुई वायु जब हृदय को छोड़ देती है तब मनुष्य स्वास्थ्य लाभ करता और पुनः वायुप्रकोप होने पर मूर्च्छित हो जाता है। इस दारुण व्याधि को कुछ लोग अपतानक कहते हैं।

वक्तव्य—(१९३) मधुकोशकार ने अपतंत्रक और अपतानक को पृथक्-पृथक् रोग माना है। सुश्रुत ने केवल अपतानक रोग माना है और वाग्भट्ट का वर्णन उपर्युक्त के ही समान है।

वस्तुतः उपर्युक्त वर्णन एक ही रोग का है। बीचोंबीच 'सोऽपतन्त्रकः' आजाने से ही भ्रम की सृष्टि हुई है और दुख की बात है कि यह भ्रम इतने लम्बे समय से चला आ रहा है कि वास्तविकता का रूप धारण कर चुका है।

दण्डापतानक

कफान्वितो भृशं वायुस्तास्वेव यदि तिष्ठति ॥३२॥
दण्डवत्स्तम्भयेद्देहं स तु दण्डापतानकः ।

यदि उन्हीं स्थानों (हृदय, सिर एवं शंख प्रदेश) में कफयुक्त वायु अधिक ठहरता है तो वह सारे शरीर को डण्डे के समान सीधा अकड़ा देता है—यही दण्डापतानक है।

वक्तव्य—(१९४) अपतानक केवल वायु की दुष्टि के कारण होता है। जब वायु के साथ कफ भी रहता है तब दण्डापतानक होता है। चरक ने दण्डापतानक का वर्णन 'दण्डक' नाम से किया है।

धनुःस्तम्भ

धनुस्तुल्यं नमेद्यस्तु स धनुःस्तम्भसंज्ञकः ॥३३॥

जो रोग शरीर को धनुष के समान झुका दे वह धनुःस्तम्भ नामक रोग है।

वक्तव्य—(१९५) यह 'धनुःस्तम्भ' की निरुक्ति और सामान्य लक्षण मात्र है। धनुष के समान झुकना दो प्रकार का होता है—(१) सामने की ओर (२) पीछे की ओर। प्रथम को आभ्यन्तरायाम या अन्तरायाम और द्वितीय को बाह्यायाम कहते हैं। इन दोनों का वर्णन नीचे किया गया है। पार्श्वायाम भी होता है किन्तु उसका वर्णन आयुर्वेद ग्रन्थों में नहीं मिलता।

अन्तरायाम

अंगुलीगुल्फजठरहृद्वक्षोगलसंश्रितः ।
स्नायुप्रतानमनिलो यदाऽऽक्षिपति वेगवान् ॥३४॥
विष्टब्धाक्षः स्तब्धहनुर्भग्नपार्श्वः कफं वमन्।
अभ्यन्तरं धनुरिव यदा नमति मानवम् ॥३५॥
तदाऽस्याभ्यन्तरायामं कुरुते मारुतो बली।

बलवान् वायु अंगुली, गुल्फ (टखना), उदर, हृदय, वक्ष एवं ग्रीवा में स्थित होकर वेग से स्नायुओं में आक्षेप उत्पन्न करके उस रोगी को बाह्यायाम उत्पन्न करता है—रोगी जब भीतर की ओर धनुष के समान झुकता है तब उसके नेत्र स्तब्ध होजाते हैं, पार्श्व में टूटने के समान पीड़ा होती है और कफ की वमन होती है।

बाह्यायाम

बाह्यस्नायुप्रतानस्थो बाह्यायामं करोति च ॥३६॥
तमसाध्यं बुधाः प्राहुर्वक्षः कट्यूरुभञ्जनम् ।

इसी प्रकार कुपित वायु बाहिरी (पीठ आदि के) स्नायुओं में स्थित होकर वक्ष, कमर एवं जांघों को तोड़ने वाला बाह्यायाम उत्पन्न करता है। बुद्धिमानों ने इसे असाध्य कहा है।

आक्षेपक में दोषानुबन्ध

कफपित्तान्वितो वायुर्वायुरेव च केवलः ॥३७॥
कुर्यादाक्षेपकं त्वन्यं चतुर्थमभिघातजम् ।

वायु अकेले ही अथवा कफ या पित्त को साथ लेकर आक्षेपक रोग उत्पन्न करता है और चौथा अभिघातज आक्षेपक भी होता है।

अपतानक के असाध्य प्रकार

गर्भपातनिमित्तश्च शोणितातिस्रवाच्च यः ॥३८॥
अभिघातनिमित्तश्च न सिद्ध्यत्यपतानकः ।

गर्भपात, अतिरक्तस्राव तथा अभिघात से उत्पन्न अपतानक असाध्य है।

वक्तव्य—(१६६) यहां आरम्भ में आक्षेपक (आक्षेप) का सामान्य लक्षण या परिभाषा बतला कर आक्षेप-प्रधान रोग अपतंत्रक का विस्तृत वर्णन किया गया है। आगे अपतंत्रक के दो भेद दण्डापतानक और धनुःस्तंभ बतलाकर पुनः धनुःस्तंभ के २ भेद आभ्यन्तरायाम और बाह्यायाम बतलाये गये हैं।

पाश्चात्य मत—

(१) आक्षेपक, आक्षेपण, आक्षेप या दौरा (Convulsion)—कुछ समय के लिये प्रावेग के रूप में होने वाली अनैच्छिक (Involuntary) एवं स्तंभिक (Spasmodic) शारीरिक गतियों को आक्षेपक कहते हैं। ये गतियां निरन्तरित (Tonic), सांतरित (Clonic) एवं अपतानिक (Tetanoid) हो सकती हैं। साधारण भाषा में इसे हाथ-पैर फेकना (अंग विक्षेप) कहते हैं किन्तु कष्ट के कारण हाथ-पैर फेकना एक दूसरी बात है; आक्षेप में अंगों की गति रोगी की इच्छा के विपरीत हुआ करती है यह ध्यान रखने की बात है। आक्षेप की उत्पत्ति मस्तिष्क-शल्क (Cerebral Cortex) में प्रक्षोभ होने से होती है; वातिक संस्थान के अवरोधात्मक रोगों में होने वाली अनैच्छिक गतियों से भी इसका विभेद करना आवश्यक है।

आक्षेपक एक स्वतंत्र व्याधि न होकर निम्नलिखित रोगों का लक्षण है—

(i) मस्तिष्क रोग—फिरंगज मस्तिष्क-विकार, मस्तिष्क प्रदाह, मस्तिष्कावरण प्रदाह, मस्तिष्क विद्रधि, अर्बुद, जठरता, अपचय, रक्तस्राव, रक्तवाहिनियों में घनास्रता, भित्तिव्रण, धमनी-स्तंभ, धमन्यभिस्तीर्णता, रेनाड का रोग आदि।

(ii) विषाक्तता—मूत्रमयता, क्षारमयता, उपमधुमयता (Hypoglycaemia), गर्भ विषमयता, यकृत कोथ, मदात्यय, तीव्र संक्रामक ज्वर तथा मल्ल, कपूर, कुचला, कोकीन, नाग, चायसत्व, तम्बाखु सत्व, अर्गट, सैन्टोनीन क्लोरोफार्म आदि विषों का दुष्प्रभाव।

(iii) वातिक रोग—हिस्टीरिया, अपस्मार आदि।

(*iv*) मूर्च्छा और संन्यास जैसे रक्तवह संस्थान के रोग।

(*v*) अन्तःस्रावी ग्रन्थियों का विकार—अपतानिका, सगर्भता तथा मासिक धर्म के समय में होने वाली पीयूष-ग्रंथि की हीनावस्था इत्यादि।

शैशवीय आक्षेपक (Infantile Convulsion)—आजकल बच्चों में यह व्याधि अधिक पायी जा रही

है। यह भी स्वतंत्र व्याधि न होकर एक लक्षण मात्र है। उक्त कारणों के अतिरिक्त निम्नलिखित कारणों से भी इसकी उत्पत्ति होती है—

दंतोद्भेद, कृमिरोग (विशेषतः गण्डूपद-कृमि), तीव्र दण्डाण्वीय प्रवाहिका, काली खांसी, वृक्क प्रदाह, मूत्राशय प्रदाह, अजीर्ण, मलावरोध आदि ।

सभी प्रकार के आक्षेपों में संज्ञानाश होना अनिवार्य नहीं है। मस्तिष्क का जितना अधिक भाग प्रभावित होता है संज्ञानाश की संभावना उतनी ही अधिक रहती है और सीमित भाग प्रभावित होने पर संज्ञानाश नहीं होता ।

(२) धनुर्वात, धनुःस्तंभ या अपतानक (*Tetanus*)— इस रोग की उत्पत्ति धनुकी दण्डाणु (*Bacillus Tetanus*) के द्वारा होती है । यह दण्डाणु उस मिट्टी में पाया जाता है जिसमें घोड़े अथवा इसी प्रकार के अन्य पशुओं का मल मिश्रित हो। रोगोत्पत्ति के लिये यह आवश्यक है कि दण्डाणु व्रण-मार्ग से सीधे रक्त में प्रवेश करें। व्रण छोटा हो या बड़ा इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। दण्डाणु-प्रवेश के बाद २ से १४ दिनों में रोग उत्पन्न होता है। रोगी किसी भी आयु का हो सकता है किन्तु १४ दिनों के भीतर व्रण का इतिहास अवश्य मिलेगा। नवजात शिशु की नाल काटते समय संक्रमण हो जाने से भी इसकी उत्पत्ति होती है; इस दशा में इसे जमुआ या जमोगा रोग कहते हैं।

सर्व प्रथम रोग विष का आक्रमण कर्षिणी पेशी पर होता है जिससे मुख पूरी तरह से नहीं खुलता और निगलने में कष्ट होता है। कुछ मामलों में सर्व प्रथम उदर की दण्डिका पेशियां आक्रान्त होती हैं जिससे अन्न की गति में रुकावट, उदर में कठोरता एवं श्वास लेने में कष्ट होता है। इसके बाद क्रमशः अन्य पेशियां आक्रान्त हो जाती हैं। किसी भी छोटे या बड़े उत्तेजक कारण से सारे शरीर की पेशियों के सान्तरित और निरन्तरित आक्षेप उत्पन्न हो जाते हैं। इस समय जबड़े अकड़ कर आपस में मिल जाते हैं (दतौरी बंधना), मुख की पेशियां इस प्रकार संकुचित हो जाती हैं कि रोगी हंसता या मुस्कराता हुआ सा प्रतीत होता है (विकट हास्य, *Risus Sardonicus*), गले और उदर की पेशियां कठोर हो जाती हैं और पृष्ठ वंश पीछे की ओर (बाह्यायाम, *Opisthotonos*), सामने की ओर (आभ्यन्तरायाम, *Emprosthotonos*) अथवा पार्श्व की ओर (पार्श्वायाम, *Pleurosthotonos*) मुड़ जाता है अथवा सीधा ही अकड़ जाता है (दण्डापतानक, *Orthotonos*) । यदि रोगी से छेड़-छाड़ की जावे तो ये लक्षण अधिक उग्र हो जाते हैं किन्तु यदि उसे अकेला छोड़ दिया जावे तो क्रमशः शान्त हो जाते हैं अर्थात् पेशियों की अकड़न लगभग दूर होकर बहुत अंशों में ढीलापन आ जाता है, किन्तु पूर्ण अंशों में ढीलापन रोग के दूर होने पर ही आता है। आक्षेप के समय पसीना अधिक आता है। सामान्य मामलों में नाड़ी, श्वास-गति, शारीरिक उत्ताप और संज्ञा में कोई परिवर्तन नहीं होता और आक्षेपों की उग्रता क्रमशः शान्त होकर रोग शान्त हो जाता है। किन्तु गंभीर मामलों में आक्षेपों की उग्रता एवं अधिकता क्रमशः बढ़ती ही जाती है, ज्वर आजाता है और क्रमशः बढ़ते-बढ़ते १०६° या अधिक हो जाता है तथा मृत्यु हो जाती है। मृत्यु के पूर्व संज्ञाहीनता, श्वासकष्ट आदि लक्षण भी हो सकते हैं। मृत्यु अत्यन्त थकावट, हृदयातिपात या श्वासावरोध से होती है।

रक्त में श्वेतकणों की संख्या में सामान्य वृद्धि पायी जाती है। मस्तिष्क-सुषुम्ना द्रव स्वच्छ किन्तु दबाव-युक्त रहता है। गंभीर मामलों में मूत्र श्विति (शुक्लि, *Albumin*), शौक्त पदार्थ (*Acetone*) और निर्मोक (*Casts*) पाये जाते हैं। निदान व्रण-स्राव की परीक्षा से होता है ।

विशेष प्रकार—

(*i*) कोपालिक धनुर्वात (*Cephalic Tetanus*)— चेहरे, खोपड़ी या ग्रीवा पर अभिघातज

व्रण होने के कारण जो धनुर्वात होता है वह अत्यन्त गम्भीर प्रकार का होता है। इसमें उक्त लक्षणों के अतिरिक्त चेहरे की एक ओर की पेशियों का घात (अर्दित) और दूसरी ओर की पेशियों का उद्वेष्ठन होता है तथा नेत्रघात होता है। यह प्रकार अधिकतर मारक होता है।

(*ii*) स्थानिक धनुर्वात (*Local or Modified Tetanus*)—इस प्रकार में धनुर्वात के उपर्युक्त लक्षण केवल व्रण की समीपस्थ पेशियों में ही होते हैं। रोग अत्यन्त सौम्य प्रकार का होता है और क्रमशः शान्त हो जाता है। यह अधिकतर उन व्यक्तियों में पाया जाता है जो निरोधात्मक लसिका का अन्तःक्षेपण (*Prophylactic inoculation*) कर चुके हों।

अपतानिका (*Tetany*)—इस रोग की उत्पत्ति रक्त में चूर्णातु (कैलशियम, *Calcium*) की कमी से होती है जो निम्नलिखित कारणों से उत्पन्न होती है—

(*i*) बाल ग्रैवेयक ग्रन्थि का अभाव एवं कार्यहीनता—यह विकार सहज, शल्यक्रिया-जन्य अथवा रोगजन्य (अर्बुद, रक्तस्राव, तन्तूत्कर्ष आदि) होता है। इससे चूर्णातु का शोषण नहीं होता। यह कारण बालकों में रोगोत्पत्ति करता है।

(*ii*) अन्य कारण—अस्थिक्षय (सब प्रकार का), तीव्र संक्रामण रोग (विशेषतः विसूचिका, प्रवाहिका वातश्लेष्म ज्वर, आंत्रिक ज्वर, लोहित ज्वर आदि), क्षारमयता (उदर रोगों तथा वृक्क रोगों की चिकित्सा के लिये क्षार पदार्थों का अत्यधिक मात्रा में दीर्घकाल तक प्रयोग), बच्चों का सूखारोग (*Coeliac disease*), हर्षप्रंग का रोग, अजीर्ण, अतिसार आदि चिरकारी पाचन-विकार, सगर्भता, दुग्धप्रदान, खाद्याभाव, अति परिश्रम, दीर्घ-श्वास आदि। इससे सभी आयु के व्यक्तियों में इस रोग के सदृष लक्षण उत्पन्न होते हैं।

वास्तविक लक्षण प्रकट होने के पूर्व झुनझुनी, शून्यता आदि पूर्वरूप उत्पन्न होते हैं फिर कुछ समय बाद दोनों ओर की पेशियों में आक्षेप उत्पन्न होते हैं। ये आक्षेप जागते समय या सोते समय कभी भी उत्पन्न होकर काम-काज अथवा निद्रा में गड़बड़ी उत्पन्न करते हैं तथा इनके उत्पन्न होते समय पीड़ा होती है। ये शरीर की किसी एक अथवा कई पेशियों में अथवा सभी पेशियों में उत्पन्न हुआ करते हैं। स्वरयंत्र का आक्षेप घर्घरयुक्त स्वरयंत्र स्तंभ (*Lory-ngismus stridulous*), श्वास-नलिकाओं का आक्षेप, श्वासकष्ट, उदर एवं पर्शुकान्तरीय पेशियों का स्तंभ उर्ध्वश्वासीय श्वासकष्ट, हनु का आक्षेप दतौरी, जिह्वा का आक्षेप बोलने में असमर्थता तथा हनु और जिह्वा का आक्षेप खाने में असमर्थता, गुदा का आक्षेप मलावरोध एवं आध्मान, मूत्राशय का आक्षेप मूत्रावरोध एवं तनाव; पृष्ठवंश का आक्षेप आभ्यन्तरायाम बाह्यायाम पार्श्वायाम या दण्डापतानक; हाथों की पेशियों का आक्षेप कलम पकड़ने के समान स्थिति तथा पैरों का आक्षेप पैरों को झुका देता है। ये सभी आक्षेप स्तंभिक प्रकार के होते हैं और दोनों ओर की पेशियों में एक साथ होते हैं। सार्वांगिक आक्षेप का रूप धनुर्वात के समान होता है। क्रमशः त्वचा में रूक्षता, नाखूनों में भंगुरता, दांतों में छिद्र (कृमिदन्त), और नेत्रों में तिमिर रोग (Cataract) की उत्पत्ति होती है।

स्वरयन्त्र स्तंभ और सार्वांगिक स्तंभ कभी-कभी घातक होते हैं। पुराना एवं अधिक आयु वाले रोगियों का रोग कष्टसाध्य रहता है। बच्चों का नया रोग सुखसाध्य है।

इस रोग के विनिश्चय के लिए निम्नलिखित चिह्न अत्यन्त उपयोगी पाये गये हैं—

(i) प्रभावित शाखा की वातनाड़ी, रक्तवाहिनी अथवा पेशी पर दबाव डालने से आक्षेप अधिक प्रबल हो जाता है।

(ii) कान के सामने जहां वक्त्रीय नाड़ी (Facial nerve) हनु पर से जाती है वहां हल्की सी चपत मारने से चेहरे का आक्षेप होता है।

(iii) विद्युत-लहर का प्रभाव पेशियों पर सामान्य से अधिक पड़ता है।

(iv) संज्ञावह नाड़ियां छूने पर दुखती हैं और विद्युत लहर से उत्तेजित की जाने पर आक्षेप उत्पन्न करती हैं।

(v) निकली हुई जीभ को हल्के हाथ से थपथपाने में वह संकुचित हो जाती है।

(vi) पैर को घुटने पर सीधा किये हुए श्रोणि-संधि को झुकाने अथवा हाथ मोड़ना पर आक्षेप होता है।

हिस्टीरिया (Hysteria)—यह एक मानसिक विकार है जो अस्थिर प्रकृति के लोगों, विशेषतः १५ ३० वर्षीया युवतियों में पाया जाता है। वंशगत मानसिक दुर्बलता, सहनशीलता और संयम की शिक्षा का अभाव, दुःस्वास्थ्य, सुकुमारता आदि कारण उत्पादक तथा चिन्ता, भय, शोक, क्रोध, असन्तोष शारीरिक कष्ट आदि कारण उत्तेजक हैं। इस रोग का कारण अज्ञात है; सम्भवतः अनेक कारण हैं। अचेतन मस्तिष्क में जो कल्पनाएं उठतीं हैं दुर्बल प्रकृति के लोगों में उन्हीं के समान लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं और यह भी स्पष्ट रहता है कि रोगिणी कुछ न कुछ सुविधा पाना चाहती है भले ही वह उसे प्राप्त हो अथवा न हो।

इस रोग के लक्षण अत्यन्त व्यापक एवं विस्तृत हैं। कोई ऐसा रोग नहीं जिसके लक्षण इस रोग में न पाये जाते हों, रोगिणी जिस रोग को देखती या सुनती है उसी के समान लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं किन्तु आभ्यन्तर विकृति के चिन्हों का अभाव रहता है। अन्य लोगों के द्वारा चिन्ता करने एवं सहानुभूति प्रकट की जाने पर लक्षण बढ़ते हैं किन्तु उपेक्षा करने पर शांत हो जाते हैं। रोगिणी अपने रोग के प्रति अत्यन्त चिन्तित होने का नाटक करती है और अपने कष्टों तथा घर के लोगों की उपेक्षा का वर्णन अत्यन्त विस्तार के साथ करती है किन्तु उपचारों से बचना चाहती है।

नीचे इस रोग के लक्षण संक्षेप में दिये जाते हैं—

(i) आक्षेप—रोगिणी संज्ञाहीन के समान होकर गिरती है किन्तु गिरते समय सम्हल कर गिरती है ताकि उसे चोट न लगे, किन्तु दूसरों को चोट पहुँचा सकती है। खतरे के स्थानों में कभी नहीं गिरती। दांत बंध जाते हैं किन्तु जीभ नहीं कटती; अंगुली डालने पर दूसरों को काट सकती है। मांसपेशियों में विचित्र प्रकार की अकड़न होती है किन्तु प्रतिक्षेप (Reflexes) में विकार नहीं आता। रोगिणी चीखती, चिल्लाती या रोती है। श्यावता, पीताभता, अनैच्छिक मल-मूत्र त्याग आदि लक्षण नहीं होते। वमन या थूक की प्रवृत्ति हो सकती है किन्तु अपस्मार के समान फेन नहीं निकलता। संज्ञा का पूर्ण नाश नहीं होता; यदि निन्दा की जावे या कष्ट पहुँचाया जावे तो वह रोगिणी को याद रहता है। आक्षेप का समय अनिश्चत रहता है, उपेक्षा करने पर शीघ्र शांत हो जाता है किन्तु जितनी अधिक चिन्ता एवं उपचार किये जावें उतना ही बढ़ता है।

कभी कभी इसके साथ ही अपस्मार भी हो सकता है (Hystero-epilepsy)।

(ii) मानसिक विकृति—इच्छाशक्ति एवं सहनशीलता का अभाव—छोटी छोटी बातों को अधिक महत्व दिया जाता है। विस्मृति—रोगिणी बहुतसी बातों को भूल जाती है; कभी कभी अपना पिछला जीवन पूर्णतया भूल सकती है और ऐसा व्यवहार करती है जैसे वह कोई अन्य व्यक्ति हो—भूतोन्माद।

(iii) संज्ञावह स्थान—

(अ) दृष्टि, श्रवण शक्ति, गंध, स्वाद आदि ग्रहण करने की शक्तियों के विकार बतलाये जाते हैं किन्तु वस्तुतः कोई विकृति नहीं पायी जाती। दृष्टिशक्ति के अभाव की दशा में आंख के पास नुकीली वस्तु ले जाने से आंख बन्द होजाती है। श्रवण शक्ति के अभाव की दशा में सोते समय शोर मचाने या पुकारने से नींद खुल जाती है। स्वाद ग्रहण करने की शक्ति का अभाव होने पर भी रोगिणी कड़वी औषधियां नहीं खाती।

(व) सिर में भयंकर पीड़ा जैसे कोई कीलें ठोक रहा हो (Clavus Hystericus)। इसी तरह वक्ष, उदर, वंक्षण आदि में भी पीड़ा बतलायी जासकती है।

(स) स्थानिक संज्ञानाश किसी भी अङ्ग में बतलाया जा सकता है किन्तु उस स्थान में चोट पहुँचना रोगिणी को सह्य नहीं होता।

(द) संज्ञापरिवर्तन-झुनझुनी, भारीपन आदि बतलाये जाते हैं किन्तु आभ्यन्तर विकृति के चिह्न नहीं मिलते।

(iv) चेष्टावह संस्थान—

(अ) अनेक प्रकार के घात (Paralysis) बतलाये जा सकते हैं और पेशियां अकड़ी हुई अथवा ढीली मिलती हैं। ऐच्छिक क्रियाओं का लोप होजाता है किन्तु खांसते समय अथवा इसी प्रकार की क्रियाओं के समय पर तथा सोते समय वे पेशियां कार्य करती हैं। घात के कुछ चिन्ह मिल सकते हैं किन्तु पूरे चिन्ह कभी नहीं मिलते।

(ब) कई कई प्रकार की अकड़नें, कम्प आदि मिल सकते हैं। विशेषत: बोलते समय जीभ का अकड़ना और वाग्-शक्ति में कई प्रकार के विकार पाये जा सकते हैं। उदर की पेशियों की अकड़न से 'वायु-गोला' उत्पन्न होता है।

(v) अनैच्छिक पेशियां—

(अ) गले की पेशियों के स्तम्भ के कारण गले में गोला सा रुका हो ऐसी अनुभूति (Globus Hystericus) होती है।

(ब) रोगिणी वायु निगलती है जिससे अत्यधिक डकारें आती हैं। वायुभक्षण (Aerophagy)।

(स) वातिक क्षुधानाश (Anorexia Nerosa)—रोगिणी की क्षुधा नष्ट होजाती है और वह खाना-पीना एकदम बन्द कर देती है। यदि बलपूर्वक खिलाने का प्रयत्न किया जावे तो आक्षेप आजाता है। इस प्रकार विना खाये पिये महीनों बीत जाते हैं और वह अत्यन्त कृश होजाती है।

इसके अतिरिक्त हृल्लास, अत्यधिक वमन, निगलने में कष्ट, हिक्का, शूल, मूत्रावरोध, स्वेद प्रवृत्ति, त्वचा में रक्ताधिक्य, हृदय में धड़कन आदि विकार भी पाये जाते हैं।

(vi) ज्वर—हिस्टीरियाजन्य ज्वर भी पाया जाता है। अधिकतर यह कृत्रिम होता है। रोगिणी गर्म पानी की बोतलों आदि के द्वारा अपने शरीर को गर्म रखती है और चालाकी से तापमापक यंत्र का स्पर्श भी ऐसे पदार्थों से करा देती है जिससे अतितीव्र ज्वर (Hyper-pyrexia) का भ्रम हो सकता है। ऐसी दशा में अतितीव्र ज्वर से होने वाले लक्षण या उपद्रव नहीं पाये जाते या अधूरे पाये जाते हैं।

(vii) यौनविकार—स्त्रियों में योनि-स्तंभ (Vaginismus), मैथुन के प्रति अत्यधिक घृणा या भय आदि तथा पुरुषों में नपुंसकता पायी जाती है।

यौनि-स्तम्भ—मैथुन के लिये प्रवृत होते समय पुरुष जननेन्द्रिय का स्पर्श होते ही योनि इतनी बुरी तरह से संकुचित हो जाती है कि प्रवेश असंभव हो जाता है।

(viii) त्वचा रोग—अनेक प्रकार की कृत्रिम पिड़िकाएं, व्रण आदि पाये जाते हैं। रोगिणी इन्हें स्वयं तैयार करती है इसलिये सामान्य प्रकार के भी हो सकते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिस्टीरिया के लक्षण अत्यन्त व्यापक होते हैं। हिस्टीरिया के लिये हिन्दी में बहुत से पर्याय समय-समय पर विद्वानों द्वारा प्रयुक्त किये गये हैं जिनमें ये मुख्य हैं—अपतंत्रक, योषापस्मार, योषोन्माद, स्मरोन्माद, कामोन्माद आदि। दुर्भाग्यवश इनमें से एक भी सार्थक नहीं है। यह रोग न तो अपस्मार ही है और न उन्माद, तथा अपतंत्रक भी नहीं है—यह ऊपर के वर्णन से स्पष्ट होचुका है। कुछ अंशों में 'कामोन्माद' उपयुक्त पर्याय होसकता है किन्तु 'काम' शब्द का सीमित अर्थ न लेकर व्यापक अर्थ लेना आवश्यक होगा।

पक्षवध और सर्वाङ्गवध

गृहीत्वाऽर्धं तनोर्वायुः सिराः स्नायूर्विशोष्य च ॥३९॥
पक्षमन्यतरं हन्ति सन्धिबन्धान्विमोक्षयन् ।
कृत्स्नोऽर्धकायस्तस्य स्यादकर्मण्यो विचेतनः ॥४०॥
एकाङ्गरोगं तं केचिदन्ये पक्षवधं विदुः ।
सर्वाङ्गरोगस्तद्वच्च सर्वकायाश्रितेऽनिले ॥४१॥

वायु शरीर के आधे भाग को ग्रहण करके सिराओं और स्नायुओं को सुखाकर संधिबंधनों को ढीला करता हुआ किसी एक पक्ष का बध करता है। इससे उस रोगी का पूरा आधा शरीर क्रियाहीन एवं संज्ञाहीन हो जाता है। इस एकाङ्ग रोग को पक्षबध कहते हैं। इसी प्रकार संपूर्ण शरीर में वातप्रकोप होने से सर्वाङ्ग रोग (सर्वाङ्ग वध) होता है।

वक्तव्य—(१९७) पक्षवध को पक्षाघात और सर्वाङ्गवध को सर्वाङ्गघात भी कहते हैं। साधारण भाषा में इस रोग को 'लकवा मार जाना' कहते हैं।

पक्षवध में दोषानुबंध

दाहसन्तापमूर्च्छाः स्युर्वायौ पित्तसमन्विते ।
शैत्यशोथगुरुत्वानि तस्मिन्नेव कफान्विते ॥४२॥

वायु के साथ पित्त का अनुबन्ध होने पर दाह, सन्ताप और मूर्छा तथा कफ का अनुबन्ध होने पर शीतलता, शोथ और भारीपन होते हैं।

पक्षवध की साध्यासाध्यता

शुद्धवातहतं पक्षं कृच्छ्रसाध्यतमं विदुः ।
साध्यमन्येन संयुक्तमसाध्यं क्षयहेतुकम् ॥४३॥
(गर्भिणी सूतिकाबालवृद्धक्षीणेष्वसृक्स्रुते ।
पक्षाघातं परिहरेद् वेदना रहितो यदि ॥)

शुद्ध वातज पक्षबध को अत्यन्त कृच्छ्र-साध्य जानना चाहिये, अन्य दोष (कफ या पित्त) से युक्त होने पर साध्य है। क्षयज (धातु क्षयज) पक्षवध असाध्य है।

(गर्भिणी, प्रसूता बालक, वृद्ध एवं रक्त-स्राव से क्षीण व्यक्तियों का पक्षवध तथा वेदनारहित पक्षवध प्रत्याख्येय है।)

अर्दित रोग

उच्चैर्व्याहरतोऽत्यर्थं खादतः कठिनानि वा ।
हसतो जृम्भतो वाऽपि भाराद्विषमशायिनः ॥४४॥
शिरोनासौष्ठचिबुकललाटेक्षणसन्धिगः ।
अर्दयत्यनिलो वक्त्रमर्दितं जनयत्यतः ।
वक्रीभवति वक्त्रार्धं ग्रीवा चाप्यपवर्तते ॥
शिरश्चलति वाक्सङ्गो नेत्रादीनां च वैकृतम् ।
ग्रीवाचिबुकदन्तानां तस्मिन्पार्श्वे च वेदना ॥
(यस्याग्रजो रोमहर्षो वेपथुर्नेत्रमाविलम् ।
वायुरूर्ध्वं त्वचि स्वापस्तोदो मन्याहनुग्रहः ॥)
तमर्दितमिति प्राहुर्व्याधिं व्याधिविचक्षणाः ।

उच्च स्वर में अत्यधिक बोलने, कठोर पदार्थ अ... खाने, अधिक हंसने, अधिक जंभाई लेने, भार वहन तथा विषम (ऊंचे नीचे) स्थान में सोने वाले का वायु नाक, ओठ, चिबुक (निचले ओंठ के नीचे स्थित ... ललाट, और नेत्र की संधियों में स्थित होकर चेह... पीड़ित करके अर्दित रोग उत्पन्न करता है। इससे चेहरा टेढ़ा होजाता है, गर्दन भी मुड़ जाती है, सिर हि... है, वाणी अवरुद्ध हो जाती है, नेत्र, ग्रीवा, चिबुक, आदि विकृत हो जाते हैं तथा उसी पार्श्व में पीड़ा हो... (तथा रोम हर्ष, कंपकंपी, नेत्र मलयुक्त रहना, वायु ... ओर चढ़ना, त्वचा में सुप्तता और तोद, मन्या और ह... जकड़न—ये जिसके पूर्वरूप हैं) उस व्याधि को वैद्य ... अर्दित कहते हैं।

अर्दित के असाध्य लक्षण

क्षीणस्यानिमिषाक्षस्य प्रसक्ताव्यक्तभाषिणः ॥...
न सिध्यत्यर्दितं गाढं त्रिवर्षं वेपनस्य च ।

क्षीण, पलक न मार सके, बोल न सके ... अस्पष्ट बोले—ऐसे रोगियों का, गंभीर प्रकार का, ... वर्ष पुराना और कम्प रोग से पीड़ित रोगियों का अ... असाध्य है।

आक्षेप आदि रोगों की विशेषता

गते वेगे भवेत् स्वास्थ्यं सर्वेष्वाक्षेपकादिषु ॥४...

आक्षेप आदि (आदि से पक्षवध और अर्दित ग्रहण करें) सभी रोगों का वेग समाप्त होने पर ... प्राप्ति होती है।

वक्तव्य—(१९८) यहां 'स्वास्थ्य' शब्द 'साम... आराम' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, 'पूर्ण स्व... के लिये नहीं।

पाश्चात्य मत—

अंगघात (Paralysis)

(१) अर्धांगघात, पक्षाघात या पक्षवध (Hemiplegia)—यह शरीर के आधे भाग का घात (Paralysis) है। इसके २ भेद हैं—वयस्कीय और शैशवीय।

(अ) वयस्कीय अर्धांगघात (Adult Hemiplegia)—इसकी उत्पत्ति मस्तिष्क में अभिघात लगने; मस्तिष्क विद्रधि, मस्तिष्कावरण प्रदाह, मूत्रमयता, फिरंगज सर्वांगघात (General Paralysis of the Insane), मस्तिष्क की विकीर्ण जठरता आदि मस्तिष्क कारणों अथवा घनास्रता (फिरंग या भित्तिव्रण के कारण), अन्तःशल्यता अथवा धमनीस्तंभ आदि वाहिनीगत कारणों से होती है। हिस्टीरिया के कारण लाक्षणिक अर्धांगघात और अपस्मार के बाद अस्थायी प्रकार का अर्धांगघात हो सकता है।

तीव्र प्रकार में एकाएक और अनुतीव्र प्रकार में क्रमशः आधे शरीर का शिथिल घात (Flaccid Paralysis) होता है अर्थात् पेशियां ढीली एवं क्रियाहीन हो जाती हैं। कुछ काल पश्चात् कुछ क्रियाएं होने लगती हैं किन्तु इसके साथ ही आक्रान्त पेशियों का विशेषतः पैर की प्रसारक और हाथ की संकोचक पेशियों का बल बढ़ता है जिससे आक्रान्त पैर सीधा और हाथ कोहनी, कलाई, एवं अंगुलियों पर मुड़ा हुआ रहने लगता है। अत्यधिक बल का प्रयोग करके ही इन्हें विपरीत स्थिति में लाया जा सकता है। यह दशा लम्बे समय तक रहती है फिर क्रमशः सुधार होता है किन्तु पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्ति नहीं होती। सबसे पहले जीभ और चेहरे की पेशियों में तथा इसके पश्चात् क्रमशः अन्य पेशियों में क्रियाशीलता उत्पन्न होती है। प्रभावित पेशियों का शोथ और तन्तूत्कर्ष होता है तथा संधियों में भी तन्तूत्कर्ष होकर निष्क्रियता आ जाती है। रोगी की चाल में अंतर आ जाता है। चलते समय वह सामने की ओर झुककर कमर पर जोर देकर ही प्रभावित पैर को उठा सकता है।

रोग लम्बे समय तक चलता है और रोगी की चेष्टाओं में अन्ततः जो विकृति उत्पन्न होती है वह स्थायी रहती है। चिकित्सा से उसमें कमी की जा सकती है किन्तु उसे पूर्ण रूप से मिटाया नहीं जा सकता। मानसिक विकृति और अपस्मार के रोगियों में अधिक लाभ नहीं पहुंचाया जा सकता।

(ब) शैशवीय अर्धाङ्गघात (Infantile Hemiplegia)—बालकों में जन्म से ही अर्धांगघात पाया जा सकता है। यह अधिकतर सहज फिरंग या माता के उदर पर अभिघात लगने से अथवा प्रसव-काल में सिर पर अधिक दबाव पड़ने से हो सकता है। इसे सहज अर्धांगघात (Congenital Hemiplegia) कहते हैं।

जन्मोत्तर या आप्त पक्षाघात तीव्र संक्रामक रोगों के उपद्रव स्वरूप या अर्बुद के कारण अथवा किसी अज्ञात कारण से होता है। रोगी प्रायः तीन वर्ष से कम आयु के हुआ करते हैं। रोग का आक्रमण तीव्र गति से एवं अचानक ज्वर, आक्षेप (ऐकाङ्गिक या सार्वाङ्गिक) और संन्यास (पूर्ण अथवा अपूर्ण) होकर होता है। पूर्ण संन्यास प्रायः दूर नहीं होता किन्तु अपूर्ण संन्यास लगभग ३-५ दिनों में दूर हो जाता है और अर्धांगघात के लक्षण प्रकट हो जाते हैं। कुछ मामलों में केवल चेष्टा का और कुछ में चेष्टा एवं संज्ञा दोनों का नाश होता है। घात शिथिल प्रकार का होता है और कालान्तर में सुधार के लक्षण दिखने के बाद स्तम्भिक प्रकार में बदल जाता है। चेहरे का ऊपरी भाग प्रायः अप्रभावित रहता है। कुछ मामलों में मानसिक कमजोरी, वाग्लोप, अर्धांग में अस्पर्शज्ञता (Anaesthesia) काणत्व (अर्धान्धता, Hemianopia), पीड़ा, अनैच्छिक गतियां तथा अपस्मारवत् आक्षेप भी हो सकते हैं।

सौम्य प्रकार के मामलों में पूर्ण आरोग्य की प्राप्ति हो जाती है किन्तु उग्र प्रकार पूर्णरूप से शायद

ही कभी आरोग्य होता है।

(२) अधराङ्ग घात (Paraplegia)—इस रोग में दोनों पैरों का घात होना प्रधान लक्षण है। इसकी उत्पत्ति सुषुम्ना के विकार से होती है। घात पूर्ण या अपूर्ण हो सकता है तथा पैरों के अतिरिक्त अन्य अंगों का भी घात हो जाता है। कारण और प्रकार बहुत से हैं; यहां केवल मुख्य मुख्य का ही विवेचन किया जाता है—

(१) मस्तिष्कगत शाखाघात (Cerebral Diplegia)—यह रोग जन्म के ही समय पर अथवा एक वर्ष की आयु होने तक प्रकट होता है। शल्कीय चेष्टावह कोषों (Motor Cortical Cells) और मुकुल मार्गों (Pyramidal Tracts) की अपूर्ण रचना के कारण होने वाला इस रोग का प्रकार विशेष लिटिल का रोग (Little's Disease) कहलाता है। अन्य कारण प्रसव के समय पर अभिघात लगने या प्रसव के बाद रक्तस्रावी रोग होने के कारण मस्तिष्क के भीतर रक्तस्राव, मस्तिष्क प्रदाह, गर्भावस्था के उपसर्ग, अवटुका ग्रंथि का अभाव आदि हैं।

इस रोग से पीड़ित बालक अधिकतर प्रथम सन्तान हुआ करती है और या तो समय से पहले उत्पन्न होने का अथवा प्रसव में कठिनाई होने का इतिहास मिलता है। लक्षण या तो जन्म के समय पर ही अथवा वर्ष पूरा होने तक प्रकट हो जाते हैं। पूर्ण रूप से बढ़े हुए रोग के निम्नलिखित लक्षण हैं—

(*i*) लिटिल का रोग अथवा सहज स्तम्भिक अर्धांगघात (*Little's Disease or congenital Spastic Paraplegia*)—पैर कठोर रहते हैं किंतु अधिक कमजोर नहीं रहते। खड़े होते समय एड़ियां उठ जाती हैं, घुटने झुके रहते हैं और जांघें इस प्रकार भीतर की ओर घूमी हुई रहती हैं कि घुटने एक दूसरे को स्पर्श करते हैं। रोगी लंगड़ाता हुआ चलता है। हाथ अपेक्षाकृत कम प्रभावित होते हैं और चेहरे की पेशियां और भी कम।

(*ii*) कुछ मामलों में सारे शरीर में कठोरता व्याप्त रहती है। अनेक प्रकार की कुब्जता उत्पन्न होती है और पैर मुद्गरवत् (*Club-foot, Talipes*) हो जाते हैं।

(*iii*) यदि आधारिक ग्रन्थियों (*Basal Ganglia*) प्रभावित होती हैं तो चेहरा भावहीन एवं तिरछा हो जाता है; लासकीय (*Choreic*) आदि अनैच्छिक गतियां और एच्छिक प्रकम्प (*Intention tremor*) होते हैं।

(*iv*) कुछ मामलों में ऊर्ध्व मानसिक केन्द्रों का विकास नहीं होने पाता जिससे बालक मूढ़ एवं छोटे सिर वाला हो जाता है।

(*v*) धम्मिलक प्रभावित होने पर पेशियों में निर्बलता, ढीलापन और असमन्वयता होती है तथा नेत्र-प्रचलन होता है।

(*vi*) जन्म के समय कपाल में आघात लगकर मस्तिष्कावरण में रक्तस्राव होने से स्तंभिक प्रकार का अर्धांगघात या एकांगघात होता है—मस्तिष्कीय स्तम्भिक अंगघात (*Cerebral Spastic Paralysis*)।

इनके अतिरिक्त कई प्रकार की अनैच्छिक गतियां, एच्छिक प्रकम्प, नेत्रप्रचलन (*Nystagmus*), अन्तः तिर्यग्दृष्टि (*Convergent Squint*), आक्षेप आदि भी पाये जाते हैं।

यह रोग असाध्य है। सामान्य मामलों में सावधानी पूर्वक चिकित्सा करके कुछ सुधार अवश्य किया जा सकता है किन्तु पूर्ण लाभ असम्भव है। गंभीर प्रकार का रोग जिसमें पेशियों में कठोरता अधिक एवं विस्तृत हो किसी प्रकार वश में नहीं आता और १० वर्षों के भीतर ही रोगी मर जाता है।

(२) कुलज स्तम्भिक अंगघात (*Familial Spastic Paralysis*)—इस रोग में सुषुम्ना और

मस्तिष्क स्कन्ध (*Brain-stem*) के तन्तुओं का अपजनन होता है। यह रोग एक ही कुटुम्ब के बालकों में तथा कभी कभी उनके माता-पिता में पाया जाता है। इसमें सबसे पहले पैरों का और फिर क्रमशः धड़, हाथों, चेहरे, नेत्र आदि का घात होता है। रोग धीरे धीरे किन्तु अबाध गति से बढ़ता है मानसिक विकार नहीं होते। यह रोग असाध्य है।

(३) शील्डर का रोग (*Schilder's Disease*)-यह रोग बालकों एवं नवयुवकों में यदा कदा पाया जाता है। इसमें मस्तिष्क में मज्जाक्षय (*Demyelation*) होकर नाड़ियों का नाश होता है।

रोग का आक्रमण अचानक सिरदर्द, बेचैनी दृष्टि एवं श्रवणशक्ति की कमी आदि लक्षणों से होकर हाथ-पैरों के स्तंभिक घात और अंधता की उत्पत्ति होती है। नेत्रों में ऊपर से कोई विकार लक्षित नहीं होता और प्रकाश के प्रति प्रतिक्रिया होती है। यदि मस्तिष्क के सामने वाले पिण्ड प्रभावित हों तो मानसिक विकृति (उन्माद) होती है। बाजू और पीछे के पिण्ड प्रभावित होने पर आक्षेप आते हैं तथा बधिरता और असमन्वयता होती है। रोग उत्तरोत्तर बढ़कर कुछ ही सप्ताहों में अथवा अधिक से अधिक २-३ वर्षों में मृत्यु हो जाती है। यह रोग असाध्य है।

सुषुम्ना-सम्पीड़न (*compression of the spinal cord*)—सुषुम्ना एक बन्द नलिका है। इस पर बाहिरी अथवा भीतरी किसी भी प्रकार के अवरोध से या दबाव से सम्पीड़न हो सकता है; दोनों प्रकार के लक्षणों का वर्णन अलग अलग किया जा रहा है।

(*i*) बाह्यतः सम्पीडन (*Extra-thecal compression*)—मेरुदण्ड का भग्न, कशेरुका च्युति, आमवातज मेरुदण्ड-प्रदाह (*Spondylitis deformans*); सौम्य, घातक अथवा फिरंगज अर्बुद, राजयक्ष्मज अथवा फिरंगज अस्थि कोथ (*Spinal caries*), धमन्यभिस्तीर्णता का दबाव आदि बाह्य कारणों से सुषुम्ना का सम्पीड़न होकर निम्नलिखित लक्षण उत्पन्न होते हैं। ये लक्षण दोनों ओर के अङ्गों में एक साथ ही उत्पन्न होते हैं; अत्यन्त विरल मामलों में एक ही ओर उत्पन्न हो सकते हैं।

सुषुम्ना से निकलने वाली वातनाड़ियों के उद्गम स्थलों पर दबाव पड़ने के कारण प्रक्षोभ होने से उनके क्षेत्र में मन्द या गम्भीर पीड़ा होती है जो अङ्ग परिचालन से बढ़ती है। साथ ही उस क्षेत्र की त्वचा में स्पर्शज्ञान की वृद्धि (परमस्पर्शज्ञता, *Hyperaesthesia*) होती है किन्तु कालान्तर में स्थानिक संज्ञाहीनता (*Local anaesthesia*) उत्पन्न होती है तथापि गम्भीर भागों में पीड़ा होती है। फिर नाड़ियों के उद्गमस्थलों का अपजनन होने से सम्बन्धित पेशियों का घात होता है। सामान्यतः घाताक्रान्त शाखायें प्रसारित रहती हैं किन्तु मुकुल-मार्ग (*Pyramidal tracts*) भी प्रभावित होजाने पर प्रसारक पेशियों में ढीलापन और संकोचक पेशियों में स्तम्भ हो जाता है जिससे पैर मुड़े हुए रहते हैं; यदि विकृति अत्यन्त विस्तृत भाग में हो तो सभी प्रभावित पेशियां शिथिल रहती हैं। संज्ञा-नाश पैरों के तल भाग से आरम्भ होकर ऊपर की ओर बढ़ता है; उसके साथ ही पीड़ा, ताप, स्थिति, परचालित चेष्टा (*Passive movement*) और अन्त में स्पर्श का ज्ञान नष्ट हो जाता है।

जानु और गुल्फ के प्रतिक्षेपों की वृद्धि होती है, औदरीय और वृषणीय (*cremasteric*) प्रतिक्षेप नष्ट हो जाते हैं तथा पादतल प्रतिक्षेप प्रसारक हो जाता है। घाताक्रान्त स्तम्भित शाखाओं में अनैच्छिक चेष्टायें परिलक्षित होती हैं—सामान्य रूप से उत्तेजित करने पर जानु और गुल्फ क्रमक्षेपों (*clonuses*) के अतिरिक्त पूरा पैर क्रमक्षेप की अवस्था में हिलने लगता है; इसी प्रकार पादतल के बाहिरी किनारे को उत्तेजित करने पर पादतल प्रतिक्षेप के अतिरिक्त घुटने और श्रोणि की संधियां भी झुक जाती हैं।

अभिघात आदि से कशेरुकान्तरीय विम्ब(*Inter vertebral disc*) विदीर्ण हो जाने से उसका गूदा कशेरुकीय नलिका में आजाता है। इससे वातनाड़ी पर स्पष्ट दबाव पड़ कर वातनाड़ी प्रदाह होता है और चूंकि यह दशा अधिकतर चौथी या पांचवीं कटि-कशेरुका से सम्बन्धित रहती है इसलिये इससे गृध्रसी रोग (*Sciatica*) उत्पन्न होता है।

(*ii*) आभ्यन्तर सम्पीड़न (*Intra-thecal compression*)—फिरंगी मण्डली मस्तिष्कावरण प्रदाह (*Syphilitic pachymeningitis*), मध्य मस्तिष्कावरण प्रदाह (*Arachnoiditis*), कृमिकोष, अर्बुद आदि आभ्यन्तर कारणों से सुषुम्ना का

अर्बुद के द्वारा आभ्यन्तर सुषुम्ना सम्पीड़न।

(यह क्ष-किरण लिप्वायडल का अन्तःक्षेपण करने के बाद लिया गया है। लिप्वायडल की काली छाया चित्र के बीचों-बीच देखिये। अवरोध के कारण लिप्वायडल रुक गया है और फिर दो पतली धारों में विभक्त होकर बह रहा है।)

आभ्यन्तर सम्पीड़न होता है। यह सम्पीड़न प्रधानतः एक ही ओर से होने के कारण प्रारम्भ में एक ही ओर के अङ्गों में लक्षणोत्पत्ति होती है किन्तु फिर क्रमशः अवरोध अधिक होने पर दूसरी ओर के अङ्ग भी प्रभावित हो जाते हैं। इस प्रकार में पीड़ा और परमस्पर्शज्ञता की विशेष प्रतीति नहीं होती किन्तु पैर आदि में स्तंभिक घात के लक्षण प्रथम प्रकार की अपेक्षा अधिक स्पष्ट रहते हैं। घाताक्रान्त अङ्ग में स्थिति सम्बन्धी ज्ञान (*Sense of position*) नष्ट हो जाता है किन्तु दूसरी ओर के अङ्ग में स्पर्श, ताप और पीड़ा सम्बन्धी ज्ञान नष्ट होता है—ब्राउन सेक्वर्ड का संरूप(*Brown saquard syndrome*)। यह संरूप अधिकतर ग्रीवा और वक्ष के प्रदेश में सुषुम्ना-सम्पीड़न होने पर होता है। सम्पीड़न बढ़ने पर दोनों ओर स्तम्भिक अधरांगघात के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

मस्तिष्क-सुषुम्ना द्रव की परीक्षा करने पर उसमें कोष-संख्या बढ़ी हुई और ग्लोभूजिनों की मात्रा घटी हुई मिलती है। परिवर्तित रक्तरंजक के सम्मिश्रण से द्रव का वर्ण पीला रहता है—इसे फ्रौइन का संरूप (*Froin's syndrome*) कहते हैं तथा यह रोग-विनिश्चय के लिये एक अत्यन्त महत्वपूर्ण चिह्न है; यह अवरोधात्मक उदकशीर्ष में भी पाया जाता है। सुषुम्ना-निपीड़ मापक यन्त्र (*Spinal manometer*) लगाकर और मातृका शिरा पर दबाव डाल कर परीक्षा करना भी निदान में सहायक होता है। अधो-मध्यमस्तिष्कीय स्थल में से सूचीवेध करके लिप्वायडल (*Lipiodol*) का प्रवेश कराकर क्ष-किरण चित्र लेने से सम्पीड़न स्थल का पता लगता है।

(५) सुषुम्नागत रक्तस्राव (*Spinal Haem.*)—

(*i*) मस्तिष्कावरणगत रक्तस्राव (*Meningeal Haemorrhage,Haematorrhacis*)–यह अभिस्तीर्ण धमनी (*Aneurysm*) के फटने अथवा रक्तस्रावी रोगों के कारण होता है। कम रक्तस्राव होने पर सौम्य तथा अधिक होने पर गम्भीर लक्षण उत्पन्न होते हैं। मेरुदण्ड कठोर हो जाता है तथा हाथ-पैर कड़े होकर मुड़ जाते हैं। वक्ष या कण्ठ में संकोच और परमस्पर्शज्ञता का अनुभव होता है। अधिक रक्तस्राव होने पर शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है। दूसरे मामलों में अधरांग घात हो जाता है। रोग पुराना होने पर मूत्राशय प्रदाह, शय्याव्रण आदि भी हो जाते हैं। मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव रक्त मिश्रित पाया जाता है।

((*ii*) सुषुम्नागत रक्तस्राव (*Haematomyelia*) सुषुम्ना के रक्तस्राव अभिघात, रक्तवाहिनी फटने, पलित सुषुम्ना प्रदाह, तन्द्रिक मस्तिष्क प्रदाह, सौषुम्नकुल्याभिस्तीर्णता (*Syringomyelia*),

सुषुम्ना प्रदाह अथवा अर्बुद के कारण होता है। वैनाशिक रक्तक्षय, अपतानिका और श्वासावरोध के कारण भी रक्तस्राव हो सकता है। निकला हुआ रक्त ऊपर और नीचे दोनों ओर के अथवा एक ही ओर के अवयवों को प्रभावित करता है। विकृति एक पार्श्वीय अथवा उभयपार्श्वीय हो सकती है। यदि रोगी बच जाता है तो रक्त शनैः शनैः चूषित हो जाता है किन्तु एक विवर बन जाता है।

रोग का आरम्भ अचानक होता है। शाखाओं में शून्यता और चुभन होकर घात हो जाता है—दोनों हाथों और दोनों पैरों का। मल-मूत्र का त्याग अनैच्छिक रीति से होने लगता है। कभी कभी उदर और वक्ष की पेशियों का भी घात हो जाता है जिससे मृत्यु हो जाती है। प्रभावित स्थल के चारों ओर पीड़ा और संकोच का अनुभव होता है—परिवृत पीड़ा (*Girdle pain*)। 'संवेदनात्मक नाड़ियां विशेषतः ग्रैवेयक प्रभावित होती हैं जिससे नेत्र की ऊपरी पलकों का घात होता है, नेत्रगोलक भीतर की ओर धंस जाते हैं, कनिनिकायें संकुचित होजाती हैं; चेहरे, कण्ठ और वक्ष के ऊपरी भाग में दाह और स्वेद होता है तथा ग्रीवा की त्वचा में चिकौटी काटने से कनीनिकायें प्रसारित नहीं होतीं'—हार्नर का संरूप (*Horner's syndrome*)।

यदि उदर और वक्ष की पेशियों का घात न हो तो प्रायः रोगी बच जाता है और कुछ काल बीतने पर हाथों की अपुष्टि और पैरों का स्तंभ होता है। मूत्राशय-प्रदाह होजाता है और शय्याव्रण भी बन जाते हैं। यदि इनसे भी प्राणहानि न हो तो क्रमश; रोग के लक्षण शान्त होने लगते हैं किन्तु घात के कुछ चिन्ह अवशिष्ट रह जाते हैं; पूर्ण आरोग्य प्रायः नहीं हो पाता।

(६) सुषुम्ना-प्रदाह एवं सुषुम्ना-क्षय (Myelitis and Myelomalacia)—सुषुम्ना प्रदाह उपसर्ग अभिघात या विषों के प्रभाव से होता है। सुषुम्ना-क्षय वाहिनीगत घनास्रता, वाहिनीगत विक्षत, सुषुम्ना सम्पीडन तथा अनेक प्रकार की सुषुम्नागत व्याधियों से होता है। लक्षणों और चिकित्सा की दृष्टि से दोनों में कोई अन्तर नहीं है इसलिये सुषुम्ना-क्षय का अन्तर्भाव सुषुम्ना प्रदाह में ही कर लिया जाता है। सुषुम्ना प्रदाह के २ प्रकार हैं—(१) तीव्र और (२) चिरकारी।

(१) तीव्र सुषुम्ना प्रदाह (Acute Myelitis)—इसके पुनः २ भेद हैं—अनुप्रस्थ और विकीर्ण।

(अ) तीव्र अनुप्रस्थ सुषुम्ना प्रदाह (Acute Transverse Myelitis)—यह रोग अधिकतर नवयुवकों को होता है। पैरों में तोद एवं शून्यता और प्रभावित स्थल के चारों ओर संकोचयुक्त पीड़ा (परिवृत्त पीड़ा, Girdle Pain) कुछ काल तक रहती है—पूर्वरूप। फिर एकाएक अंगघात के लक्षण किसी भी समय उत्पन्न होते हैं।

(क) तीव्र अनुप्रस्थ वक्षीय सुषुम्ना प्रदाह (Acute Transverse Dorsal Myelitis) अधिकतर सुषुम्ना का वक्षीय भाग प्रभावित होता है। इस दशा में पैरों का शिथिल घात होता है। प्रभावित स्थल के ठीक ऊपर के भाग में परमस्पर्शज्ञता होती है और नीचे के भाग का स्पर्शज्ञान विकृत हो जाता है। तभी प्रतिक्षेप नष्ट हो जाते हैं किन्तु ऊपरी उदर का प्रतिक्षेप उपस्थित रह सकता है। मल मूत्र मार्गों की संकोचनी पेशियां भी प्रभावित हो जाती हैं जिससे मल-मूत्रावरोध होता है। शोथ, विस्फोट और मूत्राशय प्रदाह की उत्पत्ति हो जाती है।

यदि सुषुम्ना मार्ग का पूर्ण अवरोध न हो और पाक भी न हो तो कालान्तर में पेशियों की शिथिलता दूर होकर उनका घात स्तंभिक प्रकार में बदल जाता है, वे संकुचित या प्रसारित अवस्था में रहती हैं और अनैच्छिक सान्तरित (Clonic) गतियां हुआ करती हैं। कण्डरा प्रतिक्षेप अधिक जोरदार हो जाते हैं, पादतल प्रतिक्षेप प्रसारक हो जाता है तथा उत्तान औदरीय (Superfical abdominal) और वृषणीय प्रतिक्षेप नष्ट हो जाते हैं। पेशियों का शोथ प्रायः नहीं होता और चेतना बहुत अंशों में लौट

आती है। किन्तु मूत्र इस समय भी मूत्राशय में रुका रहता है; या तो वह अपने आप ही अथवा मूत्राशय का तनाव अधिक होने पर अनैच्छिक रीति से निकल जाता है—झूठा अनियंत्रित मूत्रोत्सर्ग।

(ख) तीव्र अनुप्रस्थ ग्रैवेयक सुषुम्ना प्रदाह (Acute Transverse Cervical Myelitis)—इस प्रकार में प्रदाह का स्थल ग्रैवेयक कशेरुकाओं में रहता है। इस दशा में हाथों की पेशियों का घात होता है जिससे बल हानि, पेशीक्षय, प्रतिक्षेपनाश, शिथिलता, कम्प आदि विशेषताएं रहती हैं; फिर बाद की दशाओं में शिथिलता के स्थान पर संकोच हो जाता है। पैरों की पेशियों का स्तम्भिक घात होता है तथा कण्डरा प्रतिक्षेप अधिक जोरदार हो जाते हैं। प्रभावित स्थल के चारों ओर परमस्पर्शज्ञता, संज्ञापरिवर्तन (झुनझुनी, शून्यता, भारीपन आदि) और गंभीर पीड़ा होती है तथा उसके नीचे के भाग में चेतना कम हो जाती है. मल-मूत्र त्याग अनियंत्रित हो जाता है। नेत्रों के गोलक उभर आते हैं और पुतलियां संकुचित रहती हैं, वमन होती हैं, हिक्का आती है और नाड़ी की गति मन्द रहती है।

(ग) तीव्र अनुप्रस्थ कटि सुषुम्ना प्रदाह (*Acute Transverse Lumbosacral or Lumbar Myelitis*)—इस प्रकार में प्रदाह का स्थल कटि-कशेरुकाओं में रहता है। यह अत्यन्त विरल है। इसमें पैरों का शिथिल घात होता है। जानु और गुल्फ के प्रतिक्षेप नष्ट हो जाते हैं। पादतल प्रतिक्षेप भी नष्ट हो जाता है किन्तु बाद की दशाओं में प्रसारक हो जाता है। मल मूत्र त्याग अनियंत्रित हो जाता है।

(घ) तीव्र विकीर्ण सुषुम्ना प्रदाह (*Acute Diffuse Myelitis*)—इस प्रकार में पूरी सुषुम्ना स्थान-स्थान पर या सभी स्थानों पर प्रदाहयुक्त रहती है, मस्तिष्क भी प्रभावित हो जाता है। पैरों, धड़ और हाथों का घात होता है,सिर की नाड़ियां भी प्रभावित होती हैं। मल-मूत्र त्याग अनियन्त्रित हो जाता है। महत्वपूर्ण अवयवों का घात होने से तत्काल मृत्यु हो जाती है।

(२) चिरकारी सुषुम्ना प्रदाह (Chronic Myelitis)—यह फिरंग या वाहिनी-गत भित्तिव्रण के कारण होता है। आक्रमण गुप्त रूप से होता है। पैर क्रमशः कमजोर होकर कठोर हो जाते हैं। प्रारम्भ में पैरों में संज्ञापरिवर्तन और फिर संज्ञानाश होता है। प्रभावित स्थान के चारों ओर संकोच और पीड़ा रहती है, उसके ऊपर परमस्पर्शज्ञता और नीचे संज्ञाहीनता या संज्ञापरिवर्तन रहता है। मल-मूत्र त्याग अनियन्त्रित हो जाता है।

(७) शैशवीय अङ्गघात अथवा पलित (या परिसरीय) सुषुम्ना प्रदाह (Infantile Paralysis or Acute Poliomyelitis)—

(८) ज्वरयुक्त तीव्र बहुनाड़ी प्रदाह (Acute Fe rile Polyneuritis)—इन दोनों का वर्णन ज्व॰ प्रकरण में हो चुका है।

(६) सुषुम्ना मस्तिकावरण-वाहिनीगत फिरङ्ग रो॰ (Spinal Meningo-Vascular Syphilis)—इसके अन्तर्गत निम्न रोग आते हैं—

(i) फिरङ्गज वक्षीय मस्तिष्कावरण सुषुम्ना प्रदाह (Syphilitic Meningo-Myelitis of the Dorsal Region)—इस रोग में मध्य-मस्तिष्कावरण, सौषुम्न रक्त-वाहिनियां और वातनाड़ियां गोंदार्बुदीय अन्तर्भरण से अपक्रांत होती हैं जिससे सुषुम्ना का अपजनन होता है।

लक्षण चिरकारी सुषुम्ना प्रदाह के समान हैं। कुछ रोगियों में पूर्ण अधरांगघात न होकर खंज उत्पन्न होती है।

(ii) तीव्र फिरङ्गज अनुप्रस्थ सुषुम्ना प्रदाह (Acute Syphilitic Transverse Myelitis)—इस रोग में गोंदार्बुदीय अन्तर्भरण के कारण [illegible] रक्तवाहिनियों में घनास्रता होती है अथवा उनमें से रक्तस्राव होता है जिससे सुषुम्ना के १-२ पर्वों मृद्वीभवन होता है। २-३ वर्ष पूर्व फिरङ्ग आक्रमण का इतिहास मिलता है।

लक्षण वक्षीय, ग्रैवेयक या कटीला तीव्र सुषुम्ना प्रदाह के समान होते हैं।

(iii) फिरंगज मण्डली मस्तिष्कावरणप्रदाह (Pachymeningitis Cervicalis Hypertropica) --यह रोग विरल है। इसमें निम्न ग्रैवेयक भाग का मस्तिष्कावरण प्रभावित होता है।

लक्षण धीरे धीरे उत्पन्न होते एवं बढ़ते हैं। प्रारंभ में गले और हाथों में पीड़ा होती है फिर हाथों का शिथिल एवं अपौष्टिक तथा पैरों का स्तंभिक घात होता है। घातयुक्त अङ्गों में पूर्ण चेतना-नाश नहीं होता। रोग दोनों ओर के अङ्गों को प्रभावित करता है किन्तु एक ओर कम और दूसरी ओर अधिक। शीर्षण्य नाड़ियां प्रभावित होने से नेत्र की ऊपरी पलकों का घात हो जाता है, कनीनिकायें संकुचित रहती हैं और चेहरे पर पसीना आता है।

(iv) अर्ब का फिरंगज अधरांगघात (Erb's Syphilitis Paraplegia)—यह रोग फिरंग की उत्पत्ति के कई वर्ष बाद होता है और अक्सर सौम्य होता है। यह मुकुल मार्गों और कुछ हद तक प्रत्यक्ष धमिल्लकीय मार्गों को प्रभावित करता है। इसमें क्रमशः स्तम्भिक अधरांगघात और मल-मूत्र का अनियन्त्रित विसर्जन होता है। सांवेदनिक विकार प्रायः नहीं होते, यदि होते भी हैं तो आसन और कंपन-प्रतीति के ज्ञान का अभाव है। लक्षण समय समय पर परिवर्तित होते रहते हैं और फिरंग की चिकित्सा से लाभ कम ही होता है।

(v) अन्य फिरंगज विकार—

कभी कभी सुषुम्ना के बाहर या भीतर बड़े आकार के गोंदार्बुद उत्पन्न हो जाते हैं। ये सुषुम्ना सम्पीड़न के लक्षण उत्पन्न करते हैं।

फिरंगज अस्थि-प्रदाह विरल है किन्तु कभी कभी ग्रैवेयक भाग में पाया जाता है। वह राजयक्ष्मज अस्थिप्रदाह के समान अस्थियों को कीड़ों के द्वारा खायी गयी के समान बना देता है। प्रारम्भ में स्थानिक पीड़ा होती है फिर क्रमशः पृष्ठवंश झुक जाता है। सम्पीड़न के लक्षण हो सकते हैं।

विकीर्ण सौषुम्न जरठता (Disseminated Spinal Sclerosis)—इस रोग में मस्तिष्क और सुषुम्ना के अनेक भागों में विभिन्न आकार के मंडल उत्पन्न होते हैं। इन मण्डलों के स्थान पर धातु में रचनात्मक परिवर्तन होकर कठोरता (जरठता) उत्पन्न होती है तथा ये मण्डल वर्धनशील होते हैं। यह क्रिया एक प्रकार का प्रदाह है किन्तु इसके कारण का ठीक ठीक ज्ञान नहीं है। कभी कभी इस रोग की उत्पत्ति वातश्लेष्म ज्वर, लोहित ज्वर आदि तीव्र ज्वरकारी उपसर्गों के बाद होती पायी जाती है किन्तु उनसे इनका कोई सम्बन्ध नहीं पाया गया। इस रोग से १६ से ३० वर्ष तक के व्यक्ति प्रभावित होते हैं। भारत में यह रोग अपेक्षाकृत कम पाया जाता है।

रोग का आरम्भ अज्ञात रूप से होता है, लक्षण अनिश्चित रहते हैं और समय समय पर बदलते एवं घटते-बढ़ते रहते हैं। प्रारम्भ में रोगी कुछ पेशियों की निर्बलता या घात (अधिकतर अधरांग या अर्धांगघात) अथवा दृष्टिविकार (अधिकतर द्वयदृष्टि) की शिकायत करता है। ये विकार कुछ ही काल में शान्त हो जा सकते हैं। किन्तु इससे निश्चिन्त नहीं होना चाहिए। इसके कुछ सप्ताहों, महीनों या वर्षों के पश्चात् रोग के निश्चित एवं अधिक काल तक रहने वाले लक्षण उत्पन्न होते हैं जो निम्नलिखित हैं—

(i) चेष्टावह संस्थान—अधिकतर स्तंभिक अधरांगघात होता है। कण्डरा प्रतिक्षेप अधिक बलवान हो जाते हैं और पादतल प्रतिक्षेप प्रसारक हो जाता है। औदरीय और वृषणीय प्रतिक्षेप नष्ट हो जाते हैं। मल-मूत्र का अवरोध या अनैच्छिक परित्याग होता है। कुछ मामलों में हाथों का भी घात होता है। अंगों से काम करते समय कम्पन होता है।

(ii) संज्ञावह संस्थान—प्रारम्भ में कुछ मामलों में शून्यता, तोद आदि लक्षण पैरों में होते हैं किन्तु

ये अल्पस्थायी एवं परिवर्तनशील होने के कारण महत्वहीन हैं। बाद की दशाओं में संज्ञानाश होता है।

(iii) नेत्र—दृष्टिमांद्य, द्वयदृष्टि, नेत्र प्रचलन, अक्षितारिकाशोथ आदि। किन्तु अंधत्व नहीं होता। दृष्टिविम्ब में पीताभता रहती है।

(iv) मस्तिष्क—मानसिक विकार अथवा चित्त की अस्थिरता। कुछ मामलों में विचित्र कल्पनाएं। भ्रम, कर्णनाद, बधिरता, वमन आदि।

रोगकाल अत्यन्त लम्बा है। बीच बीच में रोग के लक्षण घटते बढ़ते रहते हैं किन्तु वस्तुतः लक्षण अधिक बलवान होते जाते हैं। मृत्यु बहुत दिनों तक शय्या पर पड़े रहने के बाद मूत्राशय प्रदाह, शय्याव्रण या अन्य कोई रोग होकर होती है। पूर्ण-स्वास्थ्य लाभ असम्भव है।

मस्तिष्क-सुषुम्ना द्रव अधिकतर सामान्य प्रकार का ही रहता है। कुछ मामलों में दबाव अधिक रहता तथा ग्रोभूजिन और लसकायाणु बढ़े हुये रहते हैं। वासरमैन की प्रतिक्रिया नास्त्यात्मक रहती है किन्तु स्वर्णचूर्ण प्रतिक्रिया (Colloidal Gold Test) ५% रोगियों में अस्त्यात्मक रहती है।

(११) नेत्रनाड़ी–सुषम्ना प्रदाह अथवा डेविक का रोग (Neuromyelitis Optica or Devic's Disease)—इस रोग में नेत्रनाड़ी प्रदाह और विकीर्ण सुषुम्ना प्रदाह होता है। कारण अज्ञात है और यह रोग अत्यन्त विरल भी है। अधिकतर किशोर और नवयुवक स्त्री-पुरुष आक्रान्त होते हैं।

इस रोग में दृष्टिविम्बों में शोथ होता है जिससे पूरी आंखों में पीड़ा होती है और क्रमशः अन्धता उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार क्रमशः संज्ञापरिवर्तन, संज्ञानाश आदि होकर दोनों पैरों का घात होता है। मल-मूत्र त्याग अनियंत्रित हो जाता है। रोग उत्तरोत्तर बढ़कर प्राणों का नाश करता है अथवा पूर्ण या आंशिक आरोग्य लाभ होता है।

(१२) अपुष्ट पेशिक सौषुम्न पार्श्व जरठता (Amyotrophic Lateral Spinal Sclerosis)—इस रोग में मस्तिष्क और सुषुम्ना का अपजनन होता है।

रोग अत्यन्य धीरे धीरे बढ़ता है। सर्वप्रथम पैरों में साधारण जड़ता एवं कठोरता की प्रतीति होती है जो उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। फिर पैरों का स्तंभिक घात होता है, पेशियों की अपुष्टि नहीं होती और संज्ञानाश नहीं होता। इसी बीच हाथों की छोटी पेशियों में अपुष्टि प्रारम्भ होकर पूरे हाथों एवं कंधों तक फैल जाती है और उनमें सूक्ष्म कम्पन होता है जो थपथपाने से स्पष्ट लक्षित होता है। गुदा एवं मूत्रमार्ग की संकोचिनी पेशियां प्रभावित नहीं होतीं। अन्त में चेहरे की पेशियां प्रभावित हो जाती हैं जिससे बोलना, चबाना एवं निगलना कठिन हो जाता है।

(१३) प्राथमिक सौषुम्न पार्श्व जरठता (Primary Lateral Spinal Sclerosis) अथवा शुद्ध स्तम्भिक अंगघात (Pure Spastic Paralysis) अथवा अर्ब की स्तंभिक सौषुम्न जरठता (Erb's Spastic Spinal Sclerosis)—इस रोग में सुषुम्ना के निचले भाग में मुकुल मार्गों का अपजनन होता है। आरम्भ में पैरों में निर्बलता और कठोरता की प्रतीति होती है, फिर दोनों पैरों का घात हो जाता है। संज्ञानाश नहीं होता। कुछ महीनों बाद प्रभावित पेशियों की अपुष्टि होती है। कारण अज्ञात है और रोग असाध्य है।

(१४) अनुतीव्र संयुक्त सुषुम्ना अपजनन (Sub-acute Combined Degeneration of the Cord)—यह रोग २५–६० वर्षीय पुरुषों में वैनाशिक रक्तक्षय के कारण होता है। अधिकांश मामलों में इसके वंशगत होने का इतिहास मिलता है। इस रोग में सुषुम्ना के पृष्ठीय और पार्श्वीय स्तंभों के श्वेतपदार्थ का अपजनन होता है। यह सर्वप्रथम पीठ के निचले भाग (कमर से कुछ ऊपर)

में आरम्भ होकर फिर पूरी सुषुम्ना में फैल जाता है। वास्तविक कारण अज्ञात है।

आरम्भ में पैरों में कमजोरी, थकावट, शून्यता, झुनझुनी, दाह, पिण्डलियों में पीड़ा आदि लक्षण होते हैं। यही लक्षण कुछ हद तक हाथों में भी हो सकते हैं। फिर क्रमशः संज्ञानाश होकर घात हो जाता है। घात अधिकतर शिथिल प्रकार का होता है किन्तु कुछ मामलों में स्तंभिक प्रकार का होकर फिर शिथिल होता है। वाताक्रान्त पेशियों का अत्यधिक क्षय होता है। मानसिक शक्ति का ह्रास होता है। नेत्र-तारिका संकुचित और अनियमित हो जाती है तथा नेत्रगोलक भी छोटे हो जाते हैं। कुछ मामलों में नेत्रप्रचलन, नेत्रनाड़ी-अपुष्टि और पटलगत रक्तस्राव भी पाया जाता है। नाखूनों में धारियां उत्पन्न हो जाती हैं और वे जल्दी टूटते हैं। इनके अतिरिक्त वैनाशिक रक्तक्षय के समस्त लक्षण पाये जाते हैं।

वैनाशिक रक्तक्षय की चिकित्सा से यह रोग याप्य है किन्तु साध्य नहीं है। चिकित्सा न करने पर अधिक से अधिक दो वर्षों में मृत्यु हो जाती है; जितनी तेजी से रोग प्रगति करता है उतनी ही जल्द मृत्यु होती है।

(१५) लैण्ड्री का अंगघात (Landry's Paralysis)—यह एक विशेष प्रकार का फैलने वाला अंगघात है जो पैरों के आरम्भ होकर ऊपर की ओर चलता हुआ सारे शरीर में फैलता है। इसकी उत्पत्ति किसी अज्ञात विष (संभवतः कोई विषाणु) से होती है। रोगी अधिकतर मध्यम आयु के हुआ करते हैं।

रोग का आरम्भ शाखाओं और धड़ में पीड़ा और झुनझुनी, सिरदर्द, वमन, अतिसार, अवसाद आदि पूर्वरूप कुछ काल तक रहने के बाद अथवा अचानक ही होता है। प्रारम्भ से पैरों का पीड़ा-रहित शिथिल घात होता है। यह क्रमशः ऊपर की ओर बढ़ता हुआ सारे शरीर में फैल जाता है और महाप्राचीरा तथा श्वसन-पेशियों को आक्रान्त करके मृत्यु करा देता है। दूसरे मामलों में कुछ पेशियों का समूह आक्रान्त होता है और फिर बहुनाड़ी प्रदाह (Polyneuritis) के समान सब ओर की पेशियों में रोग का प्रसार होता है। इन मामलों में छोर की पेशियां अप्रभावित रहती हैं जिससे शाखा का घात हो चुकने पर भी अंगुलियां कुछ सीमित चेष्टाएं कर सकती हैं।

अधिकांश मामलों में संज्ञा सम्बन्धी विकार नहीं होते किन्तु कुछ मामलों में झुनझुनी (शून्यता तोद आदि) और परमस्पर्शज्ञता रहती है। संकोचिनी पेशियां प्रभावित नहीं होतीं किन्तु अन्य संबन्धित पेशियों के घात से मल-मूत्र का अवरोध या अनैच्छिक विसर्जन हो सकता है। ज्वर नहीं रहता किन्तु कुछ मामलों में प्लीहावृद्धि होती है। मन (Mind) अप्रभावित रहता है। सभी प्रतिक्षेप नष्ट हो जाते हैं। मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव साफ एवं सामान्य दवाव-युक्त रहता है, कुछ मामलों में प्रोभूजिन और कोषों की वृद्धि पायी जा सकती है।

रोगकाल अनिश्चित है। तीव्र गति से बढ़ने पर २ दिनों के भीतर मृत्यु हो सकती है। दूसरे मामलों में रोग एक सीमा तक बढ़कर रुक जाता है और क्रमशः शान्त होते होते लगभग ३ माह में पूर्ण आरोग्य-लाभ हो जाता है। कुछ मामलों में पुनराक्रमण होता है जो अत्यन्त वेगयुक्त एवं मारक होता है।

(१६) कलायखंज (Lathyrism)—इसका वर्णन इसी नाम से आगे पृथक् शीर्षक में किया जावेगा।

(१७) वर्धनशील नाड़ी-जन्य पेशीक्षय (*Progressive Neural Muscular Atrophy, Peroneal Muscular Atrophy, Charcot-Marie-Tooth type of Atrophy*)—यह ५-१० वर्षीय बालकों में पाया जाने वाला कौटुम्बिक रोग है जिसका प्रसार माताओं के द्वारा होता है। किसी अज्ञात से सुषुम्ना के कटीय और तत्पश्चात् अन्य

भागों के पूर्वी श्रृङ्ग कोषों (*Anterior Horn Cells*) का अपजनन होने से वातनाड़ी प्रदाह होता है और कुछ नाड़ियां नष्ट हो जाती हैं, फलस्वरूप उनके क्षेत्र की पेशियों की अपुष्टि होती है।

अपुष्टि (शोष) पैरों के निचले भाग से आरम्भ होकर क्रमशः बढ़ती हुई जांघ (उरु) के निचले तिहाई भाग तक जाती है, इससे आगे नहीं बढ़ती। प्रभावित भाग बुरी तरह सूख जाता है और झुर्रियां पड़ जाती हैं। कई वर्ष बाद हाथों में भी अपुष्टि होती है किन्तु यह अग्रबाहु के मध्य तक ही जाती है, इससे आगे नहीं। प्रभावित भागों की अस्थियों में भी विकार आ जाता है जिससे वे कई प्रकार से झुक जाती हैं और अङ्ग बेडौल हो जाते हैं। पादतल और गुल्फ के प्रतिक्षेप नष्ट हो जाते हैं किन्तु जानु प्रतिक्षेप तथा उत्तान (Superficial) प्रतिक्षेप अप्रभावित रहते हैं। संज्ञा बराबर मौजूद रहती है और अङ्ग संचालन की क्षमता बनी रहती है। शरीर के अन्य भागों में कोई विकार नहीं आता, अन्य सब पेशियां भलीभांति पुष्ट एवं कार्य-क्षम रही आती हैं।

रोग की वृद्धि किसी भी समय रुक जाती है, विशेषतः ३० वर्ष की आयु में निश्चित रूप से रुक जाती है। आयु पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

(१८) वर्धनशील सौषुम्न शैशवीय पेशीक्षय अथवा वर्डिङ्गहौफमैन का रोग (*Progressive Spinal Muscular Atrophy of children or Werding-Hoffman's Disease*)—यह छोटे शिशुओं में पाया जाने वाला सहज एवं कौटुम्बिक रोग है जो एक ही माता पिता की कई सन्तानों में पाया जाता है। इसमें किसी अज्ञात कारण से सुषुम्ना और मस्तिष्क-स्कंध के पूर्वी श्रृंग कोषों और चेष्टावह न्यष्ठीलाओं का अपजनन होता है जिससे मांसपेशियों की अपुष्टि तीव्रगति से होती है। कभी-कभी सुषुम्ना के पृष्ठ स्तंभ (*Posterior column*) और मुकुलमार्ग भी प्रभावित होते हैं।

रोग के लक्षण २ माह की आयु में प्रकट होने लगते हैं। सर्व प्रथम धड़ और कमर की पेशियों में ढीलापन एवं अशक्ति लक्षित होकर सारे शरीर में फैलती है। हाथ-पैरों के अग्रभाग सबसे अन्त में प्रभावित होते हैं। फिर क्रमशः घात के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। पेशियों में सूक्ष्म कम्प होते हैं। बालक शिथिल पड़ा रहता है, हाथ पैर नहीं चलाता और अपनी आयु के अनुरूप बैठना, चलना आदि क्रियाएं नहीं कर पाता। वस्तुतः पेशियों की अपुष्टि शायद ही किसी मामले में लक्षित हो पाती है क्योंकि मेद का जमाव अत्यधिक होता है जिससे अंग पुष्ट प्रतीत होते हैं। अन्त में गले और चेहरे की पेशियों का घात होता है और फिर कुछ काल में मृत्यु हो जाती है। परीक्षा करने पर प्रभावित पेशियों के सभी प्रतिक्षेप नष्ट पाये जाते हैं। रोग जितनी तीव्रता से बढ़ता है मृत्यु उतने ही शीघ्र होती है।

(३) अर्दित (Facial paralysis)—चेहरे की पेशियों का संचालन वक्त्रीय वातनाड़ी (Facial nerve) करती है। अर्दित रोग इसी की विकृति के परिणामस्वरूप होता है। इस नाड़ी की न्यष्ठीला उष्णीषक में है, वहां से आकर यह चेहरे की पेशियों में अनेक शाखाओं में विभक्त होकर फैली हुई रहती है। इसमें निम्न ३ स्थानों पर विकार हो सकता है।

(i) ऊर्ध्व न्यष्ठीलिकीय भाग—यहां रक्तस्राव घनास्रता, अन्तःशल्यता, नववृद्धि या विद्रधि के कारण विकार हो सकता है जिससे आधे चेहरे के निचले भाग का घात होता है, उत्तेजना की दशाओं में घाताक्रान्त पेशियों में किंचित चेष्टा होती है।

कभी कभी केवल उत्तेजना-जन्य चेष्टाएं करने वाली पेशियां ही प्रभावित होती हैं—नकली अर्दित (Mimic facial paralysis)।

(ii) न्यष्ठीलीय भाग—यहां पलित मस्तिष्क प्रदाह (Polyeucephalitis) तन्द्रिक मस्तिष्क प्रदाह, फिरंगी खंजता, रोहिणी, जलातंक, विकीर्ण सौषुम्न

जरठता, नववृद्धि अथवा वाहिनीगत रोग (घनास्रता, अन्तःशल्यता या रक्तस्राव) आदि के कारण विकार होता है। इससे आधे चेहरे का शिथिल घात अथवा मुकुल मार्ग भी प्रभावित होने पर शिथिल अर्धांगघात होता है। शक्तिनाश और पेशी-क्षय होता है।

(iii) अधोन्यष्टीलिकीय भाग—इसके प्रभावित होने पर पूरे चेहरे के शिथिल घात के अतिरिक्त स्थानभेद से निम्न लक्षण होते हैं।

अ—मस्तिष्काधार—यहां मस्तिष्कावरण प्रदाह, अर्बुद, भग्न या धमन्यभिस्तीर्णता के कारण विकार होता है। श्रवणनाड़ी प्रभावित होने से कर्णनाद या बधिरता, त्रिधारा नाड़ी प्रभावित होने से संज्ञा में विकृति और चबाने में कठिनाई तथा कभी कभी जीभ के अग्रिम दो तिहाई भाग में स्वाद-ज्ञान नष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त धमिल्लक पर प्रभाव पड़ने से तत्संबन्धी विकार भी होते हैं।

ब—शिफाछिद्र (Stylomastoid foramen) यहां अस्थिकोथ अथवा कृमिदन्त, मध्यकर्ण रोग, शल्यकर्मजन्य अभिघात, नाड़ी प्रदाह अथवा शीत लग जाने के कारण विकार होता है। इससे शंखीय नाड़ीग्रन्थि (Geniculate ganglion) प्रभावित होने पर स्वाद-ज्ञान का नाश, कान में पीड़ा और परिसर्प (Herpes) होते हैं। अक्सर कर्ण-पर्याणिका पेशी (Stapedius) का भी घात हो जाता है जिससे कर्णनाद होता है और मृदुध्वनि भी तीव्र प्रतीत होती है।

स—चेहरा—यहां अभिघात, नाड़ी-प्रदाह (मदात्यय, मधुमेह, कुष्ठ या रोहिणी जन्य) कर्णमूल के अर्बुद का दबाव या प्रदाह-युक्त अवस्था के कारण विकार होता है। इससे रसग्रहाकर्णान्तिका पेशी का घात होता है जिह्वा के अग्रिम दो तिहाई भाग में स्वाद-ज्ञान नष्ट हो जाता है। लालास्राव का ह्रास हो जाता है। अब अर्दित की श्रेणी में आने वाले कुछ विशेष रोगों का वर्णन किया जाता है—

(१) बैल्ल का अर्दित—(Bell's paralysis)—यह रोग अत्यन्त सामान्य है। कर्णमूल ग्रंथि के प्रदाह के कारण वक्त्रीय नाड़ी पर दबाव पड़ने से अथवा इसी प्रकार के अन्य कारणों से इसकी उत्पत्ति होती है। रोगी २० से ५० वर्ष तक की आयु के हुआ करते हैं।

पूर्वरूपावस्था में कान के नीचे के भाग में पीड़ा एवं स्पर्शासह्यता रहती है। फिर किसी भी समय शीत लग जाने से एकाएक रोग का आक्रमण हो जाता है। चेहरे का घात और पेशियों का क्षय होता है किन्तु संज्ञा सम्बन्धी विकार प्रायः नहीं होते। चेहरा भावहीन, चपटा सा एवं विरुद्ध दिशा में खिंचा हुआ होता है। नाक और ओठों के बीच की वलि अदृश्य हो जाती है और ऊपर की ओर देखने पर माथे पर लकीरें उत्पन्न नहीं होतीं। आंख पूरी तौर से बन्द नहीं होती और बलपूर्वक बन्द करने से अक्षिगोलक ऊपर एवं भीतर की ओर घूम जाता है। निचली पलक शिथिल रहती है और आंसू अक्सर बहा करते हैं। कुछ अंशों में अभिष्यन्द भी रहता है। ओठों का भी घात होता है जिसमें दांत दिखाते या मुस्कुराते समय वे भली भांति प्रसारित नहीं होते और सीटी बजाने का प्रयत्न करते समय भली भांति नहीं सुकड़ते। जीभ निकालने पर ओंठ स्वस्थ भाग की ओर तथा जीभ आक्रान्त भाग की ओर झुक जाती है। भोजन आक्रान्त भाग में रुक जाता है और पानी पीते समय उसी ओर से बहने लगता है। रसग्रहाकर्णान्तिका पेशी प्रभावित होने पर आक्रान्त भाग में जिह्वा के अग्रिम २/३ भाग में स्वाद ज्ञान नष्ट हो जाता है। आक्रान्त कान में परिसर्प के दाने उत्पन्न हो सकते हैं तथा श्रुतिनाड़ी प्रभावित होने पर कान में बधिरता उत्पन्न हो सकती है।

रोग की साध्यता कारण के अनुरूप है। प्रदाह-जन्य मामले साध्य होते हैं। नेत्र को हिलाने की थोड़ी भी शक्ति शेष होना तथा विद्युत-लहर से थोड़ी

सी भी प्रतिक्रिया होना साध्यता का द्योतक है।

(२) उभयपार्श्वीय अर्दित (*Bilateral Facial Paralysis*)—यह या तो जन्मजात होता है अथवा वक्त्रीय नाड़ी के मस्तिष्कावरण प्रदाह, धमन्याभिस्तीर्णता, मध्यकर्णपाक, रोहिणी, कुष्ठ, वातनाड़ी प्रदाह आदि से आक्रान्त होने पर होता है।

पहले एक ओर का और फिर ४-५ दिन बाद दूसरी ओर का भी घात हो जाता है।

(३) शङ्खप्रदेशीय वातनाड़ी ग्रन्थि का परिसर्प (*Herpes of Geniculate Ganglia*)—कान और गले में पीड़ा होकर कान और उसके आस पास के भागों में सद्रव पिडिकाएं निकलती हैं। आक्रांत प्रदेश लाल हो जाता है और ज्वर आ जाता है। कर्णनाद, भ्रम, बधिरता आदि लक्षण भी हो सकते हैं। कुछ दिनों में अर्दित हो जाता है।

(४) अर्धवक्त्रीय स्तम्भ (*Facial Hemispasm*)—यह रोग किसी अज्ञात कारण से वक्त्रीय नाड़ी में प्रक्षोभ होने से उत्पन्न होता है। अधिकतर मध्यम आयु के व्यक्ति प्रभावित होते हैं—पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियां अधिक। इससे समय समय पर आधे चेहरे के ऊपरी या सारे क्षेत्र में स्तम्भिक उद्वेष्टन होते हैं। किसी भी प्रकार की ऐच्छिक क्रिया या उत्तेजना से लक्षण अधिक प्रबल हो जाते हैं। इन आक्षेपों से किसी प्रकार की पीड़ा नहीं होती किन्तु असुविधा अवश्य होती है तथा रोगी हंसी का पात्र बन जाता है। कालान्तर में अर्दित हो जाने की सम्भावना रहती है।

(५) वर्धनशील कन्दिक घात (*Progressive Bulbar Paralysis*)—इस रोग में मस्तिष्क-स्कन्ध और सुषुम्ना के ऊपरी दो ग्रैवेयक पर्वों से सम्बधित नाड़ियों के क्षेत्र में अंगघात होता है। सामान्यत: प्राणदा (*Vagus*), ग्रीवापृष्ठगा (*Accessory*) और जिह्वामूलिनी (*Hypoglossal*) नाड़ियां प्रभावित होती हैं किन्तु कभी कभी त्रिधारा (*Trigminal*), वक्त्रीय (*Facial*) और कण्ठरासनी (*Glossopharyngeal*) नाड़ियां भी प्रभावित हो जाती हैं। कारण अज्ञात है। रोगी अधिकतर मध्यम आयु के हुआ करते हैं; पुरुषों की संख्या अधिक रहती है।

जिह्वा की धातु का क्षय होता है और उसमें सिकुड़नें पड़ जाती हैं, नियन्त्रण कम होजाता है और कम्प-युक्त उद्वेष्टन होते हैं। ओंठ भी कमजोर एवं शिथिल हो जाते हैं जिससे लार बहा करती है। मुख की आधारिक पेशियों और कण्ठ की पेशियों का घात हो जाता है जिससे भोजन श्वासनलिका में चला जाता है और पेय पदार्थ नाक से बाहर आ जाते हैं। चबाना और निगलना भी कठिन हो जाता है। रोगी बड़ी कठिनाई से अटक कर बोल पाता है। मानसिक विकार भी उत्पन्न हो जाते हैं, रोगी अति शीघ्र उत्तेजित हो जाया करता है। कभी कभी चेहरे और नेत्रचेष्टिनी पेशियों का भी घात हो जाता है।

घात अपौष्टिक एवं शिथिल अथवा सपौष्टिक एवं निरन्तरित प्रकार का होता है। कभी कभी स्तम्भिक प्रकार का भी हो सकता है। यह रोग असाध्य है।

यह अत्यन्त संक्षेप में अंगघात रोग के कुछ महत्वपूर्ण प्रकारों का वर्णन किया गया है और कुछ प्रकारों का वर्णन इसी ग्रंथ में यत्र-तत्र विकीर्ण भाव से मिलेगा। अधिक सूक्ष्म ज्ञान के लिये इस विषय के बड़े ग्रन्थ देखना अभीष्ट होगा।

हनुग्रह

जिह्वानिर्लेखनाच्छुष्कभक्षणादभिघाततः ।
कुपितो हनुमूलस्थः स्रंसयित्वाऽनिलो हनुम् ॥४६॥
करोति विवृतास्यत्वमथवा संवृतास्यताम् ।
हनुग्रहः स तेन स्यात्कृच्छ्राच्चर्वणभाषणम् ॥५०॥

जीभ खरोंचने, शुष्क पदार्थ खाने और अभिघात से हनुमूल में स्थित वायु कुपित होकर हनु (जबड़े) को अपने स्थान से हटा कर मुख को फैला देती है अथवा

बन्द कर देती है—यह हनुग्रह (हनुस्तंभ) है। इससे चबाना और बोलना कठिन हो जाता है।

वक्तव्य—(१६६) यह अधोहनु (निचले जबड़े) की च्युति या सन्धि-भग्न है (Dislocation of the jaw)। हनु दो होते हैं; ऊपरी हनु स्थिर और निचला चलायमान होता है। दोनों की संधि कर्णमूल के पास होती है; उसी को हनुमूल भी कहते हैं। यह संधि अधिक मजबूत नहीं होती। उक्त कारणों के अतियोग से कभी कभी निचली हनु एक ओर या दोनों ओर अपने स्थान से हट जाता है। इससे मुख या तो खुला ही रह जाता है अथवा पूर्णतया बन्द हो जाता है और जबड़े की गति अवरुद्ध हो जाती है। पीड़ा अत्यधिक होती है। इसकी चिकित्सा यही है कि कुशल व्यक्ति के द्वारा जबड़े को धीरे से खिसका कर जहां का तहां बैठाल दिया जावे।

मन्यास्तंभ

दिवास्वप्नासमस्थानविवृतोर्ध्वनिरीक्षणैः ।
मन्यास्तम्भं प्रकुरुते स एव श्लेष्मणाऽऽवृतः ॥५१॥

दिन में सोने, ऊंचे-नीचे (असम) स्थान में सोने, घूमकर देखने एवं ऊपर देखने से वायु कफ से आवृत होकर मन्यास्तंभ कर देता है।

वक्तव्य—(२००) गले के पिछले भाग को मन्या कहते हैं और गले का पिछला भाग अकड़ कर स्थिर होजाना मन्यास्तंभ कहलाता है। यह विकार मस्तिष्क सुषुम्ना की प्रदाहयुक्त व्याधियों (मस्तिष्कावरण प्रदाह, मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर, अपतंत्रक आदि) का प्राथमिक लक्षण है। पाश्चात्य ग्रन्थों में इसका प्रथक् वर्णन नहीं मिलता।

गले की पेशियों के विकार से कभी कभी गला एक ओर झुक जाता है—उसे 'एकपार्श्वीय मन्यास्तंभ (Wry Neck, Torticollis) कहते हैं। यह वास्तविक मन्यास्तंभ न होकर उसका एक भेद है।

पाश्चात्य मत—

एक पार्श्वीय मन्यास्तंभ (Torticollis, Wry-neck)—यह रोग २ प्रकार का होता है—स्थायी और अस्थायी।

(i) स्थायी एक पार्श्वीय मन्यास्तंभ (permanent or true Wry-neck)—अधिकांश मामलों में यह विकार भ्रूणावस्था में किसी कारणवश गले की पेशियों के विकास में रुकावट होने से होता है। दूसरे मामलों में प्रसव के समय पर अधिक दबाव पड़ने से पेशियों में स्थायी विकार आ जाने से इसकी उत्पत्ति होती है—ऐसे मामलों में प्रसव-कष्ट और जन्म के बाद गले में कुछ काल तक शोथ रहने का इतिहास मिलता है। इस विकार में सामान्यतः गले की एक ओर की पेशियां छोटी एवं उभरी हुई रहती हैं तथा सिर दूसरी ओर झुका हुआ रहता है। अधिकांश मामलों में मेरुदण्ड के बहुत से भाग में झुकाव पाया जाता है।

(ii) अस्थायी एक पार्श्वीय मन्यास्तंभ (Temporary or Transient Wry-neck)—इसके पुनः दो भेद है—१. तीव्र अथवा प्रदाहयुक्त और २. स्तंभिक।

(अ) तीव्र अथवा प्रदाहयुक्त एक पार्श्वीय मन्यास्तंभ अथवा तीव्र मन्याप्रदाह (Acute or Inflammatory Wry-neck)—इसमें ग्रीवा की एक ओर की और विरल मामलों में दोनों ओर की पेशियों के तन्तुओं का प्रदाह होता है। अधिकतर शीत लग जाने से इसकी उत्पत्ति होती है। बहुतों के मत से यह आमवातीय (Rheumatic) प्रदाह है।

इससे गले के एक ओर की पेशियों में शोथ और संकोच होता है जिससे सिर दूसरी ओर झुक जाता है। गर्दन को घुमाने तथा प्रभावित स्थल को दबाने से पीड़ा होती है। कुछ काल में यह विकार स्वयं ही अथवा सेंक, मालिश आदि से शांत हो जाता है।

(ब) स्तंभिक एकपार्श्वीय मन्यास्तंभ (Spasmodic

Wry-neck)—यह रोग किसी अज्ञात कारण से दुर्बल एवं वातिक प्रकृति के व्यक्तियों को उत्पन्न होता है। इसमें समय समय पर गर्दन एक ओर झुक जाती है और सिर में झटके आते हैं।

अन्य—कुछ व्यक्तियों में स्वभावतः अथवा नेत्र विकार के कारण गर्दन एक ओर झुकाकर रखने की आदत हुआ करती है। यह विकार एकपार्श्वीय मन्यास्तंभ से सर्वथा भिन्न है।

जिह्वास्तम्भ

वाग्वाहिनीसिरासंस्थो जिह्वां स्तम्भयतेऽनिलः।
जिह्वास्तम्भः स तेनान्नपानवाक्येष्वनीशता ॥५२॥

वाग्वाहिनी नाड़ी (Hypoglossal Nerve) में स्थिति वायु जीभ को स्तम्भित कर देता है—यह जिह्वास्तंभ है। इससे अन्न-पान को ग्रहण करने और बोलने में असमर्थता हो जाती है।

वक्तव्य—(१६६) यह जिह्वामूलिनी वातनाड़ी का घात है तथा अर्दित से संबंधित रहता है। 'अर्दित पर पाश्चात्यमत' देखें।

सिराग्रह

रक्तमाश्रित्य पवनः कुर्यान्मूर्धधराः सिराः।
रूक्षाः सवेदनाः कृष्णाः सोऽसाध्यः स्यात्सिराग्रहः॥५३॥

वायु रक्त में आश्रित होकर सिर को धारण करने वाली (गले की) सिराओं को रूक्ष, वेदनायुक्त और कृष्णवर्ण कर देता है—यह सिराग्रह रोग असाध्य है।

वक्तव्य—(२००) इसके सम्बन्ध में अनेक विद्वानों के अनेक मत हैं किन्तु उनमें से एक भी उचित प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः यह विकार गले के निचले भाग की शिराओं में घनास्रता या अन्तः शल्यता होने के कारण शिरायें फूलकर काली पड़ जाने से होता है—यह इसकी सम्प्राप्ति से स्पष्ट है।

गृध्रसी रोग

स्फिक्पूर्वा कटिपृष्ठोरुजानुजङ्घापदं क्रमात्।
गृध्रसी स्तम्भरुक्तोदैर्गृह्णाति स्पन्दते मुहुः॥५४॥
वाताद्वातकफात्तन्द्रागौरवारोचकान्विता ।

[वातजायां भवेत्तोदो देहस्यापि प्रवक्रता।
जानुकटच्यूरुसंधीनां स्फुरणं स्तब्धता भृशम् ॥५५॥
वातश्लेष्मोद्भवायां तु निमित्तं वह्निमार्दवम्।
तन्द्रा मुखप्रसेकश्च भक्तद्वेषस्तथैव च ॥५६॥]

वात से स्फिक्-देश (चूतड़, Hip) में आरम्भ होने वाली गृध्रसी कण्डरा (वातनाड़ी) बारम्बार स्पन्दन करती है तथा क्रम से कमर के पिछले भाग, जांघ, घुटने, पिण्डली और पैर को स्तम्भ, पीड़ा एवं तोद से आक्रान्त कर देती हैं। वातकफ से यह विकार होने पर तन्द्रा, भारीपन और अरोचक भी होते हैं।

(वातज प्रकार में तोद, शरीर झुक जाना तथा घुटने, कमर और जांघ की संधियों में फड़कन और अत्यधिक स्तब्धता रहती है। वातकफज प्रकार अग्निमांद्य (अजीर्ण) के कारण उत्पन्न होता है; इसमें तन्द्रा, लालास्राव और अरोचक होते हैं।)

पाश्चात्य मत—

गृध्रसी रोग (Sciatica)—यह रोग गृध्रसी नाड़ी के प्रदाह से उत्पन्न होता है। हरित मालागोलाणुओं (Streptococcus Viridans) का उपसर्ग, मधुमेह आदि की विषाक्तता, कटि प्रदेश की अस्थियों के रोग एवं अर्बुद तथा श्रम, अभिघात आदि से चतुर्थ एवं पंचम कटि-कशेरुओं और त्रिकास्थि के बीच के बिम्ब (या चक्रिका, Intervertebral Disc) का विदीर्ण हो जाना सामान्य कारण हैं। शीत लग जाने या पैर में मोच आ जाने से भी इसकी उत्पत्ति होती है। रोगी अधिकतर २० वर्ष से अधिक आयु के हुआ करते हैं।

पीड़ा का क्षेत्र कमर एवं स्फिक्-देश से प्रारम्भ होकर पैर के पिछले भाग में होता हुआ एड़ी तक जाता है। प्रारम्भ में पैर में झुनझुनी और शून्यता का अनुभव होता है फिर किसी समय पीड़ा आरम्भ हो जाती है। पीड़ा ठहर ठहर कर होती है और ऐसा प्रतीत होता है जैसे कोई वस्तु भीतर ही भीतर तड़क उठती हो। पैर को फैलाने, चलने, खड़े होने, खांसने,

हंसने आदि से पीड़ा में वृद्धि होती है। रोगी एक ओर झुककर लंगड़ाता हुआ सा चलता है; आक्रान्त पार्श्व का कंधा झुका हुआ रहता है। रोगी खड़े होते समय स्वस्थ पैर को सीधा रखता है और आक्रान्त पैर को किंचित झुका लेता है। घुटना सीधा करके जांघ को उदर की ओर नहीं झुकाया जा सकता—लेसैग का चिह्न (Lasegue's Sign)। घुटना मोड़ कर भी जांघ को उदर की ओर नहीं झुकाया जा सकता—कर्निग का चिह्न (Kernig's Sign) कभी-कभी पैर में ऐंठन और कम्प भी बढ़ जाता है। रोग पुराना होने पर पेशियों का क्षय होता है। अधिकतर एक ही पैर आक्रान्त होता है किन्तु कभी कभी दोनों पैर भी आक्रान्त हो सकते हैं। यह रोग अत्यन्त चिरकारी प्रकार का है। बीच बीच में कुछ काल के लिए शान्त होकर पुनः आक्रमण करता है।

शुष्क प्रकार को बैरी बैरी में भी इस प्रकार की पीड़ा होती है उससे इसका विभेद करना चाहिए।

विश्वाची रोग

तलं प्रत्यंगुलीनां याः काडरा बाहुपृष्ठतः ॥५७॥
बाह्वोः कर्मक्षयकरी विश्वाची चेति सोच्यते।

बाहु के पृष्ठभाग से होकर अंगुलियों के तलभाग तक जाने वाली कण्डरा (नाड़ी) को दूषित करके बाहुओं की क्रिया को क्षीण करने वाली व्याधि को विश्वाची कहते हैं।

वक्तव्य—(२०३) यह गृध्रसी की सजातीय व्याधि है। पाश्चात्य चिकित्सक इसे बाह्वी वातनाड़ी प्रदाह (*Brachial Neuritis*) कहते हैं। इससे कन्धे से लेकर पूरे हाथ में गृध्रसी के ही समान पीड़ा होती है। निदानादि भी गृध्रसी के ही समान हैं।

क्रोष्टु शीर्ष

वातशोणितजः शोथो जानुमध्ये महारुजः ॥५८॥
ज्ञेयः क्रोष्टुकशीर्षस्तु स्थूलः क्रोष्टुकशीर्षवत्।

घुटने में शृगाल (गीदड़) के सिर के समान स्थूल एवं महान् पीड़ा करने वाला वात-रक्तज शोथ क्रोष्टुशीर्ष (या क्रोष्टुकशीर्ष) कहलाता है।

वक्तव्य—(२०४) यह वातरक्तज जानुशोथ का वर्णन है। विस्तृत विवेचन वातरक्त प्रकरण में देखें।

खञ्जता और पंगुत्व

वायुः कट्याश्रितः सक्थ्नः कण्डरामाक्षिपेद्यदा ॥५९॥
खञ्जस्तदा भवेज्जन्तुः पंगुः सक्थ्नोर्द्वयोर्वधात्।

जब वायु कमर में स्थित होकर जांघ (उरु) की कण्डरा (वातनाड़ी) में आक्षेप उत्पन्न करती है तब मनुष्य खञ्ज हो जाता है और दोनों जांघों में वध होने पर पंगु हो जाता है।

कलायखञ्ज

प्रक्रामन् वेपते यस्तु खञ्जन्निव च गच्छति ॥६०॥
कलायखञ्जं तं विद्यान्मुक्तसन्धिप्रबन्धनम्।

जो चलते समय कांपता हो, लङ्गड़ाता हुआ सा चलता हो और जिसके सन्धि-बन्धन ढीले हो चुके हों उसे कलायखञ्ज समझना चाहिए।

पाश्चात्य मत—

खंजता और पंगुत्व (Limping)—श्रोणि से लेकर पूरे पैर के किसी भी भाग में किसी भी प्रकार की खराबी होने से लङ्गड़ापन उत्पन्न हो जाता है। इसकी साध्यासाध्यता कारण पर निर्भर है।

कलायखञ्ज (Lathyrism)—यह एक विशेष प्रकार की खंजता है जो काला मटर या खेसारी (तेवड़ा) खाने वालों में पायी जाती है। संभवतः इनमें उपस्थित कोई विषाक्त पदार्थ इस रोग का उत्पादक है। जीवतिक्ति 'ए' की कमी भी एक महत्वपूर्ण कारण है। यह रोग भारतवर्ष में उत्तरी बिहार, उत्तरप्रदेश आदि के गरीब लोगों में पाया जाता है; ईरान, अफ्रीका और इटली में भी पाया जाता है।

रोग का आरम्भ गुप्त रूप से अथवा अचानक पैरों में दाह और पीड़ा होकर होता है। फिर क्रमशः दोनों पैरों का स्तम्भिक घात हो जाता है, तथापि संज्ञानाश नहीं होता। रोगी एड़ियां उठाकर लाठी

के सहारे लङ्खड़ाता हुआ चलता है। अधिकांश मामलों में संकोचिनी पेशियां भी प्रभावित हो जाती हैं। अन्य अंगों में विकार नहीं आता। रोग अत्यंत चिरकारी प्रकार का है और आयु पर कोई प्रभाव नहीं डालता।

वातकण्टक

रुक् पादे विषमन्यस्ते श्रमाद्वा जायते यदा ॥६१॥
वातेन गुल्फमाश्रित्य तमाहुर्वातकण्टकम् ।

ऊंची-नीची भूमि में पैर पड़ने से अथवा श्रम से वायु के गुल्फ में आश्रित हो जाने के कारण पैर में जो पीड़ा होती है उसे वातकण्टक कहते हैं।

वक्तव्य—(२०५) साधारण भाषा में इसे मोच आ जाना (sprain) कहते हैं। पैर टेढ़ा पड़ जाने से संधि के स्नायु खिंच या फट जाते हैं जिससे शोथ एवं पीड़ा होती है।

पाददाह

पादयोः कुरुते दाहं पित्तासृक्सहितोऽनिलः ॥६२॥
विशेषतश्चङ्क्रमतः पाददाहं तमादिशेत् ।

पित्त और रक्तसहित वायु विशेषतः चलते समय पैरों में दाह उत्पन्न करता है—इसे पाददाह कहते हैं।

पादहर्ष

हृष्येते चरणौ यस्य भवेतां चापि सुप्तकौ ॥६३॥
पादहर्षः स विज्ञेयः कफवातप्रकोपतः ।

जिस रोग में पैरों में हर्ष (झनझनाहट एवं फूलने के समान अनुभव) हो और प्रसुप्ति भी हो उसे कफ-वात के प्रकोप से उत्पन्न पादहर्ष रोग समझना चाहिए।

वक्तव्य—(२०६)—पादहर्ष को सामान्य भाषा में 'झुनझुनी' कहते हैं। पाददाह और पादहर्ष दोनों ही पाश्चात्यमतानुसार 'संज्ञापरिवर्तन' (Paraesthesia) नामक वातनाड़ी-विकार के अन्तर्गत आते हैं। वात-नाड़ी विकार से होने वाले अधिकांश रोगों की पूर्वरूपावस्था में ये उपस्थित रहते हैं; स्वतंत्र रूप से इनका कोई महत्व नहीं है। साधारणतः पाये जाने वाले पाददाह और पादहर्ष जीवतिक्ति 'बी' के अभाव से होने वाले वातनाड़ी विकार से संबन्धित रहा करते हैं इस लिये इनकी चिकित्सा सर्व प्रथम जीवतिक्ति 'बी' से ही की जाती है और अधिकतर उससे लाभ हो जाता है। जिन मामलों में लाभ नहीं होता उनमें अन्य नाड़ी-विकारों की संभावना पर विचार किया जाता है।

अंसशोष

अंसदेशस्थितो वायुः शोषयेदंसबन्धनम् ॥६४॥

वायु कन्धे में स्थित होकर कन्धे के बन्धनों को सुखा देती है।

पाश्चात्य मत—

अंसशोष—(Wasting of the shoulder joint)—यह रोग अधिकतर यक्ष्मा-दण्डाणुओं के द्वारा चिरकारी संधिप्रदाह (Tubercular arthritis) होने पर होता है; विरलतः अन्य पूयोत्पादक जीवाणुओं के द्वारा संधिप्रदाह होने पर तथा सौषुम्नकुल्याभिस्तीर्णता (syringomyelia) के उपद्रव स्वरूप भी होता है। पीड़ा, जड़ता तथा पेशियों एवं अस्थियों का क्षय सामान्य लक्षण हैं।

अवबाहुक

सिराश्चाकुञ्च्य तत्रस्थो जनयेदवबाहुकम् ।

वहीं स्थित वायु शिराओं को भी आकुंचित करके अवबाहुक रोग उत्पन्न करता है।

वक्तव्य—(२०७) यह अंसशोष के ही कारण होता है। कन्धे की अस्थियों और पेशियों का क्षय हो जाने से कन्धा सुकड़ कर अदृश्य सा हो जाता और हाथ कुछ अधिक नीचे लटक जाता है।

मूकत्व, मिन्मिनत्व और गद्गद स्वरता

आवृत्य वायुः सकफो धमनीः शब्दवाहिनीः ॥६५॥
नरान्करोत्यक्रियकान्मूकमिन्मिनगद्गदान् ।

कफ सहित वायु शब्द वाहिनी धमनियों को आवृत करके मनुष्यों को अक्रियक—मूक, मिन्मिन एवं गद्गद बना देता है।

वक्तव्य—(२०८) 'अक्रियक' से 'अयोग्य' (Disable) का आशय लेना चाहिये। मूकत्व (Aphonia), मिन्मिनत्व (Rhinophonia) तथा गद्गदस्वरता (Disarthria) स्वरयंत्र एवं उसकी वाचिक रज्जुकाओं (Vocal cords) की विकृति से होती है। इनके साथ जिह्वा, ओंठ, नाक, दांत, मस्तिष्क आदि में भी विकार पाये जाते हैं। सहज मूकत्व अधिकतर सहज बाधिर्य के कारण होता है और प्राय: ऐसे मामलों में वाचिक संस्थान में कोई विकृति नहीं पायी जाती। विशेष प्रकार से शिक्षा देकर इस प्रकार के मूक व्यक्तियों को बोलना सिखाया जा सकता है—पाश्चात्य देशों में इसके सफल प्रयोग किये जा चुके हैं।

विस्तृत विवरण स्वरभेद प्रकरण में देखें।

तूनी

अधो या वेदना याति वर्चोमूत्राशयोत्थिता ॥६६॥
भिन्दतीव गुदोपस्थं सा तूनी नाम नामतः।

जो पीड़ा मलाशय और मूत्राशय से उत्पन्न होकर गुदा और मूत्रेन्द्रिय को भेदन करती हुई सी नीचे की ओर जाती है वह तूनी नामक रोग है।

प्रतितूनी

गुदोपस्थोत्थिता या तु प्रतिलोमं प्रधाविता ॥६७॥
वेगैः पक्वाशयं याति प्रतितूनीति सोच्यते।

किन्तु जो पीड़ा गुदा और मूत्रेन्द्रिय से उत्पन्न होकर प्रतिलोम (विपरीत-गामी) होकर दौड़ती हुई आवेगों के साथ पक्काशय को जाती है वह प्रतितूनी कहलाती है।

वक्तव्य—(२०९) तूनी और प्रतितूनी दो विशेष प्रकार की वेदनाओं के नाम हैं; रोगों के नहीं। इस प्रकार की वेदनायें मूत्राश्मरी तथा मूत्र संस्थान के अर्बुद, अन्तःस्फान आदि की दशाओं में मिलती हैं। कारण के अनुरूप अन्य लक्षण अवश्य मिलते हैं।

आध्मान और प्रत्याध्मान

साटोपमत्युग्ररुजमाध्मातमुदरं भृशम् ॥६८॥
आध्मानमिति तं विद्याद्घोरं वातनिरोधजम्।
विमुक्तपार्श्वहृदयं तदेवामाशयोत्थितम् ॥६९॥
प्रत्याध्मानं विजानीयात्कफव्याकुलितानिलम्।

गुड़गुड़ाहट और अति दारुण पीड़ा के साथ अत्यन्त फूले हुए उदर को वायु की रुकावट से उत्पन्न आध्मान नामक भयंकर रोग समझना चाहिये। जब वही पार्श्वों और हृदय को छोड़कर केवल आमाशय में स्थित हो तब उसे कफ प्रकोप से मार्गभ्रष्ट वायु के द्वारा उत्पन्न प्रत्याध्मान नामक रोग समझना चाहिये।

वक्तव्य—(२१०) ये दोनों विकार वातज अजीर्ण से अथवा पाश्चात्य मतानुसार अजीर्ण से उत्पन्न वात (गैस) से होते हैं। आध्मान (Tympanitis) की दशा में पूरा उदर इतना अधिक फूलता है कि हृदय आदि पर भी दबाव पड़ता है। प्रत्याध्मान केवल आमाशय का आध्मान अर्थात् तीव्र आमाशय विस्फार (Acute dilatation of the stomach) है।

पाश्चात्य मत—

आमाशय विस्फार अथवा प्रत्याध्मान (Dilatation of the stomach)।

तीव्र प्रकार—उदर के शल्य-कर्मों के बाद संज्ञाहर द्रव्यों के दुष्प्रभाव से; मेरुदण्ड, मस्तक अथवा शाखाओं में जोरदार अभिघात लगने से एवं फुफ्फुस खण्ड प्रदाह सरीखे तीव्र उपसर्गों से कभी कभी आमाशय एकाएक अत्यधिक प्रसारित हो जाता है। इससे गहरे बादामी अथवा काले रंग का रक्त मिश्रित वमन होता है और उदर अत्यधिक फूल जाता है। उदर में भारीपन, तनाव एवं पीड़ा; अरुचि, शीतल प्रस्वेद, द्रुत एवं मृदु नाड़ी, चिपका हुआ चेहरा आदि लक्षण होते हैं। विस्फारित आमाशय में बहुत बड़ी मात्रा में द्रव पदार्थ भरा रहता है जिससे ठेपण करने पर लहर का अनुभव होता है। यह रोग अधिकतर घातक होता है

चिरकारी प्रकार—चिरकारी प्रदाह, व्रण, अर्बुद आदि से आमाशय के पश्चिम मुद्रका द्वार में समय

समय पर संकोच होते रहने एवं आमाशय की दीवारें दुर्बल हो जाने से क्रमशः आमाशय की पेशियां प्रसारित हो जाती हैं। इससे अजीर्ण के सामान्य लक्षण उत्पन्न होते हैं। निदान क्ष-किरण चित्र से होता है।

अष्ठीला और प्रत्यष्ठीला

नाभेरधस्तात्संजातः संचारी यदि वाऽचलः ।।७०।।
अष्ठीलावद्धनो ग्रन्थिरूर्ध्वमायत उन्नतः ।
वाताष्ठीलां विजानीयाद्बहिर्मार्गविरोधिनीम् ।।७१।।
एतामेव रुजोपेतां वातविण्मूत्ररोधिनीम् ।
प्रत्यष्ठीलामिति वदेज्जठरे तिर्यगुत्थिताम् ।।७२।।

नाभि के नीचे के भाग में उत्पन्न चलायमान अथवा अचल अष्ठीला (सिल का बट्टा या लोढ़ा) के समान कठोर ग्रन्थि जो ऊपर की ओर चौड़ी एवं उभरी हुई हो तथा वायु मल-मूत्र के मार्गों का अवरोध करती हो उसे वाताष्ठीला (अथवा अष्ठीला) जानना चाहिये।

यही वायु-मल-मूत्र का अवरोध करने वाली ग्रन्थि पीड़ा-युक्त और उदर में तिरछी उभरी हुई होने पर प्रत्यष्ठीला कहलाती है।

वक्तव्य—(२११) आगे मूत्राघात प्रकरण में अष्ठीला को एक प्रकार का मूत्राघात माना गया है। वहां उसका वर्णन इस प्रकार है—

आध्मायन्बस्तिगुदं रुद्ध्वा वायुश्चलोन्नताम् ।
कुर्यात्तीव्रार्तिमष्ठीलां मूत्रविण्मार्गरोधिनीम् ।।

अर्थात, 'वायु वस्ति और गुदा को अवरुद्ध करके एवं फुला कर चलायमान और उभरी हुई अष्ठीला नामक मल-मूत्र के मार्ग को रोकने वाली तीव्र पीड़ा उत्पन्न करता है।'

इस सब से यह निष्कर्ष निकलता है कि इस रोग में मूत्र-मार्ग और गुदा की संकोचिनी पेशियों का स्तंभिक संकोच होकर मूत्राशय और मलाशय फूल जाते हैं— संकोचिनी पेशियों का स्तंभिक संकोच (*Spasmodic stricture of the sphincters*)। यदि मूत्राशय अधिक फूलता है तो वह नाभि के नीचे आड़ा उभार उत्पन्न करता है जिसे अष्ठीला कहा है। किंतु यदि मलाशय और अवग्रहान्त्र अधिक फूलते हैं तो तिरछा उभार उत्पन्न होता है जिसे प्रत्यष्ठीला कहा है। वस्तुतः रोग एक ही है किंतु किसी मामले में मूत्राशय अधिक फूलता है तो किसी में मलाशय अधिक फूलता है। संकोचिनी पेशियों का स्तंभिक संकोच, स्तंभिक अधरांगघात (*spastic Paraplegia*) अथवा अश्मरी, अर्बुद, व्रण आदि के द्वारा प्रक्षोभ होने से होता है। अष्ठीला•ग्रंथि (पौरुष-ग्रंथि, *Prostate Gland*) की वृद्धि हो जाने पर भी इसी प्रकार मल-मूत्रावरोध होकर मूत्राशय एवं मलाशय फूलते हैं।

अनेक विद्वानों ने अष्ठीला को पौरुष-ग्रंथि-वृद्धि (*Enlargement of the Prostate Gland*) माना है। किंतु यह व्याधि के केवल एक ही प्रकार का बोधक होने के कारण उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। 'गुदा और मूत्र-मार्ग की संकोचिनी पेशियों का स्तंभिक संकोच' (*spasmodic stricture of the Anal and Renal sphincters*) ही अष्ठीला और प्रत्यष्ठीला का उचित पर्याय है। यह वात रोग भी है इसलिये और भी अधिक उपयुक्त है।

मूत्र-प्रवृत्ति पर वात का प्रभाव

मारुतेऽनुगुणे वस्तौ मूत्रं सम्यक् प्रवर्तते।
विकारा विविधाश्चात्र प्रतिलोमे भवन्ति च ।।७३।।

वायु अनुलोम रहने पर बस्ति में से मूत्र-प्रवृत्ति भली-भांति होती है और वायु प्रतिलोम होने पर मूत्र प्रवृत्ति में अनेक प्रकार के विचार उत्पन्न होते हैं।

•*Prostate Gland* के लिये हिन्दी में विद्वानों ने दो नाम स्वीकार किये हैं—पौरुष-ग्रंथि और अष्ठीला ग्रंथि वास्तव में इनमें से किसी को भी पूर्णतया उपयुक्त नहीं कहा जा सकता तथापि कोई न कोई नाम तो स्वीकार करना ही पड़ेगा इसलिये मैंने दोनों का समान रूप से प्रयोग किया है।

वेपथु-वात अथवा कम्पवात

सर्वाङ्गकम्पः शिरसो वायुर्वेपथुसंज्ञकः ।

सारे शरीर का कांपना अथवा सिर का कांपना वेपथु नामक वातरोग है ।

पाश्चात्य मत —

कम्पवात, वेपथुवात अथवा वेपथुमत् अंगघात या पार्किन्सन का रोग (Paralysis Agitans, Shaking Palsey or Parkinson's Disease)—यह रोग अधिकतर ५० वर्ष से अधिक आयु के पुरुषों में पाया जाता है । किसी अज्ञात कारण से राजील पिण्ड (Corpus Striatum) के चेष्टावह कोषों का अपजनन होने से इसकी उत्पत्ति होती है ।

इस रोग के लक्षणों का विकास अत्यन्त धीरे-धीरे एवं गुप्त रूप से होता है । प्रारम्भ में रोगी एक हाथ और चेहरे में किंचित् कठोरता और कम्प का अनुभव करता है, सामान्य क्रियायें कुछ रुकावट एवं विलम्ब के साथ होती हैं । फिर यह विकार उत्तरोत्तर बढ़कर सारे शरीर में फैल जाता है । चेहरा भावहीन हो जाता है और वाणी का उतार चढ़ाव नष्ट हो जाता है, स्वर हरएक दशा में एकसा रहता है । पलक झपकने की क्रिया बन्द हो जाती है और गर्दन घुमाई नहीं जा सकती । रोगी सीधा तन कर नहीं खड़ा होता, मेरु दण्ड, हाथ और पैर झुके हुए रहते हैं । पेशियां कमजोर एवं सुस्त हो जाती हैं, कोई भी कार्य धीरे एवं अड़चन के साथ होता है । अंगुलियां कठोर हो जाती हैं जिससे रोगी कठिनाई से लिख पाता है, लिखते समय हाथ कांपता है और अक्षर एक सीध में नहीं लिखे जा पाते । सारे शरीर में कठोरता व्याप्त रहती है जो किसी भी शाखा को पकड़ कर संधि पर झुकाने (या प्रसारित करने) में स्पष्ट लक्षित होती है–प्रारम्भ में वह अंग नहीं झुकता किन्तु फिर झटकों के साथ थोड़ा थोड़ा करके धीरे-धीरे झुक जाता है जैसे किसी कांटे-दार चक्के से सम्बन्धित पुर्जा धीरे धीरे एक एक कांटे को छोड़ता हुआ झुकता है । रोगी की चाल विशेष प्रकार की हो जाती है, वह छोटे छोटे कदम रखता हुआ सरकता सा चलता है । यदि उसे धक्का दे दिया जावे तो वह सम्हल नहीं पाता जिस ओर से धक्का दिया गया हो उसकी विपरीत दिशा में दौड़ता हुआ सा किसी चीज को पकड़कर सम्हल जाता है अथवा यदि पकड़ने योग्य कोई चीज न हो तो गिर पड़ता है ।

सारा शरीर हर समय कांपता रहता है, काम करते समय कम्प बढ़ जाते हैं और सोते समय शांत हो जाते हैं किन्तु रोग अत्यन्त बढ़ चुकने पर सोते समय भी कम्प चालू रह सकते हैं । जिन भागों में कठोरता कम रहती है उनमें ये कम्प अधिक स्पष्ट लक्षित होते हैं । इन्हें रोकना रोगी के वश में नहीं रहता । ये कम्प क्रमबद्ध करते हैं अर्थात् एक तरफ के अंग से उत्पन्न होने के बाद दूसरे तरफ के अंग में उत्पन्न होते हैं । एक सेकेण्ड में ४ से ७ तक कम्प आते हैं तथा कम्प के कारण अंग अपने स्थान से ३/४ इञ्च से अधिक नहीं हटता । हाथों का कम्प इस प्रकार होता है जैसे रोगी गोलियां बना रहा है ।

रोगी अत्यन्त मन्द गति से प्रगति करता हुआ १०-१५ वर्षों में प्राणान्त कर देता है । यदि ५० वर्ष की आयु के पूर्व यह रोग प्रकट हो तो अपेक्षाकृत शीघ्र मारक होता है ।

खल्ली

खल्ली तु पादजङ्घोरुकरमूलावमोटनी ॥७४।

पैर, पिण्डली, जांघ और कलाई में ऐंठन उत्पन्न करने वाला रोग खल्ली कहलाता है ।

वक्तव्य—(२१२) यह एक प्रकार पीड़ायुक्त उद्वेष्ठन है जिसे पाश्चात्य विद्वान, क्रैम्प (Cramp) कहते हैं । इसकी उत्पत्ति अधिक परिश्रम करने, एक आसन में देर तक रहने अथवा शीत लग जाने से होती है । दुर्बल एवं वातरक्त (Gout) के रोगियों में यह प्रायः अधिक पाया जाता है ।

ऊर्ध्ववात

(अधः प्रतिहतो वायुः श्लेष्मणा मारुतेन वा ।
करोत्युद्गारबाहुल्यमूर्ध्ववातः स उच्यते ॥७५॥)

(कफ अथवा वायु के द्वारा प्रतिलोम की गयी अपान वायु अत्यधिक डकारें उत्पन्न करती है—इसे ऊर्ध्ववात कहते हैं ।)

अन्य वातरोग

स्थाननामानुरूपैश्च लिंगैः शेषान्विनिर्दिशेत् ।
सर्वेष्वेतेषु संसर्गं पित्ताद्यैरुपलक्षयेत् ॥७६॥

अन्य व्याधियों का निर्देश उनके स्थान और नाम के अनुरूप लक्षणों से करना चाहिये । इन सब में पित्त आदि के संसर्ग पर भी विचार करना चाहिये ।

वक्तव्य—(२१३) जैसे कुक्षि-शूल से कुक्षि में वात से होने वाली शूलवत् पीड़ा का बोध करना चाहिये; यदि उसके साथ दाह, तृष्णा आदि पित्तज लक्षण भी हों तो पित्त का भी संसर्ग समझना चाहिये । इसी प्रकार अन्य सभी वातज रोगों को समझना चाहिये ।

वात–व्याधियों की साध्यासाध्यता

हनुस्तम्भार्दिताक्षेपपक्षाघातापतानकाः ।
कालेन महता वाता यत्नात्सिध्यन्ति वा न वा ॥७७॥
नरान् बलवतस्त्वेतान् साधयेन्निरुपद्रवान् ।

हनुःस्तंभ, अर्दित, आक्षेप, पक्षाघात एवं अपतानक ये वातरोग यत्न करने से दीर्घकाल में सिद्ध होते हैं अथवा नहीं भी होते । बलवान् रोगियों के ये रोग यदि उपद्रव रहित हों तो चिकित्सा करनी चाहिये ।

विसर्पदाहरुक्सङ्गमूर्च्छारुच्यग्निमार्दवैः ॥७८॥
क्षीणमांसबलं वाताऽघ्नन्ति पक्षवधादयः ।
शूनं सुप्तत्वचं भग्नं कम्पाध्माननिपीडितम् ।
रुजार्तिमन्तं च नरं वातव्याधिर्विनाशयेत् ॥७९॥

विसर्प रोग (अथवा विसर्पण—अङ्गविशेष में उत्पन्न हुए रोग का अन्य अङ्गों में फैलना), दाह, पीड़ा, अवरोध (अङ्गों की क्रियाओं का अवरोध अथवा मल मूत्रावरोध), मूर्च्छा, अरुचि, अजीर्ण आदि से बल-मांस का क्षय हो चुकने पर पक्षवध आदि वात रोग रोगी को मार डालते हैं।

शोथ, त्वचा में सुप्तता (स्पर्शज्ञान का अभाव, संज्ञाहीनता), भग्न (अस्थिभग्न), कम्प एवं अतिसार से पीड़ित तथा तीव्र पीड़ा से व्याकुल मनुष्य की वातव्याधि मार डालती है ।

प्रकृतिस्थ वायु के लक्षण

अव्याहतगतिर्यस्य स्थानस्थः प्रकृतिस्थितः ।
वायुः स्यात्सोऽधिकं जीवेद्वीतरोगः समाः शतम् ॥८०॥

जिस मनुष्य के शरीर में वायु की गति में कहीं अवरोध न हो तथा वायु अपने स्थान में एवं प्रकृति के अनुरूप (सम मात्रा में, न कम और न अधिक) स्थित हो वह निरोग रहता हुआ सौ वर्ष से अधिक जीता है ।

: २३ :

वातरक्त

हेतु

लवणाम्लकटुक्षारस्निग्धोष्णाजीर्णभोजनैः ।
क्लिन्नशुष्काम्बुजानूपमांसपिण्याकमूलकैः ॥१॥
कुलत्थमाषनिष्पावशाकादिपललेक्षुभिः ।
दध्यारनालसौवीरशुक्ततक्रसुरासवैः ॥२॥
विरुद्धाध्यशनक्रोधदिवास्वप्नप्रजागरैः ।
प्रायशः सुकुमाराणां मिथ्याहारविहारिणाम् ।
स्थूलानां सुखिनां चापि कुप्यते वातशोणितम् ॥३॥

नमकीन, खट्टे, चरपरे, क्षार-युक्त (पापड़ आदि) स्निग्ध, गरम एवं भलीभांति न पकाया हुआ भोजन, सड़े-गले एवं सूखे जलज (मत्स्य आदि) एवं आनूप जीवों के मांस, पिसी हुई तिली (अथवा तिली की खली); मूली (अथवा मूल-शाक जैसे आलू, अरबी, सूरन, शकरकन्द, शलगम आदि); कुलथी, उड़द, सेम का शाक आदि

(आदि से अन्य द्विदल धान्यों की ओर संकेत है); मांस, गन्ना (तथा गन्ने से बने हुए गुड़ आदि पदार्थ), दही, आरनाल, सौवीर, शुक्त (सिरका), मठा, सुरा एवं आसव; विरुद्ध भोजन, अजीर्ण की दशा में भोजन, क्रोध, दिन में सोना एवं रात्रि में जागना—इन कारणों से सुकुमार, मिथ्या आहार-विहार करने वाले, मोटे और आराम से रहने वाले लोगों को वात-रक्त कुपित होता है।

वक्तव्य—(२१४) 'रक्तगत वात' और 'वातरक्त' में महान् अन्तर है। जब कुपित वायु रक्त में आश्रित होता है तब उसे रक्तगत वात कहते हैं किन्तु जब वायु के साथ साथ रक्त भी कुपित हो जाता है तब इसे वातरक्त कहते हैं। निदानादि में वातरोगों में भिन्न होने के कारण इसका वर्णन पृथक अध्याय में किया गया है।

सम्प्राप्ति

हस्त्यश्वोष्ट्रैर्गच्छतश्चाश्नतश्च
विदाह्यन्नं स विदाहोऽशनस्य।
कृत्स्नं रक्तं विदहत्याशु तच्च
स्रस्तं दुष्टं पादयोश्चीयते तु।
तत्संपृक्तं वायुना दूषितेन
तत्प्राबल्यादुच्यते वातरक्तम् ॥४॥

हाथी, घोड़े एवं ऊंट की सवारी करने और विदाही अन्न का सेवन करने से अन्न का विदाह समस्त रक्त को शीघ्र ही विदग्ध (कुपित) कर देता है और वह दुष्ट रक्त नीचे की ओर चलकर दोनों पैरों में संचित होता है तथा दूषित वायु से मिल जाता है। वायु की प्रबलता के कारण यह रोग वातरक्त कहलाता है।

वक्तव्य—(२१५) विदाही अन्न का विदाह होने से रक्त कुपित होता है और हाथी आदि पर यात्रा करने से वायु कुपित होता है। लम्बे समय तक एक ही आसन से बैठे रहने के कारण रक्त का परिभ्रमण भलीभांति नहीं हो पाता जिससे दूषित रक्त पैरों में एकत्र होकर रोगोत्पत्ति करता है। हाथी घोड़े आदि की यात्रा ही इसकी उत्पत्ति के लिए नितान्त आवश्यक हो ऐसी बात नहीं है; दिन भर गद्दी आदि पर आराम से बैठने वाले भी इससे आक्रान्त होते हैं क्योंकि लगातार बैठे रहने से दूषित रक्त पैरों में रुकता है।

सामान्यतः यह रोग पैरों से आरम्भ होकर फिर अन्य अंगों में होता है किन्तु कुछ मामलों में हाथों से आरम्भ होता है।

पूर्वरूप

स्वेदोऽत्यर्थं न वा कार्ष्ण्यं स्पर्शाज्ञत्वं क्षतेऽतिरुक्।
सन्धिशैथिल्यमालस्यं सदनं पिडकोद्गमः ॥५॥
जानुजङ्घोरुकट्यंसहस्तपादाङ्गसन्धिषु।
निस्तोदः स्फुरणं भेदो गुरुत्वं सुप्तिरेव च ॥६॥
कण्डूः सन्धिषु रुग्भूत्वा भूत्वा नश्यति चासकृत्।
वैवर्ण्यं मण्डलोत्पत्तिर्वातासृक्पूर्वलक्षणम् ॥७॥

स्वेद अत्यधिक आना अथवा बिलकुल न आना; श्यामता, स्पर्शज्ञान का अभाव, क्षत हो जाने पर अधिक पीड़ा होना, सन्धियों में शिथिलता, आलस्य, अवसाद, पिडिकाएं निकलना; घुटने, पिण्डली, जांघ, कमर, कन्धे, हाथ, पैर आदि अंगों की सन्धियों में, चुभन फड़कन, फटन, भारीपन, सुप्ति (संज्ञाहीनता) और खुजलाहट; सन्धियों में बारम्बार पीड़ा उत्पन्न होना और शांत होना; विवर्णता और मण्डलों की उत्पत्ति—ये वातरक्त के पूर्व लक्षण हैं।

दोषान्तर संसर्ग से लक्षण

वातेऽधिकेऽधिकं तत्र शूलस्फुरणभञ्जनम्।
शोथस्य रौक्ष्यं कृष्णत्वं श्यावतावृद्धिहानयः ॥८॥
धमन्यंगुलिसन्धीनां संकोचोऽङ्गग्रहोऽतिरुक्।
शीतद्वेषानुपशयौ स्तम्भवेपथुसुप्तयः ॥९॥
रक्ते शोथोऽतिरुक्तोदस्ताम्रश्चिमिचिमायते।
स्निग्धरूक्षैः शमं नैति कण्डूक्लेदसमन्वितः ॥१०॥
पित्ते विदाहः संमोहः स्वेदो मूर्च्छा मदः सतृट्।
स्पर्शासहत्वं रुग्रागः शोथः पाको भृशोष्मता ॥११॥
कफे स्तैमित्यगुरुतासुप्तिस्निग्धत्वशीतताः।
कण्डूर्मन्दा च रुग्द्वन्द्वं सर्वलिङ्गं च संकरात् ॥१२॥

वात की अधिकता होने पर शूल, फड़कन एवं टूटने के समान पीड़ा अधिक होती है। शोथ में रूक्षता, कृष्णता

एवं श्यावता रहती तथा बढ़ने-घटने की प्रवृत्ति रहती है। अंगुलियों की सन्धियों की धमनियों का सुकुड़ जाना, अङ्ग का निष्क्रय हो जाना तथा अत्यन्त पीड़ा होती है। ठंडक अच्छी नहीं लगती और उससे रोग की वृद्धि भी होती है। स्तंभ, कम्प तथा प्रसुप्ति (स्थानिक संज्ञाहीनता) भी पाये जाते हैं।

रक्त की प्रबलता होने पर शोथ, अधिक पीड़ा और तोद से युक्त एवं ताम्रवर्ण होता है और उसमें चुनचुनाहट होती है, स्निग्ध अथवा रूक्ष उपचारों से शान्त नहीं होता तथा खुजलाहट और क्लेद (चिपकीला स्राव) से युक्त रहता है।

पित्त की प्रबलता होने पर दाह, सम्मोह, स्वेद, मूर्च्छा, मद और तृष्णा तथा शोथ में स्पर्श सहन न होना, पीड़ा, लाली; अत्यन्त उष्णता और पाक होते हैं।

कफ की प्रबलता होने पर अंग गीले वस्त्र से पोंछे हुए के समान प्रतीत होना, भारीपन, सुप्ति (स्पर्शज्ञान का अभाव), स्निग्धता, शीतलता, खुजलाहट एवं मन्द पीड़ा रहती है।

दो दोषों की प्रबलता में दोनों के लक्षण और सभी की प्रबलता में सब लक्षण मिलते हैं।

उत्पत्तिस्थान और प्रसार

पादयोर्मूलमास्थाय कदाचिद्धस्तयोरपि।
आखोर्विषमिव क्रुद्धं तद्देहमुपसर्पति ॥१३॥

पैरों के मूल में अथवा कभी-कभी हाथों में स्थित होकर फिर कुपित होकर चूहे के विष के समान शरीर में फैलता है।

साध्यासाध्यता

आजानु स्फुटितं यच्च प्रभिन्नं प्रस्रुतं च यत्।
उपद्रवैश्च यज्जुष्टं प्राणमांसक्षयादिभिः ॥१४॥
वातरक्तमसाध्यं स्याद्याप्यं संवत्सरोत्थितम्।
अस्वप्नारोचकश्वासमांसकोथशिरोग्रहाः ॥१५॥
संमूर्च्छामदरुक्तृष्णाज्वरमोहप्रवेपकाः।
हिक्कापाङ्गुल्यवीसर्पपाकतोदभ्रमक्लमाः ॥१६॥
अङ्गुलीवक्रतास्फोटदाहमर्मग्रहार्बुदाः।
एतैरुपद्रवैर्वर्ज्यं मोहेनैकेन वाऽपि यत् ॥१७॥
अकृत्स्नोपद्रवं याप्यं साध्यं स्यान्निरुपद्रवम्।
एकदोषानुगं साध्यं नवं याप्यं द्विदोषजम्।
त्रिदोषजमसाध्यं स्याद्यस्य च स्युरुपद्रवाः ॥१८॥

जो घुटने तक फैला हुआ हो, जो फटकर स्राव करने लगा हो और जो प्राणक्षय (क्षुद्रश्वास), मांसक्षय आदि उपद्रवों से युक्त हो वह वातरक्त असाध्य है। एक वर्ष पुराना वातरक्त याप्य है।

अनिद्रा, अरुचि, श्वासरोग, मांसकोथ (*Gangrene*), सिर में जकड़न, मूर्च्छा, मद, पीड़ा(सर्वांग में), तृष्णा, ज्वर, मोह, कम्प, हिक्का, पंगुत्व (लंगड़ापन), विसर्प, पाक, तोद (चुभन), भ्रम, क्लम, (अनायास थकावट), अंगुलियों में टेढ़ापन, फोड़ों की उत्पत्ति, दाह, मर्मस्थानों में जकड़ाहट युक्त पीड़ा तथा अर्बुद—इन उपद्रवों से युक्त अथवा केवल मूर्च्छा से युक्त वातरक्त रोग असाध्य है।

थोड़े उपद्रवों से युक्त वातरक्त याप्य है, उपद्रव रहित साध्य है, एक दोषज साध्य है, तथा द्विदोषज याप्य है, त्रिदोषज असाध्य है और उपद्रवयुक्त असाध्य है।

पाश्चात्य मत—

वातरक्त (Gout), गठिया—यह रोग समशीतोष्ण देशों में और प्रौढ़ व्यक्तियों में पाया जाता है। अधिकांश मामलों में इस रोग के वंशगत होने का इतिहास पाया जाता है। इसकी उत्पत्ति रक्त में मूत्राम्ल की मात्रा बढ़ जाने से होती है। स्वस्थ व्यक्ति के प्रति १०० सी.सी. रक्त में १ से ३ मिलीग्राम तक मूत्राम्ल पाया जाता है। इसकी प्राप्ति धातुओं के नित्य विनाश से और भोजन में से होती तथा अतिरिक्त मात्रा मूत्र के साथ निकलती रहती है। भोजन के कुछ विशेष पदार्थ जैसे पशुओं के यकृत, अग्न्याशय, वृक्क आदि; मछलियों के अण्डे, तेज शराब, चाय, काफी आदि के सेवन से अधिक मात्रा में मूत्राम्ल उत्पन्न होता है। जब किसी कारणवश यह अतिरिक्त मूत्राम्ल मूत्रमार्ग से नहीं निकल पाता और रक्त में

इसकी मात्रा प्रति १०० सी. सी. रक्त में ५ मिलीग्राम या अधिक हो जाती है तब वह क्रमशः क्षारातु द्विमूत्रेत (Sodium bi-urate)में परिवर्तित होकर संधियों में जमने लगता है। किसी अङ्ग में अभिघात लगना या हमेशा सम्पीड़न होते रहना, किसी स्थान में (मसूढ़े, तुण्डिका आदि में) हमेशा पूयोत्पत्ति होना, सीसे के कारखानों में काम करना, शीतल वातावरण में रहना आदि सहायक कारण हैं।

प्रारंभ में रोग का आक्रमण शीत ऋतु की किसी रात्रि में मध्यरात्रि के पश्चात् होता है। रोगी को किसी एक पैर या हाथ के पंजे में असह्य पीड़ा, जलन, चुभन, तनाव और कठोरता का अनुभव होता है। इसके साथ ही जाड़ा लगकर ज्वर आजाता है। सबेरा होते होते तक पीड़ा बहुत कम हो जाती है और ज्वर पसीना देकर उतर जाता है। पीड़ा युक्त स्थान पर थोड़ा शोथ आ जाता है। फिर थोड़े थोड़े दिनों के बाद अथवा प्रतिदिन रात्रि में इस प्रकार के आक्रमण होते हैं और शोथ क्रमशः बढ़ता जाता है तथा अन्य संधियों में भी उत्पन्न होता है। क्रमशः दोनों पैरों और दोनों हाथों के पंजे,गुल्फ,घुटने, कलाई और कोहनियों की संधियां आक्रान्त होजाती हैं। जमा हुआ क्षारातु-द्वि-मूत्रेत कंकड़ों के समान कठोर होजाता है और शल्य के समान प्रतिक्रिया करता है। शोथ कड़ा एवं स्थाई हो जाता है और संधियां निश्चल हो जाती हैं। धमनियों की दीवारों का अपजनन (धमनी जरठता) और हृदय के वाम निलय की परमपुष्टि होती है जिससे उच्चरक्तनिपीड़ (High Blood-Pressure, Hypertension) हो जाता है, फिर कुछ काल बाद हृदय का वामनिलय विस्फारित हो जाता है जिससे रक्तसंवहन क्रिया क्षीण होजाती है। वृक्कों में भी तन्तूत्कर्ष और संकोच (चिरकारी वृक्क-प्रदाह) हो जाता है।

अरुचि, अजीर्ण (कभी कभी तीव्र वमन और अतिसार भी) बेचैनी, चिड़चिड़ापन या अवसाद, श्वासकष्ट आदि लक्षण प्रायः सभी रोगियों में पाये जाते हैं; कुछ रोगियों में कान, चेहरे या गले के पिछले भाग में पामा (अपरस, (Eczema), सिरदर्द, सूर्यावर्त्त, गृध्रसी, नेत्र-तारामण्डल प्रदाह (Iritis) आदि उपद्रव भी पाये जाते हैं। कभी कभी शोथ के ऊपर की त्वचा फट जाती है और व्रण बन जाते हैं।

प्रारम्भिक आक्रमण के पूर्व रक्त में मूत्राम्ल की मात्रा ६ मि. ग्राम प्रति १०० सी. सी. के लगभग पायी जाती है। आक्रमण काल में मूत्र कम तथा गाढ़ा उतरता है और उसमें श्विति एवं निर्मोक अल्प मात्रा में पाये जाते हैं। तीव्रावस्था में रक्त में श्वेत-कायाणुओं की वृद्धि पायी जाती है। रोग पुराना होने पर क्ष-किरण चित्र में संधियों के आस पास जमाव स्पष्ट लक्षित होता है।

रोग अत्यन्त चिरकारी प्रकार का है। अत्यन्त धीरे धीरे बल-मांस का क्षय होकर दीर्घकाल में किसी अन्य रोग अथवा उपद्रव से मृत्यु होती है।

: २४ :

ऊरुस्तम्भ

निदान

शीतोष्णद्रवसंशुष्कगुरुस्निग्धैर्निषेवितैः ।
जीर्णाजीर्णे तथाऽऽयाससंक्षोभस्वप्नजागरैः ॥१॥

भोजन पचने पर अथवा अजीर्ण की दशा में शीतल, उष्ण, द्रव, सूखे, भारी, स्निग्ध पदार्थ खाने से तथा परिश्रम, क्षोभ, सोने एवं जागने से—

वक्तव्य—(२१६) इस ग्रंथ की परम्परा के अनुसार सभी निदानों के साथ 'अति' जोड़कर ही

अर्थ समझना चाहिये—यह बात पहले भी कई स्थानों पर कही जा चुकी है ।

सम्प्राप्ति

सश्लेष्ममेदः पवनः साममत्यर्थसंचितम् ।
अभिभूयेतरं दोषमूरू चेत्प्रतिपद्यते ॥२॥
सक्थ्यस्थिनी प्रपूर्यान्तः श्लेष्मणा स्तिमितेन च ।
तदा स्तम्नाति—

.. ...कफ, मेद और आम सहित वायु अत्यधिक मात्रा में संचित होकर अन्य दोषों को पराजित करके जांघों पर अधिकार कर लेती है और जांघों की अस्थियों को स्तब्ध कफ से परिपूर्ण करके स्तंभित कर देती है ।

लक्षण

—तेनोरूस्तब्धौ शीतावचेतनौ ॥३॥
परकीयाविव गुरू स्यातामतिभृशव्यथौ ।
ध्यानाङ्गमर्दस्तैमित्यतन्द्राच्छर्द्यरुचिज्वरैः ॥४॥
संयुक्तौ पादसदनकृच्छ्रोद्धरणसुप्तिभिः ।
तमूरुस्तम्भमित्याहुराढ्यवातमथापरे ॥५॥

इससे दोनों जांघें स्तब्ध, शीतल, अचेतन, परायी के समान, भारी और अत्यधिक पीड़ायुक्त हो जाती हैं। इसके साथ ही चिन्ता, अङ्गों में पीड़ा, शरीर गीले कपड़े से पोंछा हुआ के समान प्रतीत होना, तन्द्रा, वमन, अरुचि एवं ज्वर भी रहते हैं। पैरों में अवसाद एवं सुप्ति रहती है तथा उठाने में कठिनाई होती है। इस रोग को उरुस्तम्भ कहते हैं; दूसरे आढ्यवात भी कहते हैं ।

पूर्वरूप

प्राग्रूपं तस्य निद्राऽतिध्यानं स्तिमितता ज्वरः ।
रोमहर्षोऽरुचिश्छर्दिर्जङ्घोर्वोः सदनं तथा ॥६॥

इसके पूर्वरूप निद्रा की अधिकता, चिन्ता, शरीर गीले कपड़े से पोंछे हुए के समान अनुभव होना, ज्वर, रोमहर्ष, अरुचि, वमन तथा पिण्डलियों और जांघों में अवसाद हैं।

रूप एवं अनपशय

वातशङ्किभिरज्ञानात्तस्य स्यात्स्नेहनात्पुनः ।
पादयोः सदनं सुप्तिः कृच्छ्रादुद्धरणं तथा ॥७॥
जङ्घोरुग्लानिरत्यर्थं शश्वच्चादाहवेदने ।
पादं च व्यथते न्यस्तं शीतस्पर्शं न वेत्ति च ॥८॥
संस्थाने पीडने गत्यां चालने चाप्यनीश्वरः ।
अन्यस्येव हि संभग्नावूरू पादौ च मन्यते ॥९॥

फिर अज्ञानवश वात की शंका करने वालों के द्वारा उसका स्नेहन किया जाने पर पैरों में अवसाद और सुप्ति हो जाती है तथा पैर मुश्किल से उठते हैं; पिण्डलियों और जांघों में अत्यधिक दुर्बलता उत्पन्न हो जाती है तथा हमेशा दाह और पीड़ा होती है । पैर रखा रहने पर भी पीड़ा करता है और शीतल स्पर्श का ज्ञान नहीं होता । रोगी खड़े होने, पैरों से किसी वस्तु को दबाने, चलने तथा पैर हिलाने में भी असमर्थ हो जाता है तथा जांघों और पैरों को टूटे हुए के समान अथवा पराये के समान मानता है ।

साध्यासाध्यता

यदा दाहार्तितोदार्तो वेपनः पुरुषो भवेत् ।
ऊरुस्तम्भस्तदा हन्यात्साधयेदन्यथा नवम् ॥१०॥

जब रोगी दाह, पीड़ा और तोद से अत्यन्त व्याकुल हो जाने और कांपने लगे तब उरुस्तम्भ मृत्युकारक हो सकता है। इसके विपरीत एवं नया होने पर चिकित्सा करनी चाहिये ।

वक्तव्य—(२१७) यह उरुस्तम्भ रोग वस्तुतः एक प्रकार का स्तम्भिक अधरांगघात (*Spastic Paraplegia*) ही है । इसकी विशेषता यह है कि जहां स्नेहन, स्वेदन आदि से अन्य प्रकार के अङ्गघातों में लाभ होता है वहां इसमें हानि होती है । पाश्चात्य मत के लिये अधरांगघात का विवेचन अध्याय २२ में देखें ।

: २५ :

आमवात

आम के निदान और रोगोत्पादकत्व

विरुद्धाहारचेष्टस्य मदाग्नेर्निश्चलस्य च।
स्निग्धं भुक्तवतो ह्यन्नं व्यायामं कुर्वतस्तथा ॥१॥
वायुना प्रेरितो ह्यामः श्लेष्मस्थानं प्रधावति।
तेनात्यर्थं विदग्धोऽसौ धमनीः प्रतिपद्यते ॥२॥
वातपित्तकफैर्भूयो दूषितः सोऽन्नजो रसः।
स्रोतांस्यभिष्यन्दयति नानावर्णोऽतिपिच्छिलः ॥३॥
जनयत्याशु दौर्बल्यं गौरवं हृदयस्य च।
व्याधीनामाश्रयो ह्येष आमसंज्ञोऽतिदारुणः ॥४॥

विरुद्ध आहार-विहार करने वाले, मन्द अग्नि वाले और निश्चेष्ट व्यक्तियों का तथा स्निग्ध भोजन और व्यायाम करने वालों का आम (आमरस) वायु के द्वारा प्रेरित होकर कफ के स्थान (सन्धि, आमाशय, उर, कण्ठ एवं सिर) में जाता है तथा उससे और भी अधिक कुपित होकर वह धमनियों में पहुँचता है। वात, पित्त और कफ से अत्यन्त दूषित वह अन्न का रस अनेक वर्णों वाला एवं अत्यन्त पिच्छिल हो जाता है, स्रोतों में भर जाता है और शीघ्र ही दुर्बलता तथा हृदय में भारीपन उत्पन्न करता है। यह आम नामक पदार्थ का आश्रय (शरणदाता, पोषक) है तथा अत्यन्त भयङ्कर है।

आमवात की सम्प्राप्ति एवं निरुक्ति

युगपत्कुपितावन्तस्त्रिकसन्धिप्रवेशकौ ।
स्तब्धं च कुरुतो गात्रमामवातः स उच्यते ॥५॥

दोनों (आम और वात) एक साथ कुपित होकर कोष्ठ, त्रिक् (कमर) और संधियों में प्रवेश करते हैं और शरीर को स्तब्ध कर देते हैं इस लिये यह रोग आमवात कहलाता है।

वक्तव्य—(२१८) अपक्व रस आम कहलाता है। दोषों की समता रहने पर यह आम क्रमशः पाचित होकर रस बन जाता है किन्तु विरुद्ध आहार विहार आदि से दोषों का प्रकोप होने पर यह आम विदग्ध होकर रोगोत्पत्ति करता है। वस्तुतः कुपित दोष ही आम का प्रकोप करके रोगोत्पत्ति करते हैं इस लिए रोगोत्पत्ति के लिए दोष ही जिम्मेवार हैं तथापि, चूंकि आम के साथ होने पर लक्षणों में बहुत कुछ विभिन्नता आजाती है इसलिए आम को भी महत्व देना आवश्यक हो जाता है।

कई विद्वान् प्रवाहिका (पेचिश) में निकलने वाले पिच्छिल पदार्थ को आम कहते हैं—यह भ्रमपूर्ण एवं आयुर्वेद-विरुद्ध है। वह पदार्थ आम नहीं, कफ है—इसका विवेचन प्रवाहिका प्रकरण में किया जा चुका है।

पाश्चात्य विद्वान् आम को नहीं मानते किन्तु यह अवश्य स्वीकार करते हैं कि अजीर्ण, मलावरोध आदि दशाओं में भोजन आन्त्र में सड़ता है और उसमें उत्पन्न होने वाले अनेक विषैले पदार्थ आंतों द्वारा चूषित होकर रक्त में मिलते तथा सिरदर्द, भारीपन, सुस्ती, अरुचि, जिह्वा-मालिन्य, शक्तिहीनता, विवर्णता, स्फोट आदि लक्षण उत्पन्न करते हैं। इन विषैले पदार्थों से आमवात की उत्पत्ति भी वे स्वीकार नहीं करते।

सामान्य लक्षण

अङ्गमर्दोऽरुचिस्तृष्णा ह्यालस्यं गौरवं ज्वरः।
अपाकः शूनताऽङ्गानामामवातस्य लक्षणम् ॥६॥

अङ्गों में पीड़ा, अरुचि, तृष्णा, आलस्य, भारीपन, ज्वर, अजीर्ण और अङ्गों में शोथ—ये आमवात के लक्षण हैं।

अतिवृद्ध आमवात के लक्षण

स कष्टः सर्वरोगाणां यदा प्रकुपितो भवेत्।
हस्तपादशिरोगुल्फत्रिकजानूरुसन्धिषु ॥७॥

करोति सरुजं शोथं यत्र दोषः प्रपद्यते ।
स देशो रुज्यतेऽत्यर्थं व्याविद्ध इव वृश्चिकैः ॥८॥
जनयेत्सोऽग्निदौर्बल्यं प्रसेकारुचिगौरवम् ।
उत्साहहानिं वैरस्यं दाहं च बहुमूत्रताम् ॥९॥
कुक्षौ कठिनतां शूलं तथा निद्राविपर्ययम् ।
तृट्छर्दिभ्रममूर्च्छाश्च हृद्ग्रहं विड्विबद्धताम् ।
जाड्यान्त्रकूजमानाहं कष्टांश्चान्यानुपद्रवान् ॥१०॥

जब आमवात कुपित होता है तब वह सब रोगों से अधिक कष्टप्रद होता है । हाथ, पैर, सिर, गुल्फ (टखना), कमर, घुटने और जांघ की संधियों में जहां भी दोष स्थित हो जाता है वहीं पीड़ा युक्त शोथ उत्पन्न करता है, उस भाग में बिच्छुओं के काटे हुए के समान अत्यधिक पीड़ा होती है । यह रोग अग्निदौर्बल्य, लालास्राव, अरुचि, भारीपन, उत्साह की कमी, स्वाद-विकृति, दाह, बहुमूत्र, कुक्षि में कठोरता और शूल, निद्राविपर्यय (दिन में निद्रा आना और रात्रि में न आना), तृष्णा, वमन, मूर्च्छा, हृदय में जकड़न (अथवा मन्दहृदयता), मलावरोध, जड़ता (अकर्मण्यता), आंतों में गुड़गुड़ाहट, आनाह तथा अन्य बहुत से कष्टप्रद उपद्रव उत्पन्न करता है ।

दोषानुबन्ध से आमवात के लक्षण

पित्तात्सदाहरागं च सशूलं पवनानुगम् ।
स्तिमितं गुरुकण्डूं च कफदुष्टं तमादिशेत् ॥११॥

दाह और लालिमा युक्त होने पर पित्तज, शूलयुक्त होने पर वातज और स्तिमित (गीले वस्त्र से पोंछे हुए के समान अनुभव होने वाला) भारी एवं खुजलाहट युक्त होने पर कफज कहना चाहिये ।

साध्यासाध्यता

एकदोषानुगः साध्यो द्विदोषो याप्य उच्यते ।
सर्वदेहचरः शोथः स कृच्छ्रः सान्निपातिकः ॥१२॥

एक दोषज आमवात साध्य है, द्विदोषज याप्य है तथा जिस आमवात का शोथ सारे शरीर में चलता हो वह और सन्निपातज आमवात कृच्छ्र साध्य हैं ।

वक्तव्य—(२१९) बहुत मामलों में एक संधि का शोथ शान्त होते ही दूसरी संधि में शोथ उत्पन्न होजाता है—इसे ही 'सर्वदेहचरः शोथः' कहा है ।

पाश्चात्य मत —

(१) आमवातिक ज्वर (*Rheumatic fever*)—

यह एक तीव्र संक्रामक रोग है जो समशीतोष्ण कटिबन्ध के शीत प्रधान देशों में महामारी के रूप में फैलता है, भारत में भी कभी कभी पाया जाता है । उत्पादक जीवाणु अज्ञात है; संभवतः शोणांशी मालागोलाणु (*Streptococcus haemolyticus*) हो । अत्यन्त छोटे शिशुओं और अत्यन्त बूढ़ों को छोड़कर शेष सभी प्रकार के व्यक्ति समान रूप से आक्रान्त होते हैं किन्तु बालक और नवयुवक अधिक। एक बार आक्रान्त हो चुकने पर क्षमता की उत्पत्ति नहीं होती अपितु पुनः आक्रान्त होने की संभावना हो जाती है और पुनराक्रमण भी अधिक हुआ करते हैं । इस रोग से बालकों और वयस्कों में उत्पन्न होने वाले लक्षणों में पर्याप्त विभिन्नता रहती है इस लिये दोनों का वर्णन पृथक् पृथक् किया जाता है ।

अ—वयस्कीय प्रकार (*Adult type*)-रोग का आक्रमण अकस्मात् होता है । जाड़ा लगकर साधारण तीव्र ज्वर (१०२°-१०३°) आता है जो संतत या अनियमित अर्धविसर्गी प्रकार से रहता है । ज्वर आने के लगभग साथ ही किसी एक बड़ी सन्धि अधिकतर घुटने या गुल्फ (टखने) में पीड़ायुक्त शोथ हो जाता है और फिर क्रमशः अन्य कई सन्धियों में शोथ होता है । शोथ लाल एवं अत्यधिक पीड़ायुक्त होता है तथा सन्धि को अचल कर देता है; सन्धि में तरल पदार्थ का भराव पाया जाता है । लगभग १-२ सप्ताहों में ज्वर उतरता है और संधियों का शोथ भी शान्त हो जाता है । परन्तु कुछ ही समय बाद दुबारा ज्वर आता है और नयी सन्धियों में शोथ उत्पन्न होता है । इस प्रकार बारम्बार आक्रमण करता हुआ यह नयी नयी संधियों को आक्रान्त करता है-सर्वदेहचर शोथ (*Migratory polyarthritis*) । जिह्वा मलावृत रहती है और दस्त साफ नहीं आता । मूत्र की मात्रा घट जाती

है तथा वर्ण गहरा पीला हो जाता है। पसीना अधिक आता है और उसमें खट्टी गन्ध (निदानात्मक) पायी जाती है। अधिकांश मामलों में तुण्डिका प्रदाह हो जाता है। रक्त में श्वेतकायाणूत्कर्ष लगभग २०००० प्रति घन मिलीमिटर पाया जाता है। अधिकांश मामलों में हृत्पेशी प्रदाह (*Myocarditis*) और लगभग आधे मामलों में अन्तर्हृत्प्रदाह (*Endocarditis*) हो जाता है जिसके फलस्वरूप हृदय हमेशा के लिये विस्फारित हो जाता है। हृदय विकार आठवें दिन के लगभग उत्पन्न होते हैं, इस समय ज्वर में थोड़ी वृद्धि होती है, नाड़ी मृदु और चपल हो जाती है।

रोग-शान्ति होकर स्वास्थ्य-प्राप्ति होने में काफी समय लगता है। सन्धि-विकार क्रमशः पूर्णतया अदृष्य हो जाते हैं किन्तु हृदय-विकार स्थायी रहते हैं। कुछ मामलों में परम ज्वर (*Hyperpyrexia*), फुफ्फुस-प्रदाह आदि मारक उपद्रव होते हैं और कुछ में हृदय-विकार मारक हो सकते हैं। सामान्य रोग मारक नहीं है।

ब—शैशवीय प्रकार (*Infantile type*)—ज्वर साधारण रहता है। प्रायः सन्धि-शोथ नहीं होता किन्तु सर्वांग में और विशेषतः पृशुकान्तरीय और औदरीय पेशियों में तीव्र पीड़ा होती है। हृदय-विकार विशेष रूप से प्रबल प्रकार के होते हैं। कपाल, कन्धे, कोहनी आदि पर छोटी छोटी पीड़ायुक्त ग्रन्थिकाएं (*Rheumatic nodules*)। कुछ मामलों में रक्तिम उद्भेद (लाल चकत्ते, *Erythematous spots*) और कुछ में रक्तस्रावी उद्भेद (त्वचागत रक्तपित्त, *Purpuric spots*) पाये जाते हैं। तुण्डिका प्रदाह (*Tonsillitis*) अधिकांश मामलों में पाया जाता है। पसीना अधिक निकलता है तथा उसमें खट्टी गन्ध आती है।

(२) आमवाताभ संधिप्रदाह अथवा चिरकारी संक्रामक संधि-प्रदाह (*Rheumatoid arthritis or chronic infectious arthritis*)—इस रोग में सन्धि के चिरकारी प्रदाह के साथ ही साथ वहां की अस्थियों का भी क्षय होता है। अधिकतर युवती अथवा प्रौढ़ा स्त्रियां आक्रान्त होती हैं। मूल कारण अज्ञात है तथापि निम्न कारणों को महत्व दिया जाता है—वंशगत-प्रवृत्ति, कमजोरी, मानसिक आघात, अभिघात, समवर्त के विकार (*Metabolic disorders*), तीव्र या चिरकारी (जननेन्द्रिय, मुख, नाक, कण्ठ, पित्ताशय, आंत्र आदि के चिरकारी रोग) उपसर्ग, आमवातिक ज्वर के आक्रमण का इतिहास।

स्वास्थ्य ठीक न रहना एवं कमजोरी दिन पर दिन बढ़ते जाना तथा अंगुलियों में पीड़ा होना पूर्वरूप हैं फिर ज्वर के बिना ही अथवा सामान्य ज्वर आकर मध्य की २-३ अंगुलियों के बीच की सन्धियों में शोथ होता है। फिर क्रमशः गुल्फ, घुटना, कोहनी, हनुसन्धि आदि पर भी आक्रमण होता है। प्रायः दोनों ओर की सन्धियां प्रभावित होती हैं। रोग समय समय पर घटता बढ़ता रहता है। काफी समय बीत चुकने पर तरुणास्थियां (*Cartilages*) नष्ट हो जाती हैं, अस्थियां कमजोर पड़ जाती हैं और घिस जाती हैं, सन्धि निष्क्रिय हो जाती है तथा आस पास की पेशियां अपुष्ट हो जाती हैं। अंगुलियां बाहर की ओर झुक जाती हैं। कुछ मामलों में प्लीहा, अवटुका (*Thyroid*) आदि ग्रन्थियों की वृद्धि होती है। कुछ मामलों में आमवातीय ग्रन्थिकाएें पायी जाती हैं। रक्त में श्वेतकायाणूत्कर्ष और उपवर्णिक रक्तक्षय पाया जाता है।

नया रोग साध्य है; पुराना होने पर सन्धि-विकार स्थायी हो जाते हैं।

स्टिल का रोग (*Still's disease*) अथवा बाल्य आमवाताभ सन्धि प्रदाह (*Infantile Rheumatoid arthritis*)—यह उक्त रोग का ही एक भेद है जो ५-७ वर्षीय बालकों में पाया जाता है। इसमें अंगुली, कलाई, कोहनी, गुल्फ, घुटने आदि की सन्धियां उक्त प्रकार से आक्रान्त होती हैं, ज्वर रहता है और

प्लीहा तथा लस-ग्रन्थियों की वृद्धि होती है। रोग समय समय पर घटता बढ़ता रहता है। रोगी अत्यन्त क्षीण हो जाता है और किसी अन्य रोग से मृत्यु हो जाती है। यदि जीवित रहा तो हमेशा के लिये अपंग हो जाता है।

(३) अस्थि-सन्धि प्रदाह अथवा संध्यस्थि प्रदाह (Osteo-arthritis) अस्थि-संध्युत्कर्ष (Osteo-arthrosis)या वैरूप्यकारी सन्धिप्रदाह (Arthritis Deformans)—यह वस्तुतः प्रदाह न होकर अपजनन है जो अत्यधिक परिश्रम, वार्धक्य, अभिघात या समवर्त की विकृति से होता है। अधिकतर वृद्ध या प्रौढ़ परिश्रमी एवं पुष्ट स्त्री-पुरुषों में यह रोग पाया गया है और प्रायः वे ही सन्धियां प्रभावित होती हैं जिनसे अधिक काम लिया जाता है। घुटने श्रोणि एवं अंगुलियों की तथा कभी कभी कन्धे एवं कमर की सन्धियां आक्रान्त होती हैं। प्रारम्भ में तरुणास्थि का नाश होता है फिर अस्थियां रगड़ खाकर घिसती हैं—रगड़ लगने वाले स्थान पर कठोर और घनीभूत होजाती हैं किन्तु अन्य भागों में क्षीण हो जाती हैं। अस्थियों के किनारों पर तरुणास्थि के कुछ भाग लटक आते हैं अस्थीभूत होकर कठोर उभार उत्पन्न करते हैं—वैरूप्य। कुछ मामलों में सन्धि की अस्थियां परस्पर फंसकर सन्धि को अचल कर देती हैं। आस पास की पेशियों का क्षय अत्यधिक होता है।

विशेष कष्ट नहीं रहता किन्तु परिश्रम करने से बढ़ सकता है और आराम करने से शांत भी हो जाता है। स्वास्थ्य पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता।

(४) वैरूप्यकारी मेरुदण्ड प्रदाह (spondylitis Deformans)—इसके दो भेद हैं।

(i) आमवाताभ प्रकार (Rheumatoid Type)- यह कभी कभी पुरुषों में पाया जाता है। कुछ मामलों में यह गुह्यगोलाणु (Gonococcus, पूयमेह उत्पादक जीवाणु) जन्य हो सकता है। रोग गुप्त रूप से प्रगति करता है। कशेरुका की संधियों का प्रदाह होता है, तरुणास्थियां घिस जाती हैं, स्नायु (Ligaments) अस्थीभूत हो जाते हैं और अस्थियों का क्षय होता है। प्रारम्भ में धड़ के ऊपरी भाग में पीड़ा और कड़ापन व्यक्त होता है, फिर स्थानिक पीड़ा स्पष्ट हो जाती है। मेरुदण्ड एक ओर को झुक जाता है। वातनाड़ियां प्रभावित होने से स्थानिक घात और सुषुम्ना प्रभावित होने से अधरांगघात की उत्पत्ति होती है।

(ii) अस्थि-संधि-प्रादाहिक प्रकार—(Osteo-arthritic Type) निदानादि अस्थि-संधि प्रदाह के समान हैं। अधिकतर ग्रैवेयक या कटीय कशेरुकाएं प्रभावित होती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मेरुदण्ड क्रमशः कठोर होता जाता है। स्थानिक पीड़ा हो सकती है। ग्रैवेयक कशेरुकाएं प्रभावित होने पर सिर, गले, कंधे और बाहु में पीड़ा होती है। कटीय कशेरुकाएं प्रभावित होने पर गृध्रसी रोग की उत्पत्ति होती है अथवा स्थानिक पीड़ा मात्र होती है।

(५) गुह्यगोलाणु-जन्य संधिप्रदाह (Gonococcal Arthritis)—पूयमेह की उत्पत्ति के लगभग ३ सप्ताह बाद इसकी उत्पत्ति हुआ करती है। अधिकतर घुटने की संधि आक्रान्त होती है। किन्तु कभी कभी गुल्फ, कलाई, हनु-कर्णास्थि, उर्वस्थि-अक्षकास्थि अथवा त्रिक-पुच्छास्थि की संधियां भी प्रभावित होती हैं। ज्वर आ जाता है और तीव्र पीड़ा होती है। संधि के बाहर और भीतर द्रव भर जाता है और स्थानिक अस्थ्यावरण और अस्थि तक का प्रदाह होता है। आस पास की पेशियों का अत्यधिक क्षय होता है और सन्धि में स्थाई निष्क्रियता उत्पन्न हो जाती है।

(६) फिरंगज संधि प्रदाह (Syphilitic Arthritis)-

(i) सहज फिरङ्ग जन्य—यह रोग फिरङ्ग पीड़ित माता-पिता की संतान में २ वर्ष की आयु के भीतर प्रकट होता है। आरम्भ तीव्र ज्वर के साथ होता है।

तथा अनेक सन्धियां प्रभावित होती हैं। द्वितीयक उपसर्ग के पाक हो सकता है। अस्थियां अत्यधिक प्रभावित होती हैं। सहज फिरङ्ग के अन्य लक्षण उपस्थित रहते हैं जिनसे निदान में सहायता मिलती है।

कभी कभी ५ से १५ वर्ष तक के बालकों में सहज फिरङ्ग के कारण पीड़ा रहित एवं सद्रव चिरकारी संधि प्रदाह पाया जाता है।

(ii) प्राप्त फिरंग जन्य—

(अ) द्वितीय अवस्था में अधिकतर दोनों घुटनों की संधियों का और कभी कभी अन्य संधियों का चिरकारी प्रदाह होता है। संधि में थोड़ा द्रव भर जाता है। पीड़ा काफी रहती है किन्तु सन्धि में स्थायी विकृति प्रायः नहीं होती। निदान फिरंग के इतिहास एवं रक्तपरीक्षा से होता है।

(ब) तृतीय अवस्था में अधिकतर एक घुटने या कभी कभी अन्य सन्धियों का गोलार्बुदीय अन्तर्भरण (Gummatous Infiltration) होता है। शोथ अत्यधिक होता है और धीरे धीरे बढ़ता रहता है किन्तु लाली नहीं रहती और पीड़ा भी न के बराबर होती है। पुराना होने पर सन्धि-निष्क्रियता एवं अस्थियों का नाश होता है।

(७) प्रवाहिकाजन्य संधि-प्रदाह (Dysenteric Arthritis)—

(i) दण्डाणवीय (Bacillary)—अत्यन्त विरल मामलों में प्रवाहिका शमन होते समय घुटने या किसी अन्य सन्धि का प्रदाह हो जाता है। शोथ अत्यधिक होता है और भीतर काफी मात्रा में द्रव भर जाता है; कभी कभी केवल तनु-प्रदाह होता है द्रव नहीं भरता और शोथ मामूली रहता है। पीड़ा ज्वर आदि अन्य लक्षण भी उपस्थित रहते हैं। सन्धि निष्क्रियता नहीं होती।

(ii) कीटाणवीय (Ameobic)—प्रवाहिका जन्य व्रणों में से मालागोलाणु प्रविष्ट होकर एक या अनेक सन्धियों में प्रदाह उत्पन्न करते हैं। ज्वर आदि लक्षण होते हैं। पाक हो सकता है।

(८) पूयोत्पादक संधि प्रदाह (Septic Arthritis) – इसकी उत्पत्ति मालागोलाणु, स्तबक गोलाणु, फुफ्फुस गोलाणु, मस्तिष्क गोलाणु आदि के द्वारा होती है। अधिकतर इनके स्थानिक लक्षण जैसे फुफ्फुस प्रदाह, मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर आदि तथा दोषमयता या पूयमयता के लक्षण भी उपस्थित रहते हैं। एक या अनेक संधियों का प्रदाह होकर पाक होता है। पीड़ा अत्यधिक होती है। यदि शीघ्र उपचार न किया जावे तो संधि में अत्यधिक विकृति उत्पन्न हो जाती है।

(९) आन्त्रिक ज्वर जन्य संधि प्रदाह (Typhoid Arthritis)—अत्यन्त विरल मामलों में आन्त्रिक ज्वर के तृतीय सप्ताह में एक या अनेक संधियों का प्रदाह होता है। लक्षण गंभीर या सौम्य हो सकते हैं।

अधिकतर संधिप्रदाह न होकर अस्थि-अस्थ्यावरण प्रदाह (Osteo-Periostitis) होता है। इसमें अधिकतर पाक होता है और स्थायी अस्थि-विकृति उत्पन्न होती है।

(१०) राजयक्ष्मीय संधि प्रदाह (Tubercular Arthritis)—राजयक्ष्मा प्रकरण अध्याय १० देखें।

(११) वातरक्त (Gout)—यह भी एक प्रकार का संधि प्रदाह ही है। इसे समवर्तज संधिप्रदाह (Metabolic Arthritis) कहते हैं। विशेष विवेचन अध्याय २३ में देखें।

(१२) रक्तज संधिप्रदाह (Arthritis from Blood Diseases)—रक्तपित्त प्रकरण में वर्णित रक्तस्रावी रोगों से कभी कभी संधियों के भीतर रक्तस्राव होता है जिससे संधिप्रदाह के समान लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं अथवा वस्तुतः संधिप्रदाह और कभी कभी संधि निष्क्रियता एवं पाक तक होता है।

(१३) वातरोगज संधिप्रदाह (Neuropathic Arthritis)—सुषुम्ना के कई प्रकार के विकारों में शाखाओं की संधियों में पीड़ारहित शोथ होकर

संधि एवं अस्थियों का क्षय होता है। शोथ बड़ा विस्तृत एवं अत्यन्त चिरकारी प्रकार का होता है।

(१४) परिसंधिक प्रदाह अथवा संध्यावरण प्रदाह (Peri-arthritis)—यह रोग वयस्कों में सबसे अधिक सामान्य है। उत्पादक जीवाणु अधिकतर हरित मालागोलाणु (streptococcus Viridans) अथवा अन्य कोई सौम्य जाति का जीवाणु हुआ करता है। दंतवेष्ट, तुण्डिका, नासिका, कण्ठ, पित्ताशय, आन्त्र, जननेन्द्रिय आदि के चिरकारी उपसर्ग इसकी उत्पत्ति में सहायक होते हैं। कुछ मामलों में समवर्त एवं वातनाड़ियों के विकार भी इसकी उत्पत्ति करते हैं। सन्धि-प्रदाह के पूर्वोक्त विकारों में भी अधिकतर संध्यावरण प्रभावित होता है।

अधिकतर रोग का आक्रमण ज्वर (१०१-१०२°) के साथ होता है। हाथों की छोटी सन्धियों में और कभी कभी कलाई, कोहनी, गुल्फ, घुटने, मेरुदण्ड, हनु-कर्णास्थि आदि की सन्धियों में पीड़ायुक्त शोथ उत्पन्न होता है। सन्धि-कला और सन्धि के आस पास के तंतुओं का प्रदाह होता है किन्तु पाक नहीं होता। ज्वर २-४ दिनों में और शोथ ३-४ सप्ताह या अधिक में शान्त हो जाता है और कोई विकृति नहीं रह जाती। किन्तु अधिकांश मामलों में पुनराक्रमण होता है और शोथ चिरकारी या अनुतीव्र प्रकार का हो जाता है। रोग पुराना होने पर सन्धि-निष्क्रियता, आस-पास की पेशियों का क्षय, बेडौलपन आदि विकृतियां उत्पन्न होती हैं। हृदय-विकार नहीं होते।

दूसरे मामलों में प्रारम्भ से ही रोग अनुतीव्र या चिरकारी प्रकार का रहता है; ज्वर नहीं रहता अथवा कभी कभी हो आता है

: २६ :

शूल, परिणामशूल और अन्नद्रवशूल

शूल के भेद

दोषैः पृथक् समस्तामद्वन्द्वैः शूलोऽष्टधा भवेत्।
सर्वेष्वेतेषु शूलेषु प्रायेण पवनः प्रभुः ॥१॥

पृथक् पृथक् दोषों से (वातज, पित्तज और कफज), समस्त दोषों से (त्रिदोषज), आम से (आमज), तथा दो दो दोषों से (द्वन्द्वज—वात पित्तज, वातकफज और कफपित्तज)- इस प्रकार शूल रोग ८ प्रकार का होता है। इन सभी शूलों में प्रायः वायु ही कर्त्ता-धर्ता रहता है।

वक्तव्य—(२२०) इस रोग में शूल (भाला-बर्छी) चुभाने के समान वेदना होती है इसलिये इसका नाम शूल रोग (Colic) है।

वातज शूल

व्यायामयानादतिमैथुनाच्च
प्रजागराच्छीतजलातिपानात्।
कलायमुद्गाढकिकोरदूषादत्यर्थ-
रूक्षाध्यशनाभिघातात् ॥२॥
कषायतिक्तातिविरूढजान्न-
विरुद्धवल्लूरकशुष्कशाकात्।
विट्शुक्रमूत्रानिलवेगरोधाच्छो-
कोपवासादतिहास्यभाष्यात् ॥३॥
वायुः प्रवृद्धो जनयेद्धि शूलं
हृत्पार्श्वपृष्ठत्रिकबस्तिदेशे।
जीर्णे प्रदोषे च घनागमे च
शीते च कोपं समुपैति गाढम् ॥४॥
मुहुर्मुहुश्चोपशमप्रकोपी
विड्वातसंस्तम्भनतोदभेदैः।
संस्वेदनाभ्यञ्जनमर्दनाद्यैः
स्निग्धोष्णभोज्यैश्च शमं प्रयाति ॥५॥

अधिक व्यायाम, अधिक सवारी एवं अधिक मैथुन करने से; रात्रि में जागरण करने से; शीतल जल अधिक पीने से; मटर, मूंग, अरहर एवं कोदों के सेवन से; अत्यन्त रूक्ष (स्नेह रहित) भोजन से; भोजन के ऊपर भोजन करने से; अभिघात से; कषाय एवं तिक्त रस-प्रधान पदार्थों के अधिक सेवन से; अंकुरित बीजों से बने पदार्थों के सेवन से; विरुद्ध भोजन से; सूखे मांस और सूखे शाक के सेवन से; मल, वीर्य, मूत्र एवं वायु के वेग रोकने से; अधिक शोक, उपवास, हास्य एवं भाषण करने से वायु प्रवृद्ध होकर हृत्प्रदेश, पार्श्व, पीठ, त्रिक् (कमर का पिछला भाग) एवं बस्ति प्रदेश में शूल उत्पन्न करता है। यह भोजन पच चुकने पर, संध्या समय, बादल आने पर और शीत होने पर अत्यन्त जोर करता है। मल एवं वायु का अवरोध, चुभन और फटन के साथ थोड़े थोड़े समय पर प्रकोप करना और शान्त होना इसका स्वभाव है। यह स्वेदन, अभ्यंग, मर्दन आदि क्रियाओं से तथा स्निग्ध, उष्ण भोजन से शान्त होता है।

पित्तज शूल

क्षारातितीक्ष्णोष्णविदाहितैल-
निष्पावपिण्याककुलत्थयूषैः।
कट्वम्लसौवीरसुराविकारैः
क्रोधानलायासरविप्रतापैः॥६॥
ग्राम्यातियोगादशनैर्विदग्धैः
पित्तं प्रकुप्याशु करोति शूलम्।
तृण्मोहदाहार्तिकरं हि नाभ्यां
संस्वेदमूर्च्छाभ्रमचोषयुक्तम्॥७॥
मध्यन्दिने कुप्यति चार्धरात्रे
विदाहकाले जलदात्यये च।
शीते च शीतैः समुपैति शान्ति
सुस्वादुशीतैरपि भोजनैश्च॥८॥

क्षारीय, अतितीक्ष्ण, उष्ण एवं विदाही पदार्थ; तेल, सेम, खली (सरसों आदि की), कुलथी का यूष, चरपरे एवं खट्टे पदार्थ; सौवीर तथा अनेक प्रकार की शराबों का सेवन; क्रोध, अग्नि, परिश्रम, सूर्यसन्ताप तथा मैथुन के अतियोग से भोजन विदग्ध होने से पित्त शीघ्र ही प्रकुपित होकर नाभि में तृष्णा, मोह, दाह एवं बेचैनी उत्पन्न करने वाला तथा स्वेद, मूर्च्छा, भ्रम और चोष (चूसने के समान पीड़ा) से युक्त शूलरोग उत्पन्न करता है। यह दोपहर, अर्ध रात्रि, भोजन के पचनकाल तथा शरद ऋतु (अथवा अत्यधिक बादल छाये रहने पर) में प्रकोप करता है और शीत ऋतु में, शीतल उपचारों से तथा मधुर एवं शीतल भोजन से शान्त होता है।

कफज शूल

आनूपवारिजकिलाटपयोविकारै-
र्मांसेक्षुपिष्टकृशरातिलशष्कुलीभिः।
अन्यैर्बलासजनकैरपि हेतुभिश्च
श्लेष्मा प्रकोपमुपगम्य करोति शूलम्॥९॥
हृल्लासकाससदनारुचिसंप्रसेकै-
रामाशये स्तिमितकोष्ठशिरोगुरुत्वैः।
भुक्ते सदैव हि रुजं कुरुतेऽतिमात्रं
सूर्योदयेऽथ शिशिरे कुसुमागमे च॥१०॥

आनूप देशज और जलज पदार्थ (अन्न, फल, मूल, शाक, मांस आदि), श्रीखण्ड, दूध के बने हुए पदार्थ, मांस, गन्ना, उड़द की पिट्ठी, खिचड़ी, तिल, कचौड़ी तथा अन्य कफोत्पादक हेतुओं से कफ प्रकुपित होकर आमाशय में, हृल्लास, खांसी, अवसाद, अरुचि, लालास्राव, बद्धकोष्ठता और सिर में भारीपन से युक्त शूल उत्पन्न करता है। यह शूल सदैव भोजन करने पर, सूर्योदय के समय पर तथा शिशिर और वसन्त ऋतुओं में पीड़ा करता है।

त्रिदोषज शूल

सर्वेषु दोषेषु च सर्वलिङ्गं
विद्याद्भिषक् सर्वभवं हि शूलम्।
सुकष्टमेनं विषवज्रकल्पं
विवर्जनीयं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः॥११॥

जब सभी दोष कुपित हों और सभी के लक्षण उपस्थित हों तब वैद्य उसे त्रिदोषज शूल समझे। यह विष एवं वज्र के समान अत्यन्त कष्टदायक है तथा विद्वान लोग इसे त्याज्य (अचिकित्स्य) कहते हैं।

आमज शूल

आटोपहृल्लासवमीगुरुत्वस्तै-
मित्यकानाहकफप्रसेकैः ।
कफस्य लिङ्गेन समानलिङ्ग-
मामोद्भवं शूलमुदाहरन्ति ॥१२॥

आमज शूल आटोप (पेट में गुड़गुड़ाहट और तनाव), हृल्लास,वमन, भारीपन, शरीर गीले वस्त्र से आवृत होने के समान प्रतीत होना, मलावरोध एवं कफष्ठीवन से युक्त तथा कफज शूल के समान लक्षणों से युक्त होता है ।

द्वन्द्वज शूल

बस्तौ हृत्पार्श्वपृष्ठेषु स शूलः कफवातिकः।
कुक्षौ हृन्नाभिमध्येषु स शूलः कफपैत्तिकः ॥१३॥
दाहज्वरकरो घोरो विज्ञेयो वातपैत्तिकः ।

बस्ति, हृदय, पार्श्व एवं पीठ में होने वाला शूल वात कफज होता है । कुक्षि, हृदय और नाभि में होने वाला शूल कफपित्तज होता है । वातपित्तज शूल को दाह और ज्वर उत्पन्न करने वाला तथा उग्र प्रकार का जानना चाहिए ।

वक्तव्य—(२२१) सम्पूर्ण लक्षणों के लिए पृथक-पृथक् दोषों के लक्षण को मिलाकर पढ़ें ।

साध्यासाध्यता

एकदोषोत्थितः साध्यः कृच्छ्रसाध्यो द्विदोषजः ॥१४॥
सर्वदोषोत्थितो घोरस्त्वसाध्यो भूर्युपद्रवः ।

एक दोषज साध्य, द्वन्द्वज कृच्छ्रसाध्य और अनेक उपद्रवों से युक्त एवं भयङ्कर त्रिदोषज शूल असाध्य है ।

वक्तव्य—(२२२) उग्र लक्षणों को ही उपद्रव मानना चाहिए।

परिणाम शूल

स्वैर्निदानैः प्रकुपितो वायुः संनिहितस्तदा ॥१५॥
कफपित्ते समावृत्य शूलकारी भवेद्बली ।
भुक्ते जीर्यति यच्छूलं तदेव परिणामजम् ॥१६॥
तस्य लक्षणमप्येतत्समासेनाभिधीयते ।

जब वायु अपने निदानों से संचित एवं प्रकुपित होता है तब वह बलवान होने के कारण कफ और पित्त को आवृत करके भोजन पचने के समय पर जो शूल उत्पन्न करता है वही परिणामशूल है । उसके लक्षण भी संक्षेप में कहे जाते हैं ।

वातज परिणामशूल

आध्मानाटोपविण्मूत्रविबन्धारतिवेपनैः ॥१७॥
स्निग्धोष्णोपशमप्रायं वातिकं तद्वदेद्भिषक् ।

उदर फूलना, गुड़गुड़ाहट होना, मल-मूत्र का अवरोध बेचैनी एवं कम्प से युक्त तथा स्निग्ध एवं उष्ण उपचारों से शान्त होने वाले परिणाम शूल को वैद्य वातज परिणाम शूल कहे ।

पित्तज परिणामशूल

तृष्णादाहारतिस्वेदं कट्वम्ललवणोत्तरम् ॥१८॥
शूलं शीतशमप्रायं पैत्तिकं लक्षयेद् बुधः ।

तृष्णा, दाह, बेचैनी और स्वेद-प्रवृत्ति से युक्त, कटु, अम्ल और लवण रस-युक्त पदार्थों के सेवन से बढ़ने वाले तथा शीतल उपचारों से शांत होने वाले शूल को बुद्धिमान पित्तज परिणामशूल कहे ।

कफज परिणामशूल

छर्दिहृल्लाससंमोहं स्वल्परुग्दीर्घसन्तति ॥१९॥
कटुतिक्तोपशान्तं च तच्च ज्ञेयं कफात्मकम् ।

वमन, हृल्लास, और मूर्च्छा से युक्त मन्द पीड़ा करने वाला और देर तक रहने वाला तथा कटु एवं तिक्त पदार्थों से शान्त होने वाले परिणाम शूल को कफज परिणामशूल समझना चाहिये ।

द्वन्द्वज परिणामशूल

संसृष्टलक्षणं बुद्ध्वा द्विदोषं परिकल्पयेत् ॥२०॥

दो दोषों के सम्मिलित लक्षण देखकर द्वन्द्वज परिणाम शूल समझना चाहिए । (और तीनों दोषों के लक्षणों से त्रिदोषज परिणाम शूल समझना चाहिए ।)

साध्यासाध्यता

त्रिदोषजमसाध्यं तु क्षीणमांसबलानलम् ।

त्रिदोषज परिणाम शूल तथा जिस रोगी के मांस, बल और अग्नि क्षीण हो चुके हों उसके परिणामशूल को असाध्य समझना चाहिए।

अन्नद्रवशूल

जीर्णे जीर्यत्यजीर्णे वा यच्छूलमुपजायते ॥२१॥
पथ्यापथ्यप्रयोगेण भोजनाभोजनेन च ।
न शमं याति नियमात्सोऽन्नद्रव उदाहृतः ॥२२॥

भोजन पचने पर, पचते समय अथवा अजीर्ण रहने पर (अथवा पचने के पूर्व) जो शूल उत्पन्न होता है और जो पथ्य अथवा अपथ्य के सेवन से, भोजन करने अथवा अनसन करने से भी शांत नहीं होता वह अन्नद्रवशूल माना जाता है।

(अन्नद्रवाख्यशूलेषु न तावत्स्वास्थ्यमश्नुते ।
वान्तमात्रे जरत्पित्तं शूलमाशु व्यपोहति ॥१॥)

अन्नद्रव शूलों में तब तक आराम नहीं मिलता जब तक वमन नहीं होता। वमन में निकलने वाला पित्त तुरन्त ही शूल को नष्ट कर देता है।

वक्तव्य—(१२३) इस अध्याय के प्रारम्भ में 'शूल' नाम से सारे शरीर के किसी भी अङ्ग में होने वाले शूल का वर्णन किया गया है जो सभी स्थानों में तथा सभी कारणों से होने वाले शूल का सामान्य निरूपण है। वैसे परिणाम शूल और अन्नद्रव शूल भी इसी के अन्तर्गत समझे जा सकते हैं किन्तु उनमें ऐसी विशेषताएं हैं जो अन्य शूलों में नहीं पायी जातीं इसलिए उनका वर्णन पृथक् किया गया है। परिणामशूल की विशेषता यह है कि वह भोजन पचते समय ही होता है चाहे किसी भी दोष के प्रकोप से क्यों न उत्पन्न हुआ हो, शेष लक्षण प्रायः सामान्य शूल के ही समान होते हैं। अन्नद्रवशूल की विशेषता यह है कि वह समय-असमय, भोजन-अभोजन पथ्य-अपथ्य की अपेक्षा नहीं करता और वमन होते ही शान्त हो जाता है।

परिणाम-शूल ग्रहणी-व्रण (Duodenal Ulcer) के कारण होने वाली पीड़ा है यह उस समय होती है जब भोजन व्रणित भाग पर से निकलता है। अन्नद्रवशूल आमाशयिक व्रण (Gastric Ulcer) के कारण होने वाली पीड़ा है। यह पीड़ा सामान्यतः आमाशय रिक्त रहने पर बढ़ती और भोजन करने अथवा वमन होने पर बहुत कुछ शांत हो जाती है किन्तु रोग बढ़ने पर भोजन करने से कोई लाभ नहीं होता, केवल वमन से ही शान्ति मिलती है। पीड़ा लवणाम्ल का स्राव अधिक होने एवं व्रण पर उसका प्रभाव पड़ने से होती है। सामान्यतः भोजन करने से लवणाम्ल निष्क्रिय (Neutralize) हो जाता है और पीड़ा शान्त हो जाती है। किन्तु व्रण संख्या में अनेक एवं आकार में बड़े होने पर इतना अधिक एवं घन (Concentrated) लवणाम्ल निकलता है कि भोजन की सामान्य मात्रा उसे निष्क्रिय नहीं बना सकती, ऐसी दशा में केवल वमन ही लवणाम्ल को मुखमार्ग से निकाल कर रोगी को शान्ति प्रदान कर सकता है। ग्रहणी-व्रण और आमाशयिक व्रण का वर्णन अध्याय ६ में देखिये।

पाश्चात्य मत—

शूल (Colic)—उदर-प्रान्त में होने वाली तीव्र स्तम्भिक (spasmodic) पीड़ा को शूल (Colic) कहते हैं। अन्य स्थानों में होने वाली लगभग इसी प्रकार की पीड़ाओं को शूलवत् पीड़ा (Colicky pain) कहते हैं।

शूल के अन्तर्गत मुख्य ४ प्रकार की पीड़ाएं मानी जाती हैं—१. आन्त्रशूल, २. पित्ताशय शूल, ३. उपान्त्र शूल या आन्त्रपुच्छ शूल और ४. मूत्राशय शूल।

(१) आन्त्रशूल (Intestinal Colic)—इसके बहुत से कारण हो सकते हैं जिनमें से मुख्य ये हैं—तीव्र अजीर्ण, आन्त्रप्रदाह, मलावरोध, आन्त्रावरोध, रक्तस्राव, फिरंगी खंजता, हिस्टीरिया।

पीड़ा का आरम्भ शनैः शनैः अथवा एकाएक अत्यन्त वेग से होता है। पीड़ा थोड़ी थोड़ी देर में घटती बढ़ती है और उसका केन्द्र नाभि या उसके कुछ नीचे होता है। रोगी अत्यन्त बेचैन रहता है। अन्य लक्षण कारण के अनुरूप होते हैं। कारण

गंभीर होने पर निपात होकर मृत्यु तक होसकती है। अधिकतर उदर फूला हुआ रहता है किन्तु कुछ मामलों में कठोर एवं किंचित् दबा हुआ पाया जा सकता है। बच्चे घुटने मोड़कर उदर पर लाकर चिल्लाते हैं। अधिकतर अपानवायु निकलने तथा दबाने से आराम मिलता है।

कारणों के अनुसार विस्तृत विवेचन अध्याय ६ में किया गया है।

(२) पित्ताशय शूल (Biliary Colic)—पित्त-नलिका में पित्ताश्मरी अटक जाने से इसकी उत्पत्ति होती है। इसका वर्णन भी अध्याय ६ में देखें।

(३) उपान्त्र-शूल या आन्त्र-पुच्छ शूल (Appendicular Colic)—यह आन्त्रपुच्छ प्रदाह (Appendicitis) के कारण होता है।

(अ) तीव्र आन्त्रपुच्छ प्रदाह अथवा उपान्त्र प्रदाह (Acute Appendicitis)—आन्त्रपुच्छ में मल भर जाने अथवा धातुनाशी अन्तः कीटाणु (Entamoeba Histolytica, प्रवाहिका उत्पादक जीवाणु), मालागोलाणु अथवा वातभी दण्डाणु (Anaerobic Bacilly) के उपसर्ग से प्रदाह होता है। रोग का आरम्भ तीव्र उदरशूल के साथ होता है। पहले यह पीड़ा नाभि-प्रदेश में प्रतीत होती है किन्तु शीघ्र ही दक्षिण जघनकापालिक खात (Right Iliac fossa) में व्यक्त होने लगती है। स्थानिक स्पर्शासह्यता और कठोरता, वमन, मलावरोध (अथवा अतिसार यदि आन्त्र पुच्छ नीचे की ओर लटक गया हो), अत्यधिक बेचैनी, हल्का ज्वर, तीव्र नाड़ी आदि लक्षण होते हैं। कुछ काल बाद या तो रोग क्रमशः शांत होकर चिरकारी प्रकार में बदल जाता है अथवा उदरावरण प्रदाह होकर मृत्यु हो जाती है। उदरावरण प्रदाह (Paritonitis) होने पर पीड़ा एक दम लुप्त हो जाती है अथवा सारे उदर में फैल जाती है, उदर जड़ एवं कठोर हो जाता है, मल-मूत्र का अवरोध होता है, ज्वर साधारण से कम हो जाता है किन्तु नाड़ी तीव्र एवं चंचल हो जाती है, रोगी अपने को खतरे में नहीं समझता किन्तु विषमयता बढ़ती जाती है और अन्त में मृत्यु हो जाती है।

(ब) चिरकारी आन्त्रपुच्छ प्रदाह (Chronic Appendicitis)—इसका वर्णन अध्याय ६ में हो चुका है।

(४) वृक्क-शूल (Renal Colic)—यह मूत्राश्मरी के कारण होता है। इसका वर्णन अध्याय ३२ में देखें।

उदर में होने वाली अन्य पीड़ाओं से इन चारों शूलों का विभेद करना चाहिये। कभी कभी वक्ष की पीड़ाओं की लहर उदर में इतने जोरों से आती है कि यह जानना कठिन हो जाता है कि पीड़ा वक्ष में है अथवा उदर में। स्त्रियों के मामलों में जननेन्द्रिय से संबंधित पीड़ाओं का ध्यान रखना चाहिये और हिस्टीरिया से भी सावधान रहना चाहिये।

अन्य पीड़ाएं—

(५) तीव्र अग्न्याशय कोथ अथवा तीव्र रक्तस्रावी अग्न्याशय प्रदाह (*Acute Panrcreatic Necrosis or Acute haemorrhagic Pancreatitis*)—अग्न्याशय की नलिका में अवरोध होने से, अग्न्याशय में अधिक रस बनने से, तनाव होने से अथवा अभिघात से अग्न्याशय में रक्तस्राव और कोथ होता है, अधिकांश मामलों में जीवाणुओं का उपसर्ग भी पाया जाता है। रोगी अधिकतर ४० वर्ष से अधिक आयु का रहता है।

लक्षणों का आरंभ एकाएक आमाशयिक प्रदेश में शूलवत् पीड़ा के साथ होता है जो थोड़े थोड़े समय पर बढ़ती घटती है। उदर फूल जाता है और छूने से भी पीड़ा होती है। अत्यधिक एवं लगातार पित्तवमन, किंचित् कामला की पीताभता, श्यावता, मलावरोध (किंतु वायु थोड़ी बहुत निकल सकती है), क्षीण नाड़ी और द्रुत श्वास आदि लक्षण होते हैं।

फिर शीघ्र ही उदरावरण प्रदाह हो जाता है और आन्त्रपुच्छप्रदाह प्रकरण में बतलाये हुए लक्षण उत्पन्न होते हैं तथा मृत्यु होजाती है।

(६) चिरकारी अग्न्याशय प्रदाह (*chronic pancreatis*)—इससे समय समय पर शूलवत् पीड़ा होती है। विस्तृत विवेचन कामला प्रकरण में देखें।

(७) पार्श्वशूल, पार्श्ववेदना, अथवा पार्श्वपेशीशूल (*Pleurodynia*)—यह वक्ष की दीवार की पेशियों का चिरकारी प्रदाह है इससे समय समय पर अथवा लगातार वक्ष के ऊपरी भागों में पीड़ा होती है। जनसाधारण इसे पसली का दर्द कहते हैं। फुफ्फुस, फुफ्फुसावरण, हृदय आदि के रोगों से इसका विभेद करना चाहिये।

(८) कटिशूल अथवा कटिपेशीशूल (*Lumbago*)—यह कमर के ऊपरी भाग (कुक्षि) में होने वाला पेशियों स्नायुओं आदि का चिरकारी प्रदाह है। इससे उस भाग में समय समय पर अथवा लगातार पीड़ा होती है। सीधे खड़े होने तथा प्रभावित स्थल को दबाने से पीड़ा बढ़ती है। वेदना दोनों ओर समान रूप से होती है।

मेरुदण्ड, सुषुम्ना तथा उदर और वक्ष के अवयव के विकारों से इसका विभेद करना चाहिये।

इसके अतिरिक्त अन्य शूलवत् पीड़ा करने वाले रोगों का वर्णन इसी ग्रंथ में विकीर्ण भाव से प्राप्त होगा।

: २७ :

उदावर्त और आनाह

उदावर्त के हेतु

वातविण्मूत्रजृम्भाश्रुक्षवोद्गारवमेन्द्रियाः ।
क्षुत्तृष्णोच्छ्वासनिद्राणां धृत्योदावर्तसंभवः ॥१॥

वायु (यहां प्रसंगवश 'अपान वायु'), मल, मूत्र, जंभाई, अश्रु, छींक, डकार, वमन, इन्द्रिय (यहां प्रसङ्गवश 'जननेन्द्रिय' और उसका वेग 'मैथुनेच्छा'), क्षुधा, तृष्णा, उच्छ्वास और निद्रा के वेगों को रोकने से उदावर्त उत्पन्न होता है।

वक्तव्य—(२२४) उक्त तेरह प्रकार के वेग रोकने से वायु विलोम होकर अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न करता है। वेगों के रोकने से वायु का विलोम होना ही उदावर्त कहलाता है। आगे प्रत्येक वेग को रोकने से उत्पन्न होने वाले लक्षणों एवं रोगों का निर्देश किया गया है।

वात-निग्रह-जन्य उदावर्त

वातमूत्रपुरीषाणां सङ्गो ध्मानं क्लमो रुजा।
जठरे वातजाश्चान्ये रोगाः स्युर्वातनिग्रहात् ॥२॥

अपान वायु का वेग रोकने से अपान वायु, मूत्र और मल का अवरोध; आध्मान, थकावट, पीड़ा तथा अन्य वातज उदरगत रोग उत्पन्न होते हैं।

पुरीष-निग्रह-जन्य उदावर्त

आटोपशूलौ परिकर्तिका च
सङ्गः पुरीषस्य तथोर्ध्ववातः।
पुरीषमास्यादथवा निरेति
पुरीषवेगेऽभिहते नरस्य ॥३॥

मल का वेग रोकने पर मनुष्य को आटोप (उदर में गुड़गुड़ाहट), शूल, परिकर्तिका (गुदा, लिंग और बस्ति में काटने के समान पीड़ा), मल का अवरोध और ऊर्ध्ववात (अत्यधिक डकारें) होते हैं अथवा मुख से विष्ठा निकलती है।

वक्तव्य—(२२५) विष्ठा या विष्ठा के समान गंध मुख से ऐसे ही (प्रत्युद्गिरण के द्वारा) अथवा वमन या डकार के साथ आ सकती है। गंध का निकलना सामान्य है किन्तु विष्ठा का निकलना अत्यन्त विरल

तो है ही तथापि यदि निकलती भी है तो रोगी प्रायः बतलाता नहीं है।

मूत्र-निग्रह-जन्य उदावर्त

बस्तिमेहनयोः शूलं मूत्रकृच्छ्रं शिरोरुजा।
विनामो वङ्क्षणानाहः स्याल्लिङ्गं मूत्रनिग्रहे ॥४॥

मूत्र का वेग रोकने से मूत्राशय और लिङ्ग में शूलवत् पीड़ा, मूत्र उतरने में कठिनाई (मूत्रकृच्छ्), सिरदर्द, शरीर आगे की ओर झुक जाना और वंक्षण-प्रदेश में तनाव—ये लक्षण होते हैं।

जृम्भा-निग्रह-जन्य उदावर्त

मन्यागलस्तम्भशिरोविकारा
जृम्भोपघातात्पवनात्मकाः स्युः।
तथाऽक्षिनासावदनामयाश्च
भवन्ति तीव्राः सह कर्णरोगैः ॥५॥

जंभाई का वेग रोकने से मन्या और गले का स्तंभ तथा तीव्र वातज शिरोरोग, नेत्ररोग, नासारोग, मुखरोग और कर्ण रोग होते हैं।

अश्रु-निग्रह-जन्य उदावर्त

आनन्दजं वाऽप्यथ शोकजं वा
नेत्रोदकं प्राप्तममुञ्चतो हि।
शिरोगुरुत्वं नयनामयाश्च
भवन्ति तीव्राः सह पीनसेन ॥६॥

आनन्द अथवा शोक से आसुओं की प्रवृत्ति होने पर उसे रोक लेने से पीनस (प्रतिश्याय) रोग के साथ साथ सिर में भारीपन और नेत्ररोग उत्पन्न होते हैं।

छिक्का-निग्रह-जन्य उदावर्त

मन्यास्तम्भः शिरःशूलमर्दितार्धावभेदकौ।
इन्द्रियाणां च दौर्बल्यं क्षवथोः स्याद्विधारणात् ॥७॥

छींक रोक लेने से मन्यास्तम्भ, शिरदर्द, अर्दित, अर्धावभेदक और इन्द्रियों में दुर्बलता होती है।

उद्गार-निग्रह-जन्य उदावर्त

कण्ठास्यपूर्णत्वमतीव तोदः
कूजश्च वायोरथवाऽप्रवृत्तिः।
उद्गारवेगेऽभिहते भवन्ति
घोरा विकाराः पवनप्रसूताः ॥८॥

डकार का वेग रोक लेने से गले और मुख में भारीपन, अत्यधिक चुभन, वायु के द्वारा आंतों में गुड़गुड़ाहट अथवा अपानवायु का अवरोध आदि घोर वातज रोग होते हैं।

छर्दि-निग्रह-जन्य उदावर्त

कण्डूकोठारुचिव्यङ्गशोथपाण्ड्वामयज्वराः।
कुष्ठवीसर्पहृल्लासाश्छर्दिनिग्रहजा गदाः ॥९॥

वमन का वेग रोकने से खुजली, कोठ (त्वचा में दाने निकलना), अरुचि, व्यंग (चेहरे की त्वचा में धब्बे), शोथ पाण्डुरोग, ज्वर, कुष्ठ, विसर्प, हृल्लास एवं वमन होते हैं।

शुक्र-निग्रह-जन्य उदावर्त

मूत्राशये वै गुदमुष्कयोश्च
शोथो रुजा मूत्रविनिग्रहश्च।
शुक्राश्मरी तत्स्रवणं भवेच्च
ते ते विकारा विहते च शुक्रे ॥१०॥

शुक्र के वेग को रोक लेने से मूत्राशय, गुदा और अण्डकोषों में शोथ एवं पीड़ा, मूत्रावरोध, शुक्राश्मरी, शुक्र-स्राव आदि विकार उत्पन्न होते हैं।

क्षुधा-निग्रह-जन्य उदावर्त

तन्द्राऽङ्गमर्दावरुचिः श्रमश्च
क्षुधाभिघातात्कृशता च दृष्टेः।

क्षुधा रोकने से तन्द्रा, अङ्गों में पीड़ा, अरुचि, थकावट कृशता और दृष्टि की निर्बलता होती हैं।

तृष्णा-निग्रह-जन्य उदावर्त

कण्ठास्यशोषः श्रवणावरोधस्तृष्णा-
विघाताद्धृदये व्यथा च ॥११॥

प्यास रोकने से गले और मुंह का सूखना, श्रवण-शक्ति का नाश और हृदय में पीड़ा होती है।

श्वासनिग्रह-जन्य उदावर्त

श्रान्तस्य निःश्वासविनिग्रहेण
हृद्रोगमोहावथवाऽपि गुल्मः।

थकावट से बढ़ने वाली श्वास को रोकने से हृदय रोग

और मूर्च्छा अथवा गुल्म उत्पन्न होता है।

निद्रा-निग्रह-जन्य उदावर्त

जृम्भाऽङ्गमर्दोऽक्षिशिरोतिजाड्यं
निद्राभिघातादथवाऽपि तन्द्रा ॥१२॥

निद्रा को रोकने से जंभाई, अङ्गों में पीड़ा, आंखों और सिर में अत्यन्त जड़ता (कार्य-अक्षमता, भारीपन) अथवा तन्द्रा की उत्पत्ति होती है।

वक्तव्य—(२२६) एवं पाश्चात्य मत—वेगों के निग्रह से उत्पन्न व्याधियों का जितना विशद वर्णन आयुर्वेद में है उतना अन्यत्र नहीं। यहां तो इस विषय पर एक पृथक् अध्याय ही लिखा गया है और इससे उत्पन्न रोगों को एक विशेष नाम भी दिया गया है। किसी भी अन्य पैथी ने इस विषय को इतना महत्व नहीं दिया तथापि आज सभी पैथियां इस बात को एक स्वर से स्वीकार करने लगी हैं कि वेग-निग्रह दुःस्वास्थ्य का एक महान् कारण है। नयी पैथियां कितने भी आगे क्यों न बढ़ जावें किन्तु बूढ़े आयुर्वेद से उन्हें हमेशा ही कुछ न कुछ सीखते रहना पड़ेगा।

वेग-निग्रह दो प्रकार का होता है ऐच्छिक और रोग जन्य। लोग संकोचवश, आलस्यवश या अन्य कारणों से वेग रोक लिया करते हैं—यह 'ऐच्छिक वेग-निग्रह' है। वेग उत्पन्न करने एवं निकालने वाले अंगों के अनेक निज एवं आगन्तुज तथा स्थानिक और सार्वदैहिक रोग ऐसे हैं जो वेगों को रोक देते हैं। इस प्रकार के बहुत से रोगों का वर्णन पीछे हो चुका है और आगे भी होगा। विस्तारभय से उन सबके नामों का उल्लेख नहीं किया जा सकता। इन रोगों के कारण रोगी की इच्छा के विपरीत होने वाला वेग-निग्रह 'रोगजन्य वेग-निग्रह' है। आगे श्लोक १३, १४, १५ और १६ में वातज उदावर्त नाम से रोगजन्य वेगनिग्रह का ही वर्णन है।

वेग-निग्रह ऐच्छिक हो अथवा रोगजन्य; उससे आभ्यन्तर अंगों पर एक सा दुष्प्रभाव पड़ता है। यह दुष्प्रभाव ३ प्रकार का होता है—(१) आभ्यन्तर वेगोत्पादक अंगों पर अस्वाभाविक दबाव एवं तनाव जिससे वेगोत्पादक अंग में पीड़ा, विस्फार (फैल जाना, Dilation) और निष्क्रियता की उत्पत्ति होती है; (२) वात नाड़ी प्रक्षोभ—वेग को उत्पन्न करने वाली अनैच्छिक वातनाड़ियां प्रारम्भ में क्षुब्ध होकर पीड़ा वेगोत्पादक अङ्ग का स्तंभ, विपरीत आचरण (जैसे, विरुद्ध पुरःसरण क्रिया Reverse peristalsis) एवं मस्तिष्क, हृदय आदि पर दुष्प्रभाव उत्पन्न करती हैं और फिर क्रमशः अपना कार्य करना बन्द कर देती हैं जिससे वेगोत्पत्ति होने की स्वाभाविक क्रिया नष्ट अथवा विकृत हो जाती है; और (३) निकलने वाले विषों का चूषण—अधिकांश वेगों के साथ कोई न कोई दूषित पदार्थ बाहर निकलते हैं; बाहर न निकल पाने पर वे पुनः रक्त में मिलकर हृदय, मस्तिष्क आदि में पहुँचकर सुस्ती, सिरदर्द, बेचैनी, अवसाद, ज्वर आदि उत्पन्न करते हैं। अन्य वेगों यथा क्षुधा, तृष्णा एवं निद्रा से यद्यपि कोई विष नहीं निकलते तथापि इनके द्वारा शरीर की पोषण एवं रोपण सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्त्ति होती है तथा मल-मूत्रादि मार्गों से विषों के उत्सर्ग को प्रोत्साहन मिलता है (उदाहरण—नींद का वेग रोकने से मलावरोध हो जाता है) इसलिये इनके निग्रह से भी विष-चूषण के समान ही लक्षण उत्पन्न होते हैं। ऐच्छिक वेग निग्रह का दुष्प्रभाव (ऐच्छिक उदावर्त रोग) प्रायः सौम्य एवं चिरकारी प्रकार का होता है किन्तु रोगजन्य वेगनिग्रह का दुष्प्रभाव (रोगजन्य अथवा वातज उदावर्त रोग) तीव्र, अत्यन्त कष्टदायक एवं प्राणघातक तक होता है।

किसी भी रोग की चिकित्सा करते समय वेग-निग्रह की ओर सर्वप्रथम ध्यान दिया जाता है। उदावर्त ऐच्छिक हो अथवा अनैच्छिक उसे अवश्य एवं तुरन्त दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। कुछ विशेष अवस्थाओं में जहां ऐसा करने से रोगी को किसी प्रकार की हानि की संभावना हो (जैसे यक्ष्मा एवं अत्यन्त दुर्बल रोगियों में आन्त्रिक ज्वर आदि

में विरेचन प्रशस्त नहीं है) वहां यदि उदावर्त उग्र प्रकार का न हो तो उसे रहने दें किन्तु यदि उग्र प्रकार का हो तथा उससे रोगी के प्राण संकट में पड़ने का भय हो तो सौम्य उपायों से और यदि सौम्य उपाय काम न दें तो संभावित उपद्रवों से लड़ने की तैयारी करके तीव्र उपाय से भी उदावर्त को नष्ट करें। यही चिकित्सा में सफलता की कुंजी है और प्रायः सभी चिकित्सा पद्धतियां इसके संबंध में एक ही मत रखती हैं।

पाश्चात्य विद्वानों का मत उपर्युक्त से भिन्न नहीं है तथापि उनके ग्रंथों में इस रोग (उदावर्त) के लिये न तो कोई नाम ही दिया गया है और न पृथक् वर्णन ही किया गया है तथापि कहीं कहीं स्फुट वर्णन अवश्य मिलता है जो इस ग्रंथ में दिये गये पाश्चात्य मतानुसार रोग वर्णन में भी यत्र-तत्र मिलेगा।

वातज (कुपित वातजन्य) उदावर्त

वायुः कोष्ठानुगो रूक्षः कषायकटुतिक्तकैः।
भोजनैः कुपितः सद्य उदावर्तं करोति हि ॥१३॥
वातमूत्रपुरीषासृक्कफमेदोवहानि वै।
स्रोतांस्युदावर्तयति पुरीषं चातिवर्तयेत् ॥१४॥
ततो हृद्बस्तिशूलार्तो हृल्लासारतिपीडितः।
वातमूत्रपुरीषाणि कृच्छ्रेण लभते नरः ॥१५॥
श्वासकासप्रतिश्यायदाहमोहतृषाज्वरान्।
वमिहिक्काशिरोरोगमनःश्रवणविभ्रमान्।
बहूनन्यांश्च लभते विकारान् वातकोपजान् ॥१६॥

कषाय, कटु एवं तिक्त पदार्थों से कोष्ठगत वायु रूक्ष एवं कुपित होकर शीघ्र ही उदावर्त उत्पन्न करती है। वह वायु (अपान वायु), मूत्र, मल, रक्त, कफ एवं मेद का वहन करने वाले स्रोतों की गति को विलोम कर देती है तथा मल को पार कर आगे निकल जाती है। इससे मनुष्य हृदय और वस्ति प्रदेश में शूल, हृल्लास एवं बेचैनी से पीड़ित होता है; और वायु, मूत्र एवं मल का उत्सर्ग कठिनाई से कर पाता है और उसे श्वास, खांसी, प्रतिश्याय, दाह, मूर्च्छा तृष्णा, ज्वर, वमन, हिक्का, शिरोरोग, मनःविभ्रम (उन्माद) श्रवण विभ्रम (शब्द न होते हुए भी अनेक प्रकार के शब्द सुनाई देना—यह कर्णनाद, कर्णश्वेद एवं उन्माद में होता है) तथा अन्य बहुत से वातज रोग हो जाते हैं।

वक्तव्य—(२२७) वायु स्वभाव से ही रूक्ष रहता है, कषादि पदार्थों के सेवन से और भी अधिक रूक्ष हो जाता है। किसी दोष के गुणों की असाधारण वृद्धि को ही दोष प्रकोप कहते हैं।

आनाह रोग

आमं शकृद्वा निचितं क्रमेण
भूयो विबद्धं विगुणानिलेन।
प्रवर्तमानं न यथास्वमेनं
विकारमानाहमुदाहरन्ति ॥१७॥

विगुण (कुपित) वायु के कारण आम (कच्चा मल) अथवा विष्ठा (पका मल) क्रमशः बहुत सा संचित होकर विबद्ध हो जाता है तथा स्वाभाविक रीति से प्रवृत्त नहीं होता—इस विकार को आनाह कहते हैं।

वक्तव्य—(२२८) यह मलावरोध अथवा कोष्ठ-बद्धता (Contipation कब्ज) का वर्णन है। आजकल आनाह के स्थान पर उक्त दोनों शब्द अधिक प्रचलित हैं।

आमज आनाह

तस्मिन् भवन्त्यामसमुद्भवे तु
तृष्णाप्रतिश्यायशिरोविदाहाः।
आमाशये शूलमथो गुरुत्वं
हृत्स्तम्भ उद्गारविघातनं च ॥१८॥

आमज आनाह में तृष्णा, प्रतिश्याय, सिर में जलन, आमाशय में शूल और भारीपन, हृदय-प्रदेश में जकड़ाहट और डकार न आना—ये लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—(२२९) कच्चा मल आंतों में रुककर सड़ता है और उस सड़ने की क्रिया से उत्पन्न विष रक्त में मिलकर अनूर्जता तथा हृदय, मस्तिष्क आदि पर बुरा प्रभाव डालते हैं। अनूर्जता से प्रतिश्याय होता है और शीतपित्त भी हो सकता है।

पुरीषज आनाह

स्तम्भः कटीपृष्ठपुरीषमूत्रे
शूलोऽथ मूर्च्छा शकृतश्च छर्दिः।
श्वासश्च पक्वाशयजे भवन्ति
तथाऽलसोक्तानि च लक्षणानि ॥१९॥

पुरीषज (पक्वाशयज—पक्व मल का स्थान पक्वाशय में होने के कारण पुरीषज के स्थान पर छन्द रचना की सुविधा के लिये पक्वाशयज कह दिया है) आनाह में कमर और पीठ में लकड़ाहट, मलमूत्र का अवरोध, शूल, मूर्च्छा, विष्ठा का वमन, श्वास और अलसक रोग में कहे हुए लक्षण होते हैं।

पाश्चात्य मत—अध्याय ६ में मलावरोध और आन्त्रावरोध का वर्णन देखें।

उदावर्त के असाध्य लक्षण

तृष्णार्दितं परिक्लिष्टं क्षीणं शूलैरभिद्रुतम्।
शकृद्वमन्तं मतिमानुदावर्तिनमुत्सृजेत् ॥२०॥

तृष्णा से व्याकुल, अत्यधिक कष्ट से पीड़ित, क्षीण, जिसे शूल के वेग जल्दी जल्दी आते हों तथा जो विष्ठा का वमन करता हो ऐसे उदावर्त रोगी को बुद्धिमान वैद्य छोड़ देवे।

वक्तव्य—(२३०) इतने वर्णन के बाद यह बतलाने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि आनाह (मलावरोध, आन्त्रावरोध), मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात आदि रोग तथा अन्य जिन रोगों में वेग रुक जाते हैं वे भी उदावर्त के अन्तर्गत सम्मिलित हैं।

: २८ :

गुल्म

सम्प्राप्ति

दुष्टा वातादयोऽत्यर्थं मिथ्याहारविहारतः।
कुर्वन्ति पञ्चधा गुल्मं कोष्ठान्तर्ग्रन्थिरूपिणम्।
तस्य पञ्चविधं स्थानं पार्श्वहृन्नाभिवस्तयः ॥१॥

मिथ्या आहार-विहार के कारण अत्यन्त कुपित वातादि दोष कोष्ठ के अन्दर ग्रंथि के समान स्वरूप वाले पांच प्रकार के गुल्म उत्पन्न करते हैं। गुल्म के स्थान पांच हैं—पार्श्व (दो—वाम एवं दक्षिण), हृदय-प्रदेश, नाभि-प्रदेश और बस्ति-प्रदेश।

परिभाषा

हृन्नाभ्योरन्तरे ग्रन्थिः संचारी यदि वाऽचलः।
वृत्तश्चयापचयवान् स गुल्म इति कीर्तितः ॥२॥

हृदय और नाभि के बीच चल अथवा अचल तथा घटने-बढ़ने वाली गोल ग्रंथि गुल्म कहलाती है।

वक्तव्य—(२३१) बस्ति-प्रदेश का गुल्म भी बढ़ने पर नाभि-प्रदेश में ही प्रतीत होता है।

भेद

स व्यस्तैर्जायते दोषैः समस्तैरपि चोच्छ्रितैः।
पुरुषाणां, तथा स्त्रीणां ज्ञेयो रक्तेन चापरः ॥३॥

पुरुषों को वह एक एक अलग अलग तथा एक साथ सभी कुपित दोषों से (वातज, पित्तज, कफज तथा त्रिदोषज) उत्पन्न होता है और स्त्रियों को रक्त से (रक्तज) एक और भी होता है।

वक्तव्य—(२३२) रक्तज से आर्तवज गुल्म समझना चाहिये। क्षारपाणि आदि कुछ आचार्यों ने रक्तज गुल्म की उत्पत्ति स्त्रियों और पुरुषों में समान रूप से बतलायी है और आर्तवज गुल्म पृथक् माना है। चरक ने द्वन्द्वज गुल्म भी माने हैं।

पूर्वरूप

उद्गारबाहुल्यपुरीषबन्ध-
तृप्त्यक्षमत्वान्त्रविकूजनानि।
आटोप आध्मानमपक्तिशक्ति-
रासन्नगुल्मस्य वदन्ति चिह्नम् ॥४॥

उद्गारों की अधिकता, मलबद्धता, तृप्ति (पेट भरा हुआ प्रतीत होना तथा भोजन करने की इच्छा न होना), अशक्ति, आंतों में गुड़गुड़ाहट, गुड़गुड़ाहट सहित आध्मान अथवा केवल आध्मान; और पाचन-शक्ति का अभाव—ये गुल्म के पूर्वरूप कहे जाते हैं।

सामान्य रूप

अरुचिः कृच्छ्रविण्मूत्रवातताऽन्त्रविकूजनम्।
आनाहश्चोर्ध्ववातत्वं सर्वगुल्मेषु लक्षयेत् ॥५॥

अरुचि, मल, मूत्र और वायु की प्रवृत्ति कठिनाई से होना, आंतों में गुड़गुड़ाहट, आनाह (मलावरोध एवं आंत्रावरोध) तथा ऊर्ध्ववात (डकारों की अधिकता)—ये लक्षण सभी गुल्मों में पाये जाते हैं।

वातज गुल्म, वायुगुल्म अथवा वायगोला

रूक्षान्नपानं विषमातिमात्रं
विचेष्टनं वेगविनिग्रहश्च।
शोकोऽभिघातोऽतिमलक्षयश्च
निरन्नता चानिलगुल्महेतुः ॥६॥
यः स्थानसंस्थानरुजां विकल्पं
विड्वातसङ्गं गलवक्त्रशोषम्।
श्यावारुणत्वं शिशिरज्वरं च
हृत्कुक्षिपार्श्वांसशिरोरुजं च ॥७॥
करोति जीर्णे त्वधिकं प्रकोपं
भुक्ते मृदुत्वं समुपैति यश्च।
वातात्स गुल्मो न च तत्र रूक्षं
कषायतिक्तं कटु चोपशेते ॥८॥

रूक्ष, विषम एवं अधिक मात्रा में अन्न-पान का सेवन, विरुद्ध चेष्टाएं (स्वास्थ्यरक्षा के नियमों के विरुद्ध आचरण), वेग-निग्रह, शोक, अभिघात, अति मल-क्षय और अनशन वातज गुल्म के निदान हैं। जिस गुल्म के स्थान, आकार एवं पीड़ा में परिवर्तन होते रहते हों; जिसके साथ मल एवं वायु का अवरोध, गले और मुंह का सूखना, श्यावता एवं अरुणता (*Face congested and cyanosed*), शीतपूर्वक ज्वर और हृदय, कुक्षि, पार्श्व, कंधे और सिर में पीड़ा हो तथा जो भोजन पचने पर प्रकोप करता और भोजन करने पर सौम्य हो जाता हो वह वातज गुल्म है। इसमें रूक्ष कषाय एवं तिक्त पदार्थों से शान्ति नहीं मिलती।

पित्तज गुल्म

कट्वम्लतीक्ष्णोष्णविदाहिरूक्ष-
क्रोधातिमद्यार्कहुताशसेवा।
आमाभिघातो रुधिरं च दुष्टं
पैत्तस्य गुल्मस्य निमित्तमुक्तम् ॥९॥
ज्वरः पिपासा वदनाङ्गरागः
शूलं महज्जीर्यति भोजने च।
स्वेदो विदाहो व्रणवच्च गुल्मः
स्पर्शासहः पैत्तिकगुल्मरूपम् ॥१०॥

कटु, अम्ल, तीक्ष्ण, उष्ण, विदाही एवं रूक्ष पदार्थ, क्रोध, मद्य, सूर्य-सन्ताप एवं अग्नि के ताप का अधिक सेवन, आम (अजीर्ण जन्य विषाक्त पदार्थ) की प्रतिक्रिया और दूषित रक्त पित्तज गुल्म के निदान कहे गये हैं। ज्वर, प्यास, चेहरे एवं सर्वाङ्ग में लालिमा, भोजन पचते समय उग्र प्रकार का शूल, स्वेद, दाह (अथवा भोजन का विदाह) और गुल्म में व्रण के समान स्पर्शासह्य होना गल्म के लक्षण हैं।

कफज गुल्म और त्रिदोषज गुल्म के निदान

शीतं गुरु स्निग्धमचेष्टनं च
संपूरणं प्रस्वपनं दिवा च।
गुल्मस्य हेतुः कफसंभवस्य
सर्वस्तु दुष्टो निचयात्मकस्य ॥११॥

शीतल, भारी एवं स्निग्ध पदार्थों का सेवन; काम न करना, डटकर भोजन करना और दिन में सोना कफज गुल्म के हेतु हैं।

सभी दोषों का दूषित होना त्रिदोषज गुल्म का हेतु है।

कफज गुल्म के लक्षण

स्तैमित्यशीतज्वरगात्रसाद-
हृल्लासकासारुचिगौरवाणि।
शैत्यं रुगल्पा कठिनोन्नतत्वं
गुल्मस्य रूपाणि कफात्मकस्य ॥१२॥

शरीर गीले वस्त्र से पोंछे हुए के समान प्रतीत होना, शीतपूर्वक ज्वर, अङ्गों में शिथिलता, हृल्लास, खांसी,

अरुचि और भारीपन रहना तथा गुल्म में शीतलता, अल्प पीड़ा, कड़ापन एवं उभार रहना कफज गुल्म के लक्षण हैं।

द्वन्द्वज गुल्म

निमित्तरूपाण्युपलभ्य गुल्मे
द्विदोषजे दोषबलाबलं च।
व्यामिश्रलिङ्गानपरांश्च गुल्मां-
स्त्रीनादिशेदौषधकल्पनार्थम् ॥१३॥

गुल्म में दो दोषों के निदान, लक्षण एवं दोष बलाबल (दो दोषों का बलोत्कर्ष और तीसरे का बलक्षय) मिलने पर चिकित्सा के लिए मिश्रित लक्षणों वाले (द्वन्द्वज) तीन अन्य गुल्मों का भी निर्देश करना चाहिये।

त्रिदोषज गुल्म

महारुजं दाहपरीतमश्म-
वद्घनोन्नतं शीघ्रविदाहि दारुणम्।
मनःशरीराग्निबलापहारिणं
त्रिदोषजं गुल्ममसाध्यमादिशेत् ॥१४॥

महान् पीड़ा एवं दाह से युक्त, पत्थर के समान कठोर एवं उभरे हुए, शीघ्र पकने वाले, भयंकर तथा मन, शरीर और अग्नि के बल का अपहरण करने वाले गुल्म को त्रिदोषज एवं असाध्य कहना चाहिये।

वक्तव्य—(२३३) लक्षण पूरे पूरे एवं अत्युग्र होने पर असाध्य हैं; इसके विपरीत अल्प एवं सौम्य लक्षण होने पर त्रिदोषज गुल्म भी साध्य हो सकता है। सुश्रुत ने इसकी चिकित्सा का विधान किया है।

रक्तज गुल्म अथवा रक्तगुल्म

नवप्रसूताऽहितभोजना या
या चामगर्भं विसृजेदृतौ वा।
वायुर्हि तस्याः परिगृह्य रक्तं
करोति गुल्मं सरुजं सदाहम्।
पैत्तस्य लिङ्गेन समानलिङ्गं
विशेषणं चाप्यपरं निबोध ॥१५॥
यः स्पन्दते पिण्डित एव नाङ्गै-
श्चिरात्सशूलः समगर्भलिङ्गः।
स रौधिरः स्त्रीभव एव गुल्मो
मासे व्यतीते दशमे चिकित्स्यः ॥१६॥

जो स्त्री प्रसव होने पर अथवा गर्भपात होने पर अथवा ऋतु-काल में अहित-कारक भोजन करती है उसकी वायु (कुपित होकर) रक्त को ग्रहण करके पीड़ा, दाह और पित्तज गुल्म के समान लक्षणों से युक्त गुल्म उत्पन्न करती है। उसकी अन्य विशेषतायें सुनो—

जो पिण्डित अवस्था में ही रहकर स्पन्दन करता है, अङ्गों से स्पन्दन नहीं करता (अगों का विकास नहीं होता) तथा दीर्घकाल तक शूलवत् पीड़ा एवं गर्भ के समान लक्षण उत्पन्न करता है वही स्त्रियों में होने वाला रक्तज गुल्म है। यह दसवां महीना व्यतीत होने पर चिकित्स्य है।

वक्तव्य—(२३४) दसवें महीने के बाद चिकित्सा की अनुमति देने का कारण यही है कि उस समय तक निदान निश्चित एवं असंदिग्ध हो जाता है। यदि दसवें महीने के पूर्व ही निदान में रंचमात्र सन्देह न हो तो उसी समय चिकित्सा में प्रवृत्त हुआ जा सकता है।

असाध्य लक्षण

संचितः क्रमशो गुल्मो महावास्तुपरिग्रहः।
कृतमूलः सिरानद्धो यदा कूर्म इवोत्थितः ॥१७॥
दौर्बल्यारुचिहृल्लासकासच्छर्द्यरतिज्वरैः।
तृष्णातन्द्राप्रतिश्यायैर्युज्यते स न सिध्यति ॥१८॥

जब गुल्म क्रमशः बढ़कर बहुतसा स्थान घेर लेता है, जड़ बना लेता है (अर्थात् गंभीर धातुओं तक फैल जाता है), उस पर शिरायें उभर आती हैं और वह कछुए के समान उभरा हुआ लक्षित होता है तथा दुर्बलता, अरुचि, हृल्लास, खांसी, वमन, बेचैनी, ज्वर, तृष्णा एवं प्रतिश्याय से युक्त हो जाता है तब वह असाध्य हो जाता है।

गृहीत्वा सज्वरं श्वासच्छर्द्यतीसारपीडितम्।
हृन्नाभिहस्तपादेषु शोथः कर्षति गुल्मिनम् ॥१९॥

ज्वर, श्वास, वमन एवं अतिसार से पीड़ित गुल्मरोगी के हृदय, नाभि हाथों एवं पैरों में शोथ उत्पन्न होकर उसे उत्तरोत्तर अधिक दुर्बल बनाता है।

श्वासः शूलं पिपासाऽन्नविद्वेषो ग्रन्थिमूढता।
जायते दुर्बलत्वं च गुल्मिनो मरणाय वै ॥२०॥

पाश्चात्य मत—

वक्तव्य—(२३५) वातज गुल्म की उत्पत्ति आन्त्र में स्थित अन्न के सड़ने से उत्पन्न वायु के अवरुद्ध होने से होती है। अवरुद्ध वायु पीड़ा एवं तनाव उत्पन्न करती हुई इतस्ततः भ्रमण करती है। कुछ मामलों में स्पष्ट उभार लक्षित होता है और कुछ में केवल टटोलने से ज्ञान होता है। दबाने, मलने आदि से तथा डकार आने या अपानवायु निकलने से शांति मिलती है। एक अन्य प्रकार का वातज गुल्म हिस्टीरिया से उत्पन्न होता है; उदर पर की दण्डिका पेशी विशेष प्रकार से आकुंचित होकर एक कठोर अर्बुद का रूप धारण कर लेती है। सामान्यतः यह थोड़े समय में अदृष्य होकर कुछ काल बाद पुनः उसी स्थान पर अथवा अन्य स्थान पर उत्पन्न होता है किन्तु कुछ मामलों में यह एक ही स्थान पर लम्बे समय तक रह सकता है यहां तक कि चिकित्सक शल्य क्रिया के लिये भी प्रस्तुत हो जावे, किन्तु संज्ञाहर द्रव्यों का प्रयोग करते ही यह एकदम लुप्त हो जाता है। इसे मिथ्यार्बुद (Phantom Tumour) कहते हैं।

अन्य गुल्मों को कोषार्बुद (Cysts) कहा जा सकता है क्योंकि दोनों के लक्षणों में अत्यधिक साम्य है तथापि विरोध यह है कि गुल्म केवल कोष्ठ में ही उत्पन्न होते हैं जबकि कोषार्बुद शरीर के किसी भी भाग में उत्पन्न हो सकते हैं।

कोषार्बुद (Cysts)—ये सौत्रिक धातु (Fibrous Tissue) से बनी हुई गोलाकार थैलियां हैं जिनमें तरल अथवा गाढ़ा पदार्थ भरा रहता है। इनके मुख्य ४ प्रकार हैं—१. अवरोधजन्य कोषार्बुद, २. निस्स्रावजन्य कोषार्बुद, ३. त्वचाजन्य कोषार्बुद और ४. कृमि-कोष।

(१) अवरोधजन्य कोषार्बुद (Retention Cysts)—स्राव करने वाली ग्रन्थियों (स्तन, अग्न्याशय, लाला-ग्रंथियां, डिम्वा ग्रंथियां, वृक्क, यकृत, त्वचागत मेद-ग्रंथियां (Sebaceous Glands), श्लेष्म-ग्रंथियां Mucous Glands इत्यादि) की नलिकाओं में अवरोध होने से उनका स्राव संचित होता रहता है जिससे तनाव होकर उनकी वृद्धि होती है और कोषार्बुद बन जाता है।

यकृत के कोषार्बुद के लक्षण पित्तज गुल्म के समान और डिम्ब-ग्रंथियों के कोषार्बुद के लक्षण रक्तज अर्बुद के समान होंगे।

(२) निस्स्रावजन्य कोषार्बुद (Exudation Cysts)—अभिघात आदि कारणों से लसवाहिनियों या रक्तवाहिनियों में से भीतर की धातुओं में स्राव होने से स्रावजन्य कोषार्बुद बनते हैं। ये अधिकतर संधियों अथवा लसिकात्मक गुहाओं (फुफ्फुसावरण, उदरावरण आदि की गुहाओं) में पाये जाते हैं।

(३) त्वचाजन्य कोषार्बुद (Dermoid Cysts)—जन्म से ही कुछ लोगों के शरीर के किसी किसी भाग में त्वचा में गर्त रहते हैं और उनके आस पास त्वचा की किनारें बढ़ी हुई रहती हैं। समय पाकर ये किनारे आस पास आकर थैली का रूप धारण कर लेती हैं। इनके भीतरी भाग में मेद-ग्रंथियां, बाल, स्वेदग्रंथियां आदि पायी जाती हैं। अधिकतर इनके भीतर त्वचा की मेद-ग्रंथियों में से निकलने वाला मेद (Sebum) भरा रहता है। कभी कभी इनमें से बाल बाहर निकले हुये पाये जाते हैं। ये अधिकतर चेहरे, कण्ठ एवं सीवन-प्रदेश में पायी जाती हैं।

कभी कभी सुई, कांटे, कील आदि के चुभने से त्वचा का कुछ भाग भीतर धंस जाता है और ऊपरी किनारें परस्पर मिलकर रोपण हो जाता है। इसके फलस्वरूप भी इसी प्रकार के किन्तु प्रायः छोटे कोषार्बुद तैयार होते हैं।

(४) कृमि कोष (Hydatid Cysts)—इनका वर्णन अध्याय ७ में हो चुका है।

डिम्ब कोषार्बुद अथवा रक्तगुल्म (Ovarian Cysts)—यह अत्यन्त भ्रमोत्पादक नाम है। डिम्ब-

ग्रंथियों तथा उनसे सम्बन्धित अवयवों में अनेक प्रकार के कोषयुक्त और कोषरहित घातक और अघातक अर्बुद (Benign and Malignant Tumours) उत्पन्न होते हैं जिनका आकार साधारण से लेकर अत्यन्त बड़ा तक हो सकता है। कोषार्बुदों में केवल अवरोधजन्य कोषार्बुद ही सामान्यतः पाये जाते हैं किन्तु इनका आकार अधिक बड़ा नहीं होता। इन सबके लक्षणों में प्रकृति, आकार आदि के अनुरूप लक्षणों में अत्यधिक विभिन्नता रहती है। सामान्यतः उदर क्रमशः बढ़ते जाना, बारम्बार मूत्रत्याग, कमर में पीड़ा, गृध्रसी, आर्तव-हीनता (कुछ मामलों में ऋतुस्राव बराबर चालू रहता है), पैरों में शोथ और अत्यन्त कृशता आदि लक्षण पाये जाते हैं; उदर के तनाव के कारण पाचन सम्बन्धी विकार भी होते हैं।

सभी प्रकार के कोषार्बुद अत्यन्त चिरकारी प्रकार के होते हैं। इनसे किसी अङ्ग की क्रियाओं में अवरोध होने पर उस अङ्ग से सम्बन्धित लक्षण उत्पन्न होते हैं अन्यथा कोई लक्षण उत्पन्न नहीं होते। इनमें पाक की प्रवृत्ति नहीं होती किन्तु उपसर्ग हो जाने पर पाक होकर विद्रधि बन जाती है। अवरोधजन्य कोषार्बुद और कृमिकोष कभी कभी भीतर ही भीतर फट जाते हैं और उनमें भरा हुआ पदार्थ रक्तादि से मिलकर भयङ्कर विषमयता उत्पन्न करता है जिससे मृत्यु तक हो सकती है।

: २९ :

हृद्रोग

निदान

अत्युष्णगुर्वन्नकषायतिक्तश्रमाभिघाताध्यशनप्रसङ्गैः।
संचिन्तनैर्वेगविधारणैश्च हृदामयः पञ्चविधः प्रदिष्टः ॥१॥

अत्यधिक उष्ण, भारी, कषाय एवं तिक्त भोजन; श्रम, अभिघात, अध्ययन, मैथुन, चिन्ता और वेग-धारण से पांच प्रकार का हृदय-रोग (हृद्रोग) उत्पन्न होता है।

सम्प्राप्ति

दूषयित्वा रसं दोषा विगुणा हृदयं गताः।
हृदि बाधां प्रकुर्वन्ति हृद्रोगं तं प्रचक्षते ॥२॥

कुपित दोष रस को दूषित करके हृदय में जाकर हृदय में जो विकार उत्पन्न करते हैं उसे हृद्रोग कहते हैं।

वातज हृद्रोग

आयम्यते मारुतजे हृद्रोगं तुद्यते तथा।
निर्मथ्यते दीर्यते च स्फोटयतेऽपाटयतेऽपि च ॥३॥

वातज हृद्रोग में हृदय में तनाव, चुभन तथा मथने, फाड़ने, फोड़ने और चीरने के समान पीड़ा होती है।

पित्तज हृद्रोग

तृष्णोष्मादाहचोषाः स्युः पैत्तिके हृदयक्लमः।
धूमायनं च मूर्च्छा च स्वेदः शोषो मुखस्य च ॥४॥

पित्तज हृद्रोग में प्यास, गर्मी, दाह, चूसने के समान पीड़ा, हृदय में थकावट, गले में से धुवां सा निकलने की प्रतीति, मूर्च्छा, स्वेद और मुख सूखना—ये लक्षण होते हैं।

कफज हृद्रोग

गौरवं कफसंस्रावोऽरुचिः स्तम्भोऽग्निमार्दवम्।
माधुर्यमपि चास्यस्य बलासावतते हृदि ॥५॥

हृदय कफ से आक्रान्त होने पर (कफज हृद्रोग में) भारीपन, कफस्राव, अरुचि, जकड़ाहट, अग्नि की मन्दता और मुख में मधुरता ये लक्षण होते हैं।

त्रिदोषज और क्रिमिज हृद्रोग

विद्यात्त्रिदोषं त्वपि सर्वलिङ्गम्—
—तीव्रार्तितोदं क्रिमिजं सकण्डूम्।

त्रिदोषज हृद्रोग को सभी दोषों के लक्षणों से युक्त तथा

क्रिमिज हृद्रोग को खुजलाहट तथा तीव्र पीड़ा और चुभन से युक्त जानो।

क्रिमिज हृद्रोग (पुनः)

उत्क्लेदः ष्ठीवनं तोदः शूलं हृल्लासकस्तमः।
अरुचिः श्यावनेत्रत्वं शोथश्च क्रिमिजे भवेत्॥६॥

उत्क्लेद, बारम्बार थूकना, तोद, शूल, हृल्लास, आंखों के आगे अंधेरा छा जाना, अरुचि, नेत्रों में मैलापन और शोथ – ये लक्षण क्रिमिज हृद्रोग में होते हैं।

हृद्रोगों के उपद्रव

क्लमः सादो भ्रमः शोषो ज्ञेयास्तेषामुपद्रवाः।
क्रिमिजे क्रिमिजातीनां श्लैष्मिकाणां च ये मताः॥७॥

थकावट, अवसाद, भ्रम और शोष (कृशता)—ये उनके (हृद्रोगों के) उपद्रव हैं। कृमिज हृद्रोगों में कफज कृमिरोग के उपद्रव और भी होते हैं।

वक्तव्य—(२३६) हृद्रोगों का उक्त वर्णन अत्यन्त संक्षिप्त है। पाश्चात्य ग्रन्थों में हृद्रोगों का अत्यन्त विशद एवं विस्तृत वर्णन मिलता है। स्थानाभाव के कारण वह सब यहां नहीं दिया जा सकता। हृदय के कुछ रोगों का वर्णन ज्वर, मूर्च्छा एवं श्वास के प्रकरणों में हो चुका है। यहां केवल ४ महत्वपूर्ण रोगों का वर्णन किया जाता है —

पाश्चात्य मत—

(१) हृत्कम्प, हृत्स्पन्दन वृद्धि, अथवा हृदय की धड़कन (Palpitation)—इस रोग में रोगी को अनुभव होता है कि उसका हृदय बड़े जोरों से फड़क रहा है। इसके साथ हृल्लास, बेचैनी, घबराहट, अवसाद आदि लक्षण भी हो सकते हैं। यह रोग अधिकतर सुकुमार एवं शीघ्र उत्तेजित हो जाने वाली स्त्रियों में पाया जाता है, इसी प्रकार के पुरुष भी यदाकदा आक्रान्त होते देखे जाते हैं। सामान्यतः इसकी उत्पत्ति उच्चरक्तनिपीड़ (Hypertension, High blood pressure हाईब्लड-प्रेशर), महाधमनी एवं हृदय की गति से सम्बन्धित अनेक प्रकार की विकृतियां, आयास-संरूप (Effort Syndrome), वातनाड्युत्कर्ष (Neurasthenia), अवटुका ग्रन्थि के कार्याधिक्य से उत्पन्न विषमयता, मासिक-धर्म सम्बन्धी विकार, रक्तक्षय, जानपदिक शोथ (Epidemic Dropsy), चाय, तम्बाकू, शराब आदि का अधिक सेवन इत्यादि कारणों से होती है। अधिकांश मामलों में हृदय की गति में वास्तविक विकार रहता है किन्तु कुछ मामलों में केवल वातनाड़ियों की अधिक संवेदन-शीलता के कारण ही ऐसा अनुभव होता है।

(२) हृच्छूल (Stenocardia, Angina Pectoris, Herberdens Angina, or Angina of Effort)—यह रोग अधिकतर ४० वर्ष से अधिक आयु के पुष्ट एवं सुकुमार व्यक्तियों (विशेषतः पुरुषों) में पाया जाता है। अधिकांश मामलों में हृत्पेशी का अपजनन, अधिक मानसिक एवं शारीरिक श्रम तथा वातनाड़ियों को अधिक संवेदनशीलता प्रमुख कारण पाये जाते हैं। प्रावेगिक शीघ्रहृदयता● (Paroxysmal Tachycardia) उच्चरक्तनिपीड़, अवटुका-विषमयता, चिरकारी वृक्कप्रदाह, वातरक्त, मधुक्षय (उपमधुमयता, Hypoglycaemia, मधुमेह की विपरीत अवस्था), रक्तक्षय, महाधमनी पर फिरङ्ग अथवा आमवातिक ज्वर का दुष्प्रभाव, तम्बाखू एवं शराब का व्यसन, सीसे आदि धातुओं के विषप्रभाव, ज्वर एवं चिरकारी पूयकारी रोगों के आभ्यन्तर विष आदि कारण भी जिम्मेदार हैं।

यह रोग प्रावेगी प्रकार का है। लक्षणों की उत्पत्ति श्रम (तेजी से चलना, दौड़ना या अन्य कोई काम करना) उत्तेजना (क्रोध आदि), अति भोजन या शीत लग जाने से होती है। उरःफलक के आधे से अधिक ऊपरी भाग के पीछे अथवा कण्ठ एवं ऊपरी वक्ष में एकाएक तीव्र पीड़ा होती है। कभी कभी यह पीड़ा

●इस रोग में समय समय पर अचानक कुछ काल के लिये हृदय एवं नाड़ी की गति तीव्र हो जाती है।

वक्ष के निचले भाग अथवा उदर में भी प्रतीत हो सकती है। पीड़ा के आरम्भ होते ही रोगी अपने स्थान पर खड़ा हो जाता है और १-२ मिनिटों में पीड़ा शान्त हो जाती है। किन्तु यदि वह नहीं रुकता तो पीड़ा बढ़कर बायें हाथ, गले और चेंथी, अथवा सारे वक्ष और दोनों हाथों में फैल जाती है। पीड़ा स्थिर प्रकार की होती है, चुभन (तोद), शूल, धमक, फटन आदि से उसकी समानता स्थापित नहीं की जा सकती। अधिकतर इसके साथ ही ऐसा प्रतीत होता है मानों कोई पूरे वक्ष को यंत्र में रखकर दबा रहा हो।

आक्रमण के समय पर रोगी को ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी मृत्यु का समय आ पहुंचा। उसका चेहरा उतर जाता है और त्वचा पीताभ एवं शीतल चिपचिपे प्रस्वेद से तर हो जाती है। कुछ मिनिटों के बाद प्रावेग समाप्त हो जाता है। उस समय अत्यधिक लालास्राव, अत्यधिक उद्गार, अत्यधिक मूत्र त्याग या वमन होता है। कुछ मामलों में आक्रमण के समय पीड़ा के अतिरिक्त शेष सब लक्षण उत्पन्न होते हैं—Angina Sine Dolore।

इस रोग के प्रावेग हमेशा परिश्रम करते समय अथवा मानसिक परिश्रम करने के कुछ देर बाद आते हैं, आराम से लगभग तुरन्त ही शान्ति मिलती है, आराम करते समय कदापि आक्रमण नहीं होता और पीड़ा के स्थानों पर दबाने से कोई प्रभाव नहीं होता—ये लक्षण निदानात्मक हैं। यदि इसके साथ आभास संरूप उपस्थित हो तो पीड़ा के स्थान को दबाने से पीड़ा होती है।

यह रोग अत्यन्त चिरकारी प्रकार का है। मनुष्य को बेकार कर देता है किन्तु प्राय: प्राणघातक नहीं होता।

(३) हृत्-धमनी घनास्रता अथवा हृत्पेशी-अन्त:स्फान (Coronary Thrombosis, Coronary Occlusion or Myocardial Infarction)—इस रोग की उत्पत्ति-धमनी की भित्तियों में व्रण होने से होती है। भित्तिव्रणों के कारण रक्तप्रवाह में बाधा उत्पन्न होती है जिससे रक्त जम जाता है और प्रवाह पूर्णतया अवरुद्ध होजाता है। इस अवरोध के फलस्वरूप हृद्-पेशी का अन्त: स्फान हो जाता है। लक्षणों की गंभीरता अन्त:स्फान के आकार के अनुरूप होती है।

उर: फलक के नीचे पीड़ा, श्वासकष्ट, स्तब्धता और निपात प्रधान लक्षण हैं, प्राय: इनके साथ हृल्लास एवं वमन भी होते हैं पीड़ा का आरम्भ अचानक सोते समय या आराम करते समय होता है, श्रम आदि कारण नहीं मिलते—हृत्शूल से विभेद। पीड़ा की उग्रता विकृति के अनुरूप रहती है। सौम्य मामलों में यह इतनी साधारण रहती है कि इस ओर ध्यान ही नहीं दिया जाता और गंभीर मामलों में इतनी शीघ्र मृत्यु हो जाती है कि चिकित्सक को बुलाने तक का अवसर नहीं मिलता। मध्यम प्रकार के मामलों में पीड़ा अचानक उत्पन्न होकर तेजी से बढ़ती है, उसका स्वरूप दाह या मरोड़ के समान एवं अत्यन्त कष्टप्रद रहता है तथा स्थान अधिकतर उर:फलक के निचले छोर के पास रहता है। कुछ मामलों में वह ऊपर की ओर सारे वक्ष, कण्ठ एवं हाथों में तथा अन्य मामलों में उदर में फैलती है। उदर में फैलने पर आध्मान, हृल्लास एवं वमन होते हैं। शरीर पीताभ एवं शीतल प्रस्वेदयुक्त होजाता है, चेहरे पर श्यावता उत्पन्न होती है। श्वासकष्ट उपस्थित रहता है। यह दशा कुछ घण्टों या १-२ दिन रहती है और फिर सुधार या हृदयातिपात के लक्षण उत्पन्न होते हैं। ज्वरयुक्त हृदयावरण-प्रदाह तथा श्वेतकायाणूत्कर्ष (१००00 से १५000 तक) होना सुधार का लक्षण है। प्रदाह के कारण संलाग उत्पन्न होते हैं और अन्य रक्तवाहिनियों से संबंध होकर अन्त:स्फानता दूर होती है। नाड़ी की गति तीव्र (१०० से ऊपर) या अत्यन्त मंद हो जाना, हृदय की गति अनियमित और शब्द मन्द हो जाना, फुफ्फुसों में रक्ताधिक्य एवं शोथ हो जाना तथा अधिक श्वासकष्ट हृदयातिपात के लक्षण हैं, इनसे अधिकतर मृत्यु हो जाती है।

कम आयु वाले रोगियों में सुधार की आशा अधिक रहती है। प्राणरक्षा हो चुकने पर कुछ रोगी पूर्ण स्वस्थ हो जाते हैं और कुछ हमेशा के लिये कमजोर एवं कार्य-अक्षम हो जाते हैं।

(४) उच्च रक्तनिपीड़, रक्तभारातिवृद्धि अथवा ब्लड प्रेशर (Hypertension or High-Blood-Pressure)—रक्त-निपीड़ या रक्त-भार की वृद्धि इस रोग का प्रधान लक्षण है। इसकी उत्पत्ति किसी अज्ञात कारण से अथवा हृदय, वृक्क, रक्तवाहिनियों वातनाड़ियों अथवा अन्तःस्रावी ग्रंथियों के विकारों से होती है। हृदयगत विकृति अधिकांश मामलों में प्रारंभ से ही रहती है, शेष में बाद की दशाओं में उत्पन्न हो जाती है। अधिकतर हृदय के वाम निलय की परमपुष्टि होती है, रोग अधिक बढ़ने पर लगभग पूरा हृदय विस्फारित हो जाता है।

प्रारम्भ में कोई खास लक्षण नहीं होते, कभी कभी सिर में धमकन (Throbbing Pain) हो सकता है। विकृतियां काफी वृद्धिगत हो चुकने पर अजीर्ण, भ्रम, तम, सिरदर्द, अनिद्रा, अस्थाई एकाङ्गघात, त्वचागत एवं नेत्रगत रक्तस्राव तथा नाक से रक्तस्राव आदि लक्षण होते हैं। हृदय अधिक कमजोर हो चुकने पर क्षुद्र श्वास अथवा हार्दिक तमक श्वास, पैरों में हल्का शोथ, हृच्छूल, आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

रोग अत्यधिक बढ़ चुकने पर उक्त लक्षण अधिक त्रासदायक हो जाते हैं और धातुओं का क्षय बड़ी तीव्रता के साथ होता है। वमन, सिरदर्द, तन्द्रा, प्रलाप, आक्षेप मूर्च्छा, संन्यास आदि होकर मृत्यु हो जाती है। मृत्यु का कारण रक्ताधिक्य हृदयातिपात, मस्तिष्कगत रक्तस्राव या घनास्रता अथवा मूत्रमयता रहता है।

सांकोचिक रक्तनिपीड़ १५० मिलीमीटर पारद के तुल्य और वैस्फारिक रक्तनिपीड़ ९५ मिलीमीटर पारद के तुल्य होना रोग-निर्णायक है। रोगी अधिकतर ३० वर्ष से अधिक आयु का होता है। नाड़ी भरी हुई एवं कठोर रहती है, धमनियों की दीवारों में भी कठोरता रहती है और कुछ मामलों में भुजा, मणिबंध और शंखप्रदेश की नाड़ियां उभरी हुई एवं स्पष्ट फड़कती हुई दृष्टिगोचर होती हैं। क्ष-किरण चित्र में हृदय का वाम निलय बढ़ा हुआ मिलता है वृक्क अधिक प्रभावित होने पर मूत्र का आपेक्षिक घनत्व घट जाता है उसमें श्विति निर्मोक और लाल रक्त कण पाये जाते हैं।

रोगकाल यद्यपि लम्बा रहता है तथापि आयु अत्यन्त घट जाती है।

: ३० :

मूत्रकृच्छ्र

निदान एवं भेद

व्यायामतीक्ष्णौषधरूक्षमद्य-
प्रसङ्ग नित्यद्रुतपृष्ठयानात्।
आनूपमांसाध्यशनादजीर्णात्-
स्युर्मूत्रकृच्छ्राणि नृणां तथाऽष्टौ ॥१॥

व्यायाम, तीक्ष्ण औषधि, रूक्ष भोजन, मद्यपान, मैथुन, नित्य तीव्रगामी घोड़े आदि की पीठ पर सवारी करना, आनूप मांस, भोजन पर भोजन और अजीर्ण से मनुष्यों को आठ प्रकार के मूत्रकृच्छ्र होते हैं।

सम्प्राप्ति

पृथङ्मलाः स्वैः कुपिता निदानैः
सर्वेऽथवा कोपमुपेत्य बस्तौ।

मूत्रस्य मार्गं परिपीडयन्ति
यदा तदा मूत्रयतीह कृच्छ्रात् ॥२॥

पृथक् पृथक् दोष अथवा सभी दोष एक साथ अपने प्रकोपक कारणों से कुपित होकर मूत्राशय में पहुँच कर मूत्र के मार्ग को जब पीड़ित करते हैं तब रोगी कष्ट के साथ मूत्र त्याग करता है।

वातज मूत्रकृच्छ्र

तीव्रातिरुग्वङ्क्षणबस्तिमेढ्रे-
स्वल्पं मुहुर्मूत्रयतीह वातात्।

वात के प्रकोप से वंक्षण (रान) मूत्राशय और लिंग में तीव्र कष्टदायक पीड़ा के साथ बार बार थोड़ा थोड़ा मूत्र उतरता है।

पित्तज मूत्रकृच्छ्र

पीतं सरक्तं सरुजं सदाहं
कृच्छ्रं मुहुर्मूत्रयतीह पित्तात् ॥३॥

पित्त के प्रकोप से पीला एवं लालिमायुक्त अथवा रक्तयुक्त मूत्र पीड़ा और दाह के साथ बारबार कठिनाई से उतरता है।

कफज मूत्रकृच्छ्र

वस्तेः सलिङ्गस्य गुरुत्वशोथौ
मूत्रं सपिच्छं कफमूत्रकृच्छ्रे।

कफज मूत्रकृच्छ्र में मूत्राशय और लिंग में भारीपन तथा शोथ रहता है और मूत्र पिच्छिल रहता है।

सन्निपातज मूत्रकृच्छ्र

सर्वाणि रूपाणि तु सन्निपाताद्
भवन्ति तत्कृच्छ्रतमं हि कृच्छ्रम् ॥४॥

सन्निपात से सभी लक्षण होते हैं। यह मूत्रकृच्छ्र कृच्छ्र-साध्य (अत्यन्त कष्टदायक अथवा अत्यन्त कष्टसाध्य) है।

शल्याभिघातज मूत्रकृच्छ्र

मूत्रवाहिषु शल्येन क्षतेष्वभिहतेषु वा।
मूत्रकृच्छ्रं तदाघाताज्जायते भृशदारुणम् ॥५॥
वातकृच्छ्रेण तुल्यानि तस्य लिङ्गानि निर्दिशेत्।

मूत्रवाही स्रोतों में शल्य के द्वारा क्षत होने अथवा अभिघात लगने से उस चोट के कारण अत्यन्त कष्टदायी मूत्रकृच्छ्र उत्पन्न होता है। इसके लक्षणों का निर्देश वातज मूत्रकृच्छ्र के समान करना चाहिये।

वक्तव्य—(२३७) मूत्रमार्ग में अधिकतर शलाका प्रवेश से क्षत या अभिघात होता है। क्षत से व्रण या घाव समझना चाहिए और अभिघात से मूढ़मार (मुंदी चोट) समझना चाहिये।

पुरीष-निग्रहजन्य मूत्रकृच्छ्र

शकृतस्तु प्रतीघाताद्वायुर्विगुणतां गतः ॥६॥
आध्मानं वातशूलं च मूत्रसङ्गं करोति च।

मल के निग्रह से वायु कुपित होकर आध्मान, वातज शूल और मूत्रावरोध उत्पन्न करती है।

वक्तव्य—(२३८) 'पुरीष-निग्रहजन्य उदावर्त' देखिये।

अश्मरीजन्य मूत्रकृच्छ्र

अश्मरीहेतु तत्पूर्वं मूत्रकृच्छ्रमुदाहरेत् ॥७॥

अश्मरी के कारण होने वाले मूत्रकृच्छ्र को अश्मरीजन्य मूत्रकृच्छ्र कहते हैं।

शुक्रजन्य मूत्रकृच्छ्र

शुक्रे दोषै रुपहते मूत्रमार्गे विधाविते।
सशुक्रं मूत्रयेत्कृच्छ्राद् बस्तिमेहनशूलवान् ॥८॥

जब दोषों के प्रकोप से च्युत हुआ वीर्य मूत्रमार्ग में पहुचता है तब रोगी कष्ट के साथ शुक्रमिश्रित मूत्र त्याग करता है तथा उसे मूत्राशय और लिंग में शूल होता है।

अश्मरी और शर्करा में भेद

अश्मरी शर्करा चैव तुल्यसंभवलक्षणे।
विशेषणं शर्करायाः शृणु कीर्तयतो मम ॥९॥
पच्यमानाऽश्मरी पित्ताच्छोष्यमाणा च वायुना।
विमुक्तकफसन्धाना क्षरन्ती शर्करा मता ॥१०॥
हृत्पीडा वेपथुः शूलं कुक्षावग्निश्च दुर्बलः।
तया भवति मूर्च्छा च मूत्रकृच्छ्रं च दारुणम् ॥११॥
मूत्रवेगनिरस्ताभिः प्रशमं याति वेदना।
यावदस्याः पुनर्नैति गुडिका स्रोतसो मुखम् ॥१२॥

अश्मरी और शर्करा की उत्पत्ति तथा लक्षण समान हैं। शर्करा की विशेषता मैं कह रहा हूँ सुनो—

पित्त के द्वारा पकाई जाती हुई और वायु के द्वारा सुखाई जाती हुई अश्मरी जब कफ के बंधन से मुक्त होने के कारण बिखर कर निकलती है तब वह शर्करा कहलाती है।

मूत्र के बेग के द्वारा उसके निकल जाने से तब तक के लिये वेदना शान्त हो जाती है जब तक दुबारा शर्करा का दाना मूत्रनलिका के मुख में नहीं आता।

वक्तव्य—(२३६) कफ अश्मरी के कणों को जोड़ता है, वायु सुखाता है और पित्त पकाकर कठोर करता है। कफ की कमी से संधान भलीभांति नहीं होता जिससे अश्मरी बिखरी हुई रहती है, एक बड़ी अश्मरी नहीं बन पाती। वस्तुतः शर्करा (Gravel) छोटी छोटी अश्मरियों का समूह ही है, अन्य कुछ नहीं। पाश्चात्य चिकित्सक भी अश्मरी के निर्माण में कफ की उपस्थिति आवश्यक मानते हैं; कफ के अभाव में बड़ी अश्मरी का निर्माण लगभग असंभव सा है।

पाश्चात्य मत—

अ. मूत्रकृच्छ्र अथवा मूत्रत्याग करते समय कष्ट होना (*Disuria or Pain during micturition*)—मूत्रनलिका प्रदाह (*Urethritis*) अथवा मूत्रनलिका में फंसी हुई अश्मरी के कारण मूत्रत्याग करने में पीड़ा होती है; अष्ठोला ग्रन्थि (पौरुष-ग्रन्थि, (*Prostate Gland*) की वृद्धि के कारण भी मूत्रत्याग करते समय विटप देश (मूलाधार पीठ, लिङ्ग और गुदा के बीच का स्थान, *Parineum*) में पीड़ा होती है। मूत्र नलिका प्रदाह अधिकतर गुह्यगोलाणु उपसर्ग के कारण होता है किन्तु अन्य जीवाणुओं के उपसर्ग से भी हो सकता है।

मूत्राशय-प्रदाह (*Cystitis*) के कारण मूत्रत्याग अर्बुद तथा पौरुष-ग्रन्थि प्रदाह (*Prostatitis*) के कारण मूत्रत्याग के तुरन्त बाद ही पीड़ा का आरम्भ होता है जो कुछ देर रहती है।

ब. मूत्र-प्रवाहिका अथवा बारम्बार मूत्रत्याग की कष्टसह प्रवृत्ति (*Strangury*)—पीड़ा के साथ जल्दी जल्दी बहुत थोड़े थोड़े मूत्र का त्याग इसका लक्षण है। इसके निम्नलिखित कारण होते हैं—

(*i*) मूत्रनलिका गत—प्रदाह, सांकर्य, अश्मरी, वृद्धि-गत अथवा प्रदाहयुक्त पौरुष-ग्रन्थि, गर्भाशय-च्युति अथवा अर्बुद (बाहरी या भीतरी)।

(*ii*) मूत्राशय गत—प्रदाह, अभिघात, अर्बुद (बाहरी या भीतरी)।

(*iii*) भोजन—कटु तीक्ष्ण आदि क्षोभक आहार एवं औषधियां। औषधियों में कपूर, तारपीन का तैल, हैग्जामीन और कैन्थराइड मुख्य हैं।
(*iv*) वातिक—हिस्टीरिया, नाड्यवसन्नता अथवा फिरंगी खंजता।

(*v*) अन्य—वृक्क-प्रदाह, अर्शपीडा तथा मेरुदण्ड अथवा वृक्क-देश में अभिघात लगना।

(१) गुह्यगोलाणुजन्य मूत्रनलिका प्रदाह,* औपसर्गिक मेह, सुजाक अथवा पूयमेह (*Gonococcal Urethritis or Gonorrhoea*)—यह रोग मैथुन से फैलता है तथा अधिकतर दुराचारी व्यक्ति ही आक्रांत होते हैं। वस्त्रों की अदल-बदल से सदाचारी व्यक्तियों को भी हो सकता है। इससे पीड़ित माता की संतान के नेत्रों में उपसर्ग होकर नेत्रकलाप्रदाह हो जाता है। रक्तगत उपसर्ग से सन्धि-प्रदाह, हृदयावरण प्रदाह, मस्तिष्कावरण प्रदाह, नेत्रनाड़ी प्रदाह आदि

---

*गुह्यगोलाणु-जन्य मूत्रनलिका प्रदाह ही सबसे अधिक उपयुक्त नाम है। सुजाक उर्दू नाम है और गोनोरिया अंग्रेजी है। यह रोग प्रमेह की श्रेणी में नहीं आता अतएव मेह कहना अनुपयुक्त है। औपसर्गिक मेह किसी भी ऐसे प्रमेह को कह सकते हैं जो उपसर्ग से उत्पन्न हो सके—प्रथम यह मेह नहीं है और दूसरे औपसर्गिक के अन्तर्गत अन्य जीवाणुओं से उत्पन्न मूत्रनलिका प्रदाह भी सम्मिलित हो जाते हैं। पूयमेह इसलिए नहीं कह सकते कि अन्य रोगों में भी मूत्र के साथ पूय आता है।

होते हैं। चयकाल ३-१० दिनों का है।

(रोगी कई कल्पित कारण बतला सकता है यथा, गर्म पत्थर पर पेशाब करना, स्वप्नदोष या मैथुन में वीर्यपात न हो पाना आदि। इन सब कारणों से इस रोग के लक्षण उत्पन्न नहीं हो सकते। रोगी अपना पाप छिपाने के लिए ही झूठ बोलता है और चिकित्सक को उसके मुंह से सच्ची बात कहलाने से कोई लाभ नहीं है।)

पुरुष—मैथुन के बाद १० दिनों के भीतर मूत्र-कृच्छ्र और अक्सर मूत्र-प्रवाहिका भी उत्पन्न हो जाते हैं। मूत्र के साथ रक्त और पूय भी मिले रहते हैं। मूत्र-द्वार में से प्रारम्भ में पतला और फिर कुछ दिनों बाद पीला पूय गिरता रहता है। प्रायः ज्वर नहीं रहता किन्तु कुछ मामलों में हल्का ज्वर हो सकता है। रोग की उपेक्षा करने पर कुछ काल में पीड़ा शान्त हो जाती है किन्तु थोड़ा बहुत पूयस्राव मूत्रत्याग के बाद होता ही रहता है, उत्तेजना अधिक होती है और गर्म वातावरण, तीक्ष्ण पदार्थों का सेवन, अधिक परिश्रम आदि कारण उपस्थित हो जाने पर पुनराक्रमण हुआ करता है। रोग अधिक पुराना होने पर मूत्र नलिका के किसी भाग में सांकर्य उत्पन्न हो जाता है, शुक्रवाहिनियों और उपवृषणों का प्रदाह होता है तथा शुक्र-कीट नष्ट हो जाते है।

स्त्री—सामान्यतः गर्भाशय-ग्रीवा का प्रदाह होता है जिससे सफेद या पीला स्राव होता है और ऋतु काल में अत्यन्त पीड़ा होती है। फिर डिम्ब-नलिका, डिम्ब ग्रन्थि आदि में प्रसार होकर उनका भी प्रदाह होता है जिससे अनियमित आर्तव, अनार्तव तथा बंध्यत्व तक की उत्पत्ति हो सकती है। क्वचित् विद्रधि की उत्पत्ति हो सकती है और उसके भीतर ही भीतर फूट जाने से उदरावरण प्रदाह हो सकता है कुछ मामलों में योनि के भीतरी तथा बाहिरी भाग, मूत्रनलिका आदि का भी प्रदाह होता है।

उपद्रव स्वरूप स्त्री और पुरुष दोनों में ही मूत्राशय, गवीनी और वृक्कों का प्रदाह हो सकता है। गुद-मैथुन से या अन्य रीतियों से गुदा में उपसर्ग होकर गुदपाक हो सकता है।

(२) रीटर का रोग (Reiter's disease)—यह रोग मैथुन से नहीं फैलता और इसका कारण भी अज्ञात है। इसमें उक्त गुह्यगोलाणु जन्य मूत्रनलिका प्रदाह के लगभग सभी लक्षण पाये जाते हैं।

: ३१ :

मूत्राघात

सम्प्राप्ति

जायन्ते कुपितैर्दोषैर्मूत्राघातास्त्रयोदश ।
प्रायो मूत्रविघाताद्यैर्वातकुण्डलिकादयः ॥१॥

मूत्र-निग्रह आदि कारणों से कुपित हुए दोषों से वात-कुण्डलिका आदि तेरह प्रकार के मूत्राघात उत्पन्न होते हैं।

वक्तव्य—(२४०) मूत्रकृच्छ्र में मूत्र उतरता है किन्तु कष्ट के साथ। परन्तु मूत्राघात में मूत्र उतरने की प्रवृत्ति का ही ह्रास हो जाता है। दोनों में यही अन्तर है। वैसे दोनों रोग एक दूसरे से अत्यधिक सम्बद्ध हैं; कुछ मामलों में दोनों ही एक साथ उपस्थित रहते हैं।

वातकुण्डलिका

रौक्ष्याद्वेगविघाताद्वा वायुर्बस्तौ सवेदनः ।
मूत्रमाविश्य चरति विगुणः कुण्डलीकृतः ॥२॥
मूत्रमल्पाल्पमथवा सरुजं संप्रवर्तते ।
वातकुण्डलिकां तां तु व्याधिं विद्यात्सुदारुणाम् ॥३॥

रूक्षता अथवा वेग-निग्रह से कुपित हुआ वायु कुण्डलाकार होकर मूत्र को आवृत करके बस्ति में पीड़ा उत्पन्न करता

हुआ संचार करता है। इससे मूत्र थोड़ा अथवा पीड़ा के साथ उतरता है। वातकुण्डलिका नामक इस व्याधि को अत्यन्त कष्टदायक समझना चाहिए।

अष्ठीला

आध्मापयन्बस्तिगुदं रुद्ध्वा वायुश्चलोन्नताम्।
कुर्यात्तीव्रार्तिमष्ठीलां मूत्रविण्मार्गरोधिनीम् ॥४॥

वायु बस्ति और गुदा को अवरुद्ध करके एवं फुलाकर अष्ठीला नामक चलायमान एवं उभरी हुई तीव्र पीड़ा उत्पन्न करता है। इससे मल और मूत्र का अवरोध होता है।

वातबस्ति

वेगं विधारयेद्यस्तु मूत्रस्याकुशलो नरः।
निरुणद्धि मुखं तस्य बस्तेर्बस्तिगतोऽनिलः ॥५॥
मूत्रसङ्गो भवेत्तेन बस्तिकुक्षिनिपीडितः।
वातबस्तिः स विज्ञेयो व्याधिः कृच्छ्रप्रसाधनः ॥६॥

जो अज्ञानी मनुष्य मूत्र के वेग को रोक रखता है उसकी बस्ति में स्थित वायु बस्ति के मुख को बन्द कर देता है। इससे बस्ति और कुक्षि में पीड़ा के साथ मूत्रावरोध होता है। इस वातबस्ति नामक व्याधि को कृच्छ्रसाध्य समझना चाहिए।

मूत्रातीत

चिरं धारयतो मूत्रं त्वरया न प्रवर्तते।
मेहमानस्य मन्दं वा मूत्रातीतः स उच्यते ॥७॥

देर तक मूत्र रोके रहने वाले का मूत्र जल्दी नहीं उतरता अथवा उतरते समय धीरे धीरे उतरता है। इसे मूत्रातीत कहते हैं।

वक्तव्य—(२४१) **कुछ देर बैठकर जोर लगाने पर मूत्र उतरता है अथवा मत्र का प्रवाह मन्द गति से होता है।**

मूत्रजठर

मूत्रस्य वेगेऽभिहते तदुदावर्तहेतुकः।
अपानः कुपितो वायुरुदरं पूरयेद् भृशम् ॥८॥
नाभेरधस्तादाध्मानं जनयेत्तीव्रवेदनम्।
तन्मूत्रजठरं विद्यादधोबस्तिनिरोधनम् ॥९॥

मूत्र का वेग रोकने पर उसके उदावर्त के कारण कुपित अपानवायु उदर को अत्यधिक फुला देती है तथा नाभि के नीचे तीव्र वेदनायुक्त आध्मान उत्पन्न करती है। बस्ति के निचले भाग में अवरोध उत्पन्न करने वाली इस व्याधि को मूत्रजठर करते हैं।

मूत्रोत्सङ्ग

बस्तौ वाऽप्यथवा नाले मणौ वा यस्य देहिनः।
मूत्रं प्रवृत्तं सज्जेत सरक्तं वा प्रवाहतः ॥१०॥
स्रवेच्छनैरल्पमल्पं सरुजं वाऽथ नीरुजम्।
विगुणानिलजो व्याधिः स मूत्रोत्सङ्गसंज्ञितः ॥११॥

जिस प्राणी का मूत्र प्रवृत्त होने के बाद ही बस्ति, नलिका अथवा लिंगमणि में रुक जाने अथवा प्रवाहण करने पर रक्तसहित थोड़ा थोड़ा धीरे धीरे पीड़ा के साथ अथवा पीड़ा के बिना निकले कुपित वायु से उत्पन्न उसकी इस व्याधि को मूत्रोत्सङ्ग कहते हैं।

मूत्रक्षय

रूक्षस्य क्लान्तदेहस्य वस्तिस्थौ पित्तमारुतौ।
मूत्रक्षयं सरुग्दाहं जनयेतां तदाह्वयम् ॥१२॥

रूक्ष एवं थकित शरीर वाले के मूत्राशय में स्थित और वात पीड़ा एवं दाह करते हुए मूत्र का क्षय कर देते हैं—इसे मूत्रक्षय कहते हैं।

मूत्रग्रन्थि

अन्तर्बस्तिमुखे वृत्तः स्थिरोऽल्पः सहसा भवेत्।
अश्मरीतुल्यरुग्ग्रन्थिर्मूत्रग्रन्थिः स उच्यते ॥१३॥

भीतर बस्ति के मुख में अश्मरी के समान पीड़ा करने वाली, गोल, स्थिर एवं छोटी ग्रन्थि सहसा (अनजाने में ही) उत्पन्न हो जाती है—इसे मूत्रग्रन्थि कहते हैं।

मूत्रशुक्र

मूत्रितस्य स्त्रियं यातो वायुना शुक्रमुद्धतम्।
स्थानाच्युतं मूत्रयतः प्राक् पश्चाद्वा प्रवर्तते ॥१४॥
भस्मोदकप्रतीकाशं मूत्रशुक्रं तदुच्यते।

(अन्वय—स्त्रियं यातो मूत्रितस्य वायुना उद्धतं स्थानच्युतं च शुक्रं मूत्रयतः प्राक् पश्चात् वा भस्मोदक प्रतीकाशं प्रवर्तते। तद् मूत्रशुक्रं उच्यते।)

स्त्रीप्रसंग के बाद मूत्रत्याग करने वाले का वायु के द्वारा ऊपर उठाया हुआ एवं स्थानच्युत शुक्र मूत्र के पहले या

पश्चात् भस्म-मिश्रित जल के समान निकलता है। इसे मूत्र-शुक्र कहते हैं।

वक्तव्य—(२४२) मैथुन के समय प्रवृत हुए वीर्य का कुछ भाग नलिका में चिपका हुआ शेष रह जाता है। इसलिये मैथुन के बाद जब मूत्रत्याग किया जाता है तब मूत्र के साथ वह अवशिष्ट वीर्य निकलता है। इससे अक्सर मूत्र में कुछ रुकावट हो जाती है। किन्तु ऐसा केवल उसी समय होता है, अन्य समयों पर कोई गड़बड़ी नहीं रहती। शुक्र-मेह से इसका विभेद करना चाहिये। शुक्रमेह में लगभग प्रत्येक समय पर मूत्र के साथ शुक्र जाता है; मैथुन से उसका कोई संबंध नहीं रहता।

उष्णवात

व्यायामाध्वातपैः पित्तं वस्तिप्राप्यानिलान्वितम् ॥१५॥
वस्तिं मेढ्रं गदं चैव प्रदहेत्स्रावयेदधः।
मूत्रं हारिद्रमथवा सरक्तं रक्तमेव वा ॥१६॥
कृच्छ्रात्पुनः पुनर्जन्तोरुष्णवातं ब्रुवन्ति तम्।

व्यायाम, मार्गगमन और सूर्यसन्ताप से वायु सहित पित्त बस्ति में पहुँचकर बस्ति, लिंग एवं गुदा में दाह उत्पन्न करता है तथा बार-बार कष्ट के साथ पीला अथवा रक्तमिश्रित मूत्र अथवा केवल रक्त ही (अथवा रक्तवर्ण) का स्राव करता है। इस व्याधि को उष्णवात कहते हैं।

वक्तव्य—(२४३) कुछ विद्वान् इसे पूयमेह (Gonorrhoea) मानते हैं किन्तु वस्तुतः यह धारणा भ्रमपूर्ण है, पूयमेह या औपसर्गिक मेह व्यायाम आदि से नहीं अपितु दूषित योनि में रमण करने से उत्पन्न होता है तथा उसमें मूत्र के साथ रक्त एवं पूय निकलते हैं और तीव्र पीड़ा होती है।

मूत्रसाद

पित्तं कफो द्वावपि वा संहन्येतेऽनिलेन चेत् ॥१७॥
कृच्छ्रान्मूत्रं तदा पीतं श्वेतं रक्तं घनं सृजेत्।
सदाहं रोचनाशङ्खचूर्णवर्णं भवेत्तु तत् ॥१८॥
शुष्कं समस्तवर्णं वा मूत्रसादं वदन्ति तम्।

यदि पित्त या कफ अथवा दोनों ही वायु के द्वारा गाढ़े कर लिये जाते हैं तो मूत्र पीला, सफेद अथवा लाल, गाढ़ा तथा कष्टसहित उतरता है। वह दाहयुक्त तथा गोरोचन या शंख के चूर्ण के समान वर्ण का भी हो सकता है अथवा सूखा और समस्त वर्णों का हो सकता है। इसे मूत्रसाद कहते हैं।

विड्विघात

रूक्षदुर्बलयोर्वातेनोदावृत्तं शकृद्यदा ॥१९॥
मूत्रस्रोतोऽनुपद्येत विट्संसृष्टं तदा नरः।
विड्गन्धं मूत्रयेत्कृच्छ्राद्विड्विघातं विनिर्दिशेत् ॥२०॥

रूक्ष और दुर्बल मनुष्यों का मल जब वायु प्रकोप से ऊपर चढ़कर मूत्रवाही स्रोत में पहुँचता है तब वह मनुष्य कठिनाई के साथ विष्ठा-मिश्रित अथवा विष्ठा की गंध से युक्त मूत्र का त्याग करता है। इसे विड्विघात कहते हैं।

बस्तिकुण्डल

द्रुताध्वलङ्घनायासैरभिघातात्प्रपीडनात्।
स्वस्थानाद्बस्तिरुद्वृत्तः स्थूलस्तिष्ठति गर्भवत् ॥२१॥
शूलस्पन्दनदाहार्तो बिन्दुं बिन्दुं स्रवत्यपि।
पीडितस्तु सृजेद्धारां संस्तम्भोद्वेष्टनार्तिमान् ॥२२॥
वस्तिकुण्डलमाहुस्तं घोरं शस्त्रविषोपमम्।
पवनप्रबलं प्रायो दुर्निवारमबुद्धिभिः ॥२३॥
तस्मिन्पित्तान्विते दाहः शूलं मूत्रविवर्णता ॥२४॥
श्लेष्मणा गौरवं शोथः स्निग्धं मूत्रं घनं सितम्।
श्लेष्मरुद्धविलो बस्तिः पित्तोदीर्णो न सिध्यति।
अविभ्रान्तबिलः साध्यो न तु यः कुण्डलीकृतः ॥२५॥
स्याद्बस्तौ कुण्डलीभूते तृण्मोहः श्वास एव च ॥२६॥

तेजी से चलना, छलांग लगाना आदि कार्यों से अभिघात लगने से तथा जोर से दबाये जाने से बस्ति अपने स्थान से ऊपर की ओर हटकर गर्भ के समान स्थूल होकर स्थित होजाती है। इससे रोगी शूल, स्पन्दन (बस्ति का) और दाह से पीड़ित रहता है तथा मूत्र बूंद बूंद करके टपकता है। बस्ति को दबाने से रोगी स्तंभ (शरीर अकड़ जाना) उद्वेष्टन (शरीर ऐंठना अथवा ऐंठन सदृष पीड़ा) और पीड़ा का अनुभव करता है और मूत्र की धार निकलती है। इस व्याधि को बस्ति-कुण्डल कहते हैं, यह शस्त्र और विष के समान भयंकर है, इसमें प्रायः वायु की प्रधानता रहती है और बुद्धिहीन लोगों के लिये यह कष्टसाध्य है।

इसमें पित्त का अनुबन्ध रहने पर दाह, शूल और मूत्र में विवर्णता रहती है। कफ अनुबन्ध रहने पर भारीपन शोथ रहता है तथा मूत्र स्निग्ध, गाढ़ा एवं सफेद होता है।

श्लेष्मा से नलिका अवरुद्ध होने पर और पित्त की प्रबलता होने पर बस्तिकुण्डल-असाध्य है। नलिका सीधी रहने पर साध्य है किन्तु जिसमें नलिका कुण्डलाकार ऐंठ गई हो वह साध्य नहीं है।

बस्ति के कुण्डलाकर ऐंठ जाने पर तृष्णा, मूर्च्छा और श्वास भी होते हैं।

पाश्चात्य मत—

मूत्राघात (Retention of the Urine)—

(१) वातकुण्डलिका अथवा वायुमेह (Pneumaturia)—इस रोग में मूत्रद्वार से मूत्र के साथ, आगे या पीछे अथवा अन्य समयों पर वायु (वायव्य पदार्थ, Gas) निकलती है। यह दो प्रकार का होता है—स्वतंत्र और विड्विघात जन्य। स्वतंत्र प्रकार मूत्र-मार्ग में आन्त्र दण्डाणु (Baccillus Coli) के उपसर्ग से मूत्र में सड़न होने से होता है; यह अधिकतर मधुमेह के रोगियों में पाया जाता है। विड्विघात जन्य प्रकार में मूत्र के साथ मल और वायु दोनों ही निकलते हैं अथवा यदि नाड़ीव्रण इतना संकीर्ण हो कि मल न आ सके तो केवल वायु आती है। दोनों प्रकारों में मूत्रत्याग रुक रुक एवं कष्टसह हो सकता है तथा स्वतंत्र प्रकार में वायु से मूत्राशय में आध्मान हो सकता है।

(२) अष्ठीला अथवा मलमूत्रावरोधजन्य मूत्राशयाध्मान (Distention of bladder due to Retention of Urine and Faeces)—अनेक स्थानिक एवं सार्वदैहिक रोगों में मल-मूत्रावरोध होकर उदर एवं मूत्राशय अथवा दोनों में से एक अत्यधिक फूल जाते हैं। अर्बुद की उत्पत्ति होने पर भी उभार प्रकट होता है।

(३) वात बस्ति अथवा मूत्रमार्ग की संकोचिनी पेशी का स्तंभ (Spasm of the Urinary sphincter)—मूत्र रोकने से अथवा वातनाड़ी संस्थान के रोगों से मूत्रमार्ग की संकोचिनी पेशी का स्तंभ होकर पूर्ण मूत्रावरोध हो जाता है। मूत्राशय फूल जाता है और उसमें पीड़ा तथा स्तंभिक आक्षेप होते हैं।

(४) मूत्रातीत अथवा चिरकारी मूत्रावरोध (Chronic Retention of Urine)—चिरकारी मूत्रावरोध सदैव अपूर्ण मूत्रावरोध (Incomplete Retention or Partial Retention) हुआ करता है। इसके प्रधान कारण पौरुष-ग्रन्थि की वृद्धि, चिरकारी मूत्रनलिका प्रदाह के कारण उत्पन्न सांकर्य, नववृद्धि (अर्बुद आदि) अथवा सुषुम्ना के रोगों में उत्पन्न मूत्राशय दौर्बल्य (Atony of the Bladder) हैं। रोगी को बारम्बार मूत्रत्याग के लिये जाना पड़ता है; रात्रि में भी कई बार उठना पड़ता है। मूत्र कुछ रुकावट के साथ उतरता है, पीड़ा प्रायः नहीं होती। बारम्बार मूत्रत्याग करने पर भी मूत्राशय में काफी मात्रा में मूत्र भरा रहता है। मूत्रमयता के लक्षण—सिरदर्द, तृष्णा, अरुचि, जिह्वा शुष्क रहना, विवर्णता और कृशता आदि उपस्थित रहते हैं। किसी भी समय पूर्ण मूत्रावरोध हो सकता है।

(५) मूत्रजठर अथवा मूत्राशयाध्मान (Distention of the Bladder)—मूत्र के प्रवाह में किसी भी कारण से रुकावट होने पर मूत्राशय फूल जाता है तथा उसमें पीड़ा होती है।

(६) मूत्रोत्संग अथवा मूत्र नलिका में अवरोध (Urethrel Obstruction in the Urinary Flow)—यह लगभग मूत्रातीत के ही समान है किन्तु इसमें अवरोध का स्थान मूत्रनलिका में ही रहता है। इससे अपूर्ण या पूर्ण मूत्रावरोध होता है।

(७) मूत्रक्षय (*Oliguria, Pathological Diminution of Urine*)—उष्ण वातावरण में रहने के कारण अधिक स्वेद निकलना, पानी कम पीना, वमन-अतिसार के द्वारा अत्यधिक जलीय धातु का क्षय, स्तब्धता या निपात, वृक्क प्रदाह की तीव्र अवस्था आदि कारणों से मूत्र की मात्रा घट

जाती है। मूत्र गहरे वर्ण एवं गर्म उतरता है तथा उतरने में कुछ कष्ट हो सकता है।

(८) मूत्रग्रन्थि (*New-growths at the Urethral Orifice*)—मूत्रमार्ग में कई प्रकार के सौम्य एवं घातक अर्बुद उत्पन्न होते हैं। यदि वे मूत्रनलिका के मुख के पास या भीतर हों तो मूत्रावरोध होता है।

(९) मूत्रशुक्र—इसका स्पष्टीकरण किया जा चुका है।

(१०) उष्णवात—इसके २ भेद हैं—मूत्रक्षय और रक्तमेह।

व्यायाम मार्गगमन, सूर्यसन्ताप आदि की अधिकता से मूत्र कम, गाढ़ा एवं गर्म उतरता है जिससे वहां दाह होती है—मूत्रक्षय (*Oliguria*)।

इन्हीं कारणों से अथवा रक्तस्रावी रोगों से मूत्रमार्ग में रक्तस्राव होकर रक्तमेह (*Haematuria*) होता है जिसमें रक्तमिश्रित मूत्र या केवल रक्त जाता है। रक्तपित्त प्रकरण देखें।

(११) मूत्रसाद—मूत्र में वसा, पूय, रक्त अथवा पायस (*Chyle*) मिले होने पर मूत्र में गाढ़ापन तथा उन्हीं पदार्थों के अनुरूप वर्ण उत्पन्न हो जाता है। इन्हीं पदार्थों की अत्यधिक मात्रा होने पर मूत्र काफी गाढ़ा हो सकता है और उतरने में कष्ट हो सकता है। वैसे अधिकतर इन पदार्थों के रहते हुये भी मूत्र पतला ही रहता है और सही सही निदान मूत्रपरीक्षा से ही होता है। अध्याय ३३ देखें।

शुष्क मूत्र देखने का अवसर पाश्चात्य विद्वानों को नहीं मिला।

(१२) विड्विघात—मूत्राशयान्त्रीय नाड़ीव्रण (*Vesico-intestinal fistula*) के द्वारा मूत्राशय का सम्बन्ध आंत्र (अधिकतर बृहदन्त्र) से हो जाने पर मूत्र के साथ विष्ठा भी आती है। इससे मूत्रावरोध और मूत्रकृच्छ्र हो सकता है। कभी कभी विष्ठा के साथ अपान वायु भी आती है और छिद्र अत्यन्त छोटा होने पर केवल अपान वायु आती है।

(१३) बस्ति कुण्डल (*Kinking or Volvulus of the Bladder and Urethra*)। यह निश्चित रूप से मूत्राशय और मूत्रनलिका का वेष्टन है। इस रोग में मूत्राशय अपने स्थान से हटकर ऐंठ जाता है जिससे मूत्र-संचय और मूत्र-त्याग की क्रियाएं अवरुद्ध हो जाती हैं। ऐंठे हुये भाग का प्रदाह होता है जिससे कफ की तथा बाद की दशाओं में पूय की उत्पत्ति होती है—ये दोनों दशाएं असाध्य कही गई हैं। पाश्चात्य ग्रन्थों में स्त्रियों के मूत्राशय का उलट कर बाहर आ जाना (*Inversion and Prolapse*) और मूत्राशय-च्युति जन्य वंक्षणगत वृद्धि (*Hernia of the Bladder*) का उल्लेख मिलता है किन्तु बस्तिकुण्डल का कहीं भी उल्लेख नहीं है।

पाश्चात्य विद्वान् मत्राघात के निम्न कारण मानते हैं—

(*i*) मूत्रनलिका में सांकर्य।

(*ii*) पौरुष-ग्रन्थि-वृद्धि—यह वृद्धावस्था का रोग है। रात्रि में अधिक मूत्रत्याग होता है तथा जोर लगाकर मूत्र उतारने का प्रयत्न करने से अवरोध होता है। गुदा में अंगुली डालकर परीक्षा करने पर ग्रन्थि बढ़ी हुई मिलती है।

(*iii*) अश्मरी

(*iv*) मूत्राशय का वृन्तयुक्त अर्बुद—इस प्रकार के अर्बुद मूत्र नलिका का द्वार अवरुद्ध कर देते हैं। निदान मूत्राशय दर्शक यन्त्र से होता है।

(*v*) गर्भाशय-च्युति—कभी कभी इसके साथ मूत्रनलिका झुक या ऐंठ जाती है।

(*vi*) अधरांगघात

(*vii*) हिस्टीरिया

(*viii*) उदर, गुदा आदि की पीड़ाओं के कारण मूत्र-मार्ग की संकोचिनी पेशी का स्तम्भ।

मूत्राघात से मूत्रमयता उत्पन्न होती है।

मूत्रमयता अथवा मूत्रविषमयता (*Uraemia*)—इसके २ भेद हैं—(१) मूत्रसंस्थानातिरिक्त मूत्रमयता और (२) मूत्रसंस्थानजन्य मूत्रमयता।

(१) मूत्रसंस्थानातिरिक्त मूत्रमयता (*Extra-renal Uraemia*)—इसमें मूत्रसंस्थान में किसी की विकृति न होते हुए भी अन्य भागों के विकारों के प्रभाव से मूत्रसंस्थान पर प्रभाव पड़कर लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसके २ भेद हैं—

अ—क्षारोत्कर्ष (*Alkalosis*)—आमाशय व्रण की चिकित्सा आदि के लिये क्षार पदार्थों का अत्यधिक प्रयोग, गंभीर रक्तक्षय, अत्यधिक वमन, शैशवीय अतिसार आदि से रक्त की अम्लता का नाश और रक्तगत क्षार पदार्थों की वृद्धि होने से इसकी उत्पत्ति होती है।

लक्षणों की उत्पत्ति क्रमशः होती है। प्रारम्भ में कमजोरी, मलावरोध, सिरदर्द आदि और फिर इनके साथ अरुचि, वमन, कम्प, चिड़चिड़ापन, प्रस्वेद, तृष्णा, अतिसार आदि होते हैं; पेशियों को दबाने से पीड़ा होती है, नाड़ी तीव्र रहती है किन्तु श्वास क्रिया मन्द रहती है। फिर पेशियों में अपतानिका के लक्षण कम्प, आक्षेप आदि उत्पन्न होने लगते हैं। अन्त में संन्यास होकर मृत्यु हो जाती है।

रक्त में मूत्रा (मिह, *Urea*) की मात्रा अधिक पाई जाती है। मूत्र अधिक मात्रा में एवं क्षारीय होता है तथा उसमें शुक्लि और निर्मोक तथा रक्तकण पाये जाते हैं।

ब—अम्लोत्कर्ष (*Acidosis*)—अत्यधिक अतिसार, विसूचिका, कालमेही ज्वर, वाइपर जातीय सर्प-दंश, अत्यधिक रक्तस्राव, पित्तामयता, ऐडीसन का रोग, मधुमेहजन्य शौक्तोत्कर्ष (*Ketosis*), गंभीर दग्ध-व्रण, विजातीय रक्त-प्रदान (*Incompatible, Blood transfusion*) आदि कारणों से रक्त में अम्ल पदार्थों की वृद्धि होकर मूत्र-संस्थानजन्य मूत्रमयता के समान लक्षण उत्पन्न होते हैं। मूत्र अधिक गाढ़ा एवं अधिक आपेक्षिक-घनत्व वाला होता है तथा उसमें मूत्रा अधिक पाई जाती है।

(२) मूत्रसंस्थानजन्य मूत्रमयता (*Renal and post-renal Uraemia*)—मूत्रसंस्थान के अनेक प्रकार के रोगों के कारण मूत्र बनने या निकलने की क्रिया में अवरोध होने से इसकी उत्पत्ति होती है। बारीकी के लिये इसके भी दो भेद किये जाते हैं (१) वृक्कजन्य मूत्रमयता (*Ranal Uraemia*) और (२) वृक्कान्तर मूत्रमयता (*Post-renal uraemia*)। किन्तु दोनों के लक्षण समान हैं। ये लक्षण मस्तिष्क, श्वासीय और अन्नमार्गीय होते हैं।

मास्तिष्क लक्षण—सिरदर्द, खुजली, चुभन, शून्यता, तन्द्रा, पेशियों में उद्वेष्टन, अपस्मार सदृष आक्षेप, संन्यास और मृत्यु। तन्द्रा रहते हुए भी अनिद्रा रहती है। कुछ मामलों में अन्धता, एकांगघात, अर्धांगघात, उन्माद आदि भी होते हैं।

श्वासीय लक्षण—समय समय पर विशेषतः रात्रि में श्वासकष्ट होता है। श्वास में मूत्र के समान गंध और मसूढ़े किंचित् फूले हुए रहते हैं।

अन्नमार्गीय लक्षण—मुख सूखना, अरुचि, हृल्लास, वमन, हिक्का, अतिसार तथा कभी कभी मुख-पाक और मसूढ़ों से रक्त आना। ये लक्षण प्रायः चिरकारी प्रकार में अधिक पाये जाते हैं और अजीर्ण का भ्रम कराते हैं।

इनके अतिरिक्त हृत्पेशी की वृद्धि, प्रदाह अथवा अपुष्टि, रक्तस्रावी रोग तथा रक्तक्षय भी होते हैं। मृत्यु अधिकतर हृदयातिपात अथवा संन्यास से होती है।

साध्यासाध्यता कारण के अनुरूप होती है। यदि कारण साध्य हो तो उचित चिकित्सा से गंभीरतम अवस्था में भी रोगशान्ति की आशा कर सकते हैं।

: ३२ :

अश्मरी (पथरी, CALCULUS, STONE)

भेद

वातपित्तकफैस्तिस्रश्चतुर्थी शुक्रजाऽपरा ।
प्रायः श्लेष्माश्रयाः सर्वा अश्मर्यः स्युर्यमोपमाः ॥१॥

वात, पित्त एवं कफ से तीन तथा अन्य चौथी शुक्र से उत्पन्न—ये सभी अश्मरियां प्रायः कफ का आश्रय लेकर ही उत्पन्न होती हैं तथा मृत्यु के समान कष्टदायक होती हैं।

सम्प्राप्ति

विशोषयेद्वस्तिगतं सशुक्रं
मूत्रं सपित्तं पवनः कफं वा ।
यदा तदाऽश्मर्युपजायते तु
क्रमेण पित्तेष्विव रोचना गोः ॥२॥
नैकदोषाश्रयाः सर्वाः—

वस्तिगत शुक्र, मूत्र, पित्त अथवा कफ को जब वायु सुखा डालती है तब जिस प्रकार गाय के पित्ताशय में गोरोचन उत्पन्न होता है उसी क्रम से अश्मरी उत्पन्न होती है। सभी अश्मरियां त्रिदोषज होती हैं।

वक्तव्य—(२४४) मूत्रकृच्छ्र प्रकरण में शर्करा की उत्पत्ति समझाते हुए बतलाया जा चुका है कि कफ अश्मरी के कणों को चिपकाता है, वायु अश्मरी को सुखाता है और पित्त पकाता है—इस प्रकार यह सिद्ध है कि कोई भी दोष अकेले ही अश्मरी उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है; तीनों दोष मिलकर ही अश्मरी बना सकते हैं। अश्मरी-निर्माण में कफ की न्यूनता होने पर अश्मरी न बनकर शर्करा बनती है।

पूर्वरूप

—अथासां पूर्वलक्षणम् ।
वस्त्याध्मानं तदासन्नदेशेषु परितोऽतिरुक् ॥३॥
मूत्रे बस्तसगन्धत्वं मूत्रकृच्छ्रं ज्वरोऽरुचिः ।

उनके पूर्वरूप मूत्राशय का आध्मान, मूत्राशय के चारों ओर के समीपस्थ भागों में अत्यन्त पीड़ा, मूत्र में बकरे के समान गंध आना, मूत्रकृच्छ्र, ज्वर और अरुचि हैं।

लक्षण

सामान्यलिंगं रुङ्नाभिसेवनीवस्तिमूर्धसु ॥४॥
विशीर्णधारं मूत्रं स्यात्तया मार्गे निरोधिते ।
तद्व्यपायात्सुखं मेहेदच्छं गोमेदकोपमम् ॥५॥
तत्संक्षोभात्क्षते सास्रमायासाच्चातिरुग्भवेत् ।

नाभि, सेवनी (सीवन), मूत्राशय तथा सिर में पीड़ा होना सामान्य लक्षण हैं। अश्मरी के द्वारा मार्ग अवरुद्ध होने पर मूत्र कई धाराओं में विभक्त होकर निकलता है। उसके निकल जाने अथवा हट जाने पर रोगी सुखपूर्वक गोमेद के समान वर्ण का स्वच्छ मूत्र त्याग करता है किन्तु उसके संक्षोभ (प्रक्षोभ, (Irritiation) से क्षत होने पर जोर लगाने से रक्तमिश्रित मूत्र उतरता है तथा अत्यधिक पीड़ा होती है।

वातज अश्मरी

तत्र वाताद्भृशं चार्तो दन्तान् खादति वेपते ॥६॥
गृह्णाति मेहनं नाभिं पीडयत्यनिशं क्वणन् ।
सानिलं मुञ्चति शकृन्मुहुर्मेहति बिन्दुशः ॥७॥
श्यावारुणाऽश्मरी चास्य स्याच्चिता कण्टकैरिव ।

वातज अश्मरी के कारण रोगी अत्यधिक पीड़ा से व्याकुल रहता है, दांत भींचता है, कांपता है, बारम्बार कांखता हुआ लिंग एवं नाभि को पकड़ता है, अपानवायु सहित मलत्याग करता है, बारम्बार बूंद बूंद मूत्र त्याग करता है और उसकी अश्मरी श्यावतायुक्त अरुण (अथवा, श्याव या अरुण) वर्ण की तथा कंटक-सदृष उभारों से युक्त रहती है।

पित्तज अश्मरी

पित्तेन दह्यते बस्तिः पच्यमान इवोष्मवान् ॥८॥
भल्लातकास्थिसंस्थाना रक्तपीताऽसिताश्मरी ।

पित्तज अश्मरी के कारण मूत्राशय में पकते हुए विद्रधि

के समान दाह एवं उष्णता रहती है। अश्मरी भिलावे की गुठली के समान आकार वाली तथा लाल, पीली अथवा काली रहती है।

कफज अश्मरी

बस्तिर्निस्तुद्यत इव श्लेष्मणा शीतलो गुरुः ॥९॥
अश्मरी महती श्लक्ष्णा मधुवर्णाऽथवा सिता।

कफज अश्मरी के कारण मूत्राशय में चुभन सी होती है। तथा वह शीतल एवं भारी रहता है। अश्मरी बड़ी एवं चिकनी तथा शहद के समान वर्ण की अथवा सफेद रहती है।

इनकी साध्यता

एताभवन्ति बालानां तेषामेव च भूयसा ॥१०॥
आश्रयोपचयाल्पत्वाद्ग्रहणाहरणे सुखाः ।

ये (उपर्युक्त तीनों अश्मरियां) बालकों को होती हैं तथा उनमें मूत्राशय अधिक पुष्ट न होने के कारण पकड़ने एवं निकालने में अत्यन्त सुविधा रहती है।

शुक्राश्मरी

शुक्राश्मरी तु महतां जायते शुक्रधारणात् ॥११॥
स्थानाच्युतममुक्तं हि मुष्कयोरन्तरेऽनिलः।
शोषयत्युपसंगृह्य शुक्रं तच्छुक्रमश्मरी ॥१२॥
बस्तिरुङ्मूत्रकृच्छ्रत्वमुष्कश्वयथुकारिणी ।
तस्यामुत्पन्नमात्रायां शुक्रमेति विलीयते ॥१३॥
पीडिते त्ववकाशेऽस्मिन्—

किन्तु शुक्राश्मरी बड़ों को वीर्य रोक लेने से होती है। स्थान से च्युत होने पर भी रोक लिये गये वीर्य को वायु वृषणों के बीच संग्रह करके सुखा देती है जिससे वह शुक्र अश्मरी बन जाता है। यह मूत्राशय में पीड़ा (*Reflex Pain*), मूत्रकृच्छ्र और वृषणों में शोथ उत्पन्न करती है। उत्पन्न होते ही तुरन्त मसल देने पर यह उसी स्थान में वीर्यमात्र ही होने के कारण विलीन हो जाती है।

वक्तव्य—(२४५) शुक्राश्मरी उत्पन्न होते ही (उत्पन्न मात्र) तुरन्त मसल देने से वीर्य ही होने के कारण विलीन हो जाती है किन्तु कालान्तर में यही वीर्य वायु के प्रकोप से सूखकर कठोर अश्मरी में परिणत हो जाता है। प्रारम्भ में वीर्य का संचय-मात्र ही रहता है जो आसानी से विलीन हो सकता है किन्तु क्रमशः वही वीर्य चूर्णीभवन (*Calcification*) होने के कारण अत्यन्त कठोर हो जाता है। कई टीकाकारों ने लिखा है कि शुक्राश्मरी वस्तुतः अश्मरी नहीं होती अपितु शुक्र ग्रथित होकर मूत्र-मार्ग में अवरोध उत्पन्न करके अश्मरी के समान लक्षण उत्पन्न कर देता है अतएव उसे अश्मरी कहते हैं।' उनका यह कहना सर्वथा गलत है। शुक्राश्मरी होती है यद्यपि अत्यन्त विरल मामलों में पायी जाती है। प्रमाण देखिये—

Concretions have been found in connexion with chronic vesiculitis, but they are very rare.

(C. C. choyce—A System of Surgery.)

अर्थात् "चिरकारी शुक्रवाहिनी प्रदाह के साथ उसमें अश्मरियां भी पायी गयी हैं परन्तु वे अत्यन्त विरल हैं।"

प्राचीन काल में निकलते हुए वीर्य को रोकने की क्रिया का प्रचार रहा होगा इसलिये शुक्राश्मरियां अधिक उत्पन्न होती रही होंगी। शुक्र रोकने की क्रिया अत्यन्त कठिन है और पर्याप्त अभ्यास के बिना शक्य नहीं है। आज के युग में इस क्रिया का ज्ञाता शायद ही कोई हो और जब निदान ही नहीं है तो रोग कहां से होगा! माधवकर के द्वारा अष्टांग-हृदय से संग्रहीत शुक्राश्मरी का वर्णन अक्षरशः सही है; इसमें रत्ती भर भी सुधार या शंका करने की गुञ्जाइश नहीं है। शुक्राश्मरी की उत्पत्ति वृषणों या शुक्रवाहिनियों में ही होती है।

आजकल संतति नियमन(*Birth-control*,जन्म निरोध) के प्रवर्तकों के द्वारा च्युत होते हुये वीर्य को रोकने अथवा मार्गभ्रष्ट करने की एक नयी विधि का प्रचार किया जा रहा है। वह इस प्रकार है कि जब वीर्यस्राव होने लगे तब लिंग के मूल-भाग को

मुट्ठी में कसकर पकड़ लें। ऐसा करने से बाहर की ओर आता हुआ वीर्य मार्गभ्रष्ट होकर मूत्राशय में चला जाता है और कुछ काल पश्चात् मूत्र के साथ निकल जाता है। यह विधि यद्यपि निरापद बतलायी जाती है तथापि इससे भी अश्मरी की उत्पत्ति संभव है। यह अश्मरी मूत्राशय में उत्पन्न होती है तथा इसकी रचना वीर्य और मूत्र-क्षारों से होती है। इस अध्याय के प्रारम्भ में अश्मरी की सम्प्राप्ति बतलाते हुए वस्तिगत शुक्र (अथवा सशुक्र मूत्र) से जिस अश्मरी की उत्पत्ति बतलायी गयी है वह सम्भवतः इसी प्रकार की शुक्राश्मरी से सम्बन्धित है, वृषणगत शुक्राश्मरी से नहीं। सम्भवतः वीर्य रोकने की यह पद्धति भी प्राचीन भारत के लोगों को ज्ञात रही होगी।

शर्करा

—अश्मर्यैव च शर्करा।

अणुशो वायुना भिन्ना—

वायु के द्वारा सूक्ष्म कणों में विभक्त अश्मरी ही शर्करा (और सिकता) है।

वक्तव्य—(२४६) अश्मरी के बड़े कणों को शर्करा तथा छोटे कणों को सिकता कहते हैं। दोनों का अंग्रेजी पर्याय ग्रैवैल (Gravel) है।

अश्मरी और शर्करा की उपद्रव कारिता

सा तस्मिन्ननुलोमगे ॥१४॥
निरेति सह मूत्रेण प्रतिलोमे निरुध्यते।
मूत्रस्रोतः प्रवृत्ता सा सक्ता कुर्यादुपद्रवान् ॥१५॥
दौर्बल्यं सदनं कार्श्यं कुक्षिशूलमथारुचिम्।
पाण्डुत्वमुष्णवातं च तृष्णां हृत्पीडनं वमिम् ॥१६॥

वह (अश्मरी अथवा शर्करा) उसके (वायु के) अनुलोम रहने पर मूत्र के साथ निकल जाती है तथा प्रतिलोम रहने पर रुक जाती है। मूत्रनलिका में प्रवृत्त होकर फंस जाने पर वह दुर्बलता, अवसाद, कृशता, कुक्षिशूल, अरुचि, पाण्डुता, उष्णवात, तृष्णा, हृदय-प्रदेश में पीड़ा और वमन —ये उपद्रव करती है।

अश्मरी की मारकता

प्रशूननाभिवृषणं बद्धमूत्रं रुजातुरम्।
अश्मरी क्षपयत्याशु सिकता शर्करान्विता ॥१७॥

जिसकी नाभि और वृषणों में अत्यधिक शोथ हो गया हो, मूत्र रुका हुआ हो और जो पीड़ा से व्याकुल हो उसे अश्मरी, सिकता और शर्करा मार डालती है।

वक्तव्य—(२४७) अधिक देर तक मूत्र रुका रहने से स्थानिक तनाव, पीड़ा आदि के कारण स्थानिक रक्ताधिक्य उत्पन्न हो जाता है जिससे हल्का शोथ एवं लाली उत्पन्न होती है—यह असाध्य नहीं है। किन्तु जब अत्यधिक तनाव से मूत्राशय या मूत्र नलिका विदीर्ण हो कर आस पास के स्थानों में मूत्र फैल जाता है तब रक्त में मूत्रविष का संचार होने से अतिशीघ्र विषमयता के लक्षण उत्पन्न होकर मृत्यु हो जाती है।

पाश्चात्य मत—

वृक्काश्मरी (*Renal calculus nephrolithriasis*)—मूत्रमार्ग में सामान्यतः वृक्कों में अश्मरी की रचना होती है किन्तु कभी कभी मूत्राशय में भी होती हैं और अत्यन्त विरल मामलों में गवीनी, मूत्रनलिका, पौरुष-ग्रन्थि, शिश्नावरण (*Prepuce*) में भी अश्मरी की रचना होती है। किसी उपसर्ग के कारण प्रदाह होने से श्लेष्मा, पूय, श्लैष्मिक कला की झिल्ली, सौत्रिक धातु आदि के पृथक् होने पर यदि मूत्र में गाढ़ापन उपस्थित हुआ तो उस पदार्थ के चारों ओर मूत्र के पदार्थों का जमाव होने लगता है जो चिरकाल में अश्मरी की उत्पत्ति करता है। मूत्र का गाढ़ापन अश्मरी की उत्पत्ति के लिये नितान्त आवश्यक है और कुछ अंशों में मूत्र की रुकावट भी आवश्यक है। अश्मरियों की संख्या एवं आकार में अत्यन्त विभिन्नता रहती है। कभी कभी सैकड़ों छोटी छोटी अश्मरियां और कभी एक बड़ी अश्मरी तथा कभी अनेक बड़ी अश्मरियां पायी जाती हैं। कोई गोल, कोई अण्डाकार और कोई कोई कंटक सदृष रभारों से युक्त रहती हैं।

सामान्यतः तिग्मीय पदार्थों (*Oxalates*), मूत्राम्ल (*Uric acid*), मूत्रा (*Urates*) और भास्वरीय पदार्थों से बनी हुई अश्मरियां पायी जाती हैं किन्तु कभी कभी खड़िया (*Calcium carbonate*); शुल्व औषधियां (*Sulphonamides*) आदि की अश्मरियां भी पायी जाती हैं। मूत्राम्ल की अश्मरी अधिकतर मूत्रा और कभी कभी तिग्मीय पदार्थों के सम्मिश्रण से युक्त पायी जाती हैं, यह बादामी रंग की कठोर एवं पर्तदार होती हैं। तिग्मीय पदार्थों की अश्मरी कठोर, खुरदरी और कभी कभी कंटक सदृष उभारों से युक्त रहती है। भास्वरीय पदार्थों की अश्मरी श्वेत, नरम एवं खड़िया के समान होती है।

अश्मरी अनिश्चित काल तक बगैर कोई लक्षण उत्पन्न किये अपने स्थान में पड़ी रहती है, कुछ मामलों में भार के कारण मन्द पीड़ा एवं भारीपन तथा कुछ मामलों में रक्तमेह, पूयमेह (*Pyuria*) आदि लक्षण प्रकट हो सकते हैं। उग्र लक्षण तभी उत्पन्न होते हैं जब अश्मरी अपने स्थान से हटकर गवीनी या मूत्रनलिका में फंसती है और उसका अव रोध करती है। छोटी एवं चिकनी अश्मरी बिना कोई लक्षण उत्पन्न किये मूत्र के साथ निकल जा सकती है।

गवीनी में अश्मरी फंसने से एकाएक तीव्र शूल होता है जिसे वृक्क-शूल (*Renal colic*) कहते हैं। यह अधिकतर उछलने, कूदने, घोड़े आदि की सवारी में हिलते रहने आदि से उत्पन्न होता है। एकाएक किसी एक कुक्षि से पीड़ा आरम्भ होकर रान अथवा पैर तक लहर मारती है। बार बार गम्भीर शूल के आवेग आते हैं, रोगी अत्यन्त व्याकुल होता है, बिस्तर या जमीन पर लोटता है, ठण्डे पसीने में नहा जाता है और बारम्बार वमन करता है। बारम्बार मूत्रत्याग की इच्छा होती है किन्तु थोड़ा, गहरे वर्ण का एवं रक्तमिश्रित मूत्र उतरता है। कुछ मामलों में उपसर्ग होने से ज्वर भी आ सकता है। यह शूल कुछ समय तक रहकर एकाएक अदृष्य हो जाता है क्योंकि अश्मरी मूत्राशय में उतर आती है। स्थानिक मंद पीड़ा काफी समय तक रही आ सकती है। यदि अश्मरी गवीनी में अधिक समय तक रुकी रहे तो वृक्क की अपुष्टि या पाक होता है।

मूत्राशय में अश्मरी पहुंचने पर मूत्राशय में भारीपन एवं क्षोभ, लिंग एवं विटप देश (*Perineum*) में मन्द पीड़ा उत्पन्न होती है। मूत्रनलिका में अश्मरी अटकने पर पुनः तीव्र पीड़ा उत्पन्न होती है। इस समय बड़ी कठिनाई एवं पीड़ा के साथ मूत्र उतरता है अथवा पूर्ण मूत्रावरोध होता है। लिंग में असह्य पीड़ा होती है। कुछ काल में अश्मरी या तो मूत्राशय में पुनः लौट जाती है अथवा बाहर निकल जाती है। कभी कभी मूत्र लम्बे समय तक रुका रह सकता है जिससे मूत्रमयता के लक्षण उत्पन्न होकर मृत्यु तक हो सकती है।

अधिकतर अनेक अश्मरियां पाई जाती हैं और उक्त लक्षणों का आक्रमण बारम्बार होता है। उपद्रव स्वरूप वृक्क-प्रदाह, मूत्राशय प्रदाह, गवीनी प्रदाह, मूत्रनलिका प्रदाह, वृक्क में तन्तूत्कर्ष, मूत्रमयता, कर्कटार्बुद आदि की उत्पत्ति होती है। कभी कभी मूत्र मार्ग के किसी हिस्से में विदार होकर आस पास के अवयवों में मूत्र फैल जाता है।

अन्य अश्मरियां—पित्ताश्मरी, अग्न्याशय अश्मरी, आन्त्राश्मरी और श्वास-नलिकाश्मरी का वर्णन हो चुका है। लाला ग्रन्थियों में और जिह्वा के नीचे के भाग में भी अश्मरियों की उत्पत्ति होती है, क्वचित् मस्तिष्क आदि अवयवों में भी अश्मरी उत्पन्न हो जाती है। इनसे स्थानिक भारीपन, शोथ तथा अन्य स्थानिक लक्षण उत्पन्न होते हैं। बाह्य पदार्थों की उपस्थिति तथा पूय आदि का चूर्णीभवन होने से किसी भी स्थान (मांस आदि तक में भी) अश्मरी की उत्पत्ति संभव है।

: ३३ :

प्रमेह और प्रमेहपिडिका

निदान

आस्यासुखं स्वप्नसुखं दधीनि
ग्राम्यौदकानूपरसाःपयांसि ।
नवान्नपानं गुडवैकृतं च
प्रमेहहेतुः कफकृच्च सर्वम् ॥१॥

सुखपूर्वक बैठे रहना, लेटे रहना एवं सोते रहना; दही; ग्राम्य, आनूप एवं जलज पदार्थ (मांस, फल, अन्न, शाक आदि); रस (तरल पदार्थ), दूध, नया अन्न-जल और गुड़ (शक्कर भी) के बने पदार्थ तथा अन्य सभी कफकारक आहार विहार प्रमेह के उत्पादक कारण हैं ।

वक्तव्य – (२४८) 'मूत्र-निर्माण की क्रिया की वृद्धि' को प्रमेह कहते हैं । स्वस्थावस्था में शरीर के अनुपयोगी पदार्थ ही मूत्र के साथ बाहर निकलते हैं किन्तु मूत्र-निर्माण की क्रिया की वृद्धि होने पर उपयोगी धातुओं का निकलना भी आरम्भ हो जाता है जिससे अत्यन्त बल-क्षय होता है । इसी लिये यह रोग अत्यन्त भयंकर माना गया है ।

सम्प्राप्ति

मेदश्च मांसं च शरीरजं च
क्लेदं कफो वस्तिगतः प्रदूष्य ।
करोति मेहान् समुदीर्णमुष्णै-
स्तानेव पित्तं परिदूष्य चापि ॥२॥
क्षीणेषु दोषेष्ववकृष्य धातून्
संदूष्य मेहान् कुरुतेऽनिलश्च ।

वस्तिगत कफ शरीर के मांस, मेद और जलीयांश को दूषित करके प्रमेह उत्पन्न करता है; उष्ण आहार-विहार से बढ़ा हुआ पित्त भी उन्हीं को दूषित करके प्रमेह उत्पन्न करता है; और दोषों (कफ और पित्त) के क्षीण होने पर धातुओं को क्षीण एवं दूषित करके वायु प्रमेहों को उत्पन्न करता है ।

वक्तव्य—(२४९) यहां यह ध्यान रखने की बात है कि वातज प्रमेहों की उत्पत्ति वायु की वृद्धि से नहीं अपितु कफ और पित्त के क्षय से होती है । कफ और पित्त का क्षय होने पर वृद्धि को प्राप्त हुए बिना ही वायु बलवान् हो जाता है और प्रमेह की उत्पत्ति कर डालता है । दूसरी महत्वपूर्ण बात यह भी है कि कफज और पित्तज प्रमेह कालान्तर में कृशता उत्पन्न करते हैं किन्तु वातज प्रमेह उत्पन्न होने के पूर्व ही कृशता आजाती है ।

भेद और साध्यासाध्यता

साध्याः कफोत्थादश, पित्तलाः षड्
याप्या, न साध्यः पवनाच्चतुष्कः ॥३॥
समक्रियत्वाद्विषमक्रियत्वान्-
महात्ययत्वाच्च यथाक्रमं ते ।

दोष दूष्यों की चिकित्सा में समता होने के कारण कफज दस प्रमेह साध्य हैं । दोषों-दूष्यों की चिकित्सा में असमानता होने के कारण छः पित्तज प्रमेह याप्य हैं । अत्यन्त बलवान् एवं उपद्रवकारी होने के कारण चार वातज प्रमेह असाध्य हैं ।

वक्तव्य—(२५०) कफज प्रमेहों में की गई कफनाशक चिकित्सा बढ़े हुए मांस मेदादि का भी कर्षण करती है इस लिये आशुफलदायक है । किन्तु पित्तज प्रमेहों में यदि पित्तनाशक चिकित्सा की जावे तो वह मांस-मेदादि को बढ़ाती है और यदि मांस-मेदादि का कर्षण किया जावे तो पित्त की वृद्धि होती है—इस विषमता के कारण पित्तज प्रमेहों की चिकित्सा अत्यन्त कठिन है अतएव उन्हें याप्य कहा है । वातज प्रमेह अत्यधिक धातुक्षय कर चुकने के बाद प्रकट होते हैं तथा अत्यन्त बलवान आशुकारी एवं उपद्रवकारी होते हैं साथ ही इनमें कफ और पित्त हीनावस्था में रहते हैं जो परस्पर विरोधी होने के कारण शीघ्र बढ़ाये नहीं जा सकते—

इसलिये इन्हें असाध्य कहा है।

सम्प्राप्ति कहते समय कफ के साथ 'प्रदूष्य' (अर्थात् 'बढ़ाकर और दूषित करके'), पित्त के साथ 'परिदूष्य' (अर्थात् 'चारों ओर से दूषित करके') और वात के साथ 'संदूष्य' (अर्थात् 'भलीभांति दूषित करके') का प्रयोग अत्यन्त महत्वपूर्ण अर्थ रखता है।

दोष-दूष्य और प्रमेह-संख्या

कफः सपित्तः पवनश्च दोषा,
मेदोऽस्त्रशुक्राम्बुवसालसीकाः ।
मज्जा रसौजः पिशितं च दूष्याः,
प्रमेहिणां विंशतिरेव मेहाः ॥४॥

कफ, पित्त और वात दोष हैं; मेद, रक्त, शुक्र, जल, मेद, लसीका, मज्जा, रस, ओज और मांस दूष्य हैं तथा प्रमेह बीस हैं।

वक्तव्य—(२५१) तीनों में से किसी एक के प्रकोप से उक्त धातुओं (दूष्यों) में से कुछ—सभी दूषित हो जाने पर प्रमेह की उत्पत्ति होती है। भिन्न भिन्न दोष-दूष्यों के संसर्ग से प्रमेह के २० भेद होते हैं।

पूर्वरूप

दन्तादीनां मलाढ्यत्वं प्राग्रूपं पाणिपादयोः ।
दाहश्चिक्कणता देहे तृट् स्वाद्वास्यं च जायते ॥५॥

दांतों आदि ('आदि' से सम्पूर्ण मुख, नेत्र, कर्ण एवं त्वचा का ग्रहण करें) में अधिक मैल जमना हाथ-पैरों में दाह, शरीर में चिकनापन, तृष्णा और मुख में मधुरता—ये लक्षण पूर्वरूपावस्था में उत्पन्न होते हैं।

सामान्य लक्षण

सामान्यं लक्षणं तेषां प्रभूताविलमूत्रता ।
दोषदूष्याविशेषेऽपि तत्संयोगविशेषतः ॥६॥
मूत्रवर्णादिभेदेन भेदो मेहेषु कल्प्यते ।

मूत्र अधिक होना और गंदला होना प्रमेहों का सामान्य लक्षण है। दोष-दूष्यों में विशेषता न होने पर भी उनके विशेष संयोग से होने वाले मूत्र के वर्ण आदि के भेद के अनुरूप प्रमेहों के भेद किये जाते हैं।

कफजप्रमेह

अच्छं बहु सितं शीतं निर्गन्धमुदकोपमम् ॥७॥
मेहत्युदकमेहेन किंचिदाविलपिच्छिलम् ।
इक्षो रसमिवात्यर्थं मधुरं चेक्षुमेहतः ॥८॥
सान्द्रीभवेत् पर्युषितं सान्द्रमेहेन मेहति ।
सुरामेही सुरातुल्यमुपर्यच्छमधो घनम् ॥९॥
संहृष्टरोमा पिष्टेन पिष्टवद्बहुलं सितम् ।
शुक्राभं शुक्रमिश्रं वा शुक्रमेही प्रमेहति ॥१०॥
मूर्तार्णून् सिकतामेही सिकतारूपिणो मलान् ।
शीतमेही सुबहुशो मधुरं भृशशीतलम् ॥११॥
शनैः शनैः शनैर्मेही मन्दं मन्दं प्रमेहति ।
लालातन्तुयुतं मूत्रं लालामेहेन पिच्छिलम् ॥१२॥

उदकमेह के कारण रोगी जल के समान स्वच्छ, बहुत मात्रा में, श्वेत, शीतल और गंधहीन किन्तु कुछ कुछ गंदला एवं लसदार मूत्र त्याग करता है।

इक्षुमेह के कारण रोगी गन्ने के रस के समान मीठे मूत्र का त्याग करता है।

सान्द्रमेह के कारण रोगी जो मूत्र त्याग करता है वह रखा रहने पर गाढ़ा हो जाता है।

सुरामेह के रोगी का मूत्र सुरा के समान ऊपर स्वच्छ एवं नीचे गाढ़ा रहता है।

पिष्टमेह के कारण रोगी उड़द की पिट्ठी के समान, बहुतसा एवं सफेद मूत्र त्याग करता है तथा उसके रोम खड़े हो जाते हैं।

शुक्रमेह का रोगी शुक्र के समान अथवा शुक्र-मिश्रित मूत्र त्याग करता है।

सिकतामेह का रोगी मूत्र में मैले एवं रेता के समान कंकड़ों का त्याग करता है।

शीतमेह का रोगी बहुत से, मधुर एवं अति शीतल मूत्र का त्याग करता है।

शनैर्मेह का रोगी धीरे धीरे मन्दगति से मूत्र त्याग करता है।

लालामेह के कारण रोगी लार के तन्तुओं से युक्त पिच्छिल मत्र का त्याग करता है।

पित्तज प्रमेह

गन्धवर्णरसस्पर्शः क्षारेण क्षारतोयवत् ।
नीलमेहेन नीलाभं कालमेही मसीनिभम् ॥१३॥
हारिद्रमेही कटुकं हरिद्रासंनिभं दहत् ।
विस्रं माञ्जिष्ठमेहेन मञ्जिष्ठासलिलोपमम ॥१४॥
विस्रमुष्णं सलवणं रक्ताभं रक्तमेहतः ।

क्षारमेह के कारण मूत्र गंध, वर्ण, रस और स्पर्श में क्षार घुले हुए जल के समान होता है।

नीलमेह के कारण मूत्र नीलाभ होता है।

कालमेह का रोगी स्याही के समान (काला) मूत्र त्याग करता है।

हारिद्र मेह का रोगी दाह का अनुभव करता हुआ हल्दी के समान वर्ण का एवं कटु रस युक्त मूत्र त्याग करता है।

मांजिष्ठ मेह के कारण मंजीठ के जल (अथवा क्वाथ) के समान एवं दुर्गंधित मल होता है।

रक्तमेह के कारण दुर्गंधित, गरम, लवण-रस युक्त तथा रक्त के समान वर्ण का मूत्र होता है।

वातज प्रमेह

वसामेही वसामिश्रं वसाभं मूत्रयेन्मुहुः ॥१५॥
मज्जाभं मज्जमिश्रं वा मज्जमेही मुहुर्मुहुः ।
कषायं मधुरं रूक्षं क्षौद्रमेहं वदेद्बुधः ॥१६॥
हस्ती मत्त इवाजस्रं मूत्रं वेगविवर्जितम् ।
सलसीकं विबद्धं च हस्तिमेह प्रमेहति ॥१७॥

वसामेह का रोगी चर्बी मिला हुआ अथवा चर्बी के समान मूत्र का त्याग बारम्बार करता है।

मज्जमेह (मज्जामेह) का रोगी मज्जा-मिश्रित अथवा मज्जा जैसे मूत्र का त्याग बारम्बार करता है।

बुद्धिमान मनुष्य कषाय, मधुर एवं रूक्ष † मूत्र को क्षौद्रमेह + कहते हैं।

हस्तिमेह का रोगी मस्त हाथी के समान लगातार लसिका-युक्त मूत्र का त्याग करता है; मूत्र विबद्ध (अवरुद्ध) रहता है (अर्थात् मूत्र का विबन्ध रहता है) और वेग उत्पन्न हुए बिना ही मूत्रत्याग होता है।

उपद्रव

अविपाकोऽरुचिश्छर्दिर्निद्रा कासः सपीनसः ।
उपद्रवाः प्रजायन्ते मेहानां कफजन्मनाम् ॥१८॥
बस्तिमेहनयोस्तोदो मुष्कावदरणं ज्वरः ।
दाहस्तृष्णाऽम्लिकामूर्च्छाविड्भेदःपित्तजन्मनाम् ॥१९॥
वातजानामुदावर्तः कम्पहृद्ग्रहलोलताः ।
शूलमुन्निद्रताशोषः कासः श्वासश्च जायते ॥२०॥

अजीर्ण, अरुचि, वमन, निद्रा और प्रतिश्याय के साथ खांसी—कफज प्रमेहों में ये उपद्रव होते हैं।

बस्ति एवं लिंग में तोद (चुभन), अण्डकोषों में फटन (अथवा सचमुच फट जाना) ज्वर, दाह, तृष्णा, अम्लोद्गार, मूर्च्छा और अतिसार पित्तज प्रमेहों के उपद्रव हैं।

उदावर्त (मूत्र-निग्रह-जन्य उदावर्त विशेषतः तथा अन्य प्रकार के उदावर्त भी संभाव्य हैं), कम्प, हृदय में जकड़न, लालच (खाने का लालच, चटोरापन), शूल, अनिद्रा, शोष (कृशता), खांसी और श्वास—ये उपद्रव वातज प्रमेहों में उत्पन्न होते हैं।

असाध्य लक्षण

यथोक्तोपद्रवाविष्टमतिप्रस्रुतमेव च ।
पिडकापीडितं गाढः प्रमेहो हन्ति मानवम् ॥२१॥

उक्त उपद्रवों से पीड़ित, अति प्रस्रुत (अर्थात् जो अधिक स्राव कर चुका हो अर्थात् पुराना) और प्रमेहपिडका से पीड़ित रोगी को गंभीर प्रमेह रोग मार डालता है।

जातः प्रमेही मधुमेहिनो वा
न साध्य उक्तः स हि बीजदोषात् ।
ये चापि केचित्कुलजा विकारा
भवन्ति तांस्तान् प्रवदन्त्यसाध्यान् ॥२२॥

---

†अन्य तीन वातज प्रमेहों में मूत्र में स्निग्धता रहती है किन्तु क्षौद्रप्रमेह में नहीं रहती। इसीलिये रूक्ष कहा है।

×क्षौद्र और मधु पर्यायवाची शब्द हैं। क्षौद्रमेह ही मधुमेह है।

बीजदोष के कारण जो जन्म से ही प्रमेह अथवा मधुमेह से पीड़ित हो उसे असाध्य कहा है। और भी जो कुलज रोग होते हैं उन सबको असाध्य कहते हैं।

पाश्चात्य मत—

प्रमेह (Anomalies of the Urinary Secretion)—

१–उदकमेह (Diabetes Insipidus)–यह रोग पीयूष-ग्रन्थि (Pituitary Gland) के पश्चिम खण्ड (Posterior Lobe) से निकलने वाले मद (Hormone) की कमी से उत्पन्न होता है। १० से ४० वर्ष तक की आयु के व्यक्ति आक्रान्त होते हैं। इसका आक्रमण अचानक अथवा क्रमशः होता है। रोगी को भूक एवं प्यास अधिक लगती हैं तथा मूत्र अधिक उतरता है। मूत्र की मात्रा १०-१२ सेर प्रतिदिन तक होसकती है तथा सापेक्ष गुरुत्व १.०५ से कम रहता है। मलावरोध, मुंह सूखना और नींद ठीक न आना अन्य लक्षण हैं। लम्बे समय में क्रमशः अत्यधिक कमजोरी से, किसी अन्य रोग से अथवा अज्ञात कारणजन्य संन्यास से मृत्यु हो जाती है।

२. इक्षुमेह (*Glycosuria*)—अधिक शक्कर अथवा शर्करा-युक्त पदार्थ खाने वालों के मूत्र में कभी कभी शक्कर पायी जाने की दशा को इक्षुमेह कहते हैं। यह वस्तुतः मधुमेह नहीं है क्योंकि मधुमेह के लिये रक्त में अतिरिक्त शक्कर की उपस्थिति होना अनिवार्य है किन्तु कुछ मामलों में यह दशा कालान्तर में मधुमेह का रूप धारण कर लेती है।

३. सान्द्रमेह (*Phosphaturia, Phosphatic Diabetes*)—इस रोग में मूत्र में भास्वरीय पदार्थ (Phosphates) अधिक मात्रा में (प्रतिदिन ७ अथवा ६ माशे तक) पाये जाते हैं। मूत्र रखा रखा गाढ़ा हो जाता है अथवा त्याग करते समय अंतिम भाग गाढ़ा उतरता है जिससे शुक्रमेह का सन्देह हो जाता है। कुछ मामलों में मूत्र में शर्करा भी पायी जाती है अथवा कुछ काल बाद आने लगती है। प्यास अधिक लगती है तथा अत्यन्त कृशता उत्पन्न होती है।

४. सुरामेह—यह भी सान्द्रमेह (*Phosphaturia*) ही है। जब मूत्र एक ही प्रकार का उतरता है और रखा रखा जम जाता है तब उसे सान्द्रमेह कहते हैं। किन्तु जब जमने की क्रिया मूत्राशय में ही हो चुकती है तब मूत्र का प्रथम भाग पतला और बाद का भाग गाढ़ा रहता है—इसे ही सुरा-मेह कहते हैं।

मूत्र में शौक्त पदार्थ (*Acetone--Acetonuria*) होने पर लगभग मद्य के ही समान मीठी सी गंध आती है। शौक्त पदार्थ अधिकतर मधुमेह, दीर्घकाल तक भोजन न करना, लगातार वमन, गंभीर तृतीयक विषमज्वर, शैशवीय ग्रीष्मातिसार, यकृतकोथ, क्लोरोफार्म-प्रयोग आदि के कारण मूत्र में पाये जाते हैं।

५. पिष्टमेह (*Chyluria*), पायसमेह—इस रोग में दूध के समान सफेद एवं गाढ़ा मूत्र उतरता है। यह रखा रहने पर और भी गाढ़ा हो जाता है अथवा जम जाता है, अधिकतर मलाई भी जमती है। सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से परीक्षा करने पर पता चलता है कि गाढ़ापन असंख्य छोटे छोटे कणों की उपस्थिति के कारण होता है।

यह प्रमेह श्लीपद-कृमि अथवा किसी अन्य कारण से औरस लसवाहिनी (*Thoracic Duct*) का अथवा उसकी शाखाओं का अवरोध होने से होता है। इसके कारण कमर और श्रोणि प्रदेश में पीड़ा एवं क्षीणता उत्पन्न होती है तथा कभी कभी मूत्रावरोध हो सकता है।

६. शुक्रमेह (*Spermatorrhoea*)—प्रजनन संस्थान एवं वातनाड़ीमण्डल की विकृति से मूत्र के साथ वीर्य बाहर निकल सकता है किन्तु यह दशा अत्यन्त विरल है। सामान्यतः लालामेह (*Prostatorrhoea*) को ही लोग भ्रमवश शुक्रमेह मान बैठते

हैं । शुक्रमेह जन्य शुक्रक्षय के कारण उत्पन्न दुर्बलता आदि समस्त लक्षण उत्पन्न होते हैं।

७. सिकतामेह (*Gravel in the Urine*)—सूक्ष्म अश्मरियों को ही सिकता कहते हैं तथा मूत्र के साथ इनके निर्गमन को सिकतामेह कहते हैं। कुछ मामलों में त्यागे हुये मूत्र में अनेक प्रकार के दाने जम जाते हैं (*Lithuria, Crystalluria*) जो अधिकतर मूत्राम्ल, तिम्सीय पदार्थ, भास्वरीय पदार्थ या शुल्वौषधियों (*Sulphonamides*) के होते हैं-यह भी सिकतामेह कहा जा सकता है।

८. शीतमेह—किसी भी अवस्था में निकलते हुये मूत्र का तापमान शरीर के तापमान से कम नहीं रहता। कपूर, पिपरमेंट सदृश्य पदार्थों के अतिसेवन के पश्चात् जब ये मूत्र के द्वारा बाहर आते हैं तब मूत्रत्याग करते समय मूत्रमार्ग में शीतल स्पर्श की प्रतीति हो सकती है। अत्यधिक मात्रा में सेवित मद्य भी यदि मूत्र के साथ निकले तो वह मूत्र कुछ देर रखा रहने पर अत्यन्त शीतल हो जा सकता है।

शीतल वातारण में देर तक रहने के बाद शरीर बहुत कुछ शीतल हो जाने पर भी जो मूत्र उतरता है वह भी शरीर के बाहिरी भागों की अपेक्षा कुछ गर्म ही रहता है।

९. शनैर्मेह (*Partial Obstruction of the Urinary flow or Atony of the Bladder*)–मूत्रनलिका में सांकर्य, पौरुष ग्रन्थि की वृद्धि, अश्मरी आदि कारणों से मूत्र उतरने में रुकावट होती है जिससे रोगी देर तक मूत्रत्याग करता है। मूत्राशय की अपुष्टि की दशा में मूत्राशय मूत्र को बलपूर्वक फेंकने में असमर्थ रहता है इस लिये-मूत्रत्याग धीरे धीरे होता है। मूत्र में गाढ़ापन होना भी धीरे-धीरे उतरने का कारण है किन्तु वह अन्य प्रमेहों के अन्तर्गत आ जाता है।

(१०) लालामेह (*Prostatorrhoea*)—जननेन्द्रिय सम्बन्धी वात नाड़ियों की उत्तेजना से (गंदे-विचारों, अश्लील दृश्यों आदि के कारण), पौरुष ग्रन्थि अथवा मूत्र नलिका में प्रक्षोभ (पाचन-विकारों आदि के कारण) अथवा प्रदाह (जीवाणु-उपसर्ग अधिकतर गुह्यगोलाणु) के कारण पौरुष ग्रंथि से लार के समान पदार्थ का स्राव होता है जो ऐसे ही तथा मूत्र के साथ निकलता है। बहुत से लोग इसे शुक्रमेह मानते हैं किन्तु यह उससे सर्वथा भिन्न है। यह वह पदार्थ है जो स्वस्थावस्था में मैथुन के पूर्व जननेन्द्रियों को गीली करके रगड़ से बचाता तथा आनन्द उत्पन्न करता है और वीर्य या शुक्र वह पदार्थ है जो मैथुन के अन्त में निकलता है। यह अवश्य सत्य है कि लालामेह के साथ स्वप्नदोष, शीघ्रपतन आदि वीर्यविकार अक्सर उपस्थित रहा करते हैं क्योंकि पौरुष-ग्रन्थि ही वीर्य को रोककर रखती है और उसके विकार ग्रस्त होने पर वीर्यपात शीघ्र हो जाना स्वाभाविक है।

कुछ लोग लालामेह को शुक्लिमेह (*Albuminuria*) कहते हैं किन्तु शुक्लि या श्विति नेत्रों से दृष्य नहीं है, विशेष परीक्षाओं से ही विदित होती है।

(११) क्षारमेह (*Alkaline Urine*)—सामान्यतः स्वस्थावस्था में मूत्र किंचित् अम्ल रहता है, वैसे कभी कभी शाकाहारियों का मूत्र स्वस्थावस्था में भी अम्ल हो सकता है। साधारणतः मूत्र में क्षारीयता क्षारोत्कर्ष (*Alkalosis*–मूत्राघात प्रकरण देखें) के कारण अथवा मूत्र की सड़न के कारण होती है। मूत्राशय, मूत्रनलिका आदि के प्रदाह, अवरोध, घात आदि की दशाओं में मूत्र रुका रह कर सड़ता है जिससे अम्लता नष्ट होकर क्षारीयता उत्पन्न हो जाती है।

(१२) नीलमेह (*Indicanuria*)—कर्कटार्बुद; उदरावरण प्रदाह, पूयोरस (*Empyema*) आदि पूयोत्पादक रोगों में तथा, राजयक्ष्मा, आन्त्रिक ज्वर, आंत्रावरोध, आन्त्र प्रदाह, विसूचिका आदि में मूत्र में अधिक मात्रा में निनीलेन्य पदार्थ (*Ind*

ican) निकलते हैं। इनके निकलने से मूत्र के वर्ण में सामान्यतः कोई परिवर्तन नहीं होता किन्तु यदि मूत्र देर तक रुका रहकर सड़ने के बाद त्यक्त हो तो नीलापन पाया जाता है।

कभी कभी क्षारमेह में भी मूत्र पर नीलाभ वर्ण की पपड़ी सी जमती है।

(१३) कालमेह—मूत्र में कालापन परिवर्तित शोणवर्तुलि (*Haemoglobin–Haemoglobinuria and Methaemoglobinuria*), मेलेनिन (*Melanin-melanuria*) अथवा अल्कप्टोन (*Alkaptone-alkaptonuria*) की उपस्थिति के कारण होता है।

प्रावेगिक शोणवर्तुलिमेह—का वर्णन अध्याय १० में हो चुका है। इसके अतिरिक्त फिरंग, शोणांशिक रक्तक्षय, अत्यधिक जल जाने पर, अत्यधिक परिश्रम के बाद तथा विषों एवं विषाक्त औषधियों के कारण शोणवर्तुलिमेह होता है। इसके कारण लाल रंग का मूत्र (मांजिष्ठमेह) उतरता है किन्तु शोणवर्तुलि-युक्त मूत्र रुका रहने पर अथवा शरीर के ही भीतर रासायनिक परिवर्तन होने पर वह उपशोणवर्तुलि(*Methaemoglobin*) में परिवर्तित होजाती है और मूत्र को काला कर देती है।

मैलेनिन (Me*lanin*) एक प्रोभूजिन जातीय पदार्थ है। यह त्वचा में कत्थई रंग के अथवा काले धब्बे उत्पन्न करता है। इसकी सबसे अधिक उत्पत्ति ऐडीसन के रोग और मैलेनिन युक्त घात मांसार्बुद (*Melanotic sarcoma*) में सबसे अधिक होती है। कभी कभी यह मूत्र में प्रकट हो सकती है जिससे मूत्र कुछ देर रखा रहने पर काला पड़ जाता है।

अल्कप्टोन—यह भी प्रोभूजिन जातीय पदार्थ है। यह सगोत्र-विवाह करने वालों की प्रथम संतान के मूत्र में अक्सर पाया जाता है। मूत्र गहरे रंग का होता है और उससे कृष्णाभ धब्बे वस्त्रादि पर पड़ जाते हैं। विरल मामलों में तरुणास्थियों में इसका वर्ण चढ़ जाता है—अलकप्टोन-रंजन (Ochronosis) तथा संधिप्रदाह अथवा अश्मरी (Alkapton-Calculus) की उत्पत्ति होती है।

(१४) हारिद्रमेह (Choluria), पित्तमेह—कामला, विषम ज्वर आदि रोगों में मूत्र में पित्त के कारण गहरा पीलापन एवं गर्मी रहती है।

परिश्रम करने पर, धूप में रहने के बाद, प्यास लगने पर भी जल न पीने पर, अजीर्ण, अतिसार आदि तथा इसी प्रकार की अन्य दशाओं में मूत्र थोड़ा एवं गाढ़ा उतरता है जिससे पीलापन लक्षित होता है।

(१५) मांजिष्ठमेह—यह कालमेह का ही एक भेद है। कालमेह का वर्णन देखें।

(१६) रक्तमेह (Haematuria)—इसका वर्णन रक्तपित्त प्रकरण में हो चुका है। मूत्रमार्ग के प्रदाह, अश्मरी, शलाका-प्रवेश आदि से भी मूत्र में रक्त आ सकता है।

(१७) वसामेह (Lipuria)—स्निग्ध पदार्थों अथवा स्नेहों (घृत, तैल, वसा आदि) के अति सेवन से, मधुमेह से, लम्बी अस्थियों के भग्न से, फास्फरस के विष-प्रभाव से तथा चिरकारी पूयोत्पादक रोगों के कारण मूत्र में वसा निकलती है। पिष्टमेह (Chyluria) के मूत्र में भी वसा पायी जाती है।

वसाम्लमेह (Lipaciduria)—इस दशा में मूत्र के साथ ऐसीटिक (Acetic), व्युटिरिक (Butyric), फौर्मिक (Formic) अथवा पौरपियोनिक (Porpionic) वसाम्ल (Fatty–acids) निकलते हैं। इनकी गंध मूत्र में मिलती है।

(१७) मज्जामेह—यह या तो वसामेह का ही परिवर्तित रूप है अथवा पूयमेह (Pyuria) है।

पूयमेह (Pyuria)—मूत्र-संस्थान के किसी भी भाग में प्रदाह या पाक होने पर तथा समीपस्थ प्रदेशों की विद्रधि मूत्रमार्ग में फूटने पर मूत्र में पूय एवं रक्त-मिश्रित रहता है अथवा केवल पूय ही मत्र

के स्थान पर निकलता है। मूत्रनलिका में पूयोत्पत्ति होने पर मूत्रत्याग कष्ट एवं प्रवाहण के साथ होता है किन्तु अन्य स्थानों में होने पर मूत्रत्याग करते समय कष्ट नहीं होता। प्रभावित भाग में सदैव थोड़ी-बहुत पीड़ा बनी रहती है। ज्वरादि अन्य लक्षण उपस्थित रहते हैं।

(१९) क्षौद्रमेह—यह मधुमेह ही है। (चरक ने क्षौद्रमेह के स्थान पर मधुमेह ही लिखा है।) इसका वर्णन आगे देखें।

(२०) हस्तिमेह, झूठा अनियंत्रित मूत्रोत्सर्ग, मिथ्या मूत्रकृच्छ्र *(False Incontinence of Urine)—इस दशा में मूत्र का वेग उत्पन्न नहीं होता (वेग-विवर्जितः)। मूत्र रुका रहता है (विबद्धम्) तथापि मूत्राशय अधिक भर जाने पर मूत्र के ही दबाव से थोड़ा थोड़ा मूत्र लगभग सदैव ही गिरता रहता है (मत्त हस्ती इव अजस्रम्)। यह दशा अधरांगघात (Paraplegia) में संकोचिनी पेशियों का घात होने पर होती है। मूत्र रुका रहने के कारण मूत्राशय का प्रदाह होता है जिससे मूत्र में पूय, श्लेष्मा आदि की उपस्थिति पायी जाती है (सलीकम्)।

मधुमेह की उत्पत्ति

सर्व एव प्रमेहास्तु कालेनाप्रतिकारिणः।
मधुमेहत्वमायान्ति तदाऽसाध्या भवन्ति हि ॥२३॥

प्रतिकार (चिकित्सा) न करने वालों के सभी प्रमेह समय बीतने पर मधुमेह का रूप धारण कर लेते हैं और फिर असाध्य हो जाते हैं।

वक्तव्य—(२५२) यह बात आज के युग में विवादास्पद है। जो २० प्रमेह पीछे कहे जा चुके हैं उनमें से कई के विषय में यह बात सही है किन्तु अन्यों के विषय में संदिग्ध है।

मधुमेह के लक्षण

मधुमेहे मधुसमं जायते स किल द्विधा।
क्रुद्धे धातुक्षयाद्वायौ दोषावृतपथेऽथवा ॥२४॥
आवृतो दोषलिङ्गानि सोऽनिमित्तं प्रदर्शयन्।
क्षणात्क्षीणः क्षणात्पूर्णो भजते कृच्छ्रसाध्यताम् ॥२५॥

मधुमेह में मूत्र मधु के समान हो जाता है। यह दो प्रकार से होता है—१ धातुक्षय के कारण वायु का प्रकोप होने से अथवा २. वायु का मार्ग अन्य दोष के द्वारा आवृत हो जाने के कारण वायु का प्रकोप होने से।

दोषावृत वायु उस दोष के लक्षणों का प्रदर्शन करती हुई तथा अकारण ही कभी क्षीण और कभी पूर्ण (वृद्ध) होती हुई कृच्छ्रसाध्यता उत्पन्न करती है।

अन्वय—स (मेहः मूत्रः वा) मधुमेहे किल मधुसमं द्विधा जायते—धातुक्षयात् वायौ क्रुद्धे अथवा दोषावृतपथे वायौ क्रुद्धे ॥२४॥

(दोषविशेषेण) आवृतः सः (वायुः) दोषलिंगानि प्रदर्शयन् अनिमित्तं (अकारणं) क्षणात् क्षीणः क्षणात् पूर्णः भवति। तथा च कृच्छ्रसाध्यतां भजते।

वक्तव्य—(२५३) अन्य टीकाओं से यहां भाव में तो नहीं किन्तु भावव्यंजना में थोड़ा अन्तर अवश्य है इस लिये अपने मतानुसार अन्वय भी दे दिया है।

ऊपर मधुमेह के २ भेद समझाये गये हैं—

(१) वातज मधुमेह अथवा क्षौद्रमेह—इसकी उत्पत्ति धातुक्षय के कारण वात-प्रकोप होने से होती है। यह मूल-भूत अथवा प्राथमिक (Primary) प्रकार है इसमें अन्य दोषों की क्षीणता रहती है तथा प्रारम्भ से ही मधुमेह के ही लक्षण उत्पन्न होते हैं।

(२) अन्य दोषज मधुमेह—इसकी उत्पत्ति कफ या पित्त के द्वारा वायु के मार्ग का अवरोध होने से वायु का प्रकोप होने के कारण होती है। प्रारम्भ में कफज या पित्तज प्रमेह उत्पन्न होता है जो कालान्तर में वायु के प्रकोप से

*अन्य विद्वानों ने इसे शुक्लमेह Albuminuria; बहुमूत्र Polyuria आदि सिद्ध करने की चेष्टा की है जो असंगत है। लक्षणों का इतना अच्छा मिलान और कहीं भी नहीं मिलता; अन्य में केवल एक-दो लक्षण ही मिलते हैं।

मधुमेह में परिवर्तित होजाता है। इसमें वायु के मार्ग में अवरोध रहता है इस लिए वायु के प्रकोप के लक्षण एवं तज्जन्य मधुमेह के लक्षण सदैव एक से नहीं रहते। प्राथमिक दोष कफ या पित्त के लक्षण सदैव स्पष्ट रहते हैं। यह द्वितीयक (Socondary) प्रकार है तथा इसमें अन्य प्रमेहों के लक्षणों के साथ मधुमेह के लक्षण पाये जाते हैं।

मधुमेह की निरुक्ति

मधुरं यच्च मेहेषु प्रायो मध्विव मेहति।
सर्वेऽपि मधुमेहाख्या माधुर्याच्च तनोरतः ॥२६॥

जिन जिन प्रमेहों में रोगी लगभग शहद के समान मीठा मूत्र त्याग करता है तथा शरीर में मीठापन रहता है वे सब मधुमेह कहलाते हैं।

पाश्चात्य मत—

मधुमेह (Diabetes Mellitus)—यह रोग आराम से रहने वाले व्यक्तियों को प्रौढ़ावस्था में होता है। अव्यायाम, मानसिक परिश्रम, चिन्ता, मेद रोग, प्रांगोदीय पदार्थों (Carbohydrates) का अधिक सेवन, उच्चरक्तनिपीड़, फिरङ्ग तथा वंशगत प्रवृत्ति सहायक कारण हैं। मूलकारण अग्न्याशय (Pancreas) से होने वाले मधुसूदनी (Insulin) नामक पदार्थ के स्राव का अभाव है जिसके फलस्वरूप शर्करा का समवर्त (Metabolism) विकृत हो जाता है।

शरीर में शर्करा की उपलब्धि मधुर पदार्थों से तथा अन्य प्रांगोदीय पदार्थों से होती है। मधुसूदनी के अभाव में इसका उपयोग नहीं होता जिससे यह अत्यधिक मात्रा में रक्तादि में संचित हो जाती है—परममधुमयता (Hyperglycaemia); और मूत्र के साथ निकलने लगती है। शर्करा का उपयोग न होने से अधिक वसा उत्पन्न होती है और कुछ वसा विकृत होकर शौक्तोत्कर्ष (Ketosis) उत्पन्न करती है तथा प्रोभूजिनों (पेशियों आदि) का क्षय होता है।

प्रारम्भ में क्षुधा, तृष्णा और मूत्र की वृद्धि, दुर्बलता, कृशता आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं फिर क्रमशः मूत्र में शर्करा प्रकट होती है। जिह्वा शुष्क एवं लाल रहती है तथा दांत मैले रहते हैं। मांसक्षय अत्यधिक होता है जिससे कृशता उत्तरोत्तर आती है तथा अन्त में शौक्तोत्कर्ष होकर संन्यास एवं मृत्यु होती है। मूत्र अधिक निकलने से जलाल्पता (Dehydration) होती है जिसके फलस्वरूप चिरकाल में धमनी जठरता (Arterio--Sclerosis), धमनी-भित्तिव्रण (Atheroma) आदि की उत्पत्ति होती है—ये विकार पैरों, हृदय, मस्तिष्क और वृक्कों में अधिक जोरदार एवं स्पष्ट होते हैं। त्वचा की शुष्कता से अनेक प्रकार के विस्फोटों तथा प्रमेहपिडकाओं की उत्पत्ति होती है। मूत्र में शर्करा की उपस्थिति से जीवाणुओं को पनपने का मौका मिलता है जिसके फलस्वरूप वृक्क प्रदाह, मूत्राशय प्रदाह, आदि तथा मूत्रेन्द्रियों के आस पास की त्वचा में खुजलाहट एवं पामा (अपरस Eczema) की उत्पत्ति होती है। उपद्रव स्वरूप फुफ्फुल प्रदाह फुफ्फुस-विद्रधि फौफ्फुसीय राजयक्ष्मा, पैरों का कर्दम, हाथों के पृष्ठ भाग में त्वचा का वर्ण गहरा हो जाना, (Bronzed Diabetes), हृत्पेशी का अन्तःस्फान तथा हृदयातिपात, शाखाओं की वातनाड़ियों का प्रदाह, पैरों में निच्छिद्रित व्रण (Perforating Ulcers), फिरंगी खंजता सदृष लक्षण (Tabetic Syndrome), दृष्टिपटल-प्रदाह, तिमिररोग, रात्र्यंधता, अतिसार, त्वचा पीली पित्तमय ग्रंथियों की उत्पत्ति नपुंसकता, शौक्तोत्कर्ष आदि लक्षण भी होते हैं।

शौक्तोत्कर्ष (Ketosis)–यह दशा पुराने उपेक्षित मधुमेह में अथवा तीव्र मधुमेह में मारक उपद्रव के रूप में पायी जाती है, गंभीर अभिघात, शल्यकर्म एवं तीव्र वमनसह अतिसार के फलस्वरूप भी इसकी उत्पत्ति होती है। इसका आरम्भ एकाएक अथवा क्रमशः होता है। सामान्य लक्षण बेचैनी, हड़फूटन, सिरदर्द हृल्लास, शरीर शीतल (तापमान सामान्य से कम), श्वास मन्द एवं गम्भीर, नाड़ीगति तीव्र एवं मृदु, पेशियों में शिथिलता एवं गम्भीर

प्रतिक्षेपों का नाश, नेत्र गोलक मृदु हो जाना आदि हैं। जलाल्पता के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं, श्वास में सिरके के समान गंध आती है, श्वासकष्ट उत्पन्न होता है और संन्यास होकर मृत्यु हो जाती है। रक्त में बड़े आकार वाले लाल कण पाये जाते हैं।

प्रमेह पिडिकाओं के भेद, कारण एवं स्थान

शराविका कच्छपिका जालिनी विनताऽलजी।
मसूरिका सर्पपिका पुत्रिणी सविदारिका ॥२७॥
विद्रधिश्चेति पिडकाः प्रमेहोपेक्षया दश।
सन्धिमर्मसु जायन्ते मांसलेषु च धामसु ॥२८॥

शराविका, कच्छपिका, जालनी, विनता, अलजी, मसूरिका, सर्पपिका, पुत्रिणी, विदारिका और विद्रधि (अथवा विद्रधिका)—ये दस प्रमेह-पिडिकाएं प्रमेह की उपेक्षा करने से संधियों, मर्मस्थानों तथा मांसल अवयवों में उत्पन्न होती हैं।

प्रमेहपिडिकाओं के लक्षण

अन्तोन्नता तु तद्रूपा निम्नमध्या शराविका।
गौरसर्षपसंस्थाना तत्प्रमाणा च सर्षपी ॥२९॥
सदाहा कूर्मसंस्थाना ज्ञेया कच्छपिका बुधैः।
जालिनी तीव्रदाहा तु मांसजालसमावृता ॥३०॥
अवगाढरुजाक्लेदा पृष्ठे वाऽप्युदरेऽपि वा।
महती पिडिका नीला विनता नाम सा स्मृता ॥३१॥
महत्यल्पाचिता ज्ञेया पिडिका चापि पुत्रिणी।
मसूराकृतिसंस्थाना विज्ञेया तु मसूरिका ॥३२॥
रक्तासिता स्फोटचिता दारुणा त्वलजी भवेत्।
विदारीकन्दवद्वृत्ता कठिना च विदारिका ॥३३॥
विद्रधेर्लक्षणैर्युक्ता ज्ञेया विद्रधिका तु सा।

शराविका शराव (मिट्टी का दिया, सकोरा) के समान आकार वाली छोरों पर उभरी हुई एवं बीच में गहरी होती है।

सर्षपी सफेद सरसों के समान आकार और प्रमाण वाली होती है।

कछुए के समान आकार वाली तथा दाहयुक्त पिडका को बुद्धिमान् व्यक्ति कच्छपिका समझें।

जालनी तीव्र दाह करने वाली तथा मांसजाल (जाल-स्वरूप मांस-तन्तुओं) से आच्छादित रहती है।

पीठ या उदर में उत्पन्न होने वाली, गंभीर पीड़ा उत्पन्न करने वाली, गाढ़ा स्राव करने वाली, बड़ी एवं नीली पिडिका को विनता कहते हैं।

छोटी पिडकाओं से युक्त बड़ी पिडका को पुत्रिणी समझना चाहिये।

मसूर के समान आकार वाली पिडका को मसूरिका समझना चाहिये।

अलजी लाल अथवा सफेद (अथवा लालिमा-युक्त श्वेत), स्फोटों से युक्त एवं भयंकर पीड़ायुक्त होती है।

विदारिका विदारीकन्द के समान गोल एवं कठोर होती है।

विद्रधि के लक्षणों से युक्त पिडका को विद्रधिका समझना चाहिये।

प्रमेहपिडकाओं में दोष-दुष्टि

ये यन्मयाः स्मृता मेहास्तेषामेतास्तु तन्मयाः ॥३४॥

जो प्रमेह जिस दोष से उत्पन्न होता है उसकी पिडका भी उसी दोष से उत्पन्न होती है।

प्रमेहपिडकाओं का दूसरा हेतु

विना प्रमेहमप्येता जायन्ते दुष्टमेदसः।

जिन लोगों का मेद दूषित हो उन्हें ये प्रमेह के विना भी होती हैं।

प्रमेहपिडकाओं की विशेषता

तावच्चैता न लक्ष्यन्ते यावद्वास्तुपरिग्रहः ॥३५॥

जब तक इनका विस्तार नहीं हो जाता तब तक ये लक्षित नहीं होतीं।

प्रमेह-पिडकाओं की असाध्यता

गुदे हृदि शिरस्यंसे पृष्ठे मर्मसु चोत्थिताः।
सोपद्रवा दुर्बलाग्नेः पिडकाः परिवर्जयेत् ॥३६॥

गुदा, हृदय-प्रदेश (वक्ष), कन्धे, पीठ और मर्म स्थानों में उत्पन्न; उपद्रव सहित तथा दुर्बल अग्नि वाले व्यक्तियों की प्रमेह-पिडकाएं असाध्य हैं।

पाश्चात्य मत—

प्रमेह-पिडका (Carbuncle)—इसे विद्रधि-समूह कहा जा सकता है। यह ४० वर्ष से अधिक आयु के पुरुषों में अत्यधिक तथा कभी कभी स्त्रियों एवं बालकों में भी पायी जाती है। इसके आरम्भ में लगभग रुपये बराबर भाग में कठोर शोथ होता है तथा वहां की त्वचा का वर्ण फीका लाल होजाता है। फिर यह शोथ क्रमशः फैलकर काफी विस्तार कर लेता है। रोगी को इतना दर्द होता है कि वह सो नहीं पाता, ज्वर भी आजाता है। कुछ काल बाद उस शोथ में छोटे छोटे पाक-केन्द्र या क्षुद्र-विद्रधि बनते हैं जिनके फूटने पर अलग अलग छिद्रों से पूय निकलता है। फिर कुछ काल में छिद्र युक्त ऊपरी धातु गलकर पपड़ी बन जाती है। इस पपड़ी के दूर होने में अत्यधिक समय लगता है और इस काल में कष्ट, पूय स्राव एवं विषाक्त पदार्थों के चूषण से रोगी अत्यन्त क्षीण एवं थकित हो जाता है। पपड़ी निकल जाने पर एक चौड़ा एवं गहरा व्रण बनता है जिसके भरने में बहुत समय लगता है।

बड़ी प्रमेहपिडका एक भयंकर रोग है जिसके कारण मधुमेह, मदात्यय आदि से पीड़ित तथा दुर्बल व्यक्तियों की मृत्यु हो सकती है। सामान्यतः सभी रोगी कई माह तक कष्ट भुगतते हैं। अधिकतर यह पीठ पर दोनों कन्धों के बीच उत्पन्न होती है किन्तु जब यह ग्रीवा के अग्रभाग या चेहरे पर होती है तब अधिक भयंकर होती है।

: ३४ :

मेदोरोग (OBESITY)

मेद वृद्धि के निदान

अव्यायामदिवास्वप्नश्लेष्मलाहारसेविनः ।
मधुरोऽन्नरसः प्रायः स्नेहान्मेदः प्रवर्धयेत् ॥१॥

व्यायाम न करने, दिन में सोने एवं कफकारक आहार सेवन करने वालों का मधुर रस (अपनी) स्निग्धता के कारण मेद की वृद्धि करता है।

वक्तव्य—(२५४) अधिक मेद-वृद्धि को ही संस्कृत में मेदोरोग, हिन्दी में मेद-रोग अथवा बादी चढ़ जाना कहते हैं। अत्यधिक मेद-वृद्धि से मनुष्य अत्यन्त मोटा एवं बेडौल हो जाता है। मेद अथवा वसा या चर्बी शरीर की एक अत्यन्त उपयोगी धातु है। उचित मात्रा में रहने पर यह सन्धियों को स्निग्ध रखकर रगड़ से बचाती तथा त्वचा में स्निग्धता एवं कोमलता उत्पन्न करती है। किन्तु बढ़ जाने पर यह उदर अथवा अन्य भागों में संचित होकर सौन्दर्य एवं स्वास्थ्य का नाश करती है।

मेदोरोग की सम्प्राप्ति एवं लक्षण

मेदसाऽऽवृतमार्गत्वात् पुष्यन्त्यन्ये न धातवः।
मेदस्तु चीयते तस्मादशक्तः सर्वकर्मसु ॥२॥
क्षुद्रश्वासतृषामोहस्वप्नक्रथनसादनैः ।
युक्तः क्षुत्स्वेददौर्गन्ध्यैरल्पप्राणोऽल्पमैथुनः ॥३॥

मेद से मार्ग (रसरक्तादिवह मार्ग) आवृत होने के कारण अन्य धातुओं का पोषण नहीं होता केवल मेद ही संचित होता है जिससे मनुष्य सभी कार्यों में अशक्त हो जाता है, क्षुद्रश्वास, तृष्णा, मोह, निन्द्रा, अकस्मात् श्वास निकलने में अवरोध उत्पन्न होना, अवसाद, क्षुधा और स्वेद में दुर्गन्ध आना—इन लक्षणों से युक्त रहता है, बल (अथवा आयु) घट जाता है और मैथुन-शक्ति भी घट जाती है।

मेदोरोग से उदर-वृद्धि होने का कारण

मेदस्तु सर्वभूतानामुदरेष्वस्थिषु स्थितम् ।
अत एवोदरे वृद्धिः प्रायो मेदस्विनो भवेत् ॥४॥

मेद सभी प्राणियों के उदर एवं अस्थियों में रहता है अतएव प्रायः मेदस्वियों (मेदस्वी-मेदरोगी, मेदोरोगी) के उदर की ही वृद्धि होती है।

मेदोरोग से क्षुधावृद्धि के कारण एवं उपद्रव

मेदसाऽऽवृतमार्गत्वाद्वायुः कोष्ठे विशेषतः।
चरन् सन्धुक्षयत्यग्निमाहारं शोषयत्यपि ॥५॥
तस्मात् स शीघ्रं जरयत्याहारमभिकाङ्क्षति।
विकारांश्चाप्नुते घोरान्कांश्चित् कालव्यतिक्रमात् ॥६॥
एतावुपद्रवकरौ विशेषादग्निमारुतौ ।
एतौ तु दहतः स्थूलं वनदावो वनं यथा ॥७॥

मेद के द्वारा मार्ग आवृत होने के कारण वायु विशेषतः कोष्ठ में ही संचार करता हुआ अग्नि को प्रदीप्त करता है और आहार का शोषण भी करता है। इसलिये वह (मेदरोगी) भोजन को जल्दी जल्दी पचाता है और जल्दी जल्दी आहार चाहता है, देर होने पर कई प्रकार के भयंकर विकारों से पीड़ित होता है। विशेषतः अग्नि और वायु—ये दोनों उपद्रव कारी (अत्यन्त कुपित) हो जाते हैं तथा ये दोनों ही स्थूल व्यक्ति को उसी प्रकार जलाते (पीड़ित करते) हैं जिस प्रकार वन को दावाग्नि जलाती है।

मेदोरोग से मृत्यु

मेदस्यतीव संवृद्धे सहसैवानिलादयः ।
विकारान् दारुणान् कृत्वा नाशयन्त्याशु जीवितम् ॥८॥

मेद के अत्यधिक बढ़ जाने पर अचानक वातादि दोष भयंकर विकारों को उत्पन्न करके शीघ्र ही जीवन का नाश कर देते हैं।

अतिस्थूल की परिभाषा

मेदोमांसातिवृद्धत्वाच्चलस्फिगुदरस्तनः ।
अयथोपचयोत्साहो नरोऽतिस्थूल उच्यते ॥९॥

मेद और मांस की अत्यधिक वृद्धि के कारण जिसके स्फिग् (चूतड़, Hips), उदर एवं स्तन हिलते हों तथा पुष्टि (मोटेपन) के अनुरूप उत्साह न हो वह मनुष्य अतिस्थूल (मेदस्वी, मेदोरोगी) कहलाता है।

पाश्चात्य मत —

यह रोग अधिक भोजन, अधिक सोना, कम परिश्रम, मद्य-सेवन, मधुमेह, उपाङ्गपिण्ड (Hypoth almus) के विकार, अवटुका ग्रन्थि एवं कभी कभी पीयूष-ग्रन्थि की कार्य हीनता से उत्पन्न होता है। बहुत से मामलों में यह रोग कौटुम्बिक होता है तथापि यह भी देखा जाता है कि कुटुम्ब के सभी व्यक्ति इससे पीड़ित नहीं होते। कुछ जातियों में यह रोग अधिक पाया जाता है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियां अधिक आक्रान्त होती हैं।

कुछ मामलों में मेद का संचय सारे शरीर में एकसा होता है किन्तु अधिकतर ऐसा नहीं होता। मेद अधिकतर उन्हीं स्थानों में संचित होता है जो निष्क्रिय अथवा अल्प-क्रियाशील रहते हैं जैसे उदर, स्फिग्, स्तन आदि, किन्तु यह नियम भी सर्वत्र लागू नहीं होता। कुछ व्यक्तियों में किसी विशेष अंग जैसे हाथ, पैर, उदर, स्तन आदि में से किसी एक ही भाग में मेद का संचय होता है, यह स्थिति अत्यन्त उपहासास्पद होती है।

अधिकांश मेदस्वी व्यक्ति अधिक श्रम करने में असमर्थ हुआ करते हैं, क्षुद्रश्वास की शिकायत सामान्य है। इसी तरह अधिकतर मेदस्वी व्यक्तियों में मैथुन शक्ति की कमी पाई जाती है तथा कुछ पूर्ण नपुंसक हो सकते हैं। बहुत से मामलों में जहां बाल्यावस्था से ही इसका आरम्भ हो जाता है तथा अन्तःस्रावी ग्रन्थियों की विकृति इसका कारण होती है उन मामलों में जननेन्द्रियों की वृद्धि अपूर्ण होती है। मेदस्वी व्यक्ति में रोगप्रतिकारक शक्ति अल्प रहती है जिससे बहुत थोड़े मेदस्वी व्यक्ति पूर्ण आयु भोग पाते हैं।

: ३५ :

उदर रोग

निदान

रोगाः सर्वेऽपि मन्देऽग्नौ सुतरामुदराणि च ।
अजीर्णान्मलिनैश्चान्नैर्जायन्ते मलसंचयात् ॥१॥

सभी रोग विशेषतः उदररोग अग्नि मन्द होने पर अजीर्ण से, गन्दे भोजन से और मल संचय से होते हैं ।

सम्प्राप्ति

रुद्ध्वा स्वेदाम्बुवाहीनिदोषाः स्रोतांसि संचिताः ।
प्राणाग्न्यपानान् संदूष्य जनयन्त्युदरं नृणाम् ॥२॥

स्रोतों में संचित दोष स्वेदवाहिनियों और जल-वाहिनियों का अवरोध करके, प्राणवायु, अग्नि, और अपानवायु को दूषित करके उदररोग उत्पन्न करते हैं ।

सामान्य लक्षण

आध्मानं गमनेऽशक्तिर्दौर्बल्यं दुर्बलाग्निता ।
शोथः सदनमङ्गानां सङ्गो वातपुरीषयोः ॥३॥
दाहस्तन्द्रा च सर्वेषु जठरेषु भवन्ति हि ।

आध्मान, चलने में अशक्ति का अनुभव होना, दुर्बलता, अग्नि की दुर्बलता (अजीर्ण), शोथ अंगों में शिथिलता, वात और मल का अवरोध, दाह और तन्द्रा—ये लक्षण समस्त उदररोगों में होते हैं ।

भेद

पृथग्दोषैः समस्तैश्च प्लीहबद्धक्षतोदकैः ॥४॥
संभवन्त्युदराण्यष्टौ तेषां लिङ्गं पृथक् शृणु ॥

उदर रोग ८ प्रकार के होते हैं—पृथक् पृथक् दोषों से (वातज, पित्तज, कफज), समस्त दोषों से (सन्निपातज), प्लीहा से (प्लीहोदर), मलबद्धता से (बद्धगुदोदर), क्षत से (क्षतोदर अथवा परिस्राव्युदर) और जल से (जलोदर) । उनके लक्षण पृथक् पृथक सुनो ।

वातज उदर रोग अथवा वातोदर

तत्र वातोदरे शोथः पाणिपान्नाभिकुक्षिषु ॥५॥
कुक्षिपार्श्वोदरकटीपृष्ठरुक् पर्वभेदनम् ।
शुष्ककासोऽङ्गमर्दोऽधोगुरुता मलसंग्रहः ॥६॥
श्यावारुणत्वगादित्वमकस्माद्वृद्धिह्रासवत् ।
सतोदभेदमुदरं तनुकृष्णसिराततम् ॥७॥
आध्मातदृतिवच्छब्दमाहतं प्रकरोति च ।
वायुश्चात्र सरुक्शब्दो विचरेत्सर्वतोगतिः ॥८॥

वातोदर रोग में हाथ-पैर, नाभि और कुक्षि में शोथ; कुक्षि, पार्श्व, उदर, कटि एवं पीठ में पीड़ा; पर्वों में फटन, सूखी खांसी, अङ्गों में पीड़ा, शरीर के निचले भागों में भारीपन, मलावरोध, त्वचा आदि का वर्ण श्याम एवं अरुण हो जाना आदि लक्षण होते हैं । उदर अचानक ही कभी बढ़ जाता (फूल जाता) है और कभी घट जाता (पिचक जाता) है । आध्मान होने पर उदर में चुभन और फटन होती, पतली एवं काली शिराएं उभर आती हैं, ठोकने पर मशक के समान आवाज होती है और उसमें वायु सब ओर पीड़ा और आवाज करती हुई विचरती है ।

पित्तज उदर रोग अथवा पित्तोदर

पित्तोदरे ज्वरो मूर्च्छा दाहस्तृट् कटुकास्यता ।
भ्रमोऽतिसारः पीतत्वं त्वगादावुदरं हरित् ॥९॥
पीतताम्रसिरानद्धं सस्वेदं सोष्म दह्यते ।
धूमायते मृदुस्पर्शं क्षिप्रपाकं प्रदूयते ॥१०॥

पित्तोदर रोग में ज्वर, मूर्च्छा, दाह, तृष्णा, मुख में कड़वापन, भ्रम, अतिसार एवं त्वचा आदि में पीलापन रहता है । उदर हरी पीली एवं ताम्रवर्ण सिराओं से व्याप्त, स्वेद-युक्त, स्पर्श में उष्ण एवं दाहयुक्त रहता है । रोगी को (मुख एवं गले के द्वारा) उदर से धुवां निकलने के समान प्रतीति होती है ।

उदर स्पर्श में मृदु रहता है तथा उसमें शीघ्र ही पाक (पूयोत्पत्ति) होने लगता है।

कफज उदर रोग, कफोदर अथवा श्लेष्मोदर

श्लेष्मोदरेऽङ्गसदनं स्वापः श्वयथुगौरवम् ।
निद्रोत्क्लेशोऽरुचिःश्वासः कासःशुक्लत्वगादिता ॥११॥
उदरं स्तिमितं स्निग्धं शुक्लराजीततं महत् ।
चिराभिवृद्धं कठिनं शीतस्पर्शं गुरु स्थिरम् ॥१२॥

श्लेष्मोदर रोग में अङ्गों में शिथिलता, प्रसुप्ति, शोथ एवं भारीपन रहता है तथा निद्रा, उत्क्लेश, अरुचि, श्वास, कास, एवं त्वचा आदि में शुक्लता (श्वेताभता)-ये लक्षण होते हैं। उदर गीलासा, चिकना, सफेद रेखाओं से व्याप्त, बढ़ा, बहुत काल से बढ़ा हुआ, कठोर, स्पर्श में शीतल, भारी और स्थिर रहता है।

सन्निपातज उदररोग अथवा सन्निपातोदर या दूष्योदर

स्त्रियोऽन्नपानं नखलोममूत्र-
विडार्तवैर्युक्तमसाधुवृत्ताः ।
यस्मै प्रयच्छन्त्यरयो गरांश्च
दुष्टाम्बुदूषीविषसेवनाद्वा ॥१३॥
तेनाशु रक्तं कुपिताश्च दोषाः
कुर्युः सुघोरं जठरं त्रिलिङ्गम् ।
तच्छीतवाते भृशदुर्दिने च
विशेषतः कुप्यति दह्यते च ॥१४॥
स चातुरो मुह्यति हि प्रसक्तं
पाण्डुः कृशः शुष्यति तृष्णया च ।
दूष्योदरं कीर्तितमेतदेव—

जिसे दुश्चारित्रा स्त्रियां अन्न-पान, में नख, रोम, मूत्र, मल अथवा आर्तव मिला कर देती हैं अथवा जिसे शत्रु विष दे देते हैं अथवा दूषित जल या दूषीविष के सेवन से शीघ्र ही दोष (तीनों) और रक्त कुपित होकर भयंकर त्रिदोषज लक्षणों से युक्त उदर रोग उत्पन्न करते हैं। यह शीतल वायु चलने पर तथा अत्यन्त बुरे मौसम में विशेषरूप से प्रकोप करता है और दाह उत्पन्न करता है। वह रोगी पाण्डुवर्ण (पीताभ) एवं कृश हो जाता है, बारम्बार मूर्च्छित होता है तथा प्यास से व्याकुल होता है। इसी को ही दूष्योदर भी कहते हैं।

प्लीहाजन्य उदर रोग अथवा प्लीहोदर

—प्लीहोदरं कीर्तयतो निबोध ॥१५॥
विदाह्यभिष्यन्दिरतस्य जन्तोः
प्रदुष्टमत्यर्थमसृक् कफश्च ।
प्लीहाभिवृद्धिं कुरुतः प्रवृद्धौ
प्लीहोत्थमेतज्जठरं वदन्ति ॥१६॥
तद्वामपार्श्वे परिवृद्धिमेति
विशेषतः सीदति चातुरोऽत्र ।
मन्दज्वराग्निः कफपित्तलिङ्गै-
रुपद्रुतः क्षीणबलोऽतिपाण्डुः ।

प्लीहोदर का वर्णन किया जाता है, सुनो। विदाही एवं अभिष्यन्दी पदार्थों का अधिक सेवन करने वाले व्यक्ति के रक्त और कफ अत्यधिक दूषित होकर प्लीहा वृद्धि करते हैं। अधिक वृद्धि हो चुकने पर उसे प्लीहाजन्य उदर रोग कहते हैं। उदर बायें भाग में विशेषतौर से बढ़ता है। रोगी अवसाद ग्रस्त रहता है। उसे मन्द ज्वर रहता है तथा जठराग्नि मन्द हो जाती है। वह कफ और पित्त के लक्षणों एवं उपद्रवों से युक्त रहता है तथा निर्बल एवं अत्यन्त पीताभ हो जाता है।

यकृद्दाल्युदर

सव्यान्यपार्श्वे यकृति प्रवृद्धे
ज्ञेयं यकृद्दाल्युदरं तदेव ॥१७॥

दाहिनी ओर यकृत की वृद्धि होने पर उसी (प्लीहोदर) को यकृद्दाल्युदर समझना चाहिये।

प्लीहोदर तथा यकृद्दाल्युदर में दोष विनिश्चय

उदावर्तरुजानाहैर्मोहतृड्दहनज्वरैः ।
गौरवारुचिकाठिन्यैर्विद्यात्तत्र मलान् क्रमात् ॥१८॥

उदावर्त, पीड़ा और अनाह से वात; मोह, तृष्णा दाह और ज्वर से पित्त; तथा भारीपन, अरुचि और (उदर में) कठोरता होने पर वात का प्रकोप समझना चाहिये।

बद्धगुदोदर

यस्यान्त्रमन्नैरुपलेपिभिर्वा
बालाश्मभिर्वा पिहितं यथावत् ।
संचीयते तस्य मलः सदोषः
शनैः शनैः संकरवच्च नाड्याम् ॥१६॥
निरुध्यते तस्य गुदे पुरीषं
निरेति कृच्छ्रादपि चाल्पमल्पम् ।
हृन्नाभिमध्ये परिवृद्धिमेति
तस्योदरं बद्धगुदं वदन्ति ॥२०॥

जिसकी आंत चिपकने वाले अन्न अथवा अश्मरी से अवरुद्ध हो जाती है उसका दोष सहित मल उसी प्रकार संचित होता रहता है जैसे नाली में कूड़ा गुदा में मल रुक जाता है और कठिनाई से थोड़ा थोड़ा निकलता भी है। उसके उदर की वृद्धि हृदय और नाभि के बीच के भाग में होती है—इसे बद्ध-गुदोदर कहते हैं ।

परिस्राव्युदर अथवा क्षतोदर

शल्यं तथाऽन्नोपहितं यदन्त्रं
भुक्तं भिनत्त्यागतमन्यथा वा ।
तस्मात्स्रुतोऽन्त्रात्सलिलप्रकाशः
स्रावः स्रवेद्वै गुदतस्तु भूयः ॥२१॥
नाभेरधश्चोदरमेति वृद्धि
निस्तुद्यते दाल्यति चातिमात्रम् ।
एतत्परिस्राव्युदरं प्रदिष्टं—

भोजन के साथ खाया गया अथवा अन्य प्रकार से (बाहर से) आया हुआ जो शल्य आंत में छिद्र कर देता है उसके कारण आंत्र में से टपका हुआ जल-सदृष स्राव बड़ी मात्रा में गुदा में निकल सकता है, उदर नाभि के नीचे के भाग में बढ़ जाता है तथा अत्यधिक चुभन एवं फटन होती है। यह परि-स्राव्युदर कहा गया है ।

वक्तव्य—(२५५)स्राव दोनों ओर होता है। आंत्र के भीतर का स्राव गुदा से निकल जाता है और भीतर का स्राव उदर वृद्धि करता है ।

जलोदर अथवा दकोदर

—दकोदरं कीर्तयतो निबोध ॥२२॥
यः स्नेहपीतोऽप्यनुवासितो वा
वान्तो विरिक्तोऽप्यथवा निरूढः ।
पिबेज्जलं शीतलमाशु तस्य
स्रोतांसि दूष्यन्ति हि तद्वहानि ॥२३॥
स्नेहोपलिप्तेष्वथवाऽपि तेषु
दकोदरं पूर्ववदभ्युपैति ।
स्निग्धं महत्तत्परिवृत्तनाभि
समाततं पूर्णमिवाम्बुना च ।
यथा दृतिः क्षुभ्यति कम्पते च
शब्दायते चापि दकोदरं तत् ॥२४॥

दकोदर (जलोदर) का वर्णन सुनो—

जो मनुष्य स्नेहपान, अनुवासन बस्ति लेने के बाद तुरन्त ही शीतल जल पी लेता है उसके जल-वाही स्रोत दूषित अथवा स्नेहलिप्त हो जाते हैं। ऐसा होने पर वह मनुष्य पूर्वोक्त (परिस्राव्युदर) के समान (आन्त्र से स्राव होने के कारण) दकोदर रोग को प्राप्त करता है। यह दकोदर (दकोदर या जलोदर से पीड़ित रोगी का उदर) स्निग्ध, बड़ा, उलटी हुई नाभि से युक्त एवं एकसा फूला हुआ रहता है तथा जल से भरी हुई मशक के समान क्षुब्ध होता कांपता और शब्द करता है ।

वक्तव्य—(२५६) स्नेहपान, अनुवासन बस्ति एवं निरूहण बस्ति के बाद शीतल जल पीने से स्रोत स्नेह-लिप्त होने का तथा वमन एवं विरेचन के बाद शीतल जल पीने से स्रोत दूषित होने का तात्पर्य समझना चाहिये ।

साध्यासाध्यता

जन्मनैवोदरं सर्वं प्रायः कृच्छ्रतमं मतम् ।
बलिनस्तदजाताम्बु यत्नसाध्यं नवोत्थितम् ॥२५॥
पक्षाद्बद्धगुदं तूर्ध्वं सर्वं जातोदकं तथा ।
प्रायो भवत्यभावाय छिद्रान्त्रं चोदरं नृणाम् ॥२६॥

जन्म से ही होने वाला (सहज) सभी प्रकार का उदर रोग प्रायः अत्यन्त कृच्छ्रसाध्य माना गया है। बलवानों का नया उदर रोग जब तक उसमें

जलोत्पत्ति न हुई हो तब तक प्रयत्न पूर्वक चिकित्सा करने से साध्य है। एक पक्ष बीत चुकने पर बद्धगुदोदर, जल उत्पन्न हो चुकने पर सभी उदर रोग और छिद्रान्त्रोदर (अथवा परिस्राव्युदर या छिद्रोदर) प्रायः मृत्युकारक हो जाते हैं।

वक्तव्य—(२५८) प्रायः सभी उदर रोगों में समय बीतने पर जलोत्पत्ति होकर जलोदर सदृष लक्षण उत्पन्न होजाते हैं।

असाध्य लक्षण

शूनाक्षं कुटिलोपस्थमुपक्लिन्नतनुत्वचम् ।
बलशोणितमांसाग्निपरिक्षीणं च वर्जयेत् ॥२७॥
पार्श्वभङ्गान्नविद्वेषशोथातीसारपीडितम् ।
विरिक्तं चाप्युदरिणं पूर्यमाणं विवर्जयेत् ॥२८॥

जिसके नेत्रों में शोथ हो, लिंग टेढ़ा हो गया हो, त्वचा गीली (अथवा गली हुई सी) एवं पतली हो तथा जिसके बल, रक्त, मांस और अग्नि क्षीण हो चुके हों वह रोगी वर्जित (अचिकित्स्य, असाध्य) है।

पर्शुकास्थि (Rib) का भग्न, अरुचि, शोथ, एवं अतिसार से पीड़ित तथा विरेचन करने पर भी जिसका उदर फूलता ही जावे वह उदर-रोगी वर्जित है।

वक्तव्य—(२५७) उदर अत्यधिक फूलने से निम्न पर्शुकाओं का संधि-भग्न हो सकता है।

पाश्चात्य मत—

(१) वातोदर अथवा वातज उदररोग—इसका सादृष्य आध्मान-सह अजीर्ण (Flatulant Dyspepsia) अथवा प्रांगोदीय संधान (Cabohydrate Fermentation) से है। अजीर्ण प्रकरण देखें।

उदरावरण में भीतरी या बाहिरी नाड़ी व्रण (अभिघातज या पाक जन्य) के द्वारा वायु का प्रवेश हो जाता है अथवा वायु उत्पादक जीवाणु जन्य प्रदाह से वायु (Gas) की उत्पत्ति होती है। चिकित्सा के लिये भी कभी कभी वायु का प्रवेश कराया जाता है। इस दशा को भी वातोदर (Pneumo-peritoneum) कहते हैं किन्तु यह आयुर्वेदोक्त वातोदर से भिन्न है। आयुर्वेदिक मतानुसार इसे छिद्रोदर कह कहते हैं।

(२) पित्तोदर या पित्तज उदर रोग—इसका सादृष्य तीव्र उदरावरण प्रदाह (Acute Peritonitis) से है।

तीव्र उदरावरण प्रदाह (Acute Peritonitis) इसकी उत्पत्ति पूयोत्पादक जीवाणुओं से होती है जिनमें आंत्रदण्डाणु, फुफ्फुस गोलाणु, गुह्यगोलाणु आन्त्रिक ज्वर दण्डाणु, यक्ष्मा-दण्डाणु, वातघ्नी दण्डाणु आदि मुख्य हैं। उपसर्ग अधिकतर आन्त्रपुच्छ, उपाशय, पित्ताशय, आमाशय, आंत्र, डिम्बनलिका, वृक्क आदि से होता है। कभी कभी भीतरी नाड़ीव्रण, विद्रधि अथवा रक्त से भी उपसर्ग होता है।

रोग का आरम्भ अधिकतर तीव्र वेग से ज्वर एवं उदर पीड़ा के साथ होता है। उदर फूलकर कठोर हो जाता है तथा छूने से पीड़ा होती है। रोगी शीघ्र ही निपात की अवस्था में आ जाता से— शीतल एवं गीली त्वचा, नाड़ी तीव्र एवं दुर्बल, तथा श्वासक्रिया कष्टसह एवं क्षीण होती है। रोगी अत्यन्त बेचैन होता है, प्यास अधिक लगती है और वमन भी अत्यधिक होते हैं। मल प्रायः अवरुद्ध हो जाता है किन्तु कुछ मामलों में अतिसार होता है। चेहरा सुकड़ सा जाता है, जीभ अत्यन्त शुष्क एवं मलिन रहती है तथा रोगी उठने बैठने में असमर्थ हो जाता है। उदरावरण में द्रव भर जाता है और रक्त में श्वेतकायाणुओं की वृद्धि होती है।

इसके बाद प्रतिक्रिया की अवस्था आती है। इस समय नाड़ी में कुछ सुधार होता है और शारीरिक उत्ताप बढ़कर सामान्य के लगभग हो जाता है तथा रोगी किंचित आराम अनुभव करता है। किन्तु कुछ ही समय बाद घात की अवस्था आ जाती है

कुछ मामलों में रोग इतना आशुकारी नहीं होता। कुछ काल में पूयोत्पत्ति होती है, यदि प्रदाह सीमित स्थान में हो तो विद्रधि की उत्पत्ति होती है।

(३) कफोदर या कफज उदर रोग—इसका सादृष्य चिरकारी उदरावरण प्रदाह (Chronic Peritonitis) से है।

चिरकारी उदरावरण प्रदाह (Chronic Peritonitis)—इसके निदान तीव्र प्रकार के समान किन्तु सौम्य होते हैं। अधिकांश मामले राजयक्ष्मीय हो सकते हैं—राजयक्ष्मीय उदरावरण प्रदाह का वर्णन राजयक्ष्मा प्रकरण में किया जा चुका है।

लक्षण प्रायः सौम्य होते हैं—उदर में थोड़ी कठोरता, पीड़ा आदि। किन्तु भीतर ही भीतर संलागों आदि की उत्पत्ति होती है जिससे कालान्तर में आन्त्रावरोध होकर भयंकर लक्षण उत्पन्न होते हैं अन्त्रावरोध का वर्णन अजीर्ण प्रकरण में देखें।

(४) सन्निपातोदर अथवा सन्निपातज उदर रोग—चिरकारी विषाक्तता से उदर में पीड़ा, अतिसार, वमन, दाह, तृष्णा, कृशता, पाण्डुता आदि लक्षण उत्पन्न हुआ करते हैं। उदर कभी कभी फूल सकता है किन्तु उदरावरण प्रदाह प्रायः नहीं होता।

(५) प्लीहोदर अथवा प्लीहावृद्धि (Splenic Enlargement or Splenomegly)—

तीव्र वृद्धि—तीव्र ज्वरों विशेषतः विषमज्वर, कालमेही ज्वर, कालज्वर, आन्त्रिक ज्वर, उपआंत्रिक ज्वर, अग्निरोहिणी (प्लेग Plague), दोषमयता, पूयमयता, तीव्र श्यामाकीय राजयक्ष्मा, वातश्लेष्म ज्वर, फुफ्फुस-प्रदाह, मसूरिका, रोहिणी (घटसर्प, Diphtheria), पुनरावर्तक ज्वर, तन्द्रिक ज्वर, (Trypanosomiasis), मूषकदंश ज्वर, और माल्टा ज्वर में प्लीहावृद्धि पायी जाती है। अभिघात, स्नायु ऐंठ जाना, अन्तःस्फान एवं विद्रधि होने पर तीव्र पीड़ा के साथ प्लीहावृद्धि होती है।

चिरकारी वृद्धि—चिरकारी विषम ज्वर, चिरकारी काल-ज्वर, श्वेतमयता, प्लैहिक रक्तक्षय, वानजैक्ष के रोग एवं अर्बुदादि नववृद्धियों के कारण अत्यधिक वृद्धि होती है। यकृद्दाल्युत्कर्ष, फिरङ्ग, चिरकारी पूयोत्पत्ति, हाजकिन का रोग, शैशवीय अस्थिक्षय, वैनाशिक रक्तक्षय, अपित्तमेही कुलज कामला, स्टिल का रोग. बहुलालकायाणुमयता (Polycythaemia Vera, Osler's Disease) आदि के कारण प्लीहा की सामान्य वृद्धि होती है।

इन सब रोगों का वर्णन विभिन्न स्थानों पर हो चुका है। प्लीहा-वृद्धि अधिक होने पर उदर उस ओर के भाग में उभरा हुआ दीखता है और शिराएं उभर आती हैं। प्रतिहारिणी शिरा प्रभावित होने पर जलोदर हो जाता है।

(६) यकृद्दाल्युदर (Cirrhoris of Liun)—कामला प्रकरण देखें।

(७) बद्धगुदोदर—यह आन्त्रावरोध (Intestinal Obstruction) है। अजीर्ण प्रकरण देखें।

(८) परिस्राव्युदर—यह तीव्र उदरावरण प्रदाह का एक प्रकार है।

(९) जलोदर (Ascites, Hydroperitoneum)—यह रोग सामान्यतः प्रतिहारिणी शिरा के अवरोध के कारण होता है। प्रतिहारिणी शिरा का अवरोध यकृद्दाल्युत्कर्ष, प्रतिहारिणी-खात (Portal Fishura) में फिरंग यक्ष्मा अथवा हौजकिन के रोग से ग्रन्थियों की वृद्धि अथवा घनास्रता के कारण होता है। इस प्रकार में अधिकतर अर्श भी पाये जाते हैं तथा रक्त-वमन का इतिहास मिलता है। उदरावरण में संचित द्रव हरिताभ या पीताभ वर्ण का रहता है; आपेक्षिक घनत्व १०१५ से कम रहता है।

इसके अतिरिक्त कभी कभी चिरकारी उदरावरण प्रदाह, उदरावरण में अर्बुदोत्पत्ति, लस-नलिकाओं का श्लीपद कृमि के द्वारा अवरोध (भरा हुआ द्रव श्वेत रहता है—पायसोदर Chylo-peritoneum) के फलस्वरूप भी जलोदर होता है।

सर्वांग शोथ की दशाओं में उदरावरण में द्रव संचित होता है।

प्रधान लक्षण मूलभूत व्याधि के ही होते हैं। जलोदर से लक्षणों की उत्पत्ति अधिक वृद्धि होने पर ही होती है—अधोमहाशिरा पर दबाव पड़ने से पैरों में शोथ; वृक्कों की वाहिनियों पर दबाव पड़ने से मत्राल्पता; महाप्राचीरा एवं वक्ष पर दबाव पड़ने से श्वासकष्ट, कास, हृत्स्पंदन वृद्धि और मूर्च्छा तथा पाचन सम्बन्धी अङ्गों पर दबाव पड़ने से अजीर्ण की उत्पत्ति होती है। तनाव के कारण उदर में मंद पीड़ा रहती है, सुस्ती, बेचैनी आदि अन्य लक्षण है।

साध्यासाध्यता कारण के अनुसार रहती है।

: ३६ :

शोथरोग

सम्प्राप्ति

रक्तपित्तकफान् वायुर्दुष्टो दुष्टान् वहिः सिराः।
नीत्वा रुद्धगतिस्तैर्हि कुर्यात्त्वङ्मांससंश्रयम् ॥१॥
उत्सेधं संहतं शोथं तमाहुर्निचयादतः।

रक्त, पित्त एवं कफ को दूषित वायु दूषित बाह्य शिराओं में ले जाकर उन्हीं से अवरुद्ध होकर त्वचा और मांस में संचित करके एक उभार उत्पन्न करता है। संचय के कारण इसे शोथ कहते हैं।

भेद

सर्वं हेतुविशेषैस्तु रूपभेदान्नवात्मकम् ॥२॥
दोषैः पृथग्द्वयैः सर्वैरभिघाताद्विषादपि।

निदानों की विशेषता एवं लक्षणों की विभिन्नता के अनुसार यह ६ प्रकार का होता है—प्रथक् प्रथक् दोषों से (वातज, पित्तज, कफज), दो दो दोषों से (वातपित्तज, वातकफज और पित्तकफज), सब दोषों से (सन्निपातज), अभिघात से (अभिघातज) और विष से (विषज)।

पूर्वरूप

तत्पूर्वरूपं दवथुः सिरायामोऽङ्गगौरवम् ॥३॥

इसके पूर्वरूप दाह, सिराओं में तनाव एवं अङ्गों में भारीपन हैं।

निज शोथ के सामान्य लक्षण

शुद्ध्यामयाभुक्तकृशाबलानां
क्षाराम्लतीक्ष्णोष्णगुरूपसेवा।
दध्याममृच्छाकविरोधिदुष्ट-
गरोपसृष्टान्ननिषेवणं च ॥४॥
अर्शांस्यचेष्टा न च देहशुद्धि-
र्मर्मोपघातो विषमा प्रसूतिः।
मिथ्योपचारः प्रतिकर्मणां च
निजस्य हेतुः श्वयथोः प्रदिष्टः ॥५॥

शुद्धि (शरीरशुद्धि वमन-विरेचनादि), रोग (ज्वर अतिसारादि) अथवा अनशन से कृश एवं निर्बल व्यक्तियों के द्वारा क्षार अम्ल, तीक्ष्ण, उष्ण एवं भारी पदार्थों का सेवन; दही, कच्चे पदार्थ, मिट्टी शाक; विरोधी, दूषित एवं विषाक्त मर्मोपघात, विषम प्रसव (मूढ़-गर्भ, गर्भपात, प्रसव-काल में उचित देख-भाल न होना आदि) तथा पंचकर्मों का मिथ्या प्रयोग—ये निज शोथ के कारण बतलाये गये हैं।

वक्तव्य—(२५६) वहां मर्मोपघात से दोष प्रकोप जन्य मर्माभिघात समझना चाहिये।

सामान्य लक्षण

सगौरवं स्यादनवस्थितत्वं
सोत्सेधमूष्माऽथ सिरातनुत्वम्।
सलोमहर्षश्च विवर्णता च
सामान्यलिङ्गं श्वयथोः प्रदिष्टम् ॥६॥

भारीपन, अस्थिरता (बेचैनी), उभार, उष्णता, सिराओं में पतलापन, रोमहर्ष और विवर्णता—ये शोथ के सामान्य लक्षण कहे गये हैं।

वातज शोथ

चलस्तनुत्वक् परुषोऽरुणोऽसितः
सुषुप्तिहर्षार्तियुतोऽनिमित्ततः ।
प्रशाम्यति प्रोन्नमति प्रपीडितो
दिवाबली च श्वयथुः समीरणात् ॥७॥

वातज शोथ अस्थिर, पतली त्वचा वाला, रूक्ष, अरुण, काला; संज्ञानाश, झुनझुनी (संज्ञापरिवर्तन) एवं पीड़ा से युक्त; अकारण शांत होने वाला, मसलने से उभरने वाला और दिन में बढ़ने वाला होता है ।

पित्तज शोथ

मृदुः सगन्धोऽसितपीतरागवान्
भ्रमज्वरस्वेदतृषामदान्वितः ।
य उष्यते स्पष्टरुगक्षिरागकृत्
स पित्तशोथो भृशदाहपाकवान् ॥८॥

जो शोथ मृदु, गंधयुक्त, काला, पीला एवं लालिमायुक्त हो; भ्रम, ज्वर, स्वेद, तृष्णा एवं मद से युक्त हो; जो जलता सा हो तथा जो स्पष्ट पीड़ा एवं आंखों में लाली उत्पन्न करने वाला हो वह पित्तज-शोथ है । यह अत्यन्त दाह करने वाला एवं शीघ्र पकने वाला होता है ।

कफज शोथ

गुरुः स्थिरः पाण्डुररोचकान्वितः
प्रसेकनिद्रावमिवह्निमान्द्यकृत् ।
स कृच्छ्रजन्मप्रशमो निपीडितो न
चोन्नमेद्रात्रिबली कफात्मकः ॥९॥

कफज शोथ भारी, स्थिर एवं पाण्डुवर्ण होता है । इसके साथ अरोचक रोग भी पाया जाता है । यह लालास्राव, निद्रा, वमन एवं अग्निमांद्य (आमाजीर्ण) उत्पन्न करता है । यह कठिनाई से (देर से) उत्पन्न एवं शान्त होता है तथा मसलने से उभरता नहीं है । यह रात्रि में बढ़ता है ।

द्विदोषज एवं त्रिदोषज शोथ

निदानाकृतिसंसर्गाच्छ्वयथुः स्याद् द्विदोषजः ।
सर्वाकृतिः सन्निपाताच्छोथो व्यामिश्रलक्षणः ॥१०॥

दो दोषों के मिश्रित निदान एवं लक्षणों से युक्त शोथ द्विदोषज (द्वन्द्वज) होता है और सन्निपातज शोथ में सब दोषों के लक्षण सम्मिश्रित पाये जाते हैं।

अभिघातज शोथ

अभिघातेन शस्त्रादिच्छेदभेदक्षतादिभिः ।
हिमानिलोदध्यनिलैर्भल्लातकपिकच्छुजैः ॥११॥
रसैः शूकैश्च संस्पर्शाच्छ्वयथुः स्याद्विसर्पवान् ।
भृशोष्मा लोहिताभासः प्रायशः पित्तलक्षणः ॥१२॥

शस्त्रादि से कटने, छिदने या छिलने आदि से; बर्फीली हवा, समुद्री हवा, भिलावे का रस (तेल) अथवा केवांच के रोओं के स्पर्श से फैलने वाला, काफी गरम, रक्ताभ वर्ण का और प्रायः पित्तज शोथ के समान लक्षणों वाला अभिघातज शोथ उत्पन्न होता है ।

विषज शोथ

विषजः सविषप्राणिपरिसर्पणमूत्रणात् ।
दंष्ट्रादन्तनखाघातादविषप्राणिनामपि ॥१३॥
विण्मूत्रशुक्रोपहतमलवद्वस्त्रसंकरात् ।
विषवृक्षानिलस्पर्शाद्गरयोगावचूर्णनात् ॥१४॥
मृदुश्चलोऽवलम्बी च शीघ्रो दाहरुजाकरः ।

विषैले प्राणियों के रेंगने, मूत्र त्याग करने तथा दाढ़, दांत या नख के आघात से; निर्विष प्राणियों के भी दाढ़, दांत या नख के आघात से; मल, मूत्र अथवा शुक्र लगे हुए मैले वस्त्र के संसर्ग से, विषवृक्ष की वायु के स्पर्श से अथवा कृत्रिम विष भुरक दिये जाने से मृदु, फैलने वाला, लटकने वाला तथा शीघ्र ही दाह और पीड़ा करने वाला विषज शोथ उत्पन्न होता है ।

शोथ के स्थान से दोषों के स्थान का सम्बन्ध

दोषाः श्वयथुमूर्ध्वं हि कुर्वन्त्यामाशयस्थिताः ॥१५॥
पक्वाशयस्था मध्ये तु वर्चःस्थानगतास्त्वधः ।
कृत्स्नदेहमनुप्राप्ताः कुर्युः सर्वसरं तथा ॥१६॥

आमाशय में स्थित दोष ऊपरी भागों में शोथ उत्पन्न करते हैं, पक्वाशय में स्थित दोष मध्य भाग में, मलाशय में स्थित दोष निचले भागों में और

सारे शरीर में व्याप्त दोष सारे शरीर में फैलने वाला शोथ उत्पन्न करते हैं।

साध्यासाध्यता

यो मध्यदेशे श्वयथुः स कष्टः सर्वगश्च यः।
अर्धाङ्गे रिष्टभूतः स्याद्यश्चोर्ध्वं परिसर्पति ॥१७॥

शरीर के मध्य भाग में होने वाला तथा सारे शरीर में होने वाला शोथ कष्टसाध्य होता है। अर्धांग में होने वाला तथा ऊपर की ओर फैलने वाला शोथ रिष्ट (मारक) होता है।

श्वासः पिपासा छर्दिश्च दौर्बल्यं ज्वर एव च।
यस्य चान्ने रुचिर्नास्ति श्वयथुं तं विवर्जयेत् ॥१८॥

श्वास, तृष्णा, वमन, दुर्बलता और अरुचि से युक्त शोथ वर्जित (अचिकित्स्य, असाध्य) है।

अनन्योपद्रवकृतः शोथः पादसमुत्थितः।
पुरुषं हन्ति नारीं च मुखजो गुह्यजो द्वयम्।
नवोऽनुपद्रवः शोथः साध्योऽसाध्यः पुरेरितः ॥१९॥

पैरों में उत्पन्न होने वाला शोथ यदि अन्य रोग के उपद्रव-स्वरूप उत्पन्न न हुआ हो (स्वतंत्र हो) तो वह स्त्री पुरुषों को मार डालता है। मुख अथवा गुह्यांग में उत्पन्न होने वाला शोथ भी दोनों को मार डालता है।

नया एवं उपद्रव रहित शोथ साध्य है, असाध्य पहले कहे जा चुके हैं।

विवर्जयेत्कुक्ष्युदराश्रितं च
तथा गले मर्मणि संश्रितं च।
स्थूलः खरश्चापि भवेद्विवर्ज्यो
यश्चापि बालस्थविराबलानाम् ॥२०॥

कुक्षि, उदर, ग्रीवा एवं मर्म स्थानों में आश्रित शोथ वर्जित है, स्थूल और खुरदरे शोथ भी वर्जित हैं तथा जो बालकों, वृद्धों एवं दुर्बल व्यक्तियों को हो वह शोथ भी वर्जित (असाध्य) है।

पाश्चात्य मत—

शोथ (Oedema, dropsy, Anasarca)—त्वचा एवं अधस्त्वक् धातुओं में जलीय धातु का संचय शोथ कहलाता है। इसके मुख्य ४ भेद हैं।

अ—वाहिनी अप्रवाहजन्य शोथ (Oedema due to circulatory stasis)—रक्ताधिक्यज हृदयातिपात (Congestive heart failure) में शिराओं में रक्त देर तक रुका रहता है जिससे केश-वाहनियों में दबाव बढ़ जाता है और शोथ की उत्पत्ति होती है। यह शोथ निचले भागों में (खड़े रहने पर पैरों में, बैठे रहने पर जननेन्द्रिय एवं स्फिग् देश में और लेटे रहने पर पीठ में) प्रकट होता है। रोगवृद्धि होने पर सर्वांग में शोथ हो सकता है। इसकी वृद्धि क्रमशः निचले भागों से ऊपरी भागों की ओर होती है (Ascending oedema)।

शिराओं में घनास्रता होने से अथवा किसी वृद्धि का दबाव पड़ने से भी शोथ उत्पन्न होता है। जलोदर का दबाव अधोमहाशिरा पर पड़ने से पैरों में शोथ होता है। ऊर्ध्वमहाशिरा पर भी किसी अर्बुद, ग्रन्थि आदि का दबाव पड़ने से ऊपरी भागों में शोथ हो सकता है। पैरों की शिराओं में कुटिलता होने से पैरों में देर तक खड़े रहने पर शोथ हो जाता है।

लसवाहिनियों में अवरोध होने से श्लीपद होता है। यह शोथ प्रारम्भ में मृदु रहता है किन्तु कुछ काल में तन्तूत्कर्ष होने पर कठोर हो जाता है।

(ब) वृक्क-विकार जन्य शोथ—(Renal Oedema)—इन रोगों में लसिका में स्थित प्रोभूजिनों का नाश और लवणों की वृद्धि होने के कारण शोथ होता है। प्रारम्भ में नेत्र के पलकों और जननेन्द्रियों पर शोथ दृष्टिगोचर होकर क्रमशः सारे शरीर में फैल जाता है; लसिकात्मक कलाओं, उदरावरण, फुफ्फुसावरण आदि में भी द्रव-संचय होता है। शरीर के अन्य भागों की अपेक्षा चेहरे पर अधिक शोथ रहता है (Descending Oedema) दबाने से गढ्ढा पड़ता है।

(स) अपोषणज शोथ (Oedema due to Malnutrition)—गंभीर प्रकार के रक्तक्षय

(विशेषतः वैनाशिक रक्तक्षय में) और दुर्भिक्ष-काल में खाद्याभाव से (दुर्भिक्ष-शोथ) की उत्पत्ति होती है।

(द) अन्य कारण जन्य शोथ—इस भेद के अन्तर्गत जानपदिक शोथ, बेरी-बेरी का सद्रव प्रकार और वाहिनी नाड़ी जन्य शोथ (Angio-neurotic Oedema) सम्मिलित हैं।

उपर्युक्त रोगों में से जिनका वर्णन अन्यत्र नहीं हुआ है उनका वर्णन नीचे किया जाता है—

(१) हृदयातिपात (Heart Failure)—यह दो प्रकार का होता है। कभी कभी दोनों प्रकार साथ साथ भी पाये जाते हैं।

(अ) वामनिलय-अतिपात (Left Ventricular Failure)—उच्च रक्तनिपीड़, धमनी जरठता, हृत्पेशी अन्तःस्फान आदि कारणों से वामनिलय पर अधिक श्रम पड़ता है जिससे उसका निपात होता है।

इससे प्रावेगिक श्वासकष्ट और कास की उत्पत्ति होती है तथा कभी कभी अचानक मृत्यु हो जाती है। फुफ्फुसों में रक्ताधिक्य पाया जाता है। वक्ष-परीक्षा में फुफ्फुसाधार पर अन्तरित निस्स्वनन (Rales) सुनाई पड़ते हैं।

(ब) दक्षिणनिलय-अतिपात अथवा रक्ताधिक्यज हृदयातिपात (Right Ventricular Failure or Congestive Heart-Failure)—प्रदाह आदि के फलस्वरूप द्विपत्रक कपाट का संकोच (Mitral Stenosis), हृत्पेशी का अपजनन (Myocardial Degeneration), वातोत्फुल्लता, चिरकारी श्वासनलिका प्रदाह, फुफ्फुसों में तन्तूत्कर्ष, उच्च रक्तनिपीड़ आदि कारणों से इसकी उत्पत्ति होती है।

श्वासकष्ट, आक्षेप और शोथ इसके प्रधान लक्षण हैं। सारे शरीर की शिराएं रक्त से अत्यन्त पूर्ण रहती हैं तथा स्पन्दन करती हैं। यकृत भी रक्त भरने से फूलकर तन जाता है और छूने पर पीड़ा करता है। पचन संस्थान में रक्ताधिक्य होने के कारण अजीर्ण और रक्तवमन तथा वृक्कों के प्रभावित होने से मूत्र कम एवं शुक्लि-मिश्रित गहरे वर्ण का तथा कभी कभी रक्तमिश्रित होता है। शरीर के निचले भागों से शोथ आरम्भ होकर सारे शरीर में फैल जाता है। श्यावता की उत्पत्ति होती है और अंगुलियां मुद्गरवत् होजाती है। नाड़ी तीव्र, कमजोर एवं अनियमित रहती है; रक्तनिपीड़ अक्सर घट जाता है। त्रिपत्रीय कपाट में प्रत्युद्गिरण ध्वनि मिलती है।

२—वृक्क प्रदाह (Nephritis)

(अ) तीव्र विकीर्ण गुत्सकीय वृक्कप्रदाह (Acute Diffuse Glomerulo-Nephritis)—इसकी उत्पत्ति अधिकतर मालागोलाणुओं के उपसर्गों के बाद उनके विष से होती है। बाल्यावस्था एवं युवावस्था में इसके आक्रमण की संभावना अधिक रहती है। रोग का आरम्भ सामान्य ज्वर तथा गले एवं पीठ में पीड़ा से होता है। शीत लग जाने का इतिहास अधिकतर मिलता है। शोथ निचले भागों से आरम्भ होकर सारे शरीर में फैलता है और फिर उदरावरण, फुफ्फुसावरण एवं हृदयावरण में भी द्रव भर जाता है। शोथ के साथ श्वास कष्ट की भी उत्पत्ति होती है। मूत्र की मात्रा अत्यन्त घट जाती है तथा इसमें रक्त, शुक्लि और निर्मोक पाये जाते हैं और आपेक्षिक घनत्व बढ़ जाता है। नेत्रों के दृष्टि-बिम्ब में रक्तस्राव हो सकता है। रक्तनिपीड़ अधिकतर बढ़ जाता है।

सौम्य प्रकार में क्रमशः रोगोपशम हो जाता है अथवा चिरकारी वृक्कप्रदाह हो जाता है। गंभीर प्रकार में पूर्ण मूत्रावरोध और मूत्रमयता होकर, अत्यधिक शोथ अथवा घातक उच्च रक्तनिपीड़ होकर मृत्यु हो जाती है। कभी कभी फुफ्फुस प्रदाह, फुफ्फुसावरण प्रदाह, उदरावरण प्रदाह आदि उपद्रव होकर मृत्यु होती है।

ब—अनुतीव्र एवं चिरकारी गुत्सकीय वृक्कप्रदाह° (Subacute and Chronic Glomerulo-Nephritis)—यह रोग या तो तीव्र प्रकार का चिरकारी रूप होता है अथवा गुप्त रूप से¶ आक्रमण करता है। अजीर्ण, सुस्ती, सिरदर्द, शोथ और रक्तक्षय सामान्य लक्षण हैं तथा तीव्र प्रकार में बतलाये गये अन्य लक्षण भी उपस्थित रहते हैं। लगभग २ वर्ष में अत्यन्त क्षीणता होकर मृत्यु होती है।

स—चिरकारी वृक्कप्रदाह (Chronic Nephritis) यह तीव्र एवं अनुतीव्र प्रकार का पुराना रूप है। इस दशा में मूत्र की मात्रा बढ़ जाती है और आपेक्षिक घनत्व कम होजाता है। रक्त, शुक्लि और निर्मोक पाये जाते हैं। वयस्कों में उच्चरक्तनिपीड़ होता है तथा बालकों में वामनत्व (Renal Dwarfism) तथा अस्थिक्षय सदृष लक्षण (वृक्कज अस्थिक्षय, Renal Rickets) उत्पन्न होते हैं। मृत्यु उच्चरक्तनिपीड़ या मूत्रमयता से होती है।

३—वृक्कोत्कर्ष (Nephrosis)

अ. तीव्र वृक्कोत्कर्ष (Acute Nephrosis)—आन्त्रिक ज्वर, मसूरिका रोमान्तिका, रोहिणी, तुण्डिका प्रदाह आदि रोगों में वृक्कों की नलिकाओं में घनशोथ होता है तथा मूत्र थोड़ा होता है और उसमें थोड़ी मात्रा में शुक्लि पायी जाती है। मधुमेह जन्य शौक्तोत्कर्ष, पुराने कामला और वैनाशिक रक्तक्षय में लगभग इसी प्रकार की किन्तु अधिक गम्भीर दशा होती है, मूत्र में कुछ निर्मोक भी पाये जाते हैं। पारद, मल्ल, स्वर्णलवण, भास्वर (फास्फरस) कैंथराइडिस तथा तेजाबों की विषाक्तता से एवं सगर्भता, अवरोधी कामला, आन्त्रावरोध, पश्चिम मुद्रिका-द्वार अवरोध, विसूचिका आदि के आभ्यन्तर विषों के प्रभाव से वृक्कों की नलिकाओं का कोथ होता है जिससे मूत्रावरोध एवं मूत्रमयता होकर मृत्यु तक हो जाती है।

तीनों प्रकारों में मूत्रमयता के क्रमशः सौम्य (गुप्त), साधारण और उग्र लक्षण होते हैं, शोथ नहीं होता। तृतीय प्रकार में तथा किसी भी प्रकार में मूत्र देर तक रुका रहना घातक लक्षण है। यदि मूत्र कुछ देर रुका रहने के बाद भी चालू हो जाता है तो भी रोगी बच जाता है और प्रायः आगे के लिये कोई विकृति शेष नहीं रह जाती।

ब—चिरकारी वृक्कोत्कर्ष (Chronic Nephritis)—इस रोग में वृक्कों में शोथ और अपजनन होता है। प्रारम्भ में सिरदर्द, सुस्ती क्षुधानाश आदि अनिश्चित लक्षण होते हैं फिर क्रमशः शोथ की उत्पत्ति होती है। शोथ का आरम्भ अधिकतर चेहरे पर से होता है और फिर क्रमशः सारे शरीर में फैल जाता है तथा जलोदर और जलोरस भी हो जाते हैं। शोथ वर्षों रहा आता है और बीच बीच में शांत होता और बढ़ता रहता है। त्वचागत शोथ लगभग शांत हो चुकने पर भी जलोदर रहा आता है। थोड़ा क्षुद्रश्वास और श्वास नलिका-प्रदाह रहा ही आता है। फुफ्फुस-प्रदाह अथवा उदरावरण-प्रदाह होने की अत्यधिक संभावना रहती है और प्रायः ये मारक हुआ करते हैं। मृत्यु प्रायः किसी अन्य रोग से ही होती है अन्यथा चिरकाल में शोथ क्रमशः शान्त होकर उच्चरक्तनिपीड़ हो जाता है।

शोथ की अवस्था में मूत्र थोड़ी मात्रा में, अधिक गाढ़ा, तथा श्विति एवं निर्मोक-युक्त रहता है, लवणों (नीरेयों Chlorides) तथा मूत्रा (Urea) की मात्रा प्रायः कम या सामान्य रहती है।

स—अमज्जाभ वृक्क—(Amyloid kidney) यह रोग चिरकारी अस्थिप्रदाह अथवा राजयक्ष्मा के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। इसमें प्रारम्भ में वृक्कों का शोथ एवं वृद्धि होती है किन्तु फिर तन्तूत्कर्ष होकर वृक्क सुकड़ जाते हैं। उदरगत अन्य अवयवों में भी

°*Subacute and Chronic Paranchymatous Nephritis or Large white kidney.*

¶ *Hydraemic Nephritis.*

Secondary Contracted Small white kidney.

भी अमज्जाभ अपचय हो सकता है।

प्रारम्भ में मूत्र की मात्रा बढ़ जाती है और उसमें शुक्लि एवं निर्मोक पाये जाते हैं। फिर मूत्र की मात्रा घट जाती है और शोथ उत्पन्न होता है।

ब—वृक्कीय-फिरङ्ग (Syphilis of the kidney) फिरङ्ग की द्वितीय अवस्था में वृक्कों की नलिकाओं का अपचय होकर चिरकारी वृक्कोत्कर्ष के समान शोथ, मूत्र में शुक्लि जाना आदि लक्षण होते हैं जो फिरङ्ग की ही चिकित्सा से शांत होते हैं। फिरङ्ग के अन्य त्वचागत आदि लक्षण उपस्थित रहते हैं।

फिरङ्ग की तृतीय अवस्था में वृक्कों की अपुष्टि एवं जरठता होती है जिससे या तो उच्चरक्तनिपीड़ होता है अथवा मानसिक एवं शारीरिक शक्तियों का ह्रास क्रमशः होता रहता है अन्य कोई लक्षण नहीं होते, मूत्र में थोड़ी शुक्लि पायी जा सकती है।

(४) दुर्भिक्ष-शोथ (Famine Oedema)—यह रोग भोजन की अत्यन्त कमी से होता है। रोगी अत्यन्त कृश हो जाता है। आंतों में व्रण हो जाते हैं जिससे अतिसार प्रवाहिका के आक्रमण बार बार हुआ करते हैं। हृदय किंचित् विस्फारित एवं कमजोर हो जाता है। सभी जीवतिक्तियों के अभाव के लक्षण उत्पन्न होते हैं; स्त्रियों का आर्तव बन्द हो जाता है। शोथ गुल्फों से आरम्भ होकर सारे शरीर में फैलता है; दबाने से प्रायः गड्ढा नहीं पड़ता। गम्भीर अवस्था के अधिकांश रोगी मर जाते हैं।

(५) वाहिनी नाड़ी जन्य शोथ (Angio-neurotic Oedema) अथवा क्विन्की का रोग (Quincke's Disease)—यह एक प्रकार का बड़ा शीतपित्त (Giant Urticaria) है जो प्रायः युवावस्था में पाया जाता है। अधिकतर यह कौटुम्बिक होता है और प्रायः रोगी वातिक स्वभाव का रहता है। कारण अज्ञात है तथापि सबसे अधिक संभावित कारण अनूर्जता (Allergy) ही हो सकता है।

आक्रमण थोड़े थोड़े समय पर हुआ करता है अधिकतर माह में एक बार। चकत्ते बड़े, गोल एवं पीताभ होते हैं। उनमें पीड़ा या खुजलाहट नहीं होती किन्तु तनाव का अनुभव होता है। ये अचानक उत्पन्न होते और अचानक अदृष्य हो जाते हैं। सामान्यतः इनकी उत्पत्ति ओंठ, गाल, पलक, शाखाओं और जननेन्द्रियों में होती है; कभी कभी नेत्रकला, जीभ, स्वरयन्त्र, ग्रसनिका आदि में भी होती है। स्वरयन्त्र, ग्रसनिका आदि में होने से श्वासावरोध होता है जिससे मृत्यु तक हो सकती है।

II प्रदाह (Inflammation)—यह भी एक प्रकार का शोथ ही है किन्तु कारणों एवं लक्षणों में भेद होने के कारण शोथ पृथक् माना जाता है। इसकी उत्पत्ति सामान्यतः जीवाणु-संक्रमण, विष अथवा अभिघात से होती है। वह किसी भी बाह्य या आभ्यन्तर भाग में हो सकेता है। इसके फलस्वरूप प्रभावित स्थान रक्ताधिक्य से लाल उष्ण एवं शोथ-युक्त हो जाता है तथा अत्यन्त पीड़ा होती है। ज्वरादि सार्वांगिक लक्षण होते हैं। रक्त में श्वेतकणों की वृद्धि होती है। प्रदाह जिस स्थान में हो उसी के अनुरूप लक्षणों की उत्पत्ति होती है। यदि उपेक्षा की जावे तो प्रदाह पाक में परिणत हो जाता है।

III मेदाभ शोथ अथवा श्लेष्म-शोफ* (Myxoedema) अथवा वयस्कीय अवटुका-हीनता (Adult type of Thyroid Deficiency)—यह रोग मध्यम आयु में अधिकतर स्त्रियों को होता है किसी अज्ञात कारण से अवटुका-ग्रंथि की अपुष्टि होने पर अथवा शल्य क्रिया के द्वारा इस ग्रन्थि का छेदन किये जाने के बाद इसकी उत्पत्ति होती है। गलगण्ड

---

*अनेक आधुनिक आयुर्वेदाचार्यों के द्वारा दिया गया नाम उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। यह मेदरोग भी नहीं है किन्तु लक्षण बहुत कुछ उसी के समान रहते हैं। इसलिए मैंने मेदाभ-शोथ नाम दिया है जिसका अर्थ है—मेद रोग के समान शोथ।

के फलस्वरूप भी इसकी उत्पत्ति होती है। अवटुका-स्राव के अभाव में त्वचा एवं अधस्त्वक धातुओं में एक प्रकार के म्रोभूजिन का अन्तर्भरण होता है जिसके फलस्वरूप रक्तनलिका में से लवणोदक निकल कर आभ्यन्तर तन्तुओं में जमा होता है। मुख, नाक, कान, गले एवं वृक्कों में भी यही दशा हो सकती है।

लक्षणों* का आरम्भ गुप्त रूप से होता है। मानसिक एवं शारीरिक शक्तियों का ह्रास एवं हाथ पैरों में पीड़ा सर्वप्रथम शीतऋतु में प्रकट होने वाले लक्षण हैं। फिर क्रमशः रोगी मोटा होता जाता है। शोथ ठोस रहता है; दबाने पर गड्ढा नहीं पड़ता। जीभ लम्बी एवं ओंठ मोटे हो जाते हैं। त्वचा मोटी, शुष्क एवं रूखी रहती है। बाल टूट टूट कर झड़ते हैं, भौंहें और बिरौनी (वर्त्म के बाल) भी झड़ जाती हैं तथा नाखून भी भंगुर हो जाते हैं। शरीर की समस्त क्रियाएं मन्द हो जाती हैं, वाणी अस्पष्ट एवं मन्द उच्चरित होती है। स्मरणशक्ति, बुद्धि, धैर्य आदि का नाश होता है; रोगी चिड़चिड़ा हो जाता है और अन्त में शोकोन्माद होजाता है। मलावरोध रहता है और कभी कभी यह दशा बढ़कर आन्त्रावरोध तक हो सकती है। त्वचा का तापमान सामान्य से कम रहता है और रोगी को सदैव ठण्ड लगती रहती है। नाड़ी मन्द रहती है और प्रारम्भ में रक्तनिपीड़ कम हो सकता है किन्तु बाद की दशाओं में बढ़ जाता है। हृदय की वृद्धि होती है और रक्तक्षय होता है। संधियों और पेशियों में जकड़ाहट रहती है; पीड़ा भी हो सकती है।

मेद रोग में हमेशा गर्मी लगती है किन्तु इसमें हमेशा ठंड लगती है यह ध्यान रखने योग्य बात है।

*इस रोग के लक्षण 'वातबलासक ज्वर' के लक्षणों से अत्यधिक साम्य रखते हैं किन्तु इसमें ज्वर नहीं रहता। कहीं 'हमेशा ठंड लगने' को ही तो ज्वर नहीं माना है?

: ३७ :

वृद्धि रोग

सम्प्राप्ति

वृद्धोऽनूर्ध्वगतिर्वायुः शोथशूलकरश्चरन्।
मुष्कौ वङ्क्षणतः प्राप्य फलकोषाभिवाहिनीः ॥१॥
प्रपीड्य धमनीर्वृद्धिं करोति फलकोषयोः।

बढ़ा हुआ वायु ऊपर की ओर न जा पाने पर शोथ और शूल करता हुआ वंक्षण प्रदेश में से चलकर अण्डकोषों में पहुँच कर अण्डकोषवाहिनी धमनियों को पीड़ित करके अण्डकोषों की वृद्धि करता है।

भेद

दोषास्रमेदोमूत्रान्त्रैः स वृद्धिः सप्तधा गदः ॥२॥
मूत्रान्त्रजावप्यनिलाद्धेतुभेदस्तु केवलम्।

वह वृद्धि रोग सात प्रकार का होता है—दोषों से (वातज, पित्तज एवं कफज), रक्त से (रक्तज), मेद से (मेदोज), मूत्र से (मूत्रज) और आंत्र से (आन्त्रज)। मूत्रज और आन्त्रज वृद्धियां भी वात से ही उत्पन्न होती हैं, केवल कारण में अन्तर है।

वातज वृद्धि

वातपूर्णदृतिस्पर्शो रूक्षो वाताद्हेतुरुक् ॥३॥

वातज वृद्धि हवा से फूली हुई मशक के समान स्पर्श वाली, रूक्ष एवं अकारण पीड़ा करने वाली होती है।

पित्तज वृद्धि

पक्वोदुम्बरसंकाशः पित्ताद्दाहोष्मपाकवान्।

पित्तज वृद्धि पके हुए गूलर के समान वर्ण वाली दाह करने वाली और पकने वाली होती है।

कफज वृद्धि

कफाच्छीतो गुरुः स्निग्धः कण्डूमान् कठिनोऽल्परुक् ॥४॥

कफज वृद्धि शीतल, भारी, चिकनी, खुजलाहट-युक्त, कठोर और थोड़ी पीड़ा करने वाली होती है।

रक्तज वृद्धि

कृष्णस्फोटावृतः पित्तवृद्धिलिङ्गश्च रक्तजः।

रक्तज वृद्धि काले स्फोटों से आवृत और पित्तज वृद्धि के समान लक्षणों वाली रहती है।

मेदोज वृद्धि

कफवन्मेदसा वृद्धिर्मृदुस्तालफलोपमः ॥५॥

मेदोज वृद्धि कफज वृद्धि के समान लक्षणों वाली किन्तु मृदु एवं ताड़ के फल के समान होती है।

मूत्रज वृद्धि

मूत्रधारणशीलस्य मूत्रजः स तु गच्छतः।
अम्भोभिः पूर्णदृतिवत् क्षोभं याति सरुङ्मृदुः ॥६॥
मूत्रकृच्छ्रमधः स्याच्च चालयन् फलकोषयोः।

मूत्र का वेग रोकने वाले को होने वाली मूत्रज वृद्धि चलते समय जल से भरी हुई मशक के समान क्षुब्ध होती है तथा पीड़ा करती है और मृदु रहती है। मूत्र नीचे की ओर अण्डकोषों में पीड़ा का संचार करता हुआ कष्ट के साथ उतरता है।

आन्त्रज वृद्धि अथवा आन्त्र वृद्धि

वातकोपिभिराहारैः शीततोयावगाहनैः ॥७॥
धारणेरणभाराध्वविषमाङ्गप्रवर्तनैः।
क्षोभणैः क्षोभितोऽन्यैश्च क्षुद्रान्त्रावयवं यदा ॥८॥
पवनो विगुणीकृत्य स्वनिवेशादधो नयेत्।
कुर्याद्वङ्क्षणसन्धिस्थो ग्रन्थ्याभं श्वयथुं तदा ॥९॥
उपेक्षमाणस्य च मुष्कवृद्धि
माध्मानरुक्स्तम्भवतीं स वायुः।
प्रपीडितोऽन्तः स्वनवान् प्रयाति
प्रध्मापयन्नेति पुनश्च मुक्तः ॥१०॥
अन्त्रवृद्धिरसाध्योऽयं वातवृद्धिसमाकृतिः।

वात प्रकोपक आहार, शीतलजल में स्नान, वेग-धारण, युद्ध, भार उठाना, मार्ग चलना, विषम चेष्टा तथा अन्य क्षोभक कारणों से क्षोभित वायु जब क्षुद्रान्त्र के भाग को कुपित करके उसके स्थान से नीचे ले जाता है तब वह वंक्षण-सन्धि में स्थित होकर ग्रंथि के समान शोथ उत्पन्न करता है और उपेक्षा करने वाले को आध्मान, पीड़ा और स्तम्भ करने वाली अण्डवृद्धि उत्पन्न करता है। वह वायु मसलने पर शब्द करता हुआ भीतर चला जाता है और छोड़ देने पर पुनः आकर फुला देता है। वातज वृद्धि के समान लक्षणों वाली यह आन्त्रज वृद्धि असाध्य है।

पाश्चात्य मत —

अण्डकोष× की वृद्धि जल, वीर्य, पायस (Chyle) अथवा रक्त भर जाने से; प्रदाह से, शिरा कौटिल्य से, आंत उतर आने से अथवा अर्बुदोत्पत्ति से होती है। नीचे इनका विवेचन संक्षेप में किया जाता है—

(१) औदक वृषण (*Hydrocele*)—अण्डकोष में रक्त और पूय के अतिरिक्त किसी भी प्रकार का द्रव भर जाने की दशा को औदक वृषण कहते हैं। भरा हुआ द्रव वीर्य मिश्रित हुआ करता है और कुछ मामलों में केवल वीर्य ही (किन्तु विकृत) हो सकता है। कुछ मामलों में विशेषतः जिनका संबंध श्लीपद से हो उनमें पायस का भराव हो सकता है—इस दशा को पायसौदक वृषण अथवा पायस वृषण (*Chylous hydrocele or chylocele*) कह सकते हैं, इस प्रकार में आवरण काफी मोटा हो जाता है और अण्डकोष लगभग ठोस प्रतीत हो सकता है।

यह रोग सहज अथवा आप्त होता है। द्रव का

× सुविधा के लिए बाह्य थैली सदृष आवरण को 'अण्डकोष' और भीतर स्थित दोनों ग्रंथियों को वृषण या अण्ड कहा जावेगा।

संचय, वृषण, उपवृषण, शुक्र-नलिका अथवा वृषण ग्रन्थि, कला (*Tunica vaginalis*) में हो सकता है; कभी कभी उतरी हुई आंत में भी द्रव-संचय हो सकता है। द्रव संचय अभिघात, प्रदाह, अवरोध अथवा किसी अन्य अज्ञात कारण से होता है। इसके बहुत से भेद बतलाये गये हैं किन्तु विस्तारभय से यहां उनका वर्णन नहीं किया जा सकता है।

(२) रक्त-वृषण (*Hematocele*)—इसकी उत्पत्ति अभिघात या औदक वृषण में रक्तस्राव होने से होती है। वृद्धि अण्डाकार होती है तथा लगभग ठोस प्रतीत होती है। आवरण में रक्तस्रावी धब्बे लक्षित होते हैं।

(३) उपाण्ड प्रदाह (*Epididymitis*)—

तीव्र उपाण्ड प्रदाह—इसकी उत्पत्ति मूत्रनलिका, अष्ठीला ग्रन्थि अथवा मूत्राशय के प्रदाहों से होती है उपाण्ड और सम्बन्धित नलिकाएं अत्यधिक सूज जाती हैं और औदक-वृषण की उत्पत्ति हो सकती है। अण्डकोष लाल, अत्यन्त पीड़ायुक्त एवं जड़ हो जाता है। एक ओर के उपवृषण का प्रदाह होने पर दूसरी ओर के वृषण का भी प्रदाह हो जाता है। ज्वरादि लक्षण भी हो सकते हैं। यह दशा लगभग १-२ सप्ताह तक रहने के बाद या तो रोग शान्त हो जाता है अथवा चिरकारी हो जाता है।

चिरकारी उपाण्ड प्रदाह—यह तीव्र प्रकार का ही पुराना रूप होता है अथवा फिरंगज या राजयक्ष्मज होता है। फिरंग और राजयक्ष्मा का वर्णन अलग किया गया है। इसमें साधारण शोथ एवं तनाव रहता है और मन्द पीड़ा होती है। यदि दोनों उप-वृषण प्रभावित हों तो संतानोत्पत्ति की क्षमता नष्ट हो जाती है। कुछ मामलों में औदक-वृषण हो जाता है।

(४) वृषण प्रदाह (*Orchitis*)—उपवृषण प्रदाह के फलस्वरूप तथा आमवात, वातरक्त एवं तीव्र संक्रामक ज्वर विशेषतः पाषाणगर्दभ, एवं कभी-कभी आन्त्रिक ज्वर, मसूरिका, लोहित ज्वर, विषम ज्वर, वातश्लेष्म ज्वर, तुण्डिका प्रदाह, रोहिणी आदि के फलस्वरूप भी वृषणों का प्रदाह होता है। प्रायः एक वृषण और कभी कभी दोनों एक साथ अथवा एक के बाद एक प्रभावित होते हैं। प्रभावित वृषण सूज-कर अपने आकार से २-३ गुना बढ़ जाता है तथा अत्यन्त पीड़ा होती है। ज्वरादि लक्षण उपस्थित रहते ही हैं अथवा इसके फलस्वरूप उत्पन्न हो जाते हैं। अधिकतर पाक नहीं होता किन्तु मसूरिका, आन्त्रिक ज्वर, आमवात और वातरक्त जन्य मामलों में कभी कभी होता है। ऐसी दशा में विद्रधि बन जाता है जो बाहर अण्डकोष की त्वचा में से फूटता है। इसके फलस्वरूप वृषण की अपुष्टि हो सकती है।

ऊपर का वर्णन तीव्र वृषण प्रदाह है; चिरकारी वृषण प्रदाह फिरंग अथवा राजयक्ष्मा से होता है किन्तु उसे वृषण प्रदाह न कहकर वृषण का फिरङ्ग या राजयक्ष्मा कहते हैं।

(५) वृषण गत फिरंग (*Syphilis of the Testes*)—

फिरङ्ग की द्वितीय अवस्था में दोनों ओर के उपवृषण एवं कभी कभी वृषण भी आक्रान्त होते हैं। इससे थोड़ी जलयुक्त वृद्धि एवं मन्द पीड़ा होती है।

वृषण वस्तुतः फिरङ्ग की तीसरी अवस्था में अधिकतर आक्रान्त होते हैं। यदि रोग पूरे वृषण में फैला हुआ हो तो तन्तूत्कर्ष वृद्धि एवं जरठता उत्पन्न करके वृषण को नष्ट कर देता है। किन्तु यदि वह एक स्थान पर आश्रित हो तो गोंदार्बुद (*Gumma*) की उत्पत्ति होती है। यह अर्बुद के समान बढ़कर अण्डकोष की त्वचा को फोड़कर बाहर आ जाता है और व्रण के लक्षण उत्पन्न करता है।

सहज फिरङ्ग भी वृषणों को प्रभावित करता है। इसके फलस्वरूप दोनों वृषण अत्यन्त कठोर, बड़े एवं ग्रन्थि-सदृष उभारों से युक्त होते हैं।

(६) वृषणगत राजयक्ष्मा—इसका वर्णन राज-यक्ष्मा प्रकरण में हो चुका है।

(७) वृषणों की नववृद्धियां (New Growths of the Testes)—

अ—ग्रन्थ्यर्बुद (Adenoma) अथवा तांतु-कोषार्बुदीय रोग (Fibrocystic Disease)—यह नवयुवकों में पाया जाता है। अर्बुद अत्यन्त बड़ा एवं चिरकारी होता है तथा इसमें घातक बन जाने की प्रवृत्ति रहती है। इसकी उत्पत्ति आभ्यन्तर धातु से होती है। अर्बुद में अनेक गोलाकार अथवा नलिकाकार कोष रहते हैं जिनमें लसिका भरी रहती है।

यह रोग जब तक घातकार्बुद में परिवर्तित नहीं होता तब तक भार और आकार वृद्धि के अतिरिक्त अन्य कोई कष्ट नहीं होता। प्रायः एक ही ओर का वृषण आक्रान्त होता है।

ब—घातक मांसार्बुद (Sarcoma)—यह बालकों में १० वर्ष के पूर्व तथा पुरुषों में ३०-४० वर्ष की आयु के लगभग होता है। अधिकतर अकारण ही अथवा अभिघात लगने के बाद वृषण की वृद्धि तीव्रगति से होने लगती है। अर्बुद चिकना एवं लचीला रहता है और अत्यन्त बड़ा हो सकता है। अन्त की दशाओं में शुक्र-नलिकायें आदि भी आक्रांत होती हैं, कमर आदि भागों में द्वितीयक अर्बुद उत्पन्न होते हैं तथा अर्बुद के स्थान पर व्रण बन जाता है। यदि समय के भीतर वृषण-छेदन न किया जावे तो मृत्यु हो जाती है।

स—कर्कटार्बुद (Carcinoma, Cancer)—यह ४०-४५ वर्ष की आयु में होता है। वृषण में एक कोमल वृद्धि के रूप में उत्पन्न होकर यह तेजी से बढ़ता हुआ त्वचा के बाहर आकर व्रण उत्पन्न करता है, नलिकायें शीघ्र प्रभावित होती हैं और कमर आदि भागों में द्वितीयक अर्बुद शीघ्र उत्पन्न होते हैं। इसकी वृद्धि घातक मांसार्बुद की अपेक्षा अधिक तीव्रगति से होती है किन्तु आकार मांसार्बुद की अपेक्षा छोटा होता है।

(८) अण्डकोषगत शिरा-कौटिल्य (Varicocele)—इस रोग में अण्डकोष के भीतर एक ओर की शिरायें कुटिल (Varicose) हो जाती हैं। यह विकार बालकों में किसी जन्मजात कारण से, युवकों में हस्थमैथुन अथवा गुदामैथुन से उत्पन्न होता है। आंत उतरने के कारण पट्टा बांधने से अथवा वृक्क-रोगों से भी इसकी उत्पत्ति होती है। अधिकतर यह बांई ओर होता है। बांया वृषण अधिक नीचे लटक जाता है और उस ओर की शिरायें कुटिल होकर ऐसी प्रतीत होती हैं जैसे थैली में कीड़े भरे हों। प्रभावित भाग की थोड़ी वृद्धि होती है, भार और पीड़ा की अनुभूति होती है, स्वप्नदोष अधिक होते हैं और वृषण की अपुष्टि हो सकती है। कभी कभी सामान्य आघात से ही इस प्रकार की शिरा फट जाती है और रक्तस्राव होकर रक्त-वृषण हो जाता है।

लेटने पर यह वृद्धि अदृष्य हो जाती है।

(९) आन्त्रज वृद्धि (Hernia)—उदर-गह्वर के किसी भी छिद्र से आन्त्र अथवा किसी अन्य उदरगत अवयव का बाहर निकल आना एवं उभार उत्पन्न करना आंत्रज-वृद्धि (Hernia) कहलाता है।

कुछ लोगों की वंक्षण सुरङ्गा अधिक चौड़ी रहती है तथा आंत्रनिबन्धिनी ढीली रहती है ऐसी दशा में निर्बलता, खांसना, शक्ति के बाहर काम करना, प्रवाहण करना आदि कारणों से आंत्र का कुछ अंश अथवा उदरगत कोई अवयव वंक्षण गुहा से बाहर आकर वंक्षण प्रदेश में उभार उत्पन्न करता है—वंक्षणगत आंत्रज वृद्धि (Inguinal Hernia)। फिर यही कारण उपस्थित रहने एवं चिकित्सा न करने से वह भाग पुरुषों के अण्डकोष एवं स्त्रियों के भगोष्ठ में उतर आता है—अण्डकोषीय एवं भगोष्ठीय आंत्रज वृद्धि ((Scrotal and Labial Hernias)। कभी कभी वह भाग जननेन्द्रिय की ओर न जाकर जांघ पर उतरता है—और्वी आंत्रज वृद्धि (Femoral Hernia)। यही दशा बच्चों की

नाभि में भी कभी कभी पायी जाती है—नाभिगत आंत्रज वृद्धि (Umbilical Hernia) शल्यकर्म करते समय यदि भूल से अथवा अन्य किसी कारण-वश उदर प्राचीर का रोपण योग्य रीत्या नहीं होता केवल ऊपरी प्राचीर मात्र ही बन्द होती है तो उसमें भी यही दशा होती है—शल्यकर्मोत्तर आंत्रज वृद्धि (Surgical Hernia)। उदर गह्वर से संलग्न अन्य गह्वरों तथा वक्ष-गह्वर आदि में भी इसी प्रकार कभी कभी आंत उतर जाती है। यह दशा बाहर से नहीं दीखती किन्तु परीक्षाओं से ज्ञात होती है—आभ्यन्तर आन्त्रज-वृद्धि (Internal Hernia)।

प्रायः सभी प्रकार की आंत्रज वृद्धियां जहां उत्पन्न होती हैं वहां सौम्य या तीव्र पीड़ा, असुविधा एवं तनाव के साथ उभार उत्पन्न करती हैं। आंत्र-निबंधिनी पर खिंचाव पड़ने से वहां भी पीड़ा होती है। आन्त्रगत पदार्थों के प्रवाह में बाधा पहुँचती है। स्थानिक उभार को दबाने से गुड़गुड़ाहट की आवाज के साथ निकला हुआ भाग अथवा उसमें स्थित पदार्थ उदर में चले जाते हैं किन्तु छोड़ते ही पुनः उसी प्रकार की आवाज के साथ लौट आते हैं। वह प्रारम्भिक दशा है तथा यह अधिक कष्ट-दायक नहीं होती इसीलिये रोगी उपेक्षा कर सकता है।

गंभीर दशा तब उत्पन्न होती है जब वह निकला हुआ भाग अन्न आदि से भरकर अत्यधिक फूल जाता है। इस अवस्था में दबाने से पदार्थों का ऊपर जाना बंद हो जाता है, तनाव से अत्यधिक पीड़ा एवं स्पर्शासह्यता होती है और आंत्रावरोध होता है। आन्त्रावरोध के लक्षण अजीर्ण प्रकरण में देखें। यह दशा मारक होती है। इसे निबद्ध आंत्र या आंत्र निबद्धता (Strangulation) कहते हैं।

इस प्रकार की वृद्धियों में अधिकतर छोटी आंत का ही कुछ भाग उतरता है किन्तु कभी कभी आंत्र-पुच्छ, आंत्रनिबन्धिनी, डिम्ब ग्रन्थि, गर्भाशय आदि अंग भी उतर सकते हैं। इनसे लक्षणों में किंचित भिन्नता होती है जो पाठक स्वयं अनुमान कर सकते हैं।

: ३८ :

गलगण्ड, गण्डमाला, अपची, ग्रंथि और अर्बुद

गलगण्ड की परिभाषा

निबद्धः श्वयथुर्यस्य मुष्कवल्लम्बते गले।
महान् वा यदि वा ह्रस्वो गलगण्डं तमादिशेत् ॥१॥

जो मर्यादित शोथ गले में अण्डकोष के समान लटकता है वह बड़ा हो अथवा छोटा उसे गलगण्ड कहना चाहिये।

गलगण्ड की सम्प्राप्ति

वातः कफश्चापि गले प्रदुष्टो
मन्ये च संश्रित्य तथैव मेदः।
कुर्वन्ति गण्डं क्रमशः स्वलिङ्गैः
समन्वितं तं गलगण्डमाहुः ॥२॥

अत्यन्त दूषित वात, कफ और मेद गले और मन्या में आश्रित होकर क्रमशः अपने लक्षणों से युक्त गण्ड उत्पन्न करते हैं। इसे गलगण्ड कहते हैं।

वातज गलगण्ड

तोदान्वितः कृष्णसिरावनद्धः
श्यावोऽरुणो वा पवनात्मकस्तु।
पारुष्ययुक्तश्चिरवृद्ध्यपाको
यदृच्छया पाकमियात्कदाचित् ॥३॥
वैरस्यमास्यस्य च तस्यजन्तो
र्भवेत्तथा तालुगलप्रशोषः।

वातज गलगण्ड तोदयुक्त, काली शिराओं से

व्याप्त, श्याव अथवा अरुण वर्ण का, कर्कश एवं देर से बढ़ने और न पकने वाला होता है; कभी अचानक पाक हो भी सकता है। रोगी का मुख विरस रहता है और तालु एवं कण्ठ सूखते हैं।

कफज गलगण्ड

स्थिरः सवर्णो गुरुरुग्रकण्डूः
शीतो महांश्चापि कफात्मकस्तु ॥४॥
चिराभिवृद्धिं भजते चिराद्वा
प्रपच्यते मन्दरुजः कदाचित्।
माधुर्यमास्यस्य च तस्यजन्तो
र्भवेत्तथा तालुगलप्रलेपः ॥५॥

कफज गलगण्ड स्थिर, त्वचा के समान वर्ण वाला, शीतल और बड़ा रहता है; लम्बे समय में बढ़ता और लम्बे समय में पकता है; कभी-कभी मन्द पीड़ा होसकती है, और रोगी के मुख में मधुरता रहती है तथा ताल और कण्ठ कफलिप्त रहते हैं।

मेदोज गलगण्ड

स्निग्धो गुरुः पाण्डुरनिष्टगन्धो
मेदोभवः कण्डुयुतोऽल्परुक् च।
प्रलम्बतेऽलाबुवदल्पमूलो
देहानुरूपक्षयवृद्धियुक्तः ॥६॥
स्निग्धास्यता तस्य भवेच्चजन्तो
र्गलेऽनुशब्दं कुरुते च नित्यम्।

मेदोज गलगण्ड स्निग्ध, भारी, पीताभ, दुर्गन्धित, खुजलाहटयुक्त एवं थोड़ी पीड़ा करने वाला होता है; जड़ (संलाग, संलग्न भाग) पतली होने के कारण तुम्बी के समान लटकता है; शरीर स्थूल होने के साथ बढ़ता और कृश होने के साथ घटता है; रोगी के मुख में स्निग्धता रहती है और हमेशा गले में शब्द होता है।

गलगण्ड के असाध्य लक्षण

कृच्छ्राच्छ्वसन्तं मृदुसर्वगात्रं
संवत्सरातीतमरोचकार्तम् ॥७॥
क्षीणं च वैद्यो गलगण्डयुक्तं
भिन्नस्वरं चापि विवर्जयेत्तु।

जो कष्ट के साथ श्वास लेता है, जिसके सारे अंग मृदु (Tender) हों, जिसे एक वर्ष बीत चुका हो, जो अरोचक से पीड़ित क्षीण और फटे हुये स्वर वाला हो उस गलगण्ड रोगी को वैद्य त्याग देवे।

गण्डमाला

कर्कन्धुकोलामलकप्रमाणैः
कक्षासमन्यागलवङ्क्षणेषु ॥८॥
मेदःकफाभ्यां चिरमन्दपाकैः
स्याद्गण्डमाला बहुभिश्च गण्डैः।

मेद और कफ के प्रकोप से कक्षा (बगल, कांख), अंश (कंधा), मन्या (गले का पिछला भाग), गले और वंक्षण (रान) प्रदेशों में जंगली बेर, ग्राम्य बेर अथवा आंवले के बराबर आकार वाली बहुत काल में मन्द वेग से पकने वाली बहुतसी गाठें गण्डमाला हैं।

अपची

तेग्रन्थयः केचिदवाप्तपाकाः
स्रवन्ति नश्यन्ति भवन्ति चान्ये ॥९॥
कालानुबन्धं चिरमादधाति
सैवापचीति प्रवदन्ति तज्ज्ञाः।
साध्याः स्मृता पीनसपार्श्वशूल-
कासज्वरच्छर्दियुतास्त्वसाध्याः ॥१०॥

कोई कोई यही ग्रन्थियां (गण्डमाला) पककर स्राव करती और नष्ट होती हैं तथा दूसरी ग्रन्थियां उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार ये चिरकाल तक बनी रहती हैं। इसी को वैद्य अपची कहते हैं। ये साध्य मानी गयी हैं, किन्तु पीनस, पार्श्वशूल, खांसी, ज्वर और वमन से युक्त होने पर असाध्य मानी गयी हैं।

ग्रन्थि की सम्प्राप्ति

वातादयो मांसमसृक् प्रदुष्टाः
संदूष्य मेदश्च तथा सिराश्च।
वृत्तोन्नतं विग्रथितं च शोथं
कुर्वन्त्यतो ग्रन्थिरिति प्रदिष्टः ॥११॥

कुपित वातादि दोष मांस, रक्त, मेद एवं सिराओं को दूषित करके गोल उभरा हुआ एवं गांठदार शोथ उत्पन्न करते हैं। (चूंकि यह शोथ गांठदार अथवा ग्रसित होता है) अतः इसे ग्रंथि कहते हैं।

वातज ग्रन्थि

आयम्यते वृश्चति तुद्यते च
प्रत्यस्यते मथ्यति भिद्यते च।
कृष्णो मृदुर्वस्तिरिवाततश्च
भिन्नः स्रवेच्चानिलजोऽस्रमच्छम् ॥१२॥

वातज ग्रन्थि खींचने, काटने, चुभाने, फेककर (पत्थर आदि) मारने मथने एवं भेदन करने के समान पीड़ा करती है; काली, कोमल और बस्ति के समान फूली हुई रहती है तथा भेदन करने पर स्वच्छ रक्त (मधुकोपकार के मत से 'जल') का स्राव करती है।

पित्तज ग्रंथि

दन्दह्यते धूप्यति वृश्च्यते च
पापच्यते प्रज्वलतीव चापि।
रक्तः सपीतोऽप्यथवाऽपि पित्ताद्-
भिन्नःस्रवेदुष्णमतीव चास्रम् ॥१३॥

पित्तज ग्रन्थि में दागने, तपाने, काटने, पकाने एवं जलाने के समान पीड़ा होती है; वह लाल अथवा पीली रहती है और भेदन करने पर अत्यन्त गरम रक्त का स्राव करती है।

कफज ग्रंथि

शीतोऽविवर्णोऽल्परुजोऽतिकण्डुः
पाषाणवत् संहननोपपन्नः।
चिराभिवृद्धश्च कफप्रकोपाद्भिन्नः
स्रवेच्छुक्लघनं च पूयम् ॥१४॥

कफज ग्रंथि शीतल, त्वचा के वर्ण वाली, थोड़ी पीड़ा करने वाली, अत्यधिक खुजलाहट से युक्त, पत्थर के समान कठोर एवं दीर्घकाल में बढ़ने वाली होती है तथा भेदन करने पर सफेद एवं गाढ़े पूय का स्राव करती है।

मेदोज ग्रन्थि

शरीरवृद्धिक्षयवृद्धिहानिः
स्निग्धो महान् कण्डुयुतोऽरुजश्च।
मेदःकृतो गच्छति चात्र भिन्न
पिण्याकसर्पिः प्रतिमं तु मेदः ॥१५॥

मेदोज ग्रन्थि शरीर के पुष्ट होने पर बढ़ती एवं क्षीण होने पर घटती है तथा चिकनी, बड़ी, खुजलाहटयुक्त और पीड़ारहित रहती है। भेदन करने पर तिल की खली एवं घी के समान मेद निकलता है।

सिराज ग्रन्थि

व्यायामजातैरबलस्य तैस्तै-
राक्षिप्य वायुस्तु सिराप्रतानम्।
संकुच्य संपीड्य विशोष्य चापि
ग्रंथि करोत्युन्नतमाशु वृत्तम् ॥१६॥
ग्रन्थिः सिराजः स तु कृच्छ्रसाध्यो
भवेद्यदि स्यात् सरुजश्चलश्च।
अरुक्सएवाप्यचलो महांश्च
मर्मोत्थितश्चापि विवर्जनीयः ॥१७॥

अनेक प्रकार के व्यायाम से दुर्बल व्यक्ति का वायु सिरा की शाखाओं को समेटकर, सिकोड़कर, दबाकर और सुखाकर गोल एवं उभरी हुई ग्रन्थि उत्पन्न करता है।

यह सिराज ग्रन्थि यदि पीड़ायुक्त एवं चलायमान हो तो कृच्छ्र साध्य है। पीड़ारहित एवं अचल होने पर भी बड़ी एवं मर्मस्थान में उत्पन्न हुई ग्रन्थि असाध्य है।

अर्बुद की सम्प्राप्ति

गात्रप्रदेशे क्वचिदेव दोषाः
संमूर्च्छिता मांसमसृक् प्रदूष्य।
वृत्तं स्थिरं मन्दरुजं महान्त-
मनल्पमूलं चिरवृद्ध्यपाकम् ॥१८॥
कुर्वन्ति मांसोच्छ्रयमत्यगाधं
तदर्बुदं शास्त्रविदो वदन्ति।

वातेन पित्तेन कफेन चापि
रक्तेन मांसेन च मेदसा वा ॥१६॥
तज्जायते तस्य च लक्षणानि
ग्रन्थेः समानानि सदा भवन्ति ।

अत्यन्त कुपित दोष शरीर में कहीं भी मांस और रक्त को अत्यन्त दूषित करके गोल, स्थिर, मन्द पीड़ा करने वाली, बड़ी, गहरी जड़ वाली, चिरकाल में बढ़ने वाली, न पकने वाली एवं अत्यन्त गहरी मांसवृद्धि करते हैं—विद्वान् इसे अर्बुद कहते हैं ।

यह वातज, पित्तज, कफज, रक्तज, मांसज और मेदोज होता है और इसके लक्षण सदैव ग्रंथि के लक्षणों के समान होते हैं ।

रक्तार्बुद

दोषः प्रदुष्टो रुधिरं सिराश्च
संकुच्य संपिण्डय ततस्त्वपाकम् ॥२०॥
सास्रावमुन्नह्यति मांसपिण्डं
मांसांकुरैराचितमाशुवृद्धम् ।
करोत्यजस्रं रुधिरप्रवृत्तिम्
असाध्यमेतद्रुधिरात्मकं तु ॥२१॥
रक्तक्षयोपद्रवपीडितत्वात्
पाण्डुर्भवेदर्बुदपीडितस्तु ।

अत्यन्त कुपित दोष रक्त और सिराओं को सिकोड़ कर और पिण्डित करके न पकने वाले, स्राव-युक्त, मांसांकुरों से व्याप्त एवं शीघ्र बढ़ जाने वाले मांस पिण्ड को उभार देता है । यह निरन्तर रक्त-स्राव करता है । यह रक्तज अर्बुद असाध्य है । इस अर्बुद से पीड़ित व्यक्ति रक्तक्षय के उपद्रवों से पीड़ित रहने के कारण पीताभ हो जाता है ।

मांसार्बुद

मुष्टिप्रहारादिभिरर्दितेऽङ्गे
मांसं प्रदुष्टं जनयेद्धि शोथम् ॥२२॥
अवेदनं स्निग्धमनन्यवर्ण
मपाकमश्मोपममप्रचाल्यम् ।
प्रदुष्ट मांसस्य नरस्य गाढ-
मेतद्भवेन्मांसपरायणस्य ॥२३॥
मांसार्बुदं त्वेतदसाध्यमुक्तं—

मुष्टि-प्रहार आदि से पीड़ित अङ्ग में मांस अत्यन्त दूषित होकर वेदना-रहित, स्निग्ध, समान वर्ण वाला, न पकने वाला, पत्थर के समान (अत्यन्त कठोर), और खिसकाया न जा सके ऐसा (अचाल्य) शोथ उत्पन्न करता है । नित्यप्रति मांस का सेवन करने से जिनका मांस दूषित हो जाता है उनका यह अर्बुद गंभीर होता है । यह मांसार्बुद असाध्य कहा गया है ।

अर्बुदों के असाध्य लक्षण

—साध्येष्वपीमानि तु वर्जयेच्च ।
संप्रस्रुतं मर्मणि यच्च जातं
स्रोतःसु वा यच्च भवेदचाल्यम् ॥२४॥

(जो असाध्य कहे जा चुके हैं वे तो असाध्य हैं ही) साध्यों में भी इनको त्याग देवे (अर्थात् असाध्य समझे)—जो अत्यधिक स्राव कर चुका हो, जो मर्मस्थानों में अथवा स्रोतों में उत्पन्न हुआ हो और जो अचाल्य (जो हटाने पर अपने स्थान से न हट सके, दृढ़मूल) हो चुका हो ।

अध्यर्बुद एवं द्विरर्बुद

यज्जायतेऽन्यत् खलु पूर्वजाते
ज्ञेयं तदध्यर्बुदमर्बुदज्ञैः ।
यद्द्वन्द्वजातं युगपत् क्रमाद्वा
द्विरर्बुदं तच्च भवेदसाध्यम् ॥२५॥

पहले उत्पन्न अर्बुद में जो दूसरा अर्बुद उत्पन्न होता है उसे अर्बुदज्ञ अध्यर्बुद मानते हैं और जो दो एक साथ अथवा एक के बाद एक उत्पन्न हों उन्हें द्विरर्बुद कहते हैं । ये असाध्य हैं ।

वक्तव्य—(२६०) अर्बुद में अर्बुद की उत्पत्ति अत्यन्त विरल है किन्तु एक अर्बुद के प्रभाव से अन्य स्थानों में अर्बुदों की उत्पत्ति सामान्य है । वस्तुतः 'पूर्वजाते' 'अर्बुदे पूर्वजाते' का प्रतिनिधित्व करता है इसलिये सति-सप्तमी

होने के कारण इस प्रकार अर्थ करना अधिक उपयुक्त होगा—'एक अर्बुद पहले उत्पन्न हो चुकने पर जो दूसरा अर्बुद उत्पन्न होता है..................इत्यादि'।

'अर्बुदज्ञ' शब्द इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि प्राचीन काल में अपने देश में भी विशेष रोगों के विशेषज्ञ हुआ करते थे। अन्य स्थानों पर भी 'तज्ज्ञ' (उसका विशेषज्ञ) शब्द का प्रयोग भी इसी बात का परिचायक है।

अर्बुदों में पाक न होने के कारण

न पाकमायान्ति कफाधिकत्वान्-
मेदोबहुत्वाच्च विशेषतस्तु।
दोषस्थिरत्वाद्ग्रथनाच्च तेषां
सर्वार्बुदान्येव निसर्गतस्तु ॥२६॥

विशेषतः कफ और मेद की अधिकता से और दोषों के स्थिर एवं विबद्ध होने से सभी अर्बुद स्वभावतः पकते नहीं हैं।

पाश्चात्य मत—

(i) गलगण्ड (Goitre)—यह गले में स्थित अवटुका ग्रन्थि (Thyroid Gland) की स्थायी वृद्धि है। इसके मुख्य ३ भेद हैं—

(१) स्थान व्यापी गलगण्ड (Endemic Goitre)—यह रोग कुछ विशेष स्थानों में बहुत से व्यक्तियों को एक साथ पाया जाता है। पीने के जल में जम्बुकी (आयोडीन, Iodine) की कमी और विष्ठा का मिश्रण इसके प्रधान कारण हैं। ग्रन्थि की वृद्धि लगातार अथवा समय समय पर होती है किन्तु स्राव से सम्बन्धित लक्षणों का अभाव रहता है। कभी कभी ग्रन्थि की वृद्धि भीतर की ओर ही अथवा बाहर भी होती है जिसके फलस्वरूप अन्ननलिका पर दबाव पड़ने से निगलने में कष्ट; कण्ठनलिका पर दबाव पड़ने से घुघुराहट, श्वासकष्ट और कास; स्वरयंत्र पर दबाव पड़ने से स्वरभेद और प्राणदा नाड़ी पर दबाव पड़ने से हृदय-विकार उत्पन्न होते हैं।

चिरकाल में कुछ मामलों में स्रावबृद्धि या स्रावक्षय के लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं।

(२) उदग्रि अथवा बहिर्नेत्र गलगण्ड अथवा ग्रेव्ज का रोग, पैरी का रोग या बेसडो का रोग (Exophthalmic Goitri, Grave's Disease, Parry's Disease or Basedow's Disease)—यह रोग युवावस्था या प्रौढ़ावस्था में प्रायः उष्ण देशों में उत्पन्न होता है। इसमें अवटुका ग्रन्थि की सामान्य वृद्धि होती है तथा स्राव की मात्रा बढ़ जाती है और नेत्रगोलक उभर आते हैं। कृशता, नाड़ी एवं हृदय की गति में तीव्रता, क्षुधा एवं तृष्णा की अधिकता, प्रजनन शक्ति का ह्रास, वृद्धावस्था के पूर्व बालों का श्वेत हो जाना आदि लक्षण मुख्य हैं; कुछ मामलों में हल्का ज्वर भी पाया जाता है और कुछ में पाचन विकार—अम्लाल्पता या अम्लहीनता एवं अतिसार पाये जाते हैं। मृत्यु १०-१५ २० वर्षों में अत्यन्त कृशता, हृदय-विकार अथवा अवटुका दारुण्य से होती है।

अवटुका दारुण्य (Thyroid Crisis)—यह इसी रोग की भयंकर तीव्र अवस्था है जो कभी कभी इसकी उपस्थिति में संक्रमण, उत्तेजना, चिन्ता अथवा अवटुका ग्रन्थि को दबाकर या अन्य विधियों से परीक्षा करने पर उत्पन्न हो जाती है। इसमें परम ज्वर, गंभीर शीघ्रहृदयता, अत्यधिक वमन एवं अतिसार आदि होकर रोगी की दशा गंभीर हो जाती है तथा कभी कभी मृत्यु तक हो जाती है।

(३) वैषिक गलगण्ड (Toxic Goitre)—अधिकतर इसकी उत्पत्ति अवटुका ग्रन्थि में ग्रन्थ्यर्बुद (Adenoma) की उत्पत्ति होने से होती है। कभी कभी स्थानव्यापी और उदग्रि गलगण्ड इस प्रकार में परिवर्तित हो जाते हैं। इस प्रकार में नेत्रगोलक प्रायः नहीं उभरते किन्तु हृदय-विकार अधिक होते हैं। यदि शीघ्र चिकित्सा न की जावे तो इससे मृत्यु हो जाती है।

(४) अवटुका ग्रन्थि के अर्बुद (New growths of the Thyroid Gland)—सौम्य अर्बुदों में ग्रन्थ्यर्बुद अधिक पाया जाता है। कभी कभी सौत्रार्बुद, प्ररोहार्बुद आदि भी पाये जाते हैं। इनसे स्थानव्यापी अथवा वैषिक गलगण्ड के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

घातक अर्बुदों में कर्कटार्बुद प्रधान है जो प्राथमिक या द्वितीयक हो सकता है। यह कड़ा एवं स्थिर रहता है, कुछ मामलों में छोटे छोटे उत्सेध पाये जाते हैं। स्थानिक दबाव के और अर्बुद के विष के लक्षण पाये जाते हैं।

कोषार्बुद (Cysts) और कृमि-कोष (Hydatid Cysts) भी यदा कदा पाये जाते हैं।

II अवटुका अपुष्टि अथवा अवटुका स्रावहीनता (Atrophy of the Thyroid Gland or Thyroid Deficiency)—यह रोग सहज और आप्त भेद से दो प्रकार का होता है। सहज प्रकार को वामनत्व और आप्त प्रकार को मेदाभ-शोथ कहते हैं।

(१) वामनत्व (Critinism)-इस दशा में बालक की वृद्धि रुक जाती है। लक्षण ६ माह की आयु के बाद स्पष्ट होने लगते हैं। बैठने, खड़े होने, चलने, बोलने, दांत निकलने आदि में विलम्ब होता है। लम्बाई कम रहती है; त्वचा शुष्क एवं उधड़ने वाली, जीभ अधिक लम्बी तथा अस्थियां छोटी एवं मोटी होती हैं। ब्रह्मरंध्र देर से भरता है और मेरुदण्ड तिरछा होकर कुब्जता की उत्पत्ति होती है। हाथ-पैर छोटे एवं मोटे, उदर बड़ा, चेहरा फूला हुआ एवं भद्दा, ओंठ मोटे, नाक चपटी, आवाज भद्दी, त्वचा मोटी एवं अल्पलोमयुक्त, मस्तिष्क एवं जननेन्द्रिय के विकास में कमी और लार गिरते रहना—ये लक्षण बाद की अवस्थाओं में प्रकट होते हैं। नाड़ी मन्द और तापक्रम सामान्य से कम रहता है। रक्त में रक्तक्षय और श्वेतकायाणु क्षय के लक्षण मिलते हैं। यदि चिकित्सा न की जावे तो वामनत्व एवं मूढ़ता अवश्यम्भावी हैं किन्तु चिकित्सा से यह रोग सुखसाध्य है। यद्यपि औषधि प्रयोग आजीवन चालू रखना पड़ता है।

(२) मेदाभ शोथ (Myxoedema)—इसका वर्णन शोथ-प्रकरण में देखें।

III गण्डमाला (कण्ठमाला) और अपची—यह लसग्रन्थियों का राजयक्ष्मा है। इसका वर्णन राजयक्ष्मा प्रकरण में हो चुका है।

IV ग्रन्थि—वातज ग्रन्थि के लक्षण रक्तज अर्बुद (Haematoma) से, पित्तज ग्रन्थि के लक्षण लसग्रन्थियों के तीव्रपाक (Lymphadenitis) से, और कफज ग्रन्थि के लक्षण लसग्रन्थियों के चिरकारी वृद्धि एवं पाक या किलाटीभवन से मेदोज ग्रन्थि के लक्षण मेदः कोषार्बुद (Sebaceous Cyst) मेदार्बुद (Lipoma) से और सिराज ग्रंथि के लक्षण धमन्यभिस्तीर्णता (Aneurysm) से मिलते हैं।

(१) रक्तज अर्बुद (Haematoma)—अभिघात लगने पर जब त्वचा, मांस आदि धातुओं के भीतर रक्तस्राव होकर संचित हो जाता है तब जो पिण्ड सा बन जाता है उसे रक्तज अर्बुद कहते हैं। भरा हुआ रक्त चारों ओर जमने पर काले से रंग का एक कोष बन जाता है जिसके भीतर लसिका या रक्त भरा रहता है। कालान्तर में यह क्रमशः दूषित हो जाता है अथवा फट जाता है अथवा पक जाता है या सूखकर एक स्थायी उभार उत्पन्न करता है। इसका आकार अत्यन्त छोटा या अत्यन्त बड़ा हो सकता है पीड़ा आदि लक्षण प्रारम्भ में अधिक रहते हैं फिर क्रमशः शांत हो जाते हैं। पाक होने पर विद्रधि के समान लक्षण होते हैं। चूषण होते समय तीव्र ज्वर आ सकता है।

(२) धमन्यभिस्तीर्णता (Aneurysm)—अत्यधिक परिश्रम, वृद्धावस्था, फिरङ्ग, अभिघात, उच्चरक्तनिपीड़, धमनी में अवरोध आदि कारणों से किसी भी धमनी का कमजोर भाग फुग्गे की तरह फूल जाता

है—इसे धमन्यभिस्तीर्णता कहते हैं। यह किंचित् मृदु उभार के रूप में प्रकट होती है और सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें धमनी के समान स्पन्दन होता है। यह शरीर के किसी भी बाह्य या आभ्यन्तर भाग में हो सकती है। इससे समीपस्थ भागों पर दबाव पड़ने के लक्षण होते हैं जो कभी कभी भयंकर हो सकते हैं। अधिकतर इसमें रक्त जम जाता है और फिर उसका कुछ भाग बहकर किसी स्थान में अन्तःशल्यता उत्पन्न करता है। धमन्यभिस्तीर्णता कभी कभी फट जाती है अथवा कभी कभी इसका पाक हो जाता है—ये दोनों मारक उपद्रव हैं। फटने पर अत्यधिक रक्तस्राव होता है जो मृत्युकारक हो सकता है। इसी प्रकार पकने पर जो विद्रधि बनता है वह फूटने पर पूय के साथ अत्यधिक रक्तस्राव करता है जिससे प्रायः मृत्यु हो जाती है।

शेष का वर्णन अन्य स्थानों पर हो चुका है।

V अर्बुद (*Tumours*)—शरीर के किसी भी भाग में अस्वाभाविक रीति से होने वाली धातु-कणों की वृद्धि एवं उपचय को अर्बुद या नववृद्धि (*Neoplasm New Growth*) कहते हैं। कुछ अर्बुद जन्म से ही होते हैं, शेष किसी भी आयु में उत्पन्न हो सकते हैं। इसका कोई निश्चित आकार, स्वरूप संख्या, या स्थान नहीं होता तथा इनकी वृद्धि शरीर की वृद्धि या क्षय से कोई सम्बन्ध नहीं रखती। उत्पन्न होने के बाद या तो ये बढ़ते ही जाते हैं अथवा किसी भी हद तक बढ़कर रुक जाते हैं। इनकी उत्पत्ति के कारणों का ठीक ठीक ज्ञान अभी तक नहीं हो पाया है। इसके मुख्य २ भेद होते हैं—सौम्य और घातक।

अ—सौम्य अथवा अघातक अर्बुद (*Simple Benign or Non-malignant Tumours*)—ये अपने आकार एवं बोझ से अवरोध, दबाव, भार आदि उत्पन्न करते हैं, किसी प्रकार की विषक्रिया नहीं करते। सामान्यतः इनमें पीड़ा नहीं होती किन्तु जब अत्यधिक सम्पीड़न से ये प्रदाहयुक्त हो जाते हैं तब पीड़ा होती है तथा रक्तस्राव भी हो सकता है। इनका वर्गीकरण इनकी रचना के आधार पर किया जाता है—

(१) वसार्बुद अथवा मेदार्बुद (*Lipoma*)—इसकी उत्पत्ति वसा धातु से होती है। यह अत्यन्त सौम्य अर्बुद है।

(२) सौत्रार्बुद (*Fibroma*)—इसकी उत्पत्ति अपरिवर्तित श्वेत सौत्रिक धातु से होती है।

(३) नाड़ी ग्रन्थि अर्बुद (*Glioma*)—इसकी रचना नाड़ीग्रन्थि की धातु के समान धातु से होती है। यह केवल मस्तिष्क, सुषुम्ना, वातनाड़ियों और नेत्रों में होता है।

(४) तरुणास्थि अर्बुद (*Chondrama*)—इसकी रचना तरुणास्थि से होती है। यह अधिकतर अस्थियों के पास उत्पन्न होता है।

(५) अस्थ्यर्बुद (*Osteoma*)—इसकी रचना अस्थि से होती है। अधिकतर यह अस्थि में से शाखा के रूप में निकलता है।

(६) दन्तार्बुद (*Odontoma*)—इसकी उत्पत्ति दांतों की धातु से दांतों के पास होती है।

(७) मज्जार्बुद (*Mycloma*)—इसकी उत्पत्ति अस्थिमज्जा से अस्थि और कण्डरा में होती है।

(८) वाहिनी-अर्बुद (*Angioma*)—इसकी उत्पत्ति रक्त या लस वहन करने वाली नलिकाओं की धातु से होती है। इसके दो भेद होते हैं—लस वाहिनी अर्बुद (*Lymhpangioma*) और रक्तवाहिनी अर्बुद (*Haemangioma*)। लसवहिनी अर्बुद का एक भेद कोषीय लसवाहिनी अर्बुद (*Cavernous Lymphangioma*) या कोषीय जलार्बुद (*Cystic Hygroma*) है। यह पोला रहता है और भीतर के खाली स्थानों में लस भरा रहता है।

(९) अन्तःकलाबुर्द (*Endotheloma*)—इसकी रचना अन्तः कला (*Endothelium*) की धातु से होती है।

(१०) सौम्य मांसाबुर्द (*Myoma*)—इसकी रचना ऐच्छिक अथवा अनैच्छिक पेशियों की धातु से होती है।

(११) नाड्यबुर्द (*Neuroma*)—इसकी रचना वातनाड़ियों की धातु से होती है।

(१२) ग्रन्थ्यबुर्द (*Adenoma*)—इसकी बनावट स्रावकारी ग्रन्थियों के समान होती है।

(१३) अंकुराबुर्द या प्ररोहाबुर्द (*Papilloma*)—इसकी रचना मस्सों के समान होती है। कभी कभी ये इतने घने एवं बहुसंख्यक होते हैं कि इनका आकार गोभी के फूल के समान हो जाता है। कभी कभी इसका आकार बहुत हद तक कर्कटाबुर्द के समान होता है। कुछ लोगों का मत है कि यह अक्सर कर्कटाबुर्द में परिवर्तित हो जाता है।

(१४) भ्रूणाबुर्द (*Teratoma or Embryoma*)—माता के गर्भाशय में स्थित दो भ्रूणों में से एक भ्रूण जब कमजोर पड़कर दूसरे भ्रूण में चिपककर जुड़ जाता है तब उस भ्रूण के शरीर पर एक अबुर्द सा बन जाता है। यह अबुर्द आयु के साथ बढ़ता है तथा इसमें दूसरे भ्रूण के शरीर के कुछ भाग बाल, अस्थि, दांत, यकृत आदि पाये जाते हैं।

स्त्रियों की डिम्बग्रन्थियों और पुरुषों के वृषणों में प्रजनन-क्रिया की विकृति के फलस्वरूप भी इनकी उत्पत्ति होती है किन्तु इस प्रकार के भ्रूणाबुर्द की रचना उपर्युक्त के समान न होकर अन्य अबुर्दों के समान होती है।

ऊपर जो प्रकार बतलाये गये हैं वे स्वतन्त्ररूप से बहुत कम पाये जाते हैं। अधिकतर २ या अधिक प्रकारों के मिश्रित लक्षणों से युक्त अबुर्द पाये जाते हैं। उनके लिये मिश्रित नामों की सृष्टि हुई है जैसे नाड़ी-सौत्राबुर्द (Neuro fibroma) आदि।

ब—घातक अबुर्द (Malignant Tumours)—ये अत्यन्त तेजी से बढ़ते हैं, अत्यधिक धातुओं को प्रभावित करते हैं, अन्य स्थानों में द्वितीयक अबुर्द उत्पन्न करते हैं और त्वचा का भेद कर घातक व्रण की उत्पत्ति करते हैं। इसके अतिरिक्त इनमें एक प्रकार का विष उत्पन्न हुआ करता है जो रक्त में मिलकर स्वास्थ्य को और भी नष्ट करता है। इस प्रकार अवरोध, अंगक्रिया-हानि, रक्तस्राव, कृशता, आभ्यन्तर विषाक्तता आदि कारणों में किसी भी एक न एक से मृत्यु हो जाती है। इन अबुर्दों की एक यह भी विशेषता है कि इनके पास की स्वस्थ प्रतीत होने वाली धातु में भी इनका बीज उपस्थित रहता है इस लिये अबुर्द का छेदन अत्यन्त सावधानी से करने के बाद भी पुनः उसी स्थान पर अबुर्द की उत्पत्ति अक्सर हो जाती है। इन अबुर्दों के मुख्य २ प्रकार होते हैं—

(१) घातक मांसाबुर्द (Sarcoma)—इसकी रचना पेशियों की संयोजक धातु से होती है और आकार काफी बड़ा होता है। यह मांस, अस्थ्यावरण, अस्थिमज्जा या त्वचा में आश्रित होकर एक गोल या छोटे छोटे उत्सेधों से युक्त पिण्ड के रूप में प्रकट होकर तेजी के साथ और कभी कभी मन्द गति से बढ़ता है। अधिकतर कठोर होता है किन्तु कभी कभी मृदु भी हो सकता है। फुफ्फुस, यकृत और वृक्क में इसकी उत्पत्ति अत्यधिक पायी जाती है। शीघ्र ही धातुओं का नाश करके यह व्रण की उत्पत्ति करता है। कभी कभी इसमें प्रदाह और पाक भी होता है। एक बार आवरण को फाड़कर बाहर आ जाने पर यह बाहर की ओर फैलना प्रारम्भ कर देता है और अधिक भयानक होजाता है। क्रमशः अन्य स्थानों में द्वितीयक अबुर्दों की उत्पत्ति करके यह शीघ्र ही व्रणों का नाश करता है।

कोषों की विभिन्न प्रकार की रचना और अन्य धातुओं के मिश्रण के अनुसार इसके बहुत से भेद होते हैं जिनका वर्णन यहां संभव नहीं है।

(२) कर्कटार्बुद (Carcinoma, cancer, कैंसर)—यह घातक अर्बुद उपकला में उत्पन्न होता है और इसके नलिका सदृष कोषों का सम्बन्ध लसवाहिनियों से रहता है। यह अधिकतर त्वचा, आमाशय, बृहदान्त्र, स्तन और स्त्री-पुरुषों की जननेन्द्रियों में तथा कभी कभी पित्ताशय, ग्रसनिका, अवटुकाग्रन्थि, पौरुष ग्रन्थि और मूत्राशय में पाया जाता है। अधिक धूम्रपान करने वालों में मुख एवं श्वासमार्ग के किसी भी भाग में इसकी उत्पत्ति हो सकती है। स्त्रियों में गर्भाशय और स्तन का कर्कटार्बुद सबसे अधिक सामान्य है।

सामान्यतः कर्कटार्बुद की उत्पत्ति एक छोटी कर्णिका के रूप में होती है। फिर वह ऊपर और भीतर की ओर समान गति से बढ़ता है। ऊपर लगभग गोभी के फूल के समान आकृति बनती है और नीचे त्वचा, मांस, मेद आदि में अत्यन्त कठोरता एवं मोटापन आजाता है। कुछ मामलों में केवल धातुओं में मोटापन उत्पन्न होता है—यह दशा आमाशय में सामान्यतः पाई जाती है। फिर ऊपर के भाग में व्रणीभवन और रक्तस्राव होता है तथा अन्य भागों में द्वितीयक अर्बुदों की उत्पत्ति होती है। अत्यधिक रक्तस्राव से और अर्बुद जन्य विष से तथा शारीरिक क्रियाओं के अवरोध से शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है। आभ्यन्तर अर्बुदों की ओर रक्तस्राव होने पर ही सर्व प्रथम ध्यान जाता है। किसी भी छिद्र से लगातार रक्तस्राव होने पर कर्कटार्बुद का सन्देह करना चाहिए।

कोई भी अर्बुद संक्रामक नहीं होते किन्तु कर्कटार्बुद का स्राव व्रण में लगने पर संक्रमण की संभावना रहती है। यह रोग किसी भी आयु में हो सकता है किन्तु वृद्धावस्था में सबसे अधिक होता है। ऐसा कहा जाता है कि आजकल यह व्याधि अधिक होने लगी है किन्तु वास्तविकता यह है कि आजकल इसका निदान अधिक होने लगा है। यही बात राजयक्ष्मा आदि के सम्बन्ध में है।

: ३९ :

श्लीपद

सामान्य लक्षण

यः सज्वरो वङ्क्षणजो भृशार्तिः
शोथो नृणां पादगतः क्रमेण।
तच्छ्लीपदं स्यात् करकर्णनेत्र-
शिश्नौष्ठनासास्वपि केचिदाहुः ॥१॥

जो अत्यन्त पीड़ा करने वाला शोथ मनुष्यों के वंक्षण में ज्वर के साथ उत्पन्न होकर क्रमशः पैर में पहुँचता है वह श्लीपद है। कुछ विद्वान हाथ, कान, आंख, जननेन्द्रिय, ओंठ और नाक में भी (इसकी उत्पत्ति) बतलाते हैं।

दोषानुसार लक्षण

वातजं कृष्णरूक्षं च स्फुटितं तीव्रवेदनम्।
अनिमित्तरुजं तस्य बहुशो ज्वर एव च ॥२॥
पित्तजं पीतसंकाशं दाहज्वरयुतं मृदु।
श्लैष्मिकं स्निग्धवर्णं च श्वेतं पाण्डु गुरु स्थिरम् ॥३॥

वातज श्लीपद रूखा, कृष्णवर्ण, फटा हुआ एवं तीव्र पीड़ा करने वाला होता है। इसमें अकारण पीड़ा होती है और अधिकतर ज्वर रहता है।

पित्तज श्लीपद पीताभ, मृदु एवं दाह और ज्वर से युक्त रहता है।

कफज श्लीपद स्निग्ध, श्वेत, भारी, स्थिर तथा वर्ण में श्वेत और पाण्डु रहता है।

असाध्य लक्षण

वल्मीकमिव संजातं कण्टकैरुपचीयते।

अब्दात्मकं महत्तच्च वर्जनीयं विशेषतः ॥४॥

जो बमीठे के समान (अनेक छिद्र युक्त उभारों से युक्त) हो गया हो, जो कण्टकों (कण्टक-सदृष उभारों) से व्याप्त हो, जो एक वर्ष से हो और जो बड़ा हो वह विशेषतः वर्जनीय (असाध्य, प्रत्याख्येय) है।

सभी श्लीपदों में कफ की प्रधानता

त्रीण्यप्येतानि जानीयाच्छ्लीपदानि कफोच्छ्रयात्।
गुरुत्वं च महत्त्वं च यस्मान्नास्ति कफं बिना ॥५॥

इन तीनों ही श्लीपदों को कफ-वृद्धि से उत्पन्न समझना चाहिये क्योंकि भारीपन और आकार-वृद्धि कफ के बिना नहीं होती।

जलवायु से सम्बन्ध

पुराणोदकभूयिष्ठाः सर्वर्तुषु च शीतलाः।
ये देशास्तेषु जायन्ते श्लीपदानि विशेषतः ॥६॥

जिन देशों में पुराने जल की बहुलता रहती है और जो सभी ऋतुओं में शीतल रहते हैं उन देशों में श्लीपद विशेषतः उत्पन्न होता है।

वक्तव्य—(२६१) 'पुराने जल' का तात्पर्य यह है कि एक वर्ष का बरसा हुआ पानी सूखने न पावे और दुबारा वर्षाऋतु प्रारम्भ हो जावे अर्थात् इतनी अधिक वर्षा होना कि पुराना जल कभी समाप्त ही न हो पावे।

'देश' से स्थान का अर्थ लेना चाहिए; देशों की राजनैतिक सीमा का नहीं। राजनैतिक सीमा तो बदलती रहती है। आयुर्वेद (अथवा किसी भी चिकित्सा-पद्धति) में देश विचार जलवायु की दृष्टि से ही किया जाता है और कभी कभी लोगों के रहन-सहन, रीति-रवाज आदि की दृष्टि से भी किया जाता है; राजनैतिक सीमाओं पर कभी विचार नहीं किया जाता।

अन्य असाध्य लक्षण

यच्छ्लेष्मलाहारविहारजातं
पुंसः प्रकृत्याऽपि कफात्मकस्य।
सास्रावमत्युन्नतसर्वलिङ्गं
सकण्डुरं श्लेष्मयुतं विवर्ज्यम् ॥७॥

जो श्लीपद कफ-प्रकृति वाले को कफ-वर्धक आहार-विहार से उत्पन्न हुआ हो, स्रावयुक्त हो, अत्यन्त उभरा हुआ हो, सभी दोषों के लक्षणों से युक्त हो, खुजलाहट-युक्त हो एवं कफ युक्त हो (श्लीपदशोथ में से कफ-स्राव होता हो) वह वर्जित (असाध्य) है।

अथवा

जो श्लीपद कफ-प्रकृति वाले को कफ-वर्धक आहार-विहार से उत्पन्न हुआ हो; जो स्रावयुक्त, अत्यन्त उभरा हुआ और सभी दोषों के लक्षणों से युक्त हो; और जो कफज श्लीपद खुजलाहट-युक्त हो वह वर्जित है।

पाश्चात्य मत—

श्लीपद-सदृष शोथ फिरंग, राजयक्ष्मा, अर्बुद आदि अन्य कारणों से भी लसवाहिनियों का अवरोध होने से उत्पन्न होसकता है किन्तु वास्तविक श्लीपद वही है जिसमें लसवाहिनियों में श्लीपद-कृमि पाये जावें।

श्लीपद अथवा फीलपांव (Filaria or Elephantiasis)—यह रोग भारतवर्ष में बंगाल, उड़ीसा, मद्रास एवं त्रावणकोर में अधिक पाया जाता है; बाहर चीन, जापान, पूर्वी और पश्चिमी द्वीप समुदाय (East Indies and west Indies), अरब, मध्य अफ्रीका और दक्षिणी अमेरिका में पाया जाता है। इसकी उत्पत्ति श्लीपद कृमि (Filaria) से होती है। श्लीपद कृमि की अनेक जातियां जिनमें भारतवर्ष में वुचरेरिया बैंक्रोफ्टी*(Wuchereria Bancrofti) जाति ही पायी जाती है—

*सर्वप्रथम सन् १८६६ में डा. वुचरर (Wucherer) ने इस कृमि का पायस मूत्र में पता लगाया। फिर १८७६ में डा. बैंक्रोफ्ट (Bancroft) ने वयस्क कृमि को उपलब्ध किया। इन दोनों के नाम पर ही उक्त नामकरण हुआ है। मच्छरों द्वारा संक्रमण होने का पता मैन्सन (Manson) ने सन् १८७८ में लगाया।

यहां उसी से उत्पन्न लक्षणों का वर्णन किया जाता है ।

श्लीपद कृमि १॥-२ इञ्च लम्बा और सूत के समान पतला होता है; इसकी मादा लगभग दूनी लम्बी होती है। ये लसवाहिनियों या लसग्रन्थियों में परस्पर लिपटे हुए निवास करते हैं तथा असंख्य बच्चे उत्पन्न करते हैं। बच्चों को सूक्ष्मश्लीपदी (Micro-filariac) कहते हैं; इनकी लम्बाई २२५-३२० माइक्रोन और मुटाई ७-१० माइक्रोन हुआ करती हैं। सूक्ष्मश्लीपदी फुफ्फुस, हृदय, प्लीहा, यकृत एवं वृक्क के रक्त में बड़ी संख्या में उपस्थित रहते हैं; सोते समय ये शाखाओं की रक्तवाहिनियों में आ जाते हैं। रोग का प्रसार क्यूलेक्स फेटीगैंस (Culex Fatigans), एडीज़ वैरीगेटस (Aedes Variegatus) और एनोफिलीस (Anopheles) की कई जातियों के मच्छरों की मादाओं के द्वारा होता है। रोगी व्यक्ति को काटने के १०-२० दिन बाद वह मादा मच्छर संक्रामक हो जाती है और फिर जिन जिन व्यक्तियों को वह काटती है उन सबके शरीरों में कृमियों का प्रवेश हो जाता है। प्रवेश के बाद वे कृमि बड़े होकर संतानोत्पत्ति करते हैं और लसवाहिनियों का अवरोध करके रोग की उत्पत्ति करते हैं। मर जाने पर इनके शरीर वहीं पड़े पड़े चूर्णीभूत (Calcified) होकर अश्मरीतुल्य होजाते हैं। बहुत से व्यक्तियों के शरीर में ये कृमि पड़े पड़े संतानोत्पत्ति करते रहते हैं किन्तु श्लीपद की उत्पत्ति नहीं होती, वह तभी होती है जब किसी लसवाहिनी का अवरोध हो।

इस रोग का आक्रमण युवकों पर अधिक होता है, वैसे कोई भी अवस्था मुक्त नहीं है। प्रारम्भ अर्धरात्रि के समय जाड़ा देकर ज्वर आता है जो ३ से ५ दिनों में अत्यधिक पसीना देकर उतर जाता है और पुनः कुछ समय बाद आता है। भारतवर्ष के रोगियों में इस ज्वर का आक्रमण अधिकतर पूर्णिमा या अमावस्या को या उसके आस पास होता है— ऐसा क्यों होता है इसका निश्चित कारण अभी तक नहीं जाना जा सका। ज्वर के साथ सिर एवं सर्वांग में पीड़ा, बेचैनी, हृल्लास, वमन और प्रलाप भी होते हैं तथा लसवाहिनी प्रदाह, लसग्रन्थि प्रदाह, शुक्रग्रन्थ्यावरण प्रदाह, वृषण प्रदाह, अथवा किसी शाखा में शोथ होता है। कुछ मामलों में प्रारम्भ में स्थानिक लक्षणों का अभाव हो सकता है किन्तु कुछ समय के बाद प्रकट हो जाते हैं। ज्वर के प्रत्येक आक्रमण के समय पर शोथ में थोड़ी वृद्धि होती है और इस प्रकार कुछ काल में उस भाग में तन्तूत्कर्ष होकर स्थायी मोटापन एवं कड़ापन उत्पन्न हो जाता है। यह दशा अधिकतर पैरों में होती है किंतु कभी कभी हाथ, अण्डकोष, स्तन, भगोष्ठ, लिंग तथा अन्य भागों में भी हो सकती है। प्रभावित भाग का आकार क्रमशः अत्यन्त बड़ा हो जाता है और उसमें अनेक स्थानों पर उभार और सिकुड़ने लक्षित हो सकती है। द्वितीयक उपसर्ग से व्रण हो जाते हैं जिनमें से लस और पूय निकलता है।

पायस मेह (पिष्ट-मेह *Chyluria*) पायसातिसार (*chylous Diarrhoea*), पायसोदर (*chylous Ascites*), पायसोरस (*chylo-thorasc* अण्ड कोषों की वृद्धि, लसमेह (*Lymphuria*), अधस्त्वक्-प्रदाह (*cellulitis*) कर्दम (*Gangrene*) विद्रधि, संधि प्रदाह, संधि कलाप्रदाह, दोषमयता (*Septicaemia*), लस-ग्रन्थियों की चिरकारी वृद्धि, आदि अन्य उपद्रव हैं।

प्रारंभिक अवस्था में चिकित्सा से लाभ हो जाता है किन्तु अत्यन्त बढ़ने पर शल्य-क्रिया से ही कुछ आशा की जासकती है। रोगकाल अनिश्चित है। मृत्यु घातक उपद्रवों से शीघ्र हो सकती है किन्तु सौम्य प्रकार का रोग आयु पर अल्प प्रभाव डालता है। रोगी काफी लम्बे समय तक जीवित रह सकता है।

: ४० :

विद्रधि (ABSCESS)

सम्प्राप्ति और भेद

त्वग्रक्तमांसमेदांसि संदूष्यास्थिसमाश्रिताः ।
दोषाः शोथं शनैर्घोरं जनयन्त्युच्छ्रिता भृशम् ॥१॥
महामूलं रुजावन्तं वृत्तं वाऽप्यथवाऽऽयतम् ।
स विद्रधिरिति ख्यातो विज्ञेयः षड्विधश्च सः ॥२॥
पृथग्दोषैः समस्तैश्च क्षतेनाप्यसृजा तथा ।
षण्णामपि हि तेषां तु लक्षणं संप्रवक्ष्यते ॥३॥

अस्थि में (या 'पर') आश्रित दोष त्वचा, रक्त, मांस एवं मेद को अत्यन्त दूषित करके धीरे धीरे अत्यन्त उभरे हुए, बड़ी जड़ वाले, पीड़ा करने वाले गोल अथवा लम्बे भयंकर शोथ की उत्पत्ति करते हैं —उसे विद्रधि कहते हैं। यह ६ प्रकार का होता है— पृथक् पृथक् दोषों से (वातज, पित्तज, कफज), समस्त दोषों से (त्रिदोषज), क्षत से (क्षतज) तथा रक्त से (रक्तज), इन छहों के लक्षण कहे जाते हैं—

वातज विद्रधि

कृष्णोऽरुणो वा विषमो भृशमत्यर्थवेदनः ।
चित्रोत्थानप्रपाकश्च विद्रधिर्वातसंभवः ॥४॥

कृष्ण अथवा अरुण वर्ण, विषम आकार वाला बहुत ही अधिक पीड़ा करने वाला और अनेक प्रकार से उत्पन्न होने वाला बिद्रधि वातज है।

वक्तव्य—(२६२) तात्पर्य यह है कि वातज विद्रधि शीर्षक के अन्तर्गत अनेक प्रकार के विद्रधि सम्मिलित हैं जैसे छोटे, बड़े, चपटे, उभरे हुए, गोल, लम्बे, जल्दी पकने वाले, देर से पकने वाले, बार-बार पकने वाले इत्यादि। किन्तु उन सबमें २ विशेषतायें अवश्य पायी जावेंगी—कृष्ण अथवा अरुण वर्ण और अत्यधिक वेदना।

'विषमो' शब्द को वर्णवाची मानते हुए 'कृष्णोऽरुणो वा' के साथ जोड़कर भी टीका की जा सकती है। उस दशा में अर्थ इस प्रकार होगा—कृष्ण अरुण अथवा विषम (चितकबरे) वर्ण का................इत्यादि।

पित्तज विद्रधि

पक्वोदुम्बरसंकाशः श्यावो वा ज्वरदाहवान् ।
क्षिप्रोत्थानप्रपाकश्च विद्रधिः पित्तसंभवः ॥५॥

पके हुए गूलर के समान वर्ण वाला अथवा श्याववर्ण, ज्वर एवं दाहयुक्त तथा शीघ्र उभरने और शीघ्र पकने वाला विद्रधि पित्तज है।

कफज विद्रधि

शरावसदृशः पाण्डुः शीतः स्निग्धोऽल्पवेदनः ।
चिरोत्थानप्रपाकश्च विद्रधिः कफसंभवः ॥६॥

शराव के समान (चौड़ा एवं कम उभरा हुआ), पाण्डुवर्ण, शीतल, स्निग्ध, थोड़ी वेदना करने वाला तथा दीर्घकाल में उभरने वाला और दीर्घकाल में पकने वाला विद्रधि कफज है।

स्राव के लक्षण

तनुपीतसिताश्चैषामास्रावाः क्रमशः स्मृताः ।

इनके स्राव क्रमशः पतले, पीले और सफेद बतलाये गये हैं (अर्थात् वातज विद्रधि का स्राव पतला, पित्तज का पीला और कफज का सफेद)।

त्रिदोषज विद्रधि

नानावर्णरुजास्रावो घाटालो विषमो महान् ॥७॥
विषमं पच्यते चापि विद्रधिः सान्निपातिकः ।

अनेक प्रकार के वर्णों वाला, अनेक प्रकार से पीड़ा करने वाला, अनेक प्रकार का स्राव करने वाला, अत्यन्त उभरा हुआ, विषम, बड़ा और पूरा एक साथ न पकने वाला विद्रधि सान्निपातिक है।

आगन्तुज विद्रधि

तैस्तैर्भावैरभिहते क्षते वाऽपथ्यकारिणः ॥८॥
क्षतोष्मा वायुविसृतः सरक्तं पित्तमीरयेत् ।

ज्वरस्तृष्णा च दाहश्च जायते तस्य देहिनः ॥९॥
आगन्तुर्विद्रधिर्ह्येष पित्तविद्रधिलक्षणः ।

अभिघात एवं क्षत उत्पन्न करने वाले शस्त्रादि लगने से अभिघात अथवा क्षत हो जाने पर अपथ्य करने वालों के क्षत की गर्मी वायु के द्वारा फैलकर रक्त एवं पित्त को कुपित करती है। उस प्राणी को ज्वर, तृष्णा और दाह उत्पन्न होते हैं। यह आगन्तुज विद्रधि पित्तज विद्रधि के समान लक्षणों वाला होता है।

रक्तज विद्रधि

कृष्णस्फोटावृतः श्यावस्तीव्रदाहरुजाकरः ॥१०॥
पित्तविद्रधिलिङ्गस्तु रक्तविद्रधिरुच्यते ।

कृष्णवर्ण के स्फोटों (फुन्सियों) से आवृत, श्यामवर्ण वाला, तीव्र दाह एवं तीव्र पीड़ा करने वाला तथा पित्तज-विद्रधि के समान लक्षणों वाला विद्रधि रक्तज-विद्रधि कहा गया है।

अन्तर्विद्रधि

पृथक् संभूय वा दोषाः कुपिता गुल्मरूपिणम् ॥११॥
वल्मीकवत् समुन्नद्धमन्तः कुर्वन्ति विद्रधिम् ।
गुदे वस्तिमुखे नाभ्यां कुक्षौ वङ्क्षणयोस्तथा ॥१२॥
वृक्कयोः प्लीह्नि यकृति हृदि वा क्लोम्नि वाऽप्यथ ।

पृथक् पृथक् अथवा सम्मिलित रूप से कुपित हुए दोष गुल्म के समान प्रतीत होने वाले तथा बमीठे के समान उभरे हुए विद्रधि को अन्दर गुदा, वस्ति-मुख, नाभि, कुक्षि, वंक्षणों, वृक्कों, प्लीहा, यकृत, हृदय अथवा क्लोम में उत्पन्न करते हैं।

अन्तर्विद्रधि के लक्षण

तेषामुक्तानि लिङ्गानि बाह्यविद्रधिलक्षणैः ॥१३॥
अधिष्ठानविशेषेण लिङ्गं शृणु विशेषतः ।
गुदे वातनिरोधश्च वस्तौ कृच्छ्राल्पमूत्रता ॥१४॥
नाभ्यां हिक्का तथाऽऽटोपः कुक्षौ मारुतकोपनम् ।
कटीपृष्ठग्रहस्तीव्रो वङ्क्षणोत्थे तु विद्रधौ ॥१५॥
वृक्कयोः पार्श्वसंकोचः प्लीह्न्युच्छ्वासावरोधनम् ।
सर्वाङ्गप्रग्रहस्तीव्रो हृदि कासश्च जायते ॥
श्वासो यकृति हिक्का च क्लोम्नि पेपीयते पयः ॥१६॥

इनके लक्षण बाह्य विद्रधि के लक्षणों के समान कहे गये हैं। स्थान-विशेष के अनुसार विशेष लक्षण सुनो—गुदा में होने पर वायु का अवरोध (मल एवं मूत्र भी वायु की प्रेरणा से ही निकलते हैं इसलिये उसके साथ ही इनका भी अवरोध हो सकता है); वस्ति (वस्ति मुख) में होने पर कठिनाई से थोड़ा थोड़ा मूत्र उतरना; नाभि में होने पर हिक्का तथा उदर में शब्द होना; कुक्षि में होने पर वायु का प्रकोप (आध्मान आदि); वंक्षण में विद्रधि होने पर कमर और पीठ में तीव्र जकड़ाहट युक्त पीड़ा, वृक्कों में होने पर पार्श्वों में संकोचवत् पीड़ा, प्लीहा में होने पर श्वास छोड़ते समय रुकावट होना, हृदय में होने पर सारे शरीर में तीव्र जकड़ाहट एवं पीड़ा और खांसी, यकृत में होने पर श्वास और हिक्का उत्पन्न होते हैं, तथा क्लोम में होने पर रोगी बारम्बार जल पीता है।

आभ्यन्तर विद्रधियों का स्रावनिर्गमन तथा उसके अनुसार साध्यासाध्यता

नाभेरुपरिजाः पक्वा यान्त्यूर्ध्वमितरे त्वधः ।
अधः स्रुतेषु जीवेत्तु स्रुतेषूर्ध्वे न जीवति ॥१७॥
हृन्नाभिबस्तिवर्ज्या ये तेषु भिन्नेषु बाह्यतः ।
जीवेत् कदाचित् पुरुषो नेतरेषु कदाचन ॥१८॥

पकने पर (पककर फूटने पर) नाभि के ऊपर वाले विद्रधियों का स्राव ऊपर जाता है और अन्य का नीचे जाता है। नीचे से स्राव होने पर रोगी जीवित रह सकता है किन्तु ऊपर के मार्ग से स्राव होने पर जीवित नहीं रहता। जो विद्रधि हृदय, नाभि एवं वस्ति को छोड़कर उत्पन्न हुए हों उनके बाहर की ओर फूटने पर वह व्यक्ति कदाचित् जीवित रहे किन्तु अन्यों (ऊपर के मार्ग से स्राव करने वाले तथा हृदय, नाभि और वस्ति के विद्रधियों) में कभी जीवित नहीं रहता।

सभी विद्रधियों की साध्यासाध्यता

साध्या विद्रधयः पञ्च विवर्ज्यः सान्निपातिकः ।

आमपक्वविदग्धत्वं तेषां शोथवदादिशेत् ॥१९॥
आध्मानं बद्धनिष्यन्दं छर्दिहिक्कातृषान्वितम् ।
रुजाश्वाससमायुक्तं विद्रधिर्नाशयेन्नरम् ॥२०॥

सान्निपातिक विद्रधि को छोड़कर पांच प्रकार के विद्रधि साध्य हैं। इनकी आम और पक्व अवस्थाओं का विचार शोथ में बतलाये हुये के समान करना चाहिये।

आध्मान, मूत्रावरोध, वमन, हिक्का, तृष्णा, और श्वास लेने में पीड़ा—इन लक्षणों से युक्त रोगी को विद्रधि मार डालता है।

वक्तव्य—(२६३) पाश्चात्यमतानुसार सभी विद्रधि पूयोत्पादक जीवाणुओं के उपसर्ग से होते हैं। प्रारम्भ में स्थानीय धातुओं में प्रदाह होता है जो क्रमशः मध्य की ओर सिमटता जाता है फिर अन्त में पूयोत्पत्ति होती है। पूयोत्पत्ति होने पर यदि विद्रधि की चिकित्सा न की जावे अर्थात् पूय न निकाला जावे तो वह स्वयं ही आवरण को भेद कर निकल जाता है। बाहर की ओर निकला शुभ है किन्तु भीतर की ओर निकलने से अनेक उपद्रव होते हैं। कभी पूय रुका रह कर सूख जाता है और चूर्णीभवन होने से अश्मरी तुल्य होजाता है।

आभ्यन्तर विद्रधियों में से जो अधिक महत्वपूर्ण हैं उनका वर्णन पूर्व अध्यायों में हो चुका है। उदर एवं वक्ष के विद्रधियों का पूय ऊपरी मार्ग से यदि शीघ्र ही एवं सब का सब निकल जावे तो प्राण रक्षा हो जाती है, अन्यथा नहीं। अधोमार्ग से भी पूय का धीरे धीरे निकलना चिन्ताजनक है।

: ४१ :

व्रणशोथ

परिभाषा एवं भेद

एकादेशोत्थितः शोथो व्रणानां पूर्वलक्षणम् ।
षड्विधः स्यात् पृथक्सर्वरक्तागन्तुनिमित्तजः ॥१॥
शोथाः षडेते विज्ञेयाः प्रागुक्तैः शोथलक्षणैः ।
विशेषः कथ्यते चैषां पक्वापक्वादिनिश्चये ॥२॥

किसी एक ही भाग में होने वाला शोथ व्रण (शारीर व्रण) का पूर्व रूप (व्रणशोथ) होता है। यह ६ प्रकार का होता है—पृथक् पृथक् दोषों से (वातज पित्तज, कफज), सब दोषों से (सन्निपातज), रक्त से (रक्तज) और आगन्तुक कारणों से (आगन्तुज)। इन छहों शोथों (व्रण शोथों) के लक्षण पूर्वोक्त शोथ के लक्षणों के समान जानना चाहिये, यहां इनकी पक्वता, अपक्वता आदि के निश्चय से संबन्धित विशेष बातें कही जा रही हैं।

वातादि भेद से विशेष लक्षण

विषमं पच्यते वातात् पित्तोत्थश्चाचिराच्चिरम् ।
कफजः पित्तवच्छोथो रक्तागन्तुसमुद्भवः ॥३॥

वातज व्रणशोथ विषम रीति से पकता है, पित्तज शीघ्र और कफज देर से पकता है। रक्तज और आगन्तुज व्रणशोथों के लक्षण पित्तज के समान होते हैं।

वक्तव्य—(२६४) विषम रीति से पकने का तात्पर्य यह है कि वातज शोथ का कुछ भाग पहले पकता है, कुछ देर से पकता है और कुछ नहीं भी पकता।

आम व्रणशोथ के लक्षण

मन्दोष्मताऽल्पशोथत्वं काठिन्यं त्वक्सवर्णता ।
मन्दवेदनता चैतच्छोथानामामलक्षणम् ॥४॥

मामूली गरम रहना, थोड़ा शोथ रहना, कठोरता त्वचा के समान वर्ण रहना और मन्द पीड़ा रहना—ये व्रणशोथों की आम (अपक्व, कच्ची) अवस्था के लक्षण हैं।

पच्यमान शोथ के लक्षण

दह्यते दहनेनेव क्षारेणेव च पच्यते ।
पिपीलिकागणेनेव दश्यते छिद्यते तथा ॥५॥

भिद्यते चैव शस्त्रेण दण्डेनेव च ताड्यते।
पीड्यते पाणिनेवान्तः सूचीभिरिव तुद्यते ॥६॥
सोषाचोषो विवर्णः स्यादंगुल्येवावघट्यते।
आसने शयने स्थाने शान्ति वृश्चिकविद्धवत् ॥७॥
न गच्छेदाततः शोथो भवेदाध्मातवस्तिवत्।
ज्वरस्तृष्णाऽरुचिश्चैव पच्यमानस्य लक्षणम् ॥८॥

(पच्यमान व्रणशोथ में इस प्रकार की पीड़ायें होती हैं) जैसे आग से जलाया जा रहा हो, क्षार से पचाया (जलाया) जा रहा हो, चींटियों के समूह के द्वारा डंक मारे जा रहे हों तथा काटा जा रहा हो, शस्त्र से भेदन किया जा रहा हो, डण्डे से पीटा जा रहा हो, भीतर ही भीतर हाथ से दबाया जा रहा हो, सुइयों से गोंचा जा रहा हो तथा इस प्रकार गर्म, चूसने के समान पीड़ा से युक्त और विवर्ण रहता है जैसे अंगुली से रगड़ा जा रहा हो। रोगी बिच्छू के काटे हुए के समान बैठने, लेटने या खड़े होने में (किसी भी प्रकार) शान्ति नहीं पाता, उभरा हुआ शोथ वस्ति के समान फूल जाता है और ज्वर, तृष्णा एवं अरुचि भी उत्पन्न होते हैं। ये पच्यमान व्रण शोथ के लक्षण हैं।

पक्व व्रणशोथ के लक्षण

वेदनोपशमः शोथोऽलोहितोऽल्पो न चोन्नतः।
प्रादुर्भावो वलीनां च तोदः कण्डूर्मुहुर्मुहुः ॥९॥
उपद्रवाणां प्रशमो निम्नता स्फुटनं त्वचाम्।
वस्ताविवाम्बुसंचारः स्याच्छोथेऽङ्गुलिपीडिते ॥१०॥
पूयस्य पीडयत्येकमन्तमन्ते च पीडिते।
भक्ताकाङ्क्षा भवेच्चैतच्छोथानां पक्वलक्षणम् ॥११॥

वेदना का शमन, शोथ लालिमारहित, थोड़ा, एवं उभरा हुआ न होना, झुर्रियों की उत्पत्ति, बार-म्बार चुभन और खुजलाहट, उपद्रवों का शमन, त्वचा का नीचे को उतर जाना एवं फटना, शोथ को अंगुली से दबाने पर पूय का संचार उसी तरह होना जैसे वस्ति को दबाने पर जल का संचार होता है तथा एक छोर को दबाने से दूसरे छोर पर दबाव पड़ना, और भोजन करने की इच्छा होना—ये शोथों के पक चुकने के लक्षण हैं।

पाक में तीनों दोषों का सम्बन्ध

नर्तेऽनिलाद्रुङ्न विना च पित्तं
पाकः कफं चापि विना न पूयः।
तस्माद्धि सर्वान् परिपाककाले
पचन्ति शोथांस्त्रय एव दोषाः ॥१२॥

वायु के बिना पीड़ा नहीं होती, पित्त के बिना पाक नहीं होता और कफ के बिना पूय नहीं बनता। इस लिये पकने के समय पर सभी शोथों को तीनों ही दोष पकाते हैं।

रुके हुए पूय के कार्य

कक्षं समासाद्य यथैव वह्नि-
र्वाय्वीरितः सन्दहति प्रसह्य।
तथैव पूयो ह्यविनिःसृतो हि
मांसं सिराः स्नायु च खादतीह ॥१३॥

जिस प्रकार मकान (या तृण समूह) में आग लगने पर वह वायु के द्वारा प्रेरित होकर उसे शीघ्र ही जला डालती है उसी प्रकार न निकला हुआ पूय मांस, सिराओं और स्नायु को खा डालता है (नष्ट कर देता है)।

आम और पक्व का भेद जानने का महत्व

आमं विदह्यमानं च सम्यक् पक्वं च यो भिषक्।
जानीयात् स भवेद्वैद्यः शेषास्तस्कर वृत्तयः ॥१४॥
यश्छिनत्त्याममज्ञानाद्यो वा पक्वमुपेक्षते।
श्वपचाविव मन्तव्यौ तावनिश्चितकारिणौ ॥१५॥

कच्चे, पकते हुए और भलीभांति पके हुए को जो पहचानता है वही वैद्य है; शेष सब चोर हैं।

जो अज्ञानवश कच्चे शोथ को छेदन करता है अथवा जो पक्व शोथ की उपेक्षा करता है (छेदन नहीं करता) वे दोनों ही अनिश्चित क्रिया करने वाले चाण्डाल के समान हैं।

वक्तव्य—(२६५) व्रणशोथ का अर्थ है व्रण उत्पन्न करने वाला शोथ। इसकी समानता प्रदाह (*Inflammation*) अथवा अधस्त्वक् प्रदाह (*Cellulitis*) से मानी जाती है। विभिन्न प्रकार के प्रदाहों का वर्णन हो चुका है। अधस्त्वक् प्रदाह में किसी भी स्थान की त्वचा सूजकर पक जाती है और अनेक छिद्रों में से पूय निकलने लगता है। फिर प्रभावित त्वचा निकल जाती है और काफी चौड़ा व्रण बन जाता है। कभी कभी प्रदाह सिमट कर विद्रधि बनता है।

: ४२ :

शारीर व्रण (ULCERS)

व्रण के २ भेद

द्विधा व्रणः स विज्ञेयः शारीरागन्तुभेदतः।
दोषैराद्यस्तयोरन्यः शस्त्रादिक्षतसंभवः ॥१॥

शारीर और आगन्तुज भेद से व्रण दो प्रकार का समझना चाहिये। पहला दोषों से (स्वतंत्र तथा व्रणशोथ, विद्रधि आदि से उत्पन्न) और दूसरा शस्त्रादि से क्षत होने से उत्पन्न होता है।

वातज व्रण

स्तब्धः कठिनसंस्पर्शो मन्दस्रावो महारुजः।
तुद्यते स्फुरति श्यावो व्रणो मारुतसंभवः ॥२॥

वातज व्रण स्तब्ध, स्पर्श में कठोर, मन्दगति से स्राव करने वाला, भारी पीड़ा करने वाला और श्याववर्ण होता है तथा उसमें चुभन और स्फुरण होता है।

पित्तज व्रण

तृष्णामोहज्वरक्लेददाहदुष्ट्यवदारणैः ।
व्रणं पित्तकृतं विद्याद्गन्धैः स्रावैश्च पूतिकैः ॥३॥

पित्तज व्रण तृष्णा, मूर्च्छा, ज्वर, क्लेद (थोड़ा थोड़ा दुर्गन्धित पसीना आना), दाह, दूषित होजाने और फट जाने की प्रवृत्ति, और सड़ांध की गन्ध से युक्त रहता है।

कफज व्रण

बहुपिच्छो गुरुः स्निग्धः स्तिमितो मन्दवेदनः।
पाण्डुवर्णोऽल्पसंक्लेदश्चिरपाकी कफव्रणः ॥४॥

कफज व्रण अत्यन्त पिच्छिल, गुरु, स्निग्ध, गीला सा, मन्द पीड़ा करने वाला, पाण्डुवर्ण, थोड़ा स्राव करने वाला और चिरकाल तक पकने वाला (देर से भरने वाला) होता है।

रक्तज व्रण

रक्तो रक्तस्रुती रक्तात्—

रक्तज व्रण लाल तथा रक्तस्राव करने वाला होता है।

द्वन्द्वज और त्रिदोषज व्रण

—द्वित्रिजः स्यात्तदन्वयैः।

उक्त लक्षणों के मिश्रण से द्वन्द्वज और त्रिदोषज व्रण होते हैं।

साध्यसाध्यता

त्वङ्मांसजः सुखे देशे तरुणस्यानुपद्रवः ॥५॥
धीमतोऽभिनवः काले सुखे साध्यः सुखं व्रणः।
गुणैरन्यतमैर्हीनस्ततः कृच्छ्रो व्रणः स्मृतः ॥६॥
सर्वैर्विहीनो विज्ञेयस्त्वसाध्यो भूर्युपद्रवः।

अनुकूल देश में (अनुकूल जलवायु वाले देश में अथवा शरीर के अल्पचेष्टा युक्त भाग में) त्वचा एवं मांस में उत्पन्न, तरुण व्यक्ति का, उपद्रवरहित, बुद्धमान् व्यक्ति का, नया एवं अनुकूल काल में उत्पन्न व्रण सुखसाध्य है। इनमें से कोई भी एक गुण का अभाव होने पर व्रण कृच्छ्रसाध्य माना जाता है तथा सभी गुणों का अभाव होने पर और बहुत से उपद्रव होने पर असाध्य समझना चाहिए।

दुष्ट व्रण के लक्षण

पूतिः पूयातिदुष्टासृक्स्राव्युत्सङ्गी चिरस्थितिः ॥७॥
दुष्टो व्रणोऽतिगन्धादिः शुद्धलिङ्गविपर्ययः ।

दुर्गन्धित पूययुक्त अत्यन्त दूषित रक्त का स्राव करने वाला, गहरा, चिरकालीन, गंध आदि (आदि से वर्ण, स्राव, वेदना, आकार तथा व्रण के अन्य भी लक्षण समझें) की अधिकता से युक्त तथा शुद्ध व्रण के लक्षणों से विपरीत लक्षणों वाला व्रण दुष्ट कहलाता है ।

शुद्ध व्रण के लक्षण

जिह्वातलाभोऽतिमृदुः श्लक्ष्णः स्निग्धोऽल्पवेदनः ॥८॥
सुव्यवस्थो निरास्रावः शुद्धो व्रण इति स्मृतः ।

जिह्वातल के समान वर्ण का, अत्यन्त मृदु, श्लक्ष्ण, स्निग्ध, थोड़ी पीड़ा करने वाला, सुव्यवस्थित और स्रावहीन व्रण शुद्ध माना गया है ।

भरते हुए (रुह्यमाण) व्रण के लक्षण

कपोतवर्णप्रतिमा यस्यान्ताः क्लेदवर्जिताः ॥९॥
स्थिराश्च पिडकावन्तो रोहतीति तमादिशेत् ।

जिसके किनारे कबूतर के समान वर्ण के (चितकबरे) हों, सूखे, स्थिर और पिडिकाओं (दानों) से युक्त हों वह व्रण भर रहा है ऐसा बतलाना चाहिए ।

भलीभांति भर चुके (सम्यग्रूढ़) व्रण के लक्षण

रूढवर्त्मानमग्रन्थिमशूनमरुजं व्रणम् ॥१०॥
त्वक्सवर्णं समतलं सम्यग्रूढं विनिर्दिशेत् ।

जिसका गड्ढा भर चुका हो, जो ग्रंथि रहित, शोथरहित, पीड़ारहित, त्वचा के समान वर्ण वाला और समतल हो उस व्रण को भलीभांति भरा हुआ कहना चाहिए।

साध्यासाध्यता

कुष्ठिनां विषजुष्टानां शोषिणां मधुमेहिनाम् ॥११॥
व्रणाः कृच्छ्रेण सिध्यन्ति येषां चापि व्रणे व्रणाः ।
वसां मेदोऽथ मज्जानं मस्तुलुङ्गं च यः स्रवेत् ॥१२॥
आगन्तुजो व्रणः सिद्धयेन्न सिद्धयेद्दोषसंभवः ।

कोढ़ी, विष खाये हुए, शोष रोगी, मधुमेह रोगी और जिनके व्रण में भी व्रण हो उनके व्रण कृच्छ्रसाध्य होते हैं ।

जो व्रण वसा, मेद, मज्जा और (अथवा) मस्तिष्क-पदार्थ का स्राव करता है वह यदि आगन्तुज हो तो साध्य है किन्तु दोषज होने पर असाध्य है ।

मद्यागुर्वाज्यसुमनःपद्मचन्दनचम्पकैः ॥१३॥
सगन्धा दिव्यगन्धाश्च मुमूर्षूणां व्रणाः स्मृताः ।

मद्य, अगर, घी, चमेली, कमल, चन्दन तथा चम्पा की गंध से युक्त तथा विचित्र सुगंध से युक्त व्रण शीघ्र मरने वालों को उत्पन्न होते हैं (अर्थात् इनसे रोगी शीघ्र मर जाता है) ।

ये च मर्मस्वसंभूता भवन्त्यत्यर्थवेदनाः ॥१४॥
दह्यन्ते चान्तरत्यर्थं बहिः शीताश्च ये व्रणाः ।
दह्यन्ते बहिरत्यर्थं भवन्त्यन्तश्च शीतलाः ॥१५॥
प्राणमांसक्षयश्वासकासारोचकपीडिताः ।
प्रवृद्धपूयरुधिरा व्रणा येषां च मर्मसु ॥१६॥
क्रियाभिः सम्यगारब्धा न सिध्यन्ति च ये व्रणाः ।
वर्जयेदपि तान् वैद्यः संरक्षन्नात्मनो यशः ॥१७॥

जो व्रण मर्मस्थानों में उत्पन्न न होने पर भी अत्यधिक पीड़ा उत्पन्न करते हों, जो भीतर अत्यधिक दाह करते हों और बाहर शीतल रहते हों, जो बाहर अत्यधिक दाह करते हों और भीतर शीतल रहते हों, जो रोगी बल-मांस-क्षय, श्वास, कास एवं अरुचि से पीड़ित हों, अत्यधिक पूय और रक्त से युक्त व्रण जिनके मर्मस्थानों में हों और भलीभांति चिकित्सा करने पर भी जो व्रण न भरते हों वैद्य अपने यश की रक्षा करता हुआ उन्हें छोड़ देवे ।

पाश्चात्य मत—

शारीर-व्रण (*Ulcers*)—शारीर-व्रण की उत्पत्ति भी पूयोत्पत्ति की ही एक दशा है, अन्तर केवल यह है कि पूय एकत्र होकर विद्रधि बनाने के स्थान पर विशेष कारणों से कमजोर त्वचा में से व्रण बनाता

हुआ तुरन्त निकल जाता है। त्वचा में कमजोरी वातनाड़ियों एवं रक्तवाहिनियों के विकारों से तथा ब्राइट का रोग, मधुमेह, फिरंग आदि की विषाक्तता से उत्पन्न होती है। घातक अर्बुद और कभी कभी सौम्य अर्बुद भी त्वचा को विदीर्ण करके व्रण बनाते हैं। इन व्रणों के रोपण में काफी कठिनाई होती है तथा कभी कभी इनसे मृत्यु तक हो जाती है। आगन्तुज कारणों एवं विद्रधि आदि से द्वितीयक व्रणों की उत्पत्ति होती है—इनका रोपण उतना कठिन नहीं होता। सभी प्रकार के व्रणों में पूयोत्पादक जीवाणुओं की उपस्थिति निश्चित् रूप से पायी जाती है।

नीचे कुछ विशिष्ट प्रकार के व्रणों का वर्णन संक्षेप में किया जाता है—

(१) शय्याव्रण (*Bed-sores*)—लम्बे समय तक शय्या पर पड़े रहने से पीठ एवं कमर के उभार युक्त प्रदेशों जिन पर अधिक भार पड़ता है उनकी त्वचा में संवहन की रुकावट से त्वचा कमजोर पड़कर व्रणोत्पत्ति होती है।

(२) पट्टिका व्रण (*Splint-sores*)—अस्थिभग्न आदि के लिये पटिया रख पट्टी बांध दी जाती है और लम्बे समय बाद खोली जाती है। इस दशा में जिन स्थानों पर अधिक दबाव पड़ता है वहां शय्या-व्रण के समान व्रण उत्पन्न होते हैं।

(३) किरण-व्रण (*Ulcers due to prolonged application of Heat, Rays and Radium*)—कुछ रोगियों की चिकित्सा में अग्नि, अनेक प्रकार के प्रकाश, रेडियम आदि का प्रयोग करना पड़ता है। इससे उन स्थानों की त्वचा कमजोर पड़कर निकल जाती है और व्रण बन जाते हैं।

(४) शिराकौटिल्य व्रण (*Varicose Ulcers*)—शिराओं में कुटिलता आ जाने पर रक्तप्रवाह भलीभांति नहीं होता जिससे स्थानिक त्वचादि धातुएं कमजोर हो जाती हैं। त्वचा उधड़ने लगती है और व्रण बन जाते हैं। उपेक्षा करने पर ये व्रण काफी गहरे हो सकते हैं। इस दशा में कभी कभी व्रणों की उत्पत्ति न होकर अधिक खुजलाहट होने से पामा (अपरस, *Eczema*) की उत्पत्ति होती है—सिरा-कौटिल्य पामा (*Varicose Eczema*)। ये दोनों विकार अधिकतर पैरों में होते हैं।

(५) निच्छिद्रित व्रण (*Perforating Ulcers*)—कई प्रकार के अधरांगघातों में तथा पैरों के अन्य विकारों में जब रोगी लंगड़ाकर चलता है तब पैर में एक विचित्र प्रकार के व्रण की उत्पत्ति होती है। इसकी आकृति पादकण्टक (गोखरू, *callus*) के समान होती है किन्तु बीचोंबीच एक छोटा छिद्र रहता है जिसमें से पूय निकलता रहता है। यह व्रण क्रमशः भीतर की ओर दूर तक फैल जाता है और अस्थि या संधि को विकृत करके पैर में वक्रता उत्पन्न करता है। इसमें पीड़ा न के बराबर होती है इसलिये रोगी उपेक्षा करता है

(६) रक्तक्षयज व्रण (*Anaemic Ulcers*)—चिरकाल तक रक्तक्षय रोग बना रहने पर त्वचा आदि धातुएं कमजोर पड़कर व्रणों की उत्पत्ति होती है। यह विकार भिखारियों एवं अत्यन्त गरीब रोगियों में पाया जाता है—विशेषतः लड़कियों में।

(७) प्रशीताद जन्य व्रण (*Scorbutic Ulcer*)—प्रतीशाद (*Scurvy*) में भी व्रण उत्पन्न होते हैं। इनमें दाने अत्यधिक उभरे हुये रहते हैं और रक्त-स्राव की प्रवृत्ति भी अधिक रहती है। निकला हुआ रक्त ऊपर जाकर जमकर सूख जाया करता है।

(८) फिरंगज व्रण (*Syphilitic Ulcers*)—इनका वर्णन उपदंश प्रकरण में देखें।

(९) राजयक्ष्मज व्रण (*Tuberculous Ulcers*)—ये अधिकतर द्वितीयक होते हैं अर्थात् प्रायः कण्ठ-माला या शीतविद्रधि के फूटने के बाद बनते हैं। इनका तलभाग मृदु, पीताभ, छोटे एवं क्षीण दानों से युक्त तथा भूरी पपड़ियों से युक्त रहता है। किनारे नीलाभ या अरुणवर्ण के पतले तथा व्रण

के कुछ भाग को अच्छादित किये हुए होते हैं। व्रण के ऊपर की त्वचा का नाश पूर्णतया नहीं होता जिससे व्रण के आर पार त्वचा के सूत्रवत् बंधन पाये जाते हैं। व्रण का आकार टेढ़ा मेढ़ा रहता है और आस पास की त्वचा में छोटे छोटे छिद्र रहते हैं। व्रणों में से पतला जलीय स्राव निकलता है समय समय पर भूरे से रंग की पपड़ी निकलती है।

राजयक्ष्मा प्रकरण में त्वचागत राजयक्ष्मा भी देखें।

(१०) अर्बुद जन्य व्रण (*Fungating or Malignant Ulcers*)—जब कोई अर्बुद त्वचा को फाड़कर बाहर आ जाता है अथवा त्वचागत अर्बुद में व्रणीभवन होता है तब जो व्रण बनता है वह त्वचा के ऊपर उभरा हुआ रहता है और व्रण के तल के बीच बीच में फफूंदी में समान सफेदी रहती है। इससे पतले एवं गंदे रक्त का स्राव होता है। व्रणोत्पत्ति प्रायः घातक अर्बुद ही करते हैं किन्तु विरल मामलों में सौम्य अर्बुद भी करते हैं। व्रणोत्पत्ति होने पर सौम्य अर्बुद घातक अर्बुद बन सकता है।

: ४३ :

सद्योव्रण (आगन्तुज व्रण, WOUNDS)

निदान एवं सम्प्राप्ति

नानाधारमुखैः शस्त्रैर्नानास्थाननिपातितैः ।
भवन्ति नानाकृतयो व्रणास्तांस्तान्निबोध मे ॥१॥

अनेक प्रकार की धार एवं मुख वाले शस्त्रों के (शरीर के) विभिन्न स्थानों पर मारे जाने से अनेक आकृतियों वाले व्रण उत्पन्न होते हैं। मुझसे उनका वर्णन सुनो,—

भेद

छिन्नं भिन्नं तथा विद्धं क्षतं पिच्चितमेव च ।
घृष्टमाहुस्तथा षष्ठं तेषां वक्ष्यामि लक्षणम् ॥२॥

(सद्योव्रणों के ६ भेद कहे गये हैं—) छिन्न, भिन्न, विद्ध, क्षत, पिच्चित और छटवां घृष्ट कहा गया है। इनके लक्षण कहूँगा।

छिन्न व्रण

तिर्यक् छिन्न ऋजुर्वाऽपि यो व्रणस्त्वायतो भवेत् ।
गात्रस्य पातनं तच्च छिन्नमित्यभिधीयते ॥३॥

जो व्रण तिरछा या सीधा कटा हो, लम्बा हो और जिससे अंग कटकर गिर पड़े (अथवा लटक जावे) वह छिन्न व्रण (*Excised or Incised wound*) कहलाता है।

भिन्न व्रण

शक्तिदन्तेषुखड्गाग्रविषाणराशयो हतः ।
यत्किंचित् प्रस्रवेत्तद्धि भिन्नलक्षणमुच्यते ॥४॥

शक्ति की नोक[1], बाण[2], तलवार की नोक एवं सींग से आशय में चोट लगने पर थोड़ा स्राव करने वाला जो व्रण बनता है उसे भिन्न-व्रण (*Punctured wound involving the viscera*) कहते हैं।

वक्तव्य—(२६६) आशयगत व्रणों में भीतर ही भीतर अत्यधिक रक्तस्राव(*Internal Haemorrhage*) होता है किन्तु बाहर बहुत कम रक्त निकलता है। जब तक व्रण अत्यन्त चौड़ा न हो तब तक प्रायः आशयगत पदार्थ बाहर नहीं आते।

अन्य टीकाकारों ने इस श्लोक की बड़ी मजेदार टीका की है। मुझे उसके विषय में कुछ नहीं कहना है।

[1] दन्त=नोक। शक्ति दन्त=शक्ति की नोक। शक्ति=प्राचीन काल का कोई नुकीला शस्त्र।

[2] इषु=शर, बाण।

भिन्न व्रण के लक्षण अथवा कोष्ठ भेद के लक्षण

स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च ।
हृदुण्डुकः फुफ्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते ॥५॥
तस्मिन् भिन्ने रक्तपूर्णे ज्वरो दाहश्च जायते ।
मूत्रमार्गगुदास्येभ्यो रक्तं घ्राणाच्च गच्छति ॥६॥
मूर्च्छा श्वासस्तृषाऽऽध्मानमभक्तच्छन्द एव च ।
विण्मूत्रवातसङ्गश्च स्वेदास्रावोऽक्षिरक्तता ॥७॥
लोहगन्धित्वमास्यस्य गात्रदौर्गन्ध्यमेव च ।
हृच्छूलं पार्श्वयोश्चापि विशेषं चात्र मे शृणु ॥८॥
आमाशयस्थे रुधिरे रुधिरं छर्दयत्यपि ।
आध्मानमतिमात्रं च शूलं च भृशदारुणम् ॥९॥
पक्वाशयगते चापि रुजा गौरवमेव च ।
अधः काये विशेषेण शीतता च भवेदिह ॥१०॥

आमाशय, अग्न्याशय, पक्वाशय, मूत्राशय, रक्ताशय (यकृत, प्लीहा अथवा बड़ी रक्तवाहिनियां), हृदय, उण्डुक और फुफ्फुस—ये कोष्ठ कहलाते हैं।

कोष्ठ के विदीर्ण होकर रक्त से भर जाने पर ज्वर और दाह की उत्पत्ति होती है; मूत्रमार्ग, गुदा और मुख से, और नाक से भी रक्त जाता है;

मूर्च्छा, श्वास, तृष्णा, आध्मान, अरुचि, मल-मूत्रावरोध, अत्यधिक पसीना निकलना, नेत्र लाल हो जाना।

मुख से लोहे या रक्त के समान गन्ध आना, शरीर में से दुर्गन्ध आना, हृच्छूल, पार्श्वों में शूल (आदि लक्षण होते हैं)। और भी विशेष लक्षण मुझसे सुनो—

आमाशय में रक्त संचित होने पर रक्तवमन, अत्यधिक आध्मान और अत्यन्त दारुण शूल भी होते हैं।

पक्वाशय में रक्त संचित होने पर पीड़ा, भारीपन और विशेषतः शरीर के निचले भाग में शीतलता होती है।

विद्धव्रण

सूक्ष्मास्यशल्याभिहतं यदङ्गं त्वाशयं विना ।
उत्तुण्डितं निर्गतं वा तद्विद्धमिति निर्दिशेत् ॥११॥

पतली नोक वाले शल्य आशयों के अतिरिक्त अन्य अंगों में लगने पर जो ऊपर की ओर मुख वाला अथवा आर पार व्रण बनता है उसे विद्ध-व्रण (*Simple punctured wound*) कहना चाहिये।

वक्तव्य—(२६७) भिन्न और विद्ध व्रण लगभग एक ही प्रकार के होते हैं अन्तर केवल यह है कि भिन्न व्रण केवल आशयों में ही होते हैं और विद्ध व्रण आशयों के अतिरिक्त अन्य स्थानों में। भिन्न व्रणों का रक्तस्राव भीतर ही भीतर संचित होता है, बाहर बहुत कम निकलता है और गंभीर निपात होता है किन्तु विद्ध व्रणों में ऐसा नहीं होता। भिन्न व्रणों की अपेक्षा विद्ध व्रणों की चिकित्सा सरल है।

क्षत अथवा क्षत-व्रण (Lacerated wound)

नातिच्छिन्नं नातिभिन्नमुभयोर्लक्षणान्वितम् ।
विषमं व्रणमङ्गे यत्तत् क्षतं त्वभिधीयते ॥१२॥

अधिक कटा न हो और अधिक गहरा छिद्र भी न बना हो किन्तु छिन्न और भिन्न दोनों के मिश्रित लक्षणों से युक्त हो, शरीर में जो ऐसा विषम व्रण उत्पन्न होता है उसे क्षत (या क्षत-व्रण) कहते हैं।

वक्तव्य—(२६८) तेज धार वाला चौड़ा शस्त्र जैसे तलवार या फरसा लगने से लम्बा चीरा बनता है वह छिन्न व्रण है और पतली नोक वाले भाला, तीर आदि के चुभने से जो गहरा छिद्र बनता है वह भिन्न या विद्ध व्रण है। तलवार फरसा आदि के तिरछे लगने से जब अङ्ग सीधा भीतर की ओर नहीं कटता बल्कि ऊपर ही ऊपर कटकर मांस का छिलका सा निकल जाता है अथवा भाला या तीर आदि लगकर फिसल जाता है या किनारे के भागों में लगता है तब जो कम गहरा और कम लम्बा व्रण बनता है उसे क्षत कहते हैं। साधारण भाषा में इसे 'गहरी खरोंच' कहते हैं। इस प्रकार के व्रण के अनेक आकार हो सकते हैं तथा गहराई सब जगह एकसी नहीं रहती इस लिये इसे 'विषम' कहा है।

पिच्चित-व्रण (Contused wound)

प्रहारपीडनाभ्यां तु यदङ्गं पृथुतां गतम् ।
सास्थि तत् पिच्चितं विद्यान्मज्जरक्तपरिप्लुतम् ॥१३॥

मार एवं चपेट (दबाव) से जो अङ्ग अस्थि-सहित चपटा पड़ जाता है तथा मज्जा एवं रक्त से सन जाता है वह पिच्चित व्रण कहलाता है।

वक्तव्य—(२६९) गदा, मूसल, बजनी सामदार लाठी आदि की मार से अथवा मोटर आदि वाहनों के नीचे दब जाने से या ऊपर से पत्थर, दीवार आदि भारी पदार्थ गिर पड़ने से अङ्गों के कुचल जाने से पिच्चित व्रण बनते हैं।

घृष्ट-व्रण (Abrasion)

घर्षणादभिघाताद्वा यदङ्गं विगतत्वचम् ।
उषास्रावान्वितं तच्च घृष्टमित्यभिधीयते ॥१४॥

रगड़ अथवा अभिघात से जिस अङ्ग की त्वचा निकल जाती है और अरुण वर्ण का स्राव निकलता है वह घृष्ट-व्रण कहलाता है।

वक्तव्य—(२७०) इसे साधारण भाषा में हल्की खरोंच कहते हैं। इसमें केवल त्वचा से संलग्न मांस उपरितन भाग का नाश होता है।

व्रण एवं कोष्ठ में शल्य की उपस्थिति के लक्षण

श्यावं सशोथं पिडकाचितं च
मुहुर्मुहुः शोणितवाहिनं च ।
मृदूद्गतं बुद्बुदतुल्यमांसं
व्रणं सशल्यं सरुजं वदन्ति ॥१५॥
त्वचोऽतीत्य सिरादीनि भित्त्वा वा परिहृत्य वा ।
कोष्ठे प्रतिष्ठितं शल्यं कुर्यादुक्तानुपद्रवान् ॥१६॥

जो व्रण श्याववर्ण, शोथयुक्त पिडकाओं से व्याप्त वारम्बार रक्तस्राव करने वाला और बुलबुले के समान कोमल एवं उभरे हुए मांस वाला हो तथा पीड़ायुक्त हो उसमें शल्य की उपस्थिति है—ऐसा कहते हैं।

त्वचा को पार करके सिराओं आदि को भेद कर अथवा हटाकर कोष्ठ में पहुँचा हुआ शल्य पूर्वोक्त उपद्रव करता है।

वक्तव्य—(२७१) 'पूर्वोक्त उपद्रव' से कोष्ठ-भेद के उपद्रवों का आशय ग्रहण करना अभीष्ट है।

कोष्ठगत शल्य के असाध्य लक्षण

तत्रान्तर्लोहितं पाण्डुशीतपादकराननम् ।
शीतोच्छ्वासं रक्तनेत्रमानद्धं च विवर्जयेत् ॥१७॥

उनमें जिसके कोष्ठ में भरा हुआ हो, जिसके पैर, हाथ और मुख पीताभ एवं शीतल हों, ठण्डी श्वास छोड़ता हो, जिसके नेत्र लाल हों और जो आनाह से पीड़ित हो उस रोगी की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए।

मर्मगत व्रण के सामान्य लक्षण

भ्रमः प्रलापः पतनं प्रमोहो
विचेष्टनं ग्लानिरथोष्णता च ।
स्रस्ताङ्गता मूर्च्छनमूर्ध्ववातस्
तीव्रा रुजो वातकृताश्च तास्ताः ॥१८॥
मांसोदकाभं रुधिरं च गच्छेत्
सर्वेन्द्रियार्थोपरमस्तथैव ।
दशार्धसंख्येष्वथ विक्षतेषु
सामान्यतो मर्मसु लिङ्गमुक्तम् ॥१९॥

भ्रम, प्रलाप, गिर पड़ना, मोह, विचित्र चेष्टायें करना, ग्लानि एवं उष्णता का अनुभव होना, अङ्ग ढीले पड़ जाना, मूर्च्छा, ऊर्ध्ववात, तीव्र पीड़ा और अन्य वातकृत लक्षण होते हैं, मांसरस अथवा मांस के धोवन के समान (पतला एवं मलिनवर्ण) रक्त निकलता है और रोगी सभी इन्द्रियार्थों से दूर हो जाता है (अर्थात् संन्यास अथवा मृत्यु हो जाती है)–ये ५ प्रकार के मर्मों में क्षत होने के सामान्य लक्षण कहे गये हैं।

सिरागत व्रण के लक्षण

सुरेन्द्रगोपप्रतिमं प्रभूतं
रक्तं स्रवेत्तत्क्षतजश्च वायुः ।
करोति रोगान् विविधान् यथोक्तान्
सिरासु विद्धास्वथ वा क्षतासु ॥२०॥

सिराएं विद्ध अथवा क्षत होने पर वीरबहूटी के

समान वर्णवाला रक्त अत्यधिक मात्रा में निकलता है और क्षतज (क्षत के कारण कुपित) वायु पूर्वोक्त विविध विकारों को उत्पन्न करती है।

स्नायुगत व्रण के लक्षण

कौब्ज्यं शरीरावयवावसादः
क्रियास्वशक्तिस्तुमुला रुजश्च।
चिराद्व्रणो रोहति यस्य चापि तं
स्नायुविद्धं पुरुषं व्यवस्येत् ॥२१॥

जिसे अंग में टेढ़ापन शरीर एवं अवयव (व्रणित अवयव) में अवसाद, क्रियाएं करने में असमर्थता और भयंकर पीडा हो तथा जिसका व्रण भी देर से भरे उस व्यक्ति को स्नायुविद्ध समझना चाहिये (अर्थात् समझना चाहिये कि उस का विद्धव्रण स्नायु तक पहुंच गया है)।

संधिगत व्रण के लक्षण

शोषाभिवृद्धिस्तुमुला रुजश्च
बलक्षयः सर्वत एव शोथः।
क्षतेषु सन्धिष्वचलाचलेषु
स्यात् सर्वकर्मोपरमश्च लिङ्गम् ॥२२॥

चल एवं अचल संधियों में क्षत होने पर शोथ की उत्तरोत्तर वृद्धि (उत्तरोत्तर अधिकाधिक सूखते जाना) भयंकर पीड़ा, दुर्बलता, संधि के चारों ओर शोथ और सब प्रकार के काम करने में असमर्थता होती है।

अस्थिगत व्रण के लक्षण

घोरा रुजो यस्य निशादिनेषु
सर्वास्ववस्थासु च नैति शान्तिम्।
भिषग्विपश्चिद्विदितार्थसूत्रस्
तमस्थिविद्धं पुरुषं व्यवस्येत् ॥२३॥

जिसे दिनरात भयंकर पीड़ा होती है और जो किसी भी अवस्था में आराम नहीं पाता हो, विद्वान् एवं सूत्रों का अर्थ जानने वाला वैद्य उस व्यक्ति को अस्थिविद्ध समझे (अर्थात् समझे कि उसका विद्धव्रण अस्थि तक पहुंच गया है)।

मर्मगत व्रणों के विशेष लक्षण

यथास्वमेतानि विभावयेच्च
लिङ्गानि मर्मस्वभिताडितेषु।
पाण्डुर्विवर्णः स्पृशितं न वेत्ति
यो मांसमर्मण्यभिपीडितः स्यात् ॥२४॥

यही लक्षण उन उन के (सिरा, स्नायु, संधि और अस्थि के मर्मों में अभिघात लगने से भी समझना चहिये (अर्थात् सिरागत व्रण के जो लक्षण कहे हैं वही सिरामर्म गत व्रण के भी लक्षण हैं; इसी प्रकार स्नायु मर्म, संधिमर्म और अस्थि मर्म के लक्षण भी समझें)।

जो मांसमर्म में अभिघात लगने से पीड़ित हो वह विवर्ण होकर पीताभ हो जाता है तथा स्पर्श का ज्ञान नहीं कर पाता।

व्रणों के उपद्रव

विषर्पः पक्षघातश्च सिरास्तम्भोऽपतानकः।
मोहोन्मादव्रणरुजो ज्वरस्तृष्णा हनुग्रहः ॥२५॥
कासश्छर्दिरतीसारो हिक्का श्वासः सवेपथुः।
षोडशोपद्रवाः प्रोक्ता व्रणानां व्रणचिन्तकैः ॥२६॥

विसर्प, पक्षाघात, सिराएं अकड़ जाना, अपतानक (*Tetanus*), मूर्च्छा, उन्माद, व्रण रोग (शरीर व्रण), ज्वर, तृष्णा, हनुग्रह (*Lock-Jauw*), कास, वमन, अतिसार, हिक्का, श्वास और कम्प—व्रण के विशेषज्ञों के द्वारा व्रणों के ये सोलह उपद्रव कहे गये हैं।

वक्तव्य—(२७२) सद्योव्रणों के सम्बन्ध में पाश्चात्य मत भी यही है। आयुर्वेद के ग्रन्थों में गोली जन्य व्रणों का वर्णन नहीं है क्योंकि जिस काल में ये ग्रन्थ लिखे गये थे उस काल में ये शस्त्र नहीं थे।

गोली जन्य व्रण (*Gun shot wounds*)—गोली के प्रवेश के स्थान पर सकरे और भीतर क्रमशः चौड़े रहते हैं। यदि गोली दूसरी ओर से निकल गयी हो तो उस ओर का व्रण अधिक चौड़ा और उभरे हुए किनारों वाला होता है; यदि न निकली हो तो व्रण के

भीतर पायी जाती है। कभी कभी गोली किसी अस्थि से टकराकर दिशा बदल देती है। फूटने वाली गोलियां जो अन्दर जाकर फट जाती हैं, वे भीतर अधिक बड़ा व्रण बनाती हैं। सभी प्रकार की गोलियां गोल व्रण बनाती हैं और अधिकतर व्रण में से बारूद की गंध आती है।

: ४४ :

भग्न

भग्न के भेद

भग्नं समासाद् द्विविधं हुताश !

काण्डे च सन्धौ ......

हे अग्निवेश ! संक्षेप में भग्न दो प्रकार का होता है—काण्ड में (काण्ड भग्न) और सन्धि में (संधि भग्न)।

सन्धिभग्न के भेद

च हि तत्र सन्धौ।

उत्पिष्टविश्लिष्टविवर्तितं च

तिर्यग्गतं क्षिप्तमधश्च षट् च ॥१॥

और संधि में उत्पिष्ट, विश्लिष्ट, विवर्तित, तिर्यग्गत, क्षिप्त और अधः क्षिप्त—ये ६ भेद भग्न के होते हैं।

वक्तव्य—(२७३) सुश्रुत में तिर्यग्गत को तिर्यग्क्षिप्त क्षिप्त को अतिक्षिप्त और अधःक्षिप्त को अवक्षिप्त माना है।

संधिभग्न के सामान्य एवं विशिष्ट लक्षण

प्रसारणाकुञ्चनवर्तनोग्रा

रुक्स्पर्शविद्वेषणमेतदुक्तम्।

सामान्यतः सन्धिगतस्य लिङ्गम्

उत्पिष्टसन्धेः श्वयथुः समन्तात् ॥२॥

विशेषतो रात्रिभवा रुजा च

विश्लिष्टजे तौ च रुजा च नित्यम्।

विवर्तिते पार्श्वरुजश्च तीव्रा-

स्तिर्यग्गते तीव्ररुजो भवन्ति ॥३॥

क्षिप्तेऽति शूलं विषमत्वमस्थ्नोः

क्षिप्ते त्वधो रुग्विघटश्च सन्धेः।

फैलाने, सिकोड़ने और घुमाने (अथवा स्थिर रखने) में उग्र पीड़ा और स्पर्श सहन न होना—ये संधिगत भग्न के सामान्य लक्षण कहे गये हैं।

उत्पिष्ट सन्धिभग्न के चारों ओर शोथ रहता है और रात्रि में विशेष पीड़ा होती है।

विश्लिष्ट संधिभग्न में उक्त दोनों लक्षण (चारों ओर शोथ और रात्रि में विशेष पीड़ा) और हर समय भी पीड़ा रहती है।

विवर्तित संधिभग्न में पार्श्व (संधि के बाजू का भाग) में तीव्र पीड़ा रहती है।

तिर्यग्गत संधिभग्न में तीव्र पीड़ा होती है।

क्षिप्त या अतिक्षिप्त संधिभग्न में अत्यधिक शूल और अस्थियों में विषमता (एक दूसरी पर चढ़ जाने के कारण होती है।

अधःक्षिप्त सन्धिभग्न में पीड़ा और संधि का विघटन होता है।

काण्डभग्न के भेद एवं लक्षण

काण्डे त्वतः कर्कटकाश्वकर्ण-

विचूर्णितं पिच्चितमस्थिछल्लिका ॥४॥

काण्डेषु भग्नं ह्यतिपातितं च

मज्जागतं च स्फुटितं च वक्रम्।

छिन्नं द्विधा द्वादशधाऽपि काण्डे

स्रस्ताङ्गता शोथरुजाऽतिवृद्धिः ॥५॥

संपीड्यमाने भवतीह शब्दः

स्पर्शासहं स्पन्दनतोदशूलाः ।

सर्वास्ववस्थासु न शर्मलाभो
भग्नस्य काण्डे खलु चिह्नमेतत् ॥६॥

इसी प्रकार काण्ड में भी कर्कटक, अश्वकर्ण, विचूर्णित, पिच्चित, अस्थि-छल्लिका, बहु काण्डभग्न, अतिपातित, मज्जागत, स्फुटित, वक्र और दो प्रकार का छिन्न (अल्प और पूर्ण)—इस प्रकार १२ प्रकार के भग्न होते हैं। अङ्ग का लटक जाना, शोथ एवं पीड़ा की अत्यधिक (उत्तरोत्तर) वृद्धि, दबाने या मसलने पर आवाज होना, स्पर्श सहन न होना, चुभन, शूल और सभी अवस्थाओं में आराम न मिलना—ये लक्षण काण्डभग्न होने पर होते हैं।

वक्तव्य—(२७४) 'काण्डेषु भग्नम्' से अन्य टीकाकारों ने 'काण्डभग्न' ही माना है और उसे विशेष प्रकार का काण्डभग्न माना है। काण्डभग्न काण्डभग्न का ही भेद कैसे होगा - इस शंका का समाधान मधुकोश-कार ने भी सामान्य और विशिष्ट कहकर किया है। किन्तु यहां 'काण्ड' शब्द का प्रयोग बहुवचन में होने से अनेक काण्डों में भग्न होने का तात्पर्य निकलता है। वस्तुतः कई मौकों पर अनेक अस्थियों के भग्न एक साथ होते पाये जाते हैं इसलिए इसे बहुकाण्ड भग्न (Multiple Fracture) मानना अधिक संगत है।

कर्कटक—काण्ड के टूटकर झुक जाने से भग्न-के स्थान पर ग्रंथि-सदृष उभार होता है।

अश्वकर्ण—टूटी हुई अस्थि का एक सिरा घोड़े के कान के समान उभर आता है।

विचूर्णित—अस्थि के अत्यन्त छोटे टुकड़े हो जाते हैं।

पिच्चित—अस्थि चपटी हो जाती है।

अस्थि छल्लिका—अस्थि का छिलका सा अलग हो जाता है।

काण्डेषु भग्न (बहुकाण्डभग्न)—बहुत सी अस्थियों का भग्न एक साथ होता है। यह बड़ी दुर्घटनाओं में पाया जाता है यथा रेलगाड़ी या मोटर के नीचे आ जाना।

अतिपातित—अस्थि टूटकर दोनों भाग दूर दूर होजाते हैं अथवा एक दूसरे पर चढ़ जाते हैं।

मज्जागत—टूटी हुई अस्थि का एक सिरा दूसरे की मज्जा में घुस जाता है। अंग की लम्बाई कम हो जाती है।

स्फुटित—अस्थि फट जाती है।

वक्र—अस्थि झुक जाती है।

छिन्न—तलवार, फरसा आदि काटने वाले शस्त्रों के अभिघात से अस्थि कुछ दूर तक अथवा पूर्णतया कट जाती है।

काण्ड भग्न के अन्य भेद

भग्नं तु काण्डे बहुधा प्रयाति
समासतो नामभिरेव तुल्यम् ॥७॥

काण्ड में बहुत प्रकार के भग्न होते हैं किन्तु संक्षेप में वे नामों के अनुरूप होते हैं (अर्थात् सभी प्रकार के अस्थिभग्न इन १२ प्रकारों के अन्तर्गत आजाते हैं)।

कष्टसाध्य भग्न

अल्पाशिनोऽनात्मवतो जन्तोर्वातात्मकस्य च ।
उपद्रवैर्वा जुष्टस्य भग्नं कृच्छ्रेण सिध्यति ॥८॥

थोड़ा खाने वाले, असंयमी, वात-प्रकृति और उपद्रवों से युक्त प्राणी का भग्न कठिनाई से सिद्ध होता है।

असाध्य भग्न

भिन्नं कपालं कट्यां तु सन्धिमुक्तं तथा च्युतम् ।
जघनं प्रतिपिष्टं च वर्जयेद्धि विचक्षणः ॥९॥

जिसका कपाल भिन्न (आशय-पर्यन्त छिद्र युक्त) होगया हो, जिसकी कमर में संधि मुक्त या च्युत हो गई हो तथा जिसका जघन (भगास्थि) पिस गया हो उसे चतुर वैद्य छोड़ देवे (चिकित्सा न करे)।

असंश्लिष्टकपालं च ललाटे चूर्णितं च यत् ।
भग्नं स्तनान्तरे पृष्ठे शङ्खे मूर्ध्नि च वर्जयेत् ॥१०॥

जिस रोगी के कपाल की अस्थियां पृथक् पृथक् हो गयी हों, जिसका ललाट चूर्णित हो गया हो और

जिसके स्तनों के बीचों बीच, पीठ, शंख-प्रदेश एवं सिर के ऊपरी भाग में भग्न हो उसे भी छोड़ देवे।

सम्यक् सन्धितमप्यस्थि दुर्निक्षेपनिबन्धनात्।
संक्षोभाद्वाऽपि यद्गच्छेद्विक्रियां तच्च वर्जयेत् ॥११॥

भली भांति बैठाई गई अस्थि यदि बुरी तरह से रखने, बुरी तरह से बांधने से विकृत हो जावे तो वह भी असाध्य है।

अस्थि विशेष के अनुसार भग्न की विशेषतायें

तरुणास्थीनि नम्यन्ते भिद्यन्ते नलकानि च।
कपालानि विभज्यन्ते स्फुटन्ति रुचकानि च ॥१२॥

तरुणास्थियां झुक जाती हैं, नलिकाऐं एक-दूसरी में घुस जाती हैं, कपालास्थियां फटकर अलग-अलग हो जाती हैं और दांत टूट जाते हैं (चकार से 'वलयास्थियां भी टूट जाती हैं' ऐसा मान लेना चाहिये)।

पाश्चात्य मत—

संधिभग्न (*Injuries of Joints*)—

(१) उत्पिष्ट सन्धि पिच्चित संधि, कसक या धमक (*Contusion of the Joint or contused Joint*)—यह दशा जोर से गिरने या कूदने अथवा कभी कभी अन्य प्रकार के अभिघात से होती है। संधि की दोनों अस्थियां एक दूसरे के अत्यन्त पास पास आकर बीच के पदार्थों को पिच्चित कर देती हैं जिससे संधि के भीतर लसिका या रक्त का स्राव होता है। शोथ और पीड़ा इसके लक्षण हैं।

(२) विश्लिष्ट संधि या व्रणित संधि (*Wounds of the Joints*)—संधि में भी चाकू, कील, कांटे, आदि लगकर संधिगत धातुऐं विश्लिष्ट या व्रणित हो जाती हैं। इससे शोथ, पीड़ा और सन्धि से सन्धि के कार्य में असमर्थता होती है। संक्रमण होने पर पाक हो सकता है।

(३) विवर्तित संधि या मोच (Sprains)—अंग के अस्वाभाविक रीति से झुक जाने से इसकी उत्पत्ति होती है। इससे कण्डराएं फट या खिंच जाती हैं और संधिकला भी फट सकती है। संधि में लसिका या रक्त का स्राव होता है। पीड़ा और शोथ प्रधान लक्षण हैं।

(४) संधि-च्युति अथवा अङ्ग उखड़ जाना (Dislocation)—इस विकार में संधि की अस्थियां अपने स्थान से हट जाती हैं। यदि दोनों अस्थियों के छोर पास पास, परस्पर जुटे हुए (फंसे हुये या जुड़े हुये नहीं) रहते हैं तो उस दशा को 'अधःक्षिप्त संधि अथवा अपूर्ण संधिच्युति (Subluxation or Partial Dislocation) कहते हैं। यदि एक अस्थि अपने स्थान से काफी हटकर भी मांसादि के भीतर ही रहती है तो उसे 'तिर्यग्गत संधि अथवा पूर्ण संधिच्युति' (Complete Dislocation) कहते हैं। ये दोनों प्रकार साधारण संधिच्युति (Simple Dislocation) कहलाते हैं किन्तु जब एक या दोनों अस्थियां मांसादि को फाड़कर त्वचा के बाहर आ जाती हैं तब उस दशा को 'क्षिप्त या अतिक्षिप्त संधि अथवा जटिल संधिच्युति' (Compound Dislocation) कहते हैं। कभी कभी संधिच्युति के साथ ही साथ अस्थि-भग्न भी होता है उस दशा को भी 'जटिल संधिच्युति या जटिल अस्थि-भग्न (Compound Fracture) कहते हैं।

सामान्यतः जोरदार अभिघात लगने, गिरने, कूदने आदि से ही संधिच्युति होती है किन्तु बहुत से रोगों में संधि का प्रदाह या घात होने के कारण अथवा अधरांगघात, अर्धांगघात आदि के कारण लंगड़ाकर चलने से भी संधिच्युति होती है—रोग जन्य संधिच्युति (Pathological Dislocation)। कुछ लोगों में अंगड़ाई लेने सदृष सामान्य चेष्टाओं से भी बारबार संधिच्युति होने की प्रवृत्ति रहती है—स्वाभाविक (Habitual) अथवा पुनराक्रमण (Recurrent) संधिच्युति (Dislocation)। कभी कभी सहज संधिच्युति (Congenital Dislocation) भी पायी जाती है किन्तु प्रसव के समय पर मूढ़गर्भता के कारण होने वाली संधिच्युति जो कि निश्चय ही अभिघातज (Traumatic) है उससे इसका विभेद करना चाहिये।

संधिच्युति होने पर अंग में निष्क्रियता, पीड़ा शोथ, विवर्णता आदि लक्षण होते हैं तथा अंग की लम्बाई या तो कुछ बढ़ जाती है अथवा घट जाती है। उपेक्षित रहने पर चिरकाल में शोथ विलीन हो जाता है किन्तु कुछ मामलों में तन्तूत्कर्ष होकर गांठ पड़ जाती है। व्रणयुक्त मामलों में पाक की सम्भावना रहती है।

II काण्डभग्न अथवा अस्थिभग्न (Frecture)—सामान्यतः अभिघात लगने, कूदने, गिरने, कुचले जाने आदि से हड्डियां टूट जाया करती हैं। स्वस्थ व्यक्ति की हड्डी टूटने के लिये जोरदार चोट लगना आवश्यक होता है किन्तु अस्थियों के वातनाड़ियों के एवं कई सार्वांगिक रोगों में तथा वृद्धावस्था में अस्थियां इतनी अपुष्ट अथवा अपचयित हो चुकती हैं कि अत्यन्त क्षुद्र कारणों से अस्थिभग्न हो जाता है। कभी कभी अस्थिभग्न हो चुकने पर कोई विशेष लक्षण उत्पन्न नहीं होते और कुछ काल में अस्थि के टुकड़े जुड़ जाते हैं यद्यपि कुछ टेढ़ापन आना आवश्यक है। सामान्यतः अस्थिभग्न के २ भेद माने जाते हैं—सामान्य और जटिल। सामान्य (Simple) प्रकार वह है जिसमें टूटे हुये भाग भीतर ही रहे आते हैं और जटिल (Compound) वह है जिससे टूटा हुआ एक या दोनों भाग त्वचा आदि को फाड़कर बाहर आजाते हैं। दोनों प्रकार के अस्थिभग्न में भग्न के आस पास की धातुओं को कुछ न कुछ क्षति अवश्य ही पहुँचती है किन्तु द्वितीय प्रकार में अधिक क्षति पहुँचती है और जीवाणु संक्रमण होकर पाक होने की भी संभावना रहती है। सामान्य प्रकार में आभ्यन्तर रक्तस्राव होता है जिससे शोथ अधिक होता है; जटिल प्रकार में आभ्यन्तर और बाह्य दोनों प्रकार के रक्तस्राव होते हैं इसलिए शोथ अपेक्षाकृत कम होता है। दोनों प्रकार में पीड़ा अधिक होती है और आक्रान्त भाग अचल हो जाता है तथा टूटा हुआ बाह्य भाग लटकने लगता है। रोगी में ज्वर, तृष्णा, स्वेदाधिक्य, मूर्च्छा, अवसाद आदि लक्षण पाये जाते हैं तथा मृत्यु तक हो सकती है।

अस्थिभग्न का अत्यन्त सूक्ष्म वर्गीकरण करके बहुत से प्रकारों की कल्पना की गयी है जो लगभग माधवकर के द्वारा ऊपर कहे गये प्रकारों के अनुरूप ही है। विस्तारभय से उन सबका वर्णन यहां अभीष्ट नहीं है। केवल यहां यह कह देना आवश्यक है कि अस्थिभग्न के कुछ प्रकार ऐसे भी हैं जिनमें अस्थि पूर्णतया दो टुकड़ों में नहीं होती, केवल झुक जाती है। इस प्रकार की दशा में सामान्य पीड़ा होती है किन्तु शोथ एवं गंभीर लक्षणों की उत्पत्ति नहीं होती। प्रायः इस प्रकार के अस्थिभग्न की उपेक्षा की जाती है।

पाश्चात्य ग्रन्थों में भिन्न भिन्न अस्थियों एवं संधियों के भग्नों का पृथक् पृथक् विशद वर्णन मिलता है—वह भी इस छोटे से ग्रन्थ में देना असम्भव है।

: ४५ :

नाड़ीव्रण

निदान एवं सम्प्राप्ति

यः शोथमाममतिपक्वमुपेक्षतेऽज्ञो
यो वा व्रणं प्रचुरपूयमसाधुवृत्तः।
अभ्यन्तरं प्रविशति प्रविदार्य तस्य
स्थानानि पूर्वविहितानि ततः स पूयः॥१॥

जो मूर्ख एवं दुष्ट व्यक्ति अत्यन्त पके हुए शोथ अथवा अत्यधिक पूययुक्त व्रण को कच्चा समझकर चिकित्सा में प्रवृत्त नहीं होता उसका वह पूय

पूर्वोक्त स्थानों को विदीर्ण करके भीतरी भागों में प्रविष्ट हो जाता है।

वक्तव्य—(२७५) यह श्लोक सुश्रुत संहिता से लिया गया है। इसमें पूर्वोक्त (पूर्वविहितानि) शब्द से सुश्रुत संहिता के व्रणास्रावविज्ञानीयाध्याय (सूत्र स्थान अ २२) में कहे गये व्रणस्थानों की ओर संकेत किया गया है। ये व्रणस्थान या व्रणवस्तु ८ हैं—त्वचा, मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि, संधि, कोष्ठ और मर्म।

निरुक्ति (सम्प्राप्ति सह)

तस्यातिमात्रगमनाद्गतिरिष्यते तु
नाडीव यद्वहति तेन मता तु नाडी।

उस (पूय) के अत्यधिक गमन से मार्ग बन जाता है जो नाड़ी (नाली) के समान बहता है इसलिये नाड़ी (नाड़ीव्रण) कहलाता है।

भेद

दोषैस्त्रिभिर्भवति सा पृथगेकशश्च
संमूर्च्छितैरपि च शल्यनिमित्तोऽन्या ॥२॥

वह तीनों दोषों से (त्रिदोषज), पृथक् पृथक् एक एक प्रकुपित दोष से (वातज, पित्तज और कफज) और अन्य, शल्य के कारण उत्पन्न (शल्यज या आगन्तुज) होता है।

वक्तव्य—(२७६) सुश्रुत ने द्वन्द्वज नाड़ीव्रण भी माने हैं।

वातज नाड़ीव्रण

तत्रानिलात् परुषसूक्ष्ममुखी सशूला
फेनानुविद्धमधिकं स्रवति क्षपासु।

वातज नाड़ीव्रण रूखे एवं सूक्ष्म मुख वाला होता है। वह शूलवत् पीड़ा के साथ रात्रि में बहुतसा फेनयुक्त स्राव करता है।

पित्तज नाड़ीव्रण

पित्तात्तृषाज्वरकरी परिदाहयुक्ता
पीतं स्रवत्यधिकमुष्णमहःसु चापि ॥३॥

पित्तज नाड़ीव्रण तृषा एवं ज्वर उत्पन्न करने वाला तथा दाहयुक्त रहता है। यह दिन में भी (अर्थात् दिन रात) अधिक मात्रा में गरम और पीला स्राव करता है।

कफज नाड़ीव्रण

ज्ञेया कफाद्बहुघनार्जुनपिच्छिलास्रा
स्तब्धा सकण्डुररुजा रजनीप्रवृद्धा।

कफज नाड़ीव्रण बहुतसा, गाढ़ा, श्वेत एवं पिच्छिल स्राव करने वाला तथा स्तब्ध, कण्डूयुक्त, पीड़ायुक्त, और रात्रि में जोर करने वाला होता है।

त्रिदोषज नाड़ीव्रण

दाहज्वरश्वसनमूर्च्छनवक्त्रशोषा
यस्यां भवन्त्यभिहितानि च लक्षणानि ॥४॥
तामादिशेत्पवनपित्तकफप्रकोपा-
द्घोरामसुक्षयकरीमिव कालरात्रिम्।

जिस नाड़ीव्रण में दाह, ज्वर, श्वास, मूर्च्छा और मुख सूखना—ये लक्षण उपस्थित हों एसे वात पित्त और कफ के प्रकोप से उत्पन्न तथा कालरात्रि के समान भयंकर एवं प्राणघातक समझना चाहिये।

शल्यज नाड़ीव्रण

नष्टं कथंचिदनुमार्गमुदीरितेषु
स्थानेषु शल्यमचिरेण गतिं करोति ॥५॥
सा फेनिलं मथितमुष्णमसृग्विमिश्रं
स्रावं करोति सहसा सरुजा च नित्यम्।

पूर्वोक्त स्थानों में किसी प्रकार पहुंच कर छिपा हुआ शल्य शीघ्र ही अपने मार्ग में नाड़ीव्रण बनाता है। वह नाड़ीव्रण अचानक और फिर नित्य ही पीड़ा के साथ फेनयुक्त मथे हुए के समान, उष्ण एवं रक्तमिश्रित स्राव करता है।

साध्यासाध्यता

नाडी त्रिदोषप्रभवा न सिध्ये-
च्छेषाश्चतस्रः खलु यत्नसाध्याः ॥६॥

त्रिदोषज नाड़ीव्रण असाध्य है; शेष चारों यत्न करने पर साध्य हैं।

पाश्चात्य मत—

नाड़ीव्रण दो प्रकार के होते हैं—(१) एक मुखी नाड़ीव्रण अथवा विवर (Sinus) और (२) द्विमुख

नाड़ीव्रण अथवा आशय पर्यन्त नाड़ी व्रण(Fistula)। इनमें अन्तर यह है कि एकमुखी नाड़ीव्रण मांसादि में एक विशेष दूरी तक जाकर समाप्त होजाता है तथा पूय एवं रक्त का स्राव करता है किन्तु द्विमुख नाड़ीव्रण किसी आशय में जाकर समाप्त होता है और पूय एवं रक्त के साथ ही साथ उस आशय में रहने वाले पदार्थों का भी स्राव करता है। दोनों की उत्पत्ति भिन्न एवं विद्ध व्रणों, वाह्य एवं आभ्यन्तर† शल्यों और विद्रधियों से होती है। बाह्य विद्रधियों का योग्य उपचार न होने पर नाड़ीव्रण की उत्पत्ति होती है किन्तु राजयक्ष्मज आदि कई प्रकार के विद्रधियों में भीतर की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति स्वभावतः रहती ही है। बाह्य विद्रधियों से अधिकतर विवर ही बन पाते हैं, आशय पर्यन्त नाड़ीव्रण शायद ही कभी बनते हैं। आशय पर्यन्त नाड़ीव्रण अधिकतर आभ्यन्तर विद्रधियों से उत्पन्न होते हैं। ये पुनः २ प्रकार के होते हैं—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य नाड़ीव्रण त्वचा में आकर समाप्त होता है और बाहर से देखा जा सकता है किन्तु आभ्यन्तर नाड़ीव्रण किसी एक आशय से उत्पन्न होकर समीपवर्ती किसी अन्य आशय में समाप्त होता है, यह बाहर से नहीं देखा जा सकता है। सामान्यतः सभी प्रकार के नाड़ीव्रणों से मन्द पीड़ा और असुविधा होती है। इनके अचानक बन्द हो जाने अथवा इनमें द्वितीयक उपसर्ग हो जाने पर भयङ्कर उपद्रव होते हैं।

---

†आभ्यन्तर शल्य—अश्मरी आदि तथा मुख द्वारा निगले गये पदार्थ।

: ४६ :

भगन्दर

सामान्य लक्षण और भेद संख्या

गुदस्य द्व्यङ्गुले क्षेत्रे पार्श्वतः पिडकाऽऽर्तिकृत्।
भिन्ना भगन्दरो ज्ञेयः स च पञ्चविधो मतः ॥१॥

गुद के पार्श्व में दो अंगुल तक के क्षेत्र में पीड़ा करने वाली पिडका (उत्पन्न होती है जो) फूट जाने पर (अथवा भिन्न व्रण बनने पर) भगन्दर मानी जाती है। वह (भगन्दर) पांच प्रकार का माना गया है।

शतपोतक नामक वातज भगन्दर

कषायरूक्षैस्त्वतिकोपितोऽनिल-
स्त्वपानदेशे पिडकां करोति याम्।
उपेक्षणात् पाकमुपैति दारुणं रुजा
च भिन्नाऽरुणफेनवाहिनी ॥२॥
तत्रागमो मूत्रपुरीषरेतसां
व्रणैरनेकैः शतपोनकं वदेत्।

कसैले एवं रूखे पदार्थों के सेवने से अत्यन्त कुपित हुआ वायु गुद-प्रदेश में जो पिडका उत्पन्न करता है वह उपेक्षा करने पर भयङ्कर रूप से पक जाती है, पीड़ा करती है, फूटने पर अरुण वर्ण के फेन का स्राव करती है उसके अनेक व्रणों में से मूत्र, मल एवं वीर्य निकलते हैं। इसे शतपोतक कहना चाहिये।

वक्तव्य—(२७७) इस भगन्दर में बहुत से छिद्र होते हैं इस लिए इसका नाम शतपोतक है।

उष्ट्रग्रीव नामक पित्तज भगन्दर

प्रकोपणैः पित्तमतिप्रकोपितं
करोति रक्तां पिडकां गुदाश्रिताम् ॥३॥
तदाऽऽशुपाकाहिमपूतिवाहिनीं
भगन्दरं तूष्ट्रशिरोधरं वदेत् ॥४॥

अपने प्रकोपक कारणों के द्वारा अत्यन्त कुपित

पित्त गुद-प्रदेश में आश्रित, लाल रङ्ग की, शीघ्र पकने वाली तथा गरम और दुर्गन्धित स्राव करने वाली पिडिका उत्पन्न करता है। इसे उष्ट्रग्रीव भगंदर कहना चाहिये।

वक्तव्य—(२७८) इस भगन्दर का छिद्र ऊंट की गर्दन के समान उभरा हुआ रहता है इस लिए इसका नाम उष्ट्रग्रीव है।

परिस्रावी नामक कफज भगन्दर

कण्डूयनो घनस्रावी कठिनो मन्दवेदनः ।
श्वेतावभासः कफजः परिस्रावी भगन्दरः ॥५॥

कफज परिस्रावी नामक भगन्दर खुजलाहट-युक्त, गाढ़ा स्राव करने वाला, कठोर, मन्द वेदना करने वाला और श्वेताभ होता है।

शम्बूकावर्त नामक सन्निपातज भगन्दर

बहुवर्णरुजास्रावा पिडका गोस्तनोपमा ।
शम्बूकावर्तवन्नाडी शम्बूकावर्तको मतः ॥६॥

अनेक वर्णों वाली, अनेक प्रकार की पीड़ा करने वाली, अनेक प्रकार का स्राव करने वाली तथा गाय के स्तन के समान आकार वाली पिडका से उत्पन्न शम्बूकावर्त (घोंघे के आवर्त या नदी की भंवर) के समान नाड़ीव्रण शम्बूकावर्त भगन्दर माना जाता है।

वक्तव्य—(२७९) मधुकोषकार का कथन है इसमें शम्बूकावर्त के समान आवर्त, वेदना एवं दोषों की गति विशेषतः पाई जाती है इस लिए इसका नाम शम्बूकावर्त है।

उन्मार्गी नामक आगन्तुज भगन्दर

क्षताद्गतिः पायुगता विवर्धते
ह्युपेक्षणात् स्युः क्रिमयो विदार्य ते ।
प्रकुर्वते मार्गमनेकधा मुखै-
र्व्रणैस्तदुन्मार्गि भगन्दरं वदेत् ॥७॥

गुद-प्रदेश में क्षत से उत्पन्न नाड़ीव्रण उपेक्षा करने से बढ़ता है तथा कभी कभी क्रिमि उत्पन्न हो जाते हैं। वे उसे फाड़कर अनेक प्रकार के व्रणों एवं मुखों में से मार्ग बनाते हैं। इसे उन्मार्गी भगंदर कहना चाहिए।

वक्तव्य—(२८०) उपर्युक्त दोषज भगन्दरों में भी क्रिमियों की उत्पत्ति होने पर यह रूप हो सकता है।

साध्यासाध्यता

घोराः साधयितुं दुःखाः सर्व एव भगन्दराः ।
तेष्वसाध्यस्त्रिदोषोत्थः क्षतजश्च विशेषतः ॥८॥
वातमूत्रपुरीषाणि क्रिमयः शुक्रमेव च ।
भगन्दरात् स्रवन्तस्तु नाशयन्ति तमातुरम् ॥९॥

सभी भगन्दर घोर कष्टसाध्य हैं किन्तु उनमें से त्रिदोषज और क्षतज (उन्मार्गी) विशेषतः असाध्य हैं।

भगन्दर में से निकलते हुए वायु, मूत्र, मल, क्रिमि और शुक्र भगन्दर रोगी को मार डालते हैं।

पाश्चात्य मत—

गुद प्रदेश में होने वाले नाड़ीव्रण अर्थात् गुदज नाड़ीव्रण को भगन्दर (*Fistula in ano, or-Ano rectal fistulae and sinuses*) कहते हैं। इनकी उत्पत्ति साधारणतः विद्रधियों से होती है किन्तु क्षतादि से भी हो सकती है। इसके मुख्य ३ भेद होते हैं—

(१) पूर्ण गुदज नाड़ी व्रण (*complete rectal fistula*)—इसमें गुदा के आभ्यन्तर भाग से व्रण के मुख का सम्बन्ध रहता है। छिद्र में से वायु एवं मल निकला करते हैं।

(२) गुदज बाह्य विवर (*External rectal sinus or blind external fistula*)—इसका सम्बन्ध केवल गुदा के आभ्यन्तर भाग से नहीं रहता। इसमें से मलादि नहीं निकलते।

(३) गुदज आभ्यन्तर विवर (*Internal rectal sinus or blind Internal fistula*)—इसका सम्बन्ध केवल गुदा के आभ्यन्तर भाग से ही रहता है, बाहर त्वचा में छिद्र नहीं रहता। इसमें कभी कभी पीड़ा एवं शोथ होता है। रोगी को इसका ज्ञान नहीं रहता। निदान गुद-परीक्षा से होता है।

विद्रधि दोनों ओर फूटने पर पूर्ण नाड़ीव्रण, केवल बाहर की ओर फूटने पर बाह्य विवर, और केवल भीतर की ओर फूटने पर आभ्यन्तर विवर की उत्पत्ति होती है। कालान्तर में द्वितीयक उपसर्ग आदि कारण उपस्थित होने पर दोनों प्रकार के विवर पूर्ण नाड़ीव्रण में परिवर्तित हो सकते हैं। पूर्ण नाड़ी व्रण में से मल और वायु का आना सामान्य है। मूत्र और शुक्र तभी निकल सकते हैं जब नाड़ीव्रण का सम्बन्ध मूत्र नलिका एवं शुक्र नलिका से हो स्त्रियों का भगंदर अधिकतर योनि और गुदा के आरपार नाड़ीव्रण बनाता है।

: ४७ :

उपदंश

निदान

हस्ताभिघातान्नखदन्तपाता-
दधावनाद्रत्यतिसेवनाद्वा।
योनिप्रदोषाच्च भवन्ति शिश्ने
पञ्चोपदंशा विविधोपचारैः॥१॥

हाथ के अभिघात (मसलने आदि) से, नख एवं दांत लगने से, न धोने से अधिक मैथुन करने से अथवा दूषित योनि में मैथुन करने से तथा अनेक प्रकार के विपरीत आचरण से जननेन्द्रिय में पांच प्रकार के उपदंश होते हैं।

दोषानुसार लक्षण

सतोदभेदैः स्फुरणैः सकृष्णैः
स्फोटैर्व्यवस्येत् पवनोपदंशम्।
पीतैर्बहुक्लेदयुतैः सदाहैः पित्तेन
रक्तात् पिशिताबभासैः॥२॥
स्फोटैः सकृष्णैः रुधिरं स्रवन्तं
रक्तात्मकं पित्तसमानलिङ्गम्।
सकण्डुरैः शोथयुतैर्महद्भिः
शुक्लैर्घनैः स्रावयुतैः कफेन॥३॥
नानाविधस्रावरुजोपपन्नम-
साध्यमाहुस्त्रिमलोपदंशम्।

चुभन, फटन, फड़कन और कालिमा से युक्त स्फोटों से वातज उपदंश समझना चाहिए।

पीले, अधिक क्लेदयुक्त और दाहयुक्त स्फोटों से पित्तज उपदंश समझना चाहिये।

मांस के समान प्रतीत होने वाले, कालिमायुक्त रक्तस्रावी और पित्तज उपदंश के समान लक्षणों वाले स्फोटों से रक्तज उपदंश समझना चाहिये।

खुजलाहट युक्त, शोथयुक्त, बड़े, सफेद, कठोर (ठोस) एवं स्रावयुक्त स्फोटों से कफज उपदंश समझना चाहिये।

अनेक प्रकार के स्राव और अनेक प्रकार की पीड़ा से युक्त उपदंश को असाध्य एवं त्रिदोषज उपदंश कहा गया है—

असाध्य लक्षण

विशीर्णमांसं क्रिमिभिः प्रजग्धं
मुष्कावशेषं परिवर्जयेच्च॥४॥

और, जिसका मांस गल गया हो, कृमियों के द्वारा खा डाला गया हो और अण्डकोष मात्र ही शेष रहे हों उसे त्याग देवे (चिकित्सा न करे)।

वक्तव्य—(२८१) मांस से लिंग का मांस समझना चाहिये। आगे स्पष्टीकरण हो जाता है।

उपदंश की उपेक्षा का परिणाम

संजातमात्रे न करोति मूढः
क्रियां नरो यो विषये प्रसक्तः।

कालेन शोथक्रिमिदाहपाके-
विशीर्णशिश्नो म्रियते स तेन ॥५॥

जो मूर्ख व्यक्ति उपदंश होते ही चिकित्सा नहीं करता तथा विषय-लिप्त रहता है, कालान्तर में उसकी जननेन्द्रिय शोथ, क्रिमि, दाह और पाक होने से गल जाती है और इस से उसकी मृत्यु हो जाती है।

लिंगवर्ति अथवा लिंगार्श

अङ्कुरैरिव संघातैरुपर्युपरि संस्थितैः ।
क्रमेण जायते वर्तिस्ताम्रचूडशिखोपमा ॥६॥
कोषस्याभ्यन्तरे सन्धौ सर्वसन्धिगताऽपि वा ।
(सवेदना पिच्छिला च दुश्चिकित्स्या त्रिदोषाज।)
लिङ्गवर्तिरभिख्याता लिङ्गार्श इति चापरे ॥७॥

एक के ऊपर एक स्थित अंकुरों के संचय से मुर्गे की चोटी के समान वर्ति (वत्ती) कोष (शिश्न का आवरण) के भीतर संधि (आवरण और शिश्न-मुण्ड के मिलने का स्थान) में, अथवा पूरी संधि (शिश्न के निचले भाग में सीवन कहलाने वाला भाग) में क्रमशः उत्पन्न होती है। (यह वेदनायुक्त, पिच्छिल, कष्टसाध्य एवं त्रिदोषज होती है। वह लिंगवर्ति कहलाती है; दूसरे इसे लिंगार्श कहते हैं।

पाश्चात्य मत—

I उपदंश (*Loft sore, Soft chancre or chancroid*)—इसकी उत्पत्ति पूयोत्पादक जीवाणुओं, विशेषतः डुक्रे के दण्डाणुओं (*Ducrey's Baccili*) के द्वारा होती है। चयकाल २-५ दिनों का है। प्रारम्भ में छोटी छोटी पिडकाओं की उत्पत्ति होती है जो शीघ्र ही व्रणों में परिवर्तित हो जाती हैं व्रणों के किनारे अनियमित एवं स्पष्ट कटे हुये रहते हैं, पीला पूय निकलता है, रक्तस्राव की प्रवृत्ति रहती है और पीड़ा अत्यधिक होती है। फिरंग के समान उभरे हुये किनारे नहीं रहते। इनका स्थान पुरुषों के शिश्नावरण, सीवन या मूत्र द्वार पर तथा स्त्रियों की भगशिश्निका (*clitoris*) या लघुभगोष्ठ पर होता है। ये व्रण स्राव लगने से फैलते हैं और परस्पर मिलकर एक बड़ा व्रण भी बना सकते हैं। अधिकतर इनकी संख्या एक से अधिक रहती है। इनके कारण निरुद्ध प्रकाश हो सकता है। अधिकतर वंक्षण की लसग्रंथियां आक्रांत हो जाती हैं और उनमें पाक होकर विद्रधि बनते हैं। यदि योग्य उपचार न हो तो यह रोग समूचे शिश्न में फैलकर दुर्दशा कर दे सकता है। सार्वदैहिक प्रसार नहीं होता। पीड़ा के कारण ज्वर आ सकता है।

II फिरंग (*Syphilis*) गर्मी या आतशक–इसकी उत्पत्ति फिरंग चक्राणु (*spirochaeta Pallida*) के उपसर्ग से होती है। संक्रमण वयस्कों में मैथुन के द्वारा और भ्रूणों में रक्त से होता है, पूयलिप्त वस्त्रादि के द्वारा भी कभी कभी होता है। कई आचार्यों के मत से संक्रमण के लिये क्षत की उपस्थिति आवश्यक है चाहे वह कितना भी छोटा क्यों न हो। चयकाल १०-९० दिनों का है। आप्त और सहज भेद से यह रोग २ प्रकार का है।

अ. आप्त फिरंग (*Acquired syphilis*)–इसकी चार अवस्थाएं होती हैं।

१. प्रथम अवस्था (*Primary stage*) अथवा प्राथमिक फिरंग ((*Primary syphilis*)—इस अवस्था में शिश्नावरण या शिश्नमुण्ड पर तथा स्त्रियों के भगोष्ठ पर एक चपटी पिडका निकलती जो या तो बिना ध्यान आकर्षित किये ही लुप्त हो जाती है अथवा शीघ्र ही व्रण का रूप धारण कर लेती है। व्रण में पीड़ा नहीं होती या अत्यल्प होती है, तल भाग कठोर एवं उभरा हुआ रहता है और रोपण होने पर एक कठोर एवं मोटा धब्बा रह जाता है। व्रण प्रायः एक ही हुआ करता है। आस पास की वंक्षणीय लसग्रन्थियां सूज जाती हैं किन्तु पाक नहीं होता, द्वितीयक उपसर्ग होने पर पाक हो भी सकता है।

२. द्वितीय अवस्था (*second stage*) अथवा द्वितीयक फिरंग (*Secondary Syphilis*)— यह

अवस्था प्राथमिक व्रण की उत्पत्ति के लगभग ६ सप्ताह बाद उत्पन्न होती है। सारे शरीर की त्वचा तथा मुख गले एवं जननेन्द्रिय की श्लैष्मिक कलाओं में गुलाबी वर्ण के चकत्ते (*Roseda*) निकलते हैं। हाथ-पैरों एवं सिर में दर्द के साथ ज्वर रहता है, कभी कभी मस्तिष्कावरण प्रक्षोभ के लक्षण उत्पन्न होते हैं। सारे शरीर की लसग्रंथियों की वृद्धि होती है। उपवर्णिक रक्तक्षय और श्वेतकायाणूत्कर्ष होता है। गुदा, भगोष्ठ आदि में फिरंगार्बुद (*Condyloma*) की उत्पत्ति होती है।

३. तृतीय अवस्था(*Third Stage*) अथवा तृतीयक फिरंग (*Tertiary Syphilis*)-यह अवस्था लगभग ३-४ वर्ष बाद उत्पन्न होती है। इसमें रक्तवाहिनियों की भीतरी दीवारों का प्रदाह होकर मोटापन एवं अवरोध होता है (लगभग यही दशा अन्य शाखाओं में भी होती है किन्तु इस अवस्था में अधिक होती है) जिससे शरीर के विभिन्न आभ्यन्तर एवं बाह्य अंगों में कोथ होकर गोंदार्बुदों (*Gumma*) की उत्पत्ति या तन्तूत्कर्ष होता है जिससे उन उन अंगों के विकारों के लक्षण उत्पन्न होते हैं। कभी कभी इस अवस्था में यकृत-वृद्धि-सह ज्वर पाया जाता है।

४. चतुर्थ अवस्था (*Quarternary Stage*) अथवा वातनाड़ी फिरंग (*Neurosyphilis*)—इस अवस्था में वातनाड़ियों से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार के विकार उत्पन्न होते हैं जिनमें फिरंगज मस्तिष्कावरण प्रदाह, फिरंगज सुषुम्ना प्रदाह, फिरंगज सर्वांगघात, फिरंगी खंजता आदि मुख्य हैं।

ब-सहज फिरङ्ग (Congenital or Inherited Syphilis)—फिरङ्ग के चक्राणु माता के रक्त में से भ्रूण के रक्त में पहुँचते हैं। यदि माता को यह रोग नया नया ही हुआ हो तो मृत-प्रसव की संभावना अधिक रहती है किन्तु ज्यों ज्यों रोग पुराना होता है त्यों त्यों क्रमशः कम दिनों तक जीने वाले और फिर अधिक काल तक जीने वाले बालक उत्पन्न होते हैं। जीने वाले बालकों में निम्न लक्षण पाये जाते हैं—

जन्म के समय—कमजोर एवं दुबला या सामान्य। हाथों और पैरों के भागों में जल या लसिका से पूर्ण स्फोटों की उपस्थिति। बाल अत्यल्प या अत्यधिक।

प्रथम मास में—जननेन्द्रिय के आसपास द्वितीयक फिरङ्ग के समान धब्बे, कभी कभी सर्वाङ्ग में। प्रतिश्याय, स्वरभेद, कर्णपाक, नेत्रकला प्रदाह, तालुप्रदाह, नाखूनों में भद्दापन और कुछ मामलों में प्रावेगिक शोणवतुलिमेह।

तृतीय एवं चतुर्थ मासों में—कोहनी, घुटने, कलाई आदि की संधियों अथवा तरुणास्थियों का प्रदाह गतियों में कमी (अङ्गघात सदृष लक्षण), मुख के कोनों में व्रण, गुदा के पास सद्रव पिडकाएं और फिरङ्गार्बुद, यकृत और प्लीहा की वृद्धि।

फिर दूसरे वर्ष तक—तालुप्रदाह, नेत्र प्रदाह, कपाल की सामने और बाजू की अस्थियों में उभार, पैरों के पंजों का संधिप्रदाह, वृषणप्रदाह और कभी कभी गोन्दार्बुदों की उत्पत्ति होकर चिरकारी व्रण बनना।

आगे बाल्यावस्था में—चिरकारी प्रतिश्याय, स्वरभेद, तालु में छिद्र हो जाना, नाक बैठ जाना, बधिरता, आगे के दांतों में ऊपर की ओर मोटापन तथा नीचे के क्रियाशील भाग में अर्धचन्द्राकार कटाव, नेत्र-कनीनिका में भद्दापन, व्रण या अंधत्व, संधियों एवं अस्थियों का प्रदाह, वृषण प्रदाह, यकृद्दाल्युत्कर्ष, त्वचा में अथवा भीतर गोंदार्बुदों की उत्पत्ति एवं फटना।

उदक शीर्ष (मस्तिष्कावरण में अत्यधिक जल भर जाने से खोपड़ी का आकार बढ़ जाना तथा तालु उभर आना), स्तंभिक अंगघात, फिरंगी खंजता, मस्तिष्क प्रदाह आदि किसी भी समय पर पाये जा सकते हैं।

काहन (*Kahn*) और वासरमैन की प्रतिक्रियाएं आप्त फिरंग में २ सप्ताह बाद अस्त्यात्मक हो जाती

हैं तथा तृतीय अवस्था तक रहती हैं। किन्तु चतुर्थ अवस्था और सहज फिरंग में इन पर विश्वास नहीं किया जा सकता, इन अवस्थाओं में मस्तिष्क-सुषुम्ना द्रव की स्वर्ण-चूर्ण प्रतिक्रिया (Colloidal gold test), वर्तुलि का प्रतिशत और कोषों की संख्या में वृद्धि से निदान किया जाता है।

संक्रामकता प्राथमिक अवस्था में अत्यधिक रहती है; तीसरे वर्ष से घटने लगती है और ६ वर्ष पूरे होते-होते न के बराबर रह जाती है किन्तु इस समय भी माता के द्वारा भ्रूण उपसृष्ट होसकता है।

: ४८ :

शूक दोष

निदान

अक्रमाच्छेफसो वृद्धिं योऽभिवाञ्छति मूढधीः।
व्याधयस्तस्य जायन्ते दश चाष्टौ च शूकजाः ॥१॥

जो मूर्ख एकाएक लिंग की वृद्धि करना चाहता है उसे १८ प्रकार के शूक रोग होते हैं।

वक्तव्य—(२८२) कामी पुरुषों में लिंग को बढ़ाने की इच्छा प्राचीन काल से रही है और आज भी सर्वत्र पायी जाती है; इसी प्रकार स्त्रियों में योनि संकुचित एवं स्तन कठोर करने की इच्छा पायी जाती है। इसके लिए औषधि-योग प्रायः सभी चिकित्सा पद्धतियों में पाये जाते हैं; आयुर्वेद भी इस विषय में अपवाद नहीं है। प्राचीनकाल में वात्स्यायन नामक एक बहुत बड़े यौन-विशेषज्ञ (Sexologist) हुए हैं जिनके द्वारा लिखित कामसूत्र नामक ग्रंथ आज भी आदर की दृष्टि से देखा जाता है तथा अंग्रेजी, जर्मन आदि कई विदेशी भाषाओं में अनूदित हो चुका है। उसी कामसूत्र में लिंग बढ़ाने वाले कुछ प्रयोगों में जलशूक नामक जलजन्तु के सम्मिश्रण का विधान है। उस काल में इन योगों के दुष्प्रयोग से जो उपद्रव हुए उन्हीं का इस अध्याय में वर्णन है। आजकल शूकों को जानने और इस कार्य में प्रयुक्त करने वाला कोई रहा नहीं इसलिए यह रोग केवल ऐतिहासिक महत्व का ही रह गया है। यह अवश्य है कि कभी कभी शूक-रहित लिंगवर्धक प्रलेपों के प्रयोग से तथा अन्य कारणों से भी इस प्रकार के लक्षणों की उत्पत्ति पायी जाती है।

सर्षपिका

गौरसर्षपसंस्थाना शूकदुर्भुग्नहेतुका।
पिडका श्लेष्मवाताभ्यां ज्ञेया सर्षपिका तु सा ॥२॥

शूकों के दुरुपयोग के कारण उत्पन्न सफेद सरसों के समान वातकफज पिडका को सर्षपिका समझना चाहिये।

अष्ठीलिका

कठिना विषमैर्भुग्नैर्वायुनाऽष्ठीलिका भवेत्।

अप्रशस्त शूकों के प्रयोग से (अथवा प्रशस्त शूकों के अप्रशस्त प्रयोगों से) वायु के प्रकोप से कठोर अष्ठीलिका (अष्ठीला सदृष छोटी पिडका) उत्पन्न होती है।

ग्रथित (Fibrosis)

शूकैर्यत् पूरितं शश्वद्ग्रथितं नाम तत् कफात् ॥३॥

जो सदैव शूकों से भरा हुआ (प्रतीत) हो वह कफ से उत्पन्न ग्रथित नामक (शूकदोष) है।

कुम्भिका

कुम्भिका रक्तपित्तोत्था जाम्बवास्थिनिभाऽशुभा।

कुम्भिका रक्तपित्त से उत्पन्न होती है। यह जामुन की गुठली के समान एवं अशुभ (कृष्णवर्ण) होती है।

वक्तव्य—(२८३) रक्तपित्त से स्थानिक रक्त एवं पित्त का प्रकोप समझें।

अलजी

तुल्यजां त्वलजीं विद्याद्यथाप्रोक्तां विचक्षणः ॥४॥

बुद्धिमान् पूर्वोक्त अलजी के समान लक्षणों वाली पिडका को अलजी समझे (अर्थात्, शूकदोषज अलजी में प्रमेह जन्य अलजी नामक प्रमेह पिडका के समान लक्षण होते हैं)।

मृदित

मृदितं पीडितं यच्च संरब्धं वातकोपतः।

मसलने से वातप्रकोप से जो शोथ होता है वह मृदित है।

सम्मूढ़ पिडका

पाणिभ्यां भृशसंमूढेसंमूढपिडका भवेत् ॥५॥

हाथों से अत्यधिक मसलने से सम्मूढ़ पिडका होती है।

वक्तव्य—(२८४) मसलने की प्रवृत्ति शूकजन्य प्रक्षोभ के कारण होती है।

अधिमन्थ

दीर्घा बह्व्यश्च पिडका दीर्यन्ते मध्यतस्तु याः।

सोऽधिमन्थः कफासृग्भ्यां वेदनारोमहर्षकृत् ॥६॥

जो पिडकाएें बड़ी एवं बहुतसी हों तथा जो मध्य भाग में फूटती हों वह कफ और रक्त से उत्पन्न अधिमन्थ (नामक शूकदोष) है। यह वेदना और रोमहर्ष उत्पन्न करता है।

पुष्करिका

पिडका पिडकाव्याप्ता पित्तशोणितसंभवा।

पद्मकर्णिकसंस्थाना ज्ञेया पुष्करिका तु सा ॥७॥

पित्त और रक्त से उत्पन्न कमल की कर्णिका के समान पिडकाओं से व्याप्त पिडका को पुष्करिका समझना चाहिये।

स्पर्शहानि

स्पर्शहानिं तु जनयेच्छोणितं शूकदूषितम्।

शूकों से दूषित रक्त स्पर्शहानि (संज्ञाहीनता, Anaesthesia) उत्पन्न करता है।

उत्तमा

मुद्गमाषोपमा रक्तारक्तपित्तोद्भवा तु या ॥८॥

व्याधिरेषोत्तमा नामशूकाजीर्णनिमित्तजा।

मूंग या उड़द के समान एवं लाल वर्ण की, जो (पिडका) रक्तपित्त से उत्पन्न होती है वह उत्तमा नामक व्याधि है। यह अजीर्ण (अपक्व अथवा भलीभांति न पीसे गये) शूकों से उत्पन्न होती है (अथवा शूकों के अत्यधिक प्रयोग से उत्पन्न होती है)।

शतपोनक

छिद्रैरणुमुखैर्लिंगं चितं यस्य समन्ततः ॥९॥

वातशोणितजो व्याधिः स ज्ञेयः शतपोनकः।

जिस व्याधि में लिंग सूक्ष्म मुख वाले छिद्रों से सर्वत्र समान रूप से व्याप्त हो उसे वात और रक्त से उत्पन्न शतपोनक रोग समझना चाहिये।

त्वक्पाक

वातपित्तकृतो ज्ञेयस्त्वक्पाको ज्वरदाहकृत ॥१०॥

त्वक्पाक (त्वचा का पक जाना, Callulitis) को वात और पित्त से उत्पन्न समझना चाहिये। यह ज्वर और दाह उत्पन्न करता है।

शोणितार्बुद (Haematoma)

कृष्णैः स्फोटैःसरक्ताभिः पिडकाभिर्निपीडितम्।

यस्य वास्तुरुजश्चोग्रा ज्ञेयं तच्छोणितार्बुदम् ॥११॥

जिस (अर्बुद) का स्थान काले स्फोटों और लालपिडकाओं से पीड़ित (व्याप्त) हो और उग्र पीड़ा हो उसे शोणितार्बुद समझना चाहिये।

मांसार्बुद (Myoma)

मांसदोषेण जानीयादर्बुदं मांससंभवम्।

मांसजन्य अर्बुद को मांस की दुष्टि से उत्पन्न समझना चाहिये।

मांसपाक (Gangrene)

शीर्यन्ते यस्य मांसानि यस्य सर्वाश्च वेदनाः ॥१२॥

विद्यात्तं मांसपाकं तु सर्वदोषकृतं भिषक्।

जिस रोगी का (लिंग का) मांस गलगल कर गिरता हो और जिसे सब प्रकार की पीड़ाएं होती हों उसे वैद्य सब दोषों से उत्पन्न (त्रिदोषज) मांसपाक (से पीड़ित) जाने।

विद्रधि (Abscess)

विद्रधिं सन्निपातेन यथोक्तमिति निर्दिशेत् ॥१३॥

सन्निपातज विद्रधि के जो लक्षण कहे जा चुके हैं वे ही (इस) विद्रधि के समझना चाहिये ।

तिलकालक (Gangrene)

कृष्णानि चित्राण्यथवा शूकानि सविषाणि वा ।
पातितानि पचन्त्याशु मेढ्रं निरवशेषतः ॥१४॥
कालानि भूत्वा मांसानि शीर्यन्ते यस्य देहिनः ।
सन्निपातसमुत्थांस्तु तान् विद्यात्तिलकालकान् ॥१५॥

काले, चितकबरे अथवा विषैले शूक लगाये जाने पर शीघ्र ही लिंग को पूर्णतया पका डालते हैं । जिस रोगी (के लिङ्ग) का मांस काला होकर गलगल कर गिरता हो उसे सन्निपात-जन्य तिलकालक नामक व्याधि (से पीड़ित) समझना चाहिये ।

साध्यासाध्यता

तत्र मांसार्बुदं यच्च मांसपाकश्च यः स्मृतः ।
विद्रधिश्च न सिद्ध्यन्ति ये च स्युस्तिलकालकाः ॥१६॥

इनमें मांसार्बुद, मांसपाक, विद्रधि और तिल-कालक असाध्य हैं ।

: ४९ :

कुष्ठरोग

निदान

विरोधीन्यन्नपानानि द्रवस्निग्धगुरूणि च ।
भजतामागतां छर्दिं वेगांश्चान्यान् प्रतिघ्नताम् ॥१॥
व्यायाममतिसन्तापमतिभुक्त्वा निषेविणाम् ।
घर्मश्रमभयार्तानां द्रुतं शीताम्बुसेविनाम् ॥२॥
अजीर्णाध्यशिनां चैव पञ्चकर्मापचारिणाम् ।
नवान्नदधिमत्स्यातिलवणाम्लनिषेविणाम् ॥३॥
माषमूलकपिष्टान्नतिलक्षीरगुडाशिनाम् ।
व्यवायं चाप्यजीर्णेऽन्ने निद्रां च भजतां दिवा ॥४॥
विप्रान् गुरून् धर्षयतां पापं कर्म च कुर्वताम् ।
वातादयस्त्रयो दुष्टास्त्वग्रक्तं मांसमम्बु च ॥५॥
दूषयन्ति स कुष्ठानां सप्तको द्रव्यसंग्रहः ।
अतः कुष्ठानि जायन्ते सप्त चैकादशैव च ॥६॥

विरोधी, द्रव, स्निग्ध एवं भारी अन्न-पान का सेवन करने वालों के; आये हुए वमन के वेग को तथा अन्य वेगों को रोकने वालों के; अतिभोजन करके व्यायाम या तीव्र ताप का सेवन करने वालों के; धूप, परिश्रम एवं भय से व्याकुल होने पर शीघ्र ही शीतल जल का सेवन करने वालों के; कच्चा भोजन एवं भोजन के बाद तुरन्त भोजन करने वालों के; पंचकर्मों में कुपथ्य करने वालों के; नया अन्न, दही, मछली, नमक एवं खटाई का अधिक सेवन करने वालों के; उड़द, मूली, पिट्ठी के बने हुए पदार्थ, तिली, दूध एवं गुड़ खाने वालों के, भोजन पचने के पूर्व ही मैथुन करने एवं दिन में सोने वालों के; विप्रों एवं बड़ों का अपमान तथा पापकर्म करने वालों के वातादि तीनों दोष कुपित होकर त्वचा, रक्त, मांस और जलीय धातु को दूषित कर देते हैं । यह सप्तक (वात, पित्त, कफ, त्वचा, रक्त, मांस और जलीय धातु—इन ७ पदार्थों का समुदाय) कुष्ठों का द्रव्यसंग्रह है अतः (इस सप्तक के दूषित हो जाने से) सात प्रकार के कुष्ठ उत्पन्न होते हैं और इसी तरह ग्यारह प्रकार के भी उत्पन्न होते हैं ।

कुष्ठ (महाकुष्ठ) के भेद

कुष्ठानि सप्तधा दोषैः पृथग्द्वन्द्वैः समागतैः ।
सर्वेष्वपि त्रिदोषेषु व्यपदेशोऽधिकत्वतः ॥७॥

दोषानुसार कुष्ठ के सात प्रकार हैं—पृथक् दोषों से (वातज, पित्तज एवं कफज), द्वन्द्व से (वात-पित्तज, वातकफज और पित्तकफज) तथा सभी

दोषों से (सन्निपातज)। सभी त्रिदोषज होने पर भी यह विभेद अधिकता के आधार पर किया गया है।

पूर्व रूप

अतिश्लक्ष्णखरस्पर्शस्वेदास्वेदविवर्णताः ।
दाहः कण्डूस्त्वचि स्वापस्तोदः कोठोन्नतिर्भ्रमः ॥८॥
व्रणानामधिकं शूलं शीघ्रोत्पत्तिश्चिरस्थितिः ।
रूढानामपि रूक्षत्वं निमित्तेऽल्पेऽतिकोपनम् ॥९॥
रोमहर्षोऽसृजः कार्ष्ण्यं कुष्ठलक्षणमग्रजम् ।

त्वचा स्पर्श में अत्यन्त चिकनी या अत्यन्त खुरदरी मालूम होना, स्वेद अधिक आना या बिलकुल न आना, विवर्णता, दाह, खुजलाहट, सुप्तता (संज्ञानाश), चुभन, कोठों की उत्पत्ति, भ्रम, व्रणों में अधिक पीड़ा होना, उनका शीघ्र उत्पन्न होना, अधिक काल तक रहना, रोपण हो चुकने पर भी रूक्षता रहना और मामूली कारण उपस्थित होने पर भी व्रणों का अधिक जोर करना, रोमहर्ष और रक्त में कालापन—ये कुष्ठ के पूर्वरूप हैं।

सात महाकुष्ठों के लक्षण

कृष्णारुणकपालाभं यद्रूक्षं परुषं तनु ॥१०॥
कापालं तोदबहुलं तत्कुष्ठं विषमं स्मृतम् ।
रुग्दाहरागकण्डूभिः परीतं रोमपिञ्जरम् ॥११॥
उदुम्बरफलाभासं कुष्ठमौदुम्बरं वदेत् ।
श्वेतं रक्तं स्थिरं स्त्यानं स्निग्धमुत्सन्नमण्डलम् ॥१२॥
कृच्छ्रमन्योन्यसंयुक्तं कुष्ठं मण्डलमुच्यते ।
कर्कशं रक्तपर्यन्तमन्तःश्यावं सवेदनम् ॥१३॥
यदृष्यजिह्वसंस्थानमृष्यजिह्वं तदुच्यते ।
सश्वेतं रक्तपर्यन्तं पुण्डरीकदलोपमम् ॥१४॥
सोत्सेधं च सरागं च पुण्डरीकं तदुच्यते ।
श्वेतं ताम्रं तनु च यद्रजो घृष्टं विमुञ्चति ॥१५॥
प्रायश्चोरसि तत् सिध्ममलाबुकुसुमोपमम् ।
यत्काकणन्तिकावर्णं सपाकं तीव्रवेदनम् ॥१६॥
त्रिदोषलिङ्गं तत्कुष्ठं काकणं नैव सिध्यति ।

जो काला, अरुण वर्ण, खपड़े के समान, रूक्ष, खुरदरा, पतला, अत्यधिक चुभन से युक्त और विषम हो वह 'कापाल' कुष्ठ माना गया है।

पीड़ा, दाह, लाली और खुजलाहट से युक्त, कपिल वर्ण के रोमों से युक्त और गूलर के फल के समान दिखने वाले कुष्ठ को 'औदुम्बर' कुष्ठ कहना चाहिए।

सफेद, लाल, स्थिर, आर्द्र, चिकना, उभरे हुए मण्डलों वाला, कष्टदायक (अथवा कष्टसाध्य) और एक दूसरे से संलग्न मण्डलों वाला कुष्ठ 'मण्डल' कुष्ठ कहलाता है।

कर्कश (खुरदरा अथवा कठोर), किनारों पर लाल, बीच में श्यामवर्ण वेदना युक्त और ऋष्य (रोभू-एक प्रकार का हरिण) की जिह्वा के समान कुष्ठ को 'ऋष्यजिह्व' कुष्ठ कहते हैं।

सफेद और लाल किनारों वाला, लाल कमल की पंखुड़ी के समान, उभरा हुआ और लालिमायुक्त कुष्ठ 'पुण्डरीक' कुष्ठ कहलाता है।

सफेद, ताम्रवर्ण, पतला तथा रगड़ने पर धूल सी निकलती हो और जो लौकी के फूल के समान होता है वह कुष्ठ 'सिध्म' कुष्ठ है। यह अधिकतर छाती पर होता है।

जो घुंघची के समान वर्ण वाला, पाक युक्त, तीव्र वेदना करने वाला तथा त्रिदोष के लक्षणों से युक्त हो वह कुष्ठ 'काकण' कुष्ठ है। यह असाध्य है।

ग्यारह क्षुद्र कुष्ठों के लक्षण

अस्वेदनं महावास्तु यन्मत्स्यशकलोपमम् ॥१७॥
तदेककुष्ठं, चर्माख्यं बहलं हस्तिचर्मवत् ।
श्यावं किणखरस्पर्शं परुषं किटिभं स्मृतम् ॥१८॥
वैपादिकं पाणिपादस्फुटनं तीव्रवेदनम् ।
कण्डूमद्भिः सरागैश्च गण्डैरलसकं चितम् ॥१९॥
सकण्डूरागपिडकं दद्रुमण्डलमुद्गतम् ।
रक्तं सशूलं कण्डूमत् सस्फोटं यद्गलत्यपि ।
तच्चर्मदलमाख्यातं संस्पर्शासहमुच्यते ॥२०॥
सूक्ष्मा बह्व्यः पिडकाः स्राववत्यः
पामेत्युक्ताः कण्डूमत्यः सदाहाः ।

सैव स्फोटैस्तीव्रदाहैरुपेता
ज्ञेया पाण्योः कच्छुरुग्रा स्फिचोश्च ॥२१॥
स्फोटाः श्यावारुणाभासा विस्फोटाः स्युस्तनुत्वचः ।
रक्तं श्यावं सदाहार्ति शतारुः स्यद्बहुव्रणम् ॥२२॥
सकण्डूः पिडका श्यावा बहुस्रावा विचर्चिका ।

जिसमें स्वेद न आता हो, जिसका विस्तार बहुत से भाग में हो और जो मछली की त्वचा के समान हो वह एक-कुष्ठ है। 'चर्म' नामक कुष्ठ हाथी के चमड़े के समान मोटा होता है। श्याम वर्ण, खुरदरा एवं कठोर धब्बा 'किटिभ' कहलाता है। तीव्र पीड़ा सहित हाथ-पैरों का फटना 'वैपादिक' है। 'अलसक' खुजलाने वाले, लालिमायुक्त गण्डों (स्फोटों अथवा पिण्डों) से व्याप्त रहता है।

'दद्रुमण्डल' खुजलाहट, लालिमा और पिडकाओं से युक्त तथा उभरा हुआ रहता है।

लाल, शूलयुक्त, खुजलाने वाला, स्फोटों से युक्त जो गलता भी है और जिसमें स्पर्श सहन नहीं होता वह 'चर्मदल' कहलाता है। जो छोटी छोटी बहुत सी पिडकाऐं स्राव करतीं, खुजलातीं एवं दाह करती हैं वे 'पामा' कहलाती हैं।

हाथों और नितम्बों की वही पामा तीव्र दाह करने वाले स्फोटों से युक्त होने पर 'कच्छू' कहलाती है।

श्याव एवं अरुण आभा से युक्त एवं पतली त्वचा वाले स्फोट 'विस्फोट' हैं।

लाल एवं श्याववर्ण बहुत से व्रणों वाला, दाह एवं पीड़ा से युक्त 'शतारु' होता है।

श्यामवर्णा, बहुत स्राव करने वाली, खुजलाहट युक्त पिडकाएं 'विचर्चिका' हैं।

दोषानुसार लक्षण

खरं श्यावारुणं रूक्षं वातात्कुष्ठं सवेदनम् ॥२३॥
पित्तात्प्रक्वथितं दाहरागस्रावान्वितं मतम् ।
कफात्क्लेद घनं स्निग्धं सकण्डूशैत्यगौरवम् ॥२४॥
द्विलिङ्गं द्वन्द्वजं कुष्ठं त्रिलिङ्गं सान्निपातिकम् ।

वातज कुष्ठ खुरदरा, श्यामवर्ण, अरुणवर्ण, रूक्ष एवं वेदना युक्त होता है।

पित्तज कुष्ठ अत्यन्त पका हुआ, दाह, लाली और स्रावयुक्त माना गया है।

कफज कुष्ठ चिपचिपा, ठोस, चिकना तथा खुजलाहट, शीतलता और भारीपन से युक्त रहता है।

द्वन्द्वज कुष्ठ दो दोषों के लक्षणों वाला और सन्निपातज कुष्ठ तीनों दोषों के लक्षणों वाला होता है।

वक्तव्य—(२८५) यह दूसरे प्रकार से किया गया वर्गीकरण है। ये प्रकार उक्त १८ प्रकारों से पृथक् नहीं हैं।

पृथक् पृथक् धातुओं से कुष्ठ की स्थिति के लक्षण

त्वक्स्थे वैवर्ण्यमङ्गेषु कुष्ठे रौक्ष्यं च जायते ॥२५॥
त्वक्स्वापो रोमहर्षश्च स्वेदस्यातिप्रवर्तनम् ।
कण्डूर्विपूयकश्चैव कुष्ठे शोणितसंश्रिते ॥२६॥
बाहुल्यं वक्त्रशोषश्च कार्कश्यं पिडकोद्गमः ।
तोदः स्फोटः स्थिरत्वं च कुष्ठे मांससमाश्रिते ॥२७॥
कौण्यं गतिक्षयोऽङ्गानां संभेदः क्षतसर्पणम् ।
मेदःस्थानगते लिङ्गं प्रागुक्तानि तथैव च ॥२८॥
नासाभङ्गोऽक्षिरागश्च क्षतेषु क्रिमिसंभवः ।
स्वरोपघातश्च भवेदस्थिमज्जसमाश्रिते ॥२९॥
दम्पत्योः कुष्ठबाहुल्याद्दुष्टशोणितशुक्रयोः ।
यदपत्यं तयोर्जातं ज्ञेयं तदपि कुष्ठितम् ॥३०॥

कुष्ठ के त्वचा (रस) में स्थित होने पर अंगों में विवर्णता, रूक्षता, सुप्ति, रोमहर्ष और स्वेद की अधिक प्रवृत्ति होती है।

कुष्ठ के रक्त में स्थित होने पर खुजलाहट होती है और पूय निकलता है।

कुष्ठ के मांस में स्थित होने पर कुष्ठ की वृद्धि, मुख सूखना, कठोरता, पिडकाओं की उत्पत्ति, चुभन, फटन (अथवा स्फोटों की उत्पत्ति) और स्थिरता होती है।

कुष्ठ के मेद में स्थित होने पर अंगों का गलना,

गतिहीन होना, फटना तथा व्रत का फैलना और पूर्वोक्त लक्षण होते हैं।

कुष्ठ के अस्थि एवं मज्जा में स्थित होने पर नाक बैठ जाना, नेत्रों में लाली, व्रणों में क्रिमियों की उत्पत्ति और स्वरभेद होते हैं।

कुष्ठ की अधिकता से दूषित रक्त और शुक्र वाले दम्पति के जो सन्तान उत्पन्न होती है उसे भी कुष्ठ से पीड़ित जानना चाहिये।

वक्तव्य—(२८६) यह महाकुष्ठ की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन है।

साध्यासाध्यता

साध्यं त्वग्रक्तमांसस्थं वातश्लेष्माधिकं च यत्।
मेदसि द्वन्द्वजं याप्यं वर्ज्यं मज्जास्थिसंश्रितम् ॥३१॥
क्रिमितृड्दाहमन्दाग्निसंयुक्तं तत्त्रिदोषजम्।
प्रभिन्नं प्रस्रुताङ्गं च रक्तनेत्रं हतस्वरम् ॥३२॥
पञ्चकर्मगुणातीतं कुष्ठं हन्तीह मानवम्।

वात एवं कफ की अधिकता से होने वाला कुष्ठ त्वचा, रक्त एवं मांस में स्थित होने पर साध्य है। द्वन्द्वज कुष्ठ मेद में स्थित होने पर याप्य है किन्तु मज्जा एवं अस्थि में स्थित होने पर प्रत्याख्येय है। क्रिमि, तृष्णा, दाह और मंदाग्नि से युक्त त्रिदोषज कुष्ठ भी प्रत्याख्येय है।

जिसके अङ्ग फट गये हों और गलकर गिरते हों (अथवा स्राव होता हो), नेत्र लाल हों, स्वर नष्ट हो गया हो और जो पंचकर्मों के गुणों का लाभ न उठा सके उस मनुष्य को कुष्ठ मार डालता है।

विभिन्न कुष्ठों में दोषोल्बणता

वातेन कुष्ठं कापालं पित्तेनौदुम्बरं कफात् ॥३३॥
मण्डलाख्यं विचर्ची च ऋष्याख्यं वातपित्तजम्।
चर्मैककुष्ठं किटिभं सिध्मालसविपादिकाः ॥३४॥
वातश्लेष्मोद्भवाः श्लेष्मपित्ताद्दद्रुशतारुषी।
पुण्डरीकं सविस्फोटं पामा चर्मदलं तथा ॥३५॥
सर्वैः स्यात्काकणं पूर्वत्रिकं दद्रु सकाकणम्।
पुण्डरीकर्ष्यजिह्वे च महाकुष्ठानि सप्त तु ॥३६॥

वात से कापाल, पित्त से औदुम्बर और कफ से मण्डल कुष्ठ होते हैं। विचर्चिका और ऋष्यजिह्व वातपित्तज होते हैं। चर्मकुष्ठ, एक-कुष्ठ, किटिभ, सिध्म, अलस और विपादिका वातकफज होते हैं। कफ-पित्त से दद्रु, शतारु, पुण्डरीक, विस्फोट, पामा और चर्मदल होते हैं। काकण सब दोषों (त्रिदोष) से होता है। पहले तीन (कापाल, औदुम्बर और मण्डल), दद्रु, काकण, पुण्डरीक और ऋष्यजिह्व ये ७ महाकुष्ठ हैं।

किलास के लक्षण

कुष्ठैकसम्भवं श्वित्रं किलासं वारुणं भवेत्।
निर्दिष्टमपरिस्रावि त्रिधातूद्भवसंश्रयम् ॥३७॥
वाताद्रूक्षारुणं पित्तात्ताम्रं कमलपत्रवत्।
सदाहं रोमविध्वंसि कफाच्छ्वेतं घनं गुरु ॥३८॥
सकण्डुरं क्रमाद्रक्तमांसमेदःसु चादिशेत्।
वर्णेनैवेदृगुभयं कृच्छ्रं तच्चोत्तरोत्तरम् ॥३९॥

कुष्ठ के ही समान कारणों से श्वित्र, किलास और वारुण (अथवा अरुण) की उत्पत्ति होती है। यह स्राव न करने वाला तीन दोषों से उत्पन्न होने वाला और तीन धातुओं (रक्त, मांस और मेद) में स्थित रहने वाला कहा गया है। वात से रूक्ष एवं अरुण वर्ण, पित्त से कमल की पंखुडी के समान ताम्रवर्ण, दाहयुक्त और रोमों का नाश करने वाला तथा कफ से श्वेत, ठोस, भारी एवं खुजलाहट युक्त होता है। वर्ण के क्रम से इनका आश्रय रक्त, मांस और मेद में बतलाना चाहिये। (अर्थात् अरुण वर्ण का किलास रक्तगत, ताम्रवर्ण का मांसगत और श्वेत वर्ण का मेद गत)। ये दोनों ही (व्रणज एवं दोषज, दोषज और कर्मज अथवा मांसगत और मेदगत) उत्तरोत्तर कृच्छ्रसाध्य हैं।

किलास की साध्यासाध्यता

अशुक्लरोमाऽबहुलमसंश्लिष्टमथो नवम्।
अनग्निदग्धजं साध्यं श्वित्रं वर्ज्यमतोऽन्यथा ॥४०॥
गुह्यपाणितलौष्ठेषु जातमप्यचिरन्तनम्।
वर्जनीयं विशेषेण किलासं सिद्धिमिच्छता ॥४१॥

जिसमें रोम श्वेत न हुए हों, जो बहुत अधिक न हो, जो परस्पर मिला हुआ न हो, जो नया हो और जो आग से जलने के फलस्वरूप उत्पन्न न हो वह श्वित्र साध्य है, इसके विपरीत होने पर वर्जित (अचिकित्स्य) है।

जननेन्द्रिय, हाथ, पैर के तलुए और ओठों में उत्पन्न किलास पुराना न होने पर भी सिद्धि चाहने वाले वैद्य के लिये विशेष रूप से वर्जित है।

कुष्ठ की संक्रामकता

प्रसङ्गाद्गात्रसंस्पर्शान्निःश्वासात् सहभोजनात्।
एकशय्यासनाच्चैव वस्त्रमाल्यानुपलेनात् ॥४२॥
कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च।
औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम् ॥४३॥

प्रसंग (संगति अथवा मैथुन), शरीर के स्पर्श, निःश्वास, साथ साथ भोजन करने, एक शय्या पर सोने, एक ही आसन पर बैठने, तथा रोगी के द्वारा उपयोग किये जा चुके वस्त्र, माला एवं लेप का उपयोग करने से कुष्ठ, ज्वर, शोष (राजयक्ष्मा) नेत्राभिष्यन्द और अन्य औपसर्गिक रोग एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य को लग जाते हैं।

पाश्चात्य मत—

I कुष्ठ रोग (Leprosy)—यह एक चिरकारी संक्रामक रोग है जो कुष्ठ दण्डाणु (Mycobacterium leprae) के उपसर्ग से होता है। बाल्यावस्था एवं कमजोरी की अवस्था में संक्रमण की अधिक सम्भावना रहती है। चयकाल अनिश्चित (संभवतः कई माह या कई वर्ष) है। इसके २ मुख्य प्रकार पाये जाते हैं—ग्रन्थिक और वातिक। बहुत से मामलों में दोनों प्रकार संयुक्त रीति से पाये जाते हैं।

अ-ग्रन्थिक कुष्ठ ((Lepromatous leprosy)—स्वास्थ्य गड़बड़ रहना, बारम्बार ज्वर आना, नासागत रक्तपित्त, अजीर्ण, अधिक प्रस्वेद विशेषतः धड़ में निकलना, कमजोरी की उत्तरोत्तर वृद्धि, पेशियों में पीड़ा, परमस्पर्शज्ञता, झुनझुनी, शून्यता आदि लक्षण पूर्वरूप हैं जो लगभग १-२ वर्ष तक रहते हैं। इसके बाद रोग का वास्तविक स्वरूप निम्नलिखित में से किसी एक रूप में प्रगट होता है।

(i) शरीर के किसी भी भाग में एक धब्बे की उत्पत्ति जिसका वर्ण त्वचा के वर्ण की अपेक्षा हल्का रहता है किन्तु किनारे किंचित् उभरे हुये एवं लाल रहते हैं। यह क्रमशः बढ़ता है।

(ii) किसी भी भाग में त्वचा सामान्य रहते हुए भी स्पर्शज्ञान का अभाव।

(iii) उभरे हुए अत्यन्त मृदु धब्बे की उत्पत्ति।

(iv) एक बड़े किन्तु वेदना रहित छाले की आकस्मिक उत्पत्ति।

(v) हाथों या पैरों की वातनाड़ियों में स्पर्शासह्यता।

फिर क्रमशः त्वचा शुष्क एवं चमकदार तथा पतली सी हो जाती है और स्थान स्थान पर फटने भी लगती है। पलकों के तथा अन्य भागों के बाल झड़ते हैं। त्वचा में विशेषतः चेहरे एवं कर्णपाली में ग्रन्थियों और अल्पवर्णिक धब्बों की उत्पत्ति होती है जो क्रमशः बढ़कर चेहरे को ऊंचा नीचा एवं बेडौल कर देते हैं—(सिंह वदन, Leonine face)। क्रमशः सारे शरीर में इसी प्रकार की ग्रन्थियां और धब्बे उत्पन्न होकर त्वचा को विकृत कर देते हैं। फिर इनमें से कुछ में व्रण हो जाते हैं जो कठिनाई से भरते हैं। फिर ग्रन्थियां बनने और व्रणित होने की क्रिया सभी श्लैष्मिक कलाओं एवं बाह्य भागों में चलने लगती है जिससे नासासेतु नष्ट हो जाता है और नाक बैठ जाती है, स्वरयंत्र एवं तालु आदि में व्रण हो जाने से बोलना एवं निगलना कठिन हो जाता है। ज्वर के आक्रमण बार बार होते हैं और प्रतिश्याय लगभग हमेशा ही रहा आता है। यकृत, प्लीहा, आन्त्र, वृक्क, वृषण आदि भी प्रभावित होते हैं।

मृत्यु अत्यधिक दुर्बलता, आभ्यन्तर अंगों की विकृति, ज्वर अथवा यक्ष्मा या फुफ्फुस प्रदाह सदृप

द्वितीयक उपसर्ग होने से होती है।

ब. वातिक कुष्ठ (*Neural leprosy*)—धड़, जांघों, ऊर्ध्व बाहुओं एवं कभी कभी चेहरे की त्वचा में अनेक संज्ञाहीन धब्बों की उत्पत्ति होती है। इनके किनारे किंचित् उभरे हुए एवं लाल रहते हैं तथा पीताभ वर्ण की पिडकाओं से व्याप्त रहते हैं। इससे दाद का भ्रम हो सकता है। शाखाओं में छाले उत्पन्न होते और फूटते हैं। इनका रोपण हो चुकने पर त्वचा में अल्पवर्णिक एवं संज्ञाहीन धब्बे बनते हैं जिनके किनारे गहरे रंग के होते हैं। इनके बाद वातनाड़ियों से सम्बन्धित लक्षण उत्पन्न होते हैं। अधिकतर हाथों एवं पैरों की तथा कभी कभी चेहरे या अन्य भागों की नाड़ियों में कणिक धातु की वृद्धि होती है जिससे अनेक प्रकार की पीड़ाएँ उत्पन्न होती हैं। नाड़ियां क्रमशः अधिक प्रभावित हो चुकने पर अङ्गों में संज्ञाहीनता घात और अपुष्टि होती है। पेशियों का घात एवं अपुष्टि होने पर पेशियां क्रमशः सूखकर अकड़ जाती हैं जिससे अङ्ग विकृत हो जाते हैं। त्वचा की अपुष्टि होने से बाल झड़ जाते हैं और त्वचा फटती है। नाखून विकृत होकर अपुष्ट मांस के ऊपर मुड़ जाते हैं। कभी कभी शीत विद्रधि (*Cold Abscess*) उत्पन्न होते हैं। अस्थियों की भी अपुष्टि होती है जिससे वे लुप्त हो जाती हैं। सन्धियों में भी विकृति होती है, विशेषतः अंगुलियों की सन्धियों में व्रणोत्पत्ति होकर अंगुलियों का नाश होता है। नाक की अस्थियां नष्ट हो जाती हैं, नासा-सेतु बैठ जाता है और भित्ति में छिद्र हो जाता है। गन्ध एवं स्वाद ग्रहण करने की शक्तियां विकृत या नष्ट हो जाती हैं। नेत्रों में भी कई प्रकार के विकार होते हैं किन्तु पूर्ण दृष्टिनाश शायद ही कभी होता है। रोगी प्रायः नपुंसक हो जाता है।

इस प्रकार में रोगी अपेक्षाकृत अधिक समय तक जीवित रहता है। मृत्यु प्रायः अत्यधिक क्षीणता अथवा राजयक्ष्मा, फुफ्फुसप्रदाह, प्रवाहिका आदि उपद्रवों से होती है। प्रारम्भ में चिकित्सा करके रोग की वृद्धि रोकी जा सकती है किन्तु जो विकृतियां उत्पन्न हो चुकती हैं वे स्थायी रहती हैं।

(स) मिश्रित प्रकार—दोनों के मिश्रित लक्षण होते हैं। यह अधिक कष्टदायक एवं घातक है।

वक्तव्य-(२८७) आधुनिक आयुर्वेदाचार्यों का मत है कि सप्त महाकुष्ठ ही वास्तविक कुष्ठ हैं और क्षुद्र कुष्ठ दाद, खाज, खुजली आदि चर्मरोग हैं। किन्तु मेरा मत है कि उक्त १८ कुष्ठ वस्तुतः कुष्ठ ही हैं, सामान्य चर्मरोग नहीं। ऊपर पाश्चात्य मतानुसार दिये गये कुष्ठ के अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन में भी वैपादिक, अलसक, दद्रु मण्डल, चर्मदल, विस्फोट आदि क्षुद्रकुष्ठों के लक्षण स्पष्ट रीति से मिलते हैं और कुष्ठ सम्बन्धी पाश्चात्य बृहत् साहित्य में उक्त १८ कुष्ठों के लक्षण स्पष्ट रूप से पाये जाते हैं इसलिये महाकुष्ठों और क्षुद्रकुष्ठों को अलग अलग मानना उचित नहीं है। उक्त १८ प्रकार पाश्चात्यमतानुसार एक ही कुष्ठ रोग(*Leprosy*) के विभिन्न लक्षण हैं जो अलग अलग रोगियों में तथा रोग की भिन्न भिन्न अवस्थाओं में पाये जाते हैं। चिकित्सकों को यह समझाने की आवश्यकता नहीं है कि एक ही रोग भिन्न भिन्न व्यक्तियों में उनकी प्रकृति आदि के अनुसार भिन्न भिन्न लक्षण उत्पन्न करता है तथा एक ही रोग की विभिन्न अवस्थाओं में भिन्न भिन्न लक्षण पाये जाते हैं।

अब कुछ लोग यह प्रश्न कर सकते हैं कि यदि क्षुद्रकुष्ठ भी कुष्ठ ही हैं तो सामान्य चर्मरोगों का वर्णन कहां है। इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है किन्तु प्रश्न को प्रश्न से ही काटा जा सकता है। मेरा प्रश्न यह है कि यदि क्षुद्र कुष्ठ ही सामान्य चर्मरोग हैं तो इसी ग्रंथ में विस्फोट और पाददारी (विपादिका) का वर्णन दूसरे अध्यायों में पुनः कैसे किया गया है। स्पष्ट है कि विस्फोट, विपादिका आदि के लक्षण कुष्ठ रोग में होने के कारण कुष्ठ रोग में तथा ये रोग पृथक् स्वतंत्र रूप से भी होने के कारण पृथक् अध्यायों में इनका वर्णन किया गया है। क्षुद्रकुष्ठ (विस्फोट, विपादिका आदि) कुष्ठ (Leprosy) से भिन्न होते तो पृथक् रोगों

के रूप में इनका वर्णन पुनः करने की आवश्यकता न थी।

इस सम्बन्ध में अधिक विवेचन फिर कभी करूंगा। यहां फिलहाल अन्य विद्वान् क्षुद्रकुष्ठों के जो पाश्चात्य पर्याय मानते हैं वे केवल, पाठकों की जानकारी के लिये उद्धृत करके इस विचार को समाप्त करता हूँ।

१. एक कुष्ठ (Erythrodermia)
२. चर्मकुष्ठ (Xerodermia Pigmentosa)
३. किटिभ (Proriasis)
४. वैपादिक (Rhagades)
५. अलसक (Lichen)
६. चर्मदल (Excoriation)
७. पामा (Eczema)
८. कच्छू (Scabies)
९. विस्फोट (Bullae)
१०. शतारु (Erythema)
११. विचर्चिका (Eczema)

(ii) श्वित्र (Leucodermia), सफेद दाग, श्वेत-कुष्ठ—इस रोग में त्वचा के थोड़े से भाग में सामान्य वर्ण का अभाव (Hypopigmentation) रहता है किन्तु धब्बे के किनारों पर गहरा वर्ण रहता है (Hyperpigmentation)। वर्ण-हानि के अतिरिक्त त्वचा में अन्य कोई विकार नहीं रहता। वास्तविक कारण अज्ञात है तथापि कुछ मामलों में फिरङ्ग, ऐडीसन का रोग अथवा पाचन-विकारों से इसकी उत्पत्ति पायी जाती है। यह संक्रामक नहीं है।

कुष्ठ जन्य धब्बों से इसका विभेद करना चाहिये; वे अधिक लाल और संज्ञाहीन रहते हैं।

: ५० :

शीतपित्त, उदर्द और कोठ (URTICARIA)

निदान

शीतमारुतसंस्पर्शात्प्रदुष्टौ कफमारुतौ।
पित्तेन सह सम्भूय वहिरन्तर्विसर्पतः ॥१॥

शीतल वायु के स्पर्श से प्रकुपि हुए कफ और वायु पित्त के साथ मिलकर बाहर-भीतर फैलकर (शीतपित्त, उदर्द एवं कोठ की उत्पत्ति करते हैं)।

पूर्वरूप

पिपासारुचिहृल्लासदेहसादाङ्गगौरवम्।
रक्तलोचनता तेषां पूर्वरूपस्य लक्षणम् ॥२॥

प्यास, अरुचि, हृल्लास, शरीर में शिथिलता, अङ्गों में भारीपन और नेत्र लाल होना ये इनके पूर्वरूप हैं।

उदर्द और शीतपित्त

वरटीदष्टसंस्थानः शोथः संजायते वहिः।
सकण्डूस्तोदबहुलश्छर्दिज्वरविदाहवान् ॥३॥
उदर्दमिति तं विद्याच्छीतपित्तमथापरे।
वाताधिकं शीतपित्तमुदर्दस्तु कफाधिकः ॥४॥

बरैया (ततैया या भिड़) के काटे के समान बाहर (त्वचा में) जो शोथ खुजलाहट, अत्यधिक चुभन, वमन, एवं दाह के साथ उत्पन्न होता है उसे उदर्द समझना चाहिए, दूसरे इसे शीतपित्त कहते हैं। शीतपित्त में वायु की और उदर्द में कफ की अधिकता रहती है।

उदर्द

सोत्सङ्गैश्च सरागैश्च कण्डूमद्भिश्च मण्डलैः।
शैशिरः कफजो व्याधिरुदर्द इति कीर्तितः ॥५॥

मध्य में गर्तयुक्त (अथवा परस्पर मिले हुये), लालिमा युक्त और खुजलाने वाले मण्डलों से युक्त

शीत ऋतु में होने वाली कफज व्याधि उदर्द कहलाती।

कोठ

असम्यग्वमनोदीर्णपित्तश्लेष्मान्ननिग्रहैः ।
मण्डलानि सकण्डूनि रागवन्ति बहूनि च ।
उत्कोठः सानुबन्धश्च कोठ इत्यभिधीयते ॥६॥

भलीभांति वमन न होने से ऊपर उठे हुए (अथवा कुपित हुए) पित्त, कफ एवं अन्न के रुकने से उत्पन्न खुजलाहट एवं लालिमा युक्त बहुत से मण्डल कोठ कहलाते हैं, बार बार होने पर उत्कोठ कहलाते हैं।

पाश्चात्य मत—

अनूर्जता (Allergy)—यह शरीर के भीतर कुछ विशेष पदार्थ के विरुद्ध होने वाली प्रतिक्रिया है। इसकी उत्पत्ति कुछ विशेष पदार्थों के खाने, सूंघने स्पर्श आदि से, कीड़ों के आटने, कांटे लगने, उदर में कृमियों की उपस्थिति, शरीर में किसी भी स्थान में पूय उत्पन्न होकर रक्तादि में मिलते रहना आदि कारणों से होती है। कुछ व्यक्तियों में वंशगत रूप से इस प्रकार का विकार अकारण भी पाया जाता है। इसके फलस्वरूप पामा (Eczema अपरस), शीत पित्त (Urticaria), वाहिनी नाड़ी जन्य शोथ (बृहत् शीतपित्त Angioneurotic Oedema), औषधि गन्धज ज्वर (Hay fever), तमक-श्वास, प्रतिश्याय, वमन, अतिसार, आंत्रस्तम्भ, संधि प्रदाह, फुफ्फुसप्रदाह, वृक्क प्रदाह, अन्तर्हृत्प्रदाह आदि की उत्पत्ति होती है।

: ५१ :

अम्लपित्त

निदान एवं परिभाषा

विरुद्धदुष्टाम्लविदाहिपित्त-
प्रकोपिपानान्नभुजो विदग्धम्।
पित्तं स्वहेतूपचितं पुरायत्
तदम्लपित्तं प्रवदन्ति सन्तः ॥१॥

विरुद्ध, दूषित, खट्टे, विदाही एवं पित्तप्रकोपक अन्न-पान का सेवन करने वाले का पहले से अपने कारणों से संचित पित्त विदग्ध हो जाता है, उसे अम्लपित्त कहते हैं।

सामान्य लक्षण

अविपाकक्लमोत्क्लेशतिक्ताम्लोद्गारगौरवैः ।
हृत्कण्ठदाहारुचिभिश्चाम्लपित्तं वदेद्भिषक् ॥२॥

अजीर्ण, थकावट, जी मचलाना, तिक्त (कड़वी) एवं अम्ल (खट्टी) डकारें, भारीपन, हृदयप्रदेश एवं कण्ठ में दाह और अरुचि—इन लक्षणों को देखकर वैद्य अम्लपित्त कहे।

अधोग अम्लपित्त के लक्षण

तृड्दाहमूर्च्छाभ्रममोहकारि
प्रयात्यधो वा विविधप्रकारम्।
हृल्लासकोठानलसादहर्ष-
स्वेदाङ्गपीतत्वकरं कदाचित् ॥३॥

यह कभी कभी तृष्णा, दाह, मूर्च्छा, भ्रम, मोह (बुद्धिनाश), हृल्लास, कोठ, अजीर्ण, हर्ष (रोम हर्ष, अङ्गों में स्फुरण अथवा अग्निहर्ष; अग्निहर्ष से तीक्ष्णाग्नि समझें), स्वेद एवं अङ्गों में पीलापन (कामला) उत्पन्न करता हुआ विविध प्रकार से (अनेक प्रकार के वर्ण, गन्ध, रूप आदि से युक्त होकर) नीचे (गुदा) की ओर जाता है अथवा;

उर्ध्वग अम्लपित्त के लक्षण

वान्तं हरित्पीतकनीलकृष्ण-

मारक्तरक्ताभमतीव चाम्लम् ।
मांसोदकाभं त्वतिपिच्छिलाच्छं
श्लेष्मानुजातं विविधं रसेन ॥४॥
भुक्ते विदग्धे त्वथवाऽप्यभुक्ते
करोति तिक्ताम्लवमिं कदाचित् ।
उद्‌गारमेवंविधमेव कण्ठ
हृत्कुक्षिदाहं शिरसो रुजं च ॥५॥
करचरणदाहमौष्ण्यं महतीमरुचिं
ज्वरं च कफपित्तम् ।
जनयति कण्डूमण्डलपिडका-
शतनिचितगात्ररोगचयम् ॥६॥

वमन होने पर हरा, पीला, नीला, काला, कम अथवा अधिक लाल, खट्टा, मांसजल के समान, तथा अनेक प्रकार के रसों (अम्ल, तिक्त आदि) से युक्त होकर निकलता है। उसके पीछे अत्यन्त पिच्छिल एवं स्वच्छ कफ निकलता है। भोजन करने पर, भोजन विदग्ध होने पर अथवा भोजन न करने पर भी कभी कभी कड़वा एवं खट्टा वमन उत्पन्न करता है। इसी प्रकार डकार के साथ चढ़ने पर कण्ठ हृदय प्रदेश एवं कुक्षि में दाह और सिर में पीड़ा उत्पन्न करता है। यह कफपित्त हाथों एवं पैरों में दाह और उष्णता, अत्यधिक अरुचि एवं ज्वर को उत्पन्न करता है तथा शरीर को खुजली, मण्डल (शीतपित्त आदि) एवं सैकड़ों पिडकाओं से व्याप्त करके रोगों का संग्रह बना देता है।

साध्यासाध्यता

रोगोऽयमम्लपित्ताख्यो
यत्नात् संसाध्यते नवः ।
चिरोत्थितो भवेद्याप्यः
कृच्छ्रसाध्यः स कस्यचित् ॥७॥

यह अम्लपित्त नामक रोग नया होने पर यत्न करने से साध्य है, पुराना होने पर याप्य है तथा किसी किसी का कृच्छ्र-साध्य होता है।

अन्य दोषों का संसर्ग

सानिलं सानिलकफं सकफं तच्च लक्षयेत् ।
दोषलिङ्गेन मतिमान् भिषङ्मोहकरं हि तत् ॥८॥
कम्पप्रलापमूर्च्छाचिमिचिमिगात्रावसादशूलानि ।
तमसो दर्शनविभ्रमविमोहहर्षाण्यनिलकोपात् ॥९॥
कफनिष्ठीवनगौरवजडतारुचिशीतसादवमिलेपाः ।
दहनबलसादकण्डूनिद्राश्चिह्नं कफानुगते ॥१०॥
उभयमिदमेव चिह्नं मारुतकफसंभवे भवत्यम्ले ।
(तिक्ताम्लकटुकोद्‌गारहृत्कुक्षिकण्ठदाहकृत ॥११॥)
भ्रमो मूर्च्छारुचिश्छर्दिरालस्यं च शिरोरुजा ।
प्रसेको मुखमाधुर्यं श्लेष्मपित्तस्य लक्षणम् ॥१२॥

यह वात, वातकफ अथवा कफ सहित भी होता है। बुद्धिमान् वैद्य इसे दोषों के लक्षणों के द्वारा पहचाने। यह वैद्य को धोखा देने वाला होता है।

कम्प, प्रलाप, मूर्च्छा, चुनचुनाहट, अङ्गों में अवसाद एवं शूल, आंखों के आगे अंधेरा छाजाना, घबराहट, बुद्धि भ्रमित होना और हर्ष (रोमहर्ष अथवा अङ्गों में स्फुरण) वात के प्रकोप से होते हैं।

कफ थूकना, भारीपन, निष्क्रियता, अरुचि, शीत लगना, अवसाद, वमन, लेप (मुख कफलिप्त रहना), अग्नि एवं बल का ह्रास, खुजलाहट और निद्रा कफ के अनुबंध से होते हैं ।

ये दोनों ही लक्षण वातकफज अम्लपित्त में होते हैं ।

(हृदय-प्रदेश, कुक्षि एवं कण्ठ में दाह करने वाली कड़वी, खट्टी एवं चरपरी डकारें) भ्रम, मूर्च्छा अरुचि, वमन, आलस्य, सिर में पीड़ा, लार गिरना और मुख में मधुरता रहना कफ पित्त (के प्रकोप) के लक्षण हैं ।

पाश्चात्य मत—

अम्लपित्त को लवणाम्लाधिक्य (Hyper chlorhydria) अथवा अम्लताधिक्य (Hyperacidity) कहते हैं। इसका आमाशय व्रण (Gastric Ulcer) एवं ग्रहणी व्रण (Duodenal Ulcer) से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अम्लता से व्रणोत्पत्ति और

व्रण से अम्लता की उत्पत्ति होती है। आमाशय व्रण अधिकतर वमन, उद्गार एवं दाह उत्पन्न करता है। ग्रहणी-व्रण सामान्यतः विशेष लक्षणों की उत्पत्ति नहीं करता किन्तु अत्यधिक बढ़ जाने पर वमन अथवा अतिसार उत्पन्न करता है। दोनों ही व्रणों के कारण वमन एवं मल में रक्त और पित्त तथा कभी कभी कफ भी निकलते हैं जिससे अनेक वर्णों एवं रसों की सृष्टि होती है।

विशेष अजीर्ण प्रकरण में देखें।

: ५२ :

विसर्प

निदान और भेद

लवणाम्लकटूष्णादिसंसेवादोषकोपतः ।
विसर्पः सप्तधा ज्ञेयः सर्वतः परिसर्पणात् ॥१॥
पृथक् त्रयस्त्रिभिश्चैको विसर्पा द्वन्द्वजास्त्रयः ।
वातिकः पैत्तिकश्चैव कफजः सान्निपातिकः ॥२॥
चत्वार एते वीसर्पा वक्ष्यन्ते द्वन्द्वजास्त्रयः ।
आग्नेयो वातपित्ताभ्यां ग्रन्थ्याख्यः कफवातजः ॥३॥
यस्तु कर्दमको घोरः स पित्तकफसंभवः ।

खारे, खट्टे, चरपरे, उष्ण आदि पदार्थों के अधिक सेवन जन्य दोष प्रकोप से उत्पन्न होने वाला विसर्प रोग सात प्रकार का जानना चाहिये। यह सब ओर फैलने के कारण विसर्प कहलाता है।

पृथक् पृथक् दोषों से तीन, तीनों दोषों से एक और द्वन्द्वज तीन—वातिक, पैत्तिक, कफज, सन्निपातिक, वातपित्तज आग्नेय विसर्प, कफवातज ग्रन्थि विसर्प और पित्तकफज कर्दम विसर्प। कर्दम विसर्प भयंकर है।

दोष दूष्य सम्बन्ध

रक्तं लसीका त्वङ्मांसं दूष्यं दोषास्त्रयो मलाः ॥४॥
विसर्पाणां समुत्पत्तौ विज्ञेयाः सप्त धातवः ।

रक्त, लसीका, त्वचा और मांस दूष्य हैं तथा तीनों दोष (वात, पित्त और कफ) दोषकारक हैं। विसर्प की उत्पत्ति में ये सात धातुएं प्रभावित होती हैं।

वातिक विसर्प

तत्र वातात् स वीसर्पो वातज्वरसमव्यथः ॥५॥
शोथस्फुरणनिस्तोदभेदायासार्तिहर्षवान् ।

वातज विसर्प वातज्वर के समान पीड़ा करने वाला तथा शोथ, स्फुरण (फड़कन), चुभन, फटन, थकावट एवं रोमहर्ष से युक्त रहता है।

पैत्तिक विसर्प

पित्ताद्द्रुतगतिः पित्तज्वरलिङ्गोऽतिलोहितः ॥६॥

पित्त से तेजी के साथ फैलने वाला, पित्तज्वर के समान लक्षणों वाला एवं गहरे लाल रंग का विसर्प होता है।

कफज विसर्प

कफात् कण्डूयुतः स्निग्धः कफज्वरसमानरुक् ।

कफ से खुजलाहटयुक्त, स्निग्ध और कफज्वर के समान पीड़ा करने वाला विसर्प होता है।

सन्निपातज विसर्प

सन्निपातसमुत्थश्च सर्वलिङ्गसमन्वितः ॥७॥

सन्निपातज विसर्प सब दोषों के लक्षणों से युक्त रहता है।

आग्नेय विसर्प

वातपित्ताज्ज्वरच्छर्दिमूर्च्छातीसारतृड्भ्रमैः ।
ग्रन्थिभेदाग्निसदनतमकारोचकैर्युतः ॥८॥

करोति सर्वमङ्गं च दीप्ताङ्गारावकीर्णवत् ।
यं यं देशं विसर्पश्च विसर्पति भवेत् स सः ॥९॥
शान्ताङ्गारासितो नीलो रक्तो वाऽऽशु च चीयते ।
अग्निदग्ध इव स्फोटैः शीघ्रगत्वाद्द्रुतं स च ॥१०॥
मर्मानुसारी वीसर्पः स्याद्वातोऽतिबलस्ततः ।
व्यथतेऽङ्गं हरेत्संज्ञां निद्रां च श्वासमीरयेत् ॥११॥
हिक्कां च स गतोऽवस्थामीदृशीं लभते न ना ।
क्वचिच्छर्मारतिग्रस्तो भूमिशय्यासनादिषु ॥१२॥
चेष्टमानस्ततः क्लिष्टो मनोदेहप्रमोहवान् ।
दुष्प्रबोधोऽश्नुते निद्रां सोऽग्निवीसर्प उच्यते ॥१३॥

वातपित्तज विसर्प ज्वर, वमन, मूर्च्छा, अतिसार, तृष्णा, भ्रम, ग्रन्थियों का फटना, अग्नि की मंदता, तम एवं अरोचक से युक्त रहता है। यह सारे अङ्ग को ऐसा कर देता है जैसे उस पर दहकते हुए अंगार फैला दिये गए हों और विसर्प जिस जिस भाग में फैलता है वह वह भाग कोयले के समान काला, नीला, लाल अथवा आग से जलने से उत्पन्न हुए छालों के समान स्फोटों में व्याप्त हो जाता है। शीघ्रगामी होने के कारण यह विसर्प तेजी से मर्मस्थानों की ओर दौड़ता है जिससे वायु अत्यन्त बलवान होकर शरीर को कष्ट पहुंचाता है, संज्ञा और निद्रा को हर लेता है तथा श्वास और हिक्का को चालू कर देता है। रोगी इस प्रकार की अवस्था में पहुँचने पर अत्यन्त बेचैनी का अनुभव करता है, भूमि, शय्या, आसन आदि में कहीं भी उसे आराम नहीं मिलता तथा वह चेष्टायें (हाथ-पैर पटकना, कांखना, रोना, चिल्लाना, बारबार उठना-बैठना आदि) करता हुआ थक कर मन और देह की मूर्च्छा को प्राप्त होकर ऐसी नींद में सो जाता है जिससे जगाना कठिन है (संन्यास अथवा मृत्यु या संन्यास होकर मृत्यु)। यह अग्नि विसर्प कहलाता है।

ग्रन्थि-विसर्प

कफेन रुद्धः पवनो भित्त्वा तं बहुधा कफम् ।
रक्तं वा वृद्धरक्तस्य त्वक्सिरास्नायुमांसगम् ॥१४॥
दूषयित्वा तु दीर्घाणुवृत्तस्थूलखरात्मनाम् ।
ग्रन्थीनां कुरुते मालां सरक्तां तीव्ररुग्ज्वराम् ॥१५॥
श्वासकासातिसारास्यशोषहिक्कावमिभ्रमैः ।
मोहवैवर्ण्यमूर्च्छाङ्गभङ्गाग्निसदनैर्युताम् ॥१६॥
इत्ययं ग्रन्थिवीसर्पः कफमारुतकोपजः ।

कफ के द्वारा रोका गया वात बहुधा उसी कफ को भेदकर (फैलाकर) अथवा बढ़े हुए रक्त वाले रोगी के त्वचा, सिरा, स्नायु एवं मांस में स्थित रक्त को दूषित करके लम्बी, छोटी, गोल, मोटी (आदि अनेक प्रकार की) ग्रन्थियों की लाल माला उत्पन्न करता है जो तीव्र पीड़ा एवं ज्वर, श्वास, कास, अतिसार, मुख सूखना, हिक्का, वमन, भ्रम, मोह, विवर्णता, मूर्च्छा, अङ्गों का टूटना एवं अग्निमांद्य से युक्त रहती है। यह कफवातज ग्रन्थि विसर्प है।

कर्दम विसर्प

कफपित्ताज्ज्वरः स्तम्भो निद्रा तन्द्रा शिरोरुजा ॥१७॥
अङ्गावसादविक्षेपौ प्रलेपारोचकभ्रमाः ।
मूर्च्छाग्निहानिर्भेदोऽस्थ्नां पिपासेन्द्रियगौरवम् ॥१८॥
आमोपवेशनं लेपः स्रोतसां स च सर्पति ।
प्रायेणामाशयं गृह्णन्नेकदेशं न चातिरुक् ॥१९॥
पिडकैरवकीर्णोऽतिपीतलोहितपाण्डुरैः ।
स्निग्धोऽसितो मेचकाभो मलिनः शोथवान् गुरुः ॥२०॥
गम्भीरपाकः प्राज्योष्मा स्पृष्टः क्लिन्नोऽवदीर्यते ।
पङ्कवच्छीर्णमांसश्च स्पष्टस्नायुसिरागणः ॥२१॥
शवगन्धी च वीसर्पः कर्दमाख्यमुशन्ति तम् ।

कफपित्तज विसर्प में ज्वर, स्तम्भ, (जकड़न), निद्रा, तन्द्रा, सिरदर्द, अङ्गों में अवसाद अङ्गविक्षेपण (हाथ-पैर यहां वहां पटकना), मुख लिप्त रहना, अरुचि, भ्रम, मूर्च्छा, अग्नि की कमी, अस्थियों में फटन, तृष्णा, इन्द्रियों में भारीपन, आमातिसार और स्रोतों का लिप्त रहना—ये लक्षण होते हैं। वह विसर्प आमाशय को ग्रहण करके एक अङ्ग में फैलता है; अधिक पीड़ा नहीं करता; अत्यन्त पीली लाल अथवा पाण्डुवर्ण पिडकाओं से व्याप्त चिकना, काला अथवा हल्का काला, मैला,

शोथयुक्त एवं भारी रहता है; गहराई तक पकने वाला एवं अत्यन्त गरम रहता है; स्पर्श करने पर गीला प्रतीत होता है और फट जाता है; मांस कीचड़ के समान बिखर जाता है; स्नायु, सिरा आदि स्पष्ट दिखाई देने लगते हैं और मुर्दे के समान गन्ध आती है। इस विसर्प को कर्दम विसर्प कहते हैं।

क्षतज विसर्प

बाह्यहेतोः क्षतात् क्रुद्धः सरक्तं पित्तमीरयन् ॥२२॥
वीसर्पं मारुतः कुर्यात्कुलत्थसदृशैश्चितम् ।
स्फोटैः शोथज्वररुजादाहाढ्यं श्यावशोणितम् ॥२३॥

बाह्य हेतुओं से उत्पन्न क्षत से कुपित वायु पित्त और रक्त को प्रेरित करके कुलथी के समान स्फोटों से व्याप्त विसर्प उत्पन्न करता है। इसमें शोथ, ज्वर, पीड़ा और दाह की अधिकता रहती है तथा रक्त काला हो जाता है।

वक्तव्य—(२८८) सद्यः प्रसूता स्त्रियों में प्रसवजन्य क्षतों से तथा नवजात शिशुओं में बाल काटते समय संक्रमण होने से भी इसकी उत्पत्ति होती है।

विसर्प के उपद्रव

ज्वरातिसारौ वमथुस्त्वङ्मांसदरणं क्लमः ।
अरोचकाविपाकौ च विसर्पाणामुपद्रवाः ॥२४॥

ज्वर, अतिसार, वमन, त्वचा और मांस का फटना, थकावट, अरुचि और अजीर्ण विसर्पों (सभी प्रकार के विसर्प) के उपद्रव हैं।

साध्यासाध्यता

सिध्यन्ति वातकफपित्तकृता विसर्पाः
सर्वात्मकः क्षतकृतश्च न सिद्धिमेति ।
पित्तात्मकोऽञ्जनवपुश्च भवेदसाध्यः
कृच्छ्राश्च मर्मसु भवन्ति हि सर्व एव ॥२५॥

वातज, कफज और पित्तज विसर्प साध्य हैं। सन्निपातज और क्षतज विसर्प असाध्य हैं। रोगी का शरीर अंजन के समान काला पड़ चुकने पर पित्तज विसर्प असाध्य हो जाता है और मर्मस्थानों में होने (या पहुँचने) पर सभी विसर्प कृच्छ्रसाध्य हो जाते हैं।

वक्तव्य—(२८९) वातज, पित्तज, कफज सन्निपातज और आग्नेय विसर्पों का इरिसीपेलस (Erysipelas) से अत्यधिक साम्य है इसलिये आधुनिक आयुर्वेदाचार्य इन्हें पर्याय मानते हैं। किन्तु कर्दम विसर्प का गैंग्रीन (Gangrene) से साम्य है इसलिये गैंग्रीन को हिन्दी में केवल 'कर्दम' कहते हैं। ग्रन्थि विसर्प का अत्यधिक साम्य हौजकिन के रोग (Hodgkin's Disease) से है। हौजकिन के रोग में ग्रन्थियों में पीड़ा नहीं होती; सर्वाङ्ग में पीड़ा अवश्य होती है। माधवाचार्य ने स्पष्ट नहीं कहा कि पीड़ा ग्रन्थियों में होती है अथवा सर्वाङ्ग में, इसलिये इन्हें पर्याय मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिये। क्षतज विसर्प पाश्चात्यों के मत से कभी इरिसीपेलस हो सकता है और कभी गैंग्रीन।

पाश्चात्य मत—

(१) विसर्प (Erysipalas)—यह एक तीव्र संक्रामक रोग है जो पूयोत्पादक मालागोलाणु (Streptococcus Pyogenes) के उपसर्ग से उत्पन्न होता है। जीवाणुओं का प्रवेश किसी खरोंच या व्रण में से होता है जहाँ से वे त्वचा की लसवाहिनियों के द्वारा त्वचा और अधस्त्वचा में फैलते हैं। गंदगी, मद्य का व्यसन, मधुमेह, चिरकारी वृक्क प्रदाह, शल्य-कर्म, प्रसव आदि सहायक कारण हैं। चयकाल २-५ दिनों का है।

रोग का आरम्भ कम्पसहज्वर (१०२°–१०४°) से होता है जो लगातार रहता है अथवा अनियमित रूप से घटता बढ़ता है। सिरदर्द, बेचैनी, प्रलाप, वमन, अतिसार आदि लक्षण कुछ रोगियों में कम और कुछ में गंभीर रूप से होते हैं। संक्रमण के स्थान से शोथ आरम्भ होकर तेजी से आस पास फैलता है। शोथ लाल, कड़ा उभरा हुआ, अनियमित किन्तु स्पष्ट उभरे हुए किनारों वाला, स्पर्शासह एवं अत्यन्त पीड़ायुक्त रहता है। आस पास के स्थानों में भी तनाव एवं शोथ रहता है किन्तु लाली नहीं रहती; लसग्रन्थियों में भी शोथ एवं प्रदाह हो जाता है। फिर शोथ के लाल एवं उभरे हुए भाग

में अग्निदग्ध के समान छाले उत्पन्न होते हैं जिनमें से गदला द्रव निकलता है। कभी कभी पूयोत्पत्ति (त्वक्पाक) हो जाती है जिससे रोग अधिक भयङ्कर हो जाता है।

सामान्यतः यह चेहरे पर नाक से आरंभ होता है जिससे चेहरा अत्यन्त वीभत्स हो जाता है। अन्य स्थानों में भी हो सकता है। एक हद तक बढ़ चुकने पर यह स्वयं रुक कर शान्त होने लगता है किन्तु कभी कभी मर्मस्थानों की ओर बढ़कर मृत्युकारक हो सकता है। सामान्यतः इसकी शान्ति ३–७ दिनों में हो जाती है किन्तु कभी कभी सप्ताहों पर्यन्त रह सकता है और कभी कभी बार बार आक्रमण करता है। कुछ मामलों में आक्रान्त त्वचा सदा के लिये मोटी एवं भद्दी (श्लीपद सदृष) हो जाती है।

(२) कर्दम (Gangrene)—शरीर के किसी भी अंग की मृत्यु होकर शव के समान उसका नष्ट होना कर्दम कहलाता है। इसके मुख्य २ भेद हैं—शुष्क और सद्रव।

(अ) शुष्क कर्दम (Dry Gangrene)—इसकी उत्पत्ति रक्त प्रवाह पूर्णतया अवरुद्ध हो जाने से होती है। प्रभावित अङ्ग क्रमशः प्राणरहित होकर सफेद, मटमैला और अन्त में काला पड़कर सूखने लगता है। सीमा के स्थान पर रोपण धातुओं की उत्पत्ति हो जाती है और प्रभावित अङ्ग के त्वचा मांसादि टूट टूट कर झड़ने लगते हैं। अन्त में अस्थि भी झड़ जाती है और एक नुकीला ठूंठ सा रह जाता है।

इसके फैलने की एक निश्चित सीमा रहती है और यह अंग का ही नाश करता है; सम्पूर्ण शरीर का नहीं। यदि इसमें जीवाणुओं का उपसर्ग हो जावे तो सद्रव प्रकार के समान लक्षण हो जाते हैं। पीड़ा बिलकुल नहीं होती, कुछ मामलों में प्रारम्भ में फटन का अनुभव हो सकता है किन्तु रोग स्पष्ट रूप आते आते तक यह लुप्त हो जाती है। गन्ध नहीं आती या अत्यन्त साधारण रहती है।

ब—सद्रव कर्दम (*Wet or moist gangrene*)—इसकी उत्पत्ति वातभी दण्डाणुओं (*Bacillus aerogenes*) तथा अन्य जीवाणुओं के उपसर्ग से होती है। उपसर्ग अधिकतर खरोंच या व्रण में से होता है। प्रभावित भाग की त्वचा गीली एवं क्षीण होजाती है तथा अग्निदग्ध के समान छालों की उत्पत्ति होती है जिनके फूटने पर काले से रङ्ग का द्रव या वायु (वायु कर्दम, *Gas-gangrene*) निकलती है। कभी कभी वायु की अत्यधिक उत्पत्ति होने से वह अङ्ग बुरी तरह फूल जाता है। वहां की त्वचा का वर्ण हरापन लिये हुए काला पड़ जाता है और मुर्दे के सड़ने के समान तीव्र दुर्गन्ध आती है।

यह कर्दम बड़ी तेजी से फैलता है, इसकी कोई सीमा नहीं होती। सड़ांध से उत्पन्न विषैले पदार्थ शरीर भर में फैलकर ज्वरादि गम्भीर एवं मारक उपद्रव उत्पन्न करते हैं। यदि शीघ्र ही शल्य-चिकित्सा (अङ्ग को थोड़े से स्वस्थ भाग सहित काटकर अलग करना) न की जावे तो मृत्यु निश्चित रहती है। कभी कभी प्रभावित अङ्ग अलग करने के बाद दूसरे स्वस्थ अङ्ग में इसकी उत्पत्ति हो जाती है।

यह अत्यन्त संक्रामक एवं मारक होता है। आजकल जीवाणुनाशक औषधियों से कुछ मामलों में लाभ होने लगा है।

(३) हौजकिन का रोग (*Hodgkin's Disease*)—ज्वर प्रकरण में देखें।

: ५३ :

विस्फोट

निदान एवं सम्प्राप्ति

कट्वम्लतीक्ष्णोष्णविदाहिरूक्ष-
क्षारैरजीर्णाध्यशनातपैश्च ।
तथर्तुदोषेण विपर्ययेण
कुप्यन्ति दोषाः पवनादयस्तु ॥१॥
त्वचमाश्रित्य ते रक्तमांसास्थीनि प्रदूष्य च ।
घोरान् कुर्वन्ति विस्फोटान् सर्वान् ज्वरपुरःसरान् ॥२॥

कटु, अम्ल, तीक्ष्ण, उष्ण, विदाही, रूक्ष एवं क्षार पदार्थों से; अजीर्ण, अध्यशन, धूप, ऋतु-दोष और ऋतु विपर्यय से वातादि दोष कुपित होते हैं। फिर वे त्वचा में स्थित होकर रक्त, मांस एवं अस्थियों को दूषित करके ज्वर की उत्पत्ति करके सब प्रकार के विस्फोटों को उत्पन्न करते हैं।

सामान्य लक्षण

अग्निदग्धनिभाः स्फोटाः सज्वरा रक्तपित्तजाः ।
क्वचित् सर्वत्र वा देहे विस्फोटा इति ते स्मृतः ॥३॥

शरीर में कहीं भी अथवा सर्वत्र, ज्वर के साथ, आग से जलने पर उत्पन्न हुए स्फोटों (छालों) के समान, रक्तपित्त से उत्पन्न स्फोट विस्फोट माने गये हैं।

दोषानुसार लक्षण

शिरोरुक्शूलभूयिष्ठं ज्वरस्तृट् पर्वभेदनम् ।
सकृष्णवर्णता चेति वातविस्फोटलक्षणम् ॥४॥
ज्वरदाहरुजास्रावपाकतृष्णाभिरन्वितम् ।
पीतलोहितवर्णं च पित्तविस्फोटलक्षणम् ॥५॥
छर्द्यरोचकजाड्यानि कण्डूकाठिन्यपाण्डुताः ।
अवेदनश्चिरात्पाकी स विस्फोटः कफात्मकः ॥६॥
वातपित्तकृतो यस्तु कुरुते तीव्रवेदनाम् ।
कण्डूस्तैमित्यगुरुभिर्जानीयात्कफवातिकम् ॥७॥
कण्डूर्दाहो ज्वरश्छर्दिरेतैस्तु कफपैत्तिकः ।
मध्ये निम्नोन्नतोऽन्ते च कठिनोऽल्पप्रपाकवान् ॥८॥
दाहरागतृषामोहच्छर्दिमूर्च्छारुजाज्वराः ।
प्रलापो वेपथुस्तन्द्रा सोऽसाध्यः स्यात्त्रिदोषजः ॥९॥

सिरदर्द, अत्यधिक शूल, ज्वर, तृष्णा, सन्धियों में टूटने के समान पीड़ा और कालिमा युक्त वर्ण (छाले का) वातज विस्फोट के लक्षण हैं।

ज्वर, दाह, पीड़ा, स्राव, पाक और तृष्णा से युक्त होना तथा पीला-लाल वर्ण होना पित्तज विस्फोट के लक्षण हैं।

वमन, अरुचि, जड़ता (निष्क्रियता); खुजलाहट, कठोरता, पीताभता, पीड़ा न होना और देर से पाक होना कफज विस्फोट के लक्षण हैं।

जो तीव्र वेदना करता है वह वात पित्तज है।

खुजलाहट, गीलेपन की प्रतीति और भारीपन होने पर कफ-वातज जानो।

खुजलाहट, दाह, ज्वर, एवं वमन—इनसे कफपित्तज जानो।

मध्य में नीचा, किनारों पर उभरा हुआ, कठोर, थोड़ा पकने वाला; दाह, लाली, तृष्णा, मोह, वमन, मूर्च्छा, पीड़ा, ज्वर, प्रलाप, कम्प एवं तन्द्रा से युक्त विस्फोट त्रिदोषज एवं असाध्य होता है।

रक्तज विस्फोट

रक्ता रक्तसमुत्थाना गुञ्जाविद्रुमसन्निभाः ।
वेदितव्यास्तु रक्तेन पैत्तिकेन च हेतुना ॥१०॥
न ते सिद्धिं समायान्ति सिद्धैर्योगशतैरपि ।

रक्तज विस्फोट घुंघची अथवा मूंगे के समान लाल होते हैं। इन्हें रक्त एवं पित्त का प्रकोप करने वाले कारणों से उत्पन्न समझना चाहिये। ये सैकड़ों सिद्ध योगों से भी साध्य नहीं होते।

साध्यासाध्यता

एकदोषोत्थितः साध्यः कृच्छ्रसाध्यो द्विदोषजः ॥
सर्वदोषोत्थितो घोरस्त्वसाध्यो भूर्युपद्रवः ॥११॥

एक दोषज विस्फोट साध्य और द्वन्द्वज कृच्छ्र-साध्य है। सब दोषों से उत्पन्न (त्रिदोषज), अत्यन्त कष्टदायक एवं बहुत से उपद्रवों वाला विस्फोट असाध्य है।

वक्तव्य—(२९०) कुछ लोग विस्फोट को चेचक का पर्याय समझते हैं जो अत्यन्त भ्रमपूर्ण है। चेचक का पर्याय मसूरिका है जिसका वर्णन अगले अध्याय में है। साधारण भाषा में छोटे विस्फोटों को 'बाव' और बड़े विस्फोटों को 'अफो' कहते हैं। लघु-मसूरिका (*Chicken pox*) में भी विस्फोट निकलते हैं।

पाश्चात्य विद्वान छोटे विस्फोट को वैसीकिल (*Vesicle*) और बड़े विस्फोट को (*Bulla*) कहते हैं तथा इनके कई भेद मानते हैं।

: ५४ :

मसूरिका

निदान एवं सम्प्राप्ति

कट्वम्ललवणक्षारविरुद्धाध्यशनाशनैः ।
दुष्टनिष्पावशाकाद्यैः प्रदुष्टपवनोदकैः ॥१॥
क्रूरग्रहेक्षणाच्चापि देशे दोषाः समुद्धताः ।
जनयन्ति शरीरेऽस्मिन् दुष्टरक्तेन सङ्गताः ॥२॥
मसूराकृतिसंस्थानाः पिडकाः स्युर्मसूरिकाः ।

कटु, अम्ल, लवण, क्षार एवं विरुद्ध पदार्थों के सेवन से; भोजन के बाद तुरन्त भोजन करने से, दूषित सेम, शाक आदि के सेवन से, दूषित जलवायु से तथा देश पर क्रूरग्रहों की दृष्टि से भी कुपित हुये दोष दूषित रक्त के साथ मिलकर इस शरीर में मसूर के समान पिडकाएं उत्पन्न करते हैं। ये मसूरिका हैं।

पूर्वरूप

तासां पूर्वं ज्वरः कण्डूर्गात्रभङ्गोऽरतिर्भ्रमः ॥३॥
त्वचि शोथः सवैवर्ण्यो नेत्ररागश्च जायते ।

इनके निकलने के पूर्व ज्वर, खुजलाहट, अङ्गों में टूटने के समान पीड़ा, बेचैनी, भ्रम, त्वचा में विवर्णता सहित शोथ और नेत्रों में लाली की उत्पत्ति होती है।

वातज मसूरिका

स्फोटाः श्यावारुणा रूक्षास्तीव्रवेदनयाऽन्विताः ॥४॥
कठिनाश्चिरपाकाश्च भवन्त्यनिलसंभवाः ।
सन्ध्यस्थिपर्वणां भेदः कासः कम्पोऽरतिः क्लमः ॥५॥
शोषस्ताल्वोष्ठजिह्वानां तृष्णा चारुचिसंयुता ।

वातज (मसूरिका के) स्फोट श्याम एवं अरुण वर्ण के, रूक्ष, तीव्र वेदनायुक्त, कठोर एवं देर से पकने वाले होते हैं तथा संधियों अस्थियों एवं पर्वों में फटन, खांसी, कम्प, बेचैनी; तालु, ओंठ, एवं जीभ का सूखना; तृष्णा और अरुचि से युक्त रहते हैं।

पित्तज मसूरिका

रक्ताः पीतसिताः स्फोटाः सदाहास्तीव्रवेदनाः ॥६॥
भवन्त्यचिरपाकाश्च पित्तकोपसमुद्भवाः ।
विड्भेदश्चाङ्गमर्दश्च दाहस्तृष्णाऽरुचिस्तथा ॥७॥
मुखपाकोऽक्षिरागश्च ज्वरस्तीव्रः सुदारुणः ।

पित्तप्रकोपजन्य (मसूरिका के) स्फोट लाल, पीले, सफेद, दाह एवं तीव्र पीड़ा से युक्त तथा जल्द पकने वाले होते हैं और इनके साथ अतिसार, अङ्गों में पीड़ा, दाह, तृष्णा, अरुचि, मुखपाक, नेत्रों में लाली और अत्यन्त कष्टदायक तीव्र ज्वर होता है।

रक्तज मसूरिका

रक्तजायां भवन्त्येते विकाराः पित्तलक्षणाः ॥८॥

रक्तज मसूरिका में यही पित्तज लक्षण होते हैं।

कफज मसूरिका

कफप्रसेकः स्तैमित्यं शिरोरुग्गात्रगौरवम् ।
हृल्लासः सारुचिर्निद्रा तन्द्रालस्यसमन्विताः ॥९॥
श्वेताः स्निग्धा भृशं स्थूलाः कण्डूरा मन्दवेदनाः।
मसूरिकाः कफोत्थाश्च चिरपाकाः प्रकीर्तिताः ॥१०॥

कफ थूकना, शरीर गीले वस्त्र से आच्छादित के समान प्रतीत होना, सिरदर्द अङ्गों में भारीपन, हृल्लास, अरुचि, निद्रा, तन्द्रा एवं आलस्य से युक्त श्वेत, स्निग्ध, अत्यन्त स्थूल, खुजलाने वाली, मंद पीड़ा करने वाली तथा देर से पकने वाली मसूरिका कफजन्य कही गयी है।

त्रिदोषज चर्म-मसूरिका

नीलाश्चिपिटविस्तीर्णा मध्ये निम्ना महारुजः।
चिरपाकाः पूतिस्रावाः प्रभूताः सर्वदोषजाः ॥११॥
कण्ठरोधारुचिस्तम्भप्रलापारतिसंयुताः ।
दुश्चिकित्स्याः समुद्दिष्टाः पिडकाश्चर्मसंज्ञिताः ॥१२॥

त्रिदोषज मसूरिका नीलवर्ण, चपटी, विस्तृत, मध्य में दबी हुई, अत्यन्त पीड़ा करने वाली, देर से पकने वाली, दुर्गन्धित स्राव करने वाली तथा संख्या में बहुत अधिक होते हैं और ये कण्ठ में रुकावट (निगलने, बोलने एवं श्वास लेने में अवरोध की प्रतीति), अरुचि, स्तम्भ, प्रलाप एवं बेचैनी से युक्त रहती हैं। ये चर्म (चर्ममसूरिका अथवा मधुकोषकार के मत से चर्मदल) नामक पिडकाएं कृच्छ्रसाध्य कही गई हैं।

रोमान्तिका

रोमकूपोन्नतिसमा रागिण्यः कफपित्तजाः।
कासोरोचकसंयुक्ता रोमान्त्यो ज्वरपूर्विकाः ॥१३॥

रोमकूपों के उभार के समान लाल रंग की कफ पित्तज मसूरिका रोमान्ती (रोमान्तिका) हैं। खांसी एवं अरुचि से युक्त रहती हैं तथा इनकी उत्पत्ति के पूर्व ज्वर आता है।

भिन्न भिन्न धातुओं में स्थिति के अनुसार मसूरिका के लक्षण

तोयबुद्बुदसंकाशास्त्वग्गतास्तु मसूरिकाः।
स्वल्पदोषाः प्रजायन्ते भिन्नास्तोयं स्रवन्ति च ॥१४॥
रक्तस्था लोहिताकाराः शीघ्रपाकास्तनुत्वचः।
साध्या नात्यर्थदुष्टाश्च भिन्ना रक्तं स्रवन्ति च ॥१५॥
मांसस्थाः कठिनाः स्निग्धाश्चिरपाका घनत्वचः।
गात्रशूलतृषाकण्डूज्वरारतिसमन्विताः ॥१६॥
मेदोजा मण्डलाकारा मृदवः किंचिदुन्नताः।
घोरज्वरपरीताश्च स्थूलाः स्निग्धाः सवेदनाः ॥१७॥
संमोहारतिसंतापाः कश्चदाभ्यो विनिस्तरेत्।
क्षुद्रा गात्रसमा रूक्षाश्चिपिटाः किंचिदुन्नताः ॥१८॥
मज्जोत्था भृशसंमोहवेदनारतिसंयुताः ।
छिन्दन्ति मर्मधामानि प्राणनाश हरन्ति हि ॥१९॥
भ्रमरेणेव विद्धानि कुर्वन्त्यस्थीनि सर्वतः।
पक्वाभाः पिडकाःस्निग्धाःसूक्ष्माश्चात्यर्थवेदनाः ॥२०॥
स्तैमित्यारतिसंमोहदाहोन्मादसमन्विताः ।
शुक्रजायां मसूर्यां तु लक्षणानि भवन्ति हि ॥२१॥
निर्दिष्टं केवलं चिह्नं दृश्यते न तु जीवितम्।
दोषमिश्रास्तु सप्तैता द्रष्टव्या दोषलक्षणैः ॥२२॥

त्वचागत (रसगत) मसूरिकाएं पानी के बुलबुलों के समान होती हैं, अल्प दोष से उत्पन्न होती हैं और फूटने पर जलीय धातु का स्राव करती हैं।

रक्तगत मसूरिकाएं लाल, शीघ्र पकने वाली, पतली त्वचा वाली अत्यधिक दोष युक्त न होने पर साध्य होती हैं तथा फूटने पर रक्तस्राव करती हैं।

मांसगत मसूरिकाएं कठोर, स्निग्ध, देर से पकने वाली और मोटी त्वचा वाली होती हैं तथा अंगों में शूल, तृष्णा, खुजलाहट, ज्वर एवं बेचैनी से युक्त रहती हैं।

मेदोगत मसूरिकाएं मण्डलाकार, मृदु, किंचित् उभरी हुई भयंकर ज्वर से युक्त, मोटी, चिकनी तथा पीड़ा, मूर्च्छा, बेचैनी और सन्ताप (उष्णता का अनुभव होना) से युक्त रहती हैं। इनसे शायद ही कोई बचता है।

मज्जागत (तथा अस्थिगत) मसूरिकाएं छोटी, शरीर के समान (वर्ण वाली), रूक्ष, चपटी, किंचित

उभरी हुईं तथा अत्यधिक मूर्च्छा, बेचैनी एवं पीड़ा से युक्त रहती हैं। ये मर्मस्थलों का छेदन कर डालती हैं; शीघ्र ही प्राणों को हर लेती हैं और अस्थियों को सर्वत्र भवरों के द्वारा छिद्रित के समान कर देती हैं।

पकी हुई सी, स्निग्ध, सूक्ष्म एवं अत्यधिक वेदना करने वाली पिडकाएं; शरीर गीले वस्त्र से पोंछे हुए के समान प्रतीत होना, बेचैनी, मूर्च्छा, दाह और उन्माद—ये लक्षण शुक्रगत मसूरिका में होते हैं। इसके सिर्फ लक्षण ही कहे गये हैं (चिकित्सा नहीं कही गयी) क्योंकि जीवित रोगी देखने को नहीं मिलता।

ये सातों ही दोष-मिश्रित रहती हैं। दोषों के अनुसार इन पर विचार करना चाहिये (अथवा 'यह बात दोषों के लक्षणों को देखकर समझी जा सकती है)।

साध्यासाध्यता

त्वग्गता रक्तजाश्चैव पित्तजाः श्लेष्मजास्तथा।
श्लेष्मपित्तकृताश्चैव सुखसाध्या मसूरिकाः ॥२३॥
वातजा वातपित्तोत्थाः श्लेष्मवातकृताश्च याः।
कृच्छ्रसाध्यतमास्तस्माद्यत्नादेता उपाचरेत् ॥२४॥
असाध्याः सन्निपातोत्थास्तासां वक्ष्यामि लक्षणम्।
प्रवालसदृशाः काश्चित् काश्चिज्जम्बूफलोपमाः ॥२५॥
लोहजालसमाः काश्चिदतसीफलसंनिभाः ।
आसां बहुविधा वर्णा जायन्ते दोषभेदतः ॥२६॥
कासो हिक्का प्रमेहश्च ज्वरस्तीव्रः सुदारुणः।
प्रलापश्चारतिर्मूर्च्छा तृष्णा दाहोऽतिघूर्णता ॥२७॥
मुखेन प्रस्रवेद्रक्तं तथा घ्राणेन चक्षुषा।
कण्ठे घुर्घुरकं कृत्वा श्वसित्यत्यर्थवेदनम् ॥२८॥
मसूरिकाभिभूतस्य यस्यैतानि भिषग्वरैः।
लक्षणानि च दृश्यन्ते न दद्यादत्र भेषजम् ॥२९॥
मसूरिकाभिभूतो यो भृशं घ्राणेन निःश्वसेत्।
स भृशं त्यजति प्राणान् तृषार्तो वायुदूषितः ॥३०॥

त्वचागत, रक्तज, पित्तज तथा कफपित्तज (रोमान्तिका) मसूरिकाएं सुखसाध्य हैं।

वातज, वातपित्तज और वात कफज अत्यन्त कृच्छ्रसाध्य हैं इसलिये इनकी चिकित्सा यत्न के साथ करनी चाहिये।

सन्निपातज मसूरिकाएं असाध्य हैं, उनके लक्षण कहता हूँ—कोई मूंगे के समान, कोई जामुन के समान, कोई लोहे की जाली के समान और कोई अलसी के फल के समान होती हैं; दोष भेद से इनमें अनेक प्रकार के वर्ण उत्पन्न होते हैं।

कास, हिक्का, प्रमेह, भयंकर तीव्र ज्वर, (परम ज्वर, *Hyperpyrexia*), प्रलाप, बेचैनी, मूर्च्छा, तृष्णा, दाह, अत्यधिक चक्कर आना) मधुकोषकार के मत से 'जम्हाई आना'); मुख, नाक या नेत्रों से रक्तस्राव होना, कण्ठ में घुर्घराहट और अत्यन्त वेदना के साथ श्वसन—मसूरिका से पीड़ित जिस रोगी में ये लक्षण दिखाई पड़ें उसे औषधि नहीं देनी चाहिये (क्योंकि बचेगा नहीं)।

मसूरिका से पीड़ित जो रोगी वायु दूषित हो जाने के कारण नाक से अत्यधिक श्वास छोड़ता हो तथा प्यास से व्याकुल हो वह निश्चय ही प्राण त्याग देता है।

उपद्रव

मसूरिकान्ते शोथः स्यात् कूर्परे मणिबन्धके।
तथांऽसफलके चापि दुश्चिकित्स्यः सुदारुणः ॥३१॥

मसूरिका के अन्त में कूर्पर (कोहनी), मणिबन्ध (कलाई) तथा अंसफलक (कन्धे) पर भी अत्यन्त कष्टदायक एवं दुश्चिकित्स्य (मधुकोषकार के मत से असाध्य) शोथ उत्पन्न हो सकता है।

पाश्चात्य मत—

(१) मसूरिका, चेचक (*Small pox, variola*)—यह एक विषाणु (*Virus*) से उत्पन्न तीव्र संक्रामक रोग है जो रोगी की त्वचा के खुरण्टों, वस्त्रों एवं प्रत्यक्ष सम्पर्क से फैलता है। सामान्यतः बालक ही आक्रान्त होते हैं किन्तु वैसे आयु का कोई बंधन नहीं है। शीत और बसन्त ऋतुओं में यह अधिक फैलता है।

प्रारम्भ में अचानक कंपकंपी लगकर या आक्षेप आकर तीव्र ज्वर (१०३°-१०४°) उत्पन्न होता है जिसके साथ तीव्र सिरदर्द, कमर में पीड़ा, हृल्लास, वमन, प्रलाप, मलावरोध, मलावृत्त जिह्वा, श्वास-दुर्गन्ध आदि लक्षण रहते हैं। दूसरे दिन त्वचा में लाल धब्बे, लालिमा युक्त शोथ अथवा सूक्ष्म कोठ कुछ मामलों में पाये जा सकते हैं। वास्तविक दाने तीसरे दिन प्रकट होते हैं। ये सर्व प्रथम खुले रहने वाले भागों तथा रगड़ एवं दबाव पड़ने वाले भागों में लक्षित होते हैं और फिर सारे शरीर में फैल जाते है। प्रारम्भ में ये छोटे किंचित उभरे हुये लाल धब्बों के रूप में रहते हैं किन्तु तीसरे दिन तक बढ़ कर दाल के बराबर हो जाते हैं और बीच में एक छोटा गड्ढा लक्षित होता है। पांचवें दिन से आठवें दिन तक इनमें पाक होता है; इस समय ये पीताभ वर्ण की उभरी हुई फुन्सियों का आकार धारण करते हैं। नवें दसवें दिन से इनका सुकड़ना और सूखना आरम्भ हो जाता है तथा काले से रङ्ग की पपड़ी (खुरण्ट) निकलने लगती है जो प्रायः सोलहवें दिन तक निकल चुकती है। पपड़ी निकल चुकने पर गहरे दाग शेष रह जाते हैं। बाल और कभी कभी नाखून भी झड़ जाते हैं। प्रारम्भ में चढ़ा हुआ ज्वर पूर्णतया दाने निकल चुकने पर (चौथे या पांचवें दिन) प्रायः पूर्णतया उतर जाता है और सौम्य मामलों में दुबारा नहीं चढ़ता। किन्तु गम्भीर मामलों में पाक होने के समय पर (सातवें दिन) पुनः चढ़ता है और नवें या दसवें दिन अत्यधिक बढ़कर फिर क्रमशः कई दिनों में उतरता है।

प्रकार—

(अ) सौम्य मसूरिका (Mild Variola or Varioloid)—ज्वर हल्का रहता है और केवल प्रारम्भ में हो आता है दुबारा नहीं आता। दाने थोड़े और त्वचा के ऊपरी स्तर में रहते हैं।

(ब) क्षुद्र मसूरिका (Alastrim, Para-Variola Variola Minor)—दाने ४ थे या ५ वें दिन निकलते हैं और जल्द सूखते हैं। दुबारा ज्वर नहीं आता।

(स) गम्भीर या बृहत् मसूरिका (Severe or Confluent Variola)—दाने बहुत अधिक संख्या में निकलते हैं और अत्यन्त पास पास होने के कारण परस्पर मिल जाते हैं। आंख, कान, नाक, मुख, कण्ठ, योनि, गुदा आदि में भी दाने निकलते हैं जिससे उन स्थानों से सम्बंधित उपद्रव होते हैं। अङ्गों में शोथ होता है। ज्वर प्रारंभ से ही तीव्र रहता है। ५ वें दिन थोड़ा कम होता है किन्तु पाक के समय पर पुनः तेज हो जाता है और प्रलाप आदि उपद्रव भी होते हैं। रोगी अत्यन्त वीभत्स हो जाता है और शरीर से दुर्गन्ध आती है। बहुत से मामलों में ज्वर एवं विषमयता बढ़कर अथवा फुफ्फुस नलिका प्रदाह या रक्तस्राव होकर मृत्यु हो जाती है। अन्य मामलों में १२ वें दिन से दशा सुधरने लगती है और फिर शीघ्रता से आरोग्य लाभ होता है। बहुत से रोगी अन्धे-बहरे हो जाते हैं।

(द) रक्तस्रावी मसूरिका (Haemorrhagic Variola)—इसमें तीव्र ज्वर के साथ रक्तपित्त (नीलोहा, Purpura) के सम्पूर्ण लक्षण होते हैं। त्वचा में रक्तस्रावी धब्बे उत्पन्न होते हैं और समस्त श्लैष्मिक कलाओं से रक्तस्राव होता है। ३ से ६ दिनों में मृत्यु हो जाती है। कोई कोई रोगी भाग्य प्रबल होने पर बच भी सकता है।

(इ) गर्भिणी की मसूरिका (Small-pox in Pregnancy)—यह प्रायः गंभीर या रक्तस्रावी प्रकार की हुआ करती है और गर्भपात होने की अत्यधिक सम्भावना रहती है इसलिये प्रायः मारक होती है।

उपद्रव—अनेक प्रकार की पूयोत्पादक क्रियाएं—व्रण, विद्रधि, विसर्प, कर्णपाक, अस्थिमज्जा प्रदाह, कर्णमूलिक ग्रन्थि पाक, फुफ्फुस प्रदाह, ग्रसनिका

प्रदाह, स्वरयंत्र प्रदाह, हृत्पेशी प्रदाह, नेत्रकला प्रदाह, नेत्र-व्रण, वृषण प्रदाह, जननेन्द्रिय में कर्दम (Gangrene), मस्तिष्क प्रदाह, सुषुम्ना प्रदाह, वातनाड़ी प्रदाह आदि, तथा अतिसार, वमन, रक्तातिसार, रक्तमेह, इन्द्रलुप्त, अन्धत्व आदि।

आजकल मसूरी-प्रयोग (टीका) का प्रचार होने से यह रोग बहुत कम पाया जाता है; गंभीर एवं रक्तस्रावी प्रकार और भी कम पाये जाते हैं।

(२) गो-मसूरिका (Vaccinia, Cow-Pox)— इस रोग से पीड़ित गाय का दूध दुहने से संक्रमण होकर केवल अंगुलियों में मसूरिका-सदृष लक्षण उत्पन्न होते हैं। इस रोग के हो चुकने पर मसूरिका के आक्रमण की संभावना अत्यन्त कम रह जाती है। इसी सिद्धान्त के आधार पर मसूरी का आविष्कार हुआ है। इसमें स्थानिक पीड़ा और १-२ दिन हल्का ज्वर रहता है।

मसूरी-प्रयोग (टीका, Vaccination) से भी यही लक्षण होते हैं किन्तु दाने वहीं निकलते हैं जहां टीका लगाया जाता है।

(३) लघु-मसूरिका (Chicken-Pox, Varicella)—यह रोग मसूरिका के ही समान विषाणु-जन्य और संक्रामक है किन्तु उससे भिन्न है। इसका आक्रमण साधारण ज्वर के साथ होता है जो ३-४ दिन से अधिक नहीं ठहरता। पहले ही दिन अथवा दूसरे दिन धड़ में विस्फोट निकलते हैं। इनका आकार मोती के समान होता है तथा ये शीघ्र ही पककर सूख जाते हैं और खुरण्ट निकल जाता है। ये थोड़े थोड़े बार बार निकलते हैं और धड़ से आरंभ होकर हाथों और सिर की ओर फैलते हैं। रोग की शांति २-३ वा अधिक से अधिक ७ दिन में हो जाती है। कुछ दाने मुख एवं गले में भी हो सकते हैं, इनसे व्रण बनते हैं।

कुछ मामले गंभीर प्रकार के हो सकते हैं। इनमें से कुछ में विस्फोट बड़े हो सकते हैं और फूटने पर व्रण बनते हैं-विस्फोटी प्रकार (Bullous Type)। कुछ में विस्फोट अधिक घने होकर कर्दम के समान दशा उत्पन्न करके तीव्र ज्वर आदि उपद्रव करके मृत्यु तक कर सकते हैं—कर्दमी प्रकार (Gangreous Type)। अन्य मामलों में विस्फोट के भीतर तथा कई श्लैष्मिक स्थानों से रक्तस्राव हो सकता है—रक्तस्रावी प्रकार (Haemorrhagic Type)। ये तीनों गंभीर प्रकार उत्तरोत्तर अत्यन्त विरल हैं।

(संभवत आयुर्वेद में विस्फोट नाम से इसी रोग का वर्णन किया गया है।)

(४) रोमान्तिका (Measles)—यह भी एक विषाणु जन्य एवं संक्रामक किन्तु मसूरिका से भिन्न रोग है। इसका आरंभ प्रतिश्याय सहित ज्वर से होता है और ज्वर २ रे या ३ रे दिन उतर कर पुनः ४ थे या ५ वें दिन चढ़ता है तथा इस समय दाने निकलते हैं। ये दाने लाल रंग के ठोस उभार के रूप में उत्पन्न होते हैं, इनमें पाक नहीं होता और खुरण्ट नहीं बनता तथापि रोगमुक्ति के बाद त्वचा का पतला पर्त निकलता है। ये माथे से आरंभ होकर सारे शरीर में निकलते हैं तथा २-३ दिनों में शांत होने लगते हैं। इनके अदृष्य होने के बाद भी त्वचा का वर्ण कुछ बादामी सा रहा आता है किन्तु १०-१५ दिनों में त्वचा का ऊपरी स्तर निकल चुकने पर स्वाभाविक वर्ण आ जाता है। कभी कभी दाने अत्यन्त घने हो सकते हैं। यह सौम्य प्रकार (Mild Type) का वर्णन है।

गम्भीर प्रकार (Severe or Suppressed Measles) में दाने कम निकलते हैं किन्तु विषमयता अधिक होती है। तीव्र-ज्वर, प्रलाप, फुफ्फुस प्रदाह हृदयावसाद (नाड़ी कमजोर, श्वास तीव्र) आदि उपद्रव होते हैं और मृत्यु की संभावना रहती है। तीसरा रक्तस्रावी प्रकार (Haemorrhagic Measles) अत्यन्त विरल है। इसमें रक्तपित्त (नीलोहा, Prupura) के समस्त लक्षण होते हैं और प्रायः मृत्यु हो जाती है।

(५) जर्मन रोमान्तिका (German Measles Rubella)—यह भी विषाणु जन्य-संक्रामक रोग

है किन्तु रोमान्तिका से भिन्न है। यह अत्यन्त सौम्य होता है। साधारण प्रतिश्याय एवं हल्का ज्वर होकर पहले या दूसरे छोटे छोटे लाल दाने मस्तक पर और कानों के पीछे निकलते हैं और फिर सारे शरीर में फैल जाते हैं। ये २४ घंटे में अदृश्य होना शुरू करते हैं और ७२ घंटे में पूर्णतया लुप्त हो जाते हैं। त्वचा का वर्ण नहीं बदलता और त्वचा उधड़ती नहीं है। अनेक लसग्रन्थियों में शोथ और पीड़ा होती है जो दानों के साथ ही शान्त हो जाती है।

५५

क्षुद्र रोग[1]

अजगल्लिका

स्निग्धाः सवर्णा ग्रथिता नीरुजो मुद्गसंनिभाः।
कफवातोत्थिता ज्ञेया बालानामजगल्लिकाः ॥१॥

चिकनी, त्वचा के वर्ण की; गांठदार, पीड़ा-रहित, मूंग के बराबर, कफवात से उत्पन्न, बालकों को होने वाली पिडकाओं को अजगल्लिका समझना चाहिए।

यवप्रख्या

यवाकारा सुकठिना ग्रथिता मांससंश्रिता।
पिडका कफवाताभ्यां यवप्रख्येति सोच्यते ॥२॥

यव के आकार की, अत्यन्त कड़ी, गांठदार, मांस में स्थित कफवातज पिडका यवप्रख्या कहलाती है।

अन्त्रालजी

घनामवक्त्रां पिडकामुन्नतां परिमण्डलाम् ।
अन्त्रालजीमल्पपूयां तां विद्यात्कफवातजाम् ॥३॥

कठोर, मुख-रहित, उभरी हुई, मण्डलयुक्त, थोड़ी पूय वाली कफवातज पिडका को अन्त्रालजी समझना चाहिये ।

वक्तव्य—(२६१) 'अन्त्रालजी' के स्थान पर 'अन्धालजी' पाठान्तर मिलता है।

विवृता

विवृतास्यां महादाहां पक्वोदुम्बरसंनिभाम्।
विवृतामिति तां विद्यात्पित्तोत्थां परिमण्डलाम् ॥४॥

चौड़े मुख वाली, अत्यन्त दाह करने वाली, पके हुए गूलर के समान, मण्डलयुक्त, पित्तज पिडका को विवृता समझना चाहिए।

कच्छपिका

ग्रथिताः पञ्च वा षड्वा दारुणाः कच्छपोपमाः।
कफानिलाभ्यां पिडका ज्ञेयाः कच्छपिका बुधैः ॥५॥

पांच या छः, अत्यन्त कष्टदायक, कछुए के समान आकार बनाती हुई परस्पर ग्रथित, वातकफज पिडकाओं को बुद्धिमान लोग कच्छपिका समझें।

वल्मीक (Actinomycosis)

ग्रीवांसकक्षाकरपाददेशे
सन्धौ गले वा त्रिभिरेव दोषैः।
ग्रन्थिः स वल्मीकवदक्रियाणां
जातः क्रमेणैव गतः प्रवृद्धिम् ॥६॥
मुखैरनेकैः स्रुतितोदवद्भि-
र्विसर्पवत्सर्पति चोन्नताग्रैः।
वल्मीकमाहुर्भिषजो विकारं
निष्प्रत्यनीकं चिरजं विशेषात् ॥७॥

---

[1] इस अध्याय में उन बहुत से रोगों का वर्णन है जिनके लिये पृथक् अध्यायों का निर्माण आवश्यक नहीं समझा गया। प्रायः सभी ग्रन्थकारों ने इस प्रकार का एक-एक अध्याय रखा है। क्षुद्र शब्द वर्णन की क्षुद्रता का द्योतक है।

कण्ठ, कंधे, कांख, हाथ, पैर, सन्धि या गले में तीनों दोषों के प्रकोप से एक ग्रन्थि उत्पन्न होती है। चिकित्सा न करने वालों की यह ग्रन्थि क्रमशः बढ़कर, स्राव और तोद करने वाले अनेक उभरे हुए मुखों से युक्त होकर वल्मीक (बामी, बमीठा) के समान हो जाती है तथा विसर्प के समान फैलती है। इस विशेष रूप से अचिकित्स्य एवं चिरकारी रोग को वैद्य लोग वल्मीक कहते हैं।

वक्तव्य—(२६२) यह रोग एक प्रकार के छत्राणु (Fungus) से उत्पन्न होता है। आधुनिक आयुर्वेदाचार्यों ने इसे 'किरण-कवक-रोग' नाम दिया है। यह शरीर में किसी भी बाह्य या आभ्यन्तर स्थान में उत्पन्न होकर वहां की धातुओं को पूर्णतया नष्ट कर डालता है। मर्म-स्थानों में पहुँचने या उत्पन्न होने पर यह निश्चित रूप से मारक होता है। काटने योग्य स्थानों में होने पर शस्त्र-चिकित्सा से साध्य है। इसकी गति अत्यन्त मन्द होती है और उपेक्षा करने पर फैलता ही जाता है। शतपोनक भगन्दर एवं शूक-दोष इससे उत्पन्न हो सकते हैं।

इन्द्रविद्धा

पद्मकर्णिकवन्मध्ये पिडकाभिः समाचिताम्।
इन्द्रविद्धां तु तां विद्याद्वातपित्तोत्थितां भिषक्॥८॥

कमल की कर्णिका (बीजकोष फल) के समान बीच में पिडकाओं से व्याप्त वातपित्तज पिडका को वैद्य इन्द्रविद्धा जाने।

गर्दभिका

मण्डलं वृत्तमुत्सन्नं सरक्तं पिडकाचितम्।
रुजाकरीं गर्दभिकां तां विद्याद्वातपित्तजाम्॥९॥

गोल, उभरे हुये, रक्तपूर्ण, पिडकाओं से व्याप्त एवं पीड़ा वाले मण्डल को गर्दभिका समझना चाहिए। यह वातपित्तज होता है।

पाषाणगर्दभ

वातश्लेष्मसमुद्भूतः श्वयथुर्हनुसन्धिजः।
स्थिरो मन्दरुजः स्निग्धो ज्ञेयः पाषाणगर्दभः॥१०॥

वातकफ से हनुसंधि में उत्पन्न स्थिर, मन्द पीड़ा करने वाला, स्निग्ध शोथ को पाषाणगर्दभ समझना चाहिए।

वक्तव्य—(२६३) हनुसंधि में कर्णमूलिक ग्रन्थि के प्रदाह या वृद्धि के कारण शोथ होता है। पाषाणगर्दभ से सामान्यतः गलसुआ (Mumps, Epidemic Parotitis) का बोध होता है। यह एक विषाणु से उत्पन्न संक्रामक रोग है जो शीतकाल में बालकों में अधिक फैलता है। इसके ज्वर के साथ एक या दोनों कर्णमूलिक ग्रन्थियों में शोथ होता है जो ३-४ दिनों में स्वतः या सामान्य चिकित्सा से शांत हो जाता है। कभी कभी यह गम्भीर प्रकार का होता है—तीव्र ज्वर, वृषण प्रदाह तथा अन्य सार्वाङ्गिक उपद्रव हो सकते हैं। पाक नहीं होता किन्तु वृषणों की अपुष्टि हो सकती है।

पूयकारी उपसर्गों के कारण होने वाले कर्णमूलिक ग्रन्थि प्रदाह (Septic Parotitis) का वर्णन ज्वर प्रकरण में हो चुका है। राजयक्ष्मा, हैजकिन का रोग, लसग्रन्थियों के अन्य रोग तथा अर्बुद आदि से भी इस प्रकार का शोथ हो सकता है किन्तु वह अधिक चिर-कारी होता है।

पनसिका

कर्णस्याभ्यन्तरे जातां पिडकामुग्रवेदनाम्।
स्थिरां पनसिकां तां तु विद्याद्वातकफोत्थिताम्॥११॥

वात एवं कफ से कान के भीतर उत्पन्न उग्र पीड़ा करने वाली स्थिर पिडका को पनसिका समझना चाहिये।

जाल गर्दभ

विसर्पवत्सर्पति यः शोथस्तनुरपाकवान्।
दाहज्वरकरः पित्तात्स ज्ञेयो जालगर्दभः॥१२॥

पित्त से उत्पन्न होने वाला, दाह एवं ज्वर उत्पन्न करने वाला, पतला एवं न पकने वाला (मधुकोष-कार के मत से 'थोड़ा पकने वाला') जो शोथ विसर्प के समान फैलता है उसे जालगर्दभ समझना चाहिये।

वक्तव्य—(२६४) इसे त्वक्प्रदाह (*Cellulitis*) समझना चाहिये। विसर्प का शोथ मोटा होता है किन्तु इसका पतला होता है।

इरिवेल्लिका

पिडकामुत्तमाङ्गस्थां वृत्तामुग्ररुजाज्वराम् ।
सर्वात्मिकां सर्वलिङ्गां जानीयादिरिवेल्लिकाम् ॥१३॥

सिर में स्थित, गोल, उग्र पीड़ा एवं उग्र ज्वर उत्पन्न करने वाली त्रिदोषज एवं त्रिदोष के लक्षणों से युक्त पिडका को इरिवेल्लिका समझना चाहिये ।

कक्षा

बाहुपार्श्वांसकक्षेषु कृष्णस्फोटां सवेदनाम् ।
पित्तप्रकोपसंभूतां कक्षामित्यभिनिर्दिशेत् ॥१४॥

बाहु, पार्श्व, कन्धे एवं कांख में उत्पन्न, काले स्फोटों से युक्त, पीड़ा करने वाली पित्तज पिडका (अथवा व्याधि) को कक्षा कहना चाहिये ।

गंधमाला

एकामेतादृशींदृष्ट्वा पिडकां स्फोटसंनिभाम् ।
त्वग्गतां पित्तकोपेन गन्धमालां प्रचक्षते ॥१५॥

इसी प्रकार की एक, स्फोट सदृष, त्वचागत, पित्तज पिडका को देखकर गन्धमाला कहना चाहिये।

अग्निरोहिणी

कक्षभागेषु ये स्फोटा जायन्ते मांसदारणाः ।
अन्तर्दाहज्वरकरा दीप्तपावकसंनिभाः ॥१६॥
सप्ताहाद्वा दशाहाद्वा पक्षाद्वा हन्ति मानवम् ।
तामग्निरोहिणीं विद्यादसाध्यां सर्वदोषजाम् ॥१७॥

दहकती हुई आग के समान, अन्तर्दाह और ज्वर उत्पन्न करने तथा मांस को फाड़ने वाले जो स्फोट कक्षभागों (कक्षा, ग्रीवा एवं वंक्षण) में निकलते हैं तथा सात दिन, दस दिन अथवा एक पक्ष में मनुष्य को मार डालते हैं उस असाध्य एवं त्रिदोषज व्याधि को अग्निरोहिणी समझना चाहिये ।

वक्तव्य—(२६५) अग्निरोहिणी वस्तुतः ग्रन्थिक प्लेग (*Bubonic Plague*) है किन्तु अनेक विद्वान यह स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं हैं । उनके द्वारा सामान्यतः जो आपत्तियां प्रस्तुत की जाती हैं उनके उत्तर निम्नलिखित हैं—

(*i*) प्लेग में स्फोट या फफोले नहीं होते किन्तु लसिका ग्रन्थियों का शोथ होकर बड़ी बड़ी गांठें या गिल्टियां उत्पन्न होती हैं ।

उत्तर—'फफोले' के लिये सही पर्याय विस्फोट है, स्फोट नहीं । स्फोट एक अनिश्चित अर्थ वाला शब्द है जो सीमित एवं अत्यन्त उभरे हुए शोथ के लिये प्रयुक्त होता है । इसी ग्रंथ में अन्य स्थानों पर स्फोट का प्रयोग देखिये ।

(*ii*) प्लेग की गांठें प्रायः विदीर्ण नहीं होतीं और पक्वभिन्न होने पर साध्यता निदर्शक होती हैं ।

उत्तर—'मांसदारणाः' शब्द का अर्थ है—'मांस को फाड़ने वाले' । इससे दो आशय सामान्तः लिये जा सकते हैं (१) मांस को फाड़ते हुए गहराई में से उठने वाले और (२) मांस फाड़ने के समान पीड़ा करने वाले । इसलिए फूटने या न फूटने का प्रश्न ही नहीं उठता । प्लेग की गांठ फूटती भी है और नहीं भी फूटती तथा फूटने पर भी रोगी बच ही जावेगा ऐसा कोई निश्चय नहीं रहता । अग्निरोहिणी की गांठें त्रिदोषज होने के कारण कभी फूट सकती हैं और कभी न भी फूटें ।

(*iii*) प्लेग में रोगी की मृत्यु सप्ताह के भीतर होती है जबकि अग्निरोहिणी से मृत्यु का समय सप्ताह से अधिक बतलाया गया है ।

उत्तर—किसी भी रोग से जल्द या देर से मृत्यु होना मनुष्य की जीवनी-शक्ति पर निर्भर रहता है तथा किसी भी रोग से मृत्यु होने का निश्चित समय नहीं बतलाया जा सकता । अन्य सन्निपातों की भी अवधि बतलाई गई है किन्तु कितने रोगी उस अवधि तक जीवित रह पाते हैं ? यह अवधि उस युग के रोगियों के लिये थी आज के रोगियों के लिये नहीं ।

(*iv*) प्लेग संक्रामक है किन्तु अग्निरोहिणी के संबंध में ऐसा नहीं कहा गया ।

उत्तर—इस न्याय से बहुत सी व्याधियां गड़बड़ी में पड़ जावेंगी जैसे, मसूरिका, पाषाणगर्दभ, कास प्रतिश्याय प्रवाहिका आदि । आयुर्वेद में बहुत थोड़े रोगों को संक्रामक कहा गया है ।

(v) प्लेग के समान अग्निरोहिणी के प्रकारों का वर्णन नहीं है।

उत्तर—क्योंकि उनका समावेश ज्वर, अतिसार, श्वास, कास आदि में ही जाता है। आयुर्वेद की वर्गीकरण पद्धति पाश्चात्यों की पद्धति से भिन्न है क्योंकि वे जीवाणुओं का अनुसरण करते हैं और आयुर्वेद त्रिदोष एवं लक्षणों का।

पाश्चात्य मत—

अग्निरोहिणी, प्लेग (Plague)—यह एक तीव्र संक्रामक रोग है जो महामारी के रूप में और कभी कभी फुटकर तौर पर पाया जाता है। इसका उत्पादक अग्निरोहिणी दण्डाणु (B. Pastis or Pasteurella Pastis) सर्वप्रथम चूहों पर आक्रमण करता है जिससे वे रोगी होकर मरने लगते हैं। मरे हुए चूहों के पिस्सू निराश्रय होकर मनुष्यों पर आक्रमण करते हैं और पिस्सूओं के दंश से अ. रो. दण्डाणु मानव शरीर में प्रविष्ट होकर रोगोत्पत्ति करते हैं।

ज्वर आने के पूर्व १–२ दिन रोगी अत्यन्त कमजोरी, अवसाद, सिर एवं हाथ-पैरों में पीड़ा का अनुभव करता है और वह लड़खड़ाता या झूमता हुआ सा चलता है। फिर एकाएक तीव्र ज्वर (१०३°–१०५°) का आक्रमण कंपकंपी लगकर अथवा ऐसे ही होता है। विषमयता के लक्षण स्पष्ट भासित होते हैं—नेत्र लाल एवं धंसे हुए, चेहरा विकृत, जीभ और दांतों पर मैल का जमाव, नाड़ी, कमजोर एवं तीव्र तथा कभी कभी रुक रुक कर चलने वाली, तन्द्रा या प्रलाप, कुछ मामलों में आक्षेप एवं वमन भी। इसके आगे के लक्षण निम्न प्रकारों में विभाजित किये जाते हैं—

(१) ग्रन्थिक अग्निरोहिणी (Bubonic Plague)—तीन चौथाई से अधिक मामलों में १–२ दिनों में सामान्यतः दाहिनी जांघ के पास की वंक्षणीय ग्रन्थियों में तथा कभी कभी कक्षा, कण्ठ, अधोहनु आदि की लसग्रन्थियों में तीव्र पीड़ायुक्त प्रदाहजन्य शोथ उत्पन्न होता है जिसे गिल्टी (Bubo) कहते हैं। इसके बाद ज्वर प्रतिदिन चढ़ने उतरने लगता है और ५–६ दिनों में क्रमशः उतर जाता है और ग्रन्थिशोथ भी शांत हो जाता है। किन्तु यदि पाक हुआ तो ज्वर तब तक रहता है जब तक कि पूय निकल नहीं जाता। अन्य मामलों में विषमयता बढ़कर मृत्यु हो जाती है।

कभी कभी इसके लक्षण अत्यन्त सौम्य (ज्वर और ग्रन्थि शोथ अत्यल्प) होते हैं—'क्षुद्र ग्रन्थिक अग्निरोहिणी (*Pastis Minor*)।

२. अग्निरोहिणी दोषमयता (*Plague Septicaemia, Septicaemic Plague, Pastis Major Pastis Siderans*)—इस प्रकार में जीवाणु रक्त में अधिक से अधिक संख्या में उपस्थित रहते हैं। ज्वर अधिक तीव्र रहता है, विषमयता के लक्षण अधिक उग्र होते हैं (प्रलाप या संन्यास और शय्यालुंचन तथा अंगुलियों का ऐंठना) तथा दूसरे या तीसरे दिन या इसके पूर्व ही एकाएक तेजी के साथ ज्वर उतर जाता है।

लसग्रन्थियों में शोथ पाया जाता है किन्तु अत्यन्त अल्प। अन्य प्रकारों में भी दोषमयता बाद की दशाओं में पायी जा सकती है।

३. अग्निरोहिणीजन्य फुफ्फुस-प्रदाह (*Pneumonic Plague*)—जीवाणुओं का संक्रमण बिन्दूत्क्षेप द्वारा श्वासमार्ग में होने से इसकी उत्पत्ति होती है। ज्वर के साथ फुफ्फुस प्रदाह के उग्र लक्षण (श्वास-कष्ट, श्यावता, थूक रक्तमिश्रित एवं पतला होना, कास, पार्श्वशूल) उत्पन्न होते हैं और ३-४ दिनों में हृदयातिपात से मृत्यु हो जाती है अथवा क्रमशः रोगोपशम होता है।

४. त्वचागत अग्निरोहिणी (*Cellulo-cutaneous Plague, Black-Death*)—इस प्रकार में ज्वरादि के साथ त्वचा में काले धब्बों की उत्पत्ति

होती है जिनमें प्रमेह पिडका के सदृष पाक और व्रणोत्पत्ति अथवा कर्दम के समान सड़न होती है। अधिकांश रोगी मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

५. विस्फोटी अग्निरोहिणी (*Bullous Plague*)–इस प्रकार में शरीर के प्राय: सभी स्थानों की त्वचा में छोटे या बड़े सद्रव विस्फोट निकलते हैं जिनमें पाक होता है।

६. श्वासावरोधी अग्निरोहिणी (*Anginal Plague*)—इस प्रकार में कण्ठशालूकों और ग्रसनिका आदि में शोथ होता है जिससे कण्ठ के भीतर पीड़ा तथा श्वास लेने एवं निगलने में कष्ट होता है। ग्रीवा की लसग्रन्थियों में भी शोथ होकर बाहर गिल्टियों की भी उत्पत्ति हो सकती है।

७. आन्त्रीय अग्निरोहिणी (*Intestinal Plague*)-जीवाणुओं का प्रवेश खाद्य पेयादि के साथ होने से आन्त्र में व्रण हो जाते हैं जिससे तीव्र ज्वर के साथ गम्भीर वमन, अतिसार आदि होते हैं। मल पित्त और रक्त मिश्रित निकलता है।

यह रोग पहले अत्यन्त कठिन एवं मारक माना जाता था। ऊपर मृत्यु आदि का जो उल्लेख है वह चिकित्सा-विहीन रोग का क्रम है। आजकल नई निकली हुई औषधियों से यह रोग प्रारम्भ से ही चिकित्सा करने पर सुखसाध्य है।

चिप्प और कुनख

नखमांसमधिष्ठाय वायुः पित्तं च देहिनाम्।
कुर्वाते दाहपाकौ च तं व्याधिं चिप्पमादिशेत् ॥१८॥
तदेवाल्पतरैर्दोषैः परुषं कुनखं वदेत् ॥१९॥

प्राणियों के नख के मांस में वायु और पित्त स्थित होकर दाह और पाक करते हैं—इस व्याधि को चिप्प (*Onychia Purulenta*) कहना चाहिए।

यही अल्प दोषों से होने पर (नख में) रूखापन उत्पन्न होता है—इसे कुनख (*Onychogryphosis*) कहना चाहिये।

अनुशयी

गम्भीरामल्पसंरम्भां सवर्णामुपरिस्थिताम्।
पादस्यानुशयीं तां तु विद्यादन्तः प्रपाकिनीम् ॥२०॥

गंभीर,अल्पशोथ युक्त,त्वचा के ही वर्ण की, पैर के ऊपरी भाग में स्थित, भीतर ही भीतर पकने वाली (पिडका) को अनुशयी समझना चाहिये।

विदारिका

विदारीकन्दवद्वृत्ता कक्षावङ्क्षणसन्धिषु।
विदारिका भवेद्रक्ता सर्वजा सर्वलक्षणा ॥२१॥

विदारीकन्द के समान गोल, विदारिका (*Axillary and Inguinal Lymphadenitis*) नामक लाल रङ्ग की सब दोषों से उत्पन्न एवं सभी के लक्षणों से युक्त पिडका कांख एवं रान की संधियों में उत्पन्न होती है।

वक्तव्य—(२६६) सामान्य भाषा में कांख में होने वाली विदारिका को कंखरैंटा और रान (वंक्षण) में होने वाली को बद कहते हैं।

शर्करार्बुद

प्राप्य मांससिरास्नायूः श्लेष्मा मेदस्तथाऽनिलः।
ग्रन्थिं करोत्यसौ भिन्नो मधुसर्पिर्वसानिभम् ॥२२॥
स्रवत्यास्रावमनिलस्तत्र वृद्धिं गतः पुनः।
मांसं संशोष्य ग्रथितां शर्करां जनयेत्ततः ॥२३॥
दुर्गन्धि क्लिन्नमत्यर्थं नानावर्णं ततः सिराः।
स्रवन्ति रक्तं सहसा तं विद्याच्छर्करार्बुदम् ॥२४॥

कफ, मेद और वायु मांस, सिरा और स्नायु में स्थित होकर ग्रन्थि उत्पन्न करते हैं। वह फूटने पर शहद, घी एवं चर्बी के समान स्राव करती है। वहां वायु पुनः वृद्धि को प्राप्त होकर मांस को सुखा कर गांठदार शर्करा में परिवर्तित कर देता है। फिर कभी कभी अचानक सिराओं में से दुर्गन्धित, अत्यन्त गंदला तथा अनेक वर्णों का रक्तस्राव होता है। इसे शर्करार्बुद (Sebaceous Horn) समझना चाहिये।

पाददारी (बिवाई, Rhagades)

परिक्रमणशीलस्य वायुरत्यर्थरूक्षयोः ।
पादयोः कुरुते दारीं पाददारीं तमादिशेत् ॥२५॥

अधिक चलने वाले के रूक्ष पैरों में वायु दरार उत्पन्न करता है—उसे पाददारी कहना चाहिये।

कदर (Corn, गोखरू)

शर्करोन्मथिते पादे क्षते वा कण्टकादिभिः ।
ग्रन्थिः कोलवदुत्सन्नो जायते कदरं हि तत् ॥२६॥

पैरों में कंकड़ गड़ने से अथवा कांटे आदि से क्षत होने से बेर के समान उभरी हुई ग्रन्थि उत्पन्न हो जाती है—वह कदर है।

अलसक (कँदरी)

क्लिन्नांगुल्यन्तरौ पादौ कण्डूदाहरुजान्वितौ ।
दुष्टकर्दमसंस्पर्शादलसं तं विभावयेत् ॥२७॥

दूषित कीचड़ के अधिक स्पर्श से पैरों की अंगुलियों के बीच के भाग क्लेदयुक्त तथा खुजलाहट, दाह और पीड़ा से युक्त हो जाते हैं—इसे अलसक कहना चाहिये।

इन्द्रलुप्त (Alopecia)

रोमकूपानुगं पित्तं वातेन सह मूर्च्छितम् ।
प्रच्यावयति रोमाणि ततः श्लेष्मा सशोणितः ॥२८॥
रुणद्धि रोमकूपांस्तु ततोऽन्येषामसंभवः ।
तदिन्द्रलुप्तं खालित्यं रुह्येति च विभाव्यते ॥२९॥

वायु सहित कुपित पित्त रोम कूपों में पहुंचकर रोमों को गिरा देता है। फिर रक्तसहित कफ रोम कूपों को बन्द कर देता है इससे दूसरे रोम की उत्पत्ति नहीं होती। इसे इन्द्रलुप्त, खालित्य तथा रुह्या कहते हैं।

दारुणक (दारुण, Dandruff)

दारुणा कण्डुरा रूक्षा केशभूमिः प्रपाट्यते ।
कफमारुतकोपेन विद्याद्दारुणकं तु तम् ॥३०॥

कफ एवं वात के प्रकोप से केशभूमि कठोर, कण्डूयुक्त और रूक्ष हो जाती है तथा फटती है—इसे दारुणक समझना चाहिये।

अरूंषिका (Favus, Eczema or Pediculosis)

अरूंषि बहुवक्त्राणि बहुक्लेदानि मूर्ध्नि तु ।
कफासृक्क्रिमिकोपेन नृणां विद्यादरूंषिकाम् ॥३१॥

कफ, रक्त और क्रिमियों (बाह्य क्रिमि, जूँ) के प्रकोप से अनेक मुखों वाले, अत्यन्त क्लेद-युक्त व्रण सिर में होने पर अरूंषिका समझना चाहिये।

पलित

क्रोधशोकश्रमकृतः शरीरोष्मा शिरोगतः ।
पित्तं च केशान् पचति पलितं तेन जायते ॥३२॥

क्रोध, शोक एवं श्रम से उत्पन्न गर्मी और पित्त शिर में पहुँच कर बालों को पका देते हैं जिससे पलित (Canities or Premature Grey Hair) रोग उत्पन्न होता है।

युवानपिडका या मुख-दूषिका (मुहांसे, Acne Vulgaris)

शाल्मलीकण्टकप्रख्याः कफमारुतरक्तजाः ।
युवानपिडका यूनां विज्ञेया मुखदूषिकाः ॥३३॥

कफ, वायु और रक्त से उत्पन्न जवानों की सेमल के कांटों के समान प्रतीत होने वाली पिडकायें युवान पिडका या मुख दूषिका कहलाती हैं।

पद्मिनीकण्टक

कण्टकैराचितं वृत्तं मण्डलं पाण्डुकण्डुरम् ।
पद्मिनीकण्टकप्रख्यैस्तदाख्यं कफवातजम् ॥३४॥

कांटों (कांटे सदृष उभारों) से व्याप्त, वृत्ताकार, पाण्डुवर्ण, खुजलाहटयुक्त कफवातज मण्डल को पद्मिनीकण्टक (Papilloma of the Skin) कहते हैं।

जतुमणि

सममुत्सन्नमरुजं मण्डलं कफरक्तजम् ।
सहजं लक्ष्म चैकेषां लक्ष्यो जतुमणिस्तु सः ॥३५॥

एकसा उभरा हुआ पीड़ारहित, कफ रक्तज मण्डल को जतुमणि (Elevated mole) समझना चाहिए। कुछ आचार्यों के मत से यह सहज एवं शुभाशुभसूचक होता है।

मषक

अवेदनं स्थिरं चैव यस्मिन् गात्रे प्रदृश्यते ।
माषवत्कृष्णमुत्सन्नमनिलान्मषकं तु तत् ॥३६॥

वेदना रहित, स्थिर, उडद के समान काला उभार जो शरीर में दिखाई देता है वह वात से उत्पन्न मषक (Melanotic Elevated Mole) है ।

तिलकालक

कृष्णानि तिलमात्राणि नीरुजानि समानि च ।
वातपित्तकफोच्छोषात्तान्विद्यात्तिलकालकान् ॥३७॥

वात और पित्त के द्वारा कफ के सूख जाने से उत्पन्न काले, तिल बराबर, पीड़ा रहित और सम (त्वचा के बराबर उभरा हुआ नहीं) चिह्नों को तिलकालक (Melanotic Non-elevated Mole) समझना चाहिए ।

न्यच्छ

महद्वा यदि वा चाल्पं श्यावं वा यदि वाऽसितम् ।
नीरुजं मण्डलं गात्रे न्यच्छमित्यभिधीयते ॥३८॥

शरीर में उत्पन्न बड़ा या छोटा, श्याववर्ण अथवा कृष्ण वर्ण, पीड़ा रहित मण्डल न्यच्छ (Naevus) कहलाता है ।

व्यङ्ग

क्रोधायासप्रकुपितो वायुः पित्तेन संयुतः ।
मुखमागत्य सहसा मण्डलं विसृजत्यतः ॥३९॥
नीरुजं तनुकं श्यावं मुखे व्यङ्गं तमादिशेत् ।

क्रोध एवं परिश्रम से कुपित वायु पित्त के साथ मिलकर मुख पर आकर मण्डल की उत्पत्ति करता है । इस प्रकार मुख पर उत्पन्न हुए पीड़ारहित, पतले श्याववर्ण मण्डल को व्यङ्ग (Lentigo, Freckles, Sun-burn) कहना चाहिए ।

नीलिका

कृष्णमेवंगुणं गात्रे मुखे वा नीलिकां विदुः ॥४०॥

शरीर अथवा मुख में इन्हीं लक्षणों से युक्त काले मण्डल को नीलिका (Chloasma or Bright's Disease) कहते हैं ।

परिवर्तिका

मर्दनात् पीडनाद्वाऽपि तथैवाप्यभिघाततः ।
मेढ्रचर्म यदा वायुर्भजते सर्वतश्चरन् ॥४१॥
तदा वातोपसृष्टत्वात्तच्चर्म परिवर्तते ।
मणेरधस्तात् कोशश्च ग्रन्थिरूपेण लम्बते ॥४२॥
सरुजां वातसंभूतां तां विद्यात् परिवर्तिकाम् ।
सकण्डूः कठिना चापि सैव श्लेष्मसमुत्थिता ॥४३॥

अत्यधिक मलने, दबाने या अभिघात लगने से जब सारे शरीर में चलते वायु लिंग की त्वचा में स्थित हो जाता है तब वायु से उपसृष्ट होने के कारण वह चर्म उलट जाता है और वह लिंग कोष (Prepuce) मणि के नीचे (पीछे) ग्रन्थि के समान लटकता है । इस परिवर्तिका (Paraphimosis) को पीड़ायुक्त होने पर वातज समझना चाहिए तथा इसी को खुजलाहट-युक्त एवं कठोर होने पर कफज समझना चाहिए ।

अवपाटिका

अल्पीयःखां यदा हर्षाद्बलाद्गच्छेत् स्त्रियं नरः ।
हस्ताभिघातादपि वा चर्मण्युद्वर्तिते बलात् ॥४४॥
यस्यावपाट्यते चर्म तां विद्यादवपाटिकाम् ।

जब पुरुष उत्तेजित होकर बलपूर्वक छोटी योनि वाली स्त्री के साथ मैथुन करता है तब उसका चर्म फट जाता है अथवा हाथ के अभिघात (मसलना) से भी जिसका चर्म बलपूर्वक ऊपर चढ़ाया जाता है उसका भी चर्म फट जाता है । इसे अवपाटिका समझना चाहिए ।

निरुद्धप्रकश

वातोपसृष्टे मेढ्रे वै चर्म संश्रयते मणिम् ॥४५॥
मणिश्चर्मोपनद्धस्तु मूत्रस्रोतो रुणद्धि च ।
निरुद्धप्रकशे तस्मिन् मन्दधारमवेदनम् ॥४६॥
मूत्रं प्रवर्तते जन्तोर्मणिर्न विव्रियते न च ।
निरुद्धप्रकशं विद्यात् सरुजं वातसंभवम् ॥४७॥

जब लिंग वायु से आक्रान्त होता है तब चर्म पर स्थिर हो जाता है और मणि चर्म से कसा रहने के कारण मूत्रस्रोत को अवरुद्ध करता है । इस निरु-

द्धप्रकश (Phimosis) के हो जाने पर रोगी का मूत्र विना पीड़ा उत्पन्न किये मन्द धार से निकलता है और मणि नहीं खुलती। इस वातजन्य एवं पीड़ायुक्त को निरुद्ध-प्रकश समझना चाहिए।

सन्निरुद्ध गुद

वेगसंधारणाद्वायुर्विहतो गुदसंश्रितः।
निरुणद्धि महास्रोतः सूक्ष्मद्वारं करोति च ॥४८॥
मार्गस्य सौक्ष्म्यात् कृच्छ्रेण पुरीषं तस्य गच्छति।
सन्निरुद्धगुदं व्याधिमेतं विद्यात् सुदारुणम् ॥४९॥

वेग धारण करने से कुपित हुआ अपानवायु महास्रोत को अवरुद्ध करके उसका द्वार छोटा कर देता है। मार्ग सूक्ष्म होने से उस रोगी का मल कठिनाई से निकलता है। इस अत्यन्त कष्टदायक व्याधि को सन्निरुद्ध गुद (*Stricture in the Rectum*) समझना चाहिये।

अहिपूतन

शकृन्मूत्रसमायुक्तेऽधौतेऽपाने शिशोर्भवेत्।
स्विन्ने वाऽस्नाप्यमाने वा कण्डू रक्तकफोद्भवा ॥५०॥
कण्डूयनात्ततः क्षिप्रं स्फोटः स्रावश्च जायते।
एकीभूतं व्रणैर्घोरं तं विद्यादहिपूतनम् ॥५१॥

शिशु की गुदा मल-मूत्र से लिप्त रहने से, न धोने से, गीली (अथवा स्वेदयुक्त) रहने से अथवा स्नान न कराने से रक्त और कफ के प्रकोप से खुजलाहट उत्पन्न होती है और फिर खुजलाने से शीघ्र ही स्फोटों और स्राव की उत्पत्ति होती है तथा उनके मिलकर एक हो जाने से भयंकर व्रणों की उत्पत्ति होती है। इस व्याधि को अहिपूतन (*Napkin Rash*) समझना चाहिये।

वृषण-कृच्छ्र

स्नानोत्सादनहीनस्य मलो वृषणसंस्थितः।
यदा प्रक्लिद्यते स्वेदात् कण्डूं जनयते तदा ॥५२॥
कण्डूयनात्ततः क्षिप्रं स्फोटः स्रावश्च जायते।
प्राहुर्वृषणकच्छूं तां श्लेष्मरक्तप्रकोपजाम् ॥५३॥

स्नान एवं उबटन न करने वाले अण्डकोष पर स्थित मैल स्वेद से गीला होजाता है और फिर खुजलाहट उत्पन्न करता है। फिर खुजलाने से शीघ्र ही स्फोटों और स्राव की उत्पत्ति होती है। इस कफ-रक्तज व्याधि को वृषण-कच्छू (*Eczema of the Scrotom*) कहते हैं।

गुद-भ्रंश

प्रवाहणातीसाराभ्यां निर्गच्छति गुदं बहिः।
रूक्षदुर्बलदेहस्य गुदभ्रंशं तमादिशेत् ॥५४॥

रूक्ष एवं दुर्बल शरीर वाले व्यक्तियों की गुदा प्रवाहिका एवं अतिसार के कारण बाहर निकल आती है। इसे गुदभ्रंश (*Prolapsus Ani*) कहना चाहिये।

वराहदंष्ट्र

सदाहो रक्तपर्यन्तस्त्वक्पाकी तीव्रवेदनः।
कण्डूमान् ज्वरकारी च स स्याच्छूकरदंष्ट्रकः ॥५५॥

दाहयुक्त, लाल किनारों वाला, त्वचा का पाक करने वाला, तीव्र वेदना, खुजलाहट और ज्वर करने वाला वह रोग शूकरदंष्ट्र (वराहदंष्ट्र) (*Proctitis*, गुदपाद) कहलाता है।

: ५६ :

मुखरोग

सामान्य हेतु

आनूपपिशितक्षीरदधिमत्स्यातिसेवनात्।
मुखमध्ये गदान् कुर्युः क्रुद्धा दोषाः कफोत्तराः ॥१॥

आनूपदेशीय प्राणियों के मांस, दूध, दही एवं मछली के अत्यधिक सेवन से कफप्रधान दोष कुपित होकर मुख में रोगों की उत्पत्ति करते हैं।

वातज ओष्ठ रोग

कर्कशौ परुषौ स्तब्धौ संप्राप्तानिलवेदनौ।
दाल्येते परिपाट्येते ओष्ठौ मारुतकोपतः ॥२॥

वायु के प्रकोप से ओंठ खुरदरे, रूखे, स्तब्ध एवं वात-वेदना के युक्त रहते हैं तथा फट जाते हैं और चटक जाते हैं।

पित्तज ओष्ठ रोग

चीयेते पिडकाभिश्च सरुजाभिः समन्ततः।
सदाहपाकपिडकौ पीताभासौ च पित्ततः ॥३॥

पित्त के प्रकोप से (ओठ) चारों ओर पीड़ा, दाह और पाक करने वाली पीताभ पिडकाओं से व्याप्त हो जाते हैं।

कफज ओष्ठ रोग

सवर्णाभिश्च चीयेते पिडकाभिरवेदनौ।
भवतस्तु कफादोष्ठौ पिच्छिलौ शीतलौ गुरू ॥४॥

कफ से ओंठ सवर्ण एवं वेदना रहित पिडकाओं से व्याप्त हो जाते हैं तथा पिच्छिल शीतल एवं भारी हो जाते हैं।

सन्निपातज ओष्ठ रोग

सकृत्कृष्णौ सकृत्पीतौ सकृच्छ्वेतौ तथैव च।
सन्निपाते न विज्ञेयावनेकपिडकाचितौ ॥५॥

सन्निपात से (ओठ) कभी काले, कभी पीले तथा कभी श्वेत और अनेक प्रकार के पिडकाओं से व्याप्त समझना चाहिये।

रक्तज ओष्ठरोग

खर्जूरफलवर्णाभिः पिडकाभिर्निपीडितौ।
रक्तोपसृष्टौ रुधिरं स्रवतः शोणितप्रभौ ॥६॥

रक्त के विकार से ग्रस्त ओंठ खजूर फल के वर्ण वाली पिडकाओं से पीड़ित रहते हैं, रक्तस्राव करते हैं और लाल रङ्ग के रहते है।

मांसज ओष्ठरोग

गुरू स्थूलौ मांसदुष्टौ मांसपिण्डवदुद्गतौ।
जन्तवश्चात्र मूर्च्छन्ति नरस्योभयतो मुखात् ॥७॥

मांस दुष्टि में (ओठ) भारी मोटे तथा मांस-पिण्ड के समान उभरे हुये हो जाते हैं और मनुष्य के मुख के दोनों ओर (ऊपर-नीचे) कीड़े भी पड़ जाते हैं।

मेदोज ओष्ठरोग

सर्पिर्मण्डप्रतीकाशौ मेदसा कण्डुरौ गुरू।
अच्छं स्फटिकसंकाशमास्रावं स्रवतो भृशम् ॥८॥
तयोर्व्रणो न संरोहेन्मृदुत्वं च न गच्छति।

मेद से ओंठ घी अथवा मांड़ (मधुकोषकार के मत से घी का ऊपर का भाग) के समान दीखने वाले, खुजलाने वाले और भारी हो जाते हैं तथा स्फटिक के समान स्वच्छ द्रव का स्राव करते हैं। इनके व्रण में रोपण नहीं होता और न मृदुता ही उत्पन्न होती है।

अभिघातज ओष्ठरोग

क्षतजाभौ विदीर्येते पाट्यते चाभिघाततः ॥६॥
ग्रथितौ च तथा स्यातामोष्ठौ कण्डूसमन्वितौ।

अभिघात लगने से ओठ क्षत के समान आभा से युक्त हो जाते हैं, फट या छिल जाते हैं, गांठ पड़ जाती है तथा खुजलाहटयुक्त हो जाते हैं।

वक्तव्य (२६६) यहां ओठों के समस्त रोगों को दोष-धातु के अनुसार विभाजित करके वर्णन किया गया है। इनके पाश्चात्य पर्याय नहीं दिये जा सकते।

शीताद

शोणितं दन्तवेष्टेभ्यो यस्याकस्मात्प्रवर्तते।
दुर्गन्धीनि सकृष्णानि प्रक्लेदीनि मृदूनि च ॥१०॥
दन्तमांसानि शीर्यन्ते पचन्ति च परस्परम्।
शीतादो नाम स व्याधिः कफशोणितसंभवः ॥११॥

मसूढ़ों से अकारण ही रक्तस्राव होता है। दुर्गंधित, काले, क्लेदयुक्त और मृदु होकर मसूढ़े गलगल कर गिरने लगते हैं और एक दूसरे को पकाते हैं। इस कफरक्तज व्याधि का नाम शीताद है।

वक्तव्य (२६७)—कई विद्वान् इस व्याधि की समानता प्रशीताद (Scurvy) से करते हैं किन्तु यह अनुचित है क्योंकि प्रशीताद में पाक नहीं होता और मसूढ़े गलकर नहीं गिरते। प्रशीताद का वर्णन रक्तपित्त प्रकरण में देखें। यह शीताद दन्तवेष्ट (Pyorrhoea Alveolaris) का ही उग्रतम रूप है।

दन्तपुप्पुटक (Gingivitis)

दन्तयोस्त्रिपु वा यस्य श्वयथुर्जायते महान्।
दन्तपुप्पुटको नाम स व्याधिः कफरक्तजः ॥१२॥

जिसमें दो या तीन दांतों (मसूढ़ों) में बड़ी सूजन हो जाती है वह दन्त-पुप्पुटक नामक कफरक्तज व्याधि है।

वक्तव्य (२६८)—साधारण भाषा में इसे 'मसूढ़ा फूलना' कहते हैं।

दन्तवेष्ट (Pyorrhoea Alveolaris)

स्रवन्ति पूयरुधिरं चला दन्ता भवन्ति च।
दन्तवेष्टः स विज्ञेयो दुष्टशोणितसंभवः ॥१३॥

दांत पूय और रक्त का स्राव करते हैं और हिलने लगते हैं। दूषित रक्त से उत्पन्न इस व्याधि को दन्तवेष्ट समझना चाहिये।

सौषिर (Gingivitis)

श्वयथुर्दन्तमूलेषु रुजावान् कफरक्तजः।
लालास्रावी स विज्ञेयः शौषिरो नाम नामतः ॥१४॥

पीड़ा करने वाली और लालास्राव कराने वाली मसूढ़ों की सूजन को सौषिर नामक रोग समझना चाहिये।

महासौषिर

दन्ताश्चलन्ति वेष्टेभ्यस्तालु चाप्यवदीर्यते।
यस्मिन् स सर्वजो व्याधिर्महाशौषिरसंज्ञितः ॥१५॥

जिसमें दांत मसूढ़ों से पृथक् हो जाते हैं और तालु भी फट जाता है उस त्रिदोष व्याधि को महासौषिर कहते हैं।

वक्तव्य (२६९)—लगभग इसी प्रकार के लक्षण कुष्ठ, फिरङ्ग एवं सन्निपातज मुखपाक (Cancrum Oris, Noma) में होते हैं।

सन्निपातज मुखपाक अथवा मुख-कर्दम (Cancrum Oris or Noma)—यह दुर्बल एवं गंदे बालकों को होने वाली मारक व्याधि है। इसका आरम्भ मुख के कोने अथवा गाल से होता है और तेजी से मांस सड़ सड़ कर गिरता है। तीव्र ज्वर आदि लक्षण रहते हैं और असह्य दुर्गन्ध आती है। मुख का बहुतसा भाग नष्ट हो जाता है और मृत्यु हो जाती है। बड़ों में भी यह कभी कभी लक्षित होती है। अधिकतर यह कालज्वर आदि की अन्तिम दशाओं में उत्पन्न होती है।

परिदर

दन्तमाँसानि शीर्यन्ते यस्मिन् ष्ठीवति चाप्यसृक्।
पित्तासृक्कफजो व्याधिर्ज्ञेयः परिदरो हि सः ॥१६॥

जिस रोग में मसूढ़े गलते हैं और रोगी रक्त थूकता है उस पित्त-कफ-रक्तज व्याधि को परिदर कहना चाहिये।

वक्तव्य (३००)—प्रशीताद (Scurvy) और एकाकीकणीय श्वेतमयता (Monocytic Leukaemia) से इसके लक्षण मेल खाते हैं।

उपकुश (Pyorrhoea Alveolaris)

वेष्टेषु दाहः पाकश्च ताभ्यां दन्ताश्चलन्ति च।
यस्मिन् सोपकुशो नाम पित्तरक्तकृतो गदः ॥१७॥

जिस रोग में मसूढ़ों में दाह और पाक होने के कारण दांत हिलने लगते हैं उसे उपकुश नामक रक्त पित्तज व्याधि समझना चाहिये।

वक्तव्य—(३०१) कई व्याधियों का एक ही पाश्चात्य पर्याय देखकर शंका करने की आवश्यकता नहीं है। अलग अलग पद्धतियों से वर्गीकरण होने के कारण ऐसा होना स्वाभाविक ही है। पाश्चात्य मतानुसार एक ही मानी जाने वाली व्याधि आयुर्वेद में कई व्याधियों में विभक्त मिलती है और इसी प्रकार आयुर्वेद में एक मानी जाने वाली व्याधि पाश्चात्य पद्धति में कई भिन्न भिन्न रोगों में विभाजित मिलती है।

वैदर्भ

घृष्टेषु दन्तमांसेषु संरम्भो जायते महान्।
चला भवन्ति दन्ताश्च स वैदर्भोऽभिघातजः ॥१८॥

मसूढ़ों में रगड़ लग जाने से (घृष्ट-व्रण बन जाने से) बड़ी सूजन उत्पन्न हो जाती है और दांत हिलने लगते हैं--यह अभिघात जन्य वैदर्भ (*Gingivitis*) रोग है।

खलिवर्धन

मारुतेनाधिको दन्तो जायते तीव्रवेदनः।
खलिवर्धनसंज्ञोऽसौ जाते रुक् च प्रशाम्यति ॥१६॥

वायु के प्रकोप से तीव्र वेदना के साथ अतिरिक्त दांत की उत्पत्ति होती है। खलिवर्धन (*Extra-tooth or odontoma*) नामक इस दांत के निकल चुकने पर पीड़ा शान्त हो जाती है।

कराल

शनैः शनैः प्रकुरुते वायुर्दन्तसमाश्रितः।
करालान्विकटान् दन्तान् करालो न स सिध्यति ॥२०॥

दांतों में स्थित वायु धीरे धीरे दांतों को विरूप और बड़े कर देती है। यह कराल (*Malformation of teeth*) नामक रोग असाध्य है।

अधिमांसक

हान्व्ये पश्चिमे दन्ते महान् शोथो महारुजः।
लालास्रावी कफकृतो विज्ञेयः सोऽधिमांसकः।

ऊपरी जबड़े के अन्तिम दांत में कफ से उत्पन्न, अत्यन्त पीड़ा करने वाला तथा लालास्राव कराने वाला बड़ा शोथ अधिमांसक समझना चाहिये।

वक्तव्य—(३०२) यह शोथ अक़्ल की डाढ़ (*wisdom tooth*) के निकलने के पूर्व का तथा अर्बुद-जन्य या प्रदाह-जन्य भी हो सकता है।

दन्त नाड़ी (*Fistulae of the Jaw*)

दन्तमूलगता नाड्यः पञ्च ज्ञेया यथेरिताः ॥२१॥

दांतों की जड़ में पूर्वोक्त (नाड़ीव्रण प्रकरण में उक्त) के अनुसार ५ प्रकार के नाड़ीव्रण जानना चाहिये।

दालन

दीर्यमाणेष्विव रुजा यस्य दन्तेषु जायते।
दालनो नाम स व्याधिः सदागतिनिमित्तजः ॥२२॥

वायु के प्रकोप से दांतों में फाड़ने के समान पीड़ा जिस रोग में होती है वह दालन (*Toothache, odontalgia*) नामक रोग है।

क्रिमिदन्तक

कृष्णच्छिद्रश्चलः स्रावी ससंरम्भो महारुजः।
अनिमित्तरुजो वाताद्विज्ञेयः क्रिमिदन्तकः ॥२३॥

वात के प्रकोप से काले छिद्र वाला, हिलने वाला, स्राव करने वाला, शोथ युक्त तथा अकारण ही महान् पीड़ा करने वाला (दांत) क्रिमिदन्तक (*Dental caries*) है।

भंजनक

वक्त्रं वक्रं भवेद्यस्य दन्तभङ्गश्च जायते।
कफवातकृतो व्याधिः स भञ्जनकसंज्ञितः ॥२४॥

जिस व्याधि में मुख टेढ़ा हो जावे और दांत टूटें वह भंजनक नामक कफ वातज व्याधि है।

वक्तव्य—(३०३) प्रदाह आदि के कारण हन्वस्थि का अपुष्टि या कोथ (*Necrosis*) होने पर ये लक्षण हो सकते हैं।

दन्तहर्ष

शीतरूक्षप्रवाताम्लस्पर्शानासहा द्विजाः।
पित्तमारुतकोपेन दन्तहर्षः स नामतः ॥२५॥

वात-पित्त के प्रकोप से दांतों में शीतल एवं रूक्ष वायु तथा अम्ल पदार्थों का स्पर्श सहन न होना दन्तहर्ष (*Erosion of teeth*) नामक रोग है।

दन्तशर्करा

मलो दन्तगतो यस्तु पित्तमारुतशोषितः।
शर्करेव खरस्पर्शा सा ज्ञेया दन्तशर्करा ॥२६॥

दांतों पर स्थित जो मैल वात-पित्त से सूख जाता है और स्पर्श में कंकड़ के समान कठोर प्रतीत होता है उसे दन्तशर्करा (*Dental tartar*) समझना चाहिये।

कपालिका

कपालेष्विव दीर्यत्सु दन्तानां सैव शर्करा ।
कपालिकेति विज्ञेया सदा दन्तविनाशिनी ॥२७॥

जब वही दन्तशर्करा खपड़े के समान उधड़ती है तब उसे कपालिका (*Dental tartar-detached*) समझना चाहिये। यह हर दशा में दांतों का नाश करती है।

श्यावदन्तक

योऽसृङ्मिश्रेण पित्तेन दग्धो दन्तस्त्वशेषतः ।
श्यावतां नीलतां वापि गतः स श्यावदन्तकः ॥२८॥

जो दांत रक्त मिश्रित पित्त के द्वारा जलाया जाने के कारण पूर्णतया काला या नीला पड़ जाता है वह श्यावदन्तक (*Bleak tooth*) है।

वक्तव्य—(३०४) दांत के भीतर रक्तस्राव होने से कुछ काल में दांत का रङ्ग काला पड़ जाता है। अत्यधिक चरण से तथा पान-तम्बाकू, मिस्सी आदि के प्रयोग से भी दांत काले पड़ जाते हैं।

दन्तविद्रधि

दन्तमांसे मलैः सास्रैर्बाह्यान्तः श्वयथुर्गुरुः ।
सदाहरुक् स्रवेद्भिन्नः पूयास्रं दन्तविद्रधिः ॥२९॥

रक्त-सहित वातादि दोषों से मसूढ़े के बाहर और भीतर दाह और पीड़ा सहित भारी शोथ जो फूटने पर पूय और रक्त का स्राव करे वह दन्तविद्रधि (Alveolar Abscess) है।

वातज जिह्वा रोग

जिह्वाऽनिलेन स्फुटिता प्रसुप्ता
भवेच्च शाकच्छदनप्रकाशा ।

वात के प्रकोप से जिह्वा शाक के पत्ते के समान फटी हुई और प्रसुप्त (संज्ञाहीन) हो जाती है।

पित्तज जिह्वा रोग

पित्तेन दह्यत्युपचीयते च
दीर्घैः सरक्तैरपि कण्टकैश्च ।

पित्त के प्रकोप से दाह करती है और बड़े एवं रक्त युक्त (अथवा लालिमा युक्त) कांटों से व्याप्त हो जाती है।

कफज जिह्वा रोग

कफेन गुर्वी बहुलाचिता च
मांसोच्छ्रयैः शाल्मलिकण्टकाभैः ॥३०॥

कफ के प्रकोप से भारी और मोटी तथा सेमल के कांटों के समान मांस के उभारों से व्याप्त हो जाती है।

अलास

जिह्वातले यः श्वयथुः प्रगाढः
सोऽलाससंज्ञः कफरक्तमूर्तिः ।
जिह्वां स तु स्तम्भयति प्रवृद्धो
मूले च जिह्वा भृशमेति पाकम् ॥३१॥

जिह्वा के नीचे कफ-रक्त से जो गंभीर शोथ होता है वह अलास (Sub-Lingual Abscess) नामक रोग है। यह बढ़कर जिह्वा को स्तम्भित (गतिहीन) कर देता है और जिह्वा के मूल में तीव्र पाक होता है।

उपजिह्विका

जिह्वाग्ररूपः श्वयथुर्हि जिह्वा-
मुन्नस्य जातः कफरक्तमूलः ।
लालाकरः कण्डुयुतः सचोषः
सा तूपजिह्वा पठिता भिषग्भिः ॥३२॥

जिह्वा के अग्रभाग के समान आकार वाला कफ रक्तज शोथ जिह्वा को ऊपर उठाता हुआ (नीचे से) उत्पन्न होता है। यह लालास्राव, खुजलाहट और चूसने के समान पीड़ा उत्पन्न करता है। वैद्यों ने इसे उपजिह्वा (Ranula) कहा है।

वक्तव्य—(३०५) जीभ के नीचे स्थित दो लाला-ग्रन्थियों में से अधिकतर एक और कभी कभी दोनों के छिद्र हो जाने से उनकी वृद्धि होकर इसकी उत्पत्ति होती है।

कण्ठशुण्डी

श्लेष्मासृग्भ्यां तालुमूले प्रवृद्धो
दीर्घः शोथो ध्मातवस्तिप्रकाशः ।
तृष्णाकासश्वासकृत्तं वदन्ति
व्याधिं वैद्याः कण्ठशुण्डीति नाम्ना ॥३३॥

कफ-रक्त से तालुमूल में फूली हुई वस्ति के समान बढ़ा हुआ एवं लम्बा तथा तृष्णा, कास और श्वास उत्पन्न करने वाला शोथ उत्पन्न करने वाली व्याधि को वैद्य कण्ठशुण्डी (Enlarged Uvulva) के नाम से पुकारते हैं।

तुण्डिकेरी

शोथः स्थूलस्तोददाहप्रपाकी
प्रागुक्ताभ्यां तुण्डिकेरी मता तु।

पूर्वोक्त कारणों (कफ-रक्त) से होने वाला मोटा तथा तोद, दाह और पाक करने वाला शोथ तुण्डिकेरी (Peritonsillar Abscess or Acute Tonsillitis) माना गया है।

अध्रुष

मृदुः शोथो लोहितः शोणितोत्थो
ज्ञेयोऽध्रुषः सज्वरस्तीव्ररुक् च ॥३४॥

मृदु एवं रक्तवर्ण, ज्वर एवं तीव्र पीड़ा करने वाले रक्तज शोथ को अध्रुष (Chronic Tonsillitis) समझना चाहिये।

वक्तव्य—(३०६) यह तुण्डिकेरी का ही एक प्रकार है। इसमें कफ का अनुबंध न रहने से लक्षण अधिक तीव्र होते हैं।

कच्छप, तात्वबुंद, मांस संघात और पुप्पुट

कूर्मोन्नतोऽवेदनोऽशीघ्रजन्मा
रोगो ज्ञेयः कच्छपः श्लेष्मणा तु।
पद्माकारं तालुमध्ये तु शोथं
विद्याद्रक्तादर्बुदं प्रोक्तलिङ्गम् ॥३५॥
दुष्टं मांसं नीरुजं तालुमध्ये
कफाच्छूनं मांसंसंघातमाहुः।

कफ से कछुए के समान उभरा हुआ, वेदना रहित, शीघ्र उत्पन्न होने वाला रोग कच्छप समझना चाहिये।

रक्त से तालु में कमल के पुष्प के आकार वाले (रक्तार्बुद के) कहे हुए लक्षणों से युक्त शोथ को अर्बुद समझना चाहिये।

तालु में कफ से दूषित एवं शोथयुक्त पीड़ारहित मांस को मांससंघात कहते हैं।

तालुदेश में मेदयुक्त कफ से उत्पन्न पीड़ारहित और स्थायी पुप्पुट (पुप्पुट नामक अर्बुद) बेर के बराबर होता है।

वक्तव्य—(३०७) ये चारों अर्बुद (Tumours) हैं।

तालु-शोष

नीरुक् स्थायी कोलमात्रः कफात्
स्तान्मेदोयुक्तात् पुप्पुटस्तालुदेशे ॥३६॥
शोषोऽत्यर्थं दीर्यते चापि तालुः
श्वासश्चोग्रस्तालुशोषोऽनिलाच्च।

तालु में अत्यधिक शोथ होता है, तालु फट (दरक, चटक) भी जाता है और श्वास तेजी से चलता है। यह तालुशोष वात से होता है।

तालु पाक

पित्तं कुर्यात् पाकमत्यर्थघोरं
तालुन्येवं तालुपाकं वदन्ति ॥३७॥

पित्त तालु में अत्यन्त भयंकर पाक कर सकता है। इसे तालुपाक (Suppuration of the Palate, palatitis) कहते हैं।

पाश्चात्यमत—यह प्रायः स्वतन्त्र नहीं होता। अधिकतर मसूड़े या तुण्डिका के पाक का प्रसार होने से तालु में भी पाक हो जाता है। फिरंग एवं कुष्ठ से व्रणोत्पत्ति (Ulceration) और निच्छिद्रण होता है।

रोहिणी

गलेऽनिलः पित्तकफौ च मूर्च्छितौ
प्रदूष्य मांसं च तथैव शोणितम्।
गलोपसंरोधकरैस्तथाऽङ्कुरै-
र्निहन्त्यसूनव्याधिरियं हि रोहिणी ॥३८॥

गले में वात पित्त और कफ कुपित होकर मांस तथा रक्त को दूषित करके गले का अवरोध करने वाले अंकुरों की उत्पत्ति करके प्राणों का नाश कर देते हैं। यह व्याधि रोहिणी (Diphtheria) है।

दोषानुसार रोहिणी के लक्षण

जिह्वासमन्ताद्भृशवेदनास्तु
मांसांकुराः कण्ठविरोधिनो ये ।
सा रोहिणी वातकृता प्रदिष्टा
वातात्मकोपद्रवगाढयुक्ता ॥३९॥
क्षिप्रोद्गमा क्षिप्रविदाहपाका
तीव्रज्वरा पित्तनिमित्तजा तु ।
स्रोतो विरोधिन्यचलोद्गता च
स्थिराङ्कुरा या कफसंभवा सा ॥४०॥
गम्भीरपाकिन्यनिवार्यवीर्या
त्रिदोषलिङ्गा त्रितयोत्थिता च ।
स्फोटैश्चिता पित्तसमानलिङ्गा
साध्या प्रदिष्टा रुधिरात्मिका तु ॥४१॥

जीभ के आस पास अत्यन्त वेदना करने वाले, कण्ठ का अवरोध करने वाले जो मांसांकुर उत्पन्न होते हैं वह वातज रोहिणी मानी गयी है। यह गंभीर वातज उपद्रवों से युक्त होती है।

तीव्र ज्वर के साथ शीघ्र उत्पन्न होने एवं शीघ्र ही विदाह और पाक करने वाली रोहिणी पित्तज है।

स्रोत का अवरोध करने वाले, अचल, उभरे हुये और स्थिर अंकुरों वाली जो रोहिणी है वह कफज है।

गम्भीर पाक करने वाली, असाध्य एवं त्रिदोषज के लक्षणों वाली रोहिणी त्रिदोषज है।

स्फोटों से व्याप्त तथा पित्तज रोहिणी के समान लक्षणों वाली रक्तज रोहिणी साध्य कही गयी है।

पाश्चात्य मत—

इस व्याधि की उत्पत्ति रोहिणी दण्डाणु (Corynebacterium Diphtheriae or Klebs-Loeffler Bacillus) के द्वारा होती है और प्रायः बिन्दूत्क्षेप से फैलती है। इसका आक्रमण अधिकतर बालकों पर शीतऋतु में होता है। सामान्यतः यह गले एवं स्वरयन्त्र पर आक्रमण करता है जिससे तीव्र ज्वर एवं कण्ठप्रदाह के साथ गले में एक सफेद झिल्ली की उत्पत्ति होती है। शीघ्र ही श्वासावरोध के लक्षण प्रकट होते हैं और मृत्यु हो जाती है। कभी कभी यह नासारंध्र पर आक्रमण करता है; इस दशा में सामान्य प्रतिश्याय के समान लक्षण होते हैं। कभी कभी पूयोत्पत्ति और कभी कभी रक्तपित्त सदृष लक्षण भी इससे उत्पन्न होते हैं। कभी कभी नेत्र, कर्ण, नाभि, गुदा, जननेन्द्रिय व्रण आदि पर भी आक्रमण होता है; इससे भी ज्वर एवं झिल्ली की उत्पत्ति होती है किन्तु श्वासावरोध नहीं होता है।

लड्विग का श्वासावरोध (Ludwig's Angina, Angina Ludovici)–यह मालागोलाणु (Streptococcus) जन्य रोग है। इसमें गले के समस्त अवयवों में अत्यधिक शोथ और प्रदाह होता है तथा कर्दम तक हो सकता है। तीव्र ज्वर, श्वासकष्ट, निगलने में कष्ट, स्वरभेद और गंभीर विषमयता के लक्षण होते हैं तथा मृत्यु तक हो जाती है। रोहिणी के समान झिल्ली की उत्पत्ति नहीं होती यह विभेद है।

कण्ठशालूक

कोलास्थिमात्रः कफसंभवो यो
ग्रन्थिर्गले कण्टकशूकभूतः ।
खरः स्थिरः शस्त्रनिपातसाध्यस्तं
कण्ठशालूकमिति ब्रुवन्ति ॥४२॥

गले में कण्टक या शूक की भांति गड़ने वाली, बेर की गुठली के बराबर, कफ से उत्पन्न, खुरदरी, स्थिर और शस्त्रसाध्य ग्रन्थि को कंठशालूक (Adenoids) कहते हैं।

अधिजिह्विका

जिह्वाग्ररूपः श्वयथुः कफात्तु
जिह्वोपरिष्टादपि रक्तमिश्रात् ।
ज्ञेयोऽधिजिह्वः खलु रोग एष
विवर्जयेदागतपाकमेनम् ॥४३॥

रक्तमिश्रित कफ से जिह्वा के ऊपर जीभ के अग्रभाग के समान शोथ को अधिजिह्वक समझना चाहिए। इस रोग में पाक होने पर चिकित्सा वर्जित है।

वक्तव्य—(३०८) फिरङ्ग की द्वितीय अवस्था के व्रण एवं अर्बुद इस प्रकार के लक्षण उत्पन्न कर सकते हैं।

वलय

बलास एवायतमुन्नतं च
शोथं करोत्यन्नगतिं निवार्य।
तं सर्वथैवाप्रतिवार्यवीर्यं
विवर्जनीयं वलयं वदन्ति ॥४४॥

कफ अन्नमार्ग का अवरोध करता हुआ विस्तीर्ण एवं उभरा हुआ शोथ उत्पन्न करता है। किसी प्रकार शान्त न होने वाले इस असाध्य रोग को वलय (Retro--pharyngeal Abscess--Cbronic) कहते हैं।

बलाश

गले तु शोथं कुरुतः प्रवृद्धौ
श्लेष्मानिलौ श्वासरुजोपपन्नम्।
मर्मच्छिदं दुस्तरमेनमाहुर्बलाशसंज्ञं
निपुणा विकारम् ॥४५॥

बढ़े हुये कफ और वायु गले में शोथ उत्पन्न करते हैं। यह श्वास और पीड़ा से युक्त रहता है तथा मर्मों का छेदन करता है। इस बलाश नामक रोग को विशेषज्ञों (निपुण=*Expert*) ने दुःसाध्य कहा है।

एकवृन्द

वृत्तोन्नतोऽन्तः श्वयथुः सदाहः
सकण्डुरोऽपाक्यमृदुर्गुरुश्च।
नाम्नैकवृन्दः परिकीर्तितोऽसौ
व्याधिर्बलाशक्षतजप्रसूतः ॥४६॥

गोल, उभरा हुआ, दाह एवं खुजलाहट से युक्त न पकने वाला, कठोर एवं भारी एकवृन्द नामक अन्तः शोथ कफरक्तज व्याधि (अथवा 'रक्तज बलाश रोग') माना गया है।

वृन्द

समुन्नतं वृत्तममन्ददाहं
तीव्रज्वरं वृन्दमुदाहरन्ति।
तच्चापि पित्तक्षतजप्रकोपाज्ज्ञेयं
सतोदं पवनात्मकं तु ॥४७॥

भलीभांति उभरा हुआ, गोल, तीव्र दाह एवं तीव्र ज्वर से युक्त उसी (एक वृन्द) को पित्तरक्त के प्रकोप से होने पर वृन्द कहते हैं। तोदयुक्त होने पर इसे वातज समझना चाहिये।

शतघ्नी

वर्तिर्घना कण्ठनिरोधिनी या
चिताऽतिमात्रं पिशितप्ररोहैः।
अनेकरुक् प्राणहरी त्रिदोषाज्ज्ञेया
शतघ्नी च शतघ्निरूपा ॥४८॥

कण्ठ का अवरोध करने वाली, मांसांकुरों से अत्यधिक व्याप्त, अनेक प्रकार की पीड़ा करने वाली, प्राणनाशक, त्रिदोषज एवं शतघ्नी (कांटों से व्याप्त शिला) के समान आकार वाली वर्ति को शतघ्नी (*Tumour*) समझना चाहिये।

वक्तव्य—(३०८) यह संभवतः गले का कर्कटार्बुद या उपकलार्बुद है।

गलायु

ग्रन्थिर्गले त्वामलकास्थिमात्रः
स्थिरोऽतिरुग्यः कफरक्तमूर्तिः।
संलक्ष्यते सक्तमिवाशनं च स
शस्त्रसाध्यस्तु गलायुसंज्ञः ॥४९॥

गले में कफरक्त से उत्पन्न आंवले की गुठली के बराबर, स्थिर, अत्यन्त पीड़ा करने वाली ग्रन्थि जो ऐसी प्रतीत होती है मानों भोजन अटका हो वह गलायु (*Benign Tumour*) नामक रोग शस्त्र-साध्य है।

वक्तव्य—(३०९) यह कोई भी सौम्य अर्बुद हो सकता है।

गलविद्रधि

सर्वं गलं व्याप्य समुत्थितो यः
शोथो रुजः सन्ति च यत्र सर्वाः ।
स सर्वदोषैर्गलविद्रधिस्तु तस्यैव
तुल्यः खलु सर्वजस्य ॥५०॥

जो शोथ सारे गले में व्याप्त होने के बाद उभरता है और जिसमें सब प्रकार की पीड़ाएँ होती हैं वह दोषों से उत्पन्न गलविद्रधि (*Acute Retro-pharyngeal Abscess*) है। यह त्रिदोषज विद्रधि के समान ही होता है।

गलौघ

शोथो महानन्नजलावरोधी
तीव्रज्वरो वायुगतेर्निहन्ता ।
कफेन जातो रुधिरान्वितेन
गलेगलौघः परिकीर्त्यते तु ॥५१॥

गले में कफ रक्त से उत्पन्न बड़ा शोथ जो अन्न, जल और वायु का अवरोध एवं तीव्र ज्वर उत्पन्न करता है वह गलौघ (*Pharyngitis*) कहा गया है।

स्वरघ्न

यस्ताम्यमानः श्वसिति प्रसक्तं
भिन्नस्वरः शुष्कविमुक्तकण्ठः ।
कफोपदिग्धेष्वनिलायनेषु ज्ञेयः
स रोगः श्वसनात् स्वरघ्नः ॥५२॥

वायु के स्थान कफलिप्त होने पर जो रोगी लगातार अत्यन्त कष्ट के साथ श्वास लेता हो, तथा जो फटे हुये स्वर वाला हो और जिसका गला शुष्क एवं शिथिल हो उसे वात उत्पन्न स्वरघ्न (*Laryngitis*) रोग (से पीड़ित) समझना चाहिये।

मांसतान

प्रतानवान् यः श्वयथुः सुकष्टो
गलोपरोधं कुरुते क्रमेण ।
स मांसतानः कथितोऽवलम्बी
प्राणप्रणुत् सर्वकृतोविकारः ॥५३॥

अंकुरों से युक्त, अत्यन्त कष्टदायक जो लटकने वाला शोथ क्रमशः गले का अवरोध करता है वह मांसतान (*Pappilloma*) त्रिदोषज एवं प्राणनाशक रोग है।

वक्तव्य—(३१०) मधुकोषकार ने 'तान एवं प्रतान' से 'विस्तार' का अर्थ ग्रहण किया है किन्तु मैंने 'अंकुर' अधिक उपयुक्त समझा है। दोनों ही अर्थ कोष सम्मत हैं किन्तु 'अवलम्बी' कहा जाने के कारण विस्तार की अपेक्षा अंकुर अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

विदारी

सदाहतोदं श्वयथुं सुताम्र-
मन्तर्गले पूतिविशीर्णमांसम् ।
पित्तेन विद्याद्वदने विदारीं
पार्श्वे विशेषात् स तु येन शेते ॥५४॥

रोगी जिस करवट सोता है विशेषतः उसी ओर मुंह एवं गले में पित्त के प्रकोप से दाह और तोद के साथ ताम्र वर्ण का, दुर्गन्धित, बिखरे हुये (गले हुये) मांस वाला शोथ विदारी (*Gangrene*) समझना चाहिये।

सर्वसर (मुखपाक)

स्फोटैः सतोदैर्वदनं समन्ताद्यस्याचितं
सर्वसरः स वातात् ।
रक्तैः सदाहैस्तनुभिः सपीतैर्यस्याचितं
चापि स पित्तकोपात् ।
अवेदनैः कण्डुयुतैः सवर्णैर्यस्याचितं
चापि स वै कफेन ॥५५॥

जिसमें तोदयुक्त स्फोटों से सारा मुख व्याप्त हो वह वातज सर्वसर (मुखपाक, *Stomatitis*) है; जिसमें लाल, दाहयुक्त, पतले और पीले स्फोटों से व्याप्त हो वह पित्तज है और जिसमें वेदना रहित, खुजलाहटयुक्त, सवर्ण स्फोटों से व्याप्त हो वह कफज है।

साध्यासाध्यता

ओष्ठप्रकोपे वर्ज्याः स्युर्मांसरक्तत्रिदोषजाः ।
दन्तमूलेषु वर्ज्यौ च त्रिलिङ्गगतिशौषिरौ ॥५६॥

दन्तेषु च न सिध्यन्ति श्यावदालनभञ्जनाः।
जिह्वारोगे बलासस्तु ताल्वय्येष्वर्बुदं तथा ॥५७॥
स्वरघ्नो वलयो वृन्दो बलाशश्च विदारिका।
गलौघो मांसतानश्च शतघ्नी रोहिणी गले ॥५८॥
असाध्याः कीर्तिता ह्येते रोगा नव दशैव तु।
तेषु चापि क्रियां वैद्यः प्रत्याख्याय समाचरेत् ॥५९॥

ओष्ठ रोगों में मांसज, रक्तज और त्रिदोषज वर्ज्य (प्रत्याख्येय) हैं। मसूड़ों के रोगों में त्रिदोषज दन्तनाड़ी और सौषिर वर्ज्य हैं। दन्तरोगों में श्यावदन्तक, दालन और भञ्जनक असाध्य हैं। जिह्वा रोगों में बलाश, तालुरोगों में अर्बुद; और गले के रोगों में स्वरघ्न, वलय, वृन्द, बलाश, विदारिका, गलौघ, मांसतान, शतघ्नी और रोहिणी—ये १९ रोग असाध्य कहे गए हैं तथापि इनमें असाध्यता का निर्देश करने के बाद वैद्य को चिकित्सा करनी चाहिए।

: ५७ :

कर्णरोग

कर्णशूल

समीरणः श्रोत्रगतोऽन्यथाचरन्
समन्ततः शूलमतीव कर्णयोः।
करोति दोषैश्च यथास्वमावृतः
स कर्णशूलः कथितो दुराचरः ॥१॥

अपने अपने प्रकोपक कारणों से कुपित हुए दोषों से आवृत्त कर्णगत वायु उल्टी चलकर कानों में तीव्र शूल उत्पन्न करती है। यह कृच्छ्रसाध्य रोग कर्णशूल (*Earache otalgia*) कहलाता है।

कर्णनाद

कर्णस्रोतःस्थिते वाते शृणोति विविधान् स्वरान्।
भेरीमृदङ्गशङ्खानां कर्णनादः स उच्यते ॥२॥

कान के छिद्र में वायु (कुपित) स्थित हो जाने पर रोगी अनेक प्रकार के भेरी, मृदंग, शंख आदि के स्वर सुनता है—इसे कर्णनाद (Tinitus Aurium) कहते हैं।

वक्तव्य—(३११) इस रोग में शब्द हुए विना ही शब्द सुनाई पड़ने की प्रतीति होती है।

बाधिर्य (बहिरापन)

यदा शब्दवहं वायुः स्रोत आवृत्य तिष्ठति।
शुद्धः श्लेष्मान्वितो वाऽपि बाधिर्यं तेन जायते ॥३॥

जब शब्द का वहन करने वाली वायु शुद्ध रूप में अथवा कफ के साथ मिलकर स्रोत को आच्छादित करके स्थिर हो जाती है तब उससे बाधिर्य (*Deafness*) उत्पन्न होता है।

कर्णक्ष्वेड

वायुः पित्तादिभिर्युक्तो वेणुघोषोपमं स्वनम्।
करोति कर्णयोः क्ष्वेडं कर्णक्ष्वेडः स उच्यते ॥४॥

वायु पित्त आदि से युक्त होकर कानों में बन्शी की आवाज के समान ध्वनि उत्पन्न करता है—यह कर्णक्ष्वेड (*Tinitus aurium*) कहलाता है।

वक्तव्य—(३१२) यह कर्णनाद का एक प्रकार है। इसमें पतली एवं सुरीली ध्वनियां सुनाई देती हैं जबकि कर्णनाद में भारी शब्द सुनाई देते हैं।

कर्णसंस्राव

शिरोऽभिघातादथवा निमज्जतो
जले प्रपाकादथवाऽपि विद्रधेः।
स्रवेद्धि पूयं श्रवणोऽनिलार्दितः
स कर्णसंस्राव इति प्रकीर्तितः ॥५॥

सिर पर अभिघात लगने से, जल में डुबकी लगाने से अथवा विद्रधि (कर्णगत) का पाक होने से कान वायु के द्वारा पीडित होकर पूय-स्राव करता

है—यह कर्णसंस्राव (*Otorrhoea, suppuration of the Ear*) कहलाता है।

कर्णकण्डू

मारुतः कफसंयुक्तः कर्णकण्डूं करोति च।

वायु कफ के साथ मिलकर कान में खुजलाहट उत्पन्न करता है।

कर्ण-गूथक

पित्तोष्मशोषितः श्लेष्मा कुरुते कर्णगूथकम् ॥६॥

पित्त की गर्मी से सूखा हुआ कफ कर्णगूथक (*Wax in the Ear*) उत्पन्न करता है।

वक्तव्य—(३१३) कर्णगूथक को साधारण भाषा में कान का मैल कहते हैं।

कर्णप्रतिनाह

स कर्णगूथो द्रवतां गतो यदा
विलायितो घ्राणमुखं प्रपद्यते।
तदा स कर्णप्रतिनाहसंज्ञितो
भवेद्विकारः शिरसोऽर्धभेदकृत् ॥७॥

वहीं कर्णगूथक जब द्रवित होकर तथा विलीन होकर नाक एवं मुख में पहुँचता है तब वह कर्ण-प्रतिनाह (*Otitis media*) रोग कहलाता है। यह आधे सिर में पीड़ा उत्पन्न करता है।

कृमिकर्णक

यदा तु मूर्च्छन्त्यथवाऽपि जन्तवः
सृजन्त्यपत्यान्यथवाऽपि मक्षिकाः।
तद्व्यञ्जनत्वाच्छ्रवणो निरुच्यते
भिषग्भिराद्यैः क्रिमिकर्णको गदः ॥८॥

जब (मांस आदि के सड़ने से) कीड़े उत्पन्न होते हैं अथवा मक्खियां सन्तानोत्पत्ति करती हैं तब उस रोग को क्रिमि कर्णक (*Myiasis of the Ear*) कहते हैं। आद्य वैद्यों ने कान का लक्षण क्रिमि होने से इसकी संज्ञा कृमिकर्णक मानी है।

कर्ण में प्रविष्ट कीड़े आदि के लक्षण
(*Insect in the Ear*)

पतङ्गाः शतपद्यश्च कर्णस्रोतः प्रविश्य हि।
अरतिं व्याकुलत्वं च भृशं कुर्वन्ति वेदनाम् ॥९॥
कर्णो निस्तुद्यते तस्य तथा फरफरायते।
कीटे चरति रुक् तीव्रा निष्पन्दे मन्दवेदना ॥१०॥

पतंग और कनखजूरे कर्णस्रोत में प्रवेश करके बेचैनी, व्याकुलता तथा अत्यन्त पीड़ा उत्पन्न करते हैं। कीड़े के चलने पर कान में चुभन, फड़फड़ाहट तथा तीव्र पीड़ा होती है और कीड़े के शान्त बैठने पर मन्द पीड़ा होती है।

कर्ण-विद्रधि (*Abscess in the Ear*)

क्षताभिघातप्रभवस्तु विद्रधिर्भवेत्तथा
दोषकृतोऽपरः पुनः।
सरक्तपीतारुणमस्रमास्रवेत्
प्रतोदधूमायनदाहचोषवान् ॥११॥

क्षत एवं अभिघात से विद्रधि होता है तथा इसके अतिरिक्त दोष प्रकोप से भी विद्रधि होता है। यह लाल, पीले और अरुणवर्ण के रक्त (पूय) का स्राव करता है तथा सुई चुभने, धुवां निकलने, जलने एवं चूसने के समान पीड़ा करता है।

कर्णपाक

कर्णपाकस्तु पित्तेन कोथविक्लेदकृद्भवेत्।
कर्णविद्रधिपाकाद्वा जायते चाम्बुपूरणात् ॥१२॥

पित्त-प्रकोप से, कर्णविद्रधि के पाक से अथवा जल भर जाने से सड़न और क्लेद उत्पन्न करने वाला कर्णपाक (*suppuration of the Ear*) होता है।

पूतिकर्ण

पूयं स्रवति पूतिं वा स ज्ञेयः पूतिकर्णकः।

अथवा, जब दुर्गन्धित पूय का स्राव होता है तब उसे पूतिकर्ण (*Chronic suppuration of the Ear*) समझना चाहिये।

कर्णगत शोथ, अर्बुद एवं अर्श

कर्णशोथार्बुदार्शांसि जानीयादुक्तलक्षणैः ॥१३॥

कान के शोथ, अर्बुद और अर्शों के लक्षण पूर्वोक्त के समान समझने चाहिये।

दोषानुसार कर्णरोगों के लक्षण

नादोऽतिरुक् कर्णमलस्य शोषः
स्रावस्तनुश्चाश्रवणं च वातात् ।
शोथः सरागो दरणं विदाहः
सपीतपूतिस्रवणं च पित्तात् ॥१४॥
वैश्रुत्यकण्डूस्थिरशोथशुक्ल
स्निग्धस्रुतिः स्वल्परुजः कफाच्च ।
सर्वाणि रूपाणि च सन्निपातात्
स्रावश्च तत्राधिकदोषवर्णः ॥१५॥

वात से कर्णनाद, अत्यधिक पीड़ा, कर्णमल का सूखना, पतला स्राव होना और बधिरता की उत्पत्ति होती है।

पित्त से लालिमायुक्त शोथ, फटना, दाह तथा पीलापन लिये हुए दुर्गन्धित स्राव होता है।

कफ से गलत सुनना (कम सुनना, न सुनना) खुजलाहट, स्थिर शोथ, सफेद एवं चिकना स्राव तथा थोड़ी पीड़ा होती है।

सन्निपात से सभी लक्षण तथा स्राव में बढ़े हुए दोष का वर्ण पाया जाता है।

परिपोटक

सौकुमार्याच्चिरोत्सृष्टे सहसाऽतिप्रवर्धिते ।
कर्णशोथो भवेत् पाल्यां सरुजः परिपोटवान् ।
कृष्णारुणनिभः स्तब्धः स वातात् परिपोटकः ॥१६॥

सुकुमारता के कारण बहुत काल से उपेक्षित कानों (के छिद्रों) को एकाएक अत्यधिक बढ़ाने पर कर्णपाली में पीड़ा और विदारयुक्त, काला एवं अरुण वर्ण, स्तब्ध वातज शोथ हो जाता है। यह परिपोटक है।

उत्पात

गुर्वाभरणसंयोगात्ताडनाद्धर्षणादपि ।
शोथः पाल्यां भवेच्छ्यावो दाहपाकरुजान्वितः ॥१७॥
रक्तो वा रक्तपित्ताभ्यामुत्पातः स गदो मतः ।

भारी आभूषणों के संयोग से, मार से अथवा रगड़ लगने से पाली में दाह, पाक और पीड़ा से युक्त श्याववर्ण का शोथ होता है अथवा रक्तपित्त के प्रकोप से लाल वर्ण का शोथ होता है। यह रोग उत्पात कहलाता है।

उन्मथक

कर्णं बलाद्वर्धयतः पाल्यां वायुः प्रकुप्यति ॥१८॥
कफं संगृह्य कुरुते शोथं स्तब्धमवेदनम् ।
उन्मन्थकः सकण्डूको विकारः कफवातजः ॥१९॥

कान (के छिद्र) को बलपूर्वक बढ़ाने से पाली में वायु कुपित होता है और कफ को एकत्र करके स्तब्ध, वेदना रहित शोथ उत्पन्न करता है। यह उन्मथक रोग खुजलाहट-युक्त एवं कफवातज होता है।

दुःखवर्धन

संवर्ध्यमाने दुर्विद्धे कण्डूपाकरुजान्वितः ।
शोथो भवति पाकश्च त्रिदोषो दुःखवर्धनः ॥२०॥

गलत छिदे हुए (कानों) को बढ़ाते समय खुजलाहट, पाक और पीड़ा से युक्त शोथ और पाक होता है। यह दुःखवर्धन रोग त्रिदोषज है।

परिलेही

कफासृक्क्रिमयः क्रुद्धाः सर्षपाभा विसर्पिणः ।
कुर्वन्ति पाल्यां पिडकाः कण्डूदाहरुजान्विताः ॥२१॥
कफासृक्क्रिमिसंभूतः स विसर्पन्नितस्ततः ।
लिहेत् सशष्कुलीं पालीं परिलेहीति स स्मृतः ॥२२॥

कफ, रक्त और क्रिमि कुपित होकर कर्णपाली में सरसों के आकार की, फैलने वाली; खुजलाहट, दाह एवं पीड़ा से युक्त पिडकाऐं उत्पन्न करते हैं। कफ, रक्त और क्रिमियों से उत्पन्न यह रोग चारों ओर फैलता हुआ शष्कुली-सहित पाली को चाट लेता (नष्ट कर देता) है इसलिये परिलेही कहलाता है।

वक्तव्य—(३१४) परिपोटक से परिलेही तक के रोग कर्णवेध के उपद्रव स्वरुप कर्णपाली में उत्पन्न होते हैं। पाश्चात्य ग्रन्थों में इनका वर्णन नहीं है तथापि ये विभिन्न प्रकार के पाक और प्रवाह में समाविष्ट हो जाते हैं।

: ५८ :

नासारोग

अपीनस

आनह्यते यस्य विशुष्यते च
प्रक्लिद्यते धूप्यति चापि नासा ।
न वेत्ति यो गन्धरसांश्च जन्तु-
र्जुष्टं व्यवस्येत्तमपीनसेन ।
तं चानिलश्लेष्मभवं विकारं
ब्रूयात् प्रतिश्यायसमानलिङ्गम् ॥१॥

जिसकी नाक अवरुद्ध होती हो, सूखती हो, क्लेद युक्त रहती हो और धुवां निकलने की प्रतीति होती हो; तथा जो गंध और रसों का ज्ञान न कर पाता हो उस व्यक्ति को अपीनस (*Sinusitis*) रोग से पीड़ित बतलाना चाहिये।

अपीनस को प्रतिश्याय के समान लक्षणों वाला वातकफज विकार कहना चाहिये ।

पूतिनस्य

दोषैर्विदग्धैर्गलतालुमूले
संमूर्च्छितो यस्य समीरणस्तु ।
निरेति पूतिर्मुखनासिकाभ्यां
तं पूतिनस्यं प्रवदन्ति रोगम् ॥२॥

विदग्ध दोषों से गले और तालु के मूल में कुपित एवं दुर्गन्धित हुआ वायु जिसके मुख और नाक से निकलता है उसके रोग को पूतिनस्य (*Ozaena*) कहते हैं।

नासा पाक

घ्राणाश्रितं पित्तमरूंषि कुर्या-
द्यस्मिन्विकारे बलवांश्च पाकः ।
तं नासिकापाकमिति व्यवस्ये-
द्विक्लेदकोथावथवाऽपि यत्र ॥३॥

जिस रोग में नासिका में पित्त फुंसियां (अरुंषि) और तीव्र पाक उत्पन्न करे अथवा जिस रोग में नासिका में गंदला स्राव उत्पन्न होता हो या कोथ होता हो उसे नासापाक (*Pemphigus or Leprosy*) कहना चाहिये।

पूयरक्त

दोषैर्विदग्धैरथवाऽपि जन्तोर्ल-
लाटदेशेऽभिहतस्य तैस्तैः ।
नासा स्रवेत् पूयमसृग्विमिश्रं
तं पूयरक्तं प्रवदन्ति रोगम् ॥४॥

कुपित दोषों से अथवा ललाट में अभिघात लगने से रोगी की नाक रक्तमिश्रित पूय का स्राव करती है। इस रोग को पूयरक्त (*suppurative sinusitis*) कहते हैं।

क्षवथु

घ्राणाश्रिते मर्मणि संप्रदुष्टो
यस्यानिलो नासिकया निरेति ।
कफानुजातो बहुशोऽतिशब्द
स्तं रोगमाहुः क्षवथुं विधिज्ञाः ॥५॥

जिसकी नाक के मर्म में दूषित वायु बार बार अत्यधिक आवाज करती हुई नाक से निकलती है तथा उसके पीछे कफ निकलता है उसके रोग को चिकित्सक क्षवथु (छींक *sneezing*) कहते हैं।

आगन्तुज क्षवथु

तीक्ष्णोपयोगादभिजिघ्रतो वा
भावान् कटूनर्कनिरीक्षणाद्वा ।
सूत्रादिभिर्वा तरुणास्थिमर्मण्यु-
द्घाटितेऽन्यः क्षवथुर्निरेति ॥६॥

तीक्ष्ण पदार्थों के उपयोग से, कटु पदार्थों को सूंघने से, सूर्य की ओर देखने से अथवा तरुणास्थि और मर्म में सूत आदि फिराने से अन्य प्रकार की छींक (आगन्तुज क्षवथु) निकलती है।

भ्रंशथु

प्रभ्रश्यते नासिकया तु यस्य
सान्द्रो विदग्धो लवणः कफस्तु ।
प्राक्संचितो मूर्धनि सूर्यतप्तस्तं
भ्रंशथुं रोगमुदाहरन्ति ॥७॥

जिसकी नाक में से सिर में पहले से संचित गाढ़ा, विदग्ध एवं नमकीन कफ सूर्य की गरमी से पिघल कर निकलता है उसके रोग को भ्रंशथु (*Mucoid discharge from nasal sinuses*) कहते हैं ।

दीप्त

घ्राणे भृशं दाहसमन्विते तु
विनिःसरेद्धूम इवेह वायुः ।
नासा प्रदीप्तेव च यस्य जन्तो-
र्व्याधिं तु तं दीप्तमुदाहरन्ति ॥८॥

नाक अत्यन्त दाहयुक्त होने पर वायु धुएं के समान (क्षोभ उत्पन्न करती हुई) निकलती है । जिस व्यक्ति की नाक अत्यन्त दाहयुक्त हो उसकी व्याधि को दीप्त (*Allergic Rhinitis*) कहते हैं ।

प्रतीनाह

उच्छ्वासमार्गं तु कफः सवातो
रुन्ध्यात् प्रतीनाहमुदाहरेत्तम् ।

वायु सहित कफ ऊपरी श्वास मार्ग को रोक देता है । इसे प्रतीनाह (*Obstruction of the Nose*) कहना चाहिये ।

नासास्राव

घ्राणाद् घनः पीतसितस्तनुर्वा
दोषःस्रवेत् स्रावमुदाहरेत्तम् ॥९॥

नाक से गाढ़ा, पीला, सफेद या पतला दोष निकलता है। उसे स्राव (नासास्राव) Nasal Discharge कहना चाहिये ।

नासाशोथ

घ्राणाश्रिते स्रोतसि मारुतेन
गाढं प्रतप्ते परिशोषिते च ।
कृच्छ्राच्छ्वसेदूर्ध्वमधश्च जन्तु-
र्यस्मिन् स नासापरिशोष उक्तः ॥१०॥

जिस रोग में अत्यधिक तप्त (बाहरी तापों से या पित्त की गर्मी से) नासास्रोत वायु के द्वारा सुखा दिया जाता है और रोगी कठिनता से श्वास छोड़ता एवं ग्रहण करता है वह नासाशोथ (Atrophic Rhinitis) कहा गया है ।

पीनस (की आमता और पक्व) के लक्षण

शिरोगुरुत्वमरुचिर्नासास्रावस्तनुः स्वरः ।
क्षामः ष्ठीवत्यथाभीक्ष्णमामपीनसलक्षणम् ॥११॥
आमलिङ्गान्वितः श्लेष्मा घनः खेषु निमज्जति ।
स्वरवर्णविशुद्धिश्च परिपक्वस्य लक्षणम् ॥१२॥

सिर में भारीपन, अरुचि, नाक से पतला स्राव होना, स्वर क्षीण होना तथा बार बार थूकने की प्रवृत्ति होना आम पीनस के लक्षण हैं। आम लक्षणों से युक्त कफ गाढ़ा होता है और रंध्रों में भरा रहता है ।

स्वर और वर्ण की विशुद्धता पक्व पीनस का लक्षण है ।

प्रतिश्याय के निदान एवं सम्प्राप्ति

संधारणाजीर्णरजोतिभाष्य-
क्रोधर्तुवैषम्यशिरोभितापैः ।
प्रजागरातिस्वपनाम्बुशीतै-
रवश्यया मैथुनबाष्पधूमैः ।
संस्त्यानदोषे शिरसि प्रवृद्धो
वायुः प्रतिश्यायमुदीरयेत्तु ॥१३॥
चयं गता मूर्धनि मारुतादयः
पृथक् समस्ताश्च तथैव शोणितम् ।
प्रकुप्यमाणा विविधैः प्रकोपणै-
स्ततःप्रतिश्यायकरा भवन्ति हि ॥१४॥

वेग-निग्रह, अजीर्ण, धूल, अत्यधिक भाषण करना, क्रोध, ऋतुओं की विषमता, शिरोरोग (मधुकोषकार के मत से 'सिर को कष्ट पहुँचाने वाले

धूम्र आदि कारण'), अधिक जागरण, अधिक सोना, शीतल जल, कोहरा, मैथुन, भाफ, एवं धुंये का सेवन—इन कारणों से सिर में दोषों का संग्रह होने पर वायु कुपित होकर प्रतिश्याय (Rhinitis) उत्पन्न करता है।

सिर में संचित वातादि दोष पृथक् पृथक् और सब मिलकर भी तथा रक्त भी अनेक प्रकार के प्रकोपक कारणों से कुपित होकर प्रतियाय की उत्पत्ति करते हैं।

प्रतिश्याय के पूर्वरूप

क्षवप्रवृत्तिः शिरसोऽतिपूर्णता
स्तम्भोऽङ्गमर्दः परिहृष्टरोमता।
उपद्रवाश्चाप्यरे पृथग्विधा
नृणां प्रतिश्यायपुरःसराः स्मृताः ॥१५॥

छींकें आना, सिर अत्यन्त भरा हुआ सा रहना, जकड़ाहट, अंगों में पीड़ा, रोमांच तथा विशेष प्रकार के मनुष्यों में अन्य उपद्रव भी प्रतिश्याय के पूर्वरूप माने गये हैं।

वातज प्रतिश्याय

आनद्धा पिहिता नासा तनुस्रावप्रसेकिनी।
गलताल्वोष्ठशोषश्च निस्तोदः शङ्खयोस्तथा ॥१६॥
क्षवप्रवृत्तिरत्यर्थं वक्त्रवैरस्यमेव च ।
भवेत् स्वरोपघातश्च प्रतिश्यायेऽनिलात्मके ॥१७॥

नाक भरी हुई एवं अवरुद्ध रहना तथा उससे पतला स्राव होना, गले, तालु एवं ओठों का सूखना, शंख-प्रदेशों में चुभन होना, छींक अधिक आना, मुख में विरसता और स्वरभेद-ये लक्षण वातज प्रतिश्याय में होते हैं।

पित्तज प्रतिश्याय

उष्णः सपीतकः स्रावो घ्राणात् स्रवति पैत्तिके।
कृशोऽतिपाण्डुः संतप्तो भवेदुष्णाभिपीडितः ॥१८॥
सधूममग्नि सहसा वमतीव स मानवः।

पित्तज प्रतिश्याय में नाक से गरम एवं पीला स्राव निकलता है। वह मनुष्य (रोगी) कृश, अत्यन्त पाण्डु एवं सन्ताप युक्त (ज्वर-युक्त) रहता है और जैसे धुआं और आग का वमन कर रहा हो इस प्रकार उष्णता से पीड़ित रहता है।

कफज प्रतिश्याय

घ्राणात् कफः कफकृते शीतः पाण्डुः स्रवेद्बहुः।
शुक्लावभासः शुक्लाक्षो भवेद् गुरुशिरा नरः ॥१९॥
कण्ठताल्वोष्ठशिरसां कण्डूभिरभिपीडितः ।

कफज प्रतिश्याय में नाक से शीतल, पाण्डुवर्ण एवं बहुत सा कफ निकलता है। रोगी की त्वचा एवं नेत्र श्वेत तथा सिर भारी हो जाता है तथा वह कण्ठ, तालु, ओंठ एवं सिर में खुजलाहट से पीड़ित रहता है

त्रिदोषज प्रतिश्याय

भूत्वा भूत्वा प्रतिश्यायो यस्याकस्मान्निवर्तते ॥२०॥
संपक्वो वाऽप्यपक्वो वा स सर्वप्रथमः स्मृतः ।

बार बार प्रतिश्याय उत्पन्न होकर पककर अथवा बिना पके ही शांत हुआ करता है—यह त्रिदोषज प्रतिश्याय है।

दुष्ट प्रतिश्याय

प्रक्लिद्यते पुनर्नासा पुनश्च परिशुष्यति ॥२१॥
पुनरानह्यते वाऽपि पुनर्विव्रियते तथा ।
निश्वासो वाऽतिदुर्गन्धो नरो गन्धान् वेत्ति च ॥२२॥
एवं दुष्टप्रतिश्यायं जानीयात् कृच्छ्रसाधनम् ।

नासिका बारम्बार गीली होती एवं सूखती है, बारम्बार अवरुद्ध होती और खुलती है, अत्यन्त दुर्गन्धित निश्वास निकलता है और मनुष्य गंध का ज्ञान नहीं कर पाता—इस प्रकार के प्रतिश्याय को कृच्छ्रसाध्य दुष्ट प्रतिश्याय समझना चाहिए।

वक्तव्य-(३१५) दुष्ट प्रतिश्याय भी त्रिदोषज ही होता है। किसी भी दोष से उत्पन्न प्रतिश्याय भलीभांति उपचार न होने पर त्रिदोष के अनुबन्ध से युक्त होकर दुष्ट होजाता है।

रक्तज प्रतिश्याय

रक्तजे तु प्रतिश्याये रक्तस्रावः प्रवर्तते ॥२३॥
ताम्राक्षश्च भवेज्जन्तुरुरोघातप्रपीडितः ।
दुर्गन्धोच्छ्वासवदनो गन्धानपि न वेत्ति सः ॥२४॥

रक्तज प्रतिश्याय में रक्त-स्राव होता है, रोगी के नेत्र लाल हो जाते हैं, वह उरोघात से पीड़ित रहता है, उसके निश्वास और मुख से दुर्गन्ध आती है और वह गंध का ज्ञान नहीं कर पाता।

वक्तव्य—(३१६) तंत्रान्तर में उरोघात के निम्न लक्षण कहे गये हैं।

उरःक्षतमुरःस्तम्भः पूतिकर्णकफो रसः।
सकासः सज्वरो क्षेय उरोघातः सपीनसः॥

अर्थात् उरोघात को उरःक्षत, उरःस्तंभ (वक्ष में जकड़ाहट), पूतिकर्ण, वक्ष में कफ भरा रहना, कासज्वर और पीनस से युक्त जानना चाहिए।

क्रिमिज प्रतिश्याय (Myiasis of the Nose)

सर्व एव प्रतिश्याया नरस्याप्रतिकारिणः।
दुष्टतां यान्ति कालेन तदाऽसाध्या भवन्ति हि॥२५॥
मूर्च्छन्ति चात्र क्रिमयः श्वेताः स्निग्धास्तथाऽणवः।
क्रिमितो यः शिरोरोगस्तुल्यं तेनास्य लक्षणम्॥२६॥

प्रतिकार (चिकित्सा) न करने वाले मनुष्य के प्रतिश्याय समय बीतने पर दुष्ट होकर असाध्य हो जाते हैं और वहां (नाक में) सफेद, चिकने एवं छोटे क्रिमि भी उत्पन्न हो जाते हैं। इसके लक्षण क्रिमिज शिरोरोग के समान होते हैं।

प्रतिश्याय के उपद्रव

बाधिर्यमान्ध्यमघ्रत्वं घोरांश्च नयनामयान्।
शोथाग्निसादकासांश्च वृद्धाः कुर्वन्ति पीनसाः॥२७॥

सभी प्रकार के पीनस पुराने होने पर (अथवा बढ़ने पर) बधिरता, अंधता, गंध-नाश, भयंकर नेत्ररोग, शोथ, अग्निमांद्य और कास उत्पन्न करते हैं

नासिका के अन्य रोग

अर्बुदं सप्तधा शोथाश्चत्वारोऽर्शश्चतुर्विधम्।
चतुर्विधं रक्तपित्तमुक्तं घ्राणेऽपि तद्विदुः॥२८॥

जो सात प्रकार के अर्बुद, चार प्रकार के शोथ चार प्रकार के अर्श और चार प्रकार के रक्तपित्त कहे जा चुके हैं उन्हें नाक में भी जानो अर्थात् उनकी उत्पत्ति नाक में भी होती है।

: ५९ :

नेत्ररोग

नेत्ररक्षा का महत्व

(चक्षूरक्षायां सर्वकालं मनुष्यै-
र्यत्नःकर्तव्यो जीविते यावदिच्छा।
व्यर्थो लोकोऽयं तुल्यरात्रिन्दिवानां
पुंसामन्धानां विद्यमानेऽपि वित्ते॥)

जब तक जीवित रहने की इच्छा है तब तक मनुष्य को सदैव नेत्रों की रक्षा करने के लिये यत्न करते रहना चाहिये। जिनके लिये दिन और रात बराबर हैं ऐसे अंधे लोगों के लिये धन होते हुए भी यह संसार व्यर्थ है।

नेत्ररोगों के सामान्य निदान

उष्णाभितप्तस्य जले प्रवेशाद्
दूरेक्षणात् स्वप्नविपर्ययाच्च।
स्वेदाद्रजोधूमनिषेवणाच्च
छर्देर्विघाताद्वमनातियोगात्॥१॥

द्रवात्तथाऽन्नान्निशि सेविताच्च
विण्मूत्रवातक्रमनिग्रहाच्च।
प्रसक्तसंरोदनकोपशोकाच्छि-
रोऽभिघातादतिमद्यपानात्॥२॥

तया ऋतूनां च विपर्ययेण

क्लेशाभिघातादतिमैथुनाच्च ।

वाष्पग्रहात् सूक्ष्मनिरीक्षणाच्च

नेत्रे विकाराञ्जनयन्ति दोषाः ॥३॥

गर्मी से शरीर तपा हुआ होने की दशा में जल में प्रवेश करने से; दूर की वस्तुएं देखने से; विपरीत क्रम से सोने से; ताप, धूल एवं धुवां लगने से (के सेवन से); वमन रोकने से; अधिक वमन होने से; रात्रि में द्रव भोजन ग्रहण करने से; मल-मूत्र एवं वायु का वेग रोकने से, लगातार रोने, क्रोध करने एवं शोक करने से; सिर पर अभिघात लगने से; अधिक शराब पीने से; ऋतुओं के क्रम में विकृति होने से; क्लेश, अभिघात एवं अतिमैथुन से; आंसुओं को रोकने से तथा सूक्ष्म पदार्थों के निरीक्षण से दोष (कुपित होकर) नेत्र में विकार उत्पन्न करते हैं।

अभिष्यन्द रोग

वातात् पित्तात् कफाद्रक्तादभिष्यन्दश्चतुर्विधः ।
प्रायेण जायते घोरः सर्वनेत्रामयाकरः ॥४॥

वातज, पित्तज, कफज और रक्तज—अभिष्यन्द (Conjunctivitis) ४ प्रकार का होता है। यह प्रायः अत्यन्त कष्टदायक और सब प्रकार के नेत्र रोगों को उत्पन्न करने वाला होता है।

वातज अभिष्यन्द

निस्तोदनस्तम्भनरोमहर्ष-

संघर्षपारुष्यशिरोऽभितापाः ।

विशुष्कभावः शिशिराश्रुता च

वाताभिपन्ने नयने भवन्ति ॥५॥

नेत्रों में वातज अभिष्यन्द होने पर चुभन, जकड़ाहट, रोमहर्ष, रगड़ लगने का अनुभव होना (किरकिराहट), रूखापन, सिरदर्द, शुष्कता और शीतल आंसू निकलना—ये लक्षण होते हैं।

पित्तज अभिष्यन्द

दाहप्रपाकौ शिशिराभिनन्दा

धूमायनं वाष्पसमुच्छ्रयश्च ।

उष्णाश्रुता पीतकनेत्रता च

पित्ताभिपन्ने नयने भवन्ति ॥६॥

नेत्रों में पित्तज अभिष्यन्द होने पर दाह, पाक, शीतल पदार्थ अच्छे लगना, नेत्रों से धुआं एवं भाफ निकलने के समान अनुभव होना, गर्म आंसू निकलना और पीलापन—ये लक्षण होते हैं।

कफज अभिष्यन्द

उष्णाभिनन्दा गुरुताऽक्षिशोथः

कण्डूपदेहावतिशीतता च ।

स्रावोमुहुः पिच्छिल एव चापि

कफाभिपन्ने नयने भवन्ति ॥७॥

कफ से नेत्रों में अभिष्यन्द होने पर उष्ण पदार्थ अच्छे लगना, भारीपन, नेत्रों में शोथ, खुजलाहट, देह में अत्यन्त शीतलता तथा वारम्बार पिच्छिल स्राव निकलना—ये लक्षण होते हैं।

रक्तज अभिष्यन्द

ताम्राश्रुता लोहितनेत्रता च

नाड्यः समन्तादतिलोहिताश्च ।

पित्तस्य लिङ्गानि च यानि तानि

रक्ताभिपन्ने नयने भवन्ति ॥८॥

रक्त से नेत्रों में अभिष्यन्द होने पर ताम्रवर्ण के आंसू निकलना, नेत्र लाल रहना, आस पास की नाड़ियां (रक्तवाहिनियां) अत्यन्त लाल रहना तथा पित्तज अभिष्यन्द के जो लक्षण हैं वे सभी होते हैं।

वक्तव्य—(३१७) अभिष्यन्द को साधारण भाषा में 'आंख आना' कहते हैं।

अधिमन्थ रोग

वृद्धै रेतैरभिष्यन्दैर्नराणामक्रियावताम् ।
तावन्तस्त्वधिमन्थाः स्युर्नयने तीव्रवेदनाः ॥९॥

चिकित्सा न कराने वाले मनुष्यों के यही अभिष्यन्द बढ़ने पर इतने ही प्रकार के (तीव्र पीड़ा करने वाले) अधिमन्थ (Acute Glaucoma) रोग नेत्रों में होते हैं।

अधिमन्थ के सामान्य लक्षण

उत्पाट्यत इवात्यर्थं नेत्रं निर्मथ्यते तथा।
शिरसोऽर्धं च तं विद्यादधिमन्थं स्वलक्षणैः ॥१०॥

नेत्र और आधे सिर में ऐसा प्रतीत होता है जैसे कोई फाड़कर निकाल रहा हो तथा मथ रहा हो—इन लक्षणों से अधिमन्थ समझना चाहिये।

अधिमन्थ का परिणाम

हन्याद्दृष्टिं श्लैष्मिकः सप्तरात्राद-
धीमन्थो रक्तजः पञ्चरात्रात्।
यत्षड्रात्राद्वातिको वै निहन्यात्
मिथ्याचारात् पैत्तिकः सद्य एव ॥११॥

कुपथ्य करने पर कफज अधिमन्थ ७ दिनरात में, रक्तज ५ दिनरात में, वातज ६ दिनरात में और पित्तज तुरन्त ही (अथवा ३ दिनरात में) दृष्टि का नाश कर देता है।

नेत्ररोगों की आमावस्था के लक्षण

उदीर्णवेदनं नेत्रं रोगशोथसमन्वितम् ।
घर्षनिस्तोदशूलाश्रुयुक्तमामान्वितं विदुः ॥१२॥

नेत्र तीव्र वेदना, लाली, शोथ, किरकिराहट, चुभन, शूल एवं आंसुओं से युक्त होने पर आम युक्त समझने चाहिये।

नेत्ररोगों की पक्वावस्था के लक्षण

मन्दवेदनता कण्डूः संरम्भाश्रुप्रशान्तता ।
प्रशस्तवर्णता चाक्ष्णोः संपक्वं दोषमादिशेत् ॥१३॥

नेत्र में वेदना की कमी, खुजलाहट, शोथ और आंसुओं का शान्त होना तथा नेत्रों का वर्ण स्वाभाविक हो जाना–इन लक्षणों को देखकर दोषों को पक्व बतलाना चाहिये।

नेत्रपाक (*Panophthalmitis*)

कण्डूपदेहाश्रुयुतः पक्वोदुम्बरसंनिभः ।
संरम्भी पच्यते यस्तु नेत्रपाकः स शोथजः।
शोथहीनानि लिङ्गानि नेत्रपाके त्वशोथजे ॥१४॥

खुजलाहट, नेत्रमल (कीचड़) और आंसुओं से युक्त, पके हुए गूलर के समान तथा शोथ युक्त नेत्र का पाक शोथज पाक है।

अशोथज नेत्र-पाक में शोथ को छोड़कर पाक के शेष लक्षण होते हैं।

हताधिमन्थ

उपेक्षणादक्षि यदाऽधिमन्थो
वातात्मकः सादयति प्रसह्य ।
रुजाभिरुग्राभिरसाध्य एष
हताधिमन्थः खलु नाम रोगः ॥१५॥

जब उपेक्षा करने से वातज अधिमन्थ उग्र पीड़ाओं से आंख को अत्यधिक नष्ट कर देता है (बैठाल देता है) तब वह हताधिमन्थ (*Absolute Glaucoma*) नामक असाध्य रोग कहलाता है।

वातपर्याय

वारंवारं च पर्येति भ्रुवौ नेत्रे च मारुतः।
रुजश्च विविधास्तीव्राः स ज्ञेयो वातपर्ययः ॥१६॥

पारी पारी से भौंह एवं नेत्र में बारम्बार वायु प्रकुपित होती है तथा अनेक प्रकार की तीव्र पीड़ा होती है—इसे वातपर्याय समझना चाहिये।

शुष्काक्षिपाक

यत् कूणितं दारुणरूक्षवर्त्म
संदह्यते चाविलदर्शनं यत् ।
सुदारुणं यत् प्रतिबोधने च
शुष्काक्षिपाकोपहतं तदक्षि ॥१७॥

कठोर एवं रूक्ष पलकों वाला जो नेत्र बन्द करने पर दाह करता है, जो देखने में गदला प्रतीत होता है और जिसे खोलने में भी कष्ट होता है वह नेत्र शुष्काक्षिपाक (*Xerosis, xerophthalmia*) से पीड़ित है।

अन्यतोवात

यस्यावटूः कर्णशिरोहनुस्थो
मन्यागतो वाऽप्यनिलोऽन्यतो वा।
कुर्याद्रुजं वै भ्रुवि लोचने च
तमन्यतोवातमुदाहरन्ति ॥१८॥

जिसके अवटु (ग्रीवा का पिछला भाग, चैंथी), कान, सिर, हनु, मन्या या अन्य स्थान में स्थित वायु भौंह और नेत्र में पीड़ा करता है उसके रोग (नेत्ररोग) को अन्यतोवात (*Referred pain in the eye*) कहते हैं।

अम्लाध्युषित

श्यावं लोहितपर्यन्तं सर्वं चाक्षि प्रपच्यते ।
सदाहशोथं सास्रावमम्लाध्युषितमम्लतः ॥१९॥

अम्लता (की अधिकता) से श्याव वर्ण, लाल किनारों वाला तथा दाह, शोथ और स्राव से युक्त होकर पूरा नेत्र पकता है।

वक्तव्य– (३१८) रक्त में अम्लता की वृद्धि (अम्लोत्कर्ष, *Acidosis*) होने से अंधता की उत्पत्ति पाश्चात्य विद्वान भी मानते हैं किन्तु पाक के सम्बन्ध में मत-भेद है।

सिरोत्पात

अवेदना वाऽपि सवेदना वा
यस्याक्षिराज्यो हि भवन्ति ताम्राः ।
मुहुर्विरज्यन्ति च याः समन्ताद्
व्याधिः सिरोत्पात इति प्रदिष्टः ॥२०॥

पीड़ा के बिना अथवा पीड़ा के साथ जिस रोग में नेत्र की सिरायें लाल हो जाती हैं और अधिकाधिक लाल होती जाती हैं वह व्याधि सिरोत्पात (*Pannus*) मानी गई है।

सिराप्रहर्ष

मोहात्सिरोत्पात उपेक्षितस्तु
जायेत रोगस्तु सिराप्रहर्षः ।
ताम्राभमस्रं स्रवति प्रगाढं
तथा न शक्नोत्यभिवीक्षितुं च ॥२१॥

मूर्खतावश सिरोत्पात की उपेक्षा की जाने पर सिराप्रहर्ष रोग उत्पन्न होता है—लाल रङ्ग के गाढ़े रक्त का स्राव होता है जिससे देखने में असमर्थता (*Amaurosis*, अंधता) उत्पन्न होती है।

सव्रण शुक्ल

निमग्नरूपं तु भवेद्धि कृष्णे
सूच्येव विद्धं प्रतिभाति यद्व ।
स्रावं स्रवेदुष्णमतीव यच्च
तत् सव्रणं शुक्ल (क) मुदाहरन्ति ॥२२॥

कृष्णमण्डल (Cornea) में जो सुई छिदने से बने व्रण के समान दिखने वाला व्रण कठिनाई से दृष्टिगोचर होता है और जो अत्यन्त गरम स्राव करता है उसे सव्रण शुक्ल (Purulent Keratitis) कहते हैं।

सव्रण शुक्ल की साध्यासाध्यता

दृष्टेः समीपे न भवेत्तु यच्च
न चावगाढं न च संस्रवेद्धि ।
अवेदनं वा न च युग्मशुक्लं
तत् सिद्धिमायाति कदाचिदेव ॥२३॥

जो दृष्टि के समीप न हो, गंभीर न हो, अधिक स्राव न करता हो या पीड़ा न करता हो तो सव्रण शुक्ल साध्य होता है किन्तु दो शुक्ल एक साथ होने पर कदापि साध्य नहीं होते।

अव्रण शुक्ल

स्यन्दात्मकं कृष्णगतं सचोषं
शङ्खेन्दुकुन्दप्रतिमावभासम् ।
वैहायसाभ्रप्रतनुप्रकाश
मथाव्रणं साध्यतमं वदन्ति ॥२४॥

कृष्णमण्डल में अभिष्यन्द से उत्पन्न चुभनयुक्त, शंख, चन्द्रमा तथा कुन्दपुष्प से आवृत आकाश के समान (धुधंला) अव्रण शुक्ल (Non-purulent Keratitis) सुखसाध्य है।

अव्रण शुक्ल की साध्यासाध्यता

गम्भीरजातं बहुलं च शुक्लं
चिरोत्थितं चापि वदन्ति कृच्छ्रम् ।
विच्छिन्नमध्यं पिशितावृतं वा
चलं सिरासूक्ष्ममदृष्टिकृच्च ।
द्वित्वग्गतं लोहितमन्ततश्च
चिरोत्थितं चापि विवर्जनीयम् ॥२५॥
उष्णाश्रुपातः पिडका च नेत्रे
यस्मिन् भवेन्मुद्गनिभं च शुक्लम् ।

तदप्यसाध्यं प्रवदन्ति केचि-

दन्यच्च यत्तित्तिरिपक्षतुल्यम् ॥२६॥

जो गहरा हो चुका हो, बहुत सा (म. को. कार के मत से पतले बादलों से आवृत आकाश से अधिक घन) और पुराना अव्रण शुक्ल कृच्छ्रसाध्य कहा गया है।

जिसके मध्य में व्रण हो, जो मांस से आवृत हो, जो स्थिर न हो, जो सिराओं से आच्छादित होने के कारण सूक्ष्म हो, जो दृष्टि का नाश कर चुका हो, जो दो त्वचाओं में व्याप्त हो, जो किनारों पर लाल हो और जो पुराना हो ऐसा अव्रण शुक्ल प्रत्याख्येय है।

जिसमें गरम आंसू निकलते हों और नेत्र में मूंग के बराबर श्वेत पिड़का हो वह भी असाध्य है। जो तीतर के पंख के समान (वर्ण वाला) हो उसे भी कुछ विद्वान असाध्य कहते हैं।

अक्षिपाकात्यय

श्वेतः समाक्रामति सर्वतो हि

दोषेण यस्यासितमण्डलं च।

तमक्षिपाकात्ययमक्षिरोगं

सर्वात्मकं वर्जयितव्यमाहुः ॥२७॥

जिस रोग में दोष-प्रकोप से श्वेतता सारे कृष्णमण्डल में फैलती है उस अक्षिपाकात्यय नामक रोग को त्रिदोषज और प्रत्याख्येय कहा है।

वक्तव्य (३२०)—यह शुक्ल रोग अथवा अधि-मन्थ से सम्बन्धित दशा हुआ करती है।

अजकाजात

अजापुरीषप्रतिमो रुजावान्

सलोहितो लोहितपिच्छिलास्रः।

विगृह्य कृष्णं प्रचयोऽभ्युपैति

तच्चाजकाजातमिति व्यवस्येत् ॥२८॥

लाल एवं पिच्छिल रक्त का जो लालिमायुक्त, पीड़ा करने वाला, बकरी की मेंगनी के आकार का संचय (कोष) कृष्णमण्डल को ग्रहण करके प्रकट होता है उसे अजकाजात कहना चाहिये।

तिमिर रोग

प्रथमे पटले दोषा यस्य दृष्ट्यां व्यवस्थिताः।

अव्यक्तानि स रूपाणि कदाचिदथ पश्यति ॥२९॥

जिसकी दृष्टि के प्रथम पटल में दोष स्थित होते हैं उसे कभी कभी धुंधला दीखता है।

द्वितीय पटल गत तिमिर

दृष्टिर्भृशं विह्वलति द्वितीयं पटलं गते।

मक्षिकामशकांश्चापि जालकानि च पश्यति ॥३०॥

मण्डलानि पताकांश्च मरीचीन् कुण्डलानि च।

परिप्लवांश्च विविधान् वर्षमभ्रं तमांसि च ॥३१॥

दूरस्थानि च रूपाणि मन्यते स समीपतः।

समीपस्थानि दूरे च दृष्टेर्गोचरविभ्रमात् ॥३२॥

यत्नवानपि चात्यर्थं सूचीपाशं न पश्यति।

द्वितीय पटल में दोष की स्थिति होने पर दृष्टि अत्यन्त विह्वल (विकार ग्रस्त) हो जाती है। रोगी अनेक प्रकार की मक्खी, मच्छड़, जाल, मण्डल, ध्वजा, किरणें, कुण्डल, वर्षा के मेघ, अन्धकार आदि को चारों ओर व्याप्त देखता है। दृष्टिविभ्रम के कारण वह दूर के पदार्थों को पास और पास के पदार्थों को दूर समझता है तथा अत्यधिक प्रयत्न करने पर भी सुई के डोरे को नहीं देख पाता।

तृतीय पटल गत तिमिर

ऊर्ध्वं पश्यति नाधस्तात्तृतीयं पटलं गते ॥३३॥

महान्त्यपि च रूपाणि छादितानीव चाम्बरैः।

कर्णनासाक्षिहीनानि विकृतानीव पश्यति ॥३४॥

यथादोषं च रज्येत दृष्टिर्दोषे बलीयसि।

दोष की स्थिति तृतीय पटल में होने पर वह ऊपर देख सकता है किन्तु नीचे नहीं देख सकता। बड़ी आकृतियों को भी वस्त्रों से आच्छादित के समान, कान नाक आंख आदि से विहीन एवं विकृत देखता है (और छोटी आकृतियों को नहीं देख पाता)। दोष के बलवान होने पर दृष्टि का रङ्ग भी दोष के अनु-रूप हो जाता है (जैसे पित्त से पीला, कफ से श्वेत, वात से कृष्णाभ, रक्त से लाल)।

अधःस्थिते समीपस्थं दूरस्थं चोपरिस्थिते ॥३५॥
पार्श्वस्थिते तथा दोषे पार्श्वस्थं नैव पश्यति ।
समन्ततः स्थिते दोषे संकुलानीव पश्यति ॥३६॥
दृष्टिमध्यस्थिते दोषे महद्ध्रस्वं च पश्यति ।
द्विधा स्थिते द्विधा पश्येद्वहुधा चानवस्थिते ॥३७॥
दोषे दृष्ट्याश्रिते तिर्यक् स एकं मन्यते द्विधा ।

दोष की स्थिति नीचे होने पर पास की वस्तुओं को, ऊपर होने पर दूर की वस्तुओं को तथा पार्श्व में होने पर बाजू की वस्तुओं को नहीं देख पाता। दोषों की स्थिति चारों ओर (या सर्वत्र) होने पर सब मिला हुआ सा देखता है। दृष्टि के बीचों बीच दोष स्थित होने पर बड़े पदार्थ छोटे देखता है। दो प्रकार से स्थिति होने पर दो प्रकार से और दोष एक जगह पर स्थिर न रहने से बहुत प्रकार से देखता है। दृष्टि में दोष तिरछा स्थित होने पर रोगी एक वस्तु को दो मानता (देखता) है।

चतुर्थपटल गत तिमिर

तिमिराख्यः स वै दोषश्चतुर्थं पटलं गतः ॥३८॥
रुणद्धि सर्वतो दृष्टिं लिङ्गनाशमतः परम् ।
अस्मिन्नपि तमोभूते नातिरूढे महागदे ॥३९॥
चन्द्रादित्यौ सनक्षत्रावन्तरीक्षे च विद्युतः ।
निर्मलानि च तेजांसि भ्राजिष्णून्यथ पश्यति ॥४०॥

तिमिर नामक यही दोष चतुर्थ पटल में पहुँचने पर दृष्टि को सब ओर से रोककर पूर्ण लिंगनाश (दृष्टि नाश) कर देता है। जब यह अन्धकार रूपी महाव्याधि न बढ़ी हो तब रोगी आकाश में चन्द्र, सूर्य, तारागण, बिजली तथा अन्य निर्मल तेजयुक्त चमकदार पदार्थों को देख लेता है।

तिमिर के अन्य नाम

स एव लिङ्गनाशस्तु नीलिका काचसंज्ञितः ।

यही (तिमिर नामक दोष) जो (तृतीय पटल में होने पर) काच कहलाता है। (चतुर्थ पटल में पहुँचने पर) लिंगनाश और नीलिका कहलाता है।

तिमिर रोग के दोषानुसार लक्षण

वातेन चापि रूपाणि भ्रमन्तीव च पश्यति ॥४१॥
आविलान्यरुणाभानि व्याविद्धानीव मानवः ।
पित्तेनादित्यखद्योतशक्रचापतडिद्गुणान् ॥४२॥
नृत्यतश्चैव शिखिनः सर्वं नीलं च पश्यति ।
कफेन पश्येद्रूपाणि स्निग्धानि च सितानि च ॥४३॥
(पश्येदसूक्ष्माण्यत्यर्थं व्यभ्रमेवाभ्रसंप्लवम् ।)
सलिलप्लावितानीव परिजाड्यानि मानवः ।
पश्येद्रक्तेन रक्तानि तमांसि विविधानि च ॥४४॥
स सितान्यपि कृष्णानि पीतान्यपि च मानवः ।
सन्निपातेन चित्राणि विप्लुतानीव पश्यति ॥४५॥
बहुधा च द्विधा चापि सर्वाण्येव समन्ततः ।
हीनाधिकाङ्गान्यपि तु ज्योतींष्यपि च भूयसा ॥४६॥

वातज तिमिर रोग से रोगी पदार्थों को घूमता हुआ सा, मलिन, अरुण वर्ण वाला और कुटिल देखता है।

पित्तज तिमिर रोग से रोगी सूर्य, जुगनू, इन्द्रधनुष एवं बिजली के समान (चमकदार) तथा नाचते हुए मोरों के समान सब कुछ नीला देखता है।

कफज तिमिर रोग से रोगी पदार्थों को स्निग्ध, श्वेत और (बड़े देखता है, मेघरहित आकाश को मेघाच्छन्न देखता है) तथा पदार्थों को जल में डुबाये हुये के समान गीले देखता है।

रक्तज से तिमिर से रोगी अनेक प्रकार के लाल एवं काले रङ्ग देखता है। वह सफेद तथा पीले पदार्थों को भी काले देखता है।

सन्निपातज तिमिर से रोगी विचित्र एवं विपरीत देखता है। वह चारों ओर के सभी पदार्थों को दुगुने या कई गुने देखता है, अङ्ग हीन या अधिक अंगों वाला देखता है तथा बहुतसी ज्योतियां देखता है।

परिम्लायिका

पित्तं कुर्यात् परिम्लायि मूर्च्छितं पित्ततेजसा ।
पीता दिशस्तु खद्योतान् भास्करं चापि पश्यति ॥४७॥
विकीर्यमाणान् खद्योतैर्वृक्षांस्तेजोभिरेव वा ।

(अन्वय—(तिमिरं) पित्तं परिम्लायि मूर्च्छितं कुर्यात्। (ततः स रोगी) पित्ततेजसा दिशस्तु पीताः पश्यति, खद्योतान् भास्करं चापि पश्यति, वृक्षान् खद्योतैः तेजोभिः एव वा विकीर्यमाणान् पश्यति।)

तिमिर को पित्त मैला करके उभार देता है। इससे वह रोगी पित्त के तेज के कारण चारों ओर पीला ही पीला देखता है, जुगुनू और सूर्य (उपस्थित न होते हुये भी) देखता है और वृक्षों को जुगनुओं एवं प्रकाश-किरणों से व्याप्त देखता है।

वर्णभेद से तिमिर (परिम्लायका) के भेद

वक्ष्यामि षड्विधं रागैर्लिङ्गनाशमतः परम् ॥४८॥
रागोऽरुणो मारुतजः प्रदिष्टो
म्लायी च नीलश्च तथैव पित्तात्।
कफात् सितः शोणितजः सरक्तः
समस्तदोषप्रभवो विचित्रः ॥४९॥

अब राग (या वर्ण) के भेद से ६ प्रकार के लिंग नाश (तिमिर) का वर्णन करूंगा।

अरुण वर्ण वातजन्य; म्लायी (मैला, पीत-नील) और नीला वर्ण पित्तजन्य; श्वेत वर्ण कफजन्य; लाल रंग रक्तजन्य और चितकबरा वर्ण सन्निपातजन्य कहा गया है।

परिम्लायिका के सामान्य लक्षण

अरुणं मण्डलं दृष्ट्यां स्थूलकाचारुणप्रभम्।
परिम्लायिनि रोगे स्यान्म्लायि नीलं च मण्डलम् ॥५०॥
दोषक्षयात् स्वयं तत्र कदाचित् स्यात्तु दर्शनम्।

दृष्टि में मोटे कांच के समान अरुणाभ प्रतीत होने वाला अरुण मण्डल, मैला मण्डल और नीला मण्डल परिम्लायिका रोग में होता है। कभी कभी इसमें दोष का क्षय होने पर स्वयं ही दीखने लग जाता है।

दोषानुसार तिमिर (परिम्लायिका) के विशिष्ट लक्षण

अरुणं मण्डलं वाताच्चञ्चलं परुषं तथा ॥५१॥
पित्तान्मण्डलमानीलं कांस्याभं पीतमेव च।
श्लेष्मणा बहुलं पीतं शङ्खकुन्देन्दुपाण्डुरम् ॥५२॥
चलत्पद्मपलाशस्थः शुक्लो विन्दुरिवाम्भसः।
मृज्यमाने च नयने मण्डलं तद्विसर्पति ॥५३॥
प्रवालपद्मपत्राभं मण्डलं शोणितात्मकम्।
दृष्टिरागो भवेच्चित्रो लिङ्गनाशे त्रिदोषजे।
यथास्वं दोषलिङ्गानि सर्वेष्वेव भवन्ति हि ॥५४॥

वात से अरुण, चंचल एवं रूखा मण्डल होता है।

पित्त से नीलाभ, कांस्याभ (किंचित् पाण्डु वर्ण) एवं पीला मंडल होता है।

कफ से बड़ा (घन, स्थूल, विस्तीर्ण), पीला; शङ्ख, कुन्दपुष्प एवं चन्द्रमा के समान पीताभ श्वेत अथवा हिलते हुए कमलपत्र पर पड़ी जल की बूंद के समान श्वेत मंडल होता है। नेत्र को मलने पर यह मण्डल सरकता है।

रक्तज मंडल मूंगे या कमल-पुष्प की पंखुड़ी के समान वर्ण का होता है।

त्रिदोषज लिंगनाश में दृष्टि (दृष्टि-मण्डल) का रङ्ग चितकबरा हो जाता है।

सभी में अपने अपने दोषों के अनुसार (अन्य) लक्षण होते ही हैं।

दृष्टिगत रोगों की संख्या

षड् लिङ्गनाशाः षडिमे च रोगा
दृष्ट्याश्रयाः षट् च षडेव वाच्याः।

छः लिङ्गनाश और छः ये (आगे कहे जाने वाले पित्तविदग्ध दृष्टि आदि) रोग—इस प्रकार दृष्टिगत रोग छः और छः (कुल बारह) ही कहने चाहिये।

पित्तविदग्ध दृष्टि

पित्तेन दुष्टेन सदा तु दृष्टिः
पीता भवेद्यस्य नरस्य किञ्चित् ॥५५॥
पीतानि रूपाणि च तेन पश्येत
स वै नरः पित्तविदग्धदृष्टिः।
प्राप्ते तृतीयं पटलं तु दोषे
दिवा न पश्येन्निशि चेक्षते सः ॥५६॥

रात्रौ च शीतानुगृहीतदृष्टिः
पित्ताल्पभावादपि तानि पश्येत् ।

जिस मनुष्य की दृष्टि दूषित पित्त के कारण पीली हो जाती है और उसके कारण वह सभी पदार्थों को पीले देखता है (पीत-दृष्टि Xanthopsia) वह मनुष्य पित्तविदग्ध दृष्टि है।

तृतीय पटल में दोष (पित्त) पहुँच जाने पर वह दिन में नहीं देख सकता (दिवान्धता Day-blindness) किन्तु रात में देखता है। रात्रि में दृष्टि पर शीत के अनुकूल प्रभाव से तथा पित्त की कमी से वह पदार्थों को देखता है।

श्लेष्म-विदग्ध दृष्टि

तथा नरः श्लेष्मविदग्धदृष्टिस्तान्येव
शुक्लानि तु मन्यते सः ॥५७॥
त्रिषु स्थितोऽल्पः पटलेषुदोषो
नक्तान्ध्यमापादयति प्रसह्य ।
दिवा स सूर्यानुगृहीतदृष्टिः
पश्येत्तु रूपाणि कफाल्पभावात् ॥५८॥

इसी प्रकार श्लेष्म-विदग्ध दृष्टि मनुष्य उन्हीं पदार्थों) को सफेद मानता (देखता) है ।

तीनों पटलों में अल्प दोष (कफ) स्थित होकर बलपूर्वक नक्तान्ध्य (रात्र्यन्धता, रतौंधी, Night-blindness) उत्पन्न करता है। वह रोगी दिन में दृष्टि पर सूर्य के अनुकूल प्रभाव से तथा कफ की कमी से पदार्थों को देखता है।

धूमदर्शी

शोकज्वरायासशिरोऽभितापै-
रभ्याहता यस्य नरस्य दृष्टिः ।
धूम्रांस्तथा पश्यति सर्वभावान्
स धूमदर्शीति नरः प्रदिष्टः ॥५९॥

शोक, ज्वर, परिश्रम एवं शिरोरोग से जिसकी दृष्टि मारी जाती है वह सभी पदार्थों को धुएं के समान (अथवा धुएं से आवृत के समान, धुंधला) देखता है। वह मनुष्य धूमदर्शी कहलाता है।

ह्रस्वजाड्य

यो ह्रस्वजाड्यो दिवसेषुकृच्छ्राद्
ह्रस्वानि रूपाणि च तेन पश्येत् ।

जो ह्रस्वजाड्य रोग है उसके कारण रोगी दिन में कठिनाई से (पदार्थों के) छोटे रूप देखता है।

नकुलान्ध्य

विद्योतते यस्य नरस्य दृष्टि-
र्दोषाभिपन्ना नकुलस्य यद्वत् ॥६०॥
चित्राणि रूपाणि दिवा स पश्येत्
स वै विकारो नकुलान्ध्यसंज्ञः ।

जिस रोगी की दृष्टि दोषों (त्रिदोष) से होने के कारण नेवले की आक्रांत दृष्टि के समान चमकती है वह दिन में (पदार्थों के) विचित्र (या चितकबरे) रूप देखता है। यह नकुलान्ध्य नामक विकार है।

वक्तव्य (३२१)—धूमदर्शी, ह्रस्वजाड्य और नकुलान्ध्य नक्तान्ध्य (Night Blindness) के ही भेद हैं।

गम्भीरिका (Phthisis Bulbi)

दृष्टिर्विरूपा श्वसनोपसृष्टा
संकोचमभ्यन्तरस्तु याति ॥६१॥
रुजावगाढा च तमक्षिरोगं
गम्भीरिकेति प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ।

वायु से उपसृष्ट दृष्टि विरूप (कुरूप, भद्दी अथवा रूप-दर्शन में असमर्थ) हो जाती है तथा भीतर की ओर संकुचित हो जाती है और गंम्भीर पीड़ा होती है। इस नेत्ररोग को नेत्र-विशेषज्ञ गम्भीरिका कहते हैं।

आगन्तुज लिङ्गनाश (दृष्टि नाश)

बाह्यौ पुनर्द्वाविह संप्रदिष्टौ
निमित्ततश्चाप्यनिमित्ततश्च ॥६२॥
निमित्ततस्तत्र शिरोऽभितापाज्ज्ञे-
यस्त्वभिष्यन्दनिदर्शनः सः ।

सुरर्षिगन्धर्वमहोरगाणां
संदर्शनेनापि च भास्करस्य ॥६३॥
हन्येत दृष्टिर्मनुजस्य यस्य
स लिङ्गनाशस्त्वनिमित्तसंज्ञः ।
तत्राक्षि विस्पष्टमिवावभाति
वैदूर्यवर्णा विमला च दृष्टिः ॥६४॥

बाह्य (आगन्तुज) लिङ्गनाश दो प्रकार का बतलाया गया है—निमित्तज और अनिमित्तज ।

निमित्तज लिङ्गनाश शिरःशूल से उत्पन्न होता है । इसके लक्षण अभिष्यन्द से समान होते हैं ।

देवता, ऋषि, गंधर्व, महासर्प और सूर्य को देखने से जिस मनुष्य की दृष्टि मारी जाती है उसका लिङ्गनाश अनिमित्तज कहलाता है । इसमें नेत्र साफ सुथरा दीखता है और दृष्टि भी विमल एवं वैदूर्य-मणि के वर्ण (स्वाभाविक वर्ण) की रहती है ।

अर्म रोग (Pterygium)

प्रस्तार्यर्म

प्रस्तार्यर्म तनुस्तीर्णं श्यावं रक्तनिभं सिते ।

श्वेत भाग में पतला, विस्तीर्ण, श्याव वर्ण अथवा लाल वर्ण का प्रस्तार्यर्म होता है ।

शुक्लार्म

सश्वेतं मृदु शुक्लार्म शुक्ले तद्वर्धते चिरात् ॥६५॥

श्वेत भाग में श्वेत और मृदु शुक्लार्म होता है। यह बहुत दिनों में बढ़ता है ।

रक्तार्म

पद्माभं मृदु रक्तार्म यन्मांसं चीयते सिते ।

श्वेत भाग में लाल कमल के वर्ण का और कोमल जो मांस बढ़ता है वह रक्तार्म है ।

अधिमांसार्म

पृथु मृद्वधिमांसार्म बहलं च यकृन्निभम् ॥

अधिमांसार्म विस्तृत, कोमल, मोटा एवं यकृत के समान वर्णवाला होता है ।

स्नाय्वर्म

स्थिरं प्रस्तारि मांसाढ्यं
शुष्कं स्नाय्वर्म पञ्चमम् ॥६६॥

स्नाय्वर्म नामक पांचवां अर्म स्थिर, फैलने वाला, अधिक मांस वाला और शुष्क होता है ।

वक्तव्य (३२२)—अर्म (*Pterygium*) नेत्रकला की एक विशेष प्रकार की वृद्धि है जो प्रायः नाक की तरफ के कोण से आरम्भ होकर क्रमशः कनीनिका को आच्छादित करती है । कनीनिका की ओर यह क्रमशः सकरी होती जाती है ।

शुक्तिका (Xerosis, Xerophthalmia)

श्यावाः स्युः पिशितनिभाश्च बिन्दवो ये
शुक्त्याभाः सितनियताः स शुक्तिसंज्ञः ।

श्वेतमण्डल में स्थित श्याव वर्ण अथवा मांस के समान वर्ण वाले तथा सीप के आकार के जो बिन्दु होते हैं वह शुक्ति नामक रोग है ।

अर्जुन (Subconjunctival Ecchymosis)

एको यः शशरुधिरोपमश्च बिन्दुः
शुक्लस्थो भवति तमर्जुनं वदन्ति ॥६७॥

खरगोश के रक्त के समान जो एक बिन्दु शुक्ल-मण्डल में स्थित हो जाता है उसे अर्जुन कहते हैं ।

पिष्टक

श्लेष्ममारुतकोपेन शुक्ले पिष्टं समुन्नतम् ।
पिष्टवत् पिष्टकं विद्धि मलाक्तादर्शसंनिभम् ॥६८॥

श्वेत भाग में कफ-वायु के प्रकोप से पिष्टक उभर आता है । पिष्टक (Pinguecula) को पिट्ठी के समान समझना चाहिये अथवा मैले दर्पण के समान समझना चाहिये ।

सिराजाल

जालाभः कठिनसिरो महान् सरक्तः
संतानः स्मृत इह जालसंज्ञितस्तु ।

लालिमा युक्त, बड़ा, कठिन शिराओं वाला, जाल के समान विस्तार जाल(सिराजाल) (Congestion of the Blood vessels of the eye) माना गया है ।

सिराज पिडका

शुक्लस्थाः सितपिडकाः सिरावृता या-
स्ता ब्रूयादसितसमीपजाः सिराजाः ।

कृष्ण मण्डल के समीप श्वेत भाग में स्थित सफेद पिडकाएं जो सिराओं से आवृत हों उन्हें सिराज पिडका (Phlyctenular Conjunctivitis) कहना चाहिये ।

बलास ग्रथित

कांस्याभोऽमृदुरथ वारिबिन्दुकल्पो
विज्ञेयो नयनसिते बलाससंज्ञः ॥६९॥

नेत्र के श्वेत भाग में जल बिन्दु के समान, कांसे के वर्ण की एवं कठोर ग्रन्थि को बलास (बलास-ग्रन्थि) (Lymphangiectasis or Lymphangioma of the Conjunctiva) कहते हैं ।

पूयालस

पक्वः शोथः सन्धिजो यः सतोदः
स्रवेत् पूयं पूति पूयालसाख्यः ।

(कनीनिकाओं की) संधि में पक्व शोथ जो तोद-युक्त हो और दुर्गन्धित पूयस्राव करे वह पूयालस (Dacryocystitis) कहलाता है ।

उपनाह

ग्रन्थिर्नाल्पो दृष्टिसन्धावपाकी
कण्डूप्रायो नीरुजस्तूपनाहः ॥७०॥

दृष्टिसंधि में बड़ी, न पकने वाली, प्रायः खुज-लाने वाली और पीड़ा न करने वाली ग्रंथि उपनाह (Obstruction of the Lacrymal Duct) है ।

नेत्रश्राव एवं नेत्रनाड़ी

गत्वा सन्धीनश्रुमार्गेण दोषाः
कुर्युः स्रावान् लक्षणैः स्वैरुपेतान् ।
तं हि स्रावं नेत्रनाडीति चैके
तस्या लिङ्गं कीर्तयिष्ये चतुर्धा ॥७१॥

दोष अश्रु मार्ग से संधियों में पहुँच कर अपने अपने लक्षणों से युक्त स्राव करते हैं । उसी स्राव को कुछ लोग नेत्रनाड़ी (Suppuration of the Lacrymal Duct) कहते हैं । उसका लक्षण ४ प्रकार से कहूँगा ।

वक्तव्य—(३२३) अलसक, उपनाह और नाड़ी—ये तीनों रोग अश्रु नलिका से संबंधित हैं । अवरोध होकर चिरकारी वृद्धि होने पर उपनाह, तीव्र पाक होने पर अलसक और चिरकारी पाक होकर सदैव पूयश्राव होते रहने पर नेत्रनाड़ी (अंखसूर) कहते हैं । सामान्य प्रदाह या पाक होने पर थोड़े समय तक कीचड़ आने की शिकायत रहती है किन्तु नेत्रनाड़ी हो जाने पर यह शिकायत प्रायः हमेशा के लिये हो जाती है ।

नेत्रस्रावों के लक्षण

पाकात् सन्धौ संस्रवेद्यस्तु पूयं
पूयास्रावोऽसौ गदः सर्वजस्तु ।
श्वेतं सान्द्रं पिच्छिलं यः स्रवेत्तु
श्लेष्मस्रावोऽसौ विकारो मतस्तु ॥७२॥
रक्तस्रावः शोणितोत्थो विकारः
स्रवेद्दुष्टं तत्र रक्तं प्रभूतम् ।
हरिद्राभंपीतमुष्णं जलाभं
पित्तास्रावः संस्रवेत् सन्धिमध्यात् ॥७३॥

संधि में पाक होने से जो पूय का स्राव करता है वह 'पूयास्राव' नामक त्रिदोषज रोग है ।

जो सफेद, गाढ़ा एवं लसदार स्राव करता है वह 'श्लेष्मस्राव' रोग माना जाता है ।

'रक्तस्राव' रक्तज विकार है । यह बहुत मात्रा में दूषित रक्त का स्राव करता है ।

'पित्तस्राव' (पित्तास्राव) रोग संधि के मध्य से हल्दी के रंग का पीला, गरम एवं जल के समान (पतला) स्राव करता है ।

पर्वणी

ताम्रा तन्वी दाहशूलोपपन्ना
रक्ताज्ज्ञेया पर्वणी वृत्तशोथा ।
जाता सन्धौ कृष्णशुक्ले—

शुक्ल और कृष्ण भागों की संधि में लाल, पतली, दाह और शूल से युक्त, गोल शोथ को

उत्पन्न करने वाली रक्तज-व्याधि को पर्वणी समझना चाहिए।

अलजी

—ऽलजी स्यात्तस्मिन्नेव ख्यापितापूर्वलिङ्गः ॥७४॥

उसी संधि में पूर्वोक्त (प्रमेह-पिडका प्रकरण में कहे हुए) लक्षणों से युक्त अलजी होती है।

वक्तव्य—(३२४) ये दोनों ही सिराज पिडका (*Phlyctenular Conjunctivitis*) के भेद हैं अथवा अर्बुद हैं।

क्रिमिग्रन्थि

क्रिमिग्रन्थिर्वर्त्मनः पक्ष्मणश्च
कण्डूं कुर्युः क्रिमयः सन्धिजाताः।
नानारूपा वर्त्मशुक्लान्तसन्धौ
चरन्त्यन्तर्लोचनं दूषयन्तः ॥७५॥

क्रिमिग्रन्थि (*Phthiriasis Palpabrum and Ascariasis Palpabrum*) रोग में संधि में उत्पन्न अनेक आकार-प्रकार वाले क्रिमि वर्त्म और पक्ष्म में खुजलाहट उत्पन्न करते हैं तथा नेत्र के भीतरी भाग को दूषित करते हुये वर्त्म और श्वेत भाग की संधि में चलते-फिरते हैं।

उत्सङ्गिनी (उत्सङ्ग पिड़का)

अभ्यन्तरमुखी ताम्रा बाह्यतो वर्त्मनश्च या।
सोत्सङ्गोत्सङ्गपिडका सर्वजा स्थूलकण्डुरा ॥७६॥

वर्त्म के बाहर की ओर से उत्पन्न, भीतर की ओर मुख वाली, ताम्रवर्ण, अनेक छोटी पिडकाओं से व्याप्त (अथवा बीच में गर्तयुक्त) मोटी और खुजलाने वाली उत्संगपिडका (*Chalazion*) त्रिदोषज होती है।

कुम्भीका

वर्त्मान्ते पिडका ध्माता भिद्यन्ते च स्रवन्ति च।
कुम्भीकाबीजप्रतिमाः कुम्भीकाः सन्निपातजाः ॥७७॥

वर्त्म के छोर (पलक की किनार) पर कुम्भीका के बीज के आकार की फूली हुई त्रिदोषज पिडकाएं जो फूटती एवं स्राव करती हैं वे कुम्भीका (*Hordeolum Internum*) हैं।

पोथकी

स्राविण्यः कण्डुरा गुर्व्यो रक्तसर्षपसंनिभाः।
रुजावत्यश्च पिडकाः पोथक्य इति कीर्तिताः ॥७८॥

स्राव करने वाली, खुजलानेवाली, भारी, लाल सरसों के समान और पीड़ा करने वाली पिडकाएं पोथकी (*Trachoma or Palpebral conjunctivitis*) कही गयी हैं।

वर्त्मशर्करा

पिडका या खरा स्थूला सूक्ष्माभिरभिसंवृता।
वर्त्मस्था शर्करा नाम स रोगो वर्त्मदूषकः ॥७९॥

पलक में जो खुरदरी एवं मोटी पिडका सूक्ष्म पिडकाओं से आवृत रहती है वह पलक को दूषित करने वाला शर्करा (*Chalazion*) नामक रोग है।

वक्तव्य—(३२५) यह उत्संगिनी का ही जीर्ण रूप है।

अर्शोवर्त्म

एर्वारुबीजप्रतिमाः पिडका मन्दवेदनाः।
श्लक्ष्णाः खराश्च वर्त्मस्थास्तदर्शोवर्त्म कीर्त्यते ॥८०॥

ककड़ी के बीच के आकार की, मन्द वेदना करने वाली, चिकनी और कठोर पिडकाएं वर्त्म में होने पर अर्शोवर्त्म (*External Polipi on the eyelids*) कहलाती हैं।

शुष्कार्श

दीर्घांकुरः खरः स्तब्धो दारुणोऽभ्यन्तरोद्भवः।
व्याधिरेषोऽभिविख्यातः शुष्कार्शो नाम नामतः ॥८१॥

बड़े, खुरदरे, स्तब्ध एवं अत्यन्त कष्टदायक अंकुर भीतर उत्पन्न करने वाली व्याधि शुष्कार्श (*Polipi on the internal surface of the eye-lids*) नाम से विख्यात है।

अञ्जननामिका

दाहतोदवती ताम्रा पिडका वर्त्मसंभवा।
मृद्वी मन्दरुजा सूक्ष्मा ज्ञेया साऽञ्जननामिका ॥८२॥

पलक में उत्पन्न, दाह एवं तोद करने वाली, लाल, कोमल, मन्द पीड़ा करने वाली, छोटी पिडका को अंजनामिका (*Stye*, गुहेरी) समझना चाहिये।

बहुल वर्त्म

वर्त्मोपचीयते यस्य पिडकाभिः समन्ततः ।
सवर्णाभिः स्थिराभिश्च विद्याद्बहुलवर्त्म तत् ॥८३॥

चारों ओर (सर्वत्र), त्वचा के वर्ण की, स्थिर पिडकाओं से व्याप्त होकर जिसमें पलक की वृद्धि (मोटापन) हो उसे बहुल वर्त्म (*Dacryo-adenitis*) समझना चाहिये।

वर्त्म बन्धक

कण्डूमताऽल्पतोदेन वर्त्मशोथेन यो नरः ।
न स संछादयेदक्षि यत्रासौ वर्त्मबन्धकः ॥८४॥

खुजलाहट और थोड़ी चुभन से युक्त वर्त्मशोथ के कारण जो मनुष्य आंख को आच्छादित न कर सके उसका रोग वर्त्म बन्धक है।

क्लिष्टवर्त्म

मृद्वल्पवेदनं ताम्रं यद्वर्त्म सममेव च ।
अकस्माच्च भवेद्रक्तं क्लिष्टवर्त्मेति तद्विदुः ॥८५॥

वर्त्म कोमल, अल्प वेदना युक्त, ताम्रवर्ण और सम रहता तथा कभी कभी अचानक लाल हो जाता है—इस व्याधि को क्लिष्टवर्त्म समझना चाहिए।

वर्त्मकर्दम

क्लिष्टं पुनः पित्तयुतं शोणितं विदहेद्यदा ।
ततः क्लिन्नत्वमापन्नमुच्यते वर्त्मकर्दमः ॥८६॥

फिर क्लिष्ट वर्त्म में जब पित्तयुक्त रक्त विदाह उत्पन्न करता है तब क्लिन्नता (गलना) उत्पन्न होने पर वर्त्म कर्दम कहलाता है।

श्याववर्त्म

यद्वर्त्म बाह्यतोऽन्तश्च श्यावं शूनं सवेदनम् ।
तदाहुः श्याववर्त्मेति वर्त्मरोगविशारदाः ॥८७॥

जो वर्त्म बाहर भीतर श्याववर्ण, शोथयुक्त एवं पीड़ायुक्त हो जाता है उसे वर्त्म रोगों के विशेषज्ञ श्याववर्त्म कहते हैं।

प्रक्लिन्न-वर्त्म

अरुजं बाह्यतः शूनं वर्त्म यस्य नरस्य हि ।
प्रक्लिन्नवर्त्म तद्विद्यात् क्लिन्नमत्यर्थमन्ततः ॥८८॥

जिस मनुष्य का वर्त्म पीड़ारहित, बाहर से शोथयुक्त और भीतर अत्यन्त क्लिन्न (गला हुआ सा) हो उसके रोग को प्रक्लिन्न-वर्त्म समझना चाहिये।

अक्लिन्न-वर्त्म

यस्य धौतान्यधौतानि संबध्यन्ते पुनः पुनः ।
वर्त्मान्यपरिपक्वानि विद्यादक्लिन्नवर्त्म तत् ॥८९॥

बिना पाक हुए ही जिसके वर्त्म न धोने पर अथवा धोने पर भी बार बार चिपक जाते हैं उसके रोग को अक्लिन्न वर्त्म समझना चाहिये।

वक्तव्य (३२६)—वर्त्म बंधक से लेकर यहां तक पलकों के शोथ (Oedema) एवं प्रदाह (Blapharitis) की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन किया गया है।

वातहत वर्त्म (वर्त्मघात)

विमुक्तसन्धि निश्चेष्टं वर्त्म यस्य न मील्यते ।
एतद्वातहतं वर्त्म जानीयादक्षिचिन्तकः ॥९०॥

सम्बन्ध छूट जाने से जिसका पलक क्रियाहीन हो जाता है तथा झपकता नहीं है उसके रोग को नेत्र विशेषज्ञ वातहत वर्त्म (Ptosis) समझे।

अर्बुद

वर्त्मान्तरस्थं विषमं ग्रन्थिभूतमवेदनम् ।
आचक्षीतार्बुदमिति सरक्तमविलम्बितम् ॥९१॥

पलक के भीतर स्थित, विषम, वेदना रहित, लाल एवं शीघ्र बढ़ने वाली ग्रन्थि को अर्बुद (Tumour) समझना चाहिये।

निमेष

निमेषिणीः सिरा वायुः प्रविष्टः सन्धिसंश्रयाः ।
प्रचालयति वर्त्मानि निमेषं नाम तद्विदुः ॥९२॥

संधि में आश्रित निमेषिणी सिराओं में वायु प्रविष्ट होकर पलकों को अधिक चलाती है—इसे निमेष (Flickering of the Eye-lids) नामक रोग समझना चाहिये।

शोणितार्श

यः स्थितो वर्त्ममध्ये तु लोहितो मृदुरंकुरः ।
तद्रक्तजं शोणितार्शश्छिन्नं छिन्नं प्रवर्धते ॥९३॥

जो लाल रङ्ग का, मृदु अंकुरों वाला अर्श वर्त्म के मध्य में स्थित होता है वह रक्त से उत्पन्न शोणितार्श (Epithelioma or Carcinoma) है।

वक्तव्य (३२७)—रक्तार्बुद (Haemangioma) भी होता है किन्तु वह काटने पर पुनः नहीं बढ़ता।

लगण

अपाकी कठिनः स्थूलो ग्रन्थिर्वर्त्मभवोऽरुजः।
लगणो नाम स व्याधिर्लिङ्गतः परिकीर्तितः ॥६४॥

वर्त्म में उत्पन्न, पीड़ा न करने वाली, न पकने वाली, कठोर एवं स्थूल ग्रन्थि (Neuroma or Molluscum Contagiosum or Cyst) कहलाती है।

विसवर्त्म

त्रयो दोषा बहिःशोथं कुर्युश्छिद्राणि वर्त्मनोः।
प्रस्रवन्त्यन्तरुदकं विसवद्विसवर्त्म तत् ॥६५॥

तीनों दोष वर्त्म में बाहिरी शोथ और छिद्रों की उत्पत्ति करते हैं। ये छिद्र कमल नाल के समान अत्यधिक जलस्राव करते हैं। यह विसवर्त्म (Fistulae in the Eye-lids) रोग है।

कुञ्चन

वाताद्या वर्त्मसंकोचं जनयन्ति मला यदा।
तदा द्रष्टुं न शक्नोति कुञ्चनं नाम तद्विदुः ॥६६॥

वातादि दोष जब वर्त्मों में संकोच उत्पन्न करते हैं तब मनुष्य देखने में असमर्थ हो जाता है। इसको कुञ्चन (Blepharophimosis or Ankyloblepharon) नामक रोग कहते हैं।

पक्ष्मकोप (परवाल)

प्रचालितानि वातेन पक्ष्माण्यक्षि विशन्ति हि।
घृष्यन्त्यक्षि मुहुस्तानि संरम्भं जनयन्ति च ॥६७॥
असिते सितभागे च मूलकोषात् पतन्त्यपि।
पक्ष्मकोपः स विज्ञेयो व्याधिः परमदारुणः ॥६८॥

वायु के द्वारा हटाये गये पक्ष्म (पलक के बाल, बरौनी) आंख में पहुँचते हैं और बारम्बार रगड़ उत्पन्न करके श्वेत और कृष्ण भागों में शोथ की उत्पत्ति करते हैं तथा मूलकोष से टूटकर गिरते भी हैं। इस अत्यन्त कष्टदायक व्याधि को पक्ष्मकोप समझना चाहिये।

वक्तव्य (३२८)—कुछ मामलों में पलक के भीतरी भाग में बालों की नयी पंक्ति उत्पन्न होती है (Distichiasis) और कुछ में पलक का बालों वाला भाग भीतर की ओर हट जाता है (Trichiasis) तथा अन्य मामलों में पलक भीतर की ओर उलट जाती है (Entropion)। नेत्रकला में बालों की रगड़ लगने से भयङ्कर कष्ट एवं अनेक नेत्र रोगों की उत्पत्ति होती है।

पक्ष्मशात

वर्त्मपक्ष्माशयगतं पित्तं रोमाणि शातयेत्।
कण्डूं दाहं च कुरुते पक्ष्मशातं तमादिशेत् ॥६९॥

वर्त्म के पक्ष्माशयों (पक्ष्मों के रोमकूप) में पहुँचकर पित्त रोमों को नष्ट कर देता है तथा खुजलाहट और दाह उत्पन्न करता है। इसे पक्ष्मशात (Madarosis) कहना चाहिये।

वक्तव्य (३२९)—चिरकारी सव्रण वर्त्म-प्रदाह (Chronic Ulcerative Blepharitis) से यह दशा उत्पन्न होती है। कभी कभी इसका सम्बन्ध कुष्ठ रोग से पाया जाता है।

नेत्र रोगों की संख्या

(नव सन्ध्याश्रयास्तेषु वर्त्मजास्त्वेकविंशतिः।
शुक्लभागे दशैकश्च चत्वारः कृष्णभागजाः ॥१॥
सर्वाश्रयाः सप्तदश दृष्टिजा द्वादशैव तु।
बाह्यजौ द्वौ समाख्यातौ रोगौ परमदारुणौ ॥२॥)

नेत्रों में ९ संधिगत रोग, २१ वर्त्मगत रोग, ११ शुक्लभाग-गत रोग, ४ कृष्णभाग-गत रोग १७ सर्व व्यापी या सर्वगत रोग, १२ दृष्टिगत रोग और २ अत्यन्त कष्टदायक बाह्यज रोग कहे गये हैं।

: ६० :

शिरोरोग

भेद

शिरोरोगास्तु जायन्ते वातपित्तकफैस्त्रिभिः ।
सन्निपातेन रक्तेन क्षयेण क्रिमिभिस्तथा ॥
सूर्यावर्तानन्तवातार्धावभेदकशङ्खकैः ॥१॥

वात, पित्त, कफ, सन्निपात, रक्त, क्षय, क्रिमि, सूर्यावर्त, अनन्तवात, अर्धावभेदक और शंखक से शिरोरोगों की उत्पत्ति होती है।

वक्तव्य—(३३०) वैसे 'शिरोरोग' शब्द से सिर के समस्त रोगों का बोध होता है किन्तु प्राचीन संहिताकारों ने इस शब्द को केवल 'सिरदर्द' का ही पर्याय माना है और माधवाचार्य ने भी उसी क्रम का अनुसरण किया है।

वातज शिरोरोग

यस्यानिमित्तं शिरसो रुजश्च
भवन्ति तीव्रा निशि चातिमात्रम् ।
बन्धोपतापैः प्रशमश्च यत्र
शिरोऽभितापः स समीरणेन ॥२॥

जिसमें सिरदर्द अकारण ही उत्पन्न होता हो, रात्रि में अधिक तीव्र हो जाता हो तथा जिसमें बांधने एवं सेंकने से शांति मिलती हो वह वातज शिरोरोग है।

पित्तज शिरोरोग

यस्योष्णमङ्गारचितं यथैव
भवेच्छिरो धूप्यति चाक्षिनासम् ।
शीतेन रात्रौ च भवेच्छमश्च
शिरोऽभितापः स तु पित्तकोपात् ॥३॥

अंगारों से व्याप्त के समान जिसमें सिर गरम हो, आंख और नाक से धुआं सा निकलता हो तथा शीतल उपचारों से और रात्रि में जिसे शांति मिलती हो वह शिरोरोग पित्त के प्रकोप से है।

कफज शिरोरोग

शिरो भवेद्यस्य कफोपदिग्धं
गुरु प्रतिष्टब्धमथो हिमं च ।
शूनाक्षिकूटं वदनं च यस्य
शिरोऽभितापः स कफप्रकोपात् ॥४॥

जिसमें सिर कफलिप्त, भारी, स्तब्ध और शीतल हो जाता है तथा अक्षिकूट और मुख जिनमें सूज जाते हैं वह शिरोरोग कफ के प्रकोप से है।

सन्निपातज शिरोरोग

शिरोऽभितापे त्रितयप्रवृत्ते
सर्वाणि लिङ्गानि समुद्भवन्ति ।

तीनों दोषों से उत्पन्न शिरोरोग में सब (सभी दोषों के) लक्षण उत्पन्न होते हैं।

रक्तज शिरोरोग

रक्तात्मकः पित्तसमानलिङ्गः
स्पर्शासहत्वं शिरसो भवेच्च ॥५॥

रक्तज शिरोरोग (*Headache due to Hypertension*) पित्तज शिरोरोग के समान लक्षणों वाला है किन्तु इसमें सिर में स्पर्श सहन नहीं होता।

क्षयज शिरोरोग

असृग्वसाश्लेष्मसमीरणानां
शिरोगतानामिह संक्षयेण ।
क्षयप्रवृत्तः शिरसोऽभितापः
कष्टो भवेदुग्ररुजोऽतिमात्रम् ।
संस्वेदनच्छर्दनधूमनस्यैर-
सृग्विमोक्षैश्च विवृद्धिमेति ॥६॥

सिर में रहने वाले रक्त, वसा, कफ एवं वायु का क्षय होने से अत्यन्त उग्र पीड़ा करने वाली एवं

कष्टसाध्य क्षयज शिरोरोग उत्पन्न होता है। यह स्वेदन, वमन, धूम्रपान, नस्य और रक्तमोक्षण से बढ़ता है।

क्रिमिज शिरोरोग

निस्तुद्यते यस्य शिरोऽतिमात्रं
संभक्ष्यमाणं स्फुरतीव चान्तः।
घ्राणाच्च गच्छेत् सलिलं सपूयं
शिरोभितापः क्रिमिभिः स घोरः॥७॥

जिसमें अन्दर ही अन्दर खाये जाने या स्फुरण करने के समान सिर में अत्यन्त चुभन हो और नाक पूय मिश्रित द्रव भी निकलता हो वह भयंकर सिर-दर्द क्रिमियों (*Headache due to Myiasis of the Nose*) के कारण है।

वक्तव्य—(३३१) इसकी उत्पत्ति दुष्ट प्रतिश्याय से होती है। कभी कभी नाक से क्रिमि गिरते हैं।

सूर्यावर्त

सूर्योदयं या प्रति मन्दमन्द-
मक्षिभ्रुवं रुक् समुपैति गाढा।
विवर्धते चांशुमता सहैव
सूर्यापवृत्तौ विनिवर्तते च।
सर्वात्मकं कष्टतमं विकारं
सूर्यापवर्तं तमुदाहरन्ति ॥८॥

सूर्योदय के साथ जो आंख और भौंह में मन्द मंद पीड़ा उत्पन्न होकर गम्भीर हो जाती है, तथा सूर्य के चढ़ने के साथ ही साथ बढ़ती और सूर्य के उतरने के साथ साथ शांत होती है उस अत्यन्त कष्टप्रद (या कृच्छ्रसाध्य) त्रिदोषज विकार को सूर्यावर्त (*Migraine*) कहते हैं।

अनन्तवात

दोषास्तु दुष्टास्त्रय एव मन्यां
संपीड्य घाटासु रुजां सुतीव्राम्।
कुर्वन्ति योऽक्षिभ्रुवि शङ्खदेशे
स्थितिं करोत्याशु विशेषतस्तु ॥९॥
गण्डस्य पार्श्वे तु करोति कम्पं
हनुग्रहं लोचनजांश्च रोगान्।
अनन्तवातं तमुदाहरन्ति
दोषत्रयोत्थं शिरसो विकारम् ॥१०॥

कुपित हुए तीनों दोष मन्या को पीड़ित करके, ग्रीवा के पिछले भाग में अत्यन्त पीड़ा उत्पन्न करते हैं जो तुरन्त ही आंख, भौंह और शङ्खदेश में जाकर विशेषरूप से स्थित हो जाती है। यह गाल के बाजू में कम्प, हनुग्रह और नेत्ररोग उत्पन्न करती है। इस त्रिदोषज शिरोरोग को अनन्तवात (*Triginimal Neuralgia*) कहते हैं।

अर्धावभेदक

रूक्षाशनात्यध्यशनप्राग्वातावश्यमैथुनैः।
वेगसंधारणायासव्यायामैः कुपितोऽनिलः॥११॥
केवलः सकफो वाऽर्धं गृहीत्वा शिरसो बली।
मन्याभ्रूशङ्खकर्णाक्षिललाटार्धेऽतिवेदनाम् ॥१२॥
शस्त्रारणिनिभां कुर्यात्तीव्रां सोऽर्धावभेदकः।
नयनं वाऽथवा श्रोत्रमतिवृद्धो विनाशयेत् ॥१३॥

रूक्ष भोजन, अधिक भोजन, भोजन के बाद तुरन्त भोजन, प्रातःकालीन वायु, ओस, मैथुन, वेग-निग्रह, परिश्रम एवं व्यायाम से बलवान् वायु अकेला ही अथवा कफ सहित कुपित होकर सिर के आधे भाग को ग्रहण करके मन्या, भौंह, शङ्खप्रदेश, कान, आंख और ललाट के आधे भाग में शस्त्रों से काटने चीरने के समान अथवा अरणी-मंथन के समान अति तीव्र वेदना उत्पन्न करता है। यह अर्धावभेदक (*Migraine-Hemicrania*) है। अधिक बढ़ने पर यह आंख या कान को नष्ट कर सकता है।

शङ्खक

रक्तपित्तानिला दुष्टाः शङ्खदेशे विमूर्च्छिताः।
तीव्ररुग्दाहरागं हि शोथं कुर्वन्ति दारुणम् ॥१४॥
स शिरो विषवद्वेगी निरुध्याशु गलं तथा।
त्रिरात्राज्जीवितं हन्ति शङ्खको नामतः परम्।
त्र्यहाज्जीवति भैषज्यं प्रत्याख्याय समाचरेत् ॥१५॥

दूषित हुए रक्त, पित्त और वायु शङ्ख-प्रदेश में कुपित होकर तीव्र पीड़ा दाह और लालिमा से युक्त

भयंकर शोथ उत्पन्न करते हैं। विष के समान वेग वाला यह शंखक नामक (*Brain-Abscess*) रोग शीघ्र ही सिर और गले को अवरुद्ध करके तीन दिन रात में प्राणों का नाश कर देता है इसलिए तीन दिन जीवित रहने पर प्रत्याख्यान करने के बाद चिकित्सा करनी चाहिए।

वक्तव्य—(३३२) शङ्खक के संबन्ध में पाश्चात्य मत ज्वर प्रकरण में मस्तिष्क-विद्रधि शीर्षक के अन्तर्गत दिया गया है।

: ६१ :

असृग्दर

निदान और भेद

विरुद्धमद्याध्यशनादजीर्णाद्-
गर्भप्रपातादतिमैथुनाच्च।
यानाध्वशोकादतिकर्षणाच्च
भाराभिघाताच्छयनाद्दिवा च।
तं श्लेष्मपित्तानिलसंनिपात-
श्चतुष्प्रकारं प्रदरं वदन्ति ॥१॥

विरुद्ध पदार्थ, मद्य, भोजन के बाद तुरन्त भोजन, अजीर्ण, गर्भपात, अतिमैथुन, सवारी करना पैदल चलना, शोक, अधिक कृशता, भार वाहन अभिघात, और दिन में सोने से उत्पन्न उस प्रदर को कफ, पित्त, वात और सन्निपात के भेद से ४ प्रकार का बतलाते हैं।

सामान्य लक्षण

असृग्दरं भवेत् सर्वं साङ्गमर्दं सवेदनम्।
तस्यातिवृत्तौ दौर्बल्यं भ्रमो मूर्च्छा मदस्तृषा।
दाहः प्रलापः पाण्डुत्वं तन्द्रा रोगाश्च वातजाः ॥२॥

सभी प्रकार का असृग्दर स्थानिक एवं सार्वांगिक पीड़ा के साथ होता है। इसके अधिक काल तक रहने से (या अधिक निकल चुकने पर) दुर्बलता, भ्रम, मूर्च्छा, मद, तृष्णा, दाह, प्रलाप, पाण्डुता, तन्द्रा और वातज रोग उत्पन्न होते हैं।

भेदानुसार लक्षण

आमं सपिच्छाप्रतिमं सपाण्डु
पुलाकतोयप्रतिमं कफात्तु।
सपीतनीलासितरक्तमुष्णं
पित्तार्तियुक्तं भृशवेगि पित्तात् ॥३॥
रूक्षारुणं फेनिलमल्पमल्पं
वातार्ति वातात् पिशितोदकाभम्।
सक्षौद्रसर्पिर्हरितालवर्णं
मज्जप्रकाशं कुणपं त्रिदोषात् ॥४॥
तं चाप्यसाध्यं प्रवदन्ति तज्ज्ञा
न तत्र कुर्वीत भिषक् चिकित्साम्।

कफज असृग्दर अपक्व, पिच्छिल पाण्डुतायुक्त और चावल के माड़ के समान होता है।

पित्तज असृग्दर पीला, नीला, काला, लाल, उष्ण, पित्तजन्य पीड़ाओं से युक्त और अत्यन्त वेग से निकलने वाला होता है।

वातज असृग्दर रूक्ष, अरुणवर्ण, फेनयुक्त, मांस के धोवन के समान, थोड़ा थोड़ा निकलने वाला और वातजन्य पीड़ाओं से युक्त होता है।

त्रिदोषज असृग्दर शहद, घी अथवा हरिताल के वर्ण का, मज्जा के समान (गाढ़ा) और मुर्दे के समान गंधवाला होता है। विशेषज्ञों ने इसे असाध्य कहा है; वैद्य इसकी चिकित्सा न करे।

असाध्यता के लक्षण

शश्वत् स्रवन्तीमास्रावं तृष्णादाहज्वरान्विताम्।
क्षीणरक्तां दुर्बलां च तामसाध्यां विनिर्दिशेत् ॥५॥

जिसे लगातार अत्यधिक स्राव ह रहा है; जो तृष्णा दाह और ज्वर से युक्त हो; जिसका रक्त क्षीण हो चुका हो और जो दुर्बल भी हो उसे असाध्य कहना चाहिये ।

शुद्ध आर्तव के लक्षण

मासान्निष्पिच्छदाहार्ति पञ्चरात्रानुबन्धि च ।
नैवातिबहुलात्यल्पमार्तवं शुद्धमादिशेत् ॥६॥
शशासृक्प्रतिमं यच्च यद्वा लाक्षारसोपमम् ।
तदार्तवं प्रशंसन्ति यच्चाप्सु न विरज्यते ॥७॥

प्रतिमास आने वाला, पिच्छिलता, दाह और पीड़ा से रहित; पांच दिन-रात रहने वाला, न बहुत अधिक और न अत्यन्त थोड़ा आर्तव शुद्ध मानना चाहिये । जो खरगोश के रक्त अथवा लाख के रस के समान हो तथा जो पानी में घुलता है उस आर्तव की प्रशंसा की जाती है ।

वक्तव्य (३३२)—असृग्दर के अन्तर्गत निम्न ४ दशाओं का समावेश होता है—

(१) श्वेतप्रदर या कफज असृग्दर (Leucorrhoea)—योनि की श्लैष्मिक कला में प्रदाह या रक्ताधिक्य होने से योनि से पतला या गाढ़ा, श्वेत या श्वेताभ स्राव होता है । प्रदाह अधिकतर सुजाक से होता है । रक्ताधिक्य अत्यधिक कामेच्छा अतिमैथुन, आलस्य, मलावरोध आदि से होता है ।

(२) नियमित अत्यार्तव या नियमित रक्तप्रदर (Menorrhagia)—रक्तस्रावी रोगों के कारण अल्प मात्रा में उपस्थित रहने पर मासिक धर्म समय पर आता है किन्तु रक्तस्राव अधिक होता है ।

(३) अनियमित अत्यार्तव, अनियमित रक्तप्रदर या योनिगत रक्तस्राव (Metrorrhagia)—रक्तस्रावी रोग, अर्बुद, बाह्य पदार्थ अथवा गर्भ के अवरोध गर्भाशय में रहने पर किसी भी समय रक्तस्राव होता है ।

(४) पूयमिश्रित रक्तस्राव (Purulent Haemorrhage from the womb)—रक्त पूयमिश्रित रहता है जिससे वह काला, पीला, नीला या मटमैला एवं दुर्गंधित रहता है । इसके स्राव का कोई समय निश्चित नहीं रहता । स्थानिक पीड़ा अत्यधिक रहती है और ज्वर आदि लक्षण भी हो सकते है । यह दशा पूयोत्पादक जीवाणुओं के उपसर्ग से होती हैं ।

कभी कभी २-३ दशाओं के लक्षण मिले हुए भी पाये जाते हैं ।

: ६२ :

योनि व्यापत्

संख्या और निदान

विंशतिर्व्यापदो योनौ निर्दिष्टा रोगसंग्रहे ।
मिथ्याचारेण ताः स्त्रीणां प्रदुष्टेनार्तवेन च ॥१॥
जायन्ते बीजदोषाच्च दैवाच्च शृणु ताः पृथक् ।

रोग संग्रह में २० योनिगत रोग बतलाये गये हैं । वे स्त्रियों को मिथ्या आहार-विहार दूषित आर्तवस्राव, वीर्यदोष (मैथुन कर्ता का) और भाग्य के कारण होते हैं । उनका पृथक् पृथक् वर्णन सुनो ।

पांच वातज योनि व्यापत्

सा फेनिलमुदावर्ता रजः कृच्छ्रेण मुञ्चति ॥२॥
वन्ध्यां नष्टार्तवां विद्याद्विप्लुतां नित्यवेदनाम् ।
परिप्लुतायां भवति ग्राम्यधर्मेण रुग्भृशम् ॥३॥
वातला कर्कशा स्तब्धा शूलनिस्तोदपीडिता ।
चतसृष्वपि चाद्यासु भवन्त्यनिलवेदनाः ॥४॥

'उदावर्ता' योनि कष्ट के साथ फेनयुक्त रज का स्राव करती है।

जिसका आर्तव नष्ट (बन्द) हो गया हो उसे 'वन्ध्या' समझना चाहिये।

जिस योनि में हमेशा वेदना रहती हो उसे 'विप्लुता' समझना चाहिये।

'परिप्लुता' योनि में मैथुन से अत्यन्त पीड़ा होती है।

'वातला' योनि खुरदरी, स्तब्ध (उत्तेजना-रहिता) तथा शूल और तोद से पीड़ित रहती है। प्रथम चारों में भी वातजन्य पीड़ाएं होती हैं।

पांच पित्तज योनि व्यापत्

सदाहं क्षीयते रक्तं यस्यां सा लोहितक्षया।
सवातमुद्‌गिरेद्बीजं वामिनी रजसा युतम् ॥५॥
प्रस्रंसिनी स्रंसते च क्षोभिता दुष्प्रजायिनी।
स्थितं स्थितं हन्ति गर्भं पुत्रघ्नी रक्तसंक्षयात् ॥६॥
अत्यर्थं पित्तला योनिर्दाहपाकज्वरान्विता।
चतसृष्वपि चाद्यासु पित्तलिङ्गोच्छ्रयो भवेत् ॥७॥

जिसमें से दाह के साथ रक्त का क्षय (स्राव) होता है वह 'लोहितक्षया' है।

जो वायु और रज के साथ वीर्य को ऊपर फेंक देती है वह 'वामिनी' है।

'प्रसंसिनी' क्षोभित (क्षुब्ध) होने पर अपने स्थान से हट जाया करती है और कठिनाई से प्रसव करती है।

'पुत्रघ्नी' रक्तक्षय (रक्तस्राव) के द्वारा बारम्बार रहे हुए गर्भ को मार डालती है।

'पित्तला' योनि अत्यधिक दाह, पाक और ज्वर से युक्त रहती है। पूर्वोक्त चारों में भी पित्त के लक्षणों की अधिकता रहती है।

पांच कफज योनि व्यापत्

अत्यानन्दा न सन्तोषं ग्राम्यधर्मेण गच्छति।
कर्णिन्यां कर्णिका योनौ श्लेष्मासृग्भ्यां प्रजायते ॥८॥
मैथुनेऽचरणा पूर्वं पुरुषादतिरिच्यते।
बहुशश्चातिचरणा तयोर्बीजं न विन्दति ॥९॥
श्लेष्मला पिच्छिला योनिः कण्डूग्रस्ताऽतिशीतला।
चतसृष्वपि चाद्यासु श्लेष्मलिङ्गोच्छ्रयो भवेत् ॥१०॥

'अत्यानन्दा' मैथुन से सन्तुष्ट नहीं होती।

'कर्णिनी' योनि में कफ-रक्त से कर्णिका (अर्बुद) की उत्पत्ति होती है।

'अचरणा' मैथुन में पुरुष से पहले स्खलित हो जाती है। अतिमैथुन से "अतिचरणा" योनि होती है। इन दोनों में बीज धारण नहीं होता।

'श्लेष्मला' योनि पिच्छिल, खुजलाहट युक्त और अत्यन्त शीतल होती है। पूर्वोक्त चारों में भी कफ के लक्षणों की अधिकता रहती है।

वक्तव्य—(३३३) अधिक मैथुन से कुपित वायु जिस योनि में शोथ, सुप्ति और पीड़ा उत्पन्न कर देता है उसे अतिचरणा कहते हैं—चरक।

पांच त्रिदोषज योनि व्यापत्

अनार्तवाऽस्तनी षण्डी खरस्पर्शा च मैथुने।
अतिकायगृहीतायास्तरुण्यास्त्वण्डली भवेत् ॥११॥
विवृता च महायोनिः सूचीवक्त्राऽतिसंवृता।
सर्वलिङ्गसमुत्थाना सर्वदोषप्रकोपजा ॥१२॥
चतसृष्वपि चाद्यासु सर्वलिङ्गोच्छ्रयो भवेत्।
पञ्चासाध्या भवन्तीह योनयः सर्वदोषजाः ॥१३॥

षण्डी के आर्तव नहीं होता, स्तन नहीं होते और मैथुन के समय योनि खुरदरी प्रतीत होती है।

विशालकाय पुरुष के द्वारा पकड़ी गयी (बल-पूर्वक मैथुन के लिये प्रयुक्त) तरुणी की योनि 'अण्डली' हो जाती है। (योनि उलट कर बाहर आ जाती है और गोल मांसपिण्ड के समान प्रतीत होती है)।

'विवृता' योनि बहुत बड़ी होती है।

'सूचीवक्त्रा' योनि अत्यधिक ढकी हुई (सतीच्छद *Hymen* से) अथवा अत्यन्त संकीर्ण रहती है।

त्रिदोषजा योनि सभी दोषों के लक्षणों और निदानों से युक्त रहती है। पूर्वोक्त चारों में भी सब दोषों के लक्षणों की अधिकता होती है। ये पांचों त्रिदोषज योनि रोग असाध्य हैं।

: ६३ :

योनिकन्द (*Tumours of the vagina*)

निदान और स्वरूप

दिवास्वप्नादतिक्रोधाद्व्यायामादतिमैथुनात् ।
क्षताच्च नखदन्ताद्यैर्वाताद्याः कुपिता यदा ॥१॥
पूयशोणितसंकाशं निकुचाकृतिसंनिभम् ।
जनयन्ति यदा योनौ नाम्ना कन्दः स योनिजः ॥२॥

दिन में सोने, अधिक क्रोध करने, अधिक व्यायाम करने अधिक मैथुन करने और नख, दांत आदि से क्षत होने पर जब वात आदि दोष कुपित होते हैं, तब योनि से पूय और रक्त के वर्ण का बड़हल के आकार का कन्द (पिण्ड, अर्बुद) उत्पन्न करते हैं। यह 'योनिकन्द' नामक व्याधि है।

दोषानुसार लक्षण

रूक्षं विवर्णं स्फुटितं वातिकं तं विनिर्दिशेत् ।
दाहरागज्वरयुतं विद्यात् पित्तात्मकं तु तम् ॥३॥
नीलपुष्पप्रतीकाशं कण्डूमन्तं कफात्मकम् ।
सर्वलिङ्गसमायुक्तं सन्निपातात्मकं विदुः ॥४॥

रूखे, विवर्ण और फटे हुए योनिकन्द को वातज कहना चाहिए। दाह, लाली और ज्वर से युक्त योनिकन्द को पित्तज समझना चाहिये।

नील के फूल के समान वर्ण वाले एवं खुजलाने वाले योनिकन्द को कफज समझना चाहिए।

सब दोषों के लक्षणों से युक्त योनिकन्द को सन्निपातज समझना चाहिए।

: ६४ :

मूढ़ गर्भ (*Dystocia*)

मूढ़गर्भ की पारिभाषा

(सर्वावयवसम्पूर्णो मनोबुद्धयादिसंयुतः ।
विगुणापानसंमूढो मूढगर्भोऽभिधीयते ॥१॥)

(जिसके सभी अवयव पूर्णतया विकसित हो चुके हों और जो मन, बुद्धि आदि से युक्त हो ऐसा गर्भ विगुण अपान वायु के द्वारा सम्मूढ़ (कर्तव्य समझने अर्थात्, मार्ग खोजने में असमर्थ) होने पर मूढ़गर्भ कहलाता है।)

गर्भपात के निदान और पूर्वरूप

भयाभिघातात्तीक्ष्णोष्णपानाशननिषेवणात् ।
गर्भे पतति रक्तस्य सशूलं दर्शनं भवेत् ॥१॥

भय से, अभिघात से तथा तीक्ष्ण एवं उष्ण अन्न-पान के सेवन से (गर्भपात होता है और) गर्भपात होते समय शूल के साथ रक्त (आता हुआ) दिखाई देता है।

गर्भपात के भेद

आचतुर्थात्ततो मासात्प्रस्रवेद्गर्भविद्रवः ।
ततः स्थिरशरीरस्य पातः पञ्चमषष्ठयोः ॥२॥

चौथे मास तक द्रव-रूप गर्भ का स्राव होता है—गर्भस्राव। फिर पांचवें और छठवें मासों में स्थिर

शरीर का पात होता है—गर्भपात।

वक्तव्य—(३३४) पाश्चात्य विद्वान तीसरे मास तक गर्भश्राव (Abortion), चौथे से सातवें मास तक गर्भपात (Miscarriage) और सातवें मास से आगे पूर्व-प्रसव (Premature Labour) मानते हैं।

गर्भपात के निदान एवं दृष्टांत

गर्भोऽभिघातविषमाशनपीडनाद्यैः
पक्वं द्रुमादिव फलं पतति क्षणेन।

जिस प्रकार पका हुआ फल वृक्ष से क्षण में ही गिर पड़ता है उसी प्रकार अभिघात, विषम भोजन, दबाव आदि से गर्भ गिर जाता है।

मूढ़ वायु के कार्य

मूढः करोति पवनः खलु मूढगर्भं
शूलं च योनिजठरादिषु मूत्रसङ्गम् ॥३॥

वायु मूढ़ होकर मूढ़गर्भ, योनि उदर आदि में शूल तथा मूत्रावरोध उत्पन्न करता है।

मूढ़गर्भ की गतियां अथवा प्रकार

भुग्नोऽनिलेन विगुणेन ततः स गर्भः
संख्यामतीत्य बहुधा समुपैति योनिम्।
द्वारं निरुध्य शिरसा जठरेण कश्चित्
कश्चिच्छरीरपरिवर्तितकुब्जदेहः ॥४॥
एकेन कश्चिदपरस्तु भुजद्वयेन
तिर्यग्गतो भवति कश्चिदवाङ्मुखोऽन्यः।
पार्श्वापवृत्तगतिरेति तथैव कश्चि-
दित्यष्टधा गतिरियं ह्यपरा चतुर्धा ॥५॥
संकीलकः प्रतिखुरः परिघोऽथबीज-
स्तेषूर्ध्वबाहुचरणैः शिरसा च योनिम्।
सङ्गी च यो भवति कीलकवत् स कीलो
दृश्यैः खुरैः प्रतिखुरं स हि कायसङ्गी।
गच्छेद्भुजद्वयशिराः स च बीजकाख्यो
योनौ स्थितः स परिघः परिघेण तुल्यः ॥६॥

विगुण वायु के द्वारा टेढ़ा किया गया वह गर्भ बहुधा असंख्य प्रकार से योनि में स्थित होता है। कोई सिर और उदर से द्वार को रोक कर, कोई शरीर घूम जाने से कुबड़ा होकर, कोई एक और कोई दोनों हाथों से, कोई मुख नीचे करके तिरछा होकर और कोई पार्श्व से गति रोककर आता है। आठ प्रकार की गतियां ये हैं, चार अन्य गतियां संकीलक, प्रतिखुर, परिघ और बीज हैं। इनमें से हाथ, पैर और सिर ऊपर करके जो योनि में कील के समान फंस जाता है वह 'कील (संकीलक)' है, जिसके खुर (हाथ-पैर) दिखते हैं, और धड़ फंस जाता है वह 'प्रतिखुर' है, जो दोनों हाथ और सिर से निकलता है वह 'बीजक' कहलाता है और जो डण्डे की तरह योनि में स्थित होता है वह 'परिघ' है।

मूढ़गर्भ के असाध्य लक्षण

अपविद्धशिरा या तु शीताङ्गी निरपत्रपा।
नीलोद्गतसिरा हन्ति सा गर्भं स च तां तथा ॥७॥

जिसका सिर स्थिर नहीं रहता हो, शरीर शीतल हो, लज्जा नष्ट हो गयी हो और नीली सिरायें उभर आई हों वह स्त्री गर्भ को मार डालती है और उसी प्रकार वह गर्भ भी उसे मार डालता है।

मृतगर्भ के लक्षण

गर्भास्पन्दनमावीनां प्रणाशः श्यावपाण्डुता।
भवेदुच्छ्वासपूतित्वं शूनताऽन्तर्मृते शिशौ ॥८॥

अन्दर शिशु मर जाने पर गर्भ के स्पन्दन और पीड़ाओं का नाश तथा श्यावता युक्त पांडुता, उच्छ्वास में दुर्गन्ध और शोथ की उत्पत्ति होती है।

गर्भ की मृत्यु के कारण

मानसागन्तुभिर्मातुरुपतापैः प्रपीडितः।
गर्भो व्यापद्यते कुक्षौ व्याधिभिश्च निपीडितः ॥९॥

माता के मानस और आगन्तुज व्याधियों से पीड़ित होकर तथा (स्वयं की भी) व्याधियों से पीड़ित होकर गर्भ कुक्षि में मर जाता है।

मूढ़गर्भ के उपद्रव

योनिसंवरणं सङ्गः कुक्षौ मक्कल्ल एव च।
हन्युः स्त्रियं मूढगर्भा यथोक्ताश्चाप्युपद्रवाः ॥१०॥

योनि का सुकड़ना (स्तम्भ Spasm), कुक्षि में गर्भ का फंसना, मक्कल्ल और कहे हुए अन्य उपद्रव मूढ़गर्भा स्त्री को मार डालते हैं।

मक्कल्ल शूल

(वायुः प्रकुपितः कुर्यात् संरुध्य रुधिरं स्नुतम्।
सूतायाः हृच्छिरोबस्तिशूलं मक्कल्लसंज्ञकम् ॥१॥)

प्रसूता का कुपित वायु टपके हुए रक्त को रोककर हृदय, सिर और बस्ति-प्रदेश में मक्कल्ल नामक शूल उत्पन्न करता है।

वक्तव्य—(३३५) मूढ़गर्भ के विषय में लेखक के द्वारा विस्तृत विवेचन प्रसूति-विज्ञानांक में प्रकाशित होचुका है।

: ६५ :

सूतिका रोग

सामान्य लक्षण

अङ्गमर्दो ज्वरः कम्पः पिपासा गुरुगात्रता।
शोथः शूलातिसारौ च सूतिकारोगलक्षणम् ॥१॥

अङ्गों में पीड़ा, ज्वर, कम्प, प्यास, शरीर में भारीपन, शोथ, शूल और अतिसार सूतिका रोग के लक्षण हैं।

निदान, लक्षण एवं कृच्छ्रसाध्यता

मिथ्योपचारात् संक्लेशाद्विषमाजीर्णभोजनात्।
सूतिकायाश्च ये रोगा जायन्ते दारुणास्तु ते ॥२॥
ज्वरातीसारशोथाश्च शूलानाहबलक्षयाः।
तन्द्रारुचिप्रसेकाद्याः कफवातामयोद्भवाः ॥३॥
कृच्छ्रसाध्या हि ते रोगाः क्षीणमांसबलाग्नितः।
ते सर्वे सूतिकानाम्ना रोगास्ते चाप्युपद्रवाः ॥४॥

भलीभांति उपचार न होने से, क्लेश से और विषम एवं अपक्व भोजन करने से सूतिका को जो रोग होते हैं वे अत्यन्त कष्टदायक ज्वर, अतिसार, शोथ, शूल, आनाह, शक्तिक्षय, तन्द्रा, अरुचि, लालास्राव आदि कफ वातज रोग हैं। मांस, बल और अग्नि क्षीण होने के कारण वे रोग कृच्छ्रसाध्य होते हैं।

ये सब रोग और उपद्रव 'सूतिका रोग' नाम से ही व्यक्त होते हैं।

: ६६ :

स्तन-रोग (*Mastitis*)

सम्प्राप्ति

सक्षीरौ वाऽप्यदुग्धौ वा प्राप्य दोषः स्तनौ स्त्रियाः।
प्रदूष्य मांसरुधिरं स्तनरोगाय कल्पते ॥१॥

स्त्री के दुग्ध युक्त अथवा दुग्ध-रहित स्तनों में दोष पहुंचकर मांस और रक्त को दूषित करके स्तन-रोग उत्पन्न करते हैं।

भेद और लक्षण

पञ्चानामपि तेषां हि रक्तजं विद्रधिं विना।
लक्षणानि समानानि बाह्यविद्रधिलक्षणैः ॥२॥

पांचों स्तन रोगों के लक्षण रक्तज विद्रधि को छोड़कर शेष पांच बाह्य विद्रधियों के लक्षणों के समान होते हैं।

: ६७ :

स्तन्य दुष्टि

स्तन्य स्राव के कारण और सम्प्राप्ति

(विशस्तेष्वपि गात्रेषु यथा शुक्रं न दृश्यते ।
सर्वदेहाश्रितत्वाच्च शुक्रलक्षणमुच्यते ॥१॥
तदेव चेष्टयुवतेर्दर्शनात्स्मरणादपि ।
शब्दसंश्रवणात्स्पर्शात्संहर्षाच्च प्रवर्तते ॥२॥
सुप्रसन्नं मनस्तत्र हर्षणे हेतुरुच्यते ।
आहाररसयोनित्वादेवं स्तन्यमपि स्त्रियाः ॥३॥
तदेवापत्यसंस्पर्शाद्दर्शनात्स्मरणादपि ।
ग्रहणाच्च शरीरस्य शुक्रवत्संप्रवर्तते ।
स्नेहो निरन्तरस्तत्र प्रस्रवे हेतुरुच्यते ॥४॥)

(जिस प्रकार अंगों को काट डालने पर भी शुक्र दिखाई नहीं पड़ता और सारे शरीर में स्थित होने के कारण शुक्र कहलाता है। वही इच्छित युवती के दर्शन, स्मरण, शब्द, श्रवण, स्पर्श और उत्तेजना से प्रवृत्त होता है। यहां सुप्रसन्न मन ही उत्तेजना का कारण कहा जाता है ।

उसी प्रकार आहार-रस से उत्पन्न होने के कारण स्त्री का स्तन्य (दूध) भी सन्तान के स्पर्श, दर्शन, स्मरण और शरीर-ग्रहण से शुक्र के समान प्रवृत्त होता है। निरन्तर स्नेह ही इसके स्राव का कारण कहा जाता है।)

स्तन्य दुष्टि के कारण और फल

गुरुभिर्विविधैरन्नैर्दुष्टैर्दोषैः प्रदूषितम् ।
क्षीरं मातुः कुमारस्य नानारोगाय कल्पते ॥१॥

अनेक प्रकार के भारी पदार्थों के सेवन से कुपित दोषों के द्वारा दूषित माता का दुग्ध बालक को अनेक रोग उत्पन्न करता है।

दोष भेद से लक्षण

कषायं सलिलप्लावि स्तन्यं मारुतदूषितम् ।
कट्वम्ललवणं पीतराजीमत् पित्तसंज्ञितम् ॥२॥
कफदुष्टं घनं तोये निमज्जति सपिच्छलम् ।
द्विलिङ्गं द्वन्द्वजं विद्यात् सर्वलिङ्गं त्रिदोषजम् ॥३॥

वायु से दूषित दुग्ध कसैला एवं जल में तैरने वाला होता है; पित्त से चरपरा, खट्टा, नमकीन और पीली धारियों से युक्त रहता है तथा कफ से दूषित गाढ़ा और पिच्छिल रहता है तथा जल में डूब जाता है। दो दोषों के लक्षणों वाले दूध को द्वन्द्वज और सब दोषों के लक्षणों वाले को त्रिदोषज समझना चाहिये।

: ६८ :

बालरोग

दूषित स्तन्यपान-जन्य बाल रोग

वातदुष्टं शिशुः स्तन्यं पिबन् वातगदातुरः ।
क्षामस्वरः कृशाङ्गः स्याद्बद्धविन्मूत्रमारुतः ॥१॥
स्विन्नो भिन्नमलो बालः कामलापित्तरोगवान् ।
तृष्णालुरुष्णसर्वाङ्गः पित्तदुष्टं पयः पिबन् ॥२॥
कफदुष्टं पिबन् क्षीरं लालालुः श्लेष्मरोगवान् ।
निद्रान्वितो जडः शूनवक्त्राक्षश्छर्दनः शिशुः ॥३॥
द्वन्द्वजे द्वन्द्वजं रूपं सर्वजे सर्वलक्षम् ।

वायु से दूषित दुग्ध पीने से शिशु वातज रोगों से पीड़ित रहता है; स्वर क्षीण तथा शरीर कृश हो

जाता है और मूत्र, मल एवं वायु अवरुद्ध रहते हैं।

पित्त से दूषित दुग्ध पीने से बालक स्वेद युक्त, फटे मल वाला, कामला आदि पित्त रोगों से पीड़ित, अधिक तृष्णा युक्त और गर्म शरीर वाला हो जाता है।

कफ से दूषित दुग्ध पीने से शिशु लालास्राव करने वाला, कफ जन्य रोगों से युक्त, निद्रायुक्त, जड़ (क्रियाहीन), सूजे हुए मुख और नेत्रों वाला तथा वमन करने वाला हो जाता है।

द्वन्द्वज दुग्ध विकार से द्वन्द्वज लक्षण और त्रिदोषज दुग्ध विकार से त्रिदोषज लक्षण उत्पन्न होते हैं।

शिशुओं के रोग जानने के उपाय

शिशोस्तीव्रामतीव्रां च रोदनाल्लक्षयेद्रुजम्। ॥४॥
स यं स्पृशेद्भृशं देशं यत्र च स्पर्शनाक्षमः।
तत्र विद्याद्रुजं, मूर्ध्नि रुजं चाक्षिनिमीलनात् ॥५॥
कोष्ठे विबन्धवमथुस्तनदंशान्त्रकूजनैः।
आध्मानपृष्ठनमनजठरोन्नमनैरपि ॥६॥
बस्तौ गुह्ये च विण्मूत्रसंगत्रासदिगीक्षणैः।
स्रोतांस्यङ्गानि सन्धींश्च पश्येद्यत्नान्मुहुर्मुहुः ॥७॥

शिशु के रोने पर से तीव्र एवं मन्द पीड़ा का अनुमान करना चाहिये। वह जिस भाग को अधिक स्पर्श करता हो और जहां स्पर्श सहन न करता हो वहां पीड़ा समझनी चाहिये। नेत्र बन्द करने से सिर में पीड़ा; विबन्ध, वमन, स्तन काटना, आंतों में गुड़गुड़ाहट, आध्मान, पीठ झुकाना और पेट ऊपर उठाना आदि से कोष्ठ में पीड़ा; तथा मल-मूत्र का अवरोध, भय और चारों ओर देखने की प्रवृत्ति से बस्ति या जननेन्द्रिय में पीड़ा समझनी चाहिये। यत्नपूर्वक बारम्बार स्रोतों, अंगों और सन्धियों को देखना चाहिये।

कुकूणक

कुकूणकः क्षीरदोषाच्छिशूनामेव वर्त्मनि।
जायते तेन तन्नेत्रं कण्डूरं च स्रवेन्मुहुः ॥८॥
शिशुः कुर्याल्ललाटाक्षिकूटनासावघर्षणम्।
शक्तो नार्कप्रभां द्रष्टुं न वर्त्मोन्मीलनक्षमः ॥९॥

केवल शिशुओं के पलक में दूध के दोष से कुकूणक (*Follicular conjunctivitis or Trachoma*) रोग उत्पन्न होता है। इससे वह नेत्र बारम्बार खुजलाता और स्राव करता है। बालक ललाट, नेत्र-कूट और नाक को रगड़ता है; धूप की ओर नहीं देख सकता और पलक चलाने में समर्थ नहीं होता।

पारिगर्भिक

मातुः कुमारो गर्भिण्याः स्तन्यं प्रायः पिबन्नपि।
कासाग्निसादवमथुतन्द्राकार्श्यारुचिभ्रमैः ॥१०॥
युज्यते कोष्ठवृद्ध्या च तमाहुः पारिगर्भिकम्।
रोगं परिभवाख्यं च युञ्ज्यात्तत्राग्निदीपनम् ॥११॥

प्रायः गर्भिणी माता का दूध पीने से बालक खांसी, अग्निमांद्य, वमन, तन्द्रा, कृशता, अरुचि भ्रम एवं कोष्ठ वृद्धि से युक्त हो जाता है। इस रोग को पारिगर्भिक कहते हैं और परिभव नामक रोग भी कहते हैं। इसमें अग्नि-प्रदीपक औषधियों की योजना करनी चाहिये।

तालुकण्टक

तालुमांसे कफः क्रुद्धः कुरुते तालुकण्टकम्।
तेन तालुप्रदेशस्य निम्नता मूर्ध्नि जायते ॥१२॥
तालुपातः स्तनद्वेषः कृच्छ्रात् पानं शकृद्द्रवम्।
तृडक्षिकण्ठास्यरुजा ग्रीवादुर्धरता वमिः ॥१३॥

तालु मांस में कफ कुपित होकर तालुकण्टक उत्पन्न करता है। इससे सिर में तालुप्रदेश में निम्नता उत्पन्न हो जाती है तथा तालु लटक आना, दूध न पीना या कठिनाई से पीना, पतले दस्त, प्यास; आंख, कण्ठ एवं मुख में पीड़ा, गर्दन सीधी रखने की शक्ति न रहना और वमन—ये लक्षण होते हैं।

महापद्म विसर्प अथवा शिशु-विसर्प
(*Erysipelas Neonatorum*)

विसर्पस्तु शिशोः प्राणनाशनो वस्तिशीर्षजः।
पद्मवर्णो महापद्मनामा दोषत्रयोद्भवः ॥१४॥
शङ्खाभ्यां हृदयं याति हृदयाद्वा गुदं व्रजेत्।

लाल कमल के वर्ण का, महापद्म नामक, तीनों दोषों से, शिशुओं की बस्ति या हृदय में होने वाला विसर्प प्राण नाशक होता है। यह शंख-प्रदेश से हृदय की ओर अथवा हृदय से गुदा की ओर फैलता है।

अन्य रोग

क्षुद्ररोगे च कथिते त्वजगल्ल्यहिपूतने ॥१५॥
ज्वराद्या व्याधयः सर्वे महतां ये पुरेरिताः।
बालदेहेऽपि ते तद्वद्विज्ञेयाः कुशलैः सदा ॥१६॥

क्षुद्र रोग प्रकरण में अजगल्लिका और अहिपूतना का वर्णन किया जा चुका है। बड़ों की ज्वर आदि सभी व्याधियां जो पहले कही जा चुकी हैं वे बालकों के शरीर में भी उसी प्रकार होती हैं—यह बात निपुण वैद्यों को सदा याद रखनी चाहिये।

ग्रहजुष्ट के सामान्य लक्षण

क्षणादुद्विजते बालः क्षणात्त्रस्यति रोदिति।
नखैर्दन्तैर्दारयति धात्रीमात्मानमेव वा ॥१७॥
ऊर्ध्वं निरीक्षते दन्तान् खादेत् कूजति जृम्भते।
भ्रुवौ क्षिपति दन्तौष्ठं फेनं वमति चासकृत् ॥१८॥
क्षामोऽतिनिशि जागर्ति शूनाक्षो भिन्नविट्स्वरः।
मांसशोणितगन्धिश्च न चाश्नाति यथा पुरा ॥१९॥
सामान्यं ग्रहजुष्टानां लक्षणं समुदाहृतम्।

बालक क्षण क्षण में भयभीत होता है, कांपता एवं रोता है; नख और दांत से धात्री को अथवा स्वयं को नोंचता काटता है; ऊपर की ओर देखता है, दांत कटकटाता है, कांखता है, जंभाई लेता है, भौंह, दांत और ओठ चलाता है (अथवा इनमें आक्षेप होते हैं), बारबार फेनवमन करता है, अत्यन्त क्षीण हो जाता है, रात्रि में जागता है, आंखें सूजी हुई रहती हैं, स्वरभेद और अतिसार से पीड़ित होता है, शरीर से मांस और रक्त की गंध आती है और वह पहले के समान आहार ग्रहण नहीं करता—ये ग्रहजुष्टों के सामान्य लक्षण कहे गये है।

स्कन्द ग्रहजुष्ट के लक्षण

एकनेत्रस्य गात्रस्य स्रावः स्पन्दनकम्पनम् ॥२०॥
ऊर्ध्वं दृष्ट्वा निरीक्षेत वक्रास्यो रक्तगन्धिकः।
दन्तान् खादति वित्रस्तः स्तन्यं नैवाभिनन्दति ॥२१॥
स्कन्दग्रहगृहीतानां रोदनं चाल्पमेव च।

एक आंख से स्राव होता है तथा उसमें स्पन्दन एवं कम्पन होते हैं, एक अंग में स्वेद प्रवृति, स्पन्दन और कम्पन होते हैं, बालक ऊपर देखता है, मुख टेढ़ा हो जाता है, रक्त की गंध आती है, दांत कटकटाता है, कांपता है, दूध नहीं पीता और कम रोता है—ये स्कन्दग्रह के द्वारा गृहीत के लक्षण हैं।

स्कन्दापस्मार

नष्टसंज्ञो वमेत् फेनं संज्ञावानतिरोदिति।
पूयशोणितगन्धित्वं स्कन्दापस्मारलक्षणम् ॥२२॥

बालक मूर्च्छित होने पर फेन वमन करता है, होश में आने पर अत्यधिक रोता है तथा उसके शरीर से पूय और रक्त की गंध आती है—ये स्कन्दापस्मार के लक्षण हैं।

शकुनी ग्रह-जुष्ट के लक्षण

स्रस्ताङ्गो भयचकितो विहङ्गगन्धिः
स्रावाव्रणपरिपीडितः समन्तात्।
स्फोटैश्च प्रचिततनुः सदाहपाकै-
र्विज्ञेयो भवति शिशुः क्षतः शकुन्या ॥२३॥

बालक का शरीर शिथिल रहता है, वह भयविह्वल रहता है, उसके शरीर से पक्षियों की गंध आती है तथा वह सारे शरीर में व्याप्त स्राव-युक्त व्रणों और दाह एवं पाक करने वाले स्फोटों से पीड़ित रहता है—इन लक्षणों से शकुनी ग्रह से पीड़ित शिशु पहचाना जाता है।

रेवती ग्रह जुष्ट के लक्षण

व्रणैः स्फोटैश्चितं गात्रं पङ्कगन्धं स्रवेदसृक्।
भिन्नवर्चा ज्वरी दाही रेवतीग्रहलक्षणम् ॥२४॥

शरीर व्रणों एवं स्फोटों से व्याप्त रहता है, कीचड़ की गंध आती है, रक्तस्राव होता है तथा रोगी शिशु अतिसार, ज्वर और दाह से पीड़ित रहता है—ये रेवती ग्रह जुष्ट के लक्षण हैं।

पूतनाग्रह जुष्ट के लक्षण

अतीसारो ज्वरस्तृष्णा तिर्यक्प्रेक्षणरोदनम् ।
नष्टनिद्रस्तथोद्विग्नो ग्रस्तः पूतनया शिशुः ॥२५॥

अतिसार, ज्वर, तृष्णा, तिरछी दृष्टि (Squint), रोना, अनिद्रा तथा उद्विग्नता—ये लक्षण पूतना-ग्रस्त शिशु के हैं।

अन्धपूतना-ग्रह जुष्ट के लक्षण

छर्दिः कासो ज्वरस्तृष्णा वसागन्धोऽतिरोदनम् ।
स्तन्यद्वेषोऽतिसारश्च अन्धपूतनया भवेत् ॥२६॥

वमन, खांसी, ज्वर, तृष्णा, चर्बी की गन्ध, अत्यधिक रोना, दूध न पीना और अतिसार–ये लक्षण अन्धपूतना से ग्रस्त होने पर होते हैं।

शीतपूतना-ग्रह जुष्ट के लक्षण

वेपते कासते क्षीणो नेत्ररोगो विगन्धिता ।
छर्द्यतीसारयुक्तश्च शीतपूतनया शिशुः ॥२७॥

शीतपूतना से ग्रस्त शिशु कांपता और खांसता है, क्षीण होता है तथा नेत्ररोग, दुर्गन्ध (अथवा गंधहीनता), वमन और अतिसार से युक्त रहता है।

मुखमण्डिका ग्रह जुष्ट के लक्षण

प्रसन्नवर्णवदनः सिराभिरभिसंवृतः ।
मूत्रगन्धी च बह्वाशी मुखमण्डिकया भवेत् ॥२८॥

मुखमण्डिका से ग्रस्त शिशु का वर्ण एवं मुख स्वच्छ रहता है, शरीर सिराओं से व्याप्त रहता है, शरीर से मूत्र की गंध आती है और वह अधिक आहार ग्रहण करता है।

नैगमेषग्रह जुष्ट के लक्षण

छर्दिस्प(स्य)न्दनकण्ठास्यशोषमूर्च्छाविगन्धिताः ।
ऊर्ध्वं पश्येद्दशेद्दन्तान् नैगमेयग्रहं वदेत् ॥२९॥

वमन, स्पन्दन, कण्ठ और मुख सूखना, मूर्च्छा, दुर्गन्ध (अथवा गंधहीनता), ऊपर देखना और दांत कटकटाना—इन लक्षणों से युक्त शिशु को नैगमेष ग्रह से पीड़ित कहना चाहिए।

ग्रह जुष्ट की साध्यासाध्यता

प्रस्तब्धाक्षः स्तनद्वेषी मुह्यते चानिशं मुहुः ।
तं बालमचिराद्धन्ति ग्रहः संपूर्णलक्षणः ॥३०॥

जिसके नेत्र स्तब्ध हो गए हों, जो दूध न पीता हो और जो लगातार बारम्बार मूर्च्छित होता हो तथा जिसमें ग्रह के सम्पूर्ण लक्षण मिलते हों उस बालक को ग्रह शीघ्र ही मार डालता है।

: ६९ :

विषरोग

विष के प्रकार

स्थावरं जङ्गमं चैव द्विविधं विषमुच्यते ।
मूलाद्यात्मकमाद्यं स्यात् परं सर्पादिसंभवम् ॥१॥

स्थावर और जङ्गम भेद से विष दो प्रकार का होता है। मूल आदि (आदि से फल, पत्र, पुष्प, शाखा आदि भी ग्रहण करें) का विष स्थावर और सर्प आदि (आदि से बिच्छू, मकड़ी, चूहा, मक्खी मच्छड़ आदि भी ग्रहण करें) का विष जङ्गम होता है।

जंगम विष के सामान्य लक्षण

निद्रां तन्द्रां क्लमं दाहमपाकं लोमहर्षणम् ।
शोथं चैवातिसारं च जङ्गमं कुरुते विषम् ॥२॥

जङ्गम विष निद्रा, तन्द्रा, थकावट, दाह, अजीर्ण, रोमांच, शोथ और अतिसार उत्पन्न करता है।

स्थावर विष के सामान्य लक्षण

स्थावरं च ज्वरं हिक्कां दन्तहर्षं गलग्रहम् ।
फेनच्छर्द्यरुचिश्वासं मूर्च्छां च कुरुते भृशम् ॥३॥

और स्थावर विष ज्वर, हिक्का, दंतहर्ष (दांत

खट्टे हो जाना), गले में जकड़ाहट, फेनवमन, अरुचि, श्वास तथा गंभीर मूर्च्छा उत्पन्न करता है।

विष दाता के लक्षण

इङ्गितज्ञो मनुष्याणां वाक्चेष्टामुखवैकृतैः।
जानीयाद्विषदातारमेभिर्लिङ्गैश्च बुद्धिमान् ॥४॥
न ददात्युत्तरं पृष्टो विवक्षुर्मोहमेति च।
अपार्थं बहु संकीर्णं भाषते चापि मूढवत् ॥५॥
हसत्यकस्मात् स्फोटयत्यंगुलीर्विलिखेन्महीम्।
वेपथुश्चास्य भवति त्रस्तश्चान्योन्यमीक्षते ॥६॥
विवर्णवक्त्रो ध्यामश्च नखैः किंचिच्छिनत्त्यपि।
आलभेतासनं दीनः करेण च शिरोरुहम् ॥७॥
वर्तते विपरीतं च विषदाता विचेतनः।

संकेतों को समझने वाले बुद्धिमान् मनुष्य को मनुष्यों की बात-चीत, चेष्टाओं और चेहरे में उत्पन्न होने वाले विकारों पर से इन लक्षणों के द्वारा विषदाता का पता लगाना चाहिये। विष देने वाला पूछने पर उत्तर नहीं देता; बोलने की इच्छा करता है किन्तु बोल नहीं पाता तथा मूर्ख के समान बहुत सी अर्थहीन बातें अस्पष्ट स्वर में बोलता है। अकस्मात् (अकारण) हंसता है, अंगुलियां चटकाता है, जमीन पर लिखता है, कांपता है और डरकर एक दूसरे को (अथवा इधर-उधर) देखता है। उसका चेहरा विवर्ण और झुलसा हुआ सा हो जाता है तथा वह नाखूनों से कुछ (तिनका आदि) काटता है, दीनता पूर्वक हाथ से आसन और बालों का स्पर्श करता है, मुंह फेर कर बैठता है और होश में नहीं रहता।

स्थावर विषों के भेदानुसार लक्षण

उद्वेष्टनं मूलविषैः प्रलापो मोह एव च ॥८॥
जृम्भणं वेपनं श्वासो मोहः पत्रविषेण तु।
मुष्कशोथः फलविषैर्दाहोऽन्नद्वेष एव च ॥९॥
भवेत् पुष्पविषैश्छर्दिराध्मानं श्वास एव च।
त्वक्सारनिर्यासविषैरुपयुक्तैर्भवन्ति हि ॥१०॥
आस्यदौर्गन्ध्यपारुष्यशिरोरुक्कफसंस्रवाः
फेनागमः क्षीरविषैर्विड्भेदो गुरुगात्रता ॥११॥
हृत्पीडनं धातुविषैर्मूर्च्छा दाहश्च तालुनि।
प्रायेण कालघातीनि विषाण्येतानि निर्दिशेत् ॥१२॥

'मूल विषों' से उद्वेष्टन, प्रलाप और मूर्च्छा; 'पत्रविषों' से जम्भाई, कम्प, श्वास और मूर्च्छा; 'फलविषों' से अण्डकोष में शोथ, दाह और अरुचि तथा 'पुष्पविषों' से वमन, आध्मान और श्वास होते हैं। छाल, सार और 'गोंद विषों' के उपयोग से मुख से दुर्गन्ध आना और रूखापन रहना, सिरदर्द एवं कफ स्राव होते हैं। 'क्षीरविषों' से फेन निकलना, शरीर में भारीपन तथा अतिसार होते हैं। धातु-विषों से हृदय में पीड़ा, मूर्च्छा और तालु में दाह होती है। प्रायः इन विषों को (कालान्तर में) मारक कहना चाहिये।

विषलिप्त-शस्त्र-हत के लक्षण

सद्यः क्षतं पच्यते यस्य जन्तोः
स्रवेद्रक्तं पच्यते चाप्यभीक्ष्णम्।
कृष्णीभूतं क्लिन्नमत्यर्थपूति
क्षतान्मांसं शीर्यते चापि यस्य ॥१३॥
तृष्णा मूर्च्छा ज्वरदाहौ च यस्य
दिग्धाहतं तं पुरुषं व्यवस्येत्।
लिङ्गान्येतान्येव कुर्यादमित्रैर्व्रणे
विषं यस्य दत्तं प्रमादात् ॥१४॥

जिस व्यक्ति का व्रण शीघ्र ही पक जावे, रक्त-स्राव करे और बारम्बार पके; जिसके क्षत से काला पड़ा हुआ, गला हुआ एवं अत्यन्त दुर्गन्धित मांस कट कट कर गिरता हो और जिसे तृष्णा, मूर्च्छा, ज्वर और दाह भी हों उस व्यक्ति को विषलिप्त शस्त्र से मारा गया समझना चाहिये।

असावधानी रखने के कारण शत्रुओं के द्वारा जिसके व्रण में विष-प्रयोग किया गया हो वह भी यही लक्षण उत्पन्न करता है।

विषपीत के लक्षण

सपीतं गृहधूमाभं पुरीषं योऽतिसार्यते।
फेनमुद्वमते चापि विषपीतं तमादिशेत् ॥१५॥

जिसे पीला एवं गृहधूम के वर्ण (Coffee-ground) का मल अतिसार होकर निकलता है तथा जो फेनवमन करता है उसने विष पिया है ऐसा बतलाना चाहिये ।

सर्पों के विष में दोष सम्बन्ध

वातपित्तकफात्मानो भोगिमण्डलिराजिलाः ।
यथाक्रमं समाख्याता, द्व्यन्तरा द्वन्द्वरूपिणः ॥१६॥

भोगी, मण्डली और राजिल सर्प क्रमशः वात, पित्त और कफ प्रधान कहे गये हैं। वर्णसंकर सर्प द्वन्द्वज लक्षण उत्पन्न करते हैं ।

सर्पदंश के लक्षण

दंशो भोगिकृतः कृष्णः सर्ववातविकारकृत् ।
पीतो मण्डलिजः शोथो मृदुः पित्तविकारवान् ॥१७॥
राजिलोत्थो भवेद्दंशः स्थिरशोथश्च पिच्छिलः ।
पाण्डुः स्निग्धोऽतिसान्द्रासृक्सर्वश्लेष्मविकारकृत् ॥१८॥

भोगी सर्प का दंश-स्थान काला होता है और वायु-जन्य समस्त लक्षण उत्पन्न करता है। मण्डली का दंशस्थान पीला, शोथयुक्त और मृदु होता है तथा पित्त के लक्षण उत्पन्न करता है। राजिल का दंशस्थान स्थिर शोथ वाला, पिच्छिल, पाण्डुवर्ण, स्निग्ध, अत्यन्त गाढ़े रक्त (का स्राव करने) वाला और कफ जन्य समस्त लक्षण उत्पन्न करने वाला होता है ।

सर्प दष्ट की सध्यासाध्यता

अश्वत्थदेवायतनश्मशानवल्मीक-
सन्ध्यासु चतुष्पथेषु ।
याम्ये च दष्टाः परिवर्जनीया
ऋक्षे सिराममसु ये च दष्टाः ॥१६॥
दर्वीकराणां विषमाशुघाति
सर्वाणि चोष्णे द्विगुणीभवन्ति ।
अजीर्णपित्तातपपीडितेषु बालेषु
वृद्धेषु बुभुक्षितेषु ॥२०॥
क्षीणक्षते मेहिनि कुष्ठयुक्ते
रूक्षेऽबले गर्भवतीषु चापि ।
शस्त्रक्षते यस्य न रक्तमेति राज्यो
लताभिश्च न संभवन्ति ॥२१॥
शीताभिरद्भिश्च न रोमहर्षो
विषाभिभूतं परिवर्जयेत्तम् ।
जिह्मं मुखं यस्य च केशशातो
नासावसादश्च सकण्ठभङ्गः ॥२२॥
कृष्णः सरक्तः श्वयथुश्च दंशे
हन्वोः स्थिरत्वं च विवर्जनीयः ।
वर्तिर्घना यस्य निरेति वक्त्राद्रक्तं
स्रवेदूर्ध्वमधश्च यस्य ॥२३॥
दंष्ट्रानिपाताश्चतुरश्च यस्य तं
चापि वैद्यः परिवर्जयेच्च ।
उन्मत्तमत्यर्थमुपद्रुतं वा हीनस्वरं
वाऽप्यथवा विवर्णम् ॥२४॥
सारिष्टमत्यर्थमवेगिनं च ज्ञात्वा
नरं कर्म न तत्र कुर्यात् ।

पीपल-वृक्ष के नीचे, देवालय में, श्मशान में, वमी के पास, संध्यासमय, चौराहे पर, भरणी नक्षत्र में (चकार से आर्द्रा, आश्लेषा, मघा, मूल और कृत्तिका नक्षत्रों का भी ग्रहण करना चाहिये) तथा सिराओं और मर्मस्थानों में (अथवा सिरा-मर्मों में) जिन्हें सर्प ने काटा हो वे प्रत्याख्येय हैं ।

फन वाले सर्पों का विष शीघ्र मारक होता है। सभी विष (सर्प विष) उष्ण वातावरण में दुगुने (प्रभाव वाले) हो जाते हैं ।

अजीर्ण, पित्त (पित्तज रोग) और धूप से पीडित व्यक्तियों में, बालकों में, वृद्धों में, भूखे व्यक्तियों में, क्षत से क्षीण व्यक्तियों में, प्रमेह से क्षीण व्यक्तियों में, कुष्ठ-युक्त व्यक्तियों में, रूक्ष एवं दुर्बल व्यक्तियों में तथा गर्भवती स्त्रियों में भी सर्पों का विष शीघ्र मारक होता है (अथवा दुगुना प्रभाव करता है)।

जिसे शस्त्र लगने पर रक्त न निकले, कोड़ों से धारियां उत्पन्न न हों और शीतल जल से रोमहर्ष भी न हो उस विषरोगी को त्याग देना चाहिये ।

जिसका मुख टेढ़ा हो, बाल गिरते हों नाक बैठ गई हो, गर्दन टूटी हुई सी हो गई हो, दंश स्थान में काला एवं लाल शोथ हो और जबड़ा स्थिर हो गया हो वह प्रत्याख्येय है।

जिसके मुख से कड़ी बत्ती सी (लार) निकलने, उर्ध्व एवं अधः मार्गों से रक्तस्राव हो और जिसे चार दांत लगे हों उसे भी वैद्य त्याग देवे।

उन्मत्त, अत्यधिक उपद्रवों से युक्त, क्षीण स्वर वाले, विवर्ण, अरिष्ट लक्षणों से युक्त और वेगरहित (मल-मूत्रादि के वेग से रहित तथा चलने आदि में असमर्थ) सर्पदष्ट मनुष्य की चिकित्सा नहीं करनी चाहिये।

दूषीविष

जीर्णं विषघ्नौषधिभिर्हतं वा
दावाग्निवातातपशोषितं वा ॥२५॥
स्वभावतो वा गुणविप्रहीनं
विषं हि दूषीविषतामुपैति।

पुराना, विषघ्न औषधियों से मारित; दावाग्नि, वायु अथवा धूप से सुखाया हुआ अथवा स्वभावतः अत्यन्त गुणहीन विष दूषीविष हो जाता है।

वीर्याल्पभावान्न निपातयेत्तत्
कफान्वितं वर्षगणानुबन्धि ॥२६॥
तेनार्दितो भिन्नपुरीषवर्णो
वैगन्ध्यवैरस्ययुतः पिपासी।
मूर्च्छां भ्रमं गद्गदवाग्वमिं च
विचेष्टमानोऽरतिमाप्नुयाद्वा ॥२७॥

अल्प शक्ति होने से यह मृत्यु नहीं करता तथा कफ-युक्त होने से वर्षों तक प्रभाव रखता है। इससे पीड़ित व्यक्ति अतिसार, विवर्णता, विगन्धता, विरसता, तृष्णा, मूर्च्छा, भ्रम, गद्गद् स्वरता, वमन, विरुद्ध चेष्टायें (आक्षेप आदि) और बेचैनी से युक्त रहता है।

आमाशयस्थे कफवातरोगी,
पक्वाशयस्थेऽनिलपित्तरोगी।
भवेत् समुद्ध्वस्तशिरोरुहाङ्गो
विलूनपक्षस्तु यथा विहङ्गः ॥२८॥

दूषीविष आमाशय में स्थित होने पर मनुष्य कफ-वात जन्य रोगों से और पक्वाशय में स्थित होने पर वात-पित्त जन्य रोगों से पीड़ित होता है तथा सिर के बाल और अंङ्गों के रोम गिर जाने से पर कटे पक्षी के समान हो जाता है।

स्थितं रसादिष्वथवा यथोक्तान्
करोति धातुप्रभवान् विकारान्।
कोपं च शीतानिलदुर्दिनेषु
यात्याशु, पूर्वं शृणु तस्य रूपम् ॥२९॥
निद्रागुरुत्वं च विजृम्भणं च
विश्लेषहर्षावथवाऽङ्गमर्दम्।

अथवा रस आदि धातुओं में स्थित होकर पूर्वोक्त धातुगत रोग उत्पन्न करता है और शीतल पवन चलने पर एवं बुरा मौसम आने पर शीघ्र कुपित होता है। उसके पूर्वरूप सुनो—निद्रा, भारीपन, जंभाई, शिथिलता, रोमहर्ष अथवा अंगों में पीड़ा।

ततः करोत्यन्नमदाविपाका-
वरोचकं मण्डलकोठजन्म ॥३०॥
मांसक्षयं पादकरप्रशोथं मूर्च्छां
तथा छर्दिमथातिसारम्।
दूषीविषं श्वासतृषाज्वरांश्च
कुर्यात् प्रवृद्धिं जठरस्य चापि ॥३१॥

फिर दूषीविष अन्नमद (भोजन के बाद नशा सा उत्पन्न होना), अजीर्ण, अरुचि, मण्डलों और कोठों की उत्पत्ति, मांस-क्षय, पैरों-हाथों में शोथ, मूर्च्छा, वमन, अतिसार, श्वास, तृष्णा, ज्वर और उदर की वृद्धि भी करता है।

उन्मादमन्यज्जनयेत्तथाऽन्य-
दानाहमन्यत्क्षपयेच्च शुक्रम्।
गद्गद्यमन्यज्जनयेच्च कुष्ठं
तांस्तान्विकारांश्च बहुप्रकारान् ॥३२॥

कोई दूषीविष उन्माद, कोई आनाह, कोई शुक्र-नाश (षण्ढता), कोई गद्‌गद्‌ स्वरता, कोई कुष्ठ और दूसरे अपने गुणों के अनुरूप दूसरे अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न करते हैं।

दूषितं देशकालान्नदिवास्वप्नैरभीक्ष्णशः ।
यस्मात् संदूषयेद्धातून् तस्माद्दूषीविषं स्मृतम् ॥३३॥

क्योंकि यह देश,काल,अन्न और दिन में सोने से कुपित होकर धातुओं को अत्यन्त दूषित करता है इस लिए दूषिविष कहलाता है।

वक्तव्य—(३३६) देश से बुरी जलवायु वाला देश; काल से बुरा मौसम और अन्न से दोष प्रकोपक अन्न समझना चाहिऐ। दूषीविष में स्वतः की शक्ति अल्प रहती है इसलिए दोष प्रकोप से बल प्राप्त करने के बाद ही यह लक्षणों की उत्पत्ति करता है।

साध्यमात्मवतः सद्यो याप्यं संवत्सरोत्थितम् ।
दूषीविषमसाध्यं स्यात् क्षीणस्याहितसेविनः ॥३४॥

संयमी व्यक्ति का नया दूषीविष साध्य है और साल भर पुराना याप्य है। क्षीण और अहित पदार्थों का सेवन करने वाले व्यक्ति का दूपीविष असाध्य होता है।

गरविष

सौभाग्यार्थं स्त्रियः स्वेदं रजो नानाङ्गजान् मलान् ।
शत्रुप्रयुक्तांश्च गरान् प्रयच्छन्त्यन्नमिश्रितान् ॥३५॥
तैः स्यात् पाण्डुः कृशोऽल्पाग्निर्गरश्चास्योपजायते ।
मर्मप्रधमनाध्मानं हस्तयोः शोथलक्षणम् ॥३६॥
जठरं ग्रहणीदोषो यक्ष्मा गुल्मः क्षयो ज्वरः ।
एवंविधस्य चान्यस्य व्याधेर्लिङ्गानि दर्शयेत् ॥३७॥

सौभाग्य प्राप्ति (वशीकरण) के निमित्त स्त्रियां स्वेद, रज, अनेक अंगों के मैल, और शत्रुओं के द्वारा प्रयुक्त होने वाले गर अन्न में मिलाकर देती हैं। (खिला देती) हैं। इनसे मनुष्य पाण्डु, कृश और अल्पाग्नि (अजीर्ण रोगी) हो जाता है। गर उसके शरीर में ये रोग भी उत्पन्न करता है—मर्मों में पीड़ा, आध्मान, हाथों में शोथ, उदररोग, ग्रहणी रोग, यक्ष्मा, गुल्म, क्षय (धातुक्षय) और ज्वर तथा इसी प्रकार के अन्य रोग के लक्षण भी उत्पन्न कर सकता है।

वक्तव्य—(३३७) दत्तात्रेय तंत्र आदि तंत्र ग्रन्थों में इस प्रकार के अनेक वशीकरण और मारण प्रयोग लिखे हैं।

लूता (मकड़ी) दंश (*Spider-bite*)

यस्माल्लूनं तृणं प्राप्ता मुनेः प्रस्वेदबिन्दवः ।
तस्माल्लूतास्तु भाष्यन्ते संख्यया ताश्च षोडश ॥३८॥
ताभिर्दष्टे दंशकोथः प्रवृत्तिः क्षतजस्य च ।
ज्वरो दाहोऽतिसारश्च गदाः स्युश्च त्रिदोषजाः ॥३९॥
पिडका विविधाकारा मण्डलानि महान्ति च ।
शोथा महान्तो मृदवो रक्ताः श्यावाश्चलास्तथा ॥४०॥
सामान्यं सर्वलूतानामेतद्दंशस्य लक्षणम् ।
दंशमध्ये तु यत् कृष्णं श्यावं वा जालकाचितम् ॥४१॥
ऊर्ध्वाकृति भृशं पाकं क्लेदशोथज्वरान्वितम् ।
दूषीविषाभिर्लूताभिस्तद्दष्टमिति निर्दिशेत् ॥४२॥
शोथः श्वेताः सिता रक्ताः पीता वा पिडका ज्वरः ।
प्राणान्तिकाश्च जायन्ते श्वासहिक्काशिरोग्रहाः ॥४३॥

क्योंकि मुनि के स्वेद विन्दु कटे हुये (लून) तृणों पर गिरने से इनकी उत्पत्ति हुई थी इस लिये इन्हें लूता कहते हैं। इनकी सोलह जातियां होती है।

इनके काटने से दंश-स्थान का कोथ, रक्तस्राव, ज्वर, दाह, अतिसार और अन्य त्रिदोषज रोग उत्पन्न होते हैं। अनेक आकार वाली पिडिकाऐं, बड़े बड़े मण्डल तथा मृदु, लाल एवं श्याववर्ण, चलायमान बड़े बड़े शोथ उत्पन्न होते हैं। ये सभी प्रकार की लूताओं के दंश के सामान्य लक्षण हैं।

जिस दंश स्थान में काला अथवा श्यामवर्ण, जालवत् तन्तुओं से व्याप्त, उभरा हुआ, क्लेद, शोथ और ज्वर से युक्त गम्भीर पाक होता है वह दूषीविषा जाति की मकड़ियों का दंश है—ऐसा बतलाना चाहिये।

और प्राणान्तिका मकड़ियां (सौवर्णिका आदि ८ प्रकार की मकड़ियां) शोथ तथा सफेद, लाल या

पीली पिडिकाएँ, ज्वर, श्वास, हिक्का और सिर में जकड़ाहट उत्पन्न करती हैं।

पाश्चात्य मत —

बहुत सी मकड़ियां (*Spiders*) एक प्रकार का विष छोड़ती हैं, जो मनुष्यों पर साधारण विषक्रिया करता है। किन्तु लैट्रोडैक्टस (*Latrodectus*) जाति की मकड़ियां अत्यन्त विषैली होती हैं। इनके विष से प्रभावित स्थान में तीव्र पीड़ा, प्रदाह, शोथ और कभी कभी कर्दम तक होता है। कभी कभी रक्तमेह होता है। वाततनाड़ियों में विष का संचार होने से उनसे संबन्धित लक्षण उत्पन्न होते हैं जो कभी कभी अपतानक का भी रूप धारण कर सकते हैं। द्वितीयक उपसर्ग भी होने पर अथवा पीड़ा के प्रभाव से ज्वर भी उत्पन्न होता है।

मूषिक दूषी विष

आदंशाच्छोणितं पाण्डुमण्डलानि ज्वरोऽरुचिः।
लोमहर्षश्च दाहश्चाप्याखुदूषी विषार्दिते ॥४४॥
मूर्च्छाङ्गशोथवैवर्ण्यक्लेदशब्दाश्रुतिज्वराः।
शिरोगुरुत्वं लालासृक्छर्दिश्चासाध्यमूषिकैः ॥४५॥

चूहे के काटते ही दंशस्थान से रक्त निकलने लगता है तथा उसके दूषीविष का प्रभाव होने पर पाण्डुवर्ण के मण्डल, ज्वर, अरुचि, रोमहर्ष और दाह की उत्पत्ति होती है।

असाध्य चूहों के काटने से मूर्च्छा, अंग में शोथ, विवर्णता, क्लेद, बधिरता, ज्वर, सिर में भारीपन तथा लार और रक्त का वमन होता है।

पाश्चात्य मत—

मूषक दंश ज्वर (*Rat-bite fever*)—लगभग ३% प्रतिशत चूहों में क्षुद्र चक्राणु (स्पिरिल्लम् माइनस, *Spirillum minus*) नामक जीवाणु पाया जाता है जिसके संक्रामण से २ से ६ सप्ताहों में ज्वर की उत्पत्ति होती है। दंश स्थान में प्रायः लाल रङ्ग का व्रण बनता है और शोथ, पीड़ा, समीपस्थ लस ग्रन्थियों में वृद्धि आदि लक्षण होते हैं। ज्वर प्रायः जाड़ा लगकर आता है और उसके साथ हृल्लास, वमन, बेचैनी, सर्वांग में पीड़ा और पिडिकाओं या मण्डलों की उत्पत्ति होती है। ज्वर क्रमशः बढ़ता है, तीसरे दिन उच्चतम शिखर (१०३°-१०४°) पर पहुँच कर पांचवे दिन तक उतर जाता है और ४-५ दिन बाद पुनः उत्पन्न होता है। पुनराक्रमण एक ही बार अथवा कई बार होता और प्रत्येक बार व्रण स्थान की दशा बिगड़ती है। कुछ काल में रोग स्वयमेव अथवा चिकित्सा से शांत हो जाता है किन्तु कुछ मामलों में वृक्क प्रदाह, पेशी-घात, बहिर्नेत्रता (*Exophthalmus*) आदि उपद्रव हो सकते हैं और लगभग १०% प्रतिशत रोगी मरते हैं।

जापानी मूषक दंश ज्वर अथवा जापान का सप्त दिवसीय ज्वर (Nanukayami or Seven-day Fever of Japan) यह ज्वर जापान के खेतों में पाये जाने वाले चूहों में उपस्थित एक चक्राणु (Leptospira Habdomadis) के संक्रमण से होता है। दंश के २ से ७ दिनों के भीतर १०२°-१०३° ज्वर की उत्पत्ति होती है जो ६ वें दिन घटकर ७ वें या ८ वें दिन उतर जाता है। इसके साथ सर्वाङ्ग एवं दंश-स्थान में पीड़ा, नेत्र कलाप्रदाह, लस-ग्रंथियों की वृद्धि, अरुचि, हृल्लास, वमन, अतिसार आदि लक्षण होते हैं।

कृकलास दंश

कार्ष्ण्यं श्यावत्वमथवा नानावर्णत्वमेव वा।
मोहोऽथ वर्चसो भेदो दष्टे स्यात् कृकलासकैः ॥४६॥

कृकलास (गिरगिटान) के दंश स्थान में कालापन, श्यावता अथवा अनेक वर्गों की उत्पत्ति होती है तथा मूर्च्छा और अतिसार होते हैं।

वृश्चिक-दंश (Scorpion-Sting)

दहत्यग्निरिवादौ च भिनत्तीवोर्ध्वमाशु च।
वृश्चिकस्य विषं याति दंशे पश्चात्तु तिष्ठति ॥४७॥
दष्टोऽसाध्यश्च हृद्घ्राणरसनोपहतो नरः।
मांसैः पतद्भिरत्यर्थं वेदनार्तो जहात्यसून् ॥४८॥

प्रारम्भ में बिच्छू का विष दंश स्थान में जलती हुई आग के समान प्रविष्ट होता है, फिर शीघ्र ही ऊपर की ओर भेदन सा करता हुआ जाता है और अन्त में ठहर जाता है।

बिच्छू के द्वारा काटे हुए जिस मनुष्य के हृदय, नाक एवं जीभ में विष का प्रभाव हो गया हो, जिसका मांस (गल-गल कर) गिरता हो और जो अत्यधिक वेदना से व्याकुल हो वह असाध्य है और शीघ्र ही प्राणों को त्याग देता है।

पाश्चात्य मत—

वृश्चिक दंश (Scorpion-Sting) में दंश-स्थान में तीव्र वेदना होती है। बालकों एवं सुकुमार व्यक्तियों में सार्वाङ्गिक लक्षण उत्पन्न होते हैं—विसर्गी ज्वर ३-६ दिन, गंभीर उदर पीड़ा, वमन, अतिसार, अत्यधिक प्रस्वेद, शीतांग, पेशी-उद्वेष्ठन, अंगघात, श्वास संस्थान का निपात, संयास और मृत्यु।

कणभ-दंश

विसर्पः श्वयथुः शूलं ज्वरश्छर्दिरथापि च।
लक्षणं कणभैर्दष्टे दंशश्चैवावसीदति ॥४६॥

कणभ (नामक विषैले कीड़े) के काटने से विसर्प, शोथ, शूल, ज्वर और वमन—ये लक्षण होते हैं तथा इस प्रकार दंश (दष्ट स्थान अथवा डंक) नष्ट होकर गिर जाता है।

उच्चिटिङ्ग-दंश

हृष्टलोमोच्चिटिङ्गेन स्तब्धलिङ्गो भृशार्तिमान्।
दष्टः शीतोदकेनेव सिक्तान्यङ्गानि मन्यते ॥५०॥

उच्चिटिङ्ग (नामक विषैले कीड़े) के काटने से मनुष्य के रोम खड़े हो जाते हैं, लिंग स्तंभित हो जाता है, अत्यधिक पीड़ा होती है तथा अंग ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे शीतल जल से सींच दिये गये हों।

वक्तव्य—(३३८)कणभ और उच्चिटिङ्ग कीड़ों का ज्ञान आज के युग में किसी को नहीं है। संहिताओं के वचनों के आधार पर अनेक निदानों ने इनके सम्बन्ध में पृथक् पृथक् मत प्रकट किया है किन्तु प्रत्यक्ष परिचय आज तक कोई भी नहीं दे पाया। इस सम्बन्ध में शोध की आवश्यकता है।

मण्डूक दंश (Frog-bite)

एकादंष्ट्रार्दितः शूनः सरुजः पीतकः सतृट्।
छर्दिर्निद्रा च सविषैर्मण्डूकैर्दष्टलक्षणम् ॥५१॥

विषैले मेण्डकों के काटने से मनुष्य एक ही डाढ़ से पीड़ित होता है (अर्थात् मेण्डक की एक ही डाढ़ गड़ती है) तथा वह शोथ, पीड़ा, पीतता (पाण्डु), तृष्णा, वमन और निद्रा से युक्त रहता है।

मत्स्य और जलौका दंश (Fish and Leech bites)

मत्स्यास्तु सविषाः कुर्युर्दाहं शोथं रुजं तथा।
कण्डूं शोथं ज्वरं मूर्च्छां सविषास्तु जलौकसः ॥५२॥

विषैली मछलियां दाह, शोथ और पीड़ा उत्पन्न करती हैं। विषैली जलौकायें (जोंक) खुजलाहट, शोथ, ज्वर और मूर्च्छा उत्पन्न करती हैं।

वक्तव्य—(३३६) अधिकांश मछलियां, जौंक और मेंढक विषहीन रहते हैं।

गृहगोधिका-दंश

विदाहं श्वयथुं तोदं स्वेदं च गृहगोधिका।

गृहगोधिका (*Lizard* छिपकली) का दंश दाह, शोथ, तोद और स्वेद उत्पन्न करता है।

शतपदी दंश

दंशे स्वेदं रुजं दाहं कुर्याच्छतपदीविषम् ॥५३॥

शतपदी (कनखजूरा) का विष(*Centipede-bite or sting*) दंश-स्थान में स्वेद पीड़ा और दाह उत्पन्न करता है।

मशक-दंश

कण्डूमान् मशकैरीषच्छोथः स्यान्मन्दवेदनः।
असाध्यकीटसदृशमसाध्यमशकक्षतम् ॥५४॥

मशक (मच्छड़) के काटने (*Mosquito bite*) से खुजलाने वाला और मन्द वेदना करने वाला थोड़ा शोथ होता है। असाध्य मच्छड़ का दंश असाध्य कीड़ों

के दंश के समान असाध्य होता है ।

वक्तव्य—(३४०) मच्छड़ों के काटने से फैलने वाले रोगों का वर्णन ज्वर-प्रकरण में देखें ।

मक्षिका दंश

सद्यः प्रस्राविणी श्यावा दाहमूर्च्छाज्वरान्विता ।
पिडका मक्षिकादंशे तासां तु स्थगिकाऽसुहृत् ॥५५॥

मक्षिका (मक्खी) के दंश-स्थान में तुरन्त (या शीघ्र) स्राव करने वाली श्याववर्ण पिडका दाह, मूर्च्छा एवं ज्वर के साथ उत्पन्न होती है । मक्षिकाओं में स्थगिका मृत्युकारक है ।

वक्तव्य—(३४१) सुश्रुत ने ६ प्रकार की मक्षिकाएं बतलायी हैं—कान्तारिका, कृष्णा, पिङ्गलिका, मधूलिका, काषायी और स्थालिका (स्थगिका) । इनमें काषायी और स्थालिका प्राणनाशक बतलायी हैं । पाश्चात्य पद्धति में मरुमक्षिकाएं ट्सी-ट्सी मक्खी से उत्पन्न लक्षणों का विवेचन मननीय है ।

मरुमक्षिका दंश ज्वर (*Sand-fly fever, Phlebotomus fever, Three-day fever*)—मादा मरुमक्षिका एक विषाणु का वहन करती है जो उसके दंश के साथ ही मानव शरीर में प्रविष्ट होकर ३ से ७ दिनों में ज्वरोत्पत्ति करता है । साधारण थकावट, बेचैनी आदि पूर्वरूप कुछ काल तक लक्षित होने के बाद एकाएक तीव्र ज्वर (१०३°) का आक्रमण होता है तथा सिर और आंखों में तथा सारे शरीर में अत्यधिक पीड़ा; गले, पीठ और हाथ-पैरों की पेशियों में जकड़ाहट, कमजोरी, चेहरे एवं नेत्रों में लाली, गले में भीतर लाली के साथ छोटी छोटी पिडकाओं की उत्पत्ति और कुछ मामलों में वमन, अतिसार नासागत—रक्तपित्त आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं । तीसरे या चौथे दिन ज्वर उतर जाता है और रोगी क्रमशः स्वस्थ हो जाता है । कुछ विरल मामलों में पुनराक्रमण होता है ।

ट्सी-ट्सी मक्खी—के दंश से होने वाले तन्द्रिक ज्वर का वर्णन ज्वर प्रकरण में देखें ।

चतुष्पदों एवं मनुष्यों के दांतों और नखों के विष-लक्षण

चतुष्पद्भिर्द्विपद्भिश्च नखदन्तविषं च यत् ।
शूयते पच्यते वापि स्रवति ज्वरयत्यपि ॥५६॥

चतुष्पदों (चौपायों) और द्विपदों (मनुष्यों) के दांतों और नखों का विष शोथ, पाक, स्राव और ज्वर उत्पन्न करता है ।

पाश्चात्य मत—

ये प्रायः विषैले नहीं होते । लक्षणों की उत्पत्ति व्रणों में जीवाणुओं का संक्रमण होने से होती है ।

श्वान, शृगाल, ऋक्ष, व्याघ्र आदि जन्तुओं के
विष लक्षण और जलत्रास रोग

श्वशृगालतरक्ष्वृक्षव्याघ्रादीनां यदाऽनिलः ।
श्लेष्मप्रदुष्टो मुष्णाति संज्ञां संज्ञावहाश्रितः ॥५७॥
तदा प्रस्रस्तलांगूलहनुस्कन्धोऽतिलालवान् ।
अव्यक्तबधिरान्धश्च सोऽन्योन्यमभिधावति ॥५८॥
प्रमूढोऽन्यतमस्त्वेषां खादन्विपरिधावति ।
तेनोन्मत्तेन दष्टस्य दंष्ट्रिणां सविषेण तु ॥५९॥
सुप्तता जायते दंशे कृष्णं चातिस्रवत्यसृक् ।
दिग्धविद्धस्य लिङ्गेन प्रायशश्चोपलक्षितः ॥६०॥
येन चापि भवेद्दष्टस्तस्य चेष्टां रुतं नरः ।
बहुशः प्रतिकुर्वाणः क्रियाहीनो विनश्यति ॥६१॥
दंष्ट्रिणा येन दष्टश्च तद्रूपं यस्तु पश्यति ।
अप्सु चादर्शबिम्बे वा तस्य तद्रिष्टमादिशेत् ॥६२॥
त्रस्यत्यकस्माद्योऽभीक्ष्णं दृष्ट्वा स्पृष्ट्वाऽपि वा जलम् ।
जलत्रासं तु तं विद्याद्रिष्टं तदपि कीर्तितम् ॥६३॥
अदष्टो वा जलत्रासी न कथंचन सिद्धयति ।
प्रसुप्तो वोत्थितो वाऽपि स्वस्थस्त्रस्तो न सिद्धयति ॥६४॥

कुत्ता, गीदड़, तेंदुआ, रीछ, बाघ आदि जन्तुओं का वायु कफ से दूषित होने पर संज्ञावह स्रोतों में स्थित होकर संज्ञा को नष्ट कर देता है (पागल कर देता है) । तब उस जन्तु की पूंछ, जबड़ा और कंधे लटक जाते हैं, वह अधिक लार गिराता है तथा कुछ कुछ अंधा और बहरा हो जाता है । ऐसे

जन्तु एक दूसरे के पीछे दौड़ते हैं और उनमें से जो अधिक मूढ़ (पागल) होता है वह काटता फिरता है। उस पागल जन्तु के द्वारा विषैली डाढ़ से काटे जाने पर दंश-स्थान में सुप्तता और कालापन उत्पन्न हो जाता है, अत्यधिक रक्तस्राव करता है तथा विष-लिप्त शस्त्र से बने विद्ध व्रण के लक्षणों के समान लक्षणों से युक्त रहता है।

जिस जन्तु के द्वारा काटा गया हो, मनुष्य बार-म्बार उसी के समान चेष्टा और शब्द करता हुआ क्रिया हीन होकर मर जाता है।

मनुष्य जिस डाढ़ वाले प्राणी के द्वारा काटा गया है उसी का रूप पानी या आइने में देखता है। इसे उस मनुष्य का अरिष्ट (मृत्यु का लक्षण) कहना चाहिये।

जो जल को देखकर या छूकर अकारण ही बारम्बार डरता है उसके रोग को जलत्रास (जल-संत्रास, Hydrophobia, Rabies) समझना चाहिए। यह भी अरिष्ट कहा गया है।

(पागल जन्तु के द्वारा) न काटा गया भी जल-त्रास से पीड़ित होने वाला किसी भी तरह साध्य नहीं है। सोता ही रहने वाला, जागता ही रहने वाला अथवा स्वस्थ (प्रतीत होने वाला अर्थात् समय पर सोने-जागने वाला) भी जलत्रास का रोगी साध्य नहीं है।

पाश्चात्य मत—

जलत्रास अथवा जलसंत्रास (Hydrophobia, Rabies)—यह पशुओं का रोग है जो उनके काटने से मनुष्य को प्राप्त होता है। कारण संभवतः कोई विषाणु है जो सामान्यतः कुत्तों पर तथा कभी कभी सियारों, भेड़ियों एवं बिल्लियों पर भी आक्र-करता है। आक्रान्त पशु चिड़चिड़ा हो जाता है और दूसरे प्राणियों को अनायास ही काटता फिरता है। उसके मुख से हमेशा लार गिरती रहती है। उसके पिछले पैरों से घात आरम्भ होकर क्रमशः अन्य भागों में फैलता है तथा १० दिनों के भीतर इसकी मृत्यु हो जाती है। इन १० दिनों में वह जिस मनुष्य को काटता है उसे १-२ माह में (कम से कम २ सप्ताह में और अधिक से अधिक ८ मास में) रोग के लक्षण प्रकट होते हैं जिनका वर्णन ३ भागों में किया जा रहा है।

(i) पूर्वरूप (Prodromata)—दंश स्थान में पीड़ा (भले ही व्रण भर चुका हो), मानसिक अव-साद, बैचेनी और अनिद्रा प्रधान लक्षण हैं। कुछ ज्वर रहता है। क्रमशः निगलने में कष्ट होना आरम्भ होता है।

(ii) उत्तेजना की अवस्था (Stage of Excitement)—एक दो दिनों में ज्वर और बेचैनी की वृद्धि होती है तथा चेहरे पर भय का भाव उत्पन्न हो जाता है। जल पीने का प्रयत्न करते ही स्वरयंत्र और ग्रसनिका की पेशियों का स्तंभ हो जाता है। यह अत्यन्त कष्टदायक होता है, थूक भी निगलना असंभव हो जाता है। स्वरभेद हो जाता है।

फिर क्रमशः अन्य पेशियां भी प्रभावित हो जाती हैं और साधारण सी उत्तेजना (जैसे ठंडी हवा का झोका) से भी सारे शरीर में अपतानक सदृष आक्षेप (*Convulsion*) उत्पन्न होते हैं, वाह्यायाम होता है और श्वासमार्गीय पेशियों का भी स्तम्भ होता है। यह अवस्था २-३ दिन रहती है और इस समय तक मानसिक क्रियाएं अविकृत रहती हैं।

(iii) घात की अवस्था (*Stage of paralysis*) इस दशा में रोगी अत्यन्त थकित हो चुकता है, स्तम्भ और आक्षेप वन्द होजाते हैं तथा सारे शरीर की पेशियों का घात हो जाता है। अन्त में संन्यास होकर मृत्यु हो जाती है। यह अवस्था लगभग १-२ दिन रहती है।

साध्यासाध्यता—सिर, चेहरे और गले के दंश तथा एक से अधिक दंश अधिक भयानक होते हैं। लक्षण उत्पन्न होने के पूर्व और विशेषतः जन्तु के काटने के बाद शीघ्रातिशीघ्र प्रतिषेधक लसिका के अन्तर्भ-रण (*Anti-rabic Inoculation*) से रोग की

उत्पत्ति के पूर्व ही उसका नाश किया जा सकता है किन्तु रोग की उत्पत्ति हो चुकने पर रोगोपशम असम्भव है।

मिथ्या जल त्रास (*Lyssophobia or pseudo-hydrophobia*)—कुत्ते के काटने के बाद कभी वातिक प्रकृति के लोगों में जल-त्रास के समान लक्षण उत्पन्न होते हैं किन्तु मृत्यु नहीं होती। यह रोग हिस्टीरिया की श्रेणी का है।

निर्विष पुरुष के लक्षण

प्रशान्तदोषं प्रकृतिस्थधातु-
मन्नाभिकामं सममूत्रविट्कम्।
प्रसन्नवर्णेन्द्रियचित्तचेष्टं
वैद्योऽवगच्छेदविषं मनुष्यम् ।।६५।।

जिसके दोष शान्त हों, धातुऐं प्राकृतिक स्थिति में हों, भोजन की इच्छा हो, मल-मूत्र भलीभांति उत्सृष्ट होते हों तथा वर्ण, इन्द्रियों, चित्त और चेष्टाओं में प्रसन्नता का भाव हो उस मनुष्य को वैद्य निर्विष समझे।

विषयानुक्रमणिका और उपसंहार

ज्वरोऽतिसारो ग्रहणी चार्शोऽजीर्णं विसूचिका।
अलसश्च विलम्बी च क्रिमिरुक्पाण्डुकामलाः ।।१।।
हलीमकं रक्तपित्तं राजयक्ष्मा उरःक्षतम्।
कासो हिक्का सह श्वासैः स्वरभेदस्त्वरोचकः ।।२।।
छर्दिस्तृष्णा च मूर्च्छाद्या रोगाः पानात्ययादयः।
दाहोन्मादावपस्मारः कथितोऽथानिलामयः ।।३।।
वातरक्तमूरुस्तम्भ आमवातोऽथ शूलरुक्।
पक्तिजं शूलमानाह उदावर्तोऽथ गुल्मरुक् ।।४।।
हृद्रोगो मूत्रकृच्छ्रं च मूत्राघातस्तथाऽश्मरी।
प्रमेहो मधुमेहश्च पिडकाश्च प्रमेहजाः ।।५।।
मेदस्तथोदरं शोथो वृद्धिश्च गलगण्डकः।
गण्डमालाऽपची ग्रन्थिरर्बुदः श्लीपदं तथा ।।६।।
विद्रधिर्व्रणशोथश्च द्वौ व्रणौ भग्ननाडिके।
भगन्दरोपदंशौ च शूकदोषस्त्वगामयः ।।७।।
शीतपित्तमुदर्दश्च कोठश्चैवाम्लपित्तकम्।
विसर्पश्च सविस्फोटः सरोमान्त्यो मसूरिकाः ।।८।।
क्षुद्रास्यकर्णनासाक्षिशिरः स्त्रीबालकामयाः।
विषं चेत्ययमुद्दिष्टो रुग्विनिश्चयसंग्रहः ।।९।।

ज्वर, अतिसार, ग्रहणी, अर्श, अजीर्ण, विसूचिका, अलसक, विलम्बिका, क्रिमि, पाण्डु, कामला, हलीमक, रक्तपित्त, राजयक्ष्मा, उरःक्षत, कास, हिक्का, श्वास, स्वरभेद, अरोचक, छर्दि, तृष्णा, मूर्च्छादि रोग, पानात्यय, दाह, उन्माद, अपस्मार, वातव्याधि, वातरक्त, ऊरुस्तम्भ, आमवात, शूल, अन्नद्रवशूल, आनाह, उदावर्त, गुल्म, हृद्रोग, मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात, अश्मरी, प्रमेह, मधुमेह, प्रमेह पिडका, मेदोरोग, उदर रोग, शोथ, वृद्धिरोग, गलगण्ड, गण्डमाला, अपची, ग्रन्थि, अर्बुद, श्लीपद, विद्रधि, व्रणशोथ, दो प्रकार के व्रण (शारीर व्रण और सद्योव्रण), भग्न, नाड़ीव्रण, भगन्दर, उपदंश, शूकदोष, कुष्ठ, शीतपित्त, उदर्द, कोठ, अम्लपित्त, विसर्प, विस्फोट, रोमान्तिका, मसूरिका, क्षुद्ररोग, मुखरोग, कर्णरोग, नासारोग, नेत्ररोग, शिरोरोग, स्त्रीरोग (असृग्दर, योनिव्यापत्, योनिकन्द, मूढ़गर्भ, सूतिका रोग, स्तन रोग और स्तन्य-दुष्टि), बालरोग और विष-रोग—इस रोगविनिश्चय नामक संग्रह-ग्रन्थ में इतने शीर्षक हैं।

सुभाषितं यत्र यदस्ति
किंचित्तत्सर्वमेकीकृतमत्र यत्नात्।
विनिश्चये सर्वरुजां नराणां
श्रीमाधवेनेन्दुकरात्मजेन ।।१०।।

मनुष्यों के सब रोगों के विनिश्चय के सम्बन्ध में जहां भी जो कुछ भी अच्छी तरह वर्णित है वह सब श्री इन्दुकर जी के पुत्र श्री माधवकर जी के द्वारा यहां संग्रह किया गया है।

यत्कृतं सुकृतं किंचित्कृत्वैवं रुग्विनिश्चयम्।
मुञ्चन्तु जन्तवस्तेन नित्यमातङ्कसन्ततिम् ।।११।।

इस प्रकार रोगविनिश्चय ग्रंथ रच कर मैंने जो भी थोड़ा-बहुत पुण्य किया है उसके फल से प्राणी रोग समूह से मुक्त रहें।

परिशिष्ट

सन्निपात ज्वर के भेद

सन्निपातज ज्वर के भेद

एकोल्वणास्त्रयस्तेषु द्वयुल्वणाश्च तथेति षट् ।
त्र्युल्वणश्च भवेदेको विज्ञेयः स तु सप्तमः ॥१॥
प्रवृद्धमध्यहीनैस्तु वातपित्तकफैश्च षट् ।
सन्निपातज्वरस्यैवं स्युर्विशेषास्त्रयोदश ॥२॥

सामान्यतः सन्निपात ज्वर के तेरह भेद—त्रिदोष से उत्पन्न सन्निपात ज्वरों में केवल १-१ दोष की अधिकता (उल्वणता) से तीन, २-२ दोषों की अधिकता से भी तीन, इस प्रकार मिलकर ६ भेद हुए; और तीनों दोषों की अधिकता से एक सातवां भेद होता है। प्रवृद्ध, मध्य तथा हीन वात, पित्त तथा कफ के द्वारा ६ भेद होते हैं। इस प्रकार ज्वर के तेरह भेद होते हैं।

वक्तव्य (३४२)—चरक-संहिता चिकित्सा स्थान अध्याय तीन में प्रत्येक के पृथक् पृथक् लक्षण भी दिए हैं। कुछ अन्य ग्रन्थों में प्रत्येक के विभिन्न नाम भी मिलते हैं, जिनका उल्लेख नीचे किया जारहा है।

तेरह सन्निपात ज्वर के नाम

विस्फारकश्चाशुकारी कम्पनो बभ्रसंज्ञकः ।
शीघ्रकारी तथा भल्लुः सप्तमः कूटपाकलः ॥३॥
संमोहकः पाकलश्च याम्यः क्रकच इत्यपि ।
ततः कर्कटकः प्रोक्तस्ततो वैदारिकाभिधः ॥४॥

क्रम से उपर्युक्त तेरह सन्निपातों के नाम ये हैं—१ विस्फारक, २ आशुकारी, ३ कम्पन, ४ बभ्र, ५ शीघ्रकारी, ६ भल्लु, ७ कूट पाकल, ८ संमोहक, ९ पाकल, १० याम्य, ११ क्रकच, १२ कर्कटक और वैदारिक।

१ वातोल्वण विस्फारक

श्वासः कासो भ्रमो मूर्च्छा प्रलापो मोहवेपथू ।
पार्श्वस्य वेदना जृम्भा कषायत्वं मुखस्य च ॥५॥
वातोल्वणस्य लिङ्गानि सन्निपातस्य लक्षयेत् ।
एष विस्फारको नाम्ना संनिपातः सुदारुणः ॥६॥

त्रिदोषज सन्निपात में वात की अधिकता होने पर—श्वास, कास, भ्रम, मूर्च्छा, प्रलाप, मोह, कंपकपी, पंसुलियों में पीड़ा, जंभाई अधिक आना और मुख में कषैलापन ये लक्षण होते हैं। इसका नाम 'विस्फारक' है। यह अत्यन्व भयङ्कर होता है।

२ पित्तोल्वण आशुकारी

अतिसारो भ्रमो मूर्च्छा मुखपाकस्तथैव च ।
गात्रे च बिन्दवो रक्ता दाहोऽतीव प्रजायते ॥७॥
पित्तोल्वणस्य लिङ्गानि सन्निपातस्य लक्षयेत् ।
भिषग्भिः सन्निपातोऽयमाशुकारी प्रकीर्त्तितः ॥८॥

अतिसार, भ्रम, मूर्च्छा, मुख का पक जाना, शरीर में लाल-लाल बिन्दुओं का निकलना तथा दाह अधिक होना ये सब लक्षण पित्तप्रधान सन्निपात ज्वर के होते हैं। वैद्यजन इस सन्निपात ज्वर को 'आशुकारी' कहते हैं।

३ कफोल्वण कम्पन

जडता गद्‌गदा वाणी रात्रौ निद्रा भवत्यपि ।
प्रस्तब्धे नयने चैव मुखमाधुर्यमेव च ॥९॥
कफोल्वणस्य लिङ्गानि सन्निपातस्य लक्षयेत् ।
मुनिभिः संनिपातोऽयमुक्तः कम्पनसंज्ञकः ॥१०॥

शरीर में जड़ता, कण्ठ से गद्‌गद उच्चारण, रात्रि में आवश्यक निद्रा, नेत्रों में स्तब्धता तथा मुख में

मधुरता (मुख का स्वाद मीठा खाये के समान) ये लक्षण कफ प्रधान सन्निपात में होते हैं। आयुर्वेदज्ञ इस सन्निपात को 'कम्पन' कहते हैं।

४ वातपित्तोल्वण बभ्र

वातपित्ताधिको यस्तु संनिपातः प्रकुप्यति।
तस्य ज्वरो मदस्तृष्णा मुखशोषः प्रमीलकः ॥११॥
आध्मानारतितन्द्राश्च कासश्वासभ्रमश्रमाः।
मुनिभिर्बभ्रनामाख्यं सन्निपात उदाहृतः ॥१२॥

जिस सन्निपात ज्वर में वात और पित्त अधिक कुपित होते हैं कफ मन्द रहता है उस दशा में मद (नशा जैसा भान), प्यास, मुख का सूखना, नेत्र मिचे से रहना, पेट में अफारा, अरति, तन्द्रा, कास, श्वास, भ्रम, थकान आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। मुनियों ने इसे 'बभ्र' नामक सन्निपात ज्वर कहा है।

५ वात-कफोल्वण शीघ्रकारी

वातश्लेष्माधिको यस्य संनिपातः प्रकुप्यति।
तस्य शीतज्वरो मूर्च्छा क्षुत्तृष्णा पार्श्वनिग्रहः॥
शूलमस्विद्यमानस्य तन्द्रा श्वासश्च जायते।
असाध्यः संनिपातोऽयं शीघ्रकारीति कथ्यते।
न हि जीवत्यहोरात्रमनेनाविष्टविग्रहः ॥१४॥

जिस सन्निपात में वात और कफ की प्रकुपित अवस्था प्रधान हो पित्त उसके अनुगत हो उस सन्निपात ज्वर में मूर्च्छा, भूख-प्यास की अधिकता, पसलियों में पीड़ा, पसीने का अवरोध, तन्द्रा तथा श्वास ये लक्षण प्रकट होते हैं। यह सन्निपात ज्वर असाध्य होता है। यह 'शीघ्रकारी' सन्निपात है। इस सन्निपात में रोगी एक दिन-रात में मर जाता है।

६ पित्त-कफोल्वण भल्लु

पित्तश्लेष्माधिको यस्य संनिपातः प्रकुप्यति।
अन्तर्दाहो बहिः शीतं तस्य तृष्णा प्रवर्द्धते ॥१५॥
तुद्यते दक्षिणे पार्श्वे उरःशीर्षगलग्रहः।
ष्ठीवति श्लेष्मपित्तं च कृच्छ्रात्कोठश्च जायते ॥१६॥
विड्भेदश्वासहिक्काश्च वर्द्धन्ते सप्रमीलकाः।
ऋषिभिर्भल्लुनामाख्यं सन्निपात उदाहृतः ॥१७॥

पित्त कफ प्रधान त्रिदोष कुपित अवस्था जिस सन्निपात में हो उस ज्वर में शरीर के भीतर दाह और ऊपर से सर्दी लगती है। प्यास की अधिकता, दाहिने पार्श्व में सुई जैसी चुभन की पीड़ा, हृदय, मस्तक तथा गले में दबाने जैसी पीड़ा अनुभव होना, कफ तथा पित्त का थूक में कठिनता से निकलना, कोठ (चकत्ता ददोरा), दस्त का पतला होना, श्वास कास हिचकी, नेत्रों का मिचा सा रहना, ये लक्षण होते हैं। ऋषि लोग इसे 'भल्लु' नामक सन्निपात कहते हैं।

७ वातपित्तकफोल्वण कूटपाकल

सर्वदोषोल्वणो यस्य संनिपातः प्रकुप्यति।
त्रयाणामपि दोषाणां तस्य रूपाणि लक्षयेत् ॥१८॥
व्याधिभ्यो दारुणश्चैव वज्रशस्त्राग्निसंनिभः।
केवलोच्छ्वासपरमः स्तब्धाङ्गः स्तब्धलोचनः ॥१९॥
त्रिरात्रात्परमेतस्य जन्तोर्हरति जीवितम्।
तदवस्थन्तु तं दृष्ट्वा मूढो व्याहरते जनः ॥२०॥
धर्षितो राक्षसैर्नूनमवेलायां चरन्ति ये।
अन्वया ब्रुवते केचिद् यक्षण्या ब्रह्मराक्षसैः ॥२१॥
पिशाचैर्गुह्यकैश्चैव तथाऽन्यैर्मस्तके हृतम्।
कुलदेवार्चनाहीनं धर्षितं कुलदैवतैः ॥२२॥
नक्षत्रपीडामपरे गरकर्मेति चापरे।
संनिपातमिमं प्राहुर्भिषजः कूटपाकलम् ॥२३॥

तीनों ही दोष (वात पित्त कफ) जिस सन्निपात ज्वर में समान रूप से प्रकुपित होते हैं वह सन्निपात ज्वर अन्य सन्निपातों से अधिक भयानक होता है। वह वज्र, शस्त्र और अग्नि के तुल्य प्राणघातक होता है। इसमें रोगी ऊर्ध्वश्वास लेता रहता है। शरीर में जकड़ाहट होती तथा नेत्र पथरा जाते हैं। ऐसी दशा में तीन रात्रि के बाद ही यह सन्निपात रोगी का प्राणान्त कर देता है। अशिक्षित जन इस रोगी को भूत प्रेत ब्रह्मराक्षस पिशाच गुह्यक आदि दैवी अथवा विषादि के प्रकोप से आक्रान्त समझ कर तंत्र मंत्र आदि से चिकित्सा करते हैं। आयुर्वेदज्ञ इस सन्निपात को 'कूट पाकल' नाम देते हैं।

८ अधिकवात मध्यपित्त हीनकफ सम्मोहक

प्रवृद्धमध्यहीनैस्तु वातपित्तकफैश्च यः ।
तेन रोगास्त एवोक्ता यथादोषबलाश्रयाः ॥२४॥
प्रलापायाससंमोह–कम्पमूर्च्छाऽरतिभ्रमाः ।
एकपक्षाभिघातश्च तत्राप्येते विशेषतः ॥२५॥
एष संमोहको नाम्ना सन्निपातः सुदारुणः ॥२६॥

प्रवृद्ध वायु, मध्य पित्त, हीन वृद्ध कफ ये तीनों दोष जहां पर मिलकर एक साथ सन्निपात ज्वर को उत्पन्न करते हैं उसमें वातादिकों के जो रोग लक्षण पृथक् पृथक् कहे हैं वे लक्षण तो सामान्य होते ही हैं साथ ही इसमें प्रलाप, श्रम, मोह, काँपना, मूर्च्छा, अरति (कार्य से चित्त का विलगाव) भ्रम तथा एक अङ्ग में लकवा हो जाना ये सब लक्षण विशेष होते हैं। इस उग्र सन्निपात को मुनि संमोहक नाम से पुकारते हैं ।

९ मध्यवात अधिकपित्त हीनकफ पाकल

मध्यप्रवृद्धहीनैस्तु वातपित्तकफैश्च यः।
तेन रोगास्त एवोक्ता यथादोषबलाश्रयाः ॥२७॥
मोहप्रलापमूर्च्छाः स्युर्मन्यास्तम्भः शिरोग्रहः।
कासः श्वासो भ्रमस्तन्द्रा संज्ञानाशो हृदि व्यथा ॥
स्रोतोभ्यो रक्तं विसृजति संरक्तस्तब्धनेत्रता ।
तत्राप्येते विशेषाः स्युर्मृत्युरर्वाक् त्रिवासरात् ।
भिषग्भिः सन्निपातोऽयं कथितः पाकलाभिधः ॥२८॥

तीनों कुपित दोषों मध्यम वायु वेग अधिक पित्त वेग हीन कफ वेग दशा के सन्निपातज्वर में इनके होने वाले जो पूर्व कथित लक्षण हैं वे ही सब दोष बलानुसार प्रकट होते हैं। इसमें विशेषकर मोह, प्रलाप, मूर्च्छा, मन्या स्तम्भ (गर्दन का जकड़ाव), शिर में पीड़ा, कास, श्वास, भ्रम, तन्द्रा चेतनता का नाश, हृदय में पीड़ा, मुख नाक आदि इन्द्रियों के द्वारों से रक्त का स्राव, नेत्रों में लाली तथा जड़ता हो जाना आदि लक्षण होते हैं। इस सन्निपात में तीन दिन रात से प्रथम रोगी चल बसता है । वैद्य जन इसको 'पाकल' नाम से पुकारते हैं ।

१० हीनवात अधिकपित्त मध्यकफ याम्य

हीनप्रवृद्धमध्यैस्तु वातपित्तकफैश्च यः ।
तेन रोगास्त एवोक्ता यथादोषबलाश्रयाः ॥३०॥
हृदयं दह्यते चास्य यकृत्प्लीहान्त्रफुफ्फुसाः ।
पच्यन्तेऽत्यर्थमूर्वाधः पूयशोणितनिर्गमः ॥३१॥
शीर्णदन्तश्च मृत्युश्च तत्राप्येतद्विशेषतः ।
भिषग्भिः सन्निपातोऽयं याम्यो नाम्ना प्रकीर्त्तितः ॥३२॥

हीनवात दोष अधिक पित्तदोष तथा मध्य कफ दोष से उत्पन्न होने वाले सन्निपात में पूर्व में कहे हुए वातादि दोषों के लक्षण बलानुसार प्रकट होते हैं किन्तु इनके अलावा रोगी के हृदय में दाह होता है, यकृत प्लीहा आंत्र तथा फुफ्फुस ये सभी अंग (व्रणवत) पक जाते हैं तथा ऊर्ध्व मुख आदि तथा अधो गुदा आदि मार्गों से पूय एवं रक्त का स्राव होने लगता है, दांत गिरने लगते हैं, ऐसी दशा में मृत्यु भी हो सकती है । वैद्यजन इसे 'याम्य' नामक सन्निपात कहते हैं ।

११ अधिकवात हीनपित्त मध्यकफ क्रकच

प्रवृद्धहीनमध्यैस्तु वातपित्तकफैश्च यः ।
तेन रोगास्त एवोक्ता यथादोषबलाश्रयाः ॥३३॥
प्रलापायाससंमोहाः कम्पमूर्च्छाऽरतिभ्रमाः ।
मन्यास्तम्भेन मृत्युः स्यात्तत्राप्येतद्विशेषतः । ३४॥
भिषग्भिः सन्निपातोऽयं क्रकचः संप्रकीर्त्तितः ॥३५॥

अधिक वात, हीन पित्त, मध्यकफ उल्वण दोषों से जनित सन्निपात में पूर्वोक्त वातादि दोषों के लक्षण बलानुसार देखने में आते हैं । विशेषरूप से प्रलाप, आयास, मोह, कम्प मूर्च्छा, बेचैनी, भ्रम ये सब भी प्रकट होते हैं एवं मन्यास्तंभ से मृत्यु भी हो जाती है। चिकित्सक इस सन्निपात का नाम 'क्रकच' कहते हैं ।

१२ मध्यवात हीनपित्त मध्यकफ कर्कटक

मध्यहीनाः प्रवृद्धैस्तु वातपित्तकफैश्च यः ।
तेन रोगास्त एवोक्ता यथादोषबलाश्रयाः ॥३६॥
अन्तर्दाहो विशेषोऽत्र न च वक्तुं स शक्यते ।
रक्तमालक्तकेनैव लक्ष्यते मुखमण्डलम् ॥३७॥

पित्ते नाकर्पितः श्लेष्मा हृदयान्न प्रसिच्यते ।
इषुणेवाहतं पार्श्वं तुद्यते खन्यते हृदि ॥३८॥
प्रमीलकश्वासहिक्का वर्द्धन्ते दिने दिने ।
जिह्वा दग्धा खरस्पर्शा गलः शूकैरिवावृतः ॥३९॥
विसर्ग नाभिजानाति कूजेच्चापि कपोतवत् ।
अतीव श्लेष्मणा पूर्णः शुष्कवक्त्रौष्ठतालुकः ॥४०॥
तन्द्रानिद्राऽतियोगार्त्तो हतवाङ् निहतद्युतिः ।
अरतिं लभते नित्यं विपरीतानि चेच्छति ॥४१॥
आयम्यते च बहुशो रक्तं ष्ठीवति चाल्पशः ।
एष कर्कटको नाम्ना सन्निपातः सुदारुणः ॥४२॥

मध्यवात हीनपित्त मध्यकफ प्रकुपित दोषों से उत्पन्न होने वाले सन्निपात ज्वर में दोषों के पूर्वोक्त लक्षण तो प्रकट होते ही हैं इसमें ये लक्षण और होते हैं—शरीरांतर में दाह, बोलने में असमर्थता, मुख पर लालिमा, अल्ता के समान पुतासा हो जाता है। पित्त से शोषित कफ सहज में हृदय से बाहर नहीं निकलता। पार्श्वों (पसलियों) में बाण चुभने जैसी पीड़ा, हृदय में कुरेदने के समान पीड़ा होती है। इन्द्रियों को अपने विषय ग्रहण करने की समर्थता, श्वास हिचकी ये रोग दिन पर दिन बढ़ने लगते हैं। जिह्वा जली हुई सी खुरदरी हो जाती है। गले के भीतर शूकधान्य (जौ) के अग्रभाग के समान कांटे चारों तरफ निकल आते हैं। मल-मूत्र आदि त्यागने का ज्ञान नहीं रहता। गले से अस्पष्ट शब्द कपोत की तरह निकलता है। कण्ठ कफ से अत्यन्त लिप्त रहता है, मुख ओष्ठ तालु सूखने लगते हैं, तन्द्रा तथा निद्रा अधिक रहती है। बोलने की सामर्थ्य नहीं रहती, कांति क्षीण हो जाती है, इन्द्रियों के कार्य से विराग सा हो जाता है (अशांति), विपरीत पदार्थों की इच्छा होती है, बारम्बार हाथ-पैरों को फैलाता है। थूक के साथ थोड़ा थोड़ा रक्त आने लगता है। इन सभी लक्षणों युक्त अति दुस्तर भयंकर सन्निपात ज्वर को वैद्यों द्वारा 'कर्कटक' नाम से कहा गया है।

१३ हीनवात मध्यपित्त अधिककफ वैदारिक

हीनमध्यप्रवृद्धैस्तु वातपित्तकफैश्च यः ।
तेन रोगास्त एवोक्ता यथादोषबलाश्रयाः ॥४३॥
अल्पशूलं कटीतोदो मध्ये दाहो रुजा भ्रमः ।
भृशं क्लमः शिरोवस्तिमन्याहृदयवाग्रुजः ॥४४॥
प्रमीलकः श्वासकासहिक्काजाड्यविसंज्ञतः ।
प्रथमोत्पन्नमेनन्तु साधयन्ति कदाचन ॥४५॥
एतस्मिन् सन्निवृत्ते तु कर्णमूले सुदारुणा ।
पिडका जायते जन्तोर्यया कृच्छ्रेण जीवति ॥४६॥
स वैदारिकसंज्ञोऽयं सन्निपातः सुदारुणः ।
त्रिरात्रात्परमेतस्य व्यर्थमौषधकल्पनम् ॥४७॥

हीनवात, मध्यपित्त, अधिक कफ प्रकोप से जो सन्निपात ज्वर होता है उसमें इन दोषों के पूर्वोक्त कहे दाहादिक हुए रोग दोष बलानुसार होते ही हैं किन्तु ये लक्षण विशेष होते हैं—थोड़ा थोड़ा शूल, कमर में सुई चुभाने जैसी पीड़ा, छाती में जलन और पीड़ा, भ्रम, अत्यन्त क्लान्ति, सिर मूत्राशय गर्दन हृदय स्थान में पीड़ा, बोलने में कष्ट, नेत्रों का मिचते जाना, श्वास, कास, हिचकी, शरीर में जड़ता, अत्यन्त मूर्च्छा होना आदि। रोग उत्पन्न होते ही यदि रोगी की चिकित्सा की जाय तो कदाचित् रोग से मुक्ति मिल सकती है नहीं तो उसकी मृत्यु निश्चित रहती है। जब रोगी इस सन्निपात से मुक्त होता है तो उसके कान के मूल में एक अत्यन्त पीड़ाकारक फोड़ा बनता है, जिसके रोगी बड़ी कठिनता से ही बच पाता है। यह अत्यन्त भयंकर वैदारिक नाम का सन्निपात है जिसमें तीन रात दिन में यदि उचित रीति से चिकित्सा न की गई तो बाद में औषधि देना व्यर्थ हो जाता है अर्थात् रोगी का निश्चय मरण हो जाता है।

पूर्वोक्त तेरह सन्निपात विशेषों के तन्त्रान्तरस्थ नाम

शीताङ्गस्त्रिमलोद्भवज्वरगणे तन्द्री प्रलापी ततो-
रक्तष्ठीवयिता च तत्र गणितः सम्भुग्ननेत्रस्तथा ।
साभिन्यासकजिह्वकश्च कथितः प्रापसन्धिगोऽथान्तको-
रुग्दाहः सहचित्तविभ्रम इह द्वौ कर्णकण्ठग्रही ॥४८॥

पूर्वोक्त तेरह सन्निपात ज्वर विशेषों के तन्त्रान्तरस्थ नाम-१ शीताङ्ग, २ तन्द्री, ३ प्रलापी, ४ रक्त

ष्ठीवयिता, ५ संभुग्न नेत्र, ६ अभिन्यासक, ७ जिह्वक ८ सन्धिग, ९ अन्तक, १० रुग्दाह, ११ चित्तविभ्रम, १२ कर्णग्रह और १३ कण्ठग्रह।

१ शीताङ्ग

हिमशिशिरशरीरः सन्निपातज्वरी यः
श्वसनकसनहिक्कामोहकम्पप्रलापैः।
क्लमबहुकफवातैर्दाहवम्यङ्गपीडा
स्वरविकृतिभिरार्त्तः शीतगात्रः स उक्तः ॥४९॥

जिस सन्निपात ज्वर में रोगी का शरीर बर्फ जैसा ठंडा हो, श्वास, कास, हिचकी, मोह, कम्प, प्रलाप, क्लन्नता तथा कफ अधिक निकलना, वायु का अधिक होना, दाह, पीड़ा, वमन, स्वर में अस्वाभाविकता ये लक्षण हों तो उसको 'शीतांग' कहते हैं।

२ तन्द्री (तन्द्रिक)

तन्द्राऽतीव ततस्तृषाऽतिसरणं श्वासोऽधिकः कासरुक्
संतप्ताऽतितनुर्गले श्वयथुना सार्द्धञ्च कण्डूः कफः।
सुश्यामा रसना क्लमः श्रवणयोर्मान्द्यञ्च दाहस्तथा
यत्र स्यात् स हि तन्द्रिको निगदितोदोषत्रयोत्थो ज्वरः॥५०॥

जिस सन्निपात ज्वर में अधिक तन्द्रा (झपकी) प्यास, अतीसार, श्वास और कास हो, शरीर अधिक उष्ण हो, गले में शोथ खुजली तथा कफ हो, जीभ काली हो जावे, शरीर में क्लान्ति कानों से बहुत ही कम सुनाई पड़े और दाह—ये लक्षण हों तो उसे वैद्यजन तन्द्रिक सन्निपात कहते हैं।

३ प्रलापी (प्रलापक)

यत्र ज्वरे निखिलदोषनितान्तरोष-
जाते प्रलापबहुलाः सहसोत्थिताश्च।
कम्पव्यथापतनदाहविसंज्ञताः स्युर्नाम्ना
प्रलापक इति प्रथितः पृथिव्याम् ॥५१॥

जिस त्रिदोषज ज्वर में सम्पूर्ण दोषों के प्रकुपित होने से रोगी प्रलाप करता है, कांपता है, शरीर में पीड़ा हो, उठने पर लड़खड़ा कर गिर पड़ता हो, दाह तथा अत्यन्त मूर्च्छा हो—इन लक्षणों से युक्त ज्वर को संसार में सुविदित 'प्रलापक' सन्निपात कहते हैं।

४ रक्तष्ठीवयता (रक्तष्ठीवी)

निष्ठीवो रुधिरस्य रक्तसदृशं कृष्णं तनौ मण्डलं
लौहित्यं नयने तृषाऽरुचिवमिश्वासातिसारभ्रमाः।
आध्मानं च विसंज्ञता च पतनं हिक्काऽङ्गपीडा भृशं
रक्तष्ठीविनि सन्निपातजनिते लिङ्गं ज्वरे जायते॥५२॥

थूकने पर रक्त का निकलना, शरीर पर लाल व काले धब्बों (चकत्तों) का होना, नेत्रों में लोहितता, प्यास, अरुचि, वमन, श्वास, अतीसार और भ्रम हो। पेट में अफरा, अचेनता, उठने के प्रयत्न में लड़खड़ा कर गिर पड़ना, हिचकी, अंगों में पीड़ा आदि लक्षणों से समन्वित सन्निपात ज्वर को शास्त्रकार 'रक्तष्ठीवयता' संज्ञा देते हैं।

५ संभुग्न नेत्र (भुग्न नेत्र)

भृशं नयनवक्रता श्वसनकासतन्द्रा भृशं,
प्रलापमदवेपथुश्रवणहानिमोहास्तथा।
पुरो निखिलदोषजे भवति यत्र लिङ्गं ज्वरे,
पुरातनचिकित्सकैः स इह भुग्ननेत्रो मतः॥५३॥

जिस त्रिदोषजज्वर वाले रोगी के नेत्रों में टेढ़ापन हो; श्वास, कास, तन्द्रा हो; अधिक बकता हो; मद, कम्प, बधिरता तथा मोह से युक्त हो—उसके इस सन्निपात ज्वर को प्राचीन चिकित्सक 'संभुग्न-नेत्र' नामक सन्निपात कहते हैं।

६ अभिन्यासक (अभिन्यास)

दोषास्तीव्रतरा भवन्ति बलिनः सर्वेऽपि यत्र ज्वरे
मोहोऽतीव विचेष्टता विकलता श्वासो भृशं मूकता।
दाहश्चिक्कणमाननञ्च दहनो मन्दो बलस्य क्षयः
सोऽभिन्यास इति प्रकीर्त्तित इहप्राज्ञैर्भिषग्भिः पुरा॥५४॥

जिस सन्निपात ज्वर में सभी (वात पित्त कफ) दोष अत्यन्त प्रकुपित हों तथा बलवान हों, अधिक मोह हो, चेष्ट-हीनता, विकलता, श्वास, मूकता, अन्दर जलन, मुखपर चिकनापन, अग्नि की मन्दता तथा बल की हानि हो उसे प्राचीन वैद्य अभिन्यास सन्निपात कहते हैं।

७ जिह्वक

त्रिदोषजनिते ज्वरे भवति यत्र जिह्वा भृशं,
वृता कठिनकण्टकैस्तदनु निर्भरं मूकता।
श्रुतिक्षतिबलक्षतिश्वसनकाससन्तप्तताः,
पुरातनभिषग्वरास्तमिह जिह्वकं चक्षते॥५५॥

जिस समय सन्निपात ज्वर में रोगी की जीभ में अति कठिन कांटे से पड़ जांय तथा अत्यन्त मूकता उत्पन्न हो जाय अर्थात् वह बोलने में पूर्ण असमर्थ हो जाय, श्रवण शक्ति से हीन हो जाय तथा बल की हानि हो, श्वास कास तथा शरीर में ताप हो उसे पुरातन वैद्य लोग 'जिह्वक' सन्निपात कहते हैं।

८ सन्धिग (सन्धिगस्थ)

व्यथाऽतिशयिता भवेच्छ्वयथुसंयुता सन्धिषु,
प्रभूतकफता मुखे विगतनिद्रता कासरुक् ।
समस्तमिति कीर्तितं भवति लक्ष्म यत्र ज्वरे,
त्रिदोषजनिते बुधैः स हि निगद्यते सन्धिगः ॥५६॥

जिस सन्निपात ज्वर में रोगी के सन्धियों में शोथ के साथ पीड़ा की तीव्रता हो, मुख में कफ का अधिक लिपटाव हो, निद्रा का नाश हो, खांसी अति आती हो उसे बुद्धिमान वैद्य 'सन्धिग सन्निपात' नाम देते हैं।

९ अन्तक

यस्मिल्लंक्षणमेतदस्ति सकलैर्दोषैरुदीते ज्वरेऽ-
जस्रं मूर्द्धविधूननं सकसनं सर्वाङ्गपीडाऽधिका ।
हिक्काकाससदाहमोहसहिता देहेऽतिसन्तप्तता
वैकल्यञ्च वृथावचांसि मुनिभिःसंकीर्त्तितःसोऽन्तकः॥५७॥

जिस सन्निपात की दशा में वातादि दोषों के लक्षणों के साथ निरन्तर रोगी सिर को हिलाया करता है, खांसी तथा सर्वांग में अधिक पीड़ा होती है, हिचकी, श्वास, जलन, मोह, शरीर में अत्यन्त संताप, बेकली, व्यर्थ बकवाद करता है वहां आयुर्वेद के ज्ञाता इन लक्षणों से 'अन्तक' नाम वाला सन्निपात कहते हैं।

१० रुग्दाह

दाहोऽधिको भवति यत्र तृषा च तीव्रा
श्वासप्रलापविरुचिभ्रममोहपीडाः ।
मन्याहनुव्ययनकण्ठरुजः श्रमश्च
रुग्दाहसंज्ञ उदितस्त्रिभवो ज्वरोऽयम् ॥५८॥

अधिक दाह हो तथा प्यास भी अधिक हो, श्वास, प्रलाप, विपरीत रुचि, भ्रम, मोह, पीड़ा, गर्दन तथा ठोड़ी में अत्यन्त वेदना हो, कण्ठ में पीड़ा हो, थकावट हो—इन सब लक्षणों से युक्त सन्निपात ज्वर को 'रुग्दाह' नाम से समझना चाहिए।

११ चित्तविभ्रम

गायति नृत्यति हसति प्रलपति
विकृतं निरीक्षते मुह्येत ।
दाहव्यथाभयार्त्तो नरस्तु
चित्तभ्रमे ज्वरे भवति ॥५९॥

जिस सन्निपात ज्वर में रोगी गाना गावे, नाचे, हंसे, प्रलाप करे,बुरी रीति से देखे तथा मोह को प्राप्त हो उसे 'चित्त-विभ्रम' सन्निपात जानना चाहिये।

१२ कर्णग्रह (कर्णिक)

दोषत्रयेण जनितः किल कर्णमूले
तीव्राज्वरे भवति तु श्वयथुर्व्यथा च ।
कण्ठग्रहो बधिरता श्वसनं प्रलापः
प्रस्वेदमोहदहनानि च कर्णिकाख्ये ॥६०॥

तीनों दोषों के कुपित होने से जिस सन्निपात ज्वर में रोगी के कर्णमूल भाग में तीव्र पीड़ा के साथ सूजन हो, कण्ठ में रुकावट हो, कानों से न सुने, श्वास, प्रलाप हो, पसीना अधिक आवे,मोह तथा दाह भी हो उसे 'कर्णग्रह' कहते हैं।

१३ कण्ठग्रह (कण्ठकुब्ज)

कण्ठः शूकशतावरुद्धवदलिश्वासः प्रलापोऽरुचि-
र्दाहो देहरुजा तृषाऽपि च हनुस्तम्भः शिरोर्त्तिस्तथा ।
मोहो वेपथुना सहेति सकलं लिङ्गं त्रिदोषज्वरे
यत्र स्यात् स हि कण्ठकुब्ज उदितः प्राच्यैश्चिकित्साबुधैः॥६१॥

जिस सन्निपात के रोगी का गला सैकड़ों धान के अंकुर के समान कांटों से भरा हुआ सा प्रतीत हो, श्वास, प्रलाप, अरुचि, दाह, शरीर में पीड़ा, प्यास, ठोड़ी में जकड़ाहट, शिर में पीड़ा, मोह और कम्पन हो उसे प्राचीन वैद्यजन 'कण्ठग्रह' नामक सन्निपात कहते हैं।

संनिपात ज्वर का साध्यासाध्यत्व

सन्धिगस्तेषु साध्यः स्यात् तन्द्रिकश्चित्तविभ्रमः ।
कर्णिको जिह्वकः कण्ठकुब्जः पञ्चापि कष्टदाः॥६२॥
रुग्दाहस्त्वतिकष्टेन संसाध्यस्त्वेषु भाषितः ।

रक्तष्ठीवी भुग्ननेत्रः शीतगात्रः प्रलापकः ।
अभिन्यासोऽन्तकश्चैते षडसाध्याः प्रकीर्त्तिताः ॥६३॥

पूर्वोक्त सन्निपात ज्वरों में ८ वां संधिग सन्निपात साध्य है; २ तन्द्रिक, ११ चित्तविभ्रम १२ कर्णिक ७ जिह्वक १३ कण्ठकुब्ज ये पांच सन्निपात ज्वर कष्ट-साध्य हैं; १० वां रुग्दाह सन्निपात अत्यन्त कष्टसाध्य होता है। एवं ४ था रक्तष्ठीवी ५ वां भुग्ननेत्र, प्रथम शीतगात्र, तीसरा अभिन्यास, नवां अन्तक नामक ये छः सन्निपात ज्वर असाध्य कहे हैं।

अन्य ग्रन्थोक्त तेरह सन्निपात कुम्भीपाक आदि नामों से—

कुम्भीपाकः प्रोर्णुनावः प्रलापी
ह्यन्तर्दाहो दण्डपातोऽन्तकश्च ।
एणीदाहश्चाथ हारिद्रसंज्ञो
भेदा एते सन्निपातज्वरस्य ॥६४॥
अजघोषभूतहासौ यन्त्रापीडश्च संन्यास ।
संशोषी च विशेषास्तस्यैवोक्तास्त्रयोदशान्यत्र ॥६५॥

सन्निपात ज्वरों के तेरह नाम—१ कुम्भीपाक २ प्रोर्णुनाव, ३ प्रलापी, ४ अन्तर्दाह, ५ दण्डपात, ६ अन्तक, ७ एणीदाह, ८ हारिद्र, ९ अजघोष, १० भूतहास, ११ यन्त्रापीड, १२ संन्यास, १३ संशोषी—ये तेरह नाम अन्य ग्रन्थों में पूर्वोक्त वातोल्वण आदि सन्निपात ज्वरों के कहे हुए हैं।

१. कुम्भीपाक

घोणाविवरभरद्वहशोणासितलोहितं सान्द्रम् ।
विलुठन्मस्तकमभितः कुम्भीपाकेन पीडितं विद्यात् ॥६६॥

जिस संनिपात ज्वर से पीड़ित रोगी की नाक से कृष्णाभ लाल एवं गाढ़ा रक्त गिरता हो और वह अपने शिर को इधर उधर बारम्बार चलाता हो उस रोगी को 'कुम्भीपाक' नामक सन्निपात से पीड़ित जानना चाहिये।

२ प्रोर्णुनाव

उत्क्षिप्य यःस्वमङ्गं क्षिपत्यधस्तान्नितान्तमुच्छ्वसिति ।
तं प्रोर्णुनावजुष्टं विचित्रकष्टं विजानीयात् ॥६७॥

जो रोगी बारबार अपने हाथ पैरों को तथा अङ्गों को इधर उधर फेंकता हो तथा लगातार वेग के साथ श्वास लेता हो उसे अनेक प्रकार के कष्ट देने वाले 'प्रोर्णुनाव' नामक संनिपात से आक्रान्त समझें।

३ प्रलापी

स्वेदभ्रमाङ्गभेदाः कम्पो दवथुर्वमिव्यथा कण्ठे ।
गात्रञ्च गुर्वतीव प्रलापि जुष्टस्य जायते लिङ्गम् ॥

संनिपात का जो रोगी पसीना, भ्रम, शरीर में तोड़ने जैसी पीड़ा, कम्प, नेत्र तथा अन्य स्थानों में जलन, वमन, गले में पीड़ा, शरीर में भारीपन आदि लक्षणों से संयुक्त हो उसे 'प्रलापी' संनिपात से पीड़ित समझना चाहिये। (इसमें प्रलाप तो होता ही है यह इसके नाम से ही स्पष्ट है।)

४ अन्तर्दाह

अन्तर्दाहः शैत्यं बहिः श्वयथुररतिरति तथा श्वासः ।
अङ्गमपि दग्धकल्पं सोऽन्तर्दाहार्दितः कथितः ॥६९॥

जिस संनिपात के रोगी के शरीर में दाह हो और बाहर से शीत का अनुभव होता हो, शोथ, अशान्ति तथा श्वास हो तथा जिसे अपना शरीर आग जलता हुआ सा अनुभव होता हो उसको अन्तर्दाह संनिपात से पीड़ित जानना चाहिये।

५ दण्डपात

नक्तन्दिवा न निद्रामुपैति गृह्णाति मूढधीर्नभसः ।
उत्थाय दण्डपाती भ्रमातुरः सर्वतो भ्रमति ॥७०॥

जिस रोगी को दिन या रात में कभी नींद न आवे और बुद्धि विभ्रम से शून्य में किसी वस्तु को पकड़ने के लिये जैसे हाथ पसारता हो और विस्तर से एकाएक उठकर दण्ड की भांति बारबार गिर पड़ता हो, दृष्टि को चारों ओर भ्रमान्वित जैसी घुमाता हो उसे 'दण्डपात' नामक संनिपात ज्वर से युक्त समझें।

६—अन्तक

संपूर्यते शरीरं ग्रन्थिभिरभितस्तथोदरं मरुता ।
श्वासातुरस्य सततं विचेतनस्यान्तकार्त्तस्य ॥

जिस रोगी के संनिपात ज्वर अवस्था में समस्त शरीर में ग्रन्थियां निकल आती हैं और उदर वायु से

दूषित हो जाता है तथा श्वास से निरन्तर पीड़ित होता है एवं संज्ञा शून्य हो जाता है उसे 'अन्तक' नामक संन्निपात कहते हैं।

७—एणीदाह

परिधावतीव गात्रे रुग्गात्रे भुजगपतगहरिणगणः।
येषयमतः सदाहस्यैणीदाहज्वरार्त्तस्य ॥७२॥

'एणीदाह' संनिपात से पीड़ित रोगी के शरीर में अत्यन्त पीड़ा होती है। तथा उस रोगी को अपने शरीर के ऊपर सर्प तथा हरिण का समूह दौड़ रहे हों ऐसा प्रतीत होता है। शरीर में कम्प और दाह भी होता रहता है।

८-हारिद्र

यस्यातिपीतमङ्गं नयने
सुतरां मलस्ततोऽप्यधिकम्।
दाहोऽतिशीतता वहिरस्य
स हारिद्रको ज्ञेयः ॥७३॥

जिस रोगी के शरीर में अत्यन्त पीलापन हो, नेत्र उससे भी अधिक पीले हों तथा मल नेत्रों से भी अधिक पीला हो और शरीर के भीतर दाह मालूम पड़ता हो किन्तु ऊपर शीतल प्रतीत हो उसे 'हारिद्र' संनिपात से पीड़ित जानना चाहिये।

९—अजघोष

छगलकसमानगन्धः स्कन्धरुजावान्निरुद्धगलरन्ध्रः।
अजघोषसन्निपातादाताम्राक्षः पुमान् भवति ॥७४॥

जिस संनिपात ज्वर में रोगी के शरीर से बकरे के समान गंध आने लगती है, कन्धों में पीड़ा होती है, गले का छिद्र बन्द हो जाता है, नेत्र ताम्र के समान समान लालवर्ण के हो जाते हैं उसको 'अजघोष' संनिपात कहते हैं।

१० भूतहास

शब्दादीनधिगच्छति न स्वान् विषयान् यदिन्द्रियग्रामः।
हसति प्रलपति पुरुषः स ज्ञेयो भूतहासार्त्तः ॥७५॥

जिस सन्निपात को ज्वर में रोगी की ज्ञानेन्द्रियां अपने विषयों को ग्रहण नहीं करतीं अर्थात देख न सके, बोल न सके, सुन न सके, इच्छित अंगों को चला न सके, हंसता हो तथा कठोर शब्द से प्रलाप करता हो उसे 'भूतहास' सन्निपात ज्वर कहते हैं।

११ यन्त्रापीड

येव मुहुर्ज्वरवेगाद् यन्त्रेणेवावपीड्यते गात्रम्।
रक्तं पित्तञ्च वमेद् यन्त्रापीडः स विज्ञेयः ॥७६॥

जिस त्रिदोषज ज्वर के द्वारा रोगी को अपना शरीर बारबार ज्वर के वेग से कोल्हू में पेरने के समान पीड़ा का अनुभव होता हो और रुधिर के सहित वमन होती हो तो उसे 'यन्त्रापीड' नामक सन्निपात ज्वर होता है ऐसा जानना चाहिए।

१२ संन्यास

अतिसरति वमति कूजति
गात्राण्यभितश्चिरं नरः क्षिपति।
संन्याससन्निपाते प्रलपत्युग्राक्षिमण्डलो भवति ॥७७॥

'संन्यास' नामक संन्निपात ज्वर के रोगी को अतिसार और वमन होता है। वह रोगी शनैः शनैः अस्पष्ट शब्द बोलता है, अधिक समय तक अपने अङ्गों को इधर उधर फेंकता है, बकवाद करता है एवं नेत्र—मंडल देखने में उग्र हो जाता है।

१३ संशोषी

मेचकवपुरतिमेचकलोचनयुगलो मलोत्सर्गात्।
संशोषिणि सितपिडकामण्डयुक्तो
ज्वरे नरो भवति ॥७८॥

जिस सन्निपात ज्वर में रोगी को अधिक अतिसार होने के कारण दोनों नेत्र काले पड़ जाते हैं और शरीर पर श्वेत पिडकाओं का मंडलाकार उत्पन्न हो जाता है उसे 'संशोषी' सन्निपात कहते हैं।

धन्वन्तरि कार्यालय

विजयगढ़ (अलीगढ़)

का

थोक-भाव

का

सूचीपत्र

केवल

वैद्य, हकीम, औषधि-विक्रेता, धर्मार्थ एवं सरकारी औषधालयों तथा थोक खरीदारों के लिए ये भाव निश्चित किए हैं। इन भावों पर किसी प्रकार का कमीशन नहीं दिया जाता है। सर्व साधारण के लिये खेरीज भाव का सूचीपत्र प्रथक छपा हुआ है।

संस्थापित १८९८

—आवश्यक नियम—

१—इसी सूची से पहिले के सब भाव रद्द समझने चाहिए।

२—इस सूची में थोक भाव दिये हैं। ये केवल वैद्यों धर्मार्थ तथा सरकारी अस्पतालों और थोक-खरीदारों के लिये कम से कम निश्चित किये गये हैं। इन भावों पर कमीशन नहीं दिया जाता है। आम जनता के लिए खेरीज भाव प्रथक हैं।

३—थोक भाव पर दवा उसी हालत में भेजी जाती है जब दवा का मूल्य कम से कम २०) हो, एक बार २०) की दवा मंगा लेने के बाद में कम मूल्य की दवा भी थोक भाव से भेजी जा सकती है। लेकिन प्रथम बार २०) की औषधियां मंगाना आवश्यक है।

४—हर पत्र में अपना पता स्पष्ट और पूरा लिखें। आर्डर देते समय रेलवे स्टेशन और पोस्ट आफिस का नाम स्पष्ट और अवश्य लिखना चाहिए। ५ सेर से अधिक वजन की पार्सल (दवा व पार्सल आदि सभी मिलाकर) रेल से भेजी जायगी।

५—रेलवे द्वारा औषधियां मंगाते समय आर्डर के साथ मनियार्डर से २५ प्रतिशत एडवांस अवश्य भेज दें। बिना एडवांस रेलवे द्वारा औषधियां नहीं भेजी जातीं। एडवांस न भेजने पर पत्र-व्यवहार में व्यर्थ समय लगता है, अतएव एडवांस अवश्य भेजना चाहिए।

६—१) से कम मूल्य की दवा या पुस्तक वी. पी. से नहीं भेजी जाती।

७—दवा भेजते समय पैकिंग करने में पूर्ण में सावधानी रखी जाती है और प्रायः टूट-फूट नहीं होती। किन्तु यदि किसी प्रकार कोई टूटी-फूट हो जाय तो कार्यालय उत्तरदायी नहीं है। पार्सल से सामान निकालते समय फूंस अच्छी तरह देख लेना चाहिए, क्योंकि छोटे पैक कभी-कभी उसके साथ ही फेंक दिये जाते हैं। पार्सल खोलते समय ही बिल से मिलान भी कर लेना चाहिए।

८—पार्सल मंगाकर वी. पी. लौटाना उचित नहीं, क्योंकि वी. पी. लौटाने से कार्यालय को व्यर्थ हानि होती है, और एक बार वी. पी. वापिस मिलने पर फिर वी. पी. से दवा उस ग्राहक को नहीं भेजी जाती है। यदि कोई भूल हो तो बिल नम्बर व तारीख आदि का हवाला देकर लिखें, भूल अवश्य सुधार दी जायगी।

९—बीजक का रुपया वी. पी. या बैंक द्वारा लिया जाता है। उधार का नियम हमारे यहां नहीं है। अतएव उधार औषधियां भेजने का आग्रह कृपया न करें।

१०–हमारे यहां ८० तोले का १ सेर, ४० सेर का एक मन माना जाता है। द्रव (पतली) औषधि दो औंस की शीशी में एक छटांक मानी जाती है।

११–ग्राहकों को रेल पार्सल का बारदाना, पैकिंग, स्टेशन पहुँचाई और अन्य खर्च भी देने होते हैं।

१२–हमारे बिक्री-केन्द्रों या किसी भी श्रेणी के एजेन्ट से दवा खरीदने वालों को सूची में लिखे मूल्य के अलावा प्रति रुपया एक आना खर्च का अधिक देना होता है। याने म्यूनिसिपल्टी या शहरों में लगने वाली चुंगी, स्टेशन से माल ढुलाई, रास्ते की नुकसानी, सवारी गाड़ी (पेंसजर) का किराया आदि सब खर्च मिलाकर १ आना प्रति रुपया सूची के मूल्य से अधिक लिया जा सकता है। २०) से कम मूल्य की औषधियां खरीदने वाले को हमारे खेरीज भाव के सूची में लिखे दर से औषधियां एजेंटों या बिक्री केन्द्रों से मिल सकेंगी। खेरीज दर पर –) रुपया अधिक लेने का नियम लागू नहीं होगा।

१३–धन्वन्तरि कार्यालय के किसी विभाग विषयक कोई भी झगड़ा अलीगढ़ की अदालत में तय होगा।

१४–तार का पता 'धन्वन्तरि' सासनी *N. Ry.* है।

१५–नियमों में अथवा औषधियों के भावों में किसी भी समय सूचना दिये बिना परिवर्तन करने का कार्यालय को पूरा अधिकार है।

५६ वर्ष का विश्वस्त व विशाल कारखाना।

धन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ़ (अलीगढ़) के

★ थोक (व्यापारी) भाव ★
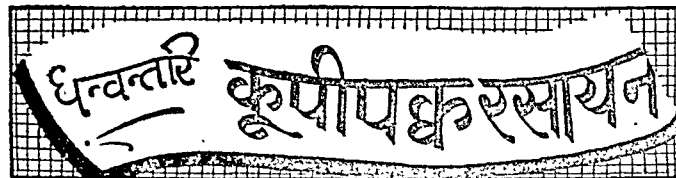
हमने कूपीपक्व रसायन बनाने में एक लम्बे समय में जो अनुभव प्राप्त किया है तथा इसकी बारीकियों को जितना हम जानते हैं वह अन्य अनेकों नवीन फार्मेसी वाले नहीं जान सकते। हम विशेष अनुभव के आधार पर सर्वोत्तम रसायन निर्माण करते हैं और इसी कारण उनकी उत्तमता का दावा भी करते हैं। अधिक न लिखते हुए आपसे परीक्षा करने का आग्रह करते हैं।

सिद्ध मकरध्वज नं० १ (भैषज्य) संस्कारित पारद द्वारा निर्मित, स्वर्णघटित, षटगुणगन्धक जारित अन्तर्धूम विपाचित सर्वोत्तम मकरध्वज।
मू० १ तोला ३२) १ माशे २॥≡)

सिद्ध मकरध्वज नं० २ (भै.) संस्कारित पारद द्वारा निर्मित, स्वर्ण घटित, षटगुण बलि जारित, बहिर्धूम विपाचित, मू० १ तोला २०) १ माशा १॥।)

सिद्ध मकरध्वज नं. ३ (भैषज्य) हिंगुलोत्थ पारद द्वारा निर्मित, स्वर्ण घटित, षट्गुणगंधक जारित अन्तर्धूम विपाचित। मू० १ तोला १५) १ माशे १।)

सिद्ध मकरध्वज नं० ४	१ तोला १८)	१ माशे १॥।)
सिद्ध मकरध्वज नं० ५	१ तोला १२)	१ माशे १–)
सिद्ध मकरध्वज नं० ६	१ तोला ९)	१ माशे ॥।–)
रससिंदूर नं० १	१ तोला ८)	३ माशे २–)
रससिंदूर नं. २	१ तोला ६)	३ माशे १॥–)
रससिंदूर नं. ३	१ तोला ४)	३ माशे १–)
मल्लचन्द्रोदय	१ तो० ३२)	१ माशे २॥≡)
मल्लसिंदूर	१ तोला ६)	३ माशे १॥–)
तालसिंदूर	१ तोला ६)	३ माशे १॥–)
ताम्रसिंदूर	१ तोला ६)	३ माशे १॥–)
स्वर्णबङ्गभस्म	१ तो. २॥)	३ माशा ॥≡)
मृतसंजीवनी रस	१ तो. २॥)	३ माशा ॥≡)
कपूररस (उपदंशरोगे)	१ तोला ६)	३ माशा १॥–)
रसमाणिक्य	१ तो. २॥)	३ माशा ॥≡)
समीरपन्नगरस नं० १	१ तो. २०)	१ माशा १॥।)
समीरपन्नगरस नं० २	१ तोला ६)	३ माशा १॥–)
पंचसूतरस	१ तोला ६)	३ माशा १॥–)
स्वर्णभूपति रस (स्वर्णयुक्त)	१ तो. २०)	१ माशा १॥।)
व्याधिहरणरस	१ तो. १०)	१ माशा ॥।≡)

★ भस्में ★

धातु-उपधातुओं की भस्में वही उत्तम होती हैं जो अच्छी प्रकार शोधन करने के पश्चात् भस्म की गई हों तथा जो निरुत्थ हों। आयुर्वेद में ऐसी भस्में जो पारद, हिंगुल, हरताल, मंसिल द्वारा भस्म की गई हों और जो पुनः जीवित न हों, सर्वोत्तम मानी गई हैं तथा जड़ी-बूटियों से की गई भस्में मध्यम।

भस्में आयुर्वेदीय शास्त्र के अनुसार (शोधन करने के बाद) किन्तु अपनी विशेष प्रक्रिया द्वारा बनाई जाती हैं। इस लिए जिन्हें इस निर्माण कार्य में अधिक समय व्यतीत हो चुका है वही उत्तम भस्में बना सकते हैं। इसी प्रकार भस्मों में जितने अधिक पुट लगाये जाते हैं वह उतनी ही अधिक उपयोगी होती हैं अन्य नवीन फार्मेसी वाले केवल वनौषधि द्वारा बहुत ही कम पुट देकर साधारण भस्में बना लेते हैं। इस लिये वह हमारी भस्मों के समान लाभप्रद सिद्ध नहीं होती हैं।

	५ तो०	१ तो०	३ मा०
अभ्रकभस्म नं० १	११०)	२४)	६–)
अभ्रकभस्म नं० २	७।।)	१।।–)	।≡)
अभ्रकभस्म नं० ३	३।।।)	।।।–)	।)
अकीकभस्म	१२)	२।।)	।।≡)
कपर्दभस्म	१)।।	।)	=)
कान्तलोहभस्म	५)	१)	।–)
गौदन्तीहरतालभस्म(श्वेत)	।।।=)।।	≡)।।	=)
जहरमोहराभस्म	८)	१।।=)	।≡)
तबकीहरतालभस्म श्वेत	२८)	६)	१।।–)
ताम्रभस्म नं० १	१५)	३)	।।।–)
ताम्रभस्म नं. २	७।।)	१।।–)	।≡)
ताम्रभस्म नं. ३	४)	।।।=)।।	।)
नागभस्म नं० १	७।।)	१।।–)	।≡)
नागभस्म नं० २	३)	।।=)	≡)
प्रवालभस्म नं० १	२०)	४)	१–)
प्रवालभस्म नं० २	८)	१।।=)	।≡)
प्रवालभस्म नं० ३	८)	१।।=)	।≡)
प्रवालभस्म नं० ४	५)	१–)	।–)
प्रवालभस्म (चन्द्रपुटी)	५)	१–)	।–)
वङ्गभस्म नं० १	६।)	१।–)।।	।–)।।
वङ्गभस्म नं० २	२।।)	।।–)	≡)
वैक्रान्तभस्म	२२)	५)	१।–)
मल्ल (संखिया) भस्म	२०)	४)	१–)
मृगशृङ्गभस्म (श्वेत)	१।।–)	।–)।।	=)।।
माणिक्य भस्म	×	१०)	२।।–)
मांडूर(कीट)भस्म नं०१	१।।।)	।=)	≡)
मांडूर भस्म नं० २	१।)	।–)	=)
मुक्ता भस्म नं० १	×	७०)	१७।।–)
मुक्ताभस्म नं० २	×	६६)	१६।।–)
यशदभस्म	५)	१–)	।–)
रौप्यभस्म नं० १	×	८)	२–)
रौप्यभस्म नं० २	×	६)	१।।–)
लौहभस्म नं० १	२१)	४।।)	१≡)
लोहभस्म नं० २	४)	।।।–)	।)
लौहभस्म नं० ३	२)	।≡)	≡)
स्वर्णभस्म (कज्जली द्वारा)		१३२)	३३–)
स्वर्णमाक्षिक भस्म	५)	१–)	।–)
शङ्खभस्म	१)	।)	=)
शङ्करलोहभस्म	१४)	३)	।।।–)
शुक्ति [मोतीसीप] भस्म	१।।)	।–)।।	=)।।
संगजराहतभस्म	२।।)	।।)।।	≡)
त्रिवंगभस्म नं० १	१५)	३)	।।।–)
त्रिवंगभस्म नं० २	२।।)	।।–)	≡)

पिष्टि

प्रवाल पिष्टी १ तोला १) ३ माशा ।–)
मुक्तापिष्टी १ तोला ६०) १ मा० ५–)
अकीकपिष्टी ५ तोला ७।।) १ तोला १।।–)
जहरमोहरापिष्टी १ तोला १।।) ३ माशा ।=)।।

कहरवा पिष्टी	१ तोला ६)	३ माशा १।।=)
मुक्ताशुक्ति पिष्टी	१० तोला २)	१ तोला ।)
माणिक्य पिष्टी	१ तोला ८)	३ माशा २—)
वैकान्तपिष्टी	१ तोला ४)	३ माशा १—)
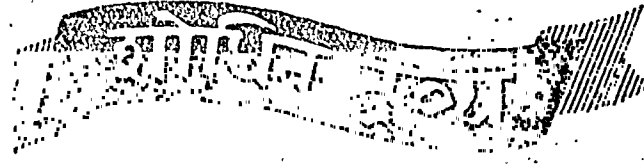
ये द्रव्य शास्त्रोक्त विधि से शोधित हैं। अतः औषधि निर्माण में निःसंकोच व्यवहार कीजियेगा। इनके द्वारा निर्माण की गई औषधियां पूर्ण प्रभावशाली प्रमाणित होंगी।

कज्जली नं० १	१० तोला १०)	१ तोला १—)
गन्धक आंवलासारशु०	१० तोला ३)	१ तोला ।=)
जयपाल शुद्ध	१० तोला ३)	१ तोला ।=)
ताल (हरताल) शुद्ध	१० तोला ७।)	१ तोला ।।।—)
ताम्रचूर्ण शुद्ध		१ सेर १०)
धान्याभ्रक (शुद्ध वज्राभ्रक)		१ सेर ४)
शुद्ध पारद हिंगुलोत्थ	१० तोला ८)	१ तोला ।।।=)
पारद विशेष शुद्ध		१ तोला ४)
पारद (संस्कारित)		१ तोला १५)
वच्छनाग शुद्ध	१० तोला ४)	१ तोला ।≡)
विषबीज (वस्त्रपूत)	१० तोला ५)	१ तोला ।।—)
विषबीज (यवकुट शु.)	१० तोला ३)	१ तोला ।—)
शुद्ध मल्ल (संखिया)	५ तोला ५)	१ तोला १—)
भल्लातक शुद्ध	१० तोला ३)	१ तोला ।—)।।
लोहचूर्ण शुद्ध		१ सेर ४।।)
शिला (मंशिल) शुद्ध	१० तोला ८)	१ तोला ।।।—)।।
हिंगुल शुद्ध (हंसपदी)	१० तोला ७)	१ तोला ।।।)
मांडूर शुद्ध		१ सेर १।।)
शुद्ध धतूर बीज	५ तोला १।)	१ तोला ।)।।
शुद्ध गूगल	१ सेर ८)	५ तोला ।।—)

नोट—इनके भाव बाजार की वर्तमान स्थिति के अनुसार दिये गये हैं। आर्डर सप्लाई करते समय यदि कोई घटा-बढ़ी हुई हो तो उसी के अनुसार मूल्य लगाया जायगा।

आयुर्वेदिक औषधियों में पर्पटी का स्थान बहुत ऊंचा है किंतु इनको जितने उत्तम पारद से तैयार किया जायगा, ये उतनी ही अधिक गुणप्रद होंगी। हम विशेष रीति से पारद को तैयार करके फिर पर्पटी तैयार करते हैं, इसलिए वे बहुत गुण करती हैं।

एक बार नं० १ की पर्पटी व्यवहार कर उसके चमत्कारिक प्रभाव को देखें। सभी के सुभीते के लिये दोनों प्रकार की पर्पटी तैयार करते हैं।

ताम्रपर्पटी नं० १ (वृ० निघण्टु सुन्दर० योग० विशेष शुद्ध पारद द्वारा निर्मित, १ तो. ५) १ मा. ।≡)।।

ताम्रपर्पटी नं० २ हिंगुलोत्थ पारद द्वारा निर्मित, १ तोला २।) १ माशा ≡)।।

पञ्चामृत पर्पटी नं० १ विशेष शुद्ध पारद द्वारा निर्मित १ तोला ५) १ माशा ।≡)।।

पञ्चामृत पर्पटी नं० २ हिंगुलोत्थ पारद द्वारा निर्मित १ तोला २।।) १ माशा ।)

विजय पर्पटी-विशेष शुद्ध पारद द्वारा निर्मित व स्वर्ण मुक्ता घटित १ तोला २१) १ माशा १।।।)

बोल पर्पटी नं० १ विशेष शुद्ध पारद द्वारा निर्मित १ तोला ५) १ माशा ।≡)।।

बोल पर्पटी नं० २ हिंगुलोत्थ पारद निर्मित, १ तोला २।) १ माशा ≡)।।

रस पर्पटी नं० १ विशेष शुद्ध पारद निर्मित, १ तोला ४।।) १ माशा ।≡)।।

रस पर्पटी नं० २ हिंगुलोत्थ पारद द्वारा निर्मित, १ तोला २) १ माशा ≡)॥

लोह पर्पटी नं० १ विशेष शु० पारद द्वारा निर्मित, १ तोला ५) १ माशा ।≡)॥

लोह पर्पटी नं० २ हिंगुलोत्थ पारद द्वारा निर्मित, १ तोला २।) १ माशा ≡)॥

श्वेत पर्पटी १० तोला २॥) १ तोला ।–)

स्वर्ण पर्पटी नं० १ विशेष पारद और स्वर्ण भस्म द्वारा निर्मित १ तोला २१) १ माशा १॥।–)

स्वर्ण पर्पटी नं० २ हिंगुलोत्थ पारद एवं स्वर्णवर्क द्वारा निर्मित १ तोला १४) १ माशा १≡)॥

बहुमूल्य रस-रसायन-गुटिका

(स्वर्ण, मुक्ता एवं कस्तूरी मिश्रित)

ये औषधियां स्वयं अपनी देख-रेख में सर्वोत्तम स्वर्णवर्क, कस्तूरी, मुक्ता आदि बहुमूल्य द्रव्य डालकर बनाई जाती हैं। इनकी प्रमाणिकता में किसी प्रकार के संदेह की गुंजाइश नहीं।

	१ तोला	१ माशा
आमवातेश्वर रस (भैषज्य)	१०॥)	॥≡)
वृ० कस्तूरीभैरव रस (भैष०)	१४)	१≡)
कस्तूरीभैरव रस (भैषज्य)	१२)	१–)
कस्तूरीभूषण रस (भैषज्य)	१२)	१–)
कामदुधा रस नं० १ (मौक्तिक) (र० यो० सा०)	५)	॥)
वृ० कामचूरामणि रस (भैषज्य)	६)	॥।–)
कामिनी विद्रावण रस (भैषज्य)	४)	।=)
कुमारकल्याण रस (भैष)	२७)	२।)
कृष्णचतुर्मुखरस (आयुर्वेद-संग्रह)	१०॥)	॥।=)॥
चतुर्मुख चिंतामणिरस	१६)	१।=)
जयमंगल रस (स्वर्णयुक्त)	२५)	२=)
प्रवालपंचामृत रस	१०)	॥।=)
पुटपक्व विषमज्वरांतक लोह	१२)	१–)
वृ० पूर्णचन्द्र रस	१८)	१॥)
वसन्तकुसमाकर रस	२१)	१॥।)
वृ० वातचिंतामणि रस	२१)	१॥।)
ब्राह्मीवटी (स्वर्णयुक्त)	२८)	२॥)
मृगांकपोटली रस	७२)	६)
मधुमेहान्तक रस	५० गोली	८)

	१ तोला	१ माशा
मधुरान्तक वटी (मौक्तिकवटी)	६)	॥)॥
मन्मथाभ्र रस	७॥)	॥=)॥
महाराज नृपतिबल्भ रस	६)	॥)॥
महालक्ष्मीविलास रस	६)	॥)॥
महाराज बङ्गभस्म	६)	॥)॥
योगेन्द्र रस	३६)	३)
रसराज रस	१८)	१॥)
राजमृगांक	२४)	२)
लोकनाथ रस (वृ०)	३)	॥।–)
श्वासचिंतामणि रस	१२)	१)॥
स्वर्णवसन्तमालती नं. १ हिंगुल के स्थान पर सिद्ध मकरध्वज नं. १ तथा स्वर्णवर्क के स्थान पर स्वर्ण-भस्म डालकर बनाई हुई अत्युत्तम	२१)	१॥।)
स्वर्णवसन्त मालती नं. २	१२)	१–)
सर्वाङ्गसुन्दर रस	१२)	१–)
संग्रहणी कपाट रस नं. १	२५)	२=)
सूतशेखर रस नं. १	१०)	॥।=)
हेमगर्भ रस	२४)	२–)
हिरण्यगर्भ पोटली रस	२१)	१॥।)

अग्निकुमार रस (योग) ५ तोला १॥।) १ तोला ।=)

अजीर्णकंटकरस (रसयोग) ५ तोला २॥) १ तो. ॥–)

	५ तोला	१ तोला
अमर सुन्दरी वटी (नि.र.,र.त.सा.)	३)	||≈)||
अर्शान्तक वटी (भैषज्य)	२|||)	||–)||
अग्नितुण्डी वटी (रसेन्द्र)	२|)	||)
आनन्दभैरव रस [लाल]	२|)	||)
आनन्दोदय रस (भैषज्य)	६)	१|)
आदित्य रस (भैषज्य)	४)	|||–)
आरोग्यवर्धिनी वटी (रसायन)	२||)	||)||
इच्छाभेदी रस (वृ० नि०)	२||)	||)||
इच्छाभेदी वटी (गोली)	३)	||≈)
उपदंशकुठार रस (वृ० नि०)	२||)	||)||
उष्णवातघ्न वटी (धन्वन्तरि)	६|)	१|)||
एकाङ्गवीर रस [रसतन्त्रसार]	१५)	३–)
एलादि वटी (भाव०)	१)	|)
एलुआदि वटी (यो० चि०)	१)	|)
कपूर रस (अतिसार)	११|)	२|–)
कनकसुन्दर रस (रसेन्द्र०)	२|)	||)
कफकुठार रस (रस० रसेन्द्र०)	४)	|||≈)
कफकेतु रस (रसेन्द्र)	२)	|≈)||
करञ्जादि वटी	५०० गोली ५)	५० गोली ||)||
कामाग्निसंदीपन मोदक	१|)	|–)
कामधेनु रस (भैषज्य)	७||)	१||–)
कामदुधारस नं० २ (मौक्तिक रहित)	८)	१|||)
कांकायन गुटिका (योग०)	१≈)	|)
कीटमर्द रस (भैषज्य)	१||≈)	|–)||
क्रव्यादि रस (वृ० भै०)	१०)	२)||
कृमिकुठार रस (नि० र० चि०)	३)	||≈)
खैरसार वटी (वृ० नि०)	१)	|)
गङ्गाधर रस (र० यो० सागर)	६|)	१|–)
गन्धक वटी (धन्व०)	१≈)	|)
गन्धक रसायन (रसतन्त्रसार)	५)	१–)
गर्भविनोद रस (रसेन्द्र)	७)	|≡)
गर्भपाल रस (वैद्यसार)	५|)	१–)
गर्भचिन्तामणिरस (भै. ध. र.)	११|)	२|–)
गुल्मकुठार रस (योग०)	४)	|||–)
गुल्मकालानल रस (भैषज्य)	३|||)	|||)||
गुड़पिप्पली (भैष०)	१|≈)	|–)

	५ तोला	१ तोला
गुड़मार वटी (धन्वन्तरि)	१≈)	|)
ग्रहणीगजेन्द्र रस (धन्व०)	७||)	१||–)
ग्रहणीकपाट रस नं०२ (धन्व०)	३|)	||≈)
ग्रहणीकपाट रस (लाल)(धन्व०)	५)	१–)
घोड़ाचोली रस	१|||)	|≈)
चन्द्रप्रभा वटी (शार्ङ्गधर)	२||)	|)||
चन्द्रोदयवर्ति (भावप्रकाश)	२|)	||)
चन्द्रकला रस	४||)	|||≡)
चन्द्रामृत रस (भैष०)	३)	||≈)
चन्द्रांशु रस (भैषज्य)	३)	||≈)
चित्रकादि वटी (भैष०)	१≈)	|)
ज्वरांकुश रस (सहा) (भैष०)	२||)	||)||
जयवटी (रसायनसार)	६|)	१|)
जलोदरारि वटी (वृ० नि० र०)	२|||)	||–)
जातीफल रस (भै०)	२|||)	||–)
तक्रवटी (भैष०)	२|||)	||–)
दुर्जलजेता रस	२|)	|≡)||
दुग्ध वटी नं० १	१५)	३–)
,, नं० २ (सुन्दर)	२|)	|≡)||
नवज्वरहर वटी (भाव०)	२|)	|≡)||
नष्टपुष्पान्तक रस (र. चि.)	१०)	२–)
नृपतिबल्लभ रस (भै० र०)	४|||)	१)
नाराच रस (भैष०)	२||)	||)||
नित्यानन्द रस (भैष०)	३)	||≡)
प्रतापलंकेश्वर रस (शार्ङ्ग०)	२||)	||)||
प्रदरारि रस (यो० र०)	२|)	|≡)||
प्रदरान्तक रस	५|)	१≈)
प्लीहारि रस (भै. र. र. यो.)	२||)	||)||
प्राणेश्वर रस [सुन्दर]	१०)	२–)
प्राणदा गुटिका [भैष.]	२)	|≡)
पञ्चामृत रस नं० १	२||)	||)||

रस-रसायन-गुटिका-गुग्गुल—इस पुस्तिका में धन्वन्तरि के प्रधान सम्पादक वैद्य देवीशरण गर्ग ने रस-रसायन-गुटिका गूगल (जो हमारे यहां निर्माण होवे हैं) के गुण मात्रा अनुपानादि विस्तार के साथ लिखे हैं। अपने अनुभव भी दिये हैं। मूल्य |) मात्र।

	५ तोला	१ तोला
पञ्चामृत रस [शोथ-रोगे]	२॥)	॥)॥
पशुपात रस [रसेन्द्र]	३।)	॥≡)
पीपल ६४ पहरा [धन्वन्तरि]	१२)	२॥)
वृ० शङ्खवटी [भाव०]	२)	।≡)
वृ० नायकादि रस [भैष०]	१=)	।)
वृद्धि वाधिका वटी [भाव०]	६।)	१।–)
बहुमूत्रान्तक रस [भैष०]	५॥)	१=)
बहुशाल गुड़ [शार्ङ्ग०]	१॥=)	।=)
ब्राह्मी वटी (स्वर्ण रहित-र. तं. सा.)	७)	१॥)
वालामृत वटी [धन्वन्तरि]	७॥)	१॥–)
वातगजांकुशरस वृ० [र. सु. सं.]	५)	१)॥
विषमुष्टिका वटी [सुन्दर]	२।)	।≡)॥
वैताल रस [भैष०]	१०)	२–)
व्योषादि वटी [शार्ङ्ग०)	१)	।)
मृत्युञ्जय रस [भैषज्य]	२॥।)	॥–)
मृत्युञ्जय रस [कृष्ण] [भैष०]	३)	॥=)
मकरध्वज वटी (प्रमेहरोग नाशक)	५०० गोली	२०)
मरिच्यादि वटी (शार्ङ्ग०)	१।)	।)॥
महागन्धक रस (भैष०)	२॥)	॥)॥
महाशूलहर रस (निघण्टु)	४।)	॥।=)
मदनानन्द मोदक (धन्व०)	१।)	।–)
महावातविध्वंस रस	१०)	२–)
मार्कण्डेय रस (भैष०)	२।)	॥)
मूत्रकृच्छ्रान्तक रस (र. सं. र. सु.	१०)	२–)
मेहमुद्गर रस (भैष०)	३)	॥=)
रजप्रवर्तक वटी (धन्वन्तरि)	३॥।)	॥।–)
रक्त पित्तांतक रस (रसेन्द्र०)	३॥।)	॥।–)
रामबाण रस (भैष०)	२॥।)	॥–)
शुनादि वटी (धन्व.)	१।)	।)॥
लघुमालती वसन्त (धन्व.)	७)	१॥)

	५ तोला	१ तोला
लक्ष्मीविलास रस (भैषज्य रसायनाधिकार)	५)	१–)
लक्ष्मीनारायण रस (भैष०)	७॥)	१॥।)
लाई (रस) चूर्ण (भाव० सुन्दर)	२।)	॥)
लीलावती गुटिका (वृ० निघण्टु)	१॥।=)	।=)॥
लीलाविलास रस (सुन्दर, रसेन्द्र)	४।)	॥।=)
लोकनाथ रस (भैष०)	५)	१–)
श्वासकुठार रस (वृ० निघण्टु)	२।)	॥)
शङ्खवटी (सुन्दर, भैष०)	१॥)	।–)
शंशमनी वटी (रसतन्त्रसार)	४)	॥।–)
शिरोवज्र रस (भैष०)	२॥।)	॥–)
शिलाजीत वटी (धन्वन्तरि)	२॥।)	॥–)
शीतभंजी रस (रसतन्त्रसार)	६)	१।)
शूलवज्रिणी वटी (भैष०)	२।)	॥)
शूलगजकेशरी (भैष०)	६।)	१।–)
श्रृङ्गाराभ्रक रस (भैष०)	५)	१–)
स्मृतिसागर रस (योग० रत्ना०)	१०)	२–)
संजीवनी वटी (यो. नि. शा. सं.)	१॥।)	।–)
सर्पगन्धा वटी (रसतन्त्रसार)	३)	॥=)
समीरगजकेसरी [र.रा.वृ.नि.र.]	१०)	२–)
सिद्धप्राणेश्वर रस [भैष०]	२॥।)	॥–)
सूतशेखर रस [स्वर्ण रहित]	१०)	२–)
सूरणमोदक वृ० (धन्व०)	॥।=)	≡)॥
सौभाग्य वटी [र. रा. सु.)	२॥)	॥)॥
हिंग्वादि वटी	१)	।)
हृदयार्णवरस (भैष०)	६।)	१।–)
त्रिपुरभैरव रस (भैष०)	२॥।)	॥–)
त्रिभुवनकीर्ति रस (र. चि. र. र.)	२॥)	॥)॥
त्रिविक्रम रस	१०)	२–)

	५ तोला	१ तोला
अम्लपित्तांतक लौह	३॥।)	॥।)॥
चन्दनादि लौह (ज्वर नाशक)	५)	१–)

	५ तोला	१ तोला
चन्दनादि लौह (प्रमेह नाशक)	६।)	१।–)
ताप्यादि लौह	१२॥)	२॥–)

धात्री लौह	३॥।)	॥।)॥
नवायस लोह	२।)	।≡)॥
प्रदरारि लौह	५)	१–)
प्रदरांतक लोह	६।)	१।–)
पुनर्नवादि माण्डूर	१॥।=)	।=)॥
विडंगादि लौह	३)	।=)॥
विषमज्वरान्तक लौह	५)	१–)
यकृतहर लौह	३॥)	॥।)
शोथोदरारि लौह	६)	१।–)
सर्वज्वरहर लौह	३।)	॥≡)
सप्तामृत लोह	३)	॥=)
त्र्यूषणाद्य लौह (यो० र०)	३)	॥=)

	२० तोला	५ तोला	१ तोला
अमृतादि गुग्गुल	५)	१–)	।)॥
कांचनार गूगल	३॥।)	१)	≡)॥
किशोर गूगल	३॥।)	१)	≡)॥
गोक्षुरादि गूगल	४॥)	१≡)	।)
पुनर्नवादि गूगल	४)	१–)	।)
महा योगराज गुग्गुल	१२॥)	३≡)	॥≡)
योगराज गुग्गुल	३॥।)	१)	≡)॥
रसाभ्र गूगल	१६)	४–)	॥।–)॥
रास्नादि गूगल	४)	१–)	।)
सिंहनाद गूगल	६)	१॥–)	।–)॥
त्रियोदशांग गूगल	५)	१।–)	।)॥
त्रिफलादि गूगल	४॥)	१।–)	।)॥

अरिष्ट-आसव

	१ बोतल	१ अद्धा	१ पौंड	८ औंस
अमृतारिष्ट	१॥।=)	१–)	१॥=)	॥।=)
अर्जुनारिष्ट	१॥=)	॥।≡)	१।=)	॥।)
अरविन्दासव	२=)	१≡)	१॥≡)॥	॥।=)॥
अशोकारिष्ट	१॥=)	॥।≡)	१।=)	॥।)
अभयारिष्ट	१॥=)	॥।≡)	१।=)	॥।)
अहिफेनासव	१५)	७॥–)	१२=)	½ औं० ॥=)
अश्वगन्धारिष्ट	१॥।≡)	१=)	१॥=)	॥।=)
उसीरासव	१॥=)	॥।≡)	१।=)	॥।)
कनकासव	१॥=)	॥।≡)	१।=)	॥।)
कनकसुन्दरासव	१॥।=)	१–)	१॥=)	॥।=)
कर्पूरासव	१३)	६॥=)	१०॥)	½ औं. ।=)
कुमारी आसव	१॥=)	॥।≡)	१।=)	॥।)
कुटजारिष्ट	१॥=)	॥।≡)	१।=)	॥।)
खदिरारिष्ट	१॥।=)	१–)	१॥=)	॥।=)
चन्दनासव	१॥)	॥।=)	१।–)	॥≡)॥
दशमूलारिष्ट नं० १ (कस्तूरी युक्त)	४)	२=)	३।)	१॥≡)
दशमूलारिष्ट नं० २ (कस्तूरी रहित)	१॥।=)	१–)	१॥=)	॥।=)
वृ० द्राक्षासव	४)	२=)	३।)	१॥≡)
द्राक्षासव (खिंचा)	२=)	१≡)	१॥।)	॥।≡)
द्राक्षासव (बि खिं)	१॥=)	॥।≡)	१।=)	॥।)
द्राक्षारिष्ट	१॥।)	१)	१।≡)	॥।)॥
देवदार्व्यारिष्ट	१॥।=)	१–)	१॥=)	॥।=)
पत्रांगासव	१॥=)	॥।≡)	१।=)	॥।)
पिपल्यासव	१॥=)	॥।≡)	१।=)	॥।)
पुनर्नवासव	१॥)	॥।=)	१।–)	॥≡)॥
बल्लभारिष्ट	२=)	१≡)	१॥।)	॥।≡)
बबूलारिष्ट	१॥=)	॥।≡)	१।=)	॥।)
बांसारिष्ट	४॥)	२।=)	३॥।≡)	२)
बालरोगान्तकारिष्ट	१॥=)	॥।≡)	१।=)	॥।)
मृगमदासव		२ औंस २–)	½ औंस ॥)॥	
रक्तशोधकारिष्ट	१॥=)	॥।≡)	१।=)	॥।)
रोहितकारिष्ट	१॥=)	॥।≡)	१।=)	॥।)
लोहासव	१॥=)	॥।≡)	१।=)	॥।)
सारस्वतारिष्ट नं १ [स्वर्ण युक्त]			१ पाव ५)	
„ नं० २	१॥।=)	१–)	१॥=)	॥।=)
सारिवाद्यासव	२=)	१≡)	१॥।)	॥।≡)

☆ अर्क ☆

	१ बोतल	१ पौंड	१ पाव
अर्क उसवा	१।।।)	१।≡)	।।।)।।
दशमूल अर्क	१।।।)	१।≡)	।।।)।।
द्राक्षादि अर्क	१।।।)	१।≡)	।।।)।।
महा मंजिष्ठादि अर्क	१।।।)	१।≡)	।।।)।।
रास्नादि अर्क	१।।।)	१।≡)	।।।)।।

	१ बोतल	१ पौंड	१ पाव
सुदर्शन अर्क	१।।)	१।≡)	।।।)।।
अर्क सौंफ	१)	१)	।।-)
अर्क अजवाइन	१।।)	१।-)	।।≡)।।
अर्क पोदीना	१।।।)	१।≡)	।।।)।।
मृत संजीवनी अर्क	२।।)	२)	१-)

☆ क्वाथ ☆

दशमूल क्वाथ — १ मन ३५) — १ सेर १)
२-२ तोले की १०० पुड़िया ४)
१०-१० तोले की ८ पुड़िया १)

दार्व्यादि क्वाथ — १ सेर १।।)
१०-१० तोले की ८ पुड़िया १।।।)

देवदार्व्यादि क्वाथ — १ सेर १)
१०-१० तोले की ८ पुड़िया १)

द्राक्षादि क्वाथ — १ सेर १)
१०-१० तोले की ८ पुड़िया १)

बलादि क्वाथ — १ सेर १)
१०-१० तोले की ८ पुड़िया १।।)

महा मंजिष्ठादि क्वाथ — १ सेर १।।)
१०-१० तोले की ८ पुड़िया १।।।)

महारास्नादि क्वाथ — १ सेर १।।)
१०-१० तोले की ८ पुड़िया १।।।)

त्रिफलादि क्वाथ — १ नेर १)
१०-१० तोले की ८ पुड़िया १)

चूर्ण

	१ सेर डिब्बा में	५ तोला डिब्बा में	५ तोला शीशी में
अग्निमुख चूर्ण	८)	।।-)	।।-)।।
अविपित्तकर चूर्ण	७)	।।)	।।)।।
अजीर्णपानक चूर्ण	६)	।।-)।।	।।=)
अग्निवल्लभक्षार	१०)	।।≡)	।।।)
उदरभास्कर चूर्ण	७)	।।)	।।)।।)
एलादि चूर्ण	७।।)	।।)।।	।।-)
कपित्थाष्टक चूर्ण	६)	।≡)	।≡)।।
कामदेव चूर्ण	६)	।≡)	।≡)।।
कुंकुमादि चूर्ण		१।।) २।। तो.	।।।-)
गंगाधर चूर्ण	५।।)	।=)।।	।≡)
चन्दनादि चूर्ण	५।।)	।=)।।	।≡)
ज्वरभैरव चूर्ण	५।।)	।=)।।	।≡)
जातीफलादि चूर्ण	१०)	।।=)।।	।।≡)
तालीसादि चूर्ण	७।।)	।।)	।।)।।

	१ सेर डिब्बा में	५ तोला डिब्बा में	५ तोला शीशी में
दशनसंस्कार चूर्ण	७)	।।)	।।)।।
धातुस्रावहर चूर्ण	१२)	।।।)।।	।।।-)
नारायण चूर्ण	५।।)	।=)।।	।≡)
निम्बादि चूर्ण	५।।)	।=)।।	।≡)
प्रदरांतक चूर्ण	५।।)	।=)।।	।≡)
पंचसकार चूर्ण	५।।)	।=)।।	।≡)
प्रदरादि चूर्ण	५।।)	।=)।।	।≡)
पुष्पानुग चूर्ण	६)	।≡)	।≡)।।
यवानीखांडव चूर्ण	६)	।≡)	।≡)।।
लवङ्गादि चूर्ण	१०)	।।=)।।	।।≡)
लवणभास्कर चूर्ण	६)	।≡)	।≡)।।
स्वप्नप्रमेहहर चूर्ण	१२)	।।।)।।	।।।-)
सारस्वत चूर्ण	५)	।=)	।=)।।
सामुद्रादि चूर्ण	७)	।≡)।।	।।)।।

	१ सेर डिब्बा में	५ तोला डिब्बामें	५ तोला शीशी में
शृंग्यादि चूर्ण	७)	।≡)।।	।।)
सितोपलादि चूर्ण—असली बंशलोचन से बना—	१६)	१)।।	२।। तो. ।।−)
सुदर्शन चूर्ण	६)	।≡)	।।)
हिंग्वाष्टक चूर्ण	७।।)	।।)।।	।।−)
त्रिफलादि चूर्ण	४)	।−)	।−)।।

[illegible]

	१ पौंड	४ औंस	२ औंस
आंवला तैल	४)	१)	।।−)
इरमेदादि तैल	५)	१।−)	।।≡)
कपूरादि तैल	६)	१।।)	।।।−)
कटफलादि तैल	४)	१−)	।।−)
कन्दर्पसुन्दर तैल	६)	१।।)	।।।−)
काशीसादि तैल	४)	१−)	।।−)
किरातादि तैल	३।।)	।।।≡)	।।)
कुमारी तैल	४)	१−)	।।−)
ग्रहणी मिहिर तैल	४)	१−)	।।−)
गुडुच्यादि तैल	४)	१−)	।।−)
चन्दनादि तैल	५)	१।−)	।।≡)
चन्दनवलालाक्षादि तैल	५)	१।−)	।।≡)
जात्यादि तैल	४)	१−)	।।−)
दशमूल तैल	४)	१−)	।।−)
दार्व्यादि तैल	३।।)	।।।≡)	।।)
महानारायण तैल	४)	१−)	।।−)
पानीनाशक तिला	×	५)	२।।)
पिपल्यादि तैल	३।।)	।।।≡)	।।)
पिंड तैल [योगरत्नाकार]	४।।)	१≡)	।।=)
पुनर्नवादि तैल	४)	१−)	।।−)
ब्राह्मी तैल	५)	१।−)	।।≡)
विल्व तैल [भैषज्य]	६)	१।।)	।।।−)
विषगर्भ तैल	३)	।।।−)	।≡)
भृङ्गराज तैल [भैषज्य]	४)	१−)	।।−)
महाविषगर्भ तैल	४)	१−)	।।−)
वैरोजा का तैल	४।।)	१≡)	।।=)
महामरिच्यादि तैल	३।।)	।।।≡)	।।)
महामाष तैल [भैषज्य]	३।।)	।।।≡)	।।)
मोम का तैल [धन्वन्तरि]	७)	१।।।=)	।।।≡)।।
राल का तैल [धन्वन्तरि]	५)	१।)	।।≡)
लाक्षादि तैल [गद. वंग]	४)	१−)	।।−)
शुष्कमूलादि तैल [चक्र]	४)	१−)	।।−)
षटविन्दु तैल [चक्र]	४)	१−)	।।−)
हिमसागर तैल [भैष०]	४।।)	१≡)	।।=)
क्षार तैल [भैषज्य]	५)	१।−)	।।≡)

नोट—तैलों की शीशियों को कार्ड वक्स में पैकिंग करा कर लेने वालों को ४ औंस के पैक के −)।। प्रति पैक तथा २ औंस के पैक के लिए −) प्रति पैक पृथक देना होगा।

धन्वन्तरि [illegible]

	एक सेर	४ औंस
अर्जुन घृत	१२)	१।।−)
अशोक घृत [भैषज्य]	१२)	१।।−)
अग्नि घृत [चक्र. वङ्ग]	१०)	१।−)
कदली घृत [भैषज्य]	१४)	१।।।−)
कामदेव घृत [भैषज्य]	१५)	१।।।≡)
दूर्वादि घृत [भैषज्य]	१०)	१।−)
धात्री घृत [भैषज्य]	१०)	१।−)
पंचतिक्त घृत [भैषज्य]	१०)	१।−)

	१ सेर	४ औंस
फलघृत [भैषज्य]	११)	१।≡)
ब्राह्मी घृत [वाग्भ]	११)	१।≡)
विन्दु घृत (योग)	१२)	१॥–)
महात्रिफलादि घृत	१३)	१॥≡)
शृङ्गीगुड़ घृत	६)	१≡)
सारस्वत घृत	१०)	१।–)

★ मलहम ★

जात्यादि मलहम	२० तोला	२)
पारदादि मलहम (योगरत्नाकर)	२० तोला	२॥)
निम्बादि मलहम (धन्वन्तरि)	२० तोला	२॥)
दशांग लेप (रसतन्त्रसार)	२० तोला	१॥)
अग्निदग्ध-व्रणहर मलहम	२० तोला	१॥)
गन्धक मलहम (वैसलीन पर)	२० तोला	१॥)

धन्वन्तरि क्षार - सत्व - द्राव

	१० तोला	२॥ तोला	१ तोला
वज्रक्षार (रसेन्द्र, वृ० सु०)	२)	॥)॥	।)
अपामार्ग क्षार	२)	॥)॥	।)
वांसाक्षार	३)	॥।)॥	।–)॥
कटेरी क्षार	३)	॥।)॥	।–)॥
कदली क्षार	२॥)	॥≈)॥	।)॥
इमली क्षार	२)	॥)॥	।)
तिलक्षार	३)	॥।)॥	।–)॥
मूली क्षार	३)	॥।)॥	।–)॥
ढाक क्षार	२)	॥)॥	।)
आकक्षार	२)	॥)॥	।)
तम्बाकू क्षार	३)	॥।)॥	।–)॥
केतकी क्षार	२)	॥)॥	।)
चना [चणक] क्षार	३)	॥।)॥	।–)॥
नाड़ीक्षार	३)	॥।)॥	।–)॥

शङ्खद्राव ४ औंस ६) १ औंस १॥–) ½ औंस॥।–)

नेत्रबिन्दु पाव भर ७॥) आध औंस ॥) पाव औं. ।)

यवक्षार १ तोला =)॥ १ सेर १०) गुलकंद १ सेर ३)

शहद १ सेर ३॥) १ औंस ॥=)

भीमसैनी कपूर १ तोला ३) गिलोयसत्व १ सेर २०)

च्यवनप्राश्यावलेह [च० भै० वङ्ग वृन्द] अष्टवर्ग-युक्त, असली वंशलोचन व सर्वोत्तम मिश्री से बनाया हुआ] २० सेर कनस्तर में ७५) १ सेर डिब्बा में ४) आधा सेर शीशी में २।) १ पाव शीशी में १=) १० तोला शीशी में ॥=)

कुटजावालेह १ सेर ५) १ पाव शीशी में १।=)

कण्टकारी अवलेह ५॥) १ पाव शीशी में १॥)

कुशावलेह १ सेर ५) १ पाव शीशी में १।=)

वांसावलेह ,, ५) १ पाव शीशी में १।=)

ब्राह्मरसायन ,, ६) १ पाव शीशी में १॥=)

अद्रक खण्ड ,, ५) १ पाव शीशी में १।=)

विषमुष्टिकावलेह [वातरोग नाशक] ५ तोला ५)

मधुकाद्यावलेह [प्रदररोग नाशक] १५ तोला २।=)

कन्दर्पसुन्दर पाक १ सेर ८) आध पाव की शी. १=)

बादाम पाक १ सेर १०)	१० तोला शी० में १।=)	सौभाग्यसुण्ठी पाक ८)	१० तोले शीशी में १=)
मूसली पाक १ सेर १०)	१० तोले शीशी में १।=)	एरण्ड पाक १ सेर ८)	,, ,, १=)
सुपारी पाक ८)	,, १=)	बल्लभपाक १ पाव ५)	५ तोला शीशी में १।=)

कतिपय मुख्य वस्तुयें

शुद्ध शिलाजीत (सूर्यतापी)	१ सेर ४०)	सर्पगन्धा	१ सेर १२)
शुद्ध शिलाजीत अग्नितापी	,, २०)	सोमकल्प [सोमकला]	,, ३॥)
अष्टवर्ग [अत्युत्तम]	,, १०)	अशोकछाल	,, १॥)
यवक्षार	,, १०)	रोहतक छाल	,, १)
गिलोयसत्व असली	,, २०)	असली बंशलोचन	,, ३०)
असली मुलहठीसत्व स्वयं निकाला हुआ	१ सेर १२)	हिंगुल रूमी	,, ४५)
असली ब्राह्मी	१ सेर २)	मूंगा की सांख	,, २०)
असली दशमूल	१ मन ३५)	दशमूल सत्व	,, १५)
असली तालीसपत्र	१ सेर २)	उलट कम्बल	,, ६)

भस्मार्थ द्रव्य

ताम्र चूर्ण [अशोधित]	१ सेर ७)	वज्राभ्रक	१ सेर ३)
फौलाद चूर्ण अशोधित	१ सेर ३)	धान्याभ्रक	१ सेर ४)
फौलाद चूर्ण शुद्ध	१ सेर ४)	शंख टुकड़े	१ सेर १)
अशोधित जस्ता	१ सेर ६)	मोती सीप	१ सेर ५)
शुद्ध जस्ता	१ सेर ८)	पीली कौड़ी	१ सेर ३)
शुद्ध वङ्ग	१ सेर २०)		

पत्थर के खरल

चिकित्सकों एवं अपने कृपालु ग्राहकों की मांग को ध्यान में रखते हुए हमने काले कसौटी पत्थर के छोटे-बड़े खरलों को विक्रियार्थ संग्रह किया है। आशा है ग्राहक समुदाय आवश्यकतानुसार मंगाकर उपयोग में लायेगा।

	मूल्य	मोतिया के कसौटी पत्थर के
खरल पत्थर ३ इञ्ची (दवा मिलाकर पुड़िया बनाने को)	१)	१॥)
,, ४ इञ्ची ,,	१॥)	२॥)
,, ५ इञ्ची ,,	२)	३)
,, ९ इञ्ची (दवायें निर्माण करने योग्य)	७॥)	१२)
,, १२ इञ्ची ,,	१४)	१८)

नोट—पोस्ट व्यय—पैकिङ्ग व्यय प्रथक होगा। केवल ३-४-५ इंची के खरल पोस्ट से भेज सकेंगे। ९-१२ इंची रेल से ही भेजे जासकेंगे।

मंगाने का पता - धन्वन्तरि कार्यालय, विजयगढ़ (अलीगढ़)

धन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ़ द्वारा निर्मित

अनुभूत एवं सफल
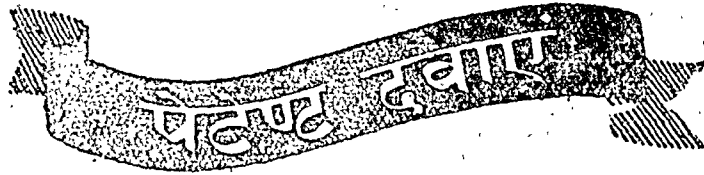
हमारी यह पेटेन्ट औषधियां ५८ वर्ष से, भारत भर के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध वैद्यराजों, कविराजों और धर्मार्थ औषधालयों द्वारा व्यवहार हो रही हैं अतः इनकी उत्तमता के विषय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं करना चाहिये। नीचे औषधियों के खेरीज भाव दिये हैं। इन पर २५ प्रतिशत कमीशन कम करने पर थोक भाव माना जाता है।

(अर्थात् निराशबन्धु)

आयुर्वेदीय चिकित्सा-पद्धति में सबसे अधिक प्रसिद्ध एवं चमत्कारिक महौषधि सिद्ध मकरध्वज नं० १★ अर्थात् चन्द्रोदय है। इसी अनुपम रसायन एवं अन्य मूल्यवान वस्तुओं के सहयोग से इन गोलियों का निर्माण किया गया है। ये गोलियां भोजन पचाकर रस रक्त आदि सप्त-धातुओं को क्रमशः सुधारती हुई शुद्धवीर्य का निर्माण करती और शरीर में नवजीवन एवं नवस्फूर्ति भर देती हैं। जो व्यक्ति चन्द्रोदय के गुणों को जानते हैं वे इसके प्रभाव में सन्देह नहीं कर सकते। अनुपान भेद से अनेक रोगों को दूर कर सकती हैं। वीर्य विकार के साथ होने वाली खांसी, जुकाम, सर्दी, कमर का दर्द मन्दाग्नि, स्मरण-शक्ति का नाश आदि व्याधियां भी दूर होती हैं। क्षुधा बढ़ती है, शरीर हृष्ट-पुष्ट और निरोग बनता है। जो व्यक्ति अनेक औषधियां सेवन कर निराश हो गये हैं उन निराश पुरुषों को भी यह औषधि बन्धु तुल्य सुख देती है, इसीलिये इसका दूसरा नाम 'निराश-बन्धु' है।

४० वर्ष की आयु के बाद मनुष्य को अपने में एक प्रकार की कमी और शिथिलता का अनुभव होता है। यह रोगप्रतिरोधक शक्ति (जो हरेक मनुष्य में स्वाभाविक रूप से होती है) में कमी आ जाने के फल स्वरूप होती है। मकरध्वज वटी इस शक्ति को पुनः उत्तेजित करती हैं और मनुष्य को सबल व स्वस्थ बनाए रखती हैं।

मूल्य—१ शीशी (४१ गोलियों की) २॥≈)
छोटी शीशी (२१ गोलियों की) १।≡)

१२ शीशी या अधिक एक साथ मंगाने पर रियायती थोक भाव १२ शीशी (४१ गोलियों वाली) का २०॥) नेट। १२ शीशी से कम मंगाने पर इस भाव से हर्गिज नहीं दे सकेंगे।

★ सिद्ध मकरध्वज नं. १-हम गत ५७ वर्षों से निर्माण कर रहे हैं। तथा अपनी विशेष प्रक्रिया द्वारा सर्वोत्तम मकरध्वज का निर्माण करते हैं। इसका तथा अन्य कूपी-पक्व औषधियों का विस्तृत वर्णन सेवन विधि "कूपीपक्व रसायन" पुस्तक मंगाकर पढ़ियेगा। मूल्य —)

कामदीपक तिला—

नसों की कमजोरी के लिये इसका निर्माण विशेष रूप से किया गया है। पुराने से पुराने रोगियों को इससे लाभ होता है। इसके साथ-साथ सिद्ध मकरध्वज और कनकासव अथवा मकरध्वज वटी का सेवन करना बहुत ही लाभदायक है। मूल्य—१ शीशी (आधा औंस) २॥)

क्लीवत्वहर पोटली—

इन पोटलियों के सेंक करने से नसों की निर्बलता दूर हो जाती है। रग-पुट्ठे मजबूत हो जाते हैं। १० पोटली की दवा का १ डिब्बा मूल्य २)

नपुन्सकत्वहर सैट—

मकरध्वज वटी, कामदीपक तिला, क्लीवत्वहर पोटली, इन तीनों को ही "नपुंसकत्व हर सैट" कहते हैं। इन तीनों को एक साथ व्यवहार करने से सभी प्रकार की निर्वलता नष्ट होती है। २० दिन की तीनों दवाओं के सैट का मूल्य ६) पोस्ट, पेकिङ्ग व्यय प्रथक्।

ज्वरारि—

[ज्वर-जूड़ी की उत्तम दवा]

सस्ती व उत्तम विशुद्ध आयुर्वेदिक औषधि ज्वरारि के व्यवहार से जूड़ी और ज्वर शीघ्र ही जाता रहता है। इसमें कुनैन नहीं है, अतः गरमी नहीं करती है। यह इसमें विशेषता है कि इसके सेवन के बाद यदि जूड़ी आ भी जाय तो उसके उपद्रव कै, प्यास लगना आदि को दूर करती है। मूल्य १ शीशी १० मात्रा (चार औंस) १); बड़ी शीशी २० मात्रा [८ औंस] १॥।); २० औंस की पूरी बोतल ५० मात्रा ३।)

कासारि—

[सर्व कास-नाशक]

हर व्यक्ति की हर प्रकार की खांसी दूर करने के लिये अद्वितीय महौषधि है। जब खांसते-खांसते रोगी परेशान हो जाता है, कफ नहीं निकलता उस अवस्था में इसकी २-४ मात्रा कफ पतला कर, रोगी के कष्ट को दूर करती हैं। जिस रोगी के कफ अधिक निकलता है उसका कफ नष्ट कर खांसी दूर करती करती है। हर ऋतु में इसका उत्तम प्रभाव होता है। मूल्य १ शीशी ४ औंस (२० मात्रा) १); छोटी शीशी १ औंस (५ मात्रा)।≈)

इस सैट में २ औषधियां होती हैं। १-स्त्रीसुधा तथा २-मधुकाद्यावलेह। दोनों औषधियों का सेवन करने से हर प्रकार के स्त्री-रोगों में शीघ्र लाभ होता है। सैकड़ों हजारों चिकित्सक अपने रोगियों को सफलता के साथ व्यवहार कराते हैं। आप भी परीक्षा कीजिये।

स्त्री—सुधा—

यह औषधि पीड़ित, जराजीर्ण, दुबली-पतली स्त्रियों के लिये वरदान स्वरूप है। इसके सेवन करने से हाथ-पांव की जलन, पेडू, पेट का दर्द आदि सभी शिकायतें दूर होती हैं और स्त्रियां सदा स्वस्थ एवं सुन्दर बनी रहती हैं। जिन स्त्रियों को किसी कारण विशेष से कमजोरी होजाती है। तबियत हर समय गिरी-गिरी रहती है। माथे में थोड़ा-थोड़ा दर्द बना रहता है। भूख नहीं लगती। किसी काम के करने में जी नहीं लगता। अपना जीवन भार स्वरूप ज्ञात होता है, उनके लिए यह अमूल्य एवं सफल अक्सीर दवा है। बीसियों वर्षों से सैकड़ों हजारों निर्बल निस्तेज स्त्रियों के शरीर को निरोग बनाकर उनको स्फूर्ति उत्साह एवं नवजीवन प्रदान कर चुकी है। मूल्य १ बोतल ३॥); १ शीशी ८ औंस सुन्दर दुरंगे पैकिंग) मूल्य १॥)

मधुकाद्यावलेह—

यह स्त्री-रोगों की शास्त्रीय अत्युत्तम औषधि है। अपने चिकित्सा काल में हमने यह अनुभव किया है कि स्त्रीसुधा के साथ-साथ यदि इसका व्यवहार भी कराया जाय तो चमत्कारिक लाभ होता है। अतः स्त्री-सुधा के साथ-साथ इसका व्यवहार अवश्य कराना चाहिये। मूल्य-१ शीशी (१५ तोला) ३॥)

नोट—इन दोनों औषधियों को एक साथ सेवन करने

से प्रदर एवं स्त्रियों के अन्य विशेष रोग शीघ्र नष्ट होते हैं। इन दोनों को मिला कर ही "प्रदर-रोगहर सैट" कहते हैं। मूल्य दोनों का ६)

श्वेतकुष्ठहर सैट

इसमें तीनों औषधियां १५ दिन सेवन करने योग्य हैं। १-श्वेतकुष्ठहर अवलेह, २-श्वेत-कुष्ठहर वटी। इन तीन औषधियों को नियमित सेवन करने से कुछ समय में सफेद दागों की कष्टसाध्य व्याधि नष्ट हो जाती है। यह रोग बड़ा पाजी है और आसानी से नहीं जाता। हम यह दावा भी नहीं करते कि इन तीन औषधियों के व्यवहार से यह रोग १०-५ दिन में ही छूमन्तर हो जावेगा लेकिन हम यह कह सकते हैं कि जो व्यक्ति धैर्य के साथ कुछ अधिक दिन तक सेवन करेगा वह इस रोग से अवश्य छुटकारा पायेगा। ये तीन औषधियां आन्तरिक विकृति को क्रमशः सुधार कर रोग की मूल कारण नष्ट करती हुई रोग को दूर करती हैं अतएव स्थाई लाभ होता है। १५ दिन सेवन योग्य तीनों औषधियों का मूल्य (१ सैट का) ५)

श्वेतकुष्टहर अवलेह १ डिब्बा (३० तोला) ३)
श्वेतकुष्ठहर घृत १ शीशी (१ औंस) १।)
" " वटी १ शीशी (३२ गोली) १।।।)

हिस्टीरियाहर सैट

(योषापस्मारहर वटी, क्षार, आसव)

इन तीनों औषधियों के सेवन से स्त्रियों में बहुप्रचलित हिस्टेरिया (योषापस्मार) रोग शीघ्र नष्ट हो जाता है। अनेकों वैद्यों तथा चिकित्सकों ने इन औषधियों को अपने रोगियों पर सफलतापूर्वक प्रयोग किया है। १५ दिन सेवन योग्य तीनों औषधियों का मूल्य ७)

हिस्टीरियाहर वटी १ शीशी (३० गोली) २।।)
" " आसव १ बोतल (२० औंस) ४)
" " क्षार १ शीशी (आधा औंस) १।।)

रक्तदोषहर सैट

इसमें भी तीन औषधि—धन्वन्तरि आयुर्वेदीय सालसापरेला, तालकेश्वर रस तथा इन्द्रवारुणादि क्वाथ हैं। इन औषधियों के सेवन से कैसा ही रक्त चर्म विकार हो अवश्य ही नष्ट होजाता है। उपदंश व सुजाकजन्य विकार, वातरक्त, श्लीपद, खाज, फोड़े-फुंसी सभी रोग नष्ट हो शरीर सुन्दर व सुडौल हो जाता है।

मूल्य १५ दिन सेवन योग्य ६) पोस्ट व्यय पृथक

धन्वन्तरि आयुर्वेदीय सालसापरेला—
१ बोतल [२० औंस] ४)
सुन्दर कार्डबक्स में १ शीशी [८ औंस] १।।।)
तालकेश्वर रस—१ शीशी [६ मासे] ४)

इन्द्रवारुणादि क्वाथ—इसके सेवन से चिरसंग्रहीत आंव दस्त होकर निकलती है उस समय रोगी के पेट में मरोड़, कभी-कभी उल्टी और अन्य परेशानियां प्रतीत होती हैं। इनकी चिंता न करें। यह क्वाथ आंव निकाल कर रक्त को शुद्ध करने में सहायक होता है। मूल्य १२ मात्रा (२४ तोला) ।।।)

अर्शान्तक सैट

[अर्श-बवासीर नाशक वटी-मलहम-चूर्ण]

इस सैट में तीन औषधियां हैं—वटी, चूर्ण एवं मलहम। इन तीन औषधियों के विधिवत् प्रयोग से अर्श रोग अवश्य नष्ट और समूल नष्ट होता है। अर्श से आने वाला रक्त २-१ दिन के बाद बन्द हो जाता है और मलावरोध भी नष्ट होता है। प्रमेह को भी लाभप्रद है। मू० ३)

अर्शान्तक वटी १ शीशी [४० गोली] १।)
अर्शान्तक मलहम १ शीशी [आध औंस] ।।।)
" चूर्ण १ शीशी [७।। तोला] १।)

वातरोगहर सैट

बहुत समय की परीक्षा के बाद ये औषधियां चिकित्सक समाज की सेवा में प्रेषित कर रहे हैं। इसमें तीन औषधियां हैं—वातरोगहर रस, वातरोगहर तैल तथा वातरोगहर अवलेह। इन तीन औषधियों

सेवन से हर प्रकार का वातरोग अवश्य नष्ट होता है। जोड़ों का दर्द, सूजन, अङ्ग विशेष की पीड़ा पक्षाघात आदि सभी वात-व्याधियों में लाभप्रद है। दर्द तो बात की बात में दूर होता है। संधि और मज्जागत वायु को निकाल बाहर कर देता है। अग्नि, तीव्र एवं बल की वृद्धि करता है। जो रोगी अनेक औषधि सेवन कर निराश हो गये हैं वे एक बार इनका सेवन अवश्य करें। १५ दिन की तीनों औषधियों का मू० १०)

वातरोगहर तैल	१ शीशी (४ औंस) ३)
वातरोगहर रस	१ शीशी (४ माशा) ५)
वातरोगहर अवलेह	१ शीशी (२॥ तोला) ४)

कामिनीगर्भ रक्षक—

यह 'कामिनीगर्भरक्षक' गर्भ की रक्षा करने के लिए सर्वोत्तम अनुभूत औषधि है। इसको प्रथम मास से नवें मास पर्यन्त सेवन करने से कभी गर्भ-श्राव और गर्भपात नहीं हो सकता।

१ शीशी (२ औंस) २)

अग्निसन्दीपन चूर्ण—

अग्नि को उत्तेजित करने वाला मीठा व पाचक स्वादिष्ट चूर्ण है। भोजन के बाद ३-३ माशा मात्रा में लीजिए, कब्ज दूर होगा तथा रुचि बढ़ेगी। १ शीशी (२ औंस) ॥)

मनोरम चूर्ण—

स्वादिष्ट, शीतल व पाचक चूर्ण है। एक बार चख लेने पर शीशी समाप्त होने तक आप खाते ही रहेंगे। गुण और स्वाद दोनों में लाजबाब है। १ शीशी (२ औंस) ॥) छोटी १ औंस ।-)

नयनामृत सुरमा—

नेत्र रोगों के लिये उपयोगी सुरमा है। चांदी या कांच की सलाई से दिन में एक बार रोजाना लगाने से धुंधला दीखना, पानी निकलना, खुजली चलना आदि शीघ्र नष्ट होते हैं। १ शीशी ३ माशे ॥)

कुमारकल्याण घुटी

(बालकों के लिये सर्वोत्तम मीठी घुटी)

हमने बड़े परिश्रम से आयुर्वेद में वर्णित और बालकों की रक्षा करने वाली दिव्य औषधियों से घुटी तैयार की है इसके सेवन करने वाले बालक कभी बीमार नहीं होते, किन्तु पुष्ट हो जाते हैं। यह बालकों को बलवान बनाने की बड़ी उत्तम औषधि है, रोगी बालक के लिये तो संजीवनी है। इसके सेवन से बालकों के समस्त रोग जैसे ज्वर, हरे-पीले दस्त, अजीर्ण, पेट का दर्द, अफरा, दस्त में पड़े कीड़े जाना, दस्त साफ न होना, सर्दी, कफ, खांसी, पसली चलना, दूध पलटना, सोते में चौंक पड़ना, दांत निकलने के रोग आदि सब दूर होजाते हैं। शरीर मोटा ताजा और बलवान होजाता है पीने में मीठी होने से बच्चे आसानी से पी लेते हैं। मूल्य १ शीशी (आधा औंस) ।-), ४ औंस की शीशी २), १ पौंड (१६ औंस) ६)

कुमाररक्षक तैल—

इस तैल की बच्चे के सम्पूर्ण शरीर पर धीरे-धीरे रोजाना मालिश करें। आध घण्टे बाद स्नान कराइये। बच्चे में स्फूर्ति बढ़ेगी, मांस-पेशियां सुदृढ़ हो जायगी, हड्डियों को ताकत पहुँचेगी। यह तैल इसी अभिप्राय से सर्वोत्तम निर्माण किया गया है। मूल्य १ शीशी (४ औंस) १।)

वातारि वटिका

वात रोग (वात व्याधि) अनेक प्रकार के होते हैं। किसी के सम्पूर्ण शरीर को जकड़ लेता है और नस-नस में दर्द पैदा कर देता है। किसी के जोड़ों में दर्द होता है जिसे लोग गठिया कहते हैं। किसी किसी के कमर में अथवा बांह, पोरुओं व पैरों में ही दर्द करता है। किसी का आधा शरीर ही जकड़ देता है जिसे पक्षाघात या अर्धाङ्ग वात कहते हैं। किसी के हाथ पैर सुखा देता है। किसी का मुख टेढ़ा कर देता है आदि अनेक प्रकार की तकलीफ हो जाती हैं।

हमने यह वातारि-वटिका बड़े परिश्रम और विचार के साथ बनाई है इसके सेवन से सब प्रकार की वात-व्याधि (वात रोग) नष्ट होती है। दर्द तो बात की बात में दूर होकर रोगी को चैन पड़ता है, शरीर स्वस्थ हो जाता है, सन्धि और मज्जागत

वायु को निकाल देती है, अग्नि को बढ़ा देती है। तेज और वल की वृद्धि करती है। १ शीशी [५१- गोली] २)

शिरोविरेचनीय सुरमा

जिनको बार-बार जुकाम हो जाता हो, नया या पुराना शिर दर्द हो, जुकाम रुकने से उत्पन्न शिर दर्द हो। इसको सलाई से वहुत हल्का नेत्रों में आंजे। थोड़ी देर में ही आंख व नाक से वलगम निकलना प्रारम्भ हो जायगा और सभी कष्ट दूर होंगे। पुराने शिर दर्द में पथ्यादि काथ व शिरोवज्र रस भी साथ में सेवन करने से शीघ्र लाभ होता है। १ माशे की शीशी ।—)

दाद की दवा

यह दाद की अक्सीर दवा है। दाद को साफ करके किसी मोटे वस्त्र से खुजला कर दवा की मालिश करें। स्नान करने के बाद रोजाना वस्त्र से अच्छी प्रकार पोंछ लिया करें। १ शीशी ॥)

कासहर वटी

हर प्रकार की खांसी के लिये सस्ती व उत्तम गोलियां हैं। दिन में ५-७ बार अथवा जिस समय खांसी अधिक आ रही हो १-१ गोली मुंह में डाल रस चूसने से गला व श्वास-नली साफ होती है। कफ बन्द हो जाता है। मूल्य १ शीशी ।—) १० तोला ५)

निम्बादि मलहम

नीम रक्त-शोधक व चर्म रोग नाशक है। इसी के संयोग से बनी यह मलहम फोड़ा फुन्सी व घाव के लिये अत्युत्तम है। निम्ब काथ से घाव या फोड़ों को साफ कर इस मलहम को लगाने से वे शीघ्र ही भरते हैं। नासूर तक को भरने की इसमें शक्ति है। मूल्य १ शीशी आध औंस ।) २० तोले का पैक ३॥)

बल्लभ रसायन

किसी भी रोग से किसी भी प्रकार का रक्त-स्राव होता हो यह विशेष लाभ करती है। रक्त बन्द करने के लिए अव्यर्थ औषधि है। अर्श, रक्त-पित्त, रक्तातिसार, राजयक्ष्मा आदि सब रोगों में इसका उपयोग होता है। (१ शीशी १ औंस) १)

सरलभेदी वटी

कब्ज रोग तो आजकल इतना फैला हुआ है कि प्रत्येक घर के छोटे बच्चों, जवानों, बूढ़ों सभी को शिकायत रहती है कि 'दस्त साफ नहीं होता, जिसके कारण भूख भी नहीं लगती तबियत भी उदास रहती है। कब्ज रहते-रहते फिर अनेक रोग आदमी को आ घेरते हैं, वास्तव में रोगों का घर पेट का नित्य साफ न होना ही है। जिस मनुष्य को नित्य प्रातः साफ दस्त हो जाता है उसे कोई रोग नहीं होने पाता। हमने यह दवा उन लोगों के लिये बनाई है जिनको नित्य ही कब्ज की शिकायत रहती हो और कई-कई बार दस्त जाना पड़ता हो, वे लोग हमारी इस दवा का सेवन करें। इसका रात्रि में सेवन करने से नित्य प्रातः साफ दस्त होजाता है तबियत साफ होकर, कार्य करने में उत्साह होता है। मूल्य १ शीशी (३१ गोली) १)

धन्वन्तरि बाम

यह शीतल, सुगन्धित तथा मनमोहन मलहम शिर पर लगाते ही चित्त प्रसन्न करती है। शिर दर्द तुरन्त दूर हो जाता है। गर्मी के कारण परेशान, दिमागी कार्य करने वालों के लिए शीघ्र शान्तिदायक है। मूल्य १ शीशी ॥)

अण्डवृद्धिहर लेप

इतना बड़ा कपड़ा लें जो बढ़े हुए फोतों को ढंक सके और उस पर उक्त लेप लगाकर आग के कोयलों पर सेंककर सुहाता-सुहाता फोते पर चिपकावें। दिन रात में एक बार लगावें, लेकिन २-१ बार रुई के फोहे से सेक दिया करें। फोतों को लंगोट से साधे रहें। लटके रहने पर सूजन बढ़ने का डर रहता है। इस लेप के कुछ दिन के व्यवहार से फोते प्राकृतिक दशा को प्राप्त होते हैं। १ शीशी आध औंस १)

आंव निस्सारक वटी

प्रातःकाल गुनगुने जल के साथ एक से तीन गोली तक सेवन कराने से गुदा द्वारा आंव निकलने लगती है। जिन रोगियों को आंव का विकार हो या

आमवात का रोग हो उन्हें इसके सेवन से विशेष लाभ होता है। आंव निकालने के लिए यह एक ही वस्तु है। यदि पेट में दर्द, या ऐंठा करे तब चिन्ता नहीं करें क्योंकि आंव निकालने के कारण कभी-कभी ऐसा हो जाता है। मूल्य १ शीशी (१ तोला) १)

धन्वन्तरि सुधा

यह सामयिक रोगों में जो प्रायः तत्काल होजाते हैं लाभकारी होती है और उनकी समस्त दशाओं में तत्काल लाभकारी है, जैसे अजीर्ण, पेट का दर्द अजीर्ण के दस्त, जी मिचलाना, कय होना (विसूचिका, हैजा) संग्रहणी के दौरे के समय कफ खांसी श्वास के वेग के समय, आंव-लोहू के दस्त बालकों के हरे पीले दस्त, दूध पलटना, शिर दर्द, कमर दर्द, चोट लग जाने और अस्त्र से कट जाने तथा विषैले जानवरों के कटे पर भी लाभ करने वाली है। १ शीशी (आध औंस) ॥=)

रजप्रवर्तक वटी

जिन स्त्रियों को मासिक धर्म नहीं होता अथवा थोड़ा थोड़ा होता है अर्थात् खुलकर नहीं होता या मासिक धर्म के समय दर्द होता है उनके लिये ही यह बनाई गई है हमने अनेक स्त्रियों को इसके द्वारा आरोग्य करके लाभ उठाया है। १ शीशी (३१-गोली) १)

मुख के छालों की दवा

गर्मी से अथवा मलावरोध या किसी कारण से मुंह में छाले होजांय, इसको छालों पर बुरक कर मुंह नीचे कर दें। लार गिरने लगेगी। दिन रात में छाले नष्ट होजायंगे। मूल्य १ शीशी (आध-औंस) ॥=)

कर्णामृत तैल

कान में सांय-सांय शब्द होना, दर्द होना, कान से मवाद बहना आदि कर्ण-रोगों के लिये उत्तम तैल है। कान की पिचकारी से स्वच्छ करने के बाद इस तैल की २-३ बूंद दिन में २-३ बार डालें। १ शीशी (आधा औंस) ॥=)

पायरिया मंजन

पायरिया रोग बहुत प्रचलित है। यह अन्य अनेक रोगों को भी पैदा करता है अतएव हर व्यक्ति को चाहिये कि इस रोग की थोड़ी सी भी उपेक्षा न करें। इस मंजन के नित्य व्यवहार करने से दांत चमकीले होते हैं और दांतों से खून जाना, मवाद जाना, टीस मारना, पानी लगना आदि सभी कष्ट दूर होते हैं। १ शीशी ॥)

बालापस्मारहर बटी

बालकों का अपस्मार रोग आजकल अधिक देखने में आता है। बालक बेहोश होजाता है, हाथ-पैर ऐंठ जाते हैं मुख से लार (झाग) देने लगता है, दांती बन्द हो जाती है ऐसी हालत बालक की देख कर प्रायः स्त्रियां भूत-बाधा समझ झाड़ फूक में रहती हैं और बालक को रोग प्रतिदिन बढ़ता जाता है। हमने यह दवा कड़े परिश्रम से बनाई है एक बार वैद्यों से व्यवहार करने का अनुरोध करते हैं। १ शीशी १)

मधुमेहान्तक रस

मधुमेह जिसे डाक्टरी में डायबिटीज कहते हैं उसकी यह अव्यर्थ महौषधि है। बहुमूत्र व सोम रोग में भी विशेष लाभप्रद है। डाक्टर जिस रोग को नष्ट करने में असमर्थ होते हैं वहां आयुर्वेद की यह एक ही औषधि रोग को नष्ट करके डाक्टर साहब को चकित कर देती है। वैद्यों एवं मधुमेह रोगियों से अनुरोध है कि इसका व्यवहार कर हमारे परिश्रम को सफल करें। मूल्य १० गोली २=)

वृहत् द्राक्षासब

आजकल द्राक्षासव का प्रचार अधिक है और हमारे यहां भी बनता है पर यह वृहद् द्राक्षासव विजयगढ़ के नामी प्रतिष्ठित विद्वान् सिद्धहस्त चिकित्सकों के अनुभव का फल है। इसमें इन्होंने अनेक बलवर्धक, पाचन-दीपक औषधियों का समावेश कर दिया है। तथा सेब अनार सन्तरा अंगूर प्रभृति अनेक फल भी डालने का विधान किया है यह इन्हीं सब औषधियों के द्वारा बनाया जाता है; और क्षय

उर:क्षत कफ-खांसी को नष्ट करने एवं वल बढ़ाने
के लिए अति उत्तम औषधि है। २-४ दिन के सेवन
से ही वल प्राप्त होने लगता है। भूख लगने लगती
है, कफ खांसी कम हो जाती है, कैसा ही निर्बल रोगी
हो इसके पीने से अवश्य बलवान हो जाता है ।
१ बोतल ५)

अग्निबल्लभ क्षार

अग्निवल्लभ क्षार के सेवन करने से अग्निं प्रज्व-
लित होती है। खाना खाया हुआ हजम होता है,
भूख न लगना, दस्त साफ न होना, खट्टी डकारों
का आना, पेट में दर्द तथा भारीपन होना, तबि-
यत मिचलाना, अपान वायु का बिगड़ना इत्यादि
सामयिक शिकायतें दूर होती हैं। परदेश में रह कर
सेवन करने वालों को जल दोष नहीं सताता।
ग्रहस्थों के लिए संग्रह करने योग्य महौषधि है।
क्योंकि जब किसी तरह की शिकायत हो चट अग्नि-
वल्लभ क्षार सेवन से उसी समय तबियत साफ हो
जाती है। १ शीशी १ औंस १)

ग्रहणीरिपु

हमने इसे बड़े परिश्रम से बनाया है। यह गृहणी
रोग के लिए अव्यर्थ है। हजारों रोगियों पर परीक्षा
कर हमने इसे वैद्यों के सामने रखा है। एक
बार परीक्षा कर देखिये, पुराने दस्तों के लिए चुनी
हुई एक औषधि है, पाचन शक्ति को बढ़ाने के लिये
इसके समान दूसरी औषधि नहीं है। १ शीशी आध
औंस ३।।)

खाजरिपु

यह बहुत ही परेशान करने वाला तथा घृणित
रोग है। जिस मनुष्य को यह होता है वह परे-
शान हो जाता है और उसे कोई पास नहीं बैठने
देता। अनेक रोगियों पर भली प्रकार परीक्षा करने
के बाद 'खाजरिपु' नामक तैल को जनता के समक्ष
प्रस्तुत किया गया था। अब तो इसे व्यवहार करने
वाले इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। गीली तथा
सूखी दोनों प्रकार की खाज के लिए यह अक्सीर
प्रमाणित हुआ है। मूल्य १ शीशी (२ औंस की) १)
छोटी शीशी (१ औंस की) ।।-)

अन्य सफल प्रमाणित औषधियां

गोपाल चूर्ण—दस्त साफ लाने के लिए १ शीशी (२ औंस) ।।=)

मृदुविरेचन चूर्ण—सौम्य विरेचक। १ शीशी (२ औंस) ।।=)

स्वादिष्ट चटनी—स्वादिष्ट तथा पाचक। १ शीशी (१ औंस) ।।।)

कर्पूरादि तैल—शीतल सुगन्धित बालों का तैल १ शी. (२ औंस) १=)

ब्राह्मी तैल—तिली के तैल पर बना अत्युत्तम सुगन्धित तैल १ शीशी (२ औंस) ।।।=)

आंवला तैल—तिली के तैल पर बना मोहक सुगंधि युक्त १ शीशी (२ औंस) ।।।)

सुजाकहर कैपसूल—१ शीशी (२१ कैपसूल) ३)

सुजाक की पिचकारी की दवा—१ शीशी (२ औंस) १)

उपदंशहर कैपसूल—१ शीशी (३० कैपसूल) २।।)

उपदंशहर मलहम—१ शीशी (आध औंस) १)

धन्वन्तरि के विशेषाङ्क

धन्वन्तरि का विशेषांक अपने विषय का अद्वितीय, सर्वाङ्गपूर्ण विशाल एवं सचित्र साहित्य होता है। धन्वन्तरि के विशेषाङ्कों ने आयुर्वेद-साहित्य सृजन में 'एक नवीन युग प्रारम्भ किया' यह कहना भी अत्युक्ति नहीं है। आयुर्वेद के धुरन्धर विद्वान, वयोवृद्ध एवं अनुभवी चिकित्सकों से लेकर साधारण पठित समाज तक इसके विशेषांकों को ध्यानपूर्वक पढ़ता, मनन करता और लाभ उठाता हुआ इनकी प्रशंसा खुले दिल से करता है। इतना सब कुछ होते हुए भी इनका मूल्य लागत मात्र क्या, लागत से भी कम है। धन्वन्तरि अभी तक लगभग ४५ विशेषाङ्क प्रकाशित कर चुका है। किंतु इस समय केवल १८ विशेषांक प्राप्य हैं। इनमें भी ४ विशेषांक पहले समाप्त हो गये थे और बढ़ती हुई मांग के कारण उनका दूसरा संस्करण तैयार किया है। इसके विशेषांकों का शीघ्र समाप्त हो जाना तथा उनका पुनर्मुद्रण यह प्रमाणित करता है कि धन्वन्तरि के विशेषांक हर वैद्य, डाक्टर एवं हकीम, चिकित्सा-प्रेमी व्यक्तियों के लिये संग्रहणीय एवं पठनीय हैं। प्राप्य विशेषांकों का संक्षिप्त विवरण नीचे दे रहे हैं। इनकी थोड़ी-थोड़ी प्रतियां शेष हैं। अतएव निवेदन है कि आप भी इनको शीघ्र मंगाकर संग्रह एवं मनन करें।

चरक चिकित्साङ्क—

पृष्ठ संख्या ७०४। चित्र संख्या ८०। इस विशेषांक में चरक संहिता चिकित्सा स्थान सटीक प्रकाशित किया गया है। स्थान-स्थान पर विशेष वक्तव्य द्वारा विषय को बड़ी सरलता के साथ समझाया है। विशेष वक्तव्यों की संख्या ५०८ है जिससे आप समझ सकते हैं कि विषय को सुबोध बनाने में बड़ा परिश्रम किया गया है। प्रारम्भिक १०० पृष्ठों में विविध विद्वानों के सारपूर्ण लेखों द्वारा चरक चिकित्सा की विशेषतायें, चरक-संहिता का इतिहास आदि अनेक ज्ञातव्य विषयों पर खोजपूर्ण विवेचन किया गया है। इस विशेषांक की भारत के सभी प्रतिष्ठित विद्वानों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। शुद्ध प्रामाणिक मूलपाठ एवं भाषानुवाद, सारभूत व्याख्या व वक्तव्य, आधुनिक मत से यत्र तत्र समन्वय आदि पढ़ने से वैद्यों एवं विद्यार्थियों को बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त होगा। धन्वन्तरि के सम्पूर्ण विशेषाङ्कों में यह सर्वोत्तम विशेषाङ्क है। थोड़ी प्रतियां शेष हैं यदि आप शीघ्र ही नहीं मंगाते तो निश्चय ही भूल करते हैं। समाप्त हो जाने पर नवीन संस्करण प्रकाशित करना कठिन है। यदि हुआ भी तो उसका मूल्य कम से कम १५) होगा अतएव अविलम्ब मंगाकर अपनी प्रति सुरक्षित कर लें। ग्लेज कागज पर छपे सुन्दर राजसंस्करण का मूल्य ८॥) रफ कागज पर छपे सुलभ संस्करण का मूल्य ७॥) है।

बालरोगाङ्क (द्वितीय संस्करण)—

पृष्ठ ३२४। १५ वर्ष पहिले चिकित्सा-चन्द्रोदय के यशस्वी लेखक स्वर्गीय बा० हरिदास वैद्यराज के सम्पादकत्व में यह विशेषांक प्रकाशित हुआ था। यह विशेषाङ्क धन्वन्तरि के उस समय के ग्राहकों द्वारा इतना अधिक पसन्द किया गया कि वह शीघ्र समाप्त हो गया। जिसने चिकित्सा-चन्द्रोदय पुस्तक को पढ़ा है वे समझते हैं कि बा० हरिदास जी की लेखनी में क्या शक्ति थी। उन्होंने इस विशेषाङ्क को सुन्दर तथा उपयोगी बनाने में कठिन परिश्रम किया था। बाल-रोगों के विस्तृत लक्षण, अनुभवपूर्ण चिकित्सा, सफल प्रयोगों का विशाल संग्रह इस विशेषांक में है। इसमें लेखकों ने अपने अनुभवों को दिल खोल कर रख दिया है। मन्थरज्वर, उदर कृमि, रोहिणी (डिप्थीरिया) बालशोष (सूखा रोग), शीतला (माता) खसरा (रोमान्तिका), डब्बा (पसली चलना) बालग्रह आदि रोगों पर

विस्तृत प्रकाश डाला गया है। मूल्य ६)

पुन्परोगांक (द्वितीय संस्करण)—

पृष्ठ २८८। लगभग १४ वर्ष पूर्व, अमृतधारा के आविष्कारक कविविनोद पं० ठाकुरदत्त जी शर्मा वैद्य के सम्पादकत्व में यह विशेषांक प्रकाशित हुआ था। इस विशेषांक में भारतवर्ष के प्रसिद्ध ५६ चिकित्सकों के पुरुषों के विशेष रोगों पर अनुभव पूर्ण लेख; सफल चिकित्सा एवं प्रयोगादि वर्णित हैं। नपुंसकता, प्रमेह, मधुमेह, स्वप्नदोष, अण्डवृद्धि आदि रोगों का विस्तृत वैज्ञानिक विवेचन अधिकारी लेखकों द्वारा लिखित प्रकाशित किया गया है। बा० हरिदास जी वैद्य, प्राणाचार्य पं० गोवर्धन जी छांगाणी, श्री रामेशवेदी, कविराज अत्रिदेव गुप्त विद्यालंकार, कविराज हरिदयाल जी गुप्त वैद्य वाचस्पति जैसे प्रसिद्ध एवं अनुभवी लेखकों के लेखों को पठन एवं मनन कर पुरुष-रोगों के विशेषज्ञ आप बन सकेंगे। इस समय जनता में ये रोग अधिक प्रचलित हैं, अतएव चिकित्सकों को यह विशेषांक अवश्य पढ़ना चाहिए। इसमें सैकड़ों अनुभवपूर्ण प्रयोग हैं जिनको आप सफलता-पूर्वक अपने रोगियों को व्यवहार करा सकेंगे। इस विशेषांक की १-१ लाइन पठनीय है। गागर में सागर भर दिया है। मूल्य ६)

गुप्तसिद्ध प्रयोगांक (द्वितीय संस्करण) प्र. भाग—

पृष्ठ २६६। यह वह विशेषांक है जिसके प्रकाशन से धन्वन्तरि की ग्राहक संख्या उसी वर्ष दूनी हो गई थी। इतना अधिक पसन्द किया गया था कि एक वर्ष में दो बार छापना पड़ा फिर भी वर्ष के अन्त में समाप्त हो गया। इसमें भारत के अनुभवी एवं ख्याति प्राप्त २१६ चिकित्सकों के ५०० सफल एवं सरल प्रयोगों का अभूतपूर्व संग्रह प्रकाशित किया गया है। इसका १-१ प्रयोग अनुभव की कसौटी पर कसा गयाहै। प्रयोगों को रोग की किस अवस्था में किस प्रकार व्यवहार करना चाहिये इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। पूज्यपाद आचार्य यादव जी त्रिक्रिम जी, स्वामी जयरामदास जी, श्री पं० मस्तराम जी, पं० जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल, पं० गोवर्धन शर्मा छांगाणी पं० रघुवरदयाल जी भट्ट आदि ख्याति प्राप्त एवं अनुभवी विद्वानों के उत्तमोत्तम प्रयोगरत्न इसमें प्रकाशित हैं। हर छोटे-बड़े रोग पर २-४ सफल प्रयोग आप इसमें प्राप्त कर सकेंगे। हर चिकित्सक को सदैव पास रखने योग्य ग्रन्थ है। म० ६)

गुप्तसिद्ध प्रयोगांक (द्वितीय भाग)—

इसमें ८० प्रसिद्ध एवं अनुभवी चिकित्सकों के २५० सफल प्रयोगों का संग्रह है। १-१ प्रयोग समय पड़ने पर सैकड़ों रुपयों का कार्य देगा। बड़ा आग्रह करके सरल-सफल प्रयोगों को प्राप्त कर प्रकाशित किया गया है। मू० २)

गुप्तसिद्ध प्रयोगांक (तृतीय भाग)

इसमें ७१ प्रसिद्ध एवं अनुभवी चिकित्सकों के लगभग २०० प्रयोगों का अभूतपूर्व संग्रह है। म० २)

भैषज्य कल्पनांक—

इसके सम्पादक आचार्य पं० रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी A.M.S. ने ३६२ पृष्ठों में वह साहित्य प्रस्तुत किया है जो आप अन्यत्र १००० पृष्ठों में भी प्राप्त नहीं कर सकेंगे। १७२ परिभाषायें, १८ मूषायें, १० पुट, ३६ यन्त्र,२०० कषाय, ११० चूर्ण, २८ गुग्गुल, १२ पाकावलेह, ३४ पानक, १२६ आसवारिष्ट, ७६ घृत, ३४ तैल के योग निर्माण विधि, गुण आदि वर्णित हैं इस विशेषाङ्क में १३ प्रकरण, ४६ लेखों का शृङ्खलाबद्ध एवं वैज्ञानिक रूपेण समावेश किया गया है। ६८ चित्रों द्वारा विषय को सुबोध बनाया गया है। यह विशेषांक वैद्य, निर्माणशालाओं के व्यवस्थापकों के लिए अवश्य संग्रहणीय है। मू० ४)

भैषज्य कल्पनांक परिशिष्टांक—

इसमें धातु-शोधन-मारण, भस्मीकरण, परीक्षा आदि भलीभांति समझाई गई हैं। मू० १) मात्र। भैषज्यकल्पनांक तथा परिशिष्टांक एक साथ मंगाने पर दोनों का मूल्य ४।।)

संक्रामक रोगाङ्क—

पृष्ठ संख्या ३२०। इस विशेषांक का सम्पादन कविराज मदनगोपाल जी A. M. S. M. L. A.,

ने बड़े परिश्रम से किया है। अधिकांश वैद्य संक्रामक रोगी के बुलाने पर नहीं जाते, क्योंकि वे उसके विषय में अनभिज्ञ होते हैं तथा स्वयं संक्रमित न हो जांय इसका भी डर लगता है। इस विशेषांक को पढ़ने पर चिकित्सकों को संक्रामक रोगों से बचने के उपाय, रोगी की सफल चिकित्सा-विधि शास्त्रीय विवेचन सभी कुछ ज्ञान प्राप्त हो जावेगा। आप हैजा, प्लेग, चेचक, मलेरिया प्रभृति भीषण रोग का प्रतिकार सफलतापूर्वक करते हुए सफल एवं प्रसिद्ध चिकित्सक बन जाने की क्षमता प्राप्त करेंगे। मूल्य ४) पोस्ट-व्यय प्रथक।

कल्प एवं पंचकर्म चिकित्सांक—

पृष्ठ संख्या ३०४। इस विशेषांक का सम्पादन तिब्बिया कालेज देहली के प्रोफेसर कविराज उपेन्द्र-नाथदास जी ने बड़े परिश्रम से किया है। 'पञ्चकर्म' एवं "कल्प" आयुर्वेद की प्राचीन एवं सर्वोपरि चिकित्सा विधियां हैं। इन चिकित्साओं द्वारा आयुर्वेद के अनुभवी चिकित्सक भीषण रोगों से पीड़ित असाध्य रोगियों को भी काल के गाल से खींच लाते और उनको स्वस्थ सुन्दर बनाकर चमत्कार दिखाते हैं। इस विशेषांक में भी अनुभवी व्यक्तियों द्वारा इन कल्प तथा पञ्चकर्म विधियों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। श्री० पं० कृष्णप्रसाद जी त्रिवेदी B. A. आयुर्वेदाचार्य का ६० पृष्ठ का "पञ्चकर्म" शीर्षक लेख अत्यधिक उपयोगी एवं माननीय है। २६० पृष्ठों में विविधि कल्पों का विस्तृत वर्णन है। आप इस बिशेषांक को पढ़कर आयुर्वेद की महानता एवं वैज्ञानिकता अवश्य स्वीकर करेंगे। हर चिकित्सक के लिये अवश्य पठनीय है। मू० ४) मात्र।

इन्जेक्शन विज्ञानांक (दो भाग)—

श्री. चौधरी तेजबहादुरसिंह D. I. M. S. I. M. S. ने इन्जेक्शन विषयक सम्पूर्ण साहित्य पूर्ण विस्तार के साथ लिखा है। अनेकों सुन्दर सुबोध चित्रों द्वारा इन्जेक्शन विषय को स्पष्ट समझाया है। इसमें इन्जेक्शन विषयक जो साहित्य आपको मिलेगा वह हिन्दी की अन्य किसी पुस्तक में नहीं मिलेगा। यह हम दावे के साथ कहते हैं। अपने विषय का हिंदी में अद्वितीय साहित्य है। दोनों भागों की पृष्ठ संख्या ३१५, थोड़ी प्रतिशेष हैं। मू० ४)

विष-चिकित्सांक—

श्री. पं. ताराशंकर जी मिश्र आयुर्वेदाचार्य द्वारा सम्पादित एवं आयुर्वेद के धुरन्धर विद्वानों एवं अनुभवी चिकित्सकों का सहयोग प्राप्त अष्टांगायुर्वेद के अगद-तन्त्र पर सर्वाङ्गपूर्ण साहित्य है। "विष की चिकित्सा एवं विष द्वारा चिकित्सा" इस विशेषांक का मूल उद्देश्य रहा है। यह विशेषांक भीषण संकट के समय में काम आने वाले उपयोगी साहित्य से लबालब है। हर पठित व्यक्ति स्वयं लाभ उठा सकता है तथा पड़ौसियों को लाभ पहुँचा सकता है, अतएव इसकी १-१ प्रति हर चिकित्सक तथा पढ़े-लिखे व्यक्ति को रखनी चाहिए। ३६४ पृष्ठों में स्थावर जंगम सम्पूर्ण विषों के विषय में सारपूर्ण क्रमबद्ध साहित्य संकलित किया गया है। मू० प्रथम भाग ४) द्वितीय भाग १) पोस्ट-व्यय प्रथक।

यकृतप्लीहा रोगांक—

यकृत् और प्लीहा मानव शरीर के महत्वपूर्ण अङ्ग हैं। इनमें विकृति होने से मनुष्य को भीषण कष्टों का सामना करना पड़ता है। इसके विविध रोगों के यदि आप सफल चिकित्सक बनना चाहते हैं तो आपको इस विशेषांक की एक प्रति अवश्य मंगा लेनी चाहिये। पृष्ठ १६४, अनेकों चित्रों से सुसज्जित मूल्य २) मात्र, पोस्ट व्यय-प्रथक।

चिकित्सा समन्वयांक प्रथम भाग—

इसके सम्पादक हैं पं. ताराशंकर जी मिश्र आयुर्वेदार्य। इसमें आयुर्वेद एवं एलोपैथी का समन्वय किस प्रकार हो सकता है उससे लाभ क्या है तथा हानि क्या है यह सभी विषय अधिकारी लेखकों के द्वारा वर्णित है। इसके पश्चात् ज्वर, (पित्तज्वर, वातज्वर, श्लेष्मज्वर, इन्फ्लुएञ्जा, बैरी-बैरी कालाज्वर, विषमज्वर आदि), अतिसार, अर्श, कृमि-रोग, विसूचिका, अम्लपित्त, पाण्डुरोग, कामला, वमन, यकृद्दाल्युदर तथा प्लीहोदर, जलोदर, फुफ्फुस-राजयक्ष्मा, क्षय, कास, तमक, श्वास, श्वसनक ज्वर,

हृद्रोग, मदात्यय, उन्माद, अपस्मार, मृगी, अतत्वाभिनिवेश, प्रज्ञापराध रोगों की आयुर्वेद एवं एलोपैथी मिश्रित चिकित्सा से किस प्रकार सफलतापूर्वक चिकित्सा की जा सकती है वह वर्णित है। इस विशेषांक के निर्माण में डा० प्राणजीवन मेहता, पूज्य यादव जी महाराज, पं० सत्यनरायण जी, पं. शिवशर्मा जी, कविराज सतीन्द्रनाथ वसु, कविराज हरिनारायण शर्मा श्री० अत्रिदेव अयुर्वेदालङ्कार आदि ५५ विद्वानों ने सहयोग दिया है। पृष्ट संख्या ३६४ अनेकों रङ्गीन एवं सादे चित्र। मूल्य ४)

चिकित्सा समन्वयांक द्वितीय भाग—

इसमें १५२ पृष्ठों में आक्षेपक, धनुस्तम्भ, अर्दित गृध्रसी, उरुस्तम्भ, अश्मरी और शर्करा, फिरङ्ग, नपुंसकता, शीतपित्त, रक्तपित्त, कुष्ठ, आर्तवादर्शन, श्वेत प्रदर, उन्माद, कफरोग, बालापस्मार, डिप्थीरिया आदि कष्टसाध्य रोगों की मिश्रित सफल चिकित्सा विधि वर्णित है। मूल्य २)

नोट—दोनों भाग एक साथ मंगाने पर मूल्य ५) पोस्ट-व्यय-पृथक्।

प्रसूति विज्ञानांक—

प्रसूतितन्त्र पर यह सर्वांगपूर्ण साहित्य है। इसके सम्पादक हैं- श्री. पं० रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी A. M. S.। इसमें ५०४ पृष्ठ तथा १२५ चित्र हैं। प्रसूति एवं प्रसूता को होने वाली सम्पूर्ण व्याधियों के विषय में क्रमबद्ध सुन्दर सुविस्तृत विवरण दिया है। वैद्यों, गृहस्थियों तथा विद्यार्थियों सभी के लिये पठनीय साहित्य है। इसकी प्रसंशा सभी विद्वनों ने की है। मूल्य ८॥)

धन्वन्तरि की फायलें

वर्ष २१ की फायल—इसमें रक्तरोगांक विशेषांक है। मूल्य ५) पो० व्यय-प्रथक।

वर्ष २३ की फायल—इसमें कल्प एवं पञ्चकर्म चिकित्सांक तथा गुप्तसिद्ध प्रयोगांक द्वितीय भाग, दो विशेषांक तथा ६ साधारण अङ्क हैं। मूल्य ५)

वर्ष २४ की फायल—इसमें संक्रामकरोगांक तथा गुप्त सिद्धप्रयोगांक तृतीय भाग ६ साधारण अङ्क हैं। मूल्य ५) पो० व्यय प्रथक।

वर्ष २५ की फायल—इसमें सिद्ध चिकित्सांक तथा इन्जेक्शन विज्ञानांक (द्वि० भा०) दो विशेषांक तथा ६ साधारण अङ्क हैं। मूल्य ५) पो० व्य० प्रथक।

वर्ष २६ की फायल—इसमें भैषज्य कल्पनांक तथा इन्जेक्शन विज्ञानांक द्वितीय भाग तथा ६ साधारण अङ्क हैं। मूल्य ५) पो० व्य० प्रथक।

वर्ष २७ की फायल—इसमें विषचिकित्सांक तथा यकृत्प्लीहारोगांक दो विशेषांक हैं। ६ साधारण अङ्क हैं, विशेषांक तथा अन्य अङ्कों में बड़ा ही उपयोगी साहित्य है। मूल्य ५) पोस्ट व्यय प्रथक।

वर्ष २८ की फायल—इसमें चिकित्सा समन्वयांक दो भाग हैं। दो अङ्कों में श्री पं० कृष्णप्रसाद जी द्वारा लिखित ज्वर-प्रश्नोत्तरी (सम्पूर्ण ज्वरों पर विस्तृत वर्णन और सफल चिकित्सा विधि) है। मूल्य ५) पोस्ट-व्यय प्रथक।

वर्ष २६ की फायल—अप्राप्य

वर्ष ३० की फायल—इसमें प्रसूति विज्ञानांक तथा १० साधारण अंक हैं। मू० ८॥) पोस्ट व्यय पृथक्। जून १६५७ तक ५॥), थोड़ी प्रति शेष हैं। शीघ्र मंगालें।

वैद्यों के लिये उपयोगी सामग्री

आजकल वैज्ञानिक युग में अनेक ऐसे यन्त्रादि चल पड़े है जिनके व्यवहार से चिकित्सा में बड़ी सुविधा होती है तथा इन उपकरणों के बिना चिकित्सक अधूरा और निकम्मा समझा जाता है। चिकित्सकों को इन वस्तुओं को मंगाकर व्यवहार में लाकर लाभ उठाना चाहिए।

१—आंख धोने का ग्लास—किसी वस्तु का कण या उड़ता हुआ कोई छोटा सा कीड़ा आंख में पड़ जाने पर निकालना कठिन हो जाता है। और वह बड़ा कष्ट देता है इस ग्लास में जल भर कर आंख में लगा धोने पर आसानी से निकल जाता है। मू० ।।।)

२— गले व जवान देखने की जीवीं—Tongue Depressure) गला देखने के लिए जब रोगी मुंह खोलता है तब जीभ (जिह्वा) का उठाव गले को ढंक लेता है और गले में क्या व्यथा है, चिकित्सक नहीं देख पाता। इस यन्त्र से जीभ दबाकर मुंह खोलने पा गला तथा अन्दर की जीभ स्पष्ट दीखती है। मू० १।।।)

६—दूध निकालने का यन्त्र-स्त्री के स्तन में पकाव या फोड़ा होजाने पर अथवा नवजात शिशु की मृत्यु होजाने पर स्तनों में भरा हुआ दुग्ध बड़ा परेशान करता है। इस यन्त्र द्वारा आसानी से दुग्ध निकाला जा सकता है। मू० २।)
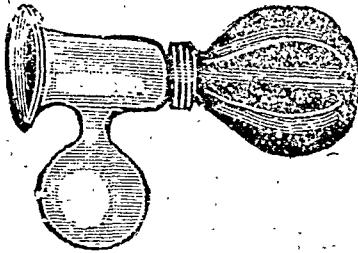
४—डूस—इससे फोड़ा आदि धोने में बड़ी सुविधा रहती है। मू० रबड़ की नली व टोंटनी आदि से पूर्ण २ पिंट का ५) ४ पिंट का ७।।)

५—कान धोने की पिचकारी—धातु की १ औंस ४।।) २औंस की ६), ४ औंस की ७।।)

६--कान देखने का आला—कान में फुन्सी है, सूजन है या किसी अनाज का दाना पड़ गया है और वह फूलकर कष्ट दे रहा है यह देखना कठिन हो जाता है। इस आले (यन्त्र) से कान के अन्दर का दृश्य स्पष्ट दीख पड़ता है। मू० १२)
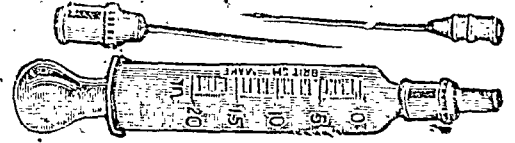
७—इन्जैक्शन-सिरिज- (कम्पलीट) सम्पूर्ण कांच की-२ सी० सी २) ५ सी. सी. ३), १० सी. सी. ६), २० सी. सी. ८) रेकार्ड सिरिंज—२ सी. सी. ५), ५ सी. सी. ७) १० सी. सी. १२)

८—थर्मामीटर (तापमापक यन्त्र)-जापानी १।।) जील का सर्वोत्तम ४)

९—एनीमा सिरिंज (वस्ति-यन्त्र)—इस यंत्र से जल या औषधि-द्रव्य गुदा में आसानी से चढ़ाया जा सकता है। मू० रबड़ का जर्मनी ६) भारतीय उत्तम ४)

१०—रबड़ के दस्ताने—चीड़ फाड़ करते समय, संक्रमण से रोगी को और अपने को बचाने के लिए चिकित्सक इन दस्तानों को हाथ में पहिनते हैं। मूल्य-१ जोड़ी २)

११—गरम पानी की थैली—उदर पीड़ा, शोथ या अन्य आवश्यक स्थानों पर इस थैली में गरम पानी भर कर सुगमता से सिकाई की जा सकती है। मू०५)

१२—बरफ की थैली—तेज बुखार, प्रलापावस्था, सिर पीड़ा या अन्य व्याधियों में चिकित्सक शिर पर बरफ रखवाते हैं। इस थैली में बरफ भरकर रखने में सुविधा रहती है, रोगी को इसकी ठंडक पहुँचती है किंतु उसके जल से वह भीगता नहीं है। मू० २।।)

१३—दवा नापने का ग्लास—(Meassure Glass) कम्पाउण्डर अनुमान से दवा देकर कभी-कभी बड़ा अनर्थ कर डालते हैं। अतएव हर चिकित्सक को इन ग्लासों को अवश्य मंगाकर रखना चाहिए। गलती भी न होगी तथा सुविधा भी

रहेगी। मू० २ ड्राम का (बूंद नापने के काम आता है) ॥~), १ औंस का ॥।=), २ औंस का १), ४ औंस का १।)

१४—स्टेथस्कोप—(वक्षपरीक्षायन्त्र)—चिकित्सक ठेपन (अंगुलिताड़न) से वक्षपरीक्षा करते हैं किन्तु वह अधिक अभ्यास से ही समझ में आ सकती है इस यन्त्र से सुविधा रहती है। साथ ही आज कल के जमाने में चिकित्सक का सम्मान भी इसी में हैं कि वे इस प्रकार के यन्त्रों को व्यवहार में लाते हुए रोगियों पर अपनी धाक जमाये। मू०—१२) सस्ते वाला साधारण ७)

१५—खरल चीनी का गोल—ये खरल दवा मिलाने घोटने के लिए उपयोगी हैं। मूल्य-२॥ इन्ची १॥) ३इन्ची २) ४ इन्ची २॥) तथा ५इन्ची ३॥)

१६—सुजाक की पिचकारी—सुजाक में जो मवाद निकलता है वह मूत्र नली में अन्दर चिपक कर व्रण पैदा कर देता है। जब तक वह अन्दर से साफ नहीं होती रोग का नष्ट होना कठिन हो जाता है। इस पिचकारी से अन्दर दवा पहुँचाकर आसानी से सफाई कर सकते हैं। मूल्य मनुष्य के लिए ॥) जनानी ॥-)

१७—मूत्र कराने की नली (कैथीटर)-मूत्र रुकने से रोगी को महान कष्ट होता है। कभी-कभी मृत्यु भी हो जाती है। इस नली की सहायता से मूत्र आसानी से निकाला जा सकता है। मू० ।॥)
कैथीटर-स्त्रियों के लिए धातु की १।)

१८—मोतीझला देखने का शीशा-मोतीझला Typhoid के दाने बहुत सूक्ष्म होने के कारण देखने में नहीं आते हैं और इसलिए कभी कभी निदान करने में बड़ी भूल हो जाती है। इस शीशा के द्वारा वे दाने बड़े-बड़े दीख पड़ते हैं तथा आप आसानी से पहिचान सकते हैं। हर चिकित्सक को अपने पास एक शीशा अवश्य रखना चाहिए। मू० छोटा बढ़िया शीशा २) बढ़िया धातु के हैंडिल का ३) बड़ा बढ़िया ४)

१९—स्प्रिट लैम्प-थोड़ी दवा गरम करनी हो; अथवा सूखी दवा से इन्जेक्शन के लिए दवा तैयार करनी हो तब इस लैंप की सहायता लेनी पड़ती है। मू०-कांच की २) धातु की २ औंस की ३॥)
४ औंस की ४॥)

२०-आंख में दवा डालने की पिचकारी-१ दर्जन ।॥=)

२१-दर्द में लगाने का ग्लास-(Couping glass) बड़ा १॥) बीच का १।) और छोटा १)

२२-नपुंसकता निवारक यंत्र--(Organ Developing Instrument) इसके व्यवहार करने से इन्द्री की शिथिलता दूर होती है। इन्द्री छोटी हो तो बढ़ जाती है। इस यन्त्र में दो हिस्से हैं। एक कांच का गोल ग्लास जैसा होता है जिसमें इन्द्री रखली जाती है, ऊपर टोंटनी होती है उसमें सक्सन पम्प [इस यन्त्र का दूसरा हिस्सा] रबड़ नली के द्वारा लगाकर पम्प चालू करने से ग्लास के अन्दर की हवा खिंच आती है और इन्द्री फूलने लगती है। इस प्रकार फूलने से ताजा रक्त इन्द्री की ओर दौड़ता है और उसमें कड़ापन आता है। इसी प्रकार १-१॥ माह ५-५ १०-१० मिनट करने से इन्द्री की शिथिलता नष्ट होजाती है। चिकित्सकों को चाहिए कि वे अपने रोगियों पर औषधि प्रयोग के साथ साथ इसका व्यवहार भी अवश्य करावें, उनको शीघ्र सफलता मिलेगी। मू० १४)

२३—कांटे (scales)—अंगरेजी बेलेंस की तरह के कीमती दवाओं को सही व आसानी से तोलने के लिये व्यवहार में लाना चाहिए। निकिल पोलिश लकड़ी के बक्स के अन्दर रखे हैं। मू० ८)

२४—सिरिंज केस-निकिल के ग्लास-सिरिंज सुरक्षित रखने के लिए। मू० १ केस २ c. c. की सिरिंज के लिये १॥) ५ c. c. के लिये २॥)

२५-ग्लिसरीन की पिचकारी-गुदा में ग्लिसरीन चढ़ाने के लिये प्लास्टिक की उत्तम क्वालिटी की पिचकारी। मू० १ औंस ३) २ औंस ४॥)

२५-दांत निकालने का जमूड़ा [Tooth forcep universal] इससे दांत मजबूती से पकड़कर उखाड़ा जा सकता है। मू० ५)

२७-मलहम मिलाने की छुरी—स्पेचुला [spetula] मू० १।)

२८—मलहम मिलाने का प्लेट-१)

२९—थर्मामीटर केस--धातु के निकिल किए, क्लिप सहित १।)

धन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ़ द्वारा प्रकाशित
आयुर्वेदिक पुस्तकें

वृ० पाकसंग्रह—

लेखक श्री० पं० कृष्णप्रसाद जी त्रिवेदी बी. ए. आयुर्वेदाचार्य। श्री. त्रिवेदी जी की संकलन योग्यता से जो पाठक परिचित हैं वे तो इस पुस्तक को अत्युपयोगी समझेंगे ही, इस पुस्तक में ४०० से अधिक पाकों का संग्रह प्रकाशित है। हर पाक की निर्माण विधि, मात्रा, सेवन विधि, गुण आदि दिये हैं। प्रयोग कहां से प्राप्त किया यह भी सप्रमाण दिया है। रोगी रोगमुक्ति के पश्चात् रोगजन्य निर्बलता निवारणार्थ कोई ऐसी वस्तु पाने का अभिलाषी होता है जो औषधि होते हुए भी रुचिकर हो तथा निर्बलता एवं रोग निवारण कर सके। ऐसे समय में चिकित्सकों को उस रोग में उपयोगी पाक-निर्माण कर उसे देना चाहिये प्रायः सभी रोगों पर २-४ प्रयोग इस पुस्तक में आपको मिलेंगे। गृहस्थ स्वयं पाक निर्माण कर स्वादिष्ट भोजन के साथ रोग निवारण कर सकते हैं। पुस्तक हर प्रकार से सुन्दर व उपयोगी है। मूल्य सजिल्द का ४) अजिल्द का ३।)

सूर्यरश्मि चिकित्सा [नवीन संस्करण]

सूर्यरश्मि-चिकित्सा को अंग्रेजी में क्रोमोपैथी (chromopathy) कहते हैं। अंग्रेज इस चिकित्सा के आविष्कर्त्ता अमेरिका के डाक्टरों को मानते हैं। पर वास्तव में यह चिकित्सा अति प्राचीन और हमारे शास्त्रों में यहां तक कि वेदों में भी इसका उल्लेख मिलता है। इस चिकित्सा में सूर्य की किरणों से ही समस्त रोग दूर करने का विधान है। पुस्तक बड़े परिश्रम से लिखी गई है। इसको पढ़कर पाठक देखेंगे कि सूर्य कितना शक्तिशाली है। उसकी किरणें हमारे शरीर को कितनी लाभदायक हैं और इसके द्वारा रोग किस प्रकार बात की बात में दूर किये जा सकते हैं। पुस्तक अपने विषय की पहली ही है। अनेक रङ्गीन चित्र भी दिये गये हैं। मूल्य ।।।)

उपदंश विज्ञान (द्वितीय संस्करण)

लेखक—श्री. कविराज पं० बालकराम जी शुक्ल आयुर्वेदाचार्य। इस पुस्तक में उपदंश (गरमी-चांदी) रोग का वैज्ञानिक कारण, निदान लक्षण चिकित्सा का वर्णन किया है। पुस्तक के कुछ शीर्षक ये हैं—उपदंश परिचय, प्राच्य, पाश्चात्य का साम्यवाद, संक्रमण निदान, सिफिलिस के भेद, उपदंश, प्राथमिक कील, लिंगार्श, औपसर्गिक सकल रोग, उपदंशज विकृतियां, मस्तिष्क-विकार, फिरंग चिकित्सा, पारद प्रयोग, पथ्यापथ्य आदि आदि उपदंश सम्बन्धी सभी विषय इसमें वर्णित हैं। कोई भी आवश्यक विषय छूटने नहीं पाया है। मू० १)

प्रयोग पुष्पावली

इसके पहले दो संस्करण लगभग १० वर्ष पूर्व ही समाप्त होगया था। मांग बराबर बनी रही किन्तु कतिपय कारणों से इच्छा रहते हुए भी इसका नवीन संस्कार शीघ्र प्रकाशित नहीं किया जा सका। संक्षिप्त रूपेण अनेकों सामान्य एवं आश्चर्यजनक वस्तुयें निर्माण करने की विधियाँ इस पुस्तक में प्रकशित हैं। प्रारम्भ में प्रकाशित सफल प्रयोग संग्रह के १-१ प्रयोग से पाठक इस पुस्तक का मूल्य बसूल समझें। ये प्रयोग बहुत समय से परीक्षित और सफल प्रमाणित हो चुके हैं। अनेकों उद्योग-धन्धों का संकेत इसमें मिलेगा जिससे पाठक बहुत लाभ उठा सकते हैं। समष्टि रूप में पुस्तक बेकार मनुष्यों को व्यवसाय की ओर झुकाने वाली है। गृहस्थियों के लिए नवीन और उपयोगी बातों का भण्डार है जिससे वे अपने दैनिक कार्यों में पर्याप्त लाभ उठा सकते हैं।

पहिले दो संस्करण शीघ्र समाप्त हो जाना इसकी उत्तमता का प्रमाण है। पृष्ठ संख्या ११२ मूल्य १।)

६—रसायन संहिता (भाषा-टीका सहित)

आयुर्वेद साहित्य के अनमोल रत्न अपनी अलौकिक प्रतिभाके साथ-साथ अन्धकार के आवरण से ढके हुये हैं। अमूल्य पुस्तकें यत्र तत्र पड़ी हुई हैं, जिनके प्रकाशन की आवश्यकता है।

यह पुस्तक एक ऐसा ही रत्न है। अनुभवी और विचारशील लेखक महोदय ने हिमालय पर्यटन के परिश्रम से इसकी खोज की है। उन्हीं के प्रशंसनीय प्रयत्न से यह पुस्तक वैद्य समुदाय की सेवा में उपस्थित कर सके हैं। इसमें अनेक अव्यर्थ प्रयोग, सत्व-प्रस्तुत विधि, उपधातु का शोधन-मारण प्रभृति अनेक विषय दिए गये हैं। मूल्य १)

कुचिमार तन्त्र (भाषा टीका)

श्रीमद् कुचिमार मुनि प्रणीत। प्रस्तुत पुस्तक प्राचीन और अत्यन्त गोपनीय है। इसमें इन्द्रिय वृद्धि, स्थूलीकरण, कामोद्दीपन, लेप, वाजीकरण, द्रावण, स्तम्भन सङ्कोचन व केशपात, गर्भाधान, सहज प्रसव आदि पर अनेक योग भली भांति बताये गये हैं। इस नवीन संस्करण में प्रमेह नपुंसकता मधुमेह आदि रोगों पर स्वानुभूत प्रयोगों का एक छोटासा संग्रह भी दिया है। मूल्य ॥)

दशमूल सचित्र

लेखक—लाला रूपलाल जी वैश्य, (बूटी विशेषज्ञ)। दशमूल किसे कहते हैं? किन-किन औषधियों से बना है? उन औषधियों की आकृति कैसी है? यह विरले ही जानते हैं। इस पुस्तक में दशमूल की दश औषधियों का सचित्र वर्णन है। साथ ही इनके पर्याय नाम गुण और प्रयोग भी बताए गए हैं। तथा दशमूल पंचमूल से बनने वाले अनेक योगों की विधियां भी दी गई हैं चित्र इतने स्पष्ट हैं कि देखते ही झट पहिचान सकते हैं। मूल्य ।।)

दन्त विज्ञान (द्वितीय संस्करण)

यह भिषगरत्न स्वर्गीय श्री गोपीनाथ जी गुप्त की सारपूर्ण रचना है, इसमें दांतों की रचना, आंतरिक दशा, रक्षा के उपाय, अनेक दन्त रोगों के भेद वर्णन और सरल चमत्कारी उपचार दिए हुए हैं, चार चित्र युक्त। मूल्य ।≈) मात्र।

न्यूमोनियां प्रकाश (द्वितीय संस्करण)

आयुर्वेद मनीषी स्वर्गीय पं० देवकरण जी वाजपेयी की यह वही उत्तम रचना है जिस पर धन्वन्तरि पदक मिला था और जो निखिल भारतीय वैद्य सम्मेलन से सम्मान और पदक प्राप्त कर चुकी है। न्यूमोनियां की शास्त्रीय व्युत्पत्ति, कारण, निदान, परिणाम, चिकित्सा आदि सभी बातें एक ही पुस्तक में भली-भांति वर्णित हैं। मूल्य ।≡)

प्राकृतिक ज्वर

लेखक—स्वर्गीय लाला राधावल्लभ जी वैद्यराज। मलेरिया [फसली बुखार] का पूर्ण विवेचन है, आयुर्वेदीय मत से मलेरिया कैसे पैदा होता है उसके दूर करने के आयुर्वेदीय प्रयोग, क्विनाइन से हानियां आदि विषयों पर पूर्ण प्रकाश डाला है। पुस्तक स्वानुभव के आधार पर लिखी होने के कारण महत्वपूर्ण है। मूल्य ।−)

वैद्यराज जी की जीवनी

स्वर्गीय श्री. लाला राधावल्लभ जी की जीवनी बड़ी ओजस्विनी भाषा में लिखी है। इसके पढ़ने से आलसी पुरुष भी उद्योगी और परिश्रमी बनने की इच्छा करता है। मू० ≡)

वेदों में वैद्यक ज्ञान

लेखक—स्वर्गीय ला० राधावल्लभ जी वैद्यराज वेद के मन्त्र जिनमें आयुर्वेदीय विषयों का वर्णन है तथा जिनसे आयुर्वेद की प्राचीनता प्रमाणित होती है, शब्दार्थ तथा भावार्थ सहित दिये हैं। मू० ≡)

कूपीपक्व रसायन

लेखक- वैद्य देवीशरण जी गर्ग प्र० सम्पादक-धन्वन्तरि। धन्वन्तरि कार्यालय में निर्माण होने वाले कूपीपक्व रसायनों के गुण, मात्रा, अनुपान, सेवनविधि आदि विस्तृत रूप से वर्णित हैं। मू० प्रचारार्थ −)

भस्म पर्पटी

लेखक—वैद्य देवीशरण जी गर्ग प्र० सम्पादक धन्वन्तरि। इसमें धन्वन्तरि कार्यालय में निर्माण होने वाली सम्पूर्ण भस्मों और पर्पटियों का विस्तृत रूप से वर्णन है। रोग के लक्षणानुसार इन औषधियों को किस प्रकार सरलता के साथ व्यवहार किया जासकता है यह आप इस पुस्तिका से जान सकेंगे। मू० ~)

रस रसायन गुटिका गूगल

धन्वन्तरि के प्रधान सम्पादक एवं अनुभवी चिकित्सक वैद्य देवीशरण जी गर्ग ने इस पुस्तक में धन्वन्तरि कार्यालय में निर्मित रस-रसायन गुटिका गूगल के गुण-मात्रा-अनुपान-व्यवहार विधि बड़े ही उपयोगी ढङ्ग से लिखी है। चिकित्सकों के लिये यह पुस्तक विशेष उपयोगी बनी है, क्योंकि लेखक ने अपने १५ वर्ष के चिकित्सानुभव का निचोड़ इसमें रख दिया है। मू० ।) चार आना मात्र।

रक्त (Blood)

इसमें धन्वन्तरि कार्यालय के संस्थापक श्री. वैद्यराज राधावल्लभ जी ने रक्त की बनावट उपयोगिता एवं रक्त-सम्बन्धी सभी मोटी-मोटी बातें आयुर्वेद एवं एलोपैथी उभय पद्धतियों से सरल हिन्दी भाषा में समझाकर लिखी हैं। नवीन संस्करण मू० ।)

अन्य प्रकाशकों की पुस्तकें

आयुर्वेदीय ग्रन्थ रत्न

अष्टांगहृदय (सम्पूर्ण)—विद्योतनी, भाषा टीका, वक्तव्य, परिशिष्ट एवं विस्तृत भूमिका सहित टीकाकार श्री. अत्रिदेव गुप्त मू० १६)

अष्टांग-संग्रह—(सूत्रस्थान) हिन्दी टीका-व्याख्याकार पं० गोवर्धन शर्मा छांगाणी मूल्य ८)

वृहद् आसवारिष्ट संग्रह—श्री. पं. कृष्णप्रसाद जी त्रिवेदी द्वारा आसवारिष्ट निर्माण पर विस्तृत वर्णन के अतिरिक्त आसवारिष्टों के प्रयोग, गुण, मात्रा आदि का वृहद् संग्रह किया है। दो भागों में मू० ६॥)

ऊर्ध्वाङ्ग रोग चिकित्सा—लेखक आयुर्वेद पंचान पं० जगन्नाथप्रसाद जी शुक्ल। गले से ऊपर के अङ्गों से सम्बन्धित समस्त रोगों का विषद विवरण तथा अनुभव-पूर्ण चिकित्सा विधि इन पुस्तकों में पढ़िये—

शिरोरोग विज्ञान ४)	नासारोग विज्ञान २)
कर्णरोग विज्ञान २)	मुखरोग विज्ञान २)

काश्यप संहिता—टीकाकार श्री सत्यपाल भिषगाचार्य, विद्योतिनी भाषा टीका विस्तृत संस्कृत हिन्दी उपोद्‌घात सहित। ग्रन्थ का मुख्य विषय 'कौमारभृत्य' अष्टांगायुर्वेद का अपरिहार्य अङ्ग है, यह विषय पूर्ण विस्तृत और प्रामाणिक रूप से इस पुस्तक में वर्णित है। मूल्य १६)

कौमारभृत्य—(नव्य बाल रोग सहित) बाल रोगों पर प्राच्य पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान के आधार पर लिखित सर्वांगपूर्ण विशाल ग्रन्थ, मूल्य ६)

गंगयति निदान—मूल लेखक पंजाब निवासी जैनयति गंगाराम जी। हिन्दी अनुवादकर्त्ता आयुर्वेदाचार्य श्री नरेन्द्रनाथ जी शास्त्री। मूल्य ६)

चरक संहिता—(सम्पूर्ण) श्री जयदेव विद्यालंकार द्वारा सरल सुविस्तृत भाषा-टीका युक्त, दो जिल्दों में, चतुर्थ संस्करण मूल्य २५)

चक्रदत्त—भावार्थ संदीपनी विस्तृत भाषा टीका तथा विषद टिप्पणी सहित। परिशिष्ट में पंचलक्षणी,

निदान, डाक्टरी मूत्र परीक्षा, पथ्यापथ्य सहित। मूल्य १०)

द्रव्य गुण विज्ञान—[पूर्वार्ध]—छात्रोपयोगी संस्करण। लेखक आयुर्वेद मार्तण्ड वैद्य यादव जी त्रिक्रम जी आचार्य। द्रव्य, गुण, रसवीर्य-विपाक, प्रभाव, कर्म का विज्ञानात्मक विवेचन मूल्य ५)

नूतनामृत सागर—यह प्राचीन पुस्तक है तथा इसे पढ़कर हजारों व्यक्ति चिकित्सक बन गये हैं इसके प्रयोग सुपरीक्षित एवं सरल हैं। मू० ८)

भावप्रकाश [सम्पूर्ण]—भापाटीका सहित। दो जिल्दों में। शारीरिक भाग पर प्राच्य-पाश्चात्य मतों का समन्वयात्मक वर्णन, निघण्टु भाग पर विशिष्ट विवरण तथा चिकित्सा प्रकरण में प्रत्येक रोग पर प्राच्य-पाश्चात्य मतों का समन्वयात्मक विशेप टिप्पिणी से सुशोभित है मू० ३०)

भावप्रकाश [सम्पूर्ण भापाटीकायुक्त]—बम्बई का छपा, टीकाकार श्री शालिग्राम जी वैद्य। पृष्ठ ११२६ सजिल्द। मू० २५)

भावप्रकाश निघण्टु—भापाटीका एवं वृहद् परिशिष्ट सहित मू० ७॥) हरीतक्यादि वर्ग, ले० विश्वनाथ जी द्विवेदी मू० ७)

माधवनिदान [भापाटीका युक्त] पूर्वार्द्ध—मधुकोप-संस्कृत टीका, विद्योतनी भापा-टीका तथा वैज्ञानिक विमर्श टिप्पणी युक्त यह माधवनिदान बड़ा ही उपयोगी बन गया है। दो भाग मू० १३)

माधव निदान—मूलपाठ, मूलपाठ की सरल हिन्दी व्याख्या, मधुकोप संस्कृत व्याख्या और उसका सरल अनुवाद। वक्तव्य एवं टिप्पणी-युक्त यह ग्रंथ विद्यार्थियों तथा चिकित्सकों के लिये अवश्य पठनीय है। पृष्ठ १०१८ दो भागों में मू० १२)

माधव निदान—सर्वांग सुन्दरी भापा टीका सहित सजिल्द मू० ४॥)

माधव निदान—टीकाकार ब्रह्मशङ्कर शास्त्री, मधुकोष संस्कृत व्याख्या तथा मनोरमा हिन्दी टीका सहित। पृष्ठ संख्या ४१२ मू० ६)

मेघ-विनोद-सौदामिनी भाषा भाष्य, भाष्यकर्त्ता आयुर्वेद विद्यावारिध कविराज श्री नरेन्द्रनाथ शास्त्री आयुर्वेदा०। इसमें सम्पूर्ण रोगों का सरल निदान तथा सफल चिकित्सा वर्णित है। मू० ६)

रसायनसार—श्री पं० श्यामसुन्दराचार्य के बीसियों वर्षों के परिश्रम से प्राप्त प्रत्यक्षानुभव के आधार पर लिखित अपूर्व रसग्रंथ। मू० ८)

रसेन्द्रसार संग्रह—वैज्ञानिक रस चन्द्रिका भापाटीका। परिशिष्ट में नवीन रोगों पर रसों का प्रयोग, मान-परिभाषा, मूषा तथा पुट प्रकरण, अनुपान विधि तथा औषधि बनाने के नियमादि। मू० ६)

रसेन्द्रसार संग्रह (तीन भागों में)—आयुर्वेद वृहस्पति पं० घनानन्द जी पन्त द्वारा संस्कृत टीका और हिंदी भाषा सहित वैद्यों, विद्यार्थियों के लिये उपयोगी है। पृष्ठ संख्या ११५० मू० ११)

रसरत्न समुच्चय—नवीन सुरत्नोज्वला विस्तृत भाषाटीका एवं परिशिष्ट सहित। मूल्य १०)

रसतरंगिणी—चतुर्थ संस्करण। भापा टीका सहित। रस निर्माण धातु-उपधातुओं का शोधन मारण युक्त यह अनुपम ग्रंथ है। मूल्य १०)

रसराज महोदधि—पांचों भाग, वस्तुतः यह आयुर्वेदीय रसों का सागर ही है, प्राचीन ग्रंथ है तथा सरल भाषा में लिखा, उपयोगी रसग्रंथ है। नवीन सजिल्द संस्करण। मू० १०)

योगरत्नाकर—कायचिकित्सा विषयक उपलब्ध ग्रंथों में यह सर्वोत्कृष्ट रचना है, चिकित्सक के लिये ज्ञातव्य सभी आवश्यक विषयों का संग्रह किया गया है। माधवोक्त क्रम से सभी रोगों का निदान व चिकित्सा का वर्णन है। मूल्य १८)

योगचिन्तामणि—टीकाकार पं० बुधसीताराम शर्मा इस ग्रंथ में रोगों की चिकित्सा विधि तथा उनकी औपधियों का एक भंडार एकत्रित है। मूलग्रन्थ संस्कृत में तथा यह उसकी भाषा टीका है। मू० ५।-)॥

शार्ङ्गधर संहिता—वैज्ञानिक विमर्शोपेत सुबोधिनी हिन्दी टीका, लक्ष्मी नामक टिप्पणी, पथ्यापथ्य एवं विविध परिशिष्ट सहित। मूल्य ६)

सुश्रुत संहिता [सम्पूर्ण]—सरल हिन्दी टीका सहित टीकाकार श्री अत्रिदेव गुप्त विद्यालंकार । सरल भाषा में यह अनुवाद सभी वैद्यों तथा विद्यार्थियों के लिये पठनीय है । पक्की कपड़े की जिल्द मू० २०)

सुश्रुत संहिता–सूत्रस्थान टीकाकार श्रीयुत घाणेकर । अब तक सभी टीकाओं में उत्कृष्ट टीका, मूल्य ६)—इसी का शारीरस्थान मूल्य ८)

हारीत संहिता––ऋषि प्रणीत प्राचीन संहिता । भाषा टीका सहित, टीकाकार शिवसहाय जी सूद । पृष्ठ ५१२, मू० ८)

हरिहर संहिता—वैद्यराज हरिनाथ सांख्याचार्य द्वारा संस्कृत में पद्यात्मक लिखी हुई जिसमें नवीन औषधियों का भी समावेश है । सरल भाषा टीका सहित ८)

आयुर्वेद सुलभ विज्ञान––छोटी सी पुस्तक में यथानाम तथा गुण साररूप आयुर्वेद का वर्णन । आयुर्वेद क्या है यह आप इस पुस्तक से जान सकेंगे । मू० २॥)

अंजन निदान	१)
आयुर्वेद औषधि गुण धर्म शास्त्र	३)
द्रव्य गुण विज्ञान [पूर्वार्ध]	४॥)
वैद्य जीवन	।॥)
वैद्यक परिभाषा प्रदीप	१॥)
पञ्चभूत विज्ञानम्	३)

एलोपैथिक पुस्तकें हिन्दी में

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान—[प्रथम भाग] श्री-डा० आशानन्द जी पंचरत्न M. B. B. S. आयुर्वेदाचार्य। यह चिकित्साविज्ञान की सुन्दर रचना है । इसमें १६ अध्यायों में रोगों का वर्णन तथा उनकी सफल एलोपैथी एवं आयुर्वेदिक चिकित्सा बड़ी खूबी के साथ दी है । इनकी वर्णन शैली तुलनात्मक दृष्टि से ही महत्व की नहीं वरन् सफल चिकित्सा दृष्टि से भी यह ग्रन्थ चिकित्सकों को उपादेय है । कपड़े की सुन्दर जिल्द, मू० १०) मात्र

आयुर्वेद एण्ड एलोपैथिक गाइड—लेखक आयुर्वेदाचार्य पं० रामकुमार जी द्विवेदी । हिन्दी में प्राच्य पाश्चात्य विज्ञान का विस्तृत ज्ञान देने वाली बे जोड़ पुस्तक है। हर विषय को सरलतापूर्वक समझाया गया है । मू० ८)

इन्जेक्शन––(चतुर्थ संस्करण) ले० डा० सुरेशप्रसाद शर्मा, अपने विषय की हिन्दी में सर्वोत्तम सचित्र पुस्तक है । थोड़े समय में ४ संस्करण होजाना ही इसकी उत्तमता का प्रमाण है। पृष्ठ संख्या ७६४ सजिल्द १०) मात्र

इन्जेक्शन तत्व प्रदीप––ले० डा० गणपतिसिंह वर्मा सभी इन्जेक्शनों का वर्णन है तथा उनके भेद व लगाने कि विधि सरलतया दी गई है । पृष्ठ ३७२ मूल्य ५)

एलो० इन्जेक्शन चिकित्सा—(पंचम संस्करण) एलोपैथिक इन्जेक्शनों की उत्तम पुस्तक, सभी प्रकार की विधियों सहित रोगानुसार इन्जेक्शन वर्णन तथा कौन इन्जेक्शन किस रोग में दिया जायगा, बताया है । ले० डा० भवानीप्रसाद श्रीवास्तव । मूल्य ३) मात्र ।

वर्मा एलोपैथिक गाइड—(पंचम संस्करण)–लेखक–डा० रामनाथ वर्मा । हिन्दी एलोपैथिक चिकित्सा की सर्वोत्तम पुस्तक चार संस्करण केवल ४ वर्ष में निकल जाना ही इसकी उपयोगिता का प्रमाण है । मूल्य १०)

वर्मा एलोपैथिक निघण्टु–डा० वर्मा जी की द्वितीय कृति । इसमें २००० से अधिक पेटेन्ट तथा साधारण औषधियों के वर्णन के अतिरिक्त सैकड़ों नुस्खे तथा अन्य उपयोगी बातों पर प्रकाश डाला है । पृष्ठ संख्या ५७० मू० १०॥)

वर्मा एलोपैथिक चिकित्सा–एलोपैथिक गाइड और निघण्टु के ख्याति-प्राप्त लेखक की ही यह कृति

है। पुस्तक उपयोगी और पठनीय है। इसमें सभी रोगों की परिभाषा, लक्षण, कारण, चिकित्सा, प्रयोगादि डाक्टरी मतानुसार वर्णित हैं। मूल्य १२)

एलोपैथिक-चिकित्सा (तृतीय संस्करण) लेखक डा० सुरेशप्रसाद शर्मा इसमें प्रायः सभी रोगों का वर्णन, लक्षण निदान आदि पर संक्षेप में वर्णन करके उन रोगों की चिकित्सा विस्तृत रूप में दी है। योग आधुनिकतम अनुसन्धानों को मथकर और अनुभव सिद्ध लिखे गये हैं। ८२५ पृष्ठों के विशालकाय सजिल्द ग्रन्थ का मू० १०)

एलोपैथिक पाकेट गाइड-एलोपैथिक चिकित्सा का सूक्ष्म रूप यह पाकेट गाइड है, इसे आप जेब में रख कर चिकित्सार्थ जा सकते हैं जो आपका हर समय साथी का काम देता है। मूल्य २।।।)

एलोपैथिक पेटेण्ट मेडीसन-लेखक डा० अयोध्यानाथ पांडेय। कौन पेटेन्ट औषधि किस कम्पनी की तथा किन द्रव्यों से निर्मित हुई है, किस रोग में प्रयुक्त होती है, लिखा गया है। दूसरे अध्याय में रोगानुसार औषधियों का चुनाव किया गया है। मूल्य ३।)

एलोपैथिक मेटेरिया मैडिका (पाश्चात्य द्रव्य गुण विज्ञान) लेखक-कविराज रामसुशीलसिंह शास्त्री A. M. S. यह पुस्तक अपने विषय की सर्व श्रेष्ठ पुस्तक है। लेखक ने विषय को आयुर्वेद चिकित्सकों तथा विद्यार्थियों के लिये विशेष उपयोगी ढङ्ग से प्रस्तुत किया है। मूल्य सजिल्द का १२)

एलोपैथिक मेटेरिया मैडिका—यह डा० शिवदयाल जी गुप्त ए.एम.एस.काशी विश्वविद्यालय द्वारा सन ५५ का प्रथम संस्करण है। इस पुस्तक में अब तक सम्पूर्ण औषधियां जो एलोपैथी में समाविष्ट हो चुकी हैं सभी हैं। सरल सुवोध भाषा वैज्ञानिक क्रम में विषय का स्पष्टीकरण, औषधियों के सम्बन्ध में आधुनिकतम सूचना भिन्न भिन्न औषधियों से सम्बन्धित तथा चिकित्सा में प्रयुक्त योगों का निर्देश पुस्तक की विशेषता है। नवीनतम सभी मेडिकाओं का सारग्रहण है। हिन्दी में सबसे महान और विशाल अद्वितीय इस पुस्तक का मूल्य जिसमें १३०० पृष्ठ है १२)

एलोपैथी प्रैक्टिस—हिन्दी में अपने ढङ्ग का अद्वितीय ग्रंथ है। इस ग्रंथ में आधुनिकतम खोजों को सरलतम भाषा में प्रस्तुत किया गया है रोगों उनकी चिकित्सा विस्तार से समझाकर लिखी गई है। ६१२ पृष्ठ की सजिल्द पुस्तक का मूल्य ७।।)

एलोपैथिक सफल औषधियां—एलोपैथी की नवीनतम अत्यन्त प्रसिद्ध खास खास औषधियों का गुण धर्म विवेचन है। जो आजकल बाजार में वरदान सिद्ध हो रही हैं सभी सल्फा ग्रुप आदि औषधियों के वर्णन सहित मूल्य ३) मात्र

एलोपैथिक सारसंग्रह—विषय नाम से स्पष्ट है। अपने विषय की उत्तम पुस्तक है। पृष्ठ संख्या ५०० सजिल्द मूल्य ६) मात्र

व्याधि विज्ञान (प्रथम भाग) द्वितीय संस्करण— लेखक डाक्टर आशानन्द पञ्चरत्न M. B. B. S. आयुर्वेदाचार्य। विद्वान लेखक ने अनेक वर्षों के अनुभव के आधार पर यह निदान विषय उपयोगी ग्रन्थ प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक से न केवल पाश्चात्य निदान का ही ज्ञान होगा अपितु वैद्य बन्धुओं को चिकित्सा क्रम का भी मार्ग दर्शन हो सकेगा। सजिल्द पुस्तक मू० ६) इसीका दूसरा भाग ६)

नेत्र रोग विज्ञान—कृष्णगोपाल धर्मा० औष० द्वारा प्रकाशित, अपने विषय की हिन्दी में सर्वश्रेष्ठ पुस्तक। सैकड़ों चित्रों सहित, सजिल्द मू० १५)

सचित्र नेत्ररोग विज्ञान—लेखक डा० शिवदयाल गुप्त A. M. S. पृष्ठ संख्या ५६८ चित्र संख्या १३० मूल्य ८)

पेनेसिलीन व स्ट्रेप्टोमाइसिन विज्ञान तथा मूत्र परीक्षा—प्रस्तुत पुस्तक में उक्त दोनों बहुप्रचलित एलोपैथिक औषधियों का विवरण तथा आयुर्वेदिक मूत्र परीक्षा पद्धति वर्णित है। मू० १)

फेफड़ों की परीक्षा रोग व चिकित्सा—१८ अध्याय की इस पुस्तक में प्राचीन ग्रंथों तथा नवीन पाश्चात्य पद्धति के समन्वयात्मक ज्ञान के द्वारा

फेफड़ों में होने वाले समस्त रोगों का निदान व उसकी परीक्षा विधि दी गई है। साथ ही उन रोगों की चिकित्सा भी दोनों प्रकार की औषधियों से दी गई है। सजिल्द पुस्तक मू० ५)

व्रण बन्धन—इस पुस्तक में शरीर के प्रत्येक भाग में पट्टी बांधने की विधियों को प्रत्यक्ष सरल चित्रों के सहारे समझाने का प्रयत्न किया है। मूल्य ४) मात्र

मल मूत्र रक्तादि परीक्षा—लेखक डा० शिवदयाल जी गुप्ता A. M. S. अपने विषय की सर्वाङ्गपूर्ण सचित्र और वैद्यों के बड़े काम की पुस्तक है। मूल्य २॥)

मिक्चर-पंचम संस्करण। प्रथम २६ पृष्ठों में मिक्चर बनाने के नियम औषधियों की तोल नाप व्यवस्थापत्रों में लिखे जाने वाले संकेत शब्दों की व्याख्या आदि ज्ञातव्य बातें दी हैं, बाद में रोगानुसार सैकड़ों मिक्चर दिये हैं। हर रोग में उपयोगी इन्जेक्शनों का भी संकेत किया है। अन्त में देशी दवाओं के अङ्गरेजी नाम दिये हैं। २१७ पृष्ठ की यह पुस्तक चिकित्सकों के लिये अत्युपयोगी है। मूल्य २।)

सल्फोनामाइड पद्धति—सल्फा औषधियों का प्रयोग आजकल डाक्टरों द्वारा तो अन्धाधुन्ध किया ही जा रहा है अन्य चिकित्सक एवं जनता भी इन औषधियों का उपयोग करने लगी है। इन औषधियों का सरल हिन्दी भाषा में विस्तृत वर्णन इस पुस्तक में पढ़िये। मू० २॥)

एनीमा और कैथीटर	।=)
एनीमा टीचर	।)
कम्पाउण्डरी शिक्षा	२॥)
कपिङ्गलास मैन्युअल	≡)
मलेरिया (एलोपैथिक)	२।)
कैथीटर गाइड	।)
तापमान (थर्मामीटर)	।)
थर्मामीटर मास्टर	।)
स्टैथस्कोप विज्ञान (छाती परीक्षा)	॥)
स्टैथस्कोप शिक्षक	॥।≡)
स्टैथस्कोप विज्ञान	१)
फुफ्फुस परीक्षा	१।)

होमियो-वायोकैमिक पुस्तकें

आर्गेनन—यह होमियोपैथिक की मूल पुस्तक है जिसमें इस पैथी के मूल प्रवर्तक महात्मा सैमुएल हैनिमैन के २६१ मूल सूत्र हैं। इस पुस्तक में इन्हीं पर डा. सुरेशप्रसाद शर्मा ने व्याख्या की है। व्याख्या इतनी सुन्दर और सरल है कि हिन्दी जानने वाले इन सूत्रों का मन्तव्य भली भांति समझ सकते हैं। पृष्ठ ३८८, मूल्य ४)

आर्गेनन—महात्मा हैनिमेन के सूत्रों जो मूल जर्मन भाषा में है उन्ही का अनुवाद डा. भोलानाथ टंडन एम. डी. एस. ने सरल हिन्दी में किया है, एक होम्योपैथ को यह पुस्तक बाइबिल, गीता और कुरान के बराबर ही है। मूल्य सजिल्द का २॥)

इन्जेकशन चिकित्सा (होमियो)—ले० डा० सुरेशप्रसाद शर्मा। इसमें होम्योपैथी इन्जेक्शनों का वर्णन है, साथ ही होम्योपैथी औषधियों से इन्जेक्शन बनाना आदि बतायागया है। मू. १॥।)

गृह चिकित्सा—डा. श्री टंडन ने इस पुस्तक को उन घरेलू व्यवहारों के लिये तय्यार किया है जिनसे थोड़ा पढ़ा साधारण गृहस्थ भी स्वयं होम्योपैथी चिकित्सा निजपरिवार तथा पास पड़ोसियों की कर सके और पैसा बचा सके। जिल्ददार पुस्तक मूल्य १॥)

ज्वर चिकित्सा—नाम से ही विदित है। इस पुस्तक पर उत्तर प्रदेशीय सरकार से लेखक पुरस्कार प्राप्त कर चुके हैं। इसमें सभी प्रकार के ज्वरों की एलोपैथिक होम्योपैथिक आयुर्वेदिक एवं यूनानी मत से चिकित्सा वर्णित है। मूल्य २)

पशु चिकित्सा होमियो—यह आयुर्वेदिक तथा होम्योपैथिक दोनों से समन्वित है। पशु चिकित्सा पर

बहुत उपयोगी साहित्य है। सभी पशुओं के रोगों पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। पुस्तक गृहस्थि में रखने के लायक है। मूल्य २) मात्र।

प्रिंसमेटेरिया मेडिका-(कम्परेटिव)-डा० सुरेशप्रसाद शर्मा प्रिंसहोमियोपैथिक कालेज के प्रिंसीपल द्वारा प्रणीत यह होम्योपैथिक मेटेरिया मेडिका है। औरों से इसमें बहुत कुछ विशेषता है। थेराप्युटिक ही नहीं इसमें फार्माकोपिया भी सम्मिलित कीगई है। प्रत्येक प्रमुख औषधियों के मूल द्रव्य, प्रस्तुत विधि, वृद्धि, उपशय प्रमुख एवं साधारण लक्षणों आदि सभी विषयों का लेखन किया गया है। चिकित्सकों तथा प्रारम्भिक विद्यार्थियों के लिये यह बहुत ही उपादेय है। साधारण हिन्दी ज्ञाता भी इसको समझ सकते हैं। १२१४ पृष्ठों वाले इस विशाल ग्रन्थ का मूल्य केवल ८) है।

मेटेरिया मेडिका—डा. बी. एल. टंडन द्वारा लिखित यह दो भागों में विभक्त है, लेखक ने इसमें केन्ट कैरिङ्गटन, हेरिङ्ग, एलेन, क्लार्क काउपरथायेटे, तोरिक, चौधरी आदि सभी की मेटेरियामैडिकाओं का सार ग्रहण किया है। औषधि लक्षण किस रोग की किस दशा में किन लक्षणों पर उसका प्रयोग होता है; लक्षण सम्पन्न दवाओं से उसकी तुलना तथा समस्त मानसिक व शारीरिक रूप दिये हैं। सदृश्य, तुलनीय, दोषघ्न प्रतिषेधक दवायें रोग के ह्रास व वृद्धि का लक्षण बताकर इसे सर्वाङ्गपूर्ण बनाया गया है। ८०० पृष्ठों के इस प्रथम भाग का मूल्य ६)

भैषज्यसार–होम्योपैथी का पाकेट गुटिका। इसमें रोगों में दवाओं का प्रयोग व मात्रा दी गई है विषय को बढ़ाकर आवश्यक वर्णन दिया गया है। मूल्य २)

भारतीय औषधावली तथा होमियो पेटेन्ट मैडीसिन-डा. सुरेशप्रसाद ने इस पुस्तक में उन औषधियों को लिया है जो भारतीय औषधियों से तय्यार होती हैं, अतः प्रत्येक चिकित्सक यह जान सकता है कि अमुक होमियो औषधि अमुक आयुर्वेदिक औषधि से तय्यार की जाती है साथ ही बाद में कुछ होम्योपैथिक पेटेन्ट औषधियों को वह किस रोग में दी जाती हैं दिया गया है। मूल्य १॥)

भैषज्य रहस्य (मेटिरिया मैडिका)–यह मेटिरिया मैडिका डा. एलेन के 'दी नोटस् आफ दी लीडिंङ्ग रिमेडीज आफ दी मेटिरिया मैडिका' का हिन्दी रूपान्तर है। डा. भोलानाथ टण्डन के नाम से सभी परिचित हैं। मूल पुस्तक की कोई बात रहने नहीं दी है ऐसा अनुवादक का कहना है। रोग लक्षण और औषधि चुनाव के सुन्दर वर्णन युक्त, कपड़े की जिल्द; मूल्य ३॥)

रिलेशन-शिप—इस छोटी सी पुस्तक में डा. श्यामसुन्दर शर्मा ने औषधियों का पारस्परिक-सम्बन्ध ज्ञान दर्शाया है नित्य व्यावहारिक औषधियों का सहायक अनुसरणीय प्रतिषेधक तथा विपरीत औषधियों का संग्रह किया है। चिकित्सकों के मतलब की अच्छी पुस्तक है। मूल्य २)

सरल होमियो चिकित्सासार—इसमें सभी स्त्री पुरुषों के स्वास्थ्य नियमों को बताया है तथा उनसे विपरीत होने वाली सभी रोगों की होमियोपैथी चिकित्सा दी गई है। रोगी वर्णन तथा चिकित्सा दोनों ही अत्यन्त सरल और समझाकर लिखे गये हैं। मूल्य ४॥)

रोगनिदान चिकित्सा—इस छोटी पुस्तक के १०० पृष्ठों में रोगों की परीक्षा विधि तथा ५० पृष्ठों में सूक्ष्म चिकित्सा होमियोपैथी एवं आयुर्वेदिक बताई गई है। मूल्य २)

स्त्री रोग चिकित्सा—इसके लेखक हैं डा० भोलानाथ टंडन। स्त्रियों के सभी रोगों का वर्णन व निदान है। ऋतुकाल गर्भाधान से लेकर प्रसव तक के समस्त विषय और सभी रोगों की चिकित्सा लिखी गई है। स्त्रीरोग सम्बन्धित कोई बात छूटने नहीं पाई है। सजिल्द २५५ पृष्ठ की पुस्तक, मूल्य २॥)

स्त्री रोग चिकित्सा—डा. सुरेशप्रसाद शर्मा लिखित। स्त्री जननेन्द्रिय के समस्त रोग गर्भाधान प्रसवरोग, प्रसूति रोग तथा स्त्रियों के ही

अङ्ग में होने वाले अन्य रोगों का निदान व चिकित्सा है। मू० ४॥)

लेडी डाक्टर-गर्भाधान व प्रसव सम्बन्धी ज्ञान तथा उससे सम्बन्धित होमियोपैथिक चिकित्सा वर्णित है। मू० १।)

होमियोपैथिक मेटेरिया मैडिका—जिन्हें मोटे-मोटे ग्रन्थ पढ़ने का समय नहीं है उनके लिये यह मेटेरिया मैडिका बहुत उपयुक्त है। सभी आवश्यक विषय का वर्णन है। गागर में सागर वाली कहावत चरितार्थ है। प्रत्येक चिकित्सक के काम की वस्तु। सजिल्द पुस्तक ४०० पृष्ठ केवल मूल्य ३॥)

होमियो मेटेरिया मैडिका—डा० श्योसहाय भार्गव द्वारा रचित। लेखक ने वर्णन करने में व्यर्थ के शब्दों को बढ़ाया नहीं है, सभी आवश्यक विषय हैं कोई छूटने नहीं पाया है। किसी मेटेरिया मैडिका से कम महत्व की नहीं है। ५६१ पृष्ठों की सजिल्द पुस्तक मू० ५)

होमियो चिकित्सा विज्ञान-(Practice of medicines) ले० डा० श्यामसुन्दर शर्मा। होमियोपैथी पर लिखी गई चिकित्सा पुस्तकों में यह पुस्तक सर्वोपरि है। प्रत्येक रोग का खंड-खंड रूप में परिचय, कारण, शारीरिक विकृति, उपद्रव, परिणाम और आनुषङ्गिक चिकित्सा के साथ आरोग्य चिकित्सा का वर्णन है। डाक्टर तथा साधारण गृहस्थों सभी के लिये उपयोगी पुस्तक है। सजिल्द मू० ३॥)

हैजा या कॉलरा—इस भयङ्कर महाव्याधि पर सुन्दर सामग्री प्रस्तुत है। इसकी प्रत्येक अवस्था पर औषधियों का सुन्दर विवेचन है। मू० २)

वायोकैमिक चिकित्सा-वायोकैमिक चिकित्सा सिद्धांत के सम्बन्ध में सभी आवश्यक बातें तथा बारहों औषधियों के वृहद् मुख्य लक्षण और किन-किन रोगों में उनका व्यवहार होता है सरल ढङ्ग से समझाया गया है। ४३६ पृष्ठ मूल्य ४)

वायोकैमिक रहस्य—(सप्तम संस्करण) वायोकैमिक क्या है इस विषय पर यह पुस्तक सभी आवश्यक अङ्गों की जानकारी देती है तथा बारहों दवाओं का भिन्न-भिन्न रोगों पर सफल वर्णन किया गया है। सजिल्द पुस्तक मू० २॥)

वायोकैमिक मिक्श्चर—बारह क्षारों का रोगों में मिक्श्चर रूप में व्यवहार करना यह पुस्तक बताती है। मू० ॥)

वायोकैमिक पाकेट गाइड—वायोकैमिक विषय का पाकेट में रहने वाला गुटका, फिर भी बड़े काम का है। मू० १)

घाव की चिकित्सा	१)
न्यू मदर टिंचर मेटेरिया मेडिका	॥)
निमोनिया चिकित्सा	॥)
होमियो थाइसिस चिकित्सा	॥)
होमियोपैथिक नुस्खे	१।)
होमियो टाइफाइड चिकित्सा	॥)
होमियो पाकेट गाइड	१)
होमियो न्यूमोनिया चिकित्सा	॥)

यूनानी प्रकाशन हिन्दी में

इलाजुल गुर्बा—यूनानी की प्रसिद्ध पुस्तक फारसी का अनुवाद है। सभी रोगों पर सरल यूनानी नुस्खों का संग्रह है तथा चिकित्सा सम्बन्धी सभी वर्णन व शारीरिक तथा निदान का वर्णन है। साधारण से साधारण पढ़ा लिखा भी इस पुस्तक को समझ सकता है। छठा संस्करण मू० ५)

जर्राही प्रकाश-(चारों भाग) जिसमें घाव और व्रण से सम्बन्धित जर्राहों के लिए उर्दू, संस्कृत व डाक्टरी आदि के अनेक ग्रन्थों का इसमें सारभाग संग्रह किया गया है। पृष्ठ संख्या २२८ मूल्य ३॥)

यूनानी चिकित्सा-सार—इसमें यूनानी मत से सर्वरोगों का निदान व चिकित्सादि दीगई है। वैद्यराज दलजीत सिंह जी ने यह ग्रन्थ वैद्यों के लिए हिन्दी भाषा में लिखा है जिसमें यूनानी चिकित्सा पद्धति का सभी अंश दे दिया गया है। इस पद्धति का वैद्य समाज को परिचय हो सके

इसका यही मन्तव्य है। यह ग्रन्थ अनेक अरबी फारसी पुस्तकों का सार रूप है छपाई सुन्दर है। मूल्य ४॥)

यूनानी चिकित्सा विधि—इसके लेखक श्री मंसाराम जी शुक्ल हकीम वाइस प्रिंसिपल यूनानी तिबिया कालेज देहली हैं। इसमें देहली के प्रसिद्ध यूनानी खानदानी हकीमों के अनुभूत प्रयोगों का निचोड़ है जिसके कारण यूनानी हकीमी देहली में इतनी चमकी और आज तक नाम है। कपड़े की जिल्द मूल्य ५)

यूनानी चिकित्सा सागर—श्री मंसाराम शुक्ल द्वारा लिखी हुई हिन्दी भाषा में यूनानी का विशाल ग्रन्थ है जो 'रसतंत्रसार' के ढंग पर लिखा गया है। इसमें पुराने व आधुनिक सभी हकीमों के १००० अनुभूत परिक्षित प्रयोग हैं, औषधियों के नाम हिन्दी में अनुवाद करके दिए गए हैं। जिनके नाम नहीं मिले हैं ऐसी २५० औषधियों का वर्णन परिशिष्ट में दिया गया है। ५१६ पृष्ठ, नकी सुन्दर कपड़े का जिल्द का मूल्य १०)

यूनानी-चिकित्सा-विज्ञान—यूनानी चिकित्सा विज्ञान का हिन्दी में अनुपम ग्रन्थ। लेखक के अनुसार चार भागों वाले ग्रन्थ का पूर्वार्द्ध यह प्रथम भाग है। इस खण्ड के दो भाग किए हैं। प्रस्तुत भाग में यूनानी चिकित्सा और निदान के मूल-भूत सिद्धान्तों का विषद विवेचन है। इसमें रोग लक्षण निदान के भेद तथा परीक्षा की सामान्य विधियां हैं। ६६६ पृष्ठों के इस ग्रन्थ का मूल्य ८॥) है।

यूनानी सिद्ध–योग संग्रह-यह यूनानी सिद्ध योगों का संग्रह है। सभी योग सुलभ सफल परीक्षित और सहज में बनने वाले हैं प्रत्येक वैद्य के काम की चीज है। इसके संग्रहकार हैं वैद्यराज दलजीत सिंह जी आयुर्वेद वृहस्पति। मू० २॥)

यूनानी वैद्यक के आधार भूत सिद्धान्त--(कुल्लियात) श्री बाबू दलजीतसिंह जी व उनके भाई राम-सुशीलसिंह जी ने इस छोटे से ग्रन्थ में इस बात को दिखाने का प्रयत्न किया है कि आयु-र्वेद और यूनानी चिकित्सा पद्धतियों में कितना साद्दश्य तथा कितना असादृश्य है। इसका निर्माण दोनों का समन्वय हो सकता है इस आधार पर किया है। मू० १।)

शिफाउल अमराज—शिफाउल असराज मये मुअ-य्यन-उल-इलाज, नामक यूनानी ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद है। इसका क्रम ठीक भावप्रकाश जैसा है। रोग का निदान और उसके नीचे चिकित्सा क्रम दिया है। यह दो भागों में हैं। प्रथम व द्वितीय भाग का मूल्य ४)

सरल सिद्ध प्रयोगों की पुस्तकें

अनुभूत योग प्रकाश--डा० गणपतिसिंह वर्मा द्वारा १५ वर्ष के परिश्रम से प्राप्त अनुभूत प्रयोगों का संग्रह है। प्रायः सभी रोगों पर आपको सफल प्रयोग इस पुस्तक में मिलेंगे पृष्ठ ४४५। मू०६।)

अनुभूत प्रयोग—श्री श्यामसुन्दराचार्य वैश्य के सफल पयोगों का उपयोगी संग्रह दो भागों में। मू० २)

अनुभूत योग चिन्तामणि--प्रथम भाग में ५३२ सफल प्रयोगों का अभूतपूर्व संग्रह। ले० गण-पतिसिंह वर्मा पृष्ठ संख्या ४०३। मू० ४।) द्वितीय भाग—इसमें ३५१ अनुभूत प्रयोग हैं। मू० ४)

अनुभूति—इसमें आयुर्वेद तथा लेखक के स्वानुभव-पूर्ण १८६ प्रयोगों का उपयोगी संग्रह है। मू० २)

आयुर्वेदीय सिद्ध भेषज मणिमाला—सिद्ध भैषज मणिमाला संस्कृत का प्रसिद्ध सिद्ध योग संग्रह है जिसके प्रयोगों की की ख्याति पर्याप्त है किंतु पुस्तक संस्कृत में होने से सामान्य चिकित्सकों को कठिनाई होती थी इसको दूर करने के लिये यह चिकित्सा भाग का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया गया है। मू० २॥)

आयुर्वेद-सार संग्रह—आयुर्वेद ओषधियों के निर्माण

प्रयोग और गुण धर्मों का विषद विवेचन है जिसमें रस भस्म आसव चूर्ण तैल घृत पाक वटी आयुर्वेद तथा यूनानी प्रयोगों को दिया गया है। पृष्ठ ६५० के लगभग। मूल्य ७)

काथ मणिमाला--काथ चिकित्सा आयुर्वेद कीप्राचीन अल्प व्ययसाध्य एवं आशुफलप्रद चिकित्सा है। इस पुस्तक में आयुर्वेद शास्त्र से सैकड़ों काथों का संग्रह प्रकाशित किया गया है। मू० १।।)

गुप्त प्रयोगरत्नावली—डा० नरेन्द्रसिंह नेगी द्वारा लिखित। इसमें भिन्न-भिन्न रोगों पर अनेक अनुभूत योगों का वर्णन है। मू० २।।)

गुप्त सिद्धप्रयोगांक (प्रथम भाग) द्वितीय संस्करण-यह वह विशेषांक है जिसके प्रकाशन से धन्वन्तरि की ग्राहक संख्या उसी वर्ष दूनी हो गई थी। इसमें २१६ वैद्यों के ५०० अनुभूत प्रयोग हैं इसमें हर छोटे बड़े रोगों पर २-४ प्रयोग आपको अवश्य मिलेंगे। मूल्य केवल ६) (विशेष विवरण आगे धन्वन्तरि के विशेषांकों में देखें।

गुप्तसिद्ध प्रयोगांक (द्वितीय भाग)—यह धन्वन्तरि का छोटा विशेषांक है, २५० प्रयोगों का उत्तम संग्रह है। मूल्य २)

गुप्त सिद्ध प्रयोगांक (तृतीय भाग)—द्वितीय भाग के समान ही इसमें भी उत्तमोत्तम योगों का संग्रह किया गया है। मू० २)

गांवों में औषधि रत्न (प्रथम भाग)—इस पुस्तक में अफीम, आक, कपूर, कालीमिर्च, गिलोय, थूहर, धतूरा, पीपल आदि गांवों में सरलता से मिलने वाली ८८ औषधियों का वर्णन तथा उनका रोगों पर विधिवत प्रयोग है। गावों में रहने वाले चिकित्सकों तथा परोपकारी सज्जनों को बहुत उपयोगी है। मूल्य २) द्वितीय भाग में १२७ वनस्पतियों का वर्णन है, मूल्य ३।।)

पैसे-पैसे के चुटकुले—सरल सस्ते तथा सफल प्रयोगों का संग्रह। मूल्य ३)

राजकीय औषधियोगसंग्रह—उत्तर प्रदेश के सरकारी आयुर्वेदिक औषधालयों में व्यवहार में आने वाली ४०० से ऊपर औषधियों के प्रयोग, निर्माण-विधि, गुण, सेवन-विधि आदि श्री रघुवीरप्रसाद जी त्रिवेदी द्वारा लिखित उपयोगी ग्रन्थ। पुस्तक विद्यार्थियों तथा विद्वानों के लिये पठनीय है मू० ७)

राष्ट्रीय चिकित्सा सिद्ध-योग-संग्रह—रघुवीरप्रसाद जी त्रिवेदी ने इस छोटी सी पुस्तक में आयुर्वेद के सभी प्रसिद्ध प्रयोगों को संक्षिप्त रूप में संग्रह किया है। पुस्तक चिकित्सकों के लिए उपयोगी है। मू० १।।)

सिद्धौषधि प्रकाश—२८० पृष्ठों में प्रायः सभी रोगों के संक्षिप्त वर्णन के साथ-साथ उन रोगों के सफलता पूर्वक नष्ट करने वाले सिद्ध प्रयोगों का उपयोगी संग्रह दिया है। तृतीय संस्करण मूल्य १।।)

सिद्ध मृत्युञ्जय योग—इस पुस्तक में ५३ सफल प्रयोगों का वर्णन है। प्रयोग मात्रा सेवन विधि गुण आदि देकर यह भी स्पष्ट लिख दिया है कि प्रयोग किस प्रकार प्राप्त हुआ है तथा वह कहां सफलता के साथ व्यवहृत हुआ है। चिकित्सकों के लिए उपयोगी है। मू० १)

सिद्ध योग संग्रह—आयुर्वेद मार्तण्ड श्री यादव जी त्रिक्रम जी आचार्य के द्वारा अनुभूत सफल प्रयोगों का संग्रह, हर चिकित्सक के लिए उपयोगी पुस्तक है। इसके सभी प्रयोग पूर्ण परीक्षित और सद्यः लाभदायक हैं। मू० २।।)

प्राकृतिक चिकित्सा की पुस्तकें

हमारा भोजन—वस्तुतः यह पुस्तक बहुमूल्य है उचित भोजन से रोग पास नहीं फटकता और बहुत दिनों से हुआ कठिन रोग भी पथ्य से दूर किया जा सकता है। लेखक ने जिस निराले ढंग से यह पुस्तक लिखी है उससे स्वास्थ्य को बनाए रखने और उन्नत करने के साथ ही रोगों को मार भगाने की विधि पाठकों को इस पुस्तक में मिल जायगी। प्राचीन अर्वाचीन सभी तरह के

विचारों को ग्रहण कर ग्रन्थ का निर्माण किया है। मूल्य ४)

व्यायाम और शारीरिक विकास—(सचित्र) व्यायाम का स्वास्थ्य के लिये कितना महत्व है तथा विशेष व्यायामों से रोगों का निवारण करना इस पुस्तक का विषय है जो उसमें दिए हुए चित्रों से सहज ही समझा जा सकता है। मूल्य २।।)

स्वास्थ्य के लिए शाक तरकारियां—(चतुर्थ संस्करण) हमारे भोजन में शाकों का कितना प्रमुख महत्व है भिन्न भिन्न शाकों के गुण तथा उससे होने वाले लाभ बताए गए हैं। मूल्य २)

अपना इलाज आप करें	।।।)
आसनों के व्यायाम सचित्र	।।)
उपवास और फलाहार	।।।)
ऊषःपान	।।।)
कपड़ा और तन्दुरुस्ती	।।–)
कब्ज का इलाज या मलावरोध	१)
जल चिकित्सा (पानी का इलाज)	१)
जीवन तत्व	१।।)
तम्बाकू जहर है	।=)
दमा श्वास खांसी	।=)
दुग्ध कल्प चिकित्सा	२।)
नेत्र रक्षा व नेत्र रोग चिकित्सा	।।।)
प्राकृतिक चिकित्सा प्रश्नोत्तरी	।।)
ब्रह्मचर्य के अनुभव	१)
बच्चों का पालन और उसकी चिकित्सा	।।।)
बुखार उसका अचूक इलाज	।।।)
बुढ़ापा और बीमारी से बचने के उपाय	।।।)
भिन्न-भिन्न रोगों की प्राकृतिक चिकित्सा	।।।)
भोजन ही अमृत है	१।।।)
भोजन	।।=)
स्त्री रोग चिकित्सा	।।।)
हमें क्या खाना चाहिए	।।)
किशोर रक्षा व ब्रह्मचर्य	।।।)
मिट्टी सभी रोगों की दवा	१)
सूर्य किरण चिकित्सा	।।।)

नवीन उपयोगी पुस्तकें

अभिनव शवच्छेद विज्ञान—शरीर रचना का ज्ञान शवच्छेदन से ही होता है और उसे ही इस पुस्तक में लेखक ने ६ भागों में सरलतापूर्वक वर्णन किया है। अनेकों चित्रों सहित इस विशाल ग्रन्थ का मूल्य १५) लागत मात्र समझें।

आदर्श एलोपैथिक मेटेरिया मैडिका—एलोपैथी विज्ञान के अनुसार प्रत्येक शरीर-विभाग पर काम करने वाली विशेष औषधियों की प्रकृति, गुणधर्म, उपयोग, मात्रा; रोग निदान के अनुसार इसमें वर्णित है। मूल्य ११)

हिन्दी माडर्न मैडीकल ट्रीटमैंट—(आधुनिक चिकित्सा) लखनऊ विश्व विद्यालय के प्रोफेसर श्री एम. एल. गुजराल M. B. M. R. C. P. (लंदन) द्वारा लिखित एलोपैथी चिकित्सा का हिन्दी में सर्वोत्तम प्रमाणिक ग्रन्थ है। चिकित्सकों के लिए अत्युपयोगी है। मूल्य २०)

पेटेन्ट प्रेस्काइबर या पेटेंट चिकित्सा—प्रत्येक रोग पर व्यवहार होने वाली एलोपैथिक पेटेंट औषधियों का तथा इन्जेक्शनों का विवरण सुन्दर ढंग से दिया है। मूल्य ६)

वैद्यसहचर—लेखक-'पं० विश्वनाथ द्विवेदी आयुर्वेदाचार्य। चतुर्थ संस्करण। इसे वैद्यों का सहचर ही समझें। इसमें लेखक ने अपने जीवन का सम्पूर्ण चिकित्सानुभव रख दिया है। पुस्तक अति उपयोगी है। मू० ३)

अष्टांग हृदय [वाग्भट्ट]—अनुवादक-श्रीकृष्णलाल भरतिया। सरल अनुवाद, उत्तम ग्लेज कागज, पक्की मजबूत जिल्द। मूल्य २०)

अकारादि क्रम से पुस्तक सूची

हमारे यहां प्राप्त होने वाली सभी पुस्तकों का अकारादि क्रम से नाम लेखक टीकाकार या सम्पादक का नाम पृष्ठ-संख्या एवं मूल्य दिया गया है। प्रायः ग्राहक यह मालूम करने के लिये पत्र डालते रहते थे अतएव यह सूची प्रकाशित की गई है। पृष्ठ-संख्या और मूल्य की तुलना करके पुस्तक की उपयोगिता मालूम नहीं हो सकती है। कतिपय पुस्तकें ऐसी हैं जिनके पृष्ठ का साइज बड़ा है और कागज छपाई उसका साहित्य अत्यधिक उपयोगी सारपूर्ण है। ये पुस्तकें मूल्य में पृष्ठ संख्या के अनुपात से अधिक मालूम देंगी। कुछ पुस्तकें ऐसी हैं जिनका साइज बहुत छोटा है तथा कागज सस्ता है तो वे मूल्य में सस्ती मालूम देंगी। असल में पुस्तक का अन्छापन उसके लेखक एवं विषय की उपयोगिता से लगाना चाहिये। आपको जिन पुस्तकों की आवश्यकता हो हमसे ही मंगाइयेगा।

पुस्तक	लेखक / टीकाकार	पृष्ठ	मूल्य
अष्टांगहृदय [वाग्भट्ट]	भाषा-टीका, टीकाकार-अत्रिदेव गुप्त	५८४	१६)
अष्टांग हृदय (वाग्भट्ट)-टीकाकार	श्री कृष्णलाल भरतीय	६८४	२०)
अष्टांग संग्रह [सूत्रस्थान]	व्याख्याकार श्री गोवर्द्धन छांगाणी	३३२	८)
अर्शरोग चिकित्सा	पं. कृष्णप्रसाद त्रिवेदी	५६	॥)
अर्क (आक) गुणविधान	डा. गणपतिसिंह वर्मा	१२८	१॥)
अनुभूत योग प्रकाश	" "	४४५	६।)
अनुभूत प्रयोग [दोनों भाग]-पं.	श्यामसुन्दराचार्य वैश्य	१४२	२)
अनभूत योगचिंतामणि [दो भाग]	डा. गणपतिसिंह वर्मा	५८६	८।)
अरिष्टक गुण विधान	"	४४	॥)
अभिनव शरीर क्रिया विज्ञान-	श्री प्रियव्रत शर्मा M.A., A.M.S.		७॥)
अभिनव नेत्र चिकित्सा विज्ञान	विशालनाथ द्विवेदी	६०४	१०)
अभिनव शवच्छेद विज्ञान	श्री हरिस्वरूप कुलश्रेष्ठ	१०६०	१५)
अभिनव बूटीदर्पण [सचित्र]-	वैद्य रूपलाल वनस्पति विशेषज्ञ	६७७	१०)
अंजन निदानम्	सान्वय विद्योतनीहिन्दी टीका		१)
अंजीर	श्री रामेशवेदी आयुर्वेदालंकार	८६	१)
अनुपान कल्पतरु	पं जगन्नाथप्रसाद शुक्ल	१६४	२॥)
अगदतन्त्र (विष विज्ञान)	श्री रामनाथ द्वि.	७०	।॥)
अगदतंत्र (महाविष) प्र. भाग	पं जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल	२०८	३)
अगदतन्त्र (उपविष) द्वि. भाग	पं. जगन्नाथप्रसाद शु. धन्व. साइज	१७१	५)
अर्क प्रकाश	मथुरा निवासी कृष्णलाल जी	२६०	२॥)
अनुभूति	रघुनन्दन मिश्र आयुर्वेदाचार्य	१६६	२)
अनुपान विधि	पं. श्यामसुन्दराचार्य वैश्य	५५	॥)
अमृतसागर [नूतन]	हिन्दी भाषांतरकार पं. ज्ञारसराम जी	६३०	८)
अण्ड तथा अन्त्र वृद्धि	वैद्य कृष्णप्रसाद त्रिवेदी बी. ए.	४८	।=)
अपना इलाज आप करें	डा. युगलकिशोर चौधरी	६२	।॥)
आदर्श एलो. मेटेरिया मैडिका-	डा. रामनरायण सक्सैना	६४४	११)
आधुनिक चिकित्सा विज्ञान	डा. आशानन्द पंचरत्न प्र० भाग	४६७	१०)
आयुर्वेद घरेलू चिकित्सा	डा० सुरेशप्रसाद जी	१२०	१॥)
आयुर्वेद मीमांसा	पं जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल	१६८	१)
आयुर्वेदिक इन्जेक्शन चि.	डा. श्यामसुन्दर शर्मा	१०४	२॥)
आयुर्वेद सार संग्रह	आयु. औषधों के प्रयोग गुणधर्मादि	६०८	७)
आयुर्वेद सुलभ विज्ञान	डा. कमलसिंह किशनसिंह	१५१	२॥)
आयुर्वेद विज्ञान सार	पं. श्री योगेश्वर झा शर्मा	१२०	१॥)
आयुर्वेद विज्ञान	डा. कमलाप्रसाद मिश्र 'विप्र'	४२०	३॥)
अयुर्वेद एवं एलोपैथिक गाइड	डा. राजकुमार द्वि.	८६२	१०)
आयुर्वेद क्रिया शरीर	श्री रणजीतराय आयुर्वेदालंकार	८८७	११)

आयुर्वेदिक सिद्ध भैषज्यमणिमाला-पं. वेदव्रत शास्त्री १८० २॥)
आयुर्वेदिक प्रश्नोत्तरावली द्वि. भा.-पं सोमदेव शर्मा शास्त्री १४४ २)
आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान वैद्य रणजितराय अायुर्वेदालंकार ४४० ५)
आयुर्वेदीय हितोपदेश वैद्य रणजित राय अायुर्वेदालंकार ३०७ २॥)
आरोग्यामृतविन्दु (शीतलता परिहार) श्री जियालाल जी १८० २॥)
आरोग्य विज्ञान डा. लक्ष्मीनारायण सरोज १६० २)
आयुर्वेद व्याधि विज्ञान पूर्वार्द्ध आचार्य यादव जी त्रिकम जी ११२ २॥)
आसनों के व्यायाम सचित्र श्री ब्रह्मचारी वेदव्रत ५२ ॥)
आत्म सर्वस्व स्वामी भागीरथ जी (गुप्ता योगप्रकाश) ३६० ५।)
आंखों का अचूक इलाज कविराज महेन्द्रनाथ पाण्डेय १५३ २।)
आम्रगुणविधान डा. गणपतिसिंह वर्मा ८४ १।)
आम और उसके १०० उपयोग—श्री. गंगाप्रसाद गांगेय ४० ।=)
आरोग्य मन्दिर डा. युगलकिशोर चौधरी १३० १।)
आर्गेनन डा. सुरेशप्रसाद शर्मा ३३८ ४)
आर्गेनन डा. भोलानाथ टंडन M. D. H. २२८ २॥)
आरोग्यप्रकाश पं० रामनरायण वैद्य ४३३ २)
आयुर्वेद प्रकाश (प्रथम भाग)-प्रोफेसर सोमदेवशर्मा शास्त्री ६५३ ५)
आयुर्वेदीय परिभाषा पं. गिरिजादयालु शुक्ल शास्त्री ८८ १।)
आसवारिष्ट संग्रह (बृ.) [दो भाग] पं. कृष्णप्रसाद त्रि. B.A. ५६१ ६॥)
आयुर्वेदीय औषधि संशोधन-वै. पु. व. धामणकर ६६ १)
आहार सूत्रावली पं. केदारनाथ पाठक रासायनिक ४४ ॥)
ओज क्या है-- कवि नरेन्द्रनाथ मिश्र १२ —)
इच्छाशक्ति डा. श्यामदास जी प्रपन्नाश्रमी १० १।)
इलाजुलगुर्बा बाबू वृजबल्लभ प्रसाद ३६७ ५)
इन्द्रायण गुण विधान डा. गणपतिसिंह वर्मा ४० ॥≡)
इन्जेक्शन (चतुर्थ संस्करण) डा. सुरेशप्रसाद शर्मा ७०८ १०)
इन्जेक्शन तत्व प्रदीप डा. गणपति सिंह वर्मा ३७२ ५)
इन्जेक्शन विज्ञानांक (२ भाग) डा. तेजबहादुर सिंह चौधरी ३२८ ४)

इन्जेक्शन चिकित्सा (एलो०) श्री. पी. श्रीवास्तव २४० ३)
" " (होम्यो०) डा. सुरेशप्रसाद जी १२० १॥)
उपदंश विज्ञान (द्वि. संस्क.) प्रोफेसर बालकराम शुक्ल शास्त्री ६७ १)
उपवास और फलाहार डा. युगलकिशोर चौधरी ८० ॥)
ऊषःपान पं. लक्ष्मीप्रसाद पांडेय ४० ॥)
एलोपैथिक गाइड डा. रामनाथ वर्मा ५६८ १०)
एलोपैथिक निघण्टु " ५७० १०॥)
एलोपैथिक पाकेट गाइड डा. सुरेशप्रसाद शर्मा ३१४ २॥)
एलोपैथिक चिकित्सा (वर्मा) डा. रामनाथ वर्मा ५७० १२)
एलोपैथिक चिकित्सा डा. सुरेशप्रसाद शर्मा ८२३ ८)
एलोपैथिक पेटेण्ट मैडीसंस डा. अयोध्यानाथ पांडेय ३२४ ३।)
एलोपैथीमेटेरियामैडिका (पाश्चात्य द्रव्य गु.वि.) रामसुशीलसिंह ६१२ १२)
एलोपैथी मेटेरिया मेडिका श्री. डा. शिवदयाल १३०० १२)
एलोपैथिक प्रेक्टिस डा. भवानीप्रसाद M. D. S. ६६२ ७॥)
एलोपैथिक सफल औषधियां श्री. डा. शिवदयाल २४० ३)
एलोपैथिक सार संग्रह डा. मदनमोहन शर्मा एवं डा. डी. के. जैन ५०० ६)
एनीमा और कैथीटर डा. सुरेशप्रसाद शर्मा २७ ।=)
एनीमाटीचर डा. रघुवीर सहाय भार्गव ३२ ।)
एकौषधि गुणविधान डा. गणपतिसिंह वर्मा १८६ १॥=)
औषधि गुण धर्म विवेचन २ भाग-वैद्य कृष्णप्रसाद त्रिवेदी २४० २)
आयु. औषधि गुण धर्म शास्त्र प्र. भाग-वै. पंचानन गंगाधर १३२ ३)
औषधि गुण धर्म विवेचन कालेड़ा से प्रकाशित ३०८ ३।)
औपसर्गिक रोग (दो भाग) श्री. भास्कर गोविंद घाणेकर १३०८ २०)
औषधि विज्ञान पं० धर्मदत्त विद्यालंकार ५७ ॥)
क्या खूब डिबिया चौबे क्या खूब जी हकीम ८४ ॥=)
करावादीन सिफाई पं. जगन्नाथ प्रसाद १६२ १)
कपड़ा और तन्दुरुस्ती डा. युगलकिशोर चौधरी ४४ ॥—)
कफ परीक्षा (सचित्र) डा. रमेशचन्द्र वर्मा ५६ १।)

पुस्तक	लेखक	पृष्ठ	मूल्य
कर्ण रोग विज्ञान	पं. जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल	१७०	२)
कम्पाउण्डरी शिक्षा	डा. राजेन्द्र 'दीक्षित'	२४८	२।।)
कपिंग ग्लास मैन्युअल	डा. रघुवीर सहाय भार्गव	१५	≡)
काश्यप संहिता	टीकाकार—श्री सत्यपाल भिषगा.	२४७	१६)
कैथीटर गाइड	डा. रघुवीर सहाय भार्गव	३२	।)
कल्प एवं पञ्चकर्म चिकित्सांक—धन्वन्तरि का विशेषांक		१०४	४)
कब्ज एवं मलावरोध	कविराज महेन्द्रनाथ पांडेय	३२	।।)
कब्ज या कोष्ठबद्धता	डा. सुरेशप्रसाद शर्मा	६४	।।।)
कब्ज का इलाज या मलावरोध—डा. युगलकिशोर चौधरी		७८	१)
केन्सर रोग चिकित्सा	श्री प्रभाकर चट्टोपाध्याय	१६०	६)
काकचण्डीश्वर कल्पतन्त्रम्	पं. रामकृष्ण शर्मा	६२	१)
क्वाथमणिमाला (भाषा टीका)-टीका पं. काशीनाथ शास्त्री		६७	१।।)
किशोर रक्षा व ब्रह्मचर्य	पं. रवीन्द्रनाथ शास्त्री आयुर्वेद	११४	।।।)
कुचिमारतन्त्र (तृ.संस्क.) टीकाकार-पं. रामप्रसादमिश्र राजवैद्य		६२	।।)
कूपीपक रस निर्माण	स्वामी हरिशरणानन्द जी	३७८	५)
कूपीपक रसायन	वैद्य देवीशरण गर्ग सं. धन्वन्तरि	१६	—)
कोकसार	पं. लक्ष्मीनारायण कौशिक	८७	।।)
कालरा या हैजा	डा. भोलानाथ टण्डन	११४	२)
कौमार भृत्य (बाल चि०) राजवैद्य पं. किशोरीदत्त शास्त्री		१२८	१।।)
कौमार भृत्य (नव्य बालरोग सहित)-पं. रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी		६०८	६)
खूबचन्द चिकित्सा (वैद्यकसार)—बल्देवप्रसाद वर्मा		१२८	१।।)
गर्भस्थ शिशु की कहानी-डा. लक्ष्मीशंकर गुप्त सचित्र		१५०	२)
गङ्गयति निदान	भाष्यकर्ता—कवि. नरेन्द्रनाथशास्त्री	५३२	५।।)
ग्रहविज्ञान एवं व्यवहारिक प्रयोग-श्री दुर्गाप्रसाद शास्त्री		१००	।।)
ग्राम्य चिकित्सा	पं. केदार नाथ पाठक रासायनिक	४८	।।=)
ग्रह चिकित्सा विज्ञान (नाड़ी-परीक्षा एवं सूर्य चिकित्सा)	पं. बाबूराम शर्मा	६४	।।।)
गृह वस्तु चिकित्सा	पं. किशोरीदत्त शास्त्री	८५	१)
गृह चिकित्सा (होम्यो.) डा. बी. एन. टण्डन (तृतीय संस्करण)		२३५	१।।)
गांवों में औषधि रत्न (दो भाग) कालेडा से प्रकाशित		३६४-३५१	५।।)
गुप्त प्रयोग रत्नावली	डा. नरेन्द्रसिंह नेगी	२३६	२।।)
गुप्तसिद्ध प्रयोगांक (तीन भाग)	धन्वन्तरि के विशेषांक लगभग १००० प्रयोग	५१२	१०)
गूलर गुण विकाश	पं. चन्द्रशेखर शर्मा मिश्र	६८	१)
ग्रन्थि और ग्रन्थि प्रणाली के रोग—डा. महेन्द्रनाथपाण्डेय		६४	१)
गोरसादि औषधि	पं. शंकरदा जी शास्त्री पदे	१५	=)
घृत चिकित्सा पं. रामदेव त्रि. सं. पं. किशोरीदत्त शा.		११६	।।=)
घृत गुण विधान	डा. गणपतिसिंह वर्मा	४४	।।)
घर में वैद्य	अर्थात् सब रोगों की बेदाम औषधियां	६६	।।=)
घाव की चिकित्सा (होम्यो)—डा. श्यामसुन्दर शर्मा		६६	१)
चरकसंहिता (भाषा टीका)—टीकाकार जयदेव विद्या. दो भाग			२५)
चरक संहिता	मूल एवं भागीरथी टिप्पणी सहित	६२६	७)
चक्रदत्त (भाषा-टीका) टीका. पं. जगदीश्वर प्रसाद त्रि.धन्व.साइज		३५८	१०)
चिकित्सक व्यवहार विज्ञान श्री सूर्यनारायण वैद्य		६४	।।)
चिकित्सा तत्व प्रदीप (दो भाग)—कालेड़ा से प्रकाशित		१५७६	१७।।)
चिकित्सक हस्त पुस्तिका या अनुपान—कवि रामविहारी शुक्ल		२११	१)
चूर्ण चिकित्सा	पं. रामदेव त्रि. सं. पं. किशोरीदत्त शा.	१२०	।।=)
जन्म निरोध	ए. ए. खान एम. एस. सी	४२५	६)
ज्वर चिकित्सा	कविराज महेन्द्रनाथ पाण्डेय	१७६	२।।)
ज्वर मीमांसा	स्वामी हरिशरणानन्द जी	३३६	१।।)
ज्वर विज्ञान	कालेड़ा से प्रकाशित	४००	३)
ज्वर चिकित्सा	डा. अयोध्यानाथ पाण्डेय	११६	२)
जर्राही प्रकाश	श्री कृष्णलाल जी	२२८	३।।)
जल चिकित्सा (पानी का इलाज)—डा. युगलकिशोर चौधरी		८०	१)
जीवन तत्व	कवि. महेन्द्रनाथ पाण्डेय	११६	१।।)
जीवाणु विज्ञान	श्री भास्कर गोविन्द घाणेकर	८३४	१०)

पुस्तक	लेखक	पृष्ठ	मूल्य
जुकाम	कवि. महेन्द्रनाथ पाण्डेय	११२	१।।।)
टोटका विज्ञान	पं. केदारनाथ पाठक 'रसायनिक'	२४	।=)
तपेदिक	कविराज महेन्द्रनाथ पाण्डेय	१६८	४)
तम्बाकू जहर है	डा. युगलकिशोर चौधरी	४०	।=)
तिव्य अकबर	मुंशी देवीप्रसाद द्वारा अनुवादित	६४४	१०)
तापमान (थर्मामीटर)	डा. रामकुमार द्विवेदी	६८	।)
ताकत की दवाइयां	(गुप्त रोगों का इलाज)	६८	।।।)
तुलसी	श्री. रामेशवेदी आयुर्वेदालंकार	१७८	२)
तुलसी चिकित्सा विज्ञान	डा. सुरेशप्रसाद जी	३२	।=)
तुलसी विज्ञान	श्री लक्ष्मीपति त्रिपाठी	४७	।।)
तैल संग्रह	श्री. पं. विश्वनाथ द्विवेदी	१५१	२)
तैल चिकित्सा	पं. ज्ञानेन्द्रदत्त त्रिपाठी सम्पा. पं. किशोरीदत्त शास्त्री	७८	।।=)
थर्मामीटर	डा. सुरेशप्रसाद जी	२४	।)
थर्मामीटर मास्टर	डा० रघुवीरसहाय भार्गव	३२	।)
दद्रु चिकित्सा	पं० गणेशदत्त शर्मा गौड़ 'इन्द्र'	६८	।।)
दशमूल (सचित्र)	बूटी विशेषज्ञ रूपलाल जी वैश्य	७६	।।)
दमा श्वास खांसी	डा० युगलकिशोर चौधरी	२८	।=)
दन्तरोग चिकित्सा	वै. वि. गोपीनाथ गु० भिषगरत्न	४६	।=)
दन्तरक्षा	भगवानदेव जी आचार्य	२५	≡)
दीर्घजीवन	पं० विश्वेश्वरदयाल वैद्यराज	१७८	१)
दुग्धकल्प व दुग्ध चिकित्सा	चौधरी युगलकिशोर	१८४	२।)
दुग्ध गुण विधान	डा. गणपतिसिंह वर्मा	८२	१)
दुग्ध चिकित्सा	डा. महेन्द्रनाथ पाण्डेय	४८२	४)
दुग्ध से सब रोगों का इलाज	डा० युगलकिशोर चौधरी	५६	।।।)
दोष कारणत्वमीमांसा	कविराज प्रियव्रत शर्मा	५२	१)
दुग्ध कल्प	श्री विट्ठलदास मोदी	५२	।)
देहाती इलाज	श्री रामेशवेदी आयुर्वेदालंकार	६०	१)
देहातियों की तन्दुरुस्ती	श्री केदारनाथ पाठक रासायनिक	६८	।।।)

पुस्तक	लेखक	पृष्ठ	मूल्य
दैनन्दिन रोगों की प्रा. चिकित्सा	श्री कुलरञ्जन मुकर्जी	२५०	३)
द्रव्यगुण विज्ञान	वै. यादव जी त्रिकम जी आचार्य	१६०	२)
द्रव्यगुण विज्ञान पूर्वार्द्ध	,, ,,	३८०	४।।)
द्रव्यगुण विज्ञान	पं० प्रियव्रत शर्मा २ भागों में		१८)
द्रव्यगुण आदर्श (लघु)	कवि० महेन्द्रकुमार	१८०	२।।)
धन्वन्तरि परिचय	पं. रघुवीरशरण शर्मा वैद्य	२०६	२।।)
धन्वन्तरि व्रतकल्प कथा	सम्पादक पं. जगन्नाथप्रसाद शुक्ल	५७	।=)
धतूरा गुण विधान	हकीम मोहम्मद अब्दुल्ला	५४	।।।)
धात्री विज्ञान	डा० शिवदयाल गुप्त	१७१	२।।)
नपुंसक अमृतार्णव (भाषाटीका)	पं. रामप्रसाद राज०	१५२	२।।)
नाड़ी परीक्षा	डा. बी. एन. टण्डन	७७	।।।)
नव परिभाषा	कवि उपेन्द्रनाथदास	१४८	१।।।)
नपुंसकचिकित्सा	डा० गणपतिसिंह वर्मा	१७६	३)
नमक	पं. विश्वेश्वरदयाल जी वैद्य०	५१	।।=)
नव्य रोग निदान	माधवनिदान परिशिष्ठ सम्पा. सी ब्रह्मदत्त शास्त्री	८४	।।।)
न्यूमोनियां प्रकाश	पं० देवकरण वाजपेयीवैद्य शास्त्री	७२	।=)
निमोनियां चिकित्सा	बी. एन. टण्डन	६४	।।)
न्यू मदर टिंचर मटेरिया मे.	डा० भवानीप्रसाद	३९	।।।)
नारू रोग	पं० रामजीवन त्रिपाठी साहित्यरत्न	२२	।)
नाड़ी विज्ञान	टीका. पं० प्रयागदत्त जोशी आयु.	३४	।−)
नाड़ी परीक्षा	श्री रावणकृत वै० प्रिया भाषा टीका. सहित	२२	।−)
नाड़ीज्ञान तरङ्गिणी भाषाटीका	टीकाकार-श्री. रघुनाथदास शर्मा	१६७	१।।)
नासारोग विज्ञान	श्री पं० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल	१६६	२)
नाड़ी तत्व दर्शनम्	श्री सत्यदेव वाशिष्ठ	२५५	५)
नाड़ी दर्शनम् (सचित्र)	श्री ताराशंकर जी मिश्र वैद्य	१७२	२।।)
निघण्टु सार संग्रह	पं. ब्रह्मशंकर शास्त्री	२८२	१।।)
नीमगुण विधान	डा० गणपतिसिंह वर्मा	७६	।।।≡)
नीम चिकित्सा विधान	डा० सुरेशप्रसाद शर्मा	५६	।।=)

पुस्तक	लेखक	पृष्ठ	मूल्य
नीम के उपयोग	पं. केदारनाथपाठक रासायनिक	१०८	१)
नीम के गुण विधान	डा. गणपतिसिंह वर्मा	६४	।॥≡)
पुराने रोगों की गृह चिकित्सा	—कुलरंजन मुखर्जी	३२०	४)
पुरुषेन्द्रिय के रोग	डा. बी. एन. ठण्डन	११२	२)
नेत्र रक्षा व नेत्र रोग चि.	—डा. युगलकिशोर चौधरी	६४	।॥)
नेत्र रक्षा	श्री भगवानदेव जी	३०	≡)
नेत्र रोग विज्ञान (कालेड़ा)	-डा. यादव जी हंसराज वैद्य	६७३	१५)
नेत्र रोग विज्ञान (सचित्र)	-डा. शिवदयाल गुप्त	५६८	८)
नैसर्गिक आरोग्य	वैद्य जगन्नाथप्रसाद शुक्ल	१७३	२)
पाक संग्रह (वृहद्)	पं. कृष्णप्रसाद त्रिवेदी	३१५	३॥)
प्रमेह विवेचन	कविराज महेन्द्रनाथ पाण्डेय	१८०	२)
प्रतिसंस्कृत निदानम् (तीन भाग)	पं० घनानन्द जी पन्त	२०४	२)
प्रारम्भिक उद्भिद शास्त्र	डा० बलवन्तसिंह	३१४	४॥)
प्रारम्भिक भौतिक	--निहालकरण सेठी प्रिंसीपल आगरा कालेज	४०२	८)
प्राकृतिक शिशु चिकित्सा	-डा. सुरेशप्रसाद शर्मा	१५८	२)
प्रारम्भिक रसायन	—फूलदेव सहाय वर्मा	४५०	४॥)
प्रयोग शतक	पं० भागीरथ स्वामी आयुर्वेदाचार्य	३६	।–)
प्रयोग संजूषा	श्री कृष्ण बलवन्त रिपवुड	११२	।॥≡)
प्रसूतितंत्रम् (धात्री विद्या)	–डा० काशीनाथ नारायण गोखले	३६१	३॥)
प्राणिज औषधि	पं० शंकरदा शास्त्री पदे	२८	।)
प्राकृतिक ज्वर	स्वर्गीय लाला राधावल्लभ जीं वैद्यराज	५४	।)
प्राकृतिक चि. प्रश्नोत्तरी	--डा० युगलकिशोरचौधरी	६४	॥)
पथ्यापथ्य निरूपण	पं० जगन्नाथप्रसाद जी शुक्ल	६४	॥–)
पशु चिकित्सा (वृ.)	श्री० बालमुकुन्द भरतिया	२४८	४)
पशु चिकित्सा	बम्बई भूषण प्रेस	२७२	३॥)
पशु चिकित्सा (होमियो)	—डा० गंगाधर मिश्र	११४	२)
पदार्थ विज्ञान	श्री. रामरक्ष पाठक आयुर्वेदाचार्य	२५०	३॥)
पदार्थ विज्ञान (पांच भाग)	पं० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल वैद्य पंचानन		१४॥)
इसके पांच भाग ये हैं—प्रमाण विज्ञान	,,	,, २३२	२॥)
पदार्थ विज्ञान	,,	७५	१)
द्रव्य गुण विज्ञान	,,	८४	१)
गुण विज्ञान	,,	२४०	२॥)
पुरुष विज्ञान	,,	६७४	७)
पंचभूत विज्ञान	कविराज श्री उपेन्द्रनाथदास भिष.	३०८	३)
परिभाषा प्रबोध	श्री. जगन्नाथ प्रसाद जी शुक्ल	२०८	२॥)
पारिवारिक चिकित्सा (होमियो)	डा० सुरेशप्रसाद शर्मा	६०७	५)
पाकेट गाइड (होम्यो)	--डा० सुरेशप्रसाद शर्मा	१६१	१)
पाचन प्रणाली के रोग	--कविराज महेन्द्रनाथ पाण्डेय	१०४	२।)
प्लीहा के रोग और उनकी चिकि०	-श्री० ब्रह्मानन्द चन्द्रवंशी	१६	।–)
प्लीहा रोग चिकित्सा	-वैद्य ज्ञानचन्द जी वैद्यभूषण	४८	।)
प्रिंसमटेरिया मेडिका (होमियो)	--डा० सुरेशप्रसाद शर्मा	१२१८	८)
प्रसूति विज्ञान	डा० रामनाथ द्विवेदी		६)
प्रत्यक्ष औषधि निर्माण	पं. विश्वनाथ द्विवेदी	१४४	३)
पीपल गुण विधान	डा० गणपतिसिंह वर्मा	३६	॥)
पलाण्डु गुण विधान	,,	,,	॥)
पेटेंट प्रेस्क्राइबर या पेटेंट मैडीसन	-डा० रमानाथ द्वि.	४७०	६)
पुरुष रोगांक (द्वि० संस्क०)	धन्वन्तरि का विशेषांक	२८८	६)
पूर्ण सुलभ चिकित्सासार	हकीम डा० एम. ए. माजिद	४४	॥)
पेनिसिलिन व स्ट्रेप्टो माइसीन विज्ञान तथा मूत्र परीक्षा	पं० राजकुमार द्विवेदी	४८	१)
पेटेण्ट औषधि एवं भारतवर्ष	डा० गणपतिसिंह वर्मा	२७१	३≡)
पेटेण्ट औषधि एवं भारतवर्ष	-त्रालोकपुर से प्रका. डा. रामकृष्ण	१७२	१॥)
पैसे-पैसे के चुटकले	डा० गणपतिसिंह वर्मा	२२०	३)
फलाहार चिकित्सा	कविराज महेन्द्रनाथ पाण्डेय	२३८	२॥)
फल-संरक्षण	-गोरखप्रसाद D. Sc. एवं वीरेन्द्रनारायणसिंह	१९६	२॥)
फल संरक्षण विज्ञान	कविराज युगलकिशोर गुप्त	४६	१)

पुस्तक	लेखक	पृष्ठ	मूल्य
फिटकरी	श्री विश्वेश्वरदयाल वैद्यराज	३०	।=)
फिटकरी गुण विधान	हकीम मौ. मौहम्मदअब्दुल्ला	१२६	१।।)
फुफ्फुस परीक्षा	आचार्य रमेशचन्द्र वर्मा	८०	१।)
फुफ्फुस सन्निपात चिकित्सा	वै. वा. हनुमानप्रसाद जोशी	२३३	२।।=)
फेफड़ों की परीक्षा रोग व चिकित्सा (सचित्र)	शिवकरणवर्मा भिषगाचार्य धन्वन्तरि	३२८	५)
वृक्ष विज्ञान	प्रो. राधाकृष्णपाराशर	२०६	२।)
व्रणबन्धन	डा० भवानी प्रसाद	२६०	४)
व्रणशोथविमर्श	डा० अवधविहारी अग्निहोत्री	१७८	३)
व्रणोपचार पद्धति	पं० महावीरप्रसाद मालवीय	६६	।।)
ब्रह्मचार्य के अनुभव	जगतपूज्य महात्मा गांधी	८२	१)
बच्चों का पालन और चि०	डा० युगलकिशोर चौधरी	७०	।।।)
वसवराजीवम् (दो भाग-पं. शिवकरण शर्मा छांगाणी		६८४	८।।)
वैद्य सहचर-(च० संस्क०)	पं. विश्वनाथ द्विवेदी अनु.	२५८	३)
वैद्यक शब्दकोश	पं. विश्वेश्वरदयाल जी	३२	।)
वैद्य विशारद प्रश्नोत्तरी	पं० योगेन्द्रलाल जी शुक्ल	२२२	४)
वैद्यकीय सुभाषितावली	प्राणजीवन मेहता	७०	२)
बिच्छू विष चिकित्सा	आचार्य भगवानदेव जी	२५	=)
बबूल गुण विधान	हकीम मौलवी मौहम्मदअब्दुल्ला	३६	।।)
व्याधिविज्ञान (दो भाग)	श्री० आशानन्द पञ्चरत्न	१०७२	१८)
बबूल	पं० विश्वेश्वरदयाल वै.	२४	।=)
बबूल चिकित्सा	पं० सुरेशप्रसाद शर्मा	३०	।=)
बच्चों के रोग और उनका इलाज	कवि. महेन्द्रनाथ पाण्डेय	१२८	२)
वटिका चिकित्सा	पं० रामदेव त्रिपाठी	१०४	।।=)
बनस्पति गुणादर्श	वैद्य हीरामल मोतीराम जङ्गले	१३६	२)
बनौषधि दर्शिका	डा. बलवन्तसिंह M. Sc.	२७४	२।।)
बालरोग चिकित्सा	महावीरप्रसाद मालवीय	१०८	१)
बायोकैमिक चिकित्सा	डा. सुरेशप्रसाद शर्मा	४४६	४)
वात्स्यायन कामसूत्र	रामसुशीलसिंह	२३	५)
बायोकैमिक मिक्चर	डा० एस० ए० माजिद	२८	।-)
बायोकैमिक पाकेट गाइड	डा० सुरेशप्रसाद शर्मा	१२८	१)
वृ० मेटेरिया मेडिका (हो० दो भाग)	बी. एन. टण्डन		१३)
बायोकैमिक रहस्य-सप्तम संस्करण	डा० श्यामसहाय भार्गव	२६६	२।।।)
व्यायाम और शारीरिक विकास	श्री अशोककुमारसिंह	१६५	२।।)
बुखार का अचूक इलाज	डा० युगलकिशोर चौधरी	५८	।।।)
बुढ़ापा और बीमारी से बचने के उपाय	,, ,,	६२	।।।)
बूटी प्रचार (बृ०)	श्री० कृष्णलाल जी	२६६	२)
वैद्यजीवन	सम्पादक किशोरीदत्त शास्त्री	१३५	।।।)
,, ,,	आयु० पं० कालीचरन पाण्डेय	१२३	१।)
वैद्यबाबा का बस्ता-	वैद्यराज प्रो. बंसरीलाल साहनी ७६५ प्रयोग	२७३	१)
वैद्यक परिभाषा प्रदीप	पं० प्रयागदत्त जी	१२४	१।।)
भस्म पर्पटी	वैद्य देवीशरण गर्ग सम्पा. धन्वन्तरि	३२	–)
भारतीय रसपद्धति	कविराज श्री अत्रिदेव गुप्त	७२	१।।)
भारतीय जीवाणु विज्ञान—	श्री रघुवीरशरण शर्मा वैद्य	११६	१।।)
भारतीय जड़ी-बूटियां-(दो भाग)	डा० गणपतिसिंह वर्मा	४३२	५।।)
भारतीय भौतिक विज्ञान-	पं० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल राजवैद्य	१०८	।।)
भारतीय रसायनशास्त्र	पं० विश्वेश्वरदयाल वैद्यराज	७२	।।)
भारतीय औषधावलि तथा होम्यो पेटेण्ट मैडीसंस	डा० सुरेशप्रसाद शर्मा	६०	१।।)
भावप्रकाश (सम्पूर्ण) भाषा टीका-	श्री ब्रह्मशंकर शास्त्री	दो भाग	३०)
भावप्रकाश निघण्टु—	टी० पं० गङ्गासहाय पाण्डेय	७२३	८)
भावप्रकाश निघण्टु—	टी० पं० विश्वनाथ द्विवेदी	६३३	७)
भावप्रकाश [बम्बई] टीकाकार—	लाला शालिग्राम वैश्य	११२६	२५)
भावप्रकाश (ज्वराधिकार) टीकाकार-	श्री ब्रह्मशंकर मिश्र	१६२	४)
भिन्न-भिन्न रोगों की प्राकृतिक चिकित्सा	डा० युगलकिशोर चौधरी	७०	।।।)

पुस्तक	लेखक / टीकाकार	पृष्ठ	मूल्य
भैषज्यसार	डा० सुरेशप्रसाद शर्मा	२६०	२)
भैषज्यरहस्य (मेटी. मैडिका) होमियो-डा. बी. एन. टण्डन		४७३	३।।।)
भैषज्य कल्पनाङ्क	धन्वन्तरि का विशेषांक	३६२	४)
” ”	परिशिष्टांक	७२	१)
भैषज्य रत्नावली [विद्योतिनी भाषा टीका]	टीकाकार-अम्बिकादत्त शास्त्री	८८२	१५)
भैषज्यरत्नावली	टीकाकार-श्री जयदेव विद्यालंकार	७६४	१०।।)
भोजन ही अमृत है-कविराज महेन्द्रनाथ पाण्डेय आयु विशा.		१३४	१।।।)
भोजन विधि	पं० केदारनाथ पाठक रसायनिक	२४०	२)
भोजन	ब्रह्मचारी भगवानदेव जी	१००	।।=)
मृत्यु परीक्षा	ज्योतिस्वरूप शर्मा	३२	।-)
मलेरिया एवं कालांजार—डा० राधाचन्द्र भट्ट A.M.S.		१४०	१।।।)
मलेरिया, मोतीझरा, निमोनिया-डा० युगलकिशोर चौधरी		६६	।।।)
मलेरिया	आचार्य उमाशंकरवैद्य	३२	।।)
मलेरिया	युगलकिशोर अग्रवाल	६६	१)
मलेरिया (एलोपैथिक)-डा० मनमोहन धूम L.S.M.F.		१६७	२।)
मकरध्वज	श्रीयुत विवेचक	३५	।।=)
मवेशियों की घरेलू चिकित्सा—डा० सुरेशप्रसाद शर्मा		५५	।।।)
मधुमेह चिकित्सा	कविराज महेन्द्रनाथ पाण्डेय	३२	।=)
मधुमेह	पं० परशुराम शास्त्री	११०	।।)
मलमूत्ररक्तादि परीक्षा-डा. शिवदयाल जी		१६०	२।।)
माडर्नमैडीकलट्रीटमेंट (हिन्दी) डा. एम. एल. गुजराल		६६२	२०)
मधु गुण विधान	डा. गणपतिसिंह वर्मा	१०४	४।।)
मधु चिकित्सा	डा. सुरेशप्रसाद शर्मा	४२	।।)
मधु के उपयोग	पं० केदारनाथ रासायनिक	१२८	१)
मर्णोन्मुखी आर्य चिकित्सा-वैद्यराज लाला राधावल्लभ जी		३६	।)
मर्म विज्ञान-पं. रामरक्षक पाठक (अनेकों रङ्गीन चित्र)		१०६	३।।)
मनुष्य का आहार	वैद्य गोपीनाथ गुप्त	१३४	।=)
मदनपाल निघण्टु	(संस्कृत) श्री. नन्दकिशोर शास्त्री	१७२	१)
मट्ठा या छाछ का उपयोग-श्री प्रवासीलाल वर्मा मालवीय		७४	१)
मट्ठा (उसके गुण और प्रयोग)	कविराज महेन्द्रनाथ पाडेय	६४	१)
माधव निदान (भाषाटीका)	—टीकाकार श्री हरिनारायण	५१२	४)
” ” ”	पं० लालचन्द्र वैद्य शास्त्री	४३६	४।।)
माधव निदान (विस्तृत टीका युक्त)	-पं. पूर्णानन्द शर्मा शास्त्री	१०१८	१२)
माधव निदान परिशिष्ट	श्री ब्रह्मशङ्कर शास्त्री	८४	।।।)
माधव निदान (दो भाग)-हिन्दी टीका, मधुकोष हिन्दी टीका	आयु. सुदर्शन शास्त्री	४५६	१३)
माधव निदान (मनोरमा)	—ब्रह्मशङ्कर जी शास्त्री	४१२	६)
मानव सन्तति	कविराज बलवन्तसिंह मोहन वै. वा.	१५२	१।।।)
मानसिक रोग विज्ञान	श्री जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल वैद्य	४०६	४)
मानस रोग विज्ञान	डा. बालकृष्ण अमर जी पाठक	२५१	४।।)
मिर्च	श्री रामेशवेदी आयुर्वेदालंकार	६०	१)
मिक्चर	डा० सुरेशप्रसाद शर्मा	२१७	२।)
मिट्टी सभी रोगों की दवा	डा० युगलकिशोर चौधरी	५०	।।)
मुखरोग विज्ञान	श्री. जगन्नाथप्रसाद शुक्ल	१८८	२।।)
मूत्र परीक्षा	डा० बी० एन० टंडन	६६	।।)
मूत्र के रोग	श्री. वागेकर	५२८	६)
मेघ विनोद	भाष्यकर्ता कविराज नरेन्द्रनाथ	७५२	६)
मोटापा दूर करने के उपाय	पं. प्रभुनारायण त्रिपाठी 'सुशील'	६०	१)
यकृत के रोग और चि०	वैद्य समाकान्त झा शास्त्री	११४	२)
यकृत रोग सीहा के रोग	—श्री विश्वेश्वरदयाल	५६	।।)
यन्त्रशास्त्र परिचय	आचार्य सुरेन्द्रमोहन बी० ए०	१२८	१।।)
यौन मनोविकार	डा० सुरेन्द्रनाथ	१६	।।)
यूनानी चिकित्सासार	वैद्यराज हकीम दलजीतसिंह	४४२	४।।)
” ” विधि	हकीममंसाराम	३८७	५)
यूनानी चिकित्सा सागर	वैद्य हकीम मंसाराम शुक्ल	५२६	१०)

यूनानी द्रव्य गुणविधान वैद्यराज वा० दलजीतसिंह जी वैद्य ५६४ २२)
यूनानी वैदिक के आधार भूत सिद्धांत कुल्लियात— वा० दलजीतसिंह ७६ १)
यूनानी सिद्ध योग संग्रह-वा० दलजीतसिंह वैद्यराज २३५ २॥)
यूनानी चिकित्सा विज्ञान ,, ,, ,, ६६६ ८॥)
योग रत्नाकर (दो भाग) लक्ष्मीपति शास्त्री ६३२ १८)
योग चिन्तामणि पं. बुधसीताराम शर्मा कृत भाषाटीका ३२० ५।-)॥
योग चिकित्सा कविराजअत्रिदेव गुप्त आयुर्वेदालंकार २६० ३॥)
रसायनसार रसायनशास्त्री पं.श्यामसुन्दराचार्य वैश्य ६०० ८)
रसतन्त्रसार सिद्ध प्रयोग संग्रह [प्रथम भाग] कालेड़ा से प्रकाशित सातव संस्करण ८४० ६॥)
,, ,, द्वितीय भाग दूसरा संस्करण ५३८ ६)
रसेन्द्रसार संग्रह टीकाकार पं. प्रयागदत्त शास्त्री ४६५ ६)
,, गढ़ार्थ सन्दीपनी टीका—श्री अम्बिकादत्त ४४७ ५)
रसेन्द्रसार संग्रह [तीन भाग] पं. घनानन्द जी पंत विद्यार्णव ११५० ११)
रसादि परिज्ञान श्री. जगन्नाथप्रसाद शुक्ल वैद्य १६५ २)
रस-रसायन-गुटका-गुग्गल वैद्य देवीशरण गर्ग ८३ ।)
रसरत्न समुच्य टीका पं. अम्बिकादत्त शास्त्री आयु. ५४४ १०)
रसायन खण्ड श्री यादव जी त्रिकम जी आचार्य ७८ ॥)
रसाध्याय पं० रामकृष्ण शर्मा ६८ ॥=)
रसामृत वैद्य यादव जी त्रिकम जी आचार्य १५२ ५)
रसार्णव नाम रसतन्त्रम् पं. तारादत्त पंत २७८ २)
रसराज सुन्दर (वृहद) पं. दत्तराम चौबे मथुरा ५५२ १०)
रसराज महोदधि (५ भाग) पं. नारायण प्रसाद सीताराम मिश्र ६०१ १०)
रसतरङ्गिणी टीकाकार—पं. धर्मानन्द शास्त्री आयुर्वेदाचार्य ७७६ १०)
रक्त के रोग भास्कर गोविंद घाणेकर ५७६ १०)
राजयक्ष्मा पं. विश्वेश्वरदयाल जी वैद्यराज ७४ ॥)
राष्ट्रीय चिकित्सा सिद्धयोग संग्रह-पं. रघुवीर प्रसाद त्रिवेदी ६१ १॥)

राजकीय ओषधि योग संग्रह पं० रघुवीर प्रसाद त्रिवेदी २६१ ७)
रिलेशन शिप डा० श्याम सुन्दर शर्मा एम. डी. १६४ २)
रुग्ण परिचर्या—डा. कु. श्री महेसकर एम. ए.एम.डी. ६६६ ३।)
रोग परिचय श्री शिवनाथ खन्ना ८०० १२॥)
रोग लक्षण संग्रह सुरेश प्रसाद शर्मा १६ =)
रोग विज्ञानम् कविराज सुरेन्द्र कुमार शर्मा १६६ ।)
रोग नामावली कोप--हकीम ठा. दलजीतसिंह वैद्यराज २६८ ३॥)
रोग निदान चिकित्सा--डा. श्यामसुन्दर शर्मा एम. डी. १४१ २)
रोगी परीक्षा डा. शिवनाथ खन्ना ३२० ६)
रोगी की सेवा और पथ्य डा. सुरेशप्रसाद शर्मा २६४ ३)
लाभदायक व्यापार भाग १-२-३ श्योप्रसाद भार्गव ६६६ १॥।=)
लवण गुण विधान—हकीम मौलवी मोहम्मद अब्दुला १५ ।)
लहसुन और प्याज श्री रामेशवेदी आयुर्वेदालंकार २२२ २॥)
लघु द्रव्य गुणादर्श कविराज महेन्द्रनाथ शास्त्रीबम्बई १८० २॥)
लेडी डाक्टर डा. श्योसहाय भार्गव १७७ १)
शल्यतन्त्रम् कविराज पं. धर्मानन्द शास्त्री ३३० २॥)
श्वास रोग चिकित्सा प्रजावैद्य गोकुल प्रसाद स्वर्णकार ४५ ।=)
शिरो रोग विज्ञान पं. जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल ४५२ ४)
शङ्कर निघण्टु पं. शंकर दत्त गौड़ राजवैद्य ४४० ७)
शरीर रचना डा. भोलानाथ एम.बी. एस. १७५ २॥
शरीर परिचय पं० जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल १४० १
शहद के गुण और इसके उपयोग कविमहेन्द्रनाथ पाण्डेय ५६ ॥
शहद रामेशवेदी आयुर्वेदालंकार २१२
शारीरिकोन्नति—पं. ठाकुरदत्त शर्मा अमृतधारा १६५
शालाक्य तन्त्रम् [निमितन्त्रम्]—श्री रामनाथ द्विवेदी ६५४
शारङ्गधर संहिता टीकाकार पं. प्रयागदत्त शर्मा ६७२
शारङ्गधर संहिता वैद्यरत्न पं. रामप्रसाद राज ५१२
शालहोत्र बड़ा पं. जनकप्रसाद वाजपेयी १३५

पुस्तक	लेखक	पृष्ठ	मूल्य
शिशु पालन	मुरलीधर शर्मा बौड़ाई	१४३	४)
शिफाउल अमराज अनु-पं. जगन्नाथ प्रसाद शर्मा २ भाग		३२०	२॥)
सरल व्यवहार एवं कानूनी वैद्यक-पं. कृष्णबलवन्त रिखबूड़		३६४	३॥)
सर का दर्द	बा. रामचन्द्र वर्मा	६६	।।।)
संक्रामक रोग विज्ञान	पं. बालकराम शुक्ल	१०६०	६)
सन्तत निग्रह	डा. शिवदयाल गुप्त	५५	।।।)
सन्तान शास्त्र	पं. गणेश दत्त 'इन्द्र'	४५८	५)
सर्जरी या चीर फाड़	डा. भवानी प्रसाद	२८०	३।।।)
सरल रोग विज्ञान	राजवैद्य पं. रवीन्द्रशास्त्री	४३७	५)
सरल व्यवहारायुर्वेद और विषविज्ञान	कविराज युगलकिशोर	३६०	४॥)
सरल होमियो-चिकित्सासार	डा. श्योसहाय भार्गव	३६०	४॥)
सरल विष विज्ञान	कविराज युगलकिशोर गुप्त	१४०	१।।।)
सन्तरा गुणविधान	हकीम मौलाना मोहम्मद अब्दुल्ला	१५	।=)
संक्षिप्त औषधि परिचय	कालेड़ा से प्रकाशित	१२२	॥=)
सर्प विष विज्ञान	डा. दलजीतसिंह जी वैद्य	१०४	१।)
सल्फोनामाइड पद्धति	कवि. देवकीनन्दन शर्मा	१००	२॥)
स्वस्थवृत्त समुच्चय	पं. गजेश्वरदत्त शास्त्री	४६४	६॥)
स्वास्थ्य और सद्वृत्त	कविराज अत्रिदेव	१४१	२)
स्वास्थ्य संहिता	नानकचन्द वैद्यशास्त्री	१८२	२॥)
स्वास्थ्य विज्ञान	भास्कर गोविन्द घाणेकर	६३६	६)
स्वास्थ्य के लिए शाक तरकारियां	कविराज महेन्द्रनाथ पाण्डेय	१४४	२)
स्वर्णक्षीरी गुणविधान	डा. गणपति सिंह	५२	।।।)
स्टेथिस्कोप विज्ञान (छाती परीक्षा)	डा. भोलानाथ टण्डन	५०	॥)
स्वप्नदोष विज्ञान	पं० गणेशदत्त इन्द्र'	१४०	२)
स्वप्नदोष विज्ञान और उसकी चिकित्सा			=)॥
स्टेथिस्कोप विज्ञान	डा. सुरेशप्रसाद शर्मा	८०	१)
„ शिक्षक	डा. श्योसहाय भार्गव	८०	।।।=)
स्त्री रोग चिकित्सा	डा. युगलकिशोर चौधरी	७२	।।।)
स्त्री रोग चिकित्सा (सचित्र)	डा. सुरेशप्रशाद शर्मा	४४७	४॥)
स्त्री रोग चिकित्सा	डा. भोलानाथ टन्डन	२५४	२॥)
स्त्री रोग चिकित्सा	विश्वेश्वर दयाल वैद्य	१०४	१)
सुश्रुत संहिता सम्पूर्ण (भाषाटीका-कविराज अत्रिदेव गुप्त		७८४	१५)
„ „ शारीर स्थान	डा. भास्कर गोविंद घाणेकर	३०७	८)
„ „ „	पं नीलकण्ठ देवराज देश पांण्डेय	२२३	३)
„ „ सूत्रधार	डा. भास्कर गोविंद घाणेकर	३५२	६)
सुश्रुत संहिता सूत्रनिदान स्थान	कवि अम्बिकादत्त शास्त्री	३००	७)
सिद्ध भैषज्य संग्रह	कविराज युगलकिशोर गुप्त	७६२	७)
सिद्धौषधि प्रकाश	पं. बाल मुकुन्द वैद्य शास्त्री	२०८	२॥)
सिद्ध योग संग्रह	वैद्य यादव जी त्रिकम जी आचार्य	१५६	२।।।)
सिद्ध प्रयोग (२ भाग)	विश्वेश्वरदयाल जी वैद्यराज	१७६	१॥)
सिद्ध मृत्युञ्जय योग	पं. केदार नाथ पाठक रसायनिक	५७	१)
सिद्ध परीक्षा पद्धति	कालेड़ा से प्रकाशित	६२४	=)
सिद्धचिकित्सांक(परिशिष्ट) स्त्री-पुरुषों के जननेन्द्रियरोग चि.		५४	१)
सुगन्धित तैल	पं. प्रभुदयाल शर्मा वैद्य	८७	।।।)
सुगन्धित व्यापार	डा० गणपतिसिंह वर्मा	८२	१)
सुखी ग्रहणी	श्री हनुमान प्रसाद वैद्यशास्त्री	१७१	१॥)
सुखी जीवन	श्री विजय बहादुर सिंह बी. ए.	१७८	१॥)
सूर्यरश्मि चिकित्सा	वैद्य बांकेलाल गुप्त	६४	।।।)
सूर्यकिरण चिकित्सा	डा० युगल किशोर चौधरी	८०	।।।)
सूचीवेध विज्ञान	श्री राजकुमार द्विवेदी	१०८	१॥)
सूचीवेध विज्ञान (दो भाग)	श्री रमेशचन्द्र वर्मा	५८०	८)
सौंठ	श्री रामेशवेदी आयुर्वेदालंकार	१४६	१॥)
सौश्रुती (प्राचीनशल्यतन्त्र)	श्री रामनाथ द्विवेदी	५५८	७॥)
हृदय परीक्षा	डा० रमेशचन्द्र वर्मा	१२६	१॥)
हरिद्धारित ग्रन्थरत्न	पं० वासुदेव शर्मा वैद्य	४८	।=)

पुस्तक	लेखक	पृष्ठ	मूल्य
हल्दी	पं० विश्वेश्वर दयाल	९६	१)
हमारा भोजन	कविराज महेन्द्रनाथ पांडेय	२६१	४)
हमें क्या खाना चाहिये	डा० युगलकिशोर चौधरी	६४	।।)
हमारे शरीर की रचना	डा० त्रिलोकीनाथ वर्मा	दो भाग	२५।।।)
हमारा स्वर मधुर कैसे हो	श्री रामरत्नाचार्या	५०	।=)
हमारे बच्चे	कविराज महेन्द्रनाथ पांडेय	१५२	२।।।)
हरिहर संहिता	वैद्यराज हरिहरनाथ जी	५१२	८)
हारीत संहिता	श्री शिवसहाय सूद वैद्य	५२१	८।।)
होमियो मेटेरिया मैडिका	डा० श्योसहाय भार्गव	५१६	५)
होमियो मेटेरिया मैडिका	डा० सुरेश प्रसाद शर्मा	४००	३।।)
होमियो थाइसिस चि०	डा० सुरेश प्रसाद शर्मा	६०	।।।)
,, टाइफाइड चि०	,, ,,	६०	।।।)
,, न्यूमोनिया चि०	,, ,,	६४	।।।)
हैजा चिकित्सा	डा० श्यामसुन्दर शर्मा	७६	१)
होमियो पैथिक नुस्खे	,, ,,	७४	१।)
,, चिकित्सा विज्ञान	,, ,,	४१८	३।।)
होमियोपैथिक फार्माकोपिया	डा० बी. एन. टण्डन जी	१६०	२)
त्रिदोष विज्ञान	कवि० उपेन्द्र नाथदास		२।।)
त्रिदोषालोक	पं० विश्वनाथ द्विवेदी	३२०	२)
त्रिदोष तत्व विमर्ष	श्री० रामरक्ष पाठक	२५२	२।।=)
त्रिफला	श्री० रामेशवेदी	३०४	३।)
आसव विज्ञान	श्री० हरिशरणानन्द जी	११२	१।।)
आरोग्य विज्ञान	डा० लक्ष्मी नारायण सरोज	१७७	२)
नाड़ी रहस्य	डा० अयोध्या नाथ पांडेय	४९	।।।)
मन्थर ज्वर चिकित्सा	श्री० हरिशरणानन्द जी	७८	२)

पत्थर के खरल

बहुत बड़ी संख्या में हमने संग्रह किए हैं। प्रत्येक वैद्यों को इन खरलों की आवश्यकता रहती है किन्तु ये सर्वत्र उपलब्ध नहीं होते तथा वैद्यों को इन खरलों की प्राप्ति के लिए कठिनता होती थी। इस कठिनाई को हमने दूर करने के लिए ही यह संग्रह किया है। आप भी अपनी आवश्यकतानुसार खरल मंगा लीजियेगा।

खरल का साइज	मोतिया पत्थर	कसौटी पत्थर
३ इंची	।।।)	१)
४	१)	१।)
५	१।।)	२)
६	२।।)	३।)
७	३।)	४।)
८	५)	६।)
९	६)	७।)
१०	८)	९।।)
११	१२)	१४)
१२	१४)	१७)
१३	१६)	२०)
१४	१९)	२४)
१५	२४)	३०)

पत्थर के खरल वजनी होते हैं। ५–६ इंची तक साइज के पोस्ट द्वारा भेजे जा सकते हैं। बड़े खरल रेल से ही मंगावें। आर्डर देते समय आधा मूल्य एडवांस में मनिआर्डर से अवश्य भेजें।

पता–धन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ़ (अलीगढ़)

सर्वोत्तम शिलाजीत

(सूर्यतापी)

हम स्वयं अपनी देख-रेख में अत्युत्तम शोधित शिलाजीत निर्माण कराते हैं, विशुद्धता की गारण्टी है।

औषधि निर्माण में, इसी सर्वोत्तम शिलाजीत को डालिए।

मूल्य-१ सेर ४०) ५ तोला ३।-)

पत्थर का दिल

(कल्बुलहज्र)

असली, उत्तम श्वेत वर्ण का

१ तोला २)

शिलाथ सत्व

पूर्ण विस्वस्त, विशुद्धता की गारण्टी

मूल्य-१ सेर २०)

दशमूल की पुड़ियां

हमने २-२ तोला (१-१ मात्रा) की दशमूल की सेवन-विधि सहित पुड़िया तैयार कराई हैं। विक्री-मूल्य एक आना प्रति पुड़िया है। दुकानदारों एवं पंसारियों को ४) प्रति सैकड़ा दी जायगी। ५०० पुड़िया एक साथ मंगाने पर दुकानदारों का नाम छाप दिया जायगा। असली तथा अत्युत्तम दशमूल की विक्री करें और लाभ उठावें।

वैद्यों के लिये आवश्यक

रोगी रजिष्टर—सुन्दर ग्लेज कागज, सभी आवश्यक विवरण रखने योग्य २०० पृष्ठों का सजिल्द। मूल्य ३)

रोगी प्रमाणपत्र—५० प्रमाणपत्रों की पुस्तिका १) अङ्गरेजी में बड़े साइज के ४० प्रमाणपत्रों की पुस्तिका १।)

स्वस्थ प्रमाण पत्र—५० प्रमाणपत्रों की पुस्तिका १)

रोगी व्यवस्थापत्र—रोगियों को दिये जाने वाले पर्चे, ।=) प्रति सैकड़ा।

असली द्रव्य

सर्पगन्धा मूल नवीन अत्युत्तम	१ सेर	१२)
असली नवीन दशमूल	१ सेर	१)
असली बंशलोचन	१ सेर	३०)
असली अष्टवर्ग	१ सेर	१०)
असली मुलहठी सत्व	१ सेर	१०)
असली यवक्षार	१ सेर	१०)

इनके अतिरिक्त केशर, कस्तूरी, मोती, अम्बर, स्वर्णवर्क, रौप्यवर्क आदि द्रव्य विशुद्ध और उचित मूल्य पर सप्लाई करते हैं।

एजेन्सी लीजिये

धन्वन्तरि कार्यालय की अत्युत्तम औषधियां सर्वत्र प्रचलित हैं। थोड़ा रुपया लगाकर अच्छी आमदनी करना चाहें तो आप एजेंसी लीजिएगा। सर्वोत्ताम औषधियां, उचित मूल्य, साइनबोर्ड, कलेंडर आदि विज्ञापन सामग्री सभी सुविधायें दी जाती हैं। नियमादि पत्र डालकर मंगा लीजियेगा।

—मंगाने का पता—

धन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ़ (अलीगढ़)

मुद्रक—वैद्य देवीशरण गर्ग, धन्वन्तरि प्रेस विजयगढ़।
प्रकाशक—वैद्य देवीशरण गर्ग, धन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ़ (अलीगढ़)

कासारि

खांसी (कास) की सस्ती और सफल औषधि

कासारि सभी प्रकार की खांसी के लिये सर्वोत्तम प्रमाणित हो चुकी है। बिना धुआंधार विज्ञापन के इसकी बिक्री दिनोंदिन बढ़ रही है, यही इसकी उत्तमता का प्रमाण है। जो ग्राहक एक बार मंगा लेता है फिर सदैव मंगाता रहता है और दूसरों से प्रशंसा करता है। सूखी और तर दोनों प्रकार की खांसी, ज्वर के साथ खांसी, क्षयज कास, इसके सेवन से नष्ट होती है। अनेकों चिकित्सक रोगानुसार औषधियां चुन कर इस कासारि के अनुपान से देते हैं। यह शर्बत है और अनुपान रूप में शहद के स्थान पर व्यवहार करने से औषधि के गुणों को बढ़ाती है। आजकल शहद उत्तम नहीं मिलता उसके स्थान पर इसे ही व्यवहार कराइये। वांसा क्वाथ के साथ पिप्पली आदि कासनाशक औषधियों से यह अनुपम औषधि निर्माण की जाती है। स्वरयंत्र, फुफ्फुस, गले के रोगों के लिये वांसा अनुपम लाभकर है। अतएव यह कासारि भी सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित होती है।

पैकिङ्ग भी सुन्दर किया गया है। मूल्य कम है।

एक बार परीक्षा अवश्य करें।

—पैकिंग और मूल्य—

बड़ी शीशी (४ औंस २० मात्रा) मूल्य १)
छोटी शीशी (१ औंस ५ मात्रा) ,, ।=)
१६ औंस शीशी (८० मात्रा ,, ३।।)

—नोट—

एक प्रकार के १२ पैकिंग एक साथ मंगाने पर २५ प्रतिशत कमीशन दिया जाता है।

निर्माता— धन्वन्तरि कार्यालय, विजयगढ़ (अलीगढ़)